



**UNIVERSITY OF PATANJALI**

NAAC A+ GRADE ACCREDITED

**Open & Distance Learning  
(ODL)**



**SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)**

**M.A Darshan**

**Semester -1**



**ACADEMIC SESSION**

**2026 — 2027**

**Department of Philosophy**

**UNIVERSITY OF PATANJALI**

**Haridwar-Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405**

**[www.universityofpatanjali.com](http://www.universityofpatanjali.com)**

## लेखक

1. साध्वी देव पूजा
2. साध्वी देव शिला
3. डा.बदरी बळळारी
4. डा. सावर सिङ्ग यादव
5. स्वामी इन्द्रदेव

## समीक्षक

डा. ब्रजभूषण ओझा प्रध्यापक (व्याकरण) बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय काशी

## संपादक

डा , साध्वि देवप्रिया संकायाध्याक्षा पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

॥ ओ३म् ॥

# संख्य-योगदर्शनम्

MDPHMJ-101



दिव्य प्रकाशन

# सांख्य-योगदर्शनम्

MDPHMJ-101

## उद्देश्य-

- योग व सांख्य के प्रमुख सिद्धान्तों का अवबोध कराना।
- योग व सांख्य के प्रथम अध्याय के सूत्रार्थ व भाष्यार्थ को सहज रीति से हृदयङ्गम कराना।
- योग व सांख्य के इतिहास एवं परम्पराओं का ज्ञान कराना।

## परिणाम-

- विद्यार्थी उपनिषद् में सन्निहित विषय से पूर्णरूप से अवगत हो जाता है।
- विद्यार्थी उपनिषदों के गहन अध्ययन से देश काल परिस्थिति में विचलित नहीं होता उस के जीवन में ठहराव आ जाता है।
- विद्यार्थी के जीवन में सुख-शान्ति व दिव्यता का आधान होता है।

## विषय सूची

| विषय                                                                   | पृष्ठ संख्या |
|------------------------------------------------------------------------|--------------|
| <b>खण्ड-1: सांख्य विषय का प्रतिपादन</b>                                | <b>5-21</b>  |
| इकाई-1.1 सांख्य शब्द का अर्थ एवं परिभाषा                               | 5-7          |
| इकाई-1.2 त्रिविध दुःखों का स्वरूप एवं निवृत्ति                         | 8-12         |
| इकाई-1.3 त्रिविध प्रमाण निरूपण                                         | 13-17        |
| इकाई-1.4 आत्मा देहादि से व्यतिरिक्त                                    | 18-22        |
| <b>खण्ड-2: प्रधान के कार्यों का निरूपण</b>                             | <b>23-45</b> |
| इकाई-2.1 प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रायोजन                              | 23-28        |
| इकाई-2.2 सृष्टि प्रक्रिया निरूपण                                       | 29-33        |
| इकाई-2.3 स्वस्थ की परिभाषा, त्रिगुण स्वरूप निरूपण                      | 34-40        |
| इकाई-2.4 इन्द्रियों की अभौतिकता का निरूपण                              | 41-45        |
| <b>खण्ड- 3: योग का स्वरूप</b>                                          | <b>46-56</b> |
| इकाई 3.1- योग दर्शन का रचनाकाल एवं महर्षि पतंजलि जी का संक्षिप्त परिचय | 46-47        |
| इकाई 3.2- योग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा (व्युत्पत्ति)                   | 48-49        |
| इकाई 3.3- योग का स्वरूप                                                | 50-54        |
| इकाई 3.4- चित्त की वृत्तियाँ                                           | 55-56        |
| <b>खण्ड- 4: वृत्ति निरोध एवं समाधि के प्रकार</b>                       | <b>57-</b>   |
| इकाई 4.1- चित्त की 5 भूमियाँ                                           | 57-63        |
| इकाई 4.2- चित्त वृत्ति निरोध का उपाय-अभ्यास                            | 64-67        |
| इकाई 4.3- चित्त वृत्ति निरोध का उपाय-वैराग्य                           | 68-70        |
| इकाई 4.4- समाधि और समाधि के प्रकार                                     | 71-73        |

## भूमिका

सांख्य योगदर्शन भारतीय दर्शनशास्त्र के दो प्रमुख दर्शन हैं, जो मानव जीवन, आत्मा, प्रकृति और मुक्ति के मार्ग को समझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। 'सांख्य' दर्शन विश्व के सृजन और उसके तत्वों की व्याख्या करता है, जबकि 'योग' दर्शन आत्मा की मुक्ति और मनोवृत्तियों के नियंत्रण का मार्ग बताता है। इस पुस्तक का उद्देश्य इन दोनों दर्शनशास्त्रों की मूल अवधारणाओं, सिद्धांतों और उनके अनुप्रयोगों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना है, ताकि पाठक न केवल दर्शन की दार्शनिक गहराई को समझ सकें, बल्कि इसे अपने जीवन में भी लागू कर सकें।

सांख्य दर्शन, जो हिन्दू दर्शन के छह मुख्य दर्शनशास्त्रों में से एक है, प्रकृति (प्रकृति) और पुरुष (आत्मा) के द्वैतवाद पर आधारित है। यह दर्शन बताता है कि सम्पूर्ण सृष्टि पाँच तत्वों (पंचमहाभूत) और तत्वों के संयोजन से बनी है। सांख्य का मुख्य उद्देश्य जीवात्मा और प्रकृति के बीच के संबंध को समझाना तथा जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति का मार्ग दिखाना है। इस दर्शन में दुःख और आनंद के कारणों को समझकर उन्हें दूर करने के उपाय बताए गए हैं।

योगदर्शन, महर्षि पतंजलि द्वारा रचित 'योगसूत्र' के माध्यम से प्रसिद्ध हुआ। योग का अर्थ है 'संयोजन' या 'एकाग्रता', जो मन और आत्मा के बीच की दूरी को समाप्त कर मुक्ति की प्राप्ति का मार्ग है। योगदर्शन के आठ अंग हैं, जो जीवन के विभिन्न पक्षों को नियंत्रित कर व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाते हैं। यह दर्शन मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक अनुशासन का समन्वय करता है, जिससे मानव अपने अस्तित्व के वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है।

यह पुस्तक सांख्य योगदर्शन के दर्शन को सरल भाषा में प्रस्तुत करती है, जिससे विद्यार्थी, शोधकर्ता और दर्शन में रुचि रखने वाले सभी लोग इसके गूढ़ तत्वों को समझ सकें। इसमें सांख्य दर्शन के तत्वमीमांसा, पृथक्-पुरुष और प्रकृति की व्याख्या के साथ-साथ योग के अभ्यास, ध्यान, समाधि और जीवन में उनके महत्व पर भी विस्तृत चर्चा की गई है। साथ ही, यह भी समझाया गया है कि कैसे ये दोनों दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं और मिलकर मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति की राह दिखाते हैं।

वर्तमान युग में जब मानसिक तनाव और असंतुलन आम समस्या बन गए हैं, तब सांख्य योगदर्शन का अध्ययन और अभ्यास अत्यंत आवश्यक हो जाता है। ये दर्शन न केवल जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को जागृत करते हैं, बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी मानसिक शांति और संतुलन प्रदान करते हैं। इस पुस्तक के माध्यम से पाठक अपनी जीवनशैली में सकारात्मक परिवर्तन ला सकते हैं और आत्मा की अनंत शांति को प्राप्त कर सकते हैं।

अतः यह पुस्तक सांख्य योगदर्शन के गहन और विस्तृत अध्ययन का परिचय मात्र नहीं, बल्कि एक साधन है, जो आत्म-प्राप्ति और जीवन की सच्ची समझ की दिशा में मार्गदर्शन करता है। इस भूमिका के माध्यम से हम इस पुस्तक के पाठकों को सांख्य योग के अमूल्य ज्ञान से परिचित कराना चाहते हैं, जिससे वे अपने जीवन में अध्यात्म और मानसिक शांति का अनुभव कर सकें।

## खण्ड- 1 सांख्य विषय का प्रतिपादन

### इकाई- 1.1 सांख्य शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

उद्देश्य-

1. सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति एवं अर्थ को समझना।
2. सांख्य दर्शन के मूल सिद्धांतों का परिचय प्राप्त करना।
3. सांख्य दर्शन के प्रमुख आचार्यों एवं ग्रंथों का अध्ययन करना।

#### इकाई-1 सांख्य शब्द का अर्थ एवं परिभाषा

सांख्य की व्याख्या अनेक प्रकार से की गई है। व्युत्पत्ति के आधार पर सांख्य शब्द 'सम्' उपसर्गपूर्वक 'चक्षिड्' धातु से अङ् प्रत्यय लगकर निष्पन्न होता है। सम्यक् ख्याति अर्थात् सम्यक् दर्शन या सम्यक् ज्ञान सांख्य शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ होता है। कुछ दार्शनिकों ने 'सांख्य' शब्द के दो अर्थ किये हैं-सांख्य तथा ज्ञान। यथा- **संख्यायन्ते गणयन्ते येन तत् सांख्यम् संख्यायते।** प्रकृति पुरुषान्यताख्यातिरूपोऽवबोधो सम्यक् ज्ञायते येन तत्सांख्यम्।

कुछ अन्य दार्शनिकों की दृष्टि में सांख्य का सम्बन्ध तत्त्वों की संख्या से है; क्योंकि सांख्य दर्शन में महदादि पचीस तत्त्वों की गणना ही गई है। इसीलिये भागवत में इसे तत्त्वसंख्यान एवं तत्त्वगणन कहा गया है। कुछ दार्शनिकों की दृष्टि में यह तत्त्वज्ञान प्रकृति और पुरुष (शरीर और आत्मा, जड़ और चेतन) के पार्थक्य का ज्ञान है। इसी संख्या या विवेकज्ञान के कारण इस दर्शन का नाम 'सांख्य' पड़ा है।

दुःख की अत्यन्त निवृत्त के साधन भूत 'जड़-चेतन' के भेदज्ञान का निरूपण करने वाले शास्त्र का नाम 'सांख्य' रखा गया है। गीता में सांख्य को ज्ञानयोग तथा संन्यासयोग नाम से वर्णन किया गया है। इस शास्त्र संख्या (तत्त्व ज्ञान) को मोक्ष का साधन मानकर मूलभूत सिद्धांत के रूप में स्वीकार किया है, और इसी आधार पर 'तत्त्वों' का विवेचन किया गया है। इसी कारण इस दर्शन का नाम 'सांख्य' हुआ है।

'प्रकृति' के साथ 24 तत्त्वों का विवेचन होने से, यह शास्त्र 'संख्या' अर्थात् 'तत्त्वज्ञान' कराता है, इसी कारण इसका नाम 'सांख्य' तथा उन अर्थों का प्रवचन करने वाले आचार्यों को भी इसी नाम के साथ जोड़कर कहा गया है। किसी वस्तु के 'दोष व गुणों' का विवेचन पूर्वक ज्ञान प्राप्त करना 'संख्या' कहलाता है।

कुछ विद्वान् 'संख्या' पद को गिनती के अर्थ में मानकर और इस शास्त्र में परिगणित तत्त्वों का विवेचन होने से इसी पद के द्वारा 'संख्या' नाम का निर्वचन करते हैं कि सांख्य में 24 जड़ (एक मूल प्रकृति और उसके तेईस विकार) और पच्चीसवें 'चेतन पुरुष' का वर्णन होने से इस नियत संख्या (गणना) के आधार पर इस दर्शन का नाम 'सांख्य' रखा गया है।

इस शास्त्र का दूसरा नाम 'षष्टि तन्त्र' है। यह नामकरण सिद्धांत विवेचन के एक विशेष प्रकार के आधार पर किया गया है। इस शास्त्र में पदार्थों के विवेचन के लिये दो मार्ग रखे गये हैं एक 'आधिभौतिक दृष्टि-प्रधान' है। दूसरा आध्यात्मिक दृष्टि प्रधान है। आधिभौतिक दृष्टि से पच्चीस तत्त्वों का विवेचन है। वस्तुतः ये 'पच्चीस' मौलिक तत्व नहीं हैं, प्रत्युत 'चेतन - अचेतन वर्ग' का मूल-प्रकृति और तेईस उसके विकार हैं 'कार्य कारण भाव' अथवा 'उपादानोपादेय भाव' के आधार पर आधिभौतिक रचना का यह विशदीकरण है। इसमें पच्चीसवां चेतन वर्ग है दूसरी ओर इस शास्त्र में आध्यात्मिक दृष्टि से साठ पदार्थों का विवेचन किया गया है साठ पदार्थों में दस मौलिक अर्थ हैं, जिनमें आधिभौतिक दृष्टि से विवेचित पच्चीस तत्व समाविष्ट हैं और पच्चीस (विपर्यय 5, अशक्ति 28, तुष्टि 09, सिद्धि 8) बुद्धिसर्ग या प्रत्यस सर्ग है। आध्यात्मिक दृष्टि से विवेचन करने में अथवा अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होने पर इन्हीं साठ तत्त्वों के रूप में विवेचन की प्रधानता के कारण इस शास्त्र का नाम षष्टि तन्त्र भी रखा गया है।

सांख्य दर्शन के प्रणेता महर्षि कपिल हैं। सांख्य दर्शन का मूल ग्रन्थ महर्षि का तत्व समास है। फिर उन्होंने सांख्यमत को विस्तारपूर्वक समझाने की दृष्टि से सांख्य सूत्र नामक शास्त्र की रचना की। वर्तमान में ईश्वरकृष्ण की 'सांख्यकारिका' ही उपलब्ध है। ईश्वरकृष्ण आचार्य पंचशिख के शिष्य थे। सांख्यकारिका ही सांख्य दर्शन का आधार है।

## सांख्य दर्शन की प्रमुख रचनाएँ एवं रचनाकार

| रचना                | रचनाकार        |
|---------------------|----------------|
| सांख्यकारिका भाष्य  | गौड़पाद        |
| तर्क कौमुदी         | वाचस्पति       |
| सांख्य प्रवचन भाष्य | विज्ञान भिक्षु |
| सांख्य सार          | विज्ञान भिक्षु |
| सांख्य सूत्र        | कपिल मुनि      |
| सांख्य प्रवचन सूत्र | कपिल मुनि      |
| तत्त्व समाज         | कपिल मुनि      |
| सांख्यकारिका        | ईश्वरकृष्ण     |

### स्मरणीय बिंदु-

- सांख्य दर्शन द्वैतवादी दर्शन है।
- प्रकृति और पुरुष सांख्य के मूल तत्त्व हैं।
- सांख्य दर्शन मोक्ष का मार्ग विवेकज्ञान को मानता है।
- कपिल मुनि सांख्य दर्शन के प्रवर्तक हैं।
- सांख्यकारिका सांख्य दर्शन का महत्वपूर्ण ग्रंथ है।

### शब्दावली-

- प्रकृति - मूल कारण
- पुरुष - चेतन तत्त्व
- विवेकज्ञान - सत्य का ज्ञान
- तत्त्व - मूल सिद्धांत
- षष्टितंत्र - सांख्य दर्शन का अन्य नाम

### 5 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।
2. सांख्य दर्शन का मुख्य उद्देश्य क्या है?
3. सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कौन हैं?
4. सांख्य में प्रकृति और पुरुष का क्या अर्थ है?
5. सांख्य दर्शन के प्रमुख ग्रंथों के नाम लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य शब्द के विभिन्न अर्थों का विवेचन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन की दार्शनिक पृष्ठभूमि स्पष्ट कीजिए।
3. सांख्य दर्शन में तत्त्वज्ञान की अवधारणा का वर्णन कीजिए।
4. सांख्य दर्शन के प्रमुख ग्रंथों एवं आचार्यों का विस्तृत परिचय दीजिए।
5. सांख्य दर्शन को 'षष्टितंत्र' क्यों कहा जाता है? स्पष्ट कीजिए।



### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन के प्रवर्तक कौन माने जाते हैं?

(क) पतंजलि

**(ख) कपिल मुनि**

(ग) गौतम

(घ) कणाद

2. सांख्य दर्शन में कुल कितने तत्त्व माने गए हैं?

(क) 24

(ख) 26

**(ग) 25**

(घ) 16

3. सांख्य दर्शन का दूसरा नाम क्या है?

(क) न्याय

**(ख) षष्टितंत्र**

(ग) योग

(घ) वेदान्त

4. सांख्य शब्द का एक अर्थ क्या है?

(क) युद्ध

**(ख) संख्या**

(ग) पूजा

(घ) तप

5. सांख्यकारिका के रचयिता कौन हैं?

**(क) ईश्वरकृष्ण**

(ख) पतंजलि

(ग) व्यास

(घ) जैमिनि

## इकाई-1.2 त्रिविध दुःखों का स्वरूप एवं निवृत्ति

### उद्देश्य-

1. त्रिविध दुःखों की अवधारणा को समझना।
2. दुःखों के कारण एवं निवृत्ति के उपायों का अध्ययन करना।
3. मोक्ष की आवश्यकता एवं स्वरूप को जानना।

समस्त दुःखों को तीन वर्गों में बाँटा जा सकता है- आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक।

1. जो अपने आन्तरिक कारणों से उत्पन्न होता है, वह 'आध्यात्मिक' दुःख है। यह दो प्रकार का है- एक 'शारीरिक दूसरा 'मानसिक'। शरीर के वात, पित्त, कफ आदि की विषमता से अथवा आहार-विहार आदि की विषमता से जो दुःख उत्पन्न होता है, उसे 'आध्यात्मिक शारीरिक' दुःख कहते हैं, तथा जो काम, क्रोध, मोह, मत्सरादि मनोविकारों के कारण दुःख उत्पन्न होता है, वह 'आध्यात्मिक मानसिक' दुःख कहलाता है।
2. जो दुःख अन्य प्राणियों के द्वारा हमें प्राप्त होता है, उसे 'आधिभौतिक' दुःख कहते हैं। जैसे- साँप, बिच्छू आदि के काटने से, अन्य हिंसक प्राणियों के आघात से, किसी के मारने-पीटने अथवा कटु वाक्य कहने से।
3. जो दुःख वर्षा, धूप, हिमपात, विद्युत्पात, भूकम्प, वायु आदि के उत्पातों से उत्पन्न होता है, उसे 'आधिदैविक' दुःख कहते हैं।

न दृष्टात् तत्सिद्धिर्निवृत्तेऽप्यनुवृत्तिदर्शनात्। ( सां.द.1/2 )

( दृष्टात् तत्सिद्धिः-न ) दृष्टात् साधनात् खलु लोके प्राप्यमाणात् सथानात् तथाभूतनिवृत्तिसिद्धिर्न भवति न भवितुमर्हति। यतः ( निवृत्तेः-अपि-अनुवृत्तिदर्शनात् ) कस्यचिन्निवृत्तेरनन्तरमपि पुनरनुवृत्तिदृश्यते हीत्यतः-

अर्थः- दृष्ट साधन बाह्य साधन-लोक में प्राप्त होने वाले साधन से (तत्सिद्धिः न) उस अभीष्ट अत्यन्त दुःखनिवृत्ति की सिद्धि नहीं होती-नहीं हो सकती। क्योंकि (निवृत्तेः- अपि) किसी दुःख की निवृत्ति के अनन्तर भी (अनुवृत्तिदर्शनात्) अनुवृत्ति-पुनः प्रवृत्ति देखी जाने से।

व्याख्या:-दुःखों की निवृत्ति के लिए लोक में अनेक दृष्ट उपाय देखे जाते जाते हैं। जैसे-औषधि उपाय देखे जाते हैं। जैसे -औषधि, धन, अनुकूल स्त्री -पुरुष, टी.वी. वीडियो आदि से आध्यात्मिक-दुःखों की; नीतिशास्त्रोक्त विविध उपायों से तथा शस्त्रास्त्रादि से आधिभौतिक दुःखों की तथा वातानुकूलित घर, शान्तियाग, मन्त्रादि से आधिदैविक दुःखों की निवृत्ति करते हैं। किन्तु सूत्रकार का कहना है कि इन सब लौकिक दृष्ट साधनों से त्रिविधदुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति (मुक्ति) सम्भव नहीं; क्योंकि इन भौतिकसाधनों से यदि कोई दुःख दूर हो भी जाय, तो अन्य दुःखों की अनुवृत्ति (उपस्थित) बनी रहती है। और इन साधनों के नष्ट होने पर पुनः उन्हीं निवृत्त दुःखों की भी अनुवृत्ति देखी जाती है। अतः धनादि दृष्ट उपायों से त्रिविधदुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति नहीं हो सकती। इसी अभिप्राय से श्रुति में कहा है- "अमृतत्वस्य तु नाऽऽशास्ति वित्तेन"

-हे मैत्रेयि! धन से अमृतत्व (मोक्ष) की आशा नहीं की जा सकती। प्रथम दो सूत्रों के आशय के अनुसार ईश्वरकृष्ण की प्रथम सांख्यकारिका में कहा है-

दुःखत्रयाभिघाताज्जिज्ञासा तदभिघातके हेतौ।

दृष्टे साऽपार्था चेन्नैकान्तात्यन्ततोऽभावात्॥ ( सां.का.1 )

ये तीन प्रकार के दुःख हेतु कोटि में गिने जाते हैं अर्थात् त्यागने योग्य होते हैं। इनकी अत्यन्त निवृत्ति को ही शास्त्र में अत्यन्त पुरुषार्थ अथवा मोक्ष कहा गया है। मोक्ष जो सभी मुमुक्षुओं के लिए हान है अर्थात् प्राप्त करने योग्य है उसकी प्राप्ति के साधन कौन से हैं इसके लिए अगले सूत्र में प्रवेश करते हैं।

प्रात्याहिकक्षुत्प्रतीकारवत् तत्प्रतीकारचेष्टनात् पुरुषार्थत्वम्॥ ( सां.द.1/3 )

( प्रात्याहिकक्षुत्प्रतीकारवत् ) प्रत्यहं यथा क्षुत्प्रतीकारो भोजनात् क्रियते तद्वत् ( प्रतीकारचेष्टनात् ) तस्य त्रिविधदुःखस्य प्रतीकाख्यापारात् ( पुरुषार्थत्वम् ) पुरुषार्थता भवतु न त्वत्यन्तपुरुषार्थतेति यावत्।

अर्थ:- ( प्रात्याहिक क्षुत्प्रतीकारवत् ) प्रत्यह-प्रतिदिन जैसे क्षुधा का प्रतीकार भोजन से किया जाता है वैसे ही ( प्रतीकारचेष्टनात् ) उस त्रिविध दुःख के प्रतीकार-निवृत्ति कार्य से ( पुरुषार्थत्वम् ) पुरुषार्थता हो, न कि अत्यन्त पुरुषार्थता।

व्याख्या:-जिस प्रकार स्थायी निवृत्ति न होते हुए भी दैनिक भूख के कष्ट को हटाने के लिए प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए प्रयत्न किया जाता है, वैसे ही अन्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए धनादि का अर्जन आवश्यक है; क्योंकि दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हो जाने पर ही व्यक्ति अत्यन्त -पुरुषार्थ ( मोक्ष ) की प्राप्ति के लिए आत्म- चिन्तन में प्रवृत्त हो पाता है। अतः धनादि का अर्जन भी 'पुरुषार्थ' नहीं।

सर्वासम्भवात् सम्भवेऽपि सत्तासम्भवाद्धेयः प्रमाणकुशलैः॥ ( सां.द.1/4 )

( सर्वासम्भवात् ) दृष्टसाधनाद् दुःखप्रतीकाररूपायां पुरुषार्थतायां कस्यचिदेकस्यैव दुःखस्य प्रतीकारो भविष्यति यतस्तस्मादेकस्माद्दृष्टसाधनात् तत्सम्बद्धमेव दुःखं निवर्तिष्यते, नहि सर्वदुःखनिवृत्तिसम्भवंस्तस्मात् ( सम्भवे-अपि ) अथ च बहुविधदृष्टसाधनसमुदायात् सर्वदुःखप्रतीकारसम्भवेऽपि ( सत्त्वासम्भवात् ) सत्त्वस्य वास्तविकदुःखप्रतीकारस्य नितान्तदुःखनिवृत्तिरूपस्य मोक्षस्यासम्भवात्।

उक्तहि यथा "परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः" ( योग० २। १५ ) तस्मात् ( प्रमाणकुशलैः- हेयः ) प्रकृष्ट मीयते येन तत्प्रमाणं समतोलनं तत्र कुशलैः समतोलनकुशलैर्दूरदर्शिभिर्विवेकिभिः स एष दूरसाधनगणाद् दुःखप्रतीकारस्त्याज्यो नादरणीयः।

अर्थ:- ( सर्वासम्भवात् ) दृष्ट साधन से दुःख प्रतीकाररूप पुरुषार्थता में किसी एक दुःख का प्रतीकार होगा, उस एक दृष्टसाधन द्वारा उससे सम्बन्ध रखने वाला ही दुःख निवृत्त होगा, सर्वदुःखनिवृत्ति होना सम्भव नहीं। पुनः ( सम्भवे-अपि ) बहुत प्रकार के साधन समूह से दुःख प्रतीकार सम्भव होने पर भी ( सत्त्वासम्भवात् ) वास्तविक दुःखप्रतीकार अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के न हो सकने से। जैसे कहा है परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ( योग० २। १५ ) परिणाम-ताप-संस्कारमय दुःखों तथा सत्त्व आदि गुणों के परस्परविरोध से सब कुछ विवेकी के लिये दुःख है। अतः ( प्रमाण-कुशलैः ) यथार्थ समतुलना करने में कुशल, परीक्षणकुशल दूरदर्शी विवेकी जनों द्वारा ( हेयः ) वह यह दृष्ट साधन गण तथा उससे सिद्ध हुआ दुःख-प्रतीकार त्याज्य है, अनादरणीय है।

व्याख्या:-प्रथम तो सब देश,काल, अवस्थाओं में सभी दृष्टसाधन उपलब्ध नहीं होते, और यदि किसी प्रकार ये सब साधन जुटा भी लिए जायें, तो भी इनसे अत्यन्त दुःखनिवृत्ति सम्भव नहीं, दुःख की विद्यमानता रहती ही है, इसलिए प्रमाणकुशल व्यक्तियों के द्वारा त्रिविधदुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति के लिए दृष्ट उपायों का अवलम्बन सर्वथा हेय(परित्याज्य) है। अर्थात् परिणामदुःख, तापदुःख, संस्कारदुःख- ये तीनों प्रकार के दुःख सब भोगों में विद्यमान रहने से और सत्त्वादि तीनों गुणों की वृत्तियों में परस्पर विरोध होने के कारण विवेकी के लिए सभी ( भोग ) दुःखरूप ही है।

उत्कर्षादपि मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः॥ ( सां.द.1/5 )

( उत्कर्षात्-अपि ) शास्त्रविहितयज्ञादिदृष्टसाधनानुष्ठानाद् भवतूकर्मः, परन्तूत्कर्षाद्धेतोरपि मोक्षे हि खलूत्कर्षो न तथा यज्ञादिदृष्टसाधनसाध्ये सर्वोत्कर्षश्रुतेः ) मोक्षस्य हि दुःखनिवृत्तिरूपे पुरुषार्थे। यतः ( मोक्षस्य स सर्वोत्कर्षविषयिका श्रुतिरस्तीति हेतोः अशरीर वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः " ( छान्दो० ८। १२। १ ) एपाऽस्य परमा गतिरेपाऽस्य परमा सम्पन्त् ( बृह० ६। ३। ३२ ) तस्माद् दुःखात्यन्तनिवृत्तिरूपाय मोक्षाय तदेतद् यज्ञादिदृष्टसाधनमुपादेयं न, किन्तु यमनियमाद्यष्टाङ्गयोगानुष्ठानमदृष्टसाधनमुपादेयम्।

अर्थ:- ( उत्कर्षात्-अपि ) शास्त्रविहित दृष्टसाधन के सेवन से उत्कर्ष हो परन्तु उत्कर्ष के हेतु से भी मोक्ष में ही वस्तुतः उत्कर्ष है, वैसे यज्ञ आदि दृष्टसाधन से सिद्ध होने वाले दुःखनिवृत्तिरूप पुरुषार्थ में नहीं। क्योंकि ( मोक्षस्य सर्वोत्कर्षश्रुतेः ) मोक्ष की सर्वोत्कर्ष

श्रुति होने से श्रुति मोक्ष को सर्वोत्कर्ष बतलाती है- अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः (छान्दो० ८।१२।१)। शरीर से विमुक्त हुए को सांसारिक सुख-दुःख नहीं छूते। एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पत् (बृह० ६।३।३२) यही इसकी उत्कृष्ट गति, यही ऊँची सम्पत्ति है। अतः अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के लिये यज्ञ आदि दृष्टसाधन उपादेय नहीं है किन्तु यम-नियम आदि अष्टाङ्गया-गानुष्ठान रूप अदृष्टसाधन उपादेय है।

**व्याख्या:-**श्रुति मोक्ष को सर्वोत्तम बताती है। जैसे -“न वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति, अशरीरं वाव सन्तं न प्रिया. प्रिये स्पृशतः”॥ ( छां.8/12/1 )- निश्चय से, शरीर वाले आत्मा के सुख-दुःखों का नाश नहीं होता, आत्मा के अशरीर होने पर ही उसे सुख-दुःख स्पर्श नहीं करते। “एषाऽस्य परमा गतिरेषाऽस्य परमा सम्पत्” ( बृह.4/3/32) यह (मोक्षवस्था) ही इसकी उत्कृष्ट गति और यही ऊँची सम्पत्ति है। अतः अत्यन्त दुःखनिवृत्तिरूप मोक्ष के लिए यज्ञ आदि दृष्ट साधन हेय और अष्टाङ्गयोगरूप अदृष्ट साधन उपदेय है। वेद में भी कहा है-“त्र्यम्बकं यजामहे सुगन्धिं..... मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्” ( ऋ.759/12 ) अर्थात् जीवात्मा प्रार्थना करता है कि -मैं मृत्यु से छुटकारा पा जाऊँ, अमृत से नहीं। “मृत्योर्माऽमृतं गमय” ( शत. 14/3/1/30; बृह.उ. 1/3/28)-हे परमेश्वर! मुझे मृत्यु से अमृत की ओर ले जाइये, इत्यादि।

**अविशेषश्चोभयोः( सां.द.1/6 )**

( उभयोः ) दृष्टादृष्टयोः साधनयोः ( च ) अपि ( अविशेषः ) अभेदोऽस्ति नास्ति भेदः साधनत्वाद् यथा यज्ञादिदृष्टं साधनं तथैव योगाभ्यासश्रवणादिकमदृष्टं साधनमुभयोः साधनसाम्यमस्ति हि, साधनसाम्याददृष्टसाधनादपि बद्धस्य विमोक्षो न भवेदिति पूर्वपक्षः। अनिरुद्धवृत्तौ विज्ञानभिक्षुभाष्ये हरिप्रसाद्वैदिकवृत्तौ च सूत्रमिदमन्यथाव्याख्यातं तत्र पूर्वापरसङ्गतेरभावा-  
ऽस्मद्भाष्ये पूर्वापरसाङ्गत्वं प्रत्यक्षम्।

**अर्थ:-**(उभयोः) दृष्ट-अदृष्ट साधनों में (च) भी (अविशेषः) अभेद है, भेद नहीं। साधन समानता से पुनः अष्टाङ्गयोगाभ्यासादि अदृष्ट साधन से भी बद्ध का मोक्ष न होगा। यह पूर्वपक्ष रूप से कथन है अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य, हरिप्रसादवृत्ति में इस सूत्र का अन्यथा व्याख्यान है वहाँ पूर्वापर सङ्गति का अभाव है, हमारे भाष्य में पूर्वापर सङ्गति प्रत्यक्ष है।

**व्याख्या:-**जिस प्रकार लौकिक धन आदि साधनों से दुःखों की अत्यन्तनिवृत्ति नहीं होती, वैसे ही वेदविहित यज्ञादि कर्मों से भी नहीं हो सकती; क्योंकि इन दोनों उपायों से विवेकज्ञान (प्रकृति और पुरुष की पृथक्ता का अनुभूतिरूप ज्ञान) नहीं होता, जो कि मोक्ष का साक्षात् उपाय है। सांख्यसूत्रों में आगे स्पष्ट किया है-“ज्ञानन्मुक्तिः”, “बन्धोविपर्ययात्: नियतकारणत्वान्न समुच्चयविकल्पौ” यज्ञादि अनुष्ठान अन्तःकरण की शुद्धि द्वारा विवेकज्ञान में सहायक है, मोक्ष के साक्षात् उपाय नहीं। परन्तु आत्मज्ञान या विवेकज्ञान को वेदों में भी मोक्ष का साधन बताया है। यथा-“विद्ययाऽमृतमश्नुते” (यजु.40/14) “तमेवविदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय” (यजु. 31/18)- विद्या (ज्ञान) से अमृत की प्राप्ति होती है। उस चेतन महान् पुरुष को जान कर ही मृत्यु से पार जाया जा सकता है, मोक्ष के लिए मार्ग नहीं है। औषधोपचार आदि लौकिक तथा यागादि वैदिक कर्म मोक्षार्थ असफल है। यथा पापकृतो लोकः क्षीयते, तथा पुण्यकृतोऽपि। अर्थात् जैसे पापकर्मों से प्राप्त सुख नष्ट हो जाता है, वैसे ही पुण्यकर्मों से प्राप्त सुख भी समाप्त हो जाता है। सूत्र 5,6 के अनुसार सां.का. में कहा है-

**दृष्टवदानुश्रविकः स ह्यविशुद्धिक्षयातिशययुक्तः।**

**तद्विपरीतः श्रेयान् व्यक्ताव्यक्तज्ञविज्ञानात्। ( सां.का.2 )**

अर्थात् वैदिक उपाय भी लौकिक उपाय के तुल्य ही है; क्योंकि वह वैदिक उपाय अविशुद्धि, क्षय तथा अतिशय से युक्त है। इससे विपरीत (प्रकृति -पुरुष- विवेकज्ञानरूप) उपाय ही श्रेयस्कर है। वह व्यक्त, अव्यक्त और पुरुष के ज्ञान से होता है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- दुःख तीन प्रकार के हैं - आध्यात्मिक, आधिभौतिक, आधिदैविक।
- विवेकज्ञान मोक्ष का साधन है।
- मोक्ष दुःखों की अत्यन्त निवृत्ति है।
- लौकिक साधनों से स्थायी शांति नहीं मिलती।
- योग और सांख्य मोक्ष मार्ग के सहायक हैं।

## शब्दावली-

- आध्यात्मिक - आत्मा/मन संबंधी
- आधिभौतिक- बाह्य पदार्थ संबंधी
- आधिदैविक - दैवी कारणों से उत्पन्न
- मोक्ष - दुःखों से मुक्ति
- विवेक - भेदज्ञान

## 5 अंक के प्रश्न-

1. त्रिविध दुःख क्या हैं?
2. आध्यात्मिक दुःख का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. आधिभौतिक दुःख किसे कहते हैं?
4. आधिदैविक दुःख के उदाहरण दीजिए।
5. मोक्ष का सांख्य दर्शन में क्या महत्व है?

## 15 अंक के प्रश्न-

1. त्रिविध दुःखों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में दुःख निवृत्ति के उपायों का वर्णन कीजिए।
3. मोक्ष को परम पुरुषार्थ क्यों कहा गया है?
4. लौकिक एवं आध्यात्मिक साधनों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
5. विवेकज्ञान एवं मोक्ष के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

## बहुविकल्पीय प्रश्न ( MCQ )-

1. त्रिविध दुःखों की संख्या कितनी है?

(क) दो

(ख) तीन

(ग) चार

(घ) पाँच

2. शरीर संबंधी दुःख किस श्रेणी में आता है?

(क) आधिदैविक

(ख) आधिभौतिक

(ग) आध्यात्मिक

(घ) सामाजिक

3. भूकंप किस प्रकार का दुःख है?

- (क) आधिभौतिक
- (ख) आधिदैविक**
- (ग) आध्यात्मिक
- (घ) मानसिक

4. सांख्य दर्शन में परम पुरुषार्थ क्या है?

- (क) धर्म
- (ख) अर्थ
- (ग) काम
- (घ) मोक्ष**

5. विवेकज्ञान से क्या प्राप्त होता है?

- (क) धन
- (ख) राज्य
- (ग) मोक्ष**
- (घ) बल

## इकाई-1.3 त्रिविध प्रमाण निरूपण

### उद्देश्य-

1. प्रमाण की अवधारणा को समझना।
2. प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द प्रमाण का अध्ययन करना।
3. सांख्य दर्शन में ज्ञानमीमांसा को समझना।

भारतीय दर्शन में प्रमाण का अत्यंत महत्वपूर्ण स्थान है। प्रमाण का अर्थ होता है -सत्य ज्ञान प्राप्त करने का माध्यम। विभिन्न दर्शनों ने प्रमाणों की संख्या एवं स्वरूप के बारे में अलग-अलग विचार प्रस्तुत किए हैं। सांख्य दर्शन एक अत्यंत तर्कप्रधान, वैज्ञानिक और अनुभवसिद्ध दर्शन है। यह केवल उन्हीं माध्यमों को प्रमाण स्वीकार करता है, जिनसे सत्य, प्रमाणिक और प्रत्यक्ष अनुभवसिद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो सके। सांख्य दर्शन में तीन प्रमाणों को मान्यता दी गई है, जिन्हें त्रिविध प्रमाण कहा जाता है: प्रत्यक्ष, अनुमान और आप्तवाक्य (शब्द)।

त्रिविधं प्रमाणम्प्रमाण तीन प्रकार का है (प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम अर्थात् आप्तवचन)। प्रत्यक्ष प्रमाण- जो किसी इन्द्रियसे जाना जाय; अनुमान- जो किसी चिन्ह से समझा जाय और आप्तवचन- किसी आप्तका उपदेश आप्त उसे कहते हैं जिसने पदार्थको साक्षात् किया हो और सत्यवक्ता हो।योग दर्शन में भी तीन प्रकार के प्रमाण माने गये हैं-प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि (स.पा.7)। जिस पदार्थ को हमने अभी तक नहीं जाना है, उसका अवधारण अर्थात् निश्चयात्मक ज्ञान 'प्रमा' कहलाता है। "प्रकृष्टं मानम् प्रमा, प्रमितिर्बोधो वा"। उस प्रमा का जो उत्कृष्ट साधन है, जिसके तत्कालं अनन्तर 'प्रमा' की उत्पत्ति हो जाती है, उसे 'प्रमाण' कहते हैं। वह प्रमाण तीन प्रकार का होता है प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द। संक्षेप में "प्रमाकरणं प्रमाणम्"। अर्थात् प्रमा (ज्ञान) का साधन प्रमाण कहलाता है।

### यत्सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत् प्रत्यक्षम्। (सां.द. 1/54)

चक्षु आदि साधनों के द्वारा वस्तु के साथ सम्पर्क होने पर विषय के समानाकार, अन्तःकरण की वृत्ति (प्रकाशक परिणाम) को 'प्रत्यक्ष प्रमाण' कहते हैं। सूत्र में 'यत्सम्बद्धम्' पद 'अनुमान' तथा 'शब्द' प्रमाण की व्यावृत्ति के लिए है। और 'विज्ञान' पद का प्रयोग इसलिए किया है, कि 'अनुमान' तथा 'शब्द' प्रमाणों से तो वस्तु का सामान्य ज्ञान ही होता है, किन्तु प्रत्यक्ष प्रमाण से वस्तु का विशेष ज्ञान होता है।

अर्थात् सूत्र में प्रयुक्त विज्ञान शब्द बुद्धिवृत्ति का ही बोधक है। वृत्तिकार के मत से इन्द्रियार्थसन्निकर्षार्थ केन्द्रियसम्बन्ध विषया-कारतापन्नवृत्तित्वं प्रत्यक्षत्वम् यह प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण है। किन्तु भाष्यकार के मत से स्वार्थसन्निकर्षजन्याकारस्याश्रयो वृत्तिः प्रत्यक्षम् यह प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण है।

सूत्रकार ने यहाँ पर बुद्धिवृत्ति को प्रमाण शब्द से कहकर यह सूचित किया है कि पुरुष को जो बोध होता है, वह प्रमा है, अर्थात् प्रमाण का फल है। इन्द्रियद्वारा गृहीत विषय को यह बुद्धिवृत्ति, पुरुष के पास तक पहुँचाकर उसे अर्पण कर देती है, तब उस विषय से उत्पन्न सुख आदि का अनुभव वह करता है। इस प्रकार अनुभव करना ही उस पुरुष का भोग है। सुख-दुःख आदि का अनुभव करते रहने पर भी पुरुष में कोई विकार या परिणाम नहीं होता है। क्योंकि वह सर्वदा सर्वथा च परिणामशून्य (अपरिणामी) है। चेतन होने के कारण अनुभव (भोग) और बुद्धिवृत्ति के द्वारा विषयों का ज्ञान उसे होता रहता है। इस अनुभव या ज्ञान को ही प्रमा कहते हैं। उस ज्ञान का साधकतम साधन बुद्धिवृत्ति है, जिसे प्रत्यक्ष प्रमाण शब्द से कहा जाता है।

### ननु योगिनामतीतानागतव्यवहितवस्तुप्रत्यक्षेऽव्याप्तिः; सम्बद्ध-वस्त्वाकाराभावात्।

योगियों को अतीत, अनागत और व्यवहित पदार्थों (वस्तुओं) का भी प्रत्यक्ष होता है। किन्तु अतीत-अनागत-व्यवहित वस्तुओं के साथ इन्द्रिय के द्वारा बुद्धि का सम्बन्ध (सन्निकर्ष) होना कदापि सम्भव नहीं हो सकता, क्योंकि इन्द्रियाँ तो वर्तमानकालीन वस्तुओं से ही सम्बन्ध रख सकती हैं, अन्य से नहीं। अतः योगिप्रत्यक्ष में उक्त लक्षण की अव्याप्ति होगी। क्योंकि सम्बद्ध वस्तु का आकार नहीं है।



### योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः। ( सां.द. 1/55 )

प्रत्यक्ष दो प्रकार का होता है - बाह्य और अबाह्य। इनमें से सांसारिक जनों का 'बाह्य' प्रत्यक्ष होता है, जो कि बाह्य-इन्द्रियों द्वारा वस्तु के साथ सम्बन्ध से उत्पन्न होता है और योगियों का 'अबाह्य' (आन्तरिक, अन्तःकरण द्वारा) प्रत्यक्ष भी होता है, जिसमें योगज शक्ति से सूक्ष्म, व्यवहित, दूरस्थ; अतीत तथा अनागत वस्तुओं के साथ भी अन्तःकरण का सम्बन्ध हो जाता है।

### लीनवस्तु लब्धातिशयसम्बन्धाद्वाऽदोषः॥ ( सां.द. 1/56 )

व्यवहित, अतीत, अनागत तथा सूक्ष्म विषयों को प्रत्यक्ष करने के लिए योगी में योगबल से दिव्यशक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे उसको व्यवहित आदि विषयों का प्रत्यक्ष हो जाता है। सांख्य का अपना सिद्धान्त है कि कोई भी कार्य, चाहे वह अतीत हो या अनागत हो, अपने कारण में सर्वदा विद्यमान रहता है। कोई भी वस्तु पूर्णरूपेण नष्ट नहीं हुआ करती। योगी का चित ( मन ) अपनी यौगिक शक्ति के सामर्थ्य से कार्यमात्र के मूलकारण के साथ सन्निर्घर्ष स्थापित कर लेता है, तब उसे प्रत्येक वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाता है। अतः लक्षण के घटित हो जाने से योगि-प्रत्यक्ष में अव्याप्ति नहीं है।

### प्रतिबन्धदृशः प्रतिबद्धज्ञानमनुमानम्। ( सां.द. 1/65 )

जो निश्चायक है, वह 'हेतु' (व्याप्य) और जिसका निश्चय किया जाय वह 'साध्य' (व्यापक) कहलाता है। इन्हीं हेतु (व्याप्य) और साध्य (व्यापक) के नियतसम्बन्ध को प्रतिबन्ध अथवा व्याप्ति कहते हैं। अन्वय-व्यतिरेक से यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है।

**क) अन्वय-व्याप्तिः-** जहाँ एक के होने से दूसरे का होना बताया जाय उसे 'अन्वय-व्याप्ति'; तथा

**ख) व्यतिरेक-व्याप्तिः-** जहाँ एक के न होने से दूसरे का न होना कहा जाय तो उसे 'व्यतिरेक-व्याप्ति' कह देते हैं। इस प्रकार जिस व्यक्ति को व्याप्ति का ज्ञान होता है, वह एक धर्म (हेतु) से दूसरे नियत सम्बन्धी (साध्य) का ज्ञान कर लेता है। इसी को 'अनुमान' कहते हैं और इसका असाधारण साधन 'अनुमान-प्रमाण' कहलाता है।

**प्रतिबन्धो व्याप्तिः। व्याप्तिदर्शनाद् व्यापकज्ञानं वृत्तिरूपमनुमानं प्रमाणमित्यर्थः। अनुमितिस्तु पौरुषेयो बोध इति।**

प्रतिबन्ध यानी व्याप्ति, उसके (व्याप्ति के) देखने पर जो व्यापक का ज्ञान होता है, उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। और उससे होने वाली जो अनुमिति है, वह फल है। एवं च अनुमिति ही पौरुषेय बोध है। वही अनुमान का फल है। धूम को देखकर जो वह्नि का ज्ञान होता है, वही अनुमान है। लिङ्गपराशर अनुमान नहीं है। इसीलिये सांख्य ने पौरुषेयबोध को ही अनुमिति (अनुमान का फल) कहा है। सूत्र में प्रतिबन्ध शब्द दिया गया है। उसका अर्थ इस प्रकार है-बन्ध यानी सम्बन्ध। दो पदार्थों के नियत सम्बन्ध (स्वाभाविक सम्बन्ध) को प्रतिबन्ध कहते हैं। इस प्रतिबन्ध को व्याप्ति शब्द से भी कहते हैं। नियतसम्बन्धरूप व्याप्ति का उदाहरण, जैसे-यत् परिणामि, तत् त्रिगुणात्मकम् और यत् त्रिगुणात्मकं तत् परिणामि इस प्रकार से परिणामी और त्रिगुणात्मक का अथवा त्रिगुणात्मक और परिणामी का नित्य (नियत) सम्बन्ध है। जिससे जिसका निश्चय करते हैं, उस निश्चायक को हेतु कहते हैं। और जिसका निश्चय किया जाता है, उसे साध्य कहते हैं। हेतु और साध्य के नियत सम्बन्ध को व्याप्ति कहते हैं। जब एक के होने पर दूसरे को बताया जाता है, तब उसे अन्वय व्याप्ति कहते हैं-तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः। और जब एक के न होने पर दूसरे का न होना बताया जाता है, तब उसे व्यतिरेक-व्याप्ति कहा जाता है।

यह व्याप्ति-ज्ञान जिसे रहता है, वही पुरुष एक धर्म (हेतु) के द्वारा उसके दूसरे नियत सम्बन्धी धर्म (साध्य) का ज्ञान कर पाता है। इस प्रकार के ज्ञान को अनुमान शब्द से कहते हैं व्याप्तिज्ञान-स्मरण पूर्वक व्याप्य से व्यापक का ज्ञान, इसमें हुआ करता है। व्याप्य (हेतु) और व्यापक (साध्य) के नियत साहचर्य को व्याप्ति कहते हैं। यह व्याप्ति दो प्रकार की होती है- (१) समव्याप्ति और (२) विषमव्याप्ति जहाँ पर हेतु (व्याप्य) और साध्य (व्यापक) के नियत साहचर्यरूप नित्य सम्बन्ध (स्वाभाविक सम्बन्ध, नियत सम्बन्ध) को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा समान रूप से बताया जाता है, वहाँ पर समव्याप्ति कही जाती है। तत्सत्त्वे तत्सत्त्व-मन्वयः और तदभावे तदभावोव्यतिरेकः यह अन्वय और व्यतिरेक का स्वरूप है-जैसे कृत्रिमत्व और अनित्यत्व, परिणामित्व और त्रिगुणात्मकत्व, इन धर्मों का अन्वय-व्यतिरेक में समान साहचर्य रहने से इनकी समव्याप्ति कही जाती है। कुछ उदाहरण ऐसे भी उपलब्ध होते हैं, जहाँ दोनों धर्मों के अथवा पदार्थों के अर्थात् हेतु और साध्य के नियत साहचर्य को अन्वय-व्यतिरेक के द्वारा समानरूप से नहीं बताया जा सकता, उन उदाहरणों में विषमव्याप्ति होती है। जिनमें परस्पर कार्य-कारण-भाव रहता है, वहीं पर प्रायः यह विषमव्याप्ति उपलब्ध होती है। क्योंकि ऐसे स्थलों में कार्य को देखकर कारण का तो अनुमान हो सकता है, किन्तु कारण को देखकर कार्य का अनुमान नहीं किया जा सकता। जैसे- धूमरूप कारण को देखकर अग्नि रूप कार्य का अनुमान तो कर सकते हैं,



किन्तु अग्नि रूप कार्य को देखकर धूम रूप कारण का अनुमान नहीं कर सकते। क्योंकि यह आवश्यक नहीं है कि जहाँ अग्नि हो वहाँ धूम रहता ही हो। गीली लकड़ी आदि लगा देने पर धूम पैदा हो जाता है, अन्यथा नहीं। दहकते अंगारों में, तप्त लोहे में, स्टोप, गैस, बिजली आदि में अग्नि तो है, किन्तु वहाँ अग्नि को देखकर धूम का अनुमान नहीं कर पाते। उसी तरह वर्षा को देखकर मेघ का अनुमान तो हो सकता है, किन्तु मेघ को देखकर वर्षा का अनुमान नहीं किया जा सकता क्योंकि हम देखते हैं कि कभी-कभी मेघ के रहने पर भी वर्षा नहीं होती है। ये सब उदाहरण विषमव्याप्ति के हैं।

**आप्तोपदेशः शब्दः॥ ( सां.द. 1/66 )**

( आप्तोपदेशः )      आप्तस्य      सर्वज्ञानमाप्तवतः      सर्वज्ञस्येश्वरस्योपदेशः,      यद्वाऽऽप्तो  
महर्षीणामन्तरात्मन्याविष्टः      सर्गारम्भे      यः      स      चेदः,      तथाऽऽप्तस्य      साक्षात्कृतधर्मणो  
विद्यानिष्णातस्योपदेशः ( शब्दः ) शब्दप्रमाणम्।

**अर्थः-** ( आप्तोपदेशः ) समस्त ज्ञान को प्राप्त सर्वज्ञ ईश्वर का उपदेश या सर्गारम्भ में अग्नि आदि महर्षियों के अन्तरात्मा में आप्त-प्राप्त-आविष्ट हुआ वेद, तथा आप्त-साक्षात्कृतधर्मा विद्यानिष्णात का उपदेश ( शब्दः ) शब्द प्रमाण है।

**व्याख्याः-**सूत्र में प्रयुक्त शब्द का अर्थ है- शब्द जनित ज्ञान। सांख्य-कारिका की चतुर्थ कारिका में आप्तश्रुतिराप्तवचनन्तु कहा गया है। वहाँ आप्तवचनम् यह प्रमाणविशेष ( शब्दप्रमाण ) की संज्ञा है। और आप्तश्रुतिः यह उस प्रमाणविशेष का लक्षण है। आप्त-श्रुति का अर्थ है-आप्त द्वारा उच्चारितशब्द से उत्पन्न होने वाला ज्ञान। किसी विषय के यथार्थज्ञान को आप्ति कहते हैं। जिसने जिस विषय के ज्ञान को यथार्थ रूप में प्राप्त किया हो और तदनुसार ही बताता हो, उसे (उस व्यक्ति को हो) आप्त कहा जाता है। ऐसे व्यक्ति के उपदेश ( कथन ) को शब्द प्रमाण कहते हैं। अर्थात् ऐसे व्यक्ति के मुख से निकले हुए शब्द प्रमाण समझे जाते हैं। इस शब्द-प्रमाण के आधार पर ही लौकिक व्यवहार की प्रामाणिकता समय विशेष पर समझी जाती है संसार में प्रायः अनाप्तों को हो भ्रमर रहती है, वे यथार्थज्ञाता तथा यथार्थवक्ता नहीं होते हैं। उनके ज्ञान में तथा बोलने में भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा ( वंचना-प्रतारणा ) आदि दोष रहते हैं। इसीलिये लोग प्रायः धोखा खाते हैं, ठगे जाते हैं। क्योंकि अप्रमाणभूत शब्द को ही उन्होंने प्रमाणभूत शब्द समझकर विश्वास कर लिया है। अतः आप्त और अनाप्त का विवेक अत्यावश्यक है। क्योंकि आप्त पुरुष का ही शब्द प्रमाण होता है, अनाप्त पुरुष का नहीं किसी पदार्थ के यथार्थ ज्ञान को 'आप्ति' कहते हैं। तथा आप्ति वाले पुरुष का नाम 'आप्त' है। ऐसे आप्त ( यथार्थ ज्ञाता ) के उपदेश को 'आप्तोपदेश' ( यथार्थोपदेश ) कहते हैं। इसी का नाम 'शब्द-प्रमाण' है।

परन्तु जिस उपदेश ( कथन ) में भ्रम, प्रमाद, लोभ आदि दोष हों तो वह अयथार्थ कथन 'शब्द प्रमाण' नहीं कहा जा सकता। तीनों प्रमाणों के विषय में सांख्यकारिका है -

**प्रतिविषयाध्यवसायो दृष्टं, त्रिविधमनुमानमाख्यातम्।**

**तल्लिङ्गलिङ्गपूर्वकम्, आप्तश्रुतिराप्तवचनं च॥ ( सां.का.5 )**

अर्थात् प्रत्येक ( घट, पट आदि ) विषय में इन्द्रिय आदि के सम्बन्ध से उत्पन्न निश्चयात्मक ज्ञान को प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। व्याप्यव्यापकभाव पूर्वक अर्थात् हेतु से जहाँ साध्य का ज्ञान हो उसे अनुमान प्रमाण कहते हैं। उसके तीन भेद हैं: पूर्ववत् शेषवत् और सामान्यतादृष्ट। यथार्थ ज्ञाता के वाक्य से उत्पन्न ज्ञान को शब्द प्रमाण कहते हैं।

**उभयसिद्धिः प्रमाणात् तदुपदेशः ( सां.द. 1/67 )**

चेतन और अचेतन दोनों प्रकार के पदार्थों की सिद्धि प्रमाण से ही होती है, इसलिए प्रमाणों का उपदेश किया गया है।

**1) प्रत्यक्ष :-**प्रकृति-पुरुष के लिए प्रत्यक्ष प्रमाण तो योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा सूक्ष्मवस्तु से सम्बन्ध होने से होता है, जैसा कि प्रत्यक्ष लक्षण प्रकरण में कह दिया गया है। ( किन्तु स्थूल पदार्थों को बाह्य प्रत्यक्ष से भी जाना जाता है ), अतः प्रकृति-पुरुष की सिद्धि में प्रत्यक्ष प्रमाण भी साधक है।

**2). अनुमान :-** महत्तत्त्वादि कार्य हैं। कार्य उपादान और निमित्त कारण से होता है, घड़े की भाँति। जैसे घड़े का उपादान-कारण मिट्टी और निमित्त कारण कुम्हार होता है, इसी प्रकार यहाँ भी प्रकृति उपादान कारण और पुरुष-विशेष ईश्वर निमित्तकारण अनिवार्य है। और "कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः" ( वैशेषिक० 2/1/24 ) अर्थात् कारण के गुणानुसार कार्य के गुण होते हैं कारण के गुण

कार्य मेंहोते हैं। कार्य त्रिगुणात्मक अर्थात् सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुणरूप है, अतः त्रिगुणात्मक (सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण रूप) प्रकृति उपादान कारण है। “अचाक्षुषाणामनुमानेन बोधः”-

सांख्य 1/25(60) इस सूत्र से प्रकृति और पुरुष के बोधार्थ अनुमान प्रकरण चल रहा है, फिर “संह. तपार्यत्वात् पुरुषस्य”-सांख्य 1/31 (61) सूत्र में भी संहत के परार्थ होने से - इस अनुमान द्वारा पुरुष का बोध होता है। महत्तत्वादि संहत हैं, अतः परार्थ हैं, घट, शय्या आदि के समान। पर है पुरुष (जीवात्मा)। इस प्रकार पुरुष की सिद्धि में अनुमान प्रमाण है। और-

3 ). शब्द-प्रमाणः-“द्यावाभूमी जनयन् देव एकः” (यजु०१७/१६) - यह पुरुषविशेष ईश्वर में शब्दप्रमाण है। “त्यक्तेन भुज्जीथाः” (यजु. ४०/१) - यह भोक्ता पुरुष की सिद्धि में प्रमाण है।

“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।

तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥”( ऋग० 1/164/20 )

यहाँ ‘द्वा सुपर्णा’- दो पक्षी तथा ‘अन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्ति’ एक फल खाता है, ‘अनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति’- दूसरा केवल साक्षी है। - इस कथन से ईश्वर और जीव सूचित किये हैं। तथा ‘समानं वृक्ष’-समान वृक्ष कथन से प्रकृति लक्षित है। अतः प्रत्यक्ष, अनुमान और शब्द तीनों प्रमाणों से प्रकृति और पुरुष की सिद्धि होती।

**स्मरणीय बिंदु-**

- सांख्य दर्शन तीन प्रमाणों को स्वीकार करता है।
- प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों से प्राप्त होता है।
- अनुमान हेतु और साध्य पर आधारित होता है।
- शब्द प्रमाण आप्त वचनों पर आधारित है।
- प्रमाण सत्य ज्ञान का साधन है।

**शब्दावली-**

- प्रमाण - ज्ञान का साधन
- प्रत्यक्ष - इन्द्रियजन्य ज्ञान
- अनुमान - तर्क आधारित ज्ञान
- शब्द - आप्त वचन
- हेतु - कारण

**5 अंक के प्रश्न-**

1. प्रमाण किसे कहते हैं?
2. प्रत्यक्ष प्रमाण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. अनुमान प्रमाण क्या है?
4. शब्द प्रमाण किसे कहते हैं?
5. सांख्य दर्शन में कितने प्रमाण स्वीकार किए गए हैं?

## 15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में प्रमाणों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. प्रत्यक्ष प्रमाण की विशेषताओं को स्पष्ट कीजिए।
3. अनुमान प्रमाण के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
4. शब्द प्रमाण की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्य दर्शन की ज्ञानमीमांसा का विश्लेषण कीजिए।

## बहुविकल्पीय प्रश्न ( MCQ )-

1. सांख्य दर्शन में कितने प्रमाण मान्य हैं?  
(क) दो  
(ख) तीन  
(ग) चार  
(घ) छह
2. इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान क्या कहलाता है?  
(क) अनुमान  
(ख) शब्द  
(ग) प्रत्यक्ष  
(घ) उपमान
3. धूम देखकर अग्नि का ज्ञान किस प्रमाण से होता है?  
(क) प्रत्यक्ष  
(ख) अनुमान  
(ग) शब्द  
(घ) अर्थापत्ति
4. आप्त पुरुष के वचन को क्या कहते हैं?  
(क) शब्द प्रमाण  
(ख) प्रत्यक्ष  
(ग) अनुमान  
(घ) संशय
5. ज्ञान प्राप्ति का साधन क्या कहलाता है?  
(क) मोक्ष  
(ख) प्रमाण  
(ग) धर्म  
(घ) योग

## इकाई-1.4 आत्मा देहादि से व्यतिरिक्त

### उद्देश्य-

1. आत्मा एवं शरीर के भेद को समझना।
2. पुरुष की स्वतंत्र सत्ता का अध्ययन करना।
3. चेतन एवं अचेतन तत्त्वों का विवेचन करना।

यद्यपि आत्मा साधारण रूप से स्वसंवेद्य है। तथापि अविवेक दशा में प्रत्येक व्यक्ति मैं मोटा हूं, मैं पतला हूं, मैं दुर्बल हूं, मैं बलवान् हूं तथा मैं अन्धा हूं, मैं लंगड़ा या लूला हूँ। इस प्रकार -अहं का सामानाधिकरण्य स्थूल शरीर और इन्द्रियों के साथ अनुभव करता है, और शरीरादि को ही आत्मा समझता है। अतः चेतनाचेतन विवेक के लिए यह आवश्यक है कि आत्मा की वास्तविक स्थिति को स्पष्ट किया जाय।

**शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान्। ( सां.द.1/104 )**

( शरीरादिव्यतिरिक्तः पुमान् ) शरीरादिभ्यः शरीरेन्द्रियान्तःकरणेभ्यो भूतात्मकेभ्यः प्रकृतिपर्यन्तेभ्यश्च भिन्नः पुरुषोऽस्ति। तत्र सामष्टिकः पुरुषविशेष ईश्वरः शरीराभ्यन्तरश्च जीवात्मा पुरुषोऽपि भिन्नः।

**अर्थः-**(शरीरादिव्यतिरिक्तः) शरीर आदि से शरीर, इन्द्रिय, अन्तःकरण से तथा भूतभौतिकों प्रकृतिपर्यन्त पदार्थों से भिन्न पुरुष है। उस में सामष्टिक पुरुषविशेष ईश्वर और शरीर के अन्दर रहने वाला जीवात्मा पुरुष भी भिन्न है

**व्याख्याः-**शरीर आदि से भिन्न है पुरुष (आत्मा) स्थूल शरीर से लगाकर सूक्ष्मातिसूक्ष्म प्रकृति पर्यन्त जितना अचेतन अचेतन जगत् है, उस सबसे अतिरिक्त है। पुमान्, अर्थात् चेतन आत्मा। मूलरूप से सांख्य दो तत्त्व स्वीकार करता है, जड़ और चेतन। प्रकृति और उसके समस्त विकार जड़ है तथा अनन्त जीवात्मा और एक परमात्मा चेतन है। जीवात्मा अविवेक के कारण शरीर इन्द्रिय तथा बाह्य अर्थों के साथ अभेद का ग्रहण करता हुआ भी वास्तविक स्थिति में वह इन सबसे अतिरिक्त है। सर्वज्ञ ईश्वर को इस प्रकार की भ्रान्ति की संभावना ही नहीं। वह भी प्रकृत्यादि समस्त अचेतन जगत् से स्वतः अतिरिक्त है।

**संहत परार्थत्वात्। ( सां.द.1/105 )**

( संहतपरार्थत्वात् ) शरीरादयः संहताः सन्ति, संहताश्च न स्वार्थाय भवन्ति तेषां जडत्वाच्छय्यादिवत् किन्तु परार्था एव, तस्माद् यदर्थाः सन्ति शरीरादयः स परस्तेभ्यः शरीरादिभ्यो भिन्न इति प्रथमो हेतुः।

**अर्थः-**(संहतपरार्थत्वात्) शरीर आदि संहत हैं-खण्डों से युक्त हैं-मिले हुए हैं। संहत स्वार्थ नहीं होते उनके जड़ होने से, शय्या आदि के समान, किन्तु परार्थ ही हैं। इस कारण जिसके अर्थ शरीर आदि हैं, वह शरीर आदि से परे है, भिन्न है, यह प्रथम हेतु है।

**व्याख्याः-**संघात के परार्थ अन्य के लिए होने से संहत अर्थात् संघात रूप में विद्यमान समस्त अचेतन तत्त्व, परार्थ देखा जाता है-उ. सकी समस्त प्रवृत्ति पर के लिए होती है। वह 'पर' भोक्ता जीवात्मा है। यदि भोक्ता आत्मा का अस्तित्व न माना जाए तो जगत् की प्रवृत्ति निष्फल है। इस प्रकार भोग्य अचेतन से विलक्षण भोक्ता चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध होता है। समूहरूप में विद्यमान जितने भी जड़ पदार्थ हैं, वे सब परार्थ यानो दूसरे के लिये होने से भी चेतन पुरुष की सिद्धि हो जाती है। जैसे शय्या आदि सामग्री, उस पर सोने वाले किसी अन्य व्यक्ति के लिये होती है। अतः यह असंहत पुरुष, संहत देह आदि से भिन्न ही सिद्ध होता है। इस हेतु की व्याख्या संहत परार्थत्वात् पुरुषस्य- (सू. १।६६) सूत्र पर की जा चुकी है। तथापि कथित हेतुका पुनः उल्लेख कारणों (हेतुवर्ग) के सङ्ग्रहार्थ किया गया है। अनुमानप्रयोग इस प्रकार होगा-जैसे, विवादास्पद प्रकृति-महदादिक परार्थम स्वैतरस्य भोगापवर्गफलकम् संहतत्वात् शय्या-सनादिवत्-इस अनुमान के द्वारा प्रकृति से पर (अन्य-भिन्न) असंहत होगा। परिणामी तत्त्व अपने स्वार्थ को सिद्ध न करने के कारण पुरुष ही सिद्ध होता है। उसको भी संहत कहने पर अनवस्थादोष तथा स्वयं जड़ होने के कारण वह अपने से विलक्षण तत्त्व के विद्यमान होने का अनुमान कराता है।

त्रिगुणादिविपर्ययात् ( सां.द.1/106 )

( त्रिगुणादिविपर्ययात् ) सत्त्वरजस्तमांसि त्रयो गुणाः, आदिशब्देन जडत्वं पुरुषाधीनत्वं च गृह्यते, एतेषां विपर्ययात् तत्र पुरुषे निर्दिष्टधर्माणां विपरीतत्वभावोऽथ भिन्नधर्माणां चेतनत्वादीनां भावो विद्यते, तस्मात् पुरुषः शरीरादिभ्यो भिन्नः।

अर्थः-(त्रिगुणादिविपर्ययात्) सत्त्व, रज, तम तीन गुण तथा आदि शब्द से जडत्वं पुरुषाधीनत्वं ग्रहण किए जाते हैं। इनके विपर्यय से पुरुष में कहे धर्मों के विपरीतत्व-अभाव और भिन्न धर्मों-चेतनत्व आदि का भाव है, अतः शरीर आदि से भिन्न पुरुष है।

व्याख्या:-सत्त्व, रजस्, तमस् ये तीन गुण हैं। आदि पद से इनके समस्त परिणाम अन्योन्य-मिथुन वृत्तिता जडता आदि का ग्रहण कर लेना चाहिए। इस प्रकार त्रिगुणात्मक मूल उपादान तथा उसके समस्त परिणाम महदादि से विपरीत एक विलक्षण तत्त्व को स्वीकार किया गया है। यह तत्त्व त्रिगुणानीत अपरिणामी चेतन-आत्मा है, जो जीवात्मा और परमात्मा इन दो रूपों में वर्णित है। आदिशब्देन चात्र त्रिगुणमविवेकि विषय (सां. का. ११) इति कारिकोक्ताऽविवेकित्वादयो ग्राह्याः। तथा रूपादयः शरीरादिधर्मा ग्राह्याः। सूत्रगत आदि शब्द से त्रिगुणमविवेकि विषयः ( ११ कारि.) इस कारिका में बताये हुए विवेकित्व आदि का ग्रहण करना चाहिये। तथा रूप आदि शरीर धर्मों का भी ग्रहण करना चाहिये। अर्थात् अन्योन्यमिथुनवृत्तिता जडता आदि सभी परिणामों का ग्रहण करना चाहिये। एवं च त्रिगुणात्मक मूल प्रकृति रूप उपादान तथा उससे होने वाले महदादि समस्त परिणामों से विपरीत एक विलक्षण पुरुष तत्त्व को स्वीकार किया गया है। यह पुरुष तत्त्व- त्रिगुणातीत, अपरिणामी चेतन है, जिसको जीवात्मा और परमात्मा दो रूपों में सभी ने बताया है।

अधिष्ठानाच्चेति। ( सां.द.1/107 )

( अधिष्ठानात्-च ) पुरुषो हि शरीरादिकस्याधिष्ठानमधिष्ठाता तथाऽधिष्ठेयं शरीरादिकं तस्मादपि पुरुषः शरीरादिभ्यो भिन्नः ( इति ) इत्थं कथनमीश्वरजीवात्मनोद्वयोः समानधर्मत्वकथनसमाप्तिः। तत्रेश्वरस्याधिष्ठातृत्वं सृष्टिकर्तृ व्याज्जीवात्मनस्तु दे. हव्यवहारप्रवर्तयितृत्वादधिष्ठातृत्वमस्ति।

अर्थः-(अधिष्ठानात्-च) और पुरुष शरीर आदि का अधिष्ठान अधिष्ठाता के धर्म से आश्रय है तथा अधिष्ठेय शरीर आदि है, अतः पुरुष शरीर आदि से भिन्न है। (इति) ऐसा कथन ईश्वर जीवात्मा के समान धर्मों की कथन समाप्ति है। इस में ईश्वर का अधिष्ठान तृत्वं सृष्टिकर्तृत्व से है, जीवात्मा का अधिष्ठातृत्व देह व्यापार का प्रवर्तक होने से है।

व्याख्या:-जितना त्रिगुणात्मक अचेतन जगत है उसका कोई अन्य चेतन अधिष्ठाता रहता है जो अचेतन में प्रवृत्ति आदि का हेतु होता है, जिस प्रकार रथ आदि अचेतन की प्रवृत्ति का हेतु एक यन्त्रा अधिष्ठाता रहता है, इसी प्रकार बुद्धि से लेकर स्थूलभूतनिर्मित शरीर तक जितना यह संघात है, इसमें प्रवृत्ति का हेतु कोई चेतन अधिष्ठाता होना चाहिए, वह जीवात्मा है। जैसे इस शरीर का अधिष्ठाता एक चेतन है, ऐसे ही अखिल अचेतन प्रकृतिका एक चेतन अधिष्ठाता होना चाहिए। क्योंकि शरीर का अधिष्ठाता आत्मा अल्पज्ञ व अल्पशक्ति होने के कारण अखिल प्रकृति का अधिष्ठाता नहीं हो सकता फिर आत्मा अनन्त होने के कारण यह व्यवस्था करनी अशक्य है कि इनमें से कौन सा आत्मा प्रकृति का अधिष्ठाता हो, इसलिए समस्त विश्व का एक अधिष्ठाता परमात्मा है। इस प्रकार जीवात्मा और परमात्मा-चेतन मात्र का अस्तित्व इन हेतुओं से सिद्ध होता है। और पातञ्जलयोगसूत्र “तदसंख्येयवासना भिश्चित्रमपि परार्थं संहत्यकारित्वात्” - (४।२४) में सूत्रकार ने भी इसी प्रकार अनुमान किया है। सूत्र का अर्थ है-जो वस्तु अनेक पदार्थों से मिल जुलकर किसी कार्य में समर्थ होती है, उसे संहत्यकारी कहते हैं। जैसे- गृह, भोजन आदि। ऐसी वस्तुएँ अपने से भिन्न किसी दूसरे के लिये ही हुआ करती हैं, अपने लिये नहीं। अतः वह वस्तु परार्थ कहलाती हैं। ये चित्त आदि पदार्थ भी सत्त्व, रज, तम इन तीन गुणों के मिश्रण से उत्पन्न हुए हैं, तथा बाह्यपदार्थ के साथ इन्द्रियों के संयोगद्वारा मिल जुलकर कार्य करने में समर्थ होते हैं। अतः वे अपने लिये नहीं हैं। अपितु द्रष्टा पुरुष के लिये हैं, तथा उसी के भोग और अपवर्ग का सम्पादन करने के लिये वे नाना वासनाओं से चित्रित हैं तथा ‘न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति’ - (वृ. उ. ४। ५-६ ) इत्यादि श्रुति भी है। योगीश्वर याज्ञवल्क्य, मैत्रेयी से कहते हैं कि सबके प्रयोजन के लिये सब प्रिय नहीं होते, अपितु अपने ही प्रयोजन के लिये सब प्रिय होते हैं।

भोक्तृभावात्। ( सां.द.1/108 )

( भोक्तृभावात् ) भोक्तृभावो हि पुरुषे विद्यते भोग्यं हि शरीरादिकं तस्मात् स ततो भिन्नः। उक्तं हि पूर्वम् चिदवसानो भोगः

( सांख्य १।१०४ )।

अर्थ:- (भोक्तृभावात्) पुरुष में भोक्तृभाव भोगने की प्रवृत्ति है, भोग्य शरीर आदि है, अतः इससे भिन्न है। पूर्व कहा भी है-चिदवसानो भोगः (सांख्य० १।१०४)।

**व्याख्या:-**समस्त अचेतन त्रिगुणात्मक जगत् भोग्य है उसकी उपयुक्तता व सफलता उसी समय है जब उसका कोई भोक्ता हो। अचेतन भोग्य जगत् का कोई चेतन भोक्ता स्वीकार करना आवश्यक है स्वयं भोग्य, भोक्ता नहीं हो सकता, इसलिए अचेतन प्रकृति के अतिरिक्त चेतन आत्मा को सांख्य में भोक्ता स्वीकार किया गया है। इस प्रकार प्रकृति का भोक्ता होने के कारण आत्मा की सिद्धि होती है।

यदि शरीरादिस्वरूप ही भोक्ता होता तो भोक्तृत्वका ही विनाश हो जाता। अन्यथा कर्म-कर्तृविरोध होगा। अर्थात् स्व में ही साक्षात् स्व-भोक्तृत्व उपपन्न नहीं हो सकता। इस अनुपपत्ति को पूर्व (१।१६६ के) भाष्य में बताया है। इस सूत्र में पुरुष का भोग स्वीकार किया है- इसे स्मरण रखना चाहिये।

अपरिणामी पुरुष के भोग को चिदवसानो भोगः-(१।१०४) सूत्र में बताया गया है। प्रश्नोपनिषद् के शाङ्करभाष्य (प्र. उ. ६।३ शां. भा.) में भी सांख्यास्तु परमार्थत एव भोक्तृत्वं पुरुषस्य इच्छन्ति। वहीं पर यथा सांख्यस्य चिन्मात्रस्याऽपरिणामिनोऽप्यात्मनो भोक्तृत्वम्। कहकर भोक्तृत्व भी अविद्या से अध्यारोपित माना गया है-अविद्याप्रत्युपस्थापितत्वात् कर्तृत्व-भोक्तृत्वयोः-- (शारीरक २।३।४०)। सांख्यविरोधियों ने भोक्तृत्व का खण्डन अनेक जगहों पर किया है जैसे- प्रश्न ६।३ शां. भा किश्च भोक्तृत्वकर्तृत्वयोर्विशेषानुपपत्तिः। का नामासौ कर्तृत्वाज्जात्यन्तरभूता भोक्तृत्वविशिष्टा विक्रिया यतो भोक्तैव पुरुषः कल्प्यते न कर्ता, प्रधानन्तु कर्तृ एव न भोक्तृ इति। किन्तु सांख्य के मत में प्रवृत्ति का निर्विकार प्रकाशक ही भोक्ता होता है। अतः सांख्य के भोक्तृवाद में कोई दोष नहीं है। भोग से जो विकृत होता है, उसे सांख्य भोक्तृ नहीं मानता है।

**कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च। (सां.द.1/109)**

(कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः च) पुरुषश्चात्मस्वरूपार्थ मोक्षार्थ प्रवर्ततेऽतः स शरीरादिभ्यो भिन्नः। यदि शरीरादिभ्यो भिन्नो न भवेत् कैवल्यार्थ कः प्रवर्तते स एतादृशप्रवृत्तिमान् नित्यश्चेतनः पुरुष एव।

अर्थ:- (कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः- च) पुरुष आत्मस्वरूपार्थ-मोक्षार्थ प्रवृत्त होता है, अतः वह शरीर आदि से भिन्न है। यदि शरीर आदि से भिन्न न हो तो कैवल्यार्थ कौन प्रवृत्त हो ? वह ऐसी प्रवृत्तिवाला नित्य चेतन पुरुष ही है।

**व्याख्या-**कैवल्य मोक्ष का नाम है। सांख्य में इसे अत्यन्त पुरुषार्थ कहा गया है। प्रत्येक आत्मा दुःखों से बचना चाहता है। दुःख आदि द्वन्द्व प्रकृति के साथ सम्पर्क होने पर प्राप्त होते हैं। इस स्थिति से बच जाना कैवल्य है अर्थात् प्रकृति के साक्षात् सम्पर्क से रहित केवल आत्मा की स्थिति। चेतन आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करने पर ही प्रकृति के साथ उसके सम्पर्क की कल्पना की जा सकती है। इस प्रकार जिसके कैवल्य के लिए प्रकृति की प्रवृत्ति है, ऐसे चेतन के अस्तित्व को स्वीकार किया जाना आवश्यक है। शरीरादिक्रमेव चेद् भोक्तृ स्यात् तदा भोक्तुः कैवल्यार्थ दुःखात्यन्तोच्छेदार्थ कस्यापि प्रवृत्तिर्नोपपद्येत शरीरादीनां विनाशित्वात् प्रकृतेश्च धर्मिग्राहकमानेन दुःखस्वाभाव्यसिद्ध्या कैवल्योऽसम्भवात्। अत्र कैवल्यार्थ प्रकृते-न हि स्वभावस्थात्यन्तोच्छेदो घटत इत्यर्थः। यदि शरीरादि ही भोक्ता होता तो भोक्ता के कैवल्य के लिये अर्थात् दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद के लिये किसी की भी प्रवृत्ति न होती। क्योंकि शरीर आदि तो विनाशी है, और धर्मिग्राहक प्रमाण के द्वारा प्रकृति के स्वाभाविक दुःख की सिद्धि रहने से कैवल्य की प्राप्ति का होना सम्भव ही नहीं है। क्योंकि स्वभाव का आत्यन्तिक उच्छेद नहीं हुआ करता है। सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्। पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थ प्रवृत्तेश्च। सङ्घातपरार्थत्वात् सङ्घातानाम्- मिल जुलकर कार्य करने वाले जड़वर्ग, परार्थत्वात्-दूसरे के लिये होने से पुरुष का अस्तित्व सिद्ध होता है। त्रिगुणादिविपर्ययात् सङ्घातात्मक जड़ पदार्थों में ही त्रिगुणता रहती है, अन्यत्र नहीं। जिसमें त्रिगुणत्वादि धर्मों का अभाव रहता है, वही जड़वर्ग से भिन्न पुरुष (आत्मा) सिद्ध होता है। (३) अधिष्ठानात्-त्रिगुणत्व धर्म से युक्त सङ्घातात्मक अव्यक्तादि जड़वर्ग का अधिष्ठाता होने से वही पुरुष (आत्मा) सिद्ध होता है। (४) भोक्तृभावात् - भोक्तृत्व (साक्षित्व) होने से सुख-दुःख जिसके भोग्य होते हैं, वही पुरुष (आत्मा) है। (५) कैवल्यार्थ प्रवृत्तेः-जिसके मोक्ष के लिये शिष्ट पुरुषों की और शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है। उस कारण भी पुरुष (आत्मा) का अस्तित्व सिद्ध होता है। सांख्यदर्शन कैवल्य को आत्यन्तिक पुरुषार्थ कहता है। प्रकृति के ससर्ग से सुख-दुःखादि द्वन्द्वों की प्राप्ति होती है। प्रत्येक आत्मा प्राप्त होने वाले दुःखों से अपने को बचना चाहता है। उन दुःखों से बचना ही कैवल्य है। अभिप्राय यह है कि प्रकृति के

संसर्ग से रहित होकर उस आत्मा की जो केवली स्थिति है, वही कैवल्य है। चेतन आत्मा को यदि न माना जाय तो प्रकृति के साथ उसके संसर्ग की कल्पना कैसे कर सकेंगे। एवं जिसके कैवल्य के लिये 'प्रकृति प्रवृत्त होती है। वही आत्मा है।

**जड प्रकाशायोगात् प्रकाशः। ( सां.द.1/110 )**

( जडप्रकाशायोगात् ) जडे स्वात्मप्रकाशस्य युक्तिः सम्भवो नास्ति तस्मात् तस्य कैवल्यार्थप्रवृत्तेरनुपपन्नत्वात् ( प्रकाशः ) पुरुषो हि प्रकाशस्वरूपश्चेतनः स्वात्मप्रकाशनार्थं कैवल्यार्थं प्रवर्तते शरीरादिभ्यो भिन्नः सन्।

**अर्थः-** (जडप्रकाशायोगात्) जड़ में स्वात्मप्रकाश का सम्भव न होने से उसकी कैवल्यार्थ प्रवृत्ति के असम्भव से (प्रकाशः) पुरुष ही प्रकाशस्वरूप चेतन है। वह स्वात्मप्रकाशनार्थं कैवल्यार्थं प्रवृत्त होता है, अतः वह शरीर आदि से भिन्न है।

**व्याख्याः-**जड़ का चेतन रूप में परिणाम न होने से चेतन स्वतः सिद्ध है। जड़ वस्तु का प्रकाश के साथ अथवा प्रकाश के रूप में योग न होने से प्रकाश स्वतः सिद्ध माना जाना चाहिए। सूत्र में 'प्रकाश' पद चेतन के लिए प्रयुक्त हुआ है। योग पद का अर्थ है - किसी रूप में पहुँचना या प्राप्त होना, अर्थात् परिणाम कोई भी जड़ वस्तु चेतन रूप में परिणत नहीं होती, इसलिए चेतन को स्वतः सिद्ध मानना चाहिए। जड़-चेतन की यह विशेषता है कि जड़ परिणामी और चेतन अपरिणामी है। अतः दोनों को एक नहीं माना जा सकता। इस प्रकार उपरोक्त सूत्रों द्वारा त्रिगुणात्मक अचेतन प्रकृति से भिन्न चेतन आत्मा का अस्तित्व सिद्ध किया गया है, जिसे सांख्यकारिका में निम्नप्रकार से लिखा है -

**सङ्घातपरार्थत्वात् त्रिगुणादिविपर्ययादधिष्ठानात्।  
पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यार्थं प्रवृत्तेश्च॥**

(सां.का.17)

अर्थात् संघात तत्त्व (सामग्री समुदाय) अपने से भिन्न के लिए होने से, तीनों गुणों का अभाव होने से, अधिष्ठाता होने से, भोक्ता होने से, कैवल्य (आत्मसाक्षात्कार) के लिए साधकों की प्रवृत्ति होने से भी यह सिद्ध होता है, कि पुरुष (आत्मा) देह-इन्द्रिय आदि के संघात से भिन्न है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- आत्मा शरीर से भिन्न है।
- पुरुष चेतन तत्त्व है।
- प्रखरति जड़ तत्त्व है।
- विवेकज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।
- आत्मा नित्य एवं अविनाशी है।

**शब्दावली-**

- आत्मा - चेतन सत्ता
- पुरुष - साक्षी चेतना
- प्रकृति - जड़ कारण
- विवेक - भेदज्ञान
- मोक्ष - मुक्ति

**5 अंक के प्रश्न-**



1. आत्मा और शरीर में क्या भेद है?
2. सांख्य दर्शन में पुरुष किसे कहा गया है?
3. चेतन और अचेतन का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. आत्मा को शरीर से भिन्न क्यों माना गया है?
5. पुरुष की विशेषताएँ लिखिए।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. आत्मा देह से भिन्न है - स्पष्ट कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में पुरुष के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
3. चेतन एवं अचेतन तत्त्वों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. आत्मा की नित्य सत्ता का विवेचन कीजिए।
5. सांख्य दर्शन में पुरुष और प्रकृति के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न ( MCQ )-

1. सांख्य दर्शन में चेतन तत्त्व क्या है?  
(क) प्रकृति  
(ख) पुरुष  
(ग) बुद्धि  
(घ) अहंकार
2. शरीर किस प्रकार का तत्त्व है?  
(क) चेतन  
(ख) अचेतन  
(ग) दिव्य  
(घ) आत्मस्वरूप
3. आत्मा को सांख्य दर्शन में क्या कहा गया है?  
(क) प्रकृति  
(ख) पुरुष  
(ग) बुद्धि  
(घ) मन
4. पुरुष का स्वरूप कैसा है?  
(क) जड़  
(ख) नश्वर  
(ग) चेतन  
(घ) परिवर्तनशील
5. प्रकृति और पुरुष का विवेक किसका साधन है?  
(क) दुःख  
(ख) बंधन  
(ग) मोक्ष  
(घ) जन्म



## खण्ड-2 प्रधान के कार्यों का निरूपण

### इकाई-2.1 प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रायोजन

#### उद्देश्य-

1. प्रकृति की प्रवृत्ति के कारणों को समझना।
2. प्रकृति एवं पुरुष के संबंध का अध्ययन करना।
3. सृष्टि में प्रकृति की भूमिका को जानना।

प्रवृत्ति का सामान्य अर्थ है- क्रिया, गति, सृजनशीलता या विकास की प्रवृत्ति। सांख्य दर्शन में, प्रवृत्ति का अर्थ है प्रकृति द्वारा सृष्टि की प्रक्रिया प्रारंभ करना, अर्थात् महत्तत्त्व, अहंकार, तन्मात्राएँ, इंद्रियाँ आदि की उत्पत्ति। सांख्य में यह स्वीकार किया गया है कि प्रकृति अपने-आप में न तो चैतन्य है, न ही उसके पास कोई उद्देश्य है, फिर भी वह प्रवृत्त होती है। इसका कारण और प्रयोजन क्या है -यही इस विषय का मूल है। प्रकृति की प्रवृत्ति का एकमात्र उद्देश्य है पुरुष के लिए कार्य करना, अर्थात् उसके भोग (अनुभव) और मोक्ष (कैवल्य) की सिद्धि कराना। सांख्य दर्शन में प्रकृति की प्रवृत्ति का प्रयोजन केवल पुरुषार्थ की सिद्धि है। सृष्टि की समस्त क्रियाएं पुरुष के भोग और विवेकज्ञान के लिए ही होती हैं। प्रकृति स्वयं कोई प्रयोजन नहीं रखती उसका समस्त कार्य केवल पुरुष की मुक्ति हेतु है। यह तत्त्वज्ञान दर्शाता है कि सच्चा मोक्ष किसी वाहरी शक्ति से नहीं, बल्कि विवेक, ज्ञान, और आत्मस्वरूप की पहचान से प्राप्त होता है।

#### विमुक्तमोक्षार्थं स्वार्थं वा प्रधानस्य॥ (सां.द.2/1)

(प्रधानस्य) पूर्वाध्यायस्यान्तिमसूत्रात् कर्तृत्वमनुवर्तते। प्रधानस्य प्रकृत्याख्यस्याव्यक्तस्य कर्तृत्वं खलु (विमुक्तमोक्षार्थम्) विमुक्तशब्दोऽत्र विरक्तार्थः, यद्वा सूत्रपाठो विरक्त एव स्यादुत्तरसूत्रे विरक्तशब्दमादाय विचारप्रसङ्गात् तथा विरक्तव्यवहारप्रदर्शनात् विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसत्क्षीरवत् (सांख्य० ४। २३) विरक्तस्य मोक्षार्थं प्रधानस्य कर्तृत्वं यतः प्रधानाद् विरक्तस्य हि मोक्षो भवति, विवेकज्ञानेन प्रधानस्य दोषान् निरीक्ष्य प्रवर्तते मोक्षे (वा) समुच्चयार्थे, अथ च (स्वार्थम्) अविमुक्तमविरक्तं स्वीकृतुं स्वप्नप्रत्याकर्षितुं भोगायेति कर्तृत्वम्। प्रकृतेः परार्थत्वात् ततो मोक्षो भोगश्चोभौ पुरुषस्य सिध्यतः, तथा चात्रोच्यते ततः प्रकृतेः- संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य (सांख्य० १।६५, ६६) प्रकृतिः संहता त्रिगुणत्वात् सा च परार्था पुरुषार्था, पुरुषस्यार्थो भोगापवर्गौ तयोर्भोगापवर्गयोः साधनाय हि प्रकृतिः, उक्तं च 'प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्' (योग० २।१८)।

अर्थः-(प्रधानस्य) पूर्व अध्याय के अन्तिम सूत्र से कर्तृत्वम् की अनुवृत्ति है। प्रधान प्रकृति का कर्तृत्व (विमुक्तमोक्षार्थम्) विमुक्त शब्द यहां विरक्त के अर्थ में है, अथवा सूत्र का पाठ ही विरक्त हो। उत्तर सूत्र में विरक्त शब्द को लेकर विचारप्रसङ्ग होने से तथा विरक्त व्यवहार प्रदर्शन से “विरक्तस्य हेयहानमुपादेयोपादानं हंसत्क्षीरवत्” (सांख्य० ४।२३) एवं विरक्त के मोक्षार्थं प्रकृति का कर्तृत्व है, क्योंकि प्रकृति से प्रकृति की सृष्टि से विरक्त का ही मोक्ष होता है। विवेकज्ञान से प्रकृति के दोषों का निरीक्षण करके विरक्त मोक्ष में प्रवृत्त होता है (वा) समुच्चयार्थ में। और (स्वार्थम्) अविरक्त को अपने प्रति आकर्षित करके भोग देने के लिये कर्तृत्व है। प्रकृति के परार्थ पुरुष के प्रयोजनार्थ होने से उस से पुरुष का मोक्ष और भोग सिद्ध होते हैं। कहा भी है “ततः प्रकृतेः संहतपरार्थत्वात् पुरुषस्य” (सांख्य० १।६५, ६६) प्रकृति संहत है तीन गुणों से वह परार्थ पुरुषार्थ है। पुरुष के दो अर्थ (लक्ष्य) हैं-भोग और अपवर्ग। उन भोग और अपवर्ग मोक्ष के साधने के लिये प्रकृति है-“प्रकाश-क्रियास्थितिशीलं... भोगापवर्गार्थं दृश्यम्”(योग० २।१८)।

व्याख्या:-प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्ति (परिणाम) भोग के लिये अथवा अपवर्ग के लिये होती है। भोगापवर्गार्थं दृश्यम् - (यो. सू. २।१८) योग सूत्र भी इसी बात को बता रहा है। जितने समय तक त्रिगुणात्मक लिङ्ग का संसरण होता रहता है, उतने समय तक ही भोग होता है। तदनन्तर अपवर्ग होता है। (उक्त सूत्र में प्रयुक्त विमुक्त पद से आत्मा को समझना चाहिये। क्योंकि वह प्रकृति से

सर्वथा पृथक् है। अविवेक के कारण वह प्रकृति के सम्पर्क में आता है और वह अपने चेतन स्वरूप को अचेतन प्रकृति के रूप में एवं प्रकृति के अचेतन स्वरूप को अपने चेतनरूप में अनुभव करता है, किन्तु यह अनुभव वास्तविक नहीं है, क्योंकि उसका जो चेतन स्वरूप है, वह इस अनुभव की स्थिति में भी अपरिवर्तित (अपरिणत) ही रहता है। उस आत्मा को इस भ्रान्त अनुभव की स्थिति से हटाकर उसे मोक्ष प्राप्त करा देने के लिये प्रधान (प्रकृति) की प्रवृत्ति होती है। तब देह, इन्द्रिय आदि की सहायता से समाधि आदि की प्राप्ति के लिये यह आत्मा प्रयत्न करने लगता है। इस प्रकार आत्मा के मोक्षलाभार्थ प्रकृति का उपयोग है। प्रकृति के सम्पर्क में रहता हुआ भी आत्मा, उससे भिन्न है, इसलिए वह विमुक्त है। अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आकर वह अपने स्वरूप चेतन को अचेतन प्रकृति के रूप में, तथा प्रकृति के अचेतन स्वरूप को अपने चेतनरूप में अनुभव करने लगता है। आत्मा को इस अवस्था से हटाकर मोक्ष-प्राप्ति कराने के लिए प्रधान की प्रवृत्ति होती है। देहेन्द्रियादि के सहयोग में आत्मा समाधिलाभ के लिए प्रयत्नशील होता है यही प्रकृति का आत्मा के अपवर्ग के लिए उपयोग है। प्रधान की प्रवृत्ति का दूसरा प्रयोजन स्वार्थ है। स्व अर्थात् भोग, धन, सम्पत्ति, ऐश्वर्य आदि ऐहिक भोग का साधन। इसप्रकार भोग व अपवर्ग को सिद्ध करने के लिए प्रधान कार्य जगतद्रुप में परिणत किया जाता है। इस सूत्र के आशय को सांख्य-कारिका में कहा है-

**पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।  
पङ्गवन्धवदूभयोरपि संयोगस्तत्कृतः सर्गः॥ ( सां.का.21 )**

अर्थात् प्रधान और पुरुष दोनों का संयोग प्रधान के दर्शनार्थ तथा पुरुष के कैवल्यार्थ पङ्गु और अन्धे की तरह परस्पररोपकार के लिए है। यह महदादि सर्ग भी उसी संयोग के द्वारा निर्मित है।

**विरक्तस्य तत्सिद्धेः॥ ( सां.द.2/2 )**

( विरक्तस्य तत्सिद्धेः ) विरक्तस्य मोक्षसिद्धेः, यो हि विरक्तस्तस्य मोक्षस्तु स्वतः सेत्स्यति कथमुच्यते विरक्तस्य मोक्षार्थं प्रधानस्य कर्तृत्वम्। भवतु खल्वविरक्तस्य भोगार्थं प्रधानस्य कर्तृत्व न तु विरक्तस्य मोक्षार्थम्॥२॥

अर्थ:- (विरक्तस्य) विरक्त जन के (तत्सिद्धेः) मोक्षसिद्धि स्वतः होने से, जो ही विरक्त हो, मोक्ष तो उसका सिद्ध होगा। कैसे कहा जाता है कि विरक्त के मोक्षार्थ प्रकृति का कर्तृत्व है? हो अविरक्त के भोगार्थ प्रकृति का कर्तृत्व, न कि विरक्त के मोक्षार्थ है ?

**व्याख्या:-**केवल सर्गरचना से मोक्ष प्राप्ति नहीं होती। प्रत्युत अनेक जन्म-मरण व्याधि तथा अन्य विविध क्लेशों से तप्त होकर जिस आत्मा में वैराग्य की भावना उदित होती हैं, वही अध्यात्म मार्ग पर अग्रसर होकर समाधि - लाभ द्वारा मोक्ष प्राप्त कर पाता है इसलिए विरक्त को मोक्ष-सिद्धि होने से उस अवस्था को प्राप्त करने के लिए पुनः-पुनः सर्गरचना की आवश्यकता बनी रहती है। अन्य शास्त्रों में भी कहा है- “कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टम्.....(योग० 2/22)।

**प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।  
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्॥ गीता 6/45॥**

अर्थात् सम्पूर्ण पापों से शुद्ध होकर, योगी प्रयत्नपूर्वक संलग्न होता हुआ अनेक जन्मों में सिद्धि समाधिलाभ करके उसके पश्चात् परमगति (मोक्ष) को प्राप्त कर पाता है।

**न श्रवणमात्रात्तत्सिद्धिरनादिवासनाया बलवत्त्वात्॥ ( सां.द.2/3 )**

( श्रवणमात्रात् तत्सिद्धिः-न ) प्रकृतेर्दोषश्रवणमात्रादेव मोक्षसिद्धिर्विरक्तत्वसिद्धिर्न भवति। यतः ( अनादिवासनायाः- बलवत्त्वात् ) भोगविषयिकाया अनादिवासनायाः प्रबलत्वात्। यावता तद्भोगदोषाः साक्षादनुभूता न स्युर्यद्वा मनननिदिध्यासने न भवेतां तावदनादिवासनानिवृत्तिर्न भवति, तन्निवृत्तिमन्तरेण कुतो विरक्तत्व मोक्षो वा सम्भवेत्, तदेतत्। त्वृत्यं विवेकतः प्रधानमवगाह्य हि भवितुमर्हति तस्माद् विरक्तस्य मोक्षार्थमपि प्रधानस्य कर्तृत्वम्।

अर्थ:- (श्रवणमात्रात्) प्रकृतिदोषों के श्रवणमात्र से ही (तत्सिद्धिः- न) विरक्त की मोक्षसिद्धि नहीं होती। क्योंकि (अनादिवासनायाः) भोगविषयक अनादिवासना के (बलवत्त्वात्) बलवान् होने से। जब तक भोगदोष साक्षात् अनुभव न किए जावें अथवा मनन और

निदिध्यासन न किये गये हों, तब तक अनादि वासना की निवृत्ति नहीं होती। बिना वासना-निवृत्ति के कैसे मोक्ष हो ? वह यह कार्य प्रकृति का विवेक से अवगाहन करके ही हो सकता है, अतः विरक्त के मोक्षार्थ भी प्रकृति का कर्तृत्व है।

**व्याख्या:-**आत्मासम्बन्धी कथा-वार्ता के श्रवणमात्र से वैराग्य की सिद्धि नहीं होती क्योंकि आत्मा के अनादि काल से सांसारिक (वासनाओं में लिप्त होने से व इनके बलवान होने से)। अतः निरन्तर अभ्यास और भावनाओं की पवित्रता के लिए सतत प्रयत्न करना पड़ता है। अध्यात्म-प्रवचन का श्रवण भी अनेक जन्माजित पुण्य से होता है। किन्तु केवल श्रवण करने मात्र से अकस्मात् वैराग्योत्पत्ति नहीं होती, अपितु साक्षात्कार से होती है। साक्षात्कार भी सहस्रैव नहीं होता, क्योंकि अनादि मिथ्या वासना बलवती विद्यमान रहती है। वह साक्षात्कार तो योगनिष्ठा से होता है। किन्तु योगानुष्ठान में प्रतिबन्ध की बहुलता होने से कदाचित् किसी को ही अनेक जन्मों के बाद वैराग्य और मोक्ष की प्राप्ति होती है।

वैराग्य की प्राप्ति के लिये निरन्तर अभ्यास की आवश्यकता होती है। भावनाओं को पवित्र रखने की आवश्यकता होती है। वैराग्य की उत्पत्ति में बाधक अनादिकाल से चली आ रही मिथ्या वासना का क्षय अध्यात्मश्रवण और तदनुकूल चिन्तन, अनुष्ठानादि के द्वारा शनैः शनैः हो पाता है। अतः सकृत् (एक बार) सृष्टि रचना से वासना का क्षय होना सम्भव नहीं है। यही कारण है कि इस सृष्टि प्रवाह को अनादि अनन्त माना जाता है। मीमांसकों ने कहा भी है-न कदाचिदनीदृशं जगत्। इसकी कोई काल-मर्यादा नहीं है।

### बहुभृत्यवद्वा प्रत्येकम् ( सां.द.2/4 )

(बहुभृत्यवत्-वा प्रत्येकम्) वाकारः समुच्चयार्थः। बहुभृत्यवर्ण प्रधानस्य कर्तृत्वं प्रत्येकं विरक्तमाविरक्तमभिसम्बन्धाति। यथा कश्चिद् बहुभृत्यवान् स्वामी भवति स सेवायां प्रवृत्तान् कांश्चिद् वेतनेन विभर्ति कांश्चिच्च समाप्तसेवाकालान् कृतार्थान् सेवाकार्याद् विरक्तानपि पुरस्कारेण सत्करोति, सेवाकार्याद् विरक्ताविरक्तौ प्रति तस्य पुरस्कारवेतनप्रदानाभ्यां सत्करणभरणकर्तृत्वं भवति तथैव विरक्ताविरक्तौ प्रति प्रधानस्य मोक्षभोगप्रदानाभ्यां कर्तृत्वमस्ति। तस्माद् विरक्तस्य माक्षार्थमपि प्रधानस्य कर्तृत्वं नायुक्तम्॥४॥

**अर्थ:-**(बहुभृत्यवत् - वा प्रत्येकम्) वा समुच्चयार्थ है। और यह प्रकृति का कर्तृत्व बहुत भृत्यों-भरणीयों, सेवकों की भांति प्रत्येक विरक्त-अविरक्त से सम्बन्ध रखता है। जैसे कोई बहुत भृत्यवाला स्वामी किन्हीं सेवा में प्रवृत्त भृत्यों को वेतन से पालता है और किन्हीं सेवाकाल समाप्त जिनका हो गया, उन सेवाकार्य से विरक्त कृतार्थजनों को पुरस्कार से सत्कृत करता है। सेवाकार्य से विरक्त और अविरक्त जनों के प्रति पुरस्कार और वेतन के प्रदान द्वारा उसका सत्करण-भरण कर्तृत्व होता है, उसी प्रकार विरक्त-अविरक्त के प्रति मोक्ष और भोग के सम्बन्ध में प्रकृति का कर्तृत्व है। अतः विरक्त के मोक्षार्थ भी प्रकृति का कर्तृत्व अयुक्त नहीं।

**व्याख्या:-**प्रकृति को जिनका भरण-पोषण करना है वे जीवात्मा तो अनन्त हैं। इसलिये उनके भरण-पोषण का काल भी अनन्त हो सकता है। आत्माओं का भरण-पोषण उनका भोग और अपवर्ग है। जैसे कोई व्यक्ति अपने भरणीय आत्माओं की सन्तुष्टि तक बराबर प्रयत्नशील बना रहता है, ऐसे ही अनन्त आत्माओं में से प्रत्येक आत्मा के भोग और अपवर्ग की सिद्धि तक प्रधान अविरतरूप में प्रवृत्त रहता है। इस प्रकार सृष्टि-प्रवाह को सीमित नहीं किया जा सकता वह अनादि और अनन्त होना चाहिए।

जैसे गृहस्थ व्यक्ति को अपने पर आश्रित परिवार के स्त्री-पुत्रादि के भेद से प्रत्येक व्यक्ति का भरण पोषण करना पड़ता है, उसी प्रकार सत्त्वादि गुणों पर भी असंख्य पुरुषों में से प्रत्येक पुरुष को मुक्त कराने का भार है। उन्हें भी प्रत्येक पुरुष को बन्धन से मुक्त कराना है। अतः कतिपय पुरुषों को मुक्त करा देने पर भी अन्य पुरुषों की मुक्ति कराने के लिये सृष्टि का प्रवाह चलते रहना उचित प्रतीत होता है। क्योंकि पुरुषों की संख्या सीमित नहीं है, अनन्त है इसी बात को योगसूत्रकार कहते हैं-“कृतार्थं प्रतिनष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात्”- ( यो. सू. साध. पा. सू. २२)। मुक्त पुरुष के प्रति नष्ट हो जाने पर भी अन्य पुरुषों की दृष्टि से वह दृश्य नष्ट नहीं होता, उनके लिये वह वैसा ही बना रहता है। असंख्य पुरुषों में से प्रत्येक के भोग और अपवर्ग के होने तक प्रकृति की प्रवृत्ति अनवरत होती रहती है। अतः सृष्टि-प्रवाह अनादि और अनन्त है।

### प्रकृति वास्तवे च पुरुषस्याध्यास सिद्धिः ( सां.द.2/5 )

(प्रकृतिवास्तवे च) विरक्तस्य मोक्षार्थमविरक्तस्य भोगार्थं कर्तृत्वं प्रकृतेश्चेदेवं तु प्रकृतेः कर्तृत्वं वास्तविकं स्यात् पुनः प्रकृतेर्वास्तविके कर्तृत्वे सति तु (पुरुषस्य-अध्याससिद्धिः) प्रकृतस्य पुरुषविशेषस्येश्वरस्य कर्तृत्वाध्याससिद्धिः स्यात् तस्य

## कर्तृत्वमारोपमात्रमेव भवेत्।

**अर्थ:-**(प्रकृतिवास्तवे च) विरक्त के मोक्षार्थ और अविरक्त के भोगार्थ प्रकृति का कर्तृत्व है। ऐसे तो प्रकृति का कर्तृत्व वास्तविक हो जाने पर (पुरुषस्य - अध्याससिद्धिः) प्रकृत पुरुषविशेष ईश्वर के कर्तृत्व की अध्याससिद्धि हो जावेगी अर्थात् ईश्वर का कर्तृत्व अध्यासमात्र कल्पनामात्र आरोपमात्र हो जावेगा।

**व्याख्या:-**प्रकृति को वास्तविक मानने पर ही पुरुष के अध्यास (मिथ्याज्ञान/ अज्ञान) की सिद्धि हो सकती है। चेतन अपरिणामी आत्मा अविवेक के कारण प्रकृति के सम्पर्क में आकर अध्यास की स्थिति का निश्चय करता है। चेतन में अचेतन और अचेतन में चेतन प्रतीति का होना अध्यास है। यदि अचेतन प्रकृति कल्पना-मात्र है, उसकी वास्तविक सत्ता कुछ भी नहीं तो पुरुष की उपर्युक्त अध्यास की स्थिति संभव नहीं हो सकती, क्योंकि जब अचेतन का अस्तित्व ही नहीं होगा तो अचेतन में चेतन अथवा चेतन में अचेतन की भावना की कल्पना नहीं की जासकेगी।

### कार्यतस्तत्सिद्धेः॥ ( सां.द.2/6 )

( कार्यतः-तत्सिद्धिः ) कार्यनिर्माणतो यत्प्रकृतिं जगद्रूपे कार्ये परिणमयतीति तस्मात् तस्य पुरुषस्य कर्तृत्वसिद्धिः। अतो नाध्यासमात्रं पुरुषस्य कर्तृत्वम्। उक्तं ह्यत्र “स हि सर्ववित् सर्वकर्ता” ( सांख्य० ३।५६ )।

**अर्थ:-**(कार्यतः) कार्यनिर्माण से वह ईश्वर प्रकृति को जगद्रूप कार्य में परिणत कर देता है, इससे (तत्सिद्धिः) उस पुरुषविशेष ईश्वर के कर्तृत्व की सिद्धि होती है। कहा भी है-स हि सर्ववित् सर्वकर्ता (सांख्य० ३।५६)।

**व्याख्या:-**प्रकृति के कार्यरूप में परिणत होने पर आत्मा के भोगापवर्ग की सिद्धि होने से प्रकृति की वास्तविकता और प्रयोजनवत्ता स्पष्ट होती है। प्रकृति यदि आत्मा के भोगापवर्ग को सम्पन्न नहीं करती, तो उसके कार्यरूप में परिणत होने का और कोई प्रयोजन नहीं है।

### चेतनोद्देशान्नियमः कण्टकमोक्षवत्। ( सां.द.2/7 )

( चेतनोद्देशात्-नियमः ) विरक्तस्य मोक्षार्थेऽविरक्तस्य भोगार्थे प्रकृतेः कर्तृत्वे चेतनोद्देशात् पुरुषविशेषस्येश्वरस्य प्रेरणात् खलु नियमोऽस्ति तत्रापि प्रकृतेर्न स्वतन्त्रं कर्तृत्वमस्ति तस्या जडत्वात् पारवश्याच्च परवशा प्रकृतिरत्र सांख्ये स्वीकृता हि अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् ( सांख्य० ३।५५ ) यस्य वशे प्रकृतिः सोऽपि तत्रोक्तः “स हि सर्ववित् सर्वकर्ता” ( सांख्य० ३।५६ ) ( कण्टकमोक्षवत् ) यथा कण्टकाद्दण्डशूलात् कश्चिन्मोच्यते कश्चिन्नेति राजप्रेरणं तत्र नियमः।

**अर्थ:-**(चेतनोद्देशात् -नियमः) विरक्त के मोक्षार्थ और अविरक्त के भोगार्थ प्रकृति के कर्तृत्व में चेतन के लक्ष्य से पुरुषविशेष ईश्वर की प्रेरणा से नियम है, वहां भी प्रकृति का कर्तृत्व स्वतन्त्र नहीं है। उसके जड़ और परवश होने से। परवशा प्रकृति सांख्य में कही है-अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात् (सांख्य० ३।५५) जिसके वश में प्रकृति है वह भी वहां कहा है- स हि सर्व. वित् सर्वकर्ता (सांख्य० ३।५६)। (कण्टकमोक्षवत्) जैसे कण्टक दण्डशूल से कोई मनुष्य छोड़ दिया जाता है और कोई नहीं, राजप्रेरणा उस में नियम है।

**व्याख्या:-**चेतन की जैसी स्थिति है, उसको लक्ष्य करके अर्थात् उसके अनुसार प्रधान की प्रवृत्ति होती है। जो अविवेकी है उनके लिए भोग और जो ज्ञानी है उनके लिए अपवर्ग है। इसलिए चेतन की स्थिति के अनुसार भोग और अपवर्ग की व्यवस्था है। चेतन के अनुसार ही प्रकृति की प्रवृत्ति बताई गई है। अत एव वह अभिज्ञ चेतन के लिये अपवर्ग के साधनों को उपस्थित करती है, और अनभिज्ञ चेतनों के लिये भोग के साधनों को उपस्थित करती रहती है - यही व्यवस्था है। इसी व्यवस्था के कारण ही सभी चेतनों को एक साथ भोग या अपवर्ग प्राप्त नहीं होते हैं। जैसे किसी प्रज्ञाचक्षु (अन्ध) को कोई अन्य व्यक्ति बताता है कि यहाँ काँटा पड़ा है, या कोई गर्त आदि है, उससे बचकर निकलो और वह उसके कहने से बचकर चल देता है, किन्तु जो चक्षुष्मान् व्यक्ति है, उसे कुछ कहने की आवश्यकता नहीं रहती, वह स्वयं देखकर ही बचकर निकल जाता है। तथैव विवेकी पुरुष के लिये

अपवर्ग और अविवेकी पुरुष के लिये भोग होते हैं। क्योंकि विवेकी पुरुष, इस सृष्टि से स्वयं ही अपने को बचाता रहता है। अतः उसके लिये भोग को उपस्थित करना व्यर्थ ही है। अतः चेतन की परिस्थिति को देखकर भोग और अपवर्ग की व्यवस्था की गई है। कण्टक की उपमा व्यास भाष्य (२।१७) में भी दी गई है—“पादतलस्य भेद्यता, कण्टकस्य भेतृत्वं, परिहारः, कण्टकस्य पदानधिष्ठानं पादत्राणव्यवहितेन वाधिष्ठानम्”— इन तीनों को जो जानता है, उसी को लोक में प्रतीकार का आरम्भ करने के कारण भेदज दुःख की प्राप्ति नहीं होती है।

एतेन स्वभावतो बद्धाया अपि प्रकृतेः स्वमोक्षो घटत इत्यतो न मुक्तपुरुषं प्रति प्रवर्तते।

एतेनेति इस उपपादन से यह सिद्ध होता है कि प्रकृति के स्वभावतः बद्ध रहने पर भी उसका मोक्ष उपपन्न हो जाता है, इस कारण वह मुक्त पुरुष के प्रति प्रवृत्त नहीं होती।

### स्मरणीय बिंदु-

- प्रकृति जड़ एवं त्रिगुणात्मक है।
- प्रकृति की प्रवृत्ति पुरुष के अनुभव एवं मोक्ष हेतु होती है।
- सत्त्व, रजस् और तमस् प्रकृति के तीन गुण हैं।
- प्रकृति समस्त सृष्टि का मूल कारण है।
- पुरुष चेतन एवं साक्षी है।

### शब्दावली-

- प्रवृत्ति - क्रियाशीलता
- प्रकृति - मूल कारण
- त्रिगुण - सत्त्व, रजस् तमस्
- पुरुष - चेतन सत्ता
- सृष्टि - जगत की उत्पत्ति

### 5 अंक के प्रश्न-

1. प्रकृति की प्रवृत्ति से क्या अभिप्राय है?
2. सांख्य दर्शन में प्रकृति का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. प्रकृति और पुरुष का संबंध क्या है?
4. प्रकृति को त्रिगुणात्मक क्यों कहा जाता है?
5. प्रकृति की प्रवृत्ति का उद्देश्य क्या है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में प्रकृति की अवधारणा का विवेचन कीजिए।
2. प्रकृति की प्रवृत्ति एवं उसके प्रयोजन का वर्णन कीजिए।
3. प्रकृति और पुरुष के पारस्परिक संबंध का विश्लेषण कीजिए।
4. त्रिगुण सिद्धांत का विस्तृत विवेचन कीजिए।
5. सृष्टि प्रक्रिया में प्रकृति की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न ( MCQ )-

1. सांख्य दर्शन में प्रकृति कैसी मानी गई है?

- (क) चेतन
- (ख) अचेतन**
- (ग) नश्वर
- (घ) आत्मा

2. प्रकृति में कितने गुण माने गए हैं?

- (क) दो
- (ख) तीन**
- (ग) चार
- (घ) पाँच

3. निम्न में से कौन प्रकृति का गुण नहीं है?

- (क) सत्त्व**
- (ख) रजस्
- (ग) तमस्
- (घ) पुरुष**

4. प्रकृति की प्रवृत्ति किसके लिए होती है?

- (क) पुरुष**
- (ख) शरीर
- (ग) मन
- (घ) इन्द्रिय

5. सांख्य दर्शन द्वैतवाद पर आधारित है क्योंकि इसमें हैं -

- (क) जीव और ब्रह्म
- (ख) प्रकृति और पुरुष**
- (ग) आत्मा और शरीर
- (घ) धर्म और अधर्म



## इकाई-2.2 सृष्टि प्रक्रिया निरूपण

### उद्देश्य-

1. सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया को समझना।
2. महत्, अहंकार एवं तन्मात्राओं का अध्ययन करना।
3. जगत की उत्पत्ति संबंधी सिद्धांतों का विवेचन करना।

भारतीय दर्शन में सृष्टि की उत्पत्ति और विश्व की रचना प्रक्रिया एक प्रमुख तात्त्विक विषय रहा है। सांख्य दर्शन, जो एक द्वैतवादी एवं तत्त्वमीमांसक प्रणाली है, -सांख्य दर्शन मानता है कि सृष्टि का मूल दो तत्त्वों में निहित है-

1. प्रकृति - अचेतन, त्रिगुणात्मक, सृजनशील शक्ति, पुरुष चैतन्य, निर्लिप्त, साक्षी आत्मा सत्त्व, रजस और तमस- ये तीन गुण प्रकृति में विद्यमान रहते हैं। जब ये गुण असंतुलित होते हैं, तो प्रकृति में विक्षोभ उत्पन्न होता है, जिससे सृष्टि की प्रक्रिया प्रारंभ होती है। सृष्टि की प्रक्रिया प्रकृति के माध्यम से होती है, किंतु यह तब तक क्रियाशील नहीं होती जब तक पुरुष के सन्निकर्ष में न आ जाए। इस दर्शन के अनुसार पुरुष और प्रकृति के संयोग से ही सृष्टि आरंभ होती है। सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया एक अत्यंत संगठित, तार्किक और अनुभवाधारित प्रणाली है। इसमें सृष्टि को पुरुष और प्रकृति के संयोग का परिणाम बताया गया है। प्रकृति, जो त्रिगुणात्मक है, पुरुष के संयोग में आते ही महत्तत्त्व से लेकर पंचमहाभूतों तक क्रमिक रूप से तत्त्वों की रचना करती है। यह दर्शन सृष्टि की प्रक्रिया को न केवल दर्शनशास्त्र के स्तर पर, बल्कि वैज्ञानिक और मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी प्रस्तुत करता है।

**सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः, प्रकृतेर्महान् महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियं, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि, पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः॥ (सां.द.1/26 )**

( सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः ) सत्त्वरजस्तमांसि प्रकाश-द्रवत्वस्तब्धत्वमयानि प्रकाशगतिस्थिति पशक्तिभूतानि ब्रत. न्नि तेषां यद्वा यैर्जगति प्रकाशद्रवत्वस्तब्धत्यानि प्रकाशगतिस्थितयो वा प्रवर्तन्ते तथाविधानां वस्तुशक्तिरूपाणां साम्यावस्था समावस्था निश्चेष्टा सरलाऽनुद्भ तस्वरूपाऽवस्था प्रकृतिरुच्यते ( प्रकृतेः-महान् ) ततः प्रकृतेर्महत्तत्त्वमुद्भवति ( महतः अहङ्कारः ) महत्तत्त्वादहङ्कारनामा प्रकृतेद्वितीयो विकारो जायते ( अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि-उभयम्-इन्द्रियम् ) अहङ्काराद् बाह्य जगति पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि देहे ज्ञानकर्मेन्द्रियगणश्च सम्भवति ( तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि ) सूक्ष्म. भूतेभ्यः पृथिव्यादीनि स्थूलभूतानि व्यज्यन्ते ( पुरुषः ) पुरुषश्च तेचनसत्ता तद्भिन्ना ( इति पञ्चविंशतिः-गणः ) इत्येव पञ्चविंशतिर्गणो बोध्यो विज्ञेयो विवेचनीयो विवेकेऽपेक्षणीयोऽस्ति।

**अर्थः-**(सत्त्वरजस्तमसाम्) सत्त्वप्रकाश, रजः द्रवपन तरलपन बहना, तमः स्तब्धपन कठोरपन ठोसपन ये प्रकाश, गति, स्थिति रूप शक्ति यौ हैं। उनका अथवा जगत् में जिनके द्वारा प्रकाश, तरलपन, ठोसपन-प्रकाश, गति, स्थिति प्रवृत्त होती हैं उन ऐसे वस्तु शक्तिरूपों की (साम्यावस्था) समावस्था निश्चेष्टावस्था-अप्रकटरूपावस्था (प्रकृतिः) प्रकृति है या प्रकृति कही जाती है, (प्रकृतेः- महान्) फिर प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है। (महतः अहङ्कारः) महत्तत्त्व से अहङ्कार नाम का प्रकृति का दूसरा विकार प्रकट होता है, (अहङ्कारात्) अहङ्कार से (पञ्चतन्मात्राणि) बाह्य जगत् में पाँच तन्मात्रों सूक्ष्म भूत तथा (उभयम् - इन्द्रियम्) देह में दोनों ज्ञान-कर्म-इन्द्रियगण उत्पन्न होता है, (तन्मात्रेभ्यः) तन्मात्रों से-सूक्ष्मभूतों से (स्थूल-भूतानि) पृथिवी आदि स्थूल भूत व्यक्त होते हैं -स्वरूप में आते हैं।(पञ्चविंशतिः - गणः) पच्चीस पदार्थों का गण जानना-समझना और विवेचनीय है- विवेक में आवश्यक है।

**व्याख्याः-**सत्त्व, रजस्, तमस् -ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व साम्य-अवस्था में प्रकृति कहे जाते हैं, अर्थात् जब ये तत्त्व कार्य रूप में परिणत नहीं होते, अपितु मूलकारणरूप में अवस्थित रहते हैं, तब 'प्रकृति' कहलाते हैं। यद्यपि प्रत्येक कार्य के उपादान कारण को 'प्रकृति' कह सकते हैं, किन्तु यह साम्यावस्था रूप प्रकृति कार्यमात्र (उत्पन्न मात्र) की मूलभूत स्थिति है। इसी प्रकृति के प्रधान और 'अव्यक्त' नाम भी हैं।

यह मूलतत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन वर्गों में विभक्त है और इन तीन वर्गों में प्रत्येक में यथाक्रमं सत्त्व-रजस्-तमस् नामक

सूक्ष्मकण संख्या में अनन्त हैं। इन तीनों तत्त्वों को गुण भी कहते हैं। किन्तु इनको वैशेषिक के समान गुण नहीं समझना चाहिए, अपितु ये 'द्रव्य' रूप हैं; क्योंकि इनमें 'संयोग-विभाग', लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व आदि धर्म रहते हैं।

सत्त्व, रजस्, तमस् को उनकी विशेषता के आधार पर ही 'गुण' कहा जाता है। वह विशेषता है आत्मा के भोग और अपवर्ग के सम्पादन के लिए जगद्रूप में परिवर्तित (रूपान्तरित) होने की योग्यता। रस्सी के समान अन्योऽन्यमिथुनवृत्तिता भी 'गुण' नामकरण का कारण कही जा सकती है। जब चेतन (ईश्वर) की प्रेरणा से सत्त्वादि की साम्य अवस्था समाप्त होती है, तब मूल तत्त्व कार्योन्मुख हो जाते हैं, और सृष्टि रचना प्रारम्भ हो जाती है। इनका प्रथम परिणाम 'महत्तत्त्व' (बुद्धितत्त्व) होता है। महत्तत्त्व से 'अहङ्कार' बनता है। अहङ्कार से पञ्च 'तन्मात्र' तथा (बाह्य और आन्तर) दोनों प्रकार के 'इन्द्रिय' बनते हैं। इनमें से आन्तर इन्द्रिय केवल एक 'मन' है तथा बाह्य दस हैं, जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के रूप में दो वर्गों में विभक्त हैं; जिनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच 'कर्मेन्द्रिय' तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसन, घ्राण ये पाँच 'ज्ञानेन्द्रिय' हैं ये इन्द्रिय केवल विकार हैं, आगे किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नहीं करते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध - इन पाँच तन्मात्रों से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पाँच 'स्थूलभूत' उत्पन्न होते हैं। दृश्यमान पृथिवी आदि को स्थूलभूत कहने से उनके उपादान-कारण शब्द आदि को सूक्ष्मभूत कहा जाता है। जगत् के ये चौबीस अचेतन तत्त्व हैं। इनसे अतिरिक्त पच्चीसवाँ तत्त्व 'पुरुष' अर्थात् चेतन है। चेतनतत्त्व के भी दो वर्ग हैं परमात्मा और जीवात्मा। इनमें से परमात्मा एक है और जीवात्मा संख्या की दृष्टि से अनन्त हैं। ये ही पच्चीस तत्त्व हैं, जिनके वास्तविक स्वरूप को समझकर चेतन और अचेतन के भेद का साक्षात्कार करना है। इन सब का स्वरूप और विशेष कार्य आगे बताया जावेगा। इनका प्रकृति-विकृति स्वरूप निम्न प्रकार है-

**मूलप्रकृतिरविकृतिर्महादाद्याः प्रकृतिविकृतयः सप्त।**

**षोडशकस्तु विकारो, न प्रकृतिर्न विकृतिः पुरुषः॥ ( सां.का.3 )**

**महदादिक्रमेण पञ्चभूतानाम्। ( सां.द.2/10 )**

( महदादिक्रमेण ) प्रकृतितो महान् महत्तत्त्वं पुनश्च ततोऽहङ्कारः, अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि तथा चोभयमिन्द्रियम्। इत्थं क्रमेण पश्चात् ( पञ्चभूतानाम् ) तन्मात्रेभ्यः पञ्चस्थूलभूतानां पञ्चस्थूलभूतपर्यन्तानां सृष्टिर्भवति।

महत् आदि क्रम से पाँच स्थूल भूत पर्यन्तों की सृष्टि होती है। प्रकृति से महत्, अहङ्कार, तन्मात्र, ११ इन्द्रिय, तन्मात्रों से स्थूलभूत यह रचना क्रम से होती है। अर्थात् (ईश) शक्ति और तत्त्व मिलकर जब प्रकट एवं कार्यक्षम हो जाते हैं, तब भूत (निष्पन्न) कहलाते हैं। अर्थात् शक्ति सम्पन्न अग्नि आदि द्रव्य 'भूत' कहे जाते हैं। इस सूत्र के आशय को अगली सांख्यकारिका में स्पष्ट किया है-

**प्रकृतेर्महान्, ततोऽहङ्कारः तस्माद् गणश्च षोडशकः।**

**तस्मादपि षोडशकात् पञ्चभ्यः पञ्च भूतानि॥ ( सां.का.22 )**

अर्थात् प्रकृति से महत्तत्त्व उत्पन्न होता है, महत्तत्त्व से अहङ्कार की उत्पत्ति होती है और अहङ्कार से सोलह का समूह (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, एक मन तथा पाँच तन्मात्र) उत्पन्न होता है। उस षोडशगण में भी पञ्चतन्मात्र से पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं।

**अध्यवसायो बुद्धिः॥ ( सां.द.2/13 )**

( अध्यवसायः - बुद्धिः ) पुरुषशरीरेऽध्यवसायो निश्चयो यतो भवति तद्धर्ममुकपरणं बुद्धिरुच्यते सामष्टिकं महत्तत्त्वम्,



अध्यवसायस्तु सत्त्व-स्वरूपवत्त्वात्।

सांख्य में महत्तत्त्व का अपर नाम बुद्धि है। यह अध्यवसायस्वरूप है। अध्यवसाय निश्चय को कहते हैं। यद्यपि निश्चय बुद्धि नहीं, प्रत्युत निश्चय कराने वाली बुद्धि होती है। इसलिए जिसकी निश्चयात्मिका वृत्ति है, अथवा जो निश्चय-वृत्तिक है वह बुद्धि है, ऐसा कहना चाहिए। निश्चय

करना बुद्धि का व्यापार अर्थात् कार्य है। निश्चय, वृत्ति अर्थात् धर्म है और बुद्धि धर्मी है। सूत्र की रचना ऐसी है, जिसमें यह प्रतीत होता है कि यहां धर्म को ही धर्मी कह दिया है। यह दोनों की अभेदभावना से कह दिया गया है। अव्यक्त प्रवृत्ति के अनन्तर यह सर्वप्रथम व्यक्त पदार्थ है, इसीलिए इसका नाम 'महत्' है। निश्चयात्मिका वृत्ति का करण होने से यह वृद्धि है।

**महदुपरागाद् विपरीतम् ( सां.द.2/15 )**

( महत् - उपरागाद् विपरीतम् ) महत्तत्त्वं शरीरे बुद्धिरूपं तत्त्वलूपरागात् तमसा सह वर्तमानं विपरीतमधर्माज्ञानावैराग्या नैश्वर्यापेक्षं भवति।

रजस् और तमस् के उपराग से महत् विपरीत हो जाता है। तब उसमें अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य का उदय हो जाता है। रजस्तमस् से प्रभावित होने पर बुद्धि में अधर्म आदि का उद्रेक होने लगता है। अभिप्राय यह है कि बुद्धि में इस प्रकार की वृत्ति का उदय, उसमें रजस्तमस् के प्रभाव को प्रकट करता है। अध्यवसाय वृत्ति उस समय भी बराबर हुआ करती है, यही उसकी असाधारणता है।

**अभिमानोऽहंकारः। ( सां.द.2/16 )**

( अभिमानः अहङ्कारः ) पुरुषशरीरेऽभिमानो भवति यतः सोऽहङ्कारः।

अर्थः-अहं की भावना का जो साधन है, अहं की भावना जिसका व्यापार है, ऐसे अहंवृत्ति वाले उपकरण को अहंकार कहते हैं। जो कि महत् का कार्य परिणाम है। बुद्धि से निश्चित अर्थ में अहंकार और ममकार होते हैं।

व्याख्या:-जैसे-कुम्भं करोति इति कुम्भकारः-कुम्भ (घट) बनाता है, इसीलिये उसे कुम्भकार कहा जाता है, उसी तरह बुद्धि से उत्पन्न होने वाला तत्त्व अहम् करोति इति अहङ्कारः- अहम् को प्रकट करता है, इसलिये उस तत्त्व को अहङ्कारशब्द से कहा गया है, क्योंकि वह अहम् अभिमान वृत्ति को पैदा करता है। यह अहङ्कार द्रव्यरूप अन्तःकरण है। पूर्वसूत्र की तरह ही यहाँ पर भी धर्म-धर्मी की अभेद दृष्टि से अभिमान को ही अहङ्कार शब्द से कह दिया है। वस्तुतः अभिमान तो अहङ्कार का व्यापार (वृत्ति) है। यानी अभिमान धर्म है और अहङ्कार धर्मी है। अर्थात् अभिमानवृत्तिक अहङ्कार है। धर्म-धर्मी का अभेद प्रतिपादन, अहङ्कार के असाधारण व्यापार की सूचना देने के लिये किया गया है। यानी अभिमान उसका असाधारण व्यापार है। बुद्धि के द्वारा निश्चित किये गये अर्थ में ही अहङ्कार और ममकार होते हैं। अतः वृत्तियों के कार्य-कारणभाव के अनुसार वृत्तिमानों के भी कार्य-कारणभाव को समझ लेना चाहिये, यह पहले बता ही चुके हैं।

**एकादशपञ्चतन्मात्रं तत्कार्यम्। ( सां.द.2/17 )**

( एकादश पञ्चतन्मात्रम् ) समनस्कानि ज्ञानकर्मेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि ( तत्कार्यम् ) अहङ्कारस्य कार्यम्।

एकादश इन्द्रिय और पाँच तन्मात्र, अहंकार के कार्य हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ दो भागों में विभक्त हैं। आन्तर अथवा आभ्यन्तर और बाह्य। आन्तर इन्द्रिय केवल एक है - मन, बाह्य इन्द्रिय दस हैं, जो दो भागों में विभक्त हैं- पाँच ज्ञानेन्द्रिय तथा पाँच कर्मेन्द्रियाँ। पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं- श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसन, घ्राण। पाँच कर्मेन्द्रिय हैं- वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ। पाँच तन्मात्र, पाँच सूक्ष्मभूत कहे जाते हैं। इनके नाम इनके कार्यों के आधार पर हैं- शब्दतन्मात्र, स्पर्श-तन्मात्र, रूपतन्मात्र, रसतन्मात्र, गन्धतन्मात्र। सांख्यकारिका में इन १६, १७ सूत्रों का विषय कहा है -

**अभिमानोऽहङ्कारः तस्माद् द्विविधः प्रवर्तते सर्गः।**

**एकादशकश्च गणस्तन्मात्रः पञ्चकश्चौव ( सां.का.24 )**

अर्थात् अभिमान (मैं, मेरा ऐसी) प्रवृत्ति वाला अहंकार है। इसी अहंकार से दो प्रकार की सृष्टि होती है- ग्यारह संख्या वाला इन्द्रिय-समूह (५ ज्ञानेन्द्रिय, ५ कर्मेन्द्रिय + मन) और पाँच तन्मात्र।

**सात्त्विकमेकादशकं प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्। ( सां.द.२/१८ )**

( वैकृतात्-अहङ्कारान् ) संशुद्धात् सत्त्वभूमिवतोऽहङ्कारात् ( तात्त्विकप्रकादराचं प्रवर्तते )  
इन्द्रियाणामेकादश संख्याकं मनः सात्त्विकं सत्त्वभूमिमभिव्यक्तं भवति। यथोक्तममेऽपि  
गुणपरिणामभेदान्नानात्वमवस्थावत् ( सांख्य० २।२७ ) राजसादहङ्काराद् राजसं तामसात् तामसमित्यपि योजनीयम्। एवं मनः  
सस्त्रिगुणत्वेन प्रवर्तनं भवति।

सत्त्वप्रधान ग्यारह इन्द्रियों का समूह प्रवृत्त उत्पन्न होता है। गुण-प्रधानता के आधार पर अहंकार के तीन भेद हैं-१. सत्त्वगुण प्रधान-वैकृत २. रजोगुण प्रधान -तैजस ३. तमोगुण प्रधान- भूतादिज्ञानग्राहकता तथा क्रिया-निर्वर्तकता होना इन्द्रियों की सात्त्विकता है। भूतादि सूक्ष्म-भूतों के आदि कारण (तन्मात्रों के उत्पादक) अहंकार से ५ तन्मात्र बनते हैं। किन्तु ये दोनों अक्रिय हैं। इन दोनों को तैजस रजोगुण-प्रधान अहंकार कार्योत्पादन में सहयोग देता है। इसी विषय को ईश्वर कृष्ण स्पष्ट करते हैं-

**सात्त्विक एकादशकः प्रवर्तते वैकृतादहङ्कारात्।  
भूतादेस्तन्मात्रः स तामसस्तैजसादुभयम्॥ ( सां.का.२५ )**

अर्थात् सात्त्विक अहंकार से एकादश इन्द्रिय उत्पन्न होते हैं (पूर्वाचार्यों ने इसे 'वैकृत' कहा है। तामस अहंकार से पञ्चतन्मात्र उत्पन्न होते हैं (जिसे पूर्वाचार्यों ने भूतादि कहा है) तथा तैजस (रजोगुणप्रधान) अहङ्कार से शेष दोनों प्रकार के अहंकार सक्रिय होते हैं।

**कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैरान्तरमेकादशकम्। ( सां.द.२/१९ )**

( कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियैः-आन्तरम् ) कर्मेन्द्रियैर्ज्ञानेन्द्रियैर्दशभिः सहयदान्तरमान्तरिकमिन्द्रियं मनस्तत् ( एकादशकम् ) एकादशसंख्याकम्। यथा मनावपि एकाशं मनो ज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम् ( मनु० २।६२ )।  
कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रियों के साथ ग्यारहवाँ इन्द्रिय आन्तर मन है। एकादशं मनोज्ञेयं स्वगुणेनोभयात्मकम्॥ ( मनु० ६/६२ )

इन्द्र अर्थात् आत्मा के ज्ञान एवं भोग का साधन होने के कारण इनका नाम इन्द्रिय है। जैसा कि पाणिनीय सूत्र से -

इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा। (अष्टा० ५/२/६२)। इन्द्र आत्मा सं चक्षुरादिना करणेनानुमीयते दृ (वामनः)। ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों को सांख्य-कारिका में गिनाया है।

**बुद्धीन्द्रियाणि चक्षुःश्रोत्रघ्राणरसनस्पर्शनकानि।  
वाक्पाणिपादपायूपस्थान् कर्मेन्द्रियाण्याहुः॥ ( सां.का.२६ )**

अर्थात् पाँच ज्ञानेन्द्रिय - घ्राण, रसन, चक्षु, त्वक् और श्रोत्र तथा पाँच कर्मेन्द्रिय -वाक्, पाणि, पाद, पायु और उपस्थित है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- प्रकृति से महतत्त्व उत्पन्न होता है।
- महतत्त्व से अहंकार की उत्पत्ति होती है।
- अहंकार से इन्द्रियाँ एवं तन्मात्राँ उत्पन्न होती हैं।
- पंचमहाभूत स्थूल जगत का निर्माण करते हैं।
- सांख्य दर्शन परिणामवाद को स्वीकार करता है।

**शब्दावली-**

- महतत्त्व - बुद्धि तत्त्व

- अहंकार - 'मैं' भाव
- तन्मात्रा - सूक्ष्म तत्व
- पंचमहाभूत - पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश
- परिणामवाद - कारण से कार्य की उत्पत्ति

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में सृष्टि का मूल कारण क्या है?
2. महतत्त्व किसे कहते हैं?
3. अहंकार का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. तन्मात्र क्या है?
5. पंचमहाभूतों के नाम लिखिए।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन की सृष्टि प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. प्रकृति से महतत्त्व की उत्पत्ति का विवेचन कीजिए।
3. अहंकार एवं उसके भेदों का वर्णन कीजिए।
4. तन्मात्रों एवं पंचमहाभूतों की उत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।
5. सांख्य दर्शन के विकासवाद का विश्लेषण कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न ( MCQ )-

1. प्रकृति से सर्वप्रथम क्या उत्पन्न होता है?

(क) मन

(ख) महतत्त्व

(ग) अहंकार

(घ) इन्द्रिय

2. अहंकार से क्या उत्पन्न होता है?

(क) तन्मात्राएँ

(ख) पंचमहाभूत

(ग) इन्द्रियाँ

(घ) उपरोक्त सभी

3. पंचमहाभूतों की संख्या कितनी है?

(क) तीन

(ख) चार

(ग) पाँच

(घ) छह

4. सृष्टि प्रक्रिया का मूल आधार क्या है?

(क) पुरुष

(ख) प्रकृति

(ग) आत्मा

(घ) ईश्वर

5. सांख्य दर्शन किस सिद्धांत को स्वीकार करता है?

(क) विवर्तवाद

(ख) परिणामवाद

(ग) अद्वैतवाद

(घ) शून्यवाद

## इकाई-2.3 स्वस्थ की परिभाषा, त्रिगुण स्वरूप निरूपण

### उद्देश्य-

1. स्वस्थ की अवधारणा को समझना।
2. त्रिगुण सिद्धांत का अध्ययन करना।
3. मानव जीवन में गुणों के प्रभाव का विश्लेषण करना।

स्वस्थ- स्व + स्थ अपने स्वरूप में में स्थित होना अर्थात् जो व्यक्ति अपने स्वरूप (स्व स्वस्थ-आत्मा/पुरुष) में स्थिर है, वही सच्चे अर्थों में स्वस्थ है। भारतीय दर्शन केवल आध्यात्मिक या मोक्ष परक नहीं है, बल्कि वह मानव जीवन की संपूर्णता पर बल देता है- जिसमें शरीर, मन, बुद्धि और आत्मा सभी के संतुलन की आवश्यकता होती है। इस दृष्टि से स्वास्थ्य या स्वस्थता एक दार्शनिक विषय भी बन जाता है। सांख्य दर्शन, जो नास्तिक (ईश्वरनिरपेक्ष) होते हुए भी अत्यंत वैज्ञानिक और विश्लेषणात्मक है, स्वस्थ की परिभाषा को केवल शारीरिक स्थिति तक सीमित नहीं रखता, बल्कि वह इसे मानसिक, तात्त्विक और आत्मिक संतुलन के रूप में देखता है। सांख्य दर्शन में स्वस्थ की परिभाषा सीधे शब्दों में नहीं दी गई है, लेकिन उसकी तत्त्वमीमांसा, गुणों का सिद्धांत, और पुरुष-प्रकृति भेद का ज्ञान- इन आधारों पर स्वास्थ्य को व्यापक रूप में समझा गया है।

तन्निवृत्तावुपशान्तोपरागः स्वस्थः॥ ( सां.द.2/34 )

( तन्निवृत्तौ ) वृत्तिनिवृत्तौ सत्याम् ( उपशान्तोपरागः ) उपशान्त उपरागोऽभिसम्बन्धो यस्य तथाविधः पुरुषः ( स्वस्थः ) स्वस्मिन् स्थितः स्वरूपतः शुद्धो भवति।

अर्थ:- (तन्निवृत्तौ) वृत्तियों की निवृत्ति हो जाने पर (उपशान्तोपरागः) उपशान्त हो गया है उपराग विषय प्रभाव जिसका ऐसा पुरुष आत्मा (स्वस्थः) अपने में स्थित अर्थात् स्वरूपतः शुद्ध हो जाता है।

व्याख्या:- जब इन्द्रियवृत्तियाँ निवृत्त हो जाती हैं, सांसारिक विषयों से उपराग, तृष्णा, आकर्षण नहीं रहते तब आत्मा पर बाह्य विषयों का प्रभाव होना शान्त हो जाता है। तत्पश्चात् चेतन में अचेतन और अचेतन में चेतन की भावना जो अविवेक के कारण रहती है, वह न रहकर चेतन में चेतन की भावना विवेक पूर्वक रहना ही आत्मा का स्वरूप में अवस्थित होना कहलाता है। जो कि समाधि के पश्चात् आत्मसाक्षात्कार होने पर प्राप्त होता है, जब समस्त विषय सम्बन्धी इन्द्रियवृत्तियाँ समाप्त हो जाती हैं। सांख्य में स्वस्थ की यह परिभाषा विशेष है।

कुसुमवच्च मणिः। ( सां.द.2/35 )

( कुसुमवत्-च मणिः ) कुसुमवत्-चकारादकुसुमवदपि। अत्र वत् प्रत्ययेन सप्तम्यामुपमा। यथा जपाकुसुमे जपाकुसुमाश्रये मणिस्तदुपरागवान् भवति पुनश्चाकुसुमवत्जपाकुसुमाश्रयापगतः स्फटिको मणिः स्वरूपतः शुद्धोऽवतिष्ठते तथा पुरुषोऽपि वृत्ते रुपरागाद्रक्तस्तन्निवृत्तौ शुद्धः स्वस्थो भवति॥

अर्थ:- कुसुमवत्, चकार से अकुसुमवत् भी। यहां वत् प्रत्यय से सप्तमी विभक्ति में उपमा है। जैसे कुसुम में जपाकुसुम में-जपापुष्प के आश्रय में या फूलमात्र के आश्रय में मणि उसके रंग से रंगवाली भासित होती है और फूल के हटा लेने से स्फटिक मणि स्वरूपतः शुद्ध रहती है, वैसे ही पुरुष आत्मा भी, वृत्ति के उपराग से रक्त-वृत्तिसक्त होता है और वृत्तिनिवृत्ति पर शुद्ध स्वस्थ हो जाता है। स्वस्थ स्वरूप को समझाने के लिए उदाहरण के द्वारा समझाया। जैसे स्वच्छ मणि फूल के सम्पर्क में लाल, पीला या नीला प्रतीत होती है और फूल से पृथक् हो जाने पर वह स्वच्छ प्रतीत होने लगती है। उसी प्रकार अविद्या के कारण इन्द्रियवृत्तियों से प्रभावित होकर आत्मा अपने आपको शरीर या मन समझने लगता है, किन्तु जब इन्द्रिय वृत्तियों से प्रभावित न होकर आत्मसाक्षात्कार कर लेता है, तब अपने स्वरूप को पहचान कर स्वस्थ हो जाता है।

### त्रिगुण स्वरूप निरूपण:-

यह जो दृश्य जगत है इसमें ईश्वर ने विविधताएँ डाली हुई हैं, इन विविधताओं के पीछे यह सत्त्व, रजस्, तमस् रूपी तीन प्रकार के गुण कार्यरत हैं, इनकी क्या विशेषता है इस जिज्ञासा की शांति हेतु प्रस्तुत प्रसंग है।

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः प्रकृतेर्महान् महतोऽह भूतानि पुरुष इति पञ्चविंशतिर्गणः। ( सां.द.1/26 )

सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः सत्त्वरजस्तमांसि प्रकाश-द्रवत्वस्तब्धत्वमयानि प्रकाशगतिस्थिति पराशिःभूतानि व्रतुनि तेषां यद्वा वैर्जगति प्रकाशद्रवत्वस्तब्धत्यानि प्रकाशगतिस्थितयो वा प्रवर्तन्ते तथाविधानां वस्तुशक्तिरूपाणां साम्यावस्था समावस्था निश्चेष्टा सरलाऽनुद्भ तत्स्वरूपाऽवस्था प्रतिरुच्यते ( प्रकृतेः-महान् ) ततः प्रकृतेर्महत्तत्त्वमुद्भवति ( महतः-अहङ्कारः ) महत्तत्त्वादहङ्कारनामा प्रकृतेर्द्वितीयो विकारो जायते ( अहङ्कारात् पञ्चतन्मात्राणि उभयमिन्द्रियम् अहङ्काराद् बाह्य जगति पञ्चतन्मात्राणि सूक्ष्मभूतानि देहे ज्ञानकर्मेन्द्रियगणश्च सम्भवति तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानिसूक्ष्मभूतेभ्यः पृथिव्यादीनि स्थूलभूतानि व्यज्यन्ते ( पुरुषः ) पुरुषश्च तेन सत्ता तदिभन्ना ( इति पञ्चविंशतिः-गणः ) इत्येव पञ्चविंशतिर्गणो बोध्यो विज्ञेयो विवेचनीयो विवेकेऽपेक्षणीयोऽस्ति।

अर्थ:- ( सत्त्वरजस्तमसाम् ) सत्त्वप्रकाश, रजः द्रवपन तरलपन बहना, तमः- स्तब्धपन कठोरपन ठोसपन ये प्रकाश, गति, स्थिति रूप शक्तियाँ हैं। उनका अथवा जगत् में जिनके द्वारा प्रकाश, तरलपन, ठोसपन-प्रकाश, गति, स्थिति प्रवृत्त होती हैं उन ऐसे वस्तु शक्तिरूपों की ( साम्यावस्था ) समावस्था निश्चेष्टावस्था-अप्रकटरूपावस्था ( प्रकृतिः ) प्रकृति है या प्रकृति कही जाती है, ( प्रकृतेः-महान् ) फिर प्रकृति से महत्तत्त्व प्रकट होता है। ( महतः अहङ्कारः ) महत्तत्त्व से अहङ्कार नाम का प्रकृति का दूसरा विकार प्रकट होता है, ( अहङ्कारात् ) अहङ्कार से ( पञ्चतन्मात्राणि ) बाह्य जगत् में पाँच तन्मात्रों सूक्ष्म भूत तथा ( उभयम्- इन्द्रियम् ) देह में दोनों ज्ञान-कर्म-इन्द्रियगण उत्पन्न होता है, ( तन्मात्रेभ्यः ) तन्मात्रों से सूक्ष्मभूतों से ( स्थूल-भूतानि ) पृथिवी आदि स्थूल भूत व्यक्त होते हैं-स्वरूप में आते हैं ( पुरुषः ) पुरुष चेतनसत्ता उनसे भिन्न ( इति ) यह ( पञ्चविंशतिः- गणः ) पच्चीस पदार्थों का गण जानना-समझना और विवेचनीय है विवेक में आवश्यक है।

व्याख्या:- सत्त्व, रजस्, तमस् -ये तीन प्रकार के मूल तत्त्व साम्य-अवस्था में प्रकृति कहे जाते हैं, अर्थात् जब ये तत्त्व कार्य रूप में परिणत नहीं होते, अपितु मूलकारणरूप में अवस्थित रहते हैं, तब 'प्रकृति' कहलाते हैं। यद्यपि प्रत्येक कार्य के उपादान कारण को 'प्रकृति' कह सकते हैं, किन्तु यह साम्यावस्था रूप प्रकृति कार्यमात्र ( उत्पन्न मात्र ) की मूलभूत स्थिति है। इसी प्रकृति के प्रधान और 'अव्यक्त' नाम भी हैं।

यह मूलतत्त्व सत्त्व-रजस्-तमस् इन तीन वर्गों में विभक्त है और इन तीन वर्गों में प्रत्येक में यथाक्रमं सत्त्व-रजस्-तमस् नामक सूक्ष्मकण संख्या में अनन्त हैं। इन तीनों तत्त्वों को गुण भी कहते हैं। किन्तु इनको वैशेषिक के समान गुण नहीं समझना चाहिए, अपितु ये 'द्रव्य' रूप हैं; क्योंकि इनमें 'संयोग-विभाग', लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व आदि धर्म रहते हैं।

सत्त्व, रजस्, तमस् को उनकी विशेषता के आधार पर ही 'गुण' कहा जाता है। वह विशेषता है आत्मा के भोग और अपवर्ग के सम्पादन के लिए जगद्रूप में परिवर्तित ( रूपान्तरित ) होने की योग्यता। रस्सी के समान अन्योऽन्यमिथुनवृत्तिता भी 'गुण' नामकरण का कारण कही जा सकती है। जब चेतन ( ईश्वर ) की प्रेरणा से सत्त्वादि की साम्य अवस्था समाप्त होती है, तब मूल तत्त्व कार्योन्मुख हो जाते हैं, और सृष्टि रचना प्रारम्भ हो जाती है। इनका प्रथम परिणाम 'महत्तत्त्व' ( बुद्धितत्त्व ) होता है। महत्तत्त्व से 'अहङ्कार' बनता है। अहङ्कार से पञ्च 'तन्मात्र' तथा ( बाह्य और आन्तर ) दोनों प्रकार के 'इन्द्रिय' बनते हैं। इनमें से आन्तर इन्द्रिय केवल एक 'मन' है तथा बाह्य दस हैं, जो कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय के रूप में दो वर्गों में विभक्त हैं; जिनमें वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ ये पाँच 'कर्मेन्द्रिय' तथा श्रोत्र, त्वक्, चक्षुः, रसन, घ्राण ये पाँच 'ज्ञानेन्द्रिय' हैं ये इन्द्रिय केवल विकार हैं, आगे किसी तत्त्वान्तर को उत्पन्न नहीं करते। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध - इन पाँच तन्मात्रों से क्रमशः आकाश, वायु, तेज, जल, पृथिवी ये पाँच 'स्थूलभूत' उत्पन्न होते हैं। दृश्यमान पृथिवी आदि को स्थूलभूत कहने से उनके उपादान-कारण शब्द आदि को सूक्ष्मभूत कहा जाता है। जगत् के ये चौबीस अचेतन तत्त्व हैं। इनसे अतिरिक्त पच्चीसवां तत्त्व 'पुरुष' अर्थात् चेतन है।

सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्॥ ( सां.द.6/39 )

( सत्त्वादीनाम्-अतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् ) सत्त्वरजस्तमसामतद्धर्मत्वं प्रधानाधर्मत्वं प्रथानागुणत्वम्, न हि सत्त्व.

रजस्तमांसि प्रधानस्य धर्मा गुणाः सन्ति तद्रूपत्वात् तत्स्वरूपत्वात्। उक्तं हि पूर्वम् सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः (सांख्य० १।६१) अणवस्तु सत्त्वरजस्तमोगुणवन्तो न तु तद्रूपास्तन्मयाः किन्तु स्वस्वभूतविषयकगन्धादिगुणवन्तश्च उक्तं हि पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रं तैजसस्य रूपतन्मात्रं वायव्यस्य स्पर्शतन्मात्रमाकाशस्य शब्दतन्मात्रम् (योग० १।४५ व्यासः) प्रधानस्य न गुणवत्त्वमतो ज्यैष्ठ्यं तेभ्योऽणुभ्यस्तस्य।

अर्थः—(सत्त्वादीनाम् – अतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात्) सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण की प्रकृतिधर्मता नहीं। सत्त्व, रजः, तमः गुण प्रकृति के धर्म नहीं तद्रूप होने से, तत्स्वरूप होने से, प्रकृति के सत्त्वादिगुणमय होने से। कहा भी है पूर्व- सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः (सांख्य० १।६१) अणु तो सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण वाले हैं न कि तद्रूप सत्त्वादिरूप- सत्त्वादिमय, किन्तु स्वस्वभूतविषयक गन्ध आदि गुण वाले हैं, कहा भी है—पार्थिवस्याणोर्गन्धतन्मात्रं सूक्ष्मो विषयः, आप्यस्य रसतन्मात्रं, तैजसस्य रूपतन्मात्रं, वायव्यस्य स्पर्शतन्मात्रमाकाशस्य शब्दतन्मात्रम् (योग० १।४५ व्यासः) पृथिवी के अणु की गन्धतन्मात्रा, जल के अणु की रसतन्मात्रा, अग्नि के अणु की रूपतन्मात्रा, वायु के अणु की स्पर्शतन्मात्रा, आकाश के अणु की शब्दतन्मात्रा है। प्रधान प्रकृति की गुणवत्ता नहीं किन्तु गुणमयता है, अतः अणुओं से प्रकृति की ज्येष्ठता है।

व्याख्याः—सत्त्वादिगुणों को प्रकृति के धर्म नहीं कह सकते, यानी प्रकृति को सत्त्वादि गुणों का आश्रय आधार नहीं कह सकते, क्या? कि वे तीनों गुण, प्रकृति का ही स्वरूप हैं। जैसे वेद, कर्म और ब्रह्म दो काण्डों में विभक्त है, वैसे ही प्रकृति, तत्त्व, सत्त्व, रजस्, तमस् इन नामों से तीन प्रकारों में विभक्त है। इसलिये स्वरूपेण ये गुण ही प्रकृति शब्द से कहे जाते हैं। भोगापवर्ग का सम्पादन, प्रकृतिरूप ये तीनों गुण हो किया करते हैं। ये तीनों गुण हो अन्योन्यमिथुन होकर सृष्टि का निर्माण करते हैं, यानी जीवात्मा को भोग दिलाते हैं। इन सत्त्व, रजस् और तमस् तीनों को अन्योन्य-मिथुनता, रज्जु के समान ही समझनी चाहिये। रज्जु का पर्याय गुण भी है। एवञ्च अन्योन्य-मिथुनता की समानता को देवकर ही सांख्यवादियों ने सत्त्वादि तीनों का नामकरण गुण शब्द से कर दिया है। अतः इन तीनों से प्रत्येक के साथ गुण शब्द जोड़कर सत्त्वगुण, रजोगुण, और तमो-गुण नाम से इनका व्यवहार किया जाता है। इनके गुण नामकरण से इन्हें प्रकृति का धर्म नहीं समझना चाहिये, प्रत्युत ये प्रकृति रूप द्रव्य ही हैं।

प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्॥ (सां.द.1/127)

अत्र विवेचनम् – उभयत्र सूत्रयोः “वैधर्म्यम्” पदं दृष्ट्वा विज्ञानभिक्षुरुत्तरस्मिन् सूत्रेकथयति अत्र वैधर्म्यं चेति पाठः प्रामादिक एव स्वामी तुलसीरामस्तुभयत्र सूत्रयोः गुणानाम् पदं दृष्ट्वा लिखति यदुत्तरस्मिन् सूत्रे गुणानाम् पाठो व्यर्थः, उभययोः पाठयोः पुनरुक्तिदापप्रसङ्गात्। परन्तुत्तरसूत्रस्थस्य लघ्वादिधर्मैः इति भेदविषये न केनापि किञ्चिदुक्तम्। अहं तु कथयामि पूर्वस्मिन् सूत्रे प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः परीक्षणीयं परन्तुत्तरस्मिन् सूत्रे लघ्वादिधर्मैः निरीक्षणीयं किमपि रहस्यमत्र विद्यते, तत्किमित्युच्यतआभ्यां सूत्राभ्यां पूर्वसूत्रमस्तित्रिगुणाचेतनत्वादिद्वयोः अत्रद्वयोः पाठात्कारणकार्यचप्रस्तूयेतेतस्मात्सूत्रादत्रोभयत्रसूत्रयोस्त्रिगुणत्वविषयेविवेचनाक्रियते यत् कारणकार्ययोः क्रमस्य प्रस्तुतत्वाद् गुणानां विषये विशिष्टवर्णनाय कारणकार्ययोः क्रमदृष्ट्या द्वे एते सूत्रे विज्ञेये। उभययोः सूत्रयोर्भिन्नभिन्नविषयप्रतिपादनाद् यद्वा पृथक्पृथक्गधिकरणत्वान्नात्र पुनरुक्तिशङ्ककोत्थापनीया। पूर्वस्मिन् सूत्रे कारणगुणाः प्रदश्यन्ते प्रतीत्यादयोऽथोत्तरस्मिन् सूत्रे कार्यगुणा विवेच्यन्ते लघ्वादयः। अत्रोत्तरसूत्रे गुणानाम् पाठस्य स्थाने गुणवताम् पाठः स्यात्। कार्यस्तु गुणवद्भिर्भवितव्यम्, प्रकृतिर्न गुणवती किन्तु गुणमयी, उक्तं हि सत्त्वादीनामतद्धर्मत्वं तद्रूपत्वात् (सांख्य ६।३६)। गुणानाम् पाठस्तु लिपिप्रमादतो भवेत्। तस्माददोषोऽस्त्युत्तरसूत्रे कार्यगुणविचारप्रसङ्गात्। अधुना सूत्रार्थ उपस्थाप्यते। तत्र प्रथमं सूत्र कारणगुणविषयकम् – प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यर्गुणानामन्योऽन्यं वैधर्म्यम्॥१२७॥ (गुणानां प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यः) सत्त्वरजस्तमसां गुणानां कारण-रूपाणां गुणानां केवलगुणानां प्रीतिः प्रसन्नताऽप्रीतिरप्रसन्नता विषादो मोहः, आदिशब्देन लघुत्वचलत्वगुरुत्वानि लक्ष्यन्ते। मनुस्मृतौ यथा – तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्। प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत्। यत्तु दुःखसमायुक्ततमप्रीतिकरमात्मनः। तद्रजोऽप्रतिमं विद्यात्सततं हारि देहिनाम्॥ यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्। अप्रतय मविज्ञेयं तमस्त दुपधारयेत्॥ (मनु० १२।२७-२६) एतैः प्रीत्यादिभिर्धर्मैः (अन्योऽन्यं वैधर्म्यम्) अन्योन्यं परस्पर वैधर्म्यं भिन्नत्वमस्ति कारणगुणेषु केवलगुणेषु साधर्म्यं नावतिष्ठते यतः सति साधये न गुणाभिव्यक्तिः किन्तु प्रकृतिरेव सत्त्वरजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः (सांख्य० १।६१) गुणानां वैधर्म्यमेव तृष्टिकारणम् साम्यवैधर्म्याभ्यां कार्यद्वयम् (सांख्य० ६।४२)। प्रकृतौ तु गुणा अनुद्भूताः, महत्तत्त्वे गुणा उद्भवन्ति सत्त्वमुखेन, अहङ्कारे स्फुरन्ति रजामाध्यमेन, तमोभूमिकया पञ्चतन्मात्रेषु तथेन्द्रियशक्तिषु संगच्छन्ते संसृष्टा भवन्ति नैते गुणाः कारणगुणा भवन्ति॥



**अर्थ:-**(गुणानां प्रीत्यप्रीतिविषादाद्यैः) सत्त्वरजतमगुणों-कारणगुणों-केवल गुणों के प्रीति-प्रसन्नता, अप्रीति अप्रसन्नता, विषाद मोह, आदि शब्द से लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व लक्षित हैं। जैसे मनुस्मृति में -तत्र यत्प्रीतिसंयुक्तं किञ्चिदात्मनि लक्षयेत्। प्रशान्तमिव शुद्धाभं सत्त्वं तदुपधारयेत् यत्तु दुःखसमायुक्तमप्रीतिकरमात्मनः। तद्रजोऽप्रतिमं विद्यात्सततं हारि देहिनाम् यत्तु स्यान्मोहसंयुक्तमव्यक्तं विषयात्मकम्। अप्रतर्क्यमविज्ञेयं तमस्तदुपधारयेत्॥ (मनु० १२। २७-२९) अर्थात् जो प्रीतियुक्त कुछ आत्मा को लक्षित हो तथा प्रशान्त शुद्धप्रकाश उसे सत्त्वगुण जाने। जो तो आत्मा को दुःखयुक्त अप्रीतिकर हो, उसे रजोगुण जाने। और जो तो मोहसंयुक्त, अव्यक्त, विषयात्मक, अनिश्चयरूप, न जाना हुआ, उसे तमोगुण समझो। इन प्रीति आदि धर्मों द्वारा (अन्योऽन्यं वैधर्म्यम्) परस्पर वैधर्म्य भिन्नत्व है। कारण गुणों केवल गुणों में साधर्म्य नहीं रहता है, क्योंकि साधर्म्य होने पर गुणरूपता में नहीं रहते किन्तु प्रकृति ही उस समय होती है-सत्त्व-रजस्तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः (सांख्य० १।६१) गुणों का वैधर्म्य ही सृष्टि का कारण है साम्यवैधर्म्याभ्यां कार्यद्वयम् (सांख्य० ६। ४२) -प्रकृति में तो गुण अनुद्भूत हैं-अप्रकट हैं। महत्तत्त्व में गुण प्रकट होते हैं सत्त्व के नेतृत्व में, अहङ्कार में गुण स्फुरित होते हैं रजोगुण के नेतृत्व में, पञ्चतन्मात्रों और इन्द्रियशक्तियों में गुण आगे फैलते हैं तमोगुण के आधार पर, ये गुण कारणगुण नहीं होते हैं।

**व्याख्या:-**यहाँ पर प्रीति आदि को गुणों का धर्म बताया गया है, और आगामि सूत्र में उनके लघुत्व आदि धर्म बताये जावेंगे, उससे सत्त्वादि पदार्थों का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। गुणों की सुखाद्यात्मकता तो मन की सङ्कल्पात्मकता के समान धर्म-धर्मों के अभेद से ही उपपन्न हो जाती है। वैशेषिकों के द्वारा बताये गये सुखादिक ही सत्त्वादि गुण नहीं है। ये सत्त्वादि तीन भी व्यक्तिभेद से अनन्त हैं। अन्यथा इनको विभुमात्र मानने पर गुणविमर्दवैचित्र्य का सिद्धान्त उपपन्न नहीं हो सकेगा। क्योंकि विमर्द होने पर अवान्तर भेद का होना सम्भव नहीं है। गुणों के स्वभाव के सम्बन्ध में महा-भारत के शान्ति पर्व ( १६।३१-३३, २१२, २१८-२१६) तथा देवी भागवत (३।७-६) तथा अश्वमेध ( ३६-३६) और श्रीमद् भागवत (११।२५) में विस्तृत चर्चा की गई है। आधुनिक भौतिक विज्ञान, जगत् के मूल तत्त्व के रूप में अणु-प्रोटोन, इलेक्ट्रॉन, और न्यूट्रॉन को बताता है। ये तीनों तत्त्व, एक प्रकार के विद्युत्करण अथवा विद्युत्तरंग के रूप में समझे जाते हैं। प्रोटोन के चारों ओर इलेक्ट्रॉन् तीव्रगति के साथ घूमते रहते हैं। प्रोटोन अपनी ओर इलेक्ट्रॉन को आकर्षित करता रहता है, किन्तु वह उससे दूर भागना चाहता है, तथापि प्रोटोन उसे दूर भागने नहीं देता है। इन दोनों के इस चुम्बकीय आकर्षणानुकर्षण का आधारभूत न्यूट्रॉन् है। वह निष्क्रिय के समान पड़ा रहता है। उसी के सहारे दोनों तत्त्व अपनी क्रीड़ा करते रहते हैं। उसी तरह सत्त्व अपनी ओर रजस् को आकर्षित करता रहता है, यही सत्त्व का प्रीतिस्वरूप है। किन्तु रजस् उससे (सत्त्व से) दूर भागना चाहता है, यही रजस् का अप्रीतिस्वरूप है। आकर्षण के वशान्त हुआ रजस् तीव्रगति से सत्त्व के चारों ओर चक्कर लगाता रहता है, किन्तु उसमें अपने को प्रविष्ट नहीं होने देता। वह उससे अपने को पृथक् ही रखता है, अतः उसका अप्रीतिस्वरूप यथास्थित कायम रहता है। यही कारण है कि सांख्य में रजस् को चञ्चल स्वभाव का बताया गया है और तमस् उन दोनों का आधार बनकर निष्क्रिय सा पड़ा रहता है। यही उसका विषादस्वरूप है। तीनों गुणों के स्वरूप को उक्त भौतिक दृष्टान्त की सहायता से समझा जा सकता है।

**लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च गुणवताम्॥ ( सां.द.१/१२८ )**

( गुणवतां लघ्वादिधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च ) गुणवतां सत्त्वरजस्तमस्वतां भूतात्मकानामिन्द्रियात्मकानां कार्याणाम् उक्तं हि तेषां गुणवत्त्वम् “प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम्” ( योग० २।१८ ) तत्रस्थगुणानां या लघुत्वचलत्वगुरुत्वधर्मैः साधर्म्यं वैधर्म्यं च भवति तत्र सत्त्ववतां परस्परं लघुत्वधर्मेण रजस्वतां परस्परं चलत्वधर्मेण तमस्वतां परस्परं गुरुत्वधर्मेण साधर्म्यं भवति, पुनः सत्त्ववतां रजस्वदिभस्तमस्वदिभश्च सह चलत्वगुरुत्वधर्माभ्यां तथा रज-स्वतां सत्त्ववदिभस्तमस्वदिभश्च सह लघुत्वगुरुत्वधर्माभ्यामेधं तमस्वतां सत्त्ववद्भीरजस्वदिभश्च सह लघुत्वचलत्वधर्माभ्यां वैधर्म्यं भवति। एकैकं गुणस्य प्राधान्येन पदार्थास्तद्वन्तः प्रसिध्यन्ति। उक्तं हि व्यासेन एव-मेते गुणा इतरेतराश्रयेणोपार्जितं सुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वे सर्वरूपा भवन्तीति गुणप्रधानभावकृतस्तेषां विशेष इति ( योग० २।१५ व्यासः ) तथैव गीतायामपि रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चौके तमः सत्त्वं रजस्तथा ( गीता० २।४।१० ) सुश्रुते खल्वपि सत्त्वत्वहुलमाकाशं रजोबहुला वायुः सत्त्वरजः बहुलोऽग्निः सत्त्वतमोबहुला आपस्तमोबहुला पृथिवी॥ ( सुश्रुत० शरीरस्थानम्। २।२० ) अत्र सांख्येऽपि ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला। तमोविशाला मूलतः। मध्ये रजो विशाला ( सांख्य० ३/४८-५० ) ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये-तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः ( गी० १४।१८ ) अन्यश्च मनुस्मृतावपि स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चौव जघन्या तामसी गतिः ( मनु० १२।४२ ) तथा आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः ( गीता० १७।७७ ) त्रिविधः सत्त्वरजस्तमोधर्मवत्तया। अन्यश्च आयुः-सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः

सात्त्विकप्रियाः॥ कट्यम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः॥ यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् (गीता० १७७८-१०) अथान्यो विचारः-पूर्वसूत्रे वर्णिताः प्रीतिः, अप्रीतिः, विषादः इत्येते त्रयो धर्मा उत्तरस्मिन् सूत्रे साधर्म्यप्रसङ्गे परित्यक्ताः, कुतः। यतो होषां साधर्म्यप्रसङ्गो मनोविहाय कस्मिंश्चिद्गुणवति पदार्थं भूतात्मके यद्विन्द्रियात्मके न सम्भवति मनस्येव प्रीतिरप्रीतिर्विषादश्च त्रयोऽपि धर्मा भवन्ति तत्र मनसि तेषां वैधर्म्याद् व्यवहारो जायते तेषां साधर्म्याभाव एव मनसि, तेषां साधर्म्यं तु मनोनिरोधो भवति मनसोऽन्यत्र वस्तुनि प्रीत्यप्रीतिविषादा नोद्भवन्ति तस्मादुत्तरसूत्रे प्रीत्यादीन् धर्मान् विहाय लघुप्रभृतयो धर्मा एव साधर्म्यं स्थापिता वैधर्म्यं तु मनसि तेषां प्रवर्तनात् पूर्वसूत्रेऽन्तर्भूतिमेव। अनिरुद्धवृत्तौ विज्ञानभित्तुभाष्ये च सूत्रमिद्वान्यथार्थापितं विज्ञानभिक्षुभाष्ये तु सत्त्वादीनां गुणानां व्यक्तयः कल्पितास्तत्कल्पनमयुक्तं न सत्त्वादीनां व्यक्तयः स्वतन्त्रावस्थानकाः, आश्रयमाश्रित्यैवावतिष्ठन्ते यतः।

**व्याख्या:-** (गुणवताम्) गुणवाले सत्त्वरजस्तमोगुणवाले भूत-भौतिकों और इन्द्रियों का (भूतभौतिक और इन्द्रियाँ गुणवाले हैं, यह कहा है) प्रकाशक्रियास्थितिशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् (योग० २।१८) या उन भूतभौतिकों और इन्द्रियों में रहने वाले गुणों का (लघ्वादिधर्मः) लघुत्व, चलत्व, गुरुत्व धर्मों के द्वारा (साधर्म्यं वैधर्म्यं च) समानधर्मत्व और विरुद्धधर्मत्व होता है। उन में सत्त्वगुणवालों का परस्पर लघुत्व धर्म से, रजोगुणवालों का परस्पर चलत्वधर्म से, तमोगुण सर्वे वालों का परस्पर गुरुत्वधर्म-साधर्म्य-समानधर्मत्व होता है। पुनः सत्त्वगुणवालों का रजोगुणवालों के साथ और तमोगुणवालों के साथ चलत्व और गुरुत्व से तथा रजोगुणवालों का सत्त्वगुणवालों के साथ और तमोगुणवालों का सत्त्वगुण वालों के साथ और रजोगुणवालों के साथ लघुत्व और चलत्व धर्मों से वैधर्म्य है। एक-एक गुण के प्रधान होने से पदार्थ उस-उस गुणवाले प्रसिद्ध होते हैं। व्यास ने कहा है योग. भाष्य में-एवमेते गुणा इतरेतराश्रयिणोपार्जितसुखदुःखमोहप्रत्ययाः सर्वरूपा भवन्तीति गुणप्रधानभावकृतस्तेषां विशेष इति (योग० २। १५ व्यासः) - ये सत्त्वादि गुण एक दूसरे के आश्रय से परस्पर आश्रय से प्राप्त सुखदुःखमोह-प्रतीतिवाले सब सर्वरूप होते हैं। गौण और मुख्य भाव के कारण उनका विशेष रूप होता है। ऐसे ही गीता में भी कहा है- रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत। रजः सत्त्वं तमश्चौके तमः सत्त्वं रजस्तथा (गीता० २।४।१०) रजोगुण और तमोगुण को दबाकर सत्त्व होता है, सत्त्वगुण और तमोगुण को दबाकर रजोगुण होता है तथा सत्त्वगुण और रजोगुण को दबाकर तमोगुण भी होता है। सुश्रुत में भी कहा है- सत्त्वबहुलमाकाशं रजोबहुलो वायुः सत्त्वरजो-बहुलोऽग्निः सत्त्वतमोबहुला आपस्तमोबहुला पृथिवी (सुश्रुत० शरीरस्थान २।२०) सत्त्वप्रधान आकाश, रजोगुणप्रधान वायु, सत्त्वगुण-रजोगुण-प्रधान अग्नि, सत्त्व- तम-प्रधान जल, तमोगुण-प्रधान पृथिवी। यहां सांख्यदर्शन में भी ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला। तमोविशाला मूलतः। मध्ये रजोविशाला (सांख्य० ३।४८-५०) ऊंची सृष्टि सत्त्वप्रधान, नीची सृष्टि तमोगुणप्रधान, मध्यमा सृष्टि रजा. गुणप्रधान होती है। तथा ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः। जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः (गीता० १४। १८) सत्त्व गुणवाले ऊंची सृष्टि में जाते हैं, रजोगुणवाले मध्यमसृष्टि में और तमोगुणवाले नीच सृष्टि में जाते हैं। तथा मनुस्मृति में भी स्थावराः कृमिकीटाश्च मत्स्याः सर्पाः सकच्छपाः। पशवश्च मृगाश्चौव जघन्या तामसी गतिः (मनु० १२।४२) स्थावर, कृमिकीट, मछलियां, कछवे और सर्प, पशु, मृग, ये तमोगुण वाले हैं। तथा आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः। (गीता० १७। ७) सबका भोजन भी त्रिविध- सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी होता है। और भी आयुः सत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्धनाः। रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः। कट्वम्ल-लवणात्युष्णरूक्षविदाहिनः। आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः। यातयामं गतरसं पूति पर्युषितं च यत्। उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम् (गीता० १७।८-१०) आयु, जीवन, बल, आरोग्य, सुख-प्रीति बढ़ानेवाले, रसीले, चिकने, स्थिर हृदय को ठीक रखने वाले आहार सात्त्विक हैं। कड़वे, चरपरे, लवण, अत्यन्त गरम तीक्ष्ण, रूखे, जलन करने वाले, दुःख-शोक-रोग देनेवाले भोजन रजोगुणी हैं। प्रहरव्यतीत हुआ पका भोजन, नीरस, दुर्गन्धित, बासी, झूठा, अपवित्र भोजन तमोगुणी है।

अब अन्य विचार करते हैं- पूर्व सूत्र में वर्णित प्रीति, अप्रीति, विषादश्च ये तीनों धर्म उत्तर सूत्र में साधर्म्यप्रसङ्ग में छोड़ दिये, क्यों ? इसलिये इनका साधर्म्य प्रसङ्ग मन को छोड़कर किसी भी गुणवान् पदार्थ भूतभौतिक या इन्द्रियात्मक में सम्भव नहीं। मन में ही प्रीति, अप्रीति और विषाद तीनों धर्म होते हैं, उनका मन में वैधर्म्य व्यवहार होता है। उनके साधर्म्य का अभाव ही मन में है क्योंकि उनके साधर्म्य में तो मन का निरोध हो जाता है। मन से भिन्नवस्तु में प्रीति, अप्रीति, विषाद उद्भव नहीं होते, अतः उत्तर सूत्र में प्रीति आदि धर्मों को छोड़कर लघु आदि धर्म ही साधर्म्य में रखे हैं, वैधर्म्य तो उनका मन में होने से पूर्वसूत्र में अन्तर्भूत है ही। अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में इस सूत्र का अन्यथा अर्थ किया है। विज्ञानभिक्षुभाष्य में तो सत्त्व आदि गुणों की व्यक्तियां (शरीर) कल्पित की हैं, वह कल्पना ठीक नहीं। सत्त्व आदियों की व्यक्तियां स्वतन्त्र अवस्थान वाली नहीं हैं, आश्रय को आश्रित करके ही ये गुण रहते हैं।



### स्मरणीय बिंदु-

- स्वस्थ का अर्थ संतुलित अवस्था है।
- सत्त्व ज्ञान एवं शांति का प्रतीक है।
- रजस् क्रियाशीलता का गुण है।
- तमस् अज्ञान एवं जड़ता का प्रतीक है।
- त्रिगुण प्रकृति के मूल गुण हैं।

### शब्दावली-

- स्वस्थ - संतुलित अवस्था
- सत्त्व - प्रकाश एवं ज्ञान
- रजस् - क्रिया शक्ति
- तमस् - अज्ञान
- संतुलन - सम अवस्था

### 5 अंक के प्रश्न-

1. स्वस्थ का अर्थ क्या है?
2. सत्त्व गुण की विशेषताएँ लिखिए।
3. रजोगुण का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
4. तमोगुण किसे कहते हैं?
5. त्रिगुण सिद्धांत का महत्व क्या है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. स्वस्थ की परिभाषा एवं स्वरूप का विवेचन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में त्रिगुण सिद्धांत का वर्णन कीजिए।
3. सत्त्व, रजस् और तमस् का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. मानव व्यवहार पर त्रिगुणों के प्रभाव का विश्लेषण कीजिए।
5. मोक्ष प्राप्ति में सत्त्वगुण की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न ( MCQ )-

1. सत्त्वगुण का संबंध किससे है?

(क) अज्ञान

(ख) प्रकाश

(ग) आलस्य

(घ) मोह

2. रजोगुण का मुख्य लक्षण क्या है?

(क) शांति

**(ख) क्रियाशीलता**

(ग) आलस्य

(घ) स्थिरता

3. तमोगुण किसका प्रतीक है?

(क) प्रकाश

(ख) ज्ञान

**(ग) अज्ञान**

(घ) विवेक

4. त्रिगुण किसमें विद्यमान रहते हैं?

(क) पुरुष

**(ख) प्रकृति**

(ग) आत्मा

(घ) ब्रह्म

5. स्वस्थ व्यक्ति कौन है?

(क) जो धनवान हो

**(ख) जो गुणों में संतुलित हो**

(ग) जो शक्तिशाली हो

(घ) जो विद्वान हो

## इकाई-2.4 इन्द्रियों की अभौतिकता का निरूपण

### उद्देश्य-

1. इन्द्रियों के स्वरूप को समझना।
2. इन्द्रियों की अभौतिकता का अध्ययन करना।
3. ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियों की भूमिका को जानना।

अभौतिकता का अर्थ: ऐसा तत्त्व जो स्थूल भौतिक रूप में न होकर सूक्ष्म हो, और प्रत्यक्षतः नहीं दिखता, परंतु कार्य करता है। भारतीय दर्शन में इन्द्रियों का अध्ययन केवल शारीरिक या वैज्ञानिक दृष्टि से नहीं किया गया है, बल्कि उन्हें दार्शनिक और तत्त्वम.ीमांसक रूप में देखा गया है। विशेष रूप से सांख्य दर्शन में इन्द्रियों को अभौतिक अथवा सूक्ष्म माना गया है। सांख्य दर्शन का यह दृष्टिकोण इन्द्रियों के स्वरूप, कार्य, उत्पत्ति और उनके आत्मा से संबंध को अत्यंत गूढ़ रूप से स्पष्ट करता है। इन इन्द्रियों को भौतिक अंगों से भिन्न माना गया है।

सांख्य दर्शन के अनुसार इन्द्रियाँ- अभौतिक / सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, जो स्थूल अंगों के माध्यम से कार्य करती हैं। सांख्य दर्शन में इन्द्रियाँ अभौतिक हैं, क्योंकि वे तामसिक महाभूतों से नहीं, बल्कि सात्त्विक अहंकार से उत्पन्न होती हैं। वे शरीर के अंग नहीं हैं, बल्कि सूक्ष्म शक्तियाँ हैं, जो आत्मा की उपस्थिति में कार्य करती हैं। यह सिद्धांत न केवल इन्द्रियों के स्वरूप को स्पष्ट करता है, बल्कि आत्मा और प्रकृति के भेद, विवेकज्ञान, तथा मोक्ष की दिशा भी स्पष्ट करता है।

### करणं त्रयोदशविधमवान्तरभेदात्। ( सां.द.2/38 )

( करणं त्रयोदशविधम् ) करणं खलु यस्योद्भवः पुरुषार्थस्तत् त्रयोदशविधं त्रयोदशप्रकारकम्। स्ति। कुतः ( अव्रान्तरभेदान् ) बहिरन्तरभेदाद् बाह्याभ्यन्तरभेदात्। तत्र बुद्धचहङ्कारमना.सि त्वभ्यन्तराणि त्रीणि करणानि किलान्तःकरणि, चक्षुर्वागादीनि तु दशेन्द्रियाणि करणानि बहिष्करणानि खलुच्यन्ते। इत्थं सर्वाणि करणानि पुरुषार्थानि त्रयोदश। अवान्तरपाठे तु ( अवान्तरभेदात् ) भनसोऽवान्तरभेदाद् रूपान्तरभेदात्, त्रैविध्यं बुद्धयहङ्कारमनोरूपमन्तःकरणं तस्मात्, यद्वाऽत्र, अवान्तरशब्दो नानार्थः, करणानां नानाभेदात्।

अर्थ:- ( करणं त्रयोदशविधम् ) करण तेरह प्रकार के हैं ( अव्रान्तरभेदात् ) बाह्य आभ्यन्तर भेद से। उन में बुद्धि, अहङ्कार, मन आभ्यन्तर करण हैं। अतएव ये अन्तःकरण हैं। नेत्र आदि पांच ज्ञानेन्द्रिय तथा वागू आदि पांच कर्मेन्द्रिय ये दश बहिष्करण हैं। इस प्रकार सारे करण तेरह हैं जो पुरुषार्थ हैं। अवान्तर पाठ होने पर ( अवान्तरभेदात् ) मन के अवान्तर अन्तःकरण के रूपान्तर भेद से बुद्धि, अहङ्कार, मन अथवा यहां अवान्तर शब्द नानार्थक है, करणों के नाना भेद से तेरह करण हैं।

व्याख्या-बुद्धि, अहंकार, मन- ये तीन अन्तःकरण ( आभ्यन्तर करण ) और दश बाह्यकरण दोनों को मिलाकर तेरह संख्या, करणों की होती है। उनमें भी व्यक्ति भेद के कारण उनका आनन्त्य बताने के लिये त्रयोदशविधम् कहा गया है। बुद्धि ही मुख्य करण है- इस आशय से कहा अवान्तर भेदात्। अर्थात् बुद्धि संज्ञक एक ही करण के अनेक करण होते हैं। देवल ने तेरह करण बताये हैं। और उसका स्पष्टीकरण भी उसी ने किया है- दशेन्द्रियाणि बुद्धयहङ्कारमनांसि च करणानि। तेषु मनो बुद्धयहङ्काराश्च अन्तःकरणानि, दश बहिष्करणानीन्द्रियाणि ( या. स्मृ. प्रायः १०६ अपरार्क टीका )। श्री शंकराचार्य ने द्वादशविध करण बताये हैं। उन्होंने बुद्धि मन और दश बाह्येन्द्रियों को गिनाया है-- ( बृह. आ. उ. ४।४।२ भाष्य--गिरिव्याख्या ) । निष्कर्ष यह है कि अवान्तर भेद से करण त्रयोदशविध हैं। उनमें बुद्धि संज्ञक करण ही मुख्य है। उसी का परिणाम अहंकार है। उससे ( अहंकार से ) एकादश इन्द्रियां परिणत होती हैं। ये सब बुद्धि के ही अवान्तर भेद हैं। करणों के सभी अवान्तर भेदों का प्रकार सूचित करने के लिये सूत्र में विध शब्द को दिया गया है। तेरह करणों के केवल तेरह प्रकार होते हैं। तथापि प्राणियों के अनन्त होने से उनके प्रत्येक के साथ करणों का अलग-अलग सम्बन्ध होने से उनको भी अनन्त कह सकते हैं।

( भौतिकानि न भूतोपादानकानि न सन्ति ) आहङ्कारिकत्वश्रुतेः ) तेषामहङ्कारकार्यं त्वश्रवणात्। “एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च” ( मुण्ड० २।११३ )।

अर्थ:- ( भौतिकानि न ) भूतोपादानवाली इन्द्रियां भूतों से उत्पन्न होनेवाली नहीं हैं ( आहङ्कारिकत्वश्रुतेः ) उनके आहङ्कारिकत्व- अहङ्कार से उत्पन्न होने की श्रुति होने से एतस्माज्जायते प्राणो मन सर्वेन्द्रियाणि च ( मुण्डक २।१ )

व्याख्या:-इन्द्रियाँ-आहङ्कारिक ही हैं, उनकी उत्पत्ति अहङ्कार से ही हुई है। वे भौतिक नहीं हैं। प्रश्नोपनिषद् में स्थूलभूत, तन्मात्र, इन्द्रिय, मन, अहङ्कार को जिस क्रम से बताया है उससे सूचित होता है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति, अहङ्कार से होती है, स्थूल या सूक्ष्मभूत से नहीं। क्योंकि भौतिक पदार्थ में तमोगुण की प्रधानता रहती है। और अर्थ की प्रकाशक होने से इन्द्रियों में सत्त्व प्रधानता रहती है। अतः इन्द्रियों के उत्पादक भूत नहीं हो सकते। सांख्य के अनुसार सर्गप्रक्रिया को देखते हुए भी वे भौतिक नहीं सिद्ध हो पा रही हैं, क्योंकि प्रथमतः इन्द्रियाँ प्रादुर्भूत हुईं, पश्चात् भूतों का प्रादुर्भाव हुआ है। अर्थात् इन्द्रियों के प्रादुर्भूत होने के समय भूतों का तो अस्तित्व ही न था। उनकी सत्ता केवल कारणरूप में थी, और इन्द्रियों का प्रादुर्भाव तो अपने स्वरूप में हो चुका था। इसलिये इन्द्रियों को भौतिक ( भूतों का विकार ) कहना कदापि उचित नहीं है, भौतिकानि इन्द्रियाणि- यह नैयायिकों का मत है। क्योंकि भाष्यकार ने कहा है- भौतिकानि इन्द्रियाणि नियतविषयाणि-(न्या. भा. १।१।४) इन्द्रियं नाव्यक्तकम् आहङ्कारिकं वा, प्रत्युत भौतिकम् इस मत का प्रतिपादन बड़े विस्तार से अन्यत्र किया गया है-

(न्या. सू. ३।१।३२-५१)। बृहदारण्यक (२।४।११ शां. भा.) में भी विषयसजातीयं कारणं मन्यते श्रुतिः न तु जात्यन्तरम्। विषयस्यैव स्वात्मग्राहकत्वेन संस्थानान्तरं करणं नाम, यथा रूप-विशेषस्यैव संस्थानं प्रदीपः करणं सर्वरूपप्रकाशने। उसी तरह शारीरक (२।३।११) में यदि तावद् भौतिकानिकरणानि कहा गया है।

एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।

खं वायुर्जोतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ( मुण्ड 02/1/3 )

प्राण, मन, सब इन्द्रियां, आकाश, वायु, ज्योति, जल, विश्व का धारण करने वाली पृथ्वी उसी से उत्पन्न होती है। इसमें भूतों की उत्पत्ति से पूर्व इन्द्रियोत्पत्ति कही है।

पृथिवी च पृथिवीमात्रा चापश्चापोमात्रा च तेजश्च तेजोमात्रा च वायुश्च वायुमात्रा चाकाशश्चाकाशमात्रा च चक्षुश्च द्रष्टव्यं च श्रोत्रं च श्रोतव्यं च घ्राणं च धातव्यं च रसश्च रसयितव्यं च त्वक् च स्पर्शयितव्यं च वाक् च वक्तव्यं च हस्तौ चादातव्यं चोपस्यश्चानन्दयितव्यं च पायुश्च विसर्जयितव्यं च पादौ च गन्तव्यं च मनश्च मन्तव्यं च बुद्धिश्च बोद्धव्यं चाहंकारश्चाहंक. त्वं च चित्तं च चेतयितव्यं च तेजश्च विद्योतयितव्यं च प्राणश्च विधारयितव्यं च॥

अर्थ:-स्थूल-पृथिवी, सूक्ष्म-पृथिवी, स्थूल-जल, सूक्ष्म-जल, स्थूल-तेज, सूक्ष्म-तेज, स्थूल-वायु, सूक्ष्म-वायु, स्थूल-आकाश, सूक्ष्म-आकाश अर्थात् सम्पूर्ण भौतिक जगत् या ब्रह्मांड; आंख, आंख के विषय, श्रोत्र, श्रोत्र के विषय, घ्राण, घ्राण के विषय, रस, रस के विषय, त्वचा, त्वचा के विषय, वाणी, वाणी के विषय, हाथ, हाथ के विषय, उपस्य, उपस्थ के विषय, पायु, पायु के विषय, पांव, पाँव के विषय, मन, मन के विषय, बुद्धि, बुद्धि के विषय, अहंकार, अहंकार के विषय, चित्त, चित्त के विषय, शरीर का तेज और जो कुछ चमकता है, प्राण और प्राण द्वारा जो-कुछ धारण होता है अर्थात् सम्पूर्ण आध्यत्मिक जगत् या पिंडाप्रश्नो० 4/8 में भी स्थूलता से सूक्ष्मता का संकेत किया है -स्थूलभूत, तन्मात्र, इन्द्रिय, मन, अहंकार आदि। इससे भी इन्द्रियों का कारण ‘अहंकार’ होना चाहिए। पश्चादुत्पन्न भूत नहीं। क्योंकि भूतों के अस्तित्व से पूर्व ही इन्द्रियोत्पत्ति हो जाती है। और पश्चादुत्पन्न पदार्थ अपने से पूर्वोत्पन्न पदार्थ का कारण नहीं हो सकता। अतः इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं।

वैदिक साहित्य में भूतों में इन्द्रियों के लय का उल्लेख मिलता है-पुरुषस्य मृतस्य अग्निं वागप्येति, वातं प्राणश्चक्षुरादित्यं मनश्चन्द्रमसम्, दिशः श्रोत्रम् ( बृह० 3/2/13 )।

जब यह पुरुष मर जाता है, और इसकी वाणी अग्नि में, प्राण वायु में, चक्षु आदित्य में, मन चन्द्रमा में, श्रोत्र दिशाओं में, शरीर पृथिवी में, शरीरवर्ती-आकाश ब्रह्मांड के महाकाश में, लोम औषधियों में, केश वनस्पतियों में, शोणित और रेत जल में लीन हो जाते हैं-जब कार्य अपने कारण में, पिंड ब्रह्मांड में चल देता है, तब जीव का आधार कुछ नहीं बच रहता, फिर जीव किस आधार से रहता है ? रहता भी है, या नहीं, या वह भी समाप्त ही हो जाता है ? याज्ञ-वल्क्य ने कहा, हे सोम्य आतंभाग, ला अपना हाथ वे, मेरे साथ चल,

हम दोनों हो इस विषय पर अलग बैठ कर विचार करेंगे, इस जन-समूह में इस गंभीर विषय पर विचार नहीं हो सकेगा, तुम तो समझ जाओगे, दूसरे लोग नहीं समझेंगे। आर्तभाग के दुराग्रह को तोड़ने का याज्ञवल्क्य को यह अच्छा उपाय सूझा। वे दोनों उठकर कुछ दूर जाकर विचार-विनिमय करने लगे। उन्होंने अलग बैठकर कर्म हो की चर्चा की, कर्म ही की प्रशंसा की, और यह निष्कर्ष निकाला कि सब-कुछ छूट जाने पर भी कर्म नहीं छूटता, कर्म के सहारे ही जीव टिका रहता है, पुण्य-कर्म से जीव पुण्य करने वाला होता है, पाप-कर्म से पाप करने वाला होता है। इसके बाद जरत्कारु-गोत्री आर्तभाग चुप होकर बैठ गया। प्रायः कारण में ही कार्य का लय कहा जाता है। अतः इन्द्रियों का कारण अहंकार न होकर भूत ही माने जाने चाहिए। अन्यथा शब्द प्रमाण से विरोध होगा।

**तदुत्पत्तिश्रुतेविनाशदर्शनाच्च तदुत्पत्तिश्रुतेविनाशद॥ ( सां.द.2/22 )**

( तदुत्पत्तिश्रुतेः )      तेषामिन्द्रियाणामुत्पत्तिविषयिकायाः      श्रुतेः।      एतस्माज्जायते      प्राणो      मनः  
सर्वेन्द्रियाणि च ( मुण्ड० २।१।३ ) ( च ) अथ च ( विनाशदर्शनात् ) तेषामिन्द्रियाणां विनाशोऽपि दृश्यते तन्मादिन्द्रियाणि  
सन्त्यनित्यानि॥

**अर्थः-** ( तदुत्पत्तिश्रुतेः ) उन इन्द्रियों की उत्पत्तिविषयक श्रुति होने से एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च ( मुण्ड० २।१ ) ( च ) और ( विनाशदर्शनात् ) उन इन्द्रियों का विनाश भी दीखता है, इसलिये इन्द्रियाँ अनित्य हैं।

**व्याख्याः-** सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति सुनी जाती है। मुण्डक श्रुति कह रही है- एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च- ( मुण्ड. उ. २।१।३ )। इस अक्षर पुरुष से ही प्राण उत्पन्न होता है, तथा इससे ही मन और सम्पूर्ण इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। वृद्धादि अवस्थाओं में चक्षादि इन्द्रियों के समान ही मन का भी अपचय आदि होने से विनाश होता है। कहा भी है-- दशकेन निवर्तन्ते मनः सर्वेन्द्रियाणि च। मन को नित्य कहने वाले नित्य मनः अनादित्वात् आदिश्रुति वचनों को प्रकृति संज्ञक बीज-परक समझना चाहिये। वात्स्यायन ने मन को नित्य कहा है- “न च आकाश-कालदिगात्ममनसां तदगुणानां च केषांचित् उत्पत्ति-विनाशधर्मकत्वं प्रमाणत उपलभ्यते” ( न्या. भा. ४।१२८ ) वैशेषिकदर्शन में भी मन को नित्य बताया है-“श्यया युक्त्या मनसोऽणुत्वं साध्यते नैप्रायिकैः, तथैव मनसो निरवयवत्वं, ततश्च नित्यत्वमपि सिध्यति। वैशेषि-कोऽपि मनसो नित्यतामभ्युपगच्छति” ( वै. सू. ३।२।२ )। वैशेषिकों का कहना है कि श्रुति में जहाँ मन की उत्पत्ति कही जाती है, वहाँ उत्पत्ति शब्द से शरीर के साथ मन के प्रथम संयोग को ही बताया जाता है। उसकी ( मन की ) वस्तुतः उत्पत्ति नहीं होती है। किन्तु सांख्यवादी तो सभी इन्द्रियों की उत्पत्ति मानता है, और वह उत्पत्ति अहंकार से होती है, भूतों से नहीं। अतः इन्द्रियाँ भौतिक नहीं हैं, अपितु आहंकारिक हैं।

अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति होती है, इस अर्थ के शब्दप्रमाण द्वारा पुष्ट होने से तथा अहंकार में इन्द्रियों का लय देखे जाने से यह निश्चित होता है कि इन्द्रियाँ आहङ्कारिक हैं, भौतिक नहीं। अहंकार से इन्द्रियों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में शब्द प्रमाण का संकेत बीसवें सूत्र पर कर दिया गया है। उन इन्द्रियों की उत्पत्ति की श्रुति होने से और लय देखे जाने से इन्द्रियाँ नित्य नहीं किन्तु अनित्य हैं।  
उत्पत्तिश्रुति -

**एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च।**

**खं वायुर्जोतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी॥ ( मुण्ड० 2/1/3 )**

उत्पन्न पदार्थ का नाश अवश्य होता है। जो उत्पन्न होता है, वह नित्य नहीं होता।

**अतीन्द्रियमिन्द्रियं भ्रान्तानामधिष्ठाने॥ ( सां.द.2/23 )**

( इन्द्रियम्-अतीन्द्रियम् ) चक्षुरादीन्द्रियं खल्वतीन्द्रियं तदिभनेन् केनचिदपीन्द्रियेण नोपलभ्यम् ( अधिष्ठाने भ्रान्तानाम् ) गोलके गोलकात्मना खल्विन्द्रियमन्तव्यं भ्रान्तानां न तु वस्तुतः।

**अर्थः-** ( इन्द्रियम् ) इन्द्रिय नेत्र आदि इन्द्रिय ( अतीन्द्रियम् ) उससे भिन्न किसी भी इन्द्रिय से उपलब्ध नहीं होती ( अधिष्ठाने ) गोलक में गोलकरूप से इन्द्रिय मानना ( भ्रान्तानाम् ) भ्रान्तजनों अज्ञों का मन्तव्य है, वस्तुतः नहीं।

**व्याख्याः-** इन्द्रिय अतीन्द्रिय है। किसी भी इन्द्रिय का स्वयं अथवा अन्य किसी इन्द्रिय से प्रत्यक्ष नहीं होता है। इन्द्रियों के अधिष्ठानभूत गोत्रकों में इन्द्रिय की प्रतीति भ्रम से भ्रान्त हुए लोगों को हुआ करती है। अर्थात् अधिष्ठान और अधिष्ठेय दोनों का वे तादात्म्य

समझकर गोलक को ही इन्द्रिय कहते रहते हैं। चरकाचार्य ने “इन्द्रियाधिष्ठानविषये” (चर. सू. ८।१०) सूत्र का उल्लेख किया है।

### स्मरणीय बिंदु-

- इन्द्रियाँ ज्ञान प्राप्ति का माध्यम हैं।
- ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं।
- मन आन्तरिक इन्द्रिय है।
- इन्द्रियाँ सूक्ष्म एवं अभौतिक मानी गई हैं।
- इन्द्रियों का संबंध प्रकृति से है।

### शब्दावली-

- इन्द्रिय ख ज्ञान का साधन
- ज्ञानेन्द्रिय ख ज्ञान प्राप्त करने वाली इन्द्रियाँ
- कर्मेन्द्रिय ख कर्म करने वाली इन्द्रियाँ
- मन ख आन्तरिक इन्द्रिय
- अभौतिकता ख सूक्ष्म स्वरूप

### 5 अंक के प्रश्न-

1. इन्द्रियों से क्या अभिप्राय है?
2. ज्ञानेन्द्रियों के नाम लिखिए।
3. कर्मेन्द्रियाँ कौन-कौन सी हैं?
4. इन्द्रियों की अभौतिकता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
5. मन को आन्तरिक इन्द्रिय क्यों कहा जाता है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में इन्द्रियों के स्वरूप का वर्णन कीजिए।
2. इन्द्रियों की अभौतिकता का विवेचन कीजिए।
3. ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. मन एवं इन्द्रियों के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
5. ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न ( MCQ )-

1. ज्ञानेन्द्रियों की संख्या कितनी है?

- (क) तीन  
(ख) चार  
(ग) पाँच  
(घ) छह

2. मन को क्या कहा गया है?

- (क) बाह्य इन्द्रिय
- (ख) आन्तरिक इन्द्रिय**
- (ग) कर्मेन्द्रिय
- (घ) तन्मात्रा

3. निम्न में से कौन कर्मेन्द्रिय है?

- (क) नेत्र
- (ख) त्वचा
- (ग) वाणी**
- (घ) नासिका

4. इन्द्रियाँ किससे संबंधित हैं?

- (क) ज्ञान प्राप्ति से**
- (ख) मोक्ष से
- (ग) प्रकृति से
- (घ) पुरुष से

5. सांख्य दर्शन में मन किसका साधन है?

- (क) कर्म
- (ख) ज्ञान**
- (ग) युद्ध
- (घ) व्यापार



## खण्ड-3 योग का स्वरूप

### इकाई 3.1- योग दर्शन का रचनाकाल एवं महर्षि पतंजलि जी का संक्षिप्त परिचय

#### उद्देश्य-

1. योग दर्शन के इतिहास को समझना।
2. महर्षि पतंजलि के योगदान का अध्ययन करना।
3. योगसूत्र के महत्व को जानना।

इतिहास के पन्नों की नजर से देखें तो महर्षि पतंजलि गोनर्द (संभवता गोंडा जिला) के निवासी थे, बाद में वे काशी में बस गए। उनकी माता जी का नाम गोणिका था। महर्षि पतंजलि योगसूत्र (योगदर्शन) के प्रणेता हैं जो भारतीय छः आस्तिक दर्शनों (न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा, वेदान्त) में से एक हैं। भारतीय वैदिक साहित्य में पतंजलि प्रणीत ३ मुख्य ग्रन्थ मिलते हैं: योगसूत्र, अष्टाध्यायी पर भाष्य (महाभाष्य), आयुर्वेद पर ग्रन्थ।

कुछ विद्वानों का मत है कि ये तीनों ग्रन्थ एक ही व्यक्ति ने लिखे हैं जबकि कुछ अन्य विद्वानों की धारणा है कि ये विभिन्न व्यक्तियों की कृतियाँ हैं। महर्षि पतंजलि ने पाणिनि के व्याकरण ग्रन्थ अष्टाध्यायी पर अपनी टीका लिखी जिसे महाभाष्य का नाम दिया। काल क्रम की दृष्टि से महर्षि पतंजलि का काल कोई २०० ई पू माना जाता है।

महर्षि पतंजलि शुंग वंश के शासनकाल में थे। डॉ. भंडारकर ने पतंजलि का समय 158 ई. पू., द बोथलिक ने पतंजलि का समय 200 ईसा पूर्व एवं कीथ ने महर्षि पतंजलि का समय 1400 से 1500 ईसा पूर्व माना है। ऐसा कहा जाता है कि उन्होंने पुष्यमित्र शुंग का अश्वमेध यज्ञ भी संपन्न कराया था। साहित्यिक, पुरातात्विक, भौगोलिक एवं अन्य साक्ष्यों के आधार पर उनका जन्म स्थान भोपाल के पास का गांव गोदरमऊ है। कहा जाता है कि बाद में वे काशी में बस गए। महर्षि पतंजलि महान व्याकरणाचार्य पाणिनी जी के शिष्य थे। काशीवासी आज भी श्रावण कृष्ण नागपंचमी को “छोटे गुरु का, बड़े गुरु का नाग लो भाई नाग लो” कहकर नाग के चित्र बाँटते हैं क्योंकि पतंजलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है।

महर्षि पतंजलि महान चिकित्सक थे और इन्हें ही ‘चरक संहिता’ का प्रणेता माना जाता है। ‘योगसूत्र’ को महर्षि पतंजलि का महान अवदान माना जाता है। जैसे अष्टाध्यायी को मानव मष्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ कृति माना जाता है उसी प्रकार योगदर्शन को भी मानव मष्तिष्क की सर्वश्रेष्ठ कृति कहा जाये तो कोई अतिशयोक्ति नहीं होगी यद्यपि पतंजलि रसायन विद्या के विशिष्ट आचार्य थे – अभ्रक विंदास, अनेक धातुयोग और लौहशास्त्र को इनकी देन कहा जाता है। राजा भोज ने इन्हें तन के साथ मन का भी चिकित्सक कहा है।

**योगेन चित्तस्य पदेन वाचां मलं शारीरस्य च वैद्यकेन।**

**योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतंजलिं प्रांजलिरानतोऽस्मि॥**

(अर्थात् चित्त-शुद्धि के लिए योग (योगसूत्र), वाणी-शुद्धि के लिए व्याकरण (महाभाष्य) और शरीर-शुद्धि के लिए वैद्यकशास्त्र देनेवाले मुनिश्रेष्ठ पतंजलि को प्रणाम !)

ई.पू. द्वितीय शताब्दी में महाभाष्य के रचयिता पतंजलि काशी-मण्डल के ही निवासी थे। मुनित्रय (अष्टाध्यायी-कार महर्षि पाणिनि, वार्तिककार कात्यायन और महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि - इन्हीं तीनों ऋषियों को ‘मुनित्रय’ कहा गया है) की परंपरा में वे अंतिम मुनि थे। पाणिनी के पश्चात् पतंजलि सर्वश्रेष्ठ स्थान के अधिकारी पुरुष हैं। उन्होंने पाणिनी व्याकरण के महाभाष्य की रचना कर उसे स्थिरता प्रदान की। वे अलौकिक प्रतिभा के धनी थे। व्याकरण के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों पर भी इनका समान रूप से अधिकार था। व्याकरण शास्त्र में उनकी बात को अंतिम प्रमाण समझा जाता है। महर्षि पतंजलि ने उस समय के जनजीवन का पर्याप्त निरीक्षण किया था इसी कारण से महाभाष्य व्याकरण का ग्रंथ होने के साथ-साथ तत्कालीन समाज का विश्वकोश भी है और तत्कालीन समाज के विषय में विस्तृत जानकारी भी प्रदान करता है।

पतंजलि के काल खंड निर्धारण के संबंध में पुष्यमित्र कण्व वंश के संस्थापक ब्राह्मण राजा के अश्वमेध यज्ञों की घटना को लिया जा सकता है। यह घटना ई.पू. द्वितीय शताब्दी की है। इसके अनुसार महाभाष्य की रचना का काल ई.पू. द्वितीय शताब्दी का मध्यकाल

अथवा १५० ई.पूर्व माना जा सकता है।

### स्मरणीय बिंदु-

- महर्षि पतंजलि योग दर्शन के प्रवर्तक माने जाते हैं।
- योगसूत्र योग दर्शन का मूल ग्रंथ है।
- योग का उद्देश्य चित्तवृत्ति निरोध है।

### शब्दावली-

- योगसूत्र - योग दर्शन का मूल ग्रंथ
- पतंजलि - योग दर्शन के आचार्य
- रचनाकाल - रचना का समय

### 5 अंक के प्रश्न-

1. महर्षि पतंजलि कौन थे?
2. योगसूत्र क्या है?
3. योग दर्शन का रचनाकाल स्पष्ट कीजिए।
4. पतंजलि का भारतीय दर्शन में योगदान क्या है?
5. योग दर्शन का मुख्य उद्देश्य क्या है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. महर्षि पतंजलि के जीवन एवं कृतित्व का वर्णन कीजिए।
2. योग दर्शन के ऐतिहासिक विकास का विवेचन कीजिए।
3. योगसूत्र की संरचना एवं विषयवस्तु स्पष्ट कीजिए।
4. भारतीय दर्शन में पतंजलि के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।
5. योग दर्शन की परंपरा का विस्तृत वर्णन कीजिए।

### MCQ-

1. योगसूत्र के रचयिता कौन हैं?

(क) व्यास

(ख) पतंजलि

(ग) कपिल

(घ) गौतम

2. योग दर्शन किस दर्शन से संबंधित है?

(क) नास्तिक

(ख) आस्तिक

(ग) चार्वाक

(घ) बौद्ध

3. योगसूत्र में कितने पाद हैं?

(क) दो

(ख) तीन

(ग) चार

(घ) पाँच

## इकाई-3.2 योग शब्द का अर्थ एवं परिभाषा ( व्युत्पत्ति )

### उद्देश्य-

1. योग शब्द की व्युत्पत्ति को समझना।
2. योग की विभिन्न परिभाषाओं का अध्ययन करना।
3. योग के दार्शनिक स्वरूप को जानना।

योग शब्द “युज समाधौ” धातु से में “घञ्” प्रत्यय लगाने से बनता है। “युज समाधौ” धातु से योग शब्द का अर्थ समाधि है। व्यास भाष्य के अनुसार भी योग को समाधि शब्द से कहा गया है ‘योगः समाधिः’। और यह समाधि चित्त की सभी पाँच भूमियों (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध ) में अनुगत धर्म है।

“युजिर योगे” एवं “युज संयमने” दो अन्य धातुओं से भी योग शब्द सिद्ध होता है। जहाँ “युजिर योगे” धातु ‘जोड़’ अर्थ में वहीं “युज संयमन” धातु ‘नियमन’ अर्थ में प्रयुक्त होती है लेकिन इन दोनों धातुओं का अर्थ योग दर्शन के प्रतिपाद्य विषय समाधि से भिन्न होने के कारण ये दोनों अर्थ योगदर्शन के पारिभाषिक शब्द योग के लिए अनुकूल प्रतीत नहीं होते हैं अतः यहाँ मानकर चलना पड़ेगा कि योग शब्द “युज समाधौ” धातु से निष्पन्न होकर समाधि अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

क्रियायोग एवं अष्टांग योग के अभ्यास से उपरत हुआ चित्त जब क्लिष्टवृत्ति रहित हो जाता है तब द्रष्टा अपने नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। स्वयं में आत्मस्थ हुआ योगी का मन की सात्त्विक वृत्ति का भी निरोध कर परमात्मा का साक्षात्कार करना योग है।

### स्मरणीय बिंदु-

- योग का अर्थ जोड़ना एवं समाधि है।
- पतंजलि ने योग को चित्तवृत्ति निरोध कहा है।
- योग आत्मशुद्धि का मार्ग है।

### शब्दावली-

- चित्त - मन
- वृत्ति - मानसिक गतिविधि
- निरोध - नियंत्रण

### 5 अंक के प्रश्न-

1. योग शब्द की व्युत्पत्ति स्पष्ट कीजिए।
2. पतंजलि के अनुसार योग क्या है?
3. योग का सामान्य अर्थ क्या है?
4. योग और समाधि में क्या संबंध है?
5. योग का आध्यात्मिक महत्व क्या है?

## 15 अंक के प्रश्न-

1. योग शब्द के विभिन्न अर्थों का विवेचन कीजिए।
2. “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” की व्याख्या कीजिए।
3. योग की दार्शनिक परिभाषाओं का विश्लेषण कीजिए।
4. भारतीय संस्कृति में योग का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. योग एवं आत्मानुभूति के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

## MCQ-

1. “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” किसका सूत्र है?

- (क) वेदान्त
- (ख) न्याय
- (ग) योग
- (घ) मीमांसा

2. योग शब्द किस धातु से बना है?

- (क) युज्
- (ख) भू
- (ग) कृ
- (घ) गम्

3. योग का मुख्य उद्देश्य क्या है?

- (क) धन
- (ख) मोक्ष
- (ग) राज्य
- (घ) युद्ध

## इकाई-3.3 योग का स्वरूप

उद्देश्य-

1. योग के स्वरूप को समझना।
2. योग के प्रकारों का अध्ययन करना।
3. योग साधना के महत्व को जानना।

अथ योगानुशासनम्॥१.१॥

पदच्छेदः अथ , योग , अनुशासनम्॥

शब्दार्थः अथ-अब, योग- योग (का), अनुशासनम्- पहले से विद्यमान शिक्षा (आरम्भ करते हैं।)

व्यासभाष्यम् - अथेत्ययमधिकारार्थः। योगानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्। योगः समाधिः। स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः। क्षिप्तं मूढं विक्षिप्तमेकाग्रं निरुद्धमिति चित्तभूमयः। तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोपसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते। यस्त्वेकाग्रे चेतसि सद्भूतमर्थं प्रद्योतयति क्षिणोति च क्लेशान्कर्मबन्धनानि श्लथयति, निरोधमभिमुखं करोति स संप्रज्ञातो योग इत्याख्यायते। स च वितर्कानुगतो विच. रानुगत आनन्दानुगतोऽस्मितानुगत इत्युपरिष्ठात्प्रवेदयिष्यामः। सर्ववृत्तिनिरोधे त्वसंप्रज्ञातः समाधिः॥१॥

भाष्यानुवादः- ‘अथ’ शब्द यहाँ अधिकार के अर्थ में प्रयोग किया गया है। यहाँ अथ शब्द से योग शास्त्र के आरंभ का भाव परिलक्षित हो रहा है। योग का अर्थ है समाधि और यह समाधि चित्त की सभी पाँच प्रकार में अनुगत धर्म है। चित्त की ये पाँच भूमियाँ हैं भूमियों क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध। चित्त की इन पाँच प्रकार की भूमियों में से विक्षिप्त भूमि वाले चित्त की समाधि विक्षेप उत्पन्न करने वाली होने से योग की श्रेणी में नहीं आती है। जो समाधि एकाग्र भूमि वाले चित्त में घटित होती है वह पदार्थ के वास्तविक (यथार्थ) स्वरूप को प्रकाशित करती है, पञ्च क्लेशों का नाश करती है, तीन प्रकार के कर्मों के बंधन को शिथिल करती है और साथ ही असम्प्रज्ञात समाधि को योगी के सम्मुख लाती है। इस प्रकार सम्प्रज्ञात योग कहलाता है। और यह सम्प्रज्ञात समाधि वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत अवस्थाओं वाली है। इनका विषद वर्णन आगे के सूत्रों में करेंगे। चित्त कि सब प्रकार कि वृत्तियों का निरोध होने पर तो असम्प्रज्ञात समाधि होती है॥१॥

वैदिक ग्रंथों में अथ शब्द दो अर्थों में प्रयुक्त होता है। प्रथम मंगलाचरण के लिए और दूसरा ग्रंथ में प्रवेश से पूर्व किये गए साधन चतुष्टय के लिये। जब साधक, साधन चतुष्टय की साधना कर चुका होता है या कर रहा होता है अर्थात् ग्रंथ को समझने के लिए आवश्यक प्रवृत्ति विशेष धारण कर चुका होता है ‘तब’ सूत्र कहता है कि ‘अब’ योग के अनुशासन को प्रारम्भ करते हैं। सामान्य बोलचाल की भाषा में जब भी हम ‘अब’ शब्द का प्रयोग करते हैं तो उसका सीधा अर्थ होता है “अभी तक ऐसा हो चुका है अब आगे से नहीं करना ” अथवा “कुछ विशेष तैयारियाँ हो चुकी हैं अब हम आगे बढ़ते हैं” “अब हम चलते हैं”; “मैंने गलती की है, अब आगे से नहीं करूंगा” आदि इस प्रकार के प्रयोग हम प्रतिदिन जी जिंदगी में करते रहते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि महर्षि पतंजलि योग में प्रवेश से पूर्व कुछ साधना विशेष की भी बात कर रहे हैं या कुछ निर्देश विशेष की बात हो चुकी है और अब जबकि सब मानसिक एवं सैद्धान्तिक रूप से तैयार हैं तो योग के अनुशासन को प्रारम्भ किया जा सकता है।

भौतिक जगत (सांसारिक जीवन में) में भी देखा जाता है कि यदि आप किसी विषय में स्नातक (ग्रेजुएट) होना चाहते हैं तो आपके पास पूर्व में 12 वीं की डिग्री होनी चाहिए तभी आप स्नातक (ग्रेजुएशन) में प्रवेश पाने के अधिकारी हो सकते हैं। केवल आप प्रवेश के अधिकारी ही नहीं अपितु अब आपको संबंधित सभी विषयों को पढ़ाया और समझाया जा सकता है। ऐसे ही योग भी जीवन के कालक्रम में प्रवेश की एक प्रक्रिया है और इसमें प्रवेश वे ही कर पाएंगे जो योग्यता रखते हों। आम बोलचाल की भाषा में कहें तो योग में एडमिशन लेने के लिए जिस आधारभूत क्वालिफिकेशन की जरूरत है, वो आपके पास अवश्य हो। अतः प्रश्न उठता है कि योग के अनुशासन में प्रवेश करने की योग्यता क्या है? कैसे हम समझें कि अब हम योग के योग्य हो चुके हैं?

जब आप सब प्रकार से बाहरी एवं सांसारिक उपायों से निराश हो चुके होते हैं, जब आपका चित्त या मन सचमुच में अपने भीतर के साम्राज्य में प्रवेश पाने को आतुर होने लग जाता है। जब आप अपने दोषों से भली भाँति परिचित होने लगते हैं और उन्हें अपने जीवन से पूरी तरह हटा देने की तीव्र अभीप्सा से भरने लग जाते हैं, जब आपके भीतर राग, द्वेष, काम, क्रोध, लोभ और मोह,

ईर्ष्या और छल कपट आदि समस्त दोषों-दुर्गुणों से मुक्त होने की तीव्र इच्छा जगने लग जाती है तब योग में प्रवेश करने का संयोग बनने लगता है। वही समय है जब आप अपने जीवन को सच्चे अर्थों में अनुशासन में ला सकते हैं। जिनके मन में इस प्रकार के भाव और संवेदनाएं स्वयं के जीवन को लेकर उत्पन्न होने लग गए हों, ऐसे व्यक्तियों के लिए महर्षि पतंजलि कहते हैं कि “अब” जब तुम्हारे मन में इस प्रकार की तीव्र इच्छा जन्म ले चुकी है “तब” योग के अनुशासन को आओ प्रारम्भ करते हैं।

**योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः॥ 1.2॥**

**पदच्छेदः** योगः , चित्त , वृत्ति , निरोधः

**शब्दार्थः** चित्त- चित्त अर्थात् अन्तःकरण (की), वृत्ति - वृत्तियों (का), निरोधः - निरोध (सर्वथा रुक जाना), योगः - योग है। व्यासभाष्यम् - सर्वशब्दाग्रहणात्संप्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते। चित्तं प्रख्याप्रवृत्तिस्थिति- शीलत्वात्त्रिगुणम्। प्रख्यारूपं हि चित्तसत्त्वं रजस्तमोभ्यां संसृष्टमैश्वर्यविषयप्रियं भवति। तदेव तमसानुविद्धम्- धर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति। तदेव प्रक्षीण मोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमानमनुविद्धं रजोमात्रया धर्मज्ञानवैराग्यैश्वर्योपगं भवति।

तदेव रजोलेशमलापेतं स्वरूपप्रतिष्ठं सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रं धर्ममेघध्यानोपगं भवति। तत्परं प्रसंख्यानमित्याचक्षते ध्यायिनः। चित्तिशक्तिरपरिणामिन्यप्रतिसंक्रमा दर्शितविषया शुद्धा चानन्ता च, सत्त्वगुणात्मिका चेयमतो विपरीता विवेकख्यातिरिति॥२॥  
**भाष्यानुवादः** - उपरोक्त सूत्र में सर्व शब्द का प्रयोग न होने से सम्प्रज्ञात समाधि भी योग कही जाती है। चित्त का स्वभाव प्रकाशशील, गतिशील एवं स्थितिशील होने से चित्त त्रिगुणात्मक है।

प्रकाशशील चित्त, सत्त्व, रजस एवं तमस से मिला हुआ होने से ऐश्वर्य एवं विषय की कामना करने वाला होता है। वही चित्त सत्त्व तमसबद्ध हुआ अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य को प्राप्त हो जाता है। फिर वही चित्त क्षीणमोहावरण वाला होकर चारों ओर से प्रकाशमान, रजोगुण से मिला हुआ धर्म, ज्ञान, वैराग्य एवं ऐश्वर्य से युक्त हो जाता है।

वही चित्त, रजोगुण रूपी मल से अलग हुआ, अपने शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित एवं प्रकृति एवं पुरुष की पृथक्ता के ज्ञान से युक्त हुआ धर्ममेघ समाधि को प्राप्त हो जाता है। योगी ध्यानी लोग उस धर्ममेघ समाधि वाले चित्त को ‘परं प्रसंख्यान’ अर्थात् परम ज्ञान कहते हैं। चेतन पुरुष अर्थात् आत्मा परिणाम से पार, निर्लिप्त, विषयों का द्रष्टा, शुद्ध एवं नाशरहित है। विवेकख्याति सत्त्व गुणात्मिका वाली होने से त्रिगुणातीत आत्मा के विरुद्ध स्वाभाव वाली है॥२॥

पुरातन काल में गुरु शिष्य परंपरा के अंतर्गत शास्त्र अध्ययन किया जाता था। शास्त्र अध्ययन से पहले विद्यार्थी या शिष्य को प्रारम्भिक शिक्षा दी जाती थी जिससे कि उन्हें पढ़ाया जा रहा विषय भली भांति समझ में आ जाये। अध्ययन गुरु और शिष्यों के बीच एक प्रकार के संवाद से होकर गुजरता था। शिष्य बीच बीच में जिज्ञासा करते थे और गुरु जहां जहां आवश्यक होता था वहां उन उन जिज्ञासाओं को भी उत्तरित करते जाते थे और इस प्रकार पूरे शिक्षण में एक सामंजस्य बना रहता था। योग दर्शन का पहला सूत्र “अथ योगनुशासनम्” पढ़ते ही सहज जिज्ञासा होती है कि योग क्या है? “अब योग के अनुशासन को प्रारम्भ करते हैं ” इस वाक्य से यह जिज्ञासा मन में सहज उठती है कि “योग” किसे कह रहे हैं? तब महर्षि पतंजलि ने योग की परिभाषा समझाते हुए शिष्यों को कहा-चित्त की वृत्तियों का रुक जाना योग है। यह सम्पूर्ण, संक्षिप्त और सारगर्भित परिभाषा है। योग को संपूर्णता से समझने के लिए आपको चित्त क्या होता है! वृत्ति क्या होती है? निरोध शब्द से यहां क्या मतलब है! यह सब समझे बिना योग का मूल एवं वास्तविक अर्थ नहीं समझा जा सकता है।

आईये सबसे पहले जानते हैं कि चित्त क्या होता है-सरल अर्थों में कहें तो चित्त का अर्थ होता है जहां हमारे विचार जन्मते हैं, बनते हैं और जमे रहते हैं संस्कारों के रूप में। चित्त एक प्रकार की भूमि है जहां विचार जन्मते हैं और यह चित्त रूपी भूमि भी पांच प्रकार की होती है।

1. क्षिप्त
2. विक्षिप्त
3. मूढ़
4. एकाग्र एवं
5. निरुद्ध

यहां ध्यान देने योग्य बात यह है कि योग केवल चित्त की एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्था में ही संभव है।

अब समझते हैं वृत्ति क्या है-वृत्ति एकवचन न होकर बहुवचन में प्रयोग होता है, इसका अर्थ है वृत्ति एक नहीं अपितु एक से अधिक होती है। चूंकि आगे के सूत्रों में महर्षि पतंजलि ने स्वयं वृत्तियों के विषय में चर्चा की है इसलिए अभी इतना ही समझें

कि हमारे भीतर उठने वाली विचार रूपी तरंगों या मन के क्रियाकलाप को जो कि पांच प्रकार से विभाजित है उसे वृत्तियाँ कहते हैं।

अब सूत्र का अंतिम एवं महत्वपूर्ण भाग आता “निरोध”। इसे ठीक ठीक समझे बिना योग कभी भी समझ में नहीं आ सकता। केवल निरोध शब्द ठीक से नहीं समझा गया इसलिए योग नहीं समझा गया।

संस्कृत में प्रत्यय और उपसर्गों का बहुत महत्व है क्योंकि ये जब किसी शब्द के पीछे और आगे लगते हैं तो अत्यंत बलपूर्वक उस शब्द का अर्थ बिल्कुल बदल देते हैं, वास्तव में इनका केवल अर्थ बदल देने का ही प्रयोजन होता है। अब संस्कृत में 22 उपसर्ग होते हैं और प्रत्येक उपसर्ग यदि एक ही शब्द में लगाया जाए तो उसी शब्द के भिन्न भिन्न अर्थ हो जाते हैं। महर्षि पतंजलि योग दर्शन के रचयिता के साथ साथ एक महान व्याकरणाचार्य भी थे और यदि उन्होंने रुध धातु के साथ यदि नि उपसर्ग जोड़ा है तो यह निष्प्रयोजन नहीं हो सकता है और योग के संबंध में तो बिल्कुल भी नहीं। जहाँ एक ओर सबसे जटिल शब्द की परिभाषा की जा रही हो वहाँ सामान्य अर्थ में उपसर्ग का प्रयोग नहीं हो सकता है। बहुतों ने निरोध का शाब्दिक अर्थ किया है रोक देना अर्थात् चित्त की वृत्तियों को रोक देना योग कहलाता है। यदि रोकने का प्रयत्न अभी भी बचा है तो योग अभी भी पूर्ण रूप से घटा नहीं परिभाषा पूर्ण नहीं हो पाएगी। एक ऐसी स्थिति जब वृत्तियाँ अपने आप रुक जाए तब योग घटित होता है। लेकिन यहां समझने की यह आवश्यकता है कि यह स्थिति बिना प्रयत्न के नहीं आएगी, यह समझना अत्यंत कठिन होता है जब तक कि आप प्रायोगिक रूप से योग विषय में प्रवेश नहीं कर लेते। प्रयत्न जब सहज प्रयत्न में बदलता है तब धीरे धीरे वह चित्त को निरोध अर्थात् स्वयं रुक जाने की स्थिति में ले जाता है, फिर बिना प्रयत्न के भान, अहंकार के, कर्तृत्व के भाव से मुक्त हुआ योगाभ्यासी निरुद्ध अवस्था को प्राप्त हो जाता है। इसी स्थिति को महर्षि पतंजलि ने योग कहा है और योग को ही समाधान कहा है।

**तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्॥1.3॥**

**पदच्छेदः** तदा , द्रष्टुः , स्वरूपे , अवस्थानम्॥

**शब्दार्थः** तदा - उस समय (निरोध के अवस्था में), द्रष्टुः - द्रष्टा की, स्वरूपे - अपने ही रूप अर्थात् चेतन-मात्र में , अवस्थानम् - स्थिति हो जाती है।

**व्यासभाष्यम्- स्वरूपप्रतिष्ठा तदानीं चितिशक्तिर्यथा कैवल्ये॥3॥**

**भाष्यानुवादः** -उस असम्प्रज्ञात योग की अवस्था में आत्मा अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है जैसा कि वह कैवल्य की अवस्था में रहता है॥३॥

महर्षि पतंजलि द्वारा योग के स्वरूप की चर्चा करने के बाद शिष्यों में सहज जिज्ञासा होती है कि चित्त के निरुद्ध अवस्था में जब वृत्ति निरोध या वृत्तियों का अभाव हो जाता है तब व्यक्ति के स्वभाव में क्या परिवर्तन होता है? योगस्थ व्यक्ति किस स्वभाव में प्रतिष्ठित हो जाता है?

महर्षि पतंजलि इस सूत्र के माध्यम से कहते हैं - “तब द्रष्टा अपने ही शुद्ध रूप में अवस्थित हो जाता है”। यहां दो शब्द समझने योग्य हैं। एक द्रष्टा और दूसरा स्वरूप।

द्रष्टा का अर्थ होता है देखने वाला (जीवात्मा)। आत्मा अर्थात् पुरुष को द्रष्टा क्यों कहा गया है! इस द्रष्टा संज्ञा में अध्यात्म के गहरे अर्थ छुपे हुए हैं। वेदों, उपनिषदों, दर्शनों और सभी वैदिक साहित्य में द्रष्टा शब्द अत्यधिक प्रयोग में आता है। द्रष्टा अर्थात् जो जगत के प्रपंचो को केवल देखे न कि उनसे संबंधित हो जाये। पुरुष भी प्रकृति को अपने से अलग देखता हुआ, उससे सर्वथा अपने को पृथक् मानता हुआ ही अपने स्वरूप में लौट सकता है। यह नियम है कि यदि पुरुष को अपने शुद्धतम रूप को देखना हो, जानना हो तो उसे सबसे अलग अपने को महसूस करना होगा। यह प्रथम एवं महत्वपूर्ण चरण है अपने विषय में जानने के लिए। जैसे ही हम द्रष्टा हो जाते हैं वैसे ही दृश्य हमसे अलग हो जाता है अब हम विवेक का प्रयोग कर अपनी वास्तविक स्वरूप में स्थित होने का अभ्यास कर सकते हैं।

दूसरा शब्द है स्वरूप। इस जगत में तीन सत्ताएं हैं।

1. जीवात्मा                      2. प्रकृति                      3. परमात्मा

तीनों सत्ताओं का अपना एक स्वरूप है जिसे जाने बिना जीवन की सार्थकता नहीं है। सांख्य जीवात्मा के स्वरूप के विषय में कहता है- ‘असंगो अयं पुरुष’ इति॥ 1.15॥ अर्थात् यह जीवात्मा स्वरूप से ही संगरहित है।

पुरुष जो कुछ देखता है वह उससे असंश्लिष्ट रहता है, इसलिए यह पुरुष असंग कहलाता है। जल अथवा कीचड़ के



साथ जैसे कमल पत्र की असंगता है वैसे ही पुरुष की भी समझनी चाहिए। सांख्य दर्शन के प्रथम अध्याय के सूत्र संख्या 19 में जीवात्मा को नित्य शुद्ध, नित्य बुद्ध एवं नित्य मुक्त स्वभाव का बतलाया गया है। इसी नित्य शुद्ध, बुद्ध एवं मुक्त स्वभाव को ही इस सूत्र में स्वरूप शब्द से महर्षि ने व्यक्त किया है। योगस्थ होने से पुरुष तब अपने स्वरूप को पा लेता है।

#### वृत्तिसारूप्यमितरत्र॥ 1.4॥

**पदच्छेद:** वृत्ति, सारूप्यम्, इतरत्र।

**शब्दार्थ:** इतरत्र - दूसरे समय में अर्थात् वृत्तियों के निरोध से भिन्न अवस्था में (द्रष्टा का), वृत्ति - वृत्ति के, सारूप्यम् - सदृश स्वरूप (होता है)।

**व्यासभाष्यम् -** व्युत्थाने याश्चित्तवृत्तयस्तदविशिष्टवृत्तिः पुरुषः। तथा च सूत्रम्- 'एकमेव दर्शनं, ख्यातिरेव दर्शनम्' इति। चित्तमयस्कान्तमणिकल्पं सन्निधिमात्रोपकारि दृश्यत्वेन स्वं भवति पुरुषस्य स्वामिनः। तस्माच्चित्तवृत्तिबोधे पुरुषस्यानादिः संबन्धो हेतुः॥४॥

**भाष्यानुवाद:** एकाग्र से अतिरिक्त व्युत्थान की स्थिति में जिस प्रकार की चित्तवृत्तियाँ होती हैं पुरुष (आत्मा) भी उसी प्रकार प्रतीत होता है। और वैसा सूत्र भी है - पुरुष और बुद्धि दोनों का दर्शन एक रूप में होता है। यह दर्शन बुद्धि की वृत्तियों के रूप में होता है। चित्त अयस्कान्तमणि (चुम्बक) के सदृश है। सन्निधिमात्र से पुरुष के लिए उपकारी होता है। वह दृश्यत्व के रूप से स्वामी जीवात्मा का स्व बन जाता है। इसलिए आत्मा को चित्तवृत्तियों का जो ज्ञान होता है, उसमें पुरुष और बुद्धि का अनादि सम्बन्ध ही कारण है॥४॥

जब चित्त की वृत्तियों का निरोध नहीं होता है तब जीवात्मा चित्त की वृत्तियों के अनुरूप ही व्यवहार करता है, जैसी चित्त की वृत्ति होती है, वैसा ही देखता, सुनता, समझता, महसूस करता है। वृत्तियाँ संसार की ओर भी ले लाती हैं और अक्लिष्ट अर्थात् सुख देने वाली होने से भीतर की ओर ले जाने में भी सहायक होती हैं। क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त, चित्त की ये तीन भूमियाँ साधक को संसारोन्मुख करती हैं।

प्रश्न यह उठता है कि चित्त की पांच भूमियों (क्षिप्त, मूढ़, विक्षिप्त, एकाग्र एवं निरुद्ध) में से जब साधक निरुद्ध स्थिति में न होकर क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त किसी एक स्थिति में होता है तो जीवात्मा इन वृत्तियों के सदृश क्यों हो जाता है? इसका कुल इतना कारण है कि स्वभाव से ही इंद्रियाँ बहिर्गामी होती हैं और निरुद्ध एवं एकाग्र भूमि को छोड़कर सभी भूमियों में वृत्तियाँ बाहर की ओर ले जाती हैं। जीवात्मा बाहर का अनुभव बाह्य इंद्रियों के माध्यम से ही कर सकता है इसलिए वह वृत्ति सारूप्य होकर अर्थात् वृत्ति जैसे स्वरूप वाला होकर ही अनुभव ले सकता है। चूंकि प्रथम तीनों चित्त-भूमियाँ संसार का ज्ञान कराने में सक्षम हैं और इनकी गति एकाग्र और निरुद्ध दोनों के सर्वथा विपरीत है तो यह कभी भी स्वरूप की ओर न ले जाकर रूप यानि कि संसार की ओर ले जाती है। योग एकाग्र भूमि से ही प्रारम्भ होकर निरुद्धावस्था में पूर्णता को प्राप्त होता हुआ साथ-साथ ही अपने स्वरूप प्रतिष्ठित होता है।

ऐसा नहीं होता है कि जीवात्मा वृत्ति ही हो जाता है बल्कि मणि सदृश भासता है। जैसे मणि पर कोई लाल रंग पड़ जाए तो मणि भी उसी लाल रंग की हो जाती है। ऐसे ही जीवात्मा भी वृत्ति के संपर्क में बाहर अथवा संसार में आकर वृत्ति जैसा ही हो जाता है।

#### स्मरणीय बिंदु-

- अष्टांग योग पतंजलि योग का आधार है।
- योग शरीर एवं मन दोनों को शुद्ध करता है।
- ध्यान आत्मिक उन्नति का साधन है।

#### शब्दावली-

- अष्टांग - आठ अंग
- प्राणायाम 7 श्वास नियंत्रण

- ध्यान - एकाग्रता

### 5 अंक के प्रश्न-

1. योग का स्वरूप क्या है?
2. अष्टांग योग क्या है?
3. यम और नियम का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. प्राणायाम किसे कहते हैं?
5. ध्यान का महत्व क्या है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. योग के स्वरूप का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. अष्टांग योग का वर्णन कीजिए।
3. योग साधना में यम एवं नियम की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. ध्यान एवं समाधि का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
5. आधुनिक जीवन में योग की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।

MCQ-

1. अष्टांग योग में कितने अंग हैं?

(क) पाँच

(ख) छह

(ग) सात

(घ) आठ

2. निम्न में से कौन अष्टांग योग का अंग नहीं है?

(क) यम

(ख) नियम

(ग) तर्क

(घ) ध्यान

3. प्राणायाम का संबंध किससे है?

(क) श्वास

(ख) भोजन

(ग) निद्रा

(घ) वाणी

## इकाई-3.4 चित्त की वृत्तियाँ

### उद्देश्य-

1. चित्त एवं उसकी वृत्तियों को समझना।
2. पाँच वृत्तियों का अध्ययन करना।
3. चित्तवृत्ति निरोध के महत्व को जानना।

महर्षि पतञ्जलि द्वारा प्रणीत योगदर्शन में चित्त की भूमिका अत्यन्त महत्वपूर्ण मानी गई है। योग का लक्ष्य है- चित्तवृत्तियों का निरोध, अर्थात् चित्त की चंचलता का निरोध करके आत्मा के स्वरूप में स्थित होना। अतः इस लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक है- चित्त की अवस्थाओं (भूमियों) की गहन समझ। महर्षि पतञ्जलि ने चित्त की अवस्थाओं को पाँच भागों में विभाजित किया है जिन्हें हम “चित्तभूमियाँ” के नाम से कहते हैं। ये हैं-

1. क्षिप्त
2. मूढ़
3. विक्षिप्त
4. एकाग्र
5. निरुद्ध

इन पाँचों भूमियों में से आरंभ की तीन अवस्थाएँ- क्षिप्त, मूढ़ और विक्षिप्त योग हेतु अयोग्य चित्त की सूचक हैं। जबकि अंतिम दो अवस्थाएँ- एकाग्र और निरुद्ध योग हेतु योग्य चित्त को प्रकट करती हैं। अब एक एक चित्त की भूमि को विस्तार देते हैं।

#### 1. क्षिप्त चित्त

यह चित्त सदा चंचल रहता है एवं इसकी वृत्तियाँ रजोगुण के अधीन होती हैं। ऐसा चित्त सदैव इंद्रियों के विषयों की ओर आकर्षित होता है। क्षिप्त चित्त का स्वभाव उच्छृंखल होता है। यह किसी एक लक्ष्य पर स्थिर नहीं रह सकता। यह इधर-उधर भटकता रहता है और विवेक की क्षमता क्षीण होती है। जैसे वायु से हिलता हुआ दीपक स्पष्ट प्रकाश नहीं दे पाता, वैसे ही क्षिप्त चित्त व्यक्ति की आत्मिक प्रगति को अवरुद्ध करता है।

#### 2. मूढ़ चित्त

यह चित्त तमोगुण से प्रभावित होता है। इसमें प्रमाद, आलस्य, अविवेक एवं मोह की अधिकता होती है। यह चित्त विषयासक्ति में रत रहता है। न तो इसकी धर्म में प्रवृत्ति होती है और न ही आत्म-साक्षात्कार में रुचि। इसे शब्दान्तर से अवसादग्रस्त चित्त भी कहा जा सकता है। जैसे काले बादलों से ढका सूर्य प्रकाश नहीं दे सकता, वैसे ही मूढ़ चित्त आत्मा के स्वरूप को व्यक्त नहीं कर पाता।

#### 3. विक्षिप्त चित्त

यह चित्त सतोगुण से प्रभावित होता है, किन्तु अभी भी उसमें एकाग्रता की पूर्ण स्थिति नहीं आई होती। यह कभी-कभी अच्छे मार्ग पर चलता है, कभी भटक जाता है। विक्षिप्त चित्त योगाभ्यास में प्रवृत्त तो होता है, परंतु नियमित साधना के अभाव में उसमें स्थिरता नहीं होती। यह नये साधको की प्रारंभिक स्थिति कही जा सकती है। जैसे तिर्यक बहती हुई नदी कभी दिशा पकड़ती है, कभी इधर-उधर मुड़ जाती है, वैसे ही यह चित्त लक्ष्य की ओर कभी अग्रसर होता है, तो कभी भटकता है।

#### 4. एकाग्र चित्त

यह चित्त निरन्तर योगाभ्यास एवं ध्यान के अभ्यास से विकसित होता है। इसमें वृत्तियाँ केवल एक ही विषय या लक्ष्य पर केन्द्रित रहती हैं। एकाग्र चित्त वाले साधक का मन विचलित नहीं होता। वह केवल ईश्वर, आत्मा या किसी पवित्र ध्येय पर केन्द्रित रहता है। यह अवस्था सामान्य ध्यानावस्था कहलाती है। जैसे अग्नि की तीव्र ज्वाला एक बिंदु पर केन्द्रित होने से शीघ्र लक्ष्य को भस्म कर देती है, वैसे ही यह चित्त आत्मज्ञान की दिशा में तीव्र गति से बढ़ने लगता है।

#### 5. निरुद्ध चित्त

यह योग की अंतिम अवस्था है जहाँ चित्त की सभी वृत्तियाँ पूर्णतया नियंत्रित हो जाती हैं। यह अविचल समाधि की अवस्था है। इस अवस्था में साधक द्रष्टा के स्वरूप में स्थित हो जाता है -‘तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्’। न तो कोई चित्तवृत्ति उठती

है और न ही कोई विक्षेप होता है। केवल स्वरूप ही प्रकाशित होता है। जैसे शांत जल में पूर्ण चंद्रमा का प्रतिबिंब स्पष्ट दिखाई देता है, वैसे ही निरुद्ध चित्त में आत्मा का ज्ञान स्पष्ट रूप से अनुभव होने लगता है।

अतः एक साधक को अपने चित्त की अवस्था का निरंतर निरीक्षण करना चाहिए और उसे क्षिप्त, मूढ़ या विक्षिप्त से निकालकर एकाग्र और फिर निरुद्ध की ओर ले जाना चाहिए। यही योग का वास्तविक मार्ग है - चित्त को योग के लिए अयोग्य से योग्य बनाना।

#### **स्मरणीय बिंदु-**

- चित्त की पाँच वृत्तियाँ हैं।
- प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृति प्रमुख वृत्तियाँ हैं।
- योग का उद्देश्य चित्तवृत्ति निरोध है।

#### **शब्दावली-**

- चित्त - मन
- वृत्ति - मानसिक क्रिया
- स्मृति - स्मरण शक्ति
- प्रमाण - यथार्थ ज्ञान

#### **5 अंक के प्रश्न-**

1. चित्त क्या है?
2. चित्तवृत्ति किसे कहते हैं?
3. पाँच वृत्तियों के नाम लिखिए।
4. प्रमाण वृत्ति क्या है?
5. स्मृति वृत्ति का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

#### **15 अंक के प्रश्न-**

1. चित्त की वृत्तियों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. प्रमाण, विपर्यय एवं विकल्प का वर्णन कीजिए।
3. निद्रा एवं स्मृति वृत्ति का विश्लेषण कीजिए।
4. चित्तवृत्ति निरोध का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. योग साधना में चित्त की भूमिका का विवेचन कीजिए।

#### **MCQ-**

1. पतंजलि के अनुसार चित्त की वृत्तियाँ कितनी हैं?

(क) तीन

(ख) चार

(ग) पाँच

(घ) छह

2. निम्न में से कौन चित्तवृत्ति है?

(क) प्रमाण

(ख) विपर्यय

(ग) स्मृति

(घ) उपरोक्त सभी

3. योग का उद्देश्य क्या है?

(क) चित्तवृत्ति निरोध

(ख) धन प्राप्ति

(ग) युद्ध

(घ) व्यापार

## खण्ड-4 वृत्ति निरोध एवं समाधि के प्रकार

### इकाई-4.1 चित्त की वृत्तियाँ

उद्देश्य-

1. चित्त की विभिन्न भूमियों को समझना।
2. योग साधना में चित्त की अवस्था का अध्ययन करना।
3. समाधि प्राप्ति में चित्त की भूमिका को जानना।

वृत्तयः पञ्चतय्यः क्लिष्टाऽक्लिष्टाः॥ 1.5॥

पदच्छेदः वृत्तयः , पञ्चतय्यः , क्लिष्टाः , अक्लिष्टाः।

शब्दार्थः वृत्तयः -(उपर्युक्त) वृत्तियाँ, पञ्चतय्यः - पाँच प्रकार (की होती हैं), क्लिष्टाः - क्लेशयुक्त (और), अक्लिष्टाः - क्लेशशून्य (भेदोंवाली)।

व्यासभाष्यम् - क्लेशहेतुकाः कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूताः क्लिष्टाः। ख्यातिविषया गुणाधिकार. विरो- धिन्योऽक्लिष्टाः। क्लिष्टप्रवाहपतिता अप्यक्लिष्टाः। क्लिष्टच्छिद्रेष्वप्यक्लिष्टा भवन्ति, अक्लिष्टच्छिद्रेषु क्लिष्टा इति। तथाजातीयकाः संस्कारा वृत्तिभिरेव क्रियन्ते संस्कारैश्च वृत्तय इति। एवं वृत्तिसंस्कारचक्रम. निशमावर्तते। तदेवंभूतं चित्तमवसिताधिकारमात्मकल्पेन व्यवतिष्ठते प्रलयं वा गच्छतीति॥५॥

भाष्यानुवादः - जिन वृत्तियों के अविद्या आदि क्लेश कारण हैं तथा जो पापकर्म और शुभकर्मों की जननी हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं। जो वृत्तियाँ विवे. कख्याति को उत्पन्न करती हैं और गुणों के जन्म देने के सामर्थ्य का नाश करती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के व्यापार काल में यदि अक्लिष्ट वृत्तियाँ आ जाती हैं तो भी वे अक्लिष्ट ही रहती हैं। क्लिष्ट वृत्तियों के मध्य-मध्य में उभरी हुई अक्लिष्ट वृत्तियाँ अक्लिष्ट ही रहती हैं। अक्लिष्ट वृत्तियों के व्यापार में क्लिष्ट वृत्तियाँ आ जाती हैं तथापि वे क्लिष्ट ही रहती हैं। वृत्तियाँ जिस प्रकार की होती हैं वे उसी प्रकार के अपने सजातीय संस्कारों को उत्पन्न करती हैं। इस प्रकार से वृत्तियों से संस्कार और संस्कारों से पुनः वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार से वृत्ति और संस्कार का चक्र ऐसे ही रात दिन चलता रहता है॥४॥

महर्षि पतंजलि ने समाधिपाद के दूसरे ही सूत्र में वृत्ति निरोध की बात की है, लेकिन ये वृत्तियाँ क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से दो और संख्या अनुसार पांच प्रकार की हैं अर्थात् प्रत्येक वृत्ति क्लिष्ट और अक्लिष्ट दो प्रकार से है।

सूत्र में क्लिष्ट और अक्लिष्ट ये दो शब्द आये हैं जिन्हें विधिवत् समझना अत्यावश्यक है। योग दर्शन का पूरा विज्ञान वृत्ति. निरोध पर आधारित है इसलिए वृत्तियों के विषय में सबसे अधिक स्पष्टता होनी चाहिए, क्योंकि जब तक हम समस्या को अच्छी प्रकार से नहीं समझेंगे तब तक उसका निदान या निराकरण कैसे कर पाएंगे?

इसलिए आइये समझते हैं कि क्लिष्ट वृत्तियाँ क्या होती हैं- व्यास भाष्य के अनुसार ऐसी वृत्तियाँ जो अविद्यादि पांच क्लेशों (अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) को जन्म देने वाली होती हैं और जो कर्म जनित संस्कारों की उर्वरा भूमि होती हैं वे सभी वृत्तियाँ क्लिष्ट हैं। सीधे शब्दों में कहें तो जो दुःख देती हैं वे क्लिष्ट वृत्तियाँ हैं और निरोध करने योग्य हैं। ऐसी वृत्तियाँ जो विवेक से उत्पन्न ज्ञान देने वाली तथा सत्त्व, रजस और तमस के प्रभाव को रोकने वाली होती हैं वे अक्लिष्ट वृत्तियाँ होती हैं अर्थात् ऐसी वृत्तियाँ जो सुख प्रदान करने वाली होती हैं उन्हें अक्लिष्ट वृत्तियाँ कहते हैं। अक्लिष्ट और क्लिष्ट वृत्तियाँ भी एक दूसरे में स्वतंत्र सत्ता लिए साथ-साथ भी उत्पन्न हो जाती हैं। अक्लिष्ट एवं क्लिष्ट वृत्तियों से अक्लिष्ट और क्लिष्ट संस्कार भी चित्त में बनते एवं संग्रहित होते रहते हैं। वृत्ति और फिर उससे निर्मित एवं संग्रहित संस्कार मनुष्य को संसार में चलायमान रखते हैं जब तक कि वृत्ति निरोध से समाधि घटित नहीं हो जाती। साधक के गुणातीत होने पर ही आत्मा अपने विशुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होती है। आगे जब सूत्र में पांच प्रकार की वृत्तियों को उनकी परिभाषा के साथ समझेंगे तो साथ ही यह भी समझने का प्रयास करेंगे कि कैसे एक ही वृत्ति दुःख देने वाली है और सुख देने वाली भी। यदि साधक वृत्तियों के क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद को भली भाँति समझ ले तो जीवन जीने का आनंद और जीवन मुक्ति का आनंद दोनों साथ साथ प्राप्त कर सकता है।

प्रमाणविपर्ययविकल्पनिद्रास्मृतयः॥ 1.6॥

पदच्छेदः प्रमाण , विपर्यय , विकल्प , निद्रा , स्मृतयः।

शब्दार्थः प्रमाण - प्रमाण, विपर्यय- विपर्यय, विकल्प- विकल्प, निद्रा- निद्रा (और)

स्मृतयः - स्मृति।

क्लिष्ट और अक्लिष्ट भेद से वृत्तियाँ पांच प्रकार की होती हैं।

1. प्रमाण
2. विपर्यय
3. विकल्प
4. निद्रा और
5. स्मृति

क्या यही 5 वृत्तियाँ हैं या इनके अतिरिक्त भी वृत्तियाँ हैं? ऐसा प्रश्न मन में उठ सकता है। मनन करने पर लगता है कि महर्षि ने सब प्रकार से विचार करके ही मूलभूत 5 प्रकार की वृत्तियों को यहां पर कहा है। पांच वृत्तियों में ही अन्य वृत्तियों का समावेश हो जाता है और इन पांचों प्रकार की वृत्तियों के क्लिष्ट रूप के रुकने से अन्य सभी वृत्तियों के क्लिष्ट रूपों का भी निरोध हो जाता है।

योग दर्शन में एक भी शब्द अतिरिक्त एवं अन्यथा नहीं कहा गया है और इस शास्त्र की सबसे बड़ी विशेषता है। केवल शब्द ही नहीं अपितु भाव भी अतिरिक्त या अन्यथा नहीं है। महर्षि पतंजलि ने योग दर्शन को एक विशुद्ध विज्ञान की दृष्टि से रचा है और इसकी पुष्टि पग पग पर शास्त्र में मिलती है।

वृत्तियों के सम्बन्ध में एक मूलभूत नियम समझ लेना अत्यावश्यक है। यदि इसे नहीं समझा गया तो योग मार्ग में प्रवृत्ति भी नहीं हो सकती, योग मार्ग पर यात्रा भी नहीं की जा सकती और गंतव्य तो फिर कहीं दिखाई भी नहीं देगा।

- 1- “जो वृत्ति साधक को स्वयं के स्वरूप एवं परमात्मा की ओर उन्मुख करती है, वह वृत्ति अक्लिष्ट है अर्थात् उसे रोकना नहीं अपितु प्रयत्नपूर्वक बढ़ाना चाहिए।”
- 2- “जो वृत्ति साधक को स्वयं के स्वरूप एवं परमात्मा से विमुख करती हो, वह क्लिष्ट वृत्ति कहलाती है अर्थात् ऐसी वृत्तियों को व्यवहारकाल में बलपूर्वक रोकने, नष्ट करने का निरंतर अभ्यास करना चाहिए।”

इससे यह स्पष्ट होता है कि सभी 5 प्रकार की मूलभूत वृत्तियों के सभी भेदों का निरोध आवश्यक नहीं है, क्योंकि जब तक हम गन्तव्य (अंतिम लक्ष्य) तक नहीं पहुँचते हैं तब तक यात्रा तो करनी पड़ेगी और जीवन की इस यात्रा में बिना इन पांच प्रकार की मूलभूत वृत्तियों का सहारा लिए हम योग के मार्ग पर, भगवान के मार्ग पर आगे नहीं बढ़ सकते हैं। आगे के सूत्रों में क्रमशः बताएंगे कि कैसे एक एक वृत्ति सुख दुख दोनों देने वाली होती है।

**प्रत्यक्षानुमानागमाः प्रमाणानि॥१.७॥**

**पदच्छेदः** प्रत्यक्ष, अनुमान, आगमाः, प्रमाणानि।

**शब्दार्थः** प्रत्यक्ष- प्रत्यक्ष, अनुमान- अप्रत्यक्ष पदार्थ का ज्ञान (और), आगमाः - वेद, शास्त्र तथा आप्त-पुरुष के वचन - (ये तीन), प्रमाणानि - प्रमाण (वृत्तियाँ हैं)।

**व्यासभाष्यम्-** इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागात्तद्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्तिः प्रत्यक्षं प्रमाणम्। फलमविशिष्टः पौरुषेयश्चित्तवृत्तिबोधः। बुद्धेः प्रतिसंवेदी पुरुष इत्युपरिष्ठादुपपादयिष्यामः। अनुमेयस्य तुल्यजातीयेष्वनुवृत्तो भिन्नजातीयेभ्यो व्यावृत्तः संबन्धो यस्तद्विषया सामान्यवधारणप्रधाना वृत्तिरनुमानम्। यथा देशान्तरप्राप्तेर्गतिमच्चन्द्रतारकं चैत्रवत्, विन्ध्यश्चाप्राप्तिरगतिः। आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थः परत्र स्वबोधसंक्रान्तये शब्देनोपदिश्यते, शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः। यस्याश्रद्धेयार्थो वक्ता न दृष्टानुमितार्थः स आगमः प्लवते, मूलवक्तरि तु दृष्टानुमितार्थे निर्विप्लवः स्यात्॥७॥

**भाष्यानुवादः** - इन्द्रियप्रणाली के द्वारा चित्त का बाहरी वस्तु से सम्पर्क होने के कारण उस विषय वाली प्रधानता से सामान्य विशेषात्मक पदार्थ के विशेष धर्म का निश्चय करने वाली वृत्ति ‘प्रत्यक्ष प्रमाण’ है। उस प्रमाण के समान रूप वाला पुरुष का जो ज्ञान, वह ही प्रत्यक्ष प्रमाण का फल है। पुरुष, बुद्धि में उतरे चित्र का अनुभव करने वाला होता है। अनुमेय के तुल्यजातीय (समान जातीय) वस्तु में अनुवृत्त (अनुगत) और भिन्नजातीय वस्तु से व्यावृत्त (हटी हुई) जो सम्बन्ध है, उसको विषय बनाने वाली, पदार्थ के सामान्य-धर्म को प्रधान-रूप से बताने वाली वृत्ति ‘अनुमान प्रमाण’ है। उदाहरण जैसे कि कोई वस्तु एक स्थान में हो वही कालान्तर में भिन्न स्थान (देश) में दिखाई दे तो इससे यह पता चलता है कि उस वस्तु में गति है। जैसे चन्द्रमा और तारे एक देश में दृष्टिगत होकर कालान्तर में अन्य देश में देखे जाते हैं इससे चन्द्रमा और तारों में गति सिद्ध होती है, जिस प्रकार चैत्र नामक व्यक्ति में गति सिद्ध है। इसी प्रकार विन्ध्य पर्वत एक देश से दूसरे देश में दिखाई नहीं देता अतः उसमें गति नहीं है, यह सिद्ध

होता है। आप्त के द्वारा प्रत्यक्ष अथवा अनुमान से जाना हुआ जो पदार्थ वा विषय है, दूसरे को देने के लिए शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है। (आप्त के उस) शब्द से श्रोता की पदार्थ विषयक जो वृत्ति है वह श्रोता के लिए 'आगम प्रमाण' है। जिस आगम का वक्ता श्रद्धा के योग्य नहीं है और जिस वक्ता ने प्रत्यक्ष वा अनुमान से पदार्थ को नहीं जाना है वह आगम प्रमाण कोटि से गिर जाता है। मूल वक्ता (आप्त) के द्वारा जिसने पदार्थ के स्वरूप को प्रत्यक्ष वा अनुमान प्रमाण से जाना है, ऐसे सत्यवक्ता का वचन प्रमाण कोटि से नहीं गिरता है॥७॥

योगदर्शन में प्रमाण के तीन प्रकार कहे गए हैं।

1. प्रत्यक्ष
2. अनुमान
3. आगम ( शब्द प्रमाण )

जिस साधन या उपाय के माध्यम से किसी भी वस्तु के स्वरूप, एवं स्थिति की स्पष्टता का ठीक ठीक ज्ञान होता है उसे प्रमाण कहते हैं। महर्षि पतंजलि ने 5 वृत्तियों में सबसे पहले प्रमाण को ही वृत्ति कहा है। ये पांच वृत्तियों का एक क्रम है-

1. प्रमाण
2. विपर्यय
3. विकल्प
4. निद्रा
5. स्मृति

यथार्थ ज्ञान (प्रमाण-प्रत्यक्ष, अनुमान और आगम) से प्रारंभ होकर गलत, मिथ्या या उल्टा ज्ञान (विपर्यय) फिर केवल आभासी ज्ञान, बनावटी ज्ञान जो केवल शब्दों तक सीमित है वास्तव में उसका कोई अस्तित्व नहीं है (विकल्प) और सब प्रकार के ज्ञान जो जाग्रत एवं स्वप्न में होते हैं उस ज्ञान का अभाव होने पर भी जो एक नई अनुभूति होती है (निद्रा) और अंत में पूर्व में अनुभव किये गए विषयों (देखे गए, सुने गए, समझे गए, स्वाद लिए गए, बोले गए, किये गए, स्पर्श किये गए एवं गंध महसूस किए गए) का फिर से स्मरण (स्मृति) यह वृत्ति का एक विशेष क्रम है जिसमें से साधक को दुख देने वाली (क्लिष्ट) वृत्तियों को रोकने का निरंतर अभ्यास एवं वैराग्यपूर्वक विशेष प्रयत्न करना ही होता है। अब आईये सबसे पहले समझते हैं प्रत्यक्ष प्रमाण को।

प्रति+अक्ष=प्रत्यक्ष प्रति का अर्थ होता है सामने और अक्ष का अर्थ होता है आंख।

अतः प्रत्यक्ष का अर्थ हुआ "आंख के सामने"। आंख से यहां पर सभी ज्ञानेन्द्रियों को कहा गया है। प्रत्यक्ष का बड़ा अर्थ हुआ कि जो ज्ञान 5 ज्ञानेन्द्रियों का विषय (रूप, रस, गंध, स्पर्श और श्रवण) से सीधा संपर्क होने पर होता है उसे प्रत्यक्ष प्रमाण कहते हैं। यह वृत्ति भी दुख देने वाली और सुख देने वाली हो सकती है अर्थात् योग मार्ग में ले जाने वाली और योग मार्ग से विमुख करने वाली हो सकती है। इसलिए साधक को चाहिए कि विवेकपूर्वक भेद करके उन्हीं प्रत्यक्ष प्रमाण को जीवन में स्थान दें जो एकाग्र या निरुद्ध अवस्था में उसे लेकर जाएं जहां से समाधि की अवस्था को पाया जा सके। अब प्रश्न यह उठता है कैसे पता चले कि कौन सी प्रमाण अंतर्गत प्रत्यक्ष वृत्ति क्लिष्ट है और कौन सी अक्लिष्ट!

इस जगत में शुभ भी प्रत्यक्षपूर्वक परिदृष्ट होता है और अशुभ भी। शुभ का प्रत्यक्ष होना चित्त को शांत और आनंदित करता है अर्थात् एकाग्रता की ओर ले जाता है वहीं दूसरी ओर अशुभ का प्रत्यक्ष होना चित्त को बाहर और भीतर से अशांत और क्षोभित करता है अर्थात् चित्त को चंचलता की ओर ले जाता है। ये एक ही प्रत्यक्ष अक्लिष्ट और क्लिष्ट भेद से सुख और दुख देने वाले हो जाते हैं।

**अक्लिष्ट प्रत्यक्ष:** किसी को सेवा करते देखना, भगवतनाम् का संगीत सुनना, जिससे तन-मन प्रफुल्लित हो ऐसी सुगंध सूंघना, तन और मन दोनों हृष्ट पुष्ट हों ऐसा भोजन का स्वाद लेना आदि।

**क्लिष्ट प्रत्यक्ष:** किसी होती हुई हिंसा को देखना, अश्लील दृश्य देखना, अश्लील और भड़काऊ संगीत सुनना, तामसिक गंध सूंघना, अभक्ष्य भोजन जैसे मांस, मदिरा आदि खाने का स्वाद लेना यह सब क्लिष्ट प्रत्यक्ष वृत्ति है और दुख देने वाली है।

**विपर्ययो मिथ्याज्ञानम् अतद्रूपप्रतिष्ठम्॥ 1.8॥**

**पदच्छेद:** विपर्ययः, मिथ्या, ज्ञानम्, अतद्रूप, प्रतिष्ठम्।

**शब्दार्थः** विपर्ययः- विपर्यय (का अर्थ है), मिथ्या- मिथ्या, ज्ञानम्- ज्ञान (जो), अतद्रूप- उस (वस्तु के) स्वरूप में, प्रतिष्ठम्- प्रतिष्ठित (नहीं है)।



व्यासभाष्यम् - स कस्मान्न प्रमाणम् ? यतः प्रमाणेन बाध्यते। भूतार्थविषयत्वात्प्रमाणस्य। तत्र प्रमाणेन बाधनमप्रमाणस्य दृष्टम्। तद्यथा-द्विचन्द्रदर्शनं सद्विषयेणैकचन्द्रदर्शनेन बाध्यत इति। सेयं पञ्चपर्व भवत्यविद्या, अविद्यास्मितारागद्वेषाभिनिवेशाः क्लेशा इति। एत एव स्वसंज्ञाभिस्तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति, एते चित्तमलप्रसङ्गेनाभिधास्यन्ते॥८॥

**भाष्यानुवादः** - विपर्यय वृत्ति को प्रमाण क्यों नहीं माना जाता? क्योंकि वह प्रमाण से खण्डित हो जाती है। प्रमाण वास्तविक विषय वाला होता है (अर्थात् वस्तु का स्वरूप जैसा होता है उसको वैसा ही जनाता है)। प्रमाण के द्वारा अप्रमाण खण्डित देखा जाता है। जैसे नेत्रदोष होने पर दो चन्द्रमा दिखाई देते हैं, वह एक चन्द्रमा का दो चन्द्रमाओं के रूप में दिखाई देना वा. स्तविक एक चन्द्रमा के देखने से अप्रमाणित हो जाता है। वह यह पाँच प्रकार की अविद्या है- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश। इन्हीं को तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्ध तामिस्र नाम से कहा जाता है। इनको चित्तमलों के प्रसङ्ग में कहा जायेगा॥८॥

पाँच वृत्तियों में से दूसरी वृत्ति है विपर्यय। विपर्यय का सीधा अर्थ होता है, मिथ्याज्ञान अर्थात् गलत या उल्टा ज्ञान। व्यास. भाष्य के अनुसार कहा गया कि विपर्यय प्रमाण क्यों नहीं है तो उत्तर दिया कि यह प्रमाण के द्वारा खण्डित हो जाता है इसलिए यह प्रमाण नहीं है।

मिथ्याज्ञान, हमारी आध्यात्मिक उन्नति में सर्वथा बाधक है, क्योंकि यह धोखा दे सकता है और गंतव्य अर्थात् मंजिल तक भी नहीं पहुँचा सकता है। ईश्वर एवं आत्मसाक्षात्कार जैसी साधना तो यथार्त ज्ञान पर ही की जा सकती है इसलिए विपर्यय के स्वरूप को ठीक ठीक समझना योग मार्ग पर अत्यंत आवश्यक है।

प्रमाण जिसे साक्ष्य भी कह दिया जाता है, वह किसी भी विषय, वस्तु या परिस्थिति का वास्तविक ज्ञान कराता है और वहीं विपर्यय ठीक उल्टा ज्ञान कराता है।

**उदाहरण के लिए**- आप राह में चल रहे हैं, हल्का अंधेरा है और राह में एक रस्सी का टुकड़ा पड़ा हुआ है। उसके आकार टेढ़े मेढ़ेपन से सांप होने का मिथ्याज्ञान पैदा हो सकता है। अब वहां सांप तो है नहीं लेकिन आप उसे सांप समझकर भयभीत हो सकते हैं। लेकिन पास जाने से परीक्षण करने पर अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा आप रस्सी में सांप के मिथ्याज्ञान को हटा सकते हैं लेकिन जबतक आप प्रत्यक्ष प्रमाण के द्वारा रस्सी को रस्सी नहीं देख लेते तब तक वह मिथ्याज्ञान बना रहेगा। इसलिए महर्षि पतंजलि ने विपर्यय को एक वृत्ति कहा है। ऐसे दैनिक जीवन में कई उदाहरण मिल जाते हैं- अंधेरे में पेड़ की टूट में व्यक्ति के सर का मिथ्याज्ञान हो जाना।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश ये पाँच प्रकार के क्लेश विपर्यय के ही रूप हैं। इन पाँच प्रकार के क्लेशों के विषय में आगे विस्तार से समझेंगे।

**क्लेश का सीधा अर्थ होता है**- दुःख। दुःख ऐसी चीज है जो सबके जीवन में किसी न किसी रूप में आती ही है। योगदर्शन संपूर्णता से दुःख एवं जिससे दुख उत्पन्न होते हैं उन कारणों एवं उनके निवारण किस प्रकार होंगे उनकी विस्तृत चर्चा करता है। आगे के सूत्रों एवं प्रकरणों में यह धीरे-धीरे स्पष्ट होता चला जायेगा।

**शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः॥१.९॥**

**पदच्छेदः** शब्द , ज्ञान , अनुपाती , वस्तु , शून्यः , विकल्पः।

**शब्दार्थः** शब्द- (जो ज्ञान) शब्दजनित, ज्ञान- ज्ञान के, अनुपाती- साथ-साथ होनेवाला है; (और), वस्तु- वस्तु (की सत्ता से), शून्यः- शून्य (हो, वह), विकल्पः- विकल्प अर्थात् कल्पना है।

**व्यासभाष्यम्**- स न प्रमाणोपारोही, न विपर्ययोपारोही च। वस्तुशून्यत्वेऽपि शब्दज्ञानमाहात्म्य- निबन्धनो व्यवहारो दृश्यते। तद्यथा चैतन्यं पुरुषस्य स्वरूपमिति। यदा चित्तिरेव पुरुषस्तदा किमत्र केन व्यपदिश्यते, भवति च व्यपदेशो वृत्तिः। यथा चैत्रस्य गौरि. ति। तथा प्रतिषिद्धवस्तुधर्मा निष्क्रियः पुरुषः, तिष्ठति बाणः स्थास्यति स्थित इति। गतिनिवृत्तौ धात्वर्थमात्रं गम्यते। तथानुत्प. तिधर्मा पुरुष इति उत्पत्तिधर्मस्याभावमात्रमवगम्यते न पुरुषान्वयी धर्मः। तस्माद्विकल्पितः स धर्मस्तेन चास्ति व्यवहार इति॥९॥

**भाष्यानुवादः** - यह वृत्ति न तो प्रमाण के अन्तर्गत आती है और न ही विपर्यय के अन्तर्गत। वास्तविक अर्थ से रहित होने पर भी शब्दज्ञान के कारण इस का व्यवहार देखा जाता है। जैसे कि 'चैतन्य पुरुष का स्वरूप है'। जबकि चैतन्य ही पुरुष है तो कौन वस्तु किस वस्तु के द्वारा विशेषित की जा रही है? और इस प्रकार विशेषण विशेष्य का कथन करने पर एक प्रकार का ज्ञान होता है। यह ऐसी ही बनती है जैसे की चैत्र नामक व्यक्ति की गौ कहने पर वृत्ति बनती है। (अर्थात् ज्ञान होता है कि गौ विशेष्य है

और चैत्र उसका विशेषण है)। (जैसे चैतन्य पुरुष का स्वरूप है इस उदाहरण में पुरुष में चैतन्य धर्म को युक्त करके कहा जाता है) उसी प्रकार वस्तुधर्म से हीन करके भी कहा जाता है। उदा- पुरुष निष्क्रिय है। (जैसे पृथिवी परिवर्तन धर्मवाली है जीवात्मा वैसा परिवर्तन धर्म वाला नहीं है)। इसी प्रकार अन्य उदाहरण बाण रुकता है, रुकेगा, रुक गया आदि। ये सब विकल्प वृत्तियाँ हैं। ये सब वृत्तियाँ विकल्प क्यों हैं, इस पर विचार करते हैं। देखिए यहाँ गति-निवृत्ति होने पर धात्वर्थ मात्र जाना जाता है। यहा बाण में कोई क्रिया नहीं है पुनरपि ठहरना = स्थित है, इस शब्द से क्रिया जैसा व्यवहार होता है। वैसे ही अनुत्पत्ति धर्म वाला पुरुष है। इस कथन से उत्पत्ति धर्म का अभाव मात्र जाना जाता है। पुरुष में रहने वाला कोई धर्म नहीं जाना जाता। यहा पुरुष में उत्पत्ति धर्म का अभाव कल्पित किया जाता है और उस कल्पितधर्म का 'विकल्प' से व्यवहार होता है॥९॥

विकल्प न तो प्रमाण है और न ही विपर्यय। विकल्प एक आभासी ज्ञान है जो सुनने से ज्ञान जैसा अनुभव कराता है लेकिन वास्तविक रूप से वहाँ कोई वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति होती नहीं है। यह केवल शाब्दिक होता है, ध्वनित होता है। विकल्प एक ऐसी शक्ति है जहाँ शब्दों के माध्यम से कुछ भी कल्पित किया जा सकता है जिसकी कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती।

शास्त्रों में इसे अनेक उदाहरणों से प्रस्तुत किया गया है जैसे-बन्ध्या का पुत्र, आकाश का फूल, पुरुष की चेतनता, चैतन्य पुरुष का स्वरूप है।

कहीं-कहीं पर विशुद्ध व्यवहार के लिए भी विकल्प वृत्ति का प्रयोग होता है और कहीं कहीं अज्ञानवश यह वृत्ति निर्मित हो जाती है। क्लिष्ट और अक्लिष्ट भाव से विकल्प वृत्ति दुख और सुख देने वाली होती।

**अभावप्रत्ययालम्बना वृत्तिर्निद्रा॥ 1.10॥**

**पदच्छेदः** अभाव , प्रत्यय , आलम्बना , वृत्तिः , निद्रा।

**शब्दार्थः** अभाव- अभाव (के ज्ञान की), प्रत्यय- प्रतीति (को), आलम्बना- अवलम्बन (ग्रहण) करने वाली, वृत्तिः - वृत्ति (को), निद्रा - निद्रा अर्थात् सुषुप्ति कहते हैं।

**व्यासभाष्यम्-** सा च संप्रबोधे प्रत्ययमर्शात्प्रत्ययविशेषः। कथम् ? सुखमहमस्वाप्सम्। प्रसन्नं मे मनः प्रज्ञां मे विशारदीकरोति। दुःखमहमस्वाप्सं स्त्यानं मे मनो भ्रमत्यनवस्थितम्। गाढं मूढोऽहमस्वाप्सम्। गुरुणि मे गात्राणि क्लान्तं मे चित्तम्। अलसं मुषितमिव तिष्ठतीति। स खल्वयं प्रबुद्धस्य प्रत्ययमर्शो न स्यादसति प्रत्ययानुभवे। तदाश्रिताः स्मृतयश्च तद्विषया न स्युः। तस्मात्प्रत्ययविशेषो निद्रा। सा च समाधावितरप्रत्ययवन्निरोद्धव्येति॥१०॥

**भाष्यानुवादः** (निद्रा से) जागने पर निद्रा सम्बन्धी स्मृति के आने से निद्रा भी एक प्रकार का विशेष ज्ञान (वृत्ति) है। कैसे ? मैं सुख से सोया, मेरा मन प्रसन्न, मेरी बुद्धि को निर्मल कर रहा है। मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अकर्मण्य चञ्चल होकर घूम रहा है। मैं गाढनिद्रा में मूढावस्था में सोया। मेरे अङ्ग भारी हो रहे हैं। मेरा चित्त थका हुआ है। जागे हुए मनुष्य का ऐसा स्मरण इस प्रकार के अनुभवात्मक ज्ञान के बिना नहीं होना चाहिए। उस अनुभव के आश्रित रहने वाली स्मृतियाँ भी उसके विषय में नहीं होनी चाहिए। इस कारण निद्रा एक विशेष प्रकार का ज्ञान अथवा वृत्ति है। वह (निद्रा) समाधि अवस्था में अन्य वृत्तियों के समान निरोध करने योग्य है॥१०॥

सोकर जागने पर नींद की स्मृति आने से निद्रा को भी महर्षि पतंजलि ने वृत्ति कहा है। व्यास भाष्य में पूछा गया कि निद्रा कैसे एक विशेष ज्ञान है? तो वेदव्यास जी कहते हैं कि- मुझे अच्छी नींद आई, मेरा मन प्रसन्न और हल्का सा महसूस हो रहा है अथवा मेरे अंग भारी लग रहे हैं, तमस और चंचलता मन में छा रही है, पूरा शरीर अलसाया है, रात्रि को नींद अच्छे से नहीं आई, इस प्रकार का ज्ञान निद्रा से जागने के बाद बिना अनुभव के नहीं हो सकता। इसलिए निद्रा को एक प्रकार की वृत्ति कहा है। अक्लिष्ट और क्लिष्ट के भेद से यह वृत्ति भी वरण एवं निराकरण योग्य है। शास्त्रों में चेतना के अनुसार मनुष्य की चार अवस्थाएं होती हैं-जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, एवं तुरीय।

**जाग्रत अवस्थाः** जाग्रत वह अवस्था है जिसमें व्यक्ति पूरी तरह जागा हुआ होकर अपने सभी कर्म विवेकपूर्वक, बोधपूर्वक सम्पन्न करता है। भला और बुरे में भेद करके जीता है।

**स्वप्नावस्थाः** स्वप्नावस्था वह है जिसमें व्यक्ति कुछ कुछ जगा हुआ और कुछ सोया हुआ, जाग्रत अवस्था में किये घे कर्मों एवं उन कर्मों से निर्मित संस्कारों के वशीभूत होकर विभिन्न विषयों को अनुभव करता है और स्वप्न देखता है।

**सुषुप्तिः** जब न तो व्यक्ति जगा हुआ होता है और न ही सोया हुआ वह तमोगुण आश्रित अवस्था सुषुप्ति की होती है। इस अवस्था में रजस गुण का अधिकतम अभाव होता है और सत्त्व का एक सहज प्रवाह होता है जिसके कारण अचंचल निद्रा, अविचलित निद्रा के प्रभाव से व्यक्ति कहता है कि आज मैं सुखपूर्वक सोया।

**तुरीयावस्थाः** तुरीय का अर्थ चतुर्थ होता है। तीनों से पार होने के कारण इसे तुरीय कहते हैं।

**अनुभूतविषयासंप्रमोषः स्मृतिः ॥1.11॥**

**पदच्छेदः** अनुभूत , विषय , असम्प्रमोषः , स्मृतिः।

**शब्दार्थः** अनुभूत - (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प और निद्रा के) अनुभव किए हुए, विषय - विषय (का), असम्प्रमोषः - न छिपना अर्थात् संस्कारवश उनका ज्ञान के स्तर पर प्रकट हो जाना, स्मृतिः - स्मृति (कहलाता है)।

**व्यासभाष्यम्:-** किं प्रत्ययस्य चित्तं स्मरति आहोस्विद्विषयस्येति? ग्राह्योपरक्तः प्रत्ययो ग्राह्यग्रहणोभयाकारनिर्भासस्तज्जातीयकं संस्कारमारभते। स संस्कारः स्वव्यञ्जकाञ्जनस्तदाकारामेव ग्राह्यग्रहणोभयात्मिकां स्मृतिं जनयति।

तत्र ग्रहणाकारपूर्वा बुद्धिः। ग्राह्याकारपूर्वा स्मृतिः। सा च द्वयी भावितस्मर्तव्या चाभावितस्मर्तव्या च। स्वप्ने भावितस्मर्तव्या। जाग्रत्समये त्वभावितस्मर्तव्येति। सर्वाश्चैताः स्मृतयः प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतिनामनुभवात्प्रभवन्ति। सर्वाश्चैता वृत्तयः सुखदुःखमोहात्मिकाः। सुखदुःखमोहाश्च क्लेशेषु व्याख्येयाः॥११॥

**भाष्यानुवादः-** चित्त क्या ज्ञान का स्मरण करता है अथवा वस्तु का ? वस्तु के स्वरूप से रंगा हुआ ज्ञान, वस्तु और ज्ञान दोनों के स्वरूप को प्रकट करने वाला, उसी प्रकार के संस्कार को उत्पन्न करता है। वह संस्कार, अपने उद्बोधक से उद्बुद्ध होकर उसी स्वरूपवाली = वस्तु एवं ज्ञान - इन दोनों के स्वरूपवाली स्मृति को उत्पन्न करता है।

इस प्रसंग में, अनुभव-ज्ञान प्रधान होता है। (और) स्मृति वस्तु प्रधान होती है। वह (स्मृति) दो प्रकार की होती है। कल्पित विषय को लेकर होनेवाली और यथार्थ विषय को लेकर होनेवाली। स्वप्न में होनेवाली स्मृतियाँ कल्पित विषय को लेकर और जाग्रत् में होनेवाली स्मृतियाँ यथार्थ विषय को लेकर होती हैं। ये सारी स्मृतियाँ प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृतियों के अनुभव से उत्पन्न होती हैं। ये सभी वृत्तियाँ सुख, दुःख और मोह स्वरूप वाली होती हैं। सुख दुःख और मोह की व्याख्या क्लेशों के प्रसंग (योगदर्शन २/३) में करने योग्य है॥११॥

अब बात करते हैं अंतिम और क्रम में पांचवीं वृत्ति की, जिसे महर्षि ने स्मृति के नाम से कहा है। योगदर्शन के अनुसार स्मृति का अर्थ है-अपने जीवन काल में पहले अनुभव किये गए विषयों का फिर से स्मरण हो आना अर्थात् आपने आज से 2 वर्ष पहले किसी बुजुर्ग माता को सड़क पार कराई थी वो घटना या अनुभव आज फिर से आपको याद आ रही है तो इसे ही योगदर्शन में अंतिम और पांचवीं वृत्ति कहा गया है।

योगदर्शन के ऊपर प्रामाणिक भाष्य वेदव्यास भाष्य उपलब्ध है, उसके अनुसार, हमारा चित्त (मन-बुद्धि-अहंकार) ज्ञान और वस्तु दोनों का स्मरण करता है। वस्तु का जो स्वरूप होता है उससे अभिन्न ज्ञान, उस वस्तु, घटना एवं उसके ज्ञान दोनों के शुद्ध स्वरूप को बताने वाला होता है और फिर वस्तु एवं ज्ञान के अनुसार ही संस्कार को उत्पन्न करता है, और फिर यह संस्कार तद्रूप स्मृति (वस्तु और ज्ञान दोनों) को उत्पन्न करता है। जैसा कि ऊपर तीन प्रकार की अवस्थाओं को कहा गया था, जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्ति।

जाग्रत काल में होने वाली स्मृतियाँ यथार्थ विषय वाली होती हैं और स्वप्न में होने वाली स्मृतियाँ कल्पित विषय को लेकर होती हैं इस प्रकार से सुख, दुःख और मोह में डालने वाली ये स्मृतिरूप वृत्तियाँ त्याज्य हैं। योग की उच्चतम अवस्था समाधिस्थ अवस्था को पाने में स्मृति के साथ-साथ सभी वृत्तियाँ बाधक हैं इसलिए साधक को इन्हें अभ्यास और वैराग्य की सहज साधना से रोकना चाहिए। जो भी स्मृतियाँ ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य और धर्माचरण की ओर ले जाएँ वे स्मृतियाँ साधना में बाधक नहीं बल्कि सहायक हैं।

**स्मरणीय बिंदु-**

- चित्त की पाँच भूमियाँ हैं।
- एकाग्र एवं निरुद्ध चित्त योग के लिए श्रेष्ठ हैं।
- क्षिप्त चित्त अत्यंत चंचल होता है।
- योग साधना से चित्त शुद्ध होता है।
- समाधि निरुद्ध चित्त की अवस्था है।

**शब्दावली-**

- चित्तभूमि - मन की अवस्था
- क्षिप्त - चंचल
- मूढ़ - अज्ञानयुक्त

- एकाग्र - केंद्रित
- निरुद्ध - नियंत्रित

### 5 अंक के प्रश्न-

1. चित्तभूमि से क्या अभिप्राय है?
2. क्षिप्त चित्त क्या है?
3. मूढ़ चित्त का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
4. विक्षिप्त चित्त किसे कहते हैं?
5. निरुद्ध चित्त का क्या महत्व है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. योग दर्शन में चित्त की पाँच भूमियों का विवेचन कीजिए।
2. क्षिप्त, मूढ़ एवं विक्षिप्त चित्त का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. एकाग्र एवं निरुद्ध चित्त का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. योग साधना में चित्तभूमियों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
5. चित्त की शुद्धि एवं समाधि के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

### MCQ-

1. चित्त की भूमियाँ कितनी मानी गई हैं?

- (क) तीन
- (ख) चार

#### (ग) पाँच

- (घ) छह

2. सबसे चंचल चित्त कौन-सा है?

- (क) मूढ़

#### (ख) क्षिप्त

- (ग) निरुद्ध
- (घ) एकाग्र

3. समाधि के लिए कौन-सी चित्तभूमि आवश्यक है?

- (क) विक्षिप्त
- (ख) मूढ़

#### (ग) एकाग्र

- (घ) क्षिप्त

4. निरुद्ध चित्त का संबंध किससे है?

- (क) अज्ञान
- (ख) चंचलता

#### (ग) समाधि

- (घ) निद्रा

5. योग का उद्देश्य क्या है?

- (क) शरीर निर्माण

#### (ख) चित्तवृत्ति निरोध

- (ग) युद्ध
- (घ) धन प्राप्ति

## इकाई-4.2 चित्त वृत्ति निरोध का उपाय-अभ्यास

### उद्देश्य-

1. अभ्यास की अवधारणा को समझना।
2. चित्तवृत्ति निरोध में अभ्यास की भूमिका जानना।
3. योग साधना में नियमितता का महत्व समझना।

अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः॥1.12॥

**पदच्छेदः** अभ्यास, वैराग्याभ्याम्, तत्, निरोधः।

**शब्दार्थः** अभ्यासः- अभ्यास (और), वैराग्याभ्याम्:- वैराग्य से, तत्:- उन (चित्तवृत्तियों का), निरोधः- निरोध (होता है)।

**व्यासभाष्यम्** - चित्तनदी नामोभयतोवाहिनी वहति कल्याणाय वहति पापाय च। या तु कैवल्यप्राग्भारा विवेकविषयनिम्ना सा कल्याणवहा। संसारप्राग्भाराऽविवेकविषयनिम्ना पापवहा। तत्र वैराग्येण विषयस्रोतः खिलीक्रियते, विवेकदर्शनाभ्यासेन विवेकस्रोत उद्घाट्यत इत्युभयाधीनश्चित्त- वृत्तिनिरोधः॥१२॥

**भाष्यानुवादः** - चित्तरूपी नदी दो धाराओं में कल्याण और पाप के लिए बहती है। जो धारा कैवल्य की ओर ले जाने वाली है तथा विवेक मार्ग की ओर झुकी हुई है, वह कल्याण के लिए बहती है। जो धारा संसार की ओर ले जाने वाली है, अविवेक विषय की ओर झुकी हुई है, वह पापवहा है। इन दोनों में से वैराग्य के द्वारा अविवेक विषयवाली धारा सुखाई जाती है। विवेकदर्शन के अभ्यास के द्वारा विवेकस्रोत उद्घाटित किया जाता है। इस प्रकार चित्तवृत्ति इन दोनों अभ्यास और वैराग्य के आधीन है॥१२॥

अभी तक हमने योग के अनुशासन, योग की परिभाषा और वृत्तियों के विषय में विस्तार से जाना। यह सूत्र योगदर्शन के महत्वपूर्ण सूत्रों में से एक है। इसका सीधा अर्थ है कि- अभ्यास और वैराग्य के द्वारा वृत्तियों का निरोध हो सकता है अर्थात् विचाररूपी तरंगों को सहजता से रोका जा सकता है।

यहाँ हम अभ्यास और वैराग्य को एक एक कर समझने का प्रयास करेंगे क्योंकि यदि इन्हें ठीक से नहीं समझा गया तो योग में उन्नति कदापि सम्भव नहीं है। सीधी भाषा में कहूँ तो अभ्यास का अर्थ है प्रयत्न या पुरुषार्थ। वैराग्य का अर्थ है सहज पुरुषार्थ या आन्तरिक पुरुषार्थ।

अभ्यास से एक ओर हम प्रयत्न पूर्वक या यँ कहें बलपूर्वक बाहरी चेष्टाएँ कर आचरण की पवित्रता रखते हैं वहीं दूसरी ओर सहज आन्तरिक पुरुषार्थ से अपने जीवन को सँभालते हैं।

**योग सम्पूर्णता का नाम है-** यहाँ शरीर भी संभाला जाता है और आन्तरिक जीवन भी। स्थूल और सूक्ष्म रूप से जबतक हम प्रयत्नशील नहीं होंगे तब तक योग में गति संभव नहीं है क्योंकि दोनों एक दुसरे के पूरक हैं। यदि आपका शरीर स्वस्थ नहीं है तो आपका योग में प्रवेश ही असंभव है और यदि आप शरीर से कदाचित् स्वस्थ लग भी रहे हैं और मन से बीमार हैं तो थोड़े बहुत योग में प्रवेश के बाद आपकी गति विपरीत हो जाएगी और सम्भावना अधिक होगी कि आप पुनः प्रवेश में घबराएंगे।

इसलिए अभ्यास और वैराग्य के माध्यम से हम योग में प्रतिष्ठित होते हैं। यह हमारी क्लिष्ट वृत्तियों अर्थात् ऐसी विचारों को सहज ही रोकता है जो हमें दुःख देती हैं, हमारे मन में विचलन उत्पन्न करती हैं।

व्यास भाष्य के अनुसार, चित्त को नदी कहा गया है जो कि दो धाराओं में बहती है। उसकी एक धारा कल्याण के लिए बहती है और दूसरी पाप के लिए। जो धारा कल्याण पथ पर बहती है वह साधक को कैवल्य के मार्ग पर ले जाने वाली है और विवेक-मार्ग पर झुकी हुई है। जो धारा संसार की ओर ले जाने वाली है और अविवेक विषय मार्ग की ओर झुकी हुई है। इन दोनों में से वैराग्य के द्वारा पापवहा धारा सुखाई जाती है और सतत विवेक दर्शन के अभ्यास से विवेक को जगाया जाता है। इस प्रकार चित्त की वृत्तियों का निरोध अभ्यास और वैराग्य के आधीन होता है।

तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यासः॥1.13॥

**पदच्छेदः** तत्र, स्थितौ, यत्नः, अभ्यासः।

**शब्दार्थः** तत्र:- उन (दोनों - अभ्यास और वैराग्य, में से), स्थितौ:- (चित्तकी) स्थिरता के लिए

यत्न:- (जो) प्रयत्न (करना है, वह), अभ्यास:- अभ्यास (है)।

व्यासभाष्यम्- चित्तस्यावृत्तिकस्य प्रशान्तवाहिता स्थितिः। तदर्थः प्रयत्नो वीर्यमुत्साहः।  
तत्संपिपादयिषया तत्साधनानुष्ठानमभ्यासः॥१३॥

भाष्यानुवादः राजस् और तामस् वृत्तियों से रहित चित्त का तरङ्गों से रहित हो जाना प्रशान्त वाहिता स्थिति है। उसको सम्पन्न करने के लिए साधन- प्रयत्न, बल और उत्साह हैं। उस स्थिति को प्राप्त करने की इच्छा से उसके साधनों का अनुष्ठान करना ही अभ्यास है॥१३॥

इससे पहले के सूत्र में बताया गया कि अभ्यास और वैराग्य ये दो तत्त्व हैं जो विचारों को व्यवस्थित और फिर रोक सकते हैं। अब महर्षि पतंजलि अभ्यास के विषय में विद्यार्थियों को समझा रहे हैं कि अभ्यास का स्वरूप या उसका वास्तविक अर्थ क्या है? अभ्यास और वैराग्य दोनों में से हमारे चित्त की सम्यक् स्थिति के लिए जो विशेष यत्न अर्थात् प्रयत्न अथवा प्रयास किया जाता है उसे अभ्यास कहते हैं।

चित्त की वह अवस्था जिसमें रजस् और तमस् का अभाव होता है उसे योगदर्शन की भाषा में ही “स्थिति” कहते हैं और उसके लिए जो भी प्रयास या प्रयत्न किया जाता है उसके लिए बल और उत्साह आवश्यक है। साधक में यदि बल और उत्साह नहीं है तो बिना इन साधनों के वह कोई भी अनुष्ठान संपन्न नहीं कर सकता है।

प्रश्न उठता है कि बल और उत्साह क्यों आवश्यक हैं?

बल तीन प्रकार के होते हैं- १. शारीरिक

२. मानसिक

३. आत्मिक

**शारीरिक बल:-** नियमित योगाभ्यास, व्यायाम, सम्यक् श्रम और दैनिक कर्मों के नियमन से शारीरिक बल बढ़ता है।

**मानसिक बल:-** अच्छे विचारों को सोचने से, उनके अनुरूप कर्म करने से और छोटे छोटे संकल्पों की पूर्ति से बढ़ता है।

**आत्मिक बल:-** शारीरिक और मानसिक बल के बढ़ने से जब व्यक्ति के कथनी और करनी में अंतर नहीं रह जाता है तब स्वाभाविक रूप से आत्मिक बल में वृद्धि आरंभ हो जाती है जिसका साधक बहुत गहराई से अनुभव कर सकता है।

ये तीन प्रकार के बल जब साधक में धीरे धीरे विकसित होने आरंभ हो जाते हैं तो उसी अनुपात में उत्साह का भी जन्म होना आरंभ हो जाता है। बल और उत्साह का यह युगपत् उद्भव दृढ़ अभ्यास बनकर मन, बुद्धि, इन्द्रियों, चित्त पर अपना सहज नियंत्रण करने लगता है। यह इतना सहज और प्रखर होता है कि साधक के क्लिष्ट विचार इसमें भस्मीभूत हो जाते हैं और केवल अक्लिष्ट विचार ही बचते हैं जो साधक को उर्ध्व गति में गतिमान कर देते हैं।

यदि सब प्रकार का बल हो लेकिन मन में उत्साह न हो तो भी कोई लाभ नहीं है, लेकिन ऐसा होता नहीं है कि आप शारीरिक, मानसिक और आत्मिक रूप से सबल हों और आप में उत्साह न हो। ये तीन बल जब धीरे धीरे व्यक्ति में आते हैं तो साथ साथ में उत्साह भी जन्म लेने लगता है या यूँ कहें कि उत्साह यदि व्यक्ति में आता है तो तीन प्रकार के बल भी साधक में जन्म लेने लगते हैं।

जब बल और उत्साह साधक को अनुभव में आने लग जाये तो सतर्कता के साथ उसका उपयोग योग में गतिमान होने के लिए करना चाहिए। यदि हमें नहीं पता कि उसका कैसे उपयोग करना है तो समस्या हो सकती है। बल और उत्साह से ही भौतिक जीवन में प्रगति होती है और उसी बल और उत्साह का आंतरिक जीवन में भी प्रयोग कर हम निर्विकार हो सकते हैं।

बल और उत्साह को ही यहाँ पर अभ्यास कहा गया है। यदि किसी साधक ने नियमित योगाभ्यास और अच्छे आहार, आचार एवं विचार से शारीरिक एवं मानसिक बल प्राप्त कर लिया हो तो वह कैसे अपने जीवन में अच्छे अभ्यासों और व्रतों को धारण कर सकता है आइये इसपर एक दृष्टि डालते हैं- रात्रि में सोने का अभ्यास या प्रक्रिया, प्रातः काल उठने का अभ्यास, योग का अभ्यास, ध्यान का अभ्यास, सात्विक आहार का अभ्यास, सात्विक सोचने और विचारने का अभ्यास, कर्म करते समय केवल कर्म करने का अभ्यास, वाणी का अभ्यास, व्यवहार का अभ्यास, देखने, सुनने, बोलने का सही अभ्यास। ऐसे बहुत सारे अभ्यास हैं जिनपर साधक को पूरी सजगता के साथ कार्य करना पड़ता है, इन अभ्यासों से जीवन तो बहुत सुन्दर बन ही जाता है साथ ही साथ योग के पथ पर भी साधक आगे बढ़ जाता है। वह अपने विचारों को नियंत्रित करने में सफल होने लगता है। एक ओर जब तीव्र अभ्यास होगा और साथ ही वैराग्य रूपी सहजता भी होगी तो योग में प्रतिष्ठा होने लग जाएगी।

स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः॥१.१४॥

पदच्छेदः सः, तु, दीर्घ, काल, नैरन्तर्य, सत्कार, आसेवितः, दृढ, भूमिः॥

शब्दार्थः तु- परन्तु, दीर्घ- बहुत, काल - समय (तक), नैरन्तर्य- निरन्तर (और), सत्कार- श्रद्धा के साथ, आसेवितः - सेवन



किया हुआ, सः- वह (अभ्यास), दृढ़ः- दृढ़, भूमिः- अवस्था (वाला हो जाता है)।

व्यासभाष्यम्- दीर्घकालासेवितो, निरन्तरासेवितः, सत्कारासेवितः। तपसा, ब्रह्मचर्येण, विद्याया, श्रद्धया च संपादितः सत्का-  
रवानृद्धभूमिर्भवति। व्युत्थानसंस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय इत्यर्थः॥१४॥

भाष्यानुवादः - दीर्घकालपर्यन्त (अधिक समय तक) किया गया, सतत किया गया तथा तपस्या, ब्रह्मचर्य, विद्या और श्रद्धापूर्वक किया गया सत्कारवान् 'अभ्यास' दृढ़ अवस्था वाला होता है, व्युत्थान संस्कार के द्वारा तत्काल अभिभूत न होने वाला होता है ॥१४॥

बल और उत्साह से युक्त वह अभ्यास कैसे साधक को योग में प्रतिष्ठित करेगा इस पर महर्षि कहते हैं कि एक बार के अभ्यास से कुछ भी होने वाला नहीं है।

लम्बे समय तक, निरन्तरता पूर्वक, ब्रह्मचर्य, श्रद्धा, तप और विद्यापूर्वक अनुष्ठान किया हुआ होना चाहिए वह अभ्यास। ऐसा अभ्यास ही दृढ़ भूमि वाला होता है। दृढ़ भूमि से आशय है कि ऐसा अभ्यास जिसका आधार दृढ़ है। साधक में बल भी है और उत्साह भी लेकिन कभी कभी योग में प्रवृत्त होने का अभ्यास करता है तो ऐसा अभ्यास उसे योग में गतिमान नहीं कर सकता है। इसलिए लम्बे समय और निरन्तरता के साथ, श्रद्धा, तप, ब्रह्मचर्य और विद्यापूर्वक किया गया अभ्यास ही फलदायी होता है।

हम प्रायः देखते हैं कि लोग थोड़े बहुत प्रयास के बाद टूट जाते हैं, संकल्पों की इतिश्री कर देते हैं और बाद में पछताते हैं। कुछ लोग कहते हैं कि हम बार बार ब्रह्मचर्य में रहने का प्रयास करते हैं लेकिन अचानक से कुछ संस्कार अत्यंत वेग से आते हैं और हमारी उर्जा उस आंधी, तूफान में नष्ट हो जाती है फिर ग्लानि भाव, अपराध बोध से हमारा सारा चित्त मलिन हो जाता है। इसका केवल एक ही कारण है कि हमने जो संकल्प लिए और उन संकल्पों की पूर्ति हेतु जो अभ्यास हमने किया था उसका आधार बहुत ही कमजोर था जो व्युत्थान के समय उठने वाले संस्कारों की मार को सहन नहीं कर पाया।

यदि हमारे अभ्यास श्रद्धा, तप, विद्या और ब्रह्मचर्य पूर्वक किये हों तो सच्चे साधक की स्थिति व्युत्थान संस्कारों में भी अडिग रहती है। उन्हें अपने आधार मजबूत करने होंगे, बार बार गिरकर भी उतनी ही दृढ़ता से उठना होगा, संभलना होगा और पुनः जुट जाना होगा अपनी वास्तविक स्थिति को पाने के लिए। यह केवल ब्रह्मचर्य के ऊपर ही लागू नहीं होता, यह प्रत्येक उस स्थिति पर लागू होता है जहाँ भी हमने अपने संकल्पों को संजोया होगा।

हमारे भीतर हार के संस्कार बहुत प्रबल हैं इसलिए जब भी साधक कोई संकल्प के साथ अपने अभ्यास आरंभ करता है तो पिछले हार के संस्कार और संकल्प के विरुद्ध में संस्कार एकसाथ मिलकर साधक को डिगाने का काम करते हैं और यदि साधक के भीतर तीव्र अभीप्सा नहीं है अपने संकल्प को पूर्ण करने की तो हवा के एक झटके में सबकुछ नष्ट हो जाता है।

सूत्र में एक शब्द आया है सत्कार- यह बहुत ही सुन्दर शब्द है। जब भी आपके घर में कोई अतिथि आता है तो आप उसका सत्कार करते हैं। जैसे- उन्हें बैठने के लिए कहेंगे, उन्हें अच्छा आसन देंगे, जलपान के लिए पूछेंगे, उनके लिए अच्छा और सात्विक भोजन की व्यवस्था करेंगे, उनके विश्राम की उचित व्यवस्था करेंगे, उन्हें आपके घर में किसी भी प्रकार की असुविधा न हों इसका भरपूर प्रयास करेंगे। यहाँ तक कि आपके घर में कोई संसाधन न भी हों तो पड़ोसी से मांगकर वो संसाधन आप अतिथि की सेवा में लगायेंगे।

यदि आपके मन में अतिथि के आगमन से प्रसन्नता नहीं होगी तो आप अतिथि की सेवाओं के ऊपर विशेष ध्यान नहीं देंगे। आप आतिथ्य सत्कार तभी कर सकते हैं जब आपके मन में अतिथि को लेकर श्रद्धा का भाव हो, उसका आगमन आपको प्रसन्नता देता हो, आपका मन निश्चल हो और अपनी सुविधाएँ कम करके भी आप अतिथि की सेवा करने को इच्छुक हों।

अभ्यास के प्रति भी जब हमारा मन इतने ही श्रद्धा भाव से भरा हुआ होगा, अभ्यास को हम प्रथम वरीयता देंगे, उसके रक्षणार्थ हम तप करने को भी प्रतिबद्ध होंगे, अभ्यास की महिमा का ज्ञान हमें भली भाँति होगा तभी हम अभ्यास की रक्षा कर सकते हैं और ऐसा सत्कारपूर्वक किया गया अभ्यास ही हमारी रक्षा करता है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- अभ्यास निरन्तर प्रयास है।
- अभ्यास से चित्त स्थिर होता है।
- योग में अनुशासन आवश्यक है।
- नियमित साधना सफलता का आधार है।
- अभ्यास और वैराग्य दोनों आवश्यक हैं।

**शब्दावली-**

- अभ्यास - निरन्तर साधना



- निरोध - नियंत्रण
- साधना - आध्यात्मिक अभ्यास
- अनुशासन - नियमितता
- एकाग्रता - ध्यान स्थिरता

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. अभ्यास क्या है?
2. योग में अभ्यास का महत्व क्या है?
3. चित्तवृत्ति निरोध कैसे संभव है?
4. नियमित साधना क्यों आवश्यक है?
5. अभ्यास और वैराग्य में क्या संबंध है?

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. योग दर्शन में अभ्यास का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. चित्तवृत्ति निरोध में अभ्यास की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. निरंतर अभ्यास के महत्व का विश्लेषण कीजिए।
4. योग साधना में अनुशासन एवं अभ्यास का महत्व बताइए।
5. अभ्यास एवं आत्मसंयम के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

#### MCQ-

1. चित्तवृत्ति निरोध का प्रमुख साधन क्या है?

(क) युद्ध

(ख) अभ्यास

(ग) व्यापार

(घ) निद्रा

2. अभ्यास का उद्देश्य क्या है?

(क) मन की स्थिरता

(ख) धन प्राप्ति

(ग) प्रसिद्धि

(घ) मनोरंजन

3. योग साधना में नियमितता क्यों आवश्यक है?

(क) शरीर सौंदर्य हेतु

(ख) मन की एकाग्रता हेतु

(ग) प्रतियोगिता हेतु

(घ) सामाजिक सम्मान हेतु

4. अभ्यास से क्या प्राप्त होता है?

(क) चंचलता

(ख) एकाग्रता

(ग) आलस्य

(घ) मोह

5. योगसूत्र के अनुसार अभ्यास किसके लिए है?

(क) चित्त स्थिरता

(ख) धन अर्जन

(ग) राजनीति

(घ) युद्ध कला

## इकाई-4.3 चित्त वृत्ति निरोध का उपाय-वैराग्य

उद्देश्य-

1. वैराग्य की अवधारणा को समझना।
2. योग साधना में वैराग्य का महत्व जानना।
3. चित्तशुद्धि में वैराग्य की भूमिका समझना।

दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥1.16॥

पदच्छेदः दृष्ट , आनुश्रविक , विषय , वितृष्णस्य , वशीकार , संज्ञा , वैराग्यम्

शब्दार्थः : दृष्ट- देखे हुए (और), आनुश्रविक- सुने हुए, विषय- विषयों में (सर्वथा), वितृष्णस्य - तृष्णारहित (है, उसका), वैराग्यम् - वैराग्य, वशीकार - अपर-वैराग्य, संज्ञा - नाम वाला है।

व्यासभाष्यम्- स्त्रियोऽन्नपानमैश्वर्यमिति दृष्टविषये वितृष्णस्य, स्वर्गवैदेह्याप्रकृतिल- यत्वप्राप्तावा.  
नुश्रविकविषये वितृष्णस्य दिव्यादिव्यविषयसंप्रयोगेऽपि चित्तस्य विषयदोषदर्शनः

प्रसंख्यानबलादनाभोगात्मिका हेयोपादेयशून्या वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्॥१५॥

भाष्यानुवादः- स्त्री, अन्न, पान, ऐश्वर्यादि 'दृष्टविषय' हैं। स्वर्ग, विदेह बनने की इच्छा और प्रकृतिलयत्व आदि 'आनुश्रविकविषय' हैं। इन सबमें तृष्णा रहित तथा दिव्यादिव्य कि के साथ सम्बन्ध होने पर भी उनमें विषय दोषदर्शी चित्त की प्रसंख्यान के बल से जो अनाभोगात हेयोपादेय से शून्य वशीकार अनुभूति अर्थात् मन-इन्द्रियों को वश में करने का अनुभव 'वैराग्य' कहलाता है॥ १५॥

अब वैराग्य के स्वरूप अर्थात् उसके वास्तविक रूप को समझने का प्रयास करते हैं। पूर्व में कहा जा चुका है कि अभ्यास और वैराग्य को सटीकता से समझने का प्रयास अवश्य करना चाहिए क्योंकि योग साधना में गति पाने के लिए ये बहुत महत्वपूर्ण साधन हैं।

महर्षि कहते हैं- "दृष्ट अर्थात् देखे हुए विषयों में और आनुश्रविक अर्थात् सुने गए विषयों में तृष्णा रहित योगी की मन और इन्द्रियों पर पूर्ण रूप से नियंत्रण की स्थिति या अनुभूति वैराग्य कहलाती है"

देखे गए विषय हैं ( दृष्ट )- आँख का विषय (सांसारिक सौन्दर्य), रसना के विषय (स्वादिष्ट अन्न, स्वादिष्ट पेय) ऐश्वर्य आदि। जब तक इन देखे जाने वाले विषयों में भोगासक्ति बनी है तब तक वैराग्य उद्घाटित नहीं हो सकता है। लेकिन ऐसा नहीं है कि तो जो योगमार्ग में आरूढ़ करने वाले साधन हैं उनका सहारा नहीं लेना है, वे हेय नहीं हैं यदि वे आपको साधना के मार्ग पर चला रहे हैं तो, इसका निर्धारण साधक को स्वयं में करना पड़ता है।

सुने हुए विषय हैं ( आनुश्रविक )- शास्त्रों के द्वारा जो सुने जाते हैं और जिनका कोई प्रत्यक्ष अनुभव साधक को नहीं होता है उन्हें आनुश्रविक विषय कहा जाता है। यदि इन सुने हुए विषयों में मन फल की कल्पना कर रहा है या किसी भी तरह चित्त इसमें लोभ भावना से लिप्त है तो यह स्थिति भी योग में बाधक है और वैराग्य का नाश करने वाली है। इसलिए इन सुने हुए विषयों को केवल शुद्ध ज्ञान की दृष्टि से समझने मात्र से चित्त निर्मल बना रहता है।

जब साधक का चित्त उपरोक्त दोनों प्रकार के विषयों से निर्लिप्त होकर जीवन साधना में आगे बढ़ता है तो उसके भीतर एक सहज वैराग्य उदय होता है जो विवेक और अभ्यास के साथ मिलकर समाधि के मार्ग पर साधक को आगे बढ़ाता है। वैराग्य को यदि सीधे शब्दों में कहें तो निर्लिप्तता, तृष्णा से रहित चित्त, लोभ से रहित चित्त। योगदर्शन के अनुसार इसे अपर वैराग्य भी कहा जाता है और यह सम्प्रज्ञात समाधि का उपाय है।

तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्॥1.16॥

पदच्छेदः तत् , परम् , पुरुष , ख्यातेः , गुण , वैतृष्ण्यम्।

शब्दार्थः- पुरुष-ख्यातेः - पुरुष के (असल स्वरूप) के ज्ञान से, गुण - (जो प्रकृति के) गुणों में, वैतृष्ण्यम्- तृष्णा रहित हो जाना है, तत्- वह, परम्- पर-वैराग्य है।

व्यासभाष्यम्- दृष्टानुश्रविकविषयदोषदर्शी विरक्तः पुरुषदर्शनाभ्यासात्तच्छुद्धिप्रविवेकाप्यायित- बुद्धिर्गुणेभ्यो व्यक्ताव्यक्तधर्मकेभ्यो विरक्त इति। तद्वयं वैराग्यम्। तत्र यदुत्तरं तज्ज्ञानप्रसादमात्रम्। यस्योदये योगी प्रत्युदितख्यातिरेवं मन्यते-प्राप्तं प्रापण

गीयं, क्षीणाः क्षेतव्याः क्लेशाः, छिन्नः श्लिष्टपर्वा भवसंक्रमः यस्याविच्छेदाज्जनित्वा म्रियते मृत्वा च जायत इति। ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम्। एतस्यैव हि नान्तरीयकं कैवल्यमिति॥१६॥

**भाष्यानुवादः** देखे हुए एवं सुने हुए विषयों के दोषों को देखने वाला तृष्णारहित साधक, पुरुष के दर्शन के अभ्यास से, उस पुरुषतत्त्व के बोध से प्राप्त ज्ञान से तृप्त चित्त वाला होकर, स्थूल और सूक्ष्म स्वरूप वाले गुणों से भी विरक्त हो जाता है। वह दो प्रकार का वैराग्य है - १. अपर, २. पर। इनमें से जो पश्चात् कहा है वह उच्चज्ञान की कोटि वाला है। जिसके उदित होने पर आत्मदर्शी योगी यह मानता है कि प्राप्त करने योग्य प्राप्त हो गया। नष्ट करने योग्य क्लेश नष्ट हो गये और श्रृंखलाबद्ध संसारचक्र टूट गया। जिसके टूटे बिना जीव जन्म मरण के भवचक्र में पड़ा रहता है। ज्ञान की पराकाष्ठा (सर्वोच्च स्थिति) ही वैराग्य है। यह वैराग्य कैवल्य का अनिवार्य साधन है॥१६॥

इससे पहले हमने जिस वैराग्य की चर्चा की थी वह अपर वैराग्य था, इससे भी उत्कृष्ट और ऊँचा पर वैराग्य है जिसमें साधक स्वयं को साक्षात्कार कर लेने के बाद त्रिगुणातीत अर्थात् गुण मात्र से तृष्णा रहित हो जाता है। यह अत्यंत ऊँची स्थिति है जिसके विषय में बात करना और उस स्थिति की “वस्तु स्थिति” बताना अत्यंत दुष्कर है।

गुण क्या हैं?— गुण तीन प्रकार के होते हैं—

1. सत्त्व
2. रजस
3. तमस

पर वैराग्य इन तीन गुणों से भी पार जाने का नाम है। जहाँ साधक केवल चिन्मात्र रह जाता है। ज्ञानमात्र रह जाता है। व्यास भाष्य में ज्ञान की पराकाष्ठा को ही पर वैराग्य कहा गया है। इसे ज्ञान की पराकाष्ठा इसलिए कहते हैं क्योंकि साधक अनुभव करता है कि मुझ आत्मस्वरूप के अतिरिक्त जो कुछ भी मुझे अनुभव में आ रहा है वह उपधिमात्र है अर्थात् बाहर से आया हुआ है इसलिए स्वयं के अतिरिक्त वह सबकुछ से विरक्त हो जाता है। ऐसा कह सकते हैं कि जीवात्मा का साक्षात्कार हो जाने से केवल स्वयं से उसका ज्ञानपूर्वक राग हो जाता है और जो कुछ जीवात्मा से बाहर का है उससे वह वैराग्य को प्राप्त हो जाता है।

स्वयं के विषय में विचार करना यह सबसे बड़ा अक्लिष्ट विचार है इसलिए अभ्यास और वैराग्य इस विचार को नहीं हटाता अपितु इसे और अधिक सशक्त करता जाता है क्योंकि इससे अभ्यास और वैराग्य और दृढ़ होते हैं।

**स्मरणीय बिंदु—**

- वैराग्य अनासक्ति की अवस्था है।
- वैराग्य चित्त को शुद्ध करता है।
- अभ्यास एवं वैराग्य दोनों आवश्यक हैं।
- योग साधना में वैराग्य का विशेष महत्व है।
- परवैराग्य उच्चतम अवस्था है।

**शब्दावली—**

- वैराग्य - अनासक्ति
- आसक्ति - मोह
- परवैराग्य 7 सर्वोच्च वैराग्य
- चित्तशुद्धि - मन की पवित्रता
- संयम - नियंत्रण

**5 अंक के प्रश्न—**

1. वैराग्य क्या है?
2. योग दर्शन में वैराग्य का महत्व क्या है?
3. वैराग्य और त्याग में क्या अंतर है?
4. वैराग्य से चित्त कैसे शुद्ध होता है?

5. अभ्यास एवं वैराग्य का संबंध स्पष्ट कीजिए।

**15 अंक के प्रश्न-**

1. योग दर्शन में वैराग्य का विवेचन कीजिए।
2. चित्तवृत्ति निरोध में वैराग्य की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. वैराग्य एवं आत्मसंयम का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. योग साधना में वैराग्य की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।
5. परवैराग्य एवं अपरवैराग्य का वर्णन कीजिए।

**MCQ-**

1. वैराग्य का संबंध किससे है?

(क) आसक्ति

**(ख) अनासक्ति**

(ग) क्रोध

(घ) युद्ध

2. चित्तशुद्धि का प्रमुख साधन क्या है?

(क) धन

**(ख) वैराग्य**

(ग) निद्रा

(घ) मनोरंजन

3. योग में वैराग्य किसके लिए आवश्यक है?

(क) भोग

**(ख) चित्तनिरोध**

(ग) व्यापार

(घ) राजनीति

4. वैराग्य का विपरीत क्या है?

(क) ज्ञान

**(ख) आसक्ति**

(ग) विवेक

(घ) समाधि

5. योगसूत्र में चित्तनिरोध के कितने उपाय बताए गए हैं?

(क) एक

**(ख) दो**

(ग) तीन

(घ) चार

## इकाई-4.4 समाधि और समाधि के प्रकार

उद्देश्य-

1. समाधि की अवधारणा को समझना।
2. समाधि के विभिन्न प्रकारों का अध्ययन करना।
3. योग साधना में समाधि के महत्व को जानना।

वितर्कविचारानन्दास्मितारूपानुगमात् सम्प्रज्ञातः॥1.17॥

पदच्छेदः वितर्क , विचार , आनन्द , अस्मिता , रूप , अनुगमात् , सम्प्रज्ञातः।

शब्दार्थ : वितर्क- वितर्क, विचार- विचार, आनन्द- आनंद (और), अस्मिता- अस्मिता - (इन चारों के सम्बन्ध से), अनुगमात्- युक्त (चित्तवृत्ति का समाधान), सम्प्रज्ञातः- सम्प्रज्ञात (समाधि है), रूप- स्वरूप।

व्यासभाष्यम्- वितर्कश्चित्तस्यालम्बने स्थूल आभोगः। सूक्ष्मो विचारः। आनन्दो ह्लादः। एकात्मिका संविदस्मिता। तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगतः समाधिः सवितर्कः। द्वितीयो वितर्कविकलः सविचारः। तृतीयो विचारविकलः सानन्दः। चतुर्थस्तद्विकला-

अस्मितामात्र इति। सर्व एते सालम्बनाः समाधयः॥१७॥

भाष्यानुवादः वितर्क का अर्थ चित्त के आलम्बन में स्थूलभूत पृथिवी आदि का साक्षात्कार है। विचार का अर्थ चित्त के आलम्बन में सूक्ष्मभूत अर्थात् तन्मात्राओं का साक्षात्कार है। आनन्द का अर्थ ह्लाद= सुख की अनुभूति अर्थात् इन्द्रियों के साक्षात्कार से सुख की अनुभूति। अस्मिता का अर्थ है (चित्त के आलम्बन में) जीवात्मा का साक्षात्कार।

प्रथम अर्थात् वितर्कानुगत समाधि में स्थूलभूत, तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और जीवात्मा ये चारों विषय योगी के जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु स्थूल भूतों का ही साक्षात्कार होता है। शेष का सामान्य ज्ञान रहता है। इसको चतुष्टयानुगत कहा जाता है।

द्वितीय, वितर्क से रहित विचार समाधि है। इसमें तन्मात्राएँ, इन्द्रियाँ और जीवात्मा जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु केवल तन्मात्राओं का साक्षात्कार होता है। शेष दो का सामान्य ज्ञान रहता है। तृतीय, विचार से रहित आनन्द समाधि है। इसमें इन्द्रियाँ और जीवात्मा जिज्ञास्य रहते हैं। किन्तु इन्द्रियों का ही साक्षात्कार होता है। जीवात्मा का सामान्य ज्ञान रहता है।

चतुर्थ, आनन्द से रहित अस्मिता समाधि है। इसमें जीवात्मा ही जिज्ञास्य रहता है। और जीवात्मा का साक्षात्कार भी होता है। भूतादि अन्य कोई जिज्ञास्य नहीं रहता ॥१७॥

विद्यार्थी महर्षि पतंजलि जी से पूछते हैं कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा रोके गए विचारों वाले चित्त की सम्प्रज्ञात समाधि किस प्रकार से लगती है? जैसा कि पूर्व में बताया है सम्प्रज्ञात समाधि का उपाय अपर वैराग्य है तो महर्षि पतंजलि इस सूत्र से अपर वैराग्य से किस प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि लगती है वह बता रहे हैं।

साधक जब योग मार्ग पर आगे बढ़ता है और अपनी पञ्च प्रकार की वृत्तियों अथवा विचारों को समझकर, उनकी क्लिष्टता और अक्लिष्टता में भेद कर, अभ्यास और वैराग्य से क्लिष्ट विचारों को रोकने का प्रयास करता है तब उसके पुरुषार्थ के अनुरूप स्थितियां बदलते रहती हैं। इसी साधना के मार्ग पर उसका चित्त चार प्रकार से अलग अलग अवस्थाओं से होते हुए सम्प्रज्ञात समाधि को प्राप्त होता है।

वे चार स्थितियां हैं-

- |           |          |         |            |
|-----------|----------|---------|------------|
| 1. वितर्क | 2. विचार | 3. आनंद | 4. अस्मिता |
|-----------|----------|---------|------------|

अर्थात् कहने का अर्थ है इन चार स्थितियों के अनुभव से सम्प्रज्ञात समाधि लगती है। इसलिए सम्प्रज्ञात समाधि के चार प्रकार भी कहे गये हैं।

- |                                  |                                  |
|----------------------------------|----------------------------------|
| 1. वितर्कानुगत सम्प्रज्ञात समाधि | 2. विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि  |
| 3. आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधि   | 4. अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि |

सम्प्रज्ञात समाधि किसी न किसी वस्तु, विचार, अनुभव के आलंबन से ही घटित होती है। यह समाधि आलंबनपूर्वक घटित होती है। यह आलंबन स्थूल या सूक्ष्म दोनों हो सकता है। वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि के आलंबन स्थूल विषय में होती है अर्थात् जब ध्यान के समय हम स्थूल विषय को आलंबन बनाकर समाधिस्थ होते हैं तो उसे ही वितर्क सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। जब साधक ध्यान करता है तो पांच महाभूतों में से किसी एक भूत का आलंबन लेकर समाधि की ओर बढ़ता है, इस प्रकार इसे वितर्क अनुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। पांच महाभूत हैं- पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश।

**विचार अनुगत सम्प्रज्ञात समाधि:** जब योगसाधक ध्यान के समय सूक्ष्म तन्मात्राओं का आलंबन लेता है तो इस प्रकार की समाधि को विचारानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

**पांच तन्मात्राएँ हैं- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द।**

**आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधि:** सांख्य के अनुसार इंद्रियां सत्त्व प्रधान होती हैं। वितर्क और विचार से भिन्न यह समाधि की स्थिति है आनंद की। यहां स्थूल और सूक्ष्म विषय पर आलंबन नहीं किया जाता है अपितु इंद्रियों के सत्त्व स्वरूप में एकाग्रता की जाती है। इंद्रियों के सात्विक सुख की अनुभूति से ही आनंदानुगत सम्प्रज्ञात समाधि लगती है।

उपरोक्त को वेदांत में त्रिपुटि कहा गया है। इन तीनों के परस्पर संबंध को समझ लेने से आध्यात्मिक विज्ञान भी स्पष्ट हो जाता है। अंतिम और चौथी सम्प्रज्ञात समाधि है-

**अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि:** जब जीवात्मा सभी जड़ पदार्थों को स्वयं से भिन्न मानकर और समझकर अपने स्वरूप को पृथक् जान लेता है और स्वयं के स्वरूप में चित्त को एकाग्र करता है तब उस स्थिति को अस्मितानुगत सम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं।

**स्मरणीय बिंदु-**

- समाधि योग की उच्चतम अवस्था है।
- संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात समाधि दो मुख्य प्रकार हैं।
- समाधि से आत्मानुभूति होती है।
- चित्तवृत्ति निरोध समाधि का आधार है।
- समाधि मोक्ष का मार्ग प्रशस्त करती है।

**शब्दावली-**

- समाधि - पूर्ण एकाग्रता
- संप्रज्ञात - ज्ञानयुक्त
- असंप्रज्ञात - निर्विचार अवस्था
- ध्यान - मानसिक एकाग्रता
- मोक्ष - मुक्ति

**5 अंक के प्रश्न-**

1. समाधि क्या है?
2. संप्रज्ञात समाधि किसे कहते हैं?
3. असंप्रज्ञात समाधि का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. समाधि का योग में क्या महत्व है?
5. समाधि एवं ध्यान में क्या अंतर है?

**15 अंक के प्रश्न-**

1. योग दर्शन में समाधि का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. संप्रज्ञात एवं असंप्रज्ञात समाधि का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. समाधि प्राप्ति की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
4. योग साधना में समाधि के महत्व का विश्लेषण कीजिए।
5. समाधि एवं मोक्ष के संबंध को स्पष्ट कीजिए।

**MCQ-**

1. योग का अंतिम लक्ष्य क्या है?  
(क) धन  
**(ख) समाधि**  
(ग) युद्ध  
(घ) प्रसिद्धि
2. समाधि का संबंध किससे है?  
**(क) चित्त स्थिरता**  
(ख) शरीर बल  
(ग) राजनीति  
(घ) व्यापार
3. संप्रज्ञात समाधि में क्या रहता है?  
(क) अज्ञान  
**(ख) ज्ञान**  
(ग) निद्रा  
(घ) मोह
4. असंप्रज्ञात समाधि कैसी अवस्था है?  
(क) चंचल  
**(ख) निर्विचार**  
(ग) अस्थिर  
(घ) अशांत
5. समाधि किसका उच्चतम स्तर है?  
(क) व्यापार  
**(ख) योग साधना**  
(ग) राजनीति  
(घ) शिक्षा



॥ ओ३म् ॥

# न्याय-वैशेषिकदर्शन

## MDPHMJ-102



दिव्य प्रकाशन

**उद्देश्य -**

- न्याय प्रथम, पञ्चम अध्याय व वैशेषिक प्रथम, द्वितीय अध्याय के सिद्धान्तों का अवबोध कराना।
- न्याय व वैशेषिक के सूत्रार्थ व भाष्यार्थ को सहज रीति से हृदयंगम कराना।
- न्याय व वैशेषिक के पदार्थों से अवगत कराना

**परिणाम -**

- न्याय व वैशेषिक में निहित पदार्थों का ज्ञान।
- न्याय व वैशेषिक के मौलिक सिद्धान्तों का विवरण।

**खण्ड १ : न्याय दर्शन प्रथम अध्याय**

क्रेडिट-

इकाई १ : न्यायदर्शन के १६ पदार्थों की परिभाषा।

इकाई २ : प्रमाणविभाग एवं निरूपण (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द)

इकाई ३ : प्रमेयविभाग एवं निरूपण (आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख एवं अपवर्ग)

इकाई ४ : संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय आदि पदार्थों का निरूपण।

**खण्ड २ : न्याय दर्शन प्रथम अध्याय**

क्रेडिट-

इकाई ५ : वाद, जल्प, वितण्डा का निरूपण।

इकाई ६ : हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान का निरूपण।

इकाई ७ : विविध जातियों का लक्षण तथा समाधान, षट्पक्षीनिरूपण।

इकाई ८ : निग्रहस्थान का विभाग एवं लक्षणों की परीक्षा।

**खण्ड ३ : वैशेषिकदर्शन- प्रथम अध्याय**

क्रेडिट-

इकाई ९ : वैशेषिक का नामकरण, धर्म का स्वरूप एवं लक्षण, द्रव्यगुण एवं कर्म के भेद

इकाई १० : द्रव्यगुण एवं कर्म के भेद, द्रव्य-गुण एवं कर्म के लक्षण, द्रव्यगुण-कर्म का परस्पर साधर्म्य

इकाई ११ : द्रव्यगुण एवं कर्म का परस्पर कार्य-कारण भाव, सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थ, द्रव्यगुण कर्म से सत्ता का भिन्नत्व

इकाई १२ : सत्ता का नित्यत्व एवं एकत्व, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व का द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्नत्व, विशेष' नामक पदार्थ

**खण्ड ४ : वैशेषिकदर्शन- द्वितीय अध्याय**

क्रेडिट-

इकाई १३ : वायु का लक्षण, परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व, आकाश का लक्षण

इकाई १४ : आकाश का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व, आकाश की असिद्धि में नास्तिक मत का खण्डन, शब्द का अनित्यत्व

इकाई १५ : शब्द के नित्यत्व में उपस्थापित हेतुओं का खण्डन, 'काल' नामक द्रव्य का लक्षण, व्यवहार की दृष्टि से काल के भेद

इकाई १६ : काल का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व, दिशा नामक द्रव्य का लक्षण, दिशा का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व, दिशा का व्यावहारिक नानात्व

**सहायक ग्रन्थ-**

१. न्यायदर्शन (विद्योदयभाष्य सहित आचार्य उदयवीर शास्त्री)
२. न्याय दर्शन (वात्स्यायनभाष्य सहित)
३. वैशेषिक दर्शन उदयवीर शास्त्री
४. वैशेषिक दर्शन आनन्द प्रकाश
५. प्रशस्तपाद भाष्य दुण्डीराजशास्त्री।

|                                                                                                                                                  |               |
|--------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|---------------|
| <b>खण्ड-1 - १६ पदार्थों की परिभाषा एवं प्रमाणादि स्वरूप निरूपण</b>                                                                               | <b>6-</b>     |
| इकाई-1.1- न्यायदर्शन के १६ पदार्थों की परिभाषा।                                                                                                  | 6-9           |
| इकाई-1.2- प्रमाणविभाग एवं निरूपण                                                                                                                 | 10-15         |
| इकाई-1.3- प्रमेयविभाग एवं निरूपण                                                                                                                 | 16-22         |
| इकाई-1.4- संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय आदि पदार्थों का निरूपण।                                                        | 23-30         |
| <b>खण्ड-2 - तर्कशास्त्र और वाद-विवाद के प्रकार</b>                                                                                               | <b>31-67</b>  |
| इकाई-2.1 - वाद, जल्प, वितण्ड का निरूपण।                                                                                                          | 31-34         |
| इकाई-2.2 - हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान का निरूपण।                                                                                        | 35-41         |
| इकाई-2.3 - विविध जातियों का लक्षण तथा समाधान, षट्पक्षीनिरूपण                                                                                     | 42-58         |
| इकाई-2.4 - निग्रहस्थान का विभाग एवं लक्षणों की परीक्षा                                                                                           | 59-67         |
| <b>खण्ड-3 - वैशेषिकदर्शन- प्रथम अध्याय</b>                                                                                                       | <b>68-94</b>  |
| इकाई-3.1 - वैशेषिक का नामकरण, धर्म का स्वरूप एवं लक्षण, द्रव्यगुण एवं कर्म के भेद                                                                | 68-73         |
| इकाई-3.2- द्रव्यगुण एवं कर्म के भेद, द्रव्यगुण एवं कर्म के लक्षण, द्रव्य-गुण-कर्म का परस्पर साधर्म्य                                             | 74-82         |
| इकाई-3.3- द्रव्यगुण एवं कर्म का परस्पर कार्य-कारण भाव,<br>सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थ, द्रव्यगुण कर्म से सत्ता का भिन्नत्व                     | 83-89         |
| इकाई-3.4- सत्ता का नित्यत्व एवं एकत्व, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व का द्रव्य, गुण,<br>कर्म से भिन्नत्व, विशेष नामक पदार्थ                         | 90-94         |
| <b>खण्ड-4 - वैशेषिकदर्शन - द्वितीय अध्याय</b>                                                                                                    | <b>95-117</b> |
| इकाई-4.1 - वायु का लक्षण, परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व, आकाश का लक्षण                                                                | 95-101        |
| इकाई-4.2 - आकाश का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व, आकाश की असिद्धि में<br>नास्तिक मत का खण्डन, शब्द का अनित्यत्व                                         | 102-107       |
| इकाई-4.3 - शब्द के नित्यत्व में उपस्थापित हेतुओं का खण्डन,<br>'काल' नामक द्रव्य का लक्षण, व्यवहार की दृष्टि से काल के भेद                        | 108-112       |
| इकाई-4.4 - काल का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व, दिशा नामक द्रव्य का लक्षण,<br>दिशा का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व, दिशा का व्यावहारिक नानात्व | 113-117       |

## प्रस्तावना

### न्यायदर्शन का परिचय-

वैदिक परम्परा में भारतीय दर्शनशास्त्र का विशेष महत्व है। वेदादि शास्त्रों को समझने में दर्शन शास्त्र का विशेष योगदान है। भारतीय दर्शन को दो प्रकार से विभाग किया जाता है- **आस्तिक या वैदिक एवं नास्तिक या वैदिकेतर**। इस विभाग में सामान्य लोगों को भ्रान्ति हो सकती है कि ईश्वर को मानने से आस्तिक एवं नहीं मानने से नास्तिक। परन्तु यह विभाग वेद पर आधारित है। वेद को परम प्रमाण के रूप में मानने से **आस्तिक** एवं नहीं मानने से **नास्तिक** नाम से व्यवहार किया जाता है। इसलिए हम वैदिक एवं वैदिकेतर दर्शन के रूप में भारतीय दर्शन को जानते हैं। वैदिक दर्शन छः हैं- योग, सांख्य, न्याय, वैशेषिक, मीमांसा एवं वेदान्त। वैदिकेतर दर्शन मुख्यरूप से तीन हैं- जैन, बौद्ध एवं चार्वाक। वैदिक परम्परा में न्यायदर्शन का एक प्रमुख स्थान है।

न्याय दर्शन तर्क या युक्ति पर आधारित ग्रन्थ है। न्याय शब्द का अर्थ ही युक्ति पूर्वक तत्त्वों का प्रतिपादन करना है। इसका मूल उद्देश्य ज्ञान मीमांसा के माध्यम से मानव को मोक्ष मार्ग पर ले जाना है। न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं। कुछ व्याख्याकारों ने इनका नाम अक्षपाद भी लिखा है। गौतम नाम गोत्र के रूप में माना जाता है। अनेक पुराणों में न्यायदर्शन के प्रणेता के रूप में महर्षि गौतम का नाम प्राप्त होता है। न्याय सूत्र के भाष्यकार वात्स्यायन ने अपने भाष्य के अन्त में न्यायदर्शन के प्रणेता के रूप में महर्षि अक्षपाद का उल्लेख किया है।

**योऽक्षपादमृषिं न्यायः प्रत्यभाद्वदतां वरम्।**

**तस्य वात्स्यायन इदं भाष्यजातमवर्णयत्।**

इस प्रकार समन्वय दृष्टि से हम यह कह सकते हैं कि न्यायदर्शन के प्रणेता महर्षि गौतम हैं, जिनका नाम महर्षि अक्षपाद भी है। महर्षि गौतम के जन्म काल के विषय में विभिन्न विद्वानों के अलग-अलग विचार हैं। कुछ का मानना है कि महर्षि गौतम छठी शताब्दी ई.पु. से पहले के हैं। न्यायदर्शन केवल दार्शनिक विमर्शों तक ही सीमित नहीं है, बल्कि यह व्यवहारिक जीवन में भी निर्णय लेने में सहायक है। न्यायदर्शन के माध्यम से मनुष्य भ्रम, संशय और अज्ञान से मुक्त होकर सत्यमार्ग को प्राप्त कर सकता है।

### न्यायदर्शन में अध्याय विभाग-

न्याय दर्शन में पाँच अध्याय हैं। न्याय दर्शन एक सूत्रात्मक ग्रन्थ है, जिसमें कुल ५७४ सूत्र हैं। प्रत्येक अध्याय में सूत्रों के माध्यम से १६ पदार्थों का विस्तृत विवेचन किया गया है।

### अध्याय १ - १६ पदार्थों की परिभाषा एवं प्रमाणादि स्वरूप निरूपण

- न्यायदर्शन के १६ पदार्थों की परिभाषा।
- प्रमाणविभाग एवं निरूपण - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द ।
- प्रमेयविभाग एवं निरूपण - आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मनस्, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख, अपवर्ग।
- संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय आदि पदार्थों का निरूपण।
- वाद, जल्प, वितण्डा का निरूपण।
- हेत्वाभास एवं छल का विभाग एवं निरूपण।
- जाति, निग्रहस्थान का निरूपण।

### अध्याय २ - संशय एवं प्रमाणों की परीक्षा

- संशय की परीक्षा।
- प्रमाणों की परीक्षा।
- प्रमाण चतुष्टय पर चर्चा।
- शब्द प्रमाण की विश्लेषणात्मक समीक्षा।

### अध्याय ३: - आत्मा इन्द्रिय आदि की परीक्षा

- आत्मा का स्वरूप विचार।
- शरीर, इन्द्रिय एवं मन का विश्लेषण।
- बुद्धि अनित्यत्व परीक्षा।
- बुद्धि के आत्मगुणत्व की परीक्षा।
- मनस की परीक्षा।

- शरीरोत्पत्ति में अदृष्ट की कारणता।

#### अध्याय ४ - प्रवृत्ति, दोष आदि पदार्थों की परीक्षा एवं तत्त्वज्ञानोत्पत्तिविचार

- प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव का विश्लेषण।
- फल, दुःख, और अपवर्ग की परीक्षा।
- तत्त्वज्ञान की उत्पत्ति निरूपण।
- अवयवनिरूपण।
- परमाणु एवं ध्यान का विश्लेषण।

#### अध्याय: ५ - तर्कशास्त्र और वाद-विवाद के प्रकार

- विविध जातियों का लक्षण तथा समाधान।
- षट्पक्षी निरूपण।
- निग्रहस्थान का विभाग एवं निरूपण।

#### वात्स्यायन भाष्य का परिचय एवं महत्व-

न्याय दर्शन पर अनेक टीकाएँ लिखी गईं, किंतु महर्षि वात्स्यायन कृत न्यायभाष्य सर्वाधिक प्रामाणिक, प्रसिद्ध और प्राचीन भी है। महर्षि वात्स्यायन ने न्याय दर्शन के गूढ़ार्थ को स्पष्ट भाषा में वर्णन किया है। भाष्यकार ने सन्दर्भ के अनुसार विविध न्याय शब्दावली के गूढ़ार्थ को स्पष्ट करने के लिये स्पष्ट भाषा में सूत्रों का वर्णन किया है। संशय, प्रमाण, हेत्वाभास, छल, जाति, निग्रहस्थान आदि विषयों को स्पष्ट उदाहरणों के साथ विस्तार से समझाया है। आत्मा, शरीर, मनस्, बुद्धि आदि विषयों में सांख्य, बौद्ध, आदि विभिन्न दर्शनों ने मतभेद को दिखाते हुए न्याय मत के सिद्धान्त को प्रतिपादित किया गया है।

#### न्यायसूत्र एवं भाष्य के अध्ययन का प्रयोजन-

सांख्य, योग, वेदान्त मीमांसा आदि शास्त्रों के अध्ययन में न्याय शास्त्र का महत्वपूर्ण योगदान है। न्यायदर्शन न केवल प्राचीन शास्त्रों के अध्ययन में उपयोगी है, अपितु विज्ञान, तन्त्रज्ञान जैसे आधुनिक क्षेत्रों में भी उपयोगी है। न्याय दर्शन में वर्णित तर्क प्रतिपादन प्रकार 'प्रोग्रामिंग' जैसे विशिष्ट अत्याधुनिक विषयों के लिये अत्युपयोगी है। न्याय दर्शन एवं वात्स्यायन भाष्य का अध्ययन न केवल दार्शनिक जिज्ञासा को शांत करने के लिये है, अपितु वैज्ञानिक दृष्टिकोण और तार्किक चिंतन को बढ़ाने के लिये भी सहायक है। विविध शोध कार्य में तार्किक विवेचन या प्रतिपादन करने के लिये भी न्यायदर्शन उपयोगी है। न्याय दर्शन विद्या क्षेत्र तक ही सीमित नहीं है, अपितु प्रत्येक मानव के जीवन को प्रामाणिक एवं मौलिकता से युक्त विधान से जीने के लिए न्यायदर्शन पर आधारित विचार धारा की आवश्यकता है। प्रत्येक विचार (मत) में वास्तविक निर्णय लेने के लिये भी न्याय सिद्धान्त अनुकरणीय है।

## खण्ड-१ - १६ पदार्थों की परिभाषा एवं प्रमाणादि स्वरूप निरूपण

### इकाई १ - न्यायदर्शन के १६ पदार्थों की परिभाषा।

उद्देश्य:-

- १६ पदार्थों को सही से समझकर अज्ञान और भ्रम को दूर करना।
- जीवन के दुखों और जन्म-मरण के चक्र से छूटकर मोक्ष प्राप्त करना।
- किसी भी बात को बिना सबूत प्रमाण के न मानना और सही निर्णय लेना सीखना।
- वाद-विवाद में अपनी बात को सही ढंग से रखने और दूसरों के गलत तर्कों को पहचानने की कला।

महर्षि गौतम ने न्यायदर्शन का प्रारम्भ करते हुए पदार्थों का विवेचन किया है। न्यायदर्शन में १६ पदार्थ हैं। न्यायदर्शन में सबसे पहले प्रमाण को लिया है। इस पर भाष्यकार विचार करते हैं कि (प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणम्)। अर्थात् किसी भी वस्तु या विषय को जानने के लिये प्रमाण की अपेक्षा होती है। जब तक प्रमाण का ज्ञान नहीं होता है, तब तक किसी भी पदार्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। जब तक पदार्थ का ज्ञान नहीं होता है, तब तक कोई प्रवृत्ति नहीं कर सकता है।

**प्रवृत्ति क्या है?** किसी इष्ट वस्तु को प्राप्त करना या किसी अनिष्ट वस्तु का त्याग करना प्रवृत्ति है। पदार्थ को चार प्रकार से विभाजित किया जाता है- 'सुखं, सुखहेतुः, दुःखं, दुःखहेतुः'। अर्थात् सामान्य रूप से लोग जीवन के सुख को प्राप्त करना चाहते हैं एवं सुख के लिये जो कारण (साधन) है, उसको प्राप्त करना चाहते हैं। वैसे ही जो विषय को त्यागना चाहते हैं- दुःख एवं दुःख का कारण। इन सभी प्रकार के विषयों में प्रवृत्ति या निवृत्ति होने के लिये ज्ञान आवश्यक है। ज्ञान को प्राप्त करने के लिये प्रमाण अपेक्षित है। इस प्रकार प्रमाण को अत्यावश्यक समझते हुए सबसे प्रथम पदार्थ के रूप में महर्षि गौतम ने प्रमाण को लिया है। षोडश पदार्थों को बताने वाला सूत्र है -

**प्रमाणप्रमेयसंशयप्रयोजनदृष्टान्तसिद्धान्तावयवतर्कनिर्णयवादजल्पवितण्डाहेत्वाभासच्छलजातिनिग्रहस्थानानां तत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमः॥१.१.१॥**

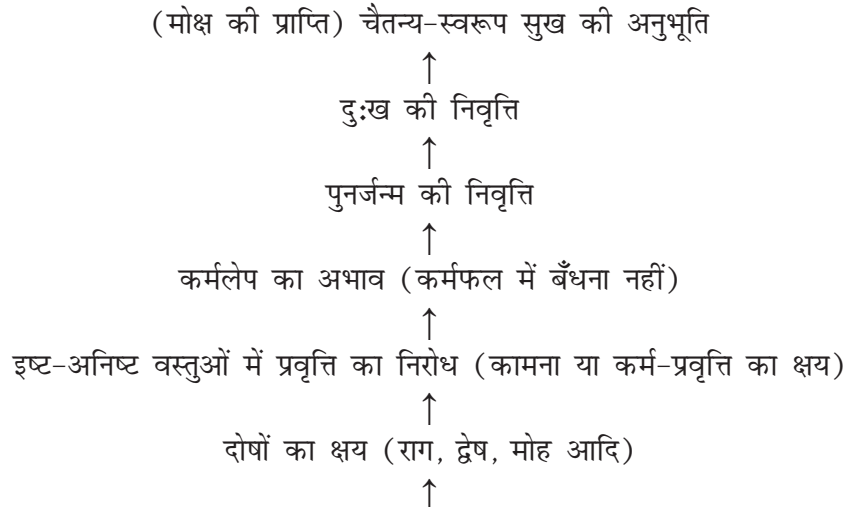
प्रमाण, प्रमेय, संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय, वाद, जल्प, वितण्डा, हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान इन १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान अर्थात् प्रामाणिक ज्ञान से निःश्रेयस अर्थात् मोक्ष की प्राप्ति होती है।

क्या इन प्रमेयों को जानने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जायेगी? मोक्ष प्राप्ति की प्रक्रिया क्या है? इस विषय में सूत्रकार उत्तर देते हैं-

**दुःखजन्मप्रवृत्तिदोषमिथ्याज्ञानानामुत्तरोत्तरापाये तदनन्तरापायादपवर्गः॥ १.१.२॥**

दुःख, जन्म, प्रवृत्ति दोष, मिथ्याज्ञान इनके उत्तर-उत्तर के नष्ट होने से पूर्व-पूर्व की निवृत्ति होने से अपवर्ग की प्राप्ति होती है। अथ. तत्त्वज्ञान की प्राप्ति से साक्षात् मोक्ष की प्राप्ति नहीं होती है, तत्त्वज्ञान से मिथ्याज्ञान का नाश, मिथ्याज्ञान के नाश से दोष का नाश, दोष के नाश से इष्ट-अनिष्ट वस्तुओं के प्रति प्रवृत्ति नहीं होती है, जब प्रवृत्ति नहीं होती, तब कर्म लेप न होने के फलस्वरूप जन्म नहीं होगा। जब जन्म नहीं होगा, तब दुःख का अनुभव भी नहीं होगा। इस प्रकार १६ पदार्थों के तत्त्वज्ञान से दुःखाभावात्मक या सुख रूप मोक्ष की प्राप्ति होगी।

**मोक्ष की प्राप्ति के लिए तत्त्वज्ञान कारण है -**



मिथ्याज्ञान (अविद्या) की निवृत्ति  
↑  
तत्त्वज्ञान (पदार्थों के यथार्थ ज्ञान) की प्राप्ति

**स्मरणीय बिंदु:-**

- प्रणेता और परिचय न्याय दर्शन के रचयिता महर्षि गौतम अक्षपाद हैं। यह एक आस्तिक दर्शन है जिसे तर्कशास्त्र या प्रमाणशास्त्र भी कहा जाता है।
- संरचना इस दर्शन के मूल ग्रंथ न्यायसूत्र में 5 अध्याय और कुल 530 सूत्र हैं। महर्षि वात्स्यायन का भाष्य इसका सबसे प्राचीन और प्रामाणिक टीका ग्रंथ है।
- मुख्य सिद्धांत 16 पदार्थ न्याय दर्शन 16 पदार्थों जैसे प्रमाण, प्रमेय, तर्क, वाद आदि के तत्त्वज्ञान पर आधारित है। इसमें माना गया है कि सही ज्ञान से ही मिथ्याज्ञान का नाश होता है।
- प्रमाण और ज्ञान ज्ञान प्राप्त करने के साधनों को प्रमाण कहा गया है। न्याय दर्शन के अनुसार, प्रमाण वह है जिससे वस्तु का सही ज्ञान हो और जीवन की प्रवृत्तियाँ फल हों।
- मोक्ष का मार्ग राग, द्वेष और मोह जैसे दोषों को दूर कर तत्त्वज्ञान प्राप्त करना ही मोक्ष का एकमात्र साधन है। यह दर्शन वैशेषिक के समान होने के कारण उसका समानतंत्र कहलाता है।

**शब्दावली:-**

|             |                              |
|-------------|------------------------------|
| प्रमाण      | - ज्ञान का साधन              |
| प्रमेय      | - जानने योग्य विषय           |
| तत्त्वज्ञान | - यथार्थ ब्रह्मसही ऋतु ज्ञान |
| मिथ्याज्ञान | - गलत जानकारी या भ्रम        |
| अपवर्ग      | - मोक्ष या दुखों से मुक्ति   |
| दोष         | - राग, द्वेष और मोह          |
| प्रवृत्ति   | - कर्म करने की चेष्टा        |
| संशय        | - दुविधा या शक               |
| प्रयोजन     | - कार्य का उद्देश्य          |
| दृष्टान्त   | - दाहरण                      |
| निर्णय      | - अंतिम फैसला                |

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-**

- प्रश्न 1: भारतीय दर्शन की परंपरा में न्यायदर्शन के स्थान और उसके उद्देश्य का सविस्तार वर्णन कीजिए।
- प्रश्न 2: न्यायदर्शन के पाँच अध्यायों की विषय-वस्तु का सारांश प्रस्तुत कीजिए। महर्षि वात्स्यायन के भाष्य का इसमें क्या महत्व है?
- प्रश्न 3: न्यायसूत्र 1.1.1 के आलोक में 16 पदार्थों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिए कि इनका ज्ञान मोक्ष के लिए क्यों आवश्यक है?
- प्रश्न 4: न्यायसूत्र 1.1.2 के आधार पर मोक्ष अपवर्ग प्राप्ति की क्रमिक प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन कीजिए।

**लघूत्तरीय प्रश्न:-**

- प्रश्न 1: न्याय शब्द का क्या अर्थ है और इसके प्रणेता कौन हैं?
- प्रश्न 2: भारतीय दर्शन के आस्तिक और नास्तिक विभाग का आधार क्या है?
- प्रश्न 3: न्यायदर्शन में कितने अध्याय और कुल कितने सूत्र हैं?
- प्रश्न 4: प्रथम अध्याय की विषय-वस्तु क्या है?
- प्रश्न 5: प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाणं का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
- प्रश्न 6: न्यायदर्शन के अनुसार प्रवृत्ति के दो रूप कौन से हैं?
- प्रश्न 8: मोक्ष अपवर्ग प्राप्ति में दोष की क्या भूमिका है?



प्रश्न 9: वात्स्यायन भाष्य का क्या महत्व है?

**बहुविकल्पीय प्रश्न:-**

1. न्यायदर्शन के प्रणेता (ऋषि) कौन हैं?  
(A) महर्षि कणाद  
(B) **महर्षि गौतम**  
(C) महर्षि कपिल  
(D) महर्षि पतंजलि
2. भारतीय दर्शन परंपरा में न्यायदर्शन को क्या माना जाता है?  
(A) नास्तिक दर्शन  
(B) **अवैदिक दर्शन**  
(C) आस्तिक वैदिक दर्शन  
(D) केवल भौतिकवादी दर्शन
3. न्यायदर्शन का दूसरा नाम अक्षपाद दर्शन क्यों है?  
(A) **क्योंकि इसके प्रणेता का एक नाम अक्षपाद है**  
(B) क्योंकि यह पैर से संबंधित है  
(C) क्योंकि यह केवल चलने का उपदेश देता है  
(D) इनमें से कोई नहीं
4. न्यायदर्शन पर सबसे प्राचीन और प्रामाणिक भाष्य किसने लिखा है?  
(A) उदयनाचार्य  
(B) वाचस्पति मिश्र  
(C) **महर्षि वात्स्यायन**  
(D) जयंत भट्ट
5. न्यायसूत्र के अनुसार कितने पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है?  
(A) 7  
(B) 12  
(C) **16**  
(D) 25
6. प्रमाणप्रमेयसंशय... सूत्र में प्रथम स्थान पर किस पदार्थ को रखा गया है?  
(A) प्रमेय  
(B) संशय  
(C) **प्रमाण**  
(D) प्रयोजन
7. न्यायदर्शन के अनुसार दोष की श्रेणी में कौन आते हैं?  
(A) सुख और दुःख  
(B) **राग, द्वेष और मोह**  
(C) जन्म और मृत्यु  
(D) केवल क्रोध
8. मोक्ष अपवर्ग की प्राप्ति के लिए सबसे पहले किसका नाश होना आवश्यक है?  
(A) दुःख का  
(B) जन्म का  
(C) **मिथ्याज्ञान का**

(D) प्रवृत्ति का

9. किसी इष्ट वस्तु को प्राप्त करने या अनिष्ट को छोड़ने की चेष्टा क्या कहलाती है?

(A) निर्णय

(B) प्रवृत्ति

(C) जल्प

(D) वितंडा

10. न्यायदर्शन में अपवर्ग का वास्तविक स्वरूप क्या है?

(A) स्वर्ग में निवास

(B) दुखों का आत्यंतिक अभाव

(C) देवताओं जैसी शक्ति पाना

(D) केवल धान की प्राप्ति

11. न्यायदर्शन में कुल कितने अध्याय और सूत्र हैं?

(A) 10 अध्याय, 1000 सूत्र

(B) 5 अध्याय, 530 सूत्र

(C) 6 अध्याय, 370 सूत्र

(D) 12 अध्याय, 200 सूत्र

12. प्रमाणतोऽर्थप्रतिपत्तौ प्रवृत्तिसामर्थ्यादर्थवत्प्रमाण यह कथन किसका है?

(A) महर्षि गौतम का (सूत्र)

(B) महर्षि वात्स्यायन का (भाष्य)

(C) चार्वाक का

(D) बुध का

## इकाई 1.2 – प्रमाणविभाग एवं निरूपण

### ( प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान एवं शब्द )

उद्देश्य:-

- यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति यह समझना कि बुद्धि ज्ञान की उत्पत्ति और उसकी सत्यता की परीक्षा कैसे की जाती है।
- प्रमाणों का विश्लेषण न्यायसूत्रकार महर्षि गौतम के अनुसार प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द इन चार प्रमाणों के स्वरूप और भेदों को समझना।
- वैज्ञानिक तार्किकता भारतीय दर्शन में किसी बात को सिद्ध करने के लिए केवल विश्वास नहीं, बल्कि तार्किक आधार जैसे व्याप्ति ज्ञान या आप्त वचन की आवश्यकता को जानना।
- भ्रम निवारण ज्ञान के लक्षणों अव्यभिचारि आदि के माध्यम से संशय और मिथ्या ज्ञान के बीच अंतर स्पष्ट करना।

प्रमाण शब्द का अर्थ है - 'प्रमीयते अनेन इति प्रमाणम्' अथवा 'प्रमाकरणं प्रमाणम्' अर्थात् यथार्थ ज्ञान उत्पन्न होने के लिए प्रमाण एक मुख्य साधन है। न्यायशास्त्र के अनुसार चार प्रमाण होते हैं - 'प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि' - प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द।

अनुमान- मितेन लिगेनाऽर्थस्य पश्चान्मानमनुमानम् ।

उपमानं - सारूप्यज्ञानं - यथा गौरेवं गवय इति ।

सारूप्यं तु सामान्ययोगः ।

शब्दः - शब्दतेऽनेनार्थ इत्यभिधीयते ज्ञाप्यते ।

प्रत्यक्ष ज्ञान इन्द्रियों के माध्यम से होता है। प्रत्यक्षज्ञान के माध्यम से हम किसी वस्तु को बिना किसी मध्यस्थ के जानते हैं। अनुमान उस ज्ञान को कहते हैं, जो किसी अन्य ज्ञात लक्षण के आधार पर किसी अज्ञात वस्तु के विषय में ज्ञान प्राप्त होता है। जैसे - धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान होना। उपमान एक प्रकार का सादृश्य ज्ञान है, जिसमें पहले से ज्ञात और नये विषय के बीच समानता के आधार पर ज्ञान होता है। शब्द प्रमाण वह ज्ञान है जो योग्य व्यक्ति ऋषि, गुरु या शास्त्र की वाणी से प्राप्त होता है, जैसे - वेदवाक्य।

### २.१ प्रत्यक्षप्रमाण

न्यायदर्शन में वर्णित चतुर्विधा प्रमाण में पहला प्रकार है-प्रत्यक्षप्रमाण। इसका लक्षण महर्षि गौतम कहते हैं -

इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेशमव्यभिचारि व्यवसायात्मकं प्रत्यक्षम् ॥१.१.४॥

इन्द्रियस्यार्थेन सन्निकर्षादुत्पद्यते यज्ज्ञानं, तत् प्रत्यक्षम्। किसी भी पदार्थ विशेष के साथ किसी एक इन्द्रिय विशेष का सन्निकर्ष अर्थात् सम्पर्क होने से जो ज्ञान उत्पन्न होता है, उसे प्रत्यक्ष ज्ञान कहते हैं। जो अव्यपदेश, अव्यभिचारि एवं व्यवसायात्मक भी होना चाहिये।

वस्तुतः यह प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण है, जिसमें तीन शब्दों को विशेषण के रूप में जोड़ा गया है। शास्त्र में एक नियम है कि 'लक्षणघटित-विशेषणानां व्यभिचारवारकताया एव सार्थक्यम्'। अर्थात् किसी भी वस्तु, व्यक्ति या विषय का लक्षण बताते समय अनावश्यक शब्दों का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। यदि हम किसी शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, वह शब्द किसी व्यभिचार अर्थात् समस्या का परिहार करे। प्रस्तुत सूत्र में भी तीन विशेषणों का प्रयोग किया गया है - अव्यपदेश, अव्यभिचारि एवं व्यवसायात्मक। उन शब्दों के अर्थ एवं प्रयोजन को भाष्य में समझाया गया है।

अव्यपदेश शब्द क्यों है?

ज्ञान प्राप्त होने के अनेक साधन या मार्ग हैं, जिसमें शब्दार्थ व्यवहार भी है। शब्दार्थ व्यवहार में 'कौन सा शब्द किस वस्तु के लिए है' यह व्यवहार से ही ज्ञात होता है। अर्थात् नाम, जाति आदि सहित शब्दार्थ का ज्ञान होता है। इसी ज्ञान को शाब्दिक या सविकल्पक (विकल्प सहित) ज्ञान भी कहते हैं। इसी को व्यपदेश शब्द से कहा है। परन्तु प्रत्यक्ष ज्ञान, शब्दार्थ ज्ञान के समान सविकल्पक नहीं होता है, निर्विकल्पक होता है। - प्रत्यक्ष ज्ञान नाम, जाति आदि से रहित ज्ञान होता है। प्रत्यक्ष के लक्षण में इसी कारण से अव्यपदेश शब्द को जोड़ा है। उदाहरण के लिये किसी भी वस्तु को हमने जब तक देखा न हो, तब तक जितना भी शब्दों से उसका वर्णन किया जाये, उस वस्तु के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होना संभव नहीं है। देखने से ही वास्तविक ज्ञान होता है।

अव्यभिचारि शब्द क्यों है?

“अव्यभिचार” शब्द का अर्थ है- व्यभिचार या बाधा न होना। यदि यह शब्द (अव्यभिचारि) सूत्र में न दिया जाये, तो भ्रम को

भी यथार्थ ज्ञान के रूप में मानना पड़ेगा। भ्रमात्मक ज्ञान को हटाने के लिए अव्यभिचार शब्द का प्रयोग किया गया है। 'रस्सी को देख कर साँप समझना' – इस ज्ञान में इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध होने पर भी प्रामाणिक ज्ञान नहीं हो रहा है। इस लिए इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष से उत्पन्न प्रत्यक्ष ज्ञान व्यभिचार रहित भी होना चाहिये।

**व्यवसायात्मक शब्द क्यों है?**

“व्यवसायात्मक” शब्द का अर्थ है– निश्चयात्मक अर्थात् संशयात्मक ज्ञान का न होना। जैसे, दूर किसी वस्तु को देखने पर, दूरी के कारण ठीक से वस्तु दिखायी नहीं देती है। केवल लम्बे आकार से युक्त वस्तु ही दिखायी देती है, तब हमें यह संशय हो सकता है कि यह कोई पुरुष है या स्तम्भ है? इस ज्ञान में भी इन्द्रिय और पदार्थ का सम्बन्ध हुआ और यह ज्ञान भ्रम भी नहीं है, तो यह भी प्रत्यक्ष होना चाहिये। परन्तु यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है। इस कारण से प्रत्यक्ष के लक्षण में व्यवसायात्मक शब्द जोड़ा गया है, क्योंकि यह जो ज्ञान है– निश्चयात्मक नहीं है, अपितु संशयात्मक है। अतः यह प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं है।

**उदाहरण–**

जब एक बालिका पेड़ को देखती है, तब चक्षु-इन्द्रिय और पेड़ अर्थात् पदार्थ का सम्बन्ध होता है। इन्द्रिय-पदार्थ संयोग के बाद इन्द्रिय स्व-गृहीत विषय अर्थात् पेड़ का आकार (रूप) को मन के पास पहुँचाता है। मन के माध्यम से आत्मा को ज्ञान होता है – यह पेड़ है। यह जो ज्ञान है, वह इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। यह ज्ञान अव्यपदेश अर्थात् शब्द व्यवहार से नहीं हुआ है। यह ज्ञान अव्यभिचारि अर्थात् बाधित नहीं हो रहा है – मुझे जो दिखा था वह दूसरों को भी दिख रहा है और निश्चयात्मक भी है। अतः यह सिद्ध होता है कि यह जो ज्ञान है, वह प्रत्यक्ष है।

**२.२ अनुमान प्रमाण**

प्रत्यक्ष प्रमाण को समझने के पश्चात् भाष्यकार अनुमान प्रमाण का बोध करा रहे हैं। सर्वप्रथम अनुमान शब्द का अर्थ है – ‘अनुसृत्य मानम् अनुमानम्’ अर्थात् यह प्रमाण किसी अन्य प्रमाण पर आश्रित होकर ज्ञान को प्राप्त कराने वाला साधन है। प्रत्यक्ष वस्तु या विषय से अप्रत्यक्ष वस्तु या विषय को जानना ही अनुमान है। जैसे दूर धुआँ को देख कर आग को जानना। यहां हमने आग को नहीं देखा था, फिर भी धुआँ और आग के बीच में होने वाले सम्बन्ध को जान कर धुआँ देखते हुए आग का भी ज्ञान प्राप्त हो जाता है।

अनुमान प्रमाण का वर्णन न्याय दर्शन में विस्तार से किया गया है –

अथ तत्पूर्वकं त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यातोदृष्टं च ॥१.१.५॥

तत्पूर्वकमित्यनेन लिंगलिङ्गिनोः सम्बन्धदर्शनं लिङ्गदर्शनं चाऽभिसम्बध्यते । लिंगलिङ्गिनोः सम्बन्धयोर्दर्शनेन लिङ्गस्मृतिरभिसम्बध्यते । स्मृत्या लिंगदर्शनेन चाऽप्रत्यक्षोऽर्थोऽनुमीयते ।

प्रत्यक्ष प्रमाण के बाद प्रत्यक्षपूर्वक होनेवाला अनुमान है। वह अनुमान तीन प्रकार का है – पूर्ववत्, शेषवत् एवं सामान्यतोदृष्ट। जैसे एक बालक ने पहाड़ के ऊपर धुआँ को देखा। उसने इससे पहले धुआँ को यज्ञशाला और पाकशाला में देखा था। उसने धुआँ के साथ अग्नि को भी देखा था। इससे धुआँ और अग्नि के बीच में जो सम्बन्ध है, उसका बोध बालक को हुआ– कि जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ आग भी होता है। इस सम्बन्ध को स्मरण कर यहां भी पर्वत में धुआँ को देखा और अग्नि को अनुमान से सिद्ध किया। अग्नि को नहीं देखने पर भी उसे अग्नि का ज्ञान हुआ। यहां अनुमान करने के लिये दो विषयों का प्रत्यक्ष ज्ञान कारण है– एक धुआँ का प्रत्यक्ष जो अभी हुआ, दूसरा विविध सन्दर्भ में हुए धुआँ और अग्नि के सम्बन्ध का प्रत्यक्ष। इन दोनों के प्रत्यक्षपूर्वक जब किसी अन्य वस्तु या विषय को जानते हैं, तो इसे अनुमान कहते हैं। इसमें जिस विषय का ज्ञान होता है, उसे साध्य या लिंगी कहते हैं। ज्ञान के लिये कारण है – धुआँ का प्रत्यक्ष, अतः धुआँ को साधन या हेतु या लिंग कहते हैं।

**पूर्ववत् अनुमानः पूर्ववदिति-यत्र कारणेन कार्यमनुमीयते, यथा मेघोन्नत्या भविष्यति वृष्टिरिति।**

पूर्ववत् अनुमान की दो प्रकार से भाष्य में व्याख्या की गई है– जिसमें प्रथम प्रकार है , कारण से कार्य का अनुमान करना, जैसे बादल को देखकर बारिश का अनुमान करना। यहां भी हेतु और साध्य के बीच में संबंध होने पर ही प्रामाणिक या अव्यभिचारि अनुमान होता है। यहां बादल और बारिश इन दोनों के बीच में जो सम्बन्ध है, उसे अनुमान में प्रयोग करने से पूर्व विभिन्न संदर्भ में देखा है और जो साधन या लिंग है– “बादल” उसका भी वर्तमान में प्रत्यक्ष हुआ है, अतः इस अनुमान से बारिश को सिद्ध कर सकते हैं। यह कारण से कार्य का अनुमान करना है।

द्वितीय प्रकार की व्याख्या ऐसी है– प्रत्यक्ष वस्तु को देखकर अप्रत्यक्ष वस्तु का अनुमान करना। जैसे प्रत्यक्ष धुआँ को देखकर अप्रत्यक्ष अग्नि का अनुमान करना। जिस प्रकार अग्नि को हमने देखा नहीं था, केवल धूम को देखा था। किन्तु इससे पूर्व अनेकों बार यज्ञशाला, पाकशाला आदि संदर्भ में अग्नि और धूम दोनों को एक साथ देखा था। इस सम्बन्ध के आधार पर धूम को देखकर अग्नि का अनुमान किया जा सकता है।

**शेषवत् अनुमानः शेषवत्तत्-यत्र कार्येण कारणमनुमीयते, पूर्वोदकविपरीतमुदकं नद्याः पूर्णत्वं शीघ्रत्वञ्च दृष्ट्वा स्रोतसोऽनुमीयते**

## भूता वृष्टिरिति ।

शेषवत् अनुमान की भी दो प्रकार से व्याख्या भाष्य में की गयी है।

**प्रथम व्याख्या-** कार्य से कारण का अनुमान करना। जैसे कार्य को अर्थात् नदी में अत्याधिक तीव्र जल प्रवाह को देखकर कारण अर्थात् पर्वत के ऊपर बारिश का अनुमान हो जाना। यहां भी दो विषयों का प्रत्यक्ष होना अनिवार्य है। अर्थात् जो हेतु या साधन है- नदी का जल प्रवाह उसका भी प्रत्यक्ष होना चाहिए, साथ ही साथ नदी प्रवाह और पर्वत के ऊपर बारिश इन दोनों के बीच में जो सम्बन्ध है, उसका भी पूर्व में प्रत्यक्ष होना चाहिए।

पूर्ववत् अनुमान और शेषवत् अनुमान इन दोनों में कार्य और कारण के बीच में होने वाला सम्बन्ध समान है। तो प्रश्न उठ सकता है कि यह पूर्ववत् और शेषवत् अनुमानों में क्या अंतर है? इन दोनों में यह अंतर है- पूर्ववत् अनुमान में कारण को देखकर कार्य का अनुमान होता है और शेषवत् अनुमान में कार्य को देखकर कारण का अनुमान किया जाता है।

**द्वितीय व्याख्या-** 'शेष' शब्द का 'परिशेष' अर्थ करना अर्थात् किसी एक विषय पर विचार करते हुए प्रत्येक अनुमान से उसे असंबद्ध करते हुए अर्थात् सभी कारणों को खंडित करने पर अंत में विद्यमान कारण को सिद्ध करने के लिए एक नया लिंग या हेतु बताने की आवश्यकता नहीं होती है। जब एक को छोड़कर बाकी सभी कारणों का निषेध कर दिया जाये, तब जो शेष बचता है, वही कारण होता है।

जैसे- शब्द न्याय दर्शन के अनुसार एक गुण है। इस विषय पर यदि किसी को संशय हुआ यह शब्द, द्रव्य है या कर्म है या गुण है? और यह भी निश्चय है कि इन तीनों से अतिरिक्त बिल्कुल नहीं। तब शब्द द्रव्य नहीं है, ऐसा सिद्ध करने के लिए एक अनुमान का प्रयोग किया। शब्द कर्म नहीं है, ऐसा सिद्ध करने के लिए दूसरा अनुमान का भी प्रयोग किया। जब शब्द द्रव्य नहीं है और कर्म भी नहीं है, तब यह सिद्ध हो गया है कि शब्द गुण है। इसी को **परिशेष अनुमान** कहते हैं। ऐसे अनुमान को सामान्य रूप से अधिक स्पष्टता हेतु प्रयोग किया जाता है। जब बाकी सब विकल्पों का निराकरण कर दिया जाता है, तब उस विषय में भ्रम होने की सम्भावना नहीं है।

**सामान्यतोदृष्टं ब्रज्यापूर्वकमन्यत्र दृष्टस्याऽन्यत्र दर्शनमिति, तथा चाऽऽदित्यस्य, तस्मादस्त्यप्रत्यक्षाऽप्यादित्यस्य ब्रज्येति ।**

सामान्यतोदृष्ट अनुमान में साध्य तथा हेतु दोनों का प्रत्यक्ष नहीं होता है। जब साध्य तथा हेतु का प्रत्यक्ष नहीं होगा, तब उन दोनों में विद्यमान सम्बन्ध का भी प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। तब साधन के एक सामान्य स्वरूप को लेकर साध्य को सिद्ध करना ही **सामान्यतोदृष्ट अनुमान** है। जैसे इच्छा, ज्ञान आदि गुणों को आत्मा के गुण के रूप में समर्थन करना।

यहां इच्छा, ज्ञान आदि गुण भी प्रत्यक्ष योग्य नहीं हैं और जिस पर इन गुणों को सिद्ध करना चाहते हैं वह आत्मा भी प्रत्यक्ष योग्य नहीं है। दोनों अप्रत्यक्ष होने पर कैसे प्रमाण के द्वारा सिद्ध करें? ऐसा प्रश्न हो सकता है। इसीलिए महर्षि गौतम ने **सामान्यतोदृष्ट अनुमान** को सूचित किया है। दोनों विषय अप्रत्यक्ष होने पर भी इनको अनुमान प्रमाण से सिद्ध किया जा सकता है। सामान्य नियम के आधार पर अर्थात् इच्छा आदि पदार्थ गुण के अन्तर्गत हैं। गुण द्रव्य में ही होता है। और यह जो इच्छा, ज्ञान आदि गुण हैं, उसका आश्रय द्रव्य है- आत्मा। ऐसे एक सामान्य नियम के आधार पर इच्छा, ज्ञान आदि गुण आत्मा के हैं, ऐसा सिद्ध कर सकते हैं।

## २.३ उपमान प्रमाण

भाष्यकार अनुमान प्रमाण से अवगत करा कर अब संदर्भ प्राप्त उपमान प्रमाण से अवगत कराते हैं।

**प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम् ॥ १.१.६ ॥**

**प्रज्ञातेन सामान्यात्प्रज्ञापनीयस्य प्रज्ञापनमुपमानमिति ।**

जाने हुए पदार्थ के समान धर्म को लेकर अन्य पदार्थ को जानना ही **उपमान प्रमाण** है। जैसे- एक बालक को गौ का ज्ञान है, परन्तु गवय का ज्ञान नहीं है। तब एक वृद्ध ने कहा जिस प्रकार गौ होती है, उसी प्रकार गवय (नील गाय) भी होती है। एक दिन बालक को वन में जाते हुए गौ के समान एक प्राणी दिखा और उसको वृद्ध का वचन याद आया, उसने सिद्ध किया यह गवय है, क्योंकि गौ के समान हैं। यही **उपमान प्रमाण** है।

## २.४ शब्द प्रमाण

प्रमाण सरणी में प्राप्त अन्तिम प्रमाण है- शब्द प्रमाण। यदि प्रमाण के रूप में शब्द को भी स्वीकार किया गया है, तो हम प्रत्येक विषय में अनेक शब्दों का प्रयोग करते हैं, **क्या वह सारे शब्द प्रमाण हो जायेंगे?** इस प्रश्न के लिए महर्षि गौतम ने शब्द प्रमाण का लक्षण बताया -

**आप्तोपदेशः शब्दः ॥ १.१.७॥**

आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्याऽर्थस्य चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ।  
साक्षात्करणमर्थस्याऽऽप्तिः तथा प्रवर्तत इत्याप्तः ।

आप्त का उपदेश ही **शब्द** है। **आप्त का लक्षण क्या है?** प्रमाण पूर्वक जिन पुरुषों ने ज्ञान को प्राप्त किया हो और उसको प्रामाणिकता के साथ बाकी लोगों को यथावत् जो उपदेश करता है, वह **आप्त** है। किसी भी विषय का प्रामाणिक समझ होता है- **आप्ति** और यह जिसके द्वारा होता है वह **आप्त** है।

शब्द प्रमाण को दो प्रकार से विभाग किया जाता है- **दृष्टार्थ** एवं **अदृष्टार्थ**। दृष्टार्थ वह होता है, जो शब्द प्रमाण से इहलोक में प्रयोजन पूर्ण होता है। यदि शब्द प्रमाण से पारलौकिक प्रयोजन का उपदेश किया जाता है, तो वह अदृष्टार्थ है। **अर्थ** शब्द **प्रयोजन** के लिये प्रयुक्त हुआ है। प्रमाणों के परस्पर भेद और प्रयोग की स्थिति को समझना अत्यंत आवश्यक है, क्योंकि तभी प्रमेय आदि पदार्थों का ज्ञान हो सकता है। यह अधिकरण स्पष्ट करता है कि प्रमाण का उद्देश्य सत्य की प्राप्ति और मिथ्या ज्ञान से रक्षा करना है। यह भी बताया गया है कि कोई भी ज्ञान प्रमाण के बिना यथार्थ नहीं माना जा सकता। अतः यह विषय आत्मसाक्षात्कार के लिए मूलभूत आधार है।

#### **मरणीय बिंदु:-**

- प्रमाण चतुष्टय न्यायदर्शन ज्ञान प्राप्ति के चार मुख्य साधन मानता है प्रत्यक्ष , अनुमान , उपमान और शब्द ।
- प्रत्यक्ष का स्वरूप इन्द्रिय और विषय के संयोग से उत्पन्न वह ज्ञान जो भ्रमरहित अव्यभिचारि, निश्चित व्यवसायात्मक और शब्दों के विवरण से स्वतंत्र अव्यपदेश्य हो, प्रत्यक्ष कहलाता है।
- अनुमान के भेद अनुमान प्रत्यक्ष पर आधारित होता है और इसके तीन प्रकार हैं पूर्ववत् कारण से कार्य, शेषवत् कार्य से कारण या परिशेष और सामान्यतोदृष्ट सामान्य लक्षणों के आधार पर।
- उपमान और सादृश्य प्रसिद्ध वस्तु की समानता सादृश्य के आधार पर किसी अपरिचित वस्तु का ज्ञान प्राप्त करना उपमान प्रमाण है जैसे गाय के समान नीलगाय।
- शब्द प्रमाण और आप्त यथार्थ वक्ता या आप्त पुरुष के उपदेश को शब्द प्रमाण कहते हैं इसके दो मुख्य भेद हैं दृष्टार्थ प्रत्यक्ष विषयों के लिए और अदृष्टार्थ परोक्ष या आध्यात्मिक विषयों के लिए।

#### **शब्दावली:-**

1. प्रमाण- वह साधन या तरीका जिससे हमें बिल्कुल सही और सच्चा ज्ञान मिलता है।
2. सन्निकर्ष -जब हमारी इन्द्रियाँ जैसे आँख, कान, नाक किसी चीज या वस्तु के संपर्क में आती हैं।
3. अव्यपदेश्य- ऐसा ज्ञान जिसे हम महसूस तो करते हैं, लेकिन उसे तुरंत शब्दों या नाम में नहीं बता पाते।
4. अव्यभिचारि- वह ज्ञान जो पूरी तरह सही हो और जिसमें कोई भ्रम या गलती न हो जैसे रस्सी को सांप न समझना।
5. व्यवसायात्मक- पूरी तरह से पक्का और निश्चित ज्ञान, जिसमें कोई शक या शायद न हो।
6. व्याप्ति- दो चीजों के बीच का ऐसा पक्का रिश्ता जहाँ एक के होने पर दूसरा जरूर होगा जैसे जहाँ धुआँ है, वहाँ आग का होना।
7. आप्त- एक ऐसा विश्वसनीय और सच्चा व्यक्ति जो बात को जैसा जानता है, वैसा ही सच-सच बताता है।
8. सादृश्य -दो अलग-अलग चीजों के बीच दिखने वाली समानता या एक जैसा रूप।
9. पूर्ववत् -कारण को देखकर होने वाला अनुमान। जैसे आसमान में घने काले बादल देखकर यह सोचना कि बारिश होगी।
10. शेषवत् -किसी असर या कार्य को देखकर उसके कारण का पता लगाना। जैसे सुबह गीली सड़कें देखकर यह अंदाजा लगाना कि रात को बारिश हुई थी

#### **दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-**

प्रश्न 1: न्यायदर्शन के अनुसार प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण क्या है? सूत्र 1.1.4 में प्रयुक्त विशेषणों अव्यपदेश्य, अव्यभिचारि, व्यवसायात्मक की सविस्तार व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 3: उपमान प्रमाण और शब्द प्रमाण का लक्षण स्पष्ट कीजिए। आप्त पुरुष की परिभाषा देते हुए शब्द प्रमाण के भेदों पर प्रकाश डालिए।

प्रश्न 4: प्रत्यक्ष और अनुमान के परस्पर संबंध की विवेचना कीजिए। क्या अनुमान प्रमाण प्रत्यक्ष के बिना संभव है? भाष्यानुसार उत्तर दीजिए।

#### **लघूत्तरीय प्रश्न:-**

प्रश्न 1: न्यायदर्शन के अनुसार प्रमाण की संख्या कितनी है?

प्रश्न 2: प्रत्यक्ष ज्ञान का मूल कारण क्या है?

प्रश्न 3: प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्यभिचारि शब्द का क्या प्रयोजन है?

- प्रश्न 4: अनुमान प्रमाण का आधार क्या है?
- प्रश्न 5: शेषवत् अनुमान के दो अर्थ क्या हैं?
- प्रश्न 6: उपमान प्रमाण किसे कहते हैं?
- प्रश्न 7: आप्त पुरुष का लक्षण क्या है?
- प्रश्न 8: शब्द प्रमाण के कितने भेद हैं?
- प्रश्न 9: सामान्यतोदृष्ट अनुमान का उदाहरण क्या है?

**बहुविकल्पीय प्रश्न:-**

- न्यायसूत्र 1.1.4 के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति का मुख्य कारण क्या है?
  - केवल मन का चिंतन
  - इन्द्रिय और अर्थ विषय का सन्निकर्ष**
  - शब्दों का श्रवण
  - गुरु का उपदेश
- प्रत्यक्ष के लक्षण में अव्यभिचारि पद का क्या अर्थ है?
  - नाम रहित ज्ञान
  - भ्रामक न होना यथार्थ ज्ञान**
  - संशय वाला ज्ञान
  - स्मरणात्मक ज्ञान
- बादलों की उन्नति काले बादल देखकर वर्षा का अनुमान करना किस प्रकार का अनुमान है?
  - शेषवत्
  - सामान्यतोदृष्ट
  - पूर्ववत्**
  - प्रत्यक्ष
- कार्य को देखकर कारण का अनुमान करना क्या कहलाता है?
  - पूर्ववत्
  - शेषवत्**
  - उपमान
  - शब्द
- सूर्य की स्थिति परिवर्तन से उसकी गति का अनुमान करना किस भेद के अंतर्गत आता है?
  - पूर्ववत्
  - शेषवत्
  - सामान्यतोदृष्ट**
  - आप्तोपदेश
- प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनम्... किस प्रमाण का सूत्र है?
  - प्रत्यक्ष
  - अनुमान
  - उपमान**
  - शब्द
- उपमान प्रमाण का मुख्य आधार क्या है?
  - व्याप्ति ज्ञान
  - इन्द्रिय संयोग
  - साधर्म्य समानता**
  - आप्त वचन
- आप्त पुरुष का लक्षण न्यायदर्शन में क्या माना गया है?
  - जो बहुत विद्वान हो



- (B) जो केवल संस्कृत बोले  
(C) जो साक्षात्कृतधर्मा और यथार्थ वक्ता हो  
(D) जो मौन रहे
9. शब्द प्रमाण के दृष्टार्थ और अदृष्टार्थ दो भेद किस आधार पर किए गए हैं?  
(A) वक्ता के आधार पर  
(B) विषय प्रयोजन के आधार पर  
(C) भाषा के आधार पर  
(D) काल के आधार पर
10. आप्तोपदेशः ----- रिक्त स्थान की पूर्ति करें:  
(A) प्रत्यक्षः  
(B) अनुमानम्  
(C) शब्दः  
(D) प्रमेय
11. न्यायदर्शन में निर्विकल्पक बिना नाम-जाति के ज्ञान को सूत्र के किस शब्द से सूचित किया गया है?  
(A) अव्यभिचारि  
(B) अव्यपदेश्य  
(C) व्यवसायात्मक  
(D) सन्निकर्ष
12. परिशेष अनुमान किसका दूसरा नाम माना जाता है?  
(A) पूर्ववत्  
(B) शेषवत्  
(C) प्रत्यक्ष  
(D) शब्द

## इकाई-1.3- प्रमेयविभाग एवं निरूपण

( आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति, दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख एवं अपवर्ग )

उद्देश्य:-

● ज्ञेय वस्तुओं का ज्ञान यह समझना कि वे कौन सी 12 मुख्य वस्तुएं प्रमेय हैं, जिनका सही ज्ञान मोक्ष प्राप्ति के लिए आवश्यक है।

● आत्म-बोध आत्मा के अस्तित्व को तार्किक लक्षणों सुख, दुःख, इच्छा आदि के माध्यम से सिद्ध करना।

● संसार चक्र की समझ जन्म, मृत्यु प्रेत्यभाव, दोष राग-द्वेष और कर्मों के फल के चक्र को समझना।

● मुक्ति का मार्ग दुखों के स्वरूप को जानकर उनसे हमेशा के लिए छूटने अपवर्ग के मार्ग को स्पष्ट करना।

न्यायदर्शन में १६ पदार्थों का विवेचन किया गया है, जिनमें प्रमेय (ज्ञेय विषय) एक प्रमुख विचारणीय अंश है। प्रमेय का अर्थ है- ज्ञेय विषय अर्थात् वह वस्तु जिसे जाना जाता है। ज्ञेय के वास्तविक स्वरूप को समझना ही ज्ञान है। इस को समझने वाला ज्ञाता है। न्यायशास्त्र में कुल १२ प्रमेय बताए गए हैं-

आत्मशरीरेन्द्रियार्थबुद्धिमनःप्रवृत्तिदोषप्रेत्यभावफलदुःखापवर्गास्तु प्रमेयम् ॥ १.१.९ ॥

१. आत्मा- तत्रऽऽत्मा सर्वस्य द्रष्टा सर्वस्य भोक्ता सर्वज्ञः सर्वानुभावी ।
२. शरीर- तस्य भोगायतनं शरीरम्
३. इन्द्रिय- भोगसाधनानीन्द्रियाणि ।
४. अर्थ (विषय)- भोक्तव्या इन्द्रियार्थाः।
५. बुद्धि- भोगो बुद्धिः ।
६. मन- सर्वार्थोपलब्धौ नेन्द्रियाणि प्रभवन्तीति सर्वविषयमन्तःकरणं मनः ।
७. प्रवृत्ति- शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं प्रवृत्तिः, दोषाश्च।
८. दोष- शरीरेन्द्रियार्थबुद्धिसुखवेदनानां निर्वृत्तिकारणं प्रवृत्तिः, दोषाश्च।
९. प्रेत्यभाव (पुनर्जन्म) - नाऽस्येदं शरीरमपूर्वमनुत्तरं च, पूर्वशरीराणामादिर्नास्ति उत्तरेषामपवर्गोऽन्त इति प्रेत्यभावः ।
१०. फल- ससाधनसुखदुःखोपभोगः फलम् ।
११. दुःख- दुःखमिति नेदमनुकूलवेदनीयस्य सुखस्य प्रतीतेः प्रत्याख्यानम् ।
१२. अपवर्ग (मोक्ष) - जन्ममरणप्रबन्धोच्छेदः सर्वदुःखप्रहाणमपवर्गः ।

ये सभी तत्व जीवों के अस्तित्व और उनके कर्म के आधार हैं। आत्मा इस शरीर से अतिरिक्त एक चैतन्य शक्ति है, जो अनादि काल से लेकर जन्म-जन्मांतर तक विद्यमान है। शरीर आत्मा का आश्रय या कार्य क्षेत्र है, इन्द्रिय, बुद्धि और मन साधन हैं। आत्मा प्रथम प्रमेय है जिसे अपवर्ग को प्राप्त करने के लिए और दूसरा शरीर से दुःख पर्यन्त ११ प्रमेयों को त्यागने के लिए जानना है।

### ३.१ आत्मा

उपर्युक्त बारहों प्रमेयों में सब से महत्त्वपूर्ण प्रमेय है- आत्मा। इसी कारण से सर्व प्रथम आत्मा को ही बताया गया है-

इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगम् ॥ १.१.१० ॥

यज्जातीयस्याऽर्थस्य सन्निकर्षात्सुखमात्मोपलब्धवान्, तज्जातीयमेवाऽर्थं पश्यन्नुपादातुमिच्छति, सेयमादातुमिच्छा एकस्यानेकार्थदर्शिनो दर्शनप्रतिसन्धानाद्भवन्ती लिंगमात्मनः। नियतविषये हि बुद्धिभेदमात्रेण सम्भवतिदेहान्तरवदिति।

इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख, ज्ञान, यह सब आत्मा का लिंग अर्थात् लक्षण है। ये सब गुण के प्रकार हैं। गुण कभी भी द्रव्य को छोड़कर नहीं रह सकता है। इच्छा आदि गुणों का आश्रय एक निर्जीव या जड़ पदार्थ नहीं हो सकता है । इनका एक मात्र आश्रय सजीव पदार्थ है- वह आत्मा है । आत्मा समस्त अनुभूतियों का आश्रय है। इसके प्रमुख लक्षण हैं-

इच्छा (इष्ट वस्तुओं की प्राप्ति की कामना)

द्वेष (अनिष्ट वस्तुओं से विमुख होना)

प्रयत्न (कर्म करने की प्रेरणा)

सुख-(दुःख का अनुभव)

ज्ञान (जानना)

जब कोई व्यक्ति कहता है 'मैं हूँ' तो यहाँ 'मैं' का अर्थ आत्मा है, शरीर नहीं। यह ज्ञान आत्मा की शाश्वत स्वरूपानुभूति के लिए ही सभी जीवों के द्वारा किया गया प्रयत्न है।

### ३.२ शरीर

आत्मा के बाद द्वितीय प्रमेय के रूप में शरीर को बताया गया है। सुख दुःख आदि विविध प्रकार की अनुभूति होने के लिए आत्मा का आश्रय है- शरीर। शरीर के माध्यम से ही सब प्रकार की चेष्टाएं अर्थात् क्रियायें होती हैं। इन क्रियाओं को करने में इन्द्रियों से भी सहयोग लिया जाता है। इन इन्द्रियों का भी आश्रय है- शरीर। शरीर का लक्षण यह है

**चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम् ॥ १.१.११ ॥**

**कथं चेष्टाश्रयः ? ईप्सितं जिहासितं वाऽर्थमधिकृत्येप्साजिहासाप्रयुक्तस्य तदुपायानुष्ठानलक्षणा समीहा चेष्टा, सा यत्र वर्तते तच्छरीरम्।**

**चेष्टा** का अर्थ यह है- आत्मा इष्ट विषय को प्राप्त करने के लिए और अनिष्ट विषय को त्यागने के लिए जो कुछ भी प्रयास करता है, वही चेष्टा है जो शरीर पर आश्रित है। इन इष्टानिष्ट पदार्थों की प्राप्ति और अप्राप्ति रूप चेष्टा को पूर्ण करने हेतु इन्द्रियों की अपेक्षा रहती है, क्योंकि संसार में भोग या त्याग दोनों के लिए पदार्थ के साथ सम्बन्ध अनिवार्य है। इस सम्बन्ध के लिए इन्द्रिय की आवश्यकता है। इन्द्रियों का भी आश्रय शरीर है। जब इन्द्रियों के माध्यम से चेष्टाएं होती हैं, तब सुख दुःखादि अनुभव होता है। अनुभवों के लिए भी आश्रय शरीर ही है।

### ३.३ इन्द्रिय

शरीर के लक्षण पर विचार करने के पश्चात् अब शरीर पर आश्रित इन्द्रियों पर विचार करते हैं। इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान की प्राप्ति के लिए मुख्य साधन हैं। जैसा कि प्रत्यक्ष के सूत्र में इन्द्रिय और अर्थ के सन्निकर्ष से ही प्रत्यक्ष ज्ञान की उत्पत्ति मानी जाती है। ये इन्द्रियां पांच प्रकार के हैं-

**घ्राणरसनचक्षुस्त्वक्श्रोत्राणीन्द्रियाणि भूतेभ्यः ॥ १.१.१२ ॥**

**जिघ्रत्यनेन घ्राणं गन्धं गृह्णातीति । रसयत्यनेनेति रसनं रसं गृह्णातीति । चष्टेऽनेनेति चक्षु रूपं पश्यतीति । त्वक्स्थानमिन्द्रियं त्वक् । तदुपचारः स्थानादिति । शृणोत्यनेनेति श्रोत्रं शब्दं गृह्णातीति।**

घ्राण (नाक)

रसना (जीभ)

चक्षु (आँख)

त्वक् (त्वचा)

श्रोत्र (कान)

ये पांच इन्द्रियाँ पंच भूतों से उत्पन्न हैं और पंच भूतों से सम्बद्ध हैं। जैसे- घ्राणेन्द्रिय का विषय गन्ध है, जो पंच भूतों में से एक पृथिवी का गुण है। रसनेन्द्रिय का विषय रस है, जो जल का गुण है। चक्षु का विषय रूप है, जो अग्नि का गुण है। त्वक् का विषय स्पर्श है, जो वायु का गुण है। अन्तिम इन्द्रिय श्रोत्र का विषय शब्द है, जो आकाश का गुण है। इस प्रकार पांचों इन्द्रियाँ पंच भूतों से सम्बद्ध हैं।

**पृथिव्यापस्तेजो वायुराकाशमिति भूतानि ॥ १.१.१३ ॥**

| इन्द्रिय      | भूत तत्व | विषय   |
|---------------|----------|--------|
| घ्राण (नाक)   | पृथ्वी   | गन्ध   |
| रसना (जीभ)    | जल       | रस     |
| चक्षु (आँख)   | तेज      | रूप    |
| त्वक् (त्वचा) | वायु     | स्पर्श |
| श्रोत्र (कान) | आकाश     | शब्द   |

### ३.४ अर्थ (विषय)

अग्रिम प्रमेय- अर्थ है। वस्तुतः अर्थ शब्द कि व्याख्या अनेक प्रकार से की जा सकती है। परन्तु, यहाँ इन्द्रियों के विषय को ही अर्थ शब्द से कहा है। घ्राण, रसना, चक्षु, त्वक्, श्रोत्र ये पांचों इन्द्रियों से पांच विषय या अर्थ को ग्रहण किया जाता है- गन्ध, रस, रूप, स्पर्श एवं शब्द।

गन्धारसरूपस्पर्शशब्दाः पृथिव्यादिगुणास्तदर्थः ॥ १.१.१४ ॥

पृथिव्यादीनां यथाविनियोगं गुणा इन्द्रियाणां यथाक्रममर्था विषया इति॥

अर्थात् गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द पृथ्वी आदि पञ्चभूतों के गुण तथा घ्राणादि ज्ञानेन्द्रियों के अर्थ (विषय) हैं।

### ३.५ बुद्धि

बुद्धि को सांख्य मत में सत्त्व, रजस् और तमस् रूप त्रिगुण से युक्त प्रकृति के ही एक विकार के रूप में माना जाता है। अर्थात् बुद्धि एक जड़ पदार्थ है। बुद्धि का जो लक्षण सांख्य मत में प्रतिपादित किया गया है, वह न्यायदर्शन के अनुसार सही नहीं है। महर्षि गौतम बुद्धि का लक्षण कहते हैं—

बुद्धिरूपलब्धिर्नमित्यनर्थान्तरम् ॥ १.१.१५ ॥

नाचेतनस्य करणस्य बुद्धेर्ज्ञानं भवितुमर्हति, तद्धि चेतनं स्यात् एकश्चायं चेतनो देहेन्द्रियसंघातव्यतिरिक्त इति। प्रमेयलक्षणार्थस्य वाक्यस्यान्यार्थ प्रकाशनमुपपत्तिसामर्थ्यादिति॥

बुद्धि का अर्थ है - उपलब्धि या ज्ञान। क्योंकि यदि ज्ञान को बुद्धि का विषय के रूप में मानते हैं, तो बुद्धि जड़ नहीं होगी, अपितु चेतन होगी। परन्तु, देहादि समूह से अतिरिक्त आत्मा के अलावा कोई चेतन पदार्थ नहीं है। इसलिए बुद्धि उपलब्धि या ज्ञान है अर्थात् बुद्धि निश्चयात्मक ज्ञान का साधन है।

### ३.६ मन

ज्ञान की प्राप्ति की प्रक्रिया में मन एक प्रमुख साधन है। यह आत्मा एवं इन्द्रियों के बीच मध्यस्थ का कार्य करता है। मन के अनेक साधक लिंग को वात्स्यायन भाष्य में वर्णन किया है - स्मरण, अनुमान, शब्द, संशय, प्रतिभा, स्वप्न, ज्ञान, ऊहा, सुख-दुःख, अनुभूतियों का प्रत्यक्ष, इच्छा आदि। इतने साधक लिंग होने पर भी एक साथ मन को अनेक ज्ञान अर्थात् एक से अधिक ज्ञान नहीं हो सकता है।

युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् ॥१.१.१६॥

मनः संयोगानपेक्षस्य हीन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ज्ञानहेतुत्वे युगपदुत्पद्येरन् ज्ञानानीति ।

प्रत्येक इन्द्रिय से विविध विषयों के साथ एक ही समय में सम्बन्ध होने पर भी हमें एक ज्ञान के बाद ही दूसरा ज्ञान होता है, यह हमारा अनुभव है। तो इस अनुभव से हम अनुमान कर सकते हैं कि मन के पास एक समय में एक ही विषय को ग्रहण करने की क्षमता है। और जब तक इन्द्रिय और मन का संयोग नहीं होता, तब तक इन्द्रिय-ग्राह्य विषयों से उत्पन्न विषयों का ज्ञान आत्मा तक नहीं पहुँच सकता है।

### ३.७ प्रवृत्ति

अब क्रम प्राप्त अग्रिम प्रमेय प्रवृत्ति का निरूपण—

प्रवृत्ति का अर्थ है— कार्य करने की प्रवृत्ति या आरम्भ।

प्रवृत्तिर्वाग्बुद्धिशरीरारम्भः ॥ १.१.१७॥

मनोऽत्र बुद्धिरित्यभिप्रेतं, बुध्यतेऽनेनेति बुद्धिः । सोऽयमारम्भः शरीरेण वाचा मनसा च पुण्यः पापश्च दशविधः।

अर्थात् प्रवृत्ति वाक्, बुद्धि एवं शरीर के माध्यम से होने वाली क्रिया है। भाष्यकार कहते हैं कि मन के बिना ज्ञान की प्रवृत्ति संभव नहीं है, इसलिए बुद्धि शब्द से यहां मन का ग्रहण किया गया है। शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक प्रवृत्ति को दो प्रकार से विभाग कर सकते हैं— पापात्मिका एवं पुण्यात्मिका। दोनों प्रकार की प्रवृत्तियाँ दस-दस प्रकार के हैं।

#### पापात्मिका प्रवृत्ति

शरीर से हिंसा, चोरी, निषेध कर्म और परस्त्री से मैथुन करना।

वाणी से मिथ्या वचन, कठोर वचन और असंगत वचन करना।

मन से द्रोह, पर द्रव्य की इच्छा और नास्तिकता का चिंतन करना।

#### पुण्यात्मिका प्रवृत्ति

शरीर से दान, रक्षा एवं सेवा करना।

वाणी से सत्य वचन, हित कारक वचन, प्रिय वचन एवं स्वाध्याय करना।

मन से दया अस्पृहा (लोभ न करना) एवं श्रद्धा।

### ३.८ दोष

आगे आठवां प्रमेय दोष का लक्षण बताते हैं- प्रवृत्ति के लिए जो कारण है, वही दोष है। ज्ञाता राग, द्वेष और मोह इन दोषों से युक्त होने के कारण पुण्य या पाप कर्म में प्रवृत्त होता है। अतः प्रवृत्ति के लिए दोष (राग, द्वेष और मोह) कारण है, क्योंकि जीवात्मा किसी वस्तु या व्यक्ति के प्रति राग या द्वेष या मोह के कारण सुख या दुःख देने वाले कर्म में प्रवृत्त होता है।

**प्रवर्तनालक्षणा दोषाः ॥१.१.१८॥**

प्रवर्तना-प्रवृत्तिहेतुत्वं, ज्ञातारं हि रागादयः प्रवर्तयन्ति पुण्ये पापे वा । यत्र मिथ्याज्ञानं तत्र रागद्वेषाविति ।

### ३.९ प्रेत्यभाव

क्रम प्राप्त अग्रिम प्रमेय है- प्रेत्यभाव। प्रेत्यभाव का अर्थ है पुनरुत्पत्ति या पुनर्जन्म। यह पुनरुत्पत्ति या पुनर्जन्म आत्मा का नहीं होता है, क्योंकि आत्मा नित्य है। जब आत्मा का शरीरादि से सम्बन्ध छूटता है, उसे मृत्यु कहते हैं और जब शरीरादि-सम्बन्ध पुनः मिलता है, उसे प्रेत्यभाव कहते हैं।

**पुनरुत्पत्तिः प्रेत्यभावः ॥ १.१.१९ ॥**

उत्पन्नस्य क्वचित्सत्त्वनिकाये मृत्वा या पुनरुत्पत्तिः स प्रेत्यभावः।

मरकर पुनः उत्पन्न होना (जन्म लेना) प्रेत्यभाव कहलाता है। प्रेत्य भाव पद में दो शब्द विद्यमान हैं- प्रेत्य जिसका अर्थ है- मरकर तथा भाव जिसका अर्थ है- उत्पन्न होना। “पूर्वशरीरं जहाति प्रियते इति, प्रेत्य च पूर्वशरीरं हित्वा भवति जायते शरीरान्तरमु, पादत्त इति भावः”

इसी तत्त्व को भगवान श्री कृष्ण भी गीता में कहते हैं।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युध्रुवं जन्म मृतस्य च। (गीता छ.छ.३३)

### ३.१० फल

प्रवृत्ति और दोष को बताने के पश्चात् फल को अग्रिम प्रमेय के रूप में बताते हैं- पीछे कहा है दोष से प्रवृत्ति होती है।

**प्रवृत्तिदोषजनितोऽर्थः फलम् ॥ १.१.२०॥**

**सुखदुःखसंवेदनं फलम् ।**

फल दो प्रकार का होता है- सुख रूप एवं दुःख रूप। जब मानव धर्म (पुण्य) कर्म में प्रवृत्त होता है, तब वह सुख रूप फल को प्राप्त करता है। वही (मानव) जब अधर्म कर्म में प्रवृत्त होता है, तब वह दुःख रूप फल को प्राप्त करता है। यह फल सुख रूप में हो या दुःख रूप में हो, यह (फल) तभी प्राप्त होता है, जब आत्मा देह-इन्द्रिय आदि के साथ रहता है। यहां केवल सुख या दुःख को फल के रूप में नहीं बताया गया है, अपितु देह-इन्द्रिय आदि के साथ सुख एवं दुःख को फल के रूप में बताना सूत्रकर एवं भाष्यकार का अभिप्राय है।

### ३.११ दुःख

आगे दुःख का लक्षण बताते हैं- जो पीड़ा स्वरूप है वही दुःख है।

**बाधानालक्षणं दुःखम् ॥ १.१.२१॥**

**बाधना पीडा ताप इति ।**

दुःख की इच्छा कोई भी जीव नहीं करता है। दुःख से विमुक्त होने के लिए दुःख को सही दृष्टि से समझ कर उससे दूर होने का तीव्र प्रयास करना चाहिए।

### ३.१२ अपवर्ग ( मोक्ष )

अपवर्ग या मोक्ष अंतिम प्रमेय है-

**तदत्यन्तविमोक्षोऽपवर्गः॥ १.१.२२॥**

**तेन दुःखेन जन्मना अत्यन्तं विमुक्तिरपवर्गः ।**

प्रमेय का वर्णन करते हुए महर्षि गौतम ने आत्मा से शुरू किया है। आत्मा का अंतिम लक्ष्य अपवर्ग है। वही (अपवर्ग) अंतिम प्रमेय भी है। अभी जो पीड़ा स्वरूप दुःख को बताया उसी दुःख से जब आत्मा अत्यंत विमुक्त होता है, उसी अवस्था को अपवर्ग या मोक्ष कहते हैं।

मोक्ष के लिए प्रमेयों का वास्तविक ज्ञान अत्यन्त आवश्यक है। आत्मा आदि इन प्रमेयों का सही ज्ञान ही मनुष्य को सांसारिक बंधनों से मुक्ति दिला सकता है। आत्मा का स्वरूप, इन्द्रियों की कार्यप्रणाली, कर्म के सिद्धांत और मोक्ष की प्राप्ति- इन सभी तत्वों को समझकर ही व्यक्ति वास्तविक ज्ञान को प्राप्त कर सकता है।

**स्मरणीय बिंदुः**

- 12 प्रमेय न्यायदर्शन के अनुसार जानने योग्य मुख्य विषय 12 हैं आत्मा, शरीर, इन्द्रिय, अर्थ, बुद्धि, मन, प्रवृत्ति,

दोष, प्रेत्यभाव, फल, दुःख और अपवर्ग।

- आत्मा के लक्षण आत्मा दिखाई नहीं देती, पर इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, सुख, दुःख और ज्ञान ये छह इसके लिंग पहचान हैं।
- शरीर और इन्द्रिय शरीर चेष्टा और इन्द्रियों का आधार है। इन्द्रियाँ पाँच भौतिक तत्वों पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश से बनी हैं और अपने-अपने विषयों गन्धा, रस आदि को ग्रहण करती हैं।
- मन की सीमा मन का मुख्य लक्षण यह है कि इससे एक समय में केवल एक ही ज्ञान हो सकता है युगपज्ज्ञान।
- बन्धन और मोक्ष राग, द्वेष और मोह दोष हैं जो हमें कर्म प्रवृत्ति में फंसाते हैं। दुखों का हमेशा के लिए समाप्त हो जाना ही अपवर्ग या मोक्ष है।

शब्दावली

- प्रमेय वह विषय जिसे प्रमाणों के द्वारा जाना जाए जिसका ज्ञान प्राप्त करना जरूरी हो।
- लिंग वह लक्षण या निशान जिससे किसी छिपी हुई चीज जैसे आत्मा का पता चले।
- चेष्टा शरीर के द्वारा की जाने वाली क्रिया या हाथ-पैर हिलाना।
- अर्थ विषय इन्द्रियों द्वारा महसूस की जाने वाली चीजें, जैसे गन्ध, स्वाद, रूप, स्पर्श और शब्द।
- प्रवृत्ति मन, वाणी या शरीर से किया जाने वाला कार्य शुभ या अशुभ।
- दोष मन की वे बुराइयाँ राग, द्वेष, मोह जो हमें गलत या सही काम करने के लिए उकसाती हैं।
- प्रेत्यभाव मृत्यु के बाद फिर से जन्म लेना पुनर्जन्म।
- नल कर्म करने के बाद मिलने वाला सुख या दुःख।
- अपवर्ग दुखों से पूरी तरह और हमेशा के लिए छुटकारा मिल जाना।
- बाधाना दुःख का अनुभव होना या पीड़ा महसूस करना।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न

प्रश्न 1: न्यायदर्शन के अनुसार प्रमेय से आप क्या समझते हैं? न्यायसूत्र 1.1.9 के आधार पर द्वादश 12 प्रमेयों का सोद्देश्य वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2: इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति 1.1.10 सूत्र की व्याख्या करते हुए आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले लक्षणों का विवेचन कीजिए।

प्रश्न 3: शरीर, इन्द्रिय और अर्थ विषय के स्वरूप को स्पष्ट कीजिए। इन्द्रियों का पंचमहाभूतों से संबंध किस प्रकार है? सोदाहरण समझाइए।

लघु उत्तरीय प्रश्न:-

प्रश्न 1: न्यायदर्शन के अनुसार प्रमेय कितने हैं? सूत्र सहित लिखिए।

प्रश्न 2: आत्मा के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले लक्षण लिंग क्या हैं?

प्रश्न 3: शरीर का लक्षण सूत्रानुसार क्या है?

प्रश्न 4: मन पद का लक्षण क्या है?

प्रश्न 5: बुद्धि की परिभाषा क्या दी गई है?

प्रश्न 6: प्रवृत्ति से क्या तात्पर्य है?

प्रश्न 7: दोष किसे कहते हैं?

प्रश्न 8: प्रेत्यभाव का सूत्रानुसार अर्थ स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 9: दुःख और अपवर्ग मोक्ष में क्या अंतर है?

बहुविकल्पीय प्रश्न:-

1. न्यायसूत्र 1.1.9 के अनुसार प्रमेयों की कुल संख्या कितनी है?

(A) 7

(B) 12

(C) 16

(D) 24

2. इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिंगमिति 1.1.10 के अनुसार लिंग शब्द का अर्थ क्या है?

(A) शरीर

(B) कारण

(C) लक्षण चिह्न

(D) मोक्ष

3. चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः ----- रिक्त स्थान की पूर्ति करें सूत्र 1.1.11ऋ.

(A) मनः

(B) बुद्धिः

(C) शरीर

(D) आत्मा

4. रसना जीभ इन्द्रिय का भौतिक आधार भूत क्या है?

(A) पृथ्वी

(C) वायु

(D) जल

(D) आकाश

5. घ्राण इन्द्रिय का विषय अर्थ क्या है?

(A) रूप

(B) शब्द

(C) गन्ध

(D) स्पर्श

6. बुद्धिरूपलब्धिर्ज्ञानमित्यनर्थान्तरम् 1.1.15 का क्या अभिप्राय है?

(A) बुद्धि और ज्ञान अलग-अलग हैं

(B) बुद्धि, उपलब्धि और ज्ञान पर्यायवाची हैं

(C) बुद्धि जड़ पदार्थ है

(D) बुद्धि केवल ऋषियों में होती है

7. मन का प्रमुख लक्षण क्या है?

(A) युगपज्ज्ञानानुत्पत्ति एक साथ अनेक ज्ञान न होना

(B) सर्वव्यापकता

(C) दृश्य होना

(D) भौतिक होना

8. प्रवृत्ति के कितने मुख्य प्रकार वाणी, बुद्धि मन और शरीर के आधार पर बताए गए हैं?

(A) दो शुभ और अशुभ

(B) पाँच

(C) सात

(D) बारह

9. इनमें से कौन सी पापात्मक अशुभ मानसिक प्रवृत्ति है?

(A) दया

(B) पर-द्रव्य की इच्छा लोभ

(C) श्रद्धा

(D) सत्य भाषण

10. दोषों के अंतर्गत मुख्य रूप से किन्हीं गिना जाता है?

(A) सत्त्व, रज, तम



- (B) राग, द्वेष, मोह
- (C) काम, क्रोध, लोभ
- (D) भूख, प्यास, निद्रा

11. प्रेत्यभाव शब्द का पारिभाषिक अर्थ क्या है?

- (A) प्रेत बन जाना
- (B) पुनर्जन्म (पुनरुत्पत्ति)
- (C) स्वर्ग गमन
- (D) ध्यान लगाना

12. बाधानालक्षणं ----- सूत्र ( 1.1.21 )

- (A) सुख
- (B) फलम
- (C) दुःखम
- (D) मोक्षः

13. न्यायदर्शन के अनुसार अपवर्ग मोक्ष की अवस्था क्या है?

- (A) स्वर्ग में निवास
- (B) ईश्वर में विलीन होना
- (C) दुखों से आत्यंतिक हमेशा के लिए निवृत्ति
- (D) केवल सुख की प्राप्ति

14. अदृष्टार्थ शब्द का प्रयोग किसके लिए होता है?

- (A) जो दिखाई न दे
- (B) जिसका फल परलोक में मिले
- (C) जो मिथ्या हो
- (D) जो शरीर से संबंधित हो

## इकाई-1.4 संशय, प्रयोजन, दृष्टान्त, सिद्धान्त, अवयव, तर्क, निर्णय आदि पदार्थों का निरूपण

### मुख्य उद्देश्य:-

- तार्किक प्रक्रिया को समझना किसी विषय पर संदेह संशय होने से लेकर अंतिम फैसले निर्णय तक पहुँचने की मानसिक और तार्किक प्रक्रिया को जानना।
- वाद-विवाद की संरचना यह समझना कि किसी बात को सिद्ध करने के लिए किन पांच अंगों पंचावयव की आवश्यकता होती है।
- सत्य की खोज तर्क और प्रमाणों के माध्यम से भ्रम को दूर कर यथार्थ ज्ञान तक पहुँचने की विधि सीखना।
- सिद्धान्तों का वर्गीकरण शास्त्रों और लोक-व्यवहार में मान्य सत्यों (सिद्धान्तों) के अलग-अलग प्रकारों को समझना।

### ४.१ संशय

संशय वहां होता है, जहां निश्चित ज्ञान नहीं होता है। जैसे दूर में दृश्यमान आकृति को देख कर यह मनुष्य है या वृक्ष? इस संशय से ज्ञान की प्रक्रिया आरंभ होती है। संशय का लक्षण न्यायदर्शन में इस प्रकार कहा है-

समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्च विशेषापेक्षो विमर्शः संशयः  
॥ १.१.२३॥

जब किसी एक पदार्थ में ही अनेक पदार्थों का धर्म प्रतीत होता है अर्थात् उस पदार्थ में विभिन्न पदार्थों के धर्म दिखाई देते हैं। अथवा जब किसी विषय में अलग-अलग लोगों के अनुसार अलग-अलग अभिप्राय होता है। अथवा जब पदार्थ के धर्म की कभी उपलब्धि और कभी अनुपलब्धि होती है। इन कारणों से जब हम कुछ विशेष जानना चाहते हैं कि यह वस्तु वास्तव में क्या है? इस स्थिति को संशय कहते हैं।

समानधर्मोपपत्तिः - समानधर्मोपपत्तेर्विशेषापेक्षो विमर्शः संशय इति

जब दो या अधिक पदार्थों में समान धर्म दिखाई देता है।

अनेकधर्मोपपत्तिः - अनेकधर्मोपपत्तेरिति । समानजातीयमसमानजातीयं चाऽनेकम् । तस्यानेकस्य धर्मोपपत्तेः । विशेषस्योभयथा दृष्टत्वात् ।

जब एक ही पदार्थ में अनेक पदार्थों के विविध धर्मों की प्रतीति होती है तब संशय उत्पन्न होता है।

विप्रतिपत्तिः - विप्रतिपत्तेरिति । व्याहतमेकार्थदर्शनं विप्रतिपत्तिः, व्याघातः विरोधोऽ-सहभाव इति।

एक ही पदार्थ के विषय में अलग-अलग लोगों के अनुसार अलग-अलग विचार (मत) का होना ।

उपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्था- उपलब्ध्यव्यवस्थातः खल्वपि । सच्चोदकमुपलभ्यते तडागादिषु, मरीचिषु चाऽविद्यमानमुदकमिति, अतः क्वचिदुपलभ्यमाने तत्त्वव्यवस्थापकस्य प्रमाण -  
स्यानुपलब्धेः किं सदुपलभ्यतेऽथासदिति संशयो भवति ।

अनुपलब्ध्यव्यवस्थातः । सच्च नोपलभ्यते मूलकीलकोदकादि, असच्चानुत्पन्नं निरुद्धं वा, ततः क्वचिदनुपलभ्यमाने संशयः, किं सन्नोपलभ्यते उताऽसदिति संशयो भवति ।

किसी धर्म की उपलब्धि और अनुपलब्धि से पदार्थ का निर्णय न होना।

विशेषापेक्षो विमर्शः- विशेषापेक्षा पूर्ववत् ।

इन सभी कारणों से जब व्यक्ति कोई विशेष निर्णय लेने के लिए विशेष विचार करता है, वह संशय है।

उदाहरण-

जब दूर से एक आकृति दिखाई देती है और हम विचार करते हैं-

यह मनुष्य है या स्तम्भ है?

समानधर्मः लम्बाई, खड़ा होना आदि धर्म दोनों (मनुष्य और स्तम्भ) में समान होना।

अनेकधर्मः मनुष्य और स्तम्भ के धर्म एक ही पदार्थ में दिखना।

विप्रतिपत्तिः कोई कहता है मनुष्य है, कोई कहता है स्तम्भ है।

उपलब्ध्यनुपलब्धिः कभी चलन आदि दिखता है, कभी नहीं दिखता है।

इन सभी कारणों से निर्णय नहीं होता है और विशेष ज्ञान की प्राप्ति के लिए हम विचार करते हैं। इस स्थिति को संशय कहते हैं।

## ४.२ प्रयोजन

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् प्रयोजनम् ॥१.१.२४॥

यमर्थमातव्यं हातव्यं वा व्यवसाय तदाप्तिहानोपायमनुतिष्ठति, प्रयोजनं तद्वेदितव्यम्, प्रवृत्तिहेतुत्वात्।

प्रवृत्ति करने के लिए कारण है- प्रयोजन। प्रयोजन के बिना प्रवृत्ति ही नहीं हो सकती है। जिस उद्देश्य के लिए कोई व्यक्ति कर्म में प्रवृत्त होता है, वह उद्देश्य उस कर्म का प्रयोजन है। जैसे- एक बालक वृक्ष पर विद्यमान आम फल को प्राप्त करने हेतु प्रवृत्त होता है। यहां आम फल की प्राप्ति ही उद्देश्य है, यही प्रयोजन है।

## ४.३ दृष्टान्त

लौकिकपरीक्षकाणां यस्मिन्नर्थे बुद्धिसाम्यं स दृष्टान्तः ॥१.१.२५॥

यथा यमर्थं लौकिक बुध्यन्ते तथा परीक्षका अपि, सोऽर्थो दृष्टान्तः ।

दृष्टान्त का सामान्य अर्थ है- उदाहरण। जिस विषय में सभी सामान्य लोग (जनमानस) एवं विद्वान (शास्त्र को जानने वाले लोग) दोनों की एक समान बुद्धि होती है, उसे दृष्टान्त कहते हैं। दृष्टान्त वह है, जो किसी वास्तविक विचार को सिद्ध करने के लिए सहायक होता है। जैसे- “जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है” इस विचार को सिद्ध करने हेतु उदाहरण के रूप में कहते हैं। जैसे - पाकशाला।

## ४.४ सिद्धान्त

स चतुर्विधः सर्वतन्त्रप्रतितन्त्राधिकरणाऽभ्युपगमसंस्थित्यर्थान्तरभावात् ॥ १.१.२७॥

तन्त्रार्थसंस्थितिः तन्त्रसंस्थितिः, तन्त्रमितरेतराभिसम्बद्धस्यार्थसमूहस्योपदेशः शास्त्रम्।  
अधिकरणानुषक्तार्थसंस्थितिरधिकरणसंस्थितिः, अभ्युपगमसंस्थितिरनवधारितार्थ परिग्रहः तद्विशेषपरीक्षणायाभ्युपगमसिद्धान्तः ।

सिद्धान्त वह स्थापित सत्य या नियम होता है, जिसे किसी शास्त्र या तर्क-पद्धति में स्वीकार किया जाता है। न्यायदर्शन के अनुसार, सिद्धान्त चार प्रकार के होते हैं -

सर्वतन्त्रसिद्धान्त - सभी शास्त्रों में स्वीकृत सिद्धान्त।

प्रतितन्त्रसिद्धान्त - किसी एक शास्त्र में स्वीकृत किन्तु अन्य शास्त्रों में अस्वीकृत सिद्धान्त।

अधिकरणसिद्धान्त - किसी विशेष प्रकरण में प्रयुक्त सिद्धान्त।

अभ्युपगमसिद्धान्त - किसी विशेष मान्यता पर आधारित सिद्धान्त।

सर्वतन्त्रसिद्धान्त

सर्वतन्त्राविरुद्धस्तन्त्रेऽधिकृतोऽर्थः सर्वतन्त्रसिद्धान्तः ॥१.१.२८॥

यथा घ्राणादीनीन्द्रियाणि, गन्धादय इन्द्रियार्थाः, पृथिव्यादीनि भूतानि, प्रमाणैरर्थस्य ग्रहणमिति ॥

जो सिद्धान्त सभी शास्त्रों (तन्त्रों) में बिना विरोध के स्वीकार किया जाता है, वह ‘सर्वतन्त्रसिद्धान्त’ कहलाता है। यह सिद्धान्त सभी दार्शनिक मतों में मान्य होता है। इसमें किसी का मतभेद नहीं होता है। जैसे प्रमाणों द्वारा ही ज्ञान प्राप्त होता है। यह सिद्धान्त सभी दर्शनों में मान्य होता है। जब कोई तर्क सभी मतों में स्वीकृत हो, तो उस पर कोई विवाद नहीं होता।

प्रतितन्त्रसिद्धान्त

समानतन्त्रसिद्धः परतन्त्रासिद्धः प्रतितन्त्रसिद्धान्तः ॥१.१.२९॥

यथा नासत आत्मलाभः, न सत आत्महानं, निरतिशयाश्चेतनाः देहेन्द्रियमनःसु विषयेषु तत्तत्कारणेषु च विशेष इति सांख्यानाम् ।

जो सिद्धान्त एक शास्त्र (तन्त्र) में सिद्ध होता है, लेकिन दूसरे शास्त्र में नहीं, वह ‘प्रतितन्त्रसिद्धान्त’ कहलाता है। यह किसी विशेष दर्शन या मत की मान्यता होती है, परन्तु अन्य मतों में स्वीकार नहीं की जाती है। जैसे आत्मा नित्य है यह वेदान्त आदि मत में मान्य है, परन्तु बौद्ध चार्वाकादि दर्शनों में इसे नहीं माना जाता है। प्रतितन्त्रसिद्धान्त से ही विभिन्न दर्शनों के अन्तर मतभेद स्पष्ट होते हैं। शास्त्रार्थ में इन सिद्धान्तों पर ही विवाद होता है।

अधिकरणसिद्धान्त

यत्सिद्धावन्यप्रकरणसिद्धिः सोऽधिकरणसिद्धान्तः ॥१.१.३०॥

यस्यार्थस्य सिद्धावन्येऽर्था अनुपपद्यन्ते न तैर्विना सोऽर्थः सिद्ध्यति तेऽर्था यदधिष्ठानाः  
सोऽधिकरणसिद्धान्तः।

जिस सिद्धान्त की स्थापना किसी विशेष प्रकरण में की जाती है और जिसके सिद्ध होने पर अन्य प्रकरणों की सिद्धि भी होती है, वह 'अधिकरणसिद्धान्त' कहलाता है। जैसे- आत्मा की सिद्धि होने पर आत्मा से संबन्धित शरीर-इन्द्रियाँ, इच्छा, द्वेष आदि आत्मा के गुणों की भी स्वतः सिद्धि हो जाती है। यह किसी विशेष संदर्भ में प्रयुक्त होता है और उसी के आधार पर अन्य संदर्भ में भी निर्णय किया जाता है। जैसे- न्यायशास्त्र में प्रत्यक्ष प्रमाण को मानने के बाद अनुमान प्रमाण की व्याख्या की जाती है। अधिकरणसिद्धान्त किसी ग्रन्थ या शास्त्र के विशेष अंश को समझने में सहायक है।

**अभ्युपगमसिद्धान्त**

अपरीक्षिताभ्युपगमात् तद्विशेषपरीक्षणमभ्युपगमसिद्धान्तः ॥१.१.३१॥

यत्र किञ्चिदर्थजातमपरीक्षितमभ्युपगम्यते अस्ति द्रव्यं शब्दः स तु नित्योऽथानित्य इति ? द्रव्यस्य सतो नित्यताऽनित्यता वा तद्विशेषः परीच्यते सोऽभ्युपगमसिद्धान्तः स्वबुद्ध्यतिशयचिख्यापयिषया परबुद्ध्यवज्ञानाच्च प्रवर्तते इति।

जब किसी अभ्युपगम को परीक्षण के बिना स्वीकार कर लिया जाता है और फिर उसके विशेष हेतुओं का विचार किया जाता है, तो वह 'अभ्युपगमसिद्धान्त' कहलाता है। इसमें पहले किसी सिद्धान्त को मान लिया जाता है। बाद में उसके निहितार्थ को समझा जाता है। जैसे- यदि किसी ने ईश्वर को मान लिया है, पश्चात् उसके गुण-क्रिया आदि की व्याख्या की जाती है। इसके बिना विशेष विश्लेषण सम्भव नहीं होता है। इस प्रकार सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण और अभ्युपगम ये चारों सिद्धान्त मिलकर एक सम्पूर्ण ज्ञान-पद्धति का निर्माण करते हैं।

**४.५ अवयव-**

प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः ॥१.१.३२॥

न्यायदर्शन का प्रमुख आधार है- अनुमान या तर्क- उसे ज्ञान प्राप्ति का एक महत्वपूर्ण साधन के रूप में स्वीकार किया गया है। अनुमान के पांच अवयव होते हैं प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन। इन्हें अवयव कहा जाता है। न्यायदर्शन में यह माना जाता है कि ये पांचों मिलकर एक पूर्ण तार्किक युक्ति (अनुमान) का निर्माण करते हैं। इन पांच अवयवों के बिना अनुमान पूर्ण नहीं होता है। परन्तु कुछ दर्शनों में केवल तीन अवयव से ही तार्किक युक्ति की पूर्णता को माना गया है। उन दर्शनों के अनुसार उपनय एवं निगमन प्रथम तीन अंगों से ही अर्थात् प्रतिज्ञा, हेतु और उदाहरण से ही चरितार्थ है। अतिरिक्त रूप में उपनय और निगमन को मानने से पुनरुक्त दोष बताया गया है। इन पांचों अवयवों का विस्तृत रूप से वर्णन न्यायदर्शन के व्यासभाष्य में किया गया है।

**प्रतिज्ञा-**

साध्यनिर्देशः प्रतिज्ञा ॥१.१.३३॥

प्रज्ञापनीयेन धर्मेण धर्मिणो विशिष्टस्य परिग्रहवचनं प्रतिज्ञा, प्रतिज्ञा साध्यनिर्देशः । अनित्यः शब्द इति ॥

प्रतिज्ञा वह है, जिसमें साध्य का स्पष्ट निर्देश होता है। साध्य वह होता है, जिसको हम सिद्ध करना चाहते हैं। जैसे पर्वतो वह्निमान (पर्वत में अग्नि है) यह प्रतिज्ञा है। यह अनुमान का प्रथम अंग है। किसी भी विशेष विचार पर चर्चा के लिए वादी और प्रतिवादी अपना अपना विचार रखते हैं। उदाहरणार्थ जब शब्द के विषय में चर्चा किया जाता है कि शब्द नित्य है या अनित्य है? तब वादी ने एक अनुमान का प्रयोग करते हुए कहा शब्द अनित्य है। यह जो वाक्य है, वही साध्य है। क्योंकि वादी उसी विचार को सिद्ध करना चाहता है। आगे कारण आदि बताना होगा और प्रतिवादी इस पर आक्षेप उठा सकता है। प्रतिज्ञा के बिना तर्क प्रक्रिया शुरू ही नहीं हो सकती।

**हेतु-**

हेतु प्रतिज्ञा को सिद्ध करने वाला प्रमाण है। इस को साधन भी कहते हैं। हेतु वह है, जो साध्य और उदाहरण के बीच में साधर्म्य (समान धर्म) या वैधर्म्य (विरुद्ध धर्म) के आधार पर प्रतिज्ञा को सिद्ध करता है। हेतु के दो प्रकार हैं साधर्म्य हेतु एवं वैधर्म्य हेतु। जिसमें साधर्म्य हेतु का लक्षण इस प्रकार है-

उदाहरणसाधर्म्यात् साध्यसाधनं हेतुः ॥१.१.३४॥

उदाहरणेन सामान्यात्साध्यस्य धर्मस्य साधनं प्रज्ञापनं हेतुः, साध्ये प्रतिसन्धाय धर्ममुदाहरणे च प्रतिसन्धाय तस्य साधनतावचनं हेतुः।

उदाहरण या दृष्टान्त में विद्यमान धर्म की समानता को लेकर जो साध्य को सिद्ध करता है, वह प्रथम प्रकार का साधर्म्य हेतु है। जैसे यहां शब्द को अनित्य सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की गयी, उसके लिए कारण बताया 'उत्पत्तिधर्मकत्वात्' अर्थात् जो उत्पन्न होनेवाला है। जो जो उत्पन्न होता है वह अनित्य है। क्योंकि जो उत्पन्न होता है वह, नित्य (शाश्वत) नहीं हो सकता है। यहां शब्द भी उत्पन्न होने वाला है, तो अनित्य ही होगा। जब तक हेतु नहीं दिया जाता है, तब तक प्रतिज्ञा को सिद्ध नहीं किया जा सकता है।

हेतु के बिना प्रतिज्ञा निराधार हो जाती है।

तथा वैधर्म्यात् ॥१.१३५॥

**उदाहरणवैधर्म्याच्च साध्यसाधनं हेतुः ।**

द्वितीय प्रकार का हेतु है- वैधर्म्य हेतु। उदाहरण में विरुद्ध धर्म को दिखाते हुए साध्य को सिद्ध करने वाला हेतु वैधर्म्य हेतु कहलाता है। उदाहरणार्थ- शब्दः अनित्यः उत्पत्तिधर्मकत्वात्' ऐसे प्रतिज्ञा को सिद्ध करने हेतु विरुद्ध दृष्टान्त को दिया जाता है। जैसे की 'अनुत्पत्तिधर्मकः आत्मा नित्यः' उत्पत्ति रहित धर्म वाला आत्मा नित्य है। इसका विरुद्ध धर्म है 'उत्पत्तिमत्'। वह धर्म शब्द में होता है। अतः शब्द नित्य आत्मा के विरुद्ध ही होना चाहिये, अर्थात् शब्द अनित्य है। इस प्रकार असमानता को लेकर भी साध्य को सिद्ध किया जाता है।

**उदाहरण**

उदाहरण वह है जो साध्य और हेतु के सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। जैसे हेतु के दो प्रकार हैं, वैसे उदाहरण पर भी दो प्रकार हैं- साध्य उदाहरण और वैधर्म्य उदाहरण। साध्य उदाहरण जहाँ साध्य और हेतु का साहचर्य दृष्ट हो। उदाहरण **यथा पाकशालायां धूमो वह्निना सहचरः** जैसे पाकशाला में धूम और अग्नि का साहचर्य है। वैधर्म्य उदाहरण जहाँ साध्य के अभाव में हेतु का अभाव दृष्ट होना। उदाहरण **यथा वाण्यां अग्न्यभावः धूमाभावश्च** जैसे तालाब में अग्नि का अभाव है, तो धूम का भी अभाव है। महर्षि गौतम ने साध्य उदाहरण का सूत्र बताया है -

**साध्यसाधर्म्यात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त उदाहरणम् ॥१.१.३६॥**

**साध्यसाधर्म्यात्कारणात्तद्धर्मभावी दृष्टान्त इति ।**

जिस उदाहरण में साध्य और हेतु की समानता होती है वह साध्य दृष्टान्त है। जैसे शब्द में अनित्यत्व को सिद्ध करने के लिए उत्पत्तिमत्त्व रूप हेतु दिया है। इस विषय को स्पष्ट करने के लिए अर्थात् 'जो जो उत्पत्तिमत् है वह वह अनित्य है' इस सम्बन्ध को दृढ़ करने के लिए दृष्टान्त दिया गया है - **स्थाल्यादिवत्** (बर्तन आदि के समान)। बर्तन का निर्माण किया जाता है, अतः यह उत्पन्न पदार्थ है और अनित्य भी है। वैसे ही शब्द भी उत्पन्न पदार्थ है, अतः अनित्य है। दृष्टान्त और पक्ष दोनों में साध्य और हेतु की समानता होने के कारण यह साध्य दृष्टान्त है।

दूसरे उदाहरण का प्रकार है - वैधर्म्य उदाहरण।

**तद्विपर्ययाद्वा विपरीतम् ॥१.१.३७॥**

वैधर्म्य उदाहरण साध्य उदाहरण से विपरीत है। अर्थात्, साध्य उदाहरण में उदाहरण एवं पक्ष दोनों में साध्य और हेतु की समानता होती है। परन्तु, वैधर्म्य उदाहरण में उदाहरण एवं पक्ष दोनों में साध्य और हेतु की समानता नहीं होती है। जैसे शब्द में अनित्यत्व को सिद्ध करने के लिए विपरीत उदाहरण के रूप में आत्मा को लिया गया है। आत्मा में उत्पत्तिमत्त्व भी नहीं है और इसमें अनित्यत्व भी नहीं है। शब्द इससे (आत्मा से) विपरीत है। अर्थात् शब्द में उत्पत्तिमत्त्व एवं अनित्यत्व दोनों हैं। इसे सिद्ध करने के लिए वैधर्म्य उदाहरण का प्रयोग किया गया है। उदाहरण में साध्य और हेतु का सम्बन्ध सर्वसम्मत और प्रसिद्ध होना चाहिए।

**उपनय**

**उदाहरणापेक्षस्तथेत्युपसंहारो न तथेति वा साध्यस्योपनयः ॥१.१.३८॥**

**उदाहरणापेक्षः उदाहरणतन्त्रः उदाहरणवशः।**

प्रतिज्ञा                      आदि                      पञ्चावयव                      का                      चौथा                      अंग                      'उपनय'                      है।  
यह उदाहरण की अपेक्षा करता हुआ, उदाहरण के अधीन होता है तथा उदाहरण के ही अनुसार उपनय का प्रयोग किसी साध्य को सिद्ध करने के लिये किया जाता है।

उपनय में 'यथा' (जिस प्रकार), 'इति' (इस प्रकार) और 'तथा' (वैसा या उस प्रकार) शब्दों का प्रयोग साध्य का उपसंहार (कथन) करने के लिये किया जाता है। उपनय दो प्रकार का होता है-

पहला **अन्वयि उदाहरण मूलक** - जैसे 'यथा घट उत्पत्तिधर्मकः तथाच शब्दः' अर्थात् जिस प्रकार घट (घड़ा) उत्पत्ति धर्मक होता है। उस प्रकार शब्द भी उत्पत्ति धर्मक होता है। अतः शब्द भी घट के समान अनित्य है, क्योंकि जिसकी उत्पत्ति होती है, वह पदार्थ अनित्य होता है यह प्रत्यक्ष देखा जाता है।

दूसरा **व्यतिरेकि उदाहरणमूलक**- जैसे 'यथा आत्मा अनुत्पत्तिधर्मकः न तथा शब्दः' अर्थात् जिस प्रकार आत्मा अनुत्पत्तिधर्मक है, उस प्रकार शब्द नहीं है। अर्थात् आत्मा उत्पन्न नहीं होता है, किन्तु शब्द उत्पन्न होता है। अतः शब्द आत्मा की तरह नित्य नहीं है। जैसा कि ऊपर कह दिया गया है कि जो उत्पत्ति धर्म से युक्त होता है, वह नित्य नहीं हो सकता है।

यहां एक बात ध्यान में रखने योग्य है कि- अन्वयि उदाहरण मूलक उपनय में जो साध्य पदार्थ (सिद्ध करने योग्य पदार्थ) होता है, उसीके समान गुणधर्म वाले किसी अन्य पदार्थ का दृष्टान्त (उदाहरण) देकर साध्य पदार्थ की सिद्धि की जाती है। जैसे - शब्द और घट दोनों उत्पत्तिधर्मक हैं।

व्यतिरेकि उदाहरण मूलक उपनय में साध्य पदार्थ के विपरीत गुणधर्म वाले किसी अन्य पदार्थ का दृष्टान्त देकर साध्य पदार्थ की सिद्धि की जाती है। जैसे शब्द उत्पत्ति धर्मक है, किन्तु आत्मा अनुत्पत्ति धर्मक है। इस प्रकार से अन्वय तथा व्यतिरेक उदाहरणों का प्रयोग करके साध्य की सिद्धि उपनय में की जाती है।

यहां साध्य पदार्थ शब्द की अनित्यता की सिद्धि एक बार साधर्म्य (समान धर्म) वाला 'घट' के आधार पर किया गया है तथा दूसरी बार वैधर्म्य (असमान धर्म) वाला 'आत्मा' के आधार पर किया गया है।

### निगमन

निगमन अनुमान के उपसंहार का द्वितीय चरण है। जिसमें प्रतिज्ञा को हेतु के साथ पुनः कहा जाता है। अनुमान के प्रथम तीन अंग हैं- प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण। उपनय में उदाहरण और प्रतिज्ञा के सम्बन्ध को स्पष्ट किया जाता है। निगमन, हेतु और प्रतिज्ञा के सम्बन्ध को सुदृढ़ बना देता है।

**हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम् ॥१.१३१॥**

**साधर्म्योक्ते वा वैधर्म्योक्ते वा यथोदाहरणमुपसंह्रियते तस्मादुत्पत्तिधर्मकवादित्यः शब्द इति निगमनम्।**

निगमन, अनुमान का अंतिम अंग है जहां हेतु के आधार पर प्रतिज्ञा को पुनः स्थापित किया जाता है, जिससे अनुमान पूर्ण होता है। निगमन से प्रतिज्ञा को सिद्ध मान लिया जाता है। निगमन का स्वरूप इस प्रकार है - 'तस्मात् और तथा', अर्थात् तस्मात् = उस कारण से (अनुमान के कारण से), तथा = यह ऐसा है (पक्ष पर साध्य है)।

### उदाहरण-

**'शब्दः अनित्यः, उत्पत्तिमत्वात्, साधर्म्येण स्थाल्यादिवत्, वैधर्म्येण आत्मवत्'**

शब्द अनित्य है, क्योंकि शब्द में उत्पत्तिमत्त्व है, बर्तन के समान, आत्मा के असमान।

निगमन में उपनय को दिखाया था, जैसे बर्तन में उत्पत्तिमत्त्व और अनित्यत्व है, वैसे शब्द में भी अनित्यत्व है। आत्मा में उत्पत्तिमत्त्व और अनित्यत्व दोनों नहीं हैं, परन्तु शब्द आत्मा से विपरीत होने का कारण अनित्य है।

उक्त व्याप्ति के आधार पर, शब्द में उत्पत्तिमत्त्व है, इसी कारण से शब्द अनित्य है। इस प्रकार के निगमन वाक्य से तर्क पूर्ण हो जाता है।

इस प्रकार पंचावयव (पांच अवयव) को जानने से किसी भी पदार्थ का वास्तविक ज्ञान प्राप्त होता है। प्रतिज्ञा, हेतु एवं उदाहरण के बीच में सम्बन्ध के ज्ञान से प्रतिज्ञा का अर्थात् जिसको सिद्ध करना है उस साधन का स्पष्ट ज्ञान होता है। पंचावयवी अनुमान, तर्क की पूर्णता और यथार्थता को सुनिश्चित करती है।

सम्पूर्ण अनुमान का उदाहरण (पंचावयवी तर्क)

अनुमान में ये पांचों अवयव होते हैं।

| अवयव         | उदाहरण                                                            |
|--------------|-------------------------------------------------------------------|
| १. प्रतिज्ञा | - पर्वत में अग्नि है।                                             |
| २. हेतु      | - क्योंकि वहाँ धुआँ है।                                           |
| ३. उदाहरण -  | जहाँ-जहाँ धुआँ होता है, वहाँ-वहाँ अग्नि होती है, जैसे रसोईघर में। |
| ४. उपनय      | - पर्वत में धुआँ है, जो अग्नि का सूचक है।                         |
| ५. निगमन     | - अतः पर्वत में अग्नि है।                                         |

न्यायदर्शन में प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन ये पांच अनुमान के अवयवों के रूप में माना गया है। इनके माध्यम से ही कोई तर्क को पूर्ण रूप से प्रामाणिकता के साथ समझ सकता है।

### ४.६ तर्क

तर्क एक विशेष प्रकार की ऊहा है। किसी भी विषय को विशेष रूप से जानने के लिए जो प्रक्रिया होती है, वही तर्क है। यह पदार्थ न्यायदर्शन का महत्वपूर्ण अंग है। जिसके कारण से ही न्यायदर्शन को तर्कशास्त्र भी कहा जाता है। तर्क का लक्षण न्यायदर्शन में ऐसे कहा है-

**अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः ॥ १.१.४०॥**

जिस पदार्थ का ज्ञान अभी तक प्राप्त नहीं किया गया है और उस पदार्थ का तत्त्वज्ञान अर्थात् वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करने के लिए विविध प्रमाणों के साथ जब विचार किया जाता है, उसे तर्क कहते हैं।



तर्क से अज्ञात तत्व के विषय में यथार्थ ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है और सन्दिग्ध विषयों का भी निश्चित ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। जब ज्ञाता = जाननेवाला किसी भी विषय को जानने के लिए इच्छा करता है, तब वह वास्तविक ज्ञान को ही प्राप्त करना चाहता है। जैसे शब्द के विषय में, यह शब्द उत्पत्तिधर्मक है या अनुत्पत्तिधर्मक? जब प्रमाण से शब्द में उत्पत्तिमत्व सिद्ध हुआ, तब उसी धर्म को हेतु बनाकर अनित्यत्व को सिद्ध किया जाता है। यह जो विमर्श है, वही तर्क है।

तर्क की प्रक्रिया,

कारण-कार्य सम्बन्ध के अनुरूप विचार करना।

विभिन्न संभावनाओं को तार्किक दृष्टि से विश्लेषण करना।

संभावित प्रमाणों पर विचार करना।

ऐसे करने से ही प्रामाणिक ज्ञान की प्राप्ति होती है। शास्त्रार्थ में विभिन्न विषय में होनेवाले सन्देह या मिथ्याज्ञान के निवारण के साथ-साथ यथार्थ ज्ञान को प्राप्त करने का साधन है तर्क।

## ४.७ निर्णय

तर्क करते समय पक्ष और प्रतिपक्ष का विचार किया जाता है। दोनों पक्षों में प्रयुक्त अनुमान का निष्कर्ष ही निर्णय है।

**विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्यामर्थावधारणं निर्णयः ॥१.१.४१॥**

**स्थापना साधनं, प्रतिषेध उपालम्भः ।**

तर्क के आधार पर वाद-विवाद कर पक्ष और प्रतिपक्ष के द्वारा प्रतिपादित तत्वों में से किसी एक तत्व का निर्धारण करना ही निर्णय है। निर्णय के माध्यम से सन्दिग्ध विषय का सम्यक् बोध होता है। इससे संशयातीत ज्ञान और निश्चयात्मक ज्ञान होता है। तर्क के बिना किसी निर्णय पर नहीं पहुँचा जा सकता है। तर्क सन्दिग्ध विषयों पर विचार करने का साधन है और निर्णय उसका परिणाम है।

**स्मरणीय बिंदु:-**

- संशय यह ज्ञान की पहली सीढ़ी है। जब किसी वस्तु के सामान्य गुण दिखें लेकिन विशेष गुण न दिखें, तो मन में होने वाली ऊहापोह संशय है जैसे- खंभे को देखकर आदमी या टूँठ का संदेह।
- प्रयोजन और दृष्टान्त जिस लक्ष्य के लिए हम काम करते हैं, वह प्रयोजन है। दृष्टान्त उदाहरण वह उदाहरण है जिसे आम आदमी और विद्वान दोनों सही मानते हैं।
- पंचावयव वाक्य किसी बात को दूसरों के सामने सिद्ध करने के लिए 5 चरणों का पालन किया जाता है
- प्रतिज्ञा साध्य का निर्देश पर्वत पर आग है।
- हेतु कारण बताना क्योंकि वहाँ धुआँ है।
- उदाहरण व्याप्ति का उदाहरण जहाँ धुआँ होता है वहाँ आग होती है, जैसे रसोई।
- उपनय उदाहरण को विषय से जोड़ना पर्वत पर भी वैसा ही धुआँ है।
- निगमन अंतिम निष्कर्ष इसलिए पर्वत पर आग है।
- तर्क और निर्णय तर्क प्रमाण नहीं है, बल्कि प्रमाणों का सहायक है। जब पक्ष और विपक्ष की जांच के बाद सत्य का निश्चय हो जाए, तो उसे निर्णय कहते हैं।
- सिद्धान्त के 4 प्रकार सर्वतन्त्र सबको मान्य, प्रतितन्त्र अपने शास्त्र तक सीमित, अधिकरण मुख्य बात सिद्ध होने पर दूसरी खुद सिद्ध हो जाना और अभ्युपगम बिना परीक्षा के मान लेना।

**शब्दावली:-**

- विप्रतिपत्ति- किसी एक विषय पर अलग-अलग या विरोधी विचार होना।
- विशेष-अपेक्षा -किसी वस्तु की खास पहचान को जानने की इच्छा।
- लौकिक-परीक्षक- साधारण मनुष्य लौकिक और शास्त्रों के विद्वान परीक्षक।
- सर्वतन्त्र -वह बात जिसे हर शास्त्र और हर व्यक्ति सच मानता हो जैसे प्रमाणों से ज्ञान होता है।
- पंचावयव- अनुमान के पांच हिस्से प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन।
- ऊह- किसी चीज के बारे में तर्क-वितर्क या गहराई से सोचना।
- साध्य- जिस बात को हम सिद्ध करना चाहते हैं।
- व्याप्ति- हेतु धुआँ और साध्य आग का अटूट संबंध।
- तत्वज्ञान- किसी वस्तु का बिल्कुल वैसा ही ज्ञान जैसा वह वास्तव में है।
- विमृश्य- सोच-विचार या विमर्श करने के बाद।



### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

प्रश्न 1: न्यायदर्शन के अनुसार संशय का स्वरूप क्या है? इसके कारणों समानधर्म, अनेकधर्म, विप्रतिपत्ति आदि की सूत्र 1.1.23 के आधार पर सविस्तार व्याख्या कीजिए।

प्रश्न 2: न्यायदर्शन में सिद्धान्त की परिभाषा क्या है? इसके चारों भेदों सर्वतन्त्र, प्रतितन्त्र, अधिकरण, अभ्युपगम को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 3: पंचावयव वाक्य से आप क्या समझते हैं? न्यायसूत्र 1.1.32 के आधार पर अनुमान के पाँचों अवयवों की उदाहरण जैसे पर्वत पर अग्नि सहित विवेचन कीजिए।

प्रश्न 4: तर्क और निर्णय के स्वरूप एवं उनके परस्पर संबंध को स्पष्ट कीजिए। क्या तर्क स्वयं एक प्रमाण है? भाष्यानुसार स्पष्ट करें।

प्रश्न 5: प्रयोजन और दृष्टान्त का न्याय प्रक्रिया में क्या महत्व है? उपयुक्त उदाहरणों द्वारा समझाइए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न:-

प्रश्न 1: संशय किसे कहते हैं?

प्रश्न 2: प्रयोजन की परिभाषा क्या है?

प्रश्न 3: दृष्टान्त का क्या महत्व है?

प्रश्न 4: सिद्धान्त के चार प्रकार कौन से हैं?

प्रश्न 5: अनुमान के पाँच अवयव कौन-कौन से हैं?

प्रश्न 6: तर्क का लक्षण लिखिए।

प्रश्न 7: निर्णय और तर्क में क्या संबंध है?

प्रश्न 8: प्रतिज्ञा और निगमन में क्या अंतर है?

### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. विशेषापेक्षो विमर्शः ----- रिक्त स्थान की पूर्ति करें (सूत्र 1.1.23)

(A) निर्णयः

(B) संशयः

(C) तर्कः

(D) प्रमाण

2. संशय की उत्पत्ति का प्रमुख कारण क्या है?

(A) केवल प्रत्यक्ष ज्ञान

(B) समान धर्म की उपलब्धि और विशेष धर्म का अभाव

(C) गुरु का उपदेश

(D) शास्त्रों का अध्ययन

3. यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत् ..... सूत्र 1.1.24

(A) फलम्

(B) प्रयोजनम्

(C) हेतुः

(D) दृष्टान्तः

4. वह कौन सा पदार्थ है जिस पर लौकिक साधारण जन और परीक्षक विद्वान दोनों की बुद्धि समान होती है?

(A) सिद्धान्त

(B) अवयव

(C) दृष्टान्त

(D) तर्क

5. न्यायदर्शन के अनुसार सिद्धान्त के कितने प्रकार हैं?

(A) 2

(B) 3

(C) 4

(D) 5

6. ऐसा सिद्धान्त जो एक शास्त्र में सिद्ध हो लेकिन दूसरे शास्त्र में उसे स्वीकार न किया गया हो, क्या कहलाता है?
- (A) सर्वतन्त्र सिद्धान्त  
(B) **प्रतितन्त्र सिद्धान्त**  
(C) अधिकरण सिद्धान्त  
(D) अभ्युपगम सिद्धान्त
7. प्रतिज्ञाहेतूदाहरणोपनयनिगमनान्यवयवाः (1.1.32) में उपनय का क्या अर्थ है?
- (A) साध्य का निर्देश  
(B) साध्य को सिद्ध करने वाला कारण  
(C) **उदाहरण के आधार पर साध्य को पक्ष पर घटाना**  
(D) निष्कर्ष की स्थापना
8. अनुमान के पाँच अवयवों में से प्रथम अवयव कौन सा है?
- (A) हेतु  
(B) निगमन  
(C) **प्रतिज्ञा**  
(D) उदाहरण
9. अविज्ञाततत्त्वैऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहः ----- (सूत्र 1.1.40)
- (A) निर्णयः  
(B) संशयः  
(C) **तर्कः**  
(D) व्याप्तिः
10. न्यायदर्शन के अनुसार 'तर्क' क्या है?
- (A) एक स्वतंत्र प्रमाण  
(B) **प्रमाणों का सहायक तत्वज्ञान के लिए**  
(C) संशय का पर्यायवाची  
(D) एक प्रकार का भ्रम
11. पक्ष और प्रतिपक्ष के माध्यम से अर्थ का निश्चय करना क्या कहलाता है?
- (A) तर्क  
(B) संशय  
(C) **निर्णय**  
(D) जल्प
12. निर्णय का मुख्य प्रयोजन क्या है?
- (A) संशय को बढ़ाना  
(B) **यथार्थ अर्थ का निर्धारण विमृश्य पक्षप्रतिपक्षाभ्याम्**  
(C) केवल तर्क करना  
(D) दृष्टान्त देना

## खण्ड-2 - तर्कशास्त्र और वाद-विवाद के प्रकार

### इकाई-2.1- वाद, जल्प, वितण्ड का निरूपण

#### उद्देश्य-

- संवाद कला को समझना यह जानना कि सत्य की खोज और अपनी बात को सिद्ध करने के लिए किस प्रकार के संवाद कथा का प्रयोग किया जाता है।
- सत्य और विजय का अंतर यह स्पष्ट करना कि कब चर्चा केवल ज्ञान के लिए होती है वाद और कब केवल जीतने के लिए जल्प वितण्डा।
- तत्वज्ञान की सुरक्षा यह समझना कि जब कोई व्यक्ति सत्य का मजाक उड़ाए या कुतर्क करे, तो जल्प और वितण्डा जैसे साधनों का उपयोग करके सत्य की रक्षा कैसे की जाती है।
- कुतर्कों की पहचान बहस में होने वाले छल और गलत तर्कों को पहचानना सीखना।

इस भाग में वाद-विवाद की विभिन्न शैलियों का विवेचन किया गया है। वाद वह चर्चा है जो सत्य के अन्वेषण के लिए विद्वानों या गुरु-शिष्यों के बीच में होती है। जल्प वह वाद है जिसमें वादी केवल अपने पक्ष को सिद्ध करने हेतु ही तर्क करता है, वास्तविक रूप में वह विचार सत्य हो या न हो। वितण्डा उससे भी आगे की प्रक्रिया है, जिसमें वादी स्वयं कोई मत नहीं रखता है, परन्तु केवल प्रतिपक्ष का खंडन करता है। यह अधिकरण शास्त्रों की शुद्धता और नैतिकता की रक्षा करने के लिए है। जैसे - पौधों की रक्षा हेतु काँटे के आवरण के समान।

#### ५.१ वाद-

वाद वह है, जहां सत्य की खोज हो और जहां किसी भी पदार्थ या विषय का वास्तविक ज्ञान को प्राप्त करना ही उद्देश्य हो। इस में वादी या प्रतिवादी दोनों का जीतना मुख्य उद्देश्य नहीं होता है। यही न्यायदर्शन में कहा है

**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः॥१.२.१॥**

एकाधिकरणस्थौ विरुद्धो धर्मी पक्षप्रतिपक्षौ प्रत्यनीकभावाद्, अस्त्यात्मा नास्त्यात्मेति।  
नानाधिकरणस्थौ विरुद्धौ न पक्षप्रतिपक्षौ, यथा नित्य आत्मा अनित्या बुद्धिरिति ।  
परिग्रहोऽभ्युपगमव्यवस्था। सोऽयं पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वादः । तस्य विशेषणं

**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति।**

वाद वह है जिसमें, प्रमाण (युक्ति) और तर्क से सिद्धि (स्थापना) एवं खण्डन (उपालम्भ) किया जाता है। वाद सिद्धान्त के विरुद्ध नहीं होता है। वाद पाँच अवयव (प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय, निगमन) से युक्त होता है। वाद में पक्ष और प्रतिपक्ष दोनों का समावेश होता है।

वाद का विषय वही होता है जिसमें एक ही अधिकरण पर चर्चा हो रही हो। जैसे **आत्मा है या नहीं।** परन्तु यह विषय नहीं हो सकता है कि **आत्मा नित्य है या बुद्धि अनित्य है।**

**प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः - प्रमाणैस्तर्केण च साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति। साधनं स्थापना। उपालम्भः प्रतिषेधः।**

वाद में प्रमाण और तर्क के द्वारा साधन और उपालम्भ किया जाता है। साधन शब्द का अर्थ है- स्वपक्ष की स्थापना और उपालम्भ का अर्थ है- पर पक्ष का प्रतिषेध या खण्डन करना।

#### ५.२ जल्प

जल्प वह है, जिसमें जय के ही उद्देश्य के साथ अपने पक्ष को रखा जाता है। यहां तर्क का विषय वास्तविक ही हो ऐसे अनिवार्य नहीं है। इस पर महर्षि गौतम ने कहा -

**यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो जल्पः ॥१.२.२॥**

**पञ्चावयवोपपन्नः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहः । छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भ इति**

**छलजातिनिग्रहस्थानैः साधनमुपालम्भश्चास्मिन् क्रियत इति एवं विशेषणो जल्पः ।**

जल्प वह है जिसमें छल, जाति, और निग्रहस्थान का प्रयोग होता है और प्रमाण के बजाय कुतर्कों से विवाद किया जाता है।

सूत्र पर विद्यमान **यथोक्तोपपन्न** शब्द का अर्थ भाष्य में स्पष्ट उल्लेखित है-

**यथोक्तोपपन्न इति** - सूत्र में “यथोक्तोपपन्न” पद का अर्थ है - जैसा कहा है वाद कथा में उस लक्षण से उपपन्न (युक्त) अर्थात् ‘जल्प’ ऐसी कथा है, जो वाद कथा के सारे लक्षणों से युक्त रहता है। साथ ही साथ जल्प में स्वपक्ष की स्थापना और परपक्ष का खण्डन करने के लिये छल, जाति और निग्रहस्थान का भी प्रयोग किया जाता है।

यदि जल्प में विषय स्थापना के लिए तर्क की आवश्यकता है, तो सूत्र में छल, जाति आदि का उल्लेख क्यों किया गया है? ऐसा प्रश्न उठने पर भाष्यकार ने उत्तर दिया -

**प्रमाणैः साधनोपालम्भयोश्छलजातिनिग्रहस्थानानामङ्गभावः स्वपक्षरक्षार्थत्वात्, न स्वतन्त्राणां साधनभावः।**

स्वपक्ष की स्थापना तथा परपक्ष का खण्डन तो प्रमाण और तर्क से ही होता है, किन्तु अपने पक्ष की रक्षा करने के लिए छल, जाति और निग्रहस्थान ये तीनों सहायक अंग के रूप में ‘जल्प’ कथा में विद्यमान रहते हैं।

### ५.३ वितण्डा

वितण्डा, पूर्वोक्त दोनों कथाओं की प्रक्रिया से (वाद और जल्प से) बिल्कुल अलग है। यहां केवल परमत का खण्डन ही उद्देश्य है। अपना कोई पक्ष स्थापित नहीं किया जाता है।

**स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो वितण्डा ॥१.२.३॥**

**स जल्पो वितण्डा भवति । किं विशेषणः? प्रतिपक्षस्थापनया हीनः।**

वितण्डा वह है जहाँ प्रतिपक्ष को केवल खंडित किया जाता है स्वयं का कोई पक्ष नहीं रखा जाता है। यहां प्रश्न उठता है कि जल्प में भी खण्डन किया जाता है तो जल्प और वितण्डा में क्या अन्तर है? इसका उत्तर भाष्यकार ने दिया है-

**स जल्पो वितण्डा भवति। किं विशेषणः? प्रतिपक्षस्थापनया हीनः। यौ तौ समानाधिकरणौ विरुद्धौ धर्मौ पक्षप्रतिपक्षावित्युक्तं तयोरेकतरं वैतण्डिको न स्थापयतीति परपक्षप्रतिषेधो नैव प्रवर्तत इति।**

जल्प में परपक्ष का खण्डन करने के साथ-साथ अपने पक्ष की स्थापना भी करनी पड़ती है, किन्तु वितण्डा में केवल परमत का खण्डन ही होता है। वाद किसी भी संदर्भ में जल्प बन सकता है और जल्प कभी भी वितण्डा का रूप ले सकता है।

### **स्मरणीय बिंदु (Key Points) :-**

कथा के तीन प्रकार न्यायदर्शन में संवाद को तीन भागों में बाँटा गया है वाद, जल्प और वितण्डा।

वाद यह सबसे उत्तम संवाद है। यह गुरु-शिष्य या मित्रों के बीच सत्य जानने के लिए होता है। इसमें छल का प्रयोग वर्जित है और पंचावयव वाक्यों का प्रयोग होता है।

जल्प इसका मुख्य उद्देश्य विजय प्राप्त करना होता है। इसमें अपनी बात सही साबित करने के लिए प्रमाणों के साथ-साथ छल, जाति गलत तर्क और निग्रहस्थान का भी सहारा लिया जाता है।

वितण्डा यह जल्प का ही एक रूप है, लेकिन इसमें व्यक्ति अपना कोई पक्ष नहीं रखता, वह केवल दूसरे की बात को काटने या खंडन करने में लगा रहता है।

सुरक्षा कवच न्यायदर्शन के अनुसार, जैसे खेत की फसल को बचाने के लिए काँटों की बाड़ लगाई जाती है, वैसे ही सत्य ज्ञान को कृतर्कियों से बचाने के लिए जल्प और वितण्डा का प्रयोग आवश्यक माना गया है।

शब्दावली

- कथा- किसी विषय पर दो लोगों के बीच होने वाला संवाद या चर्चा।
- वाद- सत्य की खोज के लिए की गई निष्पक्ष चर्चा।
- विजिगीषा - जीतने की इच्छा जल्प और वितण्डा का मुख्य उद्देश्य।
- पक्ष-प्रतिपक्ष- दो विरोधी विचार या बहस के दो पहलू।
- साधन- अपने मत को सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क या प्रमाण।
- उपालम्भ- दूसरे के मत में कमियाँ निकालना या उसका खंडन करना।
- छल- शब्दों का हेरफेर करके दूसरे को फंसाना।
- जाति - ऐसे तर्क देना जो ऊपर से सही लगें पर वास्तव में गलत हों मिथ्या उत्तर।
- निग्रहस्थान- बहस के दौरान ऐसी स्थिति जहाँ वादी हार मान ले या चुप हो जाए पराजय का आधार।
- पक्षस्थापनाहीन - अपनी बात को सिद्ध करने की कोशिश न करना, बस दूसरे को गलत बताना वितण्डा का लक्षण।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

- प्रश्न 1: न्यायदर्शन के अनुसार वाद का लक्षण क्या है? सूत्र 1.2.1 के आधार पर इसके प्रमुख अंगों की विस्तृत व्याख्या कीजिए।  
प्रश्न 2: जल्प से आप क्या समझते हैं? जल्प में छल, जाति और निग्रहस्थान के प्रयोग की उपयोगिता स्पष्ट कीजिए।  
प्रश्न 3: वितण्डा का स्वरूप स्पष्ट करते हुए जल्प और वितण्डा के मध्य अंतर स्पष्ट कीजिए।  
प्रश्न 4: तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प और वितण्डा आवश्यक हैं। इस कथन की न्यायदर्शन के आलोक में समीक्षा कीजिए।  
प्रश्न 5: कथा संवाद के तीनों प्रकारों का तुलनात्मक चार्ट और विवरण प्रस्तुत कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न

- प्रश्न 1: वाद का मुख्य लक्षण क्या है?  
प्रश्न 2: जल्प से क्या अभिप्राय है?  
प्रश्न 3: वितण्डा की सबसे बड़ी विशेषता क्या है?  
प्रश्न 4: वाद में साधान और उपालम्भ का क्या अर्थ है?  
प्रश्न 5: न्यायशास्त्र में जल्प और वितण्डा को काँटों के घेरे के समान क्यों माना गया है?  
प्रश्न 6: पक्ष-प्रतिपक्ष परिग्रह का क्या अर्थ है?  
प्रश्न 7: क्या वाद में छल का प्रयोग किया जा सकता है?  
प्रश्न 8: अधिकरण की एकता से क्या तात्पर्य है?

### बहुविकल्पीय प्रश्न:-

1. तत्त्वज्ञान की प्राप्ति और सत्य के अन्वेषण के लिए की जाने वाली चर्चा क्या कहलाती है?  
(A) जल्प  
(B) वितण्डा  
(C) वाद  
(D) निग्रहस्थान
2. सिद्धान्ताविरुद्धः पञ्चावयवोपपन्नः... यह लक्षण किस कथा का है?  
(A) वाद  
(B) जल्प  
(C) हेत्वाभास  
(D) तर्क
3. वाद में उपालम्भ शब्द का क्या अर्थ है?  
(A) अपने पक्ष की स्थापना  
(B) दूसरे के पक्ष का खंडन  
(C) आदर सत्कार करना  
(D) मौन धारण करना
4. वाद कथा प्रायः किनके मध्य होती है?  
(A) शत्रु और मित्र के बीच  
(B) केवल राजाओं के बीच  
(C) गुरु और शिष्य के बीच  
(D) मूर्खों के बीच
5. विजय विजिगीषा प्राप्त करने के उद्देश्य से की जाने वाली चर्चा कौन सी है?  
(A) वाद  
(B) जल्प  
(C) वितण्डा  
(D) संशय
6. जल्प में प्रमाणों के अतिरिक्त किन गौण साधनों का प्रयोग किया जाता है?  
(A) केवल मौन

- (B) दया और क्षमा  
 (C) छल, जाति और निग्रहस्थान  
 (D) केवल पुष्प
7. यथोक्तोपपन्नश्छलजातिनिग्रहस्थानसाधनोपालम्भो.....रिक्त स्थान की पूर्ति करें  
 (A) जल्पः  
 (B) वादः  
 (C) तर्कः  
 (D) निर्णयः
8. न्यायदर्शन के अनुसार तत्त्वज्ञान की रक्षा के लिए जल्प किसके समान है?  
 (A) सुगन्धित पुष्प के समान  
 (B) काँटों के घेरे बाड के समान  
 (C) सूर्य के समान  
 (D) जल के समान
9. वह चर्चा जिसमें वादी अपने पक्ष की स्थापना नहीं करता पक्षस्थापनाहीन, क्या कहलाती है?  
 (A) वाद  
 (B) जल्प  
 (C) वितण्डा  
 (D) पंचावयव
10. वितण्डा और जल्प में मुख्य अंतर क्या है?  
 (A) जल्प में छल नहीं होता  
 (B) वितण्डा में अपना पक्ष नहीं होता  
 (C) वितण्डा सत्य के लिए होता है  
 (D) दोनों में कोई अंतर नहीं है
11. स प्रतिपक्षस्थापनाहीनो.....सूत्र 1.2.3  
 (A) वादः  
 (B) जल्पः  
 (C) वितण्डा  
 (D) हेतुः

## इकाई-2.2 - हेत्वाभास, छल, जाति एवं निग्रहस्थान का निरूपण

### उद्देश्य-

- गलत तर्कों की पहचान यह समझना कि जो कारण हेतु सही लगते हैं पर वास्तव में गलत होते हैं, उन्हें कैसे पहचाना जाए।
- बहस के दोषों को जानना बातचीत या शास्त्रार्थ के दौरान होने वाली चालाकियों छल और कुतर्कों जाति को समझना।
- तार्किक शुद्धता अनुमान की प्रक्रिया में होने वाली गलतियों को सुधारकर ज्ञान को दोषमुक्त बनाना।
- हार-जीत के आधार यह जानना कि किसी चर्चा में तार्किक रूप से हार निग्रहस्थान कब और किन कारणों से मानी जाती है।

### ६.१ हेत्वाभास

हेत्वाभास है हेतु का आभास। अर्थात् हेत्वाभास दोष से युक्त होता है, यह हेतु के समान तो दिखता है, किन्तु हेतु नहीं होता है। हेत्वाभास का सामान्य लक्षण बताने वाला सूत्र नहीं है, किन्तु भाष्यकार ने व्याख्या में इस का सामान्य लक्षण बताया है -

**हेतुलक्षणाभावादहेतवो हेतुसामान्याद्धेतुवदाभासमानाः।**

जिस हेतु में जब हेतु का लक्षण घटित नहीं होता है तो वह अहेतु बन जाता है। परन्तु अहेतु बनने के पश्चात् भी हेतु के समान जो प्रयोग किया जाता है, वह हेत्वाभास है। ये पांच प्रकार के हैं-

**सव्यभिचारविरुद्धप्रकरणसमाध्यसमकालातीता हेत्वाभासाः॥१.२.४॥**

सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम और कालातीत ये पांच प्रकार के हेत्वाभास हैं। इन पांचों का विस्तृत विश्लेषण अलग-अलग सूत्रों से किया गया है।

### सव्यभिचार-

सव्यभिचार हेत्वाभास प्रथम है। जब हेतु व्यभिचार दोष से युक्त होता है वह सव्यभिचार है।

**अनैकान्तिकः सव्यभिचारः॥१.२.५॥**

**व्यभिचार एकत्राव्यवस्थितिः। सह व्यभिचारेण वर्तते इति सव्यभिचारः।**

हेतु वह होता है, जो एक ही साध्य को स्थिर रूप से सिद्ध करता हो। अतः हेतु 'एकान्तिक' अर्थात् 'अव्यभिचारि' होता है। जब हेतु एक से अधिक साध्यों को सिद्ध करता है, तो वह 'अनैकान्तिक सव्यभिचार' हेत्वाभास कहलाता है।

**निदर्शननित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वात्, स्पर्शवान् कुम्भोऽनित्यो दृष्टो, न च तथा स्पर्शवान् शब्दस्तस्मादस्पर्शत्वान्नित्यः शब्द इति। दृष्टान्ते स्पर्शवत्त्वमनित्यत्वं च धर्मो न साध्यसाधनभूतौ दृश्येते स्पर्शवांश्चाणुर्नित्यश्चेति। आत्मादौ च दृष्टान्ते "उदाहरणसाधर्म्यत्साध्यसाधनं हेतुः" (१.१.३४) इति अस्पर्शत्वादिति हेतुर्नित्यत्वं व्यभिचारति अस्पर्शा बुद्धिरनित्या चेति। एवं द्विविधेऽपि दृष्टान्ते व्यभिचारात्साध्यसाधनभावो नास्तीति लक्षणाभावादहेतुरिति। नित्यत्वमप्येकोऽन्तः, अनित्यत्वमप्येकोऽन्तः, एकस्मिन्नन्ते विद्यत इति ऐकान्तिको विपर्ययादनैकान्तिकः उभयान्तव्यापकत्वादिति॥**

सव्यभिचार हेतु वह है, जो साध्य को सिद्ध करने के साथ-साथ असाध्य को भी सिद्ध करता है या कुछ संदर्भ में साध्य को सिद्ध नहीं करता है। इस विषय को और स्पष्टता से समझने के लिए भाष्य के वाक्यों को देखते हैं - व्यभिचार का अर्थ है एकत्र व्यवस्थित नहीं होना। हेतु और साध्य का सम्बन्ध नियमित रूप से होना चाहिये, यही व्यवस्थित नियम है। यदि कुछ संदर्भ में हेतु साध्य को सिद्ध करता है और अन्य संदर्भ में नहीं करता है तो यह अव्यवस्थित माना जायेगा।

**उदाहरण- शब्द नित्य है क्योंकि वह स्पर्श रहित है**

यहां स्पर्श रहित रूप हेतु से शब्द पर नित्यत्व को सिद्ध किया जा रहा है। परन्तु, स्पर्श रहित तो अनित्य वस्तु भी हो सकती है, जैसे बुद्धि। बुद्धि स्पर्श रहित है और अनित्य भी है। अतः स्पर्श रहित हेतु से न केवल नित्यत्व सिद्ध हो रहा है, अपितु अनित्यत्व भी सिद्ध हो रहा है।

### विरुद्ध-

**सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः॥१.२.६॥**

**तं विरुणाद्धीति तद्विरोधी अभ्युपेतं सिद्धान्तं व्याहन्तीति।**

विरुद्ध हेत्वाभास वह होता है, जो अपने ही स्वीकृत सिद्धान्त का खण्डन कर देता है।

उदाहरण



यथा सोऽयं विकारो व्यक्तेरपैति नित्यत्वप्रतिषेधात्, न नित्यो विकार उपपद्यते । अपेतोऽपि विकारोऽस्ति विनाशप्रतिषेधात् । सोऽयं नित्यत्वप्रतिषेधादिति हेतुर्व्यक्तेरपेतोऽपि विकारोऽस्तीत्यनेन स्वसिद्धान्तेन विरुध्यते ।

सांख्य मत में ऐसा माना गया है कि पदार्थ कार्य रूप से नष्ट होने पर भी कारण रूप से रहता है, क्योंकि पदार्थ का नाश नहीं होता है। इस सिद्धान्त को मानकर आगे कहा गया है कि 'जो विकार है, वह उत्पत्ति से पूर्व व्यक्त नहीं होता है, क्योंकि विकार नित्य नहीं है। यह जो हेतु दिया है 'नित्य नहीं है' यह अपने सिद्धान्त के विरुद्ध है। अतः यह हेतु 'विरुद्ध' के लिए उदाहरण है। यह द्वितीय प्रकार का हेत्वाभास है।

### प्रकरणसम

जो हेतु प्रकरण (वाद का विषय) के विषय में विचार करने के लिए प्रयुक्त किया गया है, किन्तु वह निर्णय देने में असमर्थ है, अर्थात् संशय का निवारण नहीं करता है, वह प्रकरणसम हेत्वाभास है।

यस्मात्प्रकरणचिन्ता स निर्णयार्थमपदिष्टः प्रकरणसमः ॥१.२.७॥

### विमर्शाधिष्ठानौ पक्षप्रतिपक्षावनवसितौ प्रकरणम्।

प्रकरण का अर्थ है, पक्ष और प्रतिपक्ष के बीच में सन्दिग्ध विषय पर विमर्श। जैसे शब्द नित्य है या अनित्य? इस पर दोनों पक्षों के समान बलवत्प्रमाण का प्रतिपादन करने से निर्णय नहीं होता है। तो यह प्रकरण है।

जब हेतु निर्णय देने के उद्देश्य से प्रस्तुत किया जाता है, परन्तु वास्तव में वह दोनों पक्षों को समान रूप से ही सिद्ध करता है, जिससे संशय का परिहार नहीं होता है, अतः यह प्रकरणसम है।

### उदाहरण

प्रज्ञापनं त्वनित्यः शब्दो नित्यधर्मानुपलब्धेरित्यनुपलभ्यमाननित्यधर्मकमनित्यं दृष्टं स्थाल्यादि, नित्यः शब्दोऽनित्यधर्मानुपलब्धेः अनुपलभ्यमानानित्यधर्मकं नित्यं दृष्टमाकाशादि।

वादी अपने पक्ष को रखता है – शब्द अनित्य है, क्योंकि उसमें नित्य धर्म (नित्यत्व) नहीं होने के कारण, जैसे बर्तन आदि। इसके लिये प्रतिवादी भी अपना पक्ष स्थापित करता है – शब्द नित्य है, क्योंकि उसमें अनित्य धर्म (अनित्यत्व) नहीं होने के कारण, जैसे आकाश आदि।

परन्तु इन दोनों तर्कों में जो हेतु दिया है, उस हेतु की ही सिद्धि नहीं हुई है, अतः वह हेतु साध्य को सिद्ध करने में सक्षम नहीं होगा। दोनों का प्रकरण जहां से प्रारम्भ हुआ था वहीं है। अर्थात् शब्द का नित्यत्व या अनित्यत्व दोनों में से एक सिद्ध होना था, किन्तु नहीं हुआ। यह प्रकरणसम का दृष्टान्त है। प्रकरणसम हेत्वाभास वास्तविक निर्णय के बिना केवल सन्देह को ही उत्पन्न करता है।

### साध्यसम

साध्यसम हेतु वह है जो हेतु साध्य से अलग नहीं होता है। यदि साध्य से अलग नहीं है, तो वह हेतु नहीं होता है। पहले से जो सिद्ध हुआ हो, वही हेतु बन सकता है और जो सिद्ध करने योग्य (अभि तक सिद्ध नहि हुआ) है वह साध्य होता है।

साध्याविशिष्टः साध्यत्वात्साध्यसमः ॥१.२.८॥

### साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात्साध्यसमः।

जब हेतु साध्य से विशिष्ट या पृथक् नहीं है, तब साध्य ही बन जाता है। अर्थात् सिद्ध करने योग्य बन जाता है। उसे साध्यसम हेत्वाभास कहा जाता है।

### उदाहरण

द्रव्यं छायेति साध्यं, गतिमत्त्वादिति हेतुः साध्येनाविशिष्टः साधनीयत्वात्साध्यसमः। अयमप्यसिद्धत्वात्साध्यवत्प्रज्ञापयितव्यः। 'छाया द्रव्य है, गतिमान होने के कारण।' जब ऐसा अनुमान प्रयोग किया जाता है तो यह जो हेतु है, वह भी सिद्ध नहीं है। सिद्ध नहीं हुआ हेतु साधन नहीं हो सकता है। इसलिए साध्य के समान होने के कारण ऐसा हेतु 'साध्यसम' हेत्वाभास कहलाता है। कालातीत

कालात्ययापदिष्टः कालातीतः ॥१.२.९॥

कालात्ययेन युक्तो यस्म्यर्थैकदेशोऽपदिश्यमानस्य स कालात्यापदिष्टः कालातीत इत्युच्यते।

कालातीत शब्द सुनते ही ज्ञात होता है कि काल अतीत होना या काल का अतिक्रमण होना। जब साध्य को सिद्ध करना था उस समय का अतिक्रमण होने के बाद साध्य को सिद्ध करने के लिए हेतु का प्रयोग किया जाये तो वह कालातीत हेत्वाभास कहलाता है।

### उदाहरण

निदर्शनं नित्यः शब्दः संयोगव्यङ्ग्यत्वाद् रूपवत् । प्रागूर्ध्वं च व्यक्तेरवस्थितं रूपं प्रदीपघटसंयोगेन व्यज्यते । तथा

च शब्दोऽप्यवस्थितो भेरीदण्डसंयोगेन व्यज्यते, दारुपरशुसंयोगेन वा। तस्मात्संयोगव्यङ्ग्यत्वान्नित्यः शब्द इत्ययमहेतुः कालात्ययापदेशात् ।

शब्द नित्य है क्योंकि वह संयोग से अभिव्यक्त होता है, रूप के समान।

जैसे दीपक के सहयोग से रूप दिखाई देता है, उत्पन्न नहीं होता है। क्योंकि रूप पहले से ही है। अतः रूप नित्य है। वैसे ही शब्द भी संयोग से अर्थात् ढोल और दण्ड के संयोग से अभिव्यक्त होता है, उत्पन्न नहीं है, अतः शब्द भी नित्य है। यहां एक समस्या उत्पन्न होगी कि - दूर स्थित व्यक्ति को दण्ड-भेरी संयोग न रहने के बाद भी शब्द सुनाई देता है, किन्तु दीपक का संयोग रूप के साथ न रहने पर रूप दिखाई नहीं देता है। दीपक-रूप का संयोग टूटते ही रूप का दिखना बन्द हो जाता है, किन्तु भेरी-दण्ड संयोग हटने के बाद भी दूरस्थ व्यक्ति को शब्द सुनाई देता है। अतः शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने के लिए यहां जो हेतु दिया गया है कि- संयोग से अभिव्यक्त होने के कारण शब्द नित्य है। यह हेतु 'कालार्ययापदेश' है अर्थात् 'कालातीत' हेत्वाभास है।

## ६.२ छल

वचनविघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्या छलम्॥१.२.१०॥

न सामान्यलक्षणे छलं शक्यमुदाहर्तुम्, विभागे तूदाहरणानि।

क्रम प्राप्त अग्रिम पदार्थ है छल। शास्त्रार्थ में वादी या प्रतिवादी के तर्क को यथावत् समझकर उसका वास्तविक उत्तर देना होता है। परन्तु छल में वादी या प्रतिवादी की कही गई कथन का विघात करके (काटकर) विकल्प से कथन का विपरीत अर्थ निकाला जाता है। यह छल का सामान्य लक्षण है। जब विभाग करके छल को विचार किया जाता है, तब प्रत्येक छल का उदाहरण भी दिया जाता है - आगे छल के विभाग को देखते हैं-

तत्त्रिविधं वाक्छलं सामान्यच्छलमुपचारच्छलं चेति॥१.२.११॥

छल तीन प्रकार के हैं-

वाक्छल, सामान्यछल और उपचारछल

**वाक्छल**

इसमें प्रथम प्रकार का छल है

अविशेषाभिहितेऽर्थे वक्तुरभिप्रायादर्थान्तरकल्पना वाक्छलम्॥१.२.१२॥

वक्ता के शब्दों के अर्थ (अभिप्राय) का अलग अर्थ करना वाक्छल कहलाता है।

उदाहरण

नवकम्बलोऽयं माणवक इति प्रयोगः ।

वक्ता ने 'नवकम्बल' शब्द को 'नूतन कम्बल' के अर्थ में प्रयोग किया किन्तु प्रतिपक्षी ने 'नव' शब्द के अर्थ को वक्ता के अभिप्राय से विरुद्ध अर्थात् नवकम्बल शब्द को नौ कम्बल अर्थ किया। यहां वक्ता के अर्थ को परिवर्तित किया गया है।

**सामान्यछल**

सम्भवतोऽर्थस्यातिसामान्ययोगादसम्भूतार्थकल्पना सामान्यच्छलम्॥१.२.१३॥

निर्दिष्टविचार को सामान्य दृष्टि से व्यापक बनाकर अर्थ को बदलना सामान्य छल कहलाता है।

उदाहरण

अहो खल्वसौ ब्राह्मणो विद्याऽऽचरणसम्पन्न इत्युक्ते कश्चिदाह सम्भवति ब्राह्मणे विद्याऽऽचरणसम्पदिति । अस्य वचनस्य विघातोऽर्थविकल्पोपपत्त्याऽसम्भूतार्थकल्पनया क्रियते।

वक्ता ने कहा 'यह ब्राह्मण विद्वान और आचरणशील है'। इस वाक्य को लेकर प्रतिपक्षी ने सामान्य दृष्टि से 'यदि इस ब्राह्मण में विद्या और आचरण है, तो संस्कार रहित ब्राह्मण में भी विद्या और आचरण होना चाहिये। क्योंकि वह भी तो ब्राह्मण है।' इस प्रकार से सामान्य रूप से वक्ता के अर्थ को एक असम्भव अर्थ में बदलना सामान्यछल है।

**उपचारछल**

रूपक या प्रतीकात्मक अर्थ को वास्तविक बताना जैसे मंच चिल्ला रहा है।

धर्मविकल्पनिर्देशेऽर्थसद्भावप्रतिषेध उपचारच्छलम्॥१.२.१४॥

अभिधानस्य धर्मो यथार्थ प्रयोगः। धर्मविकल्पोऽन्यत्र दृष्टस्यान्यत्र प्रयोगः।

यथा मञ्चाः क्रोशन्तीति अर्थसद्भास्य प्रतिषेधः मञ्चस्थाः पुरुषाः क्रोशन्ति न तु मञ्चाः क्रोशन्ति।

उदाहरण

भक्त्या प्रयोगे प्राधान्येन, कल्पनमुपचारविषयं छलमुपचारच्छलम् । उपचारो नीतार्थः सहचरणादिनिमित्तेन, अतद्भावे तद्वदभिधानमुपचार इति।

वक्ता ने बोला 'मञ्चाः क्रोशन्ति' अर्थात् मञ्च चिल्ला रहा है। यह प्रयोग लाक्षणिक अर्थ का प्रसिद्ध उदाहरण है। यहां मंच जड़ है तो यह कैसे चिल्ला सकता है ? यहां मंच पर उपस्थित पुरुष को बताना तात्पर्य है। परन्तु, प्रतिपक्षी इस भाव को समझकर भी कहता है मंच पर उपस्थित पुरुष चिल्ला रहा है, मंच नहीं चिल्ला रहा है, पुनः आपने ऐसा वाक्य (मंच चिल्ला रहा है) का प्रयोग किया इस प्रकार वक्ता के कथन का निषेध करना उपचारछल है।

### ६.३ जाति

जाति का प्रयोग वाद में नहीं किया जाता है, जल्प और वितण्डा में जाति का प्रयोग किया जाता है। जाति का सामान्य अर्थ है दोष दिखाना। वाद में केवल सत्य अर्थ पर निर्णय की बात होती है, न कि जीतना या प्रतिपक्षी को हराना। जाति का सामान्य लक्षण न्यायदर्शन में ऐसे कहा है

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं जातिः॥१.२.१८॥

प्रयुक्ते हि हेतौ यः प्रसंगो जायते स जातिः

जाति वह है, जहाँ साधर्म्य या वैधर्म्य दिखाकर प्रतिपक्ष के हेतु का प्रतिषेध किया जाता है। इसकी विस्तृत चर्चा आगे जाति के विभाग को दिखाते समय की जायेगी।

### ६.४ निग्रहस्थान

निग्रहस्थान से जल्प या वितण्डा समाप्त हो जाता है। विपरीत ज्ञान होना या अज्ञानता से चुप रहना निग्रहस्थान है।

विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च निग्रहस्थानम्॥१.२.१९॥

अप्रतिपत्तिस्त्वारम्भ विषयेऽप्यप्रारम्भः । परेण स्थापितं वा न प्रतिषेधति प्रतिषेधं वा नोद्धरति । असमासाच्च नैते एव निग्रहस्थाने इति ।

यह निग्रहस्थान दो प्रकार का होता है-विप्रतिपत्ति और अप्रतिपत्ति। किसी भी पक्ष के द्वारा अपने ही सिद्धांत से विपरीत कथन करना विप्रतिपत्ति है। किसी भी पक्ष के द्वारा अज्ञानता के कारण प्रश्न का उत्तर देने में असमर्थ हो जाना अप्रतिपत्ति है। जाति और निग्रहस्थान में अनेक उपभेद हैं। २४ प्रकार की जाति एवं २२ प्रकार का निग्रहस्थान अग्रिम प्रकरण में बताया गया है।

## स्मरणीय बिंदु (Key Points)

- हेत्वाभास इसका अर्थ है हेतु का आभास। यानी वह कारण जो सच्चा हेतु नहीं है, बस वैसा दिखता है। इसके 5 प्रकार हैं
- सव्यभिचार जो कारण एक से अधिक जगहों पर भटक जाए अनैकान्तिक।
- विरुद्ध जो अपने ही सिद्धांत को काट दे।
- प्रकरणसम जिससे समाधान होने के बजाय नया संशय पैदा हो जाए।
- साध्यसम जिसे सिद्ध करने के लिए खुद दूसरे प्रमाण की जरूरत हो।
- कालातीत जिसका समय निकल चुका हो या जो प्रत्यक्ष से बाधित हो।
- छल दूसरे के शब्दों का जानबूझकर गलत अर्थ निकालना। इसके 3 भेद हैं वाक् छल शब्दों के हेर-फेर, सामान्य छल अति-व्याप्ति, और उपचार छल मुहावरे का गलत अर्थ लेना।
- जाति केवल समानता या अंतर के आधार पर गलत तरीके से विरोध करना झूठा उत्तर देना।
- निग्रहस्थान बहस में वह बिंदु जहाँ व्यक्ति अपनी बात ठीक से न कह पाए या गलत कह दे और उसकी हार निश्चित हो जाए। अप्रतिपत्ति उत्तर न सूझना इसका मुख्य कारण है।

## सरल शब्दावली

- हेत्वाभास- आभासी हेतु या तार्किक गलती।
- अनैकान्तिक- वह तर्क जो निश्चित रूप से एक ही नतीजे पर न पहुँचाए इधर-उधर भटकने वाला।
- वाक् छल- शब्दों के एक से अधिक अर्थ होने का फायदा उठाकर सामने वाले को गलत साबित करना।
- उपचार छल- किसी ने बात उदाहरण या मुहावरे में कही, और आपने उसका शाब्दिक अर्थ निकालकर विरोध किया।
- साधर्म्य-वैधर्म्य- दो चीजों के बीच की समानता साधर्म्य और उनके बीच का अंतर वैधर्म्य।
- प्रत्यवस्थान -विरोध करना या उत्तर देना।
- विप्रतिपत्ति -गलत या विपरीत समझ होना।
- अप्रतिपत्ति- उत्तर न दे पाना या मौन हो जाना।
- लाक्षणिक- अर्थ शब्दों का सीधा अर्थ न लेकर उनके पीछे का संकेत समझना जैसे मंच चिल्ला रहे हैं का अर्थ है मंच पर बैठे लोग।

## दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

- प्रश्न 1: हेत्वाभास से क्या तात्पर्य है? न्यायसूत्र 1.2.4 के आधार पर हेत्वाभास के पांचों प्रकारों सव्यभिचार, विरुद्ध, प्रकरणसम, साध्यसम, कालातीत की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
- प्रश्न 2: छल का स्वरूप क्या है? इसके तीनों भेदों वाक् छल, सामान्य छल और उपचार छल को उदाहरण सहित स्पष्ट कीजिए।
- प्रश्न 3: न्यायदर्शन में जाति और निग्रहस्थान की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। ये दोनों कथा जल्प वितण्डा में किस प्रकार पराजय के कारण बनते हैं?
- प्रश्न 4: सव्यभिचार हेत्वाभास को अनैकान्तिक क्यों कहा जाता है? भाष्य में दिए गए शब्द की नित्यता वाले उदाहरण द्वारा इसकी तार्किक विवेचना कीजिए।
- प्रश्न 5: प्रकरणसम और साध्यसम हेत्वाभास के बीच अंतर स्पष्ट कीजिए। क्या ये दोनों तत्त्वज्ञान में बाधक हैं?

## लघु उत्तरीय प्रश्न:-

- प्रश्न 1: हेत्वाभास का सामान्य अर्थ क्या है?
- प्रश्न 2: हेत्वाभास कितने प्रकार के होते हैं? उनके नाम लिखिए।
- प्रश्न 3: सव्यभिचार अनैकान्तिक हेत्वाभास किसे कहते हैं?
- प्रश्न 4: विरुद्ध हेत्वाभास का लक्षण क्या है?
- प्रश्न 5: साध्यसम हेत्वाभास को स्पष्ट कीजिए।
- प्रश्न 6: छल किसे कहते हैं? इसके कितने प्रकार हैं?
- प्रश्न 7: वाक् छल का एक उदाहरण दीजिए।
- प्रश्न 8: जाति की परिभाषा क्या है?
- प्रश्न 9: निग्रहस्थान वित क्या है? इसके मुख्य कारण क्या हैं?
- प्रश्न 10: उपचार छल क्या है?

**बहुविकल्पीय प्रश्न:-**

1. हेतु की तरह दिखने वाला, किन्तु वास्तव में हेतु न होना क्या कहलाता है?  
(A) दृष्टान्त  
(B) **हेत्वाभास**  
(C) निग्रहस्थान  
(D) छल
2. न्यायसूत्र 1.2.4 के अनुसार हेत्वाभास के कितने प्रकार हैं?  
(A) 3  
(B) 4  
(C) **5**  
(D) 6
3. अनैकान्तिक किस हेत्वाभास का दूसरा नाम है?  
(A) विरुद्ध  
(B) प्रकरणसम  
(C) **सव्यभिचार**  
(D) कालातीत
4. वह हेतु जो साध्य को सिद्ध करने के बजाय उसके विपरीत पक्ष को सिद्ध कर दे, उसे कहते हैं  
(A) साध्यसम  
(B) **विरुद्ध**  
(C) सव्यभिचार  
(D) कालातीत
5. छाया द्रव्य है क्योंकि वह गतिमान है - इसमें गति हेतु की सिद्धि न होने के कारण कौन सा दोष है?  
(A) प्रकरणसम  
(B) **साध्यसम**  
(C) कालातीत  
(D) विरुद्ध
6. वक्ता के शब्दों का अर्थ बदलकर उसका खंडन करना क्या कहलाता है?  
(A) जाति  
(B) **छल**  
(C) संशय  
(D) वितण्डा
7. छल के कुल कितने प्रकार बताए गए हैं?  
(A) 2  
(B) **3**  
(C) 4  
(D) 5
8. नव-कम्बल नौ कम्बल या नया कम्बल किस छल का प्रसिद्ध उदाहरण है?  
(A) सामान्य छल  
(B) उपचार छल  
(C) **वाक् छल**  
(D) इनमें से कोई नहीं
9. मंच चिल्ला रहे हैं मंचा: क्रोशन्ति में मंच के लाक्षणिक अर्थ को न मानकर शाब्दिक अर्थ लेना कौन सा छल है?  
(A) वाक् छल  
(B) **उपचार छल**

(C) सामान्य छल

(D) जाति

10. साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां प्रत्यवस्थानं ----- (सूत्र 1.2.18)

(A) संशयः

(B) जातिः

(C) निर्णयः

(D) तर्कः

11. किसी चर्चा में हार का स्थान पराजय का कारण किसे कहा गया है?

(A) दृष्टान्त

(B) सिद्धान्त

(C) निग्रहस्थान

(D) अवयव

12. अप्रतिपत्ति उत्तर न दे पाना किसका एक प्रमुख कारण है?

(A) वाद का

(B) हेत्वाभास का

(C) निग्रहस्थान का

(D) छल का

## इकाई-2.3 -विविध जातियों का लक्षण तथा समाधान, षट्पक्षीनिरूपण

### उद्देश्य-

- कुतर्कों का गहराई से विश्लेषण यह समझना कि जब कोई व्यक्ति केवल समानता या अंतर के आधार पर गलत विरोध (जाति) करता है, तो वे तर्क कितने प्रकार के हो सकते हैं।
- तार्किक प्रत्युत्तर समाधान सीखना गलत तर्कों या जाति का खंडन कैसे किया जाए और व्याप्ति के आधार पर सत्य को कैसे स्थापित किया जाए।
- संवाद की मर्यादा षट्पक्षी के माध्यम से यह समझना कि चर्चा जब अंतहीन होने लगे या कुतर्कों में फँस जाए, तो उसका स्वरूप क्या होता है।
- बौद्धिक चातुर्य शास्त्रार्थ में विपक्षी द्वारा फँके गए तार्किक जाल को पहचानने की क्षमता विकसित करना।

### जाति का सामान्य लक्षण-

प्रवृत्तिदोषसम्बद्धः प्रेत्यभावः प्रपञ्चितः ।

फलं दुःखं विमुक्तिश्च तदुपायश्च कीर्तिताः॥ (वार्त्तिकम्)

**प्रसंग-** तृतीय तथा चतुर्थ अध्याय में प्रमेय की परीक्षा के पश्चात् अब पञ्चमाध्याय में 'जाति' तथा 'निग्रहस्थान' का विस्तार से वर्णन करेंगे। प्रथम अध्याय (१/२/१८,१९) में इन दोनों का लक्षण करके आगे (१/२/२० में) इनके द्वारा प्रत्याख्यान (=खण्डन) के विविध प्रकार होने से इनका बहुत्व कहा है। उन्हीं दोनों का इस अध्याय में विस्तार से विभाग करना है। इसके पहले आह्निक में 'जाति' तथा दूसरे में 'निग्रहस्थान' का विभाग करेंगे।

सूत्रकार सर्वप्रथम नामोल्लेख पूर्वक चौबीस प्रकार की जातियों का निर्देश करते हैं-

साधर्म्यं वै धर्म्योत्कर्षा पकर्षा वणर्या वणर्य विकल्पसाध्यप्राप्त्यप्राप्तिप्रसंगप्रतिदृष्टान्तानुत्पत्तिसंशय-

प्रकरणाहेत्वर्थापत्त्यविशेषोपपत्त्युपलब्ध्यनुपलब्धिनित्यानित्यकार्यसमाः॥५.१.१॥

सूत्र के अन्त में पठित सम पद का साधर्म्य आदि प्रत्येक के साथ सम्बन्ध है।

यह २४ प्रकार की जाति है -

- |                   |                  |                |                       |
|-------------------|------------------|----------------|-----------------------|
| १. साधर्म्यसम,    | २. वैधर्म्यसम,   | ३. उत्कर्षसम,  | ४. अपकर्षसम,          |
| ५. वणर्यसम,       | ६. अवणर्यसम,     | ७. विकल्पसम,   | ८. साध्यसम,           |
| ९. प्राप्तिसम,    | १०. अप्राप्तिसम, | ११. प्रसंगसम,  | १२. प्रतिदृष्टान्तसम, |
| १३. अनुत्पत्तिसम, | १४. संशयसम,      | १५. प्रकरणसम,  | १६. अहेतुसम,          |
| १७. अर्थापत्तिसम, | १८. अविशेषसम,    | १९. उपपत्तिसम, | २०. उपलब्धिसम,        |
| २१. अनुपलब्धिसम,  | २२. नित्यसम,     | २३. अनित्यसम,  | २४. कार्यसम           |

-ये चौबीस जातिप्रयोगों के भेद हैं।

यह जातिप्रयोग वक्ता का एक प्रकार का असदुत्तररूप दोष है, जिसके द्वारा विपक्ष के स्थापना हेतुओं का प्रतिषेध (=खण्डन) किया जाता है। विपक्षी के द्वारा इस जातिप्रयोग का निर्णायकों या श्रोताओं को ज्ञान करा देने पर जातिप्रयोक्ता पराजित माना जाता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'साधर्म्यसम' और 'वैधर्म्यसम' जातिप्रयोगों का लक्षण (स्वरूप) बताते हैं-

साधर्म्यवैधर्म्याभ्यामुपसंहारे तद्धर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्यवैधर्म्यसमौ ॥५.१.२॥

**साधर्म्येणोपसंहारे साध्यधर्मविपर्ययोपपत्तेः साधर्म्येणैव प्रत्यस्थानमविशिष्यमाणं स्थापनाहेतुतः साधर्म्यसमः प्रतिषेधः** किसी पक्ष की सद्धेतु (=यथार्थ हेतु) द्वारा हुई स्थापना का व्याप्ति की अपेक्षा किए बिना असद्धेतु (=अयथार्थ हेतु) से प्रतिषेध करना जाति प्रयोग है। चाहे वह वादी ने किया हो या प्रतिवादी ने।

वादी के द्वारा साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से अपने पक्ष का उपसंहार (= निगमन) करने पर जब प्रतिवादी द्वारा दोनों का प्रतिषेध व्याप्यनपेक्ष साधर्म्य से किया जाता है, तब उसे 'साधर्म्यसम' प्रतिषेध कहते हैं। उसी प्रकार दोनों का प्रतिषेध जब व्याप्तव्यापेक्ष वैधर्म्य से किया जाता है, तब वह 'वैधर्म्यसम' प्रतिषेध कहाता है। जैसे-

**१. साधर्म्यसम उदाहरण-** वादी साधर्म्य हेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है- शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), कृतक (उत्पन्न)



होने से (हेतु), जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, घट के समान (व्याप्ति सहित उदाहरण), इसी प्रकार शब्द भी कृतक है (उपनय), इसलिए कृतक (=उत्पत्तिधर्मक) होने से शब्द अनित्य है (निगमन)।

साधर्म्य से पक्ष की स्थापना होने पर प्रतिवादी साधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है- शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), अमूर्त होने से (हेतु), अमूर्त पदार्थ नित्य देखा जाता है, जैसे आत्मा (व्याप्ति सहित उदाहरण), आत्मा के समान यह शब्द भी अमूर्त है (उपनय) इसलिए आत्मा के समान अमूर्त होने से शब्द नित्य है (निगमन)। इसमें कोई हेतु नहीं कि कृतकत्व साधर्म्य से शब्द को अनित्य माना जाए, किन्तु अमूर्तत्व साधर्म्य से नित्य न माना जाए। अतः वादी के द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोष पूर्ण है।

जब वादी वैधर्म्य हेतु से अपने पक्ष की स्थापना करता है, जैसे शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), कृतक होने से (हेतु), जो कृतक नहीं होता वह अनित्य भी नहीं होता, जैसे आत्मा (विषम व्याप्ति सहित दृष्टान्त), शब्द क्योंकि आत्मा के समान अकृतक नहीं है (उपनय), अतः आत्मा के साथ कृतकत्व वैधर्म्य से कृतक होने के कारण शब्द अनित्य है (निगमन)।

वैधर्म्य से पक्ष की स्थापना होने पर प्रतिवादी साधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है- शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), अमूर्त होने से (हेतु), अमूर्त पदार्थ नित्य देखा जाता है, जैसे- आत्मा (दृष्टान्त), आत्मा के समान यह शब्द भी अमूर्त है (उपनय), अतः आत्मा के समान अमूर्त होने से शब्द नित्य है (निगमन)। इसमें कोई हेतु नहीं कि आत्मा के साथ कृतकत्व वैधर्म्य से कृतक होने से शब्द को अनित्य माना जाए, किन्तु आत्मा के साथ अमूर्तत्व साधर्म्य से उसे नित्य न माना जाए। अतः वादी के द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोष पूर्ण है। इस प्रकार व्याप्ति की अपेक्षा से रहित केवल साधर्म्य द्वारा 'कृतकत्व' (कार्यत्व) आदि हेतु को साध्य की सिद्धि में असमर्थ सिद्ध करना 'साधर्म्यसम' प्रतिषेध (जाति) है।

**२. वैधर्म्यसम-** जब वादी द्वारा पूर्ववत् साधर्म्य से शब्द के अनित्यत्व की स्थापना करने पर प्रतिवादी वैधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), अमूर्त होने से (हेतु), जो अमूर्त नहीं होता, वह नित्य भी नहीं होता, जैसे- घट (दृष्टान्त), शब्द क्योंकि घट के समान मूर्त नहीं है (उपनय), इसलिए घट के समान मूर्त न होने से शब्द नित्य है निगमन। इसमें कोई हेतु नहीं, कि घट के साथ 'कृतकत्व' साधर्म्य से शब्द को अनित्य माना जाए, और उसी घट के साथ 'अमूर्तत्व' वैधर्म्य से नित्य न माना जाए। अतः वादी द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोषपूर्ण है। और वादी द्वारा वैधर्म्य से अपने पक्ष की पूर्ववत् स्थापना करने पर प्रतिवादी वैधर्म्य से उसका प्रतिषेध करता है शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), अमूर्त होने से (हेतु), जो अमूर्त नहीं होता, वह नित्य भी नहीं होता, जैसे घट (दृष्टान्त), शब्द क्योंकि घट के समान मूर्त नहीं है (उपनय), अतः घट के साथ 'अमूर्तत्व' वैधर्म्य से अमूर्त होने के कारण शब्द नित्य है (निगमन)। इसमें कोई विशेष हेतु नहीं कि नित्य आत्मा के साथ 'कृतकत्व' वैधर्म्य से शब्द को अनित्य माना जाए और अनित्य घट के साथ 'अमूर्तत्व' वैधर्म्य से नित्य न माना जाए। अतः वादी के द्वारा शब्द को अनित्य बताना दोषपूर्ण है। इस प्रकार व्याप्ति की अपेक्षा से रहित केवल वैधर्म्य द्वारा हेतु को साध्य की सिद्धि में असमर्थ सिद्ध करना 'वैधर्म्यसम' जाति का प्रयोग माना जाता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'साधर्म्यसम' और 'वैधर्म्यसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं -

**गोत्वाद् गोसिद्धिर्वर्तत्सिद्धिः ॥५.१.३॥**

साधर्म्यमात्रेण वैधर्म्यमात्रेण च साध्यसाधने प्रतिज्ञायमाने स्यादव्यवस्था, सा तु धर्मविशेषे नोपपद्यते, गोसाधर्म्याद् गोत्वाज्जातिविशेषाद् गौः सिद्ध्यान्तं न तु सास्नादिसम्बन्धात्।

केवल एक धर्म के साधर्म्य से अथवा वैधर्म्य से साध्य के सिद्ध करने में अव्यवस्था उत्पन्न हो जाती है। अतः प्रत्येक पदार्थ की सिद्धि उसके सामान्य धर्म से होती है। जैसे गो पदार्थ की सिद्धि में गोत्व जाति और गवाकृति ही मुख्य कारण है, न कि पुच्छ, विषाण आदि, क्योंकि इनकी अतिव्याप्ति महिषादि में भी होती है। द्रव्यत्व साधर्म्य से घट को आत्मा के समान चेतन भी माना जा सकता है, जो कि अनिष्ट है। प्रतिवादी (जातिवादी) के 'अमूर्तत्व' हेतु में अतिव्याप्ति एवं अव्याप्ति दोष भी है; क्योंकि बुद्धि (ज्ञान) अमूर्त होते हुए भी अनित्य है एवं परमाणु मूर्त होते हुए भी नित्य है। वस्तुतः व्याप्तिविशिष्ट सद्हेतु से ही साध्य की सिद्धि हो सकती है, असद्हेतु (अयथार्थ हेतु) से नहीं। इस प्रकार असद्हेतु की असाधनता प्रकट कर देने पर ऐसे हेतु (जाति) का प्रयोक्ता चर्चा में पराजित माना जाता है। तब चर्चा समाप्त हो जाती है।

**अथ उत्कर्षसमादिजातिषट्कम्-**

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'उत्कर्षसम' आदि छह जातिप्रयोगों का विवरण प्रस्तुत करते हैं-

**साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पाद्भयसाध्यत्वाच्चोत्कर्षापकर्षवर्ण्यविकल्पसाध्यसमाः ॥५.१.४॥**

दृष्टान्तधर्म साध्ये समासजन् उत्कर्षसमः। यदि कियाहेतुगुणयोगाल्लोष्टवत् क्रियावानात्मा लोष्टवदेव स्पर्शवानपि प्राप्नोति। छह जातियों का स्वरूप बताने के लिए सूत्र में दो हेतु बताए हैं। एक 'साध्यदृष्टान्तयोर्धर्मविकल्पात्'। पहले हेतु से प्रारम्भिक पाँच जातियों का तथा दूसरे हेतु से अन्त में पठित 'साध्यसम' जाति का स्वरूप अभिव्यक्त होता है।

**उत्कर्षसम-** सूत्र के 'धर्मविकल्प' पद का अर्थ है- धर्मों की विविधता। पदार्थ के अनेक धर्म होते हैं। उनमें से किसी धर्म के साध्य

होने पर जब उसे अनुमान के पाँच अवयवों से सिद्ध करते हैं, तो उनमें एक अवयव दृष्टान्त है, जिसमें साध्य के धर्म को दिखाया जाता है। किन्तु यह आवश्यक नहीं, कि दृष्टान्तगत प्रत्येक धर्म साध्य (पक्ष) में विद्यमान हो। ऐसी स्थिति में 'दृष्टान्तगत ऐसे धर्म को पक्ष में आरोपित करना जो पक्ष (साध्य) में न हो, वह 'उत्कर्षसम' प्रतिषेध (=जातिप्रयोग) कहा जाता है।' उदाहरण- वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), कृतक होने से (हेतु), जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है, जैसे- घट (दृष्टान्त), वैसा ही यह शब्द कृतक है (उपनय), अतः कृतक होने से शब्द अनित्य है (निगमन)।

प्रतिवादी इसके उत्तर में कहता है यदि कृतक हेतु से घट के समान शब्द अनित्य है, तो घट के समान शब्द रूपवान् भी होना चाहिए। इसमें कोई हेतु नहीं, कि घट के समान शब्द को अनित्य माना जाए, पर रूपवान् न माना जाए।

यहाँ शब्द में रूप गुण नहीं था, परन्तु वादी को परास्त करने के लिए उसकी अधिक कल्पना करली गई, इसी को उत्कर्षसम कहते हैं। **अपकर्षसम-** जहाँ विद्यमान धर्म को साध्य से पृथक् करके वर्णन किया जाए, उसे 'अपकर्षसम' प्रतिषेध कहते हैं। उदा०- जब वादी ने पूर्ववत् शब्द के अनित्यत्व की स्थापना करदी, तो प्रतिवादी ने कहा रूपरहित आकाश कार्य (कृतक) और अनित्य नहीं, इसलिए शब्द भी रूपरहित होने से कार्य और अनित्य नहीं, हो सकता। यहाँ शब्द में जो उत्पत्ति का धर्म था, उसको रूपरहित होने से पृथक् किया गया-अतः यह 'अपकर्षसम' प्रतिषेध है।

**वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम-** अनुमान के प्रतिज्ञावाक्य (अवयव) में एक 'साध्य' धर्म होता है, जिसका अनुमानप्रयोक्ता वर्णन (प्रख्यापन) करना चाहता है, वह 'वर्ण्य' (वर्णनीय) है। जिसका वर्णन करना अनुमान वाक्य में अपेक्षित नहीं है अर्थात् जो पहले से ही निश्चित है, वह दृष्टान्तगत धर्म 'अवर्ण्य' है। इन दोनों को परस्पर विपरीत कर देना-'वर्ण्यसम' तथा 'अवर्ण्यसम' जाति का प्रयोग है। अथ. त् समान हेतु के आधार पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता से अवर्ण्य का वये बताना 'वर्ण्यसम' तथा वर्ण्य को अवर्ण्य बताना 'अवर्ण्यसम' जाति है।

उदाहरण- घट अनित्य है, कृतक होने से, शब्द के समान। यदि शब्द अनित्य नहीं है, तो घट भी अनित्य नहीं हो सकता। यहाँ घट के अनित्यत्व में संशय न होते हुए भी उसे साध्य रूप में प्रस्तुत करना 'वर्ण्यसम' जाति प्रयोग है। परन्तु दृष्टान्तरूप शब्द के अनित्यत्व में सन्देह होने पर भी उसे सिद्ध के समान प्रस्तुत करना 'अवर्ण्यसम' जाति- प्रयोग है।

अथवा पृथक्-पृथक् उदाहरण भी दे सकते हैं। जैसे घट अनित्य है, कृतक होने से, पट के समान। यहाँ घट के अनित्यत्व पक्ष में किसी को संशय नहीं है, फिर भी उसे साध्य (वर्ण्य) रूप में प्रस्तुत करना 'वर्ण्यसम' जातिप्रयोग है। बुद्धि अनित्य है, कृतक होने से, शब्द के समान। यहाँ दृष्टान्त में शब्द के अनित्यत्व का निश्चय नहीं है, फिर भी उसे सिद्ध समझकर उदाहरण रूप में प्रस्तुत करना 'अवर्ण्यसम' जातिप्रयोग है।

वस्तुतः- कौन सा धर्म वर्णनीय है, कौन सा अवर्णनीय है, यह व्यक्तियों की बुद्धि से जाना जाता है।

**विकल्पसम-** पक्ष और दृष्टान्त में किन्ही धर्मों की विविधता का आश्रय लेकर पक्ष में साध्यधर्म के विपरीत धर्म को उपस्थित कर देना 'विकल्पसम' जाति है।

उदाहरण- वादी ने अपने पक्ष की स्थापना की जीवात्मा अविभु है, क्रियावान् अथवा उत्क्रान्ति वाला होने से, ढेले के समान। इस पर प्रतिवादी कहता है क्रियावान् कोई पदार्थ भारी देखा जाता है, जैसे ढेला, और कोई हल्का देखा जाता है, जैसे वायु। यद्यपि क्रियावत्त्व हेतु ढेला और वायु में समान है। इसी प्रकार क्रियावान् होते हुए भी कोई पदार्थ परच्छिन्न हो सकता है, जैसे- ढेला, और कोई विभु हो सकता है, जैसे जीवात्मा। जब क्रियावत्त्व हेतु समान होते हुए भी कोई पदार्थ भारी और कोई हल्का हो सकता है, तो इसी प्रकार क्रियावत्त्व हेतु समान होते हुए भी ढेला एकदेशी तथा जीवात्मा विभु हो सकता है। अन्यथा ढेले और वायु में भी एक को भारी और एक को हल्का नहीं माना जाना चाहिए। यहाँ गुरुत्व और लघुत्व धर्मविकल्प की कल्पना से पक्ष के साध्यधर्म अविभुत्व का अभाव दिखाया गया है। अतः यह विकल्पसम जाति का प्रयोग है।

**साध्यसम-** व्याप्तियुक्त हेतु के बल पर पक्ष और दृष्टान्त की समानता दिखाकर दृष्टान्त में देखे हुए धर्म में भी साध्य (सिद्ध करने योग्य) होने की आपत्ति प्रस्तुत करने को 'साध्यसम' जातिप्रयोग कहते हैं।

उदा. वादी अपना मत प्रस्तुत करता है- शब्द अनित्य है, कृतक होने से, जो कृतक होता है, वह अनित्य होता है। जैसे- घट, वैसा ही यह शब्द है, अतः कृतक होने से शब्द अनित्य है। इस पर प्रतिपक्षी कहता है- यदि कृतक होने से घट के समान शब्द है, तो इससे सिद्ध हुआ, कि जैसा शब्द है, वैसा ही घट है। शब्द का अनित्यत्व अभी साध्य है, तो शब्द के समान घट का अनित्यत्व भी साध्य मानना चाहिए। इस प्रकार घट की अनित्यता के निश्चय में साध्यता दिखाने से यह 'साध्यसम' जाति का प्रयोग है। इसके अनुसार यदि घट में अनित्यता साध्य नहीं, तो शब्द को घट के समान बताकर दोनों को एक धर्मयुक्त कहना असंगत है। इस 'साध्यसम' जाति की 'वर्ण्यसम' से इतनी भिन्नता है, कि 'साध्यसम' में दृष्टान्त की अनुपपत्ति (असिद्धि) प्रकट की गई है। किन्तु 'वर्ण्यसम' में प्रतिवादी उसकी दृष्टान्तता को चुनौती नहीं देता, अपितु दृष्टान्त के वर्ण्य न होने

में हेतु की जिज्ञासा करता है, कि दृष्टान्तधर्म वर्ण्य (साध्य) क्यों नहीं है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार इन जातिप्रयोगों का समाधान बताते हैं-

**किञ्चित्साधर्म्यादुपसंहारसिद्धेर्वैधर्म्यादतिषेधः ॥५.१.५॥**

**अलभ्यः सिद्धस्य निहवः, सिद्धं च किञ्चित्साधर्म्यादुपमानं यथा गौस्तथा गवय इति, तत्र न लभ्यो गोगवययोर्धर्मविकल्पश्चोदयितुम्।** जहाँ कुछ साधर्म्य होता है, वहीं साध्य की सिद्धि होती है। उस (दृष्टान्त) में किसी धर्म के विरुद्ध होने से उसका खण्डन नहीं हो सकता। जैसे - गौ के समान नीलगाय होती है। यहाँ जिस धर्म का गौ और नीलगाय (गवय) में सादृश्य है, उसी धर्म के मिलने से दृष्टान्त की उपयोगिता सिद्ध होती है। विरुद्ध धर्म के भेद से समान धर्म की एकता का खण्डन नहीं होता। दृष्टान्त में दार्ष्टान्त का कोई एक धर्म मिलना चाहिए यह आवश्यक नहीं, कि इनके सारे धर्म ही आपस में मिलें। अतः उत्कर्षसम आदि दोषों से वैधर्म्य को लेकर साध्य का खण्डन करना ठीक नहीं है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार वर्ण्यसम, अवर्ण्यसम और साध्यसम जातिप्रयोगों का अन्य समाधान प्रस्तुत करते हैं-

**साध्यातिदेशाच्च दृष्टान्तोपपत्तेः ॥५.१.६॥**

**यत्र लौकिकपरीक्षकाणां बुद्धिसाम्यं तेनाविपरीतोऽर्थोऽतिदिश्यते प्रज्ञापनार्थम् । एवं साध्यातिदेशाद् दृष्टान्ते उपपद्यमाने साध्यत्वमनुपपन्नमिति ।**

दृष्टान्त में साध्य का एक धर्म मिलना चाहिए, सब धर्मों के मिलने की कोई आवश्यकता नहीं। यदि सब धर्म मिल जाएँ, तो साध्य और दृष्टान्त में भेद ही क्या रहा? भेद न रहने से वह साध्य को क्या सिद्ध करेगा? अतः वर्ण्य, अवर्ण्य, साध्यसम प्रतिषेध ठीक नहीं है। इसके अतिरिक्त लौकिक (साधारण जन) तथा परीक्षक (विवेचक विद्वानों) का दृष्टान्त में बुद्धिसाम्य रहता है। अतः उसका खण्डन करना उचित नहीं।

### **प्राप्त्यप्राप्तिसमजातिद्वयप्रकरणम्**

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'प्राप्तिसम' एवं 'अप्राप्तिसम' जाति का लक्षण बताते हैं -

**प्राप्य साध्यमप्राप्य वा हेतोः प्राप्याऽविशिष्टत्वादप्राप्याऽसाधकत्वाच्च प्राप्त्यप्राप्तिमौ॥५.१.७॥**

**हेतुः प्राप्य वा साध्यं साध्येदप्राप्य वा ? न तावत्प्राप्य, प्राप्यामविशिष्टत्वादसाधकः । द्वयोर्विद्यमानयोः प्राप्तौ सत्यां किं कस्य साधकं साध्यं वा ? अप्राप्य साधकं न भवति, नाप्राप्तः प्रदीपः प्रकाशयतीति।**

वादी के द्वारा अपना पक्ष स्थापित कर देने के उपरान्त जब प्रतिवादी उसका सदुत्तर नहीं दे पाता, तब जाति का प्रयोग करता है। वह पूछता है- हेतु साध्य से मिलकर उसको सिद्ध करता है, अथवा बिना मिले? यदि मिलकर सिद्ध करता है- ऐसा मानें तो दोनों में किसी एक की विशेषता न होने से कौन सिद्ध करता है, कौन सिद्ध होता है? इसकी कोई व्यवस्था नहीं रहेगी। अर्थात् दोनों के समान होने से उनमें साध्य-साधकभाव नहीं रह सकता। साथ मिले हुए धूम और अग्नि संयोग के आधार पर समान हैं। यदि इसमें धूम को हेतु और अग्नि को साध्य माना जाता है, तो अग्नि को हेतु और धूम को साध्य क्यों न माना जाए? अतः साध्य को प्राप्त होकर हेतु उसका साधक होता है, यह कहना असंगत है। यह प्राप्ति से प्रतिषेध करने के कारण 'प्राप्तिसम' जातिप्रयोग है। यदि बिना मिले हेतु को साध्य का साधक मानें तो ठीक नहीं क्योंकि पदार्थों से असम्बद्ध हुआ प्रकाश कभी उनको प्रकाशित नहीं कर सकता। इस प्रकार हेतु की अप्राप्ति से किया गया प्रतिषेध 'अप्राप्तिसम' जाति का प्रयोग है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार उक्त दोनों जातियों का समाधान बताते हैं-

**घटादिनिष्पत्तिदर्शनात् पीडने चाभिचारादप्रतिषेधः ॥५.१.८॥**

**उभयथा खल्ययुक्तः प्रतिषेधः कर्तृकरणाधिकरणानि प्राप्य मृदं घटादिकार्य निष्पादयन्ति, अभिचाराच्च पीडने सति दृष्टमप्राप्य साधकत्वमिति ।**

उक्त दोनों प्रकार के खण्डन ठीक नहीं; क्योंकि कहीं हेतु की प्राप्ति से और कहीं अप्राप्ति से भी साध्य की सिद्धि प्रत्यक्ष देखने में आती है। जैसे घट आदि तो कुम्हार, चक्र, मिट्टी दण्डदि के साक्षात् सम्बन्ध से सिद्ध होते हैं, किन्तु अभिचार (साजिश, दूत आदि के प्रयोग) गुप्त रीति से (साक्षात् सम्बन्ध हुए बिना) अपना प्रभाव दिखाते हैं (शत्रु को कष्ट पहुँचाते हैं)। इसलिए 'प्राप्तिसम' और 'अप्राप्तिसम' प्रतिषेध अयुक्त हैं।

### **प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमप्रकरणम्**

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'प्रसंगसम' तथा 'प्रतिदृष्टान्तसम' जातिप्रयोगों का स्वरूप बताते हैं-

**दृष्टान्तस्य कारणानपदेशात् प्रत्यवस्थानाच्च प्रतिदृष्टान्तेन प्रसंगप्रतिदृष्टान्तसमौ॥५.१.९॥**

**साधनस्यापि साधनं वक्तव्यमिति प्रसंगेन प्रत्यवस्थानं प्रसंगसमः प्रतिषेधः, क्रियाहेतुगुणयोगी क्रियावान् लोष्ट इति हेतुर्नापदिश्यते, न च हेतुमन्तरेण सिद्धिरस्तीति**

हेतु (कारण) का कारण और दृष्टान्त का दृष्टान्त नहीं होता। किन्तु जब वादी द्वारा प्रस्तुत हेतु तथा दृष्टान्त की सिद्धि के लिए प्रतिवादी द्वारा कारण के कारण या दृष्टान्त के दृष्टान्त की जिज्ञासा की जाती है, फिर उनके कारण और दृष्टान्त का भी प्रसंग उत्पन्न होता है, इसी को 'प्रसंगसम' प्रतिषेध कहते हैं। जैसे वादी अपना पक्ष स्थापित करता है वायु चलता है- क्रियावान् होने से, लोष्ट के समान। इस पर प्रतिवादी आक्षेप करता है वायु अथवा लोष्ट क्रियावान् क्यों है? बिना हेतु के यह कैसे मान लें कि वायु अथवा लोष्ट क्रियावान् है? वादी द्वारा प्रस्तुत दृष्टान्त का उसके विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत करके प्रतिषेध (खण्डन) करना 'प्रतिदृष्टान्तसम' जातिप्रयोग है। जैसे वादी कहता है आत्मा क्रियावान् है, क्रियागुणयुक्त होने से लोष्ट के समान। प्रतिवादी ने विरोध में प्रतिदृष्टान्त प्रस्तुत करके उसका खण्डन किया आत्मा निष्क्रिय है, क्रियागुणयुक्त होने से। आकाश के समान। प्रतिवादी से प्रश्न किया आकाश में क्रियागुण क्या है? उसने उत्तर दिया आकाश-वायु-संयोग। वायु के साथ संयोग क्रिया का हेतु है। जैसे वायु का वृक्ष आदि के साथ संयोग होता है। इस प्रकार आकाश निष्क्रिय है, तो उसके समान आत्मा भी निष्क्रिय होना चाहिए। अतः वादी द्वारा आत्मा को सक्रिय बताना असंगत है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'प्रसंगसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं-

**प्रदीपोपादानप्रसंगनिवृत्तिवत्तद्विनवृत्तिः॥५.१.१०॥**

**इदं तावदयं पृष्ठो वक्तुमर्हति, अथ के प्रदीपमुपाददते? किमर्थं वेति? दिदृक्षमाणा दृश्यदर्शनार्थमिति**

**जैसे-** प्रदीप को देखने के लिए अन्य प्रदीप की आवश्यकता नहीं होती, इसी प्रकार साध्य की सिद्धि के लिए प्रस्तुत हेतु की सिद्धि के लिए उत्तरोत्तर हेतुओं की कल्पना निरर्थक है। दृष्टान्त भी किसी साध्य की सिद्धि के लिए तभी प्रस्तुत किया जाता है, जब लौकिक और परीक्षक दोनों समान रूप से उसकी क्षमता को स्वीकार करते हैं (१/१/२५)। ऐसी स्थिति में दृष्टान्त की सिद्धि के लिए हेतु पूछना निरर्थक है। इस प्रकार 'प्रसंगसम' जाति के प्रयोग का उत्तर दे देना चाहिए।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'प्रतिदृष्टान्तसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं

**प्रतिदृष्टान्तहेतुत्वे च नाऽहेतुर्दृष्टान्तः॥५.१.११॥**

**प्रतिदृष्टान्तं ब्रुवतो न विशेषहेतुरपदिश्यते अनेन प्रकारेण प्रतिदृष्टान्तः साधकः न दृष्टान्त इति**

दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त दोनों का अपने साध्य की सिद्धि के लिए प्रयोग होने पर इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है, कि प्रतिदृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करे, दृष्टान्त न करे। इसलिए प्रतिदृष्टान्त को साध्य का साधक मान लेने पर भी दृष्टान्त की साध्य-साधकता नष्ट नहीं होती वस्तुतः व्याप्तियुक्त होने से दृष्टान्त अपने साध्य को सिद्ध करने में समर्थ होता है, प्रतिदृष्टान्त में व्याप्ति न होने से वह दृष्टान्त का प्रतिषेध (खण्डन) नहीं कर सकता- इस प्रकार 'प्रतिदृष्टान्तसम' जाति के प्रयोग का उत्तर दे देना चाहिए।

### अनुत्पत्तिसमप्रकरणम्

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त अनुत्पत्तिसम जाति का स्वरूप बताते हैं-

**प्रागुत्पत्तेः कारणाभावादनुत्पत्तिसमः॥५.१.१२॥**

**अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते अपर आहप्रागुत्पत्तेरनुत्पत्तेः शब्दे प्रयत्नानन्तरीयकत्वमनित्यत्वकारणं नास्ति, तदभावाद् अनित्यत्वं प्राप्तं, नित्यस्य चोत्पत्तिर्नास्ति, अनुत्पत्त्या प्रत्यवस्थानमनुत्पत्तिसमः ।**

अनुत्पत्ति से वादी के पक्ष का प्रतिषेध (खण्डन) करना [अनुत्पत्तिसम] जाति का प्रयोग है। जैसे वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा) प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से (हेतु), जो प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होता है, वह अनित्य होता है, घट के समान (दृष्टान्त)। इस पर प्रतिवादी कहता है प्रयत्न के अनन्तर शब्द की उत्पत्ति बताकर उसे अनित्य कहना असंगत है; क्योंकि शब्द की तथाकथित उत्पत्ति से पहले उसके कारणों का अभाव है। यदि अभाव न होता तो तब शब्द सुनाई देता। जिस पदार्थ की उत्पत्ति के कारण नहीं हैं य वह अनित्य नहीं हो सकता (सदकारणवन्नित्यम् वैशेष. ४/१/१)। अतः शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। जो नित्य है, उसकी उत्पत्ति सम्भव नहीं।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार उक्त जाति का उत्तर बताते हैं-

**तथाभावादुत्पन्नस्य कारणोपपत्तेर्न कारणप्रतिषेधः॥५.१.१३॥**

**तथाभावादुत्पन्नस्येति, उत्पन्नः खल्वयं शब्द इति भवति।**

उत्पन्न होने पर ही, यह 'शब्द' है ऐसा कहा जाता है, अर्थात् शब्द के उत्पन्न होने पर ही उसका अपने स्वरूप में होना (तथाभाव) सम्भव है। अतः उत्पन्न होने के कारण उसमें प्रयत्नानन्तरीयकता आवश्यक रूप से विद्यमान है। उत्पन्न होना प्रयत्न के बिना किसी प्रकार सम्भव नहीं, अर्थात् प्रयत्न शब्दोत्पत्ति का निमित्त (कारण) है। अतः जब शब्द उत्पन्न है, तब उसमें 'प्रयत्न के अनन्तर होना'- इस हेतु का अभाव नहीं कहा जा सकता। उत्पत्ति से पूर्व जब शब्द ही नहीं है, तब अनुत्पत्ति को कारण मानकर उत्पत्ति का खण्डन करना अयुक्त है। अर्थात् जब कार्य ही नहीं, तो उसके कारण का खण्डन कैसा? इसलिए शब्द के अस्तित्व को



मानकर उसके कारण का खण्डन करना सर्वथा असंगत है।

### संशयसमप्रकरणम्

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'संशयसम' जाति का स्वरूप बताते हैं-

**सामान्यदृष्टान्तयोरैन्द्रियकत्वे समाने नित्यानित्यसाधर्म्यात् संशयसमः॥५.१.१४॥**

**अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्युक्ते हेतौ संशयेन प्रत्यव तिष्ठते।**

वादी ने अपना पक्ष स्थापित किया शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् (अनन्तर) उत्पन्न होने के कारण, घट के समान। इस पर प्रतिवादी कहता है- प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने पर भी उस शब्द का नित्य सामान्य के साथ और अनित्य घट के साथ ऐन्द्रियक (इन्द्रियग्राह्य) रूप साधर्म्य है। अर्थात् जैसे नित्य घटत्व आदि जाति इन्द्रियग्राह्य है, वैसे ही अनित्य घट भी, और शब्द भी श्रोत्र-इन्द्रियग्राह्य है। ऐसी स्थिति में संशय होता है, कि शब्द को प्रयत्नानन्तरीयकत्व साधर्म्य से घट के समान अनित्य माना जाए अथवा ऐन्द्रियकत्व साधर्म्य से सामान्य (जाति) के समान नित्य माना जाए? अतः वादी द्वारा केवल प्रयत्नानन्तरीयकत्व हेतु के आधार पर शब्द को अनित्य कहना ठीक नहीं।

[आचार्यों ने यह व्यवस्था की है] कि जिस इन्द्रिय के द्वारा जो वस्तु गृहीत होती है, उसी इन्द्रिय से उस वस्तु में विद्यमान जाति (सामान्य) का ग्रहण होता है। संशय के आधार पर प्रतिषेध होने के कारण यह 'संशयसम' जाति का प्रयोग है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार उक्त जातिप्रयोग का उत्तर बताते हैं-

**साधर्म्यात् संशये न संशयो वैधर्म्यात् उभयथा वा संशयेऽत्यन्तसंशयप्रसंगो नित्यत्वानभ्युपगमाच्च सामान्यस्याप्रतिषेधः॥५.१.१५॥**

**विशेषाद्वैधर्म्यादवधार्यमाणेऽर्थे पुरुष इति न स्थाणुपुरुषसाधर्म्यात्संशयोऽवकाशं लभते। एवं वैधर्म्याद्विशेषात् प्रयत्नानन्तरीयकत्वादवधार्यमाणे शब्दस्यानित्यत्वे नित्यानित्यसाधर्म्यात्संशयोऽवकाशं न लभते।**

दो पदार्थों के समान धर्मों का ज्ञान संशय का कारण होता है। जैसे स्थाणु और पुरुष में केवल समान धर्म के ज्ञान से संशय उत्पन्न होता है। परन्तु जब संशय के आधार-वस्तु में किसी एक के विशेष धर्म का ज्ञान हो जाता है, तब समान धर्म के बने रहने पर भी संशय का उच्छेद हो जाता है। अर्थात् समान धर्म तभी तक संशय को उत्पन्न कर सकता है, जब तक कि विशेष धर्म का ज्ञान नहीं हो जाता। यदि उस स्थिति में भी साधर्म्य के बल पर 'संशय' होना माना जाए, तो संशय कभी निवृत्त नहीं होगा-क्योंकि स्थाणु और पुरुष, के समान धर्म तो सदा बने रहते हैं।

इसी प्रकार प्रयत्नानन्तरीयकत्व (प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होना) शब्द का विशेष धर्म है, और नित्य जाति तथा अनित्य घट आदि में रहने वाला इन्द्रियग्राह्यताधर्म शब्द में समान धर्म है। इस समान धर्म के रहने पर जब शब्द के इस विशेष धर्म का ज्ञान हो जाता है, कि वह प्रयत्न के अनन्तर ही अपने अस्तित्व में आता है, तब उसके अनित्यत्व का संशय निवृत्त हो जाता है। फिर ज्ञात विशेष धर्म के बल पर समान धर्म के रहते हुए भी शब्द का नित्य होना स्वीकार नहीं किया जा सकता। इसलिए साधर्म्य से संशय उठाकर उक्त प्रकार से प्रतिषेध करना ठीक नहीं।

### प्रकरणसमप्रकरणम्

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'प्रकरणसम' जाति प्रयोग का स्वरूप बताते हैं-

**उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धेः प्रकरणसमः॥५.१.१६॥**

**उभयेन नित्येन चानित्येन च साधर्म्यात्प्रतिपक्षयोः प्रवृत्तिः प्रक्रिया। अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदित्येकः पक्षं प्रवर्त्तयति, द्वितीयश्च नित्यसाधर्म्यात्।**

पक्ष और प्रतिपक्ष की प्रवृत्ति को [प्रक्रिया] कहते हैं, जो (नित्य, अनित्य आदि के) दृष्टान्त और प्रतिदृष्टान्त के साधर्म्य से सिद्ध होती है। एक वादी अपना पक्ष प्रस्तुत करता है 'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान'। दूसरा (प्रतिवादी) अपने पक्ष को प्रस्तुत करता है 'शब्द नित्य है, श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य होने से कारण, शब्दत्व जाति के समान'। यहाँ अनित्य और नित्य के साधर्म्य से वादी प्रतिवादी द्वारा शब्द के विषय में अपने-अपने पक्ष प्रस्तुत किए गए, जिसमें अनित्य साधर्म्य से कहा गया पहला हेतु प्रकरण को समाप्त नहीं करता और प्रकरण चालू रहने से अर्थ का निर्णायक नहीं होता। यही स्थिति नित्य-साधर्म्य से कहे गए हेतु की है। इस प्रकार अनिर्णयावस्था में प्रकरण को चलाते रहने की प्रवृत्ति से जो परस्पर एक-दूसरे का प्रतिषेध प्रस्तुत किया जाता है, वह 'प्रकरणसम' जाति का प्रयोग है।

सूत्र में 'साधर्म्य' शब्द 'वैधर्म्य' का भी उपलक्षण समझना चाहिए अर्थात् नित्य और अनित्य आदि के वैधर्म्य से प्रकरण को चालू रखना भी 'प्रकरणसम' जाति का प्रयोग कहा जा सकता है। जैसे वादी कहता है- शब्द नित्य नहीं है, कृतक होने से, जो कृतक होता है, वह नित्य नहीं होता, जैसे-घट। यह नित्य के वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त हुआ। इसी प्रकार दूसरा पक्ष होगा शब्द अनित्य नहीं है, स्पर्शरहित होने से, जो स्पर्शरहित होता है, वह अनित्य नहीं होता, जैसे शब्दत्व जाति। यह अनित्य के वैधर्म्य से प्रकरण प्रवृत्त

किया गया।

**साधर्म्य-** वैधर्म्यसम जाति प्रयोगों के साथ 'प्रकरणसम' जाति का भेद इतना है, कि 'प्रकरणसम' जाति के प्रयोग में तो वादी निश्चय पूर्वक अपना पक्ष सिद्ध करने तथा वादी के पक्ष में दोष दिखाने की भावना से प्रवृत्त होता है परन्तु साधर्म्य वैधर्म्य तथा संशयसम जाति के प्रयोगों में प्रतिवादी अपने प्रतिपक्ष के निश्चय से प्रवृत्त नहीं होता, अपितु अपना पक्ष रखकर कहता है, कि तुम्हारा पक्ष माना जाए, हमारा न माना जाए, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'प्रकरणसम' जातिप्रयोग का उत्तर बताते हैं-

**प्रतिपक्षात् प्रकरणसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः प्रतिपक्षोपपत्तेः॥५.१.१७॥**

**उभयसाधर्म्यात् प्रक्रियासिद्धिं ब्रुवता प्रतिपक्षात्प्रक्रियासिद्धिरुक्ता भवति, यद्युभयसाधर्म्यं तत्र एकतरः प्रतिपक्ष इत्येवं सत्युपपन्नः प्रतिपक्षो भवति, प्रतिपक्षोपपत्तेरनुपपन्नः प्रतिषेधः, यतः प्रतिपक्षोपपत्तिः प्रतिषेधोपपत्तिश्चेति विप्रतिषिद्धमिति**

दोनों के साधर्म्य से प्रक्रिया की सिद्धि होने में दोनों में से एक ही पक्ष सिद्ध होगा, दोनों नहीं; क्योंकि एक ही विषय में दो विरुद्ध मत हों, तो उनमें से एक ही सत्य होता है। उसका खण्डन प्रकरणसम नहीं कर सकता: क्योंकि जब तक अनुसन्धान से तत्त्व का अवधारण (निश्चय) नहीं होता, तभी तक प्रक्रिया रहती है, व्याप्ति के आधार पर जब एक पक्ष (तत्त्व) का निश्चय हो जाता है, तब प्रक्रिया नहीं रहती। अतः 'प्रकरणसम' जाति के प्रयोग से खण्डन अयुक्त है।

**अहेतुसमप्रकरणम्**

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अहेतुसम' जातिप्रयोग का स्वरूप बताते हैं-

**त्रैकाल्यासिद्धेर्हेतोरहेतुसमः॥५.१.१८॥**

**हेतुः साधनम्, तत्साध्यात् पूर्व पश्चात्सह वा भवेत् ? यदि पूर्व साधनमसति साध्ये कस्य साधनम्? अथ पश्चाद्, असति साधने कस्येदं साध्यम्।**

अनुमान प्रमाण के पञ्चावयव वाक्य में साध्य की सिद्धि के लिए हेतु अर्थात् साधन का प्रयोग किया जाता है। यहाँ यह जानना है, कि वह हेतु (साधन) साध्य से पहले होता है, या पीछे? अथवा साथ साथ? यदि हेतु को साध्य से पहले मानें, तो साध्य के अभाव में किसका साधन होगा? अर्थात् जय साध्य ही नहीं, तो किसको सिद्ध करेगा? यदि हेतु को साध्य से पीछे मानें, तो हेतु अनावश्यक है; क्योंकि जिसके लिए हेतु का प्रयोग करना है, वह पहले ही विद्यमान है। फिर उसे साध्य भी नहीं कहा जा सकता, वह तो हेतु के बिना ही सिद्ध है। यदि दोनों का साथ होना मानें, तो उनके विद्यमान होने पर कौन किसका साध्य और कौन किसका साधन कहाएगा? क्योंकि एक साथ होने वाले पदार्थों का परस्पर साध्य साधन भाव नहीं हो सकता। इस प्रकार तीनों कालों में हेतु की असिद्धि दिखाकर परपक्ष का खण्डन करना 'अहेतुसम' जाति का स्वरूप है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार उक्त जातिप्रयोग का उत्तर बताते हैं

**न हेतुतः साध्यसिद्धेस्त्रैकाल्यासिद्धिः॥५.१.१९॥**

**न त्रैकाल्यासिद्धिः । कस्मात्? हेतुतः साध्यसिद्धेः । निर्वर्तनीयस्य निर्वृत्तिविज्ञेयस्य विज्ञानमुभयं कारणतो दृश्यते, सोऽयं महान्प्रत्यक्षविषय उदाहरणमिति।**

यह कहना ठीक नहीं, कि साध्य से पहले, पीछे अथवा एक साथ-तीनों कालों में हेतु की असिद्धि है; क्योंकि बिना हेतु या कारण के कोई कार्य या साध्य सिद्ध नहीं हो सकता, यह लोक में प्रत्यक्षसिद्ध बात है। इसलिए कार्य या साध्य से पहले हेतु का होना आवश्यक है।

प्रतिवादी ने जो यह कहा था, कि साध्य से पहले हेतु के होने पर साध्य के अभाव में वह किसका साधन होगा? इसका उत्तर यह है, कि जो बनता है, जो अभी उत्पन्न होने वाला है, अथवा जो जनाया जाता है, उस साध्य का। अतः हेतु का साध्य से पहले होना आवश्यक है। इस प्रकार हेतु की तीनों कालों में असिद्धि न होने से 'अहेतुसम' जाति का प्रयोग असंगत है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार प्रकारान्तर से उक्त जातिप्रयोग (प्रतिषेध) का उत्तर देते हैं-

**प्रतिषेधानुपपत्तेश्च प्रतिषेद्धव्याप्रतिषेधः ॥५.१.२०॥**

**पूर्व पश्चाद्युपपत्त्या प्रतिषेध इति नोपपद्यते, प्रतिषेधानुपपत्तेः स्थापनाहेतुः सिद्ध इति ।**

प्रतिवादी का निषेद्धव्य (निषेधयोग्य) विषय है 'हेतु से साध्य की सिद्धि होना'। और इसके खण्डन में वह 'हेतोस्त्रैकाल्यासिद्धेः' यह हेतु देता है। उससे पूछना चाहिए, कि तुम्हारा तो यह पक्ष था, कि 'साध्य की सिद्धि में हेतु असमर्थ है', फिर अपने कथन की पुष्टि में तुम उसी असमर्थ (अपर्याप्त) हेतु का आश्रय लेते हो। यह 'वदतो व्याघात' नहीं तो और क्या है? जब दूसरे का हेतु तुम्हारी दृष्टि में उसके पक्ष को सिद्ध नहीं करता, तो तुम्हारा हेतु तुम्हारे कथन को कैसे सिद्ध करेगा? अतः 'अहेतुसम' प्रतिषेध

अनुपपन्न (असिद्ध) है, और वादी का व्याप्ति युक्त हेतु साध्य की सिद्धि में निश्चितरूप से साधन होता है।

### अर्थापत्तिसमप्रकरणम्

प्रसंग अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अर्थापत्तिसम' जातिप्रयोग का लक्षण (स्वरूप) बताते हैं-

**अर्थापत्तिः प्रतिपक्षसिद्धेरर्थापत्तिसमः ॥५.१.२१॥**

**अनित्यः शब्दः प्रयत्नानन्तरीयकत्वाद् घटवदिति स्थापिते पक्षे अर्थापत्त्या प्रतिपक्षं साध्यतोऽर्थापत्तिसमः।** एक बात के कहने से जो दूसरी बात अनायास जानी जाती है, उसे 'अर्थापत्ति' कहते हैं। जहाँ इस अर्थापत्ति के द्वारा जातिवादी प्रतिपक्ष को सिद्ध करता हुआ, वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रतिषेध करता है, तब वह 'अर्थापत्तिसम' जाति का प्रयोग कहलाता है। जैसे- वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान- इस पर जातिवादी कहता है यदि अनित्यता के साधक प्रयत्नानन्तरीयकत्व साधर्म्य से शब्द अनित्य है, तो अर्थापत्ति से ज्ञात होता है, कि नित्यता के साधक अस्पर्शत्व साधर्म्य से शब्द नित्य होना चाहिए। यथा- शब्द नित्य है, अस्पर्श (स्पर्शरहित) होने से, आकाश के समान। इस प्रकार शब्द को नित्य मानना चाहिए।  
**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'अर्थापत्तिसम' जातिप्रयोग का उत्तर बताते हैं-

**अनुक्तस्यार्थापत्तेः पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वादनैकान्तिकत्वाच्चार्थापत्तेः ॥५.१.२२॥**

**अनुपपाद्य सामर्थ्यमनुक्तमर्थादापद्यते इति पक्षहानेरुपपत्तिरनुक्तत्वात्, अनित्यपक्षसिद्धावर्थादापन्नं नित्यपक्षस्य हानिरिति ।**  
वादी द्वारा व्याप्तिसहित हेतु पूर्वक पञ्चावयव से अपना पक्ष सिद्ध कर देने पर जातिवादी उसका प्रतिषेध केवल अर्थापत्ति के आधार पर करता है, स्वयं पञ्चावयव से प्रतिपक्ष को सिद्ध नहीं करता। ऐसी स्थिति में वादी के पक्ष का खण्डन न होकर उलटा प्रतिवादी का पक्ष ही हानि को प्राप्त हो जाता है। अर्थात् सद् हेतु के द्वारा शब्द का अनित्यत्व सिद्ध हो जाने पर केवल अर्थापत्ति के आधार पर शब्द का नित्यत्व पक्ष सिद्ध नहीं हो सकता: क्योंकि उसे स्वतन्त्र पञ्चावयव से सिद्ध नहीं किया गया। इसके अतिरिक्त अर्थापत्ति अनैकान्तिक भी है क्योंकि वह नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में समान है। यदि अस्पर्श होने से नित्य साधर्म्य से आकाश के समान शब्द नित्य है, तो अर्थापत्ति से यह भी कहा जा सकता है कि प्रयत्नानन्तरीयकत्व अनित्यसाधर्म्य से शब्द अनित्य है। इस प्रकार यह अर्थापत्ति केवल विपर्यय का सहारा लेकर सर्वत्र नहीं उठाई जा सकती।

जैसे-

१. कोई कहे कि ठोस पत्थर नीचे गिर जाता है, तो इससे यह अर्थापत्ति नहीं निकाली जा सकती कि तरल जल नीचे नहीं गिरता।  
२. इसी प्रकार यदि कोई कहे, कि मनुष्य प्राणी है, तो अर्थापत्ति से यह तात्पर्य नहीं निकलता, कि मनुष्य के अतिरिक्त और कोई प्राणी नहीं। इसके अतिरिक्त मान अपमान, हानि लाभ, सुख दुःख आदि स्पर्शरहित होते हुए भी अनित्य हैं। वस्तुतः अर्थापत्ति की प्रामाणिकता वहीं है, जहाँ वह अनुक्त अर्थ का ऐकान्तिक रूप से बोध कराने में सफल हो। प्रस्तुत प्रसंग में अर्थापत्ति ऐसी नहीं है। अतः शब्द के अनित्यत्व का 'अर्थापत्तिसम' जाति के रूप में प्रतिषेध असंगत है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का स्वरूप बताते हैं।



## अविशेषसमप्रकरणम्

एकधर्मोपपत्तेरविशेषे सर्वाविशेषप्रसंगात् सद्भावोपपत्तेरविशेषसमः ॥५.१.२३॥

एको धर्मः प्रयत्नान्तरीयकत्वं शब्दघटयोरुपपद्यत इत्यविशेषे उभयोरनित्यत्वे सर्वस्याविशेषः प्रसज्यते ।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट का समान धर्म यहाँ प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होना रूप एक धर्म शब्द और घट दोनों में सिद्ध है। इसके अनुसार ये दोनों अनित्य हैं। इस पर जातिवादी कहता है- यदि प्रयत्नान्तरीयकत्व एक धर्म से शब्द और घट की समानता प्रमाणित होती है, तो सद्भावरूप (सत्त्वरूप) एक धर्म से जो कि समस्त पदार्थों में सिद्ध है, निश्चितरूप से विद्यमान रहता है, उसके अनुसार सभी पदार्थों में समानता की प्राप्ति होती है। उस स्थिति में या तो सब नित्य हों अथवा अनित्य। परन्तु ऐसा सम्भव नहीं है। इसलिए किसी एक धर्म के आधार पर अनेक पदार्थों को अविशेष (समान) कहना ठीक नहीं है।

इस प्रकार सब के अविशेष प्रसंग (समानता की प्राप्ति) का निर्देश करके, वादी द्वारा स्थापित पक्ष का खण्डन करने के कारण 'अविशेषसम' जाति का प्रयोग है।

प्रसंग- अब सूत्रकार 'अविशेषसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं-

क्वचिद्धर्मानुपपत्तेः क्वचिच्चोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः ॥५.१.२४॥

यथा साध्यदृष्टान्तयोरेकधर्मस्य प्रयत्नान्तरीयकत्वस्योपपत्तेरनित्यत्वं धर्मान्तरमविशेषेण, नैवं सर्वभावानां सर्वोपपत्तिनिमित्तं धर्मान्तरमस्ति येनाविशेषः स्यात् ।

साध्य और दृष्टान्त में अर्थात् शब्द तथा घट में प्रयत्नान्तरीयकत्व एक निश्चित धर्म की विद्यमानता से अनित्यत्व रूप एक अतिरिक्त धर्म सिद्ध हो जाता है। किन्तु सद्भाव (सत्त्वरूप) धर्म की सब पदार्थों में विद्यमानता ऐसा धर्म नहीं है, कि जिसके होने पर किसी अन्य धर्म की सिद्धि होती हो, जैसा कि स्थापित पक्ष में अनित्यत्व धर्म सिद्ध होता है। अतः जहाँ धर्मविशेष की सिद्धि से कोई धर्मान्तर अविशेष प्रमाणित होता है, वहीं उसे स्वीकार करना चाहिए, जहाँ ऐसा अविशेष धर्म सिद्ध नहीं होता, वहाँ वह अमान्य होगा। यद्यपि समस्त पदार्थों में सद्भाव धर्म विद्यमान रहता है, परन्तु वह उनमें किसी अन्य धर्म को सिद्ध नहीं करता। इसलिए ऐसे धर्म के आधार पर स्थापित पक्ष का प्रतिषेध ठीक नहीं। इसके अतिरिक्त सद्भाव हेतु से जो प्रतिवादी सबका अनित्यत्व बताना चाह रहा है, उसके विचार से शब्द का अनित्यत्व अनायास सिद्ध हो गया, अर्थात् जातिवादी ने शब्द का भी अनित्यत्व स्वीकार कर लिया, फिर जाति के प्रयोग से वादी के पक्ष का प्रतिषेध कैसे होगा? अतः अविशेषसम जाति का प्रयोग सर्वथा असंगत है।

## उपपत्तिसमप्रकरणम्

प्रसंग- अब सूत्रकार 'उपपत्तिसम' जातिप्रयोग का स्वरूप बताते हैं-

उभयकारणोपपत्तेरुपपत्तिसमः ॥५.१.२५॥

यद्यनित्यत्वकारणमुपपद्यते शब्दस्येनित्यः शब्दो नित्यत्वकारणमप्युपपद्यतेऽस्यास्पर्शत्वमिति नित्यत्वमप्युपपद्यते, उभयस्यानित्यत्वस्य नित्यत्वस्य च कारणोपपत्त्या प्रत्यवस्थानमुपपत्तिसमः ।

वादी द्वारा शब्द का अनित्यत्व स्थापित कर देने पर प्रतिवादी कहता है- यदि शब्द को अनित्य सिद्ध करने वाला धर्म 'प्रयत्नान्तरीयकत्व' सिद्ध है, तो शब्द के नित्यत्व का साधक धर्म 'अस्पर्शत्व' भी उपपन्न (सिद्ध) है। ऐसी स्थिति में शब्द को अनित्य ही क्यों माना जाए? नित्य क्यों न माना जाए? शब्दनित्यत्व के कारण की विद्यमानता में शब्द का अनित्यत्व निवृत्त हो जाना चाहिए। इस प्रकार यहाँ नित्य और अनित्य दोनों के कारणों की उपपत्ति से खण्डन करना 'उपपत्तिसम' जाति का प्रयोग है।

प्रसंग- अब सूत्रकार 'उपपत्तिसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं-

उपपत्तिकारणाभ्यनुज्ञानादप्रतिषेधः ॥५.१.२६॥

उभयकारणोपपत्तेरिति ब्रुवता नानित्यत्वकारणोपपत्तेरनित्यत्वं प्रतिषिध्यते, यदि प्रतिषिध्यते नोभयकारणोपपत्तिः स्यात् ।

उभयकारणोपपत्तेः' (दोनों के कारणों की सिद्धि से) ऐसा कहने वाला प्रतिपक्षी शब्द के अनित्यत्व धर्म के कारण की युक्तता को स्पष्टरूप से स्वीकार करता है। स्वीकार कर लेने पर उसका प्रतिषेध असंगत है। यदि प्रतिषेध्य (शब्द की अनित्यता) स्वीकार नहीं, तो 'उभयकारणोपपत्ति' न होने से 'उपपत्तिसम' जाति का प्रयोग सर्वथा असंगत है।

इति द्वाभ्यां सूत्राभ्यामुपपत्तिसमप्रकरणम्

## उपलब्धिसमप्रकरणम्

प्रसंग- अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'उपलब्धिसम' जातिप्रयोग का स्वरूप बताते हैं-

निर्दिष्टकारणाभावेऽप्युपलम्भादुपलब्धिसमः॥५.१.२७॥

निर्दिष्टस्य प्रयत्नान्तरीयकत्वस्यानित्यत्वकारणस्याभावेऽपि वायुनोदनाद्वृक्षशाखाभंगजस्य शब्दस्यानित्यत्वमुपलभ्यते, निर्दिष्टस्य साधनस्याभावेऽपि साध्यधर्मोपलब्ध्या प्रत्यवस्थानमुपलब्धिसमः।

वादी अपना पक्ष रखता है शब्द अनित्य है, प्रयत्नान्तरीयक होने से घट के समान। इस पर प्रतिपक्षी कहता है प्रयत्न आत्मा का गुण है, अतः जहाँ आत्मप्रेरित प्रयत्न नहीं रहता, वहाँ शब्द की उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। परन्तु इस निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है। जैसे वृक्ष के पत्तों से वायु का संयोग होने पर अथवा वृक्ष आदि के टूटने पर शब्द उत्पन्न हो जाता है, वह भी अनित्य है। इसलिए वादी ने जो 'प्रयत्नान्तरीयकत्व' हेतु दिया है, वह ठीक नहीं। यहाँ प्रतिपक्षी वादी द्वारा स्थापित पक्ष के हेतु में अनैकान्तिक दोष दिखाना चाहता है। इस प्रकार किसी निर्दिष्ट कारण के अभाव में भी साध्यधर्म की उपलब्धि से प्रतिषेध करने के कारण इस जाति-प्रयोग को 'उपलब्धिसम' कहते हैं।

प्रसंग- अब सूत्रकार 'उपलब्धिसम' जाति प्रयोग का उत्तर बताते हैं-

कारणान्तरादपि तद्धर्मोपपत्तेरप्रतिषेधः ॥५.१.२८॥

प्रयत्नान्तरीयकत्वादिति ब्रुवता कारणत उत्पत्तिरभिधीयते न कार्यस्य कारणनियमः ।

वादी द्वारा 'प्रयत्नान्तरीयकत्व' हेतु से जो शब्द का अनित्यत्व सिद्ध किया गया है, वहाँ कारण से कार्य की उत्पत्ति कही गई है, कार्यकारणविशेष का नियम नहीं बताया गया। यदि किसी अन्य हेतु से शब्द में अनित्यत्व सिद्ध हो जाए, तो जातिवादी ने किसका प्रतिषेध किया? क्योंकि शब्द का अनित्यत्व तो जातिवादी द्वारा सिद्ध हो ही गया। अन्य हेतु से साध्य की सिद्धि हो जाने पर भी प्रथम हेतु व्यर्थ नहीं होता- क्योंकि दूसरे हेतु के समान पहले हेतु का भी साध्य के साथ निर्बाधरूप से व्याप्ति-सम्बन्ध पाया जाता है। अतः उपलब्धिसम जाति का प्रयोग सर्वथा असंगत है ।

## अनुपलब्धिसमप्रकरणम्

प्रसंग- अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अनुपलब्धिसम' जातिप्रयोग का स्वरूप बताते हैं-

तदनुपलब्धेरनुपलम्भादभावसिद्धौ तद्विपरीतोपपत्तेरनुपलब्धिसमः ॥५.१.२९॥

तेषामावरणादीनामनुपलब्धिर्नोपलभ्यते अनुपलम्भान्नास्तीत्यभावोऽस्याः सिद्धयति, अभावसिद्धौ  
हेत्वभावात्तद्विपरीतमस्ति त्वमावरणादीनामवधार्यते, तद्विपरीतोपपत्तेर्यत्प्रतिज्ञातं न

प्रागुच्चारणाद्विद्यमानस्य शब्दस्यानुपलब्धिरित्येतन्न सिद्धयति।

शब्द को अनित्य मानता हुआ वादी कहता है, कि यदि शब्द नित्य है, तो उच्चारण से पूर्व उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती? यदि उच्चारण से पूर्व शब्द के न सुनाई देने का कारण कोई आवरण होता, तो जलादि के आवरण घटादि के समान उसकी उपलब्धि होती। अनुपलब्धि से आवरण का अभाव सिद्ध होता है। इस पर प्रतिवादी जाति का प्रयोग करता है यदि आवरण की अनुपलब्धि से आवरण का अभाव मानेंगे, तो आवरण की अनुपलब्धि के अनुपलम्भ (उपलम्भ न होने) आवरण की अनुपलब्धि का भी अभाव मानना पड़ेगा, जिससे आवरण का अस्तित्व का अभाव घटरूप होता है, उसी प्रकार शब्द के आवरण के अभाव का अभाव भी आवरण स्वरूप ही होगा। अर्थात् यदि आवरण की अनुपलब्धि है, तो आवरणानुपलब्धि की भी अनुपलब्धि है। अतः शब्द नित्य है, जो आवरण आदि के कारण उच्चारण से पूर्व सुनाई नहीं देता। इस प्रकार आवरणानुपलब्धि का समानरूप में उसकी अनुपलब्धि से प्रतिषेध किए जाने के कारण यह 'अनुपलब्धिसम' जातिप्रयोग कहलाता है।

प्रसंग- अब सूत्रकार इस अनुपलब्धिसम जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं-

अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेरहेतुः ॥५.१.३०॥

आवरणाद्यनुपलब्धिर्नास्ति अनुपलम्भादित्यहेतुः । कस्मात् ? अनुपलम्भात्मकत्वादनुपलब्धेः । उपलम्भाभावमात्रत्वादनुपलब्धेः।

किसी वस्तु की उपलब्धि से उसके अस्तित्व का निश्चय होता है, और अविद्यमान वस्तु की अनुपलब्धि से उसका अभाव जाना जाता है। इसलिए आवरण की अनुपलब्धि आवरण के अभाव का निश्चय कराती है। अनुपलब्धि का विषय स्वयं अनुपलब्धि नहीं हो सकता। इसलिए गतसूत्र में प्रतिवादी ने जो हेतु दिया है अनुपलब्धि के उपलब्ध न होने से वह सर्वथा असंगत है। अतः प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से शब्द को अनित्य ही समझना चाहिए।

प्रसंग- अब सूत्रकार 'अनुपलब्धिसम' जाति प्रयोग का अन्य समाधान बताते हैं-

अहेतुरिति वर्तते । शरीरे शरीरिणां ज्ञानविकल्पानां भावाभावौ संवेदनीयौ अस्ति मे संशयज्ञानं नास्ति मे संशयज्ञानमिति, एवं प्रत्यक्षानुमानागमस्मृतिज्ञानेषु।

प्रत्यक्षादि सभी प्रकार के ज्ञानों के विषय में यह अनुभूति (प्रतीति) होती रहती है, कि अमुक विषय में मुझे प्रत्यक्ष, आनुमानिक, आगमिक, संशयात्मक अथवा स्मृतिरूप ज्ञान है, अथवा नहीं है। इसी प्रकार प्रत्येक विचारशील व्यक्ति को यह अनुभूति होती है, कि मुझे किसी ऐसे आवरण का ज्ञान नहीं है, जो उच्चारण से पूर्व विद्यमान शब्द के सुनाई देने में बाधक हो। इस सर्वविदित अनुभूति से आवरण का अभाव सिद्ध होता है। अतः २९ वें सूत्र में प्रस्तुत हेतु से आवरण की कल्पना करना सर्वथा असंगत है।

**अनित्यसमप्रकरणम्**

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'नित्यसम' से पहले 'अनित्यसम' जातिप्रयोग का स्वरूप बताते हैं-

**साधर्म्यात्तुल्यधर्मोपपत्तेः सर्वानित्यत्वप्रसंगादनित्यसमः ॥५.१.३२॥**

**अनित्येन घटेन साधर्म्यादनित्यः शब्द इति ब्रुवतोऽस्ति घटेनानित्येन सर्वभावानां साधर्म्यमिति सर्वस्यानित्यत्वमनिष्टं सम्पद्यते, सोऽयमनित्यत्वेन प्रत्यवस्थानादनित्यसम इति।**

शब्द का घट के साथ कृतकत्व साधर्म्य होने से यदि घट के समान शब्द को अनित्य मानते हो, तो घट के साथ सब पदार्थों का सद्भावरूप (सत्तारूप) साधर्म्य होने से घट के समान सब पदार्थों को अनित्य मानना चाहिए। परन्तु ऐसा मानना आप (वादी) को भी अभीष्ट नहीं। क्योंकि सब पदार्थों का अनित्यत्व सम्भव नहीं। अर्थात् जैसे घट सत् है, तो आत्मा भी सत् है, अत एव घट के समान आत्मा में भी अनित्यता की आपत्ति आएगी। इसलिए घट के समान शब्द को भी अनित्य मानना ठीक नहीं। इस प्रकार अनित्य होने के आधार पर वादी द्वारा स्थापित पक्ष का प्रत्यवस्थान = खण्डन करना 'अनित्यसम' जाति का प्रयोग है ।

**विशेष-** यद्यपि उद्देश- सूत्र (५/१/१) के क्रमानुसार 'अनित्यसम' जाति से पहले 'नित्यसम' जाति का लक्षण करना चाहिए था, किन्तु ऐसा नहीं है। सम्भव है, आरम्भ में ही लेखकप्रमाद से ३५-३६ सूत्र, ३२-३४ सूत्रों से पहले लिखने के स्थान पर पीछे लिखे गए हों। अस्तु, क्रमभेद का कारण अन्वेषणीय है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का उत्तर बताते हैं-

**साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधासिद्धिः प्रतिषेध्यसाधर्म्याच्च ॥५.१.३३॥**

**प्रतिज्ञाद्यवयवयुक्तं वाक्यं पक्षनिर्वर्तकम्, प्रतिपक्षलक्षणं प्रतिषेधस्तस्य पक्षेण प्रतिषेध्येन साधर्म्यं प्रतिज्ञादियोगः, तद्यद्यनित्यसाधर्म्यादनित्यत्वस्यासिद्धिः? साधर्म्यादसिद्धेः प्रतिषेधस्याप्यसिद्धिः प्रातिषेश्येन साधर्म्यादिति**

वादी द्वारा शब्द का अनित्यत्व स्थापित करने पर प्रतिवादी साधर्म्य के आधार पर पदार्थमात्र की अनित्यता की प्राप्ति दिखाकर उसका प्रतिषेध (खण्डन) करता है। उसमें वादी का पक्ष 'प्रतिषेध्य' और प्रतिवादी का कथन 'प्रतिषेध' कहाता है।

वादी उक्त जातिप्रयोग का 'प्रतिबन्दी' उत्तर देता है यदि अनित्य घटादि के समानधर्म से शब्द की अनित्यता सिद्ध नहीं होती, तो स्थापनावदी के प्रतिषेध्य (निषेधयोग्य) पक्ष के साथ प्रतिषेध पक्ष का 'पञ्चावयववाक्य से युक्त होना'- रूप साधर्म्य के कारण, वादी की स्थापना का प्रतिषेध भी नहीं हो सकताय क्योंकि दोनों पक्षों में समान दोष होगा। तब प्रतिषेध के असिद्ध होने से शब्द का अनित्यत्व-साधक पक्ष सिद्ध रह जाएगा। वस्तुतः व्याप्तियुक्त विशिष्ट साधर्म्य ही नियतधर्म का साधक होता है, यत्किञ्चित् साधर्म्य नहीं। अतः 'अनित्यसम' जातिप्रयोग असिद्ध है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग का अन्य प्रकार से समाधान प्रस्तुत करते हैं

**दृष्टान्ते च साध्यसाधनभावेन प्रज्ञातस्य धर्मस्य हेतुत्वात् तस्य चोभयता भावान्नाविशेषः ॥५.१.३४॥**

**दृष्टान्ते यः खलु धर्मः साध्यसाधनभावेन प्रज्ञायते स हेतुत्वेनाभिधीयते।**

दृष्टान्त में जो धर्म साध्य के साधनरूप से जाना है, उसे हेतु कहते हैं, जो किसी से समानधर्म वाला और किसी से विरुद्धधर्म वाला होता है। समानधर्म से साध्य और विशेषधर्म से वैधर्म्य होता है। उनमें व्याप्तियुक्त विशेषरूप से समानधर्म वाला या विरुद्धधर्म वाला हेतु ही साध्य का साधक होता है, न कि बिना किसी व्याप्ति के केवल साधर्म्य अथवा वैधर्म्य, वाला। जैसे कि वादी द्वारा स्थापित पक्ष में 'अनित्यत्व' एवं 'कृतकत्व' या 'प्रयत्नानन्तरीयकत्वात्' साध्य और हेतु के धर्मों घटादि पदार्थों में दोनों प्रकार की व्याप्ति पूर्णरूप से विद्यमान है, किन्तु प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत 'अनित्यत्व' के साथ 'सत्त्व' की व्याप्ति के लिए कोई दृष्टान्त उपलब्ध नहीं। अतः वादी और प्रतिवादी के हेतुओं को समान कहकर सत्त्वसाधर्म्य से संसार के सम्पूर्ण पदार्थों में अनित्य होने की आपत्ति दिखाकर 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग से वादी के पक्ष का प्रतिषेध करना सर्वथा असंगत है।

पूर्वोक्त (५/१/२४) 'अविशेषसम' जाति के प्रतिषेध में हमने जो कुछ कहा है, उसे भी यहाँ समझ लेना चाहिए।

**विशेष-** 'अविशेषसम' (सूत्र २३) और 'अनित्यसम' जाति के प्रयोग में भेद यह है, कि 'अविशेषसम' में किसी विशेषधर्म का निर्देश नहीं होता, परन्तु 'अनित्यसम' में 'अनित्यत्व' विशेष साध्य धर्म का निर्देश है। इसीलिए दोनों के नाम में भेद है।

## नित्यसमप्रकरणम्

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'नित्यसम' जाति का स्वरूप बताते हैं-

**नित्यमनित्यभावादनित्ये नित्यत्वोपपत्तेर्नित्यसमः॥५.१.३५॥**

**अनित्यः** शब्द इति प्रतिज्ञायते, तदनित्यत्वं किं शब्दे नित्यमथानित्यम् ? यदि तावत्सर्वदा भवति? 'शब्द अनित्य है'- यह जो वादी की प्रतिज्ञा है, इस पर प्रतिवादी कहता है, कि शब्द में अनित्यत्व नित्य है या अनित्य? यदि कहो कि नित्य है, तो धर्म के नित्य होने से धर्मी (शब्द) भी नित्य होगा और यदि अनित्य कहोगे, तो अनित्यत्व के न रहने की स्थिति में शब्द नित्य सिद्ध हो जाएगा। अतः यह कहना ठीक नहीं, कि- 'शब्द अनित्य है'। इस प्रकार नित्यत्व का आश्रय लेकर स्थापनावादी के पक्ष का प्रत्यवस्थान (खण्डन) करना नित्यसम जाति का प्रयोग है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'नित्यसम' जातिप्रयोग का समाधान बताते हैं-

**प्रतिषेधे नित्यमनित्यभावादनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेः प्रतिषेधाभावः॥५.१.३६॥**

**प्रतिषेधे** शब्दे नित्यमनित्यत्वस्य भावादित्युच्यमानेऽनुज्ञातं शब्दस्यानित्यत्वम् । अनित्येऽनित्यत्वोपपत्तेश्च नानित्यः शब्द इति प्रतिषेधो नोपपद्यते।

वादी के द्वारा शब्द की अनित्यता सिद्ध कर देने पर प्रतिवादी द्वारा उसके खण्डनार्थ प्रयुक्त हेतु- 'शब्द में अनित्यता के नित्य होने से'- में उसने शब्द का अनित्यत्व स्वीकार कर लिया। फिर नित्यत्व की उपपत्ति दिखाकर 'शब्द अनित्य नहीं है'- यह निषेध ठीक नहीं है। क्योंकि जब शब्द में नित्य अनित्यता है, तो फिर उसमें नित्यत्व की सिद्धि कैसे होगी? और यदि शब्द में नित्य अनित्यता को स्वीकार न किया जाए, तो हेतु का स्वरूप ही नष्ट हो जाता है, तब हेतु के अभाव में प्रतिषेध ही नहीं होता। अतः यह प्रसंग ही असंगत है, कि शब्द में अनित्यता नित्य है या अनित्य। इसलिए उत्पाद विनाशशील होने से शब्द को निर्बाधरूप से अनित्य समझना चाहिए। नित्यसम जाति का प्रयोग अयुक्त है।

## कार्यसमप्रकरणम्

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'कार्यसम' जाति का स्वरूप बताते हैं -

**प्रयत्नकार्यानेकत्वात् कार्यसमः ॥५.१.३७॥**

**प्रयत्नानन्तरीयकत्वादनित्यः** शब्द इति, यस्य प्रयत्नानन्तरमात्मलाभः तत्खल्वभूत्वा भवति, यथा घटादिकार्यम्, अनित्यमिति च भूत्वा न भवतीत्येतद्विज्ञायते ।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है शब्द अनित्य है, प्रयत्न के अनन्तर उत्पन्न होने से, घट के समान। इस पर प्रतिवादी कहता है प्रयत्न से अनेक प्रकार के कार्य होते हैं। प्रयत्न के पश्चात् किन्हीं पदार्थों की 'उत्पत्ति' होती है, जैसे- घट आदि। ये घटादि उत्पत्ति से पूर्व नहीं होते, उत्पत्ति के पश्चात् अस्तित्व में आते हैं। इसके विपरीत किन्हीं पदार्थों प्रयत्न से 'अभिव्यक्ति' होती है। इस प्रकार के पदार्थ विद्यमान होते हुए भी किसी आवरण से ढके रहते, और प्रयत्न से आवरण को हटा देने पर वे अभिव्यक्त (प्रकट) हो जाते हैं। जैसे मिट्टी आदि के हटने पर जल की अथवा प्रकाश आने पर अन्धकार में रखे हुए पदार्थों की अभिव्यक्ति हो जाती है। इसलिए प्रयत्नजन्य हा. ने पर भी शब्द की उत्पत्ति ही मानी जाए, अभिव्यक्ति न मानी जाए, इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। अतः प्रयत्न के अनन्तर शब्द की अभिव्यक्ति होने से शब्द को अनित्य नहीं कहा जा सकता, वह तो नित्य ही है। इस प्रकार कार्य का आश्रय लेकर वादी के पक्ष का प्रत्यवस्थान (प्रतिषेध=खण्डन) करना कार्यसम जाति का प्रयोग है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार 'कार्यसम' जातिप्रयोग के समाधान का प्रकार बताते हैं-

**कार्यान्यत्वे प्रयत्नाहेतुत्वमनुपलब्धिकारणानुपपत्तेः ॥५.१.३८॥**

**सति कार्यान्यत्वे अनुपलब्धिकारणोपपत्तेः** प्रयत्नस्याहेतुत्वं शब्दस्याभिव्यक्त्यै, यत्र प्रयत्नानन्तरमभिव्यक्तिस्तत्रानुपलब्धिकारणं व्यवधानमुपपद्यते, व्यवधानापोहाच्च प्रयत्नानन्तरभाविनोऽर्थस्योपलब्धिलक्षणाऽभिव्यक्तिर्भवतीति

यदि शब्द को घट, पट आदि के समान प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने वाला न मानकर प्रयत्न से अभिव्यक्त होने वाला नित्य मानेंगे, तो शब्द के नित्यत्वपक्ष में प्रयत्न की व्यर्थता (निष्फलता) प्राप्त होगी; क्योंकि तब प्रयत्न न तो शब्द को उत्पन्न करेगा, और न उसकी अभिव्यक्ति का ही कारण होगा क्योंकि शब्द की अनुपलब्धि का कारण आवरणादि तो विद्यमान ही नहीं, जिसके दूर करने से प्रयत्न की सफलता मानी जा सके। इस प्रकार शब्द के नित्यत्व पक्ष में प्रयत्न की स्पष्ट व्यर्थता है, जो कि ठीक नहीं। जबकि शब्द की उपलब्धि के लिए व्यस्थित रूप से प्रयत्न किया जाता है। जैसा कि वर्णोच्चारणशिक्षा में कहा है-

**आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युंक्ते विवक्षया, मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयति मारुतम् ।**

**मारुतस्तूरसि चरन् मन्दं जनयति स्वरम् ॥ - (वर्णोच्चारणशिक्षा -४)**

इससे स्पष्ट है, कि शब्द प्रयत्न के अनन्तर अस्तित्व में आता है। अतः वह अनित्य है। इसलिए शकार्यसमश् जातिप्रयोग के द्वारा किया गया शब्द के अनित्यत्व का प्रतिषेध सर्वथा असंगत है।

### **अथ षट्पक्षीप्रकरणम्**

**प्रसंग-** गतसूत्रों में चौबीस प्रकार के जातिप्रयोगों का क्रमशः लक्षण (स्वरूप) तथा प्रत्याख्यान (खण्डन) के उपाय बताए। साथ ही साथ व्याख्यानों में शब्द का अनित्यत्व भी सिद्ध कर दिया। अब शास्त्राकार शिष्यों के बोध के लिए षट्पक्षी चर्चा का आरम्भ करते हैं-

षट्पक्षी चर्चा का स्वरूप पक्ष प्रतिपक्ष रूप से होती हुई चर्चा में जब स्थापनाविवादी व्यक्ति, प्रतिपक्षी द्वारा किए गए दोषपूर्ण प्रतिषेध का सदुत्तर न देकर दोषपूर्ण ही उत्तर दे देता है, ऐसी कथा में विवादी प्रतिवादी दोनों को अपना अपना पक्ष सिद्ध करने के लिए सब मिलाकर तीन तीन बार बोलने का अवसर दिया जाता है, अधिक नहीं। क्योंकि ऐसी चर्चा में युक्तिसंगत निर्णय न होकर, निरर्थक कथाक्रम ही रह जाता है। इसी चर्चा को षट्पक्षी चर्चा कहते हैं। जैसे- 'शब्द अनित्य है, प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से, घट के समान। यह स्थापनाविवादी का प्रथम पक्ष है।

इस पर प्रतिवादी कहता है शब्द के अनित्यत्वपक्ष में प्रयत्न के पश्चात् जैसे शब्द की उत्पत्ति कही है, वैसे ही उसकी अभिव्यक्ति भी हो सकती है। ऐसी स्थिति में प्रयत्न के पश्चात् शब्द की उत्पत्ति ही है, अभिव्यक्ति नहीं- इसमें कोई विशेष हेतु नहीं है। अतः यहाँ अनैकान्तिक दोष होने से विवादी का पक्ष अमान्य है। यह द्वितीय पक्ष प्रतिवादी का है। यदि अनैकान्तिक होने से हेतु साध्य का असाधक है, तो-

**प्रतिषेधेऽपि समानो दोषः॥५.१.३९॥**

**प्रतिषेधोऽप्यनैकान्तिकः, किञ्चित्प्रतिषेधति किञ्चिन्नेति अनैकान्तिकत्वादसाधक इति।**

दोष प्रतिवादी के आक्षेप का सदुत्तर न देकर विवादी कहता है यदि मेरे पक्ष में अनैकान्तिक दोष है, तो तुम्हारे पक्ष में भी अनैकान्तिक दोष है। क्योंकि शब्द के नित्यत्व पक्ष में भी प्रयत्न के पश्चात् जैसे शब्द की अभिव्यक्ति कही है, वैसे ही उसकी उत्पत्ति भी हो सकती है। तब प्रयत्न के पश्चात् अभिव्यक्ति है, उत्पत्ति नहीं इसमें कोई विशेष हेतु नहीं दिया गया। यदि प्रयत्न के पश्चात् पदार्थ की अभिव्यक्ति मानी जाती है, तो उत्पत्ति भी क्यों न मानी जाए? यह तृतीय पक्ष विवादी का है। प्रतिवादी के आक्षेप का ठीक समाधान न होने से विवादी का यह उत्तर भी प्रतिवादी के समान दोषपूर्ण है। इसमें विवादी ने अपने हेतु को अनैकान्तिक स्वीकार कर लिया।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार चर्चा के मध्य में प्रसंगानुसार उक्त नियम का जाति मात्र में अतिदेश करते हैं-

**सर्वत्रैवम् ॥५.१.४०॥**

**सर्वेषु साधर्म्यप्रभृतिषु प्रतिषेधहेतुषु यत्र यत्राविशेषो दृश्यते तत्रोभयोः पक्षयोः समः प्रसज्यत इति।**

जिस प्रकार 'कार्यसम' जाति के प्रयोग में षट्पक्षी चर्चा का प्रसंग दिखाया है, उसी प्रकार 'साधर्म्यसम' आदि समस्त जातिप्रयोगों में प्रतिवादी द्वारा दिए गए उत्तर का, यदि विवादी भी उसी (प्रतिवादी) के समान अपना समाधान प्रस्तुत करता है, तो दोनों पक्ष समान रूप से दोषयुक्त रहते हैं, और कथाभास रूप षट्पक्षी चर्चा आरम्भ हो सकती है।

**विशेष-** यद्यपि षट्पक्षी की समाप्ति पर उक्त अतिदेश करना उचित था, परन्तु कभी-कभी 'त्रिपक्षी' (तृतीयपक्ष) के अनन्तर ही 'मध्यस्थ' द्वारा 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान दिखकर अनिर्णीतकथा समाप्त घोषित कर दी जाती है। अतः षट्पक्षी के मध्य में ही 'त्रिपक्षी' की सम्भावना दिखाने के लिए सूत्रकार ने यह अतिदेश कर दिया है।

**प्रसंग-** पुनः षट्पक्षी चर्चा को स्पष्ट करने के लिए सूत्रकार प्रतिषेध विवादी के चतुर्थपक्ष (बोलने के पर्याय) को प्रस्तुत करते हैं-

**प्रतिषेधविप्रतिषेधे प्रतिषेधदोषवद्दोषः ॥५.१.४१॥**

**योऽयं प्रतिषेधेऽपि समानो दोषोऽनैकान्तिकत्वमापद्यते सोऽयं प्रतिषेधस्य प्रतिषेधेऽपि समानः**

जैसे ३९ वें सूत्र में विवादी ने प्रतिषेध पक्ष (हमारे पक्ष) में समान दोष (अनैकान्तिकत्व) बतलाया था, उसी के समान (अनैकान्तिक) दोष विप्रतिषेध (प्रतिषेध के प्रतिषेध) में भी है। यह चतुर्थ पक्ष (बोलने का पर्याय) प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत किया गया। यह प्रतिवादी के बोलने का द्वितीय अवसर (पर्याय) है।

यहाँ क्रमशः १. 'प्रयत्न के पश्चात् उत्पन्न होने से शब्द अनित्य है' यह प्रथम पक्ष है।

२. 'प्रयत्न के अनेक कार्य (उत्पत्ति, अभिव्यक्ति आदि) होने से यहाँ कार्यसम दोष है' यह हेतु पूर्वक प्रतिषेधात्मक द्वितीय पक्ष है।

३. 'प्रतिषेध में भी (हमारे पक्ष के) समान (अनैकान्तिक) दोष है' यह



विप्रतिषेधात्मक तृतीय पक्ष है।

४. 'उस विप्रतिषेध (प्रतिषेध के प्रतिषेध) में भी प्रतिषेध के दोष के समान (अनैकान्तिक) दोष है' यह चतुर्थ पक्ष है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार षट्पक्षी (बोलने के छह पर्याय वाले कथाभास) का पञ्चम पक्ष प्रस्तुत करते हैं-

**प्रतिषेधं सदोषमभ्युपेत्य प्रतिषेधविप्रतिषेधे समानो दोषप्रसंगो मतानुज्ञा ॥५.१.४२॥**

**प्रतिषेधं द्वितीयं पक्षं सदोषमभ्युपेत्य तदुद्धारमनुक्त्वाऽनुज्ञाय प्रतिषेधविप्रतिषेधे तृतीयपक्षे समान-मनैकान्तिकत्वमिति समानं दूषणं प्रसज्यतो दूषणवादिनो मतानुज्ञा प्रसज्यत इति पञ्चमः पक्षः ।**

अपने पक्ष को दोषयुक्त मानकर दूसरे पक्ष में दोष देने का नाम [मतानुज्ञा] निग्रहस्थान (१८) है। पञ्चम पक्ष में अपने बोलने के तृतीय अवसर पर स्थापनाविवादी कह रहा है- तृतीय पक्ष से बोलते हुए (बोलने के अपने दूसरे अवसर पर) मैंने प्रतिषेध को (प्रतिवादी के बोलने के पहले अवसर में द्वितीय पक्ष से किए गए, स्थापना के प्रतिषेध को) अनैकान्तिक आदि दोष से युक्त बताया था। चतुर्थ पक्ष से बोलते हुए अपने बोलने की दूसरी बारी में आप (प्रतिवादी) ने अपने प्रतिषेध (द्वितीय पक्ष) को सदोष स्वीकार कर लिया। उस दोष का उद्धार तो किया नहीं, उलटे मेरे (तृतीय) पक्ष पर वही दोष लगा दिया। इससे प्रतिवादी को 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान (५/२/२०) की प्राप्ति होती है; जो कि उनकी पराजय का सूचक है। यह स्थ. पनाविवादी द्वारा प्रस्तुत पञ्चम पक्ष है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार षट्पक्षी चर्चा में प्रतिवादी द्वारा प्रस्तुत षष्ठपक्ष का स्वरूप बताते हैं-

**स्वपक्षलक्षणपक्षोपपत्त्युपसंहारे हेतुनिर्देशे परपक्षदोषाभ्युपगमात् समानो दोषः ॥५.१.४३॥**

**स्थापनापक्षे प्रयत्नकार्यानेकत्वादिति दोषः स्थापनाहेतुवादिनः स्वपक्षलक्षणो भवति।**

इस 'षट्पक्षी' चर्चा में स्थापनाविवादी के प्रथम, तृतीय और पञ्चम तथा प्रतिषेधवादी के द्वितीय, चतुर्थ एवं षष्ठपक्ष हैं। स्थापनाविवादी के पञ्चमपक्ष के समान प्रतिवादी कहता है पञ्चम पक्ष से स्थापनाविवादी ने जो दोष प्रतिवादी पर लगाया है, वह उसी प्रकार स्थापनाविवादी पर भी लगता है। द्वितीयपक्ष द्वारा प्रथमपक्ष पर जो अनैकान्तिकत्व दोष दिखाया गया था, उसका समाधान न करके स्थापनाविवादी ने उसी दोष को तृतीयपक्ष द्वारा प्रतिवादी के द्वितीय पक्ष में दिखाया है। इससे स्पष्ट है, कि परपक्ष (द्वितीयपक्ष) द्वारा दिखाए गए प्रथमपक्षगत दोष को स्थापना वादी ने स्वीकार कर लिया। अतः वह भी मतानुज्ञा नामक निग्रहस्थान में आ जाने से समान रूप में दोषी है। यह चालू षट्पक्षी चर्चा का षष्ठपक्ष है। इसके पश्चात् किसी निर्णय की सम्भावना न होने से यह कथाभास समाप्त घोषित कर दिया जाता है क्योंकि इस षट्पक्षी चर्चा में पञ्चम पक्ष और षष्ठपक्ष में एक ही बात को दोहराने से पुनरुक्ति दोष, तृतीयपक्ष और चतुर्थपक्ष में विरोधीपक्ष को स्वीकार करने से मतानुज्ञा, एवं प्रथमपक्ष और द्वितीय पक्ष में स्वपक्ष साधक हेतु का अभाव रहने तथा किसी पक्ष की सिद्धि न होपाने से दोनों पक्ष असिद्ध मान लिए जाते हैं।

चर्चा में यदि प्रथम पक्ष और द्वितीय पक्ष के प्रस्तुत हो जाने पर तृतीयपक्ष से स्थापनाविवादी जातिप्रयोगरूप प्रतिषेध का यथार्थरूप से समाधान कर देता है और जाति के प्रयोग को विशेष हेतुनिर्देशपूर्वक स्पष्ट बता देता है, तो स्थापनाविवादी का प्रथमपक्ष सिद्ध हो जाता है। फिर षट्पक्षी चर्चा का आगे कोई अवसर नहीं रहता।

**प्रसंग-** उद्दिष्ट (१/१/१) सोलह पदार्थों में से अन्तिम पदार्थ 'निग्रहस्थान' का विस्तार से वर्णन करने के लिए पञ्चम अध्याय का द्वितीय आह्निक प्रारम्भ किया जाता है-

**विप्रतिपत्त्यप्रतिपत्त्योर्विकल्पान्निग्रहस्थानबहुत्वमिति**

**सङ्क्षेपेणोक्तं**

**तदिदान.**

**विभजनीयम्। निग्रहस्थानानि खलु पराजयवस्तून्यपराधाधिकरणानि प्रायेण प्रतिज्ञाद्यवयवाश्रयाणि**

**तत्त्वत्वादिनमतत्त्ववादिनं चाभिसंस्प्लवन्ते । तेषां विभागः**

प्रथम अध्याय के अन्त में कह चुके हैं, कि विप्रतिपत्ति (अपनी मान्यता से विरुद्ध कह जाना) तथा अप्रतिपत्ति (अज्ञानता से चुप रह जाना) 'निग्रहस्थान' कहलाता है (१/२/१९), और विप्रतिपत्ति तथा अप्रतिपत्ति के विविध प्रकार होने से निग्रहस्थान के अनेक भेद हो जाते हैं (१/२/२०)। निश्चय से इन निग्रहस्थानों में पड़कर वादी या प्रतिवादी निगृहीत (पराजित) माना जाता है। अतः वादी और प्रतिवादी के लिए उनका जानना परमावश्यक है। अब सूत्रकार उन निग्रहस्थानों के विभाग (भेद) बताते हैं-

**स्मरणीय बिंदु ( Key Points ):-**

● निग्रहस्थान का अर्थ इसका शाब्दिक अर्थ है हार का स्थान पराजयास्पद। जब कोई व्यक्ति गलत समझता है विप्रतिपत्ति या उत्तर नहीं दे पाता अप्रतिपत्ति, तो वह निग्रहस्थान को प्राप्त होता है।

- कुल संख्या न्यायदर्शन में कुल 22 निग्रहस्थान बताए गए हैं।
- प्रमुख निग्रहस्थान
- प्रतिज्ञाहानि अपनी ही बात या प्रतिज्ञा से मुकर जाना।
- प्रतिज्ञाविरोध अपनी प्रतिज्ञा और दिए गए हेतु कारण में आपस में ही विरोध होना।

- विक्षेप हार के डर से किसी बहाने जैसे- मुझे जरूरी काम है चर्चा को बीच में ही रोक देना।
- अपसिद्धान्त जिस शास्त्र या मत को आप मानते हैं, उसके मूल सिद्धांतों के ही विरुद्ध बोल देना।
- न्यून और अधिक जितनी जरूरत हो उससे कम बोलना न्यून है और जरूरत से ज्यादा (अनावश्यक) बोलना अधिक है।
- मतानुज्ञा अपने दोष को स्वीकार न करके यह कहना कि यही दोष तो आपके पक्ष में भी है।
- अप्रतिभा उत्तर मालूम होने पर भी समय पर बुद्धि का काम न करना और चुप रह जाना।

### सरल शब्दावली

- विप्रतिपत्ति - विषय की गलत या उल्टी समझ होना।
- अप्रतिपत्ति- उत्तर न सूझना या यह न जान पाना कि अब क्या बोलना है।
- अपार्थक- ऐसे शब्दों का समूह जिसका आपस में कोई संबंध या व्याकरणिक अर्थ न निकले जैसे- आम, जूता, आकाश, गाय।
- अविज्ञातार्थ- ऐसी भाषा या शब्दों का प्रयोग करना जिसे तीन बार बोलने पर भी विद्वान परिषद न समझ सके।
- पुनरुक्त- एक ही बात को बिना किसी कारण के बार-बार दोहराना।
- पर्यनुयोज्योपेक्षण- सामने वाले की गलती होने पर भी उसे न टोकना चुप रहकर गलती को नजरअंदाज करना।
- निरनुयोज्यानुयोग- जहाँ कोई गलती न हो, वहाँ जबरदस्ती गलती निकालना।
- हेत्वन्तर- मूल हेतु कारण के गलत सिद्ध होने पर उसे बचाने के लिए दूसरा नया कारण देना।
- अर्थान्तर- मूल विषय को छोड़कर किसी दूसरे ही विषय जैसे व्याकरण या राजनीति पर लंबी बात शुरू कर देना।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

- प्रश्न 1: निग्रहस्थान का सामान्य लक्षण बताते हुए इसके 22 भेदों का नामोल्लेख कीजिए।
- प्रश्न 2: प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान का सोदाहरण लक्षण लिखिए।
- प्रश्न 3: प्रतिज्ञान्तर और प्रतिज्ञाविरोधा निग्रहस्थानों में अंतर स्पष्ट कीजिए।
- प्रश्न 4: विक्षेप और मतानुज्ञा निग्रहस्थानों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
- प्रश्न 5: न्यून, अधिक और पुनरुक्त निग्रहस्थानों की परीक्षा कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न:-

1. निग्रहस्थान का सामान्य लक्षण क्या है?
2. प्रतिज्ञाहानि निग्रहस्थान किसे कहते हैं?
3. प्रतिज्ञान्तर से क्या तात्पर्य है?
4. अविज्ञातार्थ और अपार्थक में क्या अंतर है?
5. न्यून और अधिक निग्रहस्थान क्या हैं?
6. पुनरुक्त दोष कब होता है?
8. पर्यनुयोज्योपेक्षण और निरनुयोज्यानुयोग में क्या अंतर है?
9. अहेतुसमा और हेत्वाभास में क्या संबंध है?
10. विक्षेप निग्रहस्थान को समझाइए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न:-

1. विप्रतिपत्तिरप्रतिपत्तिश्च ----- रिक्त स्थान की पूर्ति करें  
(A) जाति:  
(B) निग्रहस्थानम्  
(C) हेत्वाभास:  
(D) छल:



3. न्यायसूत्र के अनुसार निग्रहस्थानों की कुल संख्या कितनी है?
- (A) 16  
(B) 24  
(C) **22**  
(D) 5
3. निग्रहस्थान का शाब्दिक अर्थ क्या है?
- (A) विजय का आधार  
(B) **पराजय का कारण**  
(C) संशय का निवारण  
(D) प्रमाणों का समूह
3. अपनी प्रतिज्ञा को छोड़ देना या उससे मुकर जाना कौन सा निग्रहस्थान है?
- (A) प्रतिज्ञान्तर  
(B) प्रतिज्ञाविरोधा  
(C) प्रतिज्ञाहानि  
(D) **प्रतिज्ञासंन्यास**
2. द्रव्य गुणों से भिन्न है, क्योंकि गुणों के बिना द्रव्य नहीं दिखता - यह किसका उदाहरण है?
- (A) प्रतिज्ञाविरोध  
(B) हेत्वन्तर  
(C) **अर्थान्तर**  
(D) पुनरुक्त
6. चर्चा के बीच में अनावश्यक व्याकरण या अप्रासंगिक बातें करना क्या कहलाता है?
- (A) निरर्थक  
(B) **अर्थान्तर**  
(C) अपार्थक  
(D) अज्ञान
4. दस हाथी, छह अनार, मण्डप, बकरी - यह किस निग्रहस्थान का उदाहरण है?
- (A) निरर्थक निरर्थक शब्दों का समूह  
(B) **अपार्थक सम्बन्धाहीन शब्दों का समूह**  
(C) अविज्ञातार्थ द्धकठिन शब्दत्रु  
(D) न्यून
4. परिषद और प्रतिवादी द्वारा तीन बार कहने पर भी वादी की बात न समझ पाना कौन सा दोष है?
- (A) **अज्ञान**  
(B) अप्रतिभा  
(C) अविज्ञातार्थ  
(D) विक्षेप
4. किसी आवश्यक कार्य का बहाना बनाकर चर्चा को बीच में ही छोड़ देना क्या कहलाता है?
- (A) मतानुज्ञा  
(B) **विक्षेप**  
(C) अननुभाषण  
(D) अपसिद्धान्त
7. मेरा पक्ष गलत है तो क्या हुआ, आपका भी तो गलत है - ऐसा कहना कौन सा निग्रहस्थान है?
- (A) **मतानुज्ञा**  
(B) प्रतिज्ञासंन्यास  
(C) निरनुयोज्यानुयोग

(D) पर्यनुयोज्योपेक्षण

3. जहाँ गलती निग्रहस्थान न हो, वहाँ गलती बताना क्या कहलाता है?

(A) पर्यनुयोज्योपेक्षण

(B) निरनुयोज्यानुयोग

(C) अपसिद्धान्त

(D) हेत्वाभास

5. स्वीकृत सिद्धांतों के विपरीत जाकर बात करना जैसे सांख्य का होकर क्षणिकवाद की बात करना कहलाता है

(A) अपसिद्धान्त

(B) हेत्वन्तर

(C) प्रतिज्ञान्तर

(D) अहेतु

## इकाइ-2.4 - निग्रहस्थान का विभाग एवं लक्षणों की परीक्षा।

### उद्देश्य-

- सृष्टि के रहस्यों को समझना वैशेषिक दर्शन का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मांड के भौतिक और आध्यात्मिक तत्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना है।
- पदार्थों का वर्गीकरण विश्व की समस्त वस्तुओं को श्रेणियों पदार्थों में बाँटकर उनके स्वरूप को स्पष्ट करना।:
- धर्म और मोक्ष का समन्वय यह समझना कि कैसे लौकिक उन्नति अभ्युदय और आध्यात्मिक मुक्ति निःश्रेयस दोनों ही धर्म के मार्ग से संभव हैं।
- विशेषता की पहचान प्रत्येक नित्य वस्तु जैसे परमाणु एक-दूसरे से भिन्न क्यों है, इसके पीछे के विशेष तत्व को जानना।

**प्रतिज्ञाहानिः** प्रतिज्ञान्तरं प्रतिज्ञाविरोधः प्रतिज्ञासंन्यासो हेत्वन्तरमर्थान्तरं  
निरर्थकमविज्ञातार्थमपार्थक्यमप्राप्तकालं न्यूनमधिकं पुनरुक्तमननुभाषणमज्ञानमप्रतिभा विक्षेपो मतानुज्ञा पर्यनुयोज्योपेक्षणं  
निरनुयोज्यानुयोगोऽपसिद्धान्तो हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि ॥५.२.१॥

‘प्रतिज्ञाहानि’ से लेकर ‘हेत्वाभास’ पर्यन्त बाईस प्रकार के निग्रहस्थान हैं। इनके लक्षण और उदाहरण सूत्रकार आगे स्वयं बताएंगे।

**प्रसंग-** सूत्रकार सर्वप्रथम ‘प्रतिज्ञाहानि’ निग्रहस्थान का लक्षण (= स्वरूप) बताते हैं -

**प्रतिदृष्टान्तधर्माभ्यनुज्ञा स्वदृष्टान्ते प्रतिज्ञाहानिः ॥५.२.२॥**

**साध्यधर्मप्रत्यनीकेन धर्मेण प्रत्यवस्थिते प्रतिदृष्टान्तधर्म स्वदृष्टान्तेऽभ्यनुज्ञान् प्रतिज्ञां जहातीति-प्रतिज्ञाहानिः**

वादी अपने पक्ष की पञ्चावयव से स्थापना करता है शब्द अनित्य है (प्रतिज्ञा), इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु) जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह अनित्य होता है, जैसे- चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य घट (दृष्टान्त), शब्द भी श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य है (उपनय), अतः इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द अनित्य है (निगमन)। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है- शब्द नित्य है (प्रतिज्ञा), इन्द्रियग्राह्य होने से (हेतु), जो इन्द्रियग्राह्य होता है, वह नित्य होता है, जैसे चक्षु आदि इन्द्रिय से ग्राह्य सामान्य (घटत्व आदि जाति) (दृष्टान्त), शब्द भी श्रोत्र इन्द्रिय से ग्राह्य है (उपनय), अतः इन्द्रिय-ग्राह्य होने से सामान्य के समान शब्द नित्य है (निगमन)। यदि इन्द्रिय-ग्राह्य सामान्य नित्य है, तो इन्द्रिय ग्राह्य शब्द को भी नित्य क्यों न माना जाए। प्रतिवादी द्वारा अपने पक्ष का खण्डन होने पर स्थापनावामी कहने लगे, कि- ‘यदि इन्द्रिय-ग्राह्य होने से सामान्य (जाति) नित्य है, तो उसके समान घट भी नित्य होगा’। यहाँ वादी अपने पक्ष के साधक दृष्टान्त घट में विरोधी दृष्टान्त के नित्यत्व धर्म को स्वीकार करता हुआ प्रतिज्ञा से लेकर निगमन पर्यन्त पञ्चावयव वाक्य से साध्य-पक्ष को छोड़ बैठता है। यह उसके पराजय (निग्रह) का स्थान है। यदि स्थापनावामी प्रतिवादी को यह उत्तर दे, कि कृतकत्व अथवा प्रयत्नान्तरीयकत्व विशेष धर्म से घट का अनित्यत्व प्रमाणित है, और उसके समान शब्द का अनित्यत्व सिद्ध है। तो ऐसी स्थिति में प्रतिवादी परास्त हो जाता है, तथा स्थापनावामी के निगृहीत होने का अवसर नहीं रहता।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त ‘प्रतिज्ञान्तर’ निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**प्रतिज्ञातार्थप्रतिषेधे धर्मविकल्पात् तदर्थनिर्देशः प्रतिज्ञान्तरम् ॥५.२.३॥**

वादी का प्रतिज्ञात अर्थ है- शब्द अनित्य है, इन्द्रिय-ग्राह्य होने से, घट के समान। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है शब्द नित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, सामान्य (जाति) के समान। इस प्रकार प्रतिज्ञात अर्थ का प्रतिषेध किए जाने पर स्थापना वादी दृष्टान्त (घट) और प्रतिदृष्टान्त (सामान्य) में धर्मभेद दिखाता हुआ कहता है, कि इन्द्रियग्राह्य होते हुए भी सामान्य (जाति) सर्वगत (व्यापी) तथा घट असर्वगत (एकदेशी) है। इसी प्रकार घट के समान असर्वगत होने से शब्द अनित्य है, सर्वगत सामान्य के समान नित्य नहीं। यहाँ पर ‘शब्द अनित्य है’ यह पहली प्रतिज्ञा थी, किन्तु जब प्रतिवादी ने सामान्य में हेतु को अनैकान्तिक बताकर उसका प्रतिषेध कर दिया, तो उसको प्रतिषेध से बचाने के लिए वादी दूसरी प्रतिज्ञा करता है, कि ‘शब्द असर्वगत है’। बस यही ‘प्रतिज्ञान्तर’ नामक निग्रहस्थान है।

इस ‘प्रतिज्ञान्तर’ को निग्रहस्थान बताने का कारण यह है, कि प्रतिज्ञा (साध्य) के साधन हेतु और दृष्टान्त होते हैं, न कि दूसरी प्रतिज्ञा। अतः अपनी पूर्व प्रतिज्ञा को हेतु और दृष्टान्त से सिद्ध न करके दूसरी प्रतिज्ञा करने वाला प्रतिज्ञान्तर नामक निग्रहस्थान में जा पड़ता है।

यदि स्थापनावामी व्यक्ति प्रतिषेध का शब्द व घट के विशेष धर्म कृतकत्व या प्रयत्नान्तरीयकत्व के आधार पर कर देता है, तो प्रतिवादी परास्त हो जाता है। ऐसा सदुत्तर न देकर अन्य प्रतिज्ञा द्वारा

पक्ष को बचाने की प्रवृत्ति, वक्ता के ज्ञान की शिथिलता को प्रकट करती है। इस स्थिति में वह निगृहीत हो जाता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञाविरोध' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं -

**प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः प्रतिज्ञाविरोधः ॥५.२.४॥**

गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यमिति प्रतिज्ञा, रूपादितोऽर्थान्तरस्यानुपलब्धेरिति हेतुः, सोऽयं प्रतिज्ञाहेत्वोर्विरोधः । कथम्? यदि गुणव्यतिरिक्तं द्रव्यं? रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिर्नोपपद्यते । अथ रूपादिभ्योऽर्थान्तरस्यानुपलब्धिः?

स्थापनावादी प्रतिज्ञा करता है 'द्रव्य, गुणों से भिन्न है'। उसकी सिद्धि के लिए हेतु देता है- रूप आदि गुणों से भिन्न किसी वस्तु (द्रव्य) के उपलब्ध न होने से।

यहाँ प्रतिज्ञा और हेतु में परस्पर विरोध है, क्योंकि यदि द्रव्य से गुण भिन्न है, तो रूपादि गुणों से अतिरिक्त वस्तु की उपलब्धि अवश्य होनी चाहिए, उसकी अनुपलब्धि कहना ठीक नहीं। और यदि रूपादि गुणों से भिन्न कोई पदार्थ उपलब्ध नहीं होता, तो यह कहना निराधार है कि द्रव्य गुणों से भिन्न है। इस प्रकार प्रतिज्ञा और हेतु दोनों में परस्पर विरोध होने से ऐसा प्रयोग करने वाला वक्ता प्रतिज्ञाविरोध नामक निग्रहस्थान से निगृहीत एवं पराजित माना जाता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'प्रतिज्ञासंन्यास' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**पक्षप्रतिषेधे प्रतिज्ञातार्थापनयनं प्रतिज्ञासंन्यासः ॥५.२.५॥**

अनित्यः शब्द ऐन्द्रियकत्वादित्युक्ते परो ब्रूयात्सामान्यमैन्द्रियकं न चानित्यमेवं शब्दोऽप्यैन्द्रियको न चानित्य इति, एवं प्रतिषिद्धे पक्षे यदि ब्रूयात् कः पुनराह अनित्यः शब्द इति । सोऽयं प्रतिज्ञातार्थनिहवः प्रतिज्ञासंन्यास इति ।

वादी अपना पक्ष स्थापित करता है 'शब्द अनित्य है, इन्द्रियग्राह्य होने से, घट के समान'। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है सामान्य (=जाति) भी इन्द्रियग्राह्य है, किन्तु वह अनित्य नहीं, अपितु नित्य है। इसी प्रकार इन्द्रियग्राह्य शब्द भी जाति के समान नित्य होना चाहिए।

इस खण्डन से घबराकर ठीक उत्तर न दिए जाने की स्थिति में यदि वादी कहे, कि 'शब्द को अनित्य कौन कहता है?' यह अपने प्रतिज्ञात अर्थ को छोड़ देना, चर्चा में प्रतिज्ञासंन्यास नामक निग्रहस्थान कहलाता है। मानो वक्ता ने अपनी 'प्रतिज्ञा' से 'संन्यास' ले लिया हो।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रम प्राप्त 'हेत्वन्तर' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**अविशेषोक्ते हेतौ प्रतिषिद्धे विशेषमिच्छतो हेत्वन्तरम् ॥५.२.६॥**

निदर्शनम्, एकप्रकृतीदं व्यक्तमिति प्रतिज्ञा, कस्माद्धेतोः? एकप्रकृतीन. i विकाराणां परिमाणात्, मृत्पूर्वकाणां शरावादीनां दृष्टं परिमाणं यावान्प्रकृतेव्यूहो भवति तावान्विकार इति, दृष्टं च प्रतिविकारं परिमाणम्।

वादी अपने पक्ष की स्थापना करता है- 'घट एककारण वाला है, परिमाणयुक्त होने से'। इसके विरोध में प्रतिवादी कहता है, कि 'यह हेतु ठीक नहीं; क्योंकि अनेक कारण वाले आभूषण, गृह आदि का परिमाण देखा जाता है'। इस प्रकार प्रतिषेध किए जाने पर वादी उक्त हेतु में संशोधन प्रस्तुत करता है 'केवल परिमाणयुक्त होने से नहीं, अपितु आकार सहित परिमाणयुक्त होने से घट एककारण वाला है'। यहाँ वादी ने पहले 'परिमाणवाला होना' हेतु प्रस्तुत किया था, उसका खण्डन होने पर 'आकार सहित परिमाण-युक्त' यह संशोधित विशेष हेतु दिया। विशेषण देने से हेतु का स्वरूप बदल जाता है। इसका तात्पर्य है, कि पहला हेतु साध्य को सिद्ध करने में असमर्थ था। यह इसके निग्रहस्थान होने का कारण है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**प्रकृतादर्थान्तरप्रतिसम्बद्धार्थमर्थान्तरम् ॥५.२.७॥**

यथोक्तलक्षणे पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहे हेतुतः साध्यसिद्धौ प्रकृतायां ब्रूयान्नित्यः शब्दोऽस्पर्शत्वादिति हेतुः।

जिस विषय को सिद्ध करने की प्रतिज्ञा की गई हो, उसको प्रकृत अर्थ कहते हैं प्रकृत अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ को कहना, जो उस प्रकृत-अर्थ से कुछ सम्बन्ध नहीं रखता, वह 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान कहा जाता है। जैसे- वादी प्रतिवादी में से किसी एक वक्ता ने कहा 'शब्द नित्य है' यह मेरी प्रतिज्ञा है। इसमें 'स्पर्शरहित होने से' यह हेतु है। इतना कहने के उपरान्त वह कहता है 'हेतु' शब्द हि गती वृद्धौ च' (स्वादि. ११) धातु से 'कमिमनिजनिगाभायाहिभ्यश्च' (-उणा. १/७३) सूत्र से 'तन्' प्रत्यय होकर बना पद है। 'पद' चार प्रकार के होते हैं- नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात। फिर नाम,

आख्यात आदि की व्याख्या प्रारम्भकर देता है।

प्रस्तुत चर्चा के मुख्य विषय 'शब्द के अनित्यत्व' आदि की सिद्धि के लिए इसका कोई उपयोग नहीं होता। इस प्रकार चालू प्रसंग में अपने स्थापित पक्षको प्रमाण सहित सिद्ध करने में असमर्थ होने पर अन्य अनावश्यक अर्थ का कथन करते जाना 'अर्थान्तर' निग्रहस्थान है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'निरर्थक' निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**वर्णक्रमनिर्देशवन्निरर्थकम् ॥५.२.८॥**

**यथा नित्यः शब्दः, कचटतपाः जबगडदशत्वात् झभघढधषवदिति एवम्प्रकारं निरर्थकम् ।**

वादी कहता है- 'कचटतपशब्दनित्य है, जबगडद' होने से, झभघढधष के समान'। चर्चा में इस प्रकार का अर्थशून्य कथन 'निरर्थक' निग्रहस्थान माना जाता है, क्योंकि यहाँ साध्य, हेतु और दृष्टान्त के रूप में केवल वर्णों का क्रमपूर्वक निर्देश कर दिया गया है। इनका परस्पर न तो साध्य-साधन भाव है, और न ये वर्ण किसी वाच्य अर्थ का बोध कराते हैं।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान का बोध कराते हैं-

**परिषत्प्रतिवादिभ्यां त्रिरभिहितमप्यविज्ञातमविज्ञातार्थम् ॥५.२.९॥**

**यद्वाक्यं परिषदा प्रतिवादिना च त्रिरभिहितमपि न विज्ञायते श्लिष्टशब्दमप्रतीतप्रयोग मतिद्रुतोच्चरितमित्येवमादिना कारणेन तदविज्ञातमविज्ञातार्थम्, असामर्थ्यसंवरणाय प्रयुक्तमिति निग्रहस्थानमिति ।**

चर्चा में कभी कोई वक्ता 'श्लिष्ट (मिले हुए) पदों का प्रयोग करता है, जैसे- 'चेतो धावति' इत्यादि, अथवा अप्रसिद्ध पदों का प्रयोग करता है, जैसे 'जर्फरीतु, तुर्फरीतु'- इत्यादि, अथवा अतिद्रुत गति से बोलता है, जिससे सुनने वाला कुछ नहीं समझ पाता, अथवा इतनी मन्दध्वनि से बोलता है, कि कान लगाकर सुनने पर भी सुनाई न पड़े। ऐसे कारणों से जब वादी के कथन को तीन बार बोलने पर भी समस्त सभा और प्रतिवादी न समझ पाएँ, तो वक्ता 'अविज्ञातार्थ' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत माना जाता है; क्योंकि ऐसा प्रयोग अपना असामर्थ्य छिपाने के लिए किया गया समझा जाता है। अतः वक्ता को स्पष्ट एवं सरल वाक्यों का प्रयोग करना चाहिए।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अपार्थक' निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थकम् ॥५.२.१०॥**

**यत्रनेकस्य पदस्य वाक्यस्य वा पौर्वापर्येणान्वययोगो नास्ति इत्यसम्बद्धार्थत्वं गृह्यते तत्समुदायार्थस्यापायादपार्थकम्।**

चर्चा में जब ऐसे पद या वाक्य बोले जाएँ, जिनका परस्पर कोई सम्बन्ध प्रतीत न हो, तो ऐसे पद, या वाक्यों का प्रयोग 'अपार्थक' (परस्पर असम्बद्धार्थक) नामक निग्रहस्थान का कारण होता है। जैसे- दस घोड़े, छह अनार, मधु, चर्म, बकरी, कुत्ता, सिंह आदि। यद्यपि इन पदों में से प्रत्येक का अपना अर्थ है, किन्तु पूर्वापर के साथ किसी का अर्थसम्बन्ध नहीं। अतः वक्ता की अज्ञानता का द्योतक यह प्रयोग 'अपार्थक' निग्रहस्थान है। 'निरर्थक' निग्रहस्थान में अर्थशून्य (वाचकतारहित) पद होते हैं और इस अपार्थक में परस्पर आकांक्षारहित पद होते हैं, यह इनमें भिन्नता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अप्राप्तकाल' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**अवयवविपर्यासवचनमप्राप्तकालम् ॥५.२.११॥**

**प्रतिज्ञादीनामवयवानां यथालक्षणमर्थवशात् क्रमः, तत्रावयवविपर्यासेन वचनमप्राप्तकालमसम्बद्धार्थं निग्रहस्थानमिति।**

प्रतिज्ञा आदि पाँचों अवयवों का लक्षण निर्देश (१/१/३२) एवं प्रयोजन के अनुसार क्रम निश्चित है। चर्चा में इनके क्रम का पालन आवश्यक होता है, जिससे अपेक्षित अर्थ को समझने में सुविधा रहे। परन्तु जब घबराहट आदि कारणों से वक्ता इनके क्रम में उलटफेर कर देता है, अर्थात् पहले प्रतिज्ञा के स्थान पर दृष्टान्त, फिर हेतु, प्रतिज्ञा, उपनय, निगमन कहने लगे, अथवा अन्य किसी प्रकार से उलट फेर करे, तो ऐसा करने से वक्ता का कथन असम्बद्धार्थक हो जाता है, अतः 'अप्राप्तकाल' निग्रहस्थान कहलाता है। अर्थात् जिसको कहने का काल (अवसर) प्राप्त नहीं हुआ, उसको कहना।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'न्यून' नामक निग्रह स्थान का स्वरूप बताते हैं-

**हीनमन्यतमेनाप्यवयवेन न्यूनम् ॥५.२.१२॥**

**प्रतिज्ञादीनामवयवानामन्यतमेनाप्यवयवेन हीनं न्यूनं निग्रहस्थानम्, साधनाभावे साध्यासिद्धिरिति ।**

किसी प्रतिपाद्य विषय की पूर्ण सिद्धि के लिए प्रतिज्ञादि पाँचों अवयवों का बोलना आवश्यक है, जिससे उसकी सिद्धि में कोई संशय न रहे। चर्चा के अवसर पर इन पाँचों अवयवों में से किसी अवयव के न बोलने से साध्य असिद्ध माना जाता है। ऐसा करने पर वक्ता की असमर्थता प्रकट होने से वक्ता 'न्यून' निग्रहस्थान से निगृहीत एवं पराजित माना जाता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अधिक' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते

एकेन कृतत्वाद् अन्यतरस्यानर्थक्यमिति, तदेतन्नियमाभ्युपगमे वेदितव्यमिति ।

पञ्चावयव वाक्य में एक हेतु एवं एक उदाहरण के प्रयोग से साध्य की सिद्धि हो जाने से अतिरिक्त (अधिक) हेतु एवं उदाहरण का प्रयोग करना 'अधिक' नामक निग्रहस्थान का कारण होता है; क्योंकि इससे यह प्रकट होता है, कि वक्ता का पहला हेतु एवं उदाहरण साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं।

जैसे- १. संसार मिथ्या है, दृश्य होने से और जड़ होने से। २. संसार मिथ्या है, दृश्य होने से, शुक्ति में रजत के समान और गन्ध वर्नगर के समान। यहाँ उदाहरण का अधिक प्रयोग है। परन्तु हेतु और उदाहरण का अधिक प्रयोग उसी स्थिति में निग्रहस्थान माना जाता है, जब वाद के प्रारम्भ में एक हेतु एवं उदाहरण कहने का नियम निश्चित कर लिया गया हो, अन्यथा नहीं।

प्रसंग- अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'पुनरुक्त' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

शब्दार्थयोः पुनर्वचनं पुनरुक्तमन्यत्रानुवादात् ॥५.२.१४॥

अन्यत्रानुवादात् शब्दपुनरुक्तमर्थपुनरुक्तं वा, नित्यः शब्दो नित्यः शब्द इति शब्दपुनरुक्तम् ।

अनुवाद को छोड़कर 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान 'शब्द पुनरुक्त' तथा 'अर्थ-पुनरुक्त' भेद से दो प्रकार का होता है। जैसे 'शब्द नित्य है, शब्द नित्य है'- यह 'शब्द - पुनरुक्त' हुआ। 'शब्द अनित्य है, नाशवान् है' यह 'अर्थ- पुनरुक्त' है। अनुवाद में शब्द अथवा अर्थ का दोबारा कहना दोषयुक्त नहीं होता; क्योंकि वहाँ विशेष आशय का बोध कराना अभीष्ट होता है। जैसे- १. 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' (प्रत्येक वृक्ष को सींचता है),

२. 'जाओ, अपना रास्ता पकड़ो। यहाँ शब्दानुवाद और अर्थानुवाद सार्थक है। इसी प्रकार 'हेत्वपदेशात् प्रतिज्ञायाः पुनर्वचनं निगमनम्' (१/१/३९) में प्रतिज्ञा का पुनः दुहराना सार्थक होने से निर्देश होता है।

प्रसंग- अब सूत्रकार 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान का अन्य लक्षण बताते हैं-

अर्थादापन्नस्य स्वशब्देन पुनर्वचनम् ॥५.२.१५॥

यहाँ गतसूत्र से 'पुनरुक्तम्' की अनुवृत्ति है।

[अर्थात्] अर्थापत्ति से [आपन्नस्य] प्राप्त (जाने गए) (भाव) का [स्वशब्देन] अपने शब्द से पुनर्वचनम् (उसी भाव को) फिर कहना (भी, 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान समझा जाता है)।

जैसे चर्चा के प्रसंग में कोई व्यक्ति कहता है 'उत्पत्तिधर्मक पदार्थ अनित्य हा. 'ता है'। इतना कहने से अर्थापत्ति द्वारा यह भाव प्रकट हो जाता है, कि 'जो अनुत्पत्ति-धर्मक है, वह नित्य होता है'। इस भाव को अपने शब्दों द्वारा पुनः अभिव्यक्त करना, कि 'जो अनुत्पत्तिधर्मक है, वह नित्य होता है'। ऐसा पुनर्वचन भी 'पुनरुक्त' निग्रहस्थान कहलाता है। कारण यह है, कि किसी अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। यदि अर्थापत्ति द्वारा वह पहले ही ज्ञात है, तो उसे शब्दों द्वारा कहना व्यर्थ होने से पुनरुक्त होगा।

प्रसंग- अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं -

विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्याप्यप्रत्युच्चारणमननुभाषणम् ॥५.२.१६॥

विज्ञातस्य वाक्यार्थस्य परिषदा, प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदप्रत्युच्चारणं तदननुभाषणं नाम निग्रहस्थानमिति । अप्रत्युच्चारयन् किमाश्रयं परपक्षप्रतिषेधं ब्रूयात्।

वादी द्वारा कहे गए वाक्यार्थ को सभा द्वारा अच्छी तरह समझ लेने पर तथा वादी द्वारा इसी अभिप्राय से अपने मत को तीन बार कहे जाने पर भी, जब प्रतिवादी उसका उत्तर देने के लिए वादी के कथन का प्रत्युधारण नहीं करता, तो वह प्रतिवादी 'अननुभाषण' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत एवं परास्त माना जाता है क्योंकि यह वाद कथा की मर्यादा है, कि प्रतिवादी, वादी के कथन का अनुवाद करके उसका उत्तर दे। यदि प्रतिवादी, वादी के कथन को नहीं दुहराता, तो वह किस आधार पर उसका उत्तर देगा? यही स्थिति वादी पर भी लगती है, यदि वह प्रतिवादी के कथन का प्रत्युधारण न करे।

प्रसंग- अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अज्ञान' निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

अविज्ञातं चाज्ञानम् ॥५.२.१७॥

यहाँ गतसूत्र से 'विज्ञातस्य परिषदा त्रिरभिहितस्यापि' पदों की अनुवृत्ति है। [च] और [अविज्ञातम्] (सभा के द्वारा अच्छी तरह जाने गए तथा वादी द्वारा तीन बार कहे गए वाक्यार्थ को भी) न समझ पाना 'अज्ञानम्' अज्ञान (नामक निग्रहस्थान) है।

विज्ञातार्थस्य परिषदा प्रतिवादिना त्रिरभिहितस्य यदविज्ञानं तदज्ञानं निग्रहस्थानमिति । अयं खल्वविज्ञाय कस्य प्रतिषेधं ब्रूयादिति

वक्ता के वाक्यार्थ को सभासदों द्वारा अच्छी तरह समझ लेने पर तथा उस वक्ता के द्वारा अपने वाक्यार्थ को तीन बार कह देने पर भी जो वादी या प्रतिवादी उसे समझ नहीं पाता, तो वह 'अज्ञान' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत (पराजित) समझा जाता है क्योंकि



बिना समझे वह किसका खण्डन करेगा?।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अप्रतिभा' निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**उत्तरस्याप्रतिपत्तिरप्रतिभा ॥५.२.१८॥**

**परपक्षप्रतिषेध उत्तरम्, तद्यदा न प्रतिपद्यते तदा निगृहीतो भवति ।**

यहाँ पर-पक्ष के खण्डन को 'उत्तर' समझना चाहिए। वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा अपना पक्ष स्थापित कर देने पर, जब विरोधी को उसका उत्तर नहीं सूझता, तब वह उत्तर न दे पाने वाला 'अप्रतिभा' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत (पराजित) समझा जाता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'विक्षेप' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**कार्यव्यासंगात् कथाविच्छेदो विक्षेपः ॥५.२.१९॥**

**यत्र कर्तव्यं व्यासज्य कथां व्यवच्छिनत्ति इदं मे करणीयं विद्यते तस्मिन्वसिते पश्चात्कथयामीति विक्षेपो नाम निग्रहस्थानम् ।**  
वादी अथवा प्रतिवादी के द्वारा वाद से भिन्न किसी कार्य का बहाना बनाकर चालू कथा का परित्याग कर जाना 'विक्षेप' निग्रहस्थान है। ऐसा करने वाला वादी अथवा प्रतिवादी निगृहीत (पराजित) माना जाता है।

**जैसे-** अपने विरोधी के कथन का उत्तर देने में स्वयं को असमर्थ समझकर कोई वक्ता यह बहाना करे, कि मुझे अभी अमुक आवश्यक कार्य करना है, उसको पूरा करके फिर बातचीत करूँगा, यह कहकर चालू कथा को छोड़कर चला जाता है। ऐसा व्यक्ति निगृहीत (पराजित) माना जाता है। निग्रहस्थान में आ जाने से वह कथा वहीं समाप्त समझी जाती है। अनन्तर जो कथा चलेगी, वह दूसरी ही होगी।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात् परपक्षे दोष प्रसंगो मतानुज्ञा ॥५.२.२०॥**

**यः परेण चोदितं दोषं स्वपक्षेऽभ्युपगम्यानुद्धृत्य वदति भवत्यक्षेऽपि समानो दोष इति, स स्वपक्षे दोषाभ्युपगमात्परपक्षदोषं प्रसज्यन्यपरमतमनुजानातीति मतानुज्ञा नाम निग्रहस्थानमापद्यत इति ।**

जो वादी या प्रतिवादी अपने पक्ष में विरोध के द्वारा प्रदर्शित दोष का समाधान न करके, उसी दोष को अपने विरोधी के पक्ष में प्रदर्शित करता है, तब वह वक्ता 'मतानुज्ञा' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत (पराजित) माना जाता है। 'मतानुज्ञा' का तात्पर्य है- विरोधी के कथन को मान लेना। वस्तुतः दूसरे को दोषी सिद्ध करने से अपना दोष निवृत्त नहीं होता, वह तो युक्ति और प्रमाण से उसका निषेध करने पर ही निवृत्त होता है। जैसे- एक व्यक्ति ने दूसरे व्यक्ति पर चोरी का दोष लगाया, अब यदि वह उसका निवारण न करके, दोष लगाने वाले को भी चोर सिद्ध करने लगे, तो ऐसा करने से भले ही वह अपने विरोधी को चोर सिद्ध कर दे, परन्तु उसके अपने दोष का निवारण नहीं हो सकेगा। अपने दोष का निवारण तो तभी होगा, जब वह अपने ऊपर लगाए गए दोष को प्रमाणों से व्यर्थ सिद्ध कर दे।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त पर्यनुयोज्योपेक्षण नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**निग्रहस्थानप्राप्तस्यानिग्रहः पर्यनुयोज्योपेक्षणम् ॥५.२.२१॥**

**पर्यनुयोज्यो नाम निग्रहोपपत्त्या चोदनीयः, तस्योपेक्षणं निग्रहस्थानं प्राप्तोऽसीत्यननुयोगः।**

कथा प्रसंग में जब वादी प्रतिवादी में से कोई वक्ता किसी विप्रतिपत्ति अथवा अप्रतिपत्ति के कारण निग्रहस्थान की सीमा में आ जाता है, तब उसके विरोधी वक्ता का कर्तव्य है, कि वह इस बात का निर्देश करे, कि इस वक्ता ने अमुक निग्रहस्थान का प्रयोग किया है। यहाँ निग्रहस्थान की सीमा में आया हुआ वक्ता पर्यनुयोज्य है क्योंकि उस पर निग्रहस्थान में आने का आरोप लगाया जा सकता है। परन्तु जो विरोधी पर्यनुयोज्य (निग्रहस्थान को प्राप्त हुए) की अज्ञानता आदि के कारण उपेक्षा कर देता है (उसके निग्रहस्थान में आने का निर्देश नहीं करता) तो वह स्वयं 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत हो जाता है।

यहाँ कौन पराजित हुआ? इसका निर्णय करना परिषद् अथवा मध्यस्थ का कार्य होता है, क्योंकि जो 'पर्यनुयोज्य' है, अथवा 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रह स्थान से निगृहीत है, वह स्वयं अपने इस दोष को नहीं बताएगा, भला अपनी कमी को स्वयं कौन प्रकट करेगा?

यद्यपि यहाँ वादी-प्रतिवादी दोनों ही निग्रहस्थान के दोष से ग्रसित हैं, परन्तु 'पर्यनुयोज्य' की उपेक्षा करने वाले द्वितीय वक्ता को ही 'पर्यनुयोज्योपेक्षण' निग्रहस्थान से निगृहीत समझना चाहिए।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'निरनुयोज्यानुयोग' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं-

**अनिग्रहस्थाने निग्रहस्थानाभियोगो निरनुयोज्यानुयोगः ॥५.२.२२॥**

**निग्रहस्थानलक्षणस्य मिथ्याऽध्यवसायादनिग्रहस्थाने निगृहीतोऽसीति परं ब्रुवन् निरनुयोज्यानुयोगान्निगृहीतो वेदितव्य इति ।**

जो वक्ता निग्रहस्थान को प्राप्त न हुए अपने विरोधी पर यह आरोप लगाता है, कि- 'तुम निग्रहस्थान को प्राप्त हो गए हो', तो ऐसा



मिथ्या अभियोग (आरोप) लगाने वाला वक्ता स्वयं 'निरनुयोज्यानुयोग' निग्रहस्थान से निगृहीत माना जाता है, क्योंकि ऐसे मिथ्या अभियोग से अभियोक्ता का निग्रहस्थान सम्बन्धी अज्ञान प्रकट होता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार क्रमप्राप्त 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान का स्वरूप बताते हैं -

**सिद्धान्तमभ्युपेत्यानियमात् कथाप्रसंगोऽपसिद्धान्तः ॥५.२.२३॥**

**कस्यचिदर्थस्य तथाभावं प्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातार्थविपर्ययाद् अनियमात् कथां प्रसज्जयतोऽपसिद्धान्तो वेदितव्यः।**

कथा के समय वादी या प्रतिवादी किसी एक सिद्धान्त को स्वीकार करके उसके विपरीत अनियम से बोलता है (कथा को चलाता है), तो वह 'अपसिद्धान्त' नामक निग्रहस्थान से निगृहीत समझा जाता है। जैसे कोई वक्ता 'सत् का अभाव और असत् का भाव नहीं होता' इस सिद्धान्त को मानकर, फिर यह कहने लगे, कि 'जो पहले नहीं था, वह हो गया और जो है, वह नहीं रहेगा, अथवा कारण के बिना कार्य हो जाता है' इत्यादि। इस प्रकार अपने सिद्धान्त के विरुद्ध प्रसंग छेड़ने वाला 'अपसिद्धान्त' निग्रहस्थान में पड़ जाता है।

**प्रसंग-** अब सूत्रकार अन्त में क्रमप्राप्त 'हेत्वाभास' निग्रहस्थान के विषय में कहते हैं-

**हेत्वाभासाश्च यथोक्ताः ॥५.२.२४॥**

**हेत्वाभासाश्च निग्रहस्थानानि । किं पुनर्लक्षणान्तरयोगाद् हेत्वाभासा निग्रहस्थानत्वमापन्नाः यथा प्रमाणानि प्रमेयत्वमित्यत आह। यथोक्ता इति । हेत्वाभासलक्षणेनैव निग्रहस्थानभाव इति । त इमे प्रमाणादयः पदार्था उद्दिष्टा लक्षिताः परीक्षिताश्चेति ।**

प्रथम अध्याय के दूसरे आह्निक (४-९ सूत्र) में पाँच हेत्वाभासों का वर्णन किया गया है, जिनके नाम हैं- १. सव्यभिचार, २. विरुद्ध, ३. प्रकरणसम, ४. साध्यसम, ५. कालातीत।

वहाँ इनका जिस रूप में वर्णन किया गया है, उसी रूप में ये निग्रहस्थान हैं। इसलिए यहाँ पर इनका अतिरिक्त लक्षण न करके केवल निर्देश कर दिया है।

इस शास्त्र में प्रमाणादि सोलह पदार्थों का पहले उद्देश = नामनिर्देश) किया गया, फिर सब पदार्थों के लक्षण किए गए, एवं विस्तार पूर्वक परीक्षा की गई। इस प्रकार इस शास्त्र ने अपने विषय का पूर्णतया प्रतिपादन कर दिया।

**स्मरणीय बिंदु (Key Points):-**

- प्रणेता इस दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद हैं। इनके उलूक नाम के कारण इसे औलूक्य दर्शन और कणों के विश्लेषण के कारण कणाद दर्शन भी कहते हैं।
- धर्म का लक्षण महर्षि कणाद के अनुसार जिससे लौकिक सुख अभ्युदय और पूर्ण मोक्ष निःश्रेयस की सिद्धि हो, वही धर्म है।
- षट्-पदार्थ 6 मुख्य पदार्थ वैशेषिक दर्शन मूलतः छह पदार्थ मानता है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। बाद में अभाव को सातवाँ पदार्थ माना गया।
- द्रव्य, गुण और कर्म
- 9 द्रव्य पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।
- 24 गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, सुख-दुःख आदि।
- 5 कर्म उत्क्षेपण ( ऊपरफेंकना ), अवक्षेपण ( नीचेफेंकना ), आकुंचन ( सिकोड़ना ), प्रसारण ( फैलाना ) और गमन चलना।
- तत्त्वज्ञान और मोक्ष पदार्थों के साधर्म्य और वैधर्म्य भिन्नता के सही ज्ञान से ही दुःख की निवृत्ति और मोक्ष मिलता है।
- ईश्वर और वेद वैशेषिक दर्शन वेदों को ईश्वर की रचना मानता है, इसलिए वे प्रमाणिक हैं।
- सरल शब्दावली
- पदार्थ -जिसका अस्तित्व हो, जिसे नाम दिया जा सके और जिसे जाना जा सके अस्तित्व, अभिधेयत्व, ज्ञेयत्व।
- अभ्युदय- इस संसार में मिलने वाली उन्नति, फलता और सुख।
- निःश्रेयस- दुखों से पूरी तरह मुक्ति यानी मोक्ष।
- द्रव्य- गुणों और क्रियाओं का आधार जैसे मिट्टी एक द्रव्य है, जिसमें रंग और रूप गुण हैं।
- विशेष -वह पदार्थ जो दो नित्य वस्तुओं जैसे दो परमाणुओं को एक-दूसरे से अलग करता है। इसी के नाम पर दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा।
- समवाय- दो वस्तुओं के बीच का वह पक्का और नित्य संबंध जिसे अलग नहीं किया जा सकता जैसे गुण और गुणी का संबंध, तंतु और कपड़े का संबंध।
- परमाणुवाद- यह सिद्धान्त कि सृष्टि का निर्माण अत्यंत सूक्ष्म अविभाज्य कणों परमाणुओं से हुआ है।
- सामान्य- वह तत्व जो बहुत सी वस्तुओं में एक जैसा होता है जैसे सभी गायों में रहने वाला गोत्व।

- साधर्म्य -दो वस्तुओं के बीच की समानता।
- वैधर्म्य -दो वस्तुओं के बीच का अंतर।

दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

प्रश्न 1: वैशेषिक दर्शन के नामकरण के प्रमुख कारणों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2: महर्षि कणाद के अनुसार धर्म का लक्षण क्या है? वैशेषिक दर्शन में धर्म की व्याख्या अन्य धर्मशास्त्रों से किस प्रकार भिन्न है?

प्रश्न 3: पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है इस कथन की वैशेषिक सूत्रों के आलोक में समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 4: वैशेषिक दर्शन में वर्णित षट्-पदार्थों छह पदार्थों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

प्रश्न 5: वैशेषिक दर्शन में वेद के प्रामाण्य और तत्त्वज्ञान के साधनों श्रवण, मनन, निदिध्यासन की क्या स्थिति है?

लघु उत्तरीय प्रश्न:-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म का लक्षण क्या है?
2. वैशेषिक शास्त्र का नाम वैशेषिक क्यों पड़ा? कोई दो मुख्य कारण
3. द्रव्य किसे कहते हैं और इनके कितने भेद हैं?
4. वैशेषिक दर्शन में गुण कितने प्रकार के बताए गए हैं?
5. कर्म के पाँच भेदों के नाम लिखिए।
6. निःश्रेयस ( मोक्ष ) की प्राप्ति का क्रम क्या है?
7. समवाय संबंध से क्या तात्पर्य है?
8. सामान्य के भेदों को समझाइए।
9. विशेष पदार्थ का ज्ञान किसे होता है?
10. वैशेषिक दर्शन में वेदों के प्रामाण्य का आधार क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वैशेषिक दर्शन के प्रणेता ऋषि कौन हैं?  
(A) महर्षि गौतम  
(B) महर्षि कणाद  
(C) महर्षि कपिल  
(D) महर्षि पतंजलि
2. विशेष नामक स्वतंत्र पदार्थ को स्वीकार करने के कारण इस दर्शन को क्या कहा जाता है?  
(A) न्याय दर्शन  
(B) सांख्य दर्शन  
(C) वैशेषिक दर्शन  
(D) मीमांसा दर्शन
4. महर्षि कणाद का अन्य प्रसिद्ध नाम क्या है, जिसके आधार पर इस दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहते हैं?  
(A) उलूक  
(B) अक्षपाद  
(C) ईश्वराचार्य  
(D) कश्यप
5. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः - यह सूत्र किस ग्रंथ का है?  
(A) न्यायसूत्र  
(B) वैशेषिक सूत्र  
(C) ब्रह्मसूत्र  
(D) योगसूत्र

2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार अभ्युदय का अर्थ क्या है?

- (A) मोक्ष की प्राप्ति
- (B) लौकिक उन्नति और सुख
- (C) दुखों का अंत
- (D) ईश्वर का साक्षात्कार

3. निःश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन किसे माना गया है?

- (A) भक्ति
- (B) कर्मकांड
- (C) तत्त्वज्ञान
- (D) दान

6. वैशेषिक दर्शन के अनुसार मूल रूप से पदार्थों की संख्या कितनी है?

- (A) 5
- (B) 6
- (C) 9
- (D) 24

5. द्रव्यों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

- (A) 5
- (B) 7
- (C) 9
- (D) 16

6. निम्नलिखित में से कौन सा द्रव्य नहीं है?

- (A) काल
- (B) दिशा
- (C) सुख
- (D) मन

7. गुणों की कुल संख्या कितनी है?

- (A) 17
- (B) 24
- (C) 5
- (D) 9

4. उत्क्षेपण और अवक्षेपण किसके भेद हैं?

- (A) द्रव्य के
- (B) गुण के
- (C) कर्म के
- (D) विशेष के

3. समवाय किस प्रकार का संबंध है?

- (A) अनित्य संबंध
- (B) नित्य संबंध
- (C) संयोग संबंध
- (D) वियोग संबंध

6. विशेष पदार्थ कहाँ रहता है?

- (A) कार्य द्रव्यों में
- (D) नित्य द्रव्यों में परमाणुओं में
- (C) गुणों में

(D) सामान्य में

7. वेदों के प्रामाण्य का मुख्य आधार क्या है?

(A) ऋषियों की वाणी

(B) ईश्वर के वचन होना

(C) परंपरा

(D) प्रत्यक्ष प्रमाण

॥ समाप्तम् ॥

## खण्ड-3 - वैशेषिकदर्शन- प्रथम अध्याय

### इकाई-3.1 - वैशेषिक का नामकरण, धर्म का स्वरूप एवं लक्षण, द्रव्य,गुण एवं कर्म के भेद

#### उद्देश्य-

- सृष्टि के रहस्यों को समझना वैशेषिक दर्शन का मुख्य उद्देश्य ब्रह्मांड के भौतिक और आध्यात्मिक तत्वों का वैज्ञानिक विश्लेषण करना है।
  - पदार्थों का वर्गीकरण विश्व की समस्त वस्तुओं को श्रेणियों पदार्थों में बाँटकर उनके स्वरूप को स्पष्ट करना
  - धर्म और मोक्ष का समन्वय यह समझना कि कैसे लौकिक उन्नति अभ्युदय और आध्यात्मिक मुक्ति निःश्रेयस दोनों ही धर्म के मार्ग से संभव हैं।
  - विशेषता की पहचान प्रत्येक नित्य वस्तु जैसे परमाणु एक-दूसरे से भिन्न क्यों है, इसके पीछे के विशेष तत्व को जानना।
- वैशेषिक का नामकरण** - षड्पदार्थों के विवेचन में कुशल महर्षि कणाद के द्वारा प्रतिपादित वैशेषिक शास्त्र के नामकरण में निम्नलिखित प्रमुख हेतु स्वीकार किये जाते हैं-
१. प्रस्तुत शास्त्र के प्रणेता आचार्य के विशिष्ट उपदेष्टा होने के कारण इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' हुआ।
  २. अन्य दर्शन शास्त्रों की तुलना में द्रव्यादि पदार्थों के उपपादन में उत्कृष्ट एवं विशेष होने के कारण इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
  ३. इस शास्त्र में वर्णित छः पदार्थों के अन्तर्गत पञ्चमपदार्थ 'विशेष' को अतिरिक्त एवं विलक्षण रूप में स्वीकार करने के कारण इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
  ४. वैशेषिक नाम के मूलशब्द 'विशेष' का अर्थ होता है-तत्त्वनिश्चयपूर्वक व्यवहार करना। इस शास्त्र में इसी प्रकार किया गया है इस कारण इसका नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
  ५. तत्वों का निश्चय वस्तुतः पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के आधार पर किया जाता है, इस कारण से इन्हें व्यवच्छेदक या 'विशेष' कहा जाता है। इस प्रकार से तत्व निर्धारित कराने के कारण इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' पड़ा।
  ६. पृथिव्यादि पञ्चभूतों को दर्शन शास्त्रों में 'विशेष' शब्द से भी जाना जाता है। कारण यह है कि सुख-दुःख एवं मोह से विशिष्ट (युक्त) हो पञ्चभूत होते हैं। इस शास्त्र में इस जगत् का मूल कारण पञ्चभूत नामक 'विशेष' ही कहे गये हैं। इसलिए इस शास्त्र का नाम 'वैशेषिक' पड़ा।

#### धर्म का स्वरूप एवं लक्षण

वैशेषिक दर्शन का आरम्भ ही 'धर्म' की व्याख्या करने के संकल्प से होता है। महर्षि कणाद संकल्प करते हुये प्रथम सूत्र लिखते हैं - **अथातो धर्मं व्याख्यास्यामः ( १.१.१ )**

अर्थात् अब हम शिष्यों के परम कल्याण के हेतु से धर्म की व्याख्या करेंगे। प्रस्तुत सूत्र में 'अथ' शब्द मंगलाचरण का सूचक एवं अनन्तर का बोधक (वाचक) है। 'अतः' शब्द हेतु अर्थ में है, 'धर्म' पद इस शास्त्र के प्रतिपाद्य विषय को संकेत करता है, तथा "व्याख्यास्यामः" पद व्याख्या के संकल्प का द्योतक है। अतएव अर्थ यह स्पष्ट होता है कि "शिष्यों के जिज्ञासा के अनन्तर उनके परम कल्याण के हेतु से हम 'धर्म' की व्याख्या (विवेचन) करेंगे" ऐसा आचार्य प्रथमदृष्ट्या संकल्प करते हैं। यहाँ पर 'व्याख्यास्यामः' पद उत्तमपुरुष बहुवचनान्त है, जिसका तात्पर्य यह है कि वैशेषिककार कहना चाहते हैं कि इस शास्त्र में 'धर्म' का केवल एक तरफा उपदेश नहीं किया जायेगा अपितु हम सभी (आचार्य एवं शिष्य) परस्पर संवादात्मक शैली से विचार-विमर्श करते हुये 'धर्म' के वास्तविक स्वरूप का निश्चय करेंगे। इस कारण से यह शास्त्र धर्मशास्त्र न होकर दर्शन शास्त्र कहलाता है, कारण यह है कि धर्मशास्त्रों में केवल उपदेशमात्र होता है, वहाँ प्रश्नोत्तर शैली का अभाव होता है। धर्मशास्त्रों में आशंका का अवकाश नहीं होता है बल्कि श्रद्धा का विषय होता है जबकि इस दर्शन शास्त्र में आशंका, आक्षेप एवं तर्क का पूर्ण अवकाश होने से दर्शन शास्त्र के अन्तर्गत आता है, न कि 'धर्मशास्त्र' के अन्तर्गत। आगे धर्म का स्वरूप बताते हुये वैशेषिककार धर्म का लक्षण बता रहे हैं-

#### यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः ( १.१.२ )

अर्थात् जिससे अभ्युदय (लौकिक उत्कर्ष) एवं निःश्रेयस (मोक्ष) की सिद्धिः (प्राप्ति) होती है वह 'धर्म' कहलाता है। प्रस्तुत सूत्र में धर्म का तटस्थलक्षण कहा है न कि स्वरूपलक्षण। मन्वादि धर्मशास्त्रों में 'धृत्यादि' धर्म के स्वरूपलक्षण कहे जाते हैं। इस सूत्र द्वारा (धर्म) को निमित्त कारण के रूप में स्वीकार किया गया है; जो कि 'यतः' इस पञ्चमी विभक्ति से स्पष्ट होता है।

‘अभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः’ इस समस्तपद में मध्यमपदलोपी समास है। अर्थात् अभ्युदय द्वारा निःश्रेयससिद्धि जिससे होती है वह ‘धर्म’ कहलाता है। इससे पता चलता है कि वैशेषिकशास्त्र क्रम-मुक्ति का समर्थक है। धर्म के पालन से लौकिक उत्कर्षतापूर्वक अन्ततः मोक्ष की प्राप्ति होती है। तात्पर्य यह है कि धर्म के आचरण के बिना मोक्ष की प्राप्ति नहीं हो सकती है, तथा धर्म के सम्यक् आचरण से मुमुक्षु का लौकिक कल्याण अर्थात् धन-धान्यादि की समुपलब्धि हो ही जाती है। अतएव अभ्युदय द्वारा अन्ततः जो मोक्ष का हेतु हो उसे ‘धर्म’ कहा जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि उपरोक्त ‘धृत्यादि’ सद्गुणों को धर्म के रूप में स्मृतिकारों ने कह ही दिया है, तब इस प्रकार के धर्म की व्याख्या में नवीनता (अपूर्वता) क्या है? ऐसा आक्षेप होने पर वैशेषिककार कहते हैं-

**धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायानां पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानानिःश्रेयसम् (१.१.४)**

अर्थात् द्रव्यादि छः पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य के द्वारा योगज धर्मविशेष से जन्य ‘तत्त्वज्ञान’ से निःश्रेयस (मोक्ष) होता है, और इस प्रकार का तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का साधन होने से वास्तविक रूप में ‘धर्म’ सिद्ध होता है।

पूर्व सूत्र में ‘यतः’ पञ्चम्यन्त पद से जिसको कहा गया था उसी को प्रस्तुत सूत्र में ‘तत्त्वज्ञानात्’ इस पञ्चम्यन्त पद से कहा गया है। जिसका तात्पर्य है कि वस्तुतः तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का अन्यतम साधन होने से धर्म सिद्ध होता है। परन्तु यह तत्त्वज्ञान भी साक्षात् सम्भव नहीं है बल्कि द्रव्यादि षड्पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्य रूपी चिन्तन एवं मनन से उत्पन्न होता है। अतएव मोक्ष की सिद्धि का क्रम इस प्रकार है- द्रव्यादि षड्पदार्थों का साधर्म्य-वैधर्म्यपूर्वक चिन्तन एवं मनन, इससे नित्य आत्मतत्त्व के नित्यत्व एवं जगत् के क्षणभंगुरत्व का दृढ़ निश्चयपूर्वक निदिध्यासन में अग्रसर होना तथा उससे समाधि को प्राप्त होना तथा समाधि द्वारा तत्त्वज्ञान का उदय और अन्ततः तत्त्वज्ञान से मोक्ष में हेतु होने से ‘धर्म’ सिद्ध होता है।

षड्पदार्थों का चिन्तन-मनन मोक्ष में निमित्तकारण तथा तत्त्वज्ञान साक्षात् कारण सिद्ध होता है। इसलिए दोनों ही ‘धर्म’ सिद्ध होते हैं।

**तद्वचनाद् आम्नायस्य प्रामाण्यम् (१.१.३)**

इस सूत्र से धर्म के प्रवचन में वेद का प्रामाण्य होने से ‘श्रवण’ का भी समावेश हो जाता है। इस प्रकार श्रवण, मनन एवं निदिध्यासनपूर्वक तत्त्वज्ञान ये तीनों मोक्ष में हेतु होने से सूत्रकार के मत में ‘धर्म’ कहे जायेंगे। जैसा कि प्रसिद्ध शास्त्रवचन है-

**श्रोतव्यो श्रुतिवाक्येभ्यः मन्तव्यश्चोपपत्तिभिः।**

**मत्वा च सततं ध्येय एते दर्शनहेतवः॥**

अर्थात् श्रुति वाक्यों के द्वारा श्रवण करना चाहिए, युक्तियों के द्वारा मनन करना चाहिए तथा मनन के पश्चात् सतत निदिध्यासन करना चाहिए कहने का तात्पर्य है कि यौगिक रीतियों के द्वारा ध्यान करना चाहिए।

इस प्रकार श्रवण-मनन निदिध्यासन तीनों तत्त्वज्ञान के हेतु सिद्ध हैं। ने से धर्म कहे जा सकते हैं। वस्तुतः वैशेषिककार के दृष्टि से षड्पदार्थों के मनन को ही तत्त्वज्ञान का साधन होने से धर्म कहा गया है। फिर भी अन्य शास्त्रों से एकवाक्यता करने में भी महर्षि द्वारा वर्णित ‘धर्म’ का लक्षण समर्थ है। इसी कारण से ‘धर्म’ पद से कतिपय आचार्य ‘पदार्थधर्म’ ऐसा अर्थ लेते हैं। वस्तुतः सूत्रकार के द्वारा अभ्युदय द्वारा निःश्रेयस के साधनभूत तत्त्व को ‘धर्म’ का व्यापक लक्षण करने से सभी व्याख्याकारों के कथनों का समावेश हो जाता है। अथवा मन्वादि स्मृतियों में धृत्यादिरूप सामान्य धर्मों का वर्णन किया गया है, जबकि इस शास्त्र में आत्मज्ञानरूपी परमधर्म का वर्णन किया गया है, ऐसा समझना चाहिए। मोक्ष की दृष्टि से तत्त्वज्ञान का साक्षात् सम्बन्ध होने से प्रधान रूप से परमधर्म जबकि धृत्यादि का परम्परा से कारण होने से सामान्य धर्म समझना चाहिए। यह महर्षि की दूरदर्शिता एवं उदारता का परिचायक है।

**षड्पदार्थों का सामान्य परिचय**

वैशेषिकोक्त षड्पदार्थों का परिचय देते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

**धर्मविशेषप्रसूताद् द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेष समवायानां**

**पदार्थानां साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां तत्त्वज्ञानानिःश्रेयसम् (१.१.४)**

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि कणाद षड्पदार्थों के साधर्म्य-वैधर्म्य के मननपूर्वक अन्ततः तत्त्वज्ञान द्वारा निःश्रेयस (मोक्ष) की प्राप्ति की बात कही है। वे षड्पदार्थ हैं-(१) द्रव्य (२) गुण (३) कर्म (४) सामान्य (५) विशेष (६) समवाय।

इनका संक्षिप्त परिचय निम्न प्रकार है-

1) **द्रव्य**- यह छः पदार्थों में सबसे महत्वपूर्ण पदार्थ है, जिसके आश्रय से अन्य सभी पदार्थ टिके

2) होते हैं। यह नौ प्रकार का होता है—(१) पृथिवी (२) जल (३) तेज (४) वायु (५) आकाश (६) काल (७) दिशा (८) आत्मा (९) मन। इन नौ द्रव्यों को भी हम दो भागों में बाट सकते हैं—नित्य द्रव्य एवं अनित्य द्रव्य। पृथिव्यादि चारों भूतों के परमाणु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा एवं मन ये सभी नित्य द्रव्य के अन्तर्गत आते हैं तथा कार्य पृथिव्यादि चार महाभूत अनित्य द्रव्य के अन्तर्गत आते हैं। समस्त कार्य द्रव्यों के प्रति कार्यमात्र का समवायिकारण द्रव्य होता है। द्रव्य के आश्रय से स्वयं कार्यद्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष एवं समवाय ये सभी होते हैं। अतएव समस्त पदार्थों में 'द्रव्य' ही प्रधान है। या यूँ कहें के समस्त जगत् द्रव्यात्मक ही है।

3) **गुण**— यह द्रव्यों के आश्रय से रहने वाला है। इसके चौबीस भेद हैं—रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म एवं शब्द। गुण भी नित्य एवं अनित्य के भेद से दो प्रकार के होते हैं। प्रायः नित्यद्रव्यों में रहने वाला गुण नित्य एवं कार्यद्रव्यों में रहने वाला गुण अनित्य होता है। परन्तु अपवाद रूप में नित्य पृथिवी के परमाणु में रहने वाला रूपादि चारों गुण अनित्य एवं नित्य आकाश का अनित्य शब्द तथा नित्य आत्मा का अनित्य इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, ज्ञान, प्रयत्न होते हैं। गुण सदैव द्रव्याश्रित होने से असमवायिकारण ही सिद्ध होते हैं।

4) **कर्म**— गुण की भांति कर्म भी द्रव्याश्रित होते हैं। यह सदैव अनित्य ही होते हैं। इसके पांच भेद होते हैं—(१) उत्क्षेपण (२) अवक्षेपण (३) आकुञ्चन (४) प्रसारण (५) गमन। 'गमन' नामक कर्म के अतिरिक्त शेष कर्म 'नियतदिग्विशिष्ट' होते हैं जबकि गमन अनियतदिग्विशिष्ट होता है—यह विशेष है। द्रव्य-गुण में परस्पर 'सजातीयारम्भकत्व' रूप साधर्म्य है, जबकि कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं होता है—यह बात द्रव्य एवं गुण से विलक्षण है।

5) **सामान्य**— द्रव्य-गुण एवं कर्म की भांति निरपेक्ष पदार्थ न होकर यह बुद्धिसापेक्ष होता है। जो द्रव्य-गुण एवं कर्मों में 'अनुवृत्तिप्रत्यय' का हेतु होता है। इसके दो भेद होते हैं—(क) परसामान्य (ख) अपरसामान्य। 'सत्ता' नामक सामान्य को परसामान्य तथा द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व नामक सामान्य को अपरसामान्य कहा जाता है। द्रव्य-गुण एवं कर्म के अनित्य होने पर भी उसमें रहने वाले द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व एवं सत्ता नामक सामान्य नित्य ही होते हैं। यह अपने आश्रय द्रव्य में सर्वगत होते हैं तथा सर्वगत होने से एकत्व की सिद्धि भी स्वतः हो जाती है।

6) **विशेष**— इस 'विशेष' नामक पदार्थ के कारण ही 'वैशेषिक' नामकरण हुआ है। यह नित्य द्रव्यों में होता है, जो कि प्रत्येक द्रव्यों को परस्पर एक दूसरे से पृथक् करने में हेतु होता है। यह केवल व्यावृत्ति प्रत्यय का हेतु होता है। अनन्त परमाणुओं, आत्माओं में व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग होता है तथा एक विशेष दूसरे विशेष से सर्वथा भिन्न होता है। अतएव अनन्त विशेष पदार्थ अनन्त प्रकार के सिद्ध होते हैं। यह केवल योगज सामर्थ्य से योगियों के द्वारा गम्य होता है। सामान्य मनुष्य के अनुभव में नहीं आता है। इसी 'विशेष' नामक पदार्थ के कारण परस्पर समान होते हुये भी परमाणुओं एवं आत्माओं में योगी लोग पृथक्ता का ज्ञान कर लेते हैं। कार्यद्रव्य के अन्तिम कण परमाणुओं में होने के कारण इसे 'अन्त्यविशेष' भी कहते हैं।

7) **समवाय**— यह एक प्रकार का सम्बन्ध होता है जो परस्पर दो अयुतसिद्ध (अपृथक्भूत) पदार्थों के मध्य होता है। अर्थात् दो ऐसे पदार्थ जिसको अलग नहीं किया जा सकता है, ऐसे अटूट सम्बन्ध को समवायसम्बन्ध कहते हैं। यदि किसी भी प्रकार से उन्हें अलग करने का प्रयास किया जाये तो दो में से एक का अस्तित्व ही नहीं रहता है। वस्तुतः इनका अलगाव असम्भव है। इसलिए यह एक प्रकार का नित्य सम्बन्ध होता है। यह पांच स्थलों में होता है—(क) कार्य-कारण का सम्बन्ध (ख) गुण-गुणी (द्रव्य) का सम्बन्ध (ग) क्रिया-क्रियावान् का सम्बन्ध (घ) व्यक्ति-जाति का सम्बन्ध एवं (ङ.) अन्त्यविशेष एवं परमाणु का सम्बन्ध। इन पांच स्थलों में परस्पर अटूट सम्बन्ध होता है वह 'समवाय' सम्बन्ध कहलाता है।

### स्मरणीय बिंदु (Key Points):-

● प्रणेता इस दर्शन के रचयिता महर्षि कणाद हैं। इनके उलूक नाम के कारण इसे औलूक्य दर्शन और कणों के विश्लेषण के कारण कणाद दर्शन भी कहते हैं।

● धर्म का लक्षण महर्षि कणाद के अनुसार जिससे लौकिक सुख अभ्युदय और पूर्ण मोक्ष निःश्रेयस की सिद्धि हो, वही धर्म है।

● षट्-पदार्थ 6 मुख्य पदार्थ वैशेषिक दर्शन मूलतः छह पदार्थ मानता है द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय। बाद में अभाव को सातवाँ पदार्थ माना गया।

● द्रव्य, गुण और कर्म

● 9 द्रव्य पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।

● 24 गुण रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, सुख-दुःख आदि।

● 5 कर्म उत्क्षेपण (ऊपरफेंकना), अवक्षेपण (नीचेफेंकना), आकुञ्चन (सिकोड़ना), प्रसारण (फैलाना) और गमन चलना।

● तत्त्वज्ञान और मोक्ष पदार्थों के साधर्म्य समानता और वैधर्म्य भिन्नता के सही ज्ञान से ही दुःख की निवृत्ति और मोक्ष मिलता है।



●ईश्वर और वेद वैशेषिक दर्शन वेदों को ईश्वर की रचना मानता है, इसलिए वे प्रामाणिक हैं।

### सरल शब्दावली (Glossary):-

●पदार्थ- जिसका अस्तित्व हो, जिसे नाम दिया जा सके और जिसे जाना जा सके अस्तित्व, अभिधोयत्व, ज्ञेयत्व।

●अभ्युदय -इस संसार में मिलने वाली उन्नति, फलता और सुख।

●निःश्रेयस -दुखों से पूरी तरह मुक्ति यानी मोक्ष।

●द्रव्य -गुणों और क्रियाओं का आधार जैसे मिट्टी एक द्रव्य है, जिसमें रंग और रूप गुण हैं।

●विशेष -वह पदार्थ जो दो नित्य वस्तुओं जैसे दो परमाणुओं को एक-दूसरे से अलग करता है। इसी के नाम पर दर्शन का नाम वैशेषिक पड़ा।

●समवाय- दो वस्तुओं के बीच का वह पक्का और नित्य संबंध जिसे अलग नहीं किया जा सकता जैसे गुण और गुणी का संबंध, तंतु और कपड़े का संबंध

●परमाणुवाद -यह सिद्धांत कि सृष्टि का निर्माण अत्यंत सूक्ष्म अविभाज्य कणों परमाणुओं से हुआ है।

●सामान्य- वह तत्व जो बहुत सी वस्तुओं में एक जैसा होता है जैसे सभी गायों में रहने वाला गोत्व।

●साधर्म्य- दो वस्तुओं के बीच की समानता।

●वैधर्म्य -दो वस्तुओं के बीच का अंतर।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

प्रश्न 1: वैशेषिक दर्शन के नामकरण के प्रमुख कारणों का सविस्तार वर्णन कीजिए।

प्रश्न 2: महर्षि कणाद के अनुसार धर्म का लक्षण क्या है? वैशेषिक दर्शन में धर्म की व्याख्या अन्य धर्मशास्त्रों से किस प्रकार भिन्न है?

प्रश्न 3: पदार्थों के तत्त्वज्ञान से निःश्रेयस की प्राप्ति होती है इस कथन की वैशेषिक सूत्रों के आलोक में समीक्षा कीजिए।

प्रश्न 4: वैशेषिक दर्शन में वर्णित षट्-पदार्थों छह पदार्थों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

प्रश्न 5: वैशेषिक दर्शन में वेद के प्रामाण्य और तत्त्वज्ञान के साधनों श्रवण, मनन, निदिध्यासन की क्या स्थिति है?

### लघु उत्तरीय प्रश्न:-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार धर्म का लक्षण क्या है?
2. वैशेषिक शास्त्र का नाम वैशेषिक क्यों पड़ा? कोई दो मुख्य कारण
3. द्रव्य किसे कहते हैं और इनके कितने भेद हैं?
4. वैशेषिक दर्शन में गुण कितने प्रकार के बताए गए हैं?ट
5. कर्म के पाँच भेदों के नाम लिखिए।
6. निःश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति का क्रम क्या है?
7. समवाय संबंध से क्या तात्पर्य है?
8. सामान्य के भेदों को समझाइए।
9. विशेष पदार्थ का ज्ञान कैसे होता है?
10. वैशेषिक दर्शन में वेदों के प्रामाण्य का आधार क्या है?

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वैशेषिक दर्शन के प्रणेता ऋषि कौन हैं?

(A) महर्षि गौतम

(B) महर्षि कणाद

(C) महर्षि कपिल

(D) महर्षि पतंजलि

2. विशेष नामक स्वतंत्र पदार्थ को स्वीकार करने के कारण इस दर्शन को क्या कहा जाता है?

(A) न्याय दर्शन

(B) सांख्य दर्शन

(C) वैशेषिक दर्शन

(D) मीमांसा दर्शन

4. महर्षि कणाद का अन्य प्रसिद्ध नाम क्या है, जिसके आधार पर इस दर्शन को औलूक्य दर्शन भी कहते हैं?

- (A) **उलूक**
- (B) अक्षपाद
- (C) ईश्वराचार्य
- (D) कश्यप

5. यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः – यह सूत्र किस ग्रंथ का है?

- (A) न्यायसूत्र
- (B) **वैशेषिक सूत्र**
- (C) ब्रह्मसूत्र
- (D) योगसूत्र

2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार अभ्युदय का अर्थ क्या है?

- (A) मोक्ष की प्राप्ति
- (B) **लौकिक उन्नति और सुख**
- (C) दुखों का अंत
- (D) ईश्वर का साक्षात्कार

3. निःश्रेयस मोक्ष की प्राप्ति का साक्षात् साधन किसे माना गया है?

- (A) भक्ति
- (B) कर्मकांड
- (C) **तत्त्वज्ञान**
- (D) दान

6. वैशेषिक दर्शन के अनुसार मूल रूप से पदार्थों की संख्या कितनी है?

- (A) 5
- (B) **6**
- (C) 9
- (D) 24

5. द्रव्यों की कुल संख्या कितनी मानी गई है?

- (A) 5
- (B) 7
- (C) **9**
- (D) 16

6. निम्नलिखित में से कौन सा द्रव्य नहीं है?

- (A) काल
- (B) दिशा
- (C) **सुख**
- (D) मन

7. गुणों की कुल संख्या कितनी है?

- (A) 17
- (B) **24**
- (C) 5
- (D) 9

4. उत्क्षेपण और अवक्षेपण किसके भेद हैं?

- (A) द्रव्य के
- (B) गुण के
- (C) **कर्म के**

- (D) विशेष के
3. समवाय किस प्रकार का संबंध है?
- (A) अनित्य संबंध
- (B) **नित्य संबंध**
- (C) संयोग संबंध
- (D) वियोग संबंध
6. विशेष पदार्थ कहाँ रहता है?
- (A) कार्य द्रव्यों में
- (B) **नित्य द्रव्यों में परमाणुओं में**
- (C) गुणों में
- (D) सामान्य में
7. वेदों के प्रामाण्य का मुख्य आधार क्या है?
- (A) ऋषियों की वाणी
- (B) **ईश्वर के वचन होना**
- (C) परंपरा
- (D) प्रत्यक्ष प्रमाण

## इकाई-3.2 - द्रव्य, गुण एवं कर्म के भेद, द्रव्य, गुण एवं कर्म के लक्षण, द्रव्य-गुण-कर्म का परस्पर साधर्म्य

### उद्देश्य-

- पदार्थों के गहराई से स्वरूप को समझना द्रव्य, गुण और कर्म के तकनीकी लक्षणों और उनकी कार्य-प्रणाली का वैज्ञानिक विश्लेषण करना।
  - सृष्टि प्रक्रिया का सूक्ष्म ज्ञान यह समझना कि कोई नई वस्तु द्रव्य कैसे बनती है और क्या वह बनते समय निर्गुण या निष्क्रिय होती है।
  - तार्किक विवेचना अंधकार तम जैसे विषयों पर तार्किक स्पष्टता प्राप्त करना कि वह स्वतंत्र वस्तु है या केवल प्रकाश का अभाव।
  - वर्गीकरण और अंतर्संबंध ज्ञान के विभिन्न रूपों विद्या-अविद्या और क्रियाओं के प्रकारों को व्यवस्थित रूप से जानना।
- वैशेषिककार द्रव्य के नौ, गुण के चौबीस तथा कर्म के पांच भेद कहे हैं, जो इस प्रकार है।

### द्रव्य, गुण एवं कर्म के भेद

द्रव्य के नौ भेद - द्रव्य के नौ भेद बताते हुये महर्षि कहते हैं-

पृथिव्यापस्तेजोवायुराकाशं कालो दिगात्मा मन इति द्रव्याणि। ( १.१.५. )

अर्थात् पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा, एवं मन ये नौ द्रव्य हैं। सूत्र में 'इति' पद संख्या को निधरित करने वाला है। तात्पर्य यह है कि नौ ही द्रव्य हैं 'तम' (अंधकार) इत्यादि दसवां द्रव्य नहीं होता है, जैसा कि नव्य नैयायिकों के द्वारा प्रतिपादित किया गया है। 'तम' तेज का अभावमात्र है न कि भावात्मक द्रव्य जैसा कि वैशेषिककार ने कहा है-

द्रव्यगुणकर्मनिष्पत्तिवैधर्म्यादभावस्तमः। ( ५.२.१५ )

अर्थात् द्रव्य, गुण और कर्म की सिद्धि के वैधर्म्य होने से वस्तुतः तेजोऽभाव ही अन्धकार है। अन्धकार कोई स्वतन्त्र पदार्थ नहीं है। प्रकाश का अभाव ही अन्धकार है।

तेजसो द्रव्यान्तरेणावरणाच्च। ( ५.२.२० )

तेज के अन्य द्रव्य द्वारा रूक जाने से प्रकाश का अभावरूप अन्धकार होता है, अतः वह तेजोऽभाव ही है। इसलिए नौ ही द्रव्य होते हैं। सूत्र में 'इति' पद का यही तात्पर्य है।

### गुणों के चौबीस भेद

द्रव्य के भेदों का वर्णन करने के पश्चात् सूत्रकार ने गुणों के भेद बताया है-

रूपरसगन्धस्पर्शाः संख्याः परिमाणानि पृथक्त्वं संयोगविभागौ

परत्वापरत्वे बुद्ध्यः सुखदुःखे इच्छाद्वेषौ प्रयत्नाश्च गुणाः। ( १.१.६. )

अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न - ये सत्रह गुण सूत्रकार ने अपने कण्ठ से स्पष्ट कहा है। इसके अतिरिक्त शेष सात गुणों (गुरुत्व, द्रवत्व, स्नेह, संस्कार, धर्म, अधर्म और शब्द) का समावेश सूत्रगत 'च' पद से गृहीत होता है। जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं-

चशब्दसमुच्चिताश्च गुरुत्वद्रवत्वस्नेह संस्कारादृष्टशब्दाः

सप्तैवेत्येवं चतुर्विंशतिर्गुणाः। ( प्रश.भा. )

इन चौबीस गुणों के अवान्तरभेद होने से असंख्य भेद हो जाते हैं। प्रमुख अवान्तरभेद सहित गुणों का उल्लेख निम्न प्रकार है-

- 1 ) **रूप-** शुक्ल, लाल, नीला, पीला, हरा, भूरा, काला, इत्यादि रूप के अनेक भेद हो जाते हैं।
- 2 ) **रस-** षड्रस के रूप में मधुर, अम्ल, लवण, तिक्त, कटु, कषाय रस के भेद प्रसिद्ध हैं। इनके भी अवान्तर भेद करने से असंख्य रस के भेद हो जाते हैं।
- 3 ) **गन्ध-** मुख्य रूप से सुरभि एवं असुरभि (सुगन्ध) एवं दुर्गन्ध के भेद से गन्ध के दो भेद होते हैं। परन्तु सुगन्ध भी नानाप्रकार के तथा दुर्गन्ध के भी नाना भेद होने से असंख्य गन्ध के भेद हो जाते हैं।
- 4 ) **स्पर्श-** उष्ण, शीत, अनुष्णाशीत, मृदु (मुलायम), कठोर, तीक्ष्ण (नुकीला), खुरदरा, चिकना इत्यादि स्पर्श के भेद होते हैं।
- 5 ) **संख्या-** एकत्व, द्वित्व से लेकर अनन्त भेद संख्या के हो जाते हैं।
- 6 ) **परिमाण-** परिमाण के चार भेद होते हैं- (क) महत् (ख) अणु (ग) ह्रस्व (घ) दीर्घ।

- 7) **पृथक्त्व**- यह सभी द्रव्यों में रहने वाला सामान्य गुण होता है। एकपृथक्त्व, द्विपृथक्त्व इत्यादि नामों से जाना जाता है।
- 8) **संयोग**- यह तीन प्रकार का होता है- (क) अन्यतरकर्मज संयोग (ख) उभयकर्मज संयोग (ग) संयोगज संयोग।
- 9) **विभाग**- संयोग की भांति विभाग भी तीन प्रकार का होता है - (क) अन्यतरकर्मज विभाग (ख) उभयकर्मज विभाग (ग) विभागज विभाग।
- 10) **परत्व**- यह दो प्रकार का होता है- (क) कालिक परत्व (ख) दैशिक परत्व। कालिक परत्व से ज्येष्ठत्व (पुरातनता) का व्यवहार होता है तथा दोशिक परत्व से विप्रकृष्टता (दूरता) का व्यवहार होता है।
- 11) **अपरत्व**- परत्व की भांति अपरत्व भी दो प्रकार का होता है- (क) कालिक अपरत्व (ख) दैशिक अपरत्व। कालिक अपरत्व से काल की दृष्टि से कनिष्ठत्व (नवीनता) का व्यवहार होता है तथा दैशिक अपरत्व से देश की दृष्टि से निकटता का व्यवहार होता है।
- 12) **बुद्धि (ज्ञान)**- बुद्धि, उपलब्धि, ज्ञान ये सभी पर्यायवाचक शब्द हैं। इसके मुख्यतः दो भेद होते हैं - (क) विद्या (ख) अविद्या। प्रत्यक्ष, लैङ्गिक, स्मृति एवं आर्षज्ञान के भेद से विद्या के चार भेद हो जाते हैं। इसी प्रकार संशय, विपर्यय, अनध्यवसाय एवं स्वप्न के भेद से अविद्या के भी चार भेद हो जाते हैं।
- 13) **सुख**- अनुकूल वेदना (अनुभूति) का नाम सुख होता है। यह प्रायः सभी जीवों में एक ही प्रकार का होता है। स्रक् (माला), चन्दन, वनिता (स्त्री) इत्यादि आलम्बन भेद से इसके अनेक साधन सिद्ध होते हैं।
- 14) **दुःख**- प्रतिकूल वेदना (अनुभूति) का नाम दुःख है। यही भी सुख की भांति प्रायः सभी जीवों में एक प्रकार का होता है। अहि (सर्प), विष, कष्टकादि रूप साधन भेद से इसके अनेक साधन होते हैं।
- 15) **इच्छा**- अप्राप्त विषयों की प्राप्ति की अभिलाषा को इच्छा कहते हैं। काम, अभिलाषा, राग, संकल्प, कारुण्य, वैराग्य, उपधा, भाव इत्यादि इच्छा के भेद हैं।
- 16) **द्वेष**- सन्ताप लक्षण वाला द्वेष होता है। क्रोध, द्रोह, मन्यु, अक्षमा, अमर्ष इत्यादि द्वेष के भेद हैं।
- 17) **प्रयत्न**- प्रयत्न, संरम्भ, उत्साह ये सभी पर्यायवाचक शब्द हैं। यह दो प्रकार का होता है- (क) जीवन पूर्वक (ख) इच्छा द्वेषपूर्वक।
- 18) **गुरुत्व**- यह जल एवं पृथिवी के पतन रूपी कर्म का कारण होता है। यह अदृश्य होता हुआ भी पतन रूपी क्रिया से अनुमेय है।
- 19) **द्रवत्व**- यह जल का गुण होता है। स्यन्दन कर्म का कारण होता है। यह दो प्रकार का होता है (क) सांसिद्धिक द्रवत्व (ख) नैमित्तिक द्रवत्व।
- 20) **स्नेह**- यह भी जल का गुण होता है जो संग्रह (बिखरे हुये पार्थिव कणों को एकत्रित करना) एवं स्वच्छता का हेतु होता है।
- 21) **संस्कार** - यह तीन प्रकार का होता है - (क) वेग (ख) भावना (ग) स्थितिस्थापक।
- 22) **धर्म**- यह आत्मा का गुण होता है। यह दो प्रकार का होता है। (क) सामान्य धर्म (ख) विशेष धर्म। अहिंसा आदि सामान्य धर्म कहे जाते हैं तथा प्रत्येक वर्णाश्रमियों के लिए विहित अलग-अलग धर्म विशेष कहे जाते हैं। अहिंसा आदि भेद से सामान्य धर्म के दस भेद हो जाते हैं।
- 23) **अधर्म**- यह भी आत्मा का धर्म है। वेद-शास्त्र के निषिद्धाचरण से उत्पन्न होता है। हिंसा, चोरी, अब्रह्मचर्य इत्यादि इसके भी दस भेद हो जाते हैं।
- 24) **शब्द**- यह श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य आकाश का गुण होता है; क्षणिक एवं अनित्य होता है। इसके दो भेद होते हैं- (क) वर्णात्मक शब्द (ख) ध्वन्यात्मक शब्द। इस प्रकार अवान्तर भेद सहित गुणों के चौबीस भेदों का वर्णन महर्षि कणाद ने वैशेषिक दर्शन में किया है।

#### कर्म के भेद-

कर्म का भेद का उल्लेख करते हुये वैशेषिककार लिखते हैं-

**उत्क्षेपणमवक्षेपणमाकुञ्चनं प्रसारणं गमनमिति कर्माणि। (१.१.७)**

उत्क्षेपण, अवक्षेपण (अपक्षेपण), आकुञ्चन, प्रसारण एवं गमन - ये कर्म के पांच भेद होते हैं।

- 1) **उत्क्षेपण**- ऊर्ध्वदेश के साथ वस्तु का संयोग एवं अधःदेश से वस्तु के विभाग रूपी क्रिया को उत्क्षेपण कहते हैं। इसमें वस्तु उपर की ओर गति करती है।
- 2) **अवक्षेपण (अपक्षेपण)**- किसी वस्तु का अधोदेश के साथ संयोग एवं ऊर्ध्वदेश से विभाग की क्रिया को अवक्षेपण कहते हैं। इसमें वस्तु में पतन की क्रिया होती है।
- 3) **आकुञ्चन**- सीधे फैले हुये द्रव्य के अग्रिमभाग के अवयवों का उसके स्थित देशों से विभाग एवं मूलप्रदेशों के साथ

संयोग रूपी क्रिया को 'आकुञ्चन कहते हैं। इससे सीधा फैला हुआ द्रव्य सिकुड़ जाता है।

**4 ) प्रसारण-** आकुञ्चन के विपरीत मूल प्रदेशों से अवयवों का विभाग तथा उत्तरदेशों के साथ संयोग की क्रिया को प्रसारण कहते हैं। इसमें सिकुड़ी हुई वस्तु पुनः फैल (सीधी हो) जाती है।

**5 ) गमन-** किसी वस्तु में अनियतदिग्देश में संयोग एवं विभागपूर्वक होने वाली क्रिया को गमन कहते हैं। निष्क्रमण, प्रवेशन, स्थानान्तरण, घूर्णन, परिभ्रमण इत्यादि अनेक भेद होते हैं।

### द्रव्य, गुण एवं कर्म के लक्षण

द्रव्य, गुण एवं कर्म के उद्देश (नामोल्लेख/कथनमात्र) के पश्चात् उनके लक्षण बताने के क्रम में सर्वप्रथम सूत्रकार द्रव्य का लक्षण बताते हैं।-

### क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्। ( १.१.१५ )

क्रिया एवं गुण तथा समवायिकारण वाला होना यह द्रव्य का लक्षण है। अर्थात् जो क्रियावान्, गुणवान् एवं समवायिकारण वाला हो वह द्रव्य कहलाता है।

प्रस्तुत सूत्रवचन में तीनों पदों के समायोजन में विशेष प्रयोजन है। यदि सूत्रकार 'क्रियावदिति द्रव्यलक्षणम्' इतना ही कहते तो अव्याप्तिदोष हो जाता, क्योंकि नौ द्रव्यों में पृथिवी, जल, तेज, वायु, एवं मन केवल इन पांच द्रव्यों में यह लक्षण घटित होता है। शेष चार द्रव्यों आकाश, काल, दिशा एवं आत्मा निष्क्रिय होने से उनमें लक्षण की अव्याप्ति है। इस कारण से सूत्रकार ने लक्षणसूत्र में अग्रिम पद 'गुणवत्' भी पढ़ा है। शेष चार निष्क्रिय द्रव्य भी गुणवान् होने से द्रव्य की श्रेणी में आ जाते हैं। इसलिए अव्याप्ति दोष का वारण हो जाता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि 'क्रियागुणवदिति द्रव्यलक्षणम्' इतना कह देने से ही नौ द्रव्यों में लक्षण व्याप्त हो जाता है, तब 'समवायिकारणम्' इस अतिरिक्त पद की क्या आवश्यकता?

इसके समाधान में आचार्यों का कहना है कि अभी भी अव्याप्तिदोष का पूर्ण वारण नहीं हो पा रहा है। कारण यह है कि उत्पद्यमान आद्यक्षण में स्थित कार्यद्रव्य में अभी भी लक्षण व्याप्त नहीं हो पा रहा है। इस कारण से अव्याप्तिदोष अभी भी है। वैशेषिक के मत में उत्पत्ति के आद्यक्षण में कार्य निर्गुण एवं निष्क्रिय होता है। क्योंकि गुणों एवं कर्मों का आश्रय द्रव्य ही होता है। पहले आश्रय की सत्ता सिद्ध होने के बाद ही आश्रित की सत्ता सिद्ध होनी चाहिए। अतएव जिसक्षण में आश्रयद्रव्य की उत्पत्ति होती है, उस क्षण में आश्रित गुण एवं कर्म की उत्पत्ति को स्वीकार करना न्यायसंगत नहीं है। एतदर्थ गुण एवं कर्म की उत्पत्ति एक क्षण बाद की मानी जाती है। फलतः उत्पत्ति के आद्यक्षण में कार्यद्रव्य निर्गुण एवं निष्क्रिय होने से 'क्रियागुणवत् इति द्रव्यलक्षणम्' यह लक्षण घटित नहीं हो रहा है। जबकि उत्पत्ति के आद्यक्षण में भी वह द्रव्य ही कहलाता है, ऐसे में उपरोक्त लक्षण अव्याप्त होने से अग्रिम 'समवायिकारणम्' पद को लक्षणसूत्र में सूत्रकार ने पढ़ा।

उत्पत्ति के शुरुआती क्षण में कार्यद्रव्य भले ही गुण एवं कर्म से रहित रहता हो परन्तु समवायिकारण अथ. ति अपने उपादानकारण से युक्त रहता ही है इस 'समवायिकारण' के आधार पर आद्यक्षण में उत्पद्यमान कार्यद्रव्यों में द्रव्यत्व का कथन सार्थक हो जाता है। परिणामतः कारणद्रव्य, कार्यद्रव्य एवं कारण-कार्यरहित आत्मा सदृश नित्य द्रव्यों सहित सभी नौ द्रव्यों में लक्षण की व्याप्ति घटित हो जाने से "क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणम्" यह द्रव्य का लक्षण अतिव्याप्ति, अव्याप्ति एवं असम्भव इन त्रिविधदोषों से रहित सिद्ध होता है। जिसके कारण जगत् के सम्पूर्ण द्रव्यों का समावेश इसी लक्षण से हो जाता है।

### गुण का लक्षण

द्रव्य के लक्षण के अव्यवहितपश्चात् गुण का लक्षण करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

### द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम्। ( १.१.१६ )

द्रव्य का आश्रय रहने वाला, गुणरहित, तथा संयोग-विभाग में अनपेक्ष अकारण होना यह गुण का लक्षण है। तात्पर्य यह है कि जो द्रव्य के आश्रय रहते हुये गुणरहित हो तथा संयोग-विभाग में अनपेक्ष (निरपेक्ष) अकारण अर्थात् सापेक्ष कारण हो उसे गुण कहते हैं।

रूपादि चौबीसों गुण द्रव्याश्रित होते हैं, इसलिए सूत्रकार ने सूत्र में 'द्रव्याश्रयी' पद पढ़ा है। केवल इतना कहने पर भी गुण का लक्षण पूर्ण नहीं होता, कारण यह है कि द्रव्याश्रयी तो स्वयं कार्यद्रव्य भी होता है। कार्य घटद्रव्य अपने कारण परमाणु रूपी द्रव्यों पर आश्रित रहता है। अतएव 'द्रव्याश्रयीति गुणलक्षणम्' इतना ही लक्षण कर देने पर गुणों के अतिरिक्त कार्यद्रव्यों तथा साथ ही कर्मों में भी लक्षण अतिव्याप्ति होने लगता। इसलिए कार्यद्रव्यों से अतिव्याप्तिदोष को हटाने के लिए सूत्रकार ने सूत्र में अग्रिम पद 'अगुणवान्' पढ़ा है। ऐसा कहने से कार्यद्रव्य से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। कारण यह है कि कार्यद्रव्य कारणद्रव्य के आश्रित तो रहता है परन्तु वह गुणवान् होता है अगुणवान् नहीं। इसलिए कार्यद्रव्य से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो



जाता है। इतना कहने पर भी कर्मों में लक्षण अतिव्याप्त हो रहा है। कर्म भी द्रव्याश्रित होते हुये अगुणवान् होते हैं, अर्थात् कर्म में गुण नहीं होते हैं। अतएव 'द्रव्याश्रयगुणवान्' यह लक्षण अभी भी कर्म में अतिव्याप्त हो रहा है। कर्म से अतिव्याप्ति हटाने के लिए सूत्रकार ने अग्रिम पद 'संयोगविभागेष्वकारणम्' पढ़ा है। उत्क्षेपणादि कर्म संयोग-विभाग में कारण होते हैं न कि अकारण। 'अकारणम्' कह देने से कर्मों से अतिव्याप्तिदोष का वारण हो जाता है। परन्तु इतना करने के पश्चात् भी दोषों का पूर्णतः निवारण न हो सका। अतिव्याप्ति तो हट गयी परन्तु एक नया दोष अव्याप्तिदोष हो गया।

उपरोक्त लक्षण के अनुसार जो द्रव्य का आश्रय होता हुआ गुणरहित हो तथा संयोग-विभाग में अकारण हो उसे गुण कहते हैं। ऐसा लक्षण करने से स्वयं संयोग एवं विभाग नामक गुण ही गुण की सीमा से बाहर हो गए। कारण यह है कि संयोग एवं विभाग किसी दूसरे संयोग-विभाग में कारण होते हैं न कि अकारण। उपरोक्त लक्षण में गुण को अकारण कहा गया है जिससे संयोग-विभाग में लक्षण व्याप्त न होने से अव्याप्तिदोष का प्रसंग उपस्थित हो जाता है। संयोग एवं विभाग को भी महर्षि ने गुण के अन्तर्गत रखा है। इसलिए सम्पूर्ण गुणसमुदाय में लक्षण घटित होना चाहिए। एक संयोग-विभाग का दूसरे संयोग-विभाग में कारण होने का दृष्टान्त इस प्रकार है- हस्त-पुस्तक संयोग से जन्य शरीर-पुस्तक संयोग है। यहां पर एक संयोग (हस्त-पुस्तक संयोग) दूसरे संयोग (शरीर-पुस्तक संयोग) में कारण सिद्ध होता है। इसी प्रकार हस्त-पुस्तक विभाग से शरीर-पुस्तक विभाग हो जाता है। यहां भी एक विभाग (हस्त-पुस्तक विभाग) दूसरे विभाग (शरीर-पुस्तक विभाग) में कारण सिद्ध होता है। अतएव संयोग-विभाग स्वयं संयोग-विभाग में कारण होता है। इसलिए 'संयोगविभागेषु अकारणम्' यह लक्षण संयोग विभाग में घटित नहीं हो रहा है। उनमें भी लक्षण को घटाने के निमित्त से सूत्रकार ने सूत्र में 'अनपेक्ष' पद को पढ़ा है। "संयोगविभागेषु अकारणम् अनपेक्ष" का अर्थ होता है- संयोग-विभाग में सापेक्षकारण। क्योंकि 'अकारण' एवं 'अनपेक्ष' वे दोनों में 'नञ्' समास है। दोहरा नकारात्मक पद का प्रयोग अर्थ को सकारात्मक बना देता है। इसलिए 'अकारणम् अनपेक्ष' का तात्पर्य 'सापेक्षकारण' होता है। फलतः एक संयोग-विभाग दूसरे संयोग-विभाग में सापेक्षकारण होता ही है। इसलिए संयोग-विभाग में जो अव्यप्ति दोष हो रहा या उसका वारण हो जाने से गुण का त्रिविधदोषरहित परिपूर्ण लक्षण- द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणम् सिद्ध होता है।

## कर्म का लक्षण

द्रव्य एवं गुण के लक्षण के अनन्तर सूत्रकार कर्म का लक्षण बताते हुये कहते हैं-

**एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणमिति कर्मलक्षणम्। (१.१.१७)**

एक द्रव्य में आश्रित रहना, गुणरहित अथवा गुण का अनाश्रय, संयोग और विभागों की उत्पत्ति में अन्य की अपेक्षा न रखते हुये कारण होना, यह कर्म का लक्षण है।

जब कोई कर्म होता है, तो उसका आश्रय द्रव्य केवल एक रहता है। एक कर्म उसी काल में अनेक द्रव्यों में नहीं हो सकता। जिस प्रकार संयोग-विभाग, द्वित्वादि संख्या, द्विपृथक्त्व आदि गुण अनेक द्रव्याश्रित रहते हैं, वैसे कर्म नहीं होता है। इसीलिए सूत्रकार ने सूत्र में 'एकद्रव्य' पढ़ा है। कर्म कभी भी गुण का आश्रय नहीं होता है। यहां आश्रयता समवायसम्बन्ध के आधार पर कही गयी है, इसी को सूत्रकार ने 'अगुणं' पद से कहा है। आगे कर्म का लक्षण बताते हुए सूत्रकार 'संयोगविभागेषु अनपेक्षकारणम्' कहा है। जिसका तात्पर्य है कि कर्म संयोग एवं विभाग की उत्पत्ति में निरपेक्ष कारण होता है। कर्म संयोग-विभाग को उत्पन्न करके निवृत्त हो जाता है। संयोग-विभाग कर्म से जन्य होते हैं परन्तु संयोग-विभाग के उत्पन्न होते ही कर्म नष्ट हो जाता है। अतएव कर्म संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कारण तो होता है परन्तु संयोग-विभाग को उत्पन्न करके नष्ट हो जाने से अनपेक्षकारण (निरपेक्ष) कारण सिद्ध होता है। उदाहरण के लिए किसी पत्थर के टुकड़े को लेते हैं। आकाश में फेंका हुआ पत्थर जब नीचे की ओर पतित होकर भूमि के साथ संयोग करता तब कर्म का नाश हो जाता है। यहां भूमि एवं पत्थर के संयोग में पतन क्रिया ही कारण है परन्तु संयोग को उत्पन्न करके क्रिया निवृत्त हो जाती है। इसी को 'वृश्चिकप्रसूतान्याय' कहा जाता है। जिस प्रकार बिच्छु अपने बच्चे को जन्म देकर स्वयं मर जाती है, इसी प्रकार कर्म भी होता है। इसी कारण सूत्रकार ने 'कार्यविरोधिकर्म' (१.१.१४) ऐसा कहा है। तात्पर्य यह है कि कर्म अपने कार्य (संयोग-विभाग) के द्वारा ही नष्ट कर दिया जाता है। क्योंकि दोनों में परस्पर विरोध है। फलतः संयोग-विभाग की उत्पत्ति में कर्म निरपेक्षकारण सिद्ध होता है। यही गुणों के लक्षण से कर्म के लक्षण में विशेषता है। गुण संयोग विभाग की उत्पत्ति में सापेक्ष कारण होते हैं, जबकि कर्म निरपेक्ष कारण।

जो पदार्थ एक समय में एक ही द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहे, तथा जो स्वयं गुणों का आश्रय न हो एवं संयोग विभाग की उत्पत्ति में जो निरपेक्षकारण हो उसे कर्म कहते हैं। अन्ततः कर्म का यह लक्षण सिद्ध होता है। द्रव्य एवं गुण नित्य व अनित्य उभय प्रकार के होते हैं, जबकि कर्म सदैव अनित्य ही होता है, यह भी कर्म की विशेषता है।

**द्रव्य-गुण-कर्म का परस्पर साधर्म्य**



महर्षि कणाद ने तत्त्वज्ञान से मोक्ष की प्राप्ति में षड्पदार्थों के साधर्म्य एवं वैधर्म्यपूर्वक चिन्तन-मनन को भी कारण स्वीकार किया है। द्रव्यादि के लक्षणों से वैधर्म्य का कथन हो जाता है। प्रस्तुत प्रसंग में साधर्म्य का वर्णन किया जा रहा है। द्रव्य-गुण एवं कर्म के परस्पर साधर्म्य का कथन करते हुये वैशेषिककार स्वयं अपने मुख से कहते हैं-

**सदनित्यं द्रव्यवत्कार्यं कारणं सामान्यविशेषवदिति द्रव्यगुणकर्मणामविशेषः । ( १.१.८ )**

सत्ता वाला होना, अनित्य होना, द्रव्यसमवायिकारण वाला होना, उत्पन्न होना, कारण होना सामान्य-विशेष धर्म वाला होना- ये छः साधर्म्य हैं। क्रमशः एक-एक का उल्लेख निम्न प्रकार है-

- 1) **सत्तात्व-** द्रव्य, गुण, कर्म इन तीनों का साधर्म्य है 'सत्तात्व' अर्थात् सत्ता वाला होना। सत्ता सामान्य अर्थात् सत्ता जाति इन तीनों पदार्थों में सामान्य रूप से रहती है। सूत्र में 'सत्' पद का साधारण अर्थ 'होना' अथवा 'विद्यमान रहना' मात्र नहीं है। ऐसा अस्तित्व तो सामान्य, विशेष, समवाय नामक पदार्थों का भी है। इसी कारण छः भाव पदार्थों में इनकी गणना की गई है। उनका अस्तित्व होने पर भी 'सत्ता' जाति उनमें नहीं रहती। द्रव्य, गुण, कर्म तीन ही पदार्थ हैं जिनमें 'सत्ता' जाति रहती है। अतएव 'सत्तावत्' तीनों पदार्थों का साधर्म्य है।
- 2) **अनित्यत्व-** द्रव्य, गुण एवं कर्म का दूसरा साधर्म्य है- 'अनित्यत्व'। अर्थात् द्रव्य-गुण-कर्म तीनों अनित्य भी होते हैं। सदा न रहने वाला विनाशी धर्म को अनित्य कहते हैं। कार्यद्रव्य, कार्यगुण एवं कर्म तीनों अनित्य होते हैं। अतः 'अनित्यत्व' तीनों पदार्थों का साधर्म्य है।
- 3) **द्रव्यवत्/द्रव्याश्रितत्व-** द्रव्य-गुण-कर्म का तीसरा साधर्म्य है- 'द्रव्याश्रितत्व'। द्रव्य, गुण, कर्म ये तीनों द्रव्य के आश्रय वाले भी होते हैं। 'द्रव्यवत्' पद में 'मत्तुप्' प्रत्यय 'नित्ययोग' अर्थ में है। नित्ययोग अर्थात् नित्य सम्बन्ध को वैशेषिक दर्शन में समवाय सम्बन्ध माना जाता है। इसके अनुसार अर्थ होता है- द्रव्य में समवाय सम्बन्ध से रहना अथवा द्रव्य जिनका समवायिकारण हो। द्रव्य भी द्रव्य में समवायसम्बन्ध से आश्रित रहता है, यथा-कार्य घट-पटादि अपने कारणद्रव्य मिट्टी-तन्तु आदि में समवाय सम्बन्ध से आश्रित रहते हैं। रूपादि गुणों का आश्रय घट-पटादि द्रव्य होता ही है, तथा उत्क्षेपणादि कर्मों का आश्रय भी कन्दुकादि द्रव्य ही देखे जाते हैं। इसप्रकार 'द्रव्यवत्' तीनों पदार्थों का साधर्म्य सिद्ध होता है।
- 4) **कार्यत्व-** द्रव्य, गुण एवं कर्म का चौथा साधर्म्य है- 'कार्यत्व'। जो उत्पन्न होता है, उसे कार्य कहते हैं। द्रव्य, गुण और कर्म ये तीनों उत्पन्न भी होते हैं। यथा-घट-पटादि कार्यद्रव्य उत्पन्न होते देखे जाते हैं। कार्य-द्रव्य के उत्पत्ति के साथ-साथ उनमें रूपादि गुणों की भी उत्पत्ति देखी जाती है तथा उत्क्षेपणादिकर्म हस्तादि में उत्पन्न होते हुये देखे ही जाते हैं। अतएव 'कार्यत्व' यह साधर्म्य तीनों पदार्थों (द्रव्य, गुण, कर्म) में सिद्ध होता है।
- 5) **कारणत्व-** द्रव्य, गुण, कर्म का पांचवाँ साधर्म्य है- 'कारणत्व'। जिससे कोई कार्य उत्पन्न होता है, उसे 'कारण' कहते हैं। द्रव्य, गुण एवं कर्म से भी किसी न किसी कार्य की उत्पत्ति होती है। यथा-परमाणुरूपी द्रव्य से घटादि कार्यद्रव्य की उत्पत्ति, कारणगत रूपादि गुणों से कार्यद्रव्यों में रूपादि गुणों की उत्पत्ति तथा कर्म से संयोग, विभाग एवं वेग की उत्पत्ति। अतएव 'कारणत्व' यह साधर्म्य तीनों पदार्थों में सिद्ध होता है।
- 6) **सामान्य-विशेषवत्-** द्रव्य, गुण, कर्म का अन्तिम साधर्म्य सूत्रकार ने 'सामान्य-विशेषवत्' बताया है। सूत्र के प्रथम 'सत्' पद की व्याख्या में 'सत्ता सामान्य का उल्लेख किया गया, प्रस्तुत पद से सामान्य-विशेष उभयरूप 'अपर' सामान्य का उल्लेख किया गया है। वैशेषिककार के मत में परसामान्य होते हैं। सामान्य का 'जाति' भी कहा जाता है। अनेक पदार्थों में समानबुद्धि को उत्पन्न करने का जो हेतु होता है उसे सामान्य अर्थात् जाति कहते हैं। केवल समान बुद्धि को पैदा करे वह परसामान्य कहलाता है, जिसे हम 'सत्ता' सामान्य के नाम से जानते हैं। जो समानबुद्धि अर्थात् अभेदबुद्धि के साथ-साथ आंशिक रूप से भेदबुद्धि को भी उत्पन्न करे उसे अपरसामान्य कहते हैं। इसे परापरसामान्य भी कहा जाता है। अभेदबुद्धि (अनुवृत्तिबुद्धि) एवं भेदबुद्धि (व्यावृत्तिबुद्धि) दोनों को उत्पन्न करने के कारण इसे सामान्य-विशेष उभय रूप कहा जाता है। अपरसामान्य के अन्तर्गत द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व आते हैं। जैसा कि सूत्रवचन प्राप्त होता है-

**द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च । ( १.२.५ )**

नौ द्रव्यों में 'यह द्रव्य है, यह द्रव्य है'- इस प्रकार की अभेदबुद्धि 'द्रव्यत्व' नामक सामान्य से ही उत्पन्न होती है। साथ ही यह गुण एवं कर्म नहीं है- इस प्रकार की भेदबुद्धि भी पैदा होती है। इसलिए 'द्रव्यत्व' सामान्य-विशेष सिद्ध होता है। चौबीस गुणों में 'यह गुण है' 'यह गुण है'- इस प्रकार का ज्ञान 'गुणत्व' नामक अपरसामान्य से ही उत्पन्न होता है, तथा साथ ही यह 'द्रव्य एवं कर्म नहीं है', इस प्रकार की भेदबुद्धि भी आंशिक रूप से उत्पन्न होती है। इसलिए 'गुणत्व' सामान्य-विशेष उभयरूप सिद्ध होता है। ठीक इसी प्रकार पांचो कर्मों में 'यह कर्म है' 'यह कर्म है',- इस प्रकार की अभेदबुद्धि 'कर्मत्व' नामक अपर सामान्य से उत्पन्न होती है तथा साथ ही 'यह द्रव्य एवं गुण नहीं है'- इस प्रकार की भेदबुद्धि भी उत्पन्न होती है। अतएव 'कर्मत्व'

सामान्य-विशेष उभय रूप सिद्ध होता है।

परिणामतः द्रव्य-गुण एवं कर्म इन तीनों द्रव्यों में द्रव्यत्व, गुणत्व व कर्मत्व रूपी 'सामान्य-विशेषवत्त्व' साधर्म्य सिद्ध होता है।

**द्रव्य एवं गुण का परस्पर साधर्म्य-** अब द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों के साधर्म्य बताया जा रहा है। इस विषय में सूत्रकार कहते हैं-  
**द्रव्यगुणयोः सजातीयारम्भकत्वं साधर्म्यम्। (१.१.९)**

द्रव्य एवं गुण का अपने समान जातीय पदार्थ को उत्पन्न करना साधर्म्य है। कहने का तात्पर्य है कि द्रव्य अपने समान जातीय द्रव्य को उत्पन्न करता है तथा गुण अपने समान जातीय गुण को उत्पन्न करता है। जैसे पृथिवी के परमाणु पृथिवीत्वजातीय द्रव्य को उत्पन्न करेंगे अन्य जलत्वजातीय द्रव्य को नहीं। इसी प्रकार जल के परमाणु जलत्वजातीय कार्यद्रव्य को उत्पन्न करेंगे पृथिवीत्वजातीय कार्यद्रव्य को नहीं। ऐसी ही व्यवस्था गुणों में भी देखी जाती है। जब कोई कारणगत गुण कार्यद्रव्य में किसी गुण को उत्पन्न करता है, तो वह सजातीय गुण को उत्पन्न करता है। तन्तुओं का नील या श्वेतरूप पट में नील अथवा श्वेतरूप को ही उत्पन्न करता है। सजातीय आरम्भकत्व को स्पष्ट करते हुये वैशेषिककार ने कहा है-

**द्रव्याणि द्रव्यान्तरमारभन्ते गुणाश्च गुणान्तरम्। (१.१.१०)**

बहुत सारे द्रव्य मिलकर अन्य एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं तथा इसी प्रकार बहुत सारे कारणगुण मिलकर एक कार्यगुण को उत्पन्न करते हैं, यही सजातीयारम्भकत्व का तात्पर्य है। जैसे बहुत सारे तन्तु मिलकर एक पट को उत्पन्न करते हैं, तथा तन्तुगत बहुत सारे श्वेतगुण मिलकर कार्यपट में एक श्वेतगुण को उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार द्रव्य एवं गुण में परस्पर 'सजातीयारम्भकत्व' रूप साधर्म्य है। कर्म को इसमें न कहे जाने से वह अपने समान जातीय पदार्थ को उत्पन्न नहीं करता है यह समझना चाहिए। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार बहुत सारे द्रव्य मिलकर एक द्रव्य को, बहुत सारे गुण मिलकर एक गुण को उत्पन्न करते हैं वैसे बहुत सारे कर्म मिलकर एक कर्म को उत्पन्न नहीं करते हैं। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है- **कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते (१.१.११)** अर्थात् कर्म, कर्म से जन्य नहीं होता है। अतएव द्रव्य एवं गुण से कर्म का यह वैधर्म्य हुआ।

**द्रव्य-द्रव्य का परस्पर साधर्म्य**

द्रव्य एवं द्रव्य का परस्पर साधर्म्य बताते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**न द्रव्यं कार्यं कारणं च वधति। (१.१.१२)**

कोई भी द्रव्य अपने कार्य और कारण को नष्ट नहीं करता है।

किसी कार्यद्रव्य के समवायिकारण उसके अवयव और असमवायिकारण उन अवयवों का संयोग होता है। मुख्य रूप से अवयवी द्रव्य का नाश उस द्रव्य के असमवायिकारण के नाश से होता है। यदि अवयवों का संयोग परस्पर न रहे तो उन अवयवों से बना अवयवी भी नहीं रहेगा। द्रव्य कभी किसी का असमवायिकारण नहीं होता, इसलिए वह अपने कार्यद्रव्य का नाश नहीं कर सकता। कार्यद्रव्य सदा अपने कारणद्रव्यों में समवेत रहता है, इसलिए यदि वह कारणद्रव्य का नाशक होता, तो अपना ही नाश करेगा; अपने आश्रय को नष्ट कर वह स्वयं कैसे रहेगा? फलतः द्रव्य न अपने कार्य का नाश करता है न ही कारण का। यही द्रव्य-द्रव्य का परस्पर साधर्म्य है।

**गुण-गुण का साधर्म्य**

गुण एवं गुण के संदर्भ में आचार्य लिखते हैं- **उभयथा गुणाः। (१.१.१३)**

अर्थात् गुण दोनों प्रकार के होते हैं। जिस प्रकार से द्रव्य एवं द्रव्य के बीच साधर्म्य बताते हुये कहा गया कि 'वे अपने कार्य एवं कारण का नाश नहीं करते हैं' वैसे गुण एवं गुण के बीच अनिवार्य रूप से ऐसा नहीं होता है। कभी गुण अपने कारण का नाश कर देता है, तो कभी अपने कारण-गुणों का नाश नहीं भी करता है। यथा- संयोग आदि निमित्त से उत्पन्न होकर शब्द अपने से पूर्व वाले कारणशब्द का नाशक होता है। यह गुणों का परस्पर नाश्य-नाशक का उदाहरण है। कही-कही गुण अपने कारणगुण का नाश नहीं करते हैं। जैसे तन्तुओं के श्वेतरूप से उत्पन्न पट में जो कार्यश्वेत रूप है, वह अपने कारण तन्तुओं के श्वेतरूप को नष्ट नहीं करता। इस प्रकार गुण दोनों प्रकार से व्यवहार करते हैं। इनमें अनिवार्य रूप से नाश्य-नाशक का सम्बन्ध नहीं होता है।

**कर्म-कर्म का परस्पर साधर्म्य**

कर्मों में परस्पर अनिवार्य रूप से यह साधर्म्य होता है कि वे अपने कार्य से ही नाश्य होता है। जैसा कि सूत्रकार स्वयं कहते हैं- **कार्यविरोधि कर्म। (१.१.१४)**

इस सूत्र में 'कार्यविरोधि' पद में बहुव्रीहि समास है। अर्थ यह है कि 'कार्य है विरोधि जिसका ऐसा यह कर्म होता है'। कर्म से वस्तु का अपने उत्तरदेश के साथ संयोग एवं पूर्वदेश से विभाग होता है। जब उत्तरदेश के साथ संयोग होता है तब कर्म का

नाश माना जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर देशों के साथ वस्तु का संयोग होने से नाना कर्मों की सिद्धि होती है। किसी वस्तु में कोई कर्म होता है तो वह स्थिर नहीं होता है अपितु क्षणिक होता है। पूर्वदेश से वस्तु का विभाग एवं अव्यवहित उत्तरदेश के साथ संयोग तक एक कर्म माना जाता है, उसके पश्चात् पहले कर्म का नाश हो जाता है। इसके बाद दूसरा कर्म होता है। इस प्रकार कर्म का सातत्य होने से वस्तु में एक ही कर्म हो रहा है- ऐसा आभास होता है। इस प्रकार कर्म अपने कार्य के द्वारा नाश होता है- यह कर्म-कर्म का परस्पर साधर्म्य है। गुणों में भी नाश-नाशक सम्बन्ध होता है परन्तु वहाँ अनिवार्यता नहीं है। कर्मों में अनिवार्य होता है कि कर्म अपने कार्य से नाश होता ही है। यह कर्मों का अन्य से वैधर्म्य भी सिद्ध होता है।

उपरोक्त द्रव्य-गुण एवं कर्म के परस्पर साधर्म्य से उनके बीच समानता का बोध होता है इससे उनके स्वरूप का विशेष बोध नहीं होता है। उनके स्वरूप का विशेष परिचायक तो उनके अपने-अपने लक्षण ही है। जो अन्यो से उन्हें पृथक् कराते है।

### स्मरणीय बिंदु (Key Points)

- द्रव्य 9 द्रव्य वह है जिसमें गुण और क्रिया रहती है। पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल, दिशा, आत्मा और मन।
- महत्वपूर्ण तम स्वतंत्र द्रव्य नहीं है, यह केवल प्रकाश का अभाव है।
- उत्पत्ति क्षण नया द्रव्य अपनी उत्पत्ति के पहले क्षण में निर्गुण बिना गुण के और निष्क्रिय बिना क्रिया के होता है।
- गुण 24 गुण हमेशा द्रव्य के आश्रित रहते हैं। ये खुद अगुणवान गुण रहित होते हैं। महर्षि कणाद ने सूत्र में 17 गुणों का पाठ किया, लेकिन कुल 24 माने जाते हैं।
- कर्म 5 क्रिया भी द्रव्य के आश्रित है। इसके 5 प्रकार हैं उत्क्षेपण ऊपर, अवक्षेपण नीचे, आकुंचन समेटना, प्रसारण फैलाना और गमन चलना
- विनाश कर्म अपने ही कार्य संयोग और विभाग से नष्ट हो जाता है वृश्चिकप्रसूति न्याय।
- साधर्म्य (समानता) द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों में कुछ समानताएँ हैं, जैसे तीनों में सत्ता होने का भाव है, तीनों अनित्य (विनाशशील) हो सकते हैं, और तीनों ही अर्थ कहे जाते हैं।
- बुद्धि और संस्कार बुद्धि के दो भेद हैं विद्या और अविद्या। संस्कार के तीन भेद हैं वेग, भावना और स्थितिस्थापक।

### सरल शब्दावली (Glossary)

- समवायी कारण वह कारण जिससे कार्य कभी अलग नहीं हो सकता जैसे मिट्टी घड़े का समवायी कारण है।
- अगुणवान जिसमें कोई दूसरा गुण न हो जैसे गुण खुद में कोई गुण नहीं रखता।
- अनपेक्ष कारण वह कारण जो किसी और की सहायता के बिना सीधा कार्य संयोग-विभाग पैदा करे यह कर्म का लक्षण है।
- वृश्चिकप्रसूति न्याय जैसे बिच्छू के बच्चे पैदा होते ही अपनी माँ को नष्ट कर देते हैं, वैसे ही कर्म अपने कार्य को पैदा करते ही खुद नष्ट हो जाता है।
- विद्या-अविद्या सही और निश्चित ज्ञान विद्या है भ्रम, संशय या गलत ज्ञान अविद्या है।
- वेग किसी वस्तु की गति या रफ्तार का संस्कार।
- भावना वह संस्कार जो अनुभव की गई चीज को याद रखने में मदद करता है स्मृति का कारण।
- स्थितिस्थापक वह शक्ति जिससे मुड़ी हुई चीज वापस अपनी पुरानी स्थिति में आ जाती है जैसे धानुष या स्प्रिंग।
- सत्तावत्त्व होने का गुण, यानी अस्तित्व का होना।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

प्रश्न 1: वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य को परिभाषित करते हुए इसके भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए। महर्षि कणाद ने तम को स्वतंत्र द्रव्य क्यों नहीं माना?

प्रश्न 2: द्रव्याश्रयगुणवान् संयोगविभागेष्वकारणमनपेक्ष इति गुणलक्षणं - इस सूत्र की व्याख्या कीजिए और वैशेषिक सम्मत 24 गुणों का वर्गीकरण प्रस्तुत कीजिए।

प्रश्न 3: कर्म किसे कहते हैं? कर्म के पाँच भेदों को सोदाहरण समझाते हुए स्पष्ट कीजिए कि कर्म किस प्रकार अपने ही कार्य से नष्ट हो जाता है?

प्रश्न 4: द्रव्य, गुण और कर्म के परस्पर साधर्म्य समानताओं की सविस्तार विवेचना कीजिए। वे कौन से छह धर्म हैं जो इन तीनों में समान रूप से पाए जाते हैं?

प्रश्न 5: द्रव्य के लक्षण क्रियागुणवत् समवायिकारणमिति द्रव्यलक्षणं में समवायिकारणं पद का क्या महत्व है? क्या द्रव्य अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में निर्गुण और निष्क्रिय होता है? तर्क सहित उत्तर दें।

प्रश्न 6: गुण और कर्म के लक्षणों में मुख्य अंतर क्या है? संयोगविभागेष्वकारणं गुण और संयोगविभागेष्वनपेक्षकारणं कर्म पदों के माध्यम से दोनों के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न:-

1. वैशेषिक मत में द्रव्यों की कुल संख्या कितनी है? उनके नाम लिखिए।
2. तम अंधकार को स्वतंत्र द्रव्य क्यों नहीं माना गया है?
3. द्रव्य का लक्षण सूत्र सहित लिखिए।
4. गुण के लक्षण में अगुणवान पद का क्या अर्थ है?
5. वैशेषिक सूत्रकार कणाद ने साक्षात् कितने गुणों का पाठ किया है और कुल कितने माने जाते हैं?
6. कर्म के पाँच भेद कौन-कौन से हैं?
7. गमन कर्म के अंतर्गत किन क्रियाओं का समावेश होता है?
8. द्रव्य अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में कैसा होता है?
9. बुद्धि के मुख्य भेद क्या हैं?
10. संस्कार कितने प्रकार के होते हैं?
11. साधर्म्य का क्या अर्थ है? द्रव्य, गुण और कर्म का एक प्रमुख साधर्म्य बताइए।
12. कर्म और गुण में मुख्य अंतर क्या है?

### बहुविकल्पीय प्रश्न:-

2. तम (अंधकार) को वैशेषिक दर्शन में क्या माना गया है?  
(A) स्वतंत्र द्रव्य  
(B) गुण  
(C) तेजोभाव ( प्रकाश का अभाव )  
(D) कर्म
3. क्रियागुणवत् समवायिकारण किसका लक्षण है?  
(A) द्रव्य  
(B) गुण  
(C) कर्म  
(D) सामान्य
4. वैशेषिक सूत्रकार के अनुसार गुणों की मूल संख्या कितनी बताई गई है?  
(A) 24  
(B) 17  
(C) 5  
(D) 9
5. अगुणवान और निष्क्रिय होना किसका लक्षण है?  
(A) द्रव्य  
(B) कर्म  
(C) गुण  
(D) विशेष
6. निम्नलिखित में से कौन सा कर्म का एक प्रकार नहीं है?  
(A) उत्क्षेपण  
(B) आकुंचन  
(C) गमन  
(D) शौच
7. एकद्रव्यमगुणं संयोगविभागेष्वनपेक्षकारण किसका लक्षण है?  
(A) कर्म  
(B) गुण

- (C) द्रव्य  
(D) अभाव
8. वैशेषिक मत के अनुसार, कार्य-द्रव्य अपनी उत्पत्ति के प्रथम क्षण में कैसा होता है?
- (A) सगुण और सक्रिय  
(B) निर्गुण और सक्रिय  
(C) निर्गुण और निष्क्रिय  
(D) सगुण और निष्क्रिय
9. बुद्धि (ज्ञान) के मुख्य दो भेद कौन से हैं?
- (A) सुख और दुःख  
(B) विद्या और अविद्या  
(C) रूप और रस  
(D) धर्म और अधर्म
10. कर्म अपने ही कार्य संयोग-विभाग के द्वारा नष्ट हो जाता है, इसे किस न्याय से जाना जाता है?
- (A) बीजांकुर न्याय  
(B) वृश्चिकप्रसूति न्याय  
(C) काकतालीय न्याय  
(D) स्थाणु-पुरुष न्याय
11. द्रव्य, गुण और कर्म का परस्पर साधर्म्य (समानता) क्या है?
- (A) सत्तावत्त्व सत्ता वाला होना  
(B) निष्क्रियता  
(C) व्यापकता  
(D) निर्गुणता
12. संस्कार के तीन भेद कौन से हैं?
- (A) रूप, रस, गंध  
(B) वेग, भावना, स्थितिस्थापक  
(C) उत्क्षेपण, गमन, आकुंचन  
(D) धर्म, अधर्म, प्रयत्न

## इकाई-3.3 - द्रव्य-गुण एवं कर्म का परस्पर कार्य-कारण भाव, सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थ, द्रव्य-गुण कर्म से सत्ता का भिन्नत्व

उद्देश्य-

- कार्य-कारण संबंध को समझना यह जानना कि द्रव्य, गुण और कर्म आपस में एक-दूसरे को कैसे उत्पन्न करते हैं जैसे धागों के संयोग से कपड़ा बनना।
- स्थायित्व की पहचान सामान्य यह समझना कि अलग-अलग वस्तुओं में भी एक जैसी समानता जैसे सभी मनुष्यों में मनुष्यत्व क्यों दिखती है।
- अस्तित्व का बोध चीजें हैं इस बोध के पीछे छिपे स्वतंत्र तत्व सत्ता को पहचानना और उसे द्रव्य-गुण-कर्म से अलग सिद्ध करना।
- तार्किक सिद्धांतों का विश्लेषण कर्म से कर्म पैदा नहीं होता जैसे गहरे तार्किक सूत्रों के माध्यम से ब्रह्मांड की क्रियाओं को समझना।

### द्रव्य-गुण एवं कर्म का परस्पर कार्य-कारण भाव

द्रव्य-गुण-कर्म के परस्पर कार्य-कारण की व्याख्या करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

**द्रव्यगुणकर्मणां द्रव्यं कारणं सामान्यम्। ( १.१.१८ )**

द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों का द्रव्य समान रूप से कारण है। जैसे जिस प्रकार द्रव्य का कारण है वैसा ही गुण एवं कर्म का भी होता है। यहां कारणता समवायसम्बन्ध से समझनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि द्रव्य, गुण एवं कर्म तीनों का समवायिकारण केवल द्रव्य ही होता है। तात्पर्य यह है कि कार्यद्रव्य जिस प्रकार अपने कारण द्रव्य में समवेत रहता है, उसी प्रकार गुण एवं कर्म भी द्रव्य में समवेत रहते हैं। इसलिए द्रव्य तीनों का समवायिकारण सिद्ध होता है। आगे गुण के कारणत्व के विषयमें सूत्रकार कहते हैं **तथा गुणः। ( १.१.१९ )** गुण भी वैसे ही हैं। अर्थात् जिस प्रकार द्रव्य उपरोक्त तीनों का समान रूप से कारण होता है वैसे कर्म भी समान रूप से तीनों का कारण होता है। विशेषता इतनी है कि द्रव्य तीनों का समवायिकारण होता है जबकि गुण तीनों का असमवायिकारण होता है।

समस्त कार्यद्रव्यों का असमवायिकारण अवयव संयोग होता है इस प्रकार द्रव्य का असमवायिकारण संयोग नामक गुण सिद्ध होता है। कार्यद्रव्यगत रूपादि गुणों के असमवायिकारण समानजातीय कारणगत रूपादि गुण होता है। जैसे पाद-कन्दुक संयोग (अभिधत्ता नामक तीव्र संयोग) से कन्दुक में गमन रूपी कर्म की उत्पत्ति होती है। इस प्रकार द्रव्य की भांति गुण भी तीनों (द्रव्य, गुण, कर्म) का समान रूप से कारण होता है।

आगे कर्म के कारणत्व के संदर्भ में महर्षि कहते हैं-

**संयोगविभागवेगानां कर्म समानम्। ( १.१.२० )**

संयोग, विभाग एवं वेग तीनों का कर्म समान रूप से कारण होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'कारणम्' पद की अनुवृत्ति पूर्वसूत्र से है।

जिस प्रकार द्रव्य तीनों का समवायिकारण तथा गुण असमवायिकारण होता है उसी प्रकार से कर्म नहीं होता है। अर्थात् कर्म केवल तीन गुणों की उत्पत्ति में ही असमवायिकारण होता है। न कि द्रव्यों एवं अन्य गुणों की उत्पत्ति में।

**द्रव्य-द्रव्य का कारण-कार्यभाव सम्बन्ध**

द्रव्य एवं द्रव्य के कारण-कार्य सम्बन्ध को बताते हुये वैशेषिक दर्शन कहता है कि-

**द्रव्याणां द्रव्यं कार्यं सामान्यम्। ( १.१.२३ )**

अनेक द्रव्यों का सामान्य रूप से एक कार्यद्रव्य होता है। अर्थात् बहुत सारे कारणद्रव्य मिलकर एक कार्यद्रव्य की उत्पत्ति करते हैं। यथा बहुत सारे तन्तु मिलकर एक कार्यपट निर्माण करते हैं।

**गुण-गुण का परस्पर कारण-कार्यभाव सम्बन्ध**

जिस प्रकार बहुत सारे कारणद्रव्य मिलकर एक कार्यद्रव्य की उत्पत्ति करते हैं, उसी प्रकार बहुत सारे कारणगुण मिलकर एक कार्यगुण की उत्पत्ति करते हैं। इस संदर्भ वैशेषिककार कहते हैं- **रूपाणां रूपम्। ( १.१.२८ )**

अनेक रूपगुण मिलकर एक कार्यरूप को उत्पन्न करते हैं। तन्तुगत अनेक श्वेतरूप मिलकर पटगत एक कार्य श्वेतगुण को उत्पन्न करते हैं। प्रस्तुत सूत्र में 'रूप' पद अन्य कतिपय गुणों का भी उपलक्षण है। जैसे- अनेक कारणरस मिलकर एक कार्यरस की उत्पत्ति करते हैं। अनेक कारणगन्ध मिलकर एक कार्यगन्ध की उत्पत्ति करते हैं इत्यादि।



## कर्म-कर्म का कारण-कार्यभाव सम्बन्ध

जिस प्रकार द्रव्य-द्रव्य में कारण-कार्य सम्बन्ध होता है, गुण-गुण में कारण कार्य सम्बन्ध होता है उस प्रकार कर्म-कर्म में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं होता है। कर्म-कर्म के बीच कारण-कार्य सम्बन्ध का निषेध करते हुये सूत्रकार कहते हैं- **गुण वैधर्म्यान् कर्मणां कर्म। (१.१.२४)** गुणों से वैधर्म्य (विरीत स्वभाव वाला) होने से कर्मों का कार्य कर्म नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'गुण' पद द्रव्य का भी उपलक्षण है। अर्थात् द्रव्य एवं गुण से विपरीत धर्म वाला होने से कर्म-कर्म में कारण-कार्य सम्बन्ध नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि बहुत सारे कर्म मिलकर एक कर्म को उत्पन्न नहीं कर सकते। कारण यह है कि कर्म अपने कार्य संयोग-विभागादि के द्वारा नाशय होता है। जिस तथ्य को महर्षि ने **कार्यविरोधि कर्म। (१.१.१४)** इस सूत्र में उद्भासित किया है। अतएव सीधा-सीधा कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। बीच में संयोग-विभाग रूपी कर्म के कार्य अनिवार्य रूप से देखे जाते हैं। जैसे एक पंक्ति में क्रम से खड़े ईंटों में से किसी एक ईंट में यदि कर्म होता है तो उससे दूसरे ईंट में भी कर्म होता है पुनः तीसरे, चौथे में भी होने लगता है। यहाँ पर एक बात ध्यान देने योग्य है कि एक ईंट से दूसरे ईंट में कर्म होने से पूर्व ईंट-ईंट में पहले संयोग होता है। संयोग हुये बिना कर्म सम्भव नहीं है। इस प्रकार सीधा-सीधा कर्म से कर्म उत्पन्न नहीं हो सकता। इसी कारण महर्षि ने पूर्व में ही कर्म-कर्म में परस्पर कारण-कार्य का निषेध करते हुये कहा है-

**कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते। (१.१.११)**

अर्थात् कर्म, कर्म से साध्य-जन्य (उत्पन्न) नहीं होता है। इस प्रकार वैशेषिक के अनुसार कर्म एवं कर्म के परस्पर कारण-कार्य का निषेध किया गया है।

## गुण एवं द्रव्य में कारण-कार्य सम्बन्ध

द्रव्य, गुण के परस्पर सजातीय आरम्भकत्व तथा कर्म के सजातीय अनारम्भकत्व के वर्णन के पश्चात् द्रव्य एवं गुण के परस्पर विजातीय आरम्भकत्व का वर्णन किया जा रहा है। महर्षि कणाद का कहना है कि कतिपय गुण ऐसे हैं जो अनेक द्रव्यों द्वारा मिलकर उत्पन्न किये जाते हैं। जैसा कि उन्होंने कहा-

**द्वित्वप्रभृतयः संख्याः पृथक्त्वसंयोगविभागाश्च। (१.१.२५)**

द्वित्वादि से लेकर समस्त संख्याएँ, पृथक्त्व, संयोग और विभाग इनमें से प्रत्येक गुण अपने अस्तित्व के अवसर पर अनेक द्रव्यों में समवेत रहता है। तात्पर्य यह है कि उक्त गुणों का समवायिक-कारण अनेक द्रव्य होते हैं। यहाँ पर द्रव्य अपने विजातीय गुणों को उत्पन्न कर रहे हैं। इसके विपरीत बहुत सारे गुण मिलकर एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं, यथा **संयोगां द्रव्यम्। (१.१.२७)** अर्थात् बहुत सारे संयोग मिलकर एक द्रव्य को उत्पन्न करते हैं। प्रत्येक दो अवयवों के बीच एक संयोग होता है। ऐसे कई अवयवों के संयोग मिलकर एक कार्य घट-पटादि को उत्पन्न करते हैं। यहाँ पर बहुत सारे गुण मिलकर विजातीय द्रव्य को उत्पन्न करते हैं।

## गुण एवं कर्म में परस्पर कारण-कार्य सम्बन्ध

जिस प्रकार दो यो दो से अधिक द्रव्य मिलकर पूर्वोक्त द्वित्वादि गुणों को उत्पन्न करने में कारण होते हैं, ठीक उसी प्रकार कतिपय गुण मिलकर एक कर्म को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। सूत्रकार कहते हैं-

**गुरुत्व प्रयत्नसंयोगानामुत्क्षेपणम्। (१.१.२९)**

गुरुत्व, प्रयत्न एवं संयोग से सब गुण मिलकर एक उत्क्षेपण रूपी कर्म को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं। किसी भी वस्तु को उपर फेंकने में सबसे प्रथम उस वस्तु में 'गुरुत्व' का होना आवश्यक है, क्योंकि गुरुत्वहीन वस्तु का फेंका जाना सम्भव नहीं। इसके अतिरिक्त फेंकने वाले देवदत्तादि चेतन का प्रयत्न भी कारण होता है तथा साथ ही साथ प्रयत्नवान देवदत्तादि के हाथों का उस वस्तु के साथ संयोग भी आवश्यक है। बिना हाथ के संयोग के वह कैसे फेंक सकता है? अतएव एक ही उत्क्षेपण कर्म में यहाँ गुरुत्व, प्रयत्न और संयोग तीन गुण कारण हैं।

ठीक इसके विपरीत कर्म, गुण को उत्पन्न करने में कारण बनते हैं, जैसा कि वैशेषिककार कहते हैं-

**संयोग विभागाश्च कर्मणाम्। (१.१.३०)**

प्रस्तुत सूत्र में 'च' पद से वेग का भी संग्रह किया जाता है। अर्थात् संयोग-विभाग एवं वेग ये कर्मों के कार्य होते हैं। तात्पर्य यह है कि इन तीनों की उत्पत्ति में कर्म कारण होते हैं। परन्तु द्रव्य एवं गुणों की भाँति बहुत सारे द्रव्य एवं बहुत सारे गुण जिस प्रकार मिलकर कार्य के प्रति कारण होते हैं। वैसे कर्म नहीं होते हैं। कारण यह है कि कर्म क्षणिक होता है, ऐसे क्षणिक कर्मों का एकत्रित होना सम्भव नहीं है। अतएव क्षणिक कर्मों के सातत्य ही उपरोक्त तीनों गुणों को उत्पन्न करने में कारण होता है। सूत्र में 'कर्मणाम्' बहुवचनान्त पद से कर्मान्तर कर्मों को समझना चाहिए न कि कई कर्मों का साथ समाहार को समझने का भूल करना चाहिए।



## सामान्य एवं विशेष नामक पदार्थ

वैशेषिकोक्त षड्पदार्थों में क्रमप्राप्त चौथा एवं पांचवा पदार्थ का नाम क्रमशः सामान्य एवं विशेष है। इसमें से प्रथम 'सामान्य' नामक पदार्थ का वर्णन किया जा रहा है, जिसे 'जाति' भी कहा जाता है।

'सामान्य' नामक पदार्थ- सामान्य के दो भेद होते हैं- (क) परसामान्य (ख) अपरसामान्य। दोनों प्रकार के सामान्यों का सामान्य लक्षण करते हुए सूत्रकार कहते हैं-

### सामान्यं विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। ( १.१.३ )

सामान्यजातिपदार्थ एवं विशेषजातिपदार्थ दोनों बुद्धि की अपेक्षा से सिद्ध होते हैं। सूत्र में 'सामान्य' पद केवल सामान्य परसामान्य का तथा 'विशेष' पद सामान्य के साथ-साथ विशेष-भेद का बोध कराने वाला 'अप. रसामान्य' का बोधक है। इन दोनों सामान्यों का लक्षण सामान्य रूप से सूत्रकार ने 'बुद्ध्यपेक्षम्' कहा है। तात्पर्य यह है कि बुद्धि अर्थात् ज्ञान की अपेक्षा से दोनों सामान्यों की सत्ता सिद्ध होती है। अनुवृत्तिबुद्धि की अपेक्षा से सामान्य (पर सामान्य) एवं व्यावृत्तिबुद्धि की अपेक्षा से विशेष (अपर सामान्य) सिद्ध होता है।

अनेक अधिकरणों में एक समान बुद्धि का उत्पन्न होना 'अनुवृत्तिबुद्धि' कहलाती है तथा उन अधिकरणों से भिन्न विजातीय पदार्थों में भेदबुद्धि का उत्पन्न होना व्यावृत्तिबुद्धि कहलाती है।

### सत्ता सामान्य ( परसामान्य )

अब प्रथम अनुवृत्तिबुद्धि के द्वारा सामान्य का लक्षण सूत्रकार बता रहे हैं-

### भावोनुवृत्तेरेव हेतुत्वात् सामान्यमेव। ( १.२.४ )

भाव-सत्ता नाम सामान्य केवल अनुवृत्तिबुद्धि का ही हेतु होने से सामान्य ही है।

सामान्य तथा विशेष नामक दो प्रकार की जातियों में सत्ता नामक जाति अनुगत बुद्धि का ही कारण होने से वह केवल सामान्य रूप ही जाति है, न कि विशेषरूप। इसलिए केवल सामान्य रूप जाति को सूत्रकार ने 'भाव' अर्थात् 'सत्ता' कहा जाता है। इसे केवल सामान्य अथवा पर सामान्य के नाम से भी जाना जाता है।

इस 'भाव' अर्थात् 'सत्ता' नामक परसामान्य को लक्षण को और अधिक स्पष्ट करते हुये सूत्रकार लिखते हैं-

### सदिति यतोद्रव्यगुणकर्मसु सा सत्ता। ( १.२.७ )

'सत् है' इस प्रकार का ज्ञान एवं व्यवहार द्रव्य, गुण एवं कर्मों में जिससे होता है, उसे 'सत्ता' कहते हैं।

पृथिव्यादि नौ द्रव्यों, रूपादि चौबीस गुणों में एवं उत्क्षेपणादि पांच कर्मों में 'सत् है सत् है' इस प्रकार का ज्ञान जिससे होता है, उस जाति को 'सत्ता' कहते हैं। इससे द्रव्यादि पदार्थों में केवल मात्र वस्तु के विद्यमान होने की प्रतीति होती है। द्रव्य की 'सत्ता है', गुण की 'सत्ता है', कर्म की 'सत्ता है', इसी प्रकार से पृथिवी की 'सत्ता है', तेज की 'सत्ता है', रूप की 'सत्ता है', रस की 'सत्ता है', उत्क्षेपण रूपी कर्म की 'सत्ता है', अवक्षेपण की 'सत्ता है', इस प्रकार से समस्त पदार्थों में 'सत् है सत् है' की प्रतीति का जो कारण है वह 'सत्ता' नामक सामान्य है। इसे केवल सामान्य इसलिए कहा जाता है कि इससे समस्त द्रव्यादि पदार्थों में समानबुद्धि उत्पन्न होती है। जिस प्रकार पृथिव्यादि द्रव्यों में 'सत् है' की प्रतीति होती है, उसी प्रकार रूपादि गुणों में 'सत् है' की प्रतीति होती है तथा ठीक उसी प्रकार से उत्क्षेपणादि कर्मों में 'सत् है' की प्रतीति होती है। इन सबके होनेपने 'सत् है' में कोई अन्तर नहीं होता है। द्रव्य का 'होना' जिस प्रकार से है, ठीक उसी प्रकार से गुण एवं कर्म का भी 'होना' है। इनके 'होनेपने' में कोई अन्तर नहीं होता है। इसलिए सत्ता तीनों द्रव्यादि पदार्थों में भेदबुद्धि को उत्पन्न न करने से और केवल 'सत् है' 'सत् है' - इस प्रकार के अभेदबुद्धि अनुवृत्तिबुद्धि (अनुगतबुद्धि) को उत्पन्न करने में हेतु होने से सामान्य ही होती है। इसीलिए इसे केवलसामान्य या परसामान्य कहा जाता है।

### अपरसामान्य

पूर्वोक्त तीसरे सूत्र में जिन सामान्यों को 'विशेष' संज्ञा की है, उनको बताते हुये सूत्रकार कहते हैं-

### द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च। ( १.२.५ )

द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व नामक जातियाँ सामान्य हैं और 'विशेष' भी। कहने का तात्पर्य यह है कि 'सत्ता' सामान्य तो केवल सामान्य है। अर्थात् केवल अनुवृत्ति बुद्धि का हेतु है; जबकि द्रव्यत्व, गुणत्व एवं कर्मत्व जातियाँ सामान्य होते हुये विशेष भी होते हैं। कारण यह है कि ये तीनों जातियाँ अनुवृत्तिबुद्धि का हेतु तो होती ही हैं, साथ-साथ व्यावृत्तिबुद्धि (भेदबुद्धि) का भी हेतु होने से इन्हें 'विशेष' भी कहा जाता है। यहाँ पर 'विशेष' पद वैशेषिकोक्त पञ्चम पदार्थ का बोधक नहीं है, अपितु सामान्य नामक पदार्थ के अन्तर्गत ही इनकी गणना की गयी है। अर्थात् सामान्य होते हुये जो विशेष भी हो यानि इसे सामान्य विशेष उभयरूप भी कह सकते हैं।

'द्रव्यत्व' नाम अपरसामान्य पृथिव्यादि समस्त नौ द्रव्यों में 'द्रव्य है' - द्रव्य है - इस प्रकार अनुवृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करता है परन्तु साथ ही साथ 'गुण नहीं है', कर्म नहीं है। इस प्रकार की भेदबुद्धि भी पैदा करता है इसीलिए इसे 'विशेष' भी कहा जाता

है।

‘गुणत्व’ चौबीस गुणों में ‘गुण है-गुण है’- इस प्रकार की अनुवृत्तिबुद्धि को उत्पन्न करता है तथा साथ ही ‘द्रव्य एवं कर्म नहीं हैं’- इस प्रकार की भेदबुद्धि (व्यावृत्तिबुद्धि) भी पैदा करता है।

इसी प्रकार ‘कर्मत्व’ पांचो कर्मों में ‘कर्म है-कर्म है’ - इस प्रकार की अभेदबुद्धि (समानबुद्धि/अनुगतबुद्धि) को उत्पन्न करता है तथा साथ ही ‘द्रव्य एवं गुण नहीं हैं’ इस प्रकार की भेदबुद्धि (व्यावृत्तिबुद्धि) भी उत्पन्न करता है।

ये तीनों सामान्य के अन्तर्गत आने से मुख्यतया अनुवृत्तिबुद्धि का ही कारण होते हैं परन्तु आंशिकरूप से व्यावृत्तिबुद्धि को उत्पन्न कर देने से इन्हे ‘विशेष’ कहा गया है। जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है-

**एतानि तु द्रव्यत्वादीनि प्रभूतविषयत्वात् प्राधान्येन सामान्यानि स्वाश्रयविशेषकत्वाद् भक्त्या विशेषाख्यानीति ( प्रश. सामान्यप्रकरणम् )**

अर्थात् ये द्रव्यत्वादि जातियाँ अधिक विषय होने से मुख्यरूप से ‘सामान्य’ कही जाती है तथा अपने आधार पदार्थ के अन्य से व्यावर्तक (भेदक) होने से गौण रूप से ‘विशेष’ कही जाती है।

**द्रव्य-गुण कर्म से सत्ता का भिन्नत्व**

द्रव्य, गुण, एवं कर्म में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली सत्ता जाति इन तीनों से ‘भिन्न है अथवा अभिन्न’ इस विषय में शंका स्वाभाविक है। कारण यह है कि द्रव्यादि तीनों पदार्थों में ‘सत् है-सत् है’ की प्रतीति में द्रव्यादि पदार्थ ही कारण है। इसके लिए अतिरिक्त ‘सत्ता’ नामक जाति की कल्पना का कोई औचित्य नहीं है। ऐसी आशंका होने पर इस विषय में वैशेषिककार अपन मत प्रस्तुत करते हुये कहते हैं-

**द्रव्यगुणकर्मभ्योऽर्थान्तरं सत्ता। ( १.२.८ )**

द्रव्य, गुण एवं कर्म से सत्ता भिन्न पदार्थ हैं। प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने सत्ता के भिन्नत्व की प्रतिज्ञामात्र की है। अब उपरोक्त विषय में हेतु प्रस्तुत करते हुये कहते हैं-

**गुणकर्मसु च भावान् कर्म न गुणः। ( १.२.९ )**

गुण एवं कर्मों में होने से ‘सत्ता’ सामान्य न कर्म है, न ही गुण। इस सूत्र में द्रव्य का कथन न होने पर भी व्यतिक्रम पाठ होने से द्रव्य का भी समावेश कर लेना चाहिए- ऐसा आचार्यों ने निर्देश किया है। तब सूत्रार्थ यह होता है- सत्तासामान्य क्योंकि गुणों एवं कर्मों में समवेत रहता है, इसलिए वह द्रव्य, गुण, कर्म तीनों से भिन्न है। द्रव्य, गुण और कर्म, गुणों एवं कर्मों में समवेत नहीं रहते। गुणों में न द्रव्य रहता है, न गुण, न कर्म, इसी प्रकार कर्मों में न द्रव्य रहता है, न गुण रहता, न कर्म रहता, परन्तु ‘सत् है-सत् है’ की प्रतीति गुण एवं कर्मों में रहती है, इसलिए ‘सत्ता’ द्रव्य-गुण-कर्म तीनों से भिन्न है।

सत्तासामान्य को तीनों से भिन्न न मानने पर द्रव्य में ‘सत् है’ की प्रतीति का कारण स्वयं द्रव्य को मानना पड़ेगा; इसी प्रकार गुण में ‘सत् है’ की प्रतीति का कारण स्वयं गुण को तथा कर्म में ‘सत् है’ की प्रतीति का कारण स्वयं कर्म को मानना पड़ेगा। कहने का तात्पर्य यह है कि ‘सत्ता’ को या तो द्रव्यरूप या गुणरूप अथवा कर्मरूप मानना पड़ेगा। यदि सत्ता को द्रव्यरूप स्वीकार करे तो गुण एवं कर्म में जो ‘सत् है’ की प्रतीति होती है उसका कारण ‘द्रव्य’ को स्वीकार करना पड़ेगा। तब यह भी कहना पड़ेगा की गुण एवं कर्मों में भी द्रव्य रहता है; परन्तु ऐसा वैशेषिक के सिद्धान्तों के विरुद्ध है। गुण एवं कर्म, द्रव्य में रहते हैं, न कि द्रव्य, गुण एवं कर्म में रहता है। परन्तु ‘सत् है’ की प्रतीति गुण एवं कर्मों में भी होती है। इसका तात्पर्य है कि उसकी प्रतीति का कारण उन्हीं पदार्थों में स्वीकार करना पड़ेगा और वह उनसे भिन्न ही होगा। इस प्रकार सत्ता तीनों पदार्थों में नियमतः समवेत रहती है परन्तु तीनों पदार्थ एक-दूसरे में नियमतः समवेत नहीं रहते। इससे स्पष्ट होता है कि ‘सत्ता’ इन तीनों से भिन्न एक चौथा पदार्थ ही है।

इस विषय में एक और हेतु प्रस्तुत करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**सामान्यविशेषाभावेन च। ( १.२.१० )**

सामान्य विशेष के अभाव होने से भी सत्ता तीनों से भिन्न सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि द्रव्यों में ‘द्रव्यत्व’, सामान्यविशेष समवेत रहता है; यदि सत्ता द्रव्य से अभिन्न होती तो उसमें भी ‘द्रव्यत्व’ सामान्यविशेष समवेत रहता; परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसलिए सत्ता द्रव्यों से भिन्न है। गुणों में ‘गुणत्व’ समवेत रहता है; परन्तु सत्ता में ‘गुणत्व’ की उपलब्धि नहीं होती है। इसी प्रकार कर्मों में ‘कर्मत्व’ सामान्यविशेष समवेत रहता है; परन्तु सत्ता में कर्मत्व की उपलब्धि नहीं होती है। इससे पता चलता है कि सत्ता, तीनों से भिन्न है। यदि सत्ता इन तीनों से अभिन्न होती तो, इसमें भी ‘द्रव्यत्वादि’ की उपलब्धि होनी चाहिए; परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसका तात्पर्य है कि सत्ता द्रव्यादि तीनों पदार्थों से भिन्न है।

## स्मरणीय बिंदु (Key Points)

- द्रव्य सबका आधार है द्रव्य जैसे परमाणु या मिट्टी ही वह समवायी कारण है जिसमें नए द्रव्य, गुण और कर्म उत्पन्न होते हैं।
- कर्म का नियम कर्म से कर्म पैदा नहीं होता। एक क्रिया दूसरी क्रिया को जन्म नहीं देती, बल्कि क्रिया से संयोग या विभाग जुड़ाव या अलगाव पैदा होता है।
- सामान्य जाति वह तत्व जो नित्य है, एक है और बहुतों में रहता है। इसके दो भेद हैं
- पर सामान्य सत्ता महा-सामान्य, जो सबसे व्यापक है और केवल एकता का बोध कराती है।
- अपर सामान्य जैसे द्रव्यत्व या गोत्व, जो एकता भी दिखाती है और दूसरी जातियों से भेद व्यावृत्ति भी कराती है।
- सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में है का ज्ञान कराने वाला स्वतंत्र पदार्थ सत्ता है। यह स्वयं न तो द्रव्य है, न गुण, न कर्म।
- संयोग और विभाग बहुत से संयोग मिलकर एक नए द्रव्य जैसे धागे मिलकर कपड़ा को जन्म देते हैं। कर्म हमेशा संयोग और विभाग का कारण बनता है।

## सरल शब्दावली ( Glossary ) :-

- कार्य-कारण भाव वह रिश्ता जहाँ एक वस्तु कारण दूसरी वस्तु कार्य को पैदा करती है।
- समवायी कारण -वह मुख्य आधार जिसके बिना कार्य रह ही न सके जैसे कपड़ा बनने के लिए धागा।
- विजातीय आरम्भकत्व- जब अलग-अलग श्रेणियों की चीजें मिलकर कार्य शुरू करें जैसे द्रव्य और गुणों का आपसी मेल।
- सामान्य- वह तत्व जो एक ही तरह की अनेक वस्तुओं में पाया जाता है ।
- अनुवृत्ति- बहुत सी अलग-अलग चीजों में एक जैसी समानता का अनुभव करना।
- व्यावृत्ति- एक वस्तु को दूसरी वस्तु से अलग पहचानना भेद करना।
- सत्ता होने का भाव - वह तत्व जिसके कारण हम कहते हैं कि यह चीज है।
- पर- श्रेष्ठ या सबसे बड़ा जैसे सत्ता सबसे बड़ी जाति है।
- अपर -छोटा या कम व्यापक जैसे मनुष्यत्व, जो केवल मनुष्यों तक सीमित है।
- असमवायी कारण- वह गुण या कर्म जो समवायी कारण में रहकर कार्य को पैदा करने में मदद करे।

## दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

1. द्रव्य, गुण और कर्म के परस्पर कार्य-कारण भाव की सविस्तार व्याख्या कीजिए।
2. कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती - वैशेषिक दर्शन के इस सिद्धांत की तर्कपूर्ण विवेचना कीजिए।
3. सामान्य नामक पदार्थ के स्वरूप और उसके भेदों पर और अपर का सविस्तार वर्णन कीजिए।
4. सत्ता के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्ध कीजिए कि यह द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न एक स्वतंत्र पदार्थ है।
5. वैशेषिक दर्शन में द्रव्य और गुणों के परस्पर विजातीय आरम्भकत्व संबंध पर प्रकाश डालिए।

## लघु उत्तरीय प्रश्न

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य किसका समवायी कारण है?
2. गुण और कर्म में मुख्य अंतर क्या है?
3. कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती, इसके लिए महर्षि कणाद ने क्या तर्क दिया है?
4. सामान्य जाति पदार्थ का लक्षण क्या है?
5. पर सामान्य और अपर सामान्य में क्या अंतर है?
6. सत्ता किसे कहते हैं?
7. संयोग नामक गुण किन कार्यों का कारण बनता है?
8. उत्क्षेपण कर्म में कौन-कौन से गुण कारण होते हैं?
9. सत्ता को द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न क्यों माना गया है?
10. विशेष नामक पदार्थ का मुख्य कार्य क्या है?

## बहुविकल्पीय प्रश्न

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार द्रव्य, गुण और कर्म इन तीनों का समवायी कारण कौन है?

(A) गुण

(B) द्रव्य

(C) कर्म

(D) सामान्य

2. द्रव्य कारण सामान्य 1.1.18 सूत्र के अनुसार द्रव्य किनका कारण है?

(A) केवल द्रव्य का

(B) केवल गुण का

**(C) द्रव्य, गुण और कर्म तीनों का**

(D) केवल सामान्य और विशेष का

3. कर्म कर्मसाध्यं न विद्यते 1.1.11 का अर्थ है

(A) कर्म से गुण उत्पन्न होता है

**(B) कर्म से कर्म की उत्पत्ति नहीं होती**

(C) कर्म नित्य होता है

(D) कर्म ही द्रव्य का आधार है

4. उत्क्षेपण ऊपरफेंकना कर्म की उत्पत्ति में कौन सा गुण कारण नहीं है?

**(A) गुरुत्व**

(B) प्रयत्न

(C) संयोग

(D) विभाग

5. नित्यमेकमनेकसमवेतं किसका लक्षण है?

(A) द्रव्य

(B) विशेष

**(C) सामान्य**

(D) अभाव

6. सत्ता को किस प्रकार का सामान्य माना गया है?

(A) अपर सामान्य

**(B) पर सामान्य**

(C) विशेष सामान्य

(D) अंत्य विशेष

7. द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व इन जातियों को क्या कहा जाता है?

(A) केवल सामान्य

(B) केवल विशेष

**(C) सामान्य-विशेष अपर सामान्य**

(D) नित्य द्रव्य

8. वैशेषिक सूत्र 1.2.7 के अनुसार, द्रव्य-गुण-कर्म में सत् है यह वस्तु है इस ज्ञान का कारण क्या है?

(A) बुद्धि

**(B) सत्ता**

(C) विशेष

(D) समवाय

9. सामान्यविशेषाभावेन च 1.2.10 सूत्र क्या सिद्ध करता है?

(A) सामान्य और विशेष एक ही हैं

(B) सत्ता, द्रव्य-गुण-कर्म से अभिन्न है

**(C) सत्ता, द्रव्य-गुण-कर्म से भिन्न है**

(D) कर्म से कर्म की उत्पत्ति होती है

10. कर्म किन गुणों की उत्पत्ति में असमवायी कारण होता है?

(A) रूप, रस और गंधा

(B) सुख, दुःख और इच्छा

(C) संयोग, विभाग और वेग

(D) संख्या, परिमाण और पृथक्त्व

11. संयोगात् द्रव्य 1.1.27 सूत्र के अनुसार, द्रव्य की उत्पत्ति का कारण क्या है?

(A) बहुत सारे कर्म

(B) बहुत सारे संयोग गुण

(C) केवल एक परमाणु

(D) आकाश

12. अपर सामान्य का क्या कार्य है?

(A) केवल एकता का ज्ञान कराना

(B) केवल भेद का ज्ञान कराना

(C) एकता अनुवृत्ति और भेद व्यावृत्ति दोनों का ज्ञान कराना

(D) विनाश करना

## इकाई-3.4 - सत्ता का नित्यत्व एवं एकत्व, द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व का द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्नत्व, विशेष नामक पदार्थ

उद्देश्य:-

- सत्ता के स्वरूप को समझना सत्ता के नित्यत्व और एकत्व को तार्किक आधार पर समझना।
- जाति और व्यक्ति के भेद को जानना द्रव्यत्व, गुणत्व और कर्मत्व को उनके आश्रयों द्रव्य, गुण, कर्म से पृथक् एक स्वतंत्र सत्ता के रूप में पहचानना।
- विशेष पदार्थ का ज्ञान वैशेषिक दर्शन के अद्वितीय पदार्थ विशेष के स्वरूप, इसकी आवश्यकता और इसे अंत्य विशेष कहे जाने के कारणों का अध्ययन करना।
- सामान्य और विशेष में अंतर सामान्य के अंतर्गत आने वाले अपर सामान्य और स्वतंत्र विशेष पदार्थ के मध्य सूक्ष्म अंतर को स्पष्ट करना।

### सत्ता का नित्यत्व एवं एकत्व

उपरोक्त वर्णनों से सत्ता के लक्षण में भेद होने पदार्थान्तर सिद्ध होता है। द्रव्य, गुण, कर्म का नाश सम्भव है परन्तु अर्थान्तरभूत सत्ता उसी समय अन्यत्र द्रव्यादियों में समवेत होने से नित्य सिद्ध होती है। तात्पर्य यह है कि एक व्यक्तिगत द्रव्य, गुण या कर्म का नाश सम्भव होने पर भी अन्यत्र द्रव्यादि पदार्थों में सत्ता का निवास होता ही है। अतएव द्रव्यादि के नाश हो जाने पर भी सत्ता का नाश सम्भव नहीं है। प्रलय में भी परमाणु नामक कारण द्रव्य रहने पर वहाँ भी सत्ता का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहता है। इसलिए सत्ता का विनाश सम्भव नहीं है। भाष्यकार ने भी कहा है-

**लक्षणभेदादेषां द्रव्यगुणकर्मभ्यः पदार्थान्तरत्वं सिद्धम्।**

**अत एव च नित्यत्वम् ( प्रश-भा. )**

सत्ता के एकत्व के विषय में आचार्य ने सूत्रित किया है-

**सदिति लिङ्गविशेषाद् विशेषलिङ्गाभावाच्चैको भावः। ( १.२.१७ )**

‘सत् है’ इस प्रकार की प्रतीति रूप लिङ्ग के सर्वत्र समान होने से और भेदक प्रमाण के अभाव होने से ‘सत्ता’ का एकत्व सिद्ध होता है।

द्रव्यादि तीनों पदार्थों में समानरूप से ‘सत् है’ - इस प्रकार की प्रतीति एक जैसी होती है। इसमें कोई प्रमाण नहीं है कि द्रव्य में जो ‘सत् है’ की प्रतीति है, वह गुण एवं कर्म में जो ‘सत् है’ की प्रतीति से भिन्न है। अथवा गुण एवं कर्म में जो ‘सत् है’ की प्रतीति है, वह द्रव्य में प्रतीत होने वाले ‘सत् है’ से भिन्न है। सर्वत्र ‘सत् है’ की प्रतीति एक समान है; द्रव्यादि तीनों पदार्थों में ‘सत् है’ -सत् है’- इस प्रकार के अनुभव में कोई भेदक प्रमाण नहीं है। अतएव सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से तथा भेदक लिङ्ग (प्रमाण) का अभाव होने से सत्ता का एकत्व सिद्ध होता है। भाष्यकार ने भी कहा है-

**प्रत्येकं स्वाश्रयेषु लक्षणविशेषाद्विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम्। ( प्रश.भा. )**

अर्थात् प्रत्येक अपने आधारों में लक्षणों के भेद होने से और विशेष लक्षणों के अभाव में होने से ‘एकत्व’ सिद्ध होता है। प्रस्तुत भाष्यांश पर एवं अपरसामान्य दोनों के एकत्व का द्योतक है। जिस प्रकार द्रव्यादि तीनों में पदार्थों में रहते हुए ‘सत्ता’ तीनों से भिन्न, नित्य एवं एक है। उसी प्रकार ‘द्रव्यत्वादि’ जातियाँ भी ‘पृथिव्यादि’ द्रव्यों में रहते हुये अनेक भिन्न, नित्य एवं एक है।

**द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व का द्रव्य, गुण, कर्म से भिन्नत्व**

(प्रमाण) का अभाव होने से सत्ता का एकत्व सिद्ध होता है। भाष्यकार ने भी कहा है-

**प्रत्येकं स्वाश्रयेषु लक्षणविशेषाद्विशेषलक्षणाभावाच्चैकत्वम्। ( प्रश. भा. )** अर्थात् प्रत्येक अपने आधारों में लक्षणों के भेद होने से और विशेष लक्षणों के अभाव होने से ‘एकत्व’ सिद्ध होता है। प्रस्तुत भाष्यांश पर एवं अपरसामान्य दोनों के एकत्व का द्योतक है। जिस प्रकार द्रव्यादि तीनों पदार्थों में रहते हुए ‘सत्ता’ तीनों से भिन्न, नित्य एवं एक है। उसी प्रकार ‘द्रव्यत्वादि जातियाँ भी ‘पृथिव्यादि’ द्रव्यों में रहते हुये उनके भिन्न, नित्य एवं एक है।

**द्रव्य से द्रव्यत्व का भिन्नत्व**

द्रव्य, गुण कर्म से सत्ता के भिन्नत्व के प्रतिपादन के पश्चात् अपरसामान्यों के भिन्नत्व का वर्णन किया जा रहा है, जिसमें से प्रथम द्रव्यत्व नामक अपर सामान्य का द्रव्य से भिन्न होने में वैशेषिककार हेतु का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं-

**अनेकद्रव्यवत्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् । ( १.२.११ )**

अनेक द्रव्य समवायिकरण वाला होने से द्रव्यत्व नामक सामान्य के विषय में व्याख्यान समझ लेना चाहिये।

अर्थात् जिसप्रकार सत्ता जाति को द्रव्यादि से भिन्न प्रमाणित किया गया है, इसी प्रकार द्रव्यत्व जाति द्रव्यों से भिन्न है।



इसमें सूत्रकार ने 'अनेकद्रव्यत्व' हेतु प्रस्तुत किया है। 'अनेक' पद सूत्र में 'सर्व' अर्थ में है। तात्पर्य यह है कि सभी सभी द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाला वाला 'द्रव्यत्व' सामान्य है, परन्तु कोई भी एक द्रव्य सभी द्रव्यों में समवेत नहीं रहता।

'द्रव्यत्व' को द्रव्य से अभिन्न मानने पर नौ द्रव्यों में से किस द्रव्य से अभिन्न माना जाये, यह प्रश्न है? यदि यह कहा जाये कि पृथिवी में रहने वाला द्रव्यत्व पृथिवी से अभिन्न है, जल में रहने वाला द्रव्यत्व जल से अभिन्न है इत्यादि। तब सूत्रकार का कहना है कि यदि पृथिवी से अभिन्न द्रव्यत्व है तो केवल पृथिवी में ही होना चाहिए; परन्तु यहाँ तो पृथिवी से अतिरिक्त में भी 'द्रव्यत्व' रहता है। अर्थात् द्रव्यत्व का निवास सभी द्रव्यों में होता है परन्तु पृथिवी का निवास जलादि द्रव्यों में नहीं होता है। इसी प्रकार जल से अभिन्न द्रव्यत्व को माने तो जल तेज इत्यादि द्रव्यों में समवेत नहीं रहता परन्तु द्रव्यत्व वहाँ भी समवेत रहता है। इससे पता चलता है कि पृथिव्यादि द्रव्यों से भिन्न द्रव्यत्व है।

यदि यह कहा जाये कि पृथिवी में समवेत द्रव्यत्व, जल में समवेत द्रव्यत्व- ये सभी द्रव्यत्व अलग-अलग होते हुये पृथिवी से अभिन्न है, जल से ने अभिन्न है प्रत्यादि। कहने का तात्पर्य है कि नौ द्रव्यों में रहने वाला द्रव्यत्व अलग-अलग है और वे सभी पृथिव्यादि से अभिन्न है।

तब इस विषय में आचार्यों का कहना यह है कि पृथिवी में जो 'द्रव्यत्व' (द्रव्य है) की प्रतीति है, जल में जो द्रव्यत्व की प्रतीति है उनमें किसी प्रकार का भेद मालूम नहीं पड़ता। एकत्व की प्रतीति एवं भेदक प्रमाण का अभाव होने से द्रव्यत्व एक ही सिद्ध होता है। इसलिए अलग-अलग नौ द्रव्यत्व मानने में कोई हेतु नहीं है। इसलिए द्रव्यत्व का सभी द्रव्यों में समवेत होने से तथा पृथिव्यादि का सभी द्रव्यों में समवेत न होने से 'द्रव्यत्व' का पृथिव्यादि द्रव्यों से भिन्नत्व सिद्ध होता है। इस विषय में एक और हेतु का प्रतिपादन करते हुये आचार्य ने कहा हैं-

#### **सामान्यविशेषाभावेन च। (१.२.१२)**

सामान्यविशेष का अभाव होने से भी द्रव्य से द्रव्यत्व भिन्न सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार द्रव्यों में 'द्रव्यत्व' सामान्यविशेष का भाव होता है वैसे द्रव्यत्व में सामान्यविशेष का भाव नहीं होता अर्थात् अभाव होता है। यदि द्रव्यत्व द्रव्यरूप ही होता तो उसमें भी सामान्यविशेष का भाव होना चाहिये।

परन्तु द्रव्यत्व में किसी अन्य 'द्रव्यत्वादि' समवेत नहीं हो देखे जाते हैं। इसके विपरीत द्रव्यों में द्रव्यत्व समवेत देखे जाते हैं। इससे स्पष्ट होता है कि 'द्रव्यत्व' द्रव्यरूप न होकर द्रव्य से भिन्न ही

#### **गुण से गुणत्व का भिन्नत्व-**

जिस प्रकार द्रव्यों से द्रव्यत्व के भिन्नत्व का प्रतिपादन वैशेषिककार ने कहा ठीक उसी प्रकार गुण से गुणत्व के भिन्नत्व का भी प्रतिपादन किया है। यथा-

#### **तथा गुणेषु भावाद्गुणत्वमुक्तम् । (१.२.१३)**

वैसे ही सभी गुणों में गुणत्व का भाव होने से गुणत्व के भिन्नत्व का भी व्याख्यान समझ लेने चाहिए। अर्थात् सभी गुणों में गुणत्व समवेत रहता है परन्तु कोई एक गुण सभी गुणों में समवेत नहीं रहता। रूप में भी गुणत्व समवेत रहता है, रस में भी समवेत रहता है, गन्ध इत्यादि में भी समवेत रहता है परन्तु रूप, रस में, रस, गन्ध में समवेत नहीं रहता है। इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी समझ लेना चाहिए। यदि गुणत्व रूपादि गुणरूप ही होता तो रूपादि को एक-दूसरे में समवेत होना चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं होता है जबकि गुणत्व रूपादि गुणों में समवेत होता है। इससे पता चलता है कि गुणों से गुणत्व भिन्न है। गुणत्व का गुणों से भिन्नत्व में पुनः पूर्वोक्त हेतु को ही दुहराते हुये सूत्रकार कहते हैं-

#### **सामान्य विशेषाभावेन च। (१.२.१४.)**

सामान्यविशेष का अभाव होने से भी गुणत्व का गुणों से भिन्नत्व सिद्ध होता है। जिस प्रकार गुणों में 'गुणत्व' नामक सामान्यविशेष समवेत रहता है उसप्रकार गुणत्व में कोई अन्य सामान्यविशेष समवेत नहीं रहता है। यदि गुणत्व रूपादि गुणरूप ही होता तो उसमें एक अतिरिक्त सामान्य विशेष की उपलब्धि होती, परन्तु ऐसा नहीं होता है। अतएव गुणों में गुणों से अतिरिक्त 'गुणत्व' सामान्य विशेष का भाव होने से तथा 'गुणत्व' में एक अतिरिक्त सामान्य विशेष का अभाव होने से गुण से गुणत्व का भेद सिद्ध होता है।

#### **कर्म से कर्मत्व का भिन्नत्व**

द्रव्यत्व एवं गुणत्व के द्रव्य व गुण से भिन्नत्व के वर्णन के पश्चात कर्म से कर्मत्व के भिन्नता का वर्णन करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

#### **कर्मसु भावात्कर्मत्वमुक्तम्। (१.२.१५)**

सभी कर्मों में 'कर्मत्व-सामान्य' समवेत होने से कर्मों से कर्मत्व के भिन्नत्व की व्याख्या समझ लेनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि 'कर्मत्व-सामान्य' सभी कर्मों में समवेत रहता है। उत्क्षेपणादि कर्म परस्पर एक दूसरे में समवेत नहीं होते हैं। उत्क्षेपण, अवक्षेपण



गादि में समवेत नहीं होता है। इसी प्रकार अन्य कर्मों के विषय में भी समझा जा सकता है। परन्तु 'कर्मत्व-सामान्य' सभी कर्मों में समवेत रहता है। यदि कर्मत्व को उत्क्षेपणादिकर्मरूप ही स्वीकार करे तो उत्क्षेपणादि कर्म परस्पर एक दूसरे में होने चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता। इसका तात्पर्य है कि कर्मत्व, कर्म से भिन्न होने में सूत्रकार अपने उसी पूर्वोक्त हेतु को दुहराते हुये कहते हैं-

**सामान्यविशेषाभावेन च। (१.२.१६.)**

सामान्यविशेष के अभाव होने से भी कर्म से कर्मत्व का भिन्नत्व सिद्ध होता है।

जिस प्रकार कर्म में 'कर्मत्व' सामान्यविशेष का भाव होता है उस प्रकार से कर्मत्व में किसी अन्य 'कर्मत्व' सामान्यविशेष का भाव नहीं होता है, अर्थात् अभाव होता है। यदि कर्मत्व कर्मरूप ही होता है तो उसमें भी सामान्य विशेष विद्यमान होना चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता है। दूसरे पता चलता है कि व कर्म से भिन्न है इस प्रकार वैशेषिक के अनुसार पर-सामान्य एवं अपर-सामान्य की सत्ता द्रव्य, गुण एवं कर्म से भिन्न सिद्ध होती है। साथ ही उनके नित्यत्व एवं एकत्व की भी सिद्धि होती है।

**'विशेष' नामक पदार्थ**

षड्पदार्थों में वर्णित पूर्वोक्त 'सामान्य' नामक चतुर्थपदार्थ के भेद में वैशेषिककार ने 'विशेष' नामक अपर-सामान्य का वर्णन किया है। प्रश्न यह उठता है कि जब 'विशेष' को सामान्य के अन्तर्गत चतुर्थ पदार्थ के रूप में स्वीकार किया गया है तब 'विशेष' नामक पञ्चम् पदार्थ को पृथक् क्यों पढ़ा है? क्या यह 'विशेष' नामक पञ्चम् पदार्थ पूर्वोक्त 'विशेष' (सामान्यविशेष) से अभिन्न है या भिन्न? तब इस विषय में वैशेषिककार स्वयं कहते हैं-

**अन्यत्रान्येभ्यो विशेषेभ्यः। (१.२.६)**

अन्यविशेषों से भिन्न (यह विशेष) है। अर्थात् सामान्यान्तर्गत पठित जो विशेष है, जिसका वर्णन -

**द्रव्यत्वं गुणत्वं कर्मत्वं च सामान्यानि विशेषाश्च (१.२.५) तथा सामान्य विशेष इति बुद्ध्यपेक्षम्। (१.२.३)**

इन सूत्रों में किया गया है, वह विशेष अन्यविशेष नामक पञ्चम पदार्थ से भिन्न है। 'अन्यविशेष' पद से कहा है। 'अन्य' पद का अर्थ वैशेषिकाचार्यों ने इस प्रकार किया है-

**उत्पादविनाशयोरन्तेऽवसाने भवन्तीत्यन्त्या नित्यद्रव्याणि तेषु भवन्तीत्यन्त्या विशेषा इति ।**

उत्पत्ति एवं विनाश का जहाँ पर अन्त हो गया है, ऐसे 'अन्य' नामक नित्यद्रव्यों में जो विशेष है उसे 'अन्य विशेष' कहते हैं। वही पञ्चम् पदार्थ के रूप में पठित 'विशेष' नामक पदार्थ है, जो कि पूर्वोक्त 'सामान्य-विशेष' से भिन्न है।

जिस प्रकार केवल अनुवृत्तिबुद्धि हेतु सत्ता-सामान्य होता है, ठीक उसके विपरीत केवल व्यावृत्तिबुद्धि का हेतु (विशेष) होता है। यह नित्य आकाशादि द्रव्यों एवं पार्थिवादि परमाणुओं में होता है। कार्य घटादि पदार्थों का व्यावर्तक (भेदक) उसके अपने कारण अवयव, स्वगुण अथवा कर्म होते हैं, परन्तु परमाणु आदि नित्य द्रव्यों में कारण अवयव, उद्भूतरूप का अभाव होने से परमाणुओं में परस्पर भेद बुद्धि का अभाव सिद्ध होगा। परन्तु योगियों का इन परमाणुओं में भी भेदबुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि योगसूत्रकार ने कहा है-"परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः" अर्थात् योगियों का चित्त का विषय परमाणु से लेकर परममहत्त्व परिमाण वाले आत्मादि पदार्थ भी बन जाते हैं। अर्थात् वे सूक्ष्म से सूक्ष्म परमाणु एवं विराट् से विराट् आकाशादि पदार्थों में भी भेद करने में समर्थ हो जाते हैं। घट-पटादि पदार्थों में व्यावर्तक श्वेतादि रूप होते हैं। उसके बिना घटादि पदार्थों का भेद करना सम्भव नहीं है। ठीक उसी प्रकार नित्य परमाणु इत्यादि द्रव्यों में भी बिना किसी भेदक पदार्थ के भेद करना सम्भव नहीं है। योगियों का योगजसामर्थ्य भी कि अकारण बिना किसी भेदक के भेद नहीं कर सकता है। उन प्रत्येक नित्य द्रव्यों में 'विशेष' नामक पदार्थ होता है। जो उन द्रव्यों को अन्य समान या असमानजातीय द्रव्यों से भेद कराता है। अतएव जितने भी नित्य द्रव्य होंगे उतनी ही संख्या में 'विशेष' नामक पदार्थ भी होंगे। तात्पर्य यह है कि परमाणु इत्यादि अनन्त नित्यपदार्थों में अनन्त 'विशेष' नामक पदार्थ होते हैं। परमाणु- परमाणु परस्पर समान होते हैं परन्तु एक विशेष दूसरे विशेष के समान नहीं होता। अनन्त विशेष अनन्त प्रकार के होते हैं। इसी कारण वह जिसमें रहते हैं उसकों अन्य पदार्थों से भिन्न करा पाते हैं। यदि एक विशेष, दूसरे विशेष जैसा होने लगे तो भेद नहीं करा पायेगा। ऐसे में योगियों के योगज प्रत्यक्ष का अपलाप हो जायेगा। इसलिए वैशेषिक ने उनके भेदक अनन्त विशेष को स्वीकार किया है और जितने विशेष उतने प्रकार के होते हैं। परस्पर एक दूसरे से मेल नहीं खाते हैं। इन 'विशेष' नामक पञ्चम् पदार्थों का ज्ञान केवल योगीजन कर पाते हैं। सामान्य मनुष्यों के इन्द्रियों से अप्रत्यक्ष अतीन्द्रिय होने से ज्ञान का विषय नहीं बन पाते। अतएव इनका ज्ञान केवल योगज सामर्थ्य से ही सम्भव है। इस प्रकार वैशेषिक ने नित्य द्रव्यों में रहने वाला तथा परस्पर उन द्रव्यों के व्यावर्तक के रूप में अतीन्द्रिय 'विशेष' नामक पदार्थ का वर्णन किया है। यह पदार्थ अन्य पदार्थों से विलक्षण होता है। ऐसे विलक्षण पदार्थ का निरूपण करने से महर्षि कणाद के द्वारा प्रतिपादित इस शास्त्र का नाम वैशेषिक पड़ा।

**स्मरणीय बिंदु (Points to Remember)**

- सत्ता का एकत्व समस्त द्रव्य, गुण और कर्मों में सत है ऐसी एकरूप प्रतीति होती है, जो सिद्ध करती है कि सत्ता एक ही है।

- सत्ता का नित्यत्व सत्ता जाति रूप है, इसलिए वह नित्य है। प्रलय की अवस्था में जब कार्य-द्रव्य नष्ट हो जाते हैं, तब भी सत्ता परमाणु और नित्य द्रव्यों में बनी रहती है।
- भिन्नता का तर्क द्रव्यत्व द्रव्य नहीं है, बल्कि वह धर्म है जिसके कारण किसी वस्तु को द्रव्य कहा जाता है। इसी प्रकार गुणत्व और कर्मत्व भी अपने आश्रयों से भिन्न स्वतंत्र पदार्थ हैं।
- विशेष की अद्वितीयता विशेष वह पदार्थ है जो दो समान दिखने वाले नित्य द्रव्यों जैसे दो परमाणु के बीच भेद पैदा करता है। यह केवल नित्य द्रव्यों में रहता है, इसलिए इसे अंत्य विशेष कहते हैं।

### शब्दावली (Glossary)

1. सत्ता वह पर सामान्य जो द्रव्य, गुण और कर्म तीनों में समवाय संबंधा से रहता है और उनके होने का बोध कराता है।
2. द्रव्यत्व द्रव्यों में रहने वाली वह जाति या सामान्य धर्म, जो एक मिट्टी के घड़े से लेकर वायु के परमाणु तक सभी को द्रव्य की श्रेणी में रखता है।
3. अंत्य विशेष वैशेषिक दर्शन का पाँचवाँ पदार्थ, जो सृष्टि के अंत में भी रहने वाले नित्य द्रव्यों परमाणुओं में रहकर उन्हें एक-दूसरे से अलग करता है।
4. अनुवृत्ति विभिन्न वस्तुओं में एक ही प्रकार की निरंतर होने वाली प्रतीति या पहचान जैसे सभी मनुष्यों में मनुष्यत्व को देखना।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:-

1. सत्ता के नित्यत्व एवं एकत्व को तर्कों सहित सिद्ध कीजिए।
2. द्रव्यत्व, द्रव्य से भिन्न एक स्वतंत्र पदार्थ है इस कथन की वैशेषिक सूत्रों के आलोक में समीक्षा कीजिए।
3. गुणत्व और कर्मत्व की अपने आश्रयों गुण और कर्म से भिन्नता को सोदाहरण स्पष्ट कीजिए।
4. विशेष नामक पदार्थ के स्वरूप का वर्णन करते हुए स्पष्ट कीजिए कि इसे अंत्य विशेष क्यों कहा जाता है?
5. सामान्य के अंतर्गत पठित विशेष और स्वतंत्र पंचम पदार्थ विशेष के अंतर को स्पष्ट कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Questions)

1. सत्ता का एकत्व कैसे सिद्ध होता है? लक्षणभेदादेशां... भाष्य पंक्ति का अर्थ समझाएं।
2. प्रलय अवस्था में भी सत्ता का विनाश क्यों नहीं होता?
3. साधारण और असाधारण पर-अपर सामान्य में क्या अंतर है?
4. सिद्ध कीजिए कि द्रव्यत्व जाति द्रव्य से भिन्न है।

### बहुविकल्पीय प्रश्न:-

द्रव्य, गुण और कर्म में सत्-सत् है-है इस प्रकार की अनुवृत्ति का कारण क्या है?

(A) द्रव्यत्व

(B) सत्ता सामान्य

(C) विशेष

(D) समवाय

वैशेषिक मत के अनुसार सत्ता क्या है?

(A) अनित्य और अनेक

(B) नित्य और अनेक

(C) नित्य और एक

(D) अनित्य और एक

प्रलय काल में भी सत्ता का अस्तित्व किस आधार पर बना रहता है?

(A) आकाश के कारण

(B) परमाणुओं के कारण

(C) कर्म के कारण

(D) ईश्वर के कारण

अनेकद्रव्यत्वेन द्रव्यत्वमुक्तम् सूत्र के अनुसार द्रव्यत्व क्या है?

- (A) एक द्रव्य में रहने वाला
- (B) सभी द्रव्यों में समवाय संबंधा से रहने वाला सामान्य
- (C) गुण का एक प्रकार
- (D) विनाशशील पदार्थ

सत्ता को द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न क्यों माना गया है?

- (A) क्योंकि सत्ता नित्य है और द्रव्य आदि अनित्य हो सकते हैं
- (B) क्योंकि सत्ता का प्रत्यक्ष नहीं होता
- (C) क्योंकि सत्ता कर्म का रूप है
- (D) क्योंकि सत्ता केवल मन में रहती है

सामान्य के अंतर्गत आने वाला विशेष अपर सामान्य और पंचम पदार्थ विशेष में क्या अंतर है?

- (A) दोनों एक ही हैं
- (B) पंचम पदार्थ विशेष केवल अंत्य नित्य द्रव्यों में रहता है
- (C) सामान्य वाला विशेष अनित्य होता है
- (D) इनमें कोई अंतर नहीं है

अंत्य शब्द का वैशेषिक दर्शन में क्या अर्थ है?

- (A) जिसका विनाश हो गया हो
- (B) जो उत्पत्ति और विनाश के अंत में हो (नित्य द्रव्य परमाणु)
- (C) जो सबसे छोटा गुण हो
- (D) पृथ्वी का एक नाम

योगियों को परमाणुओं में भेद का ज्ञान किस पदार्थ के माध्यम से होता है?

- (A) सामान्य
- (B) समवाय
- (C) विशेष
- (D) अभाव

सत्ता का प्रत्यक्ष किस प्रमाण से सिद्ध होता है?

- (A) भेदाभाव और समान प्रतीति से
- (B) केवल अनुमान से
- (C) शब्द प्रमाण से
- (D) उपमान से

वैशेषिक दर्शन का नाम वैशेषिक क्यों पड़ा?

- (A) क्योंकि यह विशेष लोगों के लिए है
- (B) क्योंकि इसमें विशेष नामक विलक्षण पदार्थ का निरूपण है
- (C) क्योंकि इसमें विशेष गुणों की चर्चा है
- (D) क्योंकि यह गौतम ऋषि द्वारा रचित है

## खण्ड-4 - वैशेषिकदर्शन - द्वितीय अध्याय

### इकाई-4.1 - वायु का लक्षण, परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व, आकाश का लक्षण

उद्देश्य-

- वायु के स्वरूप का निर्धारण वायु के विशिष्ट लक्षणों जैसे स्पर्श को समझना और यह सिद्ध करना कि वायु एक स्वतंत्र द्रव्य है
- परमाणुवाद की समझ वायु के नित्य परमाणु रूप और अनित्य कार्य रूप भेदों का विश्लेषण करना।
- आकाश का विवेचन शब्द गुण के आधार पर आकाश के लक्षण और उसके एकत्व व विभुत्व को समझना
- तार्किक भेद सत्ता, द्रव्यत्व और विशेष जैसे पदार्थों के माध्यम से द्रव्यों के अस्तित्व और उनके आपसी अंतर को तार्किक रूप से सिद्ध करना।

प्रथम अध्याय में द्रव्यादि पदार्थों का उद्देश एवं लक्षण तथा उनके साधर्म्य - वैधर्म्य आदि का निरूपण किया गया। इस वैशेषिक शास्त्र की रचना का तीन आधार हैं। (क) उद्देश्य (कथनमात्र) (ख) लक्षण तथा (ग) परीक्षा।

प्रथम अध्याय में 'द्रव्यादि पदार्थों' के उद्देश एवं लक्षण के वर्णन के पश्चात् अब क्रम-प्राप्त परीक्षा का निरूपण इस अध्याय में किया जायेगा। नौ द्रव्यों में से पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, काल एवं दिशा नामक सात द्रव्यों की परीक्षा इस अध्याय में की गई है। उनमें से क्रमशः एक-एक की परीक्षा प्रारम्भ होती है। सर्वप्रथम पृथिवी, द्रव्य की परीक्षा करते हुये वैशेषिककार कहते हैं -

#### ( १ ) पृथिवी का लक्षण

##### रूपरसगन्धस्पर्शवती पृथिवी। ( २.१.१ )

रूप, रस, गन्ध, स्पर्श वाली पृथिवी होती है। अर्थात् समवाय सम्बन्धेन रूपादि का जो आधार है, वह पृथिवी है, यह पृथिवी का लक्षण है। केवल रूपादि चार गुण वाली पृथिवी है- इतना ही लक्षण करने पर यह पृथिवी का सामान्यलक्षण है। पृथिवी के इन्ही समस्त गुणों का विस्तारपूर्वक कथन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं -

##### रूपरसगन्धस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वद्रवत्वसंस्कारवती ( पृथिवी )। ( प्रश्. भा. )

अर्थात् रूप, रस, गन्ध, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, द्रवत्व और संस्कार इन चौदह गुणों वाली पृथिवी होती है। पृथिवी में अग्नि के संयोग से नैमित्तिक द्रवत्व होता है स्वाभाविक नहीं। इनमें से रूप, रस, गन्ध और स्पर्श ये पृथिवी के विशेष गुण कहलाते हैं। रूपादि गुणों को विशेष कहना उनके भेद के आधार पर समझना चाहिए। यथा-

( क ) रूप - रूप के कई भेद होते हैं जिसमें अभास्वर अस्वच्छ रूप पृथिवी का होता है। इसके अतिरिक्त छः प्रकार का रूप और होता है- शुक्ल (सफेद), नील, पीत (पीला), हरित (हरा), रक्त (लाल), कपिश (भूरा), चित्र (मिश्रितरंग चितकबरा)। इस प्रकार से कुल मिलाकर पृथिवी में सात रूप सिद्ध होते हैं।

( ख ) रस - रूप के समान पृथिवी में रस भी सात प्रकार के होते हैं। मधुर, अम्ल, लवण, कटु, तिक्त, कषाय ये षड्रस तो प्रसिद्ध ही हैं। सातवां चित्र रस है अथवा मिश्रित रस। यह रस लेह्य (चटनी) आदि पदार्थों में होता है। कई व्याख्याकार पृथिवी में केवल षड्रस को ही स्वीकार करते हैं। परन्तु सातवां चित्ररस भी अनुभवगम्य होने से कोई आपत्ति की बात नहीं है।

( ग ) गन्ध - गन्ध यह पृथिवी का विशेषगुण माना जाता है; क्योंकि गन्ध एकमात्र पृथिवीनिष्ठ ही होता है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है -

##### व्यवस्थितः पृथिव्यां गन्धः। ( २.२.३ )

अर्थात् गन्ध केवलमात्र पृथिवी में ही व्यवस्थित रूप से रहता है। अन्य में नहीं। इसलिए 'गन्ध' पृथिवी का वैशेषिकगुण (विशेषगुण) सिद्ध होता है। गन्ध के दो भेद होते हैं- (क) सुरभि (सुगन्ध) (ख) असुरभि (दुर्गन्ध)

( घ ) स्पर्श - स्पर्श तीन प्रकार का अनुभव में आता है- उष्ण (गर्म), शीत (ठंडा) तथा अनुष्णाशीत (न उष्ण न शीत अर्थात् सामान्य)। अनुष्णाशीत भी दो प्रकार का होता है- (क) स्पर्शान्तर व्यञ्जक (ख) स्पर्शान्तर अव्यञ्जक। इसमें से पृथिवी में स्पर्शान्तर अव्यञ्जक स्पर्श होता है।

इस प्रकार अवान्तर भेदपूर्वक रूपादि चार गुण पृथिवी के विशेषगुण कहे जाते हैं। यदि रूपादि का अवान्तरभेद न करे, केवल रूप, रस, इत्यादि इतना कहे तो सामान्य हो जाते हैं जबकि 'गन्ध' विशेष गुण हो जाता है। अतएव सूत्र में रूपादि - चार

गुणों को विशेष कहने का तात्पर्य अवान्तरभेदपूर्वक ही समझना चाहिए।

## ( २ ) जल का लक्षण

जलका लक्षण करते हुए महर्षि निम्न सूत्र प्रस्तुत करते हैं-

**रूपरसस्पर्शवत्य आपो द्रवाः स्निग्धाः। ( २.१.२ )**

रूप, रस, स्पर्श वाले जल द्रवत्व और स्नेह गुण वाले हैं। प्रस्तुत सूत्र में जल के पांच गुणों का वर्णन किया है-

रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व एवं स्निग्ध (स्नेह)।

जल के गुणों का विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-

**रूपरसस्पर्शद्रवत्वस्नेहसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वगुरुत्वसंस्कारवत्यः ( आपः ) । ( प्रश.भा. )**

अर्थात् रूप, रस, स्पर्श, द्रवत्व, स्नेह, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, गुरुत्व, संस्कार इन चौदह गुणों वाले जल होते हैं।

सूत्रोक्त जल के पांच गुणों का अवान्तरभेद सहित वर्णन किया जा रहा है-

( क ) **रूप** - जल में अभास्वर-स्वच्छ शुक्ल रूप होता है। अभास्वर का अर्थ है- अप्रकाशक, स्वच्छ का अर्थ है- पारदर्शी, शुक्ल का तात्पर्य श्वेत से नहीं है। श्वेतरूप दूध में होता है जबकि पानी का रूप दूध से भिन्न होता है। यह अनुभवगम्य ही है।

( ख ) **रस** - जल में अव्यक्तमधुर रस होता है। अव्यक्त का तात्पर्य है अप्रकट। शक्कर इत्यादि में व्यक्तमधुर रस होता है, जबकि जल में मिठास तो होता है परन्तु शक्कर इत्यादि जैसा नहीं होता है। इसलिए जल का रस अव्यक्तमधुर माना जाता है।

( ग ) **स्पर्श**- जल का स्पर्श शीत (ठंडा) होता है। यह जल का विशेषगुण होता है। जैसा की द्रव्यों के वैशेषिकगुणों का उल्लेख करते हुए सूत्रकार ने कहा है- **अप्सु शीतता। ( २.२.५ )** अर्थात् जलों में शीत स्पर्श व्यवस्थितरूप से रहता है। जैसे पूर्वोक्त पृथिवी में केवल गन्ध व्यवस्थितरूप से रहता है वैसी ही जल में शीतस्पर्श।

( घ ) **द्रवत्व**- द्रव्यत्व दो प्रकार का होता है- ( १ ) सांसिद्धिक ( २ ) नैमित्तिक।

जल में सांसिद्धिकद्रवत्व होता है। सांसिद्धिक का तात्पर्य है- स्वाभाविक। जल स्वभाव से बहता है। अर्थात् स्वाभाविक द्रवत्व जल में होता है। जबकि पृथिवी में नैमित्तिकद्रवत्व होता है। कहने का तात्पर्य यह है कि पृथिवी स्वभाव से नहीं बहती है बल्कि अग्नि के संयोग से पिघलकर बहने लगती है। जैसे मोम, घृत, लौह, स्वर्ण इत्यादि पदार्थ में अग्नि के निमित्त से द्रवत्व होता है। इसलिए पार्थिव पदार्थों में नैमित्तिक द्रवत्व होता है, जबकि जल में सांसिद्धिक द्रवत्व होता है।

( क्त ) **स्निग्ध ( स्नेह )** - स्निग्धता का तात्पर्य यहाँ पर चिकनेपन से नहीं है। कारण यह है कि चिकनाई रूप स्निग्धता पार्थिव पदार्थों का ही गुण होता है, जल का नहीं। जैसे घृत, तैल इत्यादि द्रव्यों में जो चिकनाई है वह पार्थिव का ही धर्म है। तैल में भले ही द्रवत्व स्वाभाविक होता है, परन्तु उसमें जो पार्थिवांश है उससे ही चिकनाई होती है न कि तैलनिहित जल से। चूँकि तैल में भी जल होता ही है परन्तु उसका गुण चिकनाई नहीं है वह तो पार्थिव का ही धर्म है। चिकना, खुरदरा, नुकिला, इत्यादि स्पर्श के अन्तर्गत आने वाले गुण पृथिवी के ही सिद्ध होते हैं।

प्रस्तुतः स्निग्धता नामक गुण जलों का होता है। यह चिकनाई नहीं है। अपितु स्नेह नामक गुण कहलाता है। जो बिखरे हुये अवयवों को जोड़ने का काम करता है। जैसे बिखरे हुये आटे के कणों को जल डालकर पिण्ड बनाया जाता है। बालू-सिमेन्ट के मिश्रण में जल डालने से चिपक जाते हैं। इस प्रकार जोड़ने रूपी गुण का नाम स्निग्ध अथवा स्नेह है, जो कि जलों का विशेष गुण है। शेष संख्यादि सामान्य गुण कहलाते हैं, वे सभी द्रव्यों में सामान्य रूप से रहते हैं। जलों में पतन का हेतुभूत गुण का नाम गुरुत्व है, तथा संस्कार का तात्पर्य 'वेगनामक' संस्कार से है।

## ( ३ ) तेज का लक्षण

अब क्रमप्राप्त तीसरे तेज (अग्नि) नामक द्रव्य का लक्षण करते हुये सूत्रकार कहते हैं- **तेजो रूपस्पर्शवत्। ( १.१.३ )**

तेज रूप और स्पर्श वाला है। अर्थात् तेज में दो विशेष गुण होते हैं- रूप एवं स्पर्श। कुल गुणों की दृष्टि से तेज में ग्यारह गुण होते हैं। जिसका उल्लेख भाष्यकार ने निम्न प्रकार किया है-

**रूपस्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वद्रवत्वसंस्कारवत् ( तेजः )। ( प्रश.भा. )**

अर्थात् रूप, स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, द्रवत्व और संस्कार इन ग्यारह गुणों वाला तेज होता है। इनमें से सूत्रोक्त दो गुणों का वर्णन इस प्रकार है-

( क ) **रूप** - तेज (अग्नि) में भास्वर शुक्ल रूप होता है। भास्वर का अर्थ है प्रकाशक। जल में जो शुक्लत्व है उसे अभास्वरशुक्ल कहते हैं। जबकि तेज में भास्वर शुक्ल होता है।



(ख) स्पर्श - तेज का स्पर्श उष्ण (गर्म) होता है। यह तेज का वैशेषिक गुण भी है। जैसा कि वैशेषिककार ने कहा है-  
**तेजस्युष्णता। ( २.२.४ )**

अर्थात् तेज में उष्ण स्पर्श व्यवस्थित रूप से रहता है। तेज में उष्णता स्वाभाविक है जबकि जलादि में उष्णता औपाधिक है- अग्नि संयोग से है। तेज में भी संख्या इत्यादि गुण सामान्य है। तेज में जो द्रवत्व है, वह सुवर्णादि तैजस द्रव्यों का समझना चाहिए। वैशेषिक में तेज के भेद में सुवर्णादि पदार्थों को भी रखा गया है। इन्हें पार्थिव न कहकर शास्त्रकार ने तैजसद्रव्य कहा है। क्योंकि इनके चमक होता है। चमक-रश्मि यह तेज का धर्म होने से इन्हें तैजसद्रव्य की श्रेणि में वैशेषिककार ने अलग से रखा है। इसी कारण तेज के गुणों के अन्तर्गत 'द्रवत्व' को रखा गया है। संस्कार का तात्पर्य वेग नामक संस्कार से है।

#### ( ४ ) वायु का लक्षण

क्रमप्राप्त चौथे द्रव्य वायु का लक्षण महर्षि कणाद ने इस प्रकार किया है-

**स्पर्शवान् वायुः। ( २.१.४ )**

स्पर्शगुण वाला वायु होता है। वायु में अनुष्णाशीत स्पर्श होता है। अनुष्णाशीत स्पर्श पृथिवी में भी होता है, परन्तु पृथिवी में अनुष्णाशीत स्पर्शान्तर का अभिव्यजक नहीं होता है, जबकि वायु का अनुष्णाशीतस्पर्श स्पर्शान्तर का अभिव्यजक होता है। यह दोनों के गुणों में विशेषता है। स्पर्शान्तर का अभिव्यजक का तात्पर्य है, कि किसी भिन्न द्रव्यों के स्पर्श को उद्भूत (प्रकट) करना। जैसे नहाने के पश्चात् क्लेद तो होता ही है, परन्तु हवा के स्पर्श से अपेक्षाकृत ठंडक बढ़ जाती है। यहाँ पर वायु का स्पर्शगुण जल के शीतगुण को और अधिक प्रकट करने वाला सिद्ध होता है। इसी कारण इसे स्पर्शान्तर का अभिव्यजक कहा है। अतएव 'अनुष्णाशीत स्पर्शान्तराभिव्यजक स्पर्शगुण' वायु का वैशेषिक गुण सिद्ध होता है। वायु के समग्र गुणों का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-

**स्पर्शसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागपरत्वापरत्वसंस्कारवान् ( वायुः )। ( प्रश.भा. )**

अर्थात् स्पर्श, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग, विभाग, परत्व, अपरत्व, और संस्कार इन नौ गुणों वाला वायु है। इसमें से वायु का स्पर्श 'अनुष्णाशीत' होते हुये 'अपाकज' है। अर्थात् अग्नि के संयोग से इसका स्पर्श बदलता नहीं है, जैसा कि पृथिवी का स्पर्शादि गुण अग्नि के संयोग से बदल जाने के कारण 'पाकज' कहलाते हैं।

वायु में 'नानात्व' संख्या है। जैसा कि सूत्र वचन है-

**वायोर्वायुसंमूर्च्छनं नानात्वलिङ्गम् । ( २.१.१४ )**

अर्थात् वायु के अनेक खण्डों की परस्पर टक्कर नानात्व का लिङ्ग है। दो या दो से अधिक वायु खण्डों का परस्पर टक्कर होना वायु के नानात्व को सिद्ध करता है। कई बार ऐसा देखा जाता है - भिन्न दिशा और भिन्न गति वाले वायुखण्ड जिस जगह पर आपस में टकराते हैं, वहाँ धूलकण तिनके व पत्ते इत्यादि उपर की ओर आकाश में उड़ जाते हैं। वायु की स्वाभाविक गति तिर्यक् होती है, पर आपस में टकराकर ऊर्ध्वगति हो जाती है। जैसे जल की दो धाराएँ भिन्न दिशाओं से आकर आपस में टकराती हैं, तो वे जल टक्कर खाकर ऊपर को उछल जाते हैं, उनके साथ बहने वाले तिनके आदि भी ऊपर उछल जाते हैं। अतः जिस प्रकार तिनके आदि के ऊपर उछलने में दो धाराओं का टक्कर प्रत्यक्ष देखा जाता है। इसी प्रकार तिनके आदि का वायु के द्वारा ऊपर उछलने में हम वायु के सममूर्च्छन अर्थात् टक्कर का अनुमान कर लेते हैं। टक्कर एक में सम्भव नहीं हो सकता अतएव इससे वायु का 'नानात्व' का अनुमान हो जाता है। वायु में संस्कारगुण का तात्पर्य वेग से है।

**परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व**

पृथिवी आदि चारो द्रव्य के दो मुख्यतः भेद होते हैं- (क) कारणरूप (ख) कार्यरूप। कारणरूप पृथिव्यादि द्रव्य परमाणु के रूप में जाने जाते हैं तथा कार्यरूप द्रव्य घट-पटादि के रूप में अनुभव में आते हैं। वायु नामक द्रव्य भी कारण-कार्य उभय रूप में होता है। जो वायु हमें स्पर्श के द्वारा अनुभव में आती है वह कार्यवायु है। जबकि परमाणुरूप वायु अदृष्ट होने से अनुभव में नहीं आती। परन्तु बिना कारण द्रव्य के कार्यद्रव्य की उत्पत्ति सम्भव नहीं होती है। इस कारण से वैशेषिककार ने वायुनामक कारण द्रव्य के विषय में कहते हैं-

**अद्रव्यवत्त्वेन द्रव्यम्। ( २.१.११ )**

अन्यद्रव्य समवायिकारणवाला न होने से परमाणुरूप कारणवायु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। पृथिव्यादि कार्यद्रव्य का विभाग करते-करते अन्त में एक अवयवरूप परमाणु शेष रह जाता है। अन्त्य अवयव होने से उस परमाणु का कोई आश्रयद्रव्य अथवा समवायिकारण नहीं होता है। पृथिव्यादि द्रव्य की अवस्था को 'परमाणु' कहते हैं। जैसे पृथिवी, जल, तेज के मूल उपादान कारण परमाणु हैं, ऐसे ही अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादान (समवायिकारण)

परमाणु द्रव्य हैं। कार्य-वायु के अवयव विच्छिन्न होते हुये जब अन्त्य अवयव रूप अवस्था में पहुँच जाते हैं तब वह वायु की परमाणु अवस्था होती है। वह मूल द्रव्य है, उसके आगे उसका कोई समवायिकारण द्रव्य नहीं होता। इस प्रकार पृथिव्यादि परमाणु के समान वायु के परमाणु स्वीकार किये जाने से वह कारणद्रव्य सिद्ध होता है।

अनुभूयमान स्पर्शाधिकरण वायु के मूल उपादानकारण परमाणु द्रव्य है। इसकी सिद्धि के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु भी प्रस्तुत किया है। यथा-

#### **क्रियावत्वाद् गुणवत्त्वाच्च। ( २.१.१२ )**

क्रियावाला एवं गुणवाला होने से परमाणुरूप वायु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। जैसा कि द्रव्य के लक्षण में ही वैशेषिककार ने 'जो क्रियावाला, गुणवाला एवं समवायिकारण वाला हो उसे द्रव्य कहते हैं' ऐसा कहा है।

वायवीय परमाणु क्रिया का अधिकरण है, एक परमाणु का अन्य परमाणु के साथ संयोग होने के लिए क्रिया का होना आवश्यक है। अन्यथा सृष्टि का आरम्भही सम्भव नहीं है। सृष्टि का आरम्भ हुआ है इसलिए परमाणुओं में क्रिया की सिद्धि अनुमान से हो जाती है।

किसी भी कार्यद्रव्य में गुणों की जो उपलब्धि होती है, वह सहसा ही नहीं हो जाती बल्कि कारणगुणपूर्वक होती है। जैसा कि सूत्रकार ने कहा है-

#### **कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः। ( २.१.२४ )**

अर्थात् कारणद्रव्यों के गुणपूर्वक ही कार्य में गुण देखा जाता है। यथा- कार्य श्वेतपट में जो श्वेतगुण आया है, वह कारणश्वेततन्तु से आया है। जैसा तन्तु होता है वैसे ही पट होता है। यदि तन्तु श्वेत है तो पट भी श्वेत होगा, यदि तन्तु रक्त (लाल) है तो पट भी लाल ही होगा। यहाँ श्वेतपट के प्रति श्वेततन्तु को कारण कहा गया है। यह तो समझानेमात्र के लिए है। वस्तुतः एकमात्र कारणद्रव्य तो परमाणु ही होता है। मिट्टी-तन्तु इत्यादि में गौणरूप से 'कारण' पद का प्रयोग होता है।

उपरोक्त सूत्रवचन एवं दृष्टान्त के आधार पर कार्य घट-पटादि में जो गुण की उत्पत्ति होती है वह कारण परमाणु से ही होती है। अतः कारण परमाणु में गुण की सिद्धि कारण-कार्य की नियत व्यवस्था से हो जाती है। जैसा कि महर्षि ने प्रथम अध्याय में कहा भी है-

#### **कारणाभावात् कार्याभावः। ( १.२.१ )**

अर्थात् कारण के अभाव में कार्य का भी अभाव हो जाता है। कहने का तात्पर्य यह है कि परमाणु में यदि श्वेतादि कारणरूपों का अभाव होता तो कार्यपट में कार्यश्वेतरूप का भी अभाव हो जाता। कार्यपट में श्वेतरूप का भाव है इसका मतलब कारण में समानजातीय रूप की सिद्धि अन्वय एवं व्यतिरेक से हो जाती है। उपरोक्त सूत्र में सूत्रकार ने व्यतिरेकविधि के द्वारा कारण की सिद्धि बतायी है। आगे चतुर्थ अध्याय में अन्वयविधि के द्वारा कहा है। यथा-

#### **कारणभावात् कार्याभावः। ( ४.१.३ )**

अर्थात् कारण के होने से ही कार्य होता है। इसप्रकार अन्वय एवं व्यतिरेक के द्वारा कारणपरमाणु में गुण की भी सिद्धि हो जाती है। एतावता क्रिया एवं गुण का समवायसम्बन्धेन आश्रय होने से कारणरूप वायुपरमाणु का द्रव्यत्व सिद्ध होता है। कारण वायुपरमाणु में द्रव्यत्व की सिद्धि के अनन्तर नित्यत्व की सिद्धि करने की भावना से महर्षि कहते हैं-

#### **अद्रव्यत्वेन नित्यत्वमुक्तम्। ( २.१.१३ )**

कोई अन्यद्रव्य समवायिकारण न होने से नित्यत्व की सिद्धि होती है। तात्पर्य यह है कि परमाणु अंतिम अवयव होने से उसके अतिरिक्त और कोई अवयवद्रव्य उसमें संयुक्त नहीं होते हैं। इस कारण परमाणु निरवयव कहलाता है। किसी पदार्थ का नाश तभी होता है जब उसके कारण अवयवों का परस्पर विभाग कर दिया जाये और वह विभाग भी तब सम्भव है जब दो या दो से अधिक अवयव संयुक्त हो। परमाणु निरवयव होने से उसमें अन्य अवयव के सम्पर्क (संयोग) का अभाव होता है। जब संयोग ही नहीं तो विभाग का प्रश्न ही नहीं उठता। इस कारण से परमाणु में अन्य अवयव के संयोग एवं विभाग का अभाव होने से नाश का अभाव सिद्ध होता है। नाश के अभाव को ही 'नित्य' कहा जाता है। फलतः कारणवायुपरमाणु का नित्यत्व सिद्ध होता है।

#### **( ५ ) आकाश का लक्षण**

आकाश नामक पञ्चम द्रव्य का लक्षण वैशेषिककार ने 'निषेधमुख' से किया है। पृथिवीआदि का लक्षण महर्षि ने विधिमुख से किया है। तात्पर्य है कि अमुक-अमुक गुण वाला यह द्रव्य है- इसप्रकार की शैली को 'विधि' कहते हैं। इसके ठीक विपरीत अमुक-अमुक गुणवाला यह नहीं है- इस प्रकार की वचनशैली को 'निषेध' कहते हैं। आचार्य ने आकाश के विषय में इस प्रकार कहा है-

#### **त आकाशे न विद्यन्ते। ( २.१.५ )**

अर्थात् वे रूपादि गुण आकाश में नहीं होते हैं पूर्वोक्त पृथिव्यादि चारभूतों के वैशेषिक चार गुण- रूप, रस, गन्ध, एवं



स्पर्श आकाश में उपलब्ध नहीं होते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि आकाश अरूपवान्, अरसवान्, अगन्धवान् एवं अस्पर्शवान् है। तात्पर्य यह है कि आकाश बिना रूपवाला, बिना रसवाला, बिना गन्धवाला एवं बिना स्पर्शवाला है।

ऐसे में प्रश्न यह उठता है कि क्या ऐसे अगुणवान् पदार्थ को द्रव्य कहा जा सकता है? उत्तर- यह है कि 'नहीं'। कारण यह है कि महर्षि ने द्रव्य को गुणवान् कहा है। तब पुनः प्रश्न उठता है कि ऐसे अगुणवान् पदार्थ का कथन महर्षि ने द्रव्य के अन्तर्गत क्यों किया? इसका समाधान भाष्यकार ने आकाश के गुणों का उल्लेख करके कर दिया है। आकाश में रूपादि चार गुण नहीं होते हैं- इसका तात्पर्य यह नहीं कि उसमें उनके अतिरिक्त और कोई गुण ही नहीं होता। भाष्यकार ने आकाश के गुणों का उल्लेख इस प्रकार किया है-

**तत्राकाशस्य गुणाः शब्दसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। ( प्रश्.भा. )**

अर्थात् शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये छः गुण आकाश के होते हैं। इनमें से 'शब्द' आकाश का 'वैशेषिक' गुण है। आकाश के 'शब्द' नामक वैशेषिक गुण को भी आचार्य ने सीधा-सीधा विधिमुख से उपदेश न करके निषेध मुख से कहा है। 'नेति-नेति' का सहारा लेकर वैशेषिकाचार्य ने इस प्रकार कहा है-

**कार्यान्तराप्तादुर्भावाच्च शब्दः स्पर्शवतामगुणः। ( २.१.२५ )**

अर्थात् कार्य से भिन्न कारण अवयवों से (शब्द का) प्रादुर्भाव न होने से स्पर्शवाले पृथिवी, जल, तेज और वायु चार द्रव्यों का गुण शब्द नहीं है।

पूर्वोक्त कार्यरूपादि की उत्पत्ति जिस प्रकार कारणगुणपूर्वक होती है, उस प्रकार कार्यशब्द की उत्पत्ति पृथिव्यादि चारभूतों के कारण-अवयवपूर्वक नहीं होती है; क्योंकि पृथिव्यादि चारों भूतों के रूपादि गुणों की उपलब्धि सतत हुआ करती है, परन्तु शब्द की उपलब्धि सतत नहीं हो पाती। इससे पता चलता है कि शब्द पृथिव्यादि चार भूतों का गुण नहीं है।

इसके अतिरिक्त पृथिवी आदि के रूपादि गुण जब तक कार्यद्रव्य बना रहता है तब तक एकसमान उपलब्ध होते हैं। पटगत शुक्लरूप जबतक पट बना रहता है, एकसमान प्रतीत होता है, उसमें तारतम्य नहीं होता है। परन्तु वीणा आदि के द्वारा अभिव्यक्त शब्द तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर, मन्दतम होकर वीणा के रहते ही अन्ततः नष्ट भी हो जाता है। जबकि वीणा आदि पदार्थों के रहते उनके स्वगत रूपादि गुण की उपरोक्त शब्द जैसी प्रतीति न होकर एकसमान होती है। इससे स्पष्ट होता है कि रूपादिगुण जिस प्रकार चारों भूतों के अपने स्वाभाविक गुण हैं, उस प्रकार शब्द नहीं है, अतएव 'शब्द' पृथिवी, जल, तेज, एवं वायु नामक चारभूतों के धर्म नहीं है।

आचार्य के इसप्रकार निषेध करने पर प्रश्न उठ सकता है, कि शब्द, पृथिव्यादि चारभूतों के गुण भले ही न हो परन्तु आत्मा आदि शेष भूतों का गुण भी तो हो सकता है? ऐसी आशंका किसी के मन में न उठे इसके लिए आचार्य ने स्वयं की इसका निषेध किया। यथा-

**परत्र समवायात् प्रत्यक्षत्वाच्च नात्मगुणो न मनोगुणः। ( २.१.२६ )**

अर्थात् अन्यत्र (आकाश में) समवायसम्बन्ध से प्रत्यक्ष होने से यह (शब्द) न तो आत्मा का गुण है, और न ही 'मन' का गुण है।

सूत्र में दो हेतुपद हैं- (क) परत्रसमवायात् (ख) प्रत्यक्षत्वात्। आत्मा एवं मन को अलग-अलग पढ़ा है। आत्मा में शब्दगुण के निषेध के लिये दोनों हेतु प्रयुक्त हैं, जबकि मन में निषेध के लिए केवल दूसरा हेतु। यथा- **परत्रसमवायात् परत्रप्रत्यक्षत्वाच्च शब्दो नात्मगुणः। मनसि शब्दाभावस्य प्रत्यक्षत्वात् शब्दो न मनोगुणः।**

इसी कारण सूत्रकार ने 'नात्ममनसोर्गुणः' ऐसा समासयुक्त पाठ नहीं किया है। दूसरे हेतु का मन के साथ समन्वय से दिक् और काल का यहां समुच्चय कर लेना चाहिए, क्योंकि यह हेतु समानरूप से दिक् एवं काल में भी शब्दगुण होने का 'प्रतिषेधक' है।

सूत्र का आशय यह है कि शब्दगुण आत्मा में समवेत न रहकर आत्मा से अन्य द्रव्य में समवेत रहता है, इसलिए शब्द को आत्मा का गुण नहीं माना जा सकता। यदि शब्द को आत्मा का गुण माना जाये तो आत्मा अपने सुखादि गुणों के ग्रहणकाल में 'अहंसुखी, अहं जानामि, अहं इच्छामि' इत्यादि अनुभव करता है, ऐसे ही 'अहं वाद्ये, अहं शब्दवान्' इत्यादि अनुभव होना चाहिए। सुखी-दुःखी, ज्ञानवान् आदि अनुभव के समान मैं बज रहा हूँ, मैं शब्दवाला हूँ- ऐसा अनुभव होना चाहिए, परन्तु ऐसा अनुभव नहीं होता है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द आत्मा का गुण नहीं है, अन्य किसी का है।

इसके अतिरिक्त यह भी ज्ञातव्य है कि आत्मा के सुखादि गुणों की उपलब्धि बाह्यकरणों के द्वारा न होकर अन्तःकरणों के द्वारा होता है, जबकि शब्दगुण की उपलब्धि बाह्यकरण श्रोत्र के द्वारा होता है। इस कारण से भी शब्द आत्मा का गुण नहीं हो सकता।

ठीक उसी प्रकार शब्द मन का भी गुण नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द का प्रत्यक्ष होता है, परन्तु मन के किसी गुण का

प्रत्यक्ष नहीं होता। गुण का प्रत्यक्ष होने के लिए गुणाधिकरण द्रव्य का महत्परिमाण होना आवश्यक है जबकि मन अणुपरिमाण वाला होता है। मन के किसी भी गुण का प्रत्यक्ष नहीं होता बल्कि अनुमान से ज्ञान होता है, क्योंकि 'मन' स्वयं अप्रत्यक्ष है तो उसका गुण प्रत्यक्ष कैसे हो सकता? यदि शब्द मन का गुण होता तो उसका प्रत्यक्ष नहीं होना चाहिए, बल्कि शब्द का प्रत्यक्ष होता है। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द मन का गुण नहीं है अपितु किसी और का गुण है।

शब्द के प्रतिपृथिव्यादि चारभूतों का निषेध पूर्वसूत्र में कर दिया गया। प्रस्तुत सूत्र में काल, दिशा, आत्मा एवं मन-इन शेष चार द्रव्यों का भी निषेध कर दिया। तो आखिर शब्द किसका गुण है? ऐसी आशंका होने पर आचार्य स्वयं कहते हैं-

### परिशेषाल्लिङ्गमाकाशस्य। ( २.१.२७ )

अर्थात् परिशेषन्याय से आकाश का गुण शब्द सिद्ध होता है।

पृथिवी आदि नौ द्रव्यों में से जिन आठ द्रव्यों का गुण शब्द नहीं हो सकता उनसे बचकर एकद्रव्य शेष रह जाता है। जिसका नाम आकाश है। दसवां द्रव्य है नहीं। अतएव शब्द गुण आकाश का लिङ्ग-लक्षण है। क्योंकि शब्द बाह्यइन्द्रिय से ग्राह्य होने से 'गुण' है, और गुण बिना द्रव्य के आश्रय से रह नहीं सकता। आठ द्रव्यों का निषेध हो जाने पर शेष बचा आकाश नामक द्रव्य के ही मत्थे चढ़ जाता है। इस प्रकार शब्दगुणवाला आकाश है- यह आकाश का लक्षण होता है। फलतः शब्द आकाश का गुण सिद्ध होता है।

आकाश में 'एकत्व' संख्या हैं जिसका उल्लेख करते हुये सूत्रकार ने इस प्रकार कहा है-

### तत्त्वं भावेन। ( २.१.२९ )

अर्थात् आकाश का एक होना भाव यानि सत्ता के द्वारा व्याख्यान समझना चाहिए।

प्रस्तुत सूत्र में पूर्व-सूत्र से 'व्याख्याते' पद की वचनविपर्यय से अनुवृत्ति है। जिस प्रकार 'सदृश' ज्ञान की प्रतीति सर्वत्र एक होने से और भेद बोधक प्रमाण का अभाव होने से 'सत्ता' के एकत्व की सिद्धि होती है। ठीक उसी प्रकार से सर्वत्र शब्द गुण की प्रतीति एक होने से एवं शब्दों में भेदक प्रमाण के अभाव होने से शब्द के समवायिकारण आकाश के 'एकत्व' की सिद्धि का व्याख्यान समझ लेना चाहिए- ऐसा सूत्र का आशय है।

आकाश में परिमाण का तात्पर्य परममहत्परिमाण से है। इस प्रकार से 'शब्द' वैशेषिकगुण वाला आकाश हैं जिसमें कुल- (शब्द, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग) छः गुण होते हैं।

### स्मरणीय बिंदु (Points to Remember):-

- वायु का लक्षण वायु का मुख्य लक्षण रूपरहित स्पर्श स्पर्शवान् वायुः है। यह नित्य परमाणु रूप और अनित्य कार्य रूप जैसे शरीर, इन्द्रिय, विषय दो प्रकार की होती है।
- आकाश का अस्तित्व आकाश का लक्षण शब्द है शब्दलिङ्गमाकाश शब्द एक गुण है जिसका आश्रय केवल आकाश ही हो सकता है, क्योंकि यह अन्य आठ द्रव्यों में नहीं पाया जाता।
- विशेष की अनिवार्यता दो समान परमाणुओं के बीच भेद करने के लिए विशेष पदार्थ आवश्यक है। यह केवल नित्य द्रव्यों में रहता है, इसलिए इसे अन्त्य विशेष कहते हैं।
- सत्ता की नित्यता सत्ता द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न है। कार्य-द्रव्यों के नष्ट होने पर भी सत्ता परमाणुओं में बनी रहती है, अतः यह नित्य है।

### शब्दावली (Glossary - Points)

1. स्पर्शविशेषाद्वायुः वायु का वह विशेष गुण ठंडा, गर्म या साधारण स्पर्श जो आँखों से न दिखने पर भी त्वचा के माध्यम से उसके अस्तित्व को सिद्ध करता है।
2. अन्त्य विशेष वह पदार्थ जो सृष्टि के मूल तत्त्वों परमाणुओं में रहता है। इसे अन्त्य इसलिए कहते हैं क्योंकि यह विश्लेषण की अंतिम सीमा नित्य द्रव्यों पर पाया जाता है।
3. शब्द लिंग शब्द जिसका एकमात्र लिंग पहचान का चिह्न है। यह आकाश की सत्ता को सिद्ध करने वाला प्रमुख तर्क है।
4. विभुत्व आकाश और आत्मा जैसे द्रव्यों का वह गुण जो उन्हें सर्वव्यापी बनाता है, अर्थात् वे स्थान और काल की सीमाओं से परे हर जगह विद्यमान हैं।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Questions)

1. सत्ता के स्वरूप की व्याख्या कीजिए। वह द्रव्य, गुण और कर्म से भिन्न और नित्य कैसे है? प्रमाण सहित स्पष्ट करें।
2. द्रव्य, गुण और कर्म का उनके द्रव्यत्व, गुणत्व, कर्मत्व से भिन्न होने के क्या कारण हैं? वैशेषिक दर्शन के तर्कों का वर्णन करें।
3. वैशेषिक दर्शन में विशेष नामक पाँचवें पदार्थ की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए। यह सामान्य-विशेष जाति से किस प्रकार भिन्न है?

### लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Questions)

4. सत्ता के एकत्व को सिद्ध करने के लिए क्या प्रमाण दिया गया है?
5. प्रलय काल में भी सत्ता का विनाश क्यों नहीं होता?
6. द्रव्यत्व को पृथ्वी आदि द्रव्यों से अभिन्न क्यों नहीं माना जा सकता?
7. अन्त्य विशेष किसे कहते हैं?
8. विशेष पदार्थ का ज्ञान सामान्य मनुष्यों को क्यों नहीं होता?

### बहुविकल्पीय प्रश्न (Multiple Choice Questions)

1. सदिति लिंगाविशेषाद्....सूत्र किस पदार्थ की एकता सिद्ध करता है?  
(A) द्रव्य  
(B) गुण  
(C) सत्ता  
(D) कर्म
2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार विशेष नामक पदार्थ कहाँ रहता है?  
(A) कार्य द्रव्यों में  
(B) नित्य द्रव्यों परमाणुओं में  
(C) सामान्य में  
(D) केवल पृथ्वी में
3. सत्ता का विनाश क्यों संभव नहीं है?  
(A) क्योंकि यह अनेक है  
(B) क्योंकि यह परमाणु में आश्रित है और नित्य है  
(C) क्योंकि यह अनित्य है  
(D) इनमें से कोई नहीं
4. महर्षि कणाद के शास्त्र का नाम वैशेषिक क्यों पड़ा?  
(A) सामान्य के वर्णन के कारण  
(B) ईश्वर के वर्णन के कारण  
(C) विशेष नामक विलक्षण पदार्थ के निरूपण के कारण  
(D) कर्म के सिद्धांत के कारण
5. योगियों को परमाणुओं के बीच भेद करने में कौन सहायता करता है?  
(A) सामान्य  
(B) द्रव्यत्व  
(C) विशेष  
(D) गुणत्व

## इकाई-4.2 - आकाश का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व, आकाश की असिद्धि में नास्तिक मत का खण्डन, शब्द का अनित्यत्व

उद्देश्य:-

- आकाश की सत्ता को सिद्ध करना शब्द गुण के माध्यम से आकाश के द्रव्यत्व, नित्यत्व और एकत्व का तार्किक विश्लेषण करना।
- चार्वाक मत का खंडन निष्क्रमण बाहर जाना और प्रवेशन अंदर आना जैसे तर्कों से यह सिद्ध करना कि अवकाश कोई अभाव नहीं, बल्कि आकाश नामक एक धनात्मक द्रव्य है।
- शब्द की अनित्यता का विवेचन मीमांसकों के शब्द नित्यत्व का खंडन कर वैशेषिक मत के अनुसार शब्द की उत्पत्ति और विनाश को समझना।
- काल का ज्ञान काल के लक्षणों पर-अपर, क्षिप्र-चिर और उसकी गणना की इकाइयों क्षण, निमेष आदि का परिचय प्राप्त करना। स्मरणीय बिंदु
- आकाश का लक्षण शब्द लिंगमाकाश अर्थात् शब्द जिसका एकमात्र चिह्न है। आकाश विभु सर्वव्यापी और नित्य द्रव्य है।
- वायुना व्याख्यात जिस प्रकार वायु का प्रत्यक्ष न होने पर भी स्पर्श से उसका अनुमान होता है, उसी प्रकार आकाश का प्रत्यक्ष न होने पर भी शब्द गुण से उसका अनुमान द्रव्यत्व और नित्यत्व सिद्ध होता है।
- शब्द की उत्पत्ति शब्द तीन कारणों से उत्पन्न होता है संयोग भेरी-दण्ड, विभाग वंश-दल विदारण, और शब्द शब्द से शब्द की उत्पत्ति।
- काल का अस्तित्व ज्येष्ठता परत्व और कनिष्ठता अपरत्व का ज्ञान काल के कारण ही संभव है। काल एक, नित्य और विभु द्रव्य है।
- शब्द-संतान सिद्धांत शब्द वीचि-तरंग लहरों की तरह या कदम्ब-कोरक कदम्ब के फूल की कलियों की तरह न्याय से एक स्थान से दूसरे स्थान श्रोत्र तक पहुँचता है।

### आकाश का द्रव्यत्व एवं नित्यत्व

आकाश नामक पञ्चमद्रव्य के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में वायु के हेतुओं का स्मरण कराते हुये आचार्य कहते हैं-  
**द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। ( २.१.२८ )**

अर्थात् आकाश के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व को वायु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के व्याख्यान के समझ लेना चाहिए। आचार्य हेतुओं की पुनरुक्ति के भय से केवल स्मरणमात्र कराना श्रेष्ठ समझते हैं। इसलिए उन हेतुओं का पुनः कथन न करके 'वायुना व्याख्याते' अर्थात् वायुविषयक कथन से व्याख्यात हो गये- ऐसा कह दिया है।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से नित्यत्व तथा क्रिया एवं गुणवान् होने से द्रव्यत्व सिद्ध होता है उसी प्रकार आकाश के भी अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से अर्थात् निरवयव होने से नित्यत्व तथा शब्द नामक गुणवाला होने से द्रव्यत्व सिद्ध होता है।

वायु के द्रव्यत्व की सिद्धि में सूत्रकार ने **क्रियावत्त्वाद् गुणवत्त्वाच्च** अर्थात् क्रियावान् एवं गुणवान् दोनों होने से ऐसा कहा है। परन्तु आकाश सर्वगत विभुपरिमाण होने से उसमें क्रिया का अभाव होने से निष्क्रिय होता है। इसलिए केवल 'गुणवान्' होने से ही द्रव्यत्व की सिद्धि हो जाती है।

एक बात विशेष ध्यातव्य है कि यदि लक्षणसूत्रों में पठित एक भी धर्म घटित हो जाता है तो उसे द्रव्य कहा जा सकता है। लक्षणसूत्र में पठित समस्त गुण एक द्रव्य में घटित हो ऐसा आवश्यक नहीं है। समस्त द्रव्यों के समावेश के लिए सूत्र में व्यापक लक्षण किया गया है न कि किसी एक द्रव्य के लिए।

### आकाश की असिद्धि में नास्तिक मत का खण्डन

चार्वाक जैसे नास्तिकशिरोमणि केवल चार ही भूतों (पृथिवी, जल, तेज, व वायु) का अस्तित्व स्वीकार करता है। आकाश के विषय में उसका कहना है कि चारों भूतों के अभाव को ही आस्तिक लोग आकाश कह देते हैं। वस्तुतः आकाश कोई भावात्मक पदार्थ नहीं है। भावात्मक भूतों के रूप में केवल चार ही भूत (पृथिवी, जल, तेज, वायु) सिद्ध होते हैं, क्योंकि उन्हीं का प्रत्यक्ष होता है, आकाश का प्रत्यक्ष न होने से वह असिद्ध होता है।

इस विषय में वैशेषिकाचार्यों का कहना यह है कि किसी वस्तु के अस्तित्व का नियामक केवल प्रत्यक्ष ही नहीं होता है। अपितु दो प्रमाणों से वस्तु के अस्तित्व का निर्धारण होता है- प्रत्यक्ष एवं अनुमान। जिस पदार्थ का ज्ञान प्रत्यक्ष से सम्भव नहीं है उसका ज्ञान अनुमान से होता है। जैसे - धूम से अग्नि का ज्ञान, अप्रत्यक्ष लौह पिण्डगत उष्णता से अग्नि का अनुमान इत्यादि। ऐसे स्थलों में कतिपय प्रत्यक्ष लिंग के आधार पर अप्रत्यक्ष लिंगी का अनुमान होता है। ठीक इसी प्रकार अनुमान द्वारा आकाश नामक

द्रव्य की भी सिद्धि हो जाती है, इस विषय में वैशेषिककार निम्न सूत्रों का उल्लेख करते हैं-

**निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिङ्गम्। ( २.१.२० )**

निकलना(अन्दर से बाहर जाना), प्रवेश करना (बाहर से अन्दर जाना) इस प्रकार की क्रिया आकाश के अस्तित्व का लिङ्ग-बोधक है।

तात्पर्य यह है कि बिना अवकाश (रिक्तस्थान) के कोई भी क्रिया आत्मलाभ नहीं कर सकती है। चारों ओर पार्थिवादि पदार्थों से भरे स्थलों में क्रिया की निष्पत्ति सम्भव नहीं है। किसी वस्तु में क्रिया तभी सम्भव है जब उसके चारों ओर रिक्तस्थान हो। उसके बिना क्रिया सम्भव नहीं हो सकती। अतएव क्रिया का आश्रयभूत द्रव्य का नाम आकाश है। वह कोई अभावात्मक पदार्थ नहीं है। अतः निष्क्रमण एवं प्रवेशन रूप लिंग से अवकाशस्वरूप (रिक्त स्थान रूप) आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है

अब प्रश्न यह उठता है कि निष्क्रमण एवं प्रवेशनरूप क्रिया का आधारभूत आकाश है तो क्या वह क्रिया का समवायिकारण है? यदि ऐसा है तो आकाश को निष्क्रिय क्यों कहा जाता है? तब सूत्रकार दूसरा सूत्र देते हैं-

**तदलिङ्गमेकद्रव्यत्वात् कर्मणः। ( २.१.२१ )**

क्रिया के एकमात्र मूर्तद्रव्य समवायिकारण वाला होने से निष्क्रमण-प्रवेशनादि क्रिया आकाश का उस प्रकार का लिंग नहीं है अर्थात् क्रिया का समवायसम्बन्धेन आश्रय आकाश नहीं है। इसलिए निष्क्रमण एवं प्रवेशन को जो आकाश का लिंग कहा है वह समवायिकारण का लिङ्ग नहीं है।

तब पुनः प्रश्न उठता है कि निष्क्रमण एवं प्रवेशन का समवायिकारण आकाश नहीं है, तो असमवायिकारण मान लिया जाए? तब इसका भी निषेध करते हुए आचार्य कहते हैं-

**कारणान्तरानुक्लृप्तिवैधर्म्याच्च। ( २.१.२२ )**

असमवायिकारण के लक्षण के विरुद्ध धर्म वाला होने से निष्क्रमणादि क्रियाओं का आकाश असमवायिकारण भी नहीं हो सकता है।

सूत्र में अनुक्लृप्ति शब्द का अर्थ है- 'लक्षण'। अनुक्लृप्तिर्लक्षणम् अनुकल्प्यते ज्ञाप्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या। 'जिससे जनाया जाये' इस व्युत्पत्ति के आधार पर अनुक्लृप्ति का अर्थ 'लक्षण' होता है।

'कारणान्तर' अर्थात् समवायिकारण से भिन्न 'असमवायिकारण की अनुक्लृप्ति' नाम लक्षण से विपरीत धर्म वाला होने से-यह सूत्रार्थ है।

आकाश में असमवायिकारण की योग्यता नहीं है, क्योंकि द्रव्य कभी भी असमवायिकारण नहीं होता। असमवायिकारण सदैव गुण एवं कही-कही कर्म होता है। अतः असमवायिकारण की योग्यता से विरुद्ध धर्म वाला होने से आकाश निष्क्रमणादि कर्मों का असमवायिकारण नहीं हो सकता है।

ऐसे में प्रश्न यह उठ सकता है, कि जब क्रिया का समवायिकारण एवं असमवायिकारण दोनों ही आकाश नहीं है, तो यह सुनिश्चित होता है, कि आकाश का अस्तित्व ही नहीं है। तब वैशेषिककार क्रिया का निमित्त कारण के रूप में आकाश को बताते हुये कहते हैं-

**संयोगादभावः कर्मणः। ( २.१.२३ )**

कर्म का संयोग से अभाव हो जाने के कारण क्रियामात्र का निमित्तकारण आकाश सिद्ध होता है।

तात्पर्य यह है कि पूर्वदेश से वस्तु का विभाग एवं उत्तरदेश के साथ वस्तु का संयोग होना कर्म कहलाता है। जैसे ही उत्तरदेश के साथ वस्तु का संयोग होता है उसी क्षण क्रिया का नाश माना जाता है, क्योंकि 'कार्यविरोधि कर्म' इस पूर्वोक्त सूत्र के आधार पर कर्म अपने कार्य के द्वारा नाश है। अतः कर्म का कार्य यहाँ पर उत्तरदेश के साथ 'संयोग' है। इसलिए 'संयोग' से कर्म का नाश माना जाता है। इस तरह से उत्तरोत्तर अनेक संयोग-विभाग होने से अनेक कर्म स्वीकार किया जाता है। जैसे धनुष से छोड़ा हुआ बाण में अपने लक्ष्य तक पहुंचने तक भले ही हमें एक ही कर्म प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में अनेक उत्तरोत्तर देश के साथ संयोग द्वारा एक-एक कर्म का नाश मानने पर खण्ड-खण्ड रूप में अनेक कर्म सिद्ध होते हैं। नाना कर्मों का सातत्य ही कर्म के एकत्व होने में भ्रम पैदा करता है। इस तथ्य को पञ्चम अध्याय के- **इषावयुगपत् संयोगविशेषाः कर्मान्यत्वे हेतुः नोदनादाद्यमिषोः कर्म तत्कर्मकारिताच्च संस्कारादुत्तरं तथोत्तरमुत्तरं च। ( ५.१.१६-१७ )** इन सूत्रों में विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

अस्तु! क्रिया के निवृत्ति में जो उत्तरदेश के साथ 'संयोग' को कारण कहा गया है, वह संयोग अवकाश नामक द्रव्य के बिना सम्भव नहीं है। जिस पदार्थ को 'उत्तरदेश' पद से कहा जाता है, वह आकाश के अतिरिक्त और कुछ सम्भव ही नहीं है अतः क्रिया के आधारभूत आकाश का निमित्त कारणत्व सिद्ध होता है। आकाश को क्रिया का आश्रय समवायसम्बन्धेन नहीं कहा गया है बल्कि 'संयोगसम्बन्धेन' कहा गया है। इस कारण से क्रिया का निमित्तकारण आकाश सिद्ध होता है। क्रिया का समवायिकारण तो इषु (बाण) इत्यादि द्रव्य है तथा असमवायिकारण गुरुत्व, प्रयत्न, वेग इत्यादि गुण हैं।



नास्तिकों के द्वारा जो यह कहा जाता है, कि चारोंभूतों के अभाव को ही आकाश कह दिया जाता है। इसलिए आकाश का कोई अस्तित्व नहीं है, वह अभावरूप है।

इस विषय में वैशेषिकाचार्यों का कहना है कि, अभाव के प्रतियोगी एवं अनुयोगी के विचार से भी आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है। जैसे उदाहरण के लिए घटाभाव को लेते हैं। 'घटाभाव' के विरोधी को प्रतियोगी तथा घटाभाव के अधिकरण को अनुयोगी कहा जाता है। प्रस्तुत दृष्टान्त में घटाभाव का प्रतियोगी स्वयं 'घट' ही है। क्योंकि अभाव का विरोधी भाव ही हाता है, जो कि घटरूप ही है। तथा घटाभाव का अनुयोगी (अधिकरण) भूतल है। कारण यह है कि घट का अभाव जहाँ पर (जिस अधिकरण में) होता है, वह भूतल ही है। भूतलरूप अधिकरण के अभाव में 'घटाभाव' भी प्रतीत नहीं होगा, क्योंकि घटाभाव को हम किस जगह देखेंगे? अतः अनुयोगी रूप भूतल का अस्तित्व अनिवार्य सिद्ध होता है।

ठीक इसी प्रकार उपरोक्तीति से 'चतुर्भूताभाव' के प्रतियोगी एवं अनुयोगी का जब विचार करते हैं, तो पाते हैं, कि 'चतुर्भूताभाव' का प्रतियोगी स्वयं चारों भूत हैं तथा अनुयोगी यहाँ पर आकाश सिद्ध होता है, क्योंकि चारों भूतों का अभाव जहाँ पर (जिस अधिकरण में) है, वह अधिकरण आकाश भावात्मक द्रव्य ही हो सकता है, अभावात्मक नहीं। अन्यथा 'अभाव' कहना ही व्यर्थ हो जायेगा। कारण यह है कि 'अभाव' का अनुयोगी एवं प्रतियोगी दोनों भावात्मक पदार्थ ही होते हैं अतएव जिसके मत में चारोंभूतों के अभाव को ही आकाश कहा जाता है। उनके मत के अनुसार भी चतुर्भूताभाव का अनुयोगीभूत (अधिकरणभूत) आकाश का अस्तित्व सिद्ध होता है, जो कि अभावरूप न होकर भावरूप है।

### शब्द का अनित्यत्व

आकाश नामक द्रव्य की परीक्षा के क्रम में उसके शब्दगुण की परीक्षा का अवसर भी प्रसंगतः प्राप्त होता है। क्योंकि शब्द को परिशेषन्याय से आकाश का गुण सिद्ध किया जाता है। शब्द के संदर्भ में विप्रतिपत्ति हाने से उसके समाधान के लिए शब्द की परीक्षा अनिवार्य हो जाती है।

शब्द के विषय में कोई आचार्य तो नित्यत्व का प्रतिपादन करता है, यथा मीमांसा के आचार्य, व्याकरण के आचार्य। ठीक इसके विपरीत कई आचार्य अनित्यत्व का प्रतिपादन करते हैं, यथा- सांख्य के आचार्य, न्याय के आचार्य। ऐसे में संशय होता है, कि शब्द नित्य है अथवा अनित्य? अतः इसकी परीक्षा अनिवार्य है। इसी क्रम में वैशेषिककार सर्वप्रथम शब्द का लक्षण बताते हैं, ताकि जिसके विषय में परीक्षा होने जा रही है, उसको स्वरूप का बोध पहले आवश्यक है। शब्द का लक्षण बताते हुये आचार्य कहते हैं-

**श्रोत्रग्रहणो योऽर्थः स शब्दः। ( २.२.२१ )**

श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण किया जाने वाला जो अर्थ है, वह शब्द कहलाता है।

**श्रोत्रग्राह्यत्वं शब्दत्वम्** - ऐसा शब्द का लक्षण है। 'शब्द' का इसप्रकार लक्षण करने से कतिपय आचार्यों के द्वारा जो स्फोटात्मक शब्द की कल्पना की गयी है, उसका खण्डन हो जाता है, क्योंकि स्फोटात्मक शब्द ध्वनि से अभिव्यंग्य नित्य आत्मारूप होता है, जबकि वैशेषिककार ऐसे पदार्थ को शब्द संज्ञा की स्वीकृति प्रदान नहीं करते हैं। अतः जो पदार्थ श्रोत्र का विषय है वही शब्द है, स्फोटादि शब्द नहीं है।

शब्द को नित्य कहने वालों का कहना है कि शब्द उत्पत्ति एवं विनाशधर्म से रहित होता है। शब्द की न तो उत्पत्ति होती है, और न ही नाश, बल्कि शब्द की अभिव्यक्ति एवं अनभिव्यक्ति होती है। अर्थात् शब्द संयोग-विभाग से प्रकट होता है। जैसे दीपक के प्रकाश का अंधेरे में विद्यमान घटादि पदार्थों के रूपों के साथ संयोग होने पर घटादि का रूप जिस प्रकार प्रकट होता है, उत्पन्न नहीं। ठीक उसी प्रकार पूर्वविद्यमान शब्द भी संयोग-विभागादि के द्वारा अभिव्यक्तिमात्र होती है, उत्पत्ति नहीं।

उपरोक्त मत का खण्डन करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

**सतो लिंगाभावात्। ( २.२.२६ )**

पूर्वविद्यमान होता हुआ (शब्द के नित्यत्व में) लिंग प्रमाण का अभाव होने से (शब्द का नित्यत्व बाधित हो जाता है।)

वैशेषिककार का प्रस्तुत सूत्र में अभिप्राय यह है कि उच्चारण से पूर्व एवं पश्चात् शब्द के विद्यमान रहने में कोई लिंग-प्रमाण नहीं है, जिसके आधार पर यह दावे के साथ कहा जा सके कि शब्द उच्चारण से पूर्व एवं पश्चात् रहता ही है। इसके विपरीत यह भी कहा जा सकता है कि शब्द उच्चारण से पूर्व नहीं था तथा पश्चात् भी नहीं रहेगा। अर्थात् शब्द का नाश हो जायेगा। अतः दोनों तरफ तुल्यवचनविरोध होने से शब्द के नित्यत्व का ऐकान्तिक कथन नहीं हो सकता। इसके आगे महर्षि और कहते हैं-

**नित्यवैधर्म्यात्। ( २.२.२७ )**

शब्द का नित्य के साथ वैधर्म्य होने से (उसके नित्यत्व का कथन ठीक नहीं है)

जो पदार्थ नित्य होता है वह एक समान भी होता है। जैसे सभी पार्थिव परमाणु एकसमान होते हैं, सभी आत्माएं चैतन्यरूप में एकसमान होती हैं। परन्तु शब्द में ऐसा नहीं होता है। एक ही 'शब्द' चैत्र के द्वारा भिन्न प्रकार से उच्चरित होता है, जबकि मैत्र के द्वारा भिन्न प्रकार से उच्चरित होता है। शब्द के इसी भेद के कारण चैत्र-मैत्रादि के व्यवहित होने पर भी शब्दभेद के आधार

पर उनकी पहचान कर लेते हैं। यदि शब्द नित्य होता तो उनमें परस्पर भेद नहीं होना चाहिए परन्तु होता है। अतः नित्य पदार्थों से विपरीत धर्म वाला होने से शब्द के नित्यत्व का प्रतिषेध होता है।

शब्द के अनित्यत्व में हेतु प्रस्तुत करते हुये आचार्य पुनः कह रहे हैं-

**अनित्यश्चायं कारणतः। ( २.२.२८ )**

यह शब्द कारण वाला होने से अनित्य है। नित्यपदार्थ कारणवाला नहीं होता है, जैसा कि चतुर्थ अध्याय में शास्त्रकार ने कहा है- **सदकारणवन्नित्यम्। ( ४.१.१ )** जो सत् हो एवं अकारणवाला हो अर्थात् जिसका कोई कारण न हो वह नित्य कहलाता है। शब्द, संयोग एवं विभागरूप कारणवाला है। भेरीदण्ड संयोग एवं कपड़े आदि के दो खण्डों का परस्पर विभागरूप कारण से शब्द की उत्पत्ति देखी जाती है। इस कारण से शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

इस पर पूर्वपक्ष यह कह सकता है कि शब्द की उत्पत्ति में संयोग-विभाग कारण सिद्ध नहीं होता है, अपितु संयोग-विभाग शब्द की अभिव्यक्ति में कारण होता है। ऐसी आशंका होने पर सूत्रकार पुनः कहते हैं-

**न चासिद्धं विकारात्। ( २.१.२९ )**

शब्द का कारणत्व असिद्ध नहीं है अर्थात् सिद्ध है, क्योंकि विकारवाला होने से ।

शब्द में विविध प्रकार के विकार अनुभव में आते हैं। यथा- तीव्रतम, तीव्रतर, तीव्र, मन्द, मन्दतर एवं मन्दतम आदि शब्दगत भेद प्रत्येक व्यक्ति को स्पष्ट प्रतीत होता है। शब्द में यह विविध विकार अथवा विलक्षणता उसके विभिन्न निमित्तकारणों पर आधरित है। उत्पत्ति के निमित्त जैसे होंगे। उन्ही के अनुकूल शब्द होगा। इसलिए शब्द की कारणवत्ता असिद्ध नहीं है, अर्थात् सिद्ध है। अतः कारणवाला होने से शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष पुनः उसी बात पर दृढ़ है कि जिसको शब्द की उत्पत्ति में कारण माना जा रहा है, वह उसके अभिव्यक्ति में कारण है। जैसे घट के रूप की उपलब्धि में सूर्य अथवा दीपक का प्रकाश कारण तो है परन्तु रूप की उत्पत्ति में नहीं बल्कि अभिव्यक्ति में कारण है इसी प्रकार संयोग एवं विभाग को भी शब्द की अभिव्यक्ति में कारण क्यों न मान लिया जाये? उत्पत्ति में ही कारण मानने का इतना आग्रह क्यों? इस प्रकार की आशंका होने पर सूत्रकार स्वयं कहते हैं-

**अभिव्यक्तौ दोषात्। ( २.२.३० )**

संयोग-विभाग आदि को अभिव्यक्ति में कारण मानने से दोष होने से। तात्पर्य यह है कि शब्द अभिव्यक्तिकारणवाद में अनेक दोष हैं। यथा-

(क) जिस प्रकार अभिव्यक्ति स्थलों में अभिव्यञ्जक (प्रकाश) तथा अभिव्यंग्य (घटादिवस्तु) के साथ सम्पर्क रहता है तब तक अभिव्यंग्य की उपलब्धि होती है। परन्तु शब्द में ऐसा नहीं है, जब तक भेरी दण्ड का संयोग रहता है, तब तक शब्द की उपलब्धि नहीं होती है, बल्कि भेरी-दण्ड संयोग रहते हुये बीच में ही शब्द अनुपलब्ध हो जाता है। अतएव शब्द अभिव्यक्त नहीं होता है।

(ख) अभिव्यञ्जक (प्रकाश) एवं अभिव्यंग्य (वस्तु) के संयोग का अभाव हो जाने पर अभिव्यंग्य की अनुपलब्धि हो जाती है, परन्तु भेरी-दण्ड के संयोग का अभाव हो जाने पर भी दूरस्थ व्यक्ति को शब्द सुनाई देता है। इसलिए शब्द के विषय में अभिव्यक्ति का कथन दोषयुक्त है।

(ग) व्यंग्य-व्यञ्जक भाव सम्बन्ध में एक व्यञ्जक के समान रूप से उपस्थित रहने पर समस्त व्यंग्य पदार्थ की उपलब्धि उसी एक व्यञ्जक से हो जाती है। परन्तु शब्द में ऐसा नहीं है, कि एक ही भेरी-दण्ड संयोग से वहाँ रहे समस्त वाद्यों के शब्द प्रकट हो जाये। इसलिए शब्द के विषय में अभिव्यक्तिवाद दोषमुक्त नहीं है।

(घ) जहाँ व्यंग्य-व्यञ्जक भाव होता है वहाँ पर व्यंग्य घटादि वस्तुओं का रूप एक दूसरे को अभिभूत नहीं करता है। अर्थात् एक कक्ष में प्रकाशित सभी वस्तुओं का रूप अलग-अलग स्पष्ट रूप से दिखता है। वे वस्तुयें एक-दूसरे के रूप को दबाती नहीं, जबकि शब्दों में ऐसा नहीं होता है। तीव्र भेरी का शब्द मन्द तन्त्री के शब्द को दबा देता है। इससे स्पष्ट होता है कि शब्द अभिव्यक्तिवाद ठीक नहीं है। इस प्रकार अभिव्यक्तिवाद में अनेक दोष उपस्थापित किये जाते हैं। अतएव शब्द के संदर्भ में उत्पत्तिवाद ही दोषरहित सिद्धान्त है।

पूर्वोक्त शब्द के कारणता को स्पष्ट करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**संयोगाद् विभागाच्च शब्दाच्च शब्दनिष्पत्तिः। ( २.२.३१ )**

संयोग से, विभाग से और शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है।

भेरी-दण्ड के संयोग से शब्द की उत्पत्ति प्रसिद्ध ही है। कतिपय स्थलों में विभाग से भी शब्द की उत्पत्ति होती है। यथा- जब बांसे, कपड़े आदि को फाड़ा जाता है, वहाँ पर विभाग द्वारा शब्द की उत्पत्ति होती है।

शब्द अपने उद्गमस्थल से दूरस्थ व्यक्ति के श्रोत्रेन्द्रिय को जब प्राप्त करता है तो उस मध्य में शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। इसे ही शब्दसन्तान कहा जाता है। पूर्ण शब्द अपने समानजातीय उत्तरशब्द को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार



उत्तरशब्द अपने से उत्तरशब्द को उत्पन्न करके स्वयं नष्ट हो जाता है। इस प्रकार उत्तरोत्तर शब्दसंतानक्रम से शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है। मध्य में भेरी-दण्ड आदि का संयोग सम्भव न होने से शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। इसलिए शब्द की उत्पत्ति में समानजातीय पूर्वशब्द भी कारण होता है। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति में तीन कारण हैं- (क) संयोग (ख) विभाग (ग) शब्द। फलतः कारणवाला होने से शब्द अनित्य सिद्ध होता है।

शब्द के अनित्यत्व में अंतिम हेतु का कथन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**लिंगाच्चानित्यः शब्दः। ( २.२.३२ )**

लय-नाश होने से भी शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है। **लयं गच्छति इति लिंगम्** इस व्युत्पत्ति से लिंग का तात्पर्य 'नाश' से है। पूर्वोक्त सूत्रों में कारणवाला होने से अनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया। प्रस्तुत सूत्र में नाश होने से अनित्यत्व का प्रतिपादन किया गया है। जिस-जिस वस्तु का नाश होता है वह अनित्य होती है। उच्चारण के पश्चात शब्द का भी नाश हो जाता है, इसलिए शब्द अनित्य है।

इस प्रकार पूर्वपक्ष यह कहे कि लय अथवा नाश का तात्पर्य है कि शब्द अनभिव्यक्त हो गया है अर्थात् छिप गया है, इस कारण से सुनाई नहीं देता है। तब वैशेषिकाचार्यों का यह कहना है कि उस आवरण को बताना चाहिए जिससे शब्द छिपा हुआ है। इस प्रकार का कोई आवरण उपलब्ध न होने से शब्द का नाश होना ही सिद्ध होता है। यदि आवरण की विद्यमानता बिना किसी प्रमाण के स्वीकार करें तो ठीक ऐसे ही बिना किसी प्रमाण के शब्द की अनित्यता भी क्यों न मान लिया जाये? शब्द के अनित्यत्व में तो हेतु की अनिवार्यता है, परन्तु आवरण का अस्तित्व बिना किसी प्रमाण के सिद्ध कर देना यह सर्वथा अन्याय है। इस कारण से शब्द का नाश होना ही न्यायसंगत है तथा नाश होने से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

**शब्दावली - (Points)**

1. निष्क्रमण और प्रवेशन - किसी मूर्त वस्तु का एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाना। यह क्रिया तभी संभव है जब वहाँ स्थान देने वाला आकाश मौजूद हो।
2. अभिव्यक्तिवाद - वह मत जो मानता है कि शब्द नित्य है और केवल सुनाई देने के लिए प्रकट होता है। वैशेषिक इसका खंडन कर श्रुतिवाद का समर्थन करते हैं।
3. क्षण- काल की सबसे सूक्ष्मतम और अविभाज्य इकाई, जिससे समय की गणना प्रारंभ होती है।
4. तैजस - तेजस तत्व से निर्मित। वैशेषिक दर्शन के अनुसार सुवर्ण सोना पार्थिव नहीं, बल्कि तैजस द्रव्य है क्योंकि अत्यधिक ताप पर भी इसका द्रव रूप नष्ट नहीं होता।

**दीर्घ उत्तरीय प्रश्न:- (Long Answer Questions)**

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार आकाश के द्रव्यत्व और नित्यत्व की विस्तार से व्याख्या कीजिए।
2. आकाश की असिद्धि में नास्तिकों चार्वाक के मत का खंडन वैशेषिकों ने किस प्रकार किया है? निष्क्रमण और प्रवेशन के तर्कों को समझाएं।
3. शब्द के अनित्यत्व को सिद्ध करने के लिए वैशेषिक दर्शन द्वारा दिए गए प्रमुख तर्कों का वर्णन कीजिए। अभिव्यक्तिवाद का खंडन कैसे किया गया है?
4. काल का लक्षण क्या है? वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल के अस्तित्व को सिद्ध करने वाले लिंग प्रमाण कौन-कौन से हैं?

**लघु उत्तरीय प्रश्न:- (Short Answer Questions)**

5. वायुना व्याख्यातं सूत्र से आचार्य का क्या अभिप्राय है?
6. आकाश निष्क्रिय क्यों माना जाता है?
7. शब्द का लक्षण क्या है?
8. शब्द-संतान का सिद्धांत क्या है?
9. काल के पांच गुण कौन से हैं?

**वस्तुनिष्ठ प्रश्न ( MCQs)**

1. आकाश का विशेष गुण क्या है?

- (A) रूप
- (B) स्पर्श
- (C) शब्द

(D) गन्धा

3. निष्क्रमणं प्रवेशनमित्याकाशस्य लिंग- यहाँ निष्क्रमण का अर्थ क्या है?

(A) अंदर आना

(B) बाहर जाना

(C) स्थिर रहना

(D) नष्ट होना

2. वैशेषिक मत में शब्द क्या है?

(A) नित्य

(B) अनित्य

(C) अभाव रूप

(D) सामान्य

5. शब्द की उत्पत्ति के कितने कारण बताए गए हैं?

(A) दो संयोग और विभाग

(B) तीन ( संयोग, विभाग और शब्द )

(C) एक केवल संयोग

(D) पांच

2. अपरस्मिन्नपरं युगपच्चिरं क्षिप्रमिति - यह किसका लक्षण है?

(A) दिशा

(B) आकाश

(C) काल

(D) आत्मा

3. काल की सबसे सूक्ष्मतम इकाई कौन सी है?

(A) निमेष

(B) लव

(C) क्षण

(D) काष्ठा

4. कितने निमेष का एक काष्ठा होता है?

(A) 15

(B) 18

(C) 30

(D) 60

9. वैशेषिक दर्शन के अनुसार सुवर्ण सोना क्या है?

(A) पार्थिव

(B) तैजस

(C) जलीय

(D) आकाशीय

6. श्रोत्रग्राह्यत्वं शब्दत्व - यह किसका खंडन करता है?

(A) परमाणुवाद का

(B) रोटवाद का

(C) शून्यवाद का

(D) द्वैतवाद का

3. एक मन्वन्तर में कितनी चतुर्युगी होती हैं?

(A) 100

(B) 28

(C) 71

(D) 14

## इकाई-4.3 शब्द के नित्यत्व में उपस्थापित हेतुओं का खण्डन, काल नामक द्रव्य का लक्षण, व्यवहार की दृष्टि से काल के भेद

उद्देश्य-

- शब्द की अनित्यता का तार्किक प्रमाण मीमांसकों के शब्द नित्यत्व के तर्कों जैसे प्रत्यभिज्ञा का खंडन करना और यह सिद्ध करना कि शब्द उत्पन्न और नष्ट होने वाला गुण है।
- काल द्रव्य का वैज्ञानिक विश्लेषण काल के स्वरूप को समझना और यह जानना कि वह किस प्रकार सभी कार्यों का आधार निमित्त कारण है।
- समय की गणना का बोध वैशेषिक दर्शन के अनुसार समय की सूक्ष्म क्षण, निमेष से लेकर स्थूल युग, कल्प गणना पद्धतियों का परिचय प्राप्त करना।
- हेत्वाभास का प्रारंभिक ज्ञानरूप तर्कों में आने वाले दोषों द्बुद्ध हेतुओं की पहचान करना।

### शब्द के नित्यत्व में उपस्थापित हेतुओं का खण्डन

शब्द नित्यत्ववादी की ओर से शब्द को नित्य स्वीकार करने में निम्न हेतुओं का प्रतिपादन किया जाता है-

#### द्वयोस्तु प्रवृत्तोरभावात्। ( २.२.३३ )

दोनों (आचार्य एवं शिष्य) की पठन-पाठन रूपी प्रवृत्ति का अभाव हो जाने से शब्द को स्थिर मानना पड़ेगा।

अभिप्राय यह है कि आचार्य (गुरु), शिष्यों को मन्त्र देता है। गुरु मन्त्रदाता है तथा शिष्य मन्त्र को स्वीकार करने वाला। जहाँ दो व्यक्तियों के बीच में लेन-देन का व्यवहार होता है वहाँ वस्तु का स्थिर होना अनिवार्य है। यदि गुरु-शिष्य के बीच में ही मन्त्र नष्ट हो जाये तो शिष्य तक मन्त्र पहुँचेंगा कैसे? यदि शब्दसन्तान का आश्रय लिया जाये तो भी युक्तियुक्त नहीं है, क्योंकि शब्दसन्तान में जो शब्द उच्चरित होता है वह श्रोत्रेन्द्रिय को प्राप्त नहीं होता है, बल्कि उसी जैसा दूसरा, शब्द प्राप्त होता है। ऐसे में शिष्य को 'मैं उसी मन्त्र का पाठ कर रहा हूँ, जिसको गुरुजी ने दिया था' ऐसी स्मृति न होकर "मुझे गुरुजी जैसा उनसे भिन्न मन्त्र का पाठ कर रहा हूँ" ऐसी स्मृति होनी चाहिए परन्तु ऐसी स्मृति नहीं होती। इसका तात्पर्य यह है कि शब्द क्षणिक (अस्थिर) न होकर स्थिर है।

शब्द के नित्यत्व में दूसरे हेतु का प्रतिपादन करते हुये पूर्वपक्ष कहता है-

#### प्रथमाशब्दात्। ( २.२.३४ )

वेदों में 'प्रथमादि' शब्दों का कथन होने से भी शब्द नित्य है। ऋग्वेद (३.२७.१-११) की ग्यारह सामधेनी ऋचा है परन्तु सामधेनी की पन्द्रह आहुतियों का विधान किया गया है। ऐसे में ग्यारह मन्त्रों से पन्द्रह आहुतियाँ कैसे सम्भव है? इसके लिए आचार्यों ने उपाय बताया - 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' (ऐ.ब्रा.३.३) पहली ऋचा 'प्रथमा' अन्तिम ऋचा 'उत्तमा' और बीच वाली ऋचा 'मध्यमा' कही जाती है। पन्द्रह संख्या की पूर्ति के लिए 'प्रथमा' ऋचा की तीन बार आवृत्ति कर उससे तीन आहुति का विधान किया गया तथा 'उत्तमा' अन्तिम ऋचा की तीन बार आवृत्ति कर तीन आहुति का विधान उपरोक्त वचन से किया गया। इस प्रकार प्रथम मन्त्र की दो बार तथा अन्तिम मन्त्र की दो बार अतिरिक्त आवृत्ति होने से चार संख्या की वृद्धि हो जाती है। जिसके कारण पन्द्रह संख्या की पूर्ति हो जाती है। प्रस्तुत संदर्भ में पूर्वपक्ष का अभिप्राय यह है कि ये सभी ऋचाएं पदों का समूह ही है। यदि इन्हे स्थिर न माना जाए तो उन ऋचाओं की आवृत्ति सम्भव नहीं है। स्थिर पदार्थ में ही दो-बार, तीन-बार इत्यादि आवृत्ति का व्यवहार होता है। अस्थिर शब्दों में आवृत्ति का व्यवहार सम्भव नहीं है। शास्त्रों में 'त्रिःप्रथमाम्' इत्यादि आवृत्ति का कथन होने से शब्द का स्थिरत्व अर्थात् नित्यत्व सिद्ध होता है।

शब्द के नित्यत्व में पूर्वपक्ष एक और हेतु प्रस्तुत करते हुये कहता है-

#### सम्प्रतिपत्तिभावाच्च। ( २.२.३५ )

सम्प्रतिपत्ति अर्थात् प्रत्यभिज्ञा (अनुस्मृति) के होने से भी शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। पूर्व में अनुभव किये हुये का कालान्तर में स्मरण होने को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। सूत्र में उसी को 'सम्प्रतिपत्ति' पद से कहा है। 'यह वही मन्त्रपाठ हो रहा है, जो कल हुआ था'- इस प्रकार की स्मृति से पता चलता है कि कल एवं आज का मन्त्र एक ही है, तभी 'वही मन्त्र है' ऐसा स्मरण होता है अन्यथा 'उसी के जैसा मन्त्र है' ऐसा स्मरण होना चाहिए। परन्तु ऐसा स्मरण किसी को नहीं होता है। अतः शब्द का नित्यत्व सिद्ध होता है। उपरोक्त तीन सूत्रों के माध्यम से तीन हेतुओं के द्वारा पूर्वपक्ष में शब्द के नित्यत्व होने में हेतु का प्रतिपादन किया। अब आचार्य इन तीनों के नित्यत्व का खण्डन कर रहे हैं-

संदिग्धाः सति बहुत्वे। ( २.२.३६ )

उन अनेक अस्थिर शब्दों में (उपरोक्त हेतुओं का) सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास होने से शब्द का नित्यत्व नहीं है।

वैशेषिक दर्शन में तीन प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन है जैसा कि भाष्यकार आचार्य प्रशस्तपाद लिखते हैं—  
“**विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिंगकांश्यपोऽब्रवीत्**” अर्थात् विरुद्ध, असिद्ध, सन्दिग्ध ऐसे तीन प्रकार के दुष्टहेतु (हेत्वाभास) होते हैं—  
ऐसा काश्यपगोत्री महर्षि कणाद ने कहा है।

अस्थिर नाना अनित्य शब्द को स्वीकार करने पर भी उपरोक्त तीनों व्यवहार सम्भव हो जाते हैं। अध्ययन, आवृत्ति एवं प्रत्यभिज्ञा इन तीनों का व्यवहार स्थिर-नित्य स्वीकार करने पर ही सम्भव है, ऐसा जो पूर्वपक्ष का कहना है वह सद्हेतु नहीं है अपितु हेत्वाभास है। कारण यह है कि अनित्य नृत्यादि क्रियाओं में भी अध्ययन-अध्यापन देखा जाता है। यथा—**‘नृत्यमधीते, नृत्यमध्यापयति’**, वह नृत्य का अध्ययन करता है, वह नृत्य को सीखता है इत्यादि। इसलिए केवल नित्य (स्थिर) मानकर ही अध्ययन-अध्यापन हो यह कथन अनैकान्तिक सिद्ध होता है, क्योंकि अध्ययन-अध्यापन रूप हेतु अनित्य नृत्यादि में भी अतिव्याप्त होने से व्यभिचरित हो रहा है। अतएव असद्हेतु है।

दूसरा हेतु आवृत्ति (अभ्यास) भी अनैकान्तिक हो रहा है, क्योंकि अनित्य नृत्यादि तथा योगासनों में भी आवृत्ति देखी जाने से यह हेतु असद् है। यह दो बार नाचा या तीन बार नाचा। उसने ग्यारह बार सूर्यनमस्कार किया इत्यादि आवृत्ति-अभ्यास का कथन अनित्य नृत्यादि क्रियाओं में भी देखा जाता है। केवल नित्य में ही आवृत्ति हो सकती है— ऐसा कहना युक्तियुक्त नहीं है। अतः यह भी असद् हेतु है।

तीसरा हेतु प्रत्यभिज्ञान स्मृति भी अनैकान्तिक होने से असद्हेतु ही सिद्ध होती है। कारण यह है, कि अनित्य होने पर भी नृत्यादि क्रियाओं की स्मृति देखी जाती है। यथा—‘यह कल वाला नृत्य ही आज कर रहा है’ ‘यह वही सूर्यनमस्कार रोज करता है’ — इस प्रकार से अनित्य नृत्यादि क्रियाओं की भी उसी प्रकार स्मृति होने से यह हेतु भी असद्हेतु सिद्ध होता है।

नृत्यादि क्रियाओं में अध्ययन-अध्यापन, आवृत्ति एवं प्रत्यभिज्ञान होने से इसको भी कोई नित्य कहने लगे तो ऐसा कहने में किसी प्रमाण का अभाव होने से अप्रमाणिक कथन ही होगा। नृत्यादि क्रियाओं का अनित्य होना प्रत्यक्ष से ही ज्ञात है। इसलिए इसे नित्य कहने का अवकाश प्राप्त नहीं होता है। फलतः उपरोक्त तीनों हेतु अनैकान्तिक होने से असद्हेतु (हेत्वाभास) सिद्ध होते हैं। इसप्रकार असद्हेतुओं से शब्द का नित्यत्व सिद्ध नहीं होगा। इस प्रकार आचार्य ने शब्द के अनित्यत्व का निषेध वैशेषिक शास्त्र में किया है।

### ‘काल’ नामक द्रव्य का लक्षण

पञ्चमहाभूतों के लक्षण करने के पश्चात् छठा द्रव्य ‘काल’ का लक्षण करते हुये आचार्य इस प्रकार कहते हैं—

**अपरस्मिन्परं युगपच्चिरं क्षिप्रमितिकाल लिङ्गानि। ( २.२.६ )**

सूत्र के अन्त में इति शब्द ज्ञान के प्रकार का बोधक है। जो प्रत्येक पदा-  
के साथ जुड़ता है। यथा— **अपरम् इति प्रत्ययः, युगपद् इति प्रत्ययः, चिरम् इति प्रत्ययः, क्षिप्रम् इति प्रत्ययः काल लिङ्गानि इत्यर्थः।** सूत्र में ‘अपरस्मिन् अपरम्’ पद से परस्मिन् परम् का भी ग्रहण हो जाता है। अर्थात् किसी व्यक्ति को अवधि मानकर बड़े व्यक्ति में परत्व (ज्येष्ठत्व) का ज्ञान, छोटे व्यक्ति में अपरत्व (कनिष्ठत्व) का ज्ञान, एक साथ का ज्ञान, विलम्ब का ज्ञान तथा शीघ्रता का ज्ञान काल का साधक लिंग है।

प्रस्तुत सूत्र का अभिप्राय यह है कि अधिक सूर्य-क्रिया (सूर्य के प्रति पृथिवी की क्रिया) के अन्तर वाले बड़े व्यक्ति में छोटे व्यक्ति को अवधि मानकर कालिक परत्वगुण उत्पन्न होता है। यथा लक्ष्मण को अवधि मानकर राम में अधिक सूर्य-क्रिया का सम्बन्ध होने से ‘परत्व’ गुण की उत्पत्ति होती है। इसी प्रकार राम को अवधि मानकर लक्ष्मण में कम सूर्य-क्रिया का सम्बन्ध होने से ‘अपरत्व’ (कनिष्ठत्व) नामक गुण की उत्पत्ति होती है।

यहाँ पर उत्पन्न परत्वापरत्व नामक गुणों से काल लक्षित होता है। परत्व एवं अपरत्व का समवायिकारण राम-लक्ष्मणादि पिण्ड हुये परन्तु यह जिससे उत्पन्न होता है वह ‘काल’ है। अब विचारणीय यह है, कि वर्ष, मास, दिन, रात आदि व्यवहार सूर्यादि ग्रह सम्बन्धी गति के आधार पर गणना किया जाता है, परन्तु उन पिण्डों के साथ इस गति का कोई सीधा सम्बन्ध नहीं है, जिनमें परत्व-अपरत्व गुणों की उत्पत्ति होती है। इसलिए किसी ऐसे द्रव्य को स्वीकार करना चाहिए जिसके आधार पर उस गति का कथन सम्भव हो। उस द्रव्य का सूर्य आदि गतिसम्बन्धी ग्रहों के साथ सम्बन्ध हो और उन पिण्डों के साथ भी जिनमें परत्व-अपरत्व गुण उत्पन्न होते हैं। ऐसा ‘काल’ नामक द्रव्य स्वीकार किया जाता है, जिसका सूर्य आदि ग्रहों के साथ संयोग रहते हुए उन पिण्डों के साथ भी संयोग रहता है, जहाँ परत्वापरत्व उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार परत्व-अपरत्व की उत्पत्ति में सूर्यादि संयुक्त काल का पिण्ड के साथ संयोग असमवायिकारण होता है।

यह कार्य एक साथ हुआ, (युगपत् हुआ), ऐसा व्यवहार इस रूप में काल का लक्षण है कि अनेक क्रियाओं के सम्पन्न होने में समानता दिख रही है, वह समानता काल के आधार पर है। जितनी देर में यह कार्य हुआ, उतनी ही देर में दूसरा हो गया, दोनों के सम्पन्न होने में काल की समानता में ‘युगपत्’ व्यवहार होता है और जहाँ पर असमानता हो वहाँ ‘चिर’ और ‘क्षिप्र’ व्यवहार होता

है। जहां देर हो वहां 'चिर' तथा जहां देर न हो अर्थात् जल्दी हो, वहां 'क्षिप्र' का व्यवहार होता है। यह जल्दी एवं देर का व्यवहार काल पर आधारित है। इसप्रकार परत्व, अपरत्व, चिर, क्षिप्र इत्यादि को व्यवहार का हेतु भूत द्रव्य का नाम 'काल' है। परत्वादि का निमित्त कारण काल होता है न कि समवायिकारण।

अब काल जिन गुणों का समवायिकारण है, उन गुणों का कथन भाष्यकार के द्वारा किया जा रहा है-

**तस्य गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः। ( प्रश.भा. )**

संख्या, परिणाम, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग ये पांच गुण काल के होते हैं।

पूर्वोक्त युगपदादि प्रत्ययों का सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से काल में 'एकत्व' संख्या की सिद्धि होती है। प्रधानरूपेण काल में 'एकत्व' संख्या होती है जबकि व्यावहारिक दृष्टि से काल में नानात्व का गौणरूप से उपचार किया जाता है। कार्यमात्र का समानरूप से निमित्त कारण होने से काल में परममहत्वपरिमाण की सिद्धि होती है।

**व्यवहार की दृष्टि से काल के भेद**

व्यावहारिक दृष्टिकोण से काल के निम्न भेद होते हैं। यथा-

**क्षणलवनिमेषकाष्ठाकलामुहूर्तयामाहोरात्रार्धमासमासर्तव्यनसंवत्सरयुगकल्पमन्वन्तरप्रलय-**

**महाप्रलयव्यवहारहेतुः।**

( प्रश.भा. )

१. **क्षण** - सूक्ष्म परमाणु को पलटने में जितना समय लगता है, उसको 'क्षण' कहते हैं यह काल की सबसे सूक्ष्मतम इकाई है।
२. **लव** - दो झण के बराबर एक 'लव' होता है।
३. **निमेष** - आँख के पलकों को गिरने में जितना समय लगता है, उतने समय को निमेष कहते हैं।
४. **काष्ठ** - १८ निमेष के बराबर एक काष्ठ होती है। अर्थात् १८ बार पलक को गिरने में जितना समय लगाता है, उतने समय को 'काष्ठ' कहते हैं।
५. **कला** - ३० काष्ठ के बराबर एक कला होती है।
६. **मुहूर्त** - दो घड़ी का एक मुहूर्त होता है। एक घड़ी में वर्तमान चौबीस मिनट होता है। इस प्रकार वर्तमान ४८ मिनट का एक मुहूर्त होता है।
७. **याम** - याम को प्रहर भी कहते हैं। ३ घंटे का एक प्रहर या 'याम' होता है।
८. **आहोरात्र** - आठ प्रहर / याम के बराबर एक आहोरात्र होता है। अर्थात् २४ घंटे (दिन-रात) को मिलाकर एक आहोरात्र कहा जाता है।
९. **अर्धमास** - अर्धमास को पक्ष भी कहते हैं। यथा- कृष्णपक्ष, शुक्लपक्ष। १५ दिन का एक अर्धमास या पक्ष होता है।
१०. **मास ( महीना )** - ३० दिन का एक महीना होता है। यथा- चैत्र, वैशाख इत्यादि।
११. **ऋतु** - दो मास की एक ऋतु होती है। यथा- बसन्तऋतु, ग्रीष्मऋतु इत्यादि।
१२. **अयन** - तीन ऋतुओं अथवा छः मासों को मिलाकर एक अयन होता है। यथा- उत्तरायण, दक्षिणायन।
१३. **संवत्सर** - दो अयन को मिलाकर एक संवत्सर होता है। इसे वर्ष भी कहा जाता है। अर्थात् १ वर्ष = १ संवत्सर।
१४. **युग** - कृतादि (सत्युगादि) 'युग' कहलाते हैं। इसके चार भेद हैं- (१) सतयुग (२) त्रेता (३) द्वापर (४) कलयुग। इसमें से कलयुग का काल **चार लाख बत्तीस हजार वर्ष ( ४३२००० )** का होता है। इसका दो गुणा द्वापर, तीन गुणा त्रेता एवं चार गुणा सतयुग (कृतयुग) होता है।
१५. **कल्प** - चारो युगों को मिलाकर एक कल्प होता है। ४३२०००० वर्षों का एक चतुर्युगी अर्थात् कल्प होता है।
१६. **मन्वन्तर** - स्वायंभुव आदि चौदह मन्वन्तर होते हैं। ७१ चतुर्युगी के बराबर एक मन्वन्तर होता है।
१७. **प्रलय** - १४ मन्वन्तर का एक खण्डप्रलय होता है। जिसे ब्रह्म का दिवस भी कहते हैं। इसमें पृथिवी लोक का नाश हो जाता है।
१८. **महाप्रलय** - ब्रह्ममान के अनुसार ब्रह्मा के सौ वर्ष को महाप्रलय कहते हैं। अर्थात् ३६००० ब्रह्म दिवस = महाप्रलय। इतने समय में छत्तीस हजार बार भूलोक की सृष्टि एवं प्रलय हो जाती है अथवा एकमहाप्रलय में ब्रह्मलोक पर्यन्त लोको का नाश हो जाता है।

**स्मरणीय बिंदु**

१. शब्द अनित्य है वैशेषिकों का तर्क है कि शब्द प्रयत्न के बाद उत्पन्न होता है, तीव्र या मंद होता है और सुनाई देने के बाद नष्ट हो जाता है। वही मंत्र कल सुना था यह प्रतीति सा दृश्य समानता के कारण है, एकता के कारण नहीं।
२. काल के लिंग प्रमाण परत्व बड़ा होना, अपरत्व छोटा होना, युगपत् एक साथ, चिर देर से और क्षिप्र जल्दी ये पाँचों व्यवहार काल के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं।

3. काल की एकता मूलतः काल एक ही है, लेकिन क्रियाओं के आधार पर जैसे सूर्य की गति इसे क्षण, दिन, मास और वर्ष जैसे व्यावहारिक भेदों में बाँटा गया है।
4. काल के गुण काल के पाँच गुण हैं संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग और विभाग।
5. समय चक्र 18 निमेष = 1 काष्ठाय 30 काष्ठा = 1 कलाय 30 कला = 1 मुहूर्तय 30 मुहूर्त = 1 अहोरात्र दिन-रात।

### शब्दावली (Glossary Points)

1. प्रत्यभिज्ञा यह वही वस्तु है ऐसी पहचान। मीमांसक इसे शब्द की नित्यता में प्रमाण मानते हैं, जबकि वैशेषिक इसे केवल समानता पर आधारित ज्ञान मानते हैं।
2. हेत्वाभास वह तर्क जो वास्तविक हेतु कारण जैसा दिखे परंतु उसमें दोष हो। वैशेषिक दर्शन मुख्य रूप से अप्रसिद्ध, असन्दिग्ध और अनध्यवसित जैसे दोषों की चर्चा करता है।
3. अहोरात्र ज्योतिष और दर्शन के अनुसार एक पूर्ण दिन 24 घंटे, जिसमें सूर्योदय से अगले सूर्योदय तक का समय 30 मुहूर्त शामिल है।
4. चतुर्युगी सत्ययुग, त्रेता, द्वापर और कलियुग का समूह। कलियुग की अवधि 4,32,000 वर्ष है और इन चारों युगों के योग को एक चतुर्युगी कहा जाता है।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Questions)

2. शब्द के नित्यत्व के पक्ष में पूर्वपक्ष मीमांसक द्वारा दिए गए तर्कों का वर्णन कीजिए और वैशेषिक दर्शन द्वारा उनके खंडन की दृष्टि स्पष्ट कीजिए।
3. काल द्रव्य का लक्षण बताते हुए स्पष्ट कीजिए कि काल का ज्ञान किन लिंगों प्रमाणों से होता है?
4. वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल की सूक्ष्म एवं स्थूल गणना व्यावहारिक भेद का विस्तृत चार्ट प्रस्तुत कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Questions)

5. वैशेषिक दर्शन में कितने प्रकार के हेत्वाभास दुष्ट हेतु बताए गए हैं?
6. युगपत् और चिर से काल की सिद्धि कैसे होती है?
7. क्षण और निमेष में क्या अंतर है?
8. काल के कौन-कौन से पाँच गुण भाष्यकार ने बताए हैं?
9. अहोरात्र का क्या अर्थ है?

### वस्तुनिष्ठ प्रश्न (MCQs)

1. अपरस्मिन्नपरं.....यह सूत्र किस द्रव्य का लक्षण है?  
 (A) आकाश  
 (B) दिशा  
 (C) काल  
 (D) आत्मा
2. 18 निमेष के बराबर क्या होता है?  
 (A) कला  
 (B) काष्ठा  
 (C) मुहूर्त  
 (D) क्षण
3. कलियुग की समयावधि कितनी बताई गई है?  
 (A) 1,00,000 वर्ष  
 (B) 4,32,000 वर्ष  
 (C) 12,000 वर्ष  
 (D) 8,64,000 वर्ष
4. तिस्त्र प्रथमा तर्क का प्रयोग किसके नित्यत्व के लिए किया गया था?  
 (A) काल

(B) शब्द

(C) वायु

(D) पृथ्वी

5. वैशेषिक मत में नृत्य का अध्ययन किस हेतु का उदाहरण है?

(A) सद्हेतु

(B) हेत्वाभास ( अनैकांतिक )

(C) प्रत्यक्ष

(D) आगम

6. दो मुहूर्त 48 मिनट किसके बराबर हैं?

(A) एक घड़ी ( पाठ के संदर्भ में 2 घड़ी = 1 मुहूर्त )

(B) एक कला

(C) एक प्रहर

(D) एक पक्ष

7. कितने मन्वन्तरो के समूह को एक कल्प चतुर्युगी के संदर्भ में देखा जाता है?

(A) 10

(B) 12

(C) 14

(D) 100

8. काल की सबसे सूक्ष्म इकाई कौन सी है?

(A) निमेष

(B) क्षण

(C) लव

(D) काष्ठा

9. यही वह मंत्र है जो कल सुना था - यह कौन सी प्रतीति है?

(A) प्रत्यभिज्ञा

(B) अनुमान

(C) उपमान

(D) शब्द

10. सूर्य की गति का पिंडों के साथ संबंध जोड़ने वाला निमित्त कारण कौन है?

(A) आकाश

(B) काल

(C) दिशा

(D) मन



## इकाई-4.4 - काल का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व, दिशा नामक द्रव्य का लक्षण, दिशा का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व, दिशा का व्यावहारिक नानात्व

उद्देश्य:-

- काल की दार्शनिक सिद्धि काल के द्रव्यत्व, नित्यत्व और मौलिक एकत्व को तार्किक सूत्रों के माध्यम से समझना।
- दिश (Space/Direction) का स्वरूप दिशा के लक्षण को जानना और यह समझना कि वह किस प्रकार दूर-पास परत्व-अपरत्व के ज्ञान का आधार है।
- व्यावहारिक नानात्वरूप मौलिक रूप से एक होते हुए भी दिशा और काल को व्यावहारिक दृष्टि से अनेक जैसे 10 दिशाएं या भूत-भविष्य क्यों माना जाता है, इसका अध्ययन करना।
- तुलनात्मक अध्ययनरूप काल और दिशा के मध्य समानताओं विभुत्व, नित्यत्व और अंतरों को स्पष्ट करना।

### काल का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व

महर्षि कणाद काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व में पूर्वकथित हेतुओं का स्मरण कराते हुये इस प्रकार कहते हैं-

**द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। ( २.२.७ )**

जिस प्रकार अन्यद्रव्य समवायिकारण वाला न होने से तथा क्रिया एवं गुण का आश्रय होने से वायु के परमाणु में द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि की गई है, उसी से काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व का भी व्याख्यान हो जाता है।

काल का भी अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से, संख्यादि पांच गुणों का समवायसम्बन्धन आश्रय होने से और क्रियामात्र का निमित्तकारण होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है। काल क्रिया का समवायिकारण नहीं होता है बल्कि निमित्तकारण होता है। जैसा कि सूत्रकार कहते हैं-

**नित्येष्वभावादनित्येषु भावात् कारणे कालाख्येति। ( २.२.९ )**

(आत्मादि) नित्यपदार्थों में अभाव होने से तथा अनित्य (घटादि) पदार्थों में होने से, उत्पत्ति होने वाले सम्पूर्ण कार्यों के कारण में 'काल' यह संज्ञा कही जाती है।

नित्य आकाश, आत्मा, परमाणु इत्यादि द्रव्यों में यह ज्येष्ठ है, यह कनिष्ठ है। यह एक साथ उत्पन्न हुआ, यह देर से उत्पन्न हुआ, यह शीघ्र उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों को अभाव होने से तथा कार्य घटादि द्रव्यों में यह नया है, यह पुराना है, ये दोनों एक साथ उत्पन्न हुये, यह देर से उत्पन्न हुआ, यह शीघ्र उत्पन्न हुआ इत्यादि प्रतीतियों के देखें जाने से कार्यमात्र के कारण में 'काल' यह नाम प्रयुक्त किया गया है।

उपरोक्त व्यवहार प्रत्येक कार्य में आवश्यकरूप से देखा जाता है। कार्य की उत्पत्ति बिना क्रिया के सम्भव नहीं है। अतः जिस प्रकार कार्यमात्र का निमित्तकारण काल उसी प्रकार क्रियामात्र का भी निमित्तकारण काल को समझना चाहिए।

काल के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के सिद्धि के पश्चात् सूत्रकार उसके एकत्व का प्रतिपादन करते हुये कहते हैं-

**तत्त्वं भावेन। ( २.२.८ )**

काल का एकहोना सत्ता जाति से समझ लेना चाहिए। पूर्वसूत्र से वचनविपर्यास के साथ 'व्याख्याते' पद की इस सूत्र में अनुवृत्ति है। तब सूत्र होगा- **तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्।** अर्थात् सत्ता जाति के एकत्व से काल के एकत्व का भी व्याख्यान हो गया। जिस प्रकार द्रव्यादि समस्त पदार्थों में 'सत् है, सत् है' की प्रतीति एकसमान होने से तथा भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से सत्ता जाति के एकत्व की सिद्धि होती है, ठीक उसी प्रकार परत्व, अपरत्व, युगपद्, चिर, क्षिप्र इत्यादि प्रत्ययों का सर्वत्र एक समान प्रतीत होने से तथा भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से काल का एकत्व सिद्ध होता है। साथ ही साथ 'कारणे कालाख्येति' इस सूत्र वचन से काल का विभुत्व भी सिद्ध होता है।

**दिशा नामक द्रव्य का लक्षण**

काल के वर्णन के पश्चात् वैशेषिककार क्रमप्राप्त 'दिशा' नामक सप्तम द्रव्य का वर्णन करते हुये उसके लक्षण सूत्र का प्रतिपादन इस प्रकार करते हैं-

**इत इदमिति यतस्तद् दिश्यं लिङ्गम्। ( २.२.१० )**

यहाँ से यह (दूर है, समीप है) इस प्रकार का व्यवहार जिससे होता है वह दिशा का अनुमापक लिंग है। 'दिश इदम् दिश्यं दिगनुमापकं लिंगम्' दिशा नामक द्रव्य का अनुमापक लिङ्ग को दिश्य 'दिश्यं लिंगम्' कहा गया। अर्थात् दिगनुमापकं लिंगं दिश्यं लिंगम् यहाँ पर 'दिश्यं' पद 'लिंगं' का विशेषण है। 'इतः इदम् इति प्रत्यय' जिस द्रव्य के निमित्त से होता है, उस द्रव्य का नाम दिशा है। अतः प्रस्तुत सूत्र में 'इतः इदम् इति' प्रत्यय दिशा का अनुमापक लिङ्ग है।

लोक में जिस को 'दूर' और नजदीक शब्द से कहा जाता है, उसी को यहाँ वैशेषिकशास्त्र में 'पर' और 'अपर' पद से कहा जाता है। जिस प्रकार कालकृत परत्व अपरत्व में बड़ा-छोटा अथवा ज्येष्ठ-कनिष्ठ का व्यवहार होता है, उसी प्रकार दिक्कृत परत्व-अपरत्व में दूर-नजदीक (समीप) का व्यवहार होता है।

किसी एक पदार्थ को अवधि मानकर इसकी अपेक्षा वह दूर है और यह समीप है इस प्रकार क्रमशः दोनों पदार्थों में परत्व एवं अपरत्व होता है। इस परत्व एवं अपरत्व का समवायिकारण स्वयं वे वस्तुएं होती हैं। असमवायिकारण पर विचार करे तो यह पाते हैं कि जो भी असमवायिकारण हो वह परत्व एवं अपरत्व के अधिकरण से सम्बन्ध रखता हुआ विद्यमान रहे, अन्यथा उसका कारण होना सम्भव नहीं होगा। अतः किसी ऐसे पदार्थ को स्वीकार करना पड़ेगा जिसका सम्बन्ध परत्व एवं अपरत्व के अधिकरणों के साथ हो। इसप्रकार उस पदार्थ का उन परत्वापरत्वों के अधिकरणों के साथ जो 'संयोग' होगा वही असमवायिकारण होगा। वह पदार्थ 'दिक्' अथवा 'दिशा' नाम से कहा जाता है।

इससे यह दूर है, यह समीप है इत्यादि प्रत्यय में दिशानामक द्रव्य की उस वस्तु से अधिक संयुक्त संयोग एवं न्यून संयुक्त संयोग ही कारण है। जिसमें 'परत्व' है उसमें अधिक दिक् प्रदेश का सम्बन्ध है तथा जिसमें 'अपरत्व' है उसमें न्यून दिक् प्रदेश का संयोग है। इसप्रकार 'इतः इदम् इति' प्रत्यय का जो निमित्तकारण है वही दिशा नामक द्रव्य है। दिशा नामक द्रव्य के गुणों का उल्लेख करते हुये भाष्यकार कहते हैं- **तस्यास्तु गुणाः संख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागः कालवदेते सिद्धाः। (प्रश.भा.)** अर्थात् काल के समान दिशा के भी पाँच गुण- संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग सिद्ध हैं। दिशा में 'एकत्व' संख्या है, तथा परममहत् परिमाण है। यह भी काल की भाँति ही सिद्ध है। दिशा में नानात्व का कथन व्यावहारिक है, जिसका वर्णन आगे किया जा रहा है।

### दिशा का द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं एकत्व

दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में वैशेषिककार अपने प्रसिद्ध उन्हीं हेतुओं को पुनः आवृत्तिपूर्वक स्मरण कराते हैं-

**द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते। ( २.२.११ )**

जिस प्रकार पूर्व में वायु के परमाणु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि करते हुये महर्षि ने कहा था कि वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से तथा क्रिया और गुणवाला होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है। ठीक उसी प्रकार वायु के व्याख्यान के द्वारा दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिए।

तात्पर्य यह है कि 'दिशा' नामक द्रव्य का अन्य कोई समवायिकारण न होने से तथा गुणवाला होने से तथा क्रियामात्र के प्रति निमित्तकारण होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है।

दिशा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के वर्णन के पश्चात् अब उसके एकत्व का वर्णन किया जा रहा है। इस विषय में सूत्रवचन इस प्रकार है-

**तत्त्वं भावेन। ( २.२.१२ )**

दिशा का एक होना सत्ता जाति के द्वारा व्याख्यात समझ लेना चाहिए। इस सूत्र में भी पूर्व सूत्र से वचन विपर्यास के साथ 'व्याख्याते' पद की अनुवृत्ति है। तब सूत्र होता है- **तत्त्वं भावेन व्याख्यातम्।** अर्थात् जिस प्रकार द्रव्य-गुण-कर्म में 'सत् है-सत् है' की प्रतीति सर्वत्र एकसमान होने से तथा भेदबोधक प्रमाण का अभाव होने से सत्ता का एकत्व सिद्ध होता है। ठीक उसी प्रकार सर्वत्र 'इतः इदम् इति' प्रत्यय का एक समान होने से अर्थात् परत्व-अपरत्व का एक समान ही बोध होता है। सर्वत्र परत्व एवं अपरत्व का एकसमान बोध होने से तथा इसमें भेदबोधक प्रमाणों का अभाव होने से दिशा का 'एकत्व' सिद्ध होता है।

### दिशा का व्यावहारिक नानात्व

दिशा वस्तुतः एक की है फिर भी सूर्यादि ग्रहों की विभिन्न स्थितियों के आधार पर व्यवहार के लिए नाना दिशाओं की कल्पना की गई है। वैशेषिकाचार्य दिशाओं के काल्पनिक नानात्व में हेतु का प्रदर्शन करते हुये कहते हैं-

**कार्यविशेषण नानात्वम्। ( २.२.१३ )**

कार्य भेद से दिशाओं का नानात्व स्वीकृत है।

सूत्रोक्त इस कार्यभेद को समझाते हुये पुनः आचार्य कहते हैं-

**आदित्यसंयोगाद् भूतपूर्वाद् भविष्यतो भूताच्च प्राची। ( २.२.१४ )**

सूर्य के संयोग से (दिशाओं में नानात्व होता है जैसे) पहले सूर्य का संयोग जिधर हुआ था, भविष्य में जिस ओर प्रथम सूर्य का संयोग होगा तथा वर्तमान में जिस ओर सूर्य का प्रथम संयोग हो रहा है, उस दिशा का नाम 'प्राची' अर्थात् पूर्व दिशा है।

प्रस्तुत सूत्र में 'भूतात्' पद का भूत शब्द उदित होकर 'वर्तमान' इस अर्थ में है, ऐसा अर्थ न करने पर 'भूतपूर्वाद्' पद का अर्थ अतीत होने पर पुनरुक्ति दोष की आपत्ति होगी। सूत्र में तीनों कालों का निद्रेण देशभेद की समझाना चाहिए। यथा- पूर्वकाल में जहाँ प्रथम आदित्य का संयोग हुआ था, इसमें आगे समय में आदित्य का प्रथम संयोग होगा तथा वर्तमान में जिस जगह पर

जिस दिशा में आदित्य का प्रथम संयोग है उस दिशा का नाम 'प्राची' है। यह सुना ही जाता है कि भारत के पूर्वोत्तर राज्यों में सबसे पहले ही सूर्योदय हो जाता है। मध्यभारत में उसकी अपेक्षा बाद में होता है तथा पश्चिम भारत में उससे भी बाद में होता है।

व्यक्ति चाहे जिस किसी भी देश में क्यों न हो रात्री व्यतीत होने के पश्चात् जिस दिशा में सर्वप्रथम आदित्य का संयोग होता है उस दिशा का नाम 'प्राची' होगा। इसलिए 'प्राची' का लक्षण है- 'प्राक् यस्यां दिशि सविता अञ्चतीति प्राची'। प्राची दिशा के अतिरिक्त अन्य दिशाओं में भी हेतु देते हुये आचार्य कहते हैं-

**तथा दक्षिणा प्रतीची उदीची च। ( २.२.१५ )**

उसी प्रकार दक्षिण दिशा, पश्चिम दिशा एवं उत्तर दिशा के विषय में भी समझना चाहिए। पूर्वसूत्र में 'प्राची' पूर्वदिशा का व्याख्यान हो गया है, ठीक इसके विपरीत जिस ओर सूर्य ढलता है उस दिशा का नाम प्रतीची है। जिसका लक्षण है-

**'प्रत्यग अञ्चति यस्यां दिशि सा प्रतीची'**

अर्थात् उदय की दिशा से ठीक विपरीत जिस दिशा में सूर्य जाता है वह दिशा 'प्रतीची' पश्चिम कहलाती है।

जब कोई व्यक्ति सुबह सूर्योदय के समय सूर्याभिमुख होकर सूर्यनमस्कार करता है उस समय उसका मुख 'प्राची' दिशा की ओर होता है। उसके ठीक विपरीत दिशा पीठ की ओर पश्चिम दिशा होती है। दाएं (दक्षिण) हाथ की ओर सम्बद्ध दिशा का नाम दक्षिण दिशा तथा इसी प्रकार वामहस्त से सम्बन्धित दिशा का नाम उत्तर दिशा है।

इन चार दिशाओं के वर्णन के अनन्तर महर्षि इनके अन्तर्गत आने वाली अन्य दिशाओं का भी वर्णन करते हैं। यथा-

**एतेन दिगन्तरालानि व्याख्यातानि। ( २.२.१६ )**

इस (प्राची आदि चार दिशाओं के) वर्णन से उन दिशाओं के अन्तराल अर्थात् मध्य की अन्य अवान्तर दिशाओं का भी व्याख्यान समझ लेना चाहिए। यथा-

|                                   |   |         |
|-----------------------------------|---|---------|
| पूर्व एवं दक्षिण की मध्य की दिशा  | - | आग्नेयी |
| दक्षिण एवं पश्चिम की मध्य की दिशा | - | नैऋति   |
| पश्चिम एवं उत्तर की मध्य की दिशा  | - | वायवी   |
| उत्तर एवं पूर्व की मध्य की दिशा   | - | ऐशानी   |

अधः (नीचे) एवं ऊर्ध्व (उपर) नामक दिशा की भी कल्पना की गई है। वस्तुतः दिशा एक ही होती है। केवल कार्यभेद (व्यवहारभेद) से दस दिशाओं का औपचारिक भेद किया गया है।

इन दस दिशाओं का विभिन्न देवताओं से अधिष्ठित होने के कारण (जिन्हें दिक्पाल भी कहा जाता है) दसविध संज्ञा महर्षियों ने श्रुति एवं स्मृतियों के द्वारा किया है। यथा- (१) माहेन्द्री (इन्द्र से अधिष्ठित पूर्व की दिशा)। इस दिशा के दिक्पाल इन्द्र है, इन्द्र का एक दूसरा नाम महेन्द्र भी है, इसलिए 'माहेन्द्री' कहा है। (२) वैश्वानरी/आग्नेयी (अग्निदेव से अधिष्ठित पूर्व-दक्षिण की मध्य की दिशा) (३) याम्या (यम की पश्चिम दिशा) (४) नैऋति (नैऋत राक्षस की दक्षिण-पश्चिम मध्य की दिशा) (५) वारूणी (वरुण की उत्तर की दिशा) (६) वायव्या (वायुदेव की पश्चिम-उत्तर की मध्य की दिशा) (७) कौबेरी (कुबेर की दक्षिण दिशा) (८) ऐशानी (ईशान की पूर्व-उत्तर की मध्य की दिशा) (९) ब्राह्मी (ब्रह्मा की उपर की दिशा) (१०) नागी (नागों की नीचे की दिशा)

इस प्रकार विभिन्न चेतन देवों से अधिष्ठित होने से इनकी दस प्रकार की संज्ञा महर्षियों ने की है। वस्तुतः दिशा एक ही होती है परन्तु कार्यभेद के द्वारा दस भवान्तर भेद गौण रूप से सिद्ध होते हैं।

**स्मरणीय बिंदु (Points to Remember)**

• वायुना व्याख्याते जिस प्रकार वायु के गुणों से उसका द्रव्यत्व और नित्यत्व सिद्ध होता है, उसी प्रकार काल और दिशा के गुणों और कार्यों से उनकी सत्ता सिद्ध होती है।

• काल का एकत्व काल वास्तव में एक ही है। तत्त्वं भावेन सूत्र सिद्ध करता है कि एक ही सत्ता काल क्रियाओं के भेद से अलग-अलग प्रतीत होती है।

• दिशा का लक्षण इत इदमिति यह इससे इधर है - इस प्रकार की सापेक्ष बुद्धि जिससे उत्पन्न होती है, उसे दिशा कहते हैं।

• दिशाओं का निर्धारण सूर्य के संयोग से दिशाओं का ज्ञान होता है। सूर्य जहाँ उदय होता है वह प्राची पूर्व है और जहाँ अस्त होता है वह प्रतीची पश्चिम है।

• दस दिशाएं प्राची (पूर्व), प्रतीची (पश्चिम), उदीची (उत्तर), अवाची (दक्षिण), चार विदिशाएं आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ऐशानी और ऊर्ध्व (ऊपर) व अध (नीचे)।

**शब्दावली - ( Points)**

1. निमित्त कारण - काल को समस्त उत्पन्न होने वाले कार्यों का साधारण निमित्त कारण माना जाता है, क्योंकि समय के बिना किसी भी कार्य की उत्पत्ति संभव नहीं है।
2. प्राची - वह दिशा जो प्रथम सूर्य के संयोग से होती है, जिसे हम व्यावहारिक भाषा में पूर्व दिशा कहते हैं।
3. विदिसा - मुख्य चार दिशाओं के कोनों या संधि-स्थलों पर स्थित दिशाएं, जैसे उत्तर और पूर्व के मध्य ऐशानी ईशान कोण।
4. व्यावहारिक नानात्व - वस्तुतः एक होते हुए भी उपाधियों जैसे सूर्य की गति या स्थान के कारण किसी वस्तु का अनेक रूपों में प्रतीत होना।

### दीर्घ उत्तरीय प्रश्न (Long Answer Questions)

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार काल के द्रव्यत्व, नित्यत्व और एकत्व की सप्रमाण व्याख्या कीजिए।
2. दिशा द्रव्य का लक्षण बताते हुए इसके व्यावहारिक नानात्व दस दिशाओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
3. काल और दिशा में क्या समानताएं और अंतर हैं? पाठ के आधार पर तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

### लघु उत्तरीय प्रश्न (Short Answer Questions)

4. द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते सूत्र का क्या अर्थ है?
5. काल को निमित्त कारण क्यों माना जाता है?
6. दिशा के पाँच गुण कौन से हैं?
7. प्राची पूर्व दिशा का निर्धारण कैसे होता है?

### 8. वस्तुनिष्ठ प्रश्न

1. इत इदमिति... किस द्रव्य का अनुमापक लिंग है?  
(A) काल  
(B) आकाश  
(C) दिशा  
(D) आत्मा
2. काल में कितने गुण पाए जाते हैं?  
(A) तीन  
(B) चार  
(C) पाँच  
(D) सात
3. तत्त्वं भावेन सूत्र से क्या सिद्ध होता है?  
(A) काल का नित्यत्व  
(B) काल का एकत्व  
(C) काल का द्रव्यत्व  
(D) काल का विभुत्व
4. सूर्य के उदय होने वाली दिशा को क्या कहते हैं?  
(A) प्रतीची  
(B) उदीची  
(C) दक्षिणा  
(D) प्राची
5. वैशेषिक मत के अनुसार दिशा क्या है?  
(A) अनित्य  
(B) सावयव  
(C) नित्य और विभु  
(D) गुण मात्र
6. ऐशानी दिशा किन दो दिशाओं के मध्य होती है?

- (A) पूर्व और दक्षिण  
(B) उत्तर और पूर्व  
(C) पश्चिम और उत्तर  
(D) दक्षिण और पश्चिम
7. ऊपर की दिशा ऊर्ध्व के अधिष्ठाता देवता कौन हैं?  
(A) इन्द्र  
(B) नाग  
(C) ब्रह्मा  
(D) वरुण
8. परत्व और अपरत्व का बोध काल के संदर्भ में क्या दर्शाता है?  
(A) दूरी और निकटता  
(B) ज्येष्ठता ( बड़ा ) और कनिष्ठता ( छोटा )  
(C) हल्का और भारी  
(D) रूप और रंग
9. वारुणी किस दिशा का नाम है?  
(A) पूर्व  
(B) पश्चिम वरुण की दिशा  
(C) उत्तर  
(D) दक्षिण
10. दिशाओं का 'नानात्व' (अनेक होना) कैसा है?  
(A) वास्तविक  
(B) काल्पनिक ( व्यावहारिक )  
(C) भ्रमात्मक  
(D) अनित्य
- .....

॥ ओ३म् ॥

# वेदान्त-मीमांसा

MDPHMJ-103



दिव्य प्रकाशन

**उद्देश-**

- वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों से परिचय कराना।
- वेदान्त के प्रथम अध्याय के सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ से अवगत कराना।
- मीमांसा के वास्तविक सिद्धान्तों को तर्कपाद से अवगत कराना।
- मीमांसा के धर्मजिज्ञासा, शब्दनित्यत्वादि प्रमुख सिद्धान्तों से परिचित कराना।

**ब्रह्मावबोध-१**

इकाई-1. ब्रह्म जिज्ञासा प्रकरण एवं जगत रचना में निमित्त कारण ब्रह्म ।

इकाई-2. उपनिषदों में वर्णित आनंदमय आदि शब्दों की ब्रह्मवाचकता तथा उपनिषदों में भिन्न-भिन्न नामों से ब्रह्म का उपासना ।

इकाई-3. ब्रह्म की अनुभूति का स्थान।

इकाई-4. वैश्वानर ब्रह्म का विराट् स्वरूप ।

**ब्रह्मावबोध -२**

इकाई-5. द्यु,भू आदि का आश्रय, एवं अक्षर,भूमा,आकाश,प्राण, ज्योति नामों की ब्रह्मवाचकता ।

इकाई-6. मनुष्य मात्र को ब्रह्म साक्षात्कार का अधिकार ।

इकाई-7. वेदनित्यता, वेदाध्ययन में वर्णमात्र का अधिकार।

इकाई-8. जगत उत्पत्ति में परमात्मा निमित्त कारण और त्रिगुणात्मिका प्रकृति परमात्मा के अधीन एवं उपादान कारण ।

**धर्मादि निरूपणम्**

इकाई-9. धर्मजिज्ञासा (सू - 1)

इकाई-10. धर्मलक्षण (सू - 2)

इकाई-11. धर्मप्रामाण्यपरिक्षा (सू - 3)

इकाई-12. धर्म के विषय में प्रत्यक्षादि की अप्रामाणिकता (सू - 4)

**वेदनित्यता प्रकरण**

इकाई-13. वेदविधिप्रामाण्य (सू - 5)

इकाई-14. शब्द की नित्यता (सू - 6-23)

इकाई-15. वाक्यार्थ का प्रामाण्य (सू - 24-26)

इकाई-16. वेद की अपौरुषेयता (सू - 27-32)

**परिणाम-**

- वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों का विवरण
- वेदान्त प्रथम अध्याय के सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ का परिचय।
- मीमांसा के वास्तविक सिद्धान्तों का तर्कपाद से परिचय।
- धर्मजिज्ञासा, शब्दनित्यत्वादि प्रमुख सिद्धान्तों का परिचय।



## विषय-सूची

|                                                                                                                            |                  |
|----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|------------------|
| <b>खण्ड-1 ब्रह्मावबोध-१</b>                                                                                                | <b>7-26</b>      |
| इकाई-1.1 ब्रह्म जिज्ञासा प्रकरण एवं जगत रचना में निमित्त कारण ब्रह्म।                                                      | 7-9              |
| इकाई-1.2 उपनिषदों में वर्णित आनन्दमय आदि शब्दों की ब्रह्मवाचकता तथा<br>उपनिषदों में भिन्न-भिन्न नामों से ब्रह्म का उपासना। | 10-18            |
| इकाई-1.3 हृदयगुहा से भिन्न भी ब्रह्म का निवासस्थान।                                                                        | 19-23            |
| इकाई-1.4 वैश्वानर ब्रह्म का विराट् स्वरूप।                                                                                 | 24-26            |
| <br><b>खण्ड-2 ब्रह्मावबोध -२</b>                                                                                           | <br><b>27-43</b> |
| इकाई-2.1 द्यु,भू आदि का आश्रय,एवं अक्षर,भूमा,आकाश,प्राण, ज्योति नामों की<br>ब्रह्मवाचकता ।                                 | 27-32            |
| इकाई-2.2 स्थान भेद से उपासना विरोध नहीं है।                                                                                | 33-34            |
| इकाई-2.3 वेदनित्यता, वेदाध्ययन में वर्णमात्रा का अधिकार।                                                                   | 35-37            |
| इकाई-2.4 जगत उत्पत्ति में परमात्मा निमित्त कारण और त्रिगुणात्मिका प्रकृति परमात्मा<br>के अधीन एवं उपादान कारण ।            | 38-43            |
| <br><b>खण्ड-3 धर्मादि निरूपणम्</b>                                                                                         | <br><b>44-57</b> |
| इकाई-3.1 धर्मजिज्ञासा (सू-1)                                                                                               | 44-48            |
| इकाई-3.2 धर्मलक्षण (सू-2)                                                                                                  | 49-53            |
| इकाई-3.3 धर्मप्रामाण्यपरिक्षा (सू-3)                                                                                       | 54-55            |
| इकाई-3.4 धर्म के विषय में प्रत्यक्षादि की अप्रामाणिकता (सू-4)                                                              | 56-57            |
| <br><b>खण्ड-4 वेदनित्यता प्रकरण</b>                                                                                        | <br><b>58-00</b> |
| इकाई-4.1 वेदविधिप्रामाण्य (सू-5)                                                                                           | 58-79            |
| इकाई-4.2 शब्द की नित्यता (सू - 6-23)                                                                                       | 80-91            |
| इकाई-4.3 वाक्यार्थ का प्रामाण्य (सू - 24-26)                                                                               | 92-97            |
| इकाई-4.4 वेद की अपौरुषेयता (सू - 27-32)                                                                                    | 98-104           |

## प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन धारा में जिन दर्शनों की परिगणना विद्यमान है, उनमें शीर्ष स्थानीय दर्शन कौन सा है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर एक ही नाम उभरता है, वह है-वेदान्त। यह भारतीय दर्शन के मंदिर का जगमगाता स्वर्णकलश है, दर्शनाकाश का देदीप्यमान सूर्य है। वेदान्त की विषय वस्तु, इसके उद्देश्य, साहित्य और आचार्य परम्परा आदि पर गहन चिन्तन करें, इससे पूर्व आइये, वेदान्त शब्द का अर्थ समझें।

**वेदान्त शब्द का अर्थ-** वेदान्त का अर्थ है वेद का अन्त या सिद्धान्त। तात्पर्य यह है- 'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है। वेदान्त में जितनी बातों का उल्लेख है, उन सब का मूल उपनिषद् है। इसलिए वेदान्त शास्त्र के वे ही सिद्धान्त माननीय हैं, जिनके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्हीं उपनिषदों को आधार बनाकर बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।' इन सूत्रों का मूल उपनिषदों में है।

### वेदान्त का साहित्य

ब्रह्मसूत्र - उपरिवर्णित विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त का मूल ग्रन्थ उपनिषद् ही है। अतः यदा-कदा वेदान्त शब्द उपनिषद् का वाचक बनता दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदीय मूल वाक्यों के आधार पर ही बादरायण द्वारा अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन हेतु ब्रह्मसूत्र सृजित किया गया। महर्षि पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लेखित 'भिक्षुसूत्र' ही वस्तुतः ब्रह्मसूत्र है। संन्यासी, भिक्षु कहलाते हैं एवं उन्हीं के अध्ययन योग्य उपनिषदों पर आधारित पाराशर्य (पराशर पुत्र व्यास) द्वारा विरचित ब्रह्मसूत्र है, जो कि बहुत प्राचीन है। यही वेदान्त दर्शन उत्तर मीमांसा के नाम से प्रख्यात है। महर्षि जैमिनि का मीमांसा दर्शन पूर्व मीमांसा कहलाता है, जो कि द्वादश अध्यायों में आबद्ध है। कहा जाता है कि जैमिनि द्वारा इन द्वादश अध्यायों के पश्चात् चार अध्यायों में संकर्षण काण्ड (देवता काण्ड) का सृजन किया गया था। जो अब अनुपलब्ध है, इस प्रकार पूर्व मीमांसा षोडश अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। उसी सिलसिले में चार अध्यायों में उत्तर मीमांसा या ब्रह्म-सूत्र का सृजन हुआ। इन दोनों ग्रन्थों में अनेक आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि इन बीस अध्यायों के रचनाकार कोई एक व्यक्ति थे, चाहे वे महर्षि जैमिनि हों अथवा बादरायण अथवा बादरि। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड एवं उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड विवेचित है। उन दिनों विद्यमान समस्त आचार्य पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के समान रूपेण विद्वान् थे। इसी कारण जिनके नामों का उल्लेख जैमिनीय सूत्र में है, उन्हीं का ब्रह्मसूत्र में भी है। वेदान्त सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्र में विद्यमान है।

### वेदान्त दर्शन का स्वरूप और प्रतिपाद्य-विषय

'वेदों' के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त ही 'वेदान्त' का प्रतिपाद्य हैं। उपनिषदों में ही ये सिद्धान्त मुख्यतः प्रतिपादित हुए हैं, इसलिए वे ही 'वेदान्त' के पर्याय माने जाते हैं। परमात्मा का परम गुहा ज्ञान वेदान्त के रूप में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रकट हुआ है। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः (मुण्डक 3.2.6)। 'वेदान्ते परमं गुह्यम् पुराकल्पे प्रचोदितम्' (श्वेताश्वतर 6.22)। 'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः' (महानारायण 10.8) इत्यादि श्रुतिवचन उसी तथ्य का डिंडिम घोष करते हैं। इन श्रुति वचनों का सारांश इतना ही है कि संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है और जहाँ तक हमारी बुद्धि अनुमान कर सकती है, उन सबका मूल स्रोत एकमात्र 'परब्रह्म' ही है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र प्रमुखतया ब्रह्म के स्वरूप को विवेचित करता है एवं इसी के सम्बन्ध से उसमें जीव एवं प्रकृति के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किया गया है। यह दर्शन चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त है। इनका प्रतिपाद्य क्रमशः निम्नवत् है-

1- प्रथम अध्याय में वेदान्त से सम्बन्धित समस्त वाक्यों का मुख्य आशय प्रकट करके उन समस्त विचारों को समन्वित किया गया है, जो बाहर से देखने पर परस्पर भिन्न एवं अनेक स्थलों पर तो विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रथम पाद में वे वाक्य दिये गये हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्टतया कथन है, द्वितीय में वे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्ट कथन नहीं है एवं अभिप्राय उसकी उपासना से है। तृतीय में वे वाक्य समाविष्ट हैं, जिनमें ज्ञान रूप में ब्रह्म का वर्णन है। चतुर्थ पाद में विविध प्रकार के विचारों एवं संदिग्ध भावों से पूर्ण वाक्यों पर विचार किया गया है।

2- द्वितीय अध्याय का विषय 'अविरोध' है। इसके अन्तर्गत श्रुतियों की जो परस्पर विरोध सम्मतियाँ हैं- उनका मूल आशय प्रकट करके उनके द्वारा सिद्धान्त की सिद्धि की गयी है। इसके साथ ही वैदिक मतों (सांख्य, वैशेषिक, पाशुपत आदि) एवं अवैदिक सिद्धान्तों (जैन, बौद्ध आदि) के दोषों एवं उनकी अयथार्थता को दर्शाया गया है। आगे चलकर लिङ्ग शरीर प्राण एवं इन्द्रियों के स्वरूप दिग्दर्शन के साथ पंचभूत एवं जीव से सम्बद्ध शंकाओं का निराकरण भी किया गया है।

3- तृतीय अध्याय की विषय वस्तु साधन है। इसके अन्तर्गत प्रथमतः स्वर्गादि प्राप्ति के साधनों के दोष दिखाकर ज्ञान एवं विद्या के वास्तविक स्रोत परमात्मा की उपासना प्रतिपादित की गयी है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस उद्देश्य की

पूर्ति में कर्मकाण्ड सिद्धान्त के अनुसार मात्र अग्निहोत्र आदि पर्याप्त नहीं, वरन् ज्ञान एवं भक्ति द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य सम्भव है।

4- चतुर्थ अध्याय साधना का परिणाम होने से फलाध्याय है। इसके अन्तर्गत वायु, विद्युत् एवं वरुण लोक से उच्च लोक ब्रह्मलोक तक पहुँचने का वर्णन है, साथ ही जीव की मुक्ति, जीवन्मुक्त की मृत्यु एवं परलोक में उसकी गति आदि भी वर्णित है। अन्त में यह भी वर्णित है कि ब्रह्म को प्राप्ति होने से आत्मा की स्थिति किस प्रकार की होती है, जिससे वह पुनः संसार में आगमन नहीं करती। मुक्ति और निर्वाण की अवस्था यहीं है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ईश्वर, प्रकृति, जीव, मरणोत्तर दशाएँ, पुनर्जन्म, ज्ञान, कर्म, उपासना, बन्धन एवं मोक्ष इन दस विषयों का प्रमुखरूपेण विवेचन किया गया है।।

## खण्ड- १ ब्रह्मावबोध-१

### इकाई-१.१ ब्रह्म जिज्ञासा प्रकरण

#### उद्देश्य-

1. ब्रह्म जिज्ञासा की आवश्यकता को समझना।
2. ब्रह्म को जगत के निमित्त कारण के रूप में जानना।
3. वेदान्त सूत्रों के प्रारम्भिक सिद्धान्तों का अध्ययन करना।

सुख ही जीवन का सर्वोत्तम उद्देश्य है, और दुःख से किसी का भी संपर्क नहीं होना चाहिए। यह सभी जीवों की इच्छा होती है कि वे सुख प्राप्त करें और दुःख से बचें। इसलिए परम आनंद की प्राप्ति ही सभी का लक्ष्य है। जो व्यक्ति इसे प्राप्त करने का मार्ग नहीं जानता, वह अत्यंत चिंता और कष्ट में रहता है। ऐसे व्यक्ति को मार्गदर्शन देने के लिए शास्त्रों के रचनाकार पहले ब्रह्म जिज्ञासा करने का उपदेश देते हैं। ब्रह्म को जानने की इच्छा (ब्रह्मजिज्ञासा) तभी उत्पन्न होती है जब किसी के मन में वैराग्य होता है। बिना वैराग्य के ब्रह्म को जानने की सच्ची इच्छा नहीं हो सकती। वैराग्य दो प्रकार का होता है:

**दृष्ट वैराग्य** ख यह तब होता है जब व्यक्ति स्वयं दुःख, रोग, वियोग, और भोगों की पीड़ा का अनुभव करता है।

**अनुमित वैराग्य** ख यह तब होता है जब व्यक्ति यह समझ लेता है कि यह संसार नश्वर (एक दिन समाप्त होने वाला) है, और कोई भी चीज स्थायी नहीं है।

कर्ममीमांसा के अनुसार अगर हम केवल धर्म के अनुसार कर्म (जैसे यज्ञ, अग्निहोत्र) करते हैं, तो उससे कुछ सुख तो मिलता है, लेकिन वह भी अस्थायी होता है। वह दुःखों को पूरी तरह खत्म नहीं करता और न ही हमें उस शाश्वत सुख की प्राप्ति होती है, जो ब्रह्म के ज्ञान से मिलता है। इसलिए ब्रह्म (जो सदा रहने वाला, दुःख से परे और आनंदस्वरूप है) को जानने की इच्छा करना ही उचित है। इसी बात को बताने के लिए 'अथ' शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका अर्थ है — 'अब इसके बाद' अर्थात् अब उस स्थिति के बाद, जब व्यक्ति वैराग्य प्राप्त कर लेता है। 'अतः' शब्द का मतलब होता है — 'इस कारण से, अर्थात् इस कारण से अब ब्रह्म को जानने की आवश्यकता है कि इससे हमें स्थायी सुख और अमरत्व (मृत्यु से परे स्थिति) की प्राप्ति होती है।

### १.२ ब्रह्म लक्षण प्रकरण

जब गुरु ब्रह्मजिज्ञासा (ब्रह्म को जानने की इच्छा) करने का उपदेश देते हैं, तब शिष्य प्रश्न करता है:

“जिस ब्रह्म की जिज्ञासा की जा रही है, उस ब्रह्म का स्वरूप कैसा है?” तब वेदान्त दर्शन उत्तर देते हैं...

**जन्माद्यस्य यतः (१.१.२)** “अस्य” अर्थात् इस जगत का, “जन्मादि” अर्थात् इसका जन्म (उत्पत्ति), इसका बने रहना (स्थिति) और अंत (नाश) — यह सब “यतः” अर्थात् जिससे होता है — वही ब्रह्म है, और उसी ब्रह्म को जानने की जिज्ञासा करनी चाहिए। इसका मतलब है कि जिस सत्ता से यह सारा संसार उत्पन्न होता है, बना रहता है और अंत में समाप्त भी हो जाता है — वही परमात्मा है, और वही जानने योग्य ब्रह्म है। यहाँ “यतः” शब्द यह हेतुदर्शाने के लिए है कि ब्रह्म ही इस पूरे जगत का कारण (हेतु) है। जैसे किसी अन्य शास्त्र में कहा गया है “यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धिः स धर्मः” (वैशे.१.१.२) (अर्थात् जिससे जीवन में उन्नति (अभ्युदय) और मोक्ष (निःश्रेयस) की प्राप्ति हो, वही धर्म है।) उसी प्रकार यहाँ कहा गया है कि — जिससे जगत की उत्पत्ति, पालन और विनाश होता है, वह ब्रह्म ही जानने योग्य है।

फिर प्रश्न उठता है हम कैसे जानें और कैसे कहें कि इस जगत के उत्पत्ति, पालन और नाश का कारण ब्रह्म ही है? तब वेदान्त दर्शन निरूपण करता है, “शास्त्रयोनित्वात्” (१.१.३) का अर्थ है शास्त्र (वेद) ही इसका प्रमाण है, इसलिए हम यह जानते हैं कि यह सम्पूर्ण जगत् ब्रह्म (परमात्मा) से उत्पन्न हुआ है, उसी से चलता है और अंततः उसी में विलीन हो जाता है। यह बात स्वयं वेद कहते हैं। जैसे एक वेद वाक्य में कहा गया है: “द्यावाभूमी जनयन् देव एकः” (ऋग्वेद-१०.८१.३ एवं यजुर्वेद १७.१९) इसका अर्थ है ‘एक ही देव (परमात्मा) है जिसने आकाश और धरती को उत्पन्न किया है।’ अर्थात् — परमात्मा ही इस सृष्टि का रचयिता है। आकाश से लेकर धरती तक, सब कुछ उसी ने बनाया है। यह बात वेदों के प्रमाण से हमें पता चलती है। अब तक हमने यह समझा कि वेदों (शास्त्रों) से यह प्रमाण मिलता है कि ब्रह्म ही इस जगत का कारण है वही इसका जन्म,

पालन और नाश करता है। अब यहाँ कहा जा रहा है कि —सिर्फ शास्त्र ही नहीं, अपितु युक्ति (तर्क) और समन्वय से भी यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म ही इस सृष्टि का कारण है। ‘समन्वय’ अर्थात् हैसभी उपनिषदों और वेदांत शास्त्रों के वाक्य एक ही बात की पुष्टि करते हैं, और वह यह है कि —प्यह सम्पूर्ण जगत ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है। ‘उदाहरण- जैसे हर कार्य का एक कर्ता होता है —जैसे घड़ा कोई कुम्हार बनाता है, वह उसका कर्ता और कारण होता है। वैसे ही — यह विशाल जगत भी एक कर्ता (सर्जक) से उत्पन्न हुआ है।

### १.३ जगत रचना में निमित्त कारण ब्रह्म

अब तक हमने यह जाना कि ब्रह्म जगत का कारण है। अब प्रश्न उठता है — ‘ब्रह्म किस प्रकार का कारण है?’ क्या वह निमित्त कारण है (जो किसी कार्य की योजना करता है, जैसे कुम्हार)? या उपादान कारण (जिससे कार्य की सामग्री बनती है, जैसे मिट्टी)? उत्तर: यहाँ कहा गया है कि ईक्षतेर्नाशब्दम् १.१.५ —ब्रह्म “ईक्षण” करता है, अर्थात् सोचता है, इच्छा करता है कि मैं सृष्टि करूँ। इसलिए वह निमित्त कारण है —जैसे कोई योजनाकार (Engineer या Designer) योजना बनाता है, वैसे ही ब्रह्म इस सृष्टि की रचना करने वाला चेतन कारण है। ‘ईक्षण’ (सोचने या देखने की क्रिया) सिर्फ चेतन में होती है, जड़ में नहीं। और उपादान कारण जैसे मिट्टी तो जड़ होता है — उसमें ‘ईक्षण’ नहीं हो सकता। इसलिए, ब्रह्म उपादान कारण नहीं, अपितु निमित्त कारण है। ‘न-अशब्दम्’ का अर्थ यह विचार अनुमान एवं शास्त्र (वेद) प्रमाण से भी सिद्ध है। जैसे वेद में कहा गया है ‘स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति’(ऐतरेय उपनिषद १.१.१) परमात्मा ने सोचा — ‘मैं लोकों को उत्पन्न करूँ।’ इस वाक्य से स्पष्ट है कि ब्रह्म ने पहले ईक्षा (सोचा) फिर सृजन (उत्पत्ति) किया — इसलिए वह निमित्त कारण है। अब शिष्य एक और शंका करता है, ‘क्या ब्रह्म में ‘ईक्षण’ (सोचने/इच्छा करने) की क्रिया वास्तव में होती है?’ या फिर यह केवल गौण अर्थ (रूपक) में कही गई बात है? क्योंकि शास्त्रों में कहीं-कहीं अग्नि (तेज) और जल (आप) के लिए भी कहा गया है —‘तत्तेज ऐक्षत’ (छन्दो ६.२.३) — अग्नि ने सोचा, ‘ता आप ऐक्षन्त’ (छन्दो ६.२.४) — जल ने सोचा, परन्तु हम जानते हैं कि अग्नि और जल तो जड़ हैं — वे वास्तव में ईक्षा (सोच) नहीं कर सकते। तो क्या ब्रह्म के लिए भी ‘ईक्षण’ शब्द सिर्फ एक रूपक (गौण अर्थ) है? अगर हाँ, तो ब्रह्म को केवल उपादान कारण मानना पड़ेगा (जड़ वस्तु की तरह), न कि निमित्त कारण। उत्तर :- गौणश्चेन्नात्मशब्दात्(१.१.६), नहीं! ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्योंकि वेदों में ब्रह्म के लिए ‘आत्मा’ शब्द का प्रयोग हुआ है ‘आत्मा वा इदमग्र आसीत्’ —(ऐत १.१.१) सृष्टि से पहले केवल आत्मा ही था। ‘स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति’ (१.१.१)— उसने च्छा की, मैं लोकों को उत्पन्न करूँ। ‘आत्मा’ शब्द हमेशा चेतन (सजग, जानने वाला) के लिए आता है, इसलिए ब्रह्म में ‘ईक्षण’ वास्तव में होता है, यह कोई रूपक नहीं है। वह वास्तव में चेतन है। और इसीलिए वह निमित्त कारण है — केवल उपादान कारण (जड़) नहीं। ‘इस बात को सिद्ध करने के लिए वे शास्त्रों से एक और प्रमाण प्रस्तुत करते हैं तन्निष्ठस्य मोक्षोपदेशात् (१.१.७) “तन्निष्ठस्य” = जो व्यक्ति उस ब्रह्म (परमात्मा) में स्थिर है, “मोक्षोपदेशात्” = उसके लिए शास्त्रों में मोक्ष (मुक्ति) का उपदेश है। अर्थात् जो व्यक्ति ब्रह्म में निष्ठा रखता है (ब्रह्म को जानता है और उसमें स्थित होता है), उसे मोक्ष मिलता है — ऐसा शास्त्रों में बार-बार कहा गया है। अथर्ववेद (10.8.44) ‘अकामो धीरः मृतः स्वयम्भू रसेन तृप्तः न कुतश्चन शोचति। तं एव विद्वान् न बिभेति मृत्योः आत्मानं धीरम् अजरं युवानम्।’ अर्थजो ब्रह्म को जान लेता है, वह मृत्यु से नहीं डरता। वह शांत होता है, और भीतर से तृप्त रहता है — न उसे कुछ चाहिए, न कोई डर रहता है। यजुर्वेद (31.18) ‘परीत्य भूतानि... आत्मानं अभिसंविशे’ अर्थात् जो ब्रह्म को जान लेता है, वह सब भूतों (संसार) को पीछे छोड़कर अपने आत्मा को ब्रह्म में एकाकार कर देता है। कठोपनिषद (2.2.13): ‘नित्यो नित्यानामेको बहूनां यो विद्यति कामान् तमात्मस्थं ये अनुपश्यन्ति धीराः तेषां शान्तिः शाश्वती नेतरेषाम्।’ अर्थात् जो बुद्धिमान ब्रह्म को अपने भीतर (आत्मस्थ) देखता है, उसे सच्ची, स्थायी शान्ति प्राप्त होती है — अन्य किसी को नहीं।

निष्कर्ष:- ब्रह्म को जानने वाला मोक्ष (मुक्ति) को प्राप्त करता है — इसलिए ब्रह्म चेतन है और निमित्त कारण है। अगर ब्रह्म केवल उपादान कारण (सिर्फ पदार्थ) होता, तो उसमें स्थित होने से मोक्ष नहीं मिल सकता था। परन्तु, चूँकि ब्रह्म को जानने से मोक्ष मिलता है — इससे सिद्ध होता है कि वह चेतन, जानने योग्य परम कारण है। ब्रह्म को कभी भी त्याज्य (छोड़ने योग्य) नहीं बताया गया है। शास्त्रों में उसे हमेशा जानने योग्य, अपनाने योग्य, साक्षात् करने योग्य बताया गया है। शास्त्र प्रमाण से पुष्टि मिलती है। माण्डूक्य उपनिषद(७) स आत्मा स विज्ञेयः वह आत्मा ही ब्रह्म है, और वही जानने योग्य है। बृहदारण्यक उपनिषद (2.4.5)

‘आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः, श्रोतव्यः, मन्तव्यः, निदिध्यासितव्यः’ – आत्मा (ब्रह्म) को देखना (अनुभव करना), सुनना, सोचना और ध्यान करना चाहिए। ब्रह्म को शास्त्रों में कभी भी त्याज्य या हेय (नकारने योग्य) नहीं कहा गया, यह जानने योग्य है, साक्षात् करने योग्य है, अपनाने योग्य है। इसलिए यह भी सिद्ध होता है कि ब्रह्म चेतन और श्रेष्ठ है, और निमित्त कारण ही है, कोई निर्जीव उपादान कारण (सिर्फ पदार्थ) नहीं है। इस विषय में प्रमाणान्तर है वेदान्त दर्शन में **स्वाप्ययात् (१.१.१)** = ‘स्व में अप्यय’ अर्थात् अपने आत्मा का परमात्मा में विलय या लीन हो जाना। इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्म (परमात्मा) ही निमित्त कारण है, अर्थात् जगत का निर्माण करने वाला बुद्धिमान और चेतन कारण। यथा शास्त्र प्रमाण है “**आत्मना आत्मानम् अभिसंविवेश**” यजुर्वेद (31.18) जीवात्मा अंत में अपने ही मूल आत्मा (ब्रह्म) में प्रवेश करता है। यह दिखाता है कि: सारी सृष्टि का अंत (अप्यय) ब्रह्म में होता है। जैसे नदियाँ समुद्र में समा जाती हैं, वैसे ही सब प्राणी अंततः ब्रह्म में लीन होते हैं। जब सब जीव अंत में ब्रह्म में ही लीन होते हैं, तो ब्रह्म उत्पत्ति का कारण (निमित्त) भी वही होना चाहिए। यह सूत्र भी यही सिद्ध करता है कि ब्रह्म ही जगत का निमित्त कारण है, उपादान (सिर्फ वस्तु के रूप में) नहीं। हम दैनिक जीवन में देखते हैं कि किसी कर्म को करने वाला (कर्ता) और वह कर्म (वस्तु) भिन्न होते हैं।

सुनार सोने को आकार देता है।

कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है।

जुलाहा सूती कपड़ा बनाता है।

रसोईया भोजन पकाता है।

यह सब उदाहरण हैं कि कर्मकरने वाला (निमित्त कारण) चेतन होता है, और कर्म की वस्तु (उपादान कारण) जड़ और निर्जीव होती है। वेद में कहा गया है ‘**ईशा वास्यमिदं सर्वम्**’ (ईश.१.१) अर्थात्, यह सारा संसार ईश्वर (परमात्मा) का वास है, अर्थात् वह सबका स्वामी है। श्वेताश्वतर उपनिषद् में भी कहा गया है ‘**स कारणं करणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिज्जनिता न चाधिपः**’ (श्वेता.६.९) अर्थात्, वह परमात्मा कारणों का कारण और अधिपति (स्वामी) है। यहां ‘ईशा’ और ‘अधिप’ शब्दों से स्पष्ट है कि ब्रह्मात्मा जगत का निमित्त कारण है, उपादान कारण नहीं है।

**स्मरणीय बिन्दु-**

- अथातो ब्रह्मजिज्ञासा वेदान्त का प्रथम सूत्र है।
- ब्रह्म जगत का उत्पत्ति, स्थिति और लय कारण है।
- ब्रह्म चेतन एवं सर्वज्ञ सत्ता है।
- मोक्ष का साधन ब्रह्मज्ञान है।
- शास्त्र ही ब्रह्म का प्रमाण है।

**शब्दावली-**

- ब्रह्म
- जिज्ञासा
- निमित्त कारण
- उपादान कारण
- मोक्ष
- वैराग्य
- शास्त्र प्रमाण।

**5 अंको का प्रश्न-**

1. ब्रह्मजिज्ञासा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. वैराग्य के प्रकार लिखिए।
3. जन्माद्यस्य यतः का अर्थ बताइए।
4. शास्त्र को ब्रह्म का प्रमाण क्यों कहा गया है?
5. निमित्त कारण क्या है?

**15 अंको का प्रश्न-**

1. वेदान्त दर्शन में ब्रह्मजिज्ञासा का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. ब्रह्म को जगत का निमित्त कारण सिद्ध कीजिए।

3. ब्रह्मज्ञान और मोक्ष के सम्बन्ध का विवेचन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. अथातो ब्रह्मजिज्ञासा किस ग्रन्थ का सूत्र है?

(क) न्यायसूत्र

**(ख) ब्रह्मसूत्र**

(ग) योगसूत्र

(घ) सांख्यकारिका

2. ब्रह्मज्ञान का फल क्या है?

(क) धन

(ख) स्वर्ग

**(ग) मोक्ष**

(घ) यज्ञ

3. ब्रह्म जगत का कौन-सा कारण है?

(क) केवल उपादान

**(ख) निमित्त**

(ग) असत्

(घ) शून्य

4. शास्त्र्योनित्वात् का अर्थ है?

**(क) शास्त्र ही प्रमाण है**

(ख) शास्त्र मिथ्या है

(ग) शास्त्र कल्पना है

(घ) इनमें से कोई नहीं

5. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

(क) कर्म

(ख) धन

**(ग) ब्रह्मज्ञान**

(घ) युद्ध



## इकाई - १.२ उपनिषदों में वर्णित आनन्दमय शब्द की ब्रह्मवाचकता

### उद्देश्य-

1. आनन्दमय शब्द की व्याख्या समझना।
2. उपनिषदों में ब्रह्म के विभिन्न नामों का अध्ययन करना।
3. जीव और ब्रह्म के भेद को समझना।

अब तक हमने यह जाना कि यह सारा जगत् ब्रह्म से उत्पन्न हुआ है और वही इसका निमित्त कारण (सृजन करने वाला मुख्य कारण) है। यह बात वेद, शास्त्र और तर्क (युक्ति) से सिद्ध की गई। अब आगे यह बताया जाता है कि— ब्रह्म को उसके विशेष गुणों के आधार पर अलग-अलग नामों से जाना जाता है। उनमें प्रथम- आनन्दमय 'ब्रह्म', जो इस पूरे जगत् का कारण है, उसे "आनन्दमय" कहा गया है। यह नाम उसे आध्यात्मिक अभ्यास (ध्यान, मनन, आत्मचिंतन) से मिला है। उपनिषद् में बताया गया है कि आत्मा तक पहुंचने के लिये पाँच स्तर (कोश) होते हैं:-

अन्नमय (शरीर)

प्राणमय (जीवन ऊर्जा)

मनोमय (मन)

विज्ञानमय (बुद्धि)

आनन्दमय (सबसे भीतर का आत्मस्वरूप)

उपनिषद् कहता है "एतस्माद् विज्ञानमयात् अन्यः अन्तर आत्मा आनन्दमयः" (तैत्तिरीयोपनिषद् 2.5) = विज्ञानमय कोश से भी भीतर जो आत्मा है, वह आनन्दमय है। जब साधक ध्यान और अभ्यास से आत्मा के अंदर प्रवेश करता है, तो वह अनुभव करता है कि सबसे भीतर शुद्ध आनन्द है। इसलिए ब्रह्म को 'आनन्दमय' कहा गया है — वह पूर्ण, अखण्ड, शाश्वत आनन्द है। ब्रह्म का यह नाम केवल शास्त्रों में लिखा हुआ नहीं है, अपितु अनुभव और साधना के आधार पर सिद्ध हुआ है। इसलिए उसे 'आनन्दमय' कहा जाता है — वह जो सदा, सर्वत्र और सबमें आनन्द रूप में है

शंका (आपत्ति):- 'आनन्दमय' शब्द में 'मयट्' प्रत्यय आता है, जो अक्सर विकार (बदलाव या उत्पत्ति) को दर्शाता है। जैसे रसमय, घनमय आदि शब्दों में ख़ यह शब्द बताते हैं कि कोई वस्तु किसी दूसरी चीज़ से बनी है या उसमें उसका विकार है। तो क्या 'आनन्दमय' शब्द का यही अर्थ लेना चाहिए कि ब्रह्म कोई बदली हुई (विकृत) अवस्था है? इस आधार पर तो ब्रह्म को विकारयुक्त कहेंगे — जो कि उचित नहीं है।

उत्तर (समाधान):- नहीं, ऐसा नहीं कहा जा सकता। क्यों? ख़ प्राचुर्यात् का अर्थ है ख़ प्रचुरता या भरपूरता। यहाँ 'मयट्' प्रत्यय का प्रयोग विकार के अर्थ में नहीं, अपितु आनन्द की प्रचुरता के लिए हुआ है। उदाहरण 'लवणमय' का अर्थ है ख़ जो पूरी तरह से नमक से भरा है, स्वयं नमक स्वरूप है। शंका थी, आनन्दमय शब्द में 'मयट्' प्रत्यय है, तो क्या यह विकार (बदलाव) को दिखाता है? इसका उत्तर पिछले सूत्र में दिया गया — नहीं, यह 'प्रचुरता' के अर्थ में है। अब इस सूत्र में एक और कारण (हेतु) दिया जाता है जिससे यह सिद्ध होता है कि 'आनन्दमय' का अर्थ विकार नहीं, अपितु पूर्णता है। उपनिषद् में कहा गया है 'एष ह्येवानन्दयाति' (तैत्तिरीयोपनिषद् 2.7) — यह (ब्रह्म) ही दूसरों को आनन्द देता है। अर्थात् ब्रह्म स्वयं आनन्द से परिपूर्ण है, इसीलिए वह दूसरों को भी आनन्द प्रदान करता है। अगर उसमें आनन्द न हो, तो वह कैसे दे सकता है? अब इस सूत्र में एक और प्रमाण दिया जा रहा है कि "आनन्दमय" वास्तव में ब्रह्म का ही नाम है। क्या प्रमाण है? यह कहा गया है कि ख़ वेदों के मन्त्रों में भी यह बात स्पष्ट रूप से वर्णित है। "वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद् यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्। तस्मिन्निदं सं च विचौति सर्वम्।" (यजुर्वेद 32.8) अर्थात् वह परमात्मा (ब्रह्म) सबके हृदय में (गुहा = गुफा = हृदय) छिपा है। उसी में पूरा जगत् एक साथ स्थित है। वही सबकी गति और स्थिति का नियामक है, विभु है। यह सब ब्रह्म की विशेषताएँ हैं, न कि जड़ प्रकृति की। उपनिषद् और मन्त्र दोनों में जिस आनन्दमय की चर्चा है, वह प्रकृति नहीं, अपितु परमात्मा ब्रह्म है। 'आनन्दमय' ब्रह्म से भिन्न कोई और नहीं हो सकता, अर्थात् जीवात्मा को 'आनन्दमय' नहीं कहा जा सकता। क्यों नहीं? क्योंकि यह तर्कसंगत नहीं है। 'स तपोऽतप्यत स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत्, यदिदं किञ्च' (तै.उ. २.३) अर्थात् — 'उसने तप किया और फिर इस पूरे जगत् की रचना की। यहाँ जो 'सः' (वह) शब्द है, वह उसी 'आनन्दमय' के लिए प्रयुक्त हुआ है, जिसकी चर्चा पहले हो चुकी है। इसका अर्थ— आनन्दमय ने ही सृष्टि की रचना की। अब यह जीव (व्यक्तिगत आत्मा) क्यों नहीं हो सकता? जीवात्मा सीमित ज्ञान वाला है। उसके पास असीम शक्ति नहीं है। वह स्वयं ब्रह्म के अधीन है। इसलिए वह संपूर्ण ब्रह्माण्ड की रचना नहीं कर सकता। आनन्दमय जीवात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र में स्पष्ट रूप

से दोनों के बीच भेद (अंतर) बताया गया है। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है 'रसो वै सः। रसं ह्येवायं लब्ध्वा आनन्दी भवति। (तै. उ २.७) इसका अर्थ है वह (ब्रह्म) ही आनन्दरूप रस है। यह जीव उस रस को प्राप्त करके आनन्दित होता है। 'रस' (आनन्द) ब्रह्म है, जो प्राप्त करने योग्य है। 'जीव' वह है जो उस रस को प्राप्त करता है। अर्थात्, आनन्दमय ब्रह्म और आनन्द पाने वाला जीव खूब दो अलग-अलग हैं। यदि 'आनन्दमय' जीव होता, तो वह स्वयं को क्यों प्राप्त करता? प्राप्त करने वाला और प्राप्त होने वाला खूब दो अलग हों, यह सामान्य अनुभव है। इसलिए जीव 'आनन्दमय' नहीं, अपितु 'आनन्दमय' ब्रह्म ही है। जीव 'आनन्दमय' नहीं हो सकता, क्योंकि उसमें आनन्द की कर्मना (इच्छा) पाई जाती है। और इस बात को प्रमाणित करने के लिए किसी अनुमान या तर्क की जरूरत नहीं है — शास्त्र स्वयं यह कहता है। कर्मना (इच्छा) केवल उसी वस्तु की होती है जो अभी नहीं मिली है। यदि कोई व्यक्ति सुखी है तो वह सुख की इच्छा क्यों करेगा? जीव आनन्द चाहता है, इसका मतलब है कि वह अभी पूर्ण आनन्दमय नहीं है। इसलिए 'आनन्दमय' शब्द का प्रयोग जीव के लिए नहीं किया जा सकता। तैत्तिरीय उपनिषद् में कहा गया है जो ब्रह्म को जानता है, वह सभी इच्छाओं को प्राप्त करता है। इससे ज्ञात होता है कि जीव को आनन्द तब मिलता है जब वह ब्रह्म को जानता है। अर्थात् जीव में पहले से आनन्द नहीं है। ब्रह्म और जीव का अंतर, ब्रह्म पूर्ण आनन्दस्वरूप है, उसमें कोई कर्मना नहीं होती। वेद में ब्रह्म को कहा गया है 'अकामो धीरः, रसेन तृप्तः' अर्थात् वह कर्मनारहित और रस/आनन्द से पूर्ण है। जीव 'आनन्दमय' नहीं है, क्योंकि शास्त्र यह बताता है कि जीव का ब्रह्म से तादात्म्य (एकता/संबंध) होता है। अगर जीव स्वयं ही आनन्दमय होता, तो शास्त्र को यह 'तादात्म्य' (योग) बताने की जरूरत ही न होती। शास्त्र (उपनिषद्) कहता है; जो व्यक्ति इस अदृश्य, निराकार, स्थायी ब्रह्म में एकता प्राप्त करता है, वह निडर हो जाता है। अर्थात् जीव और ब्रह्म अलग हैं, लेकिन जब योग (संबंध/एकता) होता है, तभी जीव को शांति और आनन्द मिलता है। अगर जीव पहले से ही ब्रह्म (आनन्दमय) होता, तो एकता (योग) की बात करने की आवश्यकता ही नहीं थी। शास्त्र केवल उसी चीज की 'एकता' बताता है जो पहले से भिन्न हो। उदाहरण, जैसे दूध में जल मिलाया जाता है, तो दूध और जल मूल रूप से अलग होते हैं। इसी तरह, जीव और ब्रह्म भिन्न हैं, लेकिन जब जीव ब्रह्म से जुड़ता है, तब ही आनन्द प्राप्त करता है।

## २.१ उपनिषदों में वर्णित अन्तः शब्द की ब्रह्मवाचकता

ब्रह्म के लिये प्रयुक्त किए किन्हीं सन्दिग्ध पदों का निर्णय किया जाता है— उपनिषदों में 'अन्तः' शब्द जहां-जहां आया है, वहां उसका अर्थ ब्रह्म (परमात्मा) ही है, क्योंकि वहाँ ब्रह्म के गुण (धर्म) बताए गए हैं। 'अन्तः' शब्द उपनिषदों में कई जगह आया है — जैसे आदित्य के भीतर, और नेत्र (आँख) के भीतर एक दिव्य पुरुष (पुरुषः) को देखा जाता है। यह कहा गया है 'अथ य एषोऽन्तरादित्ये हिरण्यमयः पुरुषो दृश्यते हिरण्यश्मश्रुर्हिरण्यकेश आप्रणोऽत्सर्व एव सुवर्णः । तस्य यथा कप्यासं पुण्डरीकमेवमक्षिणी----- इत्याधिदैवतम्' (छान्दोग्य उपनिषद् 1.6.6) जो पुरुष सूर्य के भीतर दिखाई देता है — वह स्वर्णमय, चमकते केश और दाढ़ी वाला है और इसी प्रकार "अथाध्यात्मम्। अथ य एषोऽन्तरक्षिणि पुरुषो दृश्यते----- तस्यैतस्य तदेव रूपं यदमुष्य रूपं-----" (छान्दोग्य उपनिषद् 1.7.5.) 'जो पुरुष आँख के भीतर है — उसका रूप भी वैसा ही है' छान्दोग्य उपनिषद् 1.7.5 ये पुरुष (अन्तः पुरुष) जीव नहीं हैं, क्योंकि शास्त्र इनके लिए जो गुण बताता है, वे केवल ब्रह्म में ही हो सकते हैं। जैसे वह सभी पापों से रहित है, वह सभी लोकों का स्वामी है, वह मनुष्य की सभी इच्छाओं का भी नियन्ता है। ये गुण केवल ब्रह्म में हो सकते हैं, जीव में नहीं। जब शास्त्र कहता है कि 'सूर्य के भीतर कोई पुरुष है' या 'आँख के भीतर कोई पुरुष है', तो वहाँ वह ब्रह्म (परमात्मा) है। शब्द से जो आत्मा बताई गई है, वह जीव से अलग कोई और है, क्योंकि शास्त्र में भिन्नता (भेद) का वर्णन किया गया है। जब उपनिषद् कहता है कि कोई आत्मा 'अन्तः' अर्थात् अंदर स्थित है, तो वह जीवात्मा नहीं, अपितु ब्रह्म (परमात्मा) है। क्योंकि शास्त्र में स्पष्टरूप से बताया गया है कि यह आत्मा अन्य वस्तुओं से भिन्न है। "य आदित्ये तिष्ठन्नादित्यादन्तरो यमादित्यो न वेद---य आत्मनि तिष्ठन्नात्मनोऽन्तरो--- एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः" बृहदारण्यक उपनिषद् (3.7.9-23) में बार-बार यह कहा गया है 'जो आदित्य (सूर्य) में स्थित है, जो आदित्य से अलग है, जिसे आदित्य नहीं जानता — वही परमात्मा, अन्तर्यामी है।' 'जो आत्मा में स्थित है, आत्मा से अलग है, जिसे आत्मा नहीं जानता — वही आत्माओं का अन्तर्यामी, अमृत परमात्मा है।' यहाँ हर जगह भेद (अलगाव) दिखाया गया है, परमात्मा इन सब चीजों से अलग है, फिर भी उनमें स्थित है।

## २.२ उपनिषदों में प्रयुक्त होने वाला आकाश शब्द का ब्रह्मवाचकता

अध्यात्म प्रकरण में जो 'आकाश' शब्द आया है, वह भूताकाश नहीं, अपितु ब्रह्म (परमात्मा) है — क्योंकि उसमें ब्रह्म के लक्षण दिखाई देते हैं। उपनिषद् के कुछ मंत्रों में 'आकाश' शब्द आया है। इस पर शंका हो सकती है कि यह आकाश साधारण आकाश है या ब्रह्म। उत्तर है

— यह ब्रह्म है, क्योंकि; इसमें ब्रह्म के गुण जैसे आनन्द देने वाला, सब कुछ धारण करने वाला, उपास्य, सर्वोच्च इत्यादि स्पष्ट दिखाई देते हैं।  
 (1) 'यदेष आकाश आनंदो न स्यात्...' तैत्तिरीय उपनिषद् (2.7) यहां कहा गया है कि यदि यह आकाश आनन्दस्वरूप न हो, तो जीवन संभव नहीं। 'आनंद' देना ब्रह्म का गुण है, । इसलिए यह ब्रह्मरूप आकाश है।  
 (2) 'आकाशः परोवरीयान् उद्गीथः स एषोऽनन्तः' छान्दोग्य उपनिषद् (1.9.1) यहाँ आकाश को 'उद्गीथ' (उपास्य, श्रेष्ठ, अनन्त) बताया गया है, इसलिए यह भी ब्रह्मरूप आकाश है। भूताकाश (साधारण आकाश) न तो उपास्य है, न ही अनन्त चेतन।  
 (3) 'आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता, तद् ब्रह्म' छान्दोग्य उपनिषद् (8.14.1):' यहां कहा गया है कि आकाश ही नाम और रूपों का संचालन करने वाला है, और वही ब्रह्म है। संचालन करने की क्षमता जड़ आकाश में नहीं, यह केवल चेतन ब्रह्म में हो सकती है।

## २.३ उपनिषदों में प्रयुक्त होने वाला प्राण शब्द का ब्रह्मवाचकता

जब उपनिषदों में 'प्राण' शब्द आता है, तो कभी-कभी वह सिर्फ श्वास-प्रश्वास का तत्त्व (सामान्य प्राण) नहीं होता। कुछ विशेष स्थलों पर वह परमात्मा (ब्रह्म) के लिए प्रयुक्त होता है। क्योंकि वहां 'प्राण' में ब्रह्म के लक्षण दिखते हैं। इसे ही 'तल्लिङ्ग' कहा गया है — ऐसे संकेत या गुण जो ब्रह्म के होते हैं। (1) 'यदिदं किञ्च जगत् सर्वं प्राण एजयति निःसृतम्' कठोपनिषद् (2.3.2): इसका अर्थ है यह सारा जगत् प्राण में ही गति करता है। यह शक्ति केवल ब्रह्म में होती है, जो सबको चलाता है। इसलिए यहां 'प्राण' = ब्रह्म। (2) 'सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवाभिसंविशन्ति, प्राणमभ्युज्जिहते' छान्दोग्य उपनिषद् (1.11.5):' सब जीव-जन्तु प्राण में प्रवेश करते हैं और प्राण से उत्पन्न होते हैं। यह सृजन और संरक्षण की शक्ति केवल परमात्मा (ब्रह्म) में होती है, इसलिए यहाँ 'प्राण' = ब्रह्म है।

## २.४ अध्यात्मप्रकरण में पढ़ा हुआ 'ज्योति' शब्द का ब्रह्मवाचकता

उपनिषदों में 'ज्योति' (प्रकाश) शब्द का उपयोग कहीं-कहीं ब्रह्म के लिए हुआ है। ऐसा इसलिए, क्योंकि वहां ब्रह्म को 'चरण' (पाद) रूप में बताया गया है। अर्थात् यह एक रूपक (लउइवसपब कमेबतपचजपवद) है — जिससे ब्रह्म की महत्ता दिखाई जाती है। (1) 'पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि' छान्दोग्य उपनिषद् (3.12.6) इसका अर्थ है सारे जीव-जंतु, वस्तुएँ, संसार — ये सब परमात्मा के एक पाद (चौथाई भाग) हैं उसका शेष तीन पाद भाग — अमर, शुद्ध और दिव्य है, एवं ब्रह्मलोक में स्थित है। यह दर्शाता है कि सारा संसार ब्रह्म की महिमा का एक छोटा भाग है, बाकी सच्चिदानन्द स्वरूप ब्रह्म — त्रिपाद — दिव्य और अमर है। (2) 'अथ यदतः परो दिवो ज्योतिर्दीप्यते...' छान्दोग्य उपनिषद् (3.13.7) अर्थात् उस अमर दिव्य लोक के ऊपर जो ज्योति (प्रकाश) प्रकाशित हो रही है, वह वास्तव में अन्तरात्मा में स्थित ब्रह्म ज्योति ही है। उपनिषद् कहता है — यह जो आन्तरिक प्रकाश है, वही ब्रह्म की ज्योति है।

आपत्ति (शंका) किसी को यह भ्रम हो सकता है कि — छान्दोग्य उपनिषद् में 'ज्योति' और 'पाद' (चरण) का वर्णन गायत्री छन्द के आधार पर है, इसलिए वहां ब्रह्म नहीं, केवल छन्द (उमजमत/अमतेम) की बात हो रही है।

उत्तर (समाधान) ऐसा मानना तृटिपूर्ण है। क्यों? मन का समर्पण बताया गया है उसी अध्याय में स्पष्ट रूप से कहा गया है 'य एतामेवं ब्रह्मोपनिषदं वेद' (छन्दो.३.११.३) इसका अर्थ है जो इस ब्रह्म के रहस्य को जानता है... इससे साफ है कि ब्रह्म की उपासना की बात चल रही है। गायत्री छन्द = ब्रह्म का प्रतीक रूप है। उपनिषद् में कहा गया है 'सैषा चतुष्पदा षड्विधा गायत्री' (छन्दो.३.१२.५) खगायत्री छन्द चार पादों वाली और प्रत्येक पाद में 6 अंश वाली मानी गई है। यह ब्रह्म के चार रूपों (पाद) और गुणों का संकेत करती है। अन्य उपनिषदों से प्रमाण खमाण्डूक्य उपनिषद् में भी ब्रह्म के चार पाद बताए गए हैं, और प्रत्येक पाद में 6 गुण वर्णित हैं। जैसे-:

- प्रथम पादः जाग्रत अवस्था (वैश्वानर)
- द्वितीय पादः स्वप्न अवस्था (तेजस)
- तृतीय पादः सुषुप्ति अवस्था (प्राज्ञ)
- चतुर्थ पादः तुरिय (अद्वैत, शान्त, शिव, अमानुष)

हर पाद में 6 गुण बताए गए हैं — ठीक वैसे ही जैसे गायत्री के प्रत्येक चरण में 6 अक्षर होते हैं। इससे गायत्री छन्द और ब्रह्म के बीच प्रतीकात्मक समानता दिखाई गई है, ताकि मन ब्रह्म में लगाए जाने सक्षम (योग्य) बन सके। कोई कह सकता है। छान्दोग्य उपनिषद् में जो गायत्री छन्द की चर्चा है, उसमें चरण (पाद) शब्द का प्रयोग तो वास्तव में छन्द के चार चरणों को बताने के लिए है।

इसको ब्रह्म के चार चरणों (पादों) से जोड़ना अनुचित है। ऐसा नहीं है। क्यों? क्योंकि उसी प्रसंग में भूत (पृथ्वी), शरीर, हृदय आदि को भी 'पाद' (चरण) के रूप में बताया गया है। और यह तुलना गायत्री छन्द से नहीं, अपितु ब्रह्म से ही संभव है। छन्द तो चेतन नहीं होता, इसलिए उसमें भूत, शरीर या हृदय जैसे तत्त्व चरण (पाद) के रूप में नहीं जोड़े जा सकते। अगर कोई यह कहे कि — **“गायत्री के प्रसंग में त्रिपादस्यामृतं दिवि”** (सप्तमी विभक्ति) और ज्योति के प्रसंग में **‘परो दिवः’** (पञ्चमी विभक्ति) इन दो विभक्तियों (व्याकरण रूपों) में भिन्नता होने से, दोनों अलग-अलग चीजों का बोध कराते हैं, इसलिए ‘गायत्री’ और ‘ज्योति’ दो भिन्न वस्तुएं हैं” — तो उत्तर है ऐसा नहीं है। क्यों? दोनों रूपों (विभक्तियों) में कोई विरोध नहीं है। दोनों के माध्यम से एक ही तत्त्व — ब्रह्म को बताया गया है। उदाहरण, जैसे कहा जाए —

‘पर्वते मेघः’ = पर्वत पर मेघ है। ‘पर्वतात् परः मेघः’ = पर्वत से परे मेघ है।

दोनों ही वाक्यों में बात एक ही मेघ की हो रही है, भले ही व्याकरण में विभक्ति बदली हो — सप्तमी (पर) और पञ्चमी (से परे)।

इसी तरह उपनिषद् में भी “त्रिपादस्यामृतं दिवि” अमृत स्वरूप त्रिपाद ब्रह्म द्युलोक (स्वर्ग) में स्थित है। “परो दिवः ज्योतिः” वही ज्योतिर्मय ब्रह्म द्युलोक से भी परे है। यहाँ पर भी व्याकरण भिन्न है, लेकिन तत्त्व एक ही है — ब्रह्म। जैसे पहले हमने विभक्ति भेद (जैसे सप्तमी और पञ्चमी) से यह समझा कि भले ही भाषा में थोड़ा भेद हो, लेकिन संदर्भ ब्रह्म का ही होता है, वैसे ही, अब एक और उदाहरण दिया जा रहा है — प्राण शब्द का। यहाँ कहा जा रहा है ‘प्राण’ शब्द भी कुछ जगहों पर भले ही अलग रूप से बताया गया हो अर्थात् वाक्य में शब्दों का भिन्न प्रयोग हो, जैसे क्षेत्र या विषय बदल जाए, फिर भी वास्तविक अर्थ वही ब्रह्म है। क्यों? क्योंकि सारे वाक्य एक ही भाव (अर्थ) की ओर इशारा करते हैं, और सभी वाक्यों का सार और निष्कर्ष (उपसंहार) भी एक ही — ब्रह्म पर जाकर टिकता है। उपनिषद् में इन्द्र ने प्रतर्दन नाम के राजा से कहा:

- ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा तं माम् आयुरमृतमित्युपास्व’ मैं प्राण हूँ, जो प्रज्ञात्मा है। मुझे अमर आयु रूप समझकर ध्यान करो।
- ‘प्राण एव प्रज्ञाम् इदं शरीरं परिगृह्य उत्थापयति’ यही प्राण (वायु) इस शरीर को प्रज्ञा के साथ उठाकर चलाता है।
- ‘न वाचं विजिज्ञासीत, वक्तारं विद्यात्’ केवल वाणी को नहीं जानना चाहिए, अपितु वाणी के जाननेवाले को जानना चाहिए।
- ‘स एष एव प्रज्ञात्मा — आनन्दः, अजरः, अमृतः’ वही प्रज्ञात्मा (जाननेवाला आत्मा) ही आनन्दस्वरूप, अजर और अमर है — यही ब्रह्म है।

ऊपर के चारों वाक्यों में: कहीं इन्द्र बोल रहे हैं, कहीं प्राण (श्वासवायु) की बात हो रही है, कहीं जीव (व्यक्ति) की चर्चा है, और अंत में ब्रह्म का वर्णन है। फिर भी, हर बार मूल तत्त्व एक ही है — प्रज्ञा (ब्रह्मस्वरूप आत्मा), जिसे प्राण, इन्द्र या जीव कहकर बताया गया है।

इसी क्रमबद्ध समानता को ‘अनुगम’ कहते हैं।

अब कोई यह आपत्ति कर सकता है ‘प्राण’ शब्द को ब्रह्म मानना ठीक नहीं है, क्योंकि पहले वाक्य में इन्द्र ने स्वयं कहा ‘प्राणोऽस्मि प्रज्ञात्मा ख्र मैं प्राण हूँ, जो प्रज्ञात्मा है’, इस वाक्य से तो ऐसा लगता है कि इन्द्र केवल अपनी आत्मा (जीव) की ही बात कर रहा है, न कि ब्रह्म की। क्या यह आपत्ति सही है? सूत्रकार इसका उत्तर देते हैं— ‘न’, ऐसा मानना सही नहीं है। क्यों? **‘अस्मिन् अध्यात्मसम्बन्धभूमा हि’** अर्थात् इस पूरे प्रकरण में ‘अध्यात्म सम्बन्ध की अत्यधिकता’ है। यहाँ ‘अध्यात्म’ का अर्थ है — ब्रह्म और आत्मा का गहरा सम्बन्ध, जिसे ‘तादात्म्य’ कहते हैं — अर्थात् आत्मा और ब्रह्म में कोई भेद नहीं है। इस कारण इन्द्र जब अपनी आत्मा की बात करता है, तो वह ब्रह्म से एकाकार हुई आत्मा की बात करता है, न कि केवल एक सीमित जीव की। आखरी वाक्य क्या कहता है? ‘स एष एव प्रज्ञात्मा — अजरः, अमृतः’ यही प्रज्ञात्मा (जाननेवाला आत्मा), अजर और अमर ब्रह्म है। इसका मतलब है कि शुरुआत से अंत तक प्राण के माध्यम से जो आत्मा बताई गई है, वह केवल जीव नहीं, ब्रह्मरूप आत्मा है। यदि यह आपत्ति हो कि इन्द्र कैसे कह सकता है कि श्मै प्राण हूँ या श्मै अमृत हूँ? क्या यह कोई अतिशयोक्ति नहीं है? उत्तर दिया गया है: **‘शास्त्रदृष्ट्या तु उपदेशः’** (१.१.३०) यह उपदेश शास्त्र की दृष्टि से उचित है। एवं वेदों की अनुभूति और ज्ञानदृष्टि से ऐसा कहा गया है। उदाहरण— **‘वामदेववत्’** जैसे ऋषि वामदेव ने कहा था। **‘अहं मनुरभवम्, अहं सूर्यश्च’** (शत१४.२.२१) अर्थात् मैं ही मनु बना था, और मैं ही सूर्य हूँ। वामदेव ऋषि ने यह बात तब कही जब उन्हें आत्मा और ब्रह्म का एकत्व पूरी तरह अनुभव हुआ। अगर कोई कहे, प्राण शब्द तो कभी मुख्य प्राण (सांस लेने वाली शक्ति) के लिए आता है और कभी जीव के लिए, तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि यहाँ प्राण शब्द ब्रह्म के लिए ही है? इसका उत्तर दिया गया है न — ऐसा नहीं है। क्यों? तीन कारणों से:

1. **उपासा-त्रैविध्यात्** (१.१.३१) (उपासना की त्रिविधता से)

अगर ‘प्राण’ शब्द को तीन अलग-अलग अर्थों में लें (जीव, मुख्यप्राण और ब्रह्म), तो तीन अलग-अलग उपासनाएं (ध्यान करने



योग्य वस्तुएं) मानी जाएंगी। लेकिन ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि शास्त्र में तो केवल ब्रह्म की ही उपासना का निर्देश है।

2. **तदाश्रितत्वात्** (१.१.३१) (जीव और प्राण ब्रह्म के आश्रित हैं) जीव और मुख्य प्राण दोनों ब्रह्म पर निर्भर (आश्रित) हैं। इसलिए उपासना आश्रित की नहीं, आश्रय (ब्रह्म) की होनी चाहिए।

3. **इह तद्योगात्** (१.१.३१) (यहाँ पर उपासक का लक्ष्य ब्रह्म से जुड़ना है) यहाँ उपासक (ध्यान करने वाला) ब्रह्म से योग-संयोग चाहता है, उसी से आनंद, अमरता आदि की प्राप्ति हो सकती है।

इसलिए यहाँ जो 'प्राण' कहा गया है ख़रब ब्रह्म ही है।

## २.४ उपासन प्रकरण का विषय ब्रह्म

पूर्वपाद के अनुसार कौषीतकि ब्राह्मण उपनिषद् में ही नहीं, अपितु सभी उपनिषदों और उपासना विषयक शास्त्रों में ब्रह्म को ही उपास्य रूप में बताया गया है। इसलिए जहाँ भी कोई संदेह हो कि उपास्य क्या है, वहाँ यह समझना चाहिए कि — ब्रह्म ही उपासना का लक्ष्य है, । **‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति शान्त उपासीत। अथ खलु क्रतुमयः पुरुषः...’** छान्दोग्य उपनिषद् (3.14.1) यहाँ दो बातें कही गईं यह सारा जगत ब्रह्म है, मनुष्य जैसा संकल्प करता है, वैसा ही बनता है। यहाँ एक प्रश्न उठता है इस मंत्र में ‘उपासना’ किसकी है? क्या उपास्य (ध्यान का विषय) यह पूरा जगत है? या फिर स्वयं का आत्मस्वरूप (जीव)? दोनों विकल्प मंत्र में मिलते हैं, इसलिए संदेह होता है। इसका उत्तर यह सूत्र देता है सर्वत्र प्रसिद्ध उपदेशात् (१.२.१) के अनुसार, जहाँ भी उपासना की बात होती है — वहाँ ब्रह्म ही उपास्य होता है। इसलिए इस मंत्र में भी उपासना का लक्ष्य ब्रह्म ही है, न तो जगत, न जीव। फिर मंत्र में सर्वं खल्विदं और शक्रतुमयः क्यों कहा गया? ‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलानिति’ — यह केवल यह बताने के लिए है कि जगत ब्रह्म से उत्पन्न, स्थित और लीन होता है। यह जगत ब्रह्म पर निर्भर है। **‘शान्त उपासीत’** — उपासना उस कारण रूप ब्रह्म की होनी चाहिए, न कि इस नाशवान जगत की। **‘क्रतुमयः पुरुषः...’** ख़रब बताया गया है कि मनुष्य जैसा संकल्प करता है, वैसा फल पाता है। यदि ब्रह्म की उपासना करेगा, तो मोक्ष या ब्रह्मानंद पाएगा।

एक विशेष बात, यहाँ एक अहम् विचार प्रस्तुत किया गया है **‘सर्वं खल्विदं ब्रह्म’** — इस वाक्य में शब्रह्म शब्द का अर्थ परमात्मा नहीं, अपितु ‘ब्रह्माण्ड’ (विस्तृत जगत) है। अगर यहाँ ‘ब्रह्म’ का अर्थ परमात्मा हो, तो यह मंत्र स्पष्ट (निस्संदेह) हो जाएगा। फिर यह सूत्र “सर्वत्र प्रसिद्धोपदेशात्” ही अनावश्यक हो जाएगा। इसलिए यह माना गया कि यहाँ ‘ब्रह्म’ शब्द का अर्थ फैला हुआ संसार / ब्रह्माण्ड है — जो विचारणीय, और संदिग्ध हो सकता है।

**‘यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः। तस्मात् एतद् ब्रह्म नाम रूपम् अन्नं च जायते।’** मुण्डक उपनिषद् (1.1.9) इसका अर्थ है — सर्वज्ञ ईश्वर से नाम, रूप और अन्न से युक्त ब्रह्माण्ड उत्पन्न होता है। इसी तरह स्वामी दयानन्द जी भी ‘ब्रह्म’ शब्द को ‘बृहत्तम जगत’ के अर्थ में मानते हैं। उपनिषद् के मंत्रों में जो उपास्य (ध्यान करने योग्य) वस्तु के गुण बताए गए हैं, वे गुण केवल ब्रह्म में ही संभव हैं। इसलिए यह स्पष्ट होता है कि — इस प्रकरण में ब्रह्म ही उपास्य है, न कि कोई जीव या मुख्यप्राण। कौन-कौन से गुण बताए गए हैं?

**‘मनोमयः प्राणशरीरः भारूपः सत्यसङ्कल्पः आकाशात्मा सर्वकर्मा सर्वकामः सर्वगन्धः सर्वरसः सर्वमिदमभ्यन्तः वाङ्मनसातीतः ज्यायान् पृथिव्या इत्यादि...’** छान्दोग्य उपनिषद् (3.14.2)

इन गुणों का सरल अर्थ है:

| गुण                  | सरल अर्थ                             |
|----------------------|--------------------------------------|
| मनोमयः               | मन के समान सूक्ष्म                   |
| प्राणशरीरः           | प्राण स्वरूप                         |
| भारूपः               | प्रकाशस्वरूप                         |
| सत्यसङ्कल्पः         | जिसकी इच्छाएँ कभी असत्य नहीं होतीं   |
| आकाशात्मा            | आकाश के समान सर्वव्यापक              |
| सर्वकर्मा            | सभी कर्मों को करने वाला              |
| सर्वकामः             | जिसमें सभी इच्छाएँ पूर्ण हो जाती हैं |
| सर्वगन्धः            | सभी गन्धों का आधार                   |
| सर्वरसः              | सभी रसों (आनन्द) का स्रोत            |
| सर्वमिदमभ्युत्तः     | सब कुछ जिसमें व्याप्त है             |
| वाङ्मनसातीतः         | वाणी और मन से परे                    |
| ज्यायान् पृथिव्या... | पृथ्वी, आकाश, लोकों से भी महान       |

ये सभी गुण ब्रह्म में ही हो सकते हैं, । इसलिए उपनिषद् में जहाँ ये गुण बताए गए हैं, वहाँ यह स्पष्ट है कि उपास्य ब्रह्म ही है, कोई और नहीं। जो विशेष गुण उपनिषदों में उपास्य के रूप में बताए गए हैं । सर्वव्यापकता, सत्यसंकल्पता, सर्व कर्मता आदि वे जीवात्मा (शरीर) में उचित नहीं बैठते। इसलिए: जीव को उपास्य मानना तर्कसंगत नहीं है। केवल ब्रह्म ही उपास्य है, क्योंकि वे गुण केवल ब्रह्म में ही संभव हैं। एक सीमित जीव, जो शरीर में बंधा हुआ है, और जो जन्म-मरण से ग्रस्त है — वह इन गुणों को धारण कर नहीं सकता । इसलिए उपनिषद् में जहाँ उपास्य की बात है, वहाँ ब्रह्म ही उपास्य है, । यह भी कारण है कि उपनिषदों में उपासना करने वाला (कर्त्ता) और जिसकी उपासना की जा रही है (कर्म/उपास्य) — दोनों अलग-अलग बताये गए हैं। उपनिषद् में एक वाक्य आता है ‘एतमितः प्रेत्य अभिसम्भवितास्मि’ (छन्दो-३. १४.४) मैं मृत्यु के बाद इस परमात्मा को प्राप्त करूँगा। इस वाक्य से दो बातें साफ होती हैं उपासक (कर्त्ता) — वह व्यक्ति जो साधना कर रहा है। उपास्य (कर्म) — वह ब्रह्म, जिसे वह प्राप्त करना चाहता है। जब उपासक और उपास्य दो अलग हैं, तो उपास्य जीव नहीं हो सकता, अपितु ब्रह्म ही उपास्य है। जैसे एक विद्यार्थी कहे ख “मैं परीक्षा में पास हो जाऊँगा।” इसका अर्थ है कि विद्यार्थी अलग है और परिणाम अलग। वैसे ही यहाँ भी कहा गया — ‘मैं ब्रह्म को प्राप्त करूँगा।’ अर्थात् मैं (जीव) और ब्रह्म (उपास्य) दो अलग हैं। ‘शब्दविशेष’ का अर्थ— विशेष शब्द या वाक्य, जो उपनिषद् में उपास्य के गुणों को बताकर यह स्पष्ट करते हैं कि वह जीव नहीं हो सकता, अपितु ब्रह्म ही है। उपनिषद् में वाक्य आता है ‘अणीयान् ब्रीहेर्वा यवाद्वा श्यामकाद्वा श्यामकतण्डुलाद्वा’ (छन्दो ३.१४.३) वह उपास्य अति सूक्ष्म है, चावल, जौ या श्यामक के कण से भी छोटा है।’ फिर कहा गया ‘एष य आत्मान्तः हृदये ज्यायान् पृथिव्याः’ (छन्दो ३.१४.३)— ‘और वह अन्तर्यामी आत्मा पृथ्वी से भी बड़ा है।’ यहाँ दो विरोधी गुण बताए गए हैं: अत्यन्त सूक्ष्मता (छोटेपन) का वर्णन और साथ ही महत्ता (बड़प्पन) का भी उल्लेख, यह विरोधाभास तभी संभव है जब उपास्य साक्षात् ब्रह्म हो जो अनुपम, सूक्ष्म से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान् होता है। यदि उपास्य केवल जीव होता, तो उसमें ऐसा विरुद्ध गुणों का मेल नहीं हो सकता था। केवल श्रुति (उपनिषद्) में ही नहीं, अपितु स्मृति ग्रंथों (जैसे मनुस्मृति, भगवद्गीता आदि) में भी यह बात स्पष्ट रूप से कही गई है कि —परमात्मा (ब्रह्म) ही उपास्य है और जीव (आत्मा) उसका दर्शक या उपासक है। ‘एवं यः सर्वभूतेषु पश्यत्यात्मानमात्मना। स सर्वसमतामेत्य ब्रह्माभ्येति परं पदम्’ (मनुस्मृति 12.91) जो पुरुष अपने आत्मा द्वारा सब जीवों में परमात्मा को देखता है, वह समभाव को प्राप्त होकर ब्रह्म के परमपद को पाता है। यहाँ जीव ‘दर्शक’ है और परमात्मा ‘उपास्य’ है। ‘तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः।’ (ऋग्वेद 1.22.20) वह विष्णु का परम पद है, जिसे ज्ञानी पुरुष सदा देखते हैं। इसमें भी परमात्मा को देखने योग्य बताया गया है जो उपास्य ही होता है। इसलिए इस प्रकरण द्वारा यह और भी पुष्ट हो जाता है कि उपासना ब्रह्म की ही होनी चाहिए।

## २.५ ब्रह्म का सूक्ष्मप्रदेश मे रहने का समर्थन

उपनिषद् के अनुसार परमात्मा हृदय में स्थित है और वह चावल या यव (जौ) से भी अणु/सूक्ष्म है। तो क्या वह सचमुच इतना छोटा और सीमित है कि उसे हृदय में बाँधा जा सकता है?

नहीं, ऐसा सोचना सही नहीं है। अर्भकौकस्त्वात्तद्व्यपदेशाच्च नेति चे निचायत्वादेवं व्योमवच्च (१.२.७) - 'अर्भक औकस्त्वात्' का अर्थ है - चूँकि उपनिषद् में परमात्मा का स्थान 'हृदय' बताया गया है, जो कि शरीर में एक छोटा सा स्थान है। और उसमें यह भी कहा गया है कि वह परमात्मा 'अणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा' ख्रार्थात् चावल, जौ आदि से भी छोटा (सूक्ष्म) है। तो यह शंका होती है कि अगर वह इतना छोटा है, तो वह सीमित और अपूर्ण क्यों न समझा जाए? इस शंका का समाधान, ऐसा सोचना त्रुटिपूर्ण है। क्यों? क्योंकि उपनिषद् में यह भी बताया गया है कि वह परमात्मा हृदय में ध्यान द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। परमात्मा स्वयं तो अनन्त है, लेकिन वह ध्यान के द्वारा हृदय में अनुभव किया जा सकता है। जैसे हमारे चारों ओर फैला आकाश (व्योम) सब जगह है, पर वह छोटे-से छेद या स्थान में भी समा सकता है।

## २.६ ब्रह्म और जीव के हृदय में एक साथ होने पर भी ब्रह्म को सुख-दुख नहीं होता

यदि परमात्मा (ब्रह्म) और जीवात्मा (जीव) दोनों एक ही स्थान ख हृदय में रहते हैं, तो क्या परमात्मा को भी जीव की तरह सुख-दुख का अनुभव होता है? उत्तर - वेदान्त दर्शन में इस प्रकार से दिया गए हे सम्भोग-प्राप्तिरिति चेन्न वैशेष्य त्(१.२.८) नहीं, ऐसा नहीं है। कारण, (वैशेष्यात्) ख ब्रह्म में विशेष गुण होने से। "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया..." (ऋग्वेद / मुण्डक उपनिषद्) इसका अर्थ, दो पक्षी (जीव और परमात्मा) एक ही वृक्ष (शरीर) पर बैठे हैं। एक (जीव) फल (संसार के सुख-दुख) खाता है। दूसरा (परमात्मा) केवल देखता है, पर खाता नहीं है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा भोक्ता नहीं है, भोगों में लिप्त नहीं है। 2. योगदर्शन का प्रमाण "क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः" (योगदर्शन १.२५) ईश्वर (परमात्मा) क्लेश (दुख), कर्म, वासनाएं आदि से अछुत है। लेकिन जीव इन सब में फंसा होता है। 3. परमात्मा अनन्त, अणु से भी सूक्ष्म और सर्वव्यापक है वह जीव की तरह सीमित नहीं है। जैसे आकाश रसोई की अग्नि के पास होकर भी नहीं जलता, वैसे ही परमात्मा हृदय में रहते हुए भी सुख-दुःख से अलिप्त रहता है। कठोपनिषद् का प्रमाण सूर्य की तरह परमात्मा भी संसार के दोषों से नहीं लिप्त होता। सूर्य सबको दिखाता है पर खुद को अन्धकार या रोग से दूषित नहीं करता। वैसे ही परमात्मा सबमें रहकर भी लोक-दुखों से मुक्त रहता है। भोग का कारण शरीर और कर्म है। भोग (सुख-दुख) का अनुभव करने के लिए कर्म और शरीर की आवश्यकता होती है। परन्तु परमात्मा तो शरीर रहित (अकाय) है "शुक्रम् अकायम्" अजन्मा है "अज एकपात्" इसलिए वह कभी भी भोग का विषय नहीं बनता।

## २.७ ब्रह्म में भोक्तृत्व का निषेध

"यस्य ब्रह्म च क्षत्रं चोभये भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्य चोपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः" (कठोपनिषद् 1.2.25) इस श्लोक में परमात्मा के लिए कहा गया है कि ब्राह्मण और क्षत्रिय खये दोनों ही उसके लिए भोजन (ओदन) जैसे हैं, और मृत्यु भी उसके लिए एक साइड डिश (उपसेचन) की तरह है। तो क्या इसका अर्थ है कि परमात्मा भी भोजन करता है? क्या वह भी जीव की तरह भोग करने वाला है? उत्तर ख ऐसा सोचना त्रुटिपूर्ण है। इसका अर्थ यह नहीं है कि परमात्मा भी जीव की तरह अन्न खाता है, भूख, प्यास का अनुभव करता है, या कर्मों से बाँधा है। (चराचरग्रहणात्) परमात्मा को यहाँ सब कुछ अपने में समाहित करने वाला कहा गया है। जब प्रलय (सृष्टि का अंत) होता है, तब वह परमात्मा सभी चर (सजीव) और अचर (निर्जीव) वस्तुओं को अपने भीतर समाहित कर लेता है। इसी को प्रतीकात्मक रूप से 'भोजन करना' कहा गया है। उपनिषद् में 'ब्राह्म' और 'क्षत्र' से दो महान शक्तियाँ (ज्ञान और शासन) समझी जाती हैं। लेकिन परमात्मा के सामने ये तथाकथित शक्तियाँ भी तुच्छ हैं। वह उन्हें भी ओदन = चावल जैसे कोमल भोजन के समान सरलता से आत्मसात कर लेता है। और मृत्यु भी, जो सबसे बड़ी शक्ति मानी जाती है, उसके लिए सिर्फ एक उपसेचन (साइड डिश) बनकर रह जाती है। प्रकरण से भी यह बात स्पष्ट होती है कि यहाँ कठोपनिषद् में जो चर्चा चल रही है, वह परमात्मा को कितना शक्तिशाली है और उसे कैसे जाना और प्राप्त किया जा सकता है यह बताने की है। उपनिषद् में पहले कहा गया है 'अणोरणीयान् महतो महीयान्' परमात्मा अणु से भी सूक्ष्म और महान् से भी महान है। 'आसीनो दूरं व्रजति, शयानो याति सर्वतः' वह बैठा हुआ भी दूर तक जाता है, और लेटा हुआ भी सब ओर पहुँचता है। 'महान्तं विभुमात्मानं मत्वा' जो उस महान, सर्वव्यापक



आत्मा को समझता है। ‘यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः’ उसे केवल वही व्यक्ति प्राप्त कर सकता है, जिसे परमात्मा स्वयं चाहता है। ‘प्रज्ञानेनैवमाप्नुयात्’ और उसे केवल ज्ञान से ही पाया जा सकता है। इन सब बातों से यह स्पष्ट होता है कि यहाँ परमात्मा की शक्ति, सर्वव्यापकता, और उसे जानने का उपाय समझाया जा रहा है। ‘यस्य ब्रह्म च क्षेत्रं चोभे भवत ओदनम्। मृत्युर्यस्य चोपसेचनं क इत्था वेद यत्र सः६, इसका भाव यह है कि ब्रह्म और क्षेत्रिय ख जो संसार की सबसे बड़ी शक्तियाँ मानी जाती हैं खपरमात्मा के लिए केवल भोजन के समान (अर्थात् तुच्छ) हैं। यह वचन परमात्मा की सर्वोच्चता और अपार शक्ति को दिखाता है, न कि उसे भोगता (खाने-पीने वाला) बताता है।

## २.८ गुहां प्रविष्टौ- ब्रह्मात्म,जीवात्मा

उपनिषद् में कहा गया है — ‘गुहां प्रविष्टौ’ (अर्थात् हृदय रूपी गुफा में प्रविष्ट दो आत्माएं), उन दो आत्माओं का नाम स्पष्ट नहीं बताया गया है। तो प्रश्न उठता है कि — ‘ये दो आत्माएं कौन हैं? उत्तर - कि ये दोनों हैं जीवात्मा (व्यक्तिगत आत्मा) और परमात्मा (सर्वव्यापक आत्मा)। यह बात हमें शास्त्रों से समझ में आती है।

उपनिषद् में स्पष्ट है कि जीवात्मा हृदय में स्थित है ‘अंगुष्ठमात्रः पुरुषोऽन्तरात्मा...’ यह अंगूठे के आक. र की जीवात्मा हृदय में स्थित है। ‘एष य आत्मा अन्त हृदये...’ यह आत्मा हृदय में निवास करती है। ‘बृहस्पतिर्म आत्मा नृमणा नाम हृद्यः...’ यह आत्मा ‘नृमणा’ नाम से हृदय में जानी जाती है। परमात्मा भी हृदय में स्थित बताया गया है। ‘अणोरणीयान् महतो महीयान् आत्मा...परमात्मा अति सूक्ष्म और अति महान होकर भी हृदयगुहा में स्थित है। ‘तं दुर्दर्शं गूढं अनुप्रविष्टं गुहाहितं...’ वह परमात्मा गूढ (छिपा हुआ) होकर हृदयगुहा में ही प्रवेश किए रहता है। ‘वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सन्...’ जो ज्ञानी व्यक्ति है, वह इस परमात्मा को हृदयगुहा में स्थित देखता है।

मूल श्लोक ‘ऋतं पिबन्तौ सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टौ परमे परार्थौ’ अर्थात् जो दो आत्माएं हैं — एक जीवात्मा और दूसरी परमात्मा ये दोनों हृदयरूपी गुफा में स्थित हैं। ये सत्य या ज्ञान का सेवन करने वाली हैं। यहां ऋत (सत्य) का अर्थ ज्ञान है। इसलिए यह कहा गया कि दोनों चेतन और ज्ञानस्वरूप हैं। अगर कोई कहे कि “गुहां प्रविष्टौ” कहने का अर्थ सिर्फ मन और जीवात्मा भी हो सकता है, क्योंकि मन भी हृदय में होता है खतो उसका उत्तर यह है कि मन का हृदय में होना शास्त्रों से सिद्ध है ‘कस्मिन्नु मनः प्रतिष्ठितं भवतीति हृदय इति’ अर्थात् मन हृदय में स्थित है। ‘हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः...’ मन हृदय में प्रतिष्ठित है, यह भी कहा गया। लेकिन, फिर भी ‘गुहां प्रविष्टौ’ में मन और जीवात्मा नहीं, अपितु जीवात्मा और परमात्मा ही हैं ख यह विशेषण (गुणों के उल्लेख) से स्पष्ट होता है। क्यों? ‘ब्रह्मविदो वदन्ति’ ख इस वाक्य के अनुसार “ब्रह्म को जानने वाले ऐसा कहते हैं”। इससे स्पष्ट है कि यह चर्चा ब्रह्म (परमात्मा) के बारे में है। इसी प्रकार ‘यः सेतुरीजानानामक्षरं ब्रह्म यत्परम्...’ इसमें भी परमात्मा (ब्रह्म) की ही बात हो रही है। और प्रसिद्ध उपनिषद् मंत्र है ‘द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...’ जिसमें दो पक्षी ख एक भोक्ता जीव और एक साक्षी परमात्मा ख एक ही वृक्ष (शरीर) पर बैठे बताए गए हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि जब भी दो आत्माओं का उल्लेख होता है — तो वे जीवात्मा और परमात्मा ही होते हैं, न कि मन और जीवात्मा।

### स्मरणीय बिन्दु-

- आनन्दमय ब्रह्म का स्वरूप है।
- ब्रह्म पूर्ण आनन्दस्वरूप है।
- जीव आनन्द का भोद्रा है, स्वयं आनन्दमय नहीं।
- उपनिषदों में ब्रह्म के अनेक नाम मिलते हैं।
- ब्रह्म सर्वव्यापक सत्ता है।

### शब्दावली-

- आनन्दमय
- कोश
- ब्रह्मवाचक
- जीवात्मा
- परमात्मा
- तैत्तिरीयोपनिषद्

### 5 अंक के प्रश्न-

1. आनन्दमय कोश क्या है?
2. मयट् प्रत्यय का अर्थ लिखिए।
3. जीव और ब्रह्म में अन्तर बताइए।
4. ब्रह्म को आनन्दमय क्यों कहा गया है?
5. उपनिषदों में ब्रह्म के नाम लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. आनन्दमय शब्द की ब्रह्मवाचकता का विवेचन कीजिए।
2. पंचकोश सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए।
3. जीव और ब्रह्म के सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. पंचकोश सिद्धान्त किस उपनिषद् में है?

(क) ईश

(ख) तैत्तिरीय

(ग) कठ

(घ) मुण्डक

2. आनन्दमय किसका स्वरूप है?

(क) जीव

(ख) ब्रह्म

(ग) मन

(घ) इन्द्रिय

3. ब्रह्म कैसा है?

(क) दुःखस्वरूप

(ख) आनन्दस्वरूप

(ग) जड़

(घ) नश्वर

4. जीव क्या चाहता है?

(क) दुःख

(ख) आनन्द

(ग) मृत्यु

(घ) युद्ध

5. पंचकोशों में अन्तिम कोश कौन-सा है?

(क) मनोमय

(ख) विज्ञानमय

(ग) आनन्दमय

(घ) अन्नमय

## इकाई-१.३ हृदयगुहा से भिन्न भी ब्रह्म का निवासस्थान

### उद्देश्य-

1. हृदयगुहा की अवधारणा समझना।
2. जीवात्मा एवं परमात्मा का स्थान जानना।
3. उपनिषदों के अन्तःस्थित ब्रह्म सिद्धान्त को समझना।

जब यह कहा गया कि हृदय में दो आत्माएं — जीवात्मा और परमात्मा — निवास करती हैं, तो एक शंका उठती है, जो 'हृदय' के अलावा शरीर के अन्य अंगों में भी रहता है, और उनसे अलग—'अन्तर'—कहा गया है, वह कौन है? उत्तर: 'अन्तर उपपत्तेः' (१.२.१३) — जो सभी अंगों में रहते हुए भी उन अंगों से अलग (भिन्न) बताया गया है— वह भी परमात्मा ही है और युक्ति (तर्क) और शास्त्रवचन इसका प्रमाण है। बृहदारण्यक उपनिषद् में बार-बार कहा गया है कि— 'जो प्राण में स्थित है, लेकिन प्राण से अलग है...' 'जो वाणी में है, पर वाणी से भिन्न है...' 'जो चक्षु, कान, त्वचा, मन, बुद्धि, वीर्य आदि में है, पर फिर भी उनसे अलग है...' वह सब परमात्मा की उपस्थिति को दर्शाता है। 'यो प्राणे तिष्ठन् प्राणादन्तरो यं प्राणो न वेद...' (बृह.३.७.१६ -२३) वह जो प्राण में रहता है, पर प्राण से अलग है, जिसे प्राण नहीं जानता। क्यों नहीं? जीवात्मा तो सीमित है (अणु = बहुत सूक्ष्म) हृदय में ही स्थित है सर्वव्यापक नहीं है जैसे कहा गया 'अंगुष्ठमात्रः पुरुषः अन्तरात्मा...' (कठो.६.१७) वह अंगूठे के आकार का आत्मा (जीवात्मा) हृदय में रहता है। इसलिए वह सिर्फ हृदय में है, शरीर के अन्य अंगों में नहीं। जबकि परमात्मा विभु है = सर्वव्यापक है वह सब अंगों में रहता है फिर भी उन सबसे भिन्न और परे है अर्थात् वह सब कुछ में है, फिर भी किसी एक में सीमित नहीं। और एक कारण यह है कि जो 'अन्तरः' कहा गया है, वह परमात्मा ही है — क्योंकि उपनिषदों में उसे सिर्फ शरीर के अंगों से नहीं, अपितु बाहरी तत्वों से भी भिन्न बताया गया है। बृहदारण्यकोपनिषद् में बताया गया है जो पृथ्वी में स्थित है, लेकिन पृथ्वी से अलग है ख्रजिसे पृथ्वी नहीं जानती और जिसके लिए पृथ्वी शरीर है। जो जल (अप्) में है, अग्नि में है, वायु में है ख्र फिर भी इन सबसे अलग है। जो आकाश, दिशाओं, सूर्य, चंद्र, तारों, अंधकार और प्रकाश में स्थित है ख्र पर फिर भी उन सबसे अलग है। जो सभी प्राणियों में है ख्र पर फिर भी उन सबसे परे और भिन्न है। ये सब उपनिषद् के वचन हैं 'यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः... 'यः सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्यो अन्तरः...' परमात्मा हर वस्तु के भीतर है — चाहे वह शरीर हो, पृथ्वी हो, अग्नि हो या आकाश। लेकिन वह इन सभी से भिन्न भी है — अर्थात् वह इनमें सीमित नहीं है, अपितु इन सबसे परे है।

यहाँ एक नया कारण दिया गया है कि ब्रह्म को ही क्यों माना जाए? क्योंकि उपनिषदों में उस ब्रह्म का वर्णन एक विशेष और श्रेष्ठ सुख के रूप में हुआ है।

साधारण सुख और ब्रह्मानन्द में अंतर - सामान्य सुख (जैसे खाने-पीने का, देखने-सुनने का) ये सब इन्द्रियों से मिलते हैं। ये सीमित और बाहर के हैं। लेकिन जो सुख भीतर से आता है — जो मन और आत्मा में अनुभव होता है, वह इन्द्रियों से परे होता है और वही ब्रह्म का अनुभव है। वह अन्तःस्थ (भीतर का) सुख ही ब्रह्म है। 'प्राणो ब्रह्म, कं ब्रह्म, खं ब्रह्म' अर्थात् ख्र प्राण (जीवन), कम् (सुख), खम् (आकाश) ख्र ये तीनों ब्रह्म हैं। ये तीनों शरीर के भीतर अनुभव होते हैं। उनमें भी कम् (सुख) को ब्रह्म कहा गया है। यह सुख सबसे सूक्ष्म और गहन अनुभव है जो सिर्फ आत्मा के भीतर महसूस किया जा सकता है। इसलिए यह 'विशिष्ट' सुख ही सर्वव्यापक ब्रह्म है। जो व्यक्ति ब्रह्म ब्रह्मज्ञान (श्रवण, मनन, ध्यान और अनुभव द्वारा) प्राप्त कर लेता है, उसे उपनिषदों में "ब्रह्मवेत्ता" कहा गया है। और उपनिषदों में साफ-साफ कहा गया है कि ब्रह्म को जानने वाला (ब्रह्मवेत्ता), परम अवस्था (मोक्ष) को प्राप्त करता है। जैसे ख्र 'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्' (तैत्तिरीय उपनिषद् 2.1) अर्थ ब्रह्म को जानने वाला परम लक्ष्य को प्राप्त करता है। यह सिद्ध होता है कि जो व्यक्ति ब्रह्मज्ञान प्राप्त करता है, वह सिर्फ ज्ञान नहीं पाता, अपितु परम गति (मोक्ष, आत्मशांति, ब्रह्म में एकता) भी प्राप्त करता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि जो ब्रह्म शरीर के भीतर (अन्तःस्थ) है, वही वास्तविक ब्रह्म है — क्योंकि वही परम मोक्ष देता है। तथा शरीर के विभिन्न अंगों में जो आत्मा दिखाई देती है वह जीव नहीं हो सकता। क्यों? वेदान्तदर्शन में उत्तर दिया है अनवस्थितेः असम्भवात् च नेतरः अनवस्थितेः जीव आत्मा एक ही जगह जैसे हृदय में स्थिर रहता है। वह हर अंग (जैसे आंख, कान, मन आदि) में एक साथ नहीं रह सकता। (असम्भवात्) क्योंकि जीव आत्मा बहुत सूक्ष्म (अणु परिमाण) है, इसलिए वह एक समय पर अनेक स्थानों में नहीं रह सकता। उदाहरण - यदि जीव हर अंग में होता, तो किसी एक अंग (जैसे आंख) के नष्ट हो जाने पर, जीव का भी नाश हो जाना चाहिए था, जो कि त्रुटिपूर्ण है — क्योंकि आंख के बिना भी मनुष्य जीवित रहता है। इसलिए, जो हर अंग में विद्यमान दिखाई देता है, वह परमात्मा (ब्रह्म) है। परमात्मा ही सर्वव्यापी है और हर अंग में उपस्थित रह सकता है। जीव सीमित है — परमात्मा असीम।

### ३.१ ब्रह्म वाचि शब्द- अन्तर्यामी

अब यह प्रश्न उठता है जो उपनिषदों में 'अन्तर्यामी' कहा गया है — जैसे कि जो प्राण में स्थित है और प्राण से भिन्न है... क्या वह जीव आत्मा नहीं हो सकता? प्राण, वाक्, मन आदि में रहने वाला जो कहा गया है, उससे तो लगता है कि वह शरीर में रहने वाला जीव ही है। नहीं, ऐसा नहीं है। वह अन्तर्यामी केवल जीव नहीं है, अपितु परमात्मा है। क्यों? उपनिषद में बताया गया है कि अन्तर्यामी सिर्फ शरीर में नहीं, अपितु देवताओं (जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, आदि) में भी स्थित है। यह सब दैव कहे जाते हैं। इसके साथ-साथ शरीर के अंगों — जैसे प्राण, वाणी, आंख, कान, मन, बुद्धि आदि — में भी वह अन्तर्यामी कहा गया है। ये आध्यात्मिक अंग कहलाते हैं।

कौन-कौन से क्षेत्र बताए गए हैं?

आधिदैविक (दैव से संबंधित) आध्यात्मिक (शरीर से संबंधित)

पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चंद्र, सूर्य, दिशा, तारे आदि प्राण, वाणी, चक्षु (आंख), श्रोत्र (कान), मन, बुद्धि, त्वचा आदि

इन दोनों क्षेत्रों में जो एक ही सत्ता (अन्तर्यामी) है, वह न तो सीमित जीव हो सकता है और न ही प्रकृति (अव्यक्त)। मुख्य कारण (तद्धर्मव्यपदेशात्)(१.२.१८) — क्योंकि शास्त्रों में उस अन्तर्यामी के जो गुण बताए गए हैं, वे परमात्मा के ही हो सकते हैं। 'यस्य शरीरम्, यं यमयति' — जिसका ये सब शरीर हैं, और जो इन सबका संचालन करता है — यह गुण जीव आत्मा के नहीं हैं, केवल परमात्मा के हैं।

अब एक और शंका आती है क्या उपनिषद में जो "अन्तर्यामी" कहा गया है वह अव्यक्त प्रकृति तो नहीं है? अव्यक्त (प्रकृति) वह सूक्ष्म कारण है जिससे सारा संसार बना है। जैसे मनुस्मृति में कहा गया है 'अप्रत्यक्, अविज्ञेय, प्रसुप्तमिव सर्वतः' अर्थात् वह प्रकृति हर जगह छुपी हुई और सोई हुई अवस्था में थी। तो क्या वही प्रकृति अन्तर्यामी है? उत्तर: नहीं, वह प्रकृति अन्तर्यामी नहीं हो सकती। क्यों? स्मृति ग्रंथों में भी कहीं नहीं कहा गया है कि, वह प्रकृति दूसरे पदार्थों को नियंत्रित करती है, या उनके भीतर रहकर उन्हें संचालित करती है। इसलिए, यद्यपि वह अव्यक्त (प्रकृति) हर चीज का कारण है, और हर वस्तु में सूक्ष्म रूप से विद्यमान भी है, फिर भी वह "अन्तर्यामी" नहीं कही जा सकती। (अतद्धर्माभिधानात्)(१.२.१९) ख क्योंकि शास्त्रों और स्मृति में प्रकृति का 'अन्तर्यामी' होना या उसका शासनकर्ता होना कहीं नहीं कहा गया है। अब यह शंका हो सकती है क्या अन्तर्यामी शरीर में रहने वाला जीवात्मा (शारीर) है? उत्तर है — नहीं, वह भी अन्तर्यामी नहीं हो सकता। क्यों? दोनों शाखाएं भी यही कहती हैं उपनिषद की दो प्रसिद्ध शाखाएं हैं काण्व शाखा, और माध्यंदिन शाखा। इन दोनों में अन्तर्यामी को स्पष्ट रूप से जीवात्मा से भिन्न बताया गया है। उपनिषद में कहा गया है "यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरः" जो पृथ्वी में स्थित होकर पृथ्वी से भिन्न है। इसी तरह, "यो विज्ञानं तिष्ठन् विज्ञानादन्तरः" (काण्व पाठ) ख जो बुद्धि में रहकर भी बुद्धि से भिन्न है। "य आत्मनि तिष्ठन् आत्मनोऽन्तरः" (माध्यंदिन पाठ) — जो आत्मा (जीव) में रहकर भी आत्मा से भिन्न है। दोनों पाठों में यह बात साफ है कि वह सत्ता जो इन सबके अंदर है, लेकिन फिर भी इन सबसे भिन्न है, वही अन्तर्यामी है।

### ३.३ अदृश्यत्वादि गुणवान् ब्रह्म

उपनिषदों में जो 'अदृश्य', 'अग्राह्य' आदि गुणों वाला बताया गया है वह जीव, प्रकृति, या कोई अन्य चीज नहीं, अपितु परमात्मा ही है। मुण्डकोपनिषद् में एक मंत्र है 'यत्तददृश्यं, अग्राह्यमगोत्रमवर्णम्...' जो देखा नहीं जा सकता, जिसे पकड़ा नहीं जा सकता, जिसका कोई गोत्र या रंग नहीं है, जो आँख, कान, हाथ-पैर से रहित है, जो नित्य, सर्वव्यापी, अतिसूक्ष्म और अविनाशी है। इसे ही धीर (ज्ञानी) लोग परमात्मा के रूप में समझते हैं। क्यों मानें कि यह परमात्मा का ही वर्णन है? क्योंकि (1) प्रारंभ से ही ब्रह्म (परमात्मा) की चर्चा है उसी उपनिषद् की शुरुआत में लिखा है ऋग्वेदा देवानां प्रथमः सम्भूव... ऋग्वेदा, जो पहले उत्पन्न हुए देव हैं, उन्होंने अपने पुत्र अथर्व को ब्रह्मविद्या दी। इससे पता चलता है कि पूरा प्रकरण परमात्मा के बारे में चल रहा है। (2) आगे लिखा है 'द्वे विद्ये वेदितव्ये ख परा और अपरा' इन दो विद्याओं में 'परा' वह है जिससे अक्षर ब्रह्म जाना जाता है। और फिर उसी के बाद 'अदृश्यं, अग्राह्यं...' का वर्णन आता है — इससे स्पष्ट है कि यह परमात्मा का ही स्वरूप है। (3) अंत में भी स्पष्ट किया गया है 'यः सर्वज्ञः, सर्वविद्, यस्य ज्ञानमयं तपः... ष्जो सर्वज्ञ है, जो सब कुछ जानने वाला है, और जिसका तप भी ज्ञानमय है ख वह परमात्मा ही है। प्रकृति और जीव को इन दोनों अदृश्य पद से यहाँ नहीं लिया जा सकता — क्योंकि उपनिषदों में उस तत्त्व के जो गुण और भेद बताए गए हैं, वे इन दोनों पर लागू नहीं होते। कौन से गुण (विशेषण) बताए गए हैं?

**'दिव्यो ह्यमूर्तः पुरुषः स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः।**

**अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात् परतः परः।'** (तत्रैव 1।1।5,6)

इसमें परमात्मा के लिए ये विशेषण दिए गए हैं:

दिव्य (दैवीय, तेजस्वी)

अमूर्त (जिसका कोई आकार नहीं)

पुरुष (चेतन)

बाह्य और आभ्यन्तर (सबके बाहर और भीतर)

अज (अजन्मा)

अप्राण, अमनाः (जिसमें सांस या मन नहीं)

शुभ्र (शुद्ध)

अक्षरात् परतः परः (प्रकृति से भी परे)

इतने सारे गुणों वाला तत्त्व प्रकृति नहीं हो सकती क्योंकि प्रकृति तो जड़ (अचेतन) है। जीवात्मा भी नहीं हो सकता क्योंकि उस में ये सारे गुण नहीं होते, वह तो सीमित है। उसी मंत्र के अगले भाग में कहा गया है। 'एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च... वायुः, ज्योतिः, आपः, पृथिवी...' इसका अर्थ, सारी सृष्टि — प्राण, मन, इन्द्रियाँ, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी — इसी परमात्मा से उत्पन्न होती है। यह भेद दर्शाता है कि यह परमात्मा उत्पन्न करने वाला (कारण) है और जीव, प्रकृति आदि उत्पन्न होने वाले (कार्य) हैं। इसलिए ये दोनों ब्रह्म से भिन्न हैं, लेकिन उस परमात्मा जैसे नहीं हैं। सूत्र में 'इतरौ' क्यों कहा? 'इतरौ' = दोनों अन्य अर्थात् जीव और प्रकृति, इससे यह स्पष्ट होत है कि आचार्य वेदव्यास का मत त्रैवेदिक है — अर्थात् तीन तत्त्व माने गए हैं ब्रह्म (परमात्मा), जीव (व्यक्ति आत्मा), प्रकृति (सृष्टि का मूल कारण) लेकिन यहाँ सूत्र में यह स्पष्ट किया गया है कि ब्रह्म के जिन गुणों का वर्णन हो रहा है (जैसे अदृश्यता, सर्वव्यापकता, शुद्धता आदि), वे गुण ना तो जीव में हैं और ना ही प्रकृति में — इसलिए इन दोनों को यहाँ (उस ब्रह्म स्वरूप) में नहीं गिना जा सकता। उपनिषद् में जो विशेष रूपक (कल्पनात्मक रूप) बताया गया है, वह भी यह सिद्ध करता है कि जो तत्त्व अदृश्य, सर्वव्यापक और चेतन है — वह ना तो जीव है और ना ही प्रकृति।

कौन-सा रूपक बताया गया है? में यह मंत्र आता है

**'अग्निर्मूर्धा चक्षुषी चन्द्रसूर्यौ दिशः श्रोत्रे वाग्विवृताश्च वेदाः।**

**वायुः प्राणो हृदयं विश्वमस्य पद्भ्यां पृथिवी ह्येष सर्वभूतान्तरात्मा'** मुण्डकोपनिषद् (2.1.4)

इस मंत्र में परमात्मा को इस प्रकार बताया गया है:

उसका माथा अग्नि है

उसकी आँखें चन्द्रमा और सूर्य हैं

उसका कान दिशाएँ हैं

उसकी वाणी वेद हैं

उसका श्वास वायु है

उसका हृदय सम्पूर्ण जगत है

उसके पैरों से पृथ्वी बनी है

वह सभी प्राणियों के भीतर रहने वाला आत्मा है (सर्वभूतान्तरात्मा) यह सब एक कल्पनात्मक रूप (रूपक) के द्वारा परमात्मा की विशेषताओं को समझाने का प्रयास है।

यह रूपक जीव या प्रकृति पर लागू क्यों नहीं हो सकता? जीव

बहुत छोटा (अणु) होता है

सीमित शक्ति वाला होता है

वह एक साथ सब जगह नहीं हो सकता (एकदेशी)

इसलिए यह रूपक उसके लिए संभव नहीं है।

प्रकृति (अव्यक्त):

यह जड़ (अचेतन) होती है

इसके अंदर चेतना नहीं होती

यह केवल उपादान कारण है अर्थात् इससे संसार बना है, पर यह खुद सब जगह समाया हुआ चेतन नहीं हो सकता जैसे सोने से गहने बनते हैं, पर सोना खुद गहनों जैसा नहीं होता — वैसे ही प्रकृति से सृष्टि बनती है, पर वह चेतन, सर्वव्यापक, सर्वकर्ता नहीं हो सकती।

**स्मरणीय बिन्दु-**

- हृदयगुहा में परमात्मा स्थित है।
- जीव और परमात्मा दोनों हृदय में निवास करते हैं।
- ब्रह्म सूक्ष्म एवं सर्वव्यापक है।
- उपनिषद् हृदय को ज्ञान का केन्द्र मानते हैं।
- ब्रह्म अनुभव का विषय है।

**शब्दावली-**

- हृदयगुहा
- अन्तर्यामी
- जीवात्मा
- परमात्मा
- अनुभूति

**5 अंकों के प्रश्न-**

1. हृदयगुहा का अर्थ लिखिए।
2. अन्तर्यामी किसे कहते हैं?
3. जीवात्मा कहाँ स्थित है?
4. ब्रह्मानुभूति क्या है?
5. उपनिषदों में हृदय का महत्व बताइए।

**15 अंकों के प्रश्न-**

1. ब्रह्म की अनुभूति के स्थान का विवेचन कीजिए।
2. हृदयगुहा सम्बन्धी उपनिषद् विचार स्पष्ट कीजिए।
3. जीवात्मा और परमात्मा के सम्बन्ध का वर्णन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. परमात्मा कहाँ स्थित है?  
(क) केवल आकाश में  
(ख) हृदयगुहा में  
(ग) पर्वत में  
(घ) जल में

2. अन्तर्यामी शब्द किसके लिए प्रयुक्त है?

(क) जीव

**(ख) परमात्मा**

(ग) शरीर

(घ) मन

3. ब्रह्म कैसा है?

(क) स्थूल

**(ख) सूक्ष्म**

(ग) नश्वर

(घ) दुःखी



## इकाई-१.४ वैश्वानर शब्द वाची ब्रह्म

### उद्देश्य-

1. वैश्वानर ब्रह्म की अवधारणा समझना।
2. विराट स्वरूप का अध्ययन करना।
3. उपनिषदों में वैश्वानर विद्या का महत्व जानना।

उपनिषदों में जब 'वैश्वानर' शब्द का प्रयोग हुआ है, तो वहां उसका अर्थ केवल अग्नि, सूर्य या जठराग्नि नहीं है, अपितु वह शब्द विशेष अर्थ में प्रयुक्त हुआ है — और उसका सही आशय 'परमात्मा' है। 'आत्मानमेवेमं वैश्वानरं सम्प्रत्यध्येषि तमेव नो 'रूहीति'- छा.उ.5,11,6 यहाँ कुछ महान ऋषि- प्राचीनशाल, सत्ययज्ञ, इन्द्रद्युम्न आदि — उद्दालक ऋषि से कहते हैं आपने वैश्वानर आत्मा को जाना है, कृपया हमें उसी का उपदेश दीजिए। इसका अर्थ है कि वैश्वानर को 'आत्मा' कहा गया है — और यह आत्मा सामान्य नहीं, सर्वव्यापक परमात्मा है। वैश्वानर शब्द के सामान्य अर्थ क्या हो सकते थे? अग्नि, जठराग्नि, सूर्य परंतु उपनिषद में इन अर्थों से हटकर विशेष रूप से इसका प्रयोग हुआ है विशेषण 'आत्मा' के साथ ख जो दर्शाता है कि यहाँ परमात्मा ही अभिप्रेत है। क्यों जीव नहीं माना जा सकता? जीवात्मा सीमित होता है, सर्वव्यापक नहीं, उसे वैश्वानर ख अर्थात् सबका आत्मा नहीं कहा जा सकता। यहां "ब्रह्म" का विशेषण भी मिलता है, जिससे स्पष्ट है कि यह परब्रह्म है, कोई सीमित आत्मा (जीव) नहीं। उपनिषद में एक-एक शरीर के अंगों का वर्णन करते हुए वैश्वानर आत्मा की व्याख्या की गई है। 'तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्ध्व द्युलोकः...' छा.उ.5,18, 2 इस मंत्र में वैश्वानर आत्मा के विभिन्न अंगों की तुलना ब्रह्मांड के तत्वों से की गई है:

| अंग                 | उपमा                |
|---------------------|---------------------|
| मूर्धा (सिर)        | द्युलोक (स्वर्गलोक) |
| चक्षु (नेत्र)       | सूर्य               |
| प्राण               | वायु                |
| त्वचा               | आकाश                |
| वस्ति (मूत्राशय) जल |                     |
| पाद (पैर)           | पृथ्वी              |

इन उपमाओं से संकेत मिलता है कि यह सर्वव्यापक ब्रह्माण्डीय शरीर अर्थात् परमात्मा का प्रतीक है। जब उपनिषद में इस प्रकार शरीर के अंगों की तुलना विश्व के तत्वों से की जाती है, तो इससे यह स्मरण होता है कि यह कोई सीमित वस्तु नहीं, अपितु सर्वव्यापक परमात्मा है। और इस प्रकार हम अनुमान के द्वारा यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि वैश्वानर का अर्थ यहाँ परमात्मा है। कुछ लोग यह आपत्ति कर सकते हैं कि उपनिषद में वैश्वानर शब्द के साथ सिर, आँख, प्राण, त्वचा आदि अंगों का जो वर्णन किया गया है, और यह भी कहा गया है कि वह शरीर के भीतर स्थित है इससे तो लगता है कि वैश्वानर कोई भौतिक तत्व है, जैसे अग्नि, सूर्य, वायु आदि। लेकिन यह आपत्ति टिकती नहीं है, क्योंकि

1. दृष्टि और उपदेश का आधार :- वेदों में हमें बताया गया है कि परमात्मा को अलग-अलग नामों से समझा जा सकता है। जैसे: 'इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुः...' ऋग्वेद (1.164.46) एक ही परमात्मा को कोई इन्द्र कहता है, कोई मित्र, कोई अग्नि, कोई यम। यह 'दृष्टि' का विषय है — हम परमात्मा को किसी विशेष शक्ति या रूप में देख सकते हैं। उसी तरह, यहां वैश्वानर भी परमात्मा का एक रूप है।

2. भौतिक वस्तु में यह सब संभव नहीं:- यदि वैश्वानर कोई सीमित चीज (जैसे अग्नि या सूर्य) होता, तो वह समस्त ब्रह्माण्ड रूपी शरीर कैसे धारण कर सकता था?

जैसे:

'द्युलोक' को सिर (मूर्धा) कहा गया है,

'पृथ्वी' को पैर,

'सूर्य' को नेत्र।

ये सब अंग एक छोटे से अग्नि या जठराग्नि में संभव नहीं हैं। इसलिए यह कहना असंभव है कि वैश्वानर कोई भौतिक वस्तु है।

इस कारण से वैश्वानर का वर्णन एक विशाल ब्रह्मांडीय रूप में हुआ है (जिसमें सिर, नेत्र, पैर आदि ब्रह्मांड के अंग हैं), वह सभी के भीतर है (सर्वभूतान्तरात्मा), उसकी तुलना शरीर के अंगों और तत्वों से की गई है, इन सबसे यह स्पष्ट हो गया कि वैश्वानर कोई साधारण या भौतिक वस्तु नहीं है। यह सूर्य, वायु, या अन्य देवता नहीं हो सकता, और न ही यह भूत (जैसे पार्थिव अग्नि या जाठराग्नि) हो सकता है। क्योंकि देवता या भौतिक अग्नि तो सीमित होते हैं उनका कोई सिर, पैर, या पूरे ब्रह्मांड जैसा स्वरूप नहीं होता। वे सर्वभूतान्तरात्मा नहीं हो सकते — अर्थात् सभी प्राणियों के भीतर व्यापक रूप से स्थित नहीं हो सकते। उपनिषदों में जो वैश्वानर का विस्तृत, चेतन, ब्रह्मांडीय रूप बताया गया है, वह केवल परमात्मा में ही संभव है, । और अब ऋषि जैमिनि कहते हैं कि उपनिषदों में 'वैश्वानर' शब्द भले ही विभिन्न रूपों (जैसे ख अग्नि, जठराग्नि, सूर्य आदि) में प्रयुक्त हुआ हो, फिर भी जब विशेषण (जैसे - 'पुरुष', 'सर्वभूतान्तरात्मा', 'विश्वनयनकर्ता') को देखा जाता है तो यह स्पष्ट हो जाता है कि यह सीधा परमात्मा का ही बोध कराता है।

## ४.१ ब्रह्म की अनुभूति का स्थान विचार

कुछ लोग यह आपत्ति करते हैं कि यदि परमात्मा सर्वव्यापक (हर जगह विद्यमान) है, तो केवल हृदय में स्थित क्यों कहा जाता है? इसका उत्तर आचार्य आश्वमथ्य देते हैं, यह कहना कि परमात्मा हृदयगुहा (हृदय की गहराई) में स्थित है, वास्तव में इसलिए है क्योंकि वहीं उसकी अनुभूति / साक्षात्कार सबसे अधिक स्पष्ट होती है। उपनिषदों और वेदों में कई बार यह कहा गया है कि 'एतद् यो वेद निहितं गुहायाम्'— जो परमात्मा को हृदय की गुहा में जानता है। 'पश्यत्स्वहैव निहितं गुहायाम्' – जो उसे यहीं हृदय में स्थित हुआ देखता है। वेनस्तत्पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्' – जिसने ध्यान द्वारा उसे हृदयगुहा में देखा, जहाँ सारा संसार जैसे एक घोंसले में समाया हुआ है। इन सब वाक्यों का अर्थ यह नहीं है कि परमात्मा केवल हृदय में है, अपितु वहीं वह सबसे अधिक स्पष्ट रूप में अनुभव किया जाता है। बादरि आचार्य (महर्षि व्यास के पिता) मानते हैं कि परमात्मा को हृदय में स्थित बताने का कारण यह है कि मन हृदय में स्थित होता है। और जब हम ध्यान, स्मरण या पूजा करते हैं, तो मन के माध्यम से ही परमात्मा का अनुभव करते हैं। वैदिक प्रमाण: 'हृत्प्रतिष्ठं यदजिरं जविष्ठं तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु।' (ऋग्वेद 10.58.1) इसका अर्थ है—'मेरा मन, जो कि तेज गति वाला है, हृदय में प्रतिष्ठित है, वह शुभ संकल्पों वाला हो।' इससे यह स्पष्ट होता है कि मन हृदय में होता है। और मन से ही हम परमात्मा को याद करते हैं, ध्यान करते हैं। इसलिए परमात्मा का स्थान हृदय कहा गया है। जैमिनि मुनि का मत है कि परमात्मा का हृदय में स्थित होना इसलिए कहा गया है क्योंकि वही स्थान योग्यता (सम्पत्ति) वाला है — अर्थात् वहीं पर ध्यान, समाधि, और परमात्मा का अनुभव संभव है। जैसे कोई मनुष्य समुद्र को पूरी तरह से नहीं देख सकता, लेकिन समुद्र का एक किनारा या भाग देखकर अनुभव कर सकता है — उसी तरह असीम परमात्मा को भी मनुष्य हृदय में ही ध्यान और समाधि के माध्यम से अनुभव कर सकता है।

## ४.२ अन्तःशब्दवाची ब्रह्म

उपनिषद् में कहा गया है 'पुरुषेऽन्तः प्रतिष्ठितं वेद' अर्थात् — जो व्यक्ति जानता है कि वैश्वानर मनुष्य के भीतर स्थित है। वैश्वानर कोई बाह्य अग्नि या सूर्य नहीं है, अपितु अन्तर्यामी परमात्मा है, जो हृदय के भीतर विराजमान है। इस तरह, शास्त्रों में बार-बार यह बताया गया है कि परमात्मा (वैश्वानर) को भीतर (हृदय) में ही जानना चाहिए।

स्मरणीय बिन्दु:-

- वैश्वानर सम्पूर्ण विश्व का आत्मरूप है।
- विराट ब्रह्म सर्वत्र विद्यमान है।
- वैश्वानर विद्या उपासना का साधन है।
- ब्रह्म विश्वरूप है।
- समष्टि चेतना वैश्वानर कहलाती है।

शब्दावली-

- वैश्वानर
- विराट
- समष्टि
- उपासना
- विश्वरूप

5 अंक के प्रश्न-

1. वैश्वानर का अर्थ बताइए।
2. विराट स्वरूप क्या है?
3. वैश्वानर विद्या क्या है?
4. समष्टि चेतना किसे कहते हैं?
5. विश्वरूप ब्रह्म का वर्णन कीजिए।

15 अंक के प्रश्न-

1. वैश्वानर ब्रह्म का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. विराट स्वरूप की दार्शनिक व्याख्या कीजिए।
3. उपनिषदों में वैश्वानर विद्या का महत्व बताइए।

बहु विकल्पीय-

1. वैश्वानर किसका स्वरूप है?  
(क) जीव  
(ख) ब्रह्म  
(ग) मन  
(घ) इन्द्रिय
2. विराट का अर्थ है  
(क) सूक्ष्म  
(ख) विशाल  
(ग) दुःखी  
(घ) सीमित
3. वैश्वानर विद्या किससे सम्बन्धित है?  
(क) कर्म  
(ख) उपासना  
(ग) युद्ध  
(घ) व्यापार

## इकाई-२.१ द्युलोक, पृथिवीलोक आदियों का आयतन ब्रह्म

### उद्देश्य-

1. उपनिषदों में ब्रह्म के विविध नामों को समझना।
2. अक्षर, भूमा, प्राण आदि शब्दों की ब्रह्मवाचकता का अध्ययन करना।
3. ब्रह्म के सर्वव्यापक स्वरूप का विवेचन करना।

अध्यात्मप्रकरण में पढ़ा जाने वाला द्युलोक, पृथिवीलोक आदियों का आयतन कौन है? इस आशङ्का का वेदान्त दर्शन में उत्तर 'द्युभ्वाद्यायतनं स्वशब्दात्' 'द्युलोक आदि का आधार ब्रह्म है, क्योंकि उसे स्वयं के नाम से बताया गया है। ब्रह्म को परमात्मा ही जानना चाहिए। क्योंकि (स्वशब्दात्) निज शब्द से द्युलोक (स्वर्ग), पृथ्वी, आकाश आदि जो ब्रह्म के अंग माने गए हैं परमात्मा ही उनका आधार (आधार-स्थल) भी है। जिसका आधार होता है उसकी अपेक्षा से वह आधार महान् होता है। वेद में कहा ही है "यत्र विश्वं भवत्येकनीडं तस्मिन्निदं सं च वि चौति सर्वं स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु" यह समस्त संसार जिसके अन्दर एक घोंसले जितना है, उसी में संसार उत्पन्न होता है और उसी में विलीन होता है, वही सब में ओत प्रोत है अपने आधार की महिमा है, वह आश्रित-व्यापक है। आधेय- आधार परमात्मा तो महिमा से बड़ा है। जैसा वेद में कहा है- 'एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायाँश्च पूरुषः' (यजु० ३२।३)। इस प्रकार जो मुण्डकोपनिषद् में कहा है- 'यस्मिन् द्यौः पृथिवी चान्तरिक्षमोतं मनः सह प्राणैश्च सर्वैः । तमेवैकं जानथाऽऽत्मानमन्या वाचो विमुञ्चथामृतस्यैष सेतुः' (मुण्ड० २।२।५) इस वचन से कहा हुआ 'द्यु' भूष आदियों का आयतन परमात्मा मानना चाहिए क्योंकि यहां वह आयतन आत्मा शब्द से विशेषित किया गया है । आत्मा चेतन पुरुष, परमपुरुष पुरुषविशेष, परमात्मा अभीष्ट है। इस विषय में अन्य हेतु उपनिषदों में बताया गया है कि जो ज्ञानी व्यक्ति नाम और रूप से मुक्त हो जाता है, वह परमात्मा को प्राप्त करता है। इसलिए, 'द्युलोक', 'पृथ्वी' आदि का जो आधार बताया गया है, वह परमात्मा ही है, कोई और नहीं। 'तथा विद्वान् नामरूपाद् विमुक्तः परात्परं पुरुषमुपैति दिव्यम्' मुण्डकोपनिषद् (३.२.८) जब ज्ञानी व्यक्ति नाम-रूप से मुक्त हो जाता है, तो वह परात्पर दिव्य पुरुष को प्राप्त करता है। 'यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामाः येऽस्य हृदि श्रिताः, अथ मर्त्योऽमृतो भवति अत्र ब्रह्म समश्नुते' बृहदारण्यकोपनिषद् (४.४.७) जब हृदय में स्थित सभी इच्छाएँ समाप्त हो जाती हैं, तब मनुष्य अमर हो जाता है और यहीं ब्रह्म को प्राप्त करता है। इन दोनों उपनिषद् वचनों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि ज्ञान और मुक्ति के बाद आत्मा जिसको प्राप्त करती है, वह केवल परमात्मा ही है। इसलिए, 'द्युलोक', 'पृथ्वी' आदि का जो आधार है, वह भी परमात्मा ही माना जाना चाहिए। कुछ लोग अनुमान से मूल प्रकृति को आधार मानते हैं। एह ठीक नहि हे केवल अनुमान से सूक्ष्म प्रकृति को द्युलोक आदि का आधार नहीं माना जा सकता । वेदों में प्रकृति के लिए ऐसा कोई स्पष्ट शब्द या प्रमाण नहीं है। लेकिन परमात्मा को ही इन सबका आधार बताया गया है। 'परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च... आत्मानमभिसंविशे' इसका अर्थ है परमात्मा ने सभी भूत, सभी लोक, सभी दिशाएँ और प्रकृति का प्रथम रूप व्याप्त करके स्वयं में स्थापित कर लिया है। इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा ही इन सबका आधार (आयतन) है, प्रकृति नहीं। जीवात्मा, जो प्राणों को धारण करता है, वह भी द्युलोक, पृथ्वी आदि का आधार (आयतन) नहीं हो सकता। वेदों में कहीं भी यह नहीं कहा गया है कि जीव ही सृष्टि का आधार (आयतन) है। शास्त्रों में जीव को एकदेशी (सीमित स्थान में स्थित) बताया गया है, अर्थात् वह केवल शरीर के भीतर ही कार्य करता है। इन दो कारण से जीवात्मा आयतन हो नहीं सकता है। इस बात ऋग्वेद मे अपाङ् पराङिति स्वधया गृभीतः, अमुं मर्त्येन सयोनिः' इस मंत्र में बताया गया है जीवात्मा अपने स्वभाव से शरीर में बंधा हुआ है। वह मरणधर्मी शरीर में ही वास करता है और उसी के अनुसार व्यवहार करता है। इसलिए वह सर्वत्र व्यापी नहीं है और ब्रह्म जैसे सृष्टि का आधार है नहीं हो सकता। द्युलोक, पृथ्वी आदि का जो आधार (आयतन) बताया गया है, वह जीवात्मा नहीं हो सकता, क्योंकि वेदों में उस आत्मा (परमात्मा) और जीवात्मा के बीच स्पष्ट भेद बताया गया है। 'तमेवैकं जानथ आत्मानम्' मुण्डकोपनिषद् (३.१.३) उस एक आत्मा (परमात्मा) को ही जानो।' इस वाक्य में जानने वाला जीवात्मा, जिसे जानना है परमात्मा । इससे स्पष्ट होता है कि परमात्मा और जीवात्मा भिन्न हैं (अलग हैं) । द्युलोक (स्वर्ग), पृथ्वी आदि का जो आधार है, वह परमात्मा है, । क्योंकि पूरा प्रकरण अर्थात् पूरा प्रसंग परमात्मा के विषय में ही चल रहा है। 'आविः सन्निहितं गुहाचरन्... तदेदक्षरं ब्रह्म' मुण्डकोपनिषद् (२.२.१ख२) जो परमात्मा स्पष्ट रूप से हृदय की गुफा में निवास करता है। जिसमें सब कुछ समर्पित है ख जैसे वृक्ष, प्राणी, मनुष्य की चेतना। जो सूक्ष्म से भी सूक्ष्म है, और जिसमें सारे लोक और प्राणी स्थित हैं। यही अक्षर ब्रह्म

(परमात्मा) है। जब उपनिषद् में यह बताया जा रहा है कि सब कुछ उसी में स्थित है, तो यह स्पष्ट है कि 'द्युलोक, पृथ्वी आदि लोकों का आधार (आयतन) भी वही परमात्मा है। परमात्मा की विशेषता है स्थित रहना, अर्थात् साक्षी भाव से सभी में स्थिर रहना। जीवात्मा की विशेषता है भोग करना, अर्थात् कर्मों का फल भोगना। इस विषय में प्रमाण 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...' ऋग्वेद (1.164.20) दो पक्षी एक ही वृक्ष पर साथ रहते हैं ख एक (जीवात्मा) फल खाता है (भोगता है) दूसरा (परमात्मा) केवल देखता है (साक्षी भाव से स्थित है) इस उपमा में वृक्ष = संसार या शरीर, फल खाने वाला पक्षी = जीवात्मा (भोगी), देखने वाला पक्षी = परमात्मा (साक्षी) इसलिए, आधार/आयतन केवल परमात्मा है।

## २.१ भूमा शब्दवाची ब्रह्म

भूमा' शब्द छान्दोग्य उपनिषद् में आया है। इसका मतलब है ख जो असीम है, परम सुख का स्रोत है। उपनिषद् कहता है कि जो 'भूमा' (असीम) है, वही असली सुख है। जो 'अल्प' (सीमित) है, उसमें सुख नहीं होता। इसलिए 'भूमा' को जानना चाहिए, क्योंकि वही जानने योग्य है। जब कोई ऐसा अनुभव होता है जहाँ न कोई और चीज दिखाई देती है, न सुनी जाती है, न समझी जाती है ख बस एक ही अद्वितीय सत्ता होती है ख तो वही श्रूमाश है। पर जहाँ कोई दूसरा अनुभव होता है ख जैसे कोई चीज दिख रही है, सुनी जा रही है या समझी जा रही है ख तो वह सीमित होता है, 'अल्प' होता है। 'भूमा' अमर है, और 'अल्प' नश्वर है। अब प्रश्न उठता है कि यह 'भूमा' कौन है? उपनिषद् के अनुसार यह 'भूमा' उस 'सम्प्रसाद' अर्थात् सोया हुआ या शांत हुआ जीव से भी ऊपर है। यहाँ 'सम्प्रसाद' का मतलब है ख वह जीवात्मा जो मृत्यु के बाद शरीर छोड़कर परम ज्योति (परमात्मा) की ओर जाता है और अपने असली स्वरूप को प्राप्त करता है। जैसे उपनिषद् में बताया गया है 'यह जीवात्मा शरीर छोड़कर पर-ज्योति (परमात्मा) को प्राप्त होकर अपने असली रूप में स्थित होता है। वही श्रेष्ठ पुरुष (उत्तम पुरुष) है।' इससे यह समझ आता है कि 'भूमा' केवल वह आत्मा नहीं है जो शरीर से मुक्त होती है, अपितु वह उससे भी ऊपर, परम सत्य है, परमात्मा है। इस प्रसंग में 'भूमा' के जो गुण (धर्म) बताए गए हैं, वे केवल परमात्मा में ही संभव हैं, जीवात्मा में नहीं। उपनिषद् में कहा गया है ख यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमाथ यत्रान्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं यो वै भूमा तदमृतमथ यदल्पं तन्मर्त्यं स भगवः कस्मिन्प्रतिष्ठित इति स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति (छान्दोग्य उपनिषद् 7.24.1) - 'हे भगवन! वह किसमें स्थित है?' उत्तर मिलता है ख 'वह अपनी ही महिमा में स्थित है।' अर्थात् परमात्मा स्वयं की महिमा में स्थिर रहता है ख वह किसी और पर निर्भर नहीं होता। इसके विपरीत, जीवात्मा परमात्मा पर आश्रित होता है, वह अपनी शक्ति या महिमा से स्वतंत्र नहीं होता। इसलिए उपनिषद् में बताए गए गुणों को देखकर यह स्पष्ट होता है कि 'भूमा' शब्द का संकेत केवल परमात्मा की ओर ही है।

## २.२ 'अक्षर' शब्दवाची ब्रह्म

कुछ जगहों पर 'अक्षर' शब्द का प्रयोग ब्रह्म (परमात्मा) के लिए हुआ है। जैसे बृहदारण्यक उपनिषद् में ऋषि गाग. र् ने पूछा स होवाच यदूर्ध्वं गार्गी दिवो यदवाक्पृथिव्या यदन्तरा द्यावापृथिवी इमे यद्भूतं च भवच्च भविष्यच्चेत्याचक्षत आकाश एव तदोतं च प्रोतं चेति कस्मिन्नु खल्वाकाश ओतश्च प्रोतश्चेति । "वह कौन-सी सत्ता है जिसमें आकाश बुना (ओत-प्रोत) हुआ है?" स होवाचौतद्वै तदक्षरं गार्गी ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वहस्वमदीर्घमलोहितमस्नेह-मच्छायमतमोऽवाय्वनाकाशमसङ्गमरसमगन्धमचक्षुष्कमश्रोत्रमवागमनोऽतेजस्कमप्राणममुखममात्रमनन्तरमबाह्यं न तददृशति किञ्चन न तददृशति कश्चन ८ उत्तर में याज्ञवल्क्य ने कहा। "हे गार्गी! वह 'अक्षर' है ख जिसे ज्ञानी ब्राह्मण 'अस्थूल' (जो बड़ा नहीं है), 'अनणु' (जो सूक्ष्म नहीं है) कहकर वर्णन करते हैं।" अर्थात् वह 'अक्षर' कोई भौतिक चीज नहीं है ख न वह बड़ा है, न छोटा वह ब्रह्म, परमात्मा है। क्यों? क्योंकि वह (अम्बरान्तधृतेः) ख पूरा आकाश और सृष्टि जिसके अंदर स्थित है, जो उसे धारण करता है, वही 'अक्षर' है। 'अम्बरान्तधृति' अर्थात् जो परमात्मा आकाश तक पूरी सृष्टि को धारण करता है — उसकी यह धारण शक्ति केवल स्थान देने वाली नहीं है। वह शक्ति प्रशासनात्मक (शासन करने वाली, नियंत्रित करने वाली) भी है। अथ. त्ति वह ब्रह्म (परमात्मा) सिर्फ सृष्टि को थामे नहीं रहता, अपितु उसे अपनी आज्ञा से चलाता भी है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं 'एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी सूर्याचन्द्रमसौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी द्यावापृथिव्यौ विधृतौ तिष्ठतः, एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी निमेषा, अहोरात्रण्येर्धमसा मासा ऋतवः संवत्सर इति विधृत्तिष्ठन्ति; एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी प्राच्योऽन्या नाद्यः स्यन्दन्ते श्वेतेभ्यः पर्वतेभ्यः, प्रतिच्योऽन्याः, यं यं च दिशमनु; एतस्य वा अक्षरस्य प्रशासने गार्गी दत्तो मनुष्याः प्रसन्ति, यजमानं देवाः, दर्वथ पित्रोऽन्वयन्ताः' 9 (बृहदारण्यक उपनिषद् 3.8.9) हे गार्गी! इसी अक्षर (ब्रह्म) के प्रशासन में सूर्य और चंद्रमा अपने स्थान पर टिके हुए हैं। इसी अक्षर के आदेश में द्युलोक (स्वर्ग) और पृथ्वी भी स्थित हैं।' अर्थात् सूर्य, चंद्रमा, पृथ्वी और आकाश ख सब परमात्मा की आज्ञा से ही अपनी जगह पर टिके हुए हैं। इसलिए उपनिषद् के इस अध्यात्म प्रकरण में 'अक्षर' से अभिप्राय ब्रह्म (परमात्मा) ही है, न कि



कोई साधारण तत्त्व या जीवात्मा। इस प्रसंग में एक और कारण यह बताया गया है कि 'अक्षर' से केवल ब्रह्म का ही बोध होता है, क्योंकि उसके जो गुण (धर्म) उपनिषद में बताए गए हैं, वे सभी दूसरी किसी भी वस्तु से उसे अलग करते हैं। बृहदारण्यक उपनिषद में याज्ञवल्क्य गार्गी से कहते हैं 'हे गार्गी! यह जो 'अक्षर' है, वह न स्थूल है, न अणु (सूक्ष्म), न दीर्घ है, न ह्रस्व, न आँखों वाला है, न कानों वाला, न बोलने वाला, न सोचने वाला, न भीतर है, न बाहर। यह 'अक्षर' न तो कोई जड़ पदार्थ (जैसे मिट्टी, जल आदि) है, और न ही यह कोई शरीरधारी जीव है, और न ही यह प्रकृति या कारण भूत तत्त्व है। यह देखा नहीं जा सकता, पर द्रष्टा (देखने वाला) है। सुना नहीं जा सकता, पर श्रोता (सुनने वाला) है। सोचा नहीं जा सकता, पर सोचने की शक्ति वाला है। बुद्धि से पकड़ में नहीं आता, पर बुद्धिशक्ति से युक्त है। अतः यहां 'अक्षर' शब्द ब्रह्म के लिये ही है।

### २.३ देहान्त पुरुष जीव नहीं ब्रह्मा

उपनिषद में एक स्थान पर कहा गया है अथ हैनं सुकेशा भारद्वाजः पप्रच्छ - - - भगवन् हिरण्यनाभः कौसल्यो राजपुत्रो मामुपेत्यैतं प्रश्नमपृच्छत - - षोडशकलं भारद्वाज पुरुषं वेत्था। तमहं कुमारम्ब्रुवं नाहमिमं वेद यध्यहमिममवेदिषं कथं ते नावक्ष्यमिति। समूलो वा एष परिशुष्यति योऽनृतमभिवदति। तस्मान्नाहम्यनृतं वक्तुम्। स तूष्णीं रथमारुह्य प्रवव्राज। तं त्वा पृच्छामि क्वासौ पुरुष इति । १ । (प्रश्नोपनिषद 6.1) 'हे भारद्वाज! क्या तुम उस पुरुष को जानते हो, जिसकी सोलह कलाएं (शक्तियां) हैं ? वह पुरुष इसी शरीर के भीतर है।' अब यह 'शरीर के भीतर' होने के कारण कुछ लोग सोच सकते हैं कि यह जीवात्मा (हमारा आत्मा) है। लेकिन ऐसा नहीं है ख़ क्योंकि आगे कहा गया है 'स ईक्षांचक्रे'- उसने संकल्प किया। स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति' - उसने सोचा: 'मैं लोकों को रचूं।' (प्रश्नोपनिषद 6.3, ऐतरेय उपनिषद 1.1) यहां 'ईक्षण' का अर्थ है ख़ संकल्प करके सृष्टि की रचना करना। और यह ईक्षण क्रिया केवल परमात्मा की शक्ति है, जीवात्मा की नहीं। इसलिए उपनिषद में बताए गए इस सोलह कला वाले पुरुष से अभिप्राय परमात्मा ही है, न कि शरीरधारी जीव।

### २.४ दहर आकाश मे ब्रह्म का निवास

छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया है अथ यदिदमस्मिन्ब्रह्मपुरे दहारं पुण्डरीकं वेष्म दहरोऽस्मिन्नन्तरकाशस्तस्मिन्यदन्तस्तद्वेष्टव्यं तद्वव विजिज्ञासितव्यमिति। 8.1.1। 'इस शरीर रूपी ब्रह्मपुर (नगर) में एक छोटा कमल रूपी घर है ख़ उसमें श्दहरश् (छोटा सा) आकाश है। उसी में सब कुछ है - उसे ही जानना और खोजना चाहिए।' यहां श्दहरश् शब्द का अर्थ श्छोटाश् है, लेकिन यह छोटा केवल स्थान से है, गुण और प्रभाव से असीम है। यह हृदय के भीतर स्थित वह आकाशरूप परमात्मा है ख़ जिसे भीतर खोजने और जानने की बात कही गई है। क्योंकि आगे उपनिषद में बताया गया है यवांवा अयमकाशतानेशोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन्वापृथिवी अन्तरेव सम्मिलिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्यचन्द्रमसावुभौ विद्युनक्षत्राणि यच्चास्येहस्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन्समाहितमिति। 8.1.3। 'इस 'दहर' में आकाश और पृथ्वी, अग्नि और वायु, सूर्य और चंद्रमा, बिजली और नक्षत्र ख़ सब समाहित हैं। और कहा गया स ब्रूयात्तास्य जरायैतज्जिर्यति नदधेनस्य हन्यत् एतत्सत्यं ब्रह्मपुरस्मिकामाः सम्मिलितः एष आत्मापहतपापमा विज्रो विधर्तविशोको विजिगतसोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पो यथा ह्यवेह प्रजा अन्विविति यथानुशासनिम यं यमंतमभिकामा भवन्ति यं क्षेत्रं यं क्षेत्रभागं तं तमेवोपजीवन्ति। 8.1.5। अर्थात् यह श्दहरश् (शरीर) के नष्ट होने पर भी यह नष्ट नहीं होता। इतनी सारी शक्तियां और लोक जिस श्दहरश् में समाहित हों, और जो जीर्ण-पुरातन न होता हो ख़ वह केवल परमात्मा ही हो सकता है, जीवात्मा या भौतिक हृदय नहीं। उपनिषद में कहा गया है अथ ये चास्येह जीवा ये च प्रेता यच्चा न इदिच्छन् लभते सर्वं तदात्र गत्वा विन्दतेऽत्र ह्यस्यायते सत्याः कामा अनृतपिधानस्तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमशैद्य ऊपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहर्हर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्त्यनृतेन हि प्रत्युधाः। 8.3.2।' जैसे कोई व्यक्ति किसी गहरे खजाने को खोजे बिना उसके ऊपर-ऊपर घूमता रहे वैसे ही ये सब प्राणी प्रतिदिन ब्रह्मलोक तक तो जाते हैं (नींद में), लेकिन उसे नहीं जान पाते, क्योंकि वे असत्य में रुक गए हैं। 'दहर' से केवल जीव या हृदय का ही बोध होता, तो वह सभी प्राणियों की गति (नींद की अवस्था में) का आश्रय नहीं हो सकता था। इसलिए 'दहर' शब्द और उसमें वर्णित क्रिया, दोनों से यह सिद्ध होता है कि 'दहर' परमात्मा को ही कहा गया है। और अन्य कारण से 'धारण करने की शक्ति (धृति) और परमात्मा की महिमा के अनुभव से भी यह स्पष्ट होता है कि 'दहर' शब्द से परमात्मा ही

समझना चाहिए। उपनिषद में कहा गया है “दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः” इसका अर्थ है पृथ्वी ‘दहर’ स्थान (हृदय में स्थित आकाश) वह है जिसमें सब कुछ समाया हुआ है। “अथ य आत्मा स सेतुर्विधृतिरेषां लोकानामसम्भेदाय।” इसका अर्थ है ‘वह आत्मा (परमात्मा) एक सेतु (पुल) है, जो सभी लोकों को जोड़कर धारण करता है ख ताकि वे आपस में न बिखरें।’ यह जो ‘दहर’ कहा गया है, वह कोई साधारण स्थान नहीं है। वह सभी लोकों (जैसे पृथ्वी, स्वर्ग आदि) को एकजुट रखने वाला है। वह सब कुछ धारण करता है— अर्थात् यह परमात्मा का ही कार्य है। कोई जीव या शरीर का अंग इतनी बड़ी धारण शक्ति नहीं रख सकता। यह बात अनुभव से पुष्टि होती है जब कोई ध्यान या शांति की गहराई में जाता है, तो उस ‘दहर’ में परमात्मा की महिमा का अनुभव होता है। उपनिषद में ‘दहर आकाश’ अर्थात् हृदय में स्थित सूक्ष्म आकाश की चर्चा की गई है। यह परमात्मा है। यही ‘आकाश’ अन्य स्थानों पर भी परमात्मा के रूप में प्रसिद्ध है। तैत्तिरीय उपनिषद में कहा गया को ह्येवान्यात् कः प्राण्यात्। यदेष आकाश आनन्दो न स्यात्। “कौन जीवित रह सकता है यदि यह आकाश आनन्दस्वरूप न हो?” इसका मतलब है कि ख यह आकाश ही परमात्मा है जो आनन्दस्वरूप है — उसी से जीवन संभव है। छान्दोग्य उपनिषद में कहा गया: आकाशो वै नाम नामरूपयोर्निर्वहिता ते यदन्तरा तद्ब्रह्म तदमृतं स आत्मा प्रजापते: सभां वेश्म प्रपद्ये यशोऽहं भवामि ब्राह्मणानां यशो राज्ञां यशोविशां यशोऽहमनुप्रापत्सि स हाहं यशसां यशः श्येतमदत्कमदत्कं श्येतं लिन्दु माभिगां लिन्दु माभिगाम्। ८.१४.१ आकाश ही नाम और रूप का धारण करने वाला है।” अथ. त् ख आकाश ही वह शक्ति है जो सभी चीजों को नाम और रूप देता है — जैसे सृष्टिकर्ता (विधाता)। कुछ लोग कह सकते हैं कि: “जो दहर आकाश कहा गया है, वह जीवात्मा ही है क्योंकि उसमें जीव का उल्लेख मिलता है। लेकिन उपनिषद कहता है: ‘ऐसा मानना त्रुटिपूर्ण है’ — क्यों? क्योंकि ‘दहर’ के जो गुण बताए गए हैं — जैसे

- पापरहित (अपहृतपाप्मा),
- बुढ़ापा और मृत्यु से रहित (विजर, विमृत्यु),
- भूख-प्यास से परे (विजिघत्सु, अपिपासा),
- सत्यकर्म और सत्यसंकल्प वाला आत्मा

ये सारे गुण जीवात्मा में नहीं हो सकते, ये केवल परमात्मा में हो सकते हैं। इसलिए केवल “संबंध” या “परामर्श” (उल्लेख) से यह नहीं मान लेना चाहिए कि दहर = जीव है। वास्तव में, दहर = परमात्मा है। अब कुछ लोग कह सकते हैं: “उत्तर के भागों में (अर्थात् आगे के मंत्रों में) तो ‘दहर’ के साथ जीव का वर्णन है, जैसे देखने वाला, सोने वाला, जागने वाला आत्मा, आदि। तो इसका मतलब दहर = जीव है। लेकिन यहां भी उपनिषद कहती है ‘ऐसा भी नहीं है’, क्योंकि वहां जो आत्मा का वर्णन है, वह परमात्मा को प्राप्त कर चुका है। वह जीव अब अपने मुक्त स्वरूप में आ गया है — उसे स्वरूप सिद्धि मिली है।

उदाहरण से समझिए (छान्दोग्य उपनिषद का संदर्भ):

1. पहले: प्रजापति ने इन्द्र को आत्मा समझाया —  
‘जो जाग रहा है, वह आत्मा है।’
2. फिर इन्द्र ने पूछा — ‘ये तो शरीर के साथ नष्ट हो जाता है!’
3. फिर बताया गया —  
‘जो स्वप्न देखता है, वह आत्मा है।’  
फिर कहा —  
‘जो गहरी नींद में रहता है, वह आत्मा है।’
4. फिर अंत में कहा गया —  
‘जो शरीर से अलग है,  
जिसे मृत्यु छू नहीं सकती,  
जिसे सुख-दुख प्रभावित नहीं करते —  
वह आत्मा है।’

इन सब वर्णनों में जो जीव बताया गया है, वह केवल साधारण जीव नहीं, अपितु परमात्मा से एक रूप हुआ मुक्त आत्मा है। जब कोई साधक परमात्मा से जुड़ता है, तब वह जीवात्मा शुद्ध और मुक्त हो जाती है। इसलिए शास्त्रों में जब उसका वर्णन आता है, तो वह परमात्मा की प्राप्ति से उत्पन्न शुद्ध अवस्था का वर्णन होता है — न कि साधारण जीव की। शास्त्र कहता है ख ‘परं ज्योतिरुपसम्पद्य...’ ख वह आत्मा परमज्योति (परमात्मा) को प्राप्त होती है। इससे यह सिद्ध होता है कि ‘दहर’ शब्द से परमात्मा ही अभिप्रेत है। अगर आप यह कहें कि — “हृदय बहुत छोटा स्थान है, वहां परमात्मा कैसे हो सकता है?” तो इसका उत्तर है जैसे



आकाश हर जगह होते हुए भी छोटा प्रतीत होता है, वैसे ही परमात्मा हृदय में भी अनुभव होता है। परमात्मा को हृदय में होने वाला बताया गया है — यह बात शास्त्रों और स्मृतियों में भी आती है। यजुर्वेद कहता है ख 'ओम् क्रतो स्मर' — अर्थात्, परमात्मा का स्मरण करो। भगवद्गीता कहती है— 'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे तिष्ठति' — ईश्वर सबके हृदय में रहता है। इसलिए, परमात्मा का हृदय में वास स्मृतियों में भी प्रमाणित है। मनुष्य के लिए सबसे सरल स्थान हृदय है — इसलिए वहाँ ध्यान का आदेश दिया गया। परंतु इसका यह मतलब नहीं कि परमात्मा सिर्फ हृदय में सीमित है। परमात्मा मस्तिष्क, या अन्य सूक्ष्म स्थानों में भी उपास्य हो सकता है। हृदय परमात्मा की उपासना के लिए प्रतीकात्मक और सुलभ स्थान है। परमात्मा सर्वव्यापक है, और कहीं भी उसका ध्यान संभव है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- ब्रह्म को उपनिषदों में अनेक नामों से वर्णित किया गया है।
- भूमा अनन्त सत्ता का द्योतक है।
- अक्षर अविनाशी ब्रह्म का नाम है।
- प्राण सम्पूर्ण जीवन का आधार है।
- ज्योति रूप से ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है।

### शब्दावली-

- अक्षर
- भूमा
- प्राण
- ज्योति
- आकाश
- ब्रह्मवाचक
- द्यूलोक

### 5 अंकों के प्रश्न-

1. अक्षर शब्द का अर्थ लिखिए।
2. भूमा किसे कहते हैं?
3. ब्रह्म को ज्योति क्यों कहा गया है?
4. प्राण की दार्शनिक व्याख्या कीजिए।
5. आकाश की ब्रह्मवाचकता स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंकों के प्रश्न-

1. उपनिषदों में ब्रह्म के विभिन्न नामों का विवेचन कीजिए।
2. भूमा और अक्षर शब्दों की ब्रह्मवाचकता स्पष्ट कीजिए।
3. प्राण एवं ज्योति के रूप में ब्रह्म का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. अक्षर का अर्थ है?

(क) नश्वर

(ख) अविनाशी

(ग) स्थूल

(घ) दुःखी

2. भूमा किसका द्योतक है?

(क) सीमितता

(ख) अनन्तता

(ग) दुःख

(घ) मृत्यु

3. ब्रह्म को ज्योति क्यों कहा गया है?

(क) अन्धकार के कारण

**(ख) ज्ञानस्वरूप होने से**

(ग) शरीर होने से

(घ) परिवर्तनशील होने से

4. प्राण किसका आधार है?

(क) केवल शरीर

**(ख) सम्पूर्ण जीवन**

(ग) धन

(घ) युद्ध

5. आकाश किसका प्रतीक है?

(क) सीमितता

**(ख) सर्वव्यापकता**

(ग) दुःख

(घ) शून्यता

## इकाई-२.२ स्थान भेद से उपासना विरोध नहीं है

### उद्देश्य-

1. ब्रह्मज्ञान के सार्वभौमिक अधिकार को समझना।
2. आत्मसाक्षात्कार की आवश्यकता जानना।
3. वेदान्त में मानव जीवन के महत्व का अध्ययन करना।

कुछ लोग कह सकते हैं कि उपासना का स्थान अलग-अलग होने से परमात्मा के ध्यान में मतभेद (विरोध) हो जाएगा। लेकिन यह आपत्ति ठीक नहीं है, क्योंकि परमात्मा की शक्ति असीम और स्वाभाविक है। शास्त्रों में कहा गया है — ‘परस्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते’ — परमात्मा की शक्तियाँ अनेक हैं, वह ज्ञान, बल और क्रिया से युक्त है। जैसा कार्य, वैसा उसका नाम — इसलिए अलग-अलग उपासनाएं संभव हैं और उनमें कोई विरोध नहीं। अगर कोई कहे कि वेदों में अलग-अलग नाम और विधियाँ हैं, इसलिए उनमें टकराव होता है तो उसका उत्तर है वेद की उत्पत्ति सीधे परमात्मा से हुई है, इसलिए उसमें कोई विरोध नहीं हो सकता। वेदों में जो भी नाम कहे गए हैं, वे परमात्मा के कार्यों (कर्मों) के अनुसार हैं। जैसे — ‘विष्णोर्नु कं वीर्याणि प्रवोचम्’ — मैं विष्णु (व्यापक परमात्मा) के कार्यों को कहता हूँ। वेदों की परमात्मा से उत्पत्ति का प्रमाण है श्रुति “तस्माद् यज्ञात्... ऋचः सामानि जज्ञिरे” — परमात्मा से ऋग, साम, यजुः वेद उत्पन्न हुए। स्मृतिः “अग्निवायुरविभ्यस्तु त्रयं ब्रह्म सनातनम्...” — अग्नि आदि के द्वारा परमात्मा ने वेद प्रकट किए। वेद परमात्मा से निकले हैं, इसलिए वे सदा रहते हैं — उनकी कोई उत्पत्ति या विनाश नहीं होता। वेद में परमात्मा के कार्यों के अनुसार नाम दिए गए हैं, इसलिए उसमें कोई विरोध नहीं होता। वेदों के मन्त्र, नाम और विधियाँ हर युग में एक जैसी होती हैं। इसलिए अगर वेद पुनः प्रकट होता भी है, तब भी कोई विरोध नहीं होता। शास्त्रों और स्मृतियों में इसका प्रमाण है। श्रुति “सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्” — परमात्मा सूर्य-चन्द्र को पहले जैसे ही बनाता है। स्मृति “अनादिनिधना नित्या वागुक्ता या स्वयम्भुवा...” — यह वेदवाणी आदि-अन्त रहित, नित्य और दिव्य है, जिसे परमात्मा ने प्रकट किया।

### स्मरणीय बिन्दु-

- प्रत्येक मनुष्य को ब्रह्मज्ञान का अधिकार है।
- आत्मसाक्षात्कार मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य है।
- वेदान्त समता का दर्शन प्रस्तुत करता है।
- ब्रह्मज्ञान जाति-भेद से परे है।
- ज्ञान मुक्ति का साधन है।

### शब्दावली-

- साक्षात्कार
- आत्मज्ञान
- मोक्ष
- सार्वभौमिकता
- अधिकार
- मानव जीवन

### 5 अंक के प्रश्न-

1. ब्रह्मसाक्षात्कार का अर्थ लिखिए।
2. मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है?
3. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?
4. वेदान्त में समानता का सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए।
5. आत्मज्ञान का महत्व बताइए।

### 5 अंक के प्रश्न-

1. मनुष्य मात्र के ब्रह्मसाक्षात्कार अधिकार का विवेचन कीजिए।
2. आत्मज्ञान एवं मोक्ष के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
3. वेदान्त दर्शन में मानव जीवन का महत्व बताइए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. ब्रह्मसाक्षात्कार का अधिकारी कौन है?

- (क) केवल ब्राह्मण
- (ख) केवल संन्यासी

**( ग ) प्रत्येक मनुष्य**

- (घ) केवल योगी

2. मानव जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य क्या है?

- (क) धन

**( ख ) मोक्ष**

- (ग) युद्ध
- (घ) व्यापार

3. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

- (क) धन

**( ख ) आत्मज्ञान**

- (ग) भोजन
- (घ) शरीर

4. वेदान्त किस सिद्धान्त को मानता है?

- (क) भेदभाव

**( ख ) समता**

- (ग) हिंसा
- (घ) शून्यवाद

5. आत्मज्ञान का फल क्या है?

- (क) दुःख
- (ख) बन्धन

**( ग ) मुक्ति**

- (घ) रोग

## इकाई-२.३ वेदाध्ययन मे मनुष्यमात्र का अधिकार

### उद्देश्य-

1. वेदों की नित्यता को समझना।
2. वेदाध्ययन की परम्परा का अध्ययन करना।
3. शब्द एवं वर्ण के महत्व का विश्लेषण करना।

जैमिनि का मत शूद्र का वेदों में अधिकार नहीं-जैमिनि ऋषि के अनुसार मधुच्छन्दा आदि वैदिक ऋषियों में शूद्र नहीं हो सकते क्योंकि वेदों का अध्ययन और उसका उच्चारण शूद्र के लिए वर्जित है। श्रज्योतिष (ज्ञान के प्रकाश) का उल्लेख केवल तीन वर्णों (ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य) के लिए है। इससे शूद्र का वेदाधिकार नहीं माना जाता।

व्यास (बादरायण) का मत: शूद्र भी अधिकारी हो सकता है व्यासजी कहते हैं कि यदि शूद्र में योग्यता और श्रद्धा हो, तो वह भी ब्रह्मविद्या का अधिकारी हो सकता है। उदाहरण कवष ऐलूष, जानश्रुति, आदि के प्रसंग शास्त्रों में मिलते हैं जो शूद्र होकर भी ज्ञान प्राप्त करते हैं।

जानश्रुति का प्रसंग:- जानश्रुति जब रैक्व ऋषि के पास ज्ञान लेने गया, तब उसकी वर्णज पूछताछ नहीं हुई। वह भाव से प्रेरित होकर गया और ज्ञान पाया। आगे चलकर जानश्रुति गुण और कर्म के बल पर क्षत्रिय माना गया (उसके पास चौत्ररथ रथ था)।

उपनयन संस्कार की बाध्यता नहीं कुछ प्रसंगों में उपनयन के बिना भी विद्या का उपदेश मिलता है। जैसे कैकेय राजा ने ब्राह्मणों को वैश्वानर विद्या बिना उपनयन दिए दी।

सत्यकर्म जाबाल का प्रसंग सत्यकर्म को अपने कुल का ज्ञान नहीं था, फिर भी उसने सत्य बोलकर आचार्य को प्रभावित किया। आचार्य ने उसे ब्रह्मचर्य में स्वीकार किया। इससे यह सिद्ध होता है कि विद्या का अधिकार कुल से नहीं, सत्यता और गुण से होता है।

गुण-कर्म से ही अधिकारीता:- वेद और स्मृति दोनों के अनुसार गुण और व्रत के आचरण के बिना कोई भी व्यक्ति (चाहे ब्राह्मण हो या शूद्र) वेद का अध्ययन नहीं कर सकता। वेद का अनधिकारी द्वारा उच्चारण करना शास्त्रों में वर्जित बताया गया है।

## प्राण-ज्योति-आकाश शब्दवाची ब्रह्म

उपनिषदों में आया 'प्राण' शब्द का मतलब परमात्मा से है। जैसे शरीर के अंदर जो प्राण (सपमि-वितबम) हा. 'ता है, वह पूरे शरीर को चलाता और हिलाता है — वैसे ही यह समस्त जगत (सारी सृष्टि) जिस परमात्मा से उत्प. न्न हुई है, वह परमात्मा इस सारे संसार को चला रहा है, हिला रहा है। कठोपनिषद् में कहा है ख 'यदिदं किञ्च जगत् सर्व प्राण एजति निःसृतम्।' अर्थ: यह पूरा संसार उसी परमात्मा से निकला है और उसी में गति करता है। जो व्यक्ति इस रहस्य को जान लेते हैं, वे अमरता (मुक्ति) को प्राप्त होते हैं। यहाँ 'ज्योति' (प्रकाश) शब्द से परमात्मा का ही बोध कराया गया है। जैसे खज्जब जीव (आत्मा) शरीर छोड़ता है, तब वह 'परंज्योति' अर्थात् परम प्रकाश, परमात्मा में प्रवेश करता है। यह 'ज्योति' कोई साधारण प्रकाश नहीं, अपितु सब प्रकाशों का स्रोत परमात्मा है। यहाँ 'आकाश' (आकाश/चंबम) शब्द भी परमात्मा के अर्थ में लिया गया है। ऐसा क्यों? क्योंकि उपनिषदों में उसे सिर्फ भौतिक आकाश नहीं, अपितु नाम और रूप (सभी चीजों) का धारण करने वाला बताया गया है। इसलिए यहाँ 'आकाश' शब्द

## जीव-परमात्मा भेद उपदेश

जब कोई गहरी नींद में होता है, तब वह कोई कर्मना नहीं करता और कोई सपना नहीं देखता। उस समय वह प्राज्ञ (परमात्मा) से जुड़ा होता है, लेकिन कुछ भी नहीं जानता। ऐसे ही, जब कोई मरता है (उत्क्रान्ति), तब उसका जीवात्मा शरीर से अलग होता है, और वह भी प्राज्ञ परमात्मा के साथ जुड़ा होता है। इन दोनों स्थितियों में उपनिषद बताता है कि जीवात्मा और परमात्मा अलग-अलग हैं। जीव सोता या शरीर त्यागता है, लेकिन परमात्मा सदा शुद्ध, अविचल और अलग रहता है। पतिष, 'ईश्वर', 'पालक', 'स्वामी' जैसे शब्दों का उपयोग परमात्मा के लिए होता है, जीवात्मा के लिए नहीं। उदाहरण 'एष सर्वेश्वरः', 'एष भूताधिपतिः', 'एष भूतपालः'

ख इन वाक्यों में परमात्मा को ही सभी प्राणियों का स्वामी और रक्षक बताया गया है। 'सर्वस्येशानः', 'सर्वस्याधिपतिः', 'सर्व इदं प्रशास्ति' — इसका मतलब है कि वही परमात्मा सभी चीजों पर शासन करता है। इससे सिद्ध होता है कि परमात्मा और जीव दो अलग-अलग सत्ता हैं — परमात्मा शासक है और जीव शासित है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- वेद अपौरुषेय एवं नित्य हैं।
- वर्णों का शुद्ध उच्चारण आवश्यक है।
- वेद ज्ञान का सनातन स्रोत है।
- शब्द की नित्यता मीमांसा का प्रमुख सिद्धान्त है।
- वेदाध्ययन अनुशासन पर आधारित है।

### शब्दावली-

- वेदनित्यत्व
- अपौरुषेय
- वर्ण
- शब्द
- उच्चारण
- वेदाध्ययन

### 5 अंक के प्रश्न-

1. वेदनित्यत्व क्या है?
2. अपौरुषेय शब्द का अर्थ बताइए।
3. वेदाध्ययन में वर्ण का महत्व लिखिए।
4. शब्दनित्यत्व क्या है?
5. वेदों को सनातन क्यों कहा गया है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. वेदनित्यत्व का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. वेदों की अपौरुषेयता स्पष्ट कीजिए।
3. मीमांसा दर्शन में शब्दनित्यत्व सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. वेद कैसे माने जाते हैं?

(क) मानव

(ख) अपौरुषेय

(ग) नश्वर

(घ) कल्पित

2. शब्दनित्यत्व किस दर्शन का प्रमुख सिद्धान्त है?

(क) न्याय

(ख) मीमांसा

(ग) योग

(घ) बौद्ध

3. वेदों का स्वरूप क्या है?

(क) नश्वर

(ख) नित्य

(ग) मिथ्या

(घ) असत्

4. वेदाध्ययन में क्या आवश्यक है?

(क) अशुद्ध उच्चारण

**(ख) शुद्ध उच्चारण**

(ग) मौन

(घ) युद्ध

5. अपौरुषेय का अर्थ है?

(क) मनुष्यकृत

(ख) ईश्वरकृत

**(ग) किसी पुरुष द्वारा रचित नहीं**

(घ) नश्वर



## इकाई-२.४ ब्रह्म स्वतन्त्रकारण वाद

### उद्देश्य-

1. जगत् की उत्पत्ति सम्बन्धी वेदान्त विचार समझना।
2. परमात्मा एवं प्रकृति के सम्बन्ध का अध्ययन करना।
3. त्रिगुणात्मक प्रकृति की अवधारणा जानना।

कुछ लोग कहते हैं कि जगत् का कारण प्रकृति (अव्यक्त) है, जो बहुत सूक्ष्म है और जिसे केवल अनुमान से जाना जा सकता है। यह विचार सांख्य योग की शाखा के कुछ लोगों का है। यह विचार ठीक नहीं है। क्यों? क्योंकि उपनिषदों में बताया गया है कि जो 'अव्यक्त प्रकृति' है, वह स्वयं कारण नहीं है, अपितु वह तो परमात्मा के शरीर का एक रूप है। मुण्डक उपनिषद कहता है — यथा सुदीप्तात् पावकाद् विस्फुलिङ्गाः सहस्रशः प्रभवन्ते सरूपाः तथा अक्षरात् विविधाः सौम्य भावाः प्रजायन्ते तत्र चैवापियन्ति जैसे अग्नि से हजारों चिंगारियाँ निकलती हैं, वैसे ही अक्षर (परमात्मा) से यह सारा जगत् उत्पन्न होता है और फिर उसी में लीन हो जाता है। यहाँ अग्नि का दृष्टान्त दिया गया है, जो जड़ (निर्जीव) होती है। इससे कुछ लोग भ्रमित होकर कहते हैं कि जगत् का कारण जड़ प्रकृति ही है। लेकिन अगले ही वाक्य में उपनिषद स्पष्ट कह देता है — 'अक्षरात्परतः परः' अक्षर से भी परे एक परम तत्त्व है। परमात्मा प्रकृति से भी परे है। प्रकृति (अव्यक्त) स्वयं कोई स्वतंत्र कारण नहीं है। वह तो परमात्मा के अधीन है, और उसका शरीर स्वरूप बनाकर ही जगत् की सृष्टि में कार्य करती है। वास्तविक कारण तो परमात्मा ही है, जो निमित्त कारण (योजना और संकल्प करने वाला) भी है और उपादान कारण (जिससे सृष्टि बनी) भी है। इस विषय में यथोर्णनाभिः सृजते गृह्णते च यथा पृथिव्यामोषधयः संभवन्ति। यथा सतः पुरुषात् केशलोमानि तथाऽक्षरात् संभवतीह विश्वम् जिस प्रकार मकड़ी अपने (जाले का) सर्जन करती है तथा उसे अपने में समेट लेती है, जिस प्रकार पृथ्वी पर औषधियाँ उत्पन्न होती हैं, जिस प्रकार जीवित मनुष्य के शरीर के रोम तथा सिर के बाल बढ़ते हैं, उसी प्रकार अक्षर तत्त्व से यही सब कुछ उत्पन्न होता है। तन्तु (रेशम की डोरी) बनाने वाला कीट या मकड़ी का शरीर स्थूल होता है, वैसे ही हमारा शरीर भी स्थूल (मोटा और दिखने योग्य) है। अब प्रश्न यह है कि जब हमारा शरीर या अन्य जीवों के शरीर स्थूल होते हैं, तो प्रकृति जिसे परमात्मा का शरीर कहा गया है, वह कैसे सूक्ष्म (न दिखाई देने वाली) हो सकती है इसका उत्तर यह है कि प्रकृति सूक्ष्म होती है क्योंकि उसका स्वभाव और योग्यता सूक्ष्म होने की ही है। जैसे आकाश (आकाश तत्त्व) को भी परमात्मा का शरीर कहा गया है, हालांकि वह भी हमें दिखाई नहीं देता जैसे उपनिषद में कहा गया है आकाशे तिष्ठन्काशादन्तरः, यमकाशो न वेद, यस्याकाशः शरीरम्, य आकाशमन्तरो यमयति, एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः (बृहदारण्यक उपनिषद 3.7.12) जैसे आकाश सूक्ष्म होते हुए भी परमात्मा का शरीर हो सकता है, वैसे ही प्रकृति भी, जो सूक्ष्म है, परमात्मा का शरीर मानी जाती है। अंत में, यह भी समझना चाहिए कि यह जो सारा जगत् है, उसका मूल कारण प्रकृति है ख़र जो अव्यक्त (जो दिखाई नहीं देती) और सूक्ष्म होती है। और परमात्मा तो प्रकृति से भी ज्यादा सूक्ष्म और अति-सूक्ष्म हैं। और प्रकृति (जो अव्यक्त और जड़ है) अपने आप में कोई कर्म नहीं कर सकती। उसकी कोई सार्थकता (महत्त्व) तभी है जब वह परमात्मा के अधीन होकर कर्म करे। क्योंकि जो चीज जड़ होती है (जिसमें चेतना नहीं होती), वह स्वेच्छा से कुछ नहीं कर सकती ख़र वह हमेशा किसी चेतन तत्त्व के अधीन रहती है। उदाहरण से समझें — जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है, पर मिट्टी अपने आप घड़ा नहीं बना सकती। घड़ा तभी बनता है जब कुम्हार उसे आकार देता है। मिट्टी कुम्हार के अधीन है। उसी तरह यह जो अव्यक्त प्रकृति है, इससे जब जगत् (संसार) उत्पन्न होता है, तो वह भी परमात्मा की प्रेरणा और अधीनता से होता है। यहाँ परमात्मा को 'निमित्त कारण' (कार्य कराने वाला) और प्रकृति को 'उपादान कारण' (जिससे कार्य बना) कहा गया है। अव्यक्त, जड़ प्रकृति को कहीं भी वेदों में जानने योग्य नहीं बताया है, विशेषितः जब उपासना (आध्यात्मिक साधना) की बात होती है। जो जानने योग्य (ज्ञेय) कहा गया है, वह हर जगह परमात्मा (आत्मा) ही है।

जैसे कि उपनिषदों में कहा गया है:

'स आत्मा स विज्ञेयः' — वही आत्मा जानने योग्य है। (माण्डूक्य उपनिषद)

'तरति शोकम् आत्मवित्' — आत्मा को जानने वाला ही शोक (दुख) से पार होता है। (छान्दोग्य उपनिषद)

'वेदाहम् एतम् पुरुषम् महान्तम्' — मैंने उस महान पुरुष (परमात्मा) को जाना है। (श्वेताश्वतर उपनिषद)

'ब्रह्मविद् आप्नोति परम्' — ब्रह्म को जानने वाला परम प्राप्त करता है। (तैत्तिरीय उपनिषद)

'तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्म' — उसे जानने की इच्छा करो, वही ब्रह्म है। (तैत्तिरीय उपनिषद)

इन सभी वेद वाक्यों में बार-बार यही कहा गया है कि जानने योग्य केवल परमात्मा है — प्रकृति नहीं। इससे यह साबित होता है कि प्रकृति जगत् की केवल एक उपादान कारण हो सकती है, लेकिन मुख्य कारण (जिसे जानना जरूरी है) परमात्मा ही है।

अगर कोई यह कहे कि 'कठोपनिषद् में तो प्रकृति जैसे अव्यक्त की भी चर्चा की गई है, जैसे इस मंत्र में कहा गया है: 'अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्, अव्ययम्... महतः परम्... ध्रुवम्' (जो बिना शब्द, स्पर्श, रूप आदि के है, जो सदा एक जैसा रहता है, जो महत्तत्त्व से भी परे है) — तो इससे तो लगता है कि अव्यक्त प्रकृति भी जानने योग्य है... ' तो उसका उत्तर यह है — 'जहाँ, ऐसा कहना ठीक नहीं है।' क्योंकि इस पूरे प्रसंग (प्रकरण) में जिस जानने योग्य तत्व की बात हो रही है, वह केवल परमात्मा है, प्रकृति नहीं।

उपनिषद् में आगे भी साफ कहा गया है:

'पुरुषान् परं किञ्चित्' — परम पुरुष (परमात्मा) से परे कुछ भी नहीं है।

'सा काष्ठा, सा परा गतिः' — वही अंतिम मंजिल है, वही परम लक्ष्य है।

'एष सर्वेषु भूतेषु गूढात्मा न प्रकाशते' — वह आत्मा सभी प्राणियों में छिपा हुआ है, सामान्य आंखों से दिखाई नहीं देता।

'दृश्यते त्वर्ग्या बुद्ध्या सूक्ष्मया सूक्ष्मदर्शिभिः' — लेकिन उसे योगीजन अपनी सूक्ष्म बुद्धि से देख सकते हैं।

इस तरह से सारा प्रसंग परमात्मा के गुण, उसकी पहचान और उसकी प्राप्ति के विषय में है, प्रकृति के विषय में नहीं। यहाँ 'अशब्दम्', 'अस्पर्शम्' आदि जो विशेषण दिए गए हैं, वे भी वास्तव में परमात्मा की ही विशेषताएँ हैं, न कि प्रकृति की। यहाँ कहा जा रहा है कि कठोपनिषद् में जो 'अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्' और 'महत्तत्त्व से परे' जैसे गुण बताए गए हैं, अगर हम मान लें कि ये गुण प्रकृति के हैं, और साथ ही ईश्वर और जीव भी वैसे ही सूक्ष्म हैं, तो फिर तीनों (ईश्वर, जीव, और प्रकृति) के बारे में प्रश्न और विस्तार से बात होनी चाहिए थी। वास्तव असल में ऐसा नहीं है। उपनिषद् में इन गुणों का जो वर्णन हुआ है, वह केवल परमात्मा (ईश्वर) के लिए है, न कि प्रकृति या जीव के लिए। इसलिए स्पष्ट है कि यहाँ केवल परमात्मा को ही जानने योग्य (ज्ञेय) बताया गया है। पूरा प्रसंग (प्रकरण) उसी के बारे में चल रहा है। अतः इस प्रकार प्रश्न क्रमानुसार प्रकृतिनामक अव्यक्त उक्त 'अशब्दमस्पर्शम्' इस अध्यात्मप्रकरण में जानने योग्य नहीं। वहाँ तो अन्तिम तृतीय प्रश्न प्रसंगगत परमात्मा के ही स्वरूप का प्रतिपादक वचन है। कठोपनिषद् में एक मंत्र आता है: 'अनाद्यनन्तं महतः परं ध्रुवं...' यहाँ 'महतः परं' का मतलब कुछ लोग यह लेते हैं कि यह महत्तत्त्व (बुद्धि से जुड़ा तत्व) से परे है, इसलिए यह प्रकृति (अव्यक्त) हो सकती है। उत्तर 'महद्वत् च' यहाँ 'महत्' का मतलब है बड़े आकार वाला तत्व, जैसे आकाश। तो 'महत् से परे' का मतलब है — आकाश जैसे विशाल तत्व से भी परे, जैसे वेद में कहा गया है 'त्वमस्य पारे रजसो व्योमनः' प्रकृति का कारण होना भी वैसा ही है जैसा महत्तत्त्व का कारण होना। जैसे महत्तत्त्व (बुद्धि) स्वतंत्र कारण नहीं है, केवल एक सहायक कारण (गौण) है और मोक्ष के लिए जानने योग्य नहीं है, वैसे ही प्रकृति भी स्वतंत्र कारण नहीं है और न ही मोक्ष के लिए जानने योग्य है। कभी-कभी उपनिषदों में प्रकृति को ऐसा दिखाया जाता है जैसे वह स्वयं ही सृष्टि कर रही हो। जैसे ख "अजामेकां लोहित-शुक्ल-कृष्णां... प्रजाः सृजमानां..." (श्वेताश्वतर उपनिषद्) एक अजन्मा (अजा) स्त्री (प्रकृति), जो रज (लोहित), सत (शुक्ल), और तम (कृष्ण) तीन गुणों वाली है, अनेक प्रजाओं को जन्म दे रही है। अब, इसे देखकर कोई कह सकता है कि 'देखिए! प्रकृति तो खुद ही सृजन कर रही है, अर्थात् वह स्वतंत्र कारण है!' परन्तु शास्त्र यही बताता है कि प्रकृति कारण तो है, पर वैसी ही जैसे यज्ञ में चमस (चमचा) होता है यज्ञ और चमस की उपमा यज्ञ का मुख्य कर्ता होता है यजमान, जो हवन करता है। लेकिन हवन सामग्री डालने के लिए वह चमस (चमचा) का सहारा लेता है। अब चमस भी यज्ञ में एक कारण है — क्योंकि वह हवन में सहायक है लेकिन वह स्वतंत्र नहीं है, केवल साधन या माध्यम है। उसी तरह प्रकृति भी जगत की रचना में एक माध्यम या साधन है परन्तु मुख्य कर्ता तो परमात्मा है। प्रकृति स्वतंत्र नहीं, परमात्मा के अधीन है। बृहदारण्यक उपनिषद् में एक जगह 'सिर' को भी चमस (चमचा) कहा गया है — "अर्वाग्बिलश्चमस ऊर्ध्वबुध्नः" (नीचे की ओर मुँह वाला और ऊपर मूल वाला चमस = सिर) यह उपमा दी गई है केवल सामान्य गुणों (जैसे आकार या स्थिति) के कारण, ना कि सिर को वाकई चमस कहने के लिए। इसी तरह, शुक्ल, लोहित, कृष्ण — ये केवल सत्त्व, रज, तम गुणों का संकेत करते हैं, इनसे यह सिद्ध नहीं होता कि प्रकृति स्वतंत्र सर्जनकर्ता है। कुछ शास्त्र वाक्य जैसे — 'अजा एकां लोहित-शुक्ल-कृष्णाम्...' में प्रकृति को तीन रंगों वाली बताया गया है। लाल = रजोगुण सफेद = सत्त्वगुण काला = तमोगुण अब, कोई पूछ सकता है क्या प्रकृति सचमुच रंगों वाली है? तो शास्त्र उत्तर देता है — 'जहाँ, यह केवल कल्पना है।' यह उपमा (रूपक) के तौर पर कहा गया है।

जैसे कुछ अन्य उदाहरण:

'असौ वा आदित्यः देवानां मधु' (छांदोग्य उपनिषद्)

— यहाँ सूर्य को श्देवताओं का मधु (शहद) कहा गया है।

क्या सूर्य सचमुच शहद है? नहीं।

यह बस एक कल्पना या उपमा है — जैसे शहद सबमें रस देता है, वैसे सूर्य भी ऊर्जा देता है।

‘वाचं धेनुमुपासीत’ (बृहदारण्यक उपनिषद्)

— वाणी (बोलने की शक्ति) को श्वायश कहा गया है।

क्या वाणी सचमुच गाय है? नहीं।

यह भी कल्पना है, क्योंकि गाय दूध देती है और वाणी ज्ञान देती है।

उसी तरह, प्रकृति को ‘तीन रंगों वाली’ कहना भी सिर्फ गुणों की कल्पना है, और यह कहना किसी शास्त्रीय सिद्धांत के विरोध में नहीं है।

### “पञ्च पञ्चजनाः” का तात्त्विक अर्थ: संख्या नहीं, आत्मा का श्रेष्ठत्व

किसी उपनिषद् वचन में यह कहा गया: ‘पञ्च पञ्चजनाः आकाशश्च प्रतिष्ठितः’ कुछ लोग इसे देखकर कहते हैं कि यह 25 तत्त्वों की बात है — (5 ज्ञानेन्द्रियाँ + 5 कर्मेन्द्रियाँ + 5 प्राण + 5 तन्मात्राएँ + मन = 25)। परन्तु शास्त्र कहता है कि यह सही नहीं है, क्योंकि ‘पञ्च’ पहला शब्द संख्या वाचक (दनउडमत) है। लेकिन ‘पञ्चजन’ दूसरा शब्द है जो एक समास है ख़ यह एक विशेष नाम या संज्ञा है, कोई नई संख्या नहीं। इसलिए दोनों ‘पञ्च’ शब्द मिलाकर पञ्चीस (25) की कल्पना करना त्रुटिपूर्ण है। इन दोनों का अर्थ अलग-अलग है, दोहराव नहीं है। उसी उपनिषद् में आगे कहा है ‘प्राणस्य प्राणम्, चक्षुषश्चक्षुः, श्रोत्रस्य श्रोत्रम्...’ वह आत्मा प्राण का भी प्राण है, आंख का भी देखना वही कराता है, कान का भी सुनना वही है...

इससे ज्ञात होता है कि जो ‘पञ्चजन’ कहे गए थे, वह वास्तव में प्राण, चक्षु, श्रोत्र आदि ही हैं ख़ ना कि कोई पृथक् 25 तत्त्व या प्रकृति के अंग। इसलिए, यह स्पष्ट है कि उपनिषद् यहाँ प्रकृति के तत्त्वों की संख्या नहीं गिन रहा, अपितु आत्मा के श्रेष्ठत्व को बता रहा है ख़कि आत्मा ही सबके पीछे की शक्ति है। उपनिषद् में कहा गया है: ‘पञ्च पञ्चजनाः’ — जो पाँच-पाँच प्रकार के जन (तत्त्व) बताए गए हैं। यदि “अन्न” नहीं लिखा है, तो काण्व शाखि लोग इसका अभाव पूरा करने के लिए “ज्योति” शब्द को लेकर कहते हैं कि यह ज्योति (प्रकाश) पहले वाक्य से जुड़ा हुआ है: ‘तद् देवा ज्योतिषां ज्योतिरायुर्हं उपासत’ अर्थात् देवता ज्योति की ही ज्योति को आयु मानकर पूजा करते हैं। इसलिए, उस “ज्योति” शब्द से “पञ्च पञ्चजन” की पाँचों संख्या पूरी हो जाती है।

### ‘उपनिषदों में ‘आत्मा’ का तात्पर्य जीव नहीं,

### परमात्मा ही उपास्य है’

उपनिषद् में कहा गया है ‘तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः’ (तै० उ० २।१) ‘तत्तेजोऽसृजत्’ (छान्दा० ६।२। ३) “स प्राणमसृजत्” (प्रश्नो० ६।४) ‘स इमाल्लोकानसृजत् ।

अम्भोमरीची:.....’ (ऐ० उ० १।२) ‘असद्वा इदमग्र आसीत् ततो वै सदजायत’ (तै० उ० २।७) ‘असदेवेदमग्र आसीत्’ (छान्दो० ३। १९।१) “सदेव सोम्येदमग्र आसीत्’ इन सब शास्त्रीय वचनों से यह सिद्ध होता है कि यह सारी सृष्टि ब्रह्म से ही उत्पन्न हुई है, और ब्रह्म ही इसका कारण है। कैसे वहाँ सृष्टिप्रकरण में कहे हुए आकाश आदियों में निमित्त कारण ब्रह्म जानना चाहिये । समाकर्षात् सूत्र में जैसे ‘ब्रह्मविदानोति परम्’ (ब्रह्म को जानने वाला परम को प्राप्त करता है) से प्रकरण शुरू होता है, फिर आता है ‘आकाश आत्मा से उत्पन्न हुआ, तो यहाँ श्वात्माश शब्द ब्रह्म को ही इंगित करता है। इससे ज्ञात होता है कि सभी सृष्टि-वाक्यों में ‘ब्रह्म’ ही मूल कारण है — यह पूरे प्रकरण का भाव है। कहीं पर जगत् के रचनाप्रकरण में, जगत् शब्द का प्रयोग नहीं है। जैसे ‘यो वै बालाक एतेषां पुरुषाणां कर्ता यस्य वैतत्कर्म स वेदितव्यः’ (कौ० ४।१९) जो इन सब पुरुषों का कर्ता है, वही जानने योग्य है। कर्ता को जानने योग्य बताया गया है जब कर्ता है तु कर्म होना निश्चित है । वह कर्म जगत् है। कुछ उपनिषदों में ऐसा कहा गया है कि जीवात्मा भोग करता है या नींद की अवस्था में सभी इन्द्रियाँ मुख्य प्राण में लीन हो जाती हैं, इससे किसी को भ्रम हो सकता है कि उपनिषद् जीव या प्राण की उपासना का आदेश दे रहे हैं। परन्तु यह पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है कि उपासना का विषय केवल ब्रह्म है। उपनिषदों में जिन संदर्भों में जीव या प्राण का उल्लेख है, वे केवल उदाहरण के रूप में हैं — उपास्य (पूज्य/ध्यान करने योग्य) वे नहीं हैं। जैसे कौषीतकि उपनिषद् में पूछा गया यह जीव सोते समय कहाँ जाता है? उत्तर में बताया गया है सोते समय सब इन्द्रियाँ प्राण में मिल जाती हैं, और जागने पर फिर सक्रिय होती हैं। यह चर्चा केवल नींद-जागरण की प्रक्रिया को समझाने के लिए है। इसके अतिरिक्त, कुछ अन्य वेद शाखाओं (एके) का भी यही मत है कि नींद के समय जीव परमात्मा में ही स्थित हो जाता है — जिससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा ही परम आधार है। बृहदारण्यक उपनिषद् में याज्ञवल्क्य मैत्रेयी से कहते हैं स होवाच, न वा अरे पत्युः कामाय पतिः प्रियो भवति, आत्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति। न वा अरे जाययै कामाय जाय प्रिया भवति, आत्मनस्तु कामाय जाय प्रिया भवति। न वा अरे पुत्राणां कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति, आत्मनस्तु कामाय पुत्राः प्रिया भवन्ति’ पति, पुत्र, धन आदि किसी के लिए प्रिय नहीं होते, वे केवल आत्मा (स्वयं) की कामना के कारण प्रिय लगते हैं।

इसके बाद कहा गया आत्मा वा अरे दृष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेयि; आत्मनित्व खरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम् 'आत्मा को देखना, सुनना, विचारना और ध्यान करना चाहिए।' यहाँ आत्मा का अर्थ केवल जीव नहीं है, क्योंकि जीव को तो हर कोई 'मैं हूँ' के रूप में जानता ही है। फिर उसे देखने-सुनने का उपदेश क्यों दिया जाएगा? इसलिए यहाँ आत्मा का अर्थ है परमात्मा, जो कि सबका वास्तविक स्वभाव है, और मोक्ष के लिए जानना आवश्यक है। बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया 'आत्मा वा अरे दृष्टव्यः...' 'आत्मनि दृष्टे श्रुते मते विज्ञाते इदं सर्वं विदितं भवति।' यदि कोई आत्मा (परमात्मा) को सही रूप में देखता, सुनता, समझता और अनुभव करता है — तो सारा संसार अपनेआप जान लिया जाता है। यह वैसा ही है जैसे कोई कारीगर को जान ले, तो उसके बनाए हुए सारे कामों को भी जान सकता है। इसलिए यहाँ 'आत्मा' शब्द का अर्थ परमात्मा ही है। 'एष सम्प्रसादः...' जैसे वचनों में बताया गया है कि जब यह आत्मा (जीव) शरीर से निकलता है, तब वह परमज्योति (परमात्मा) में लीन होकर अपने वास्तविक रूप में स्थापित होता है। इसलिए यहाँ आत्मा अर्थात् परमात्मा, जो मोक्ष की स्थिति में प्राप्त होता है। कुछ लोगों को भ्रम हो सकता है कि यह जीव के बारे में कहा गया है। लेकिन काशकृत्स्न का मत है कि यह परमात्मा के बारे में है, क्योंकि वह सब प्राणियों और सभी तत्वों (जैसे पृथ्वी, जल, अग्नि आदि) के भीतर स्थित है, सबका अन्तर्यामी है। इसलिए उसे ही 'आत्मा' कहा गया है।

## ‘उपनिषदों में सृष्टि का द्वैत-कारण सिद्धान्त

### परमात्मा निमित्त और प्रकृति उपादान’

‘य एष सुप्तेषु जागर्ति कामं कामं पुरुषो निर्ममाणः तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म...' कठोपनिषद् (2.2.8) इसका अर्थ है जब सब जीव नींद में (अव्यक्त स्थिति में) होते हैं, तब एक परमपुरुष (ब्रह्म) जागता है और संकल्पपूर्वक सृष्टि करता है। यहाँ पर 'सोते हुए' जीवों और प्रकृति का भी उल्लेख है — अर्थात् सृष्टि से पहले सिर्फ ब्रह्म ही नहीं था, अपितु उसके अलावा प्रकृति भी अव्यक्त रूप में उपस्थित थी। इसलिए, प्रकृति ब्रह्म द्वारा संचालित एक उपादान कारण (उजमतपसं बनेम) है। 'अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव...' कठोपनिषद् (2.2.9) अर्थ जैसे अग्नि एक होकर भी विभिन्न वस्तुओं में प्रवेश करके उनके रूपों के अनुसार दिखाई देती है, वैसे ही ब्रह्म भी सभी प्राणियों के भीतर और बाहर विद्यमान है। इस उदाहरण से यह दिखता है कि ब्रह्म सबमें है, लेकिन उन सब वस्तुओं का कुछ अन्य मूल (जैसे प्रकृति) भी है — क्योंकि वे सब विकृत रूप हैं। सः अकामयत — बहुस्यां, प्रजायेया।' छान्दोग्य उपनिषद् (6.2.3) अर्थात् — 'उसने (परमात्मा ने) इच्छा की मैं अनेक हो जाऊँ, मैं सृष्टि करूँ। इस 'कामाना' या 'इच्छा' को ही 'अभिध्या' कहा गया है — अर्थात् ध्यानपूर्वक सृजन की भावना। कामना तब होती है जब कोई किसी दूसरी वस्तु को लक्ष्य बनाता है। जैसे कोई पुरुष अपनी पत्नी को देखकर संतान की कामना करता है। इसी प्रकार, परमात्मा ने प्रकृति को लक्ष्य करके सृष्टि की भावना की। यदि सृष्टि की यह भावना केवल ब्रह्म में ही हो और कोई दूसरी वस्तु (प्रकृति) न हो, तो यह भावना अर्थहीन हो जाएगी। इसलिए, यह मानना पड़ता है कि प्रकृति (मूल कारण) भी कोई वस्तु है जो परमात्मा के अधीन है और जिससे यह जगत बना है। क्योंकि ब्रह्म निर्दोष, नित्य और अखंड है — उसमें कोई परिवर्तन नहीं हो सकता। यदि वह स्वयं को तोड़कर (विकृत होकर) जगत बन जाए, तो उसकी पूर्णता और अखंडता नष्ट हो जाएगी जो उसकी प्रकृति के विपरीत है। उपनिषदों में प्रत्यक्ष रूप से (साक्षात् रूप से) दोनों — परमात्मा और प्रकृति — को सृष्टि के कारण के रूप में बताया गया है, दोनों कारण कौन-कौन? परमात्मा (ब्रह्म) — जो निमित्त कारण है (अर्थात् जो सृष्टि की योजना करता है, कर्ता है)। प्रकृति — जो उपादान कारण है (अर्थात् जिससे सृष्टि बनी है, जैसे मिट्टी से घड़ा बनता है)।

यह बात उपनिषदों में कैसे आती है? 1. 'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः...' तैत्तिरीय उपनिषद् (2.1) अर्थात् ख "उस आत्मा (परमात्मा) से आकाश उत्पन्न हुआ।" यहाँ एतस्मात् आत्मनः (परमात्मा) निमित्त कारण, तस्मात् (उससे) अव्यक्त प्रकृति उपादान कारण, यह दर्शाता है कि दोनों मिलकर सृष्टि के कारण हैं। 2. यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं... ब्रह्मयोनिम्' मुण्डकोपनिषद् (3.1.3) ब्रह्म को 'कर्ता' (सृष्टिकर्ता) कहा गया है। यह परमात्मा के निमित्त कारण होने का प्रमाण है। जैसे एक कुम्हार (कर्ता) मिट्टी (सामग्री) से घड़ा बनाता है ख उसी तरह परमात्मा ने प्रकृति में परिवर्तन करके यह सृष्टि रची। परमात्मा को वेदों में कर्तारमीशं पुरुषं ब्रह्मयोनिम्, 'एष ह योनिः सर्वस्य' 'योनि', अर्थात् सबका आधार कहा गया है। इन सभी वचनों से पता चलता है कि परमात्मा सबसे बड़ा है, और उत्पत्ति व लय दोनों का कारण है। अतः परमात्मा जगत को उत्पन्न करने वाला कारण (निमित्त कारण) है, लेकिन वह विकृति या परिवर्तन को नहीं प्राप्त होता, इसलिए वह उपादान कारण नहीं है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- परमात्मा जगत का निमित्त कारण है।
- प्रकृति उपादान कारण मानी गई है।
- प्रकृति सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त है।
- जगत की रचना चेतन सत्ता के अधीन है।
- परमात्मा सर्वनियन्ता है।

### शब्दावली-

- निमित्त कारण
- उपादान कारण
- प्रकृति
- त्रिगुण
- सत्त्व
- रजस्
- तमस्

### 5 अंकों के प्रश्न-

1. निमित्त कारण क्या है?
2. उपादान कारण का अर्थ लिखिए।
3. त्रिगुण कौन-कौन से हैं?
4. प्रकृति किसे कहते हैं?
5. परमात्मा का जगत से सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंकों के प्रश्न-

1. जगत उत्पत्ति में परमात्मा की भूमिका का विवेचन कीजिए।
2. त्रिगुणात्मक प्रकृति का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।
3. निमित्त एवं उपादान कारण का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. जगत का निमित्त कारण कौन है?

(क) जीव

(ख) परमात्मा

(ग) मन

(घ) शरीर

2. प्रकृति कैसी है?

(क) निर्गुण

(ख) त्रिगुणात्मक

(ग) नश्वर

(घ) शून्य

3. त्रिगुणों में कौन सम्मिलित नहीं है?

(क) सत्त्व

(ख) रजस्

(ग) तमस्

(घ) मोक्ष

4. उपादान कारण क्या है?

(क) निर्माण सामग्री

(ख) कर्ता

(ग) ज्ञाता

(घ) भोक्ता

5. परमात्मा कैसा है?

(क) जड़

**(ख) चेतन**

(ग) नश्वर

(घ) दुःखी



## खण्ड-३ धर्मादि निरूपणम्

### इकाई-३.१ धर्मजिज्ञासा

[ धर्मजिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥ ]

अथातो धर्मजिज्ञासा ॥१॥

1. धर्मजिज्ञासा की आवश्यकता को समझना।
2. मीमांसा दर्शन में धर्म की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. वेदाधारित धर्म सिद्धान्त को जानना।

**सूत्रार्थः** [वेदाध्ययन के (अथ) अनन्तर [क्योंकि वेदाध्ययन कर लिया है। (अतः) इसलिये (धर्मजिज्ञासा) धर्म की जिज्ञासा-जानने की इच्छा करनी चाहिये।

लोके येष्वर्थेषु प्रसिद्धानि पदानि तानि सति संभवे तदर्थान्येव सूत्रेष्वित्यवगन्तव्यम्; नाध्याहारादिभिरेषां परिकल्पनीयोऽर्थः परिभाषितव्यो वा। एवं वेद-वाक्यान्वेवेभिर्व्याख्यायन्ते, इतरथा वेदवाक्यानि व्याख्येयानि स्वपदार्थाश्च व्याख्येया इति प्रयत्नगौरवं प्रसज्येत ।

**व्याख्या**-लोक में [जो] पद जिन अर्थों में प्रसिद्ध हैं, उनको सम्भव (लौकिकार्थ उपपन्न) होने पर सूत्रों में उन्हीं अर्थोंवाला जानना चाहिये; अध्याहार के द्वारा इनका अर्थ कल्पित नहीं करना चाहिये, और नहीं पारिभाषिक (शास्त्रविशेष में स्वीकृत विशेष) अर्थ का कथन करना चाहिये। इसी प्रकार (लौकिकार्थ में प्रयोग मानकर) इन [सूत्रपदों] के द्वारा वैदिक वाक्यों का व्याख्यान किया जा सकता है, अन्यथा वेद के वाक्य भी व्याख्येय होंगे, और स्व (सूत्रस्थ) पदों के अर्थ भी व्याख्येय होंगे। इस प्रकार प्रयत्न में गौरव होगा [अर्थात् वेद-वाक्यों की व्याख्या और सूत्रपदों की व्याख्यारूप दो प्रयत्न करने होंगे]।

तत्र लोकेऽयं 'अथ' शब्दो वृत्तादनन्तरस्य प्रक्रियार्थो दृष्टः। न चेह किंचिद् वृत्तमुपलभ्यते; भवितव्यं तु तेन, यस्मिन् सत्यनन्तरं धर्मजिज्ञासाऽवकल्पते। तथाहि प्रसिद्धपदार्थकः स कल्पितो भवति। तत्तु वेदाध्ययनम्। तस्मिन् हि सति साऽकल्पते।

**विवरण-** भाष्यकार शबरस्वामी ने 'लोके येषु....परिभाषितव्यो वा' वाक्यसमूह में प्राचीन वृत्तिकारों के प्रति उपालम्भ दिया है, ऐसा भट्ट कुमारिल का मत है। इसकी व्याख्या में सुचरित मिश्र ने लिखा है- 'यह उपालम्भ भवदास के प्रति है। उसने अथातः इन दो पदों का आनन्तर्यमात्र अर्थ किया है।' ऐसा ही पार्थसारथि मिश्र ने भी लिखा है। भवदास की वृत्ति सम्प्रति उपलब्ध नहीं होती है। सुचरित मिश्र ने उसका पाठ इस प्रकार उद्धृत किया है-'अथात इत्ययं शब्द आनन्तर्ये प्रयुज्यते।' इस पर भवदास का खण्डन करते हुए सुचरित मिश्र ने लिखा है- अथातः शेषलक्षणम् (मी० ३।१।१) तथा अथातोऽग्निमग्निष्टोमेनानुयजति वाक्यों में यद्यपि दोनों पदों का संसर्ग देखा जाता है, फिर भी यहां आनन्तर्य अर्थ केवल अतः शब्द का है।' सुचरित मिश्र ने उक्त उद्धरणों में अतः का ही केवल आनन्तर्य अर्थ माना है, तो क्या उसके मत में अथ पद व्यर्थ है? हमारा विचार है कि सूत्र में अथ शब्द अधिकारार्थ है, और अतः पद आनन्तर्यार्थक है। भवदास ने अथ पद को प्रसिद्धार्थक मानकर उसका अर्थ नहीं किया, केवल अतः का आनन्तर्य अर्थ लिखा है। सूत्र का अर्थ होना चाहिये- 'यहां से धर्मजिज्ञासा नामक शास्त्र अधिकृत होता है, ऐसा जानना चाहिये।' तुलना करें- अथ शब्दानुशासनम् (पाणिनीय सूत्र)। अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं नाम शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम् (महाभाष्य १।१। आ० १)।

वेदवाक्यानि-मीमांसा-शास्त्र में प्रायः कर्मकाण्डपरक ब्राह्मण वचनों का व्याख्यान किया गया है। जैमिनि आचार्य मन्त्र-ब्राह्मण-समुदाय के लिये आम्याय संज्ञा का प्रयोग करते हैं-आम्यायस्य क्रियार्थत्वात् (१।२।१)। वेद शब्द का प्रयोग मीमांसा-सूत्रों में प्रायः मन्त्र-संहिता के लिये ही प्रयुक्त होता है। भाष्यकार शबरस्वामी ने यहां कृष्णयजुर्वेदीय श्रौतसूत्रों के परिभाषा-प्रकरण में पठित मन्त्र-ब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम् परिभाषा के अनुसार ब्राह्मण के लिये भी वेद शब्द का प्रयोग किया है।

**व्याख्या**-लोक में यह 'अथ' शब्द वृत्त (समाप्त हुये) के अनन्तर के प्रक्रिय (आरम्भ करने योग्य) अर्थवाला देखा जाता है। यहां [इस सूत्र से पूर्व] कुछ भी समाप्त हुआ उपलब्ध नहीं होता; परन्तु [अथ शब्द के प्रयोग से कोई ऐसा वृत्त (पूर्व समाप्त कार्य) होना तो चाहिये, जिसके अनन्तर धर्म की जिज्ञासा सम्भव हो। ऐसा मानने पर ही वह 'अथ' शब्द प्रसिद्ध अर्थवाला प्रयोग हो सकता है। वह [वृत्त अर्थ यहां] वेदाध्ययन [अभिप्रेत] है। उसके निष्पन्न होने पर ही वह [शास्त्र में अधिकृत धर्मजिज्ञासा] उपपन्न हो सकती है।

नैतदेवम्, अन्यस्यापि कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा युक्ता, प्रागपि च वेदाध्ययनात्। उच्यते- तादृशीं तु



धर्मजिज्ञासामधिकृत्याशब्दं प्रयुक्तवानाचार्यः, या वेदाध्ययनमन्तरेण न संभवति। कथम्?

वेदवाक्यानामनेकविधो विचार इह वर्तिष्यते।

अपि च, नैव वयमिह वेदाध्ययनात् पूर्वं धर्मजिज्ञासायाः प्रतिषेधं शिष्यः, परस्ताच्चाऽऽनन्तर्यम्। नह्येतद. 'कं वाक्यं पुरस्ताच्च वेदाध्ययनात् धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधिष्यति, परस्ताच्चाऽऽनन्तर्यं प्रकरिष्यति। भिद्येत हि तथा वाक्यम्। अन्या हि वचनव्यक्तिरस्य पुरस्ताद् वेदाध्ययनाद्धर्मजिज्ञासां प्रतिषेधति, अन्या च परस्तादानन्तर्यमुपदिशति। 'वेदानधीत्य' इत्येकस्यां विधीयतेऽनूद्याऽऽनन्तर्यं, विपरीतमन्यस्याम्, अर्थैकत्वाच्चैकवाक्यतो वक्ष्यति। किं त्वधीते वेदे द्वयमापतति। गुरुकुलाच्च समावर्तितव्यं, वेदवाक्यानि च विचारयितव्यानि। तत्र 'गुरुकुलान्मा समातिष्ठ' कथं नु वेदवाक्यानि विचारयेदित्येवमर्थोऽयमुपदेशः।

(आक्षेप) ऐसा नहीं है, [वेदाध्ययन के अतिरिक्त] अन्य कर्म के अनन्तर भी धर्म की जिज्ञासा युक्त है, और वेदाध्ययन के पूर्व भी। (समाधान) आचार्य [जैमिनि] ने उस प्रकार की धर्मजिज्ञासा का अधिकार करके 'अथ' शब्द का प्रयोग किया है, जो वेदाध्ययन के बिना सम्भव नहीं है। किस प्रकार? यहां [शास्त्र में] वेदवाक्यों का अनेकविध विचार किया जायेगा। [वह विचार उस समय तक सम्भव नहीं, जब तक उन वाक्यों के पूर्वापर का ज्ञान और तद्बोधित सामान्य अर्थ वा प्रक्रिया का परिज्ञान न हो। इस कारण धर्मजिज्ञासा से पूर्व वेद का अध्ययन आवश्यक है।]

और भी, हम यहां [इस वाक्य द्वारा] वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध नहीं करते, और न ही वेदाध्ययन से पश्चात् आनन्तर्य का विधान करते हैं। यह [सूत्ररूप] एक वाक्य न वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध करेगा, और न ही उसके पश्चात् आनन्तर्य का विधान करेगा। [इस प्रकार दो कार्यों का विधान करने पर] वाक्य का भेद होगा। एक वाक्य वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का प्रतिषेध करता है, और दूसरा वेदाध्ययन के पश्चात् आनन्तर्य का विधान करता है। एक वाक्य में वेदानधीत्य का अनुवाद करके आनन्तर्य का विधान होगा, और दूसरे वाक्य में उसके विपरीत (वेदाध्ययन से पूर्व धर्मजिज्ञासा का) प्रतिषेध होगा। सूत्रकार अर्थैकत्व के हेतु से एकवाक्यता का विधान करेंगे (द्र० मी० २।१।४६)। और भी वेद के अध्ययन करने के पश्चात् दो कार्य उपस्थित होते हैं- (१) गुरुकुल से समावृत्त होना (घर लौटना) चाहिये, और (२) वेदवाक्यों का विचार करना चाहिये। उस अवस्था में 'गुरुकुल से समावृत्त न होवे'। [गुरुकुल छोड़कर घर चले जाने पर] वेदवाक्यों का कैसे विचार करेगा, इसके लिये यह उपदेश है।

यद्येवम्, न तर्हि वेदाध्ययनं पूर्वं गम्यते। एवं हि समामनन्ति 'वेदमधीत्य स्नायात्' इति। इह च वेदमधीत्य स्नास्यन् धर्मजिज्ञासमान इमाम्नायमतिक्रामेत्। न चाऽऽम्नायो नामातिक्रामितव्यः। तदुच्यते- अतिक्रमिष्याम इमाम्नायम्, अनतिक्रामन्तो वेदमर्थवन्तं सन्तमनर्थकमवकल्पयेम। दृष्टो हि तस्यार्थः कर्मावबोधनं नाम। न च तस्याध्ययनमात्रात् तत्र भवन्तो याज्ञिकाः फलं समामनन्ति। यदपि च समामनन्तीव, तत्रापि 'द्रव्यसंस्कारकर्मसु परार्थत्वात् फलश्रुतिरर्थवादः स्यात् (जै० सू० ४।३।१) इत्यर्थवादतां वक्ष्यति।

न च 'अधीतवेदस्य स्नानानन्तर्यमेतद् विधीयते'। नह्यत्राऽऽनन्तर्यस्य वक्ता कश्चिच्छब्दोऽस्ति। पूर्वकालतायां क्त्वा स्मर्यते, नाऽऽनन्तर्ये। दृष्टार्थता चाऽध्ययन-

(आक्षेप) यदि ऐसा है (वेदाध्ययन के पश्चात् समावर्तन का निषेध करना सूत्रकार को इष्ट है) तो वेदाध्ययन की पूर्वता नहीं जानी जाती। इस प्रकार से सामान्य करते (पढ़ते) हैं-वेदमधीत्य स्नायात् वेद का अध्ययन करके स्नान करे (स्नातक बनकर घर लौटे)। और यहां (आपके द्वारा उपदिष्ट मत में) वेद का अध्ययन करके स्नान करनेवाला धर्म की जिज्ञासा करता हुआ [वेदमधीत्य स्नायात्] इस आम्नाय वचन (शास्त्रवचन) का अतिक्रमण करेगा, परन्तु आम्नाय का अतिक्रमण योग्य नहीं है। (समाधान) हम इस आम्नाय वचन का अतिक्रमण करेंगे, [उक्त वचन का अतिक्रमण न करते हुए हम अर्थवान् वेद को अनर्थक बना देंगे। वेद का अर्थ अथवा प्रयोजन [क्रियमाण कर्म का बोध कराना देखा जाता है, अर्थात् वेद कर्मों का बोध कराते हैं यह प्रत्यक्ष है। याज्ञिक लोग वेद के अध्ययनमात्र से फल का कथन नहीं करते। अर्थात् वेद के अध्ययन से स्वर्गादि की प्राप्ति होती है, ऐसा कहीं नहीं कहा गया। और जहां अध्ययनमात्र का फल कहा हुआ सा प्रतीत होता है; वहां भी आचार्य कहेंगे- 'द्रव्य और संस्कारकर्म-विषयक फलश्रुति द्रव्य और संस्कार-कर्म के परार्थ (प्रधान याग के लिये) होने से अर्थवाद होती है' [अर्थात् उसका स्वतन्त्र फल नहीं होता।

और भी- 'वेदमधीत्य स्नायात्' यह वचन 'अधीतवेद को अध्ययन-समाप्ति के उत्तर क्षण स्नान कर लेना चाहिये, ऐसा आनन्तर्य का विधान नहीं करता'। इस वाक्य में आनन्तर्य को कहनेवाला कोई शब्द नहीं है। पूर्वकालतामात्र में 'क्त्वा' का विधान किया जाता है, स्याऽऽनन्तर्ये व्याह्रयेत्। लक्षणया त्वेषोऽर्थः स्यात्। न च इदं स्नानमदृष्टार्थं विधीयते, किं तु लक्षणयाऽस्नानादिनियमस्य पर्यवसानं वेदाध्ययनसमकालमाहुः-वेदमधीत्य स्नायात्- 'गुरुकुलान्मा समावर्तिष्ठ' इत्यदृष्टार्थतापरिहारायैव। तस्माद् वेदाध्ययनमेव पूर्वमभिनिर्वर्त्यानन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यशब्दस्य सामर्थ्यम्। न च ब्रूमोऽन्यस्य कर्मणोऽनन्तरं धर्मजिज्ञासा न कर्तव्येति। किं

तु वेदमधीत्य त्वरितेन न स्नातव्यम्, अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इत्यथशब्दस्यार्थः॥

आनन्तर्य अर्थ में (क्त्वा) का विधान नहीं किया जाता है। आनन्तर्य अर्थ स्वीकार करने पर वेदाध्ययन की दृष्टार्थता नष्ट होती है। लक्षणा से (पूर्वकाल का) आनन्तर्य अर्थ होगा। और इस स्नान का विधान अदृष्ट के लिये भी नहीं है [जिससे अध्ययन-समाप्ति के उत्तर क्षण स्नान करने से कोई अदृष्ट होता हो] किन्तु 'स्नायात्' पद से लक्षणा द्वारा वेदाध्ययन की समाप्ति के समकाल में [वेदाध्ययनकाल में विहित] अस्नान आदि नियमों की समाप्ति का विधान आचार्य करते हैं- 'वेद का अध्ययन करके स्नान करें' का अर्थ है गुरुकुल से समावृत्त न होवे। यह अर्थ अदृष्टता के परिहार के लिये ही है। इसलिये 'वेद का अध्ययन पहले कर के अनन्तर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये', यह 'अथ' शब्द का सामर्थ्य है। हम यह भी नहीं कहते कि अन्य कर्म के पश्चात् धर्म की जिज्ञासा न करे, किन्तु वेद का अध्ययन करके त्वरा (शीघ्रता) युक्त होकर स्नान नहीं करना चाहिये, [वेदाध्ययन के पश्चात् धर्म की जिज्ञासा करनी युक्त है वह 'अथ' शब्द का प्रयोजन है]॥

**विवरण-** शबरस्वामीकृत वेदमधीत्य स्नायात् वाक्य की विशेष व्याख्या से प्रतीत होता है कि शबरस्वामी के काल में छात्र वेदाध्ययन (पाठमात्र) के पश्चात् विवाह कर लेते थे। इस प्रकार वे मीमांसा शास्त्र के अध्ययन से वञ्चित रहने के कारण वेदार्थज्ञान से भी वञ्चित रहते थे। इस परिपाटी के कारण मीमांसा शास्त्र का अध्ययन लुप्त हो रहा था। इस स्थिति से पार पाने के लिये ही शबरस्वामी ने वेदमधीत्य स्नायात् का विशेष व्याख्यान किया है। मीमांसा-शास्त्र के ज्ञान से रहित याज्ञिक वैदिक वचनों का सामान्य आपाततः प्रतीयमान अभिप्राय स्वीकार करके यज्ञ-यागादि करने लग गये थे। स्कन्द स्वामी ने निरुक्त (७।५) की टीका में इस

अतः शब्दो वृत्तस्यापदेशको हेत्वर्थः। यथा क्षेमसुभिक्षोऽयमतोऽहमस्मिन् देशे प्रतिवसामीति। एवमधीतो वेदो धर्मजिज्ञासायां हेतुर्ज्ञातः। अनन्तरं धर्मो जिज्ञासितव्य इति, 'अतः' शब्दस्य सामर्थ्यम्। धर्माय हि वेदवाक्यानि विचारयितुमनधीतवेदो न शक्नुयात्। अत एतस्मात् कारणादनन्तरं धर्म जिज्ञासितुमिच्छेदित्यतः शब्दस्यार्थः।

धर्माय जिज्ञासा धर्मजिज्ञासा। सा हि तस्य ज्ञातुमिच्छा। स कथं जिज्ञासितव्यः? को धर्मः, कथं लक्षणः, कान्यस्य साधनानि, कानि साधनाभासानि, किं परश्चेति? तत्र को धर्मः कथं लक्षण इत्येकेनैव सूत्रेण व्याख्यातम्- चोदनालक्षणोऽर्थो प्रकार के याज्ञिकों को शुद्ध याज्ञिक (मूर्ख याज्ञिक) नाम से स्मरण किया है। और मीमांसा-शास्त्र-सिद्ध वेदार्थ को स्वीकार करनेवाले याज्ञिकों का 'याज्ञिक' नाम से उल्लेख किया है॥

**व्याख्या-** अतः शब्द पूर्व कहे अर्थ को हेतुरूप से उपस्थित करनेवाला है। जैसे-'सुख और सुभिक्षावाला यह [देश] है, अतः मैं इस देश में निवास करता हूँ। इसी प्रकार अध्ययन किया गया वेद धर्म की जिज्ञासा में हेतु जाना गया है, तो [इस कारण वेद के अध्ययन के] अनन्तर धर्म की जिज्ञासा करनी चाहिये, यह 'अतः' शब्द का सामर्थ्य है। धर्म [के ज्ञान] के लिये वेद वाक्यों के विचार में अनधीतवेद (जिसने वेद नहीं पढ़ा, वह) समर्थ नहीं हो सकता। अतः इस कारण [वेदाध्ययन के] पश्चात् धर्म को जानने को इच्छा करे, यह 'अतः' शब्द का प्रयोजन है।

धर्म के लिये जिज्ञासा धर्म-जिज्ञासा [कहलाती है]। वह जिज्ञासा निश्चय से उसके जानने की इच्छा है। उस धर्म को जानने की इच्छा कैसे करे? धर्म क्या है? उसका लक्षण क्या है? उसके साधन क्या हैं? उसके साधनाभास (जो साधन न होते हुये भी साधन जैसे प्रतीत होते हैं) क्या हैं? और किं पर -कहां [पुरुष वा क्रतु में] कौन प्रधान है? इत्यादि [रूप से धर्म को जानने की इच्छा करनी चाहिये]। इनमें से 'धर्म क्या है, और उसका लक्षण क्या है?' [ये दोनों विषय] चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः (१।१।२) [क्रिया]

धर्मः (१।१।२) इति। कान्यस्य साधनानि कानि साधनाभासानि किंपरश्चेति शेष-लक्षणेन व्याख्यातम्। क्व पुरुषपरत्व क्व वा पुरुषो गुणभूत इत्येतासां प्रतिज्ञानां पिण्डस्यैतत्सूत्रम्- 'अथातो धर्मजिज्ञासा' इति।

धर्मः प्रसिद्धो वा स्यादप्रसिद्धो वा? स चेत् प्रसिद्धो, न जिज्ञासितव्यः। अथाप्रसिद्धो नतराम्। तदेतदनर्थकं धर्मजिज्ञासाप्रकरणम्। अथवाऽर्थवत्। धर्मं प्रति हि विप्रतिपन्ना बहुविदः, केचिदन्यं धर्ममाहुः, केचिदन्यम्। सोऽयमविचार्यप्रवर्तमानः कंचिदेवापाददानो विहन्येत, अनर्थं च ऋच्छेत्। तस्माद् धर्मो जिज्ञासितव्य इति ॥१॥

इति धर्मजिज्ञासाधिकरणम् ॥१॥

में प्रवर्तक वाक्य हो जिसका लक्षण है, और जो निःश्रेयस से युक्त करने वाला है, वह धर्म है] इस एक सूत्र से ही कह दिये गये हैं। इसके साधन क्या हैं और साधनाभास क्या है? कहां कौन प्रधान है, इसका शेष लक्षण (द्वादशाध्यायी ग्रन्थ) में व्याख्यान किया गया है। कहाँ पुरुष प्रधान है, और कहां पुरुष गौण है, अर्थात् पुरुष की अपेक्षा क्रतु प्रधान है, उन सब प्रतिज्ञाओं का पिण्डीभूत यह सूत्र है- 'अथातो धर्मजिज्ञासा'।

**विवरण-** भाष्य में 'धर्माय जिज्ञासा' निर्देश सूत्रगत धर्मजिज्ञासा का विग्रह नहीं है। क्योंकि वैयाकरणों के मतानुसार विकृतिः प्रकृत्येति वक्तव्यम् नियमानुसार विकृतिवाची चतुर्थ्यन्त पद प्रकृतिवाची सुबन्त के साथ समास को प्राप्त होता है। यथा- यूपाय दारु यूपदारु।

यहां 'यूप' दारु (लकड़ी) का विकार है, और दारु यूप की प्रकृति है। तद्वत् धर्माय जिज्ञासा में विकृति-प्रकृतिभाव नहीं है। अतः यहां षष्ठी समास जानना चाहिये। महाभाष्यकार पतंजलि ने भी वार्तिकस्थ **धर्मनियमः** और **वृत्तिसमवायार्थः** पदों के अर्थों का निर्देश इसी प्रकार किया है-

धर्माय नियमः धर्मनियमः, वृत्तये समवायः वृत्तिसमवायः (महाभाष्य १।१। आ० १)। महाभाष्य के व्याख्याकारों ने धर्माय नियमः, वृत्तये समवायः को अर्थप्रदर्शन माना है, और समास षष्ठीतत्पुरुष स्वीकार किया है। इसी शैली का अनुकरण शबरस्वामी ने भी किया है।

**व्याख्या-** (आक्षेप) धर्म प्रसिद्ध (ज्ञात) है, अथवा अप्रसिद्ध (अज्ञात)? यदि वह प्रसिद्ध (ज्ञात) है, तो जिज्ञासा के योग्य नहीं है [क्योंकि वह पहले ही ज्ञात है]। और यदि अप्रसिद्ध (अज्ञात) है, तो सर्वथा जानने योग्य नहीं है [क्योंकि अज्ञात पदार्थ के विषय में जिज्ञासा हो ही नहीं सकती। इसलिये यह धर्मजिज्ञासा-प्रकरण अनर्थक है। (समाधान) अथवा पद पूर्वपक्ष की निवृत्ति के लिये है, धर्मजिज्ञासा-प्रकरण अर्थवान् है क्योंकि धर्म के प्रति बहुविद् (विशिष्ट विद्वान्) भी विप्रतिपन्न (विरुद्ध मतिवाले) हैं। कोई किसी को धर्म कहते हैं, और कोई किसी को इस प्रकार कथ्यमान बहुविध धर्म के विषय में बिना विचारे प्रवृत्त हुआ पुरुष किसी को ही [धर्मरूप से] ग्रहण करता हुआ नष्ट (निःश्रेयस से रहित) हो जायेगा, और अनर्थ को प्राप्त होगा। इसलिये धर्म [के स्वरूप] के जानने की इच्छा करनी चाहिये॥१॥

### स्मरणीय बिन्दु-

- अथातो धर्मजिज्ञासा मीमांसा का प्रारम्भिक सूत्र है।
- धर्म वेदविहित कर्तव्य है।
- धर्म अदृष्ट फल प्रदान करता है।
- धर्म का ज्ञान वेद से प्राप्त होता है।
- मीमांसा दर्शन कर्मप्रधान दर्शन है।

### शब्दावली-

- धर्म
- जिज्ञासा
- वेदविहित
- अदृष्ट
- कर्तव्य
- मीमांसा

### 5 अंक के प्रश्न-

1. धर्मजिज्ञासा का अर्थ लिखिए।
2. मीमांसा दर्शन क्या है?
3. धर्म को वेदविहित क्यों कहा गया है?
4. अदृष्ट का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
5. धर्मज्ञान का स्रोत क्या है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. धर्मजिज्ञासा का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. मीमांसा दर्शन में धर्म की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. धर्म एवं वेद के सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. अथातो धर्मजिज्ञासाह किस दर्शन का सूत्र है?

(क) न्याय

(ख) मीमांसा

(ग) योग

(घ) सांख्य

2. धर्म का ज्ञान किससे होता है?
- (क) प्रत्यक्ष  
**(ख) वेद**  
(ग) अनुमान  
(घ) तर्क
3. मीमांसा दर्शन किस पर बल देता है?
- (क) ज्ञान  
**(ख) कर्म**  
(ग) भक्ति  
(घ) ध्यान
4. धर्म क्या प्रदान करता है?
- (क) अदृष्ट फल**  
(ख) दुःख  
(ग) अज्ञान  
(घ) मोह
5. जिज्ञासा का अर्थ है
- (क) त्याग  
**(ख) जानने की इच्छा**  
(ग) ध्यान  
(घ) उपासना

उद्देश्य-

1. धर्म के लक्षण को समझना।
2. विधिवाक्यों के महत्व का अध्ययन करना।
3. कर्तव्य एवं निषेध की अवधारणा जानना।

धर्मलक्षणाधिकरणम् ॥२॥

स हि निःश्रेयसेन पुरुषं संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे। तदभिधीयते-

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

चोदना इति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः। आचार्यचोदितः करोमि इति हि दृश्यते। लक्ष्यते येन तल्लक्षणम् 'धूमो लक्षणमग्नेः' इति हि वदन्ति। तथा यो लक्ष्यते, सोऽर्थः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्तीति प्रतिजानीमहे। चोदना हि भूतं भवन्तं भविष्यन्तं सूक्ष्मं व्यवहितं विप्रकृष्टमित्येवञ्जातीयकमर्थं शक्नोत्यवगमयितुम्, नान्यत् किञ्चनेन्द्रियम्।

**विवरण-** श्लोकवार्तिक के टीकाकार सुचरितमिश्र एवं शास्त्रदीपिकाकार पार्थसारथि मिश्र आदि का मत है कि अथातो धर्म जिज्ञासा सूत्र में धर्म शब्द को अधर्म का भी उपलक्षण मानना चाहिये अथवा सूत्र में अकार का प्रश्लेष मानना चाहिये- अथातोऽधर्मजिज्ञासा। क्योंकि अनिष्ट फल से बचने के लिये अधर्म के स्वरूप को भी जानना आवश्यक है। वस्तुतः अकार प्रश्लेष मानने की अपेक्षा धर्म पद को अधर्म का भी उपलक्षण मानना युक्त है। इसी प्रकार उत्तर सूत्र के भाष्य में 'चोदनेति क्रियायाः प्रवर्तकं वचनमाहुः' में भी प्रवर्तक शब्द को निवर्तक का भी उपलक्षण मानना चाहिये ॥१॥

**व्याख्या-** वह [धर्म] ही पुरुष को निःश्रेयस से अच्छे प्रकार युक्त करता है, यह प्रतिज्ञा करते हैं। [वह धर्म क्या है? तो कहते हैं-

चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ॥२॥

**सूत्रार्थ-** (चोदनालक्षणः) चोदना क्रिया में प्रेरक वचन से लक्षित होनेवाला (अर्थः) निःश्रेयस-प्रापक अर्थ (धर्मः) धर्म कहलाता है।

**व्याख्या-** 'चोदना' क्रिया के प्रवर्तक वचन को कहते हैं। 'आचार्य से चोदित (प्रवर्तित प्रेरित) हुआ करता हूँ' ऐसा लोक में व्यवहार देखा जाता है। जिससे [कोई अर्थ] लक्षित होता है, उसे लक्षण कहते हैं। 'धूम अग्नि का लक्षण (बोध करानेवाला) है' ऐसा [लोक में] कहते हैं। उस चोदना से जो अर्थ लक्षित होता है, वह पुरुष को निःश्रेयस से संयुक्त करता है, यह प्रतिज्ञा करते हैं। चोदना निश्चय से भूत, वर्तमान, भविष्यत्, सूक्ष्म, व्यवहित और दूर आदि सभी प्रकार के अर्थ को बोधित कराने में समर्थ है, अन्य कोई इन्द्रिय [उक्त प्रकार के अर्थ को जताने में समर्थ नहीं है।

नन्वतथाभूतमप्यर्थं ब्रूयाच्चोदना। यथा यत्किञ्चन लौकिकं वचनम्- 'नद्यास्तीरे फलानि सन्ति' इति। तत् तथ्यमपि भवति, वितथमपि भवतीति। उच्यते-विप्रतिषिद्धमिदमुच्यते- ब्रवीति वितथञ्चेति। ब्रवीति इति उच्यतेऽवबोधयति, बुध्यमानस्य निमित्तं भवतीति। यस्मिंश्च निमित्तभूते सत्यवबुध्यते, सोऽवबोधयति। यदि च चोदनायां सत्यामग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति गम्यते', कथमुच्यते न तथा भवतीति? अथ न तथा भवतीति कथमवबुध्यते? असन्तमर्थमवबुध्यत इति विप्रतिषिद्धम्।

**विवरण-** भाष्यकार के क्रियायाः प्रवर्तक वचनम् में प्रवर्तक पद को निवर्तक का भी उपलक्षण जानना चाहिये। यथा- नानृतं वदेत्, न मांसमश्नीयात् (तै०सं०२१५१५।६); नास्या (मलबद्धाससः) अन्नमद्यात् [ते० सं० २।५।१।६]। यहां झूठ न बोलने, मांस न खाने और रजस्वला से सम्भोग न करने की चोदना प्रेरणा है। नास्या अन्नमद्यात् वचन में अन्न शब्द उपगमन [सम्भोग] का वाचक है। यह अभिप्राय मीमांसा अ० ३, पाद ४, सूत्र १६ के भाष्य में निर्णीत किया है।

कुतूहलवृत्तिकार ने लिखा है- वह प्रेरणारूप व्यापार लोक में विनियोज्यता (प्रेरक) पुरुषनिष्ठ होता है। वेद में अनीश्वरवाद में 'लिङ्' आदि प्रत्ययनिष्ठ धर्मविशेष कल्पनीय है। सेश्वरवाद में ईश्वर की इच्छा ही प्रवर्तना है।

**व्याख्या-** (आक्षेप) चोदना अतथाभूत (जो उस प्रकार का नहीं है, जिस प्रकार का चोदना वाक्य से जाना जाता है, उस) अर्थ को भी कह सकती है। जैसे कोई लौकिक वचन [कहता है]- 'नदी के किनारे फल हैं'। वह लौकिक वचन सत्य भी हो सकता है, और झूठ भी। (समाधान) इस विषय में कहते हैं। यह परस्पर विरुद्ध कहा जाता है-उक्त अर्थ को कहता है, और झूठ भी होता है। ब्रवीति का अर्थ है- कहता है, ज्ञान कराता है, जाननेवाले [के ज्ञान] का निमित्त होता है। जिस वचन के निमित्त होने

पर जाना जाता है, वह बोध कराता है। इस प्रकार 'नदी के किनारे फल हैं' अर्थ का बोध कराने में निमित्त है। 'नदी के किनारे फल नहीं हैं, इसका उक्त वचन बोध नहीं कराता है। यदि अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः ऐसी चोदना होने पर 'अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है' यह अर्थ जाना जाता है, तो आप कैसे कहते हैं कि उस प्रकार (जैसा चोदना ने कहा है) नहीं होता?

यदि 'उस प्रकार (स्वर्ग) नहीं होता', यह कैसे जानते हैं? 'असद् (वाक्य से न कहे जानेवाले) अर्थ को जानता है' यह परस्पर विरुद्ध है। अर्थात् जो अर्थ है ही नहीं, वह कैसे जाना जायेगा?

न च, 'स्वर्गकामो यजेत' इत्यतो वचनात् सन्दिग्धमवगम्यते भवति वा स्वर्गो, न वा भवतीति। न च निश्चितमवगम्यमानमिदं मिथ्या स्यात्। यो हि जनित्वा प्रध्वंसते, नैतदेवमिति, स मिथ्या प्रत्ययः। न चैष कालान्तरे पुरुषान्तरेऽवस्थान्तरे देशान्तरे वा विपर्येति, तस्मादवितथः। यत्तु, लौकिकं वचनं तच्चेत् प्रत्ययितात् पुरुषाद् इन्द्रियविषयं वा, अवितथमेव तत्। अथाऽप्रत्ययिताद् अनिन्द्रियविषयं वा, तावत् पुरुषबुद्धिप्रभवमप्रमाणम्। अशक्यं हि तत् पुरुषेण ज्ञातुम् ऋते वचनात्। अपरस्मात् पौरुषेयाद् वचनात् तदवगतमिति चेत्, तदपि तेनैव तुल्यम्। नैवज्जातीयकेष्वर्थेषु पुरुषवचनं प्रामाण्यमुपैति, जात्यन्धानामिव वचनं रूपविशेषेषु।

नन्वविदुषामुपदेशो नाऽवकल्पते; उपदिष्टवन्तश्च मन्वादयः, तस्मात् पुरुषाः सन्तो विदितवन्तश्च। यथा चक्षुषा रूपमुपलभ्यते, इति दर्शनादेवावगतम्।

और स्वर्गकामो यजेत (स्वर्ग की कामना वाला यज्ञ करें) इस वचन से सन्दिग्ध ज्ञान नहीं होता- 'स्वर्ग होता है, अथवा नहीं होता।' तथा निश्चितरूप से गम्यमान अर्थ मिथ्या नहीं हो सकता। जो ज्ञान उत्पन्न होकर नष्ट हो जाता है, अर्थात् जिस विषय में 'इस प्रकार नहीं है' प्रतीति कारणान्तर से हो जाती है, वह मिथ्या ज्ञान कहलाता है। और यह (चोदना से उत्पन्न होने वाला ज्ञान) कालान्तर, पुरुषान्तर, अवस्थान्तर वा देशान्तर में विपर्यय भी नहीं होता, इससे सत्य सिद्ध है। और जो लौकिक वचन है, वह यदि आप्त पुरुष से उच्चरित है, अथवा इन्द्रिय विषयवाला है, तो वह सत्य ही होता है। और यदि अनाप्त (झूठे) पुरुष से कहा गया है, अथवा अनिन्द्रिय विषयवाला (जिसे इन्द्रियों से नहीं जान सकें, इस प्रकार का) है, तो वह पुरुष की बुद्धि से उच्चरित होने से अप्रमाण है। वह [इन्द्रिय के विषय से रहित] धर्म पुरुष से जाना नहीं जा सकता, बिना [वेद के] वचन के। [वह धर्म] अन्य पुरुष के वचन से ज्ञात हो, अर्थात् वक्ता ने अन्य पुरुष से जानकर कहा है, ऐसा मानें, तो वह भी उसी के समान (पुरुष की बुद्धि से उत्पन्न) है। [इसलिये] इस प्रकार के [अनिन्द्रिय-विषयक] अर्थों में पुरुषवचन प्रमाणभाव को प्राप्त नहीं होता। जैसे जन्म से अन्धपुरुषों का रूप विशेषों के सम्बन्ध में कहा गया वचन प्रमाण नहीं होता।

(आक्षेप) अच्छा तो न जाननेवालों का उपदेश करना उपपन्न नहीं होता; मन्वादि ने [धर्म का] उपदेश किया है, इससे [जाना जाता है कि] पुरुष होते हुए [मन्वादि धर्म को] जानने वाले थे। जैसे- 'आंख से रूप जाना जाता है' यह दर्शन से ही जान लिया जाता है, अर्थात् प्रमाणित हो जाता है।

उच्यते- उपदेशा हि व्यामोहादपि भवन्ति। असति व्यामोहे वेदादपि भवन्ति। अपि च पौरुषेयाद् वचनाद् 'एवमयं पुरुषो वेद' इति भवति प्रत्ययः 'नैवमयमर्थः' इति। विप्लवते हि खल्वपि कश्चित् पुरुषकृताद् वचनात् प्रत्ययः। न तु वेदवचनस्य मिथ्यात्वे किञ्चन प्रमाणमस्ति।

|                 |              |                     |          |            |                         |                 |
|-----------------|--------------|---------------------|----------|------------|-------------------------|-----------------|
| ननु             | सामान्यतो    | दृष्टं              | पौरुषेयं | वचनं       | वितथमुपलभ्य             | वचनसाम्यादिदमपि |
| वितथमवगम्यते?   | न,           | अन्यत्वात्।         | न        | हान्यस्य   | वितथभावेऽन्यस्य         | वैतथ्यं         |
| भवितुमर्हति,    | अन्यत्वादेव। | न                   | हि       | देवदत्तस्य | श्यामत्वे               | यज्ञदत्तस्यापि  |
| वं भवितुमर्हति। | अपि च        | पुरुषवचनसाधर्म्याद् | वेदवचनं  | वितथमिति   | अनुमानव्यपदेशादवगम्यते। | प्रत्यक्षस्तु   |

वेदवचनेन प्रत्ययः। न चानुमानं प्रत्यक्षविरोधि प्रमाणं भवति। तस्माच्चोदनालक्षणोऽर्थः श्रेयस्करोः।

एवं तर्हि श्रेयस्करो जिज्ञासितव्यः, किं धर्मजिज्ञासया? उच्यते-य एव श्रेयस्करोः, स एव धर्मशब्देनोच्यते। कथमवगम्यताम्? यो हि यागमनुतिष्ठति, तं 'धार्मिकः' इति समाचक्षते। यश्च यस्य कर्ता स तेन व्यपदिश्यते। यथा-पाचको

(समाधान) उपदेश व्यामोह (अज्ञान) से भी होते हैं। और व्यामोह न होने पर वेद से (वेदज्ञानपूर्वक) भी होते हैं। और भी - पुरुषोच्चरित वचन से 'यह पुरुष इस प्रकार जानता है' ऐसा ज्ञान होता है, 'यह अर्थ ऐसा ही है' इसका ज्ञान नहीं होता। कोई ज्ञान पुरुष द्वारा उच्चरित वचन से विपरीत भी होता है, अर्थात् जैसा पुरुष कहता है, वैसा उपलब्ध नहीं होता। परन्तु वेदवचन में मिथ्या होने में कोई प्रमाण नहीं है।



(आक्षेप) अच्छा तो [वेदवचन से गम्यमान अर्थ के मिथ्या होने में] सामान्यतोदृष्ट अनुमान है। पौरुषेय-वचन का मिथ्यात्व जानकर वचन-साम्य से यह वेद का वचन भी असत्य है, ऐसा जाना जाता है। (समाधान) यह ठीक नहीं, [पौरुषेय वचन से वेद-वचन के] भिन्न होने से। अन्य के मिथ्या होने पर अन्य का मिथ्यात्व नहीं हो सकता, अन्य होने से ही। देवदत्त के श्यामवर्ण होने से यज्ञदत्त का श्यामपना नहीं हो सकता। और भी- 'पुरुषवचन के सामर्थ्य से वेदवचन भी मिथ्या हैं यह अनुमान से जाना जाता है। वेदवचन से होनेवाला ज्ञान प्रत्यक्ष है। प्रत्यक्षविरोधी अनुमान प्रमाण नहीं होता। इसलिए चोदना से लक्षित अर्थ श्रेयस्कर है।

(आक्षेप) अच्छा तो यही श्रेयस्कर अर्थ जिज्ञासा के योग्य होवे। धर्म की जिज्ञासा से क्या प्रयोजन? (समाधान) जो ही अर्थ श्रेयस्कर है, वही धर्म शब्द से कहा जाता है। कैसे जाना जाये? जो याग का अनुष्ठान करता है, उसे [लोक में] धार्मिक कहते हैं। जो जिसका करनेवाला होता है, वह उससे व्यपदिष्ट (विशेषित) होता है। जैसे-पाचकः (पकानेवाला),

**लावकः इति। तेन यः पुरुषं निःश्रेयसेन संयुनक्ति, स धर्मशब्देनोच्यते। न केवलं लोके, वेदेऽपि 'यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन्' (ऋ० १०.१०.१६) इति यजतिशब्दवाच्यमेव धर्म समापनन्ति।**

लावकः (काटनेवाला)। इसलिये जो पुरुष को निःश्रेयस से संयुक्त करता है, वह धर्म शब्द से कहा जाता है। न केवल लोक में [ही उसे धर्म कहा जाता, अपितु] वेद में भी- यज्ञेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० १०/६०।१६) 'यज्ञ से यज्ञ को किया देवों ने, वे धर्म मुख्य हुए।' इस [वेदवचन] में 'यज्ञ' घातु के वाच्य अर्थ को ही धर्म कहा है।

**विवरण-** 'चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः' सूत्र में धर्म पद वाच्य क्या है, इस विषय में व्याख्याकारों का बहुत मतभेद है। यथा- १. भर्तृहरि का मत है- धर्म अवस्थित (स्थिर नित्य) वस्तु है। उसकी अग्निहोत्रादि से अभिव्यक्ति होती है। और उस (अभिव्यक्ति) से प्रेरित हुआ (धर्म) फल को देनेवाला होता है। जैसे- स्वामी भृत्यों से सेवा में प्रेरित किया जाता है।

२. जयन्तभट्ट के अनुसार-वृद्ध मीमांसकों का मत है कि यागादि कर्मों से निर्वर्त्य (उत्पन्न होनेवाला) अपूर्व ही धर्मपद वाच्य है।

३. शबरस्वामी का मत है-यागादि कर्म ही धर्म है (शाबर भाष्य)।

४. प्रभाकर के अनुयायी कहते हैं- नियोगरूप चोदना वाक्यार्थ ही अपूर्व शब्द वाच्य है। वही धर्म शब्द से कहा जाता है।

५. जयन्तभट्ट का कहना है- 'यागदान आदि से धर्म होता है' इत्यादि जो लौकिक प्रयोग हैं, वे संस्कार पक्ष के साक्षी हैं। अर्थात् धर्म अधर्म संस्काररूप आत्मा के गुण हैं। इस प्रकार यज्ञेन यज्ञमयजन्त वचन का भी याग दान आदि से उत्पद्यमान संस्काररूप धर्मपरक व्याख्यान करना चाहिये। संस्कार आत्मा का स्थायी गुण है, इसलिये धर्म भी स्थित है। उससे फल की निष्पत्ति होती है। इसलिये [चित्रया यजेत पशुकामः] (तै० सं० २।४।६।१) इत्यादि बोधित] चित्रादि याग झूठे नहीं हैं। भर्तृहरि का मत जयन्तभट्ट के मत से पर्याप्त मिलता है।

६. वैयाकरणों का मत है कि- श्येनेन यज्ञमयजन्त देवास्तानि धर्माणि प्रथमान्यासन् (ऋ० १०/६०।१६) में श्रूयमाण नपुंसकलिङ्ग धर्म शब्द धर्मसाधन यागादि का वाचक है।

शबरस्वामी ने यद्यपि यागादि को धर्म कहा है, परन्तु यागादि के प्रध्वंसी (विनाशी) होने से कालान्तर में फल की उत्पत्ति के लिये उन्होंने अपूर्व को स्वीकार किया है। यह अपूर्व आत्मनिष्ठ रहता है। नैयायिकों के मत में भी यह अपूर्व संस्कार-रूप आत्मा का गुण है।

**उभयमिह चोदनया लक्ष्यते, अर्थोऽनर्थश्चेति। कोऽर्थः? यो निःश्रेयसाय, ज्योतिष्टोमादिः। कोऽनर्थः? यः प्रत्यवायाय, श्येनो वज्रः इषुः इत्येवमादिः। तत्र अनर्थो धर्म उक्तो मा भूदिति अर्थग्रहणम्। कथं पुनरसावनर्थः? हिंसा हि सा। हिंसा च प्रतिषिद्धेति। कथं पुनरनर्थः कर्तव्यतयोपदिश्यते?**

**व्याख्या-**चोदना से यहां दोनों लक्षित होते हैं- अर्थ और अनर्थ। अर्थ क्या है? जो निःश्रेयस के लिये है। जैसे-ज्योतिष्टोम आदि। अनर्थ क्या है? जो प्रत्यवाय (पाप-दुःख) के लिये है। जैसे- श्येन वज्र इषु आदि [नामवाले कर्म]। [अर्थ-अनर्थ दोनों के चोदना से बोधित होने पर] अनर्थ धर्म न कहा जाये, इसलिये सूत्र में अर्थ पद का ग्रहण है। [ये श्येन आदि] अनर्थ कैसे हैं? वह [क्रिया] हिंसारूप है, हिंसा [वेद में] प्रतिषिद्ध है। तो फिर [वेद में] अनर्थ कर्तव्यरूप से क्यों उपदिष्ट है? श्येन आदि कर्तव्यरूप से नहीं जाने जाते हैं, अर्थात् नहीं कहे गये हैं। जो [पुरुष अपने शत्रु को मारना चाहे, उसका यह उपाय है। इस रूप में उन [श्येनादि] का [वेद में] उपदेश है। श्येनेनाभिचरन् यजेत (षड्विंश ब्रा० ३।८) 'अभिचार (हिंसा) करता हुआ श्येन नामक याग से यजन करे' इस प्रकार कहा है, अभिचार करना चाहिये, ऐसा नहीं कहा अर्थात् अभिचाररूप हिंसा करने का विधान वेद में नहीं किया है। अपितु जो हिंसा करना चाहता है, उसके जहां अनेक [लौकिक] उपाय हैं, उनमें से एक श्येनकर्म भी उपाय है, इतना ही कहने में वेद का तात्पर्य है।



उच्यते, नैव श्येनादयः कर्तव्या विज्ञायन्ते। यो हि हिंसितुमिच्छेत्, तस्यायमभ्युपाय इति हि तेषामुपदेशः। श्येनेनाऽभिचरन् यजेत इति हि समामनन्ति, न अभिचरितव्यमिति।

**विवरण-** शबरस्वामी ने श्येनेनाभिचरन् यजेत में शत्रुप्रत्ययान्त अभिचरन् पद को प्रस्तुत करके श्येन वज्र इषु प्रभृति आभि. चारिक यागों का विधायकत्व स्वीकार नहीं किया है, क्योंकि इन अभिचार कर्मों में हिंसा होती है, और हिंसा अनर्थ है। इस प्रकार शबरस्वामी ने श्येनादि यागों का ब्राह्मणग्रन्थ में विधान होने पर भी इनमें हिंसा होने से उन्होंने इन्हें दर्शपोर्णमास के समान धर्म नहीं माना है, अपितु अधर्म कहा है। उत्तरकालीन मीमांसकों ने शबरस्वामी के इस कथन की कड़ी आलोचना की है। मीमांसा शास्त्र को लोकायत मत से छुटकारा दिलाकर आस्तिक पथ पर लाने का निर्देश करनेवाले भट्टकुमारिल ने प्रकृत शबर भाष्य के व्याख्यानरूप श्लोकवार्तिक में शबरस्वामी के कथन का खण्डन करते हुए बड़े विस्तार (श्लोक चोदनासूत्र २०४-२७४) से श्येनादियागों का धर्मत्व स्थापित किया है। इसी प्रसङ्ग में श्लोक २२६ की व्याख्या करते हुए भट्ट उम्बेक लिखते हैं- ‘श्येनादि यागों का न साक्षात्, न उपचार से, और ना ही उसके फल का अनर्थत्व है, इसलिये उसके अनर्थत्व का प्रतिपादन करनेवाला ‘श्येनो वज्र इषुः’ इत्यादि भाष्य उपेक्षणीय है। कहा भी है- दुष्कर्म में लिप्त, कार्य-प्रकार्य को न जानने वाले, तथा मार्गभ्रष्ट हुए गुरु के भी त्याग का शास्त्र में विधान किया है।

श्लोकवार्तिक के आरम्भ में भट्ट कुमारिल ने लिखा है कि- ‘प्राचीन व्याख्याकारों ने मीमांसा शास्त्र को लोकायतों (नास्तिक मतानुयायियों) का शास्त्र बना दिया था। मैंने उसे पुनः आस्तिक मार्ग पर लाने के लिये यह प्रयत्न किया है।’ इस श्लोक की व्याख्या में पार्थ-सारथि मिश्र और भट्ट उम्बेक ने लिखा है- भर्तृमित्र प्रभृति व्याख्याकारों ने नित्य (विहित) और निषिद्ध कर्मों का इष्ट-अनिष्ट फल नहीं होता है, ऐसा लिखा है। वस्तुतः कोई भी आस्तिक यह नहीं कह सकता कि विहित और निषिद्ध कर्मों का इष्ट-अनिष्ट फल नहीं होता। सम्भव है शबरस्वामी के श्येनादि हिंसाप्रधान यागों के अनर्थत्व के समान ही भर्तृमित्र प्रभृति ने कतिपय यज्ञीय क्रिया-कलापों का एकमात्र इष्ट-अनिष्ट अदृष्ट फल न मानकर दृष्ट इष्ट-अनिष्ट फल भी स्वीकार किया होगा। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी श्रौत यज्ञों का यथावत् विधान स्वीकार करते हुए इनका अदृष्ट फल के साथ दृष्ट फल वायु वृष्टि-जल आदि की शुद्धि भी माना है। हम श्रौत नित्य यज्ञों के दृष्टफलत्व का उपपादन अन्य प्रकार से करते हैं।

श्रौत ‘पशुबन्ध’ यज्ञों में पशुओं की हिंसा विहित नहीं है, और ना ही वैष्णव मतानुयायियों के अनुसार पिष्ट-पशु से यज्ञ करने का विधान है। वास्तविकता यह है कि श्रौत पशुबन्ध यज्ञों में पशुओं का पर्यग्निकरण संस्कार करके उनको छोड़ देते हैं। कर्म की पूर्ति यदेवत्यः पशुस्तदेवत्यः पुरोडाशः इस श्रौत सिद्धान्त के अनुसार पुरोडाश से की जाती है। पशुबन्ध यज्ञों में पशुओं की हिंसा का विधान उत्तर-कालीन याज्ञिकों द्वारा प्रवृत्त हुआ है, ऐसा प्रतीत होता है।

नन्वशक्तमिदं सूत्रमिमावर्थावभिवदितुम्- चोदनालक्षणो धर्मः, न इन्द्रियादि-लक्षणः; अर्थश्च धर्मः, न अनर्थ इति। एकं हीदं वाक्यं, तदेवं सति भिद्येत। उच्यते, यत्र वाक्यादर्थोऽवगम्यते, तत्रैवम्। तत्तु वैदिकेषु, न सूत्रेषु। अन्यतोऽवगतेऽर्थे सूत्रम्, एवमर्थमिदमित्यवगम्यते। तेन च एकदेशः सूत्र्यते इति सूत्रम्। तत्र भिन्नयोरेव वाक्ययोरिमावेकदेशावित्यवगन्तव्यम्। अथवा अर्थस्य सतश्चोदनालक्षणस्य धर्मत्वमुच्यत इत्येकार्थमेवेति ॥२॥

इति धर्मलक्षणाऽधिकरणम्॥२॥

**व्याख्या-** (आक्षेप) यह सूत्र इन दो अर्थों को कहने में असमर्थ है- (१) चोदना से लक्षित होनेवाला धर्म है, इन्द्रियादि से लक्षित होनेवाला नहीं; तथा (२) अर्थ ही धर्म है, अनर्थ नहीं। [चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः] यह एक ही वाक्य है, इस प्रकार होने पर अर्थात् दो कार्यों का कथन करने पर वाक्यभेद हो जायेगा। (समाधान) जहां वाक्य से अर्थ जाना जाता है, वहां इस प्रकार [वाक्यभेद दोष होता है। यह दोष वैदिक वाक्यों में होता है, सूत्रों में नहीं। अन्य प्रकार से अवगत अर्थ को कहने के लिये सूत्र होता है, इसलिये यह सूत्र है, यह जाना जाता है। और इस कारण भिन्न-भिन्न वाक्यों के एकदेश के सूत्रण (सूत के समान वेष्टन) होने से सूत्र कहलाता है। वहां उक्त अभिप्राय के अनुसार] दो भिन्न-भिन्न वाक्यों (चोदनालक्षण एव धर्मः, न इन्द्रियादिलक्षणः; अर्थ एव धर्मः, नानर्थः) के ये एकदेश हैं, ऐसा जानना चाहिये। अथवा अर्थ होते हुए जिसका चोदनालक्षण होवे, उसको धर्म कहा जाता है। इस प्रकार [यह सूत्र] एकार्थक ही है ॥२॥

### स्मरणीय बिन्दु-

- चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः मीमांसा का प्रसिद्ध सूत्र है।
- वेद की आज्ञा ही धर्म का लक्षण है।
- धर्म कर्तव्य कर्म से सम्बन्धित है।
- विधि एवं निषेध धर्म के आधार हैं।
- धर्म लोक एवं परलोक कल्याणकारी है।

### शब्दावली-

चोदना

विधि

निषेध

धर्मलक्षण

कर्तव्य

वेदवाक्य

### 5 अंक के प्रश्न-

1. धर्मलक्षण क्या है?
2. हचोदनाह शब्द का अर्थ लिखिए।
3. विधि और निषेध में अन्तर बताइए।
4. वेदवाक्य का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. धर्म किससे सम्बन्धित है?

### 5 अंक के प्रश्न-

1. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः सूत्र का विवेचन कीजिए।
2. मीमांसा दर्शन में धर्मलक्षण स्पष्ट कीजिए।
3. विधि एवं निषेध का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः किसका सूत्र है?

(क) वेदान्त

(ख) मीमांसा

(ग) योग

(घ) न्याय

2. चोदना का अर्थ क्या है?

(क) निषेध

(ख) प्रेरणा

(ग) ध्यान

(घ) त्याग

3. धर्म किससे सम्बन्धित है?

(क) निष्क्रियता

(ख) कर्तव्य

(ग) आलस्य

(घ) मोह

4. धर्म का आधार क्या है?

(क) वेद

(ख) धन

(ग) राजनीति

(घ) शरीर

5. विधि क्या बताती है?

(क) क्या न करें

(ख) क्या करें

(ग) दुःख

(घ) अज्ञान।

## इकाई-३.३ धर्मप्रामाण्यपरिक्षा

### उद्देश्य-

1. धर्म के प्रमाण का अध्ययन करना।
2. वेदप्रामाण्य की अवधारणा समझना।
3. प्रमाण एवं अप्रमाण का विवेचन करना।

धर्मप्रामाण्यपरीक्षाऽधिकरणम्॥३॥

तस्य निमित्तपरीष्टिः ॥३॥

सूत्रार्थः ( तस्य ) उस [चोदनालक्षणवाले धर्म के ( निमित्तपरीष्टिः ) निमित्त की परीक्षा करते हैं।

उक्तमस्माभिः-चोदनानिमित्त धर्मस्य ज्ञानम् इति। तत् प्रतिज्ञामात्रेणोक्तम्। इदानीं तस्य निमित्त परीक्षिष्यामहे किं चोदनेवेति, अन्यदपीति? तस्मान्न तावन्निश्चीयते चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति ॥३॥

व्याख्या- हमारे द्वारा कहा जा चुका है कि 'धर्म का ज्ञान चोदना से होता है।' यह प्रतिज्ञामात्र से कहा है। इस समय इस [धर्म] के निमित्त की परीक्षा करेंगे कि क्या चोदना ही धर्म का निमित्त है, अथवा अन्य भी? इस कारण निश्चय नहीं होता कि चोदना से लक्षित होनेवाला अर्थ ही धर्म है॥३॥

विवरण- यह सूत्र वक्ष्यमाण परीक्षाऽधिकरण का प्रतिज्ञारूप है। अतः इसकी उत्तर अधिकरण के उपोद्घातरूप में संगति जाननी चाहिये। शबरस्वामी से प्राचीन वृत्तिकार उपवर्ष ने सूत्र ३, ४, ५ की अन्य प्रकार से व्याख्या की थी। उसका निर्देश शबरस्वामी ने ५वें सूत्र व्याख्यान में किया है। वृत्तिकार ने इस सूत्र में 'न' का अध्याहार करके अर्थ किया है- 'धर्म' के निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण लोकप्रसिद्ध हैं ॥३॥

इति धर्मप्रामाण्यपरीक्षाऽधिकरणम्॥३॥

### स्मरणीय बिन्दु-

- धर्म का प्रमाण वेद है।
- वेद अपौरुषेय माने गए हैं।
- प्रत्यक्ष से धर्म का ज्ञान सम्भव नहीं।
- मीमांसा वेदप्रामाण्य को स्वीकार करती है।
- धर्म अदृष्ट विषय है।

### शब्दावली-

- प्रमाण
- वेदप्रामाण्य
- अपौरुषेय
- प्रत्यक्ष
- अदृष्ट
- धर्मप्रमाण

### 5 अंक के प्रश्न-

1. धर्म का प्रमाण क्या है?
2. वेदप्रामाण्य का अर्थ लिखिए।
3. अपौरुषेय शब्द स्पष्ट कीजिए।
4. धर्म को अदृष्ट क्यों कहा गया है?

5. प्रत्यक्ष की सीमा बताइए।

**5 अंक के प्रश्न-**

1. धर्मप्रामाण्यपरीक्षा का विवेचन कीजिए।
2. वेदप्रामाण्य सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए।
3. मीमांसा दर्शन में प्रमाण सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. धर्म का मुख्य प्रमाण क्या है?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) वेद

(ग) अनुमान

(घ) उपमान

2. वेद कैसे माने जाते हैं?

(क) मानवकृत

(ख) अपौरुषेय

(ग) नश्वर

(घ) मिथ्या

3. धर्म कैसा विषय है?

(क) दृश्य

(ख) अदृष्ट

(ग) स्थूल

(घ) भौतिक

4. प्रत्यक्ष किसका ज्ञान देता है?

(क) अदृष्ट

(ख) दृश्य वस्तुओं का

(ग) मोक्ष

(घ) धर्मफल

5. मीमांसा किसे स्वीकार करती है?

(क) वेदप्रामाण्य

(ख) शून्यवाद

(ग) केवल तर्क

(घ) नास्तिकवाद

## इकाई-३.४ धर्म के विषय में प्रत्यक्षादि की अप्रामाणिकता

### उद्देश्य-

1. धर्म विषय में प्रत्यक्ष की सीमाओं को समझना।
2. प्रमाणों की उपयोगिता का अध्ययन करना।
3. वेद की सर्वोच्च प्रामाणिकता जानना।

धर्मे प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्याऽधिकरणम्॥४॥

### तदुच्यते-

सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म तत् प्रत्यक्षम्, अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भत्वात् ॥४॥

सूत्रार्थः- (इन्द्रियाणाम्) इन्द्रियों के (सत्संप्रयोगे) [अर्थ के साथ] सम्बन्ध होने पर (पुरुषस्य) पुरुष की [जो] (बुद्धिजन्म) बुद्धि की उत्पत्ति होती है, (तत् प्रत्यक्षम्) वह 'प्रत्यक्ष' कहलाती है। [वह प्रत्यक्ष] (विद्यमानोपलम्भनत्वात्) विद्यमान [वस्तु] का उपलम्भक (ज्ञान करानेवाला) होने से [धर्म के ज्ञान में] (अनिमित्तम्) निमित्त नहीं हो सकता [क्योंकि धर्म भविष्यद्-विषयक है]

इदं परीक्ष्यते- प्रत्यक्षं तावदनिमित्तम्। किं कारणम्? एवं लक्षणकं हि तत्सत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म, तत् प्रत्यक्षम्। सति इन्द्रियार्थसम्बन्धे या पुरुषस्य बुद्धिर्जायते, तत् प्रत्यक्षम्। भविष्यश्च एषोऽर्थो, न ज्ञानकालेऽस्तीति। सतश्चैतदुपलम्भनं, नासतः। अतः प्रत्यक्षमनिमित्तम्। बुद्धिर्वा जन्म वा सन्निकर्षो वेति, नेषां कस्यचिदवधारणार्थमेतत् सूत्रम्। सति इन्द्रियाऽर्थसम्प्रयोगे, नासति इत्येतावदवधार्यते। अनेकस्मिन्वधार्यमाणे भिद्येत वाक्यम्। प्रत्यक्षपूर्वकत्वाच्चानुमानोपमानार्थापत्तीनामप्यकारणत्वमिति॥४॥

इति धर्म प्रत्यक्षस्याऽप्रामाण्याऽधिकरणम्॥४॥

व्याख्या- यह परीक्षा की जाती है- प्रत्यक्ष [धर्म में] निमित्त नहीं है। क्या कारण है? वह [प्रत्यक्ष] इस लक्षणवाला है- 'सत्सम्प्रयोगे प्रत्यक्षम्'। इन्द्रिय और अर्थ का सम्बन्ध होने पर पुरुष की जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। यह धर्मरूप अर्थ भविष्य-विषयक है, प्रत्यक्ष ज्ञान के समय विद्यमान नहीं है। यह प्रत्यक्ष सत् (विद्यमान वर्तमानकाल-विषयक) का ज्ञान करानेवाला है, असत् (अविद्यमान) का ज्ञान करानेवाला नहीं है। इस कारण प्रत्यक्ष धर्म के ज्ञान में निमित्त नहीं है। बुद्धि (ज्ञान), अथवा बुद्धिजन्य हानोपादान बुद्धि, अथवा इन्द्रिय और अर्थ का सन्निकर्ष इन में से किसी एक का नाम प्रत्यक्ष है, इसके अवधारण (निश्चय) के लिये यह सूत्र नहीं है। इस सूत्र से तो इन्द्रिय और अर्थ के सम्बन्ध होने पर ही प्रत्यक्ष होता है, इन्द्रिय-अर्थ का सम्बन्ध नहीं होने पर नहीं होता, इतना ही निश्चित किया है। अनेक विषयों के निर्धारण करने पर वाक्यभेद होता है। अनुमानादि अन्य प्रमाणों के प्रत्यक्षपूर्वक होने से अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति का भी धर्म में अकारणत्व जानना चाहिये अर्थात् प्रत्यक्ष के धर्मज्ञान में कारण न होने पर प्रत्यक्षाश्रित अनुमानादि भी धर्म में प्रमाण नहीं हो सकते ॥४॥

विवरण- इस सूत्र को व्याख्या वृत्तिकार ने सूत्रस्थ 'सत्' 'तत्' पदों का स्थान बदलकर की है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- प्रत्यक्ष धर्म का ज्ञान नहीं करा सकता।
- धर्म अखण्ड एवं अलौकिक विषय है।
- वेद ही धर्म का प्रमाण है।
- अनुमान एवं प्रत्यक्ष सीमित प्रमाण हैं।
- मीमांसा वेद को सर्वोच्च प्रमाण मानती है।

### शब्दावली-

- प्रत्यक्ष
- अनुमान
- अप्रामाणिकता
- अलौकिक

- प्रमाण
- धर्मज्ञान

### 5 अंक के प्रश्न-

1. प्रत्यक्ष क्या है?
2. धर्म को प्रत्यक्ष से क्यों नहीं जाना जा सकता?
3. अनुमान की सीमा लिखिए।
4. वेद को सर्वोच्च प्रमाण क्यों कहा गया है?
5. अलौकिक विषय क्या हैं?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. धर्म विषय में प्रत्यक्षादि की अप्रामाणिकता का विवेचन कीजिए।
2. मीमांसा दर्शन में वेद की प्रामाणिकता स्पष्ट कीजिए।
3. प्रत्यक्ष एवं अनुमान की सीमाओं का विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. धर्म का ज्ञान किससे नहीं हो सकता?

(क) वेद

(ख) प्रत्यक्ष

(ग) शास्त्र

(घ) आगम

2. धर्म कैसा विषय है?

(क) लौकिक

(ख) अलौकिक

(ग) स्थूल

(घ) दृश्य

3. मीमांसा किसे सर्वोच्च प्रमाण मानती है?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) वेद

(ग) अनुमान

(घ) उपमान

4. प्रत्यक्ष किस तक सीमित है?

(क) अदृष्ट

(ख) दृश्य जगत

(ग) मोक्ष

(घ) धर्मफल

5. अनुमान क्या है?

(क) प्रत्यक्ष ज्ञान

(ख) तर्क आधारित ज्ञान

(ग) वेदज्ञान

(घ) आत्मज्ञान।

## खण्ड-4 वेदनियन्ता प्रकरण

### इकाई-4.1 वेदविधिप्रामाण्य

उद्देश्य-

1. वेदविधि की प्रामाणिकता को समझना।
2. वैदिक विधियों के महत्व का अध्ययन करना।
3. धर्मनिर्णय में वेद की भूमिका जानना।

धर्म वेदप्रामाण्याऽधिकरणम् ॥५॥

अभावोऽपि नास्ति। यतः-

प्रत्यक्षादि प्रमाणों के धर्म में निमित्त न होने से धर्म के अभाव की प्राप्ति में कहते हैं कि प्रमाण का अभाव भी नहीं है। जिस कारण-

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं  
बादरायणस्यानपेक्षत्वात् ॥५॥

सूत्रार्थ- (शब्दस्यार्थेन) शब्द का अर्थ के साथ (सम्बन्धः) सम्बन्ध (औत्पत्तिकः) स्वाभाविक है। (तस्य) उस धर्म का [निमित्त] (ज्ञानम्) ज्ञानसाधन (उपदेशः) उपदेश है। [उस ज्ञान का] (अव्यतिरेकः) व्यतिरेक विपर्यय नहीं होता है। [इस कारण] (तत्) वह चोदना (अनुपलब्धेऽर्थे) अनुपलब्ध अर्थ में भी (प्रमाणम्) प्रमाण है। (बादरायणस्य) बादरायण आचार्य के मत में, (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा से रहित अर्थात् स्वतः प्रमाण होने से।

औत्पत्तिक इति नित्यं ब्रूमः। उत्पत्तिर्हि भाव उच्यते लक्षणया। अवियुक्तः शब्दार्थयोर्भावः सम्बन्धः, नोत्पन्नयोः पश्चात् सम्बन्धः। औत्पत्तिकः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य अग्निहोत्रादिलक्षणस्य धर्मस्य निमित्त प्रत्यक्षादिभिरनवगतस्य। कथम्? उपदेशो हि भवति। उपदेश इति विशिष्टस्य शब्दस्य उच्चारणम्। अव्यतिरेकश्च ज्ञानस्य। न हि तदुत्पन्नं ज्ञानं विपर्ययति। यच्च नाम ज्ञानं न विपर्ययति।

व्याख्या- 'औत्पत्तिक' यह शब्द नित्य (स्वाभाविक) का वाचक है, ऐसा हम कहते हैं। उत्पत्ति शब्द लक्षणा से भाव (सत्ता) को कहता है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अवियुक्त (वियुक्त न होनेवाला) अर्थात् नित्य स्वाभाविक है, उत्पन्न हुये शब्द और अर्थ का पीछे से जोड़ा गया सम्बन्ध नहीं है। शब्द का अर्थ के साथ औत्पत्तिक- नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध उस प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अज्ञात अग्निहोत्रादिलक्षण धर्म का निमित्त है। किस प्रकार? उपदेश होता है। उपदेश का अर्थ है विशिष्ट शब्द का उच्चारण। चोदना-वचन का उपदेश धर्म में प्रमाण है, क्योंकि चोदना वचन से ज्ञायमान ज्ञान का व्यतिरेक नहीं होता, वह उत्पन्न ज्ञान विपर्यय (मिथ्यात्व) को प्राप्त नहीं होता। जो ज्ञान है, वह कभी विपर्यास को प्राप्त नहीं होता।

न तच्छक्यते वक्तु न एतदेवमिति। यथा भवति यथा विज्ञायते न तथा भवति। यथैतन्न विज्ञायते, तथैतदिति। अन्यदस्य हृदये अन्यद्वाचि स्यात्। एवं वदतो विरुद्ध-मिदं गम्यते- अस्ति नास्ति वेति। तस्मात् तत् प्रमाणम् अनपेक्षत्वात् नह्य वं सति प्रत्ययाऽन्तरमपेक्षितव्यं, पुरुषान्तरं वापि। अयं प्रत्ययो ह्यसौ। बादरायणग्रहणं बाद-रायणस्येदं मतं कीर्त्यते बादरायणं पूजयितुं, नाऽऽत्मीयं मतं पर्युदसितुम् ॥५॥

[उस ज्ञान के सम्बन्ध में] यह नहीं कह सकते कि वह वैसा नहीं है। जैसा [ज्ञान] होता है, जैसा जाना जाता है, वैसा नहीं होता। जैसा यह नहीं जाना जाता, वैसा होता है। [ऐसा मानने पर] इस के हृदय में अन्य होवे और वाणी में अन्य होवे। ऐसा कहनेवाले का कथन विरुद्ध जाना जाता है- 'है और नहीं है' अर्थात् जो कहता है- 'चोदना से जैसा अर्थ जाना है, वैसा नहीं है' इस कथन में 'अर्थ ज्ञात होता है और वैसा नहीं है' यह परस्पर विरुद्ध है। इस कारण वह (चोदना का उपदेश) प्रमाण है, अनपेक्ष (प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने से) अर्थात् स्वतः प्रमाण होने से। ऐसा स्वतःप्रामाण्य होने पर न प्रत्ययान्तर (ज्ञानान्तर प्रमाणान्तर की अपेक्षा है, और ना ही पुरुषान्तर की। यह प्रत्यय (ज्ञान) निश्चय ही 'वह है' इस रूप का होता है। बादरायण का ग्रहण 'बादरायण' का यह मत कहा जाता है, बादरायण की पूजा के लिये, अपने स्वमत के परित्याग के लिये नहीं है।

विवरण- शबरस्वामी और उसके अनुयायी इस सूत्र से केवल शब्द और उसके सम्बन्ध की नित्यता (स्वाभाविकता) का प्रतिपादन करते हैं। ये लोग वेद का प्रकाशक और जगत् का निर्माता किसी पुरुषविशेष ईश्वर, मह.



भूत, अपरनाम ब्रह्म की सत्ता को स्वीकार नहीं करते। ये लोग वेद को अपौरुषेय अनादिसिद्ध और जगत् को भी अनादिसिद्ध मानते हैं। इसी प्रकार की मीमांसा शास्त्र की व्याख्या के कारण मीमांसा शास्त्र लोक में निरीश्वरवादी के रूप में प्रसिद्ध हो गया है। इस दोष से बचाने के लिये वैष्णव सम्प्रदाय के आचार्य श्री वेङ्कटनाथाचार्य अपरनाम वेदान्ताचार्य ने सेश्वरमीमांसा के नाम से मीमांसा-भाष्य की रचना की। यह केवल प्रथमाध्याय के आरम्भिक दो पादों पर ही उपलब्ध होता है। प्रस्तुत सूत्र में आचार्य जैमिनि ने शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता में बादरायण के मत को स्ववचन में पुष्टि के लिये उद्धृत किया है, भगवान् बादरायण ब्रह्मसूत्र के रचयिता हैं। वे शास्त्र (वेद) की योनि-कारण ब्रह्म को मानते हैं। क्योंकि सूत्रकार जैमिनि को शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता वेद को ईश्वरीय उपदेश मानकर ही दर्शाना अभीष्ट है, यह इस सूत्र में बादरायण आचार्य के निर्देश से निःसन्देह कहा जा सकता है।

**तृतीयचतुर्थपञ्चमसूत्राणां वृत्तिकारसम्मतार्थवर्णनम्**

वृत्तिकारस्तु-अन्यथेमं ग्रन्थं वर्णयाञ्चकार 'तस्य निमित्तपरीष्टिः' इत्येवमादिम्। परीक्षितव्यं निमित्तं, प्रत्यक्षादीनि हि प्रसिद्धानि प्रमाणानि। तदन्तर्गतं च शास्त्रम्, अतस्तदपि न परीक्षितव्यम्।

अत्रोच्यते- व्यभिचारात् परीक्षितव्यम्। शुक्तिका हि रजतवत् प्रकाशते यतः, तेन प्रत्यक्षं व्यभिचरति। तन्मूलत्वाच्चानुमानादीन्यपि। तत्रापरीक्ष्य प्रवतमानोऽर्थाद् विहन्येत, अनर्थं चाऽऽप्नुयात् कदाचित्।

नैतदेवम्। यत् प्रत्यक्षं न तद् व्यभिचरति, यद् व्यभिचरति न तत् प्रत्यक्षम्। किं तर्हि प्रत्यक्षम्?

'तत्संप्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्।' यद्विषय ज्ञानं, तेनैव सम्प्रयोगे इन्द्रियाणां पुरुषस्य बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्। यदन्यविषयज्ञानमन्यसंप्रयोगे भवति, न तत् प्रत्यक्षम्।

व्याख्या- वृत्तिकार ने तस्य निमित्तपरीष्टिः इत्यादि ( १।१।३-५ ) ग्रन्थ (सूत्र सन्दर्भ) की व्याख्या अन्य ढंग से की है- '[धर्म के] निमित्त की परीक्षा नहीं करनी चाहिये, क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाण प्रसिद्ध ही हैं। उन्हीं के अन्तर्गत शास्त्र (शब्दप्रमाण) भी है, इस कारण उस की भी परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

(आक्षेप) इस विषय में कहते हैं कि प्रत्यक्षादि में व्यभिचार होने से उनकी परीक्षा करनी चाहिये। जिस कारण सीप चांदी के समान प्रतीत होती है, इससे प्रत्यक्ष व्यभिचरित होता है। प्रत्यक्षमूलक होने से अनुमानादि भी व्यभिचरित होते हैं। इन प्रत्यक्षादि के विषय में विना परीक्षा किये प्रवृत्त हुआ पुरुष अर्थ (निःश्रेयस) ने भटक जायेगा, और कभी अनर्थ (दुःखादि) को प्राप्त करेगा। (समाधान) यह कथन ठीक नहीं है। जो प्रत्यक्ष है, वह कभी व्यभिचरित नहीं होता, और जो व्यभिचरित होता है वह प्रत्यक्ष नहीं है। तो प्रत्यक्ष क्या है? तत्सम्प्रयोगे पुरुषस्येन्द्रियाणां बुद्धिजन्म सत्प्रत्यक्षम्। जिस विषयवाला ज्ञान है, उसी विषय के साथ इन्द्रियों का सम्बन्ध होने पर पुरुष की बुद्धि (ज्ञान) का उत्पन्न होना सत्प्रत्यक्ष है। जो अन्यविषयक ज्ञान अन्य विषय के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं है। [इस से सीप के साथ इन्द्रिय का सन्निकर्ष होने पर जो चांदी का ज्ञान होता है, वह प्रत्यक्ष नहीं है।]

विवरण- वृत्तिकारस्तु-इन वृत्तिकार का नाम आचार्य उपवर्ष है। इनके सम्बन्ध में विशेष विवरण आरम्भ में मुद्रित शास्त्रावतार प्रकरण में देखें। तस्य निमित्तपरीष्टिरित्येवमादिम्- भाष्यकार ने यहां से आरम्भ करके कहां तक वृत्तिकार के पाठ का निदर्शन कराया है, यह अस्पष्ट है। इस प्रकरण में सूत्र ३-५ की की गयी नई व्याख्या वृत्तिकार की है, इतना स्पष्ट है। परन्तु इन सूत्रों के अर्थों के साथ जो आक्षेप-समाधानरूप भाष्य है, वह भी वृत्तिकार से ही सम्बद्ध है, अथवा शबरस्वामी ने प्रकरण-संगति के लिये इसकी योजना की है, यह अज्ञात है। निरालम्बवाद और शून्यवाद का खण्डन तो शबरस्वामी कृत हो है, क्योंकि सूत्रकार जैमिनि और वृत्तिकार उपवर्ष के बहुत पश्चात् गौतमबुद्ध का प्रादुर्भाव हुआ था। और उनके भी कई सौ वर्ष पश्चात् बौद्धों ने दार्शनिक सिद्धान्तों की व्यवस्थित व्याख्या प्रस्तुत की थी। न परीक्षितव्यम्- इस व्याख्या के अनुसार 'न' पद का अध्याहार करना होता है।

तत्संप्रयोगे सत्प्रत्यक्षम् वृत्तिकार ने सूत्रकार प्रयुक्त 'सत्' और 'तत्' पदों का स्थान परिवर्तन करके प्रत्यक्ष के लक्षण में उपस्थित होनेवाले दोष का निराकरण किया है।

कथं पुनरिदमवगम्यते- इदं तत्संप्रयोगे, इदमन्यसंप्रयोगे इति? यद् न अन्यसंप्रयोगे तत् संप्रयोगे। एतद्विपरीतमन्यसंप्रयोगे इति। कथं ज्ञेय यच्छुक्तिकायामपि रजतं मन्यमानो रजतसन्निकृष्टं मे चक्षुरिति मन्यते? बाधकं हि यत्र ज्ञानमुपगच्छते नैतदेव, मिथ्याज्ञानमिति तत् अन्यसंप्रयोगे। विपरीतं तत्संप्रयोगे इति। प्राग्बाधकज्ञानोत्पत्तेः कथमवगम्यते, यदा न तत्काले सम्यग्ज्ञानस्य मिथ्याज्ञानस्य वा कश्चिद् विशेषः? यदा हि चक्षुरादिभिरुपहतं मनो भवति, इन्द्रियं वा तिमिरादिभिः, सौक्ष्मादिभिर्बाह्यो वा

## विषयः, ततो मिथ्याज्ञानम्।

**व्याख्या-** (आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि 'यह [ज्ञान] उसी विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने से हुआ है, और यह अन्य विषय के साथ इन्द्रिय का सम्बन्ध होने पर हुआ है? (समाधान) जो ज्ञान अन्य विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर नहीं हुआ, वह उसी विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर हुआ है। इससे विपरीत ज्ञान अन्य विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर हुआ है। (आक्षेप) यह कैसे जाना जाये कि यह ज्ञान उस विषय के साथ ही इन्द्रिय सम्बन्ध होने पर हुआ है, क्योंकि सीप में भी चांदी को मानता हुआ पुरुष चांदी के साथ ही मेरी आंख सन्निकृष्ट है, ऐसा मानता है? (समाधान) जहां पर बाधक ज्ञान उत्पन्न होता है- 'यह ऐसा नहीं है' जैसा जाना था-मिथ्या ज्ञान है, वह अन्य विषय के साथ इन्द्रिय सम्बन्ध होने पर हुआ है। इससे विपरीत जहां बाधक ज्ञान उत्पन्न नहीं होता, वह उस विषय के साथ इन्द्रिय-सम्बन्ध होने पर हुआ है, ऐसा जानना चाहिये। (आक्षेप) बाधक ज्ञान की उत्पत्ति से पूर्व कैसे जाना जाये, जब कि उस काल में सम्यग्ज्ञान वा मिथ्याज्ञान में कोई अन्तर ही नहीं है? (समाधान) जब चक्षु श्रादि इन्द्रियों से मन उपहत (दूषित) होता है, अथवा तिमिर आदि रोग से इन्द्रियां उपहत होती हैं, अथवा सौक्ष्म्य आदि कारणों से बाह्य-विषय उपहत होता है, तब मिथ्या ज्ञान उत्पन्न होता है।

अनुपहतेषु हि सम्यग्ज्ञानम्। इन्द्रियमनोऽर्थसन्निकर्षो हि सम्यग्ज्ञानस्य हेतुः। असति तस्मिन् मिथ्याज्ञानम्। तदुभयगतो दोषो मिथ्याज्ञानस्य हेतुः। दुष्टेषु हि ज्ञानं मिथ्या भवति। कथमवगम्यते? दोषापगमे संप्रतिपत्तिदर्शनात्। कथं दुष्टादृष्टावगम इति चेत्, प्रयत्नेनान्विच्छन्तो न चेद्दोषमवगच्छेमहि, प्रमाणाभावाददुष्टमिति मन्येमहि। तस्माद् यस्य च दुष्टं करणं, यत्र च मिथ्येति प्रत्ययः, स एवासमीचीनः प्रत्ययो, नान्य इति ॥

मन इन्द्रिय और बाह्य-विषयों के अनुपहत (दूषित न) होने पर सम्यग्ज्ञान होता है। इन्द्रिय मन और अर्थ का सन्निकर्ष ही सम्यग्ज्ञान का हेतु होता है। और उस इन्द्रिय मन और अर्थ के सन्निकर्ष के न होने पर मिथ्याज्ञान होता है। उन दोनों (इन्द्रिय-मनरूप करण और बाह्य-विषय) को प्राप्त दोष ही मिथ्याज्ञान का हेतु होता है। इन्द्रिय मन और बाह्य-विषयों के दूषित होने पर ही उत्पन्न ज्ञान मिथ्या होता है। कैसे जाना जाता है? इन्द्रिय मन और बाह्य-विषयों के दोषों के दूर हो जाने पर सम्यग्ज्ञान होने से। जैसे पीलिया रोगवाले को सभी वस्तुएं पीली दीखती हैं, परन्तु रोग निवृत्त हो जाने पर वे वस्तुएं अपने रूपवाली ही दिखाई देती हैं। 'दुष्ट और अदुष्ट का ज्ञान कैसे होवे' यह पूछा जाये, तो प्रयत्न से ढूंढते हुए भी यदि किसी दोष का ज्ञान न होवे, तो प्रमाण के अभाव में उत्पन्न ज्ञान अदुष्ट है, ऐसा मानते हैं। इसलिये जिसका करण (इन्द्रिय-मन) दुष्ट है, और जहां 'मिथ्या' ऐसी प्रतीति होती है, वही मिथ्या ज्ञान है, अन्य नहीं।

**विवरण- चक्षुरादिभिरुपहतं मनः-** जब इन्द्रियान्तर से सम्बद्ध मन अन्य इन्द्रिय के विषय को ग्रहण करता है, तब वह चक्षु इन्द्रिय आदि से उपहत होता है। **सौक्ष्म्यादिभिर्बाह्यो वा विषयः-** भाष्यकार ने 'आदि' शब्द से किन कारणों का ग्रहण किया है, जिनसे विद्यमान वस्तु का भी ग्रहण नहीं होता, यह विचारणीय है। चरक सूत्रस्थान अ० ११, खण्ड ८ में विद्यमान रूपवाले द्रव्यों की जिन कारणों से प्रत्यक्ष की अनुपलब्धि होती है, उन्हें इस प्रकार गिनाया है- अतिसन्निकर्ष (अतिनिकटता), अतिविप्रकर्ष (अतिदूरता), द्रव्यान्तर का आवरण, इन्द्रियों की दुर्बलता, मन की चञ्चलता, समान रूपवाला होना, अभिभव (तिरस्कृत दब जाना) और अतिसूक्ष्म होना। ये ही आठ कारण सांख्यकारिका (सां.का. ७) में भी लिखे हैं। महाभाष्यः ४।१।३ में पतञ्जलि ने लिखा है-छः कारणों से विद्यमान वस्तुओं की भी उपलब्धि नहीं होती- अतिसन्निकर्ष, अतिविप्रकर्ष, मूर्त्यन्तर से व्यवधान, तम से छिपा रहना, इन्द्रियों की दुर्बलता और अतिप्रमाद। सांख्यदर्शन अ० १, सूत्र १०८, १०९ में विद्यमान विषय के भी इन्द्रियों का विषय न होने के पांच कारण लिखे हैं- अतिदूर, आदि शब्द से अतिसमीप, इन्द्रिय का हान (दुर्बलता), इन्द्रिय और मन के मध्य अन्य वस्तु का उपादान, और अति-सूक्ष्मता ॥

ननु सर्व एव निरालम्बनः स्वप्नवत् प्रत्ययः। प्रत्ययस्य हि निरालम्बनतास्वभाव उपलक्षितः स्वप्ने। जाग्रतोऽपि स्तम्भ इति वा कुड्य इति वा प्रत्यय एव भवति, तस्मात् सोऽपि निरालम्बनः। उच्यते- स्तम्भ इति जाग्रतो बुद्धिः सुपरिनिश्चिता, कथं विपर्ययसिध्यतीति? स्वप्नेऽप्येवमेव सुपरिनिश्चिताऽसीत्। प्राक् प्रबोधनान्, न तत्र कश्चिद्विशेष इति। न, स्वप्ने विपर्ययदर्शनात्, अविपर्ययाच्च इतरस्मिन्। तत्सामान्यादितरत्रापि भविष्यतीति चेत्, यदि प्रत्ययत्वात् स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावः, जाग्रत्प्रत्ययस्यापि तथा भवितुमर्हति।

## निरालम्बनवाद का खण्डन:

**विशेष-** प्रत्यक्ष-प्रकरण के अनुरोध से अब भाष्यकार निरालम्बनवाद और शून्यवाद का खण्डन करते हैं-

**व्याख्या-** (आक्षेप) सभी ज्ञान स्वप्न के समान निरालम्बन (आधार-रहित) है। ज्ञान का निरालम्बनता (आधारशून्यता) स्वप्न का स्वप्न में देखा गया है। अर्थात् स्वप्न में जो भी ज्ञान होता है, उसका कोई बाह्य वस्तु आधार नहीं होती। जागृत पुरुष को स्तम्भ (खम्बा) वा कुड्य (दीवार) इस प्रकार का ज्ञान ही होता है, इसलिये वह जागरित अवस्था का ज्ञान भी निरालम्बन है। (समाधान) जागरित पुरुष को 'स्तम्भ' रूप जो ज्ञान होता है, वह अच्छे प्रकार से निश्चित होता है, वह मिथ्या कैसे होगा? (आक्षेप) स्वप्नकाल में भी जो ज्ञान हुआ था, वह भी इसी प्रकार सुनिश्चित था। जागने से पूर्व तक उस स्वप्नज्ञान में कुछ विशेष नहीं है। (समाधान) ऐसा नहीं है, स्वप्नकाल के ज्ञान में जागने पर विपर्यास देखा जाता है, तथा दूसरे जागरित अवस्था के ज्ञान में विपर्यास नहीं देखा जाने से भिन्न है। ज्ञानसामान्य से दूसरे जागरितकाल के ज्ञान में भी ज्ञान वैसा ही मिथ्या होगा, ऐसा यदि कहा जाये, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि यदि ज्ञानत्वमात्र से स्वप्नज्ञान का मिथ्यात्व माना जाये, तो जागरित अवस्था के ज्ञान का भी मिथ्यात्व माना जा सकता है।

अथ प्रतीतिस्तथाभावस्य हेतुः, न शक्यते प्रत्ययत्वाद् अयमन्य इति वक्तुम्। अन्यतस्तु स्वप्नप्रत्ययस्य मिथ्याभावो विपर्ययादवगतः। कुत इति चेत्? सनिद्रस्य मनसो दौर्बल्यान्निद्रा मिथ्याभावस्य हेतुः स्वप्नादौ स्वप्नान्ते च। सुषुप्तस्याभाव एव। अचेतयन्नेव हि सुषुप्त इत्युच्यते। तस्माज्जाग्रतः प्रत्ययो न मिथ्येति। ननु जाग्रतोऽपि करणदोषः स्यात्? यदि स्याद्, अवगम्येत। स्वप्नदर्शमकालेऽपि नावगम्यते इति चेत्, तन्न प्रबुद्धो ह्यवगच्छति निद्राक्रान्तं मे मन आसीदिति ॥

और यदि जागरित काल की प्रतीति स्वप्नज्ञान के तथाभाव (मिथ्यात्व) में हेतु होवे, तो ज्ञानमात्र होने से यह स्वप्नज्ञान से अन्य जागरित अवस्था का ज्ञान भी वैसा ही होवे, यह नहीं कह सकते। अन्य कारण से स्वप्नज्ञान का मिथ्याभाव है, और वह विपर्यास (वैसा, जैसा कि स्वप्न में देखा था, न होते) से जाना जाता है। कैसे? निद्रासहित पुरुष के मन की दुर्बलता से स्वप्न के आरम्भ से अन्त तक होनेवाले ज्ञान में निद्रा मिथ्यात्व का कारण है। अच्छे प्रकार सोये हुए को वैसा ज्ञान का अभाव ही होता है अर्थात् गाढनिद्रा में स्वप्नज्ञान होता ही नहीं ज्ञान की उपलब्धि न करता हुआ ही 'सुषुप्त' कहा जाता है। इसलिये जागते हुए पुरुष का ज्ञान मिथ्या नहीं होता। (आक्षेप) जागते हुए पुरुष का भी करणदोष (इन्द्रिय वा मन का दौर्बल्य) होवे। और उससे जागरित अवस्था का ज्ञान भी मिथ्या होवे (समाधान) यदि [जाग्रत् पुरुष का करणदोष होवे, तो वह जाना जा सकता है। यदि कहो कि स्वप्नकाल में भी करणदोष नहीं जाना जाता है, तो यह कहना ठीक नहीं, जागने पर पुरुष जानता है कि स्वप्नदर्शन काल में मेरा मन निद्रा से आक्रान्त (अभिभूत) था।

**विवरण** - निरालम्बवादी बाह्य पदार्थ की सत्ता का साक्षात् प्रतिषेध नहीं करता, तथापि वह जागरित अवस्था में होनेवाले ज्ञान में बाह्य पदार्थों का आलम्बन (आधार) स्वीकार नहीं करता। वह जैसे स्वप्न में पदार्थों के न होने पर भी उनका ज्ञान होता है, उसी प्रकार जागरित अवस्था में भी प्रत्ययत्वसामान्य से ज्ञान को निरालम्ब कहता है। शून्यवादी बाह्य-पदार्थ की सत्ता भी स्वीकार नहीं करता। इसलिये वह भी जागरित अवस्था में जो ज्ञान होता है, उसका कोई आधार नहीं मानता। इस रूप में दोनों मतों में कुछ साम्य है। अथवा पूर्व सन्दर्भ और उत्तर सन्दर्भ को एक भी माना जा सकता है। उस अवस्था में निरालम्बवादी ही जागरित अवस्था के ज्ञान के निरालम्बनत्व में शून्यत्व हेतु उपस्थित करता है।

शून्यस्तु। कथम्? अर्थज्ञानयोराकारभेदं नोपलभामहे। प्रत्यक्षा च नो बुद्धिः। अतस्तद्भिन्नमर्थरूपं नाम न किञ्चिदस्तीति पश्यामः। स्यादेतदेवं, यद्यर्थाकारा बुद्धिः स्यात्। निराकारा तु नो बुद्धिः, आकारवान् बाह्योऽर्थः। स हि बहिर्देशसम्बद्धः प्रत्यक्षमुपलभ्यते। अर्थविषया हि प्रत्यक्षाबुद्धिः, न बुद्ध्यन्तरविषया। क्षणिका हि सा, न बुद्ध्यन्तरकालमवस्थास्यत इति। 'उत्पद्यमानैवासौ ज्ञायते, ज्ञापयति च अर्थान्तरं, प्रदीपवद्' इति यद् उच्यते, तन्न, न ह्यज्ञातेऽर्थे कश्चिद् बुद्धिमुपलभते, ज्ञाते त्वनुमानादवगच्छति। तत्र यौगपद्यमनुपपन्नम्। ननूत्पन्नायामेव बुद्धौ ज्ञातोऽर्थ इत्युच्यते, नानुत्पन्नायाम्। अतः पूर्व बुद्धिरुत्पद्यते, पश्चाज्ज्ञातोऽर्थः।

## शून्यवाद का खण्डन

**व्याख्या-** (आक्षेप) [बाह्य-पदार्थ] तो शून्य है। अर्थात् बाह्य-पदार्थ का सद्भाव ही नहीं है, इससे ज्ञान निरालम्बन ही होता है। कैसे? अर्थ और ज्ञान के आकार के भेद को हम उपलब्ध नहीं करते। अर्थात् 'गो' शब्द के श्रवण होने पर 'गौ यह ज्ञान' और 'गौ यह द्रव्य' ऐसा भेद प्रतीत नहीं होता। हमारी बुद्धि (ज्ञान) प्रत्यक्ष है, सब से गृहीत होती है। इस कारण बुद्धि से भिन्न अर्थरूप कोई पदार्थ नहीं है, यह हम मानते हैं। (समाधान) ऐसा स्वीकार किया जा सकता है, यदि हमारी बुद्धि अर्थ के आकारवाली अर्थात्

साकार हो। परन्तु हमारी बुद्धि तो निराकार है, और बाह्य पदार्थ आकारवाला है। वह (पदार्थ) बहिर्देश (बुद्धिस्थान से बाहर) से सम्बद्ध प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है। अर्थ विषयक ही बुद्धि प्रत्यक्ष है, बुद्ध्यन्तरविषयक नहीं। वह (बुद्धि) निश्चय ही क्षणिक (क्षण मात्र रहनेवाली) है, अन्य बुद्धि के उत्पन्न होने तक नहीं उठरती। 'यदि ऐसा कहते हो कि प्रदीप के समान यह बुद्धि उत्पन्न होती हुई ज्ञात होती है, और अर्थान्तर को ज्ञापित करती है', तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अज्ञात अर्थ में (अर्थ के उपलब्ध न होने पर) कोई बुद्धि को उपलब्ध नहीं करता, अर्थ के ज्ञात होने पर तो अनुमान से जानते हैं अर्थात् इस द्रव्यविषयक मेरा ज्ञान है। इसलिये इस विषय में यौगपद्य (एक काल में होना) उपपन्न नहीं होता। अर्थात् जिस काल में बुद्धि उत्पन्न होती है, उसी काल में पदार्थ को ग्रहण करती है। (आक्षेप) बुद्धि के उत्पन्न होने पर ही 'अर्थ ज्ञात हुआ ऐसा' कहा जाता है, बुद्धि के उत्पन्न नहीं होने पर नहीं कहा जाता है। इसलिये पहले बुद्धि उत्पन्न होती है, पीछे अर्थ ज्ञात होता है। इस प्रकार 'पदार्थ के अज्ञात होने पर बुद्धि उपलब्ध नहीं होती, अर्थ के ज्ञात होने पर ही उसे अनुमान से जानते हैं' यह कहना ठीक नहीं है। (समाधान) यह सत्य है, पहले बुद्धि उत्पन्न होती है, परन्तु पहले वह ज्ञात (उपलब्ध) नहीं होती। कभी कभी यह भी होता है कि ज्ञात हुआ अर्थ भी 'अज्ञात' कहा जाता है। अर्थ के व्यपदेश (नाम के व्यवहार) के बिना बुद्धि के स्वरूप का ज्ञान नहीं होता। अर्थात् ज्ञान का व्यपदेश घटविषयकं मे ज्ञानम् इत्यादि प्रकार से ही होता है। विना अर्थव्यपदेश के ज्ञान किस विषय वाला है, यह ज्ञात नहीं होता। इस कारण बुद्धि अर्थसम्बन्ध से शून्य व्यपदेश के योग्य नहीं होती, और अव्यपदेश्य (जिसे

सत्यम्, पूर्वं बुद्धिरुत्पद्यते, न तु पूर्वं ज्ञायते। भवति हि कदाचिदेतद् यज्ज्ञातोऽप्यर्थः सन् 'अज्ञातः' इत्युच्यते। न चार्थव्यपदेशमन्तरेण बुद्धेः रूपोपलम्भनम्। तस्मान्न व्यपदेश्या बुद्धिः, अव्यपदेश्यं च न प्रत्यक्षम्। तस्मादप्रत्यक्षा बुद्धिः। अपि च काममेकरूपत्वे बुद्धेरेवाभावः, नार्थस्य प्रत्यक्षस्य सतः। न च ऐकरूप्यम्। अनाकारामेव हि बुद्धिमनुमिमामहे, साकारं चार्थं प्रत्यक्षमेवावगच्छामः। तस्मादर्थालम्बनः प्रत्ययः। अपि च, नियतनिमित्तस्तन्तुष्वेवोपादीयमानेषु पटप्रत्ययः। इतरथा तन्वादानेऽपि कदाचिद् घटबुद्धिरविकलेन्द्रियस्य स्यात्। न चैवमस्ति। अतो न निरालम्बनः प्रत्ययः। अतो न व्यभिचरति प्रत्यक्षम् ॥

कहा न जा सके, ऐसा) प्रत्यक्ष नहीं होता', इसलिये बुद्धि अप्रत्यक्ष है। और अर्थ और बुद्धि की एकरूपता स्वीकार करने पर बुद्धि का ही अभाव होगा, प्रत्यक्ष दृश्यमान अर्थ का अभाव नहीं हो सकता। और अर्थ और बुद्धि की एकरूपता भी नहीं है। आकार से रहित ही बुद्धि का अनुमान करते हैं, और साकार अर्थ को प्रत्यक्ष ही उपलब्ध करते हैं। इस कारण ज्ञान अर्थ पर आश्रित है। और नियतनिमित्तवाले (नियत ढंग से बुने हुए) तन्तुओं के ग्रहण होने पर ही वस्त्र का ज्ञान होता है। अन्यथा नियतनिमित्तवाले तन्तुओं के ग्रहण करते पर भी निर्दोष इन्द्रियवाले पुरुष को कदाचित् 'घट' का ज्ञान सम्भव होव। पर ऐसा कभी नहीं होता। इस कारण ज्ञान निरालम्बन नहीं होता। इस कारण प्रत्यक्ष व्यभिचरित नहीं होता।

**विवरण-** भाष्यकार ने जिस निरालम्बन और शून्यवाद का प्रत्याख्यान किया है, यह बौद्धों का दार्शनिक सिद्धान्त है। वृत्तिकार उपवर्ष भगवान् बुद्ध से बहुत प्राचीन आचार्य हैं। अतः बौद्धों के इन सिद्धान्तों का खण्डन वृत्तिकार उपवर्षकृत नहीं है, अपितु भाष्यकार शबरस्वामीकृत है, ऐसा जानना चाहिये। भाष्यकारों द्वारा दर्शाये गये बौद्ध मतों के खण्डनों के साथ सूत्रकारों का कोई सम्बन्ध नहीं जानना चाहिये। हां, इतना तो अवश्य है कि उत्तरकालीन बौद्ध आदि मतानुयायियों द्वारा स्वीकृत कतिपय सिद्धान्त प्राचीन वैदिक वाङ्मय में भी उसी रूप में अथवा कुछ भेद से उपलब्ध होते हैं, अतः उन प्राचीन कतिपय सिद्धान्तों का खण्डन तो सूत्रों में हो सकता है॥

**विशेष-** सूत्रकार ने केवल प्रत्यक्ष प्रमाण के विषय में ही विचार किया है। भाष्यकार अथवा वृत्तिकार उपवर्ष प्रत्यक्षाश्रित अन्य प्रमाणों का भी निर्देश करते हैं-

अनुमानं ज्ञातसम्बन्धस्यैकदेशदर्शनादेकदेशान्तरेऽसन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिः। तत्तु द्विविधम्- प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं, सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं च। प्रत्यक्षतो दृष्टसम्बन्धं यथा धूमाकृतिदर्शनादग्न्याकृतिविज्ञानम्। सामान्यतो दृष्टसम्बन्धं यथा-देवदत्तस्य गतिप, पूर्विकां देशान्तरप्राप्तिमुपलभ्यादित्यगतिस्मरणम्॥



## अन्य प्रमाणों की उपपत्ति

**व्याख्या-** [अनुमान] ज्ञात है लिङ्ग-लिङ्गी का व्याप्तिरूप सम्बन्ध जिसका, उसके एकदेश व्याप्ति-सम्बन्ध से गृहीत लिङ्ग-लिङ्गी में से एक लिङ्ग के दर्शन से असन्निकृष्ट (इन्द्रियसन्निकर्ष से रहित) एकदेशान्तर (लिङ्ग से भिन्न लिङ्गी) रूप अर्थ में जो ज्ञान होता है, वह अनुमान कहलाता है। वह अनुमान दो प्रकार का होता है। एक- जिनका व्याप्ति सम्बन्ध प्रत्यक्ष से ज्ञात है; और दूसरा- जिनका व्याप्ति सम्बन्ध सामान्यरूप से ज्ञात है। प्रत्यक्ष से दृष्टसम्बन्ध यथा- धूम को देखकर अग्नि का ज्ञान होना। सामान्यरूप से दृष्टसम्बन्ध यथा- देवदत्त की गतिपूर्वक देशान्तर-प्राप्ति को जानकर आदित्य की गति का ज्ञान होना।

**विवरण-** ज्ञातसम्बन्धस्य- का तात्पर्य लिङ्ग-लिङ्गी के अविनाभावरूप सम्बन्ध का ज्ञान होना है। यथा किसी व्यक्ति ने महानस् (पाकशाला) में धूम और अग्नि के साथ-साथ रहने से, अर्थात् जहां धूम होता है, वहां अग्नि भी होती है, इस प्रकार के सम्बन्ध को जान लिया है, वह जब अरण्य में दूर स्थान पर धूम को देखता है, तब उस महानस् में विज्ञात धूम और अग्नि के सम्बन्ध से चक्षु इन्द्रिय के द्वारा असम्बद्ध अग्नि का ज्ञान हो जाता है। उसे धूम-दर्शन से निश्चय हो जाता है कि वहां अग्नि है। यह प्रत्यक्षतोदृष्ट अनुमान कहलाता है। यहां धूम और वह्नि के सम्बन्ध को प्रत्यक्षतः जानकर धूम के प्रत्यक्ष दर्शन से ही अदृष्ट वह्नि का ज्ञान होता है। सामान्यतोदृष्ट अनुमान में भी गतिपूर्वक स्थानान्तर की प्राप्ति तो दृष्ट होती है, परन्तु आदित्य की गति और देशान्तरप्राप्ति प्रत्यक्षतः ज्ञात नहीं होती। अतः यहां सामान्यरूप से विज्ञात अर्थ 'देशान्तरप्राप्ति गतिपूर्वक ही होती है' के आधार पर द्रष्टा सूर्य को स्थानान्तर प्राप्ति से सूर्य की गति को जानता है।

**आदित्यगतिस्मरणम्-** यद्यपि अनेक शास्त्रों में आदित्य की गति का निर्देश उपलब्ध होता है, परन्तु वह गति उसकी अपनी है, अथवा अन्य की गति का उसमें आरोप है, अथवा लोकसाधारण के सामान्यज्ञान के अनुसार मति का कथन है, यह विचारणीय होता है। क्योंकि लोक में सभी प्रकार का प्रयोग होता है। यथा- देवदत्तो ग्रामं गच्छति में देवदत्तस्थ गति को ही कहते हैं। ग्रामो गतः, ग्राम आगतः यहां देवदत्त अथवा यान के गमन वा आगमन का ग्राम में आरोप होता है। तीव्र गतिवाले यान में बैठे व्यक्ति को यान से बाहर की वस्तुएं उलटी दिशा में दौड़ती हुई दिखाई पड़ती हैं। उनके लिये भी 'वृक्ष दौड़ रहे हैं' ऐसा व्यवहार होता है। ऐसी स्थिति में यदि कोई मनुष्य किसी में आरोपित अथवा साधारणतः दृष्ट गति को उस की ही गति मान ले, तो विद्वान् जन उसे अपरीक्षितकारक कहेंगे, उसके ज्ञान को मिथ्या-ज्ञान कहेंगे। इसी प्रकार सामान्य लोकविज्ञात आदित्य की गति पर भी विचार करना चाहिये कि क्या स्थानान्तरदर्शन से प्रतीयमान गति आदित्य की स्वगति है, अथवा अन्य की गति से आदित्य में स्थानान्तरत्व की प्रतीति होती है? इस विषय में समस्त वैदिक वाङ्मय तथा ज्योतिषशास्त्र इस बात को कहता है कि आदित्य में प्रतीयमान गति पृथिवी की गति के कारण प्रतीत होती है। शास्त्रकार अनेक स्थानों पर यादृगेव ददृशे तादृग् उच्यते (ऋ० 5।4।16) 'जैसा दिखाई देता है, वैसा कहा जाता है' के रूप में भी इसका निर्देश करते हैं।

**शास्त्रं शब्दविज्ञानादसन्निकृष्टेऽर्थे विज्ञानम्। उपमानमपि सादृश्यम्, असन्निकृष्टेऽर्थे बुद्धिमुत्पादयति। यथा- गवयदर्शनं गोस्मरणस्य। अर्थापत्तिरपि दृष्टः श्रुतो वार्थोऽन्यथा नोपपद्यते इत्यर्थकल्पना। यथा-जीवति देवदत्ते गृहाभावदर्शनेन बहिर्भावस्यादृष्टस्य कल्पना।**

**अभावोऽपि प्रमाणाभावः। नास्तीत्यस्यार्थस्यासन्निकृष्टस्य। तस्मात् प्रसिद्धत्वान्न परीक्षितव्यं निमित्तम्॥**

**व्याख्या-** शब्द के ज्ञान से चक्षु आदि से असन्निकृष्ट अर्थ में ज्ञान होना शास्त्रप्रमाण (शब्दप्रमाण) कहलाता है। उपमान भी सादृश्य है, वह दृश्यमान सादृश्य असन्निकृष्ट अर्थ में ज्ञान को उत्पन्न करता है। यथा- गौ और गवय (नीलगाय) का सादृश्य ज्ञान होने पर अरण्य में गवय का दर्शन गौ के स्मरण का कारण होता है। अर्थात् गौ और गवय की समानता को जाननेवाला जब गवय को देखता है, तब वह गवयदर्शन सादृश्य से गौ को स्मरण करता है कि यह गवय गौ सदृश है।

दृष्ट वा श्रुत अर्थ और रूप से उपपन्न नहीं होता, ऐसे अर्थ की कल्पना का नाम अर्थापत्ति है। यथा- देवदत्त के जीते हुए (वे देवदत्त के जीवित होने का ज्ञान होते हुए) गृह में उसके अभावदर्शन से [उसके] अदृष्ट बहिर्भाव (बाहर होने) की कल्पना होती है।

अभाव भी [प्रत्यक्षादि] प्रमाण का अभाव (अनुपलब्धि) रूप है। [यथा-घर में घड़ा] नहीं है, यह कथन घटरूप अर्थ की असन्निकृष्टता का बोधक होता है। इस कारण प्रत्यक्षादि प्रमाणों के प्रसिद्ध होने से, अर्थात् प्रमाणों के स्वतःप्रमाण होने से इन को धर्म में निमित्तता की परीक्षा नहीं करनी चाहिये।

**विवरण-** उपमान का स्वरूप न्यायदर्शन (१।१।६) में अन्य प्रकार से दर्शाया है। यथा- प्रसिद्धसाधर्म्य से साध्य को सिद्ध करना 'उपमान' कहलाता है। जो व्यक्ति 'गवय' को नहीं जानता, उसने पूछा 'गवय' कैसा होता है? उत्तर देनेवाले ने कहा- जैसी गौ वैसा ही गवय होता है। इससे प्रष्टा गो और गवय के समान धर्म को जान लेता है। तदनन्तर जब वह जंगल में गौ के सदृश किसी

प्राणी को देखता है, तो वह प्रज्ञात सामान्यधर्म से प्रज्ञापनीय गवय को जान लेता है कि यह प्राणी 'गवय' नामवाला है। इस प्रकार नैयायिकों के मत में संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध का प्रतिपादन उपमान का प्रयोजन है।

अर्थापत्ति के भाष्यकार ने दृष्टार्थापत्ति और श्रुतार्थापत्तिरूप भेद तो दो कहे हैं परन्तु उदाहरण दृष्टार्थापत्ति का ही दिया है। श्रुतार्थापत्ति का उदाहरण भट्ट कुमारिल ने प्रकृत भाष्यव्याख्यान में इस प्रकार दिया है-

**पीनो दिवा न भुङ्क्ते चेत्येवमादि वचः श्रुतौ।**

**रात्रिभोजनविज्ञानं श्रुतार्थापत्तिरिष्यते॥ ( श्लोकवार्तिक अर्थापत्ति परिच्छेद ५१॥ )**

अर्थात्-कोई कहे कि मोटा देवदत्त दिन में भोजन नहीं करता, तो इस वचन के श्रवण से 'रात में खाता है' यह अर्थ ज्ञात होता है। क्योंकि बिना भोजन के पीनत्व (मोटापन) उपपन्न नहीं हो सकता॥

### शब्दप्रामाण्य-विचारः

ननु प्रत्यक्षादीन्यन्यानि भवन्तु नाम प्रमाणानि, शब्दस्तु न प्रमाणम्। कुतः? 'अनिमित्तं विद्यमानोपलम्भनत्वात्'। अनिमित्तम् अप्रमाणं शब्दः। यो ह्युपलम्भनविषयो नोपलभ्यते, स नास्ति। यथा शशस्य विषाणम्। उपलम्भकानि चेन्द्रियाणि पशवादीनाम्। न च पशुकामेष्ट्यनन्तरं पशव उपलभ्यन्ते। अतो नेष्टिः पशुफला। कर्मकाले च फलेन भवितव्यम्। यत्कालं हि मर्दनं, तत्कालं मर्दनसुखम्। 'कालान्तरे फलं दास्यति' इति चेन्न, न कालान्तरे फलमिष्टेः इत्यवगच्छामः। कुतः? यदा तावदसौ विद्यमानाऽऽसीत् तदा फलं न दत्तवती। यदा फलमुत्पद्यते, तदाऽसौ नास्ति।

### शब्द-प्रामाण्य-विचार

**व्याख्या-** (आक्षेप) चाहे प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाण हो, शब्द तो प्रमाण नहीं हो सकता। किस कारण? अनिमित्त विद्यमानोपलम्भनत्वात्। शब्द अनिमित्त प्रमाण है। जो पदार्थ उपलब्धि का विषय होता हुआ [उपलब्ध] नहीं होता, वह नहीं है। जैसे-खरगोश के सींग। इन्द्रियां पशु आदि अर्थों की उपलम्भक (उपलब्धि कराने वाली) हैं। चित्रया यजेत पशुकामः ( तै. सं. 2।4।6 ) इत्यादि बोधित चित्रा नाम को पशुकामेष्टि के अनन्तर पशु उपलब्ध नहीं होते। इस कारण [चित्रा] इष्टि पशुरूप फल को देनेवाली नहीं है। कर्म (याग) के समय ही फल को होना चाहिये। जिस काल में मर्दन (मालिस) होता है, उसी समय मर्दन का सुख होता है। कालान्तर में [इष्टि] फल देगी ऐसा कहा जाये, तो ठीक नहीं, 'कालान्तर में प्राप्त पशु इष्टि का फल है' यह हम नहीं जानते। किस कारण से? जब यह इष्टि विद्यमान हो रही थी, तब उसने फल नहीं दिया। और जब फल प्राप्त होता है, तब वह इष्टि नहीं है। [विद्यमान] न होते हुये असतो कथं दास्यति? अपि च तत्काल एवं फलं श्रूयते। यागः करणमिति वाक्यादवगम्यते। कारणं चेदुत्पन्नं, कार्येण भवितव्यमिति। प्रत्यक्षं च फलकारणमन्यदुपलभामहे। न च दृष्टे कारणे सत्यदृष्टं कल्पयितुं शक्यते, प्रमाणभावात्। एवं दृष्टापचारस्य वेदस्य स्वर्गाद्यपि फलं न भवतीति मन्यामहे। दृष्टविरुद्धमपि भवति किञ्चिद्वचनम्। पात्रचयनं विधायाह 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्गं लोकं याति इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति। न च तत् स्वर्गं लोकं यातीति, प्रत्यक्षं हि तद्गृह्यते। न चैष 'याति' इति विधिः शब्दः। एवञ्जातीयकं प्रमाणविरुद्धं वचनमप्रमाणम्। 'अम्बुनि मज्जन्त्यलाबूनि, ग्रावाणः प्लवन्ते' इति यथा। तत्सामान्यादग्निहोत्रादिचोदनास्वप्ननाश्वासः। तस्मान्न चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ( १।१।२ ) ॥

इष्टि कैसे फल देगी? और भी, उसी काल में जब इष्टि हो रही है फल सुना जाता है। याग फल की प्राप्ति में करण (साधन) है, यह [चित्रया यजेत पशुकामः] वाक्य से जाना जाता है। यदि कारण उत्पन्न हो गया, तो कार्य होना चाहिये और फल का प्रत्यक्ष कारण अन्य [दानादि] देखते हैं। दृष्ट कारण [दानादि] के होने पर प्रमाण के अभाव में अदृष्ट [कारण] की कल्पना नहीं कर सकते। इस प्रकार [दृष्टफल-विषयक] व्यभिचार जिसका देखा जाता है, उस वेद का अदृष्टविषयक स्वर्गादि भी फल नहीं होता, यह हम मानते हैं। कोई वचन दृष्टविरुद्ध भी होता है। [मृत यजमान के शरीर पर यज्ञीय] पात्रों को रखने का विधान करते कहा है- 'वह यह यज्ञायुधी (यज्ञपात्र ही जिसके शस्त्र हैं, वह) यजमान शीघ्र स्वर्ग लोक को प्राप्त होता है।' इस वचन में प्रत्यक्ष मृत कुत्सित शरीर का निर्देश किया है। वह मृत शरीर स्वर्गलोक को प्राप्त नहीं होता, वह प्रत्यक्ष ही जला दिया जाता है। और यह 'याति' पद विधि शब्द (विधायक लिङ् आदि रूप) भी नहीं है, [वर्तमानकाल को कहन-वाला क्रियाशब्द है]। इस प्रकार के प्रमाणविरुद्ध वेद के वचन अप्रमाण हैं। जैसे- 'जल में लौकी डूब जाते हैं, और पत्थर तैरते हैं' इत्यादि वचन। उस दृष्टफल-विषयक वचन की समानता से अग्निहोत्रादि-विषयक [अग्निहोत्र जुहुयात् स्वर्गकामः आदि] चोदना-वाक्यों में भी विश्वास नहीं होता। इस कारण चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः ( मी. 1।1।2 ) [सूत्रोक्त धर्म-लक्षण ठीक नहीं है।

**विवरण-** 'पशुकामेष्ट्यनन्तरम्'- यह पशुकामेष्टि का सामान्य निर्देश है। शास्त्रों में अनेक पशुकामेष्टियां कही हैं। यथा- चित्रया यजेत पशुकामः ( तै. सं. 2।4।6 )। यहां 'चित्रा' इष्टिविशेष का नाम है, यह 'यस्मिन् गुणोपदेशः प्रधानतोऽभिसम्बन्धः' ( मी.

1।4।3) में कहेंगे। अतः इस वैदिक वचन का अर्थ होता है- ‘पशु की कामनावाला चित्रा नाम के याग से पशुरूप फल को प्राप्त करे।’

**पात्रचयनं विधाय-** आहिताग्निक दम्पती में से जब किसी की मृत्यु होती है, तब उसके यज्ञों के पात्र मृत व्यक्ति के शरीर पर रखकर अग्निप्रदान करते हैं। मृतक के किस अङ्ग पर कौनसा पात्र रखें, इसका विधान शतपथ ब्रा० १२।५।२।७ में तथा आश्वलायन गृह्यसूत्र ४।३। १-१८ में किया है। ‘स एष यज्ञायुधी’ यह वचन इसी रूप में, प्राप्त नहीं होता। निदानसूत्र में पतञ्जलि ने इसे इस प्रकार उद्धृत किया है- ‘स एष यज्ञायुधी यजमानः स्वर्गं लोकमेतीति ब्राह्मणम्’ (निदानसूत्र 2।6)। यज्ञ के आयुध, यज्ञायुध हैं जिसके वह आहिताग्नि यजमान। यहां आयुध शब्द सादृश्यलक्षणा से यज्ञीय पात्रों का वाचक है। जैसे आयुध संग्राम के साधन हैं, वैसे ही पात्र यज्ञकर्म के साधन हैं। **शरीरकम्-** यहां कुत्सित अर्थ में शरीर शब्द से कन् प्रत्यय हुआ है (द्र०- कुत्सिते। अष्टा० ५/३/७४)। अतः यहां ‘शरीरक’ शब्द से निन्दित शरीर- मृत शरीर का निर्देश जानना चाहिये।

‘औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानम्’। तुशब्दः पक्ष व्यावर्तयति। अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। तस्याग्निहोत्रादिलक्षण स्यार्थस्य ज्ञानं प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानस्य। तथा च चोदनालक्षणः सम्यक् संप्रत्यय इति। पौरुषेये हि शब्दे यः प्रत्ययः, तस्य मिथ्याभाव आशङ्क्येत, परप्रत्ययो हि तदा स्यात्। अथ शब्दे ब्रवीति कथं मिथ्येति? न हि तदानीमन्यतः पुरुषाद् अवगतिमिच्छामः। ब्रवीतीत्युच्यते, बोधयति बुद्ध्यमानस्य निमित्तं भवतीति।

### शब्दार्थ-सम्बन्ध-विचार

**व्याख्या-** (समाधान) ‘औत्पत्तिकस्तु ज्ञानम्’। सूत्र में। ‘तु’ शब्द पूर्वपक्ष को हटाता है। शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अपौरुषेय है। उस प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात न होने वाले अग्निहोत्रादि से लक्षित [स्वर्गादि] अर्थ के ज्ञान का साधन होता है। इस प्रकार (शब्दार्थसम्बन्ध के अपौरुषेय होने से) चोदना ही लक्षण है जिसका वह ज्ञान सम्यक् होता है। पुरुष द्वारा उच्चरित शब्द से जो ज्ञान होता है उसके मिथ्यात्व की आशङ्का हो सकती है, क्योंकि उस अवस्था में वह दूसरे [वक्ता] का ही ज्ञान होता है। अपौरुषेय शब्द के कहने पर उससे ज्ञात ज्ञान कैसे मिथ्या हो सकता है? क्योंकि उस समय हम अपौरुषेय वचन से किसी अर्थ को जानते हैं, तब अन्य पुरुष से उस प्रकार के अर्थ के ज्ञान की हम इच्छा नहीं करते अर्थात् पौरुषेय शब्द से उच्चरित ज्ञान की यथार्थता के लिये जैसे वक्ता के आप्तत्व की अपेक्षा रखते हैं, वैसे अपौरुषेय वचन से विज्ञायमान अर्थ को सत्यता के लिये किसी पुरुषान्तर की अपेक्षा नहीं होती। आप (पूर्वपक्षी) भी ब्रवीति ‘अर्थ को कहता है’ ऐसा कहते हैं, अर्थात् बुद्ध्यमान जाननेवाले व्यक्ति के ज्ञान का निमित्त होता है।

शब्दे च निमित्तं स्वयं बुद्ध्यते। कथं विप्रलब्धं ब्रूयाद्, नैतदेवमिति। न चास्य चोदना ‘स्याद्वा न वा’ इति सांशयिकं प्रत्ययमुत्पादयति। न च मिथ्यैतदिति कालान्तरे देशान्तरेऽवस्थान्तरे पुरुषान्तरे वा पुनरव्यपदेश्यप्रत्ययो भवति। योऽप्यस्य प्रत्ययविपर्ययास दृष्ट्वाऽत्रापि विपर्ययसिध्यतीत्यानुमानिकः प्रत्यय उत्पद्यते, सोऽप्यनेन प्रत्यक्षेण प्रत्ययेन विरुद्ध्यमानो बाध्यते। तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मः।

स्यादेतदेवं, नैव शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। कुतोऽस्य पौरुषेयता अपौरुषेयता वेति? कथम्? स्याच्चेदर्थेन सम्बन्धः क्षुरमोदकशब्दोच्चारणे मुखस्य पाटनपूरणे स्याताम्। यदि संश्लेषलक्षणं सम्बन्धमभिप्रेत्योच्यते कार्यकारणनिमित्तनैमित्तिका-ऽऽश्रयाश्रयिभावादयस्तु सम्बन्धाः शब्दस्यानुपपन्ना, एवेति।

और शब्द के निमित्त होने पर स्वयं जानता है। वह अपौरुषेय शब्द कैसे मिथ्या कहेगा जिससे यह ऐसा नहीं है, ऐसा जाना जाये? क्योंकि ज्ञान के मिथ्यात्व में जो कारण हो सकता है, वह अपौरुषेय शब्द में विद्यमान नहीं है। इस बोद्धा के प्रति चोदनावाक्य यह अर्थ इस प्रकार का होगा, वा नहीं होगा ऐसे सांशयिक ज्ञान को भी उत्पन्न नहीं करता। यह चोदना वाक्य से ज्ञात अर्थ कालान्तर में, देशान्तर में अवस्थान्तर में अथवा पुरुषान्तर में मिथ्या है ऐसा अव्यपदेश्य (न कहने योग्य बाधित) ज्ञान नहीं होता और जो भी इस लौकिक शब्द के ज्ञान का मिथ्यात्व देखकर यहां वैदिक शब्द में भी ‘मिथ्या होगा’ ऐसा आनुमानिक ज्ञान उत्पन्न होता है, वह भी इस वैदिक शब्द से उत्पद्यमान प्रत्यक्ष ज्ञान से विरुद्ध होता हुआ बाधित होता है। अर्थात् प्रत्यक्षविरुद्ध अनुमान का उदय ही नहीं होता। इसलिये चोदनावाक्य से लक्षित अर्थ ही धर्म है।

(आक्षेप) यह इस प्रकार हो सकता है यदि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध हो परन्तु शब्द का अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध ही नहीं। फिर शब्दार्थ-सम्बन्ध का पौरुषेयता वा अपौरुषेयता का अवकाश ही कहां है? कैसे? याग शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होवे तो छुरा और लड्डू शब्दों के उच्चारण होने पर मुख का कटना और भरना हो जाये। यदि शब्द और अर्थ के संश्लेष (संयोग) सम्बन्ध को मानकर कहा जाये, तो कार्यकारण, निमित्त नैमित्तिक, आश्रय-आश्रयिभाव आदि सम्बन्ध शब्द के उपपन्न ही नहीं होते। उच्यते-यो ह्यत्र व्यपदेश्यः सम्बन्धस्तमेकं न व्यपदिशति भवान्- प्रत्यायस्य प्रत्यायकस्य च यः सञ्ज्ञासञ्ज्ञिलक्षण इति। आह- यदि प्रत्यायकः शब्द, प्रथमश्रुतः किं न प्रत्याययति? उच्यते सर्वत्र नो दर्शनं प्रमाणम्। प्रत्यायक इति हि प्रत्ययं दृष्ट्वाऽवगच्छामः, न प्रथम.



श्रुत इति। प्रथमश्रवणे प्रत्ययमदृष्ट्वा, यावत्कृत्वः श्रुतेन 'इयं संज्ञा अयं संज्ञी' इत्यवधारित भवति, तावत्कृत्वः श्रुतादर्थविगम इति। यथा चक्षुर्दृष्टत्वेन बाह्येन न प्रकाशेन विना प्रकाशयतीत्यदृष्टं न भवति। यदि प्रथमश्रुतो न प्रत्याययति, कृतकस्तर्हि शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। कुतः? स्वभावतो ह्यसम्बन्धावेतो शब्दार्थौ, मुखे हि शब्दमुपलभामहे, भूमावर्थम्। शब्दोऽयं न त्वर्थः, अर्थोऽयं न शब्द इति च व्यपदिशन्ति। रूपभेदोऽपि भवति- 'गौः' इतीमं शब्दमुच्चारयन्ति, सास्नादिमन्तमर्थमवबुध्यन्ते इति। पृथग्भूतयोश्च यः सम्बन्धः, स कृतको दृष्टः। यथा रज्जुघटयोरिति॥

## शब्दस्वरूप-विचार

(समाधान) आक्षेप का उत्तर देते हैं-यहां जो कहने योग्य सम्बन्ध है, उस एक, को आप कहते ही नहीं, ज्ञेय और ज्ञापक का जो संज्ञा संज्ञीरूप सम्बन्ध है। (आक्षेप) यदि शब्द अर्थ का ज्ञान करानेवाला है, तो वह पहली बार सुना हुआ अर्थ का ज्ञान क्यों नहीं कराता? (समाधान) हमारे लिये सर्वत्र दर्शन (लोकव्यवहार) प्रमाण है। शब्द अर्थ का बोधक है, यह शब्द द्वारा ज्ञान की उपलब्धि को देखकर हम जानते हैं, प्रथम श्रुत शब्द अर्थ का प्रत्यायक होता है, यह नहीं मानते। प्रथम श्रवण होने पर अर्थ के ज्ञान की उपलब्धि न देखकर, जितनी बार सुनने से 'यह इसकी संज्ञा है, और यह इसका संज्ञी है' यह निश्चित होता है, उतनी बार सुने हुये शब्द से अर्थ का ज्ञान स्वीकार करते हैं। जैसे देखनेवाली आंख बिना बाह्य प्रकाश के अर्थ को प्रकाशित नहीं करती, इतने से वह 'न देखनेवाली' नहीं हो जाती है। (आक्षेप) यदि प्रथम श्रुत अर्थ का ज्ञान नहीं करता, तो शब्द अर्थ का सम्बन्ध कृतक (अनित्य) है। किस कारण? ये शब्द और अर्थ स्वभाव से असम्बद्ध हैं। मुख में शब्द और भूमि पर अर्थ है। यह शब्द है अर्थ नहीं, और यह अर्थ है शब्द नहीं, ऐसा कहते हैं। दोनों में रूप का भेद भी होता है- 'गो' इस शब्द को उच्चारित करते हैं, और सास्ना गलकम्बल आदि अवयवों से सम्बद्ध अर्थ को जानते हैं। पृथक् रूप से वर्तमान दो का जो सम्बन्ध होता है, वह कृत्रिम देखा जाता है। जैसे [पानी निकालने के लिये] रस्सी और घट का॥

**विवरण-** पूर्वपक्षी ने शब्दार्थसम्बन्ध के विषय में जो आक्षेप किया है, उसके समाधान के लिये शब्द के स्वरूप पर पहले विचार करना आवश्यक है। इसलिये भाष्यकार, शब्दार्थ, सम्बन्ध पर किये गये आक्षेप का समाधान देने से पहले शब्द के स्वरूप पर विचार करते हैं।

**अथ गौरित्यत्र कः शब्दः गकारौकारविसर्जनीया इति भगवानुपवर्षः। श्रोत्रग्रहणे ह्यर्थे लोके शब्दशब्दः प्रसिद्धः। ते च श्रोत्रग्रहणाः। यद्येवम्, अर्थप्रत्ययो नोपपद्यते। कथम्? एकैकाक्षरविज्ञानेऽर्थो नोपलभ्यते। न चाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम, यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। यदा गकारो न तदा औकारविसर्जनीयौ, यदौकारविसर्जनीयौ न तदा गकारः। अतो गकारादिव्यतिरिक्तोऽन्यो गोशब्दोऽस्ति, यतोऽर्थप्रतिपत्तिः स्यात्। अन्तर्हिते शब्दे स्मरणादर्थप्रतिपत्तिश्चेत्? न, स्मृतेरपि क्षणिकत्वादक्षरैस्तुल्यता। पूर्ववर्णजनितसंस्कारसहितोऽन्यो वर्णः प्रत्यायक इत्यदोषः ॥**

**व्याख्या-** अच्छा तो 'गौः' यहां कौन शब्द है? गकार औकार और विसर्जनीय शब्द हैं, ऐसा भगवान् उपवर्ष कहते हैं। श्रोत्र से जिसका ग्रहण होता है, उस अर्थ में ही 'शब्द' शब्द का लोक में व्यवहार प्रसिद्ध है। वे गकार, औकार और विसर्ग श्रोत्र से ग्रहण होने-वाले हैं। (आक्षेप) यदि ऐसा है अर्थात् गकार औकार और विसर्जनीय ही शब्द हैं, तो अर्थ का ज्ञान नहीं होगा। कैसे? एक-एक अक्षर के जानने पर अर्थ गृहीत नहीं होता। और अक्षरों से व्यतिरिक्त (अन्य) समुदायरूप कोई शब्द नहीं है, जिससे अर्थ की प्रतीति हो। जब गकार गृहीत होता है, तब औकार और विसर्जनीय गृहीत नहीं होते, जब औकार और विसर्जनीय गृहीत होते हैं, तब गकार गृहीत नहीं होता। इससे जाना जाता है कि गकार आदि से भिन्न कोई 'गौः' शब्द है, जिससे अर्थ की प्रतीति होती है। गकारादि शब्द के अन्तर्हित (लुप्त) हो जाने पर उनके स्मरण से अर्थ की प्रतीति होती है, ऐसा यदि कहो, तो यह भी उपपन्न नहीं होता, [क्योंकि] स्मृति के भी क्षणिक होने से उसका भी अक्षरों के साथ तुल्यभाव है। अर्थात् एक-एक वर्ण की स्मृति के भी क्षणिक होने से 'गौः' ऐसी एकाकार स्मृति नहीं होगी (समाधान) पूर्व-पूर्व वर्ण के श्रवण से उत्पन्न संस्कारसहित अन्त्य वर्ण प्रत्यायक (अर्थ का बोधक) होता है। अर्थात् गकार वर्ण के श्रवण से उत्पन्न जो संस्कार, उसके सहित जो औकार का श्रवण, तदनन्तर पूर्ववर्णश्रवणजनित संस्कार के साथ औकार श्रवण से उत्पन्न जो संस्कार, उसके सहित अर्थात् गकार औकार श्रवण से उत्पन्न जो संयुक्त संस्कार, उसके सहित जो अन्त्य वर्ण विसर्ग, उसके श्रवण से अर्थ की प्रतीति होती है। इस प्रकार शब्द के प्रत्यायकत्व में कोई दोष नहीं है।

**विवरण-** शब्द के स्वरूप के विषय में शास्त्रों में कुछ मतभेद उपलब्ध होता है। नैयायिक ध्वनि को शब्द मानते हैं। वैयाकरण स्फोट को शब्द मानते हैं। उनके मत में स्फोट द्रव्य है, और ध्वनि उसका गुण है- **स्फोटः शब्दो ध्वनिः शब्दगुणः (महाभाष्य 1।1।69)।** शबरस्वामी ने प्रकृत भाष्य में भगवान् उपवर्ष का निर्देश करके ध्वनिरूप शब्द को प्रमाणित किया है। आचार्य शंकर ने भी ब्रह्मसूत्र १।३।२८ के भाष्य में 'वर्णा एव तु शब्द इति भगवानुपवर्षः' इस रूप से प्रस्तुत किया है। भगवान् उपवर्ष ने पूर्वोक्त दोनों मीमांसाओं पर भाष्य लिखा था। अतः उन्होंने शब्दविषयक मत का विवेचन पूर्वमीमांसा १।१।५ के भाष्य में किया था, अथवा उत्तरमीमांसा १।३।२८ के भाष्य में- यह

विचारणीय है। ऐसा ही एक आत्मसद्भाव का प्रकरण मीमांसा १।१।५ तथा वेदान्त ३।३।५३, ५४ में मिलता है। वहां आचार्य शंकर ने लिखा है-शबर स्वामी ने यहीं (वेदान्त ३।३।५३) से आत्मास्तित्व का आकर्षण करके मीमांसा १।१।५ में लिखा है। 'न चाक्षरव्यतिरिक्तोऽन्यः कश्चिदस्ति समुदायो नाम' से वैयाकरणों ने स्वीकृत स्फोटोत्पत्तिक शब्द का निर्देश किया है। इस विषय में यह भी जानना चाहिये कि मीमांसक वर्ण के अतिरिक्त पदादि को शब्द नहीं मानते। नैयायिक वर्ण के साथ पद की भी सत्ता स्वीकार करते हैं। वैयाकरण ध्वनि को शब्द न मानते हुये भी वर्णस्फोट पदस्फोट वाक्यस्फोट आदि अनेक प्रकार के स्फोटों की सत्ता स्वीकार करते हैं। यदा गकारः इत्यादि से भाष्यकार ने 'वाणी के द्वारा क्रमशः एक-एक वर्ण का उच्चारण होता है' का निर्देश किया है। नन्वेवं 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इति लौकिकं वचनमनुपपन्नम् स्यात्। उच्यते-यदि नोपपद्यते, अनुपपन्नं नाम। न हि लौकिकं वचनमनुपपन्नमित्येतावता प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्नोत्युपगन्तुम्। लौकिकानि वचनान्युपपन्नान्यान्यनुपपन्नार्थानि च दृश्यन्ते। यथा- 'देवदत्त ! गामभ्याज' इत्येवमादीनि, 'दश दाडिमानि षडपूपाः' इत्येवमादीनि च॥

**व्याख्या-** (आक्षेप) यदि ऐसा है, तो 'शब्द से हम अर्थ को जानते हैं' यह लौकिक वचन उपपन्न नहीं होगा। (समाधान) यदि लौकिक वचन उपपन्न नहीं होता, तो उपपन्न न होवे। लौकिक वचन उपपन्न नहीं होता, इतने मात्र से वह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से अनवगम्यमान (ज्ञात न होनेवाला) अर्थ का ज्ञान नहीं करा सकता। लौकिक वचन उपपन्न अर्थवाले (सार्थक) और अनुपपन्न अर्थवाले (निरर्थक) दोनों प्रकार के देखे जाते हैं। जैसे- 'देवदत्त गौ को ले जा' इत्यादि [सार्थक], और 'दस अनार, छः पूवे' आदि [अनर्थक] हैं॥

**विवरण-** शबरस्वामी ने यहां लौकिक वाक्यों के सार्थक और अनर्थक भेद और उसके जो उदाहरण दिये हैं, उन का आधार महाभाष्य है। इसकी पुष्टि अनर्थक वाक्य दश दाडिमानि षडपूपाः के प्रतीक-निर्देश से होती है। महाभाष्य का पाठ इस प्रकार है- लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। अर्थवन्ति तावत्- देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन, देवदत्त गामभ्याज कृष्णामिति। अनर्थकानि दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पललपिण्डः अधरोरुक्रमेत् कुमारीः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीन इति। महाभाष्य १।१।१॥ अनर्थक वाक्य का यही उदाहरण महाभाष्य १।२।४५ में, तथा न्यायवात्स्यायनभाष्य ५।२।१० में भी उपलब्ध होता है। दश दाडिमानि आदि का पृथक् पृथक् अर्थ इस प्रकार है- दस अनार छः पूवे कुण्ड बकरे का चर्म मांसपिण्ड इस कुमारी के अधोभाग का वस्त्र (पेटिकोट, घाघरा आदि) स्फैयकृत का लडका स्फैयकृत का पिता ठण्डा (धीरे काम करने वाला)। ये पृथक् पृथक् रूप में तो सार्थक हैं, परन्तु समुदाय अनर्थक है। यही बात महाभाष्यकार ने १।२।४५ के भाष्य में इन वाक्यों को पढ़कर लिखी है-समुदायोऽत्रानर्थकः। अर्थात् यहां समुदाय अनर्थक है। न्यायदर्शन के जिस सूत्र के भाष्य में उक्त उदाहरण दिया है, वह सूत्र इस प्रकार है पौर्वापर्यायोगादप्रतिसम्बद्धार्थमपार्थक्यम् ( 5।2।10 ) अर्थात् जिस में पूर्वापर का संबन्ध न होने से असम्बद्ध अर्थवाला हो, वह अपार्थक्य दोषवाला होता है। ऊपर आक्षेपता ने 'शब्दादर्थं प्रतिपद्यामहे' इस लौकिक वचन से शब्द से सीधी अर्थ की प्रतीति कही थी, उसका भाष्यकार ने समाधान किया है। अब वही आक्षेपता शास्त्रकारों का वचन उद्धृत करके कहना चाहता है कि शास्त्रकार भी शब्द से ही सीधी अर्थ की प्रतीति का व्याख्यान करते हैं-

**ननु च शास्त्रकारा अप्येवमाहुः-** 'पूर्वापरीभूतं भावमाख्यातेनाचष्टे व्रजति पचति इत्युपक्रमप्रभृत्यपवर्गपर्यन्तम्' ( नि.१।१ ) इति यथा। न शास्त्रकारवचनमप्यलमिममर्थमप्रमाणकमुपपादयितुम्। अपि च, नैवैतद् अनुपपन्नार्थम्। अक्षरेभ्यः संस्काराः, संस्क. रादर्थप्रतिपत्तिरिति सम्भवत्यर्थप्रतिपत्तावक्षराणि निमित्तम्। गौण एवार्थप्रतिपत्तौ शब्द इति चेद्, न गौणोऽक्षरेषु निमित्तभावः। तद्भावे भावात्, तद्भावे चाऽभावात्। अथापि गौणः स्यात्, न गौणः शब्दो मा भूदिति प्रत्यक्षादिभिरनवगम्यमानोऽर्थः शक्यः परिकल्पयितुम्। न हि 'अग्निर्माणवकः' इत्युक्ते अग्निशब्दे 'गौणो मा भूद् इति ज्वलन एव माणवकः' इत्यध्यवसीयते। न च प्रत्यक्षो गकारादिभ्योऽन्यो गोशब्द इति, भेददर्शनाभावात्, अभेददर्शनाच्च। गकारादानि हि प्रत्येक्षाणि। तस्माद् 'गौः' इति गकारादिविसर्जनीयान्तं पदम् अक्षराण्येव। अतो न तेभ्यो व्यतिरिक्तमन्यत् पदं नामेति।

**व्याख्या:** (आक्षेप) अच्छा तो शास्त्रकार लोग भी तो इस प्रकार कहते हैं। जैसे पूर्वापरीभूत भाव (क्रिया) को आख्यात (तिङन्त क्रिया) पद से कहते हैं, व्रजति पचति से आरम्भ से लेकर समाप्तिपर्यन्त अर्थ को कहते हैं (निरुक्त १/१/१)। (समाधान) शास्त्रकार का वचन भी शब्द से अर्थ जाना जाता है इस प्रमाणरहित अर्थ को कहने में समर्थ नहीं है। और भी, यह शास्त्रकार का वचन अनुपपन्न अर्थवाला नहीं है। अक्षरों के श्रवण से, संस्कार, और संस्कार से अर्थ का ज्ञान होता है, इस प्रकार अर्थ के ज्ञान में अक्षर निमित्त होते हैं। अर्थ के ज्ञान में शब्द गौण ही है ऐसा कहा जाये, तो यह ठीक नहीं, अर्थज्ञान में अक्षरों में निमित्तभाव गौण नहीं है। उन अक्षरों के होने पर अर्थ का ज्ञान होने से और उनके न होने पर अर्थ का ज्ञान न होने से। यदि अर्थ-ज्ञान में शब्द गौण भी होवे, तो भी शब्द का निमित्तत्व अर्थज्ञान में गौण न हो जावे, इतने मात्र से 'प्रत्यक्षादि प्रमाणों से अनुपलभ्यमान अक्षरों से भिन्न शब्दरूप अर्थ की कल्पना नहीं की जा सकती। 'बालक अग्नि है' ऐसा कहने, पर 'अग्नि शब्द गौण न हो जावे' इतने मात्र से 'माणवक आग है' यह नहीं जाना जाता। गकार आदि से भिन्न-कोई प्रत्यक्ष 'गौ' शब्द नहीं है, भेदज्ञान के न होने से और अभेदज्ञान

के होने से। गकारादि अक्षर ही प्रत्यक्ष हैं। इसलिये 'गौः' यह गकार से लेकर विसर्गान्त पद अक्षर ही हैं। इस कारण गकार, औकार और विसर्जनीय अक्षरों से भिन्न पद नामवाला अन्य नहीं है।

ननु 'संस्कार कल्पनायामप्यदृष्टकल्पना'। उच्यते- शब्दकल्पनायां सा च, शब्दकल्पना च। तस्मादक्षराण्येव पदम्।

(आक्षेप) संस्कार की कल्पना में भी तो अदृष्ट की कल्पना है। (समाधान) गकारादि अक्षरों से भिन्न शब्द की कल्पना में उस (संस्कार) की, तथा शब्द की अर्थात् दो की कल्पना करनी पड़ती है। इस कारण अक्षर ही पद है।

### शब्दार्थ-विचारः

अथ 'गौः' इत्यस्य शब्दस्य कोऽर्थः? सास्नादिविशिष्टाऽऽकृतिरिति ब्रूमः। नन्वाकृतिः साध्याऽस्ति वा न वा इति। न प्रत्यक्षा सती साध्या भवितुमर्हति। रुचकः स्वस्तिको वर्द्धमानक' इति हि प्रत्यक्षं दृश्यते। व्यामोह इति चेत्, नासति प्रत्ययविपर्यास व्यामोह इति शक्यते वक्तुम्। असत्यप्यर्थान्तरे एवञ्जातीयको भवति प्रत्ययः- पङ्क्तिः यूथं वनमिति यथेति चेत्? न, असम्बद्धमिदं वचनमुपन्यस्तम्। किम्? 'असति वने वनप्रत्ययो भवतीति'। प्रत्यक्षमेवाऽऽक्षिप्यते, वृक्षा अपि न सन्तीति। यद्येवं, प्रत्युक्तः स माहायानिकः पक्षः। अथ किमाकृतिसद्भाववादी उपालभ्यते, सिद्धान्तान्तरं ते दुष्यति इति, 'वनेऽसत्यपिः वनप्रत्ययः' प्राप्नोतीति। एवमपि, प्रकृतं दूषयितुमशक्नुवतस्तत्सिद्धान्तान्तरदूषणे निग्रहस्थानम् आपद्यते, असाधकत्वात्।

व्याख्या (आक्षेप) 'गौ' इस शब्द का क्या अर्थ है? (समाधान) सास्ना (गलकम्बल गले में लटका हुआ झोल) आदि से विशिष्ट आकृति जाति है, ऐसा हम कहते हैं। (आक्षेप) आकृति तो साध्य है अथवा नहीं। (समाधान) प्रत्यक्ष होती हुई आकृति साध्य नहीं हो सकती। रुचक, स्वस्तिक, वर्द्धमानक (आभूषणविशेष) ये प्रत्यक्ष दिखाई देते हैं। यह प्रत्यक्ष प्रतीति व्यामोह मिथ्याज्ञान है, ऐसा कहो तो ठीक नहीं है, क्योंकि उक्त पदार्थों के ज्ञान का विपर्यास न होने से उसे 'व्यामोह हैं' ऐसा नहीं कह सकते। अर्थान्तर (भिन्न पदार्थ) का सद्भाव होते पर भी इस प्रकार (अर्थान्तर) का ज्ञान होता है। जैसे- पङ्क्ति यूथ वन प्रतीयमान अर्थविशेष का सद्भाव न होने पर भी पङ्क्ति यूथ वन रूप अर्थान्तर की प्रतीति होती है, ऐसा यदि कहो तो ठीक नहीं, क्योंकि यह आपने 1 असम्बद्ध वचन कहा है। क्या? 'वन के न होने पर भी वन का ज्ञान होता है' यह। इस प्रकार तो प्रत्यक्ष पर ही आक्षेप करते हो कि- 'वृक्षा भी नहीं हैं'। यदि ऐसा है तो यह महायान मतानुयायियों का पक्ष। पहले ही निरालम्बन-शून्यवाद के प्रकरण में खण्डित किया जा चुका है। और यदि आकृति के सद्भाव को माननेवाले के प्रति उपालम्भ देते हो, कि तुम्हारा अन्य सिद्धान्त (अर्थावलम्बन वृक्षा) बाधित होता है-वन के न होने पर भी वन का ज्ञान होता है। इस प्रकार भी प्रकृत आकृति पक्ष को दूषित करने की शक्ति न रखते हुये उसके अन्य सिद्धान्त के दूषण में आप निग्रहस्थान (पराजय को स्थिति) को प्राप्त होते हैं।

स हि वक्ष्यति- दुष्यतु यदि दुष्यति। किं तेन दुष्टेन अदुष्टेन वा प्रकृतं त्वया साधितं भवति, मदीयो वा पक्षो दूषितो भवति। ति? न च वृक्षव्यतिरिक्तं वनं यस्मान्नोपलभ्यते, अतो वनं नास्तीत्यवगम्यते। यदि वने अन्येन हेतुना सद्भावविपरीतः प्रत्यय उत्पद्यते, मिथ्यैव वनप्रत्यय इति। ततो वनं नास्तीत्यवगच्छामः। न च गवादिषु प्रत्ययो विपर्येति। अतो वैषम्यम्। अथ वनादिषु नैवं विपर्येति, न ते न सन्तीति। तस्माद् असम्बद्धः पङ्क्तिवनोपन्यासः। अत उपपन्नं जैमिनिवचनम्-आकृतिः शब्दार्थ इति। यथा च आकृतिः शब्दार्थस्तथोपरिष्ठान्निपुणतरमुपपादयिष्याम इति॥

क्योंकि अर्थावलम्बनरूप अन्य सिद्धान्त का दूषण आकृतिपक्ष के निराकरण में साधक नहीं होता। वह आकृतिवादी उत्तर में कहेगा कि मेरा अर्थावलम्बनरूप सिद्धान्तान्तर यदि दूषित होता है तो दूषित हो। उसके दूषित होने वा न होने से तुम्हारा क्या प्रकृत (आकृति का खण्डन) सिद्ध होता है, अथवा मेरा आकृति पक्ष दूषित होता है? क्योंकि वृक्षा के अतिरिक्त वन उपलब्ध नहीं होता, इससे 'वन नहीं है' ऐसा नहीं है। किन्तु यदि वन के विषय में किसी अन्य हेतु से उसकी सत्ता के विपरीत ज्ञान होता है, तो वनज्ञान मिथ्या ही है। इस कारण 'वन नहीं है' ऐसा हम जानते हैं। गौ आदि में आकृतिरूप ज्ञान विपरीत मिथ्या नहीं होता। इससे वन-ज्ञान और आकृतिज्ञान में विषमता है। अभ्युपगम सिद्धान्त से वादी कहता है- यदि वनादि में वनादिज्ञान विपर्यय (मिथ्यात्व) को प्राप्त नहीं होता है, तो 'वनादि नहीं हैं' यह नहीं होगा, अर्थात् वनादि को सत्ता को मान लेंगे। इससे हमारे आकृतिपक्ष में कोई दोष नहीं आता है। इसलिये आकृतिपक्ष के खण्डन के लिये पङ्क्ति यूथ वन का प्रस्तुतीकरण असम्बद्ध है। इससे जैमिनि आचार्य का वचन- 'आकृति शब्द का अर्थ है' यह उपपन्न होता है।

विवरण- सिद्धान्तान्तर-दूषणे निग्रहस्थानम्- प्रकृत अर्थ के साथ असम्बद्ध वचन (जिससे प्रकृत अर्थ की सिद्धि में सहायता न मिले) का प्रयोग अर्थान्तर नाम का निग्रहस्थान माना गया है- प्रकृतादर्थात् अप्रतिसंबद्धार्थम् अर्थान्तरन् (न्याय 5।2।17)। निग्रहस्थान पराजय के कारण होते हैं- निग्रहस्थानानि पराजयवस्तूनि। वात्स्यायन भाष्य 5।2।1 की अवतरणिका।

**आकृतिः शब्दार्थः** मीमांसा १।३।३३ आकृतिस्तु क्रियार्थत्वात् इति शब्दार्थ इति शेषः। उपपादयिष्यामः ‘आकृति (जाति) शब्द का अर्थ है’। यह सिद्धान्त मीमांसा के आकृतिशक्त्यधिकरण (अ० १, पा० ३, अधि० ९, सूत्र ३०-३५) में विशद रूप से निरूपित किया गया है।

### शब्दार्थयोः संबन्धविचारः

**अथ सम्बन्धः क इति?** यच्छब्दे विज्ञातेऽर्थो विज्ञायते। स तु कृतक इति पूर्वमुपपादितम्। तस्मान्मन्यामहे- केनापि पुरुषेण शब्दानामर्थैः सह सम्बन्धं कृत्वा संव्यवहतु वेदा प्रणीता इति। तदिदानीमुच्यते- अपौरुषेयत्वात् सम्बन्धस्य सिद्धमिति। कथं पुनरिदमवगम्यते, अपौरुषेय एष सम्बन्ध इति? पुरुषस्य सम्बन्धुरभावात्। कथं सम्बन्धो नास्ति? प्रत्यक्षस्य प्रमाणस्याभावात्, तत्पूर्वकत्वाच्चेतरेषाम्। ननु चिरवृत्तत्वात् प्रत्यक्षस्याविषयो भवेदिदानीन्तनानाम्। न हि चिरवृत्तः सन् न स्मर्येत। न च हिमवदादिषु कूपारामादिवदस्मरणं भवितुमर्हति। पुरुषवियोगो हि तेषु भवति, देशोत्सादेन कुलोत्सादेन वा। न च शब्दाऽर्थव्यवहारवियोगः पुरुषाणामस्ति॥

**व्याख्या-** (आक्षेप) शब्द और अर्थ का परस्पर कौनसा सम्बन्ध है? (समाधान) जो शब्द के ज्ञात होने पर ही अर्थ जाना जाता है अर्थात् जिस प्रकार के सम्बन्ध से शब्द के उच्चारण होने पर अर्थ का ज्ञान होता है, उस प्रकार का संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध है।

(आक्षेप) वह शब्द अर्थ का सम्बन्ध तो कृतक (कृत्रिम) है, यह पूर्व दर्शा चुके हैं। इसलिये हम मानते हैं कि किसी पुरुष ने शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध जोड़कर व्यवहार के लिये वेद बनाये हैं। (समाधान) इस विषय में अब कहते हैं- शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के अपौरुषेय होने से वेद का अपौरुषेयत्व सिद्ध है। (आक्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अपौरुषेय है? (समाधान) शब्द और अर्थ का सम्बन्ध जोड़नेवाले पुरुष का अभाव होने से। (आक्षेप) शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को सम्बद्ध करनेवाला कैसे नहीं है? (समाधान) प्रत्यक्ष प्रमाण के न होने से, और अन्य प्रमाणों के प्रत्यक्षपूर्वक होने से अर्थात् जब शब्दार्थ-सम्बन्ध जोड़नेवाले व्यक्ति के विषय में प्रत्यक्ष प्रमाण ही नहीं है, तो प्रत्यक्षपूर्वक प्रवृत्त होनेवाले अन्य प्रमाण भी नहीं हैं। (आक्षेप) शब्दार्थ-सम्बन्ध को जोड़नेवाले के बहुत पुराना होने से आजकल के हम लोगों के प्रत्यक्ष का विषय नहीं हो सकता। (समाधान) बहुत पुराना होते हुये भी शब्दार्थ सम्बन्ध को जोड़ने-वाला स्मरण न किया जाये, ऐसा नहीं हो सकता। अत्यन्त बर्फीले स्थान आदि में बनाये गये कुएँ वा बगीचे के बनानेवाले के अस्मरण (नाम का ज्ञान न होने) के समान यह अस्मरण नहीं हो सकता। उन प्रदेशों में देश के नाश से अथवा कुल के नाश से पुरुष का वियोग हो जाता है। अर्थात् परम्परा टूट जाने से बर्फीले स्थानों में कूप आदि के निर्माता का नाम स्मरण नहीं रहता। परन्तु पुरुषों के शब्दार्थव्यवहार का वियोग नहीं है। अर्थात् पुरुषों का शब्दार्थ-व्यवहार अटूट परम्परा से चला आ रहा है। अतः शब्दार्थ-सम्बन्ध के करनेवाले पुरुषों का अस्मरण उपपन्न नहीं हो सकता।

**विवरण-** शबरस्वामी ने शब्दार्थ-सम्बन्ध को अपौरुषेय सिद्ध करने में जो हेतु दिये हैं, उनका सम्बन्ध पुरुषशरीरधारी जीव से है, तो ठीक है। परन्तु शबरस्वामी आदि मीमांसक ईश्वर की सत्ता को भी स्वीकार नहीं करते। इसलिये उनके मत में अपौरुषेय का अभिप्राय शब्दार्थ-सम्बन्ध के अनादित्व से है। जो मीमांसक ईश्वर की सत्ता स्वीकार करते हैं, उनके मत में वेद और शब्दार्थ-सम्बन्ध के अपौरुषेय कहने का तात्पर्य शरीरधारी पुरुष के निषेध में है। वैयाकरण भी शब्दार्थ-सम्बन्ध को नित्य मानते हैं, परन्तु उन्होंने उसका अपौरुषेयत्वरूप से उपपादन नहीं किया। नैयायिक शब्दार्थ-सम्बन्ध को कृतक मानते हैं। परन्तु इस शब्द का इस अर्थ

**स्यादेतत्-** सम्बन्धमात्रव्यवहारिणो निष्प्रयोजनं कर्तुं स्मरणमनाद्विद्यमाना विस्मरेयुरिति। तन्न, यदि हि पुरुषः कृत्वा सम्बन्धं व्यवहारयेत्, व्यवहारकाले अवश्यं स्मर्त्तव्यो भवति। संप्रतिपत्तौ हि कर्तुं व्यवहोरर्थः सिद्ध्यति, न विप्रतिपत्तौ। न हि वृद्धिशब्देनापाणिनेव्यवहारत आदैचः प्रतीयेरन्, पाणिनिवृत्तिमननुमन्यमानस्य

के साथ सम्बन्ध है, इसको ईश्वर-संकेतित स्वीकार करते हैं। उत्तर-मीमांसा में ब्रह्म को शास्त्र (वेद) का योनि (उत्पत्तिस्थान) माना है- शास्त्रयोनित्वात् (वेदान्त १।१।३)। अतः उनके मत में वेद का प्रादुर्भाव ब्रह्म से हुआ है। ब्रह्म के नित्य होने से वेद और उसका शब्दार्थ-सम्बन्ध भी नित्य है। ब्रह्म ईश्वर हम जैसे पुरुषों से भिन्न पुरुषविशेष पुरुषोत्तम है। मीमांसाकार जैमिनि ने भी यहां शब्दार्थसम्बन्ध के नित्यत्वबोधक प्रकृत (१।१।५) सूत्र में बादरायण (वेदान्तकृत) का नामनिर्देशपूर्वक मत प्रकट किया है। अतः जैमिनि की दृष्टि में वेद और शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता वेदान्त के शास्त्रयोनित्वात् सूत्र के अनुरूप ही है। इसीलिये सेश्वर-मीमांसकों ने ‘वेद का प्रादुर्भाव परमेश्वर से हुआ’ ऐसा स्पष्टरूप से लिखा है। अतः उनके मत में वेद के अपौरुषेयत्व का अभिप्राय है कि वेद प्रस्मदादि किसी पुरुष से उत्पन्न नहीं हुआ है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने शब्द और उसके अर्थसम्बन्ध के नित्यत्व और अनित्यत्व के विषय में इस प्रकार लिखा है- ‘शब्दो द्विविधः, नित्यकार्यभेदात्। ये परमात्मज्ञानस्थाः शब्दार्थसंबन्धाः सन्ति, ते नित्या भवितुमर्हन्ति। येऽस्मवादीनां वर्तन्ते, ते तु कार्याश्च। कुतः? यस्य ज्ञानक्रिये नित्ये स्त्रावसिद्धे अनादी स्तः, तस्य सर्वं सामर्थ्यमपि नित्यमेव भवितुमर्हति। तद्विद्यामयत्वाद् वेदानामनित्यत्वं नैव घटते’। ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका, ‘वेदनित्यत्वविचार’ के आरम्भ में।



अर्थात्- नित्य और कार्य (अनित्य) भेद से शब्द दो प्रकार का है। परमात्मा के ज्ञान में जिनका शब्द अर्थ-सम्बन्ध विद्यमान है, वे नित्य होने योग्य हैं। और जो हम लोगों के व्यवहार में आते हैं, वे कार्य। और 'च' शब्द से जो वैदिक शब्द हमारे व्यवहार में आते हैं, वे नित्य हैं। किस कारण? जिसकी ज्ञान और क्रिया नित्य स्वभावसिद्ध अनादि हैं, उसका सारा सामर्थ्य भी नित्य ही होना चाहिये। इसलिये वेद के उसके विद्यमान होने से वेद का अनित्य नहीं घटता।

**व्याख्या-** (आक्षेप) यह हो सकता है कि शब्दार्थसम्बन्धमात्र का व्यवहार करनेवाले निष्प्रयोजन शब्दार्थ-सम्बन्ध के कर्ता के स्मरण का आदर न करते हुए उसे भूल जायें। (समाधान) यह ठीक नहीं, यदि निश्चय से पुरुष शब्दार्थ-सम्बन्ध को जोड़कर अपने अनुगतों से व्यवहार कराये, तो वह शब्दार्थसम्बन्ध करनेवाला व्यवहारकाल में अवश्य स्मरणीय होता है। सम्बन्धकर्ता और व्यवहारकर्ता का समान ज्ञान होने पर ही सम्बन्धकर्ता और व्यवहारकर्ता का प्रयोजन सिद्ध होता है। विरुद्ध ज्ञान होने पर व्यवहार का प्रयोजन नहीं होता। 'वृद्धि' शब्द से अपाणिनि (पाणिनि के व्यवहार को न जाननेवाले पुरुष) के व्यवहार से आदैच् (आ ऐ औ) ज्ञात नहीं होते, अथवा पाणिनि कर कृति (संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध) को न मानने वाले को आदैच् अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इसी प्रकार

वा। तथा मकारेणापिङ्गलस्य न सर्वगुरुस्त्रिकः प्रयोयेत, पिङ्गलकृतिमननुमन्यमानस्य वा। तेन कर्तुं व्यवहर्तारौ संप्रतिपद्यते। तेन वेदे व्यवहरद्भिरवश्यं स्मरणीयः सम्बन्धस्य कर्ता स्याद् व्यवहारस्य च। न हि विस्मृते वृद्धिरादैच् (अष्टा० १।१।१) इत्यस्य सूत्रस्य कर्तेरि, वृद्धिर्यस्याचामादि० (अष्टा० १।१।७२) इति किञ्चित् प्रती-येत। तस्म। त् कारणादवगच्छामो न कृत्वा संबन्ध व्यवहारार्थं केनचिद् वेदाः प्रणीता इति। यद्यपि च विस्मरणमुपपद्येत, तथा। पि न प्रमाणमन्तरेण संबन्धं प्रति-पद्येमहि। यथा विद्यमानस्याप्यनुपलम्भनं भवतीति, नैतावता विना प्रमाणेन शश-विषाणं प्रतिपद्यामहे। तस्मादपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध इति॥

**नन्वर्थापत्त्या सम्बन्धं प्रतिपद्ये महि। न ह्यकृतसम्बन्धाच्छब्दार्थं प्रतिपद्ये-**

'म' शब्द से पिङ्गल के व्यवहार को न जाननेवाले को सभी गुरु वर्ण हैं जिस में ऐसे 'त्रिक' का ज्ञान नहीं होता, अथवा पिङ्गल को कृति (मकार और सर्वगुरु त्रिक के सम्बन्ध) को त माननेवाले को सर्वगुरु त्रिकरूप अर्थ की प्रतीति नहीं होती। इस संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध के परिज्ञान से कर्ता और व्यवहर्ता एक-दूसरे के अभिप्राय को जानते हैं। इससे वेद में व्यवहार करनेवालों (वेदार्थप्रवक्ताओं) के द्वारा शब्दार्थ सम्बन्ध का कर्ता और उसके व्यवहार का कर्ता अवश्य स्मरणीय होवे। वृद्धिरादैच् (अष्टा. १।१।१) इस सूत्र के कर्ता के विस्मरण होने पर, वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (अष्टा० १।१।७२) सूत्र में वृद्धि शब्द से कुछ भी प्रतीत नहीं होगा। इस कारण से हम जानते हैं कि शब्दार्थ के सम्बन्ध को करके किसी ने व्यवहार के लिये वेदों को नहीं बनाया। और भी, यद्यपि शब्दार्थसम्बन्ध के कर्ता का विस्मरण हो सकता है, फिर भी प्रमाण के बिना शब्दार्थ-सम्बन्ध के कर्ता को हम नहीं जान सकते। जैसे कभी-कभी विद्यमान वस्तु को भी उपलब्धि नहीं होती, इतने मात्र से बिना प्रमाण के खरगोश के सींग को हम स्वीकार नहीं कर सकते। इस कारण शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अपौरुषेय है यह निश्चित होता है।

**विवरण-** मकारेण सर्वगुरुस्त्रिकः- पिङ्गलाचार्य ने अपने छन्दःशास्त्र के संज्ञाविषयक प्रथमाध्याय में घी श्री स्त्री म् (१।१) सूत्र से 'तीन गुरु अक्षरों की' मकार संज्ञा की है। अतः जो पिङ्गल के इस संज्ञा-संज्ञी-सम्बन्ध को नहीं जानता, उसे उसके तीन गुरु वर्णवाले त्रिक का बोध नहीं हो सकता। वृद्धिरादैच् (अष्टा० १।१।१) सूत्र का अर्थ है- 'आदैच् आ ऐ औ वर्गों की वृद्धि संज्ञा होती है।' वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद् वृद्धम् (अष्टा० १।१।७२) इसका अर्थ है-जिस शब्द के अचों (स्वरो में) आदि अच् (स्वर) वृद्धि-संज्ञक है, उसकी वृद्धि-संज्ञा होती है। जो व्यक्ति वृद्धिरादैच् सूत्र में विहित वृद्धि-संज्ञा को नहीं जानता, उसे वृद्धिर्यस्य० सूत्र का अभिप्राय ज्ञात नहीं हो सकता॥

**व्याख्या-** (आक्षेप) अच्छा तो अर्थापत्ति से शब्दार्थसम्बन्ध के जोड़नेवाले को हम जान लेंगे। बिना सम्बन्ध किये गये शब्द से अर्थ को जाननेवालों को हम लोक में नहीं देखते। और यदि बिना शब्दार्थसम्बन्ध को जाने अर्थ को जानलें, तो शब्द के मानान् उपलभामहे। प्रतिपद्य रश्चेत्, प्रथमश्रवणेऽपि प्रतिपद्येरन्। तदनुपलम्भनादवश्यं भवितव्यं सम्बन्धेति चेन्न, सिद्धवदुपदेशात्। यदि सम्बन्धुरभावाद् नियोगतो नार्था उपलभ्येरन्, ततोऽर्थापत्त्या सम्बन्धारमवगच्छामः। अस्ति तु अन्यः प्रकारः-वृद्धानां स्वाथन संव्यवहरमाणानामुपशृण्वन्तो बालाः प्रत्यक्षमर्थं प्रतिपद्यमाना दृश्यन्ते। तेऽपि वृद्धा यदा बाला आसन्, तदाऽन्येभ्यो वृद्धेभ्यः, तेऽप्यन्येभ्य इति नास्त्यादिरित्येवं वा भवेत्। अथवा न कश्चिदेकोऽपि शब्दस्यार्थेन सम्बन्ध आसीत्, अथ केनचित् सम्बन्धाः प्रत्तिता इति। अत्र वृद्धव्यवहारे सति नार्थादापद्यत सम्बन्धस्य कर्ता। अपि च व्यवहारवादिनः प्रत्यक्षमुपदिशन्ति, कल्पयन्ति इतरे सम्बन्धारम्। न च प्रत्यक्षे प्रत्यर्थिनि कल्पना साध्वी। तस्मात् सम्बन्धुरभावः॥

प्रथम श्रवण में भी अर्थ को समझ जायें। ऐसा (शब्द के प्रथम श्रवण में अर्थज्ञान के) दिखाई न पड़ने से (उपलब्ध न होने से) शब्दार्थसम्बन्ध का जोड़नेवाला अवश्य होना चाहिये। (समाधान) ऐसा कहना ठीक नहीं, सिद्ध पूर्वतः विद्यमान पदार्थ के समान शब्द का उपदेश (कथन) करने से अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध का कथन ही होता है, शब्दार्थसम्बन्ध जोड़ा नहीं जाता। यदि शब्दार्थसम्बन्ध

के जोड़नेवाले के अभाव में नियमतः अर्थ उपलब्ध न हों, तो शब्दार्थसम्बन्ध के जोड़नेवाले को हम अर्थापत्ति से जान लेंगे। शब्दार्थ की प्रतीति का तो अन्य प्रकार है- अपने प्रयोजन से व्यवहार करनेवाले वृद्धों (बड़ी अवस्थावालों) के शब्दव्यवहार को सुनते हुये बालक प्रत्यक्ष ही अर्थ को ग्रहण करते हुये देखे जाते हैं। वे वृद्ध भी जब बालक थे, तब उन्होंने अन्य वृद्धों से, उन्होंने भी अन्य वृद्धों से, इस परम्परा का आदि नहीं है, इस प्रकार शब्दार्थसम्बन्ध का ज्ञान हो सकता है। अथवा किसी एक शब्द का भी अर्थ के साथ सम्बन्ध नहीं था, तब पीछे से किसी ने शब्दार्थसम्बन्ध प्रवर्तित किये। यह नहीं हो सकता, क्योंकि किसी शब्द का किसी अर्थ के साथ सम्बन्ध जोड़ने के लिये पूर्वतः ज्ञात अर्थवाले शब्दान्तर की अपेक्षा होती है। यदि किसी शब्द का भी पहले कोई सम्बन्ध नहीं था, तो शब्द अर्थ का सम्बन्ध कैसे जोड़ा गया? इस विषय में वृद्धव्यवहार के होने पर (स्वीकार करने पर) सम्बन्ध का कर्ता अर्थापत्ति से नहीं जाना जाता है। और भी, व्यवहारवादी प्रत्यक्ष अपने व्यवहार से बालकों को शब्दार्थसम्बन्ध का उपदेश करते हैं, और अन्य (शब्दार्थसम्बन्ध को कृतक माननेवाले) सम्बन्ध करनेवाले की विवरण-सिद्धवदुपदेशात्- इसका इस प्रकार भी अर्थ हो सकता है-सिद्धवतः उपदेशात् सिद्ध है अर्थसम्बन्ध जिसका ऐसे शब्द का उपदेश कथन व्यवहार होने से। यदि महाभाष्यकार पतञ्जलि के शब्दों में कहें, तो 'नहि कश्चित् प्रयुयुक्षमाणः शब्दार्थयोः सम्बन्ध

अव्यतिरेकश्च-यथा अस्मिन् देशे सास्नादिमति गोशब्दः, एवं सर्वेषु दुर्गमेष्वपि। बहवः सम्बन्धारः कथं संगंस्यन्ते? एको न शक्नुयात्। अतो नास्ति सम्बन्धस्य कर्ता। अपर आह प्रव्यतिरेकश्च- न हि सम्बन्धव्यतिरिक्तः कश्चित् कालोऽस्ति, यस्मिन् न कश्चिदपि शब्दः केनचिदर्थेन सम्बद्ध आसीत्। कथम्? सम्बन्धक्रियैव हि नोपपद्यते। अवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता केनचिच्छब्देन कर्तव्यः। येन क्रियेत, तस्य केन कृतः? अथान्येन केनचित् कृतः, तस्य केनेति, तस्य केनेति? नैवावतिष्ठते। तस्मादवश्यमनेन सम्बन्धं कुर्वता अकृतसम्बन्धाः केचन शब्दा वृद्ध-व्यवहारसिद्धा अभ्युपगन्तव्याः। अस्ति चेत् व्यवहारसिद्धिः, न नियोगतः सम्बन्धा कुलं (कोषकारकुलं) गत्वाह- अस्य शब्दस्यानेनायेन सह सम्बन्धं कुरु, प्रयोक्ष्येऽहम्। ताव-त्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुङ्क्ते।

अर्थात्-कोई शब्द के अर्थविशेष में प्रयोग करने की इच्छावाला किसी शब्द-अर्थ के सम्बन्ध करनेवाले कोषकार के घर में जाकर नहीं कहता कि इस शब्द का इस अर्थ के साथ सम्बन्ध कर दो, मैं प्रयोग करूंगा। वह तो चटपट अर्थ का ग्रहण कर शब्द का प्रयोग कर देता है। इससे शब्द-अर्थ का सम्बन्ध अकृतक है, ऐसा जानना चाहिये। अत्र वृद्धव्यवहारे- यहां 'अत्र' के स्थान में 'अथ' पाठान्तर है।

**व्याख्या-** 'अव्यतिरेकश्च' अव्यतिरेक भी है देश का, अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध से रहित कोई देश नहीं। जैसे इस देश में सास्नादियुक्त प्राणी में गो शब्द प्रयुक्त होता है, उसी प्रकार सब दुर्गम स्थानों में भी। इन देश-देशान्तरों में शब्दार्थसम्बन्ध को जोड़नेवाले बहुत व्यक्ति किस प्रकार एक मतिवाले होंगे? अर्थात् अनेक शब्दार्थ सम्बद्ध। एक सास्नादिमत् अर्थ में ही गो शब्द का सम्बन्ध कैसे जोड़ेंगे? विमति होने से क्या उन में अर्थसम्बन्ध में मतभेद नहीं होगा? यदि कहो कि एक ही व्यक्ति शब्दार्थसम्बन्ध को जोड़नेवाला है, तो यह सम्भव नहीं। एक असहाय व्यक्ति सब देश-प्रदेशों में शब्दार्थ सम्बन्ध को जोड़ने में समर्थ नहीं हो सकता। इसलिये शब्दार्थसम्बन्ध को जोड़नेवाला कोई नहीं है। अपर आह-दूसरे आचार्य कहते हैं- शब्दार्थ सम्बन्ध से रहित कोई काल नहीं है, जिसमें कोई भी शब्द किसी अर्थ से सम्बद्ध नहीं था। कैसे? सम्बन्ध की क्रिया ही उपपन्न नहीं होती। अवश्य ही इस शब्दार्थ सम्बन्ध करनेवाले को किसी शब्द के द्वारा ही सम्बन्ध करना पड़ेगा। जिस शब्द से अन्य शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध किया जायेगा, उस शब्द का अर्थसम्बन्ध किस शब्द से किया? यदि किसी अन्य शब्द से किया, तो उसका अर्थसम्बन्ध किस से किया, उसका किससे? यह अर्थसम्बन्ध परम्परा कहीं नहीं ठहरती। इसलिये इस शब्दार्थ के सम्बन्ध के करनेवाले को अवश्य ही कुछ अकृतसम्बन्ध (स्वाभाविक सम्बन्धवाले) शब्द वृद्धव्यवहार से सिद्ध स्वीकार करने पड़ेंगे। यदि व्यवहार की सिद्धि है, तो नियमतः शब्दार्थ सम्बन्ध को जोड़नेवाले को नहीं होना चाहिये, यह अर्थापत्ति भी उपपन्न

भवितव्यमिति अर्थापत्तिरपि नास्ति। स्यादेतत्, अप्रसिद्धसम्बन्धा बालाः कथं वृद्धेभ्यः प्रतिपद्यन्ते इति? नास्ति दृष्टेऽनुपपन्न नाम। इष्टा हि बाला वृद्धेभ्यः प्रति-पद्यमानाः, न च प्रतिपन्नसम्बन्धाः सम्बन्धस्य कर्तुः। तस्माद्विषम्यम्॥ अर्थेऽनुपलब्धे- अनुपलब्धे च देवदत्तादावर्थेऽनर्थकं संज्ञाकरणम्, अशक्यं च। विशेषान् प्रतिपत्तु हि संज्ञाः क्रियन्ते, विशेषांश्चोद्दिश्य। तद्विशेषेष्वज्ञायमानेषूभयमप्यनवक्लृप्तम्। तस्माद् अपौरुषेयः शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः। अतश्च तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात्। न चैवं सति पुरुषान्तर प्रत्ययान्तरञ्चापेक्ष्यते। तस्माच्चोदनालक्षण एव धर्मो, नान्यलक्षणः। बादरायणग्रहणमुक्तम्॥ नहीं होती। क्योंकि जैसे कुछ शब्द वृद्धव्यवहारसिद्ध मान लिये, उसी प्रकार शेष शब्द भी वृद्धव्यवहारसिद्ध माने जा सकते हैं, शब्दार्थसम्बन्ध जोड़नेवाले की क्या आवश्यकता है? (आक्षेप) यह होवे अर्थात् उक्त वृद्धव्यवहार से शब्दाथ सम्बन्ध का उपदेश मान लें, तो भी जिन को शब्दार्थसम्बन्ध ज्ञात नहीं हैं, ऐसे बालक वृद्धजनों के व्यवहार से कैसे शब्दार्थ सम्बन्ध को ग्रहण करते हैं? (समाधान) देखे गये अर्थात् लोकविज्ञात अर्थ में अनुपपन्नता नहीं होती। वृद्ध

जनों से शब्दार्थसम्बन्ध को सीखते हुये बालक देखे जाते हैं। परन्तु शब्दार्थ-सम्बन्ध को प्राप्त हुये शब्दार्थसम्बन्ध के करनेवाले को नहीं जानते। इसलिये विषमता है। अर्थात् शब्दार्थसम्बन्ध के कर्ता के बिना ज्ञान के भी बालक वृद्धजनों से शब्दार्थसम्बन्ध ग्रहण करते हैं, और शब्दार्थसम्बन्ध को जाननेवाले वृद्धजन भी शब्दार्थसम्बन्ध के करनेवाले को नहीं जानते।  
**विवरण-** 'अपर आह' के निर्देश से जाना जाता है कि यह व्याख्यान अन्य आचार्य कृत है। पूर्व व्याख्यान में सब देशों में शब्दव्यवहार का अव्यतिरेक कहा है और द्वितीय व्याख्यान में काल का। 'शब्दार्थसम्बन्धरहित कोई काल नहीं है' इस कथन से यह भी स्पष्ट हो जाता है कि शबरस्वामी आदि महाप्रलय नहीं मानते।

**व्याख्या-** अर्थऽनुपलब्धे- देवदत्तादि अर्थ के अनुपलब्ध होने पर संज्ञाकरण (नाम रखना) अनर्थक है, और अशक्य भी है। विशेष अर्थों को जानने के लिये ही संज्ञाएं की जाती हैं, और विशेष अर्थों का उद्देश्य करके संज्ञाएं की जाती हैं। उन विशेष अर्थों के ज्ञात न होने पर दोनों ही (विशेष अर्थों को जानने के लिये संज्ञा करना, तथा विशेष अर्थों को उद्देश्य करके (संज्ञा करना) उपपन्न (समर्थ) नहीं होते। इसलिये शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध अपौरुषेय है। इस हेतु से तत् प्रमाणमनपेक्षत्वात् वह शब्द प्रमाण है, अपेक्षा न रखता हुआ। इस प्रकार शब्द पुरुषान्तर अथवा ज्ञानान्तर की अपेक्षा नहीं रखता। इसलिये चोदनालक्षण-वाला ही धर्म है, अन्य लक्षणवाला नहीं। बादरायण नाम के ग्रहण में प्रयोजन कह दिया।

### चित्राऽऽक्षेप-परिहारः

अथ यदुक्तम्- 'अनिमित्तं शब्दः, कर्मकाले फलादर्शनात्, कालान्तरे च कर्माभावात् प्रमाणं नास्तीति'। तदुच्यते- न स्यात् प्रमाणं, यदि पञ्चव प्रमाणान्यभविष्यन्। येन येन हि प्रमीयते, तत्तत् प्रमाणम्। शब्देनापि प्रमीयते, ततः शब्दोऽपि प्रमाणम्, यथैव प्रत्यक्षम्। न च प्रमाणेनावगतं प्रमाणान्तरेणानवगतमित्येतावता अनवगतं भवति। न चैवं श्रूयते- 'कृते कर्मणि तावतेव फलं भवति', किन्तु 'कर्मणः फलं प्राप्यते' इति। यच्च कालान्तरे फलस्यान्यत् प्रत्यक्ष कारणमस्तोति। नैष दोषः, तच्चैव हि तत्र कारणं, शब्दश्चेति। यत्तु प्रत्यक्षविरुद्धं वचनमुपन्यस्तम्- 'स एष यज्ञायुधी यजमानोऽञ्जसा स्वर्ग लोकं याति' इति प्रत्यक्षं शरीरकं व्यपदिशति। तदुच्यते-शरीरसम्बन्धात्, यस्य तच्छरीरं सोऽपि तैर्यज्ञायुषैर्यज्ञायुधीत्युच्यते॥

**व्याख्या-** जो यह कहा है कि 'शब्द धर्म के ज्ञान का निमित्त नहीं है, याग के समय में फल का दर्शन न होने से, और कालान्तर में जब फल मिलेगा, उस समय कर्म याग का अभाव द्य होने से अतः यागरूप कर्म का यह फल है, इसमें प्रमाण नहीं है। उसके विषय में कहते हैं- यदि पांच (प्रत्यक्ष अनुमान उपमान अर्थापत्ति अभाव) ही प्रमाण होते, तो चोदना धर्म में प्रमाण न होती। जिस-जिस से भी प्रमेय का ज्ञान किया जाता है, वह वह प्रमाण होता है। शब्द से भी प्रमेय का ज्ञान होता है, इसलिये शब्द भी प्रमाण है, जैसे प्रत्यक्ष प्रमाण है। जो किसी प्रमाण से जाना जाये, और प्रमाणान्तर से न जाना जाये, इतने मात्र से वह अज्ञात नहीं होता है। (चित्रया यजेत पशुकामः (तं. सं. 2।4।6) वचन से) यह नहीं सुना जाता है कि कर्म कर लेने पर उतने से ही फल होता है, किन्तु कर्म से फल प्राप्त होता है यह जाना जाता है और जो कहा कि- 'कालान्तर में जब कोई फल मिलेगा, तब फल का अन्य दान आदि कारण प्रत्यक्ष है'। यह भी दोष नहीं है, उस फल में वह दानादि भी कारण है, और शब्द (शब्दबोधित याग) भी। और जो प्रत्यक्षविरुद्ध वचन उद्धृत किया है- 'स एष यज्ञायुधो यजमानोऽञ्जसा स्वर्ग लोकं याति' (वह यज्ञायुधी यजमान सरलता से स्वर्गलोक को प्राप्त होता है), यह वचन 'स एष' निर्देश द्वारा प्रत्यक्षरूप से निन्दित' (मृत) शरीर का कथन करता है। वह मृत शरीर यहीं भस्म हो जाता है, फिर भला वह स्वर्ग को कैसे जायेगा? इस विषय में कहते हैं- शरीर के सम्बन्ध से, जिसका वह

### देहव्यतिरिक्तस्यात्मनः सद्भावः

आह कोऽसावन्यः, 'नैनमुपलभामहे? प्राणाऽऽदिभिरेनमुपलभाम हे-योऽसौ प्राणिति, अपानिति, उच्छ्वसिति, निमिषति, इत्यादि चेष्टितवान्, सोऽत्र शरीरे यज्ञायुधी इति। ननु शरीरमेव प्राणिति अपानिति च। न, प्राणादयः शरीरगुणविधर्माणः, अयावच्छरीरभावित्वात्। यावच्छरीरं तावदस्य गुणा रूपादयः। प्राणादयस्तु सत्यपि शरीरे न भवन्ति। सुखादयश्च स्वयमुपलभ्यन्ते, न रूपादय इव

वह शरीर है, वह (आत्मा) भी उन यज्ञायुधों से यतायुधी कहा जाता है। अर्थात् यज्ञायुधी आत्मारूप यजमान स्वर्ग को प्राप्त होता है, यह उक्त वचन का तात्पर्य है।

**विवरण-**भट्ट जयन्त ने न्यायमञ्जरी में प्रसङ्गवश मीमांसाशास्त्र के अनेक प्रकरणों पर विचार किया है। इस प्रसङ्ग में जयन्त भट्ट ने काम्येष्टियों के फल की संप्राप्ति को प्रमाणित करते हुये लिखा है- 'हमारे ग्राम की कामनावाले पितामह ने 'सांग्रहणी' इष्टि की, और इष्टि की समाप्ति के अनन्तर ही उन्हें 'गोरमूलक' ग्राम प्राप्त हो गया॥



## आत्मास्तित्व-विचार

**व्याख्या-** (आक्षेप) अनात्मवादी कहता है- शरीर से अन्य वह कौन है, जो स्वर्ग लोक को जाता है, उसको हम उपलब्ध नहीं करते? (समाधान) प्राण आवि के द्वारा उसको उपलब्ध करते हैं (जानते हैं)- जो प्राणन क्रिया करता है, अपान क्रिया करता है, उच्छ्वास लेता है, पलक झपकता है, इत्यादि क्रियाएं करनेवाला है, वह इस शरीर में यज्ञायुधी है। (आक्षेप) शरीर ही प्राण लेता है, और अपान क्रिया करता है। (समाधान) यह ठीक नहीं, प्राण आदि शरीर के गुणों से विपरीत धर्मवाले हैं, क्योंकि जब तक शरीर रहता है, तब तक रहनेवाले न होने से। जब तक शरीर रहता है, तब तक उसके रूप आदि गुण रहते हैं। प्राण आदि तो शरीर रहने पर भी नहीं रहते। सुख आदि स्वयं उपलब्ध किये जाते हैं, शरीर के गुण रूपादि के समान दूसरे से भी उपलब्ध नहीं किये जाते। अर्थात् शरीर के गुण रूपादि स्वसंवेद्य भी होते हैं और परसंवेद्य भी, परन्तु सुखादि स्वसंवेद्य ही होते हैं। इसलिये

**शरीरगुणाः परेणापीति। तस्माच्छरीरगुणवैधर्म्यादन्यः शरीराद् यज्ञायुधीति॥**

आह, कुत एष संप्रत्ययः, सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वानस्तीति? न हि सुखादिप्रत्याख्यानेन तस्य स्वरूपमुपलभामहे। तस्माच्छविषाणवदसौ नास्ति। अथोच्यते- 'तेन' विना कस्य सुखादय इति? न कस्यचिदपीति वक्ष्यामः। न हि यो य उपलभ्यते, तस्य तस्य संबन्धिना भवितव्यम्। यस्य संबन्धोऽप्युपलभ्यते सम्बन्धी च, तस्यायं सम्बन्धीति गम्यते। न हि चन्द्रमसमादित्यं वोपलभ्य सम्बन्धान्वेषणा भवति कस्यायमिति। न कस्यचिदपीत्यवधार्यते। तस्मान्न सुखादिभ्योऽन्यस्तद्वानस्तीति। अथ उपलब्धस्यावश्यं कल्पयितव्यः सम्बन्धी भवति, तत आत्मानमप्यनेन प्रकारेणोपलभ्य 'कस्ययाम्' इति सम्बन्ध्यन्तरमन्विष्येम। तमपि कल्पयित्वाऽन्यमपि कल्पयित्वाऽन्यमित्यव्यवस्थं वा स्यात्। अथ कञ्चित् कल्पयित्वा न सम्बन्ध्यन्तरमपि कल्पयिव्यसि, तावत्येव विरंस्यसि, तावता च परितोक्ष्यसि, ततो विज्ञाने एव परितुष्य तावत्येव विरन्तुमर्हसि।

अत्रोच्यते-यदि विज्ञानादन्यो नास्ति, कर्ताह 'जानाति' इत्युच्यते? ज्ञानस्य

शरीर के गुणों से वैधर्म्य होने से [प्राणादि क्रिया और सुखादि की उपलब्धि करनेवाला] शरीर से भिन्न यज्ञायुधी है।

### विज्ञानमात्रत्व का निराकरण

(आक्षेप) अनात्मवादी कहता है- यह कैसे जाना कि सुखादि से भिन्न सुखादि का संवेदक है? सुखादि के प्रत्याख्यान (सुखादि को छोड़ने) से उस आत्मा का कोई स्वरूप हमें उपलब्ध नहीं होता। इसलिये वह आत्मा खरगोश के सींग के समान नहीं है। यदि कहो कि- 'उस आत्मा के विना किस के सुखादि हैं'? हम कहेंगे कि किसी के भी नहीं हैं: क्योंकि जो-जो उपलब्ध होता है, उस-उस के सम्बन्धी को अवश्य होना चाहिये, यह आवश्यक नहीं है। जिसका सम्बन्ध भी उपलब्ध होता है और सम्बन्धी भी, उसका यह सम्बन्धी है, ऐसा जाना जाता है। चन्द्रमा वा आदित्य को देखकर उसके सम्बन्ध को ढूँढने की इच्छा नहीं होती कि यह किसका है। यह किसी का नहीं है, यह निश्चित होता है। इसलिये सुखादि से भिन्न, उनसे युक्त कोई नहीं है। और यदि उपलब्ध हुए का अवश्य सम्बन्धी कल्पनीय होता है, तो उससे (सुखादि से) आत्मा को भी उक्त प्रकार से जानकर, 'यह आत्मा किसका है' ऐसे अन्य सम्बन्धी का अन्वेषण करेंगे। और फिर उसे सम्बन्ध्यन्तर की कल्पना करके, अन्य की भी कल्पना करके अन्य की कल्पना करनी होगी, इस प्रकार अव्यवस्था ही होगी। और फिर यदि किसी सम्बन्धी की कल्पना करके अन्य सम्बन्धी को कल्पना नहीं करोगे, वहीं रुक जाओगे, और उतने से ही सन्तुष्ट हो जाओगे, तो विज्ञान में ही सन्तुष्ट होकर उतने में ही रुकना योग्य है। (समाधान) इस विषय में कहते हैं-यदि विज्ञान से अन्य कोई नहीं है, तो कौन जानता है, इस क्रिया से कहा जाता है? अर्थात् जानाति का कर्ता कौन है?

कत्तु रभिधानमनेन शब्देनोपपद्यते। तदेष शब्दोऽर्थवान् कत्तव्यः, इति ज्ञानात् व्यतिरिक्तमात्मानं कल्पयिष्याम इति।

आह-वेदा एनं शब्दमर्थवन्तं कल्पयिष्यन्ति, यदि कल्पयितव्यं प्रमंस्यते। बहवः खल्विह जना 'अस्ति आत्मा, अस्ति आत्मा' इत्यात्मसत्तावादिन एव शब्दस्थ प्रत्यक्षवक्तारो भवन्ति, तथापि नाऽऽत्मसत्तां कल्पयितुं घटन्ते। किमङ्ग पुनः 'जानाति' इति परोक्षशब्ददर्शनात्? तस्माद् असदेतत्॥

उच्यते- इच्छया आत्मानमुपलभामहे। कथमिति? उपलब्धपूर्वे हि अभिप्रेते भवतीच्छा। यथामेरुमुत्तरेण यान्यस्मज्जातीयैरनुपलब्ध पूर्वाणि स्वादुनि वृक्षफलानि, न तानि प्रति अस्माकमिच्छा भवति। नो खल्वन्येन पुरुषेणोपलब्धेऽपि विषयेऽन्यस्योपलब्धुरिच्छा भवति। भवति च अन्येद्युरुपलब्धे अन्येद्युरिच्छा। तेन उपलम्भनेन समानकर्तृका सा इत्यवगच्छामः। यदि विज्ञानमात्रमेवेदमुपलम्भकम- इस जानाति शब्द से ज्ञान के कर्ता का कथन होता है। इसलिये इस जानाति शब्द को अर्थ से युक्त करना चाहिये। इस प्रकार ज्ञानक्रिया के कर्तृत्व के लिये ज्ञान से भिन्न आत्मा की कल्पना करेंगे। (आक्षेप) पूर्वपक्षी कहता है- वेद इस जानाति शब्द को अर्थवान् बना देंगे, यदि वे कल्पना के योग्य किसी आत्मा को प्रमाणित कर लेंगे। यहां (संसार में) बहुत से लोग 'आत्मा है' 'आत्मा है' इस प्रकार आत्मा की सत्ता को कहनेवाले ही शब्द के प्रत्यक्ष वक्ता होते हैं, फिर भी आत्मा की सत्ता की कल्पना करने में समर्थ नहीं होते। तो फिर क्या 'जानाति' इस परोक्ष अर्थवाले शब्द के दर्शन से आत्मा की सत्ता प्रमाणित की जा सकती है? इसलिये यह ठीक

नहीं है कि कोई नित्य आत्मा है ॥

### स्मृतिपूर्वक इच्छा का आत्मलिङ्गत्व

**व्याख्या-** (समाधान) [सिद्धान्ती] कहता है- इच्छा से हम आत्मा की उपलब्धि करते हैं। कैसे? पहले जिस को उपलब्ध किया है, उसी अभिप्रेत (इष्ट) वस्तु में इच्छा होती है। जैसे- मेरु के उत्तर [देश] में जो हम जैसे लोगों से पहले से अनुपलब्ध स्वावु वृक्ष-फल हैं, उनके प्रति हमारी इच्छा नहीं होती। और ना ही अन्य पुरुष से उपलब्ध वस्तु के विषय में ही अन्य उपलब्ध की इच्छा होती है। और भी अन्य दिन में उपलब्ध वस्तु के विषय में अन्य दिन में इच्छा देखी जाती है। इस उपलब्धि से जानते हैं कि इच्छा समानकर्तृक है। अर्थात् जो किसी वस्तु को उपलब्ध करता है, उसे ही कालान्तर में उस वस्तु को पुनः प्राप्त करने की इच्छा होती है। यदि अर्थ की उपलब्धि करनेवाला विज्ञानमात्र ही होवे, तो

भविष्यत्, प्रत्यस्तै तस्मिन् कस्यापरेद्युरिच्छाऽभविष्यत्? अथ तु विज्ञानादन्यो विज्ञाता नित्यः, तत एकस्मिन्ननि य एवोपलब्धऽपरेद्युरपि स एवैषिष्यतीति। इतरथा हीच्छा नोपपन्ना स्यात्॥

**अत्रोच्यते-** अनुपपन्नमिति नः क्व संप्रत्ययः? यन्न प्रमाणेनाऽवगतम्। विज्ञानात् तावदन्यं नोपलभामहे। यन्नोपलभामहे तच्छशविषाणवदेव नास्तीत्यवगच्छामः। न च तस्मिन्नसति विज्ञानसद्भावोऽनुपपन्नः, प्रत्यक्षावगतत्वादेव। क्षणिक-त्वं चाऽस्य प्रत्यक्षपूर्वकमेव। न च ज्ञातरि विज्ञानादन्यस्मिन्नसति, ज्ञाने चाऽनित्ये अपरेद्युरिच्छा अनुपपन्ना, प्रत्यक्षावगतत्वादेव। न खल्वप्येतद् दृष्टं, य एवान्येधु-रुपलब्धा स एवान्येद्यरेषिता इति। इदं तु दृष्टं यत् क्वचिद् अन्येन दृष्टमन्य इच्छति, क्वचिच्चन। समानायां सन्ततावन्य इच्छति, सन्तत्यन्तरे नेच्छतीति। तस्मान्न सुखा-दिव्यतिरिक्तोऽन्योऽस्तोति।

उस उपलब्ध विज्ञान के नष्ट हो जाने पर अगले दिन किस को इच्छा होवे? और यदि विज्ञान से भिन्न अन्य कोई विज्ञाता नित्य होवे, तो पूर्व किसी दिन में जो ही उपलब्धि करनेवाला है, वही दूसरे दिन में इच्छा करेगा। अन्यथा (नित्य उपलब्धता के अभाव में) कालान्तर में इच्छा उपपन्न ही नहीं होगी॥

(आक्षेप) इस विषय में [आक्षेप्ता] कहता है- अनुपपन्न (न होना) यह ज्ञान हमें कहां होता है? जो प्रमाण से अज्ञात होवे। विज्ञान से अन्य आत्मा को हम उपलब्ध नहीं करते। जिसको उपलब्ध नहीं करते, यह खरगोश के सींग के समान नहीं है, यह हम जानते हैं। उस आत्मा के न होने पर विज्ञान का सद्भाव अनुपपन्न है ऐसा नहीं। उस विज्ञान के प्रत्यक्ष ज्ञात होने से ही सद्भाव सिद्ध है। और इस विज्ञान का क्षणिकत्व प्रत्यक्षपूर्वक ही है। अथ. त् विज्ञान का क्षणिकत्व प्रत्यक्ष जाना जाता है और विज्ञान से अन्य ज्ञाता के न होने पर, और ज्ञान के अनित्य (क्षणिक) होने पर पूर्व दिन ज्ञात वस्तु के सम्बन्ध में अगले दिन इच्छा अनुपपन्न है। नहीं हो सकती। ऐसा नहीं कह सकते, प्रत्यक्ष ज्ञात होने से ही अर्थात् लोक में कालान्तर में इच्छा के देखे जाने से ही यह मानना पड़ेगा कि विज्ञान के अतिरिक्त किसी के न होने पर और उसके क्षणिक होने पर भी कालान्तर में देखी गयी वस्तु के प्रति इच्छा होती है और यह भी नियम नहीं देखा गया है कि जो पूर्व दिन में इच्छा को उपलब्ध करनेवाला है, वही अन्य दिन में इच्छा करनेवाला होने। यह तो देखा गया है कि कहीं अन्य से दृष्ट वस्तु की अन्य इच्छा करता है, कहीं नहीं करता। विज्ञान समान सन्तति (निरन्तर समानरूप ज्ञानपरम्परा) होने पर पूर्वद्रष्टा विज्ञान से अन्य विज्ञान इच्छा करता है, परन्तु अन्य विज्ञानसन्तति होने पर अन्य विज्ञान इच्छा नहीं करता। इसलिये सुखादि विज्ञान से भिन्न कोई नहीं है।

**व्याख्या (आक्षेप)** उक्त विषय में [पूर्वपक्षी] कहता है- स्मृति भी इच्छा के समान पूर्वज्ञान सदृश विज्ञान है, अथवा पूर्वविज्ञान विषयवाली विज्ञान स्मृति कही जाती है। वह स्मृतिरूप विज्ञान इष्टा विज्ञान के नष्ट हो जाने पर भी दूसरे दिन उत्पन्न होता हुआ अनुपपन्न नहीं है, प्रत्यक्षरूप से देखे जाने के कारण ही अर्थात् पूर्व विज्ञान के नष्ट होने पर भी दूसरे दिन स्मृति देखी जाती है। अन्य विज्ञानरूप में [दृष्ट] अन्य विज्ञानरूप से जो [स्मृतिरूप] ज्ञान होता है, वह उसी पूर्वद्रष्टा विज्ञान की परम्परा में होनेवाले अन्य विज्ञान से उपलब्ध किया जाता है, भिन्न परम्परा में उत्पन्न अन्य विज्ञान से पूर्व दृष्ट की स्मृतिरूप उपलब्धि नहीं होती। इसलिये विज्ञानरूप वस्तु स्व व्यतिरिक्त वस्तु से शून्य है। इस अर्थ में ब्राह्मणवचन होता है- विज्ञानरूप ही इन भूतों से उत्पन्न होकर उनके मूतों के विनाश के साथ ही विनष्ट हो जाता है, मरने के पश्चात् ज्ञान नहीं रहता। (समाधान) [सिद्धान्ती] कहता है-यह इस प्रकार (जैसे आपने कहा है। नहीं होता। अन्य (पूर्व) दिन में दृष्ट [वस्तु के विषय] में दूसरे दिन 'मैंने इसे देखा था' यह ज्ञान होता है। यह ज्ञान स्वयं आत्मवृष्ट [वस्तु के विषय] में होता है, अन्यत्र (अन्यदृष्ट) वस्तु के विषय में नहीं होता। [श्रावके मतानुसार] वह भवति प्रत्ययः। प्रत्यगात्मनि चौतद् भवति, न परत्र। अपरो ह्यसावन्येद्युर्दृष्टवान्। तस्मात् तद्व्यतिरिक्तोऽन्योऽस्ति यत्राऽयम् अहशब्दः॥

आह-परत्राऽप्यहंशब्दो भक्त्या दृश्यते। यथा- अहमेव पुत्रः, अमेव देवदत्तः, अहमेव गच्छामीति। अत्रोच्यते- दन वयम् अहमितीमं शब्दं प्रयुज्यमानमनन्यस्मिन्नर्थे हेतुत्वेन व्यपदिशामः। किंकर्ताह? शब्दाद् व्यतिरिक्तं प्रत्ययं प्रतीमो वयम्। श्ममर्थं वयमेवाऽन्येद्युरुपलभामहे, वयमेवाद्य स्मरामः इति। तस्माद् वयमिममर्थमवगच्छामो वयमेव ह्यः, वयमेवाद्य इति। ये ह्यः श्रद्धा च, न ते विनष्टाः। अयाऽप्यस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति स वा अयमात्मा इति प्रकृत्य आमनन्ति- अशीर्यो न हि शीर्यते इति। तथा-अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा, इति। विनश्वरं च विज्ञानम्। तस्माद् विनश्वरादन्यः स इत्यवगच्छामः। न च शक्यमेवमवगन्तु- यथोपलभ्यन्ते अर्थाः, न तथा भवन्तीतिः यथा तु खलु नोपलभ्यन्ते, तथा भवन्तीति। तथा हि सति शशो नास्ति, शशस्य विषाणमस्तीत्यवगम्येत। न चाहमप्रत्ययो व्यामोह इति शक्यते

[पूर्व द्रष्टा से] भिन्न है, जिसने दूसरे दिन देखा था। अतः उस विज्ञान से भिन्न कोई है, जिसके विषय में यह 'अहम्' (मैं) शब्द का प्रयोग होता है।

**व्याख्या-** (आक्षेप) [पूर्वपक्षी आत्मास्तित्व-साधक के 'अहं' प्रयोग-विषयक अभिप्राय को यथावत् न समझकर कहता है- दूसरे में भी भक्ति (गोणी वृत्ति) से 'अहं' शब्द का प्रयोग देखा जाता है। जैसे- मैं ही पुत्र हूँ, मैं ही देवदत्त हूँ, मैं ही जाता हूँ। (समाधान) इस विषय में [सिद्धान्ती] [कहता है हम 'अहम्' इस प्रयुज्यमान शब्द को अनन्य (आत्मा से अभिन्न) अर्थ में हेतुरूप से उपस्थित नहीं करते हैं। तो क्या करते हो? शब्द से भिन्न प्रत्यभिज्ञारूप ज्ञान को हम उपलब्ध करते हैं इसी वस्तु को हमने पूर्व दिन में उपलब्ध किया था, हम ही आज उसे स्मरण कर रहे हैं। इस हेतु से हम ही इस अर्थ को जानते हैं, हमने ही कल जाना था, हम ही आज जानते हैं। जो कल हम थे, और जो आज हम हैं, वे नष्ट नहीं हुए। और इस आत्मनित्यत्व के विषय में ब्राह्मणधर्मात् होता है- 'यह वह आत्मा है' इसको आरम्भ करके पढ़ते हैं 'नष्ट न होनेवाला [यह] नष्ट नहीं होता।' तथा- अरे यह आत्मा अविनाशी उच्छेदरहित धर्मवाला है। और विज्ञान विनष्ट होनेवाला है। इसलिये इस ब्राह्मणवचन से विनाश को प्राप्त होनेवाले से भिन्न आत्मा है, यह हम जानते हैं। यह इस प्रकार समझना शक्य (उचित) नहीं है- 'जैसे अर्थ जाने जाते हैं, बसे नहीं होते हैं, और जैसे नहीं उपलब्ध होते हैं, वैसे होते हैं। ऐसा मानने पर 'खरगोश नहीं है',

वक्तुम्, बाधकप्रत्ययाभावात्। तस्मात् सुखादिभ्यो व्यतिरिक्तोऽस्ति। एवञ्चेत् स एव यज्ञायुधी इति व्यपदिश्यते॥

आह-यदि विज्ञानादन्यदस्ति विज्ञातृ, विज्ञानमपास्य तन्निदर्शयताम् इदं तद् ईदृशं चेति। न च तन्निदर्शयते, तस्मान्न ततोऽन्यदस्तीति। अत्रोच्यते- स्व-संवेद्यः स भवति, नासावन्येन शक्यते द्रष्टुम्, कथमसौ निदर्शयतेति? यथा च कश्चिच्चक्षुष्मान् स्वयं रूपं पश्यति, न च शक्नोत्यन्यस्मै जात्यन्धाय तन्निदर्शयितुम्। न च तद् न शक्यते निदर्शयितुमित्येतावता, श्नास्ति इत्यवगम्यते। एवमसौ पुरुषः स्व-यमात्मानमुपलभते, न चान्यस्मै शक्नोति दर्शयितुम्। अन्यस्य द्रष्टुस्तं पुरुषं प्रति दर्शनशक्त्यभावात्। सोऽप्यन्यः पुरुषः स्वयमात्मानमुपलभते, न व परात्मानम्। तेन संवेगे स्वेनात्मना आत्मानमुपलभमानाः सन्त्येव, यद्यपि परपुरुषं नोपलभन्त इति। अथाऽस्मिन्नर्थे ब्राह्मणं भवति- शान्तायां वाचि किञ्चोतिरेवायं पुरुषः [ इति ], आत्मज्योतिः सम्राडि। ति होवाचश्, इति। परेण नोपलभ्यते इत्यत्रापि ब्राह्मणं भवति- अगृह्यो न हि गृह्यते, इति। परेण न गृह्यते, इत्येवदभिप्रायमेतत्। खरगोश के सींग हैं' यह भी जाना जाये। और 'अहम्' यह ज्ञान मिथ्या है, ऐसा भी नहीं कह सकते, बाधक ज्ञान का अभाव होने से। इसलिये सुखादि से अतिरिक्त आत्मा है। जब ऐसा है, तो वही 'यज्ञायुधी' कहा जाता है।

**व्याख्या-** (आक्षेप) [विज्ञानवादी] कहता है- यदि विज्ञान से भिन्न कोई विज्ञाता है, तो उसे विज्ञान को पृथक् करके (विज्ञान का सहारा न लेकर) दिखाएँ कि यह वह है, और इस प्रकार का है। [विज्ञान से पृथक् करके उसे नहीं दिखाते [अर्थात् विज्ञान के सहारे ही विज्ञाता की सिद्धि करते हैं], इसलिये वह विज्ञान से अन्य पृथक् नहीं है। (समाधान) इस विषय में [सिद्धान्ती] कहता है- वह (आत्मा) स्वसंवेद्य (अपने से ही जानने योग्य) होता है, अन्य से यह नहीं देखा जा सकता है, फिर मला उसे कैसे दिलायें? जैसे कोई आंखों-वाला स्वयं रूप को देखता है, पर वह अन्य जन्मान्ध को रूप नहीं दिखा सकता। वह रूप [जन्मान्ध को] दिखाया नहीं जा सकता, इतने मात्र से [वह रूप] नहीं हूँ, ऐसा नहीं समझा जाता है। इसी प्रकार से यह पुरुष अपने आप आत्मा को ग्रहण करता है, परन्तु दूसरे को दिखा नहीं सकता। अन्य ब्रह्मा की उस पुरुष के प्रति दर्शनशक्ति का अभाव होने से। वह दूसरा पुरुष भी स्वयं आत्मा को ग्रहण करता है, दूसरे की आत्मा को ग्रहण नहीं करता। इस लिये सभी अपने-अपने आत्मा से अपने को ग्रहण करनेवाले हैं हो, यद्यपि दूसरे की आत्मा को ग्रहण नहीं करते। इस अर्थ (आत्मा स्वसंवेद्य है) में ब्राह्मण वचन भी होता है- श्वानी के शान्त हो जाने पर किस ज्योतिबाला यह पुरुष होता है? हे सम्राट् ! आत्मज्योतिबाला होता है ऐसा याज्ञवल्क्य ने कहा। [अन्य] के द्वारा गृहीत नहीं होता इस विषय में भी ब्राह्मण होता है [यह आत्मा] अगृह्य है, गृहीत नहीं

कुतः? स्वयज्ज्योतिष्ट्ववचनात्। अथापि ब्राह्मणं भवति- अत्रायं पुरुषः स्वय-उज्योतिर्भवतिश्, इति। केन पुनरुपायेन अयमन्यस्मै कथ्यते इति? तत्राप्युपाये ब्राह्मणं भवति- स एष नेति नेत्यात्मेति होवाचश्, इति। 'असौ एवरूपः' इति न शक्यते निदर्शयितुम्। यच्च परः पश्यति, तत्प्रतिषेधस्तस्योपदेशोपायः। शरीरं परः पश्यति तेनात्मा

उपदिश्यते। शरीरं नात्मा, अस्ति शरीरादन्य इति, स चात्मेति शरीरप्रतिषेधेनोपदिश्यते। तथा प्राणादयो नात्मानः, तत्प्रतिषेधेन तेभ्योऽन्य उप-दिश्यते। तथा परस्थाः सुखादयः परेण लिङ्गैरुपलभ्यन्ते। तेऽपि नाऽऽत्मान इति। तत्प्रतिषेधेनान्य उपदिश्यते। यः स्वयं पश्यति, न ततोऽन्यः पुरुष इत्येतदपि पुरुष-प्रवृत्त्याऽनुमीयते। यदाऽसौ पुरुषः पूर्वद्युः सामिकृतानामर्थानां प्रतिसमाधाने शेषानु-ष्ठाने च यतते। अतः प्रवृत्त्याऽवगम्यते- नूनमसावनित्यान्नित्यमवगच्छतीति ॥ उपमानाच्चापदिश्यते- वादृशं भवान् स्वयनात्मानं पश्यति, अनेनोपमानेना-वगच्छ- अहमपि तादृशमेव पश्यामीति। यथा कश्चिदात्मायां वेदनां परस्मा आच-

विद्य में भी ब्राह्मण होता है- शयहां यह पुरुष स्वयं ज्योतिवाला होता है। किस उपाय से यह अन्य के लिये कहा जाता है? उस उपाय के विषय में भी ब्राह्मण होता है- श्वह यह नहीं है, [वह यह] नहीं है, आत्मा ऐसा [याज्ञवल्क्य ने] कहा। [अर्थात् शरीर में वर्तमान प्रत्येक झरयव, क्रिया वा रूपादि गुण का प्रतिषेध करते-करते जो बच जाये, वह आत्मा है।] शयह आत्मा इस प्रकार का है। ऐसा निवर्शन नहीं कर सकते। इसलिये जिसको दूसरा व्यक्ति देखता है, उसका प्रतिषेध ही उसके उपदेश का उपाय है। शरीर को दूसरा व्यक्ति देखता है, उससे आत्मा का उपदेश किया जाता है। शरीर आत्मा नहीं है, शरीर से अन्य है। वह आत्मा शरीर के प्रतिषेध से उपविष्ट होता है। इसी प्रकार प्राणादि भी आत्मा नहीं हैं। प्राणादि के प्रतिषेध से उनसे भिन्न [आत्मा] का उपदेश किया जाता है। तथा अन्य में स्थित सुखादि अन्य व्यक्ति के द्वारा [हर्षविषादादि] लिङ्गों से जाने जाते हैं। वे सुखादि नो आत्मा नहीं हैं। इन सुखादि के प्रतिषेध से अन्य [आत्मा] का उपदेश किया जाता है। जो अपने को देखता है [अर्थात् स्वयं से गृहीत होता है, उससे अन्य पुरुष नहीं है। यह मी पुरुष की प्रवृत्ति से अनु-मान किया जाता है। जब यह पुरुष पहले दिन आचे किये गये कार्यों को सिद्ध (पूर्ण) करने और शेष (पूर्व दिन में जिन्हें आरम्भ नहीं कर पाया, उन) के अनुष्ठान में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति से जाना जाता है कि निश्चय यह अनित्य [प्रवृत्ति वा कार्य] से [अपने को] नित्य जानता है। [अर्थात् अपने को कल और आज वर्तमान रहनेवाला समझता है॥]

**व्याख्या**-उपमान से भी [आत्मा का] उपदेश किया जाता है- आप स्वयं (अपने) को जिस प्रकार का देखते वा जानते हो, इस उरमान (सादृश्य) से जा

क्षीत- दह्यमानस्येव मे भवति, यात्यमानस्येव मे भवति, शतुद्यमानस्येत्र मे भवतीति। अतः स्वयमवगम्यमानत्वाद् अस्ति तद्व्यतिरिक्तः पुरुष इति॥

यदुच्यते-विज्ञानमपास्थतदनिदश्यतामिति। यद्युपायमेव निषेधसि। न शक्यमुपायमन्तरेणोपेयमुपेतुम्। अयमेवाभ्युपायो ज्ञातव्यानामर्थानां यो यथा ज्ञायते स तथेति। तद्यथा-कः शुक्लो नाम? यत्र शुक्लत्वमस्ति। किं शुक्लत्वं नाम? यत्र शुक्लशब्दप्रवृत्तिः। क्व तस्य प्रवृत्तिः? यच्छुक्लशब्दे उच्चरिते प्रतीयते। तस्मान् विज्ञानं प्रत्याख्याय कस्यचिद्रूपं निदर्शयितुं शक्यम्। न च नियोगतः प्रत्यये प्रतीते प्रत्ययार्थः प्रतोतो भवति। अप्रतीतेऽपि हि प्रत्यये सति अर्थः प्रतीयत एव। न हि विज्ञानं प्रत्यक्षम्, विज्ञेयोऽर्थः प्रत्यक्ष इति, एतत् पूत्रमेवोक्तम्। शतद-वश्यकर्तव्येऽप हवत्रे काभं विज्ञानमपत्येतश्, नार्थाः इत्येतदुक्तमेव। तस्मादस्ति

सुखादिभ्योऽन्यो नित्यः पुरुष इति॥ अथ यदुक्तम्-विज्ञाधन एव तेभ्यो भूतेभ्यः समुत्थाय तान्येवानुविनश्यति, न

रही है, प्रतिरुद्ध (बन्दी) किये हुए के समान मुझे [पीड़ा] हो रही है। इस कारण [पीड़ा के] स्वयं ज्ञेय होने से, उत [पीड़ा] से निन्न पुरुष है। [अर्थात् स्वपीड़ा के प्रकार को व्यक्त करने के लिये अपने से भिन्न दह्यमान, यात्यमान, रुध्यमान आत्मा को जानता है॥

**व्याख्या**- और जो यह कहते हो कि विज्ञान को हटाकर उत [आत्मा को दिखाओ। [इस कथन से आप] यदि [निदर्शन के] उपाय का ही निषेध करते हो, तो उपाय के बिना उपेव (उपाय से जानने योग्य) को जान ही नहीं सकते। जानने योग्य पदार्थों का यही [जानने का उपाय है कि जो जैसे जाना जा सकता है। उसे उसी प्रकार जानना चाहिये। जैसे [कोई पूछे] शुक्ल क्या है? [उत्तर होगा जहां शुक्लत्व है [वही शुक्ल है]। शुक्लत्व क्या है? जिसमें शुक्ल शब्द की प्रवृत्ति होती है। उस (शुक्ल शब्द) की प्रवृत्ति कहां होती है? जो शुक्ल शब्द के उच्चरित होने पर जाना जाता है। इसलिये विज्ञान (जो उपाय है, उस] का प्रत्याख्यान करके अथवा उसे छोड़ के किसी पदार्थ का स्वरूप दिखाया हो नहीं जा सकता। यह भी आवश्यक नहीं कि ज्ञान के प्रतीत होने पर ज्ञान का विषय प्रतीत होता है। ज्ञान की प्रतीति न होने पर मी [अर्थ के होने पर अर्थ प्रतीत होता ही है। [अर्थात् संज्ञा-संज्ञी सम्बन्ध के ज्ञात न होने पर किविषयक मेरा ज्ञान है, इसकी प्रतीति न होने पर मी अर्थ इन्द्रिय सन्निकर्ष से जाना हो जाता है। ऐसी अवस्था में द्रष्टा करता है- मैं किसी वस्तु को देख तो अवश्य रहा हूं, पर यह नहीं जानता कि क्या है, किस वस्तु को देख रहा हूं॥ विज्ञान प्रत्यक्ष नहीं होता विज्ञेय अर्थ प्रत्यक्ष होता है, यह पूर्व हो (पृष्ठ २७, २८) कह चुके हैं। शयदि बोनों में से किसी का परित्याग अवश्य करना हो, तो विज्ञान का ही परित्याग किया जा सकता है, अर्थ का नहीं। शय यह भी पूर्व (पृष्ठ २८) कह चुके। इसलिये सुखादि से भिन्न नित्य पुरुष (आत्मा) है॥



**व्याख्या**—और जो यह कहा है कि श्विज्ञानरूप ही इन मूलों से उत्पन्न होकर उनप्रेत्य संज्ञाऽस्ति, इति। अत्रोच्यते—अत्रैव मा भगवात् मोहात्तमापीपददृष्ट इति, परि—चोदनोत्तरकाले प्रपश्रुत्य मोहाऽभिप्रायमस्य वणितवान् वा अरे मोहं ब्रवीमि, अविनाशी वा अरेऽयमात्माऽनुच्छित्तिधर्मा, मात्रासंसर्गस्त्वस्य भवति, इति। तस्मान्न विज्ञानमात्रं, तस्माद् वैषम्यम्।

**यदुक्तम्—न चंष श्यातिः इति विधिः शब्द इति। मा भूद्विधिशब्दः, स्वर्गकामो यजेत इति वचनान्तरेणावगतमनुवदिष्यते। तस्मादविरोधः ॥५॥ इति धर्मे वेदप्रामाण्याऽधिकरणम्॥५॥**

भूतों के साथ ही विनष्ट हो जाता है, मरने के पश्चात् ज्ञान नहीं रहता, (पूर्व पृष्ठ ५२)। इस विषय में कहते हैं—इस विषय में आप (याज्ञवल्क्य) मोह में न गिरावें, [मंत्रेयी के इस कथन के पश्चात् [याज्ञवल्क्य ने] अपने मोह के अभिप्राय को प्रकट किया—अरे मंत्रेयि ! मैं मोह (अज्ञान) का कथन नहीं करता। अरे [मंत्रेयि] ! यह ज्ञात्मा अनुच्छेदधर्मवाला (अविनाशी) है, मात्रा (भूतेन्द्रिय और धर्माधर्म) का संसर्ग तो इसके साथ होता है। [इसी मात्रा-संसर्ग के कारण पूर्व वचन में विनाश का कथन है। इस कारण आत्मा विज्ञानमात्र नहीं है। इसलिये [आत्मा में विज्ञान से] विवमता है

और जो यह कहा है—यह श्यातिः विधि शब्द नहीं है। [जिससे यजमान स्वर्ग को प्राप्त होता है, यह अभिप्राय जाना जाये। यह याति] न होवे विधि शब्द। स्वर्गकामो यजेत इस वचनान्तर से अवगत [स्वर्ग] का यह अनुकयन (अनुवाद) करेंगा। [अर्थात् जिस यजमान ने स्वर्ग की कामना से अपने जीवन में विविध यज्ञ किये हैं, उस स्वर्ग की प्राप्ति का स एष यज्ञायुधो यजमानोऽज्जसा स्वर्ग लोकं याति वचन अनुवाद करेगा। इसलिये [इस वाक्य का प्रत्यक्ष के साथ विरोध नहीं है]॥५॥

विवरण—शावर भाष्य के व्याख्याता वृत्तिकारस्तु से लेकर यहां तक के ग्रन्थ को वृत्ति-कार उपवर्ष का ग्रन्थ मानते हैं। यदि यह निर्देश ठीक हो, तो भो दो बातें अवश्य माननी पड़ेगी—(१) वृत्तिकार के ग्रन्थ का शबरस्वामी कृत यह संक्षेप है। (२) निरालम्बन वा शून्यवाद बौद्ध दर्शनशास्त्र-उपज्ञ ही बाद है, यह ठीक नहीं। इन मतों का उद्भव बहुत प्राचीन काल में हो गया था। बौद्ध दार्शनिकों ने तो इन बादों को अपनाकर इनके स्वरूप का परिमार्जनमात्र किया है। प्रस्तुत प्रकरण में ही विज्ञानवाद के निर्देश के लिये शतपथ (बृहदारण्यक) को श्रुति उपस्थित की है। इनचे यह कहना चिन्त्य होगा कि शतपथ का प्रवचन बौद्ध विज्ञानवाद के पश्चात् हुआ। शतपथ का प्रवचन महात्मा बुद्ध के जन्म से लगभग १५०० वर्ष पूर्व हो चुका था। इसी प्रकार निरालम्बन और शून्यवाद के सम्बन्ध में भी जानना चाहिये। शून्यवाद का प्रकारान्तर से निर्देश सांख्यशास्त्र (११४४) के शून्यं तत्त्वं मावोऽपि विनश्यति वस्तुधर्मत्वाद् विनाशस्य सूत्र में भी मिलता है।

ग्राचार्य शंकर ने एक आत्मनः शरीरे भावात् (वेदान्त ३।३।५३) के भाष्य में लिखा है

—भगवान् उपवर्ष ने प्रथम तन्त्र (पूर्वमीमांसा में भात्मास्तित्व के कथन की प्रसक्ति होने पर लिखा है—शारीरके वक्ष्यामः, अर्थात् शारीरक तन्त्र (वेदान्त) में आत्मा के अस्तित्व का प्रतिपादन करेंगे। पर शबरस्वामी ने यहां (वेदान्त ३०३०५३) से प्रात्मास्तित्व प्रकरण को लेकर प्रमाणलक्षण प्रकरण (१११।५) में लिखा है। इस से स्पष्ट है कि प्रकृत सारा विषय यहां उप-वर्ष निदिष्ट नहीं है।

[प्रकृत-सूत्रार्थ-मीमांसा]

छः वैदिक दर्शनों में दो-दो दर्शनों के तीन विभाग हैं। न्याय और वैशेषिक मिलकर एक-शास्त्र है, योग और सांख्य मिलकर एकशास्त्र है, और पूर्वमीमांसा और उत्तरमीमांसा मिलकर एकशास्त्र माना जाता है। प्राचीन मीमांसक संकर्षकाण्ड सहित १६ अध्यायात्मक जैमिनीय पूर्व-मीमांसा, और ४ अध्यायात्मक वैयासिक उत्तरमीमांसा को मिलाकर एकशास्त्र मानते थे।

पूर्वोत्तर मीमांसा का एकशास्त्रत्व तब ही उपपन्न होता है, जब दोनों शास्त्रों के प्रधान विषयों में ऐकमत्य हो। वर्तमान में पूर्वोत्तर मीमांसा के जैसे विविध परस्परविरुद्ध ब्याल्लान उप-लब्ध हो रहे हैं, उन से शास्त्रकार का आशय सर्वथा तिरोहित हो गया है। हमारे विचार के अनुसार ईश्वर, वेद का प्रादुर्भाव, सृष्टि की उत्पत्ति, और जीव की अनादिता आश्रादि कुछ विषय ऐसे हैं, जिनको दोनों शास्त्रों में समानरूप से माना गया है। पाठक स्वयं विचार करें, यदि पूर्व-मीमांसा ईश्वर और जगत् की उत्पत्ति को नहीं मानता, उत्तरमीमांसा ईश्वर को ही मानता है, जीव और जगत् को मिथ्या कहता है (शंकर मतानुसार), तो इनका किस विषय में ऐकमत्य है, जिससे इन्हें एकशास्त्र मानें? बस्तु।

प्रकृत सूत्र में बादरायण के मत का उल्लेख किया है। प्रतः पहले इस विषय में वेदान्त-प्रवक्ता बादरायण का क्या मत है, यह जानना आवश्यक है। बादरायण ने शास्त्रयोनित्वात् (१।११३) में वेदादिशास्त्र का योनि कारण प्रभवस्थान ब्रह्म को माना है। वेद शब्दात्मक है, उसका निराकार ब्रह्म से प्रादुर्भाव कैसे होगा, इसका समाधान शब्द इति चेत्ततः प्रमवात् प्रत्यक्षानुमानाभ्याम् (१।३।२८) सूत्र से किया है। इसका अर्थ है—शब्द के यदि ब्रह्म से प्रादुर्भाव में अनुपपत्ति कहो, तो (न) ठीक नहीं। (बतः) उस ब्रह्म से (प्रभवात्) प्रादुर्भूत होने से (प्रत्यक्षानुमानाभ्याम्) प्रत्यक्ष-श्रुति और अनुमान स्मृति से प्रमाणित होती है। नामात्मक जगत् वेद शब्दराशि और रूपात्मक जगत् पृथिव्यादि का प्रभव ब्रह्म से है, यह श्रुति और स्मृति कहती है। सर्वव्यापक ब्रह्म सर्ग के प्रारम्भ में प्रादुर्भूत ऋषियों के हृदय मस्तिष्क में अर्थसहित शब्दोच्चारण को प्रेरित (उद्भावित) करता है। अर्थात् ब्रह्म की प्रेरणा से नित्यानुपूर्वयुक्त वेद शब्द

आय ऋषियों के हृदय में स्फुट होते हैं। द्र० ऋग्वेद मं० १०, सूक्त ७१, मन्त्र १-

बृहस्पतेः प्रथमं वाचो अग्रं यत् प्रत नामषेयं दधानाः। यदेषां श्रेष्ठं यदरिप्रमासीत् प्रेणा तदेषां निहितं गुहाविः॥

अर्थात् बृहस्पति की वाणी का जो अग्र श्रेष्ठ अंश, जिसको नामषेय का नामकरण करते हुये प्रथम सर्ग के आरम्भ में प्रत जो श्रेष्ठ धौर जो अरित्र निदुष्ट श्रावश्यक भाग था, उत्पन्न ऋषियों के हृदयरूपी गुहा में स्थापित किया। सृष्टिगत पदार्थों प्रेरित किया। इस ज्ञानरूप वेद का उसे प्रणा अनुकम्मा से इन प्रथम

वेद का प्रभाव ब्रह्म से होने के कारण वेद का नित्यत्व है। यह भगले अत एव व नित्य-त्वम् (१।३।२६) सूत्र से कहा है। यही तात्पर्य जैमिनि ने श्रौतपत्तिकस्तु शब्दस्यायन सम्बन्धः सूत्र से कहा है। और घणने मत को परिपुष्ट करने के लिये वेदान्तप्रवक्ता बादरायण का मत उद्युत किया है। सूत्र इस प्रकार है-

‘श्रौतपत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धस्तस्य ज्ञानमुपदेशोऽव्यतिरेकश्चार्थेऽनुप-लब्धे तत्प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षितत्वात्’॥

**सूत्रार्थ-** (शब्दस्यायन सम्बन्धः) शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध (श्रौतपत्तिकः) उत्पत्ति प्रादुर्भावकाल का है (जब ब्रह्म ने ऋषियों के हृदयों में शब्दात्मक वेद को प्रेरित किया, उसी समय शब्द और उसके अर्थ के सम्बन्ध का बोध भी करा दिया)। (तस्य ज्ञानम्) उस शब्दार्थ-ज्ञान का साधन (उपदेशः) उपदेश बेद है [अर्थात् श्रादि मानव शब्दार्थ-सम्बन्ध का ज्ञान वेद से ही प्राप्त करता है। वेद के ब्रह्म-प्रभव होने से]। (अव्यतिरेकश्च [तस्य उपदेशस्य भवति]) उस उपदेश- वेद का विपर्यास नहीं होता, वेदबोधित पर्थ में उलटापन नहीं देखा जाता है। इसलिये (तत् अनुपलब्धेऽर्थे प्रमाणम्) वह उपदेश बेद अनुपलब्ध प्रमाणान्तर से अनवगम्यमान अर्थ में प्रमाण है। (बादरायणस्य) बादरायण के मत में (अनपेक्षितत्वात्) प्रमाणान्तर की अपेक्षा न रखने से अर्थात् स्वतः प्रमाण होने से।

इस सूत्र से वेद के शब्दों, उनके अर्थों, तथा शब्दार्थ-सम्बन्ध की नित्यता दर्शाई है। उत्तर अधिकरण में शब्द के अनित्यत्व का खण्डन किया है। उससे प्रगले अधिकरण में वाक्यार्थ श्री पदार्थमूलकता सिद्ध की है। तदनन्तर वेद के अनित्यत्व का समाधान करके नित्यता सिद्ध की है।

वेद मन्त्र संहिताए, स्वतःप्रमाण हैं। वेद की शाखाएँ ब्राह्मण भारण्यक उपनिषद् श्रादि समस्त प्रोक्त वाङ्मय परतःप्रमाण है। यह बादरायण जैमिनि प्रभूति समस्त ऋषियों का मत है। [शब्दनित्यताऽधिकरणम् ॥६॥]

**श्रुतं नित्यः शब्दार्थयोः सम्बन्धः इति, तदनुपपन्नम्, शब्दस्यानित्यत्वात्। विनष्टः शब्दः, पुनरस्य क्रियमाणस्यार्थान् अकृतकः सम्बन्धो नोपपद्यते। नहि प्रथम-श्रुताच्छब्दात् कश्चिदर्थं प्रत्येति। कथं पुनरनित्यः शब्दः?**

**कर्मैके तत्र दर्शनात् ॥६॥ (पूर्वपक्षे हेतुः)**

प्रयत्नादुत्तरकालं दृश्यते यतः, अतः प्रयत्नानन्तर्यात् तेन क्रियते इति गम्यते। नन्वभिव्यञ्ज्यात् स एनम्। नेति ब्रूमः। न हि अस्य प्रागभिव्यञ्जनात् सद्भावे किञ्चन प्रमाणमस्ति। संज्ञाभिव्यञ्ज्यते, नासन्॥६॥

इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन बादरायण का नामोल्लेखपूर्वक हरिस्वामी (कलि संवत् ३०४७, वि० संबत् २) ने शतपथ ब्राह्मण के भाष्य के आदि में इस प्रकार किया है-

**श्वेदस्यापौरुषेयत्वेन स्वतःप्रामाण्ये सिद्धे तच्छाखानामपि तद्धेतुत्वात् प्रामाण्यम्, इति वाद-रायणादिभिः प्रतिपादितम्। रा० ला० कपूर ट्रस्ट संग्रहस्थ हस्तलेख, पृष्ठ २।**

अर्थात्- वेद का स्वतःप्रामाण्य सिद्ध होने पर उसकी शाखाओं का प्रामाण्य भी तद्हेतुक वेदप्रामाण्यहेतुक (वेदानुकूलहेतुक) होने से है, ऐसा बादरायणादि ने प्रतिपादन किया है।

इस बचन से यह भी सिद्ध है कि वेद से शाखाएँ भिन्न हैं। शाखाओं का प्रामाण्य वेदा-नुकूल होने से ही है। स्वामी दयानन्द सरस्वती ने भी इसी मत का प्रतिपादन अपने ऋग्वेदादि-भाष्यभूमिका तथा सत्यार्यप्रकाश आदि ग्रन्थों में किया है ॥५॥

**स्मरणीय बिन्दु-**

- वेद धर्म का सर्वोच्च प्रमाण है।
- वैदिक विधियाँ कर्तव्य का निर्देश करती हैं।
- मीमांसा वेदप्रामाण्य को स्वीकार करती है।
- विधिवैक्य धर्मज्ञान का आधार हैं।
- वेद अपौरुषेय एवं नित्य हैं।

**शब्दावली-**



- वेदविधि
- प्रमाण्य
- विधिवाक्य
- धर्मनिर्णय
- वेदप्रामाण्य
- कर्तव्य

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. वेदविधि क्या है?
2. प्रमाण्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. विधिवाक्य किसे कहते हैं?
4. धर्मनिर्णय में वेद का महत्व बताइए।
5. मीमांसा में वेदप्रामाण्य क्यों स्वीकार किया गया है?

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. वेदविधि प्रमाण्य का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. मीमांसा दर्शन में वेद की प्रामाणिकता स्पष्ट कीजिए।
3. धर्मनिर्णय में विधिवाक्यों की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।

#### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. धर्म का सर्वोच्च प्रमाण क्या है?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) वेद

(ग) अनुमान

(घ) उपमान

2. विधिवाक्य क्या बताते हैं?

(क) निषेध

(ख) कर्तव्य

(ग) दुःख

(घ) भ्रम

3. मीमांसा किसे स्वीकार करती है?

(क) शून्यवाद

(ख) वेदप्रामाण्य

(ग) नास्तिकवाद

(घ) केवल तर्क

4. वेद कैसे माने जाते हैं?

(क) मानवकृत

(ख) अपौरुषेय

(ग) नश्वर

(घ) मिथ्या

5. प्रमाण्य का सम्बन्ध किससे है?

(क) असत्य

(ख) सत्यता

(ग) दुःख

(घ) अज्ञान

## इकाई-4.2 शब्द की नित्यता

### उद्देश्य-

1. शब्दनित्यत्व सिद्धान्त को समझना।
2. मीमांसा में शब्द की सत्ता का अध्ययन करना।
3. ध्वनि एवं शब्द के सम्बन्ध का विश्लेषण करना।

### शब्द के नित्यत्व में पूर्वपक्ष

#### कर्मके तत्र दर्शनात्॥६॥

सूत्रार्थ- [शब्द] (कर्म) कार्य है, ऐसा (एके) कुछ आचार्य मानते हैं। (तत्र) [शशम्दोच्चारण के प्रयत्न के] उत्तरकाल में (दर्शनात्) [शब्द के] उपलब्ध होने से।

व्याख्या- शब्द अर्थ का सम्बन्ध नित्य है यह जो कहा है, वह उपपन्न नहीं होता, शब्द के अनित्य होने से। [उच्चरित] शब्द नष्ट हो गया, पुनः उस क्रियमाण [शब्द का] अर्थ के साथ अकृतफ (नित्य) सम्बन्ध-उत्पन्न नहीं होता। प्रथम धृत शब्द से कोई अर्थ को उप-लब्ध नहीं करता। फिर शब्द अनित्य फंसे हैं? यतः [यह शब्द] प्रयत्न के उत्तर काल में दिलाई देता है, इसलिये प्रयत्न के अनन्तर उससे किया जाता है, ऐसा जाना जाता है। (आक्षेप) बह [प्रयत्न] इस [शब्द] को अभिव्यक्त करे? (समाधान) नहीं, ऐसा कहते हैं। इस [शब्द] की अभिव्यक्ति से पहले [इसके] सद्भाव (विद्यमानता) में कोई प्रमाण नहीं है। और सत् (विद्यमान वस्तु) हो अभिव्यक्त होती है, असत् नहीं॥६॥

#### अस्थानात् ॥७॥ (हे०)

नो खल्वप्युच्चरितं मुहूर्तमप्युपलभामहे। अतो विनष्ट इत्यवगच्छामः। न च सन् नोपलभ्यते। अनुपलम्भकारणानां व्यवधानादीनां अभावेऽप्यनुपलम्भनात्। न चासौ विषयमप्राप्तः, आकाशविषयत्वात्। कर्णच्छिद्रंऽप्यनुपलम्भनात्॥७॥

#### करोतिशब्दात् ॥७॥ (हे०)

अपि च, शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्बोरिति व्यवहर्तारः प्रयुज्यते। न ते नून-मवगच्छन्ति, स एवायं शब्द इति॥८॥

विवरण न हि प्रथमश्रुतात्- इसका भाव यह है कि यदि शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध होवे, तो शब्द के साथ ही उसका अर्थ भी गृहीत हो जावे। ऐसा यतः नहीं होता, इससे जाना जाता है कि शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य नहीं है। संज्ञाभिव्यज्यते- जो पदार्थ विद्यमान तो है, परन्तु अन्धकार के कारण दिखाई नहीं पड़ते, व्यञ्जक (प्रकाशक) दीपक की उप-स्थिति होने पर वे अभिव्यक्त हो जाते हैं, दिखाई देते हैं। इस कारण व्यञ्जक पूर्वतः विद्यमान पदार्थ का ही व्यञ्जक होता है, अविद्यमान का व्यञ्जक नहीं हो सकता॥६॥

#### अस्थानात्॥७॥

सूत्रार्थ- [उच्चारण के अनन्तर (पस्थानात्) स्थिर नहीं रहने से [अब्द नष्ट हो गया, ऐसा जाना जाता है]।

व्याख्या- निश्चय ही उच्चरित शब्द को मुहूर्त मर (थोड़ी देर) भी उपलब्ध नहीं करते। इससे वह नष्ट हो गया, ऐसा हम जानते हैं। विद्यमान होता हुआ उपलब्ध न होवे, ऐसा नहीं होता। अनुपलब्धि के कारण व्यवधान आदि (द्र० पूर्व पृष्ठ २३-२४) के अभाव में भी अनुपलब्धि होने से [वह नहीं है] वह [शब्द] विषय (श्रोत्रेन्द्रिय) को अप्राप्त है, ऐसा भी नहीं कह सकते, आकाश विषयवाला होने से। [अर्थात् शब्द का देश आकाश है, आकाश सर्वत्र व्याप्त है, फिर भी वह ग्राहकेन्द्रिय (श्रोत्र) को प्राप्त नहीं होता, यह नहीं कह सकते।] कर्णच्छिद्र में भी अनुपलब्धि होने से [शब्द नहीं है, उच्चारण के अनन्तर नष्ट हो गया, यह मानना पड़ता है] ॥७॥

#### करोतिशब्दात्॥८॥

सूत्रार्थ- [शब्द के विषय में] (करोतिशब्दात्) शकुञ्श धातु का प्रयोग होने से [शब्द अनित्य है]।

व्याख्या-और भी शब्द करोश शब्द मत करोश इस प्रकार व्यवहार करनेवाले प्रयोग करते हैं। निश्चय ही वे यह भी नहीं जानते कि यह वही शब्द है। [इसका भाव यह है कि यदि प्रयोक्ता किसी प्रकार यह जानते कि यह वही शब्द है जो पहले अभिव्यक्त

हुआ था, तब तो शयह वही हैश इस ज्ञान के बल से कथंचित् शब्द को नित्य मान सकते थे। यतः स एवायम् ऐसी प्रतीति नहीं होती, अतः शब्द भिन्न-भिन्न है, अर्थात् कृतक है॥८॥]

सत्त्वान्तरे च यौगपद्यात् ॥६॥ (हे०)

नानादेशेषु च युगपच्छब्दमुपलभामहे। तदेकस्य नित्यस्वानुपपन्नमिति। असति विशेषे नित्यस्य नानेकत्वम्। कार्याणान्तु बहूनां नानादेशेषु क्रियमाणानामुप पञ्चतेऽनेकदेशसम्बन्धः, तस्मादप्यनित्यः ॥६॥

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥१०॥ (हे०)

अपि च दध्यत्र, इत्यत्र इकारः प्रकृतिर्यकारो विकृतिरित्युपदिशन्ति। यद्वि-क्रियते, तदनित्यम्। इकारसादृश्यं च यकारस्त्रोपलभ्यते। तेनापि तयोः प्रकृति-विकारभावो लक्ष्यते ॥१०॥

वृद्धिश्चः क.तू भूम्नाऽस्य ॥११॥ (हे०)

सत्त्वान्तरे च यौगपश्चात्॥६॥

सूत्रार्थ- (च) और (सत्त्वान्तरे) भिन्न-भिन्न स्थान में (योगपद्यात्) एक साथ उपलब्धि होने से [शब्द एक बऔर नित्य नहीं है]। व्याख्या-नाना स्थानों में एक साथ शब्द को उपलब्ध करते हैं। यह (नाना स्थानों में एक साथ उपलब्धि) एक नित्य शब्द को उत्पन्न नहीं होती [अर्थात् एक पदार्थ नाना स्थानों में उपलब्ध नहीं होता। बतः शब्द नामा स्थानों में उपलब्ध होता है, अतः वह एक नहीं हो सकता।] बिना विशेष हेतु के नित्य पदार्थ का अनेकत्व (नानात्व) स्वीकार नहीं किया जाता। बहुत से क्रियमाण कार्य पदार्थों का अनेक देशों में [पुगपत्] सम्बन्ध देखा जाता है। इसलिये मी [शब्द] अनित्य है॥६॥

प्रकृतिविकृत्योश्च ॥ १०॥

सूत्रायं ख (च) और (प्रकृतिविकृत्योः) प्रकृति और विकृति के [उपदेश से] भी शब्द प्रनित्य है।

व्याख्या- श्रऔर मी, बधि + अत्र वव्यत्र, यहां इकार प्रकृति और य विकृति है, ऐसा [शास्त्रकार] उपदेश करते हैं। जो विकृत होता है, वह अनित्य होता है। जैसे प्रकृति काष्ठ और विकृति पूष में काष्ठत्व सादृश्य देखा जाता है। वंसे ही इकार का सावश्य यकार में उप-सब्य होता है। [यह सादृश्य इकार यकार का तालुस्थानत्व और स्पृष्ट और ईषत्स्पृष्ट रूप हैं।] इस [सादृश्य] से भी उन दोनों में प्रकृति-विकृतिमाव लक्षित होता है॥१०॥

वृद्धिश्च कत्तं भूम्नाऽस्य ॥११॥

(साई (कर्तृ भूम्ना) उच्चारण करनेवालों की प्रचिकता से (भस्य) शब्द की (वृद्धिः) महत्ता (च) भी उपलब्ध होती है। [जिस में वृद्धि हास होता है, बहु प्रनित्य होता है।]

अपि च बहुभिरुच्चारयद्भिर्महान् शब्दः श्रूयते। स यदि अभिव्यज्यते, बहुभि-रह शिचोच्चार्यमाणस्तावानेवोपलभ्येत। अतो मन्यामहे नूनमस्य एकैकेन कश्चिदव-यवः क्रियते, यत्प्रचयादय महानुपलभ्यते॥ ११॥

समं तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥ (हेतु-निराकरणम्)

तुशब्दात् पक्षो विपरिवर्तते। यदुक्तम्- श्रयत्नादुत्तरकाले दर्शनात् कृतकोऽयम् इति। यदि विस्पष्टेन हेतुना शब्दस्य नित्यत्वं वक्तुं शक्यामः, ततो नित्यप्रत्यय-सामर्थ्यात् प्रयत्नेनाभिव्यज्यते इति भविष्यति। यदि प्रागुच्चारणादनभिव्यक्तः, प्रय-नैनाभिव्यज्यते। तस्मादुभयोः पक्षयोः सममेतत् ॥१२॥

सतः श्रमदर्शनं विषयानागमात् ॥१३॥ (उ०)

व्याख्या- और भी, बहुत जनों के एक साथ उच्चारण करते हुआ से महान् शब्द सुनाई पड़ता है। यदि वह [शब्द] अभिव्यक्त होता है, तो बहुत और अल्पजनों के उच्चारण करने पर भी उतना ही उपलब्ध होना चाहिये। [जैसे अन्धकार में छिपा घट चाहे एक बीपक से अभिव्यक्त हो चाहे बहुत से दीपकों से, दोनों अवस्थाओं में वह घट जितना बड़ा वा छोटा है, उतना ही दिखाई देता है। इससे हम मानते हैं कि इस शब्द का [उच्चारण करनेवाले] एक-एक व्यक्ति से कोई (थोड़ा-थोड़ा) अवयव किया जाता है (उच्चरित होता है), जिसके प्रचय (संग्रह) से यह महान् उपलब्ध होता है ॥११॥

शब्द के नित्यत्व में उत्तरपक्ष

समं तु तत्र दर्शनम् ॥१२॥

सूत्रार्थ (तु) शब्द अनित्य नहीं है, (तत्र) शब्द के विषय में प्रयत्न के अनन्तर शब्द का (दर्शनम्) उपलब्ध होना [दोनों पक्षों में (समम्) समान है।

व्याख्या- श्नु शब्द से पक्ष परिवर्तित होता है। [अर्थात् शब्द अनित्य नहीं है।] जो यह कहा था- श्रयत्न के उत्तरकाल में [शब्द की] उपलब्धि होने से यह कृतक (अनित्य) हैश (पूर्व सूत्र ६)। [इस विषय में कहते हैं यदि किसी विस्पष्ट हेतु से शब्द के

नित्यत्व को कहने में समर्थ होंगे, तो उस नित्यत्वज्ञान के सामर्थ्य से [शब्द] प्रयत्न से अभिव्यक्त होता है, ऐसा [कथत उपपन्न] हो जायेगा। यदि उच्चारण से पूर्व अनभिव्यक्त है, तो प्रयत्न से श्रमि-व्यक्त होता है। इसकारण यह प्रयत्न के पश्चात् उपलब्ध होना [हेतु] दोनों पक्षों में समान है। १२।

विवरण-सुबोधिनीकार ने श्रुतद्वयेश और शृङ्गणम् दो पदों का अध्याहार करके सूत्रायें किया है- 'दोनों मतों में क्षणमात्रदर्शन (शब्द का प्रत्यक्ष होना) समान है, अर्थात् विवाद का विषय नहीं है' ॥१२॥

**सतः परमदर्शनं विषयानागमात्॥१३॥**

सूत्रार्थ- (सतः) विद्यमान [शब्द] का (परम्) अभिव्यञ्जक प्रयत्न के उत्तर (घदर्शनम्) उपलब्ध न होना (विषयानागमात्) श्रोत्ररूप-विषय को अप्राप्त होने से होता है।

यदपरं कारणमुक्तम्- 'उच्चरितप्रध्वस्तः' इति। अत्रापि यदि शक्ष्यामो नित्यतामस्य विस्पष्टु वक्तुम्, ततो नित्यप्रत्ययसामर्थ्यात् कदाचिदुपलम्भं कदाचिद-नुपलम्भं दृष्ट्वा किञ्चिदुपलम्भस्य निमित्तं कल्पयिष्यामः। तच्च संयोगविभाग-सद्भावे सति भवतीति, संयोगविभागावेवाभिव्यञ्जकाविति वक्ष्यामः। उपरतयोः संयोगविभागयोः श्रूयत इति चेत्, नेतदेवम्। न नूनमुपरमन्ति संयोगविभागाः, यत उपलभ्यते शब्द इति। न हि ते प्रत्यक्षा इति॥

विशेष-कुतूहल वृत्ति में इस सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है- (सतः) विद्यमान शब्द की (अदर्शनम्) अनुपलब्धि (परम्) युक्त है, (विषयानागमात्) विषय शब्द के प्रति अभि-व्यञ्जक [संयोग-विभागों] के सम्बद्ध न होने से।

व्याख्या [शब्द की अनुपलब्धि में] जो अन्य कारण कहा है-श [शब्द] उच्चरित होकर नष्ट हो गया (पूर्व सूत्र ७)। इस विषय में भी यदि हम शब्द की नित्यता को विस्पष्ट रूप से कहने में समर्थ होंगे, तो [शब्द के] नित्यत्वज्ञान के सामर्थ्य से [शब्द की] कभी उप-लब्धि और कभी अनुपलब्धि को देखकर उपलब्धि के किसी निमित्त की कल्पना करेंगे। वह उपलब्धि संयोग-विभाग के विद्यमान होने पर होती है, इसलिये संयोग-विभाग ही [शब्द के] अभिव्यञ्जक हैं, ऐसा कहेंगे। [शब्द] सुनाई देता है, तो यह क्योंकि शब्द उपलब्ध होता है। नहीं पड़ते? इसका उत्तर है यदि कहो कि संयोग विभाग के उपरत (समाप्त) होने पर ऐसी बात नहीं है। निश्चय ही संयोग विभाग उपरत नहीं हुए, [यदि कहो कि संयोग विभाग वर्तमान हैं, तो वे दिखाई क्यों वे संयोग विभाग प्रत्यक्ष नहीं हैं]॥

विवरण- उपरतयोः संयोगविभागयोः लकड़ी काटता है। कुल्हाड़ और लकड़ी के इसका अभिप्राय यह है कि देवदत्त कुल्हाड़ से संयोगविभाग से जो शब्द उत्पन्न होता है, वह दूरस्थ मनुष्य को उस समय सुनाई पड़ता है, जब कुल्हाड़ और लकड़ी का संयोगविभाग समाप्त हो चुका है। यदि संयोगविभाग शब्द के श्रभिव्यञ्जक हों, तो संयोगविभाग की विद्यमानता में ही शब्द की उपलब्धि होनी चाहिये। अन्धकार में छिपे घट की दीपक से उपलब्धि होने से जब तक दीपक रहता है, घट की उपलब्धि होती है। यह नहीं होता कि दीपक बुझ जावे, तो भी घट की उपलब्धि होवे। न नूनमुपरमन्ति- इसका भाव यह है कि कुल्हाड़ के उठाने और गिराने से जो संयोगविभाग होता है, उससे तत्स्थानीय वायु में संयोगविभाग होता है, और बाष्पाश्रित संयोगविभाग उत्तरोत्तर वीचीतरङ्ग न्याय से सब भोर संयोगविभाग को उत्पन्न करते हैं। जब हमारी कर्णशष्कुली को वह संयोगविभाग प्राप्त होता है, तब शब्द सुनाई देता है। नैयायिक बायुगत संयोगविभाग की वीचीतरङ्गन्याय से उत्पत्ति न मानकर शब्द की उत्पत्ति मानते हैं। अतः उनके मत में कुल्हाड़ के संयोगविभाग से उत्पन्न शब्द वीचीतरङ्ग न्याय से उत्तरोत्तर अन्य शब्द को उत्पन्न करता हुआ जब कर्णशष्कुली को प्राप्त होता है, तब शब्द की

यदि शब्दं संयोगविभागा एवाभिव्यञ्जन्ति, न कुर्वन्ति, आकाशविषयत्वा-सब्दस्य। आकाशस्येकत्वाद् य एवायमत्र श्रोत्राकाशः, स एत्र देशान्तरेष्वपीति, सन्नस्यैः संयोगविभागैरभिव्यक्तः पाटलिपुत्रेऽप्युपलभ्येत। यस्य पुनः कुर्वन्ति, तस्य वायवीयाः संयोगविभागा वाय्वाश्रितत्वाद् वायुष्वेव करिष्यन्ति। यथा तत्तवस्तन्तु-रुवेव पटम्। तस्य पाटलिपुत्रेष्वनुपलम्भो युक्तः, सृज्जस्थत्वात्तेषाम्। यस्याप्यभि-व्यञ्जन्ति, तस्याप्येष न दोषः। दूरे सत्याः कर्णशष्कुल्या अनुपकारकाः संयोग-विभागाः। तेन दूरे यच्छ्रोत्रं, तेन नोपलभ्यत इति।

नैतदेवम्। अप्राप्ताश्चेत् संयोगविभागाः श्रोत्रस्योपकुर्युः, सन्निकृष्टविप्रकृष्ट-देशस्थौ युगपच्छब्दमुपलभेयाताम्। न च युगपदुपलभेते, तस्मान्नाप्राप्ता उपकुर्वन्ति। न चेदुपकुर्वन्ति, तस्मादनिति शब्दोपलम्भने संयोगविभागाविति। नैतदेवम्।

अभि-उपलब्धि होती है। यह लोकप्रसिद्धि है कि अति उच्च शब्दों से कान के पर्दे फट जाते हैं। बड़ जेट विमानों के शब्दों से घरों की खिड़कियों के शीशे टूट जाते हैं। इस विषय में विचार करना चाहिये कि क्या यह ध्वंस भयंकर शब्द के संयोग से होता है, अथवा प्रबल वायवीय संयोगविभाग के कारण? नैयायिकों के मत में शब्द गुण है, अतः उसके संयोग से कान के पर्दे आदि का फटना नहीं हो सकता। प्रबल संयोगविभाग से वायुगत संयोगविभाग भी प्रबल होते हैं। अतः उनके अबल प्राधात से कान के पर्दे फट जाते हैं, और खिड़कियों के शीशे टूट जाते हैं। इस दृष्टि से वायुगत संयोगविभाग की ही वीचीतरङ्ग न्याय से सब ओर प्राप्ति

जाननी चाहिये॥

**व्याख्या-** (आक्षेप) यदि शब्द को संयोग विभाग अभिव्यक्त ही करते हैं, उत्पन्न नहीं करते, (तो) शब्द का विषय आकाश होने से [आकाश में हो अभिव्यक्त करेंगे। प्राकाश के एक होने से जो ही यहां यह श्रोत्ररूप आकाश है, वही देशान्तरों में भी है, इस कारण लग्न नगर में हुए संयोग-विभागों से जो शब्द अभिव्यक्त हुआ, उसे पाटलिपुत्र (पटना) में मो उपलब्ध होना चाहिये। जिसके [मत में संयोग विभाग शब्द को उत्पन्न करते हैं, उसके [मत में] वायवीय संयोग विभाग वाग्बाधित होने से दायुओं में ही [शब्द को] उत्पन्न करेंगे। जैसे तन्तु (सूत) तन्तुओं में ही पट को उत्पन्न करते हैं। उस [स्रष्टृस्य वायवीय संयोग विभाग से वहां की वायु में उत्पन्न शब्द] का पाटलिपुत्र में उपलब्ध न होता पुक्त है, उन शब्दों के खुप्त्य होने से। (समाधान) जिसके भी [मत में संयोग-विभाग शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, उसके भी [मत में] यह दोष नहीं है। [शब्दाभिव्यञ्जक संयोग-विभाग से दूर विद्यमान कर्णशष्कुली के संयोग विभाग उपकारक नहीं होंगे। इस कारण दूर स्थान में को क्षेत्र है, जत श्री शब्द उपलब्ध नहीं होता।

(आक्षेप) ऐसा नहीं है। अप्राप्त हुए ही संयोगविभाग यदि श्रोत्र के उपकारक होवे, ती समीप और दूर देश में वर्तमान एक साव शब्द को उपलब्ध करें। [समोस्त्व और दूरस्थ] एक साव शब्द को उपलब्ध नहीं करते, इसलिये अप्राप्त हुए [संयोग विभाग कर्णशष्कुलों के] उपकारक नहीं होते। और यदि उपकारक नहीं होते, तो शब्द की उनलब्धि में संयोग विभाग तिमित नहीं हैं (समाधान) ऐसा नहीं है। अनिधात (धक्के) से प्रेरित वायु की लहरें अन्व

घातेन हि प्रेरिता वायवः स्तिमितानि वाय्वन्तराणि प्रतिवाधमानाः सर्वतोदिक्कान् संयोगविभागानुत्पादयन्ति, यावद्ध गमभिप्रतिष्ठन्ते। ते च वायोरप्रत्यक्षत्वात् संयोग-विभागा नोपलभ्यन्ते। अनुपरतेष्वेव तेषु शब्द उपलभ्यते, नोपरतेषु। अतो न दोषः। अत एव चानुवातं दूरादुपलभ्यते शब्दः॥१३॥

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥ (उ०)

यदपरं कारणमुक्तम्- शब्दं कुरु, [शब्दं] मा कार्षीरिति व्यवहर्तारः प्रयु-इज्जतेश्च। यद्यसंशयं नित्यः शब्दः, शब्दप्रयोगं कुविति भविष्यति। यथा गोमयान् कुविति संबाहे ॥१४॥

वायुओं को पीड़ित करती हुई सब दिशाओं में संयोग विभागों को उत्पन्न करती हैं, और जहां तक [अभिवातज] वेग होता है वहां तक गतिशील होती हैं। वे [वायवीय] संयोग-विभाग वायु के अप्रत्यक्ष होने से उपलब्ध नहीं होते। उन [वायवीय संयोग विभागों के उपरत न होने पर हो शब्द उपलब्ध होता है। उपरत होने पर [शब्द उपलब्ध नहीं होता। इस कारण दोष नहीं है। इसीलिये अनुवात (जिधर की वायु होती है) दूर से शब्द उपलब्ध होता है। [अर्थात् शब्द अभिव्यञ्जक वायवीय संयोगविभागों के होने से जिवर वायु बहती है, उस दिशा में अधिक दूर तक शब्द सुनाई पड़ता है, क्योंकि वायु की गति वायवीय संयोग विभागों को दूर तक पहुंचाती है] ॥१३॥

**विवरण-** नंतवेवम्, अप्राप्ताश्चेत् पहले समाधाता ने यह कहा था कि कर्णशष्कुली के दूर होने से संयोगविभाग उपकारक नहीं होते। इसका तात्पर्य यही था कि दूरस्थ कर्णशष्कुली दर्यन्त वायवीय संयोगविभाग नहीं पहुंचते। अतः वे दूरस्थ कर्णशष्कुली में शब्द के अभिव्यञ्जक नहीं होते। इस तात्पर्य को न समझकर पूर्वपक्षी ने समाधाता का इतना ही अभिप्राय ग्रहण किया कि संयोगविभाग कर्णशष्कुली को प्राप्त नहीं होते। और बिना प्राप्त हुए ही श्रोत्र के उपकारक होते हैं। अभिघातेन- इससे सिद्धान्ती अपने मत को स्पष्ट करता है, और बताता है कि वायवीय संयोगविभाग कैसे दूर तक पहुंचते हैं, और उनका नाश कैसे होता है ॥१३॥

प्रयोगस्य परम् ॥१४॥

सूत्रार्थ- (परम्) अन्य [शब्द के अनित्यत्व में जो हेतु श्कृष धातु का निर्देश कहा है, वह] (प्रयोगस्य) प्रयोग उच्चारण का जानना चाहिये। [अर्थात् शब्द का उच्चारण करो, शब्द का उच्चारण मत करो]।

**व्याख्या-** और जो [शब्द के कृतक होने का] अन्य कारण कहा गया है कि- शब्द करोश, शब्द मत करो ऐसा व्यवहार करनेवाले प्रयोग करते हैं। [अर्थात् अमृतप्रादुर्भाव अर्थ-बाली श्कृष धातु का प्रयोग करते हैं (सूत्र प)। इसमें भी हमारा कहना यह है कि यदि निस्सन्देहरूप से शब्द नित्य है, [ऐसा सिद्ध कर सकेंगे] तो शब्द का प्रयोग उच्चारण करोश [शब्द का प्रयोग उच्चारण मत करोश] ऐसा अर्थ होगा। जैसे श्गोमयान् कुरुष [का अर्थ होता है-गोबर को संवाह में प्रयुक्त करो॥१४॥

आदित्यवद् यौगपद्यम् ॥१५॥ (उ०)

यत्तु श्कृषदेशस्य संतो नानादेशेषु युगपदर्शनमनुपपन्नमिति। आदित्यं पश्य देवानाम्प्रियं। एकः सन्ननेकदेशः। वस्थित इव लक्ष्यते। कथं पुनरवगम्यते- एक आदित्य इति? उच्यते। प्राङ्मुखो देवदत्तः पूर्वाह्नं सम्प्रति पुरस्तादादित्यं पश्यति। तस्य दक्षिण ततोऽवस्थितो न द्वौ पश्यति- आत्मनश्च सम्प्रति स्थितम्, तिरश्चीमं देव-दत्तस्यार्जवे। तस्मादेक आदित्य इति। दूरत्वादस्य देशो नावधार्यते, अतो व्यामोहः।

**विवरण-** श्कृष घातु का केवल श्अभूतप्रादुर्भाव ही अर्थ नहीं है। महाभाष्यकार पतं ज्जलि ने भूवादयो धातवः (१।३।१) के भाष्य



में लिखा है- शकृन् धातु का प्रयोग निर्मल (शुद्ध) करने के अर्थ में भी देखा जाता है। जैसे- पृष्ठं कुरु, पादौ कुरु का अर्थ है- पीठ वा पैर को साफ करो। रखने अर्थ में भी प्रयोग देखा जाता है। जैसे- कटे कुरु, घंटे कुरु का अर्थ होता है- चटाई वा घड़ में रख। भट्टकुमारिल में तन्त्रवातिक में ताण्ड्यब्राह्मण १३।३।२४ के शिशुर्वा श्राङ्गिरसो मन्त्रकृतां मन्त्रकृदासीत् वचन का अर्थ लिखा है- अत्र मन्त्रकृच्छब्दः प्रयोक्तारि प्रयुक्तः (पूनासंस्करण, पृष्ठ २३१)। मीमांसा सूत्रकार का भी यहां यही तात्पर्य है। सूत्रकार जैमिनि ने आदाने करोतिशब्दः (४।२।६) में स्वरुश करोति वाक्यस्थ शकरोतिश को अर्थ स्वरुम् आदत्ते स्वरु को ग्रहण करता है अर्थ भी दर्शाया है। संवाहे संवाह शब्द का अर्थ है समूह्यते गोमयादिकं यत्र- गोबरं आदि जहां खांद के लिये प्राप्त कराया जाता है- इकट्ठा किया जाता है। गावों में प्रायः निवास से बाहर कांटों से घेरे हुए स्थान में गोबर इकट्ठा किया जाता है ॥१४॥

### श्रादित्यवद् यौगपद्यम् ॥१५॥

**सूत्रार्थ-** [एक शब्द की] (श्रादित्यवत्) सूर्य के समान (यौगपद्यम्) एक साथ [अनेक देशों में] उपलब्धि जाननी चाहिये। **व्याख्या-** जो 'एकदेश में होते हुए [नित्यं शब्द का अनेक देशों में एक साथ उपलब्धि होना उपपन्न नहीं होता] रूप दोष दिया था (सूत्र है)। [उसके विषय में] हे देवों के पुत्र (मूर्ण)! बाविरूप को देख। [आदिस्थ] एक होता हुआ भी अनेक देशों में स्थित के समान लक्षित होता है (देखो जाता है)। [अर्थात् विभिन्न देशों के समी पुरुष अपने-अपने सन्मुख आदित्य को देखते हैं।] (क्षेप) यह कैसे जाना जाता है कि आदित्य एक है? [विभिन्न देशों में गृहीत होने से विषय मी अनेक क्यों न मोने जावें? (समाधान) पूर्व की और मुंलबालों देवदत्त दिन के पूर्वमाग में पूर्व दिशा में अपने सामने श्रादित्य को देखता है। उसके दक्षिण भाग में स्थित व्यक्ति यो ब्रादित्यों को नहीं देखता [एक] अपने सामने स्थित [आदित्य] को, और देवदत्त की सीध में [अग्ने से] तिरछे स्थित [अन्य आवित्यं] को। इसलिये एक ही आदित्य है। दूर होने के कारण उस (बावित्य) के देश का निश्चय नहीं होता। इसलिये [नाना देशस्थों का अपने-संपने सामने आवित्यं को अनेक भानना] व्यामोहं (मिथ्याज्ञांत) है। इसी प्रकार शब्द के विषय में भी व्यामोह से [उसके] देश का निश्चय नहीं होता। [जसे वेशनेब से अनेक

एवं शब्देऽपि व्यामोहादनवधारणं देशस्य। यदि श्रोत्रं संयोगविभागदेशमागत्य शब्दं गृहणीयात्, तथापि तावदनेक देशता कदाचिदवगम्येत। न च तत् संयोग [विभाग] देश-मागच्छति। प्रत्यक्षा हि कर्णशष्कुली तद्देशा गृह्यते। वायवीयाः पुनः संयोगविभागा अप्रत्यक्षस्य वायोः कर्णशष्कुलीप्रदेशे प्रादुर्भवन्तो नोपलभ्यन्त इति नानुपपन्नम्। अत एव व्यामोहो यन्नानादेशेषु शब्द इति। आकाशदेशश्च शब्द इति। एकं च पुनरा-काशम्। अतोऽपि न नानादेशेषु। अपि च, ऐकरूप्ये सति देशभेदेन कामं देशा एव भिन्नाः, न तु शब्दः। तस्मादयमप्यदोषः॥१५॥

समझते हैं।] यदि श्रोत्र संयोग विभागवाले [अनेक वक्ताओं के मुखरूर] देश को प्राप्त होकर शब्द को ग्रहण करे, तो भी किसी प्रकार शब्द की अनेकदेशता जानी जाये। [परन्तु] वह [श्रोत्र संयोग-विभागवाले देश को प्राप्त नहीं होता। क्योंकि प्रत्यक्ष ही कर्णशष्कुली (कर्णगोलक) प्रत्यक्षरूप में उसी देशवाली [जहां वह शरीर में है] गृहीत होती है। [इससे स्पष्ट है कि श्रोत्र संयोग-विभाग-स्थान को प्राप्त नहीं होता। अप्रत्यक्ष वायु के वायवीय संयोग-विभाग कर्ण शष्कुलो देश में प्रावुभूत होते हुए उपलब्ध नहीं होते, यह अनुप. पन्न नहीं है। [अर्थात् वायवीय संयोग-विभाग श्रोत्र के मौतरी भाग को प्राप्त होकर वहीं शब्द को अभिव्यक्त करते हैं, यह मानना ही ठीक है। इसलिये यह व्यामोह ही है कि शब्द नाना देशों में उपलब्ध होते हैं। [यदि यह कहो कि श्रोत्रप्रदेश तो बहुत है। अतः उनकी बहुलता से शब्द अनेक देशों में उपलब्ध होते हैं, तो यह भी ठीक नहीं है। क्योंकि शब्द आकाश देशवाला है। और आकाश [सर्वत्र] एक ही है। इसलिये मी [शब्द अनेक देशों में (उपलब्ध)

विवरण श्रादित्यवद् यौगपद्यम् सूत्र में आदित्य का जो उदाहरण दिया है, वह बाकु-त्यभिधानवादियों का सामान्य उदाहरण है। मह. भाष्य १।२।६४ में भी आकृत्यभिधानवादी वाजप्यायन के मत के विवरण में अस्ति चंकमनेकाधिकरणस्थो युगपदुपलभ्यते। इसी प्रकार महाभाष्य १११ के पस्पशाह्निक (१) में युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात् वार्तिक के व्याख्यान में भी यदि पुनरिमे वर्णा आदित्यवत् स्युः कहकर मीमांसा के प्रस्तुत सूत्र और उसकी व्याख्या का प्रमुख अभिप्राय निर्दाशत किया है।

शदेवानांप्रियश्च यह समस्त और असमस्त दो प्रकार का है। समस्त पक्ष में देवानांप्रिय इति चोपसंख्यानम् (महाभाष्य ६।३।२१) वातिक से षष्ठी विभक्ति का अलुक् होता है। बौद्ध-सम्राट् अशोक ने अपने प्रायः सभी शिलालेखों में अपने लिये देवानांप्रियः पद का प्रयोग किया है। उक्तरकाल में बौद्धविवेक के कारण इस समस्त पद का प्रयोग मूर्ख अर्थ में होने लगा। भट्टोजिदीक्षित बादि ने तो वातिक में ही श्मूखेण पद का सन्निवेश कर दिया। हमारा विचार है कि समस्त देवानांप्रियः पद का भी निन्दित अर्थ नहीं था। यदि कहा जाये कि यह वातिक



न च दध्यत्र इत्यत्र प्रकृतिविकारभावः। शब्दान्तरम् इकाराद् यकारः। न हि यकारं प्रयुज्जाना इकारमुपाददते। यथा कटं चिकीर्षन्तो वीरणानि। न च सादृश्य-मात्रं दृष्ट्वा प्रकृतिविकृतिर्वा उच्यते। न हि दधिपिटकं दृष्ट्वा कुन्दपिटकं च प्रकृति-विकारभावोऽवगम्यते। तस्मादयमप्यदोषः ॥१६॥

षष्ठ्या आक्रोशे (६।३।२१) पर पठित होने से इसका मूर्ख आदि निन्दित अर्थ ही होना चाहिये, तो यह कयन ठीक नहीं। क्योंकि इस सूत्र में पठित अन्य चार वातिकों के जितने उदाहरण हैं, उनमें ३-४ को छोड़कर किसी उदाहरण में श्राक्रोश अर्थ अभिप्रेत नहीं है। सम्प्रति का प्रयोग यहां शसम्मुखश्च अर्थ में हुआ है। आकाशवेशः तुलना करो-थोत्रोपलब्धिबुं द्विनिर्याहः प्रयोगेणानिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। महाभाष्य १।१।८० १।१५॥

वर्णान्तरमविकारः॥१६॥

सूत्रार्थ श्दध्यत्रश्च इत्यादि में इकार के प्रयोग विषय में प्रयुक्त होनेवाला यकार] (वर्णान्तरम्) वर्णान्तर है। [इसलिये] (अविकारः) विकार नहीं है।

**व्याख्या-** दध्यत्र यहां प्रकृति और विकार (विकृति) भाव नहीं है। इकार से यकार शब्दान्तर है। यकार का प्रयोग करनेवाले इकार का उपादान (ग्रहण) नहीं करते। जैसे चटाई बनाने की इच्छा करनेवाले वोरण (खससंज्ञक तृण) को [ग्रहण करते हैं]। सादृश्य-मात्र देखकर प्रकृति-विकृतिभाव नहीं कहा जाता है। वही की डलिया को देखकर कुन्द (देवत पुष्पविशेष वेला-मोगरा) की डलिया में श्वेतता का सादृश्य देखकर] प्रकृतिविकारभाव नहीं जाना जाता है। इसलिये यह (प्रकृतिविकृतिभाव से शब्द की अनित्यतारूप) भी दोष नहीं है॥१६॥

**विवरण-** शब्द को नित्य माननेवाले वैयाकरण भी वर्षों में प्रकृतिविकृति भाव नहीं मानते। वे दधि अत्र के स्थान में दध्यत्र को पदादेश मानते हैं। इस विषय में बाधा ध्वदाप् (अष्टा० १।१।२०) सूत्र के महाभाष्य में विशेष विचार किया गया है। वहां सिद्धान्त किया है-सर्वे सर्वपदादेशाः वाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः। एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते। अर्थात् दाक्षिपुत्र पाणिनि के मत में सभी पद सब के स्थान में आदेश होते हैं। एकदेश में विकार मानने पर शब्द का नित्यत्व उपपन्न नहीं होता। शब्द को अनित्य माननेवाले न्यायिक भी दध्यत्र में प्रकृतिविकृतिभाव नहीं मानते। इस विषय में न्यायदर्शन अ० २ आह्निक २ सूत्र ४०-५६ तक का प्रकरण देखना चाहिये। विशेषरूप से प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् (२।२।५३) सूत्र और उसका माध्य देखना चाहिये। लोक में प्रकृति-विकृतिभाव का नियम है। वही दूध का विकार है, और दूष प्रकृति। दूध का दही बनता है, परन्तु दही से दूध नहीं बनता। किन्तु वर्षों में ऐसा नहीं होता। दध्यत्र में इकार को यकार देखा जाता है, और विध्यति में व्यथ धातु के यकार को इकार देखा जाता है॥१६॥

श्नादवृद्धिः परा ॥१७॥

यच्चौतद् शब्दुभिर्भेरीमाधमन्दिभः शब्दमुच्चारयद्भिर्महान् शब्द उपलभ्यते, तेन प्रतिपुरुषं शब्दावयवप्रचय इति गम्यते। नवम्, निरवयवो हि शब्दः। अवयवभेदाः नवगमाद्, निरवयवत्वाच्च महत्त्वानुपपत्तिः। अंतो न वृद्धते शब्दः। मृदुरेकेन। बहु भिश्चोच्चार्यमाणे तान्येवाक्षराणि कर्णशङ्कुलीमण्डलस्य सर्वा नेमि व्याप्नुवद्भिः संयोगविभागैर्न रन्त्येणानेकशो ग्रहणान्महानिव अवयववानिवोपलभ्यन्ते। संयोगवि भागां नैरन्त्येण क्रियमाणाः शब्दमभिव्यञ्जन्तो नादशब्दव। च्याः। तेन नादस्यैवा वृद्धिः, न शब्दस्येति ॥१७॥

नादवृद्धिः परा॥१७॥

सूत्रार्थ (परा) अन्य जो शब्द की वृद्धि कही है, वह (नादवृद्धिः) नाद की वृद्धि है।

विशेष- शावरभाष्य के जो संस्करण उपलब्ध होते हैं, उनमें श्नादवृद्धिपराश्च ऐसा अपन पाठ मिलता है। इसका अर्थ होगा जो पूर्वपक्षी द्वारा शब्द की वृद्धि कही गयी है वह श्नाद की ही वृद्धि है, न कि शब्द की। सुबोधिनीवृत्ति तथा कुतूहलवृत्ति में नादवृद्धिः परा ऐसा शुद्ध पाठ ही है।

**व्याख्या-** और जो यह कहां कि शब्दुत से मेरी को बजानेवालों [और बहुत से] शब्द को उच्चारित करनेवालों से महान शब्द उपलब्ध होता है, उससे प्रति पुरुष शब्द के अवयवों का प्रचय होता है, ऐसा जाना जाता है। यह ऐसा नहीं है। शब्द अज्यवरहित है। अवयवमेवों का ज्ञान न होने से, और निरवयव होने से महत्त्व की उपपत्ति नहीं होती। इसलिये शब्द नहीं बढ़ता। एक से उच्च चरित मृदु होता है। और यहुतों से उच्चारण करने पर वे ही अक्षर कर्ण-शङ्कुली-मण्डल की पूरी नेमि (कान के पदों) को व्याप्त करते हुए, संयोग-विभागों और निरन्तरता से अनेकों [शब्दों] के ग्रहण से महान् के समान और अवयववालों के समान उपलब्ध होते हैं। निरन्तरता से किये जानेवाले संयोगविभाग शब्द को अभिव्यक्त करते हुए नादशब्दवाच्य होते हैं। इस कारण नाद की यह वृद्धि है, शब्द की वृद्धि नहीं है॥१७॥

## नित्यस्तु स्याद् दर्शनस्य परार्थत्वात्॥१८॥

**सूत्रार्थ-** [शब्द] (नित्यः) नित्य (तु) होश (स्यात्) होवे, (दर्शनस्य) उच्चारण के (परार्थत्वात्) दूसरे के लिये होने से। [अर्थात् शब्दोच्चारण के दूसरे के प्रति बोध कराने के लिये होने से।]

**नित्यः** शब्दो भवितुमर्हति। कुतः? दर्शनस्य परार्थत्वात्। दर्शनमुच्चारणं तत् परार्थम्, परमर्थं प्रत्याययितुम्। उच्चरितमात्रे हि विनष्टे शब्दे न चाऽन्योऽन्यान् अर्थं प्रत्याययितुः शक्नुयात्। अतो न परार्थमुच्चारयेत्। अथ न विनष्टः, ततो बहुश उपलब्धत्वादर्थवगम इति युक्तम्। अर्थवत्सादृश्यादर्थवगम इति चेत्, न कश्चिदर्थवान्, सर्वेषां नवत्वात्। कस्यचित् पूर्वस्य कृत्रिमः सम्बन्धो भविष्यतीति चेत्, तद-युक्तम्। सदृश इति चावगते व्यामोहात् प्रत्ययो व्यावर्तेत, शालाशब्दान्मालाप्रत्यय इव। यथा गावीशब्दात् सास्नादिमति प्रत्ययस्यानिवृत्तिः तद्वदभविष्यतीति चेत्, न हि, गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा, नेहान्यशब्दोच्चचारयिषा। न चौकेनोच्चारणयत्नेन संव्यवहारश्चार्थसम्बन्धश्च शक्यते कर्तुम्। तस्मादर्शनस्य परार्थत्वान्नित्यः शब्दः॥१८॥

व्याख्या शब्द नित्य होवे। किस हेतु से? दर्शन के परार्थ होने से। [शब्द का जो दर्शन- उच्चारण है वह परार्थ है, दूसरे को अर्थ का बोध कराने के लिये होता है। उच्चरित होते ही शब्द के विनष्ट हो जाने पर एक दूसरों को अर्थ का बोध कराने को समर्थ नहीं हो सकता। इस हेतु से [उच्चरित होते ही नष्ट होनेवाले शब्द को] दूसरे के लिये उच्चारण नहीं कर सकता। और यदि [शब्द] विनष्ट नहीं हुआ, तब तो उसकी बहुत बार उपलब्धि होने से अर्थ का ज्ञान होता है, यह युक्त है। यति यह कहो कि अर्थवान् [उच्चरित शब्द] के सादृश्य से [अन्य श्रुत शब्द से] अर्थ का ज्ञान होता है। [तो यह कथन ठीक नहीं, क्योंकि कोई भी शब्द [चाहे वह उच्चरित प्रथम शब्द हो चाहे धन्य बुत शब्द] अर्थवान् नहीं है, सब के नये होने से। [क्योंकि अनित्य माननेवाले के मत में सभी शब्द नये हैं, और किसी भी नये शब्द से अर्थ की तीति न होने से प्रथम उच्चरित शब्द भी अर्थवान् नहीं हो सकता। यदि कहो कि किसी पूर्व [शब्द का] कृत्रिम अर्थ-सम्बन्ध होगा, तो यह कहना भी ठीक नहीं है। [पूर्व के] सदृश है इस ज्ञान के होने पर व्यामोह से ज्ञान नहीं होगा, शाला शब्द से माला ज्ञान के समान। [अर्थात् जैसे शाला और माला शब्द में एक व्यञ्जन के अतिरिक्त सादृश्य होने पर भी शाला शब्द से माला का ज्ञान नहीं होता। यदि कहो कि लंसे गोशब्दसदृश गावी शब्द से सास्ना आदि से युक्त में ज्ञान की निवृत्ति नहीं होती [अर्थात् गावी शब्द से सास्नादि से युक्त प्राणी की प्रतीति होती है], उसी प्रकार [तत्सदृश अन्य शब्द से भी] अर्थ का ज्ञान हो जायेगा। [तो यह कबन भी ठीक नहीं है। क्योंकि वहां [गावी शब्द के उच्चारण करनेवाले की गो शब्द के उच्चारण की इसदा नहीं होती। [पूर्वपक्षी ने जो यह कहा था कि उच्चारण करनेवाले ने जिस शब्द का व्यवहार (दूसरे को अर्थज्ञान कराने) के लिये उच्चारण किया है, उसका शब्दार्थ-सम्बन्ध भी कृत्रिम है, यह उपयक्ष नहीं हो सकता। क्योंकि यहां न अन्य शब्द के उच्चारण की इच्छा है, धीर ना ही एक उच्चारणरूप यत्न से व्यवहार तथा अर्थसम्बन्ध किया जा सकता है। इसलिये दर्शन शब्द के उच्चारण के परार्थ होने से शब्द नित्य है॥ १८॥

### सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१९॥

**गोशब्द उच्चरिते सवंगवीषु युगपत् प्रत्ययो भवति। अतः आकृतिवचनोऽयम्। न चाऽऽकृत्या शब्दस्य सम्बन्धः शक्यते कर्तुम्। निर्विशेष्य ह्याकृति कर्ता सम्बन्ती-यात्। गोपिण्डे च बहूनामाकृतीनां सदभावाच्छब्दमन्तरेण गोशब्दवाच्यां विभक्तामा-कृति केन प्रकारेणोपदेक्ष्यति? नित्ये तु सति गोशब्दे बहुकृत्व उच्चरितः श्रुतपूर्वश्वा-ऽन्यासु गोव्यक्तिष्वन्वयव्यतिरेकाभ्यामाकृतिवचनमव गमयिष्यति। तस्मादपि नित्यः ॥१९॥**

**विवरण-** न हि गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा- गावी आदि अपभ्रंश शब्दों से गो आदि का ज्ञान किस प्रकार होता है, इस विषय में दो मत हैं। एक- गो शब्द के उच्चारण में अशक्ति आदि के कारण उच्चरित गावी अपभ्रंश से पहले शुद्ध गो शब्द का ज्ञान होता है, और उसके पश्चात् सास्नादिमानः गाय पदार्थ का। दूसरा- जो लोग परम्परा से शगावीश आदि अपभ्रंश शब्दों का ही प्रयोग करते चले आ रहे हैं, और जिन्हें साधु श्गोशब्द का परिज्ञान भी नहीं है, वे अपभ्रंशों से ही अर्थ को जानते हैं। उनके विषय में साधु शब्द की स्मृति से अर्थज्ञान होता है, यह उपपन्न नहीं हो सकता। अतः साधु शब्दों के समान अपभ्रंश भी अर्थ के वाचक हैं। इन दोनों मतों का उपपादन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड के अन्त में किया है। प्रथम पक्ष के लिये ब्रह्मकाण्ड की १४६-१५२ कारिकाकाएं तथा इनकी स्वोपज्ञवृत्ति, और द्वितीय पक्ष के लिये १५३ बों कारिका और उसकी स्वोपज्ञवृत्ति देखनी चाहिये। भर्तृहरि ने द्वितीय पक्ष को ही सिद्धान्त-रूप से स्वीकार किया है। सम्भव है इस पक्ष की स्वीकृति में मीमांसा का प्रस्तुत सूत्र और उसके प्राचीन भाष्य रहे होंगे। शबरस्वामी भी द्वितीय पक्ष को ही स्वीकार करते हैं। इसीलिये उन्होंने कहा है-नहि गोशब्दं तत्रोच्चारयितुमिच्छा, अर्थात् गावी शब्द का उच्चारण करनेवाले की श्गोश शब्द के उच्चारण में इच्छा नहीं होती, बह तो परम्परा से व्यवहियमाण शगावीश शब्द का ही उच्चारण करता है ॥ १८॥

### सर्वत्र यौगपद्यात् ॥१६॥

सूत्रार्थ [गो शब्द के उच्चरित होने पर (सर्वत्र) सब गौश्रों में (यौगपद्यात्) युग पद भाव से। [अर्थात् एक साथ ज्ञान होने से शब्द नित्य है।]

**व्याख्या-** गो शब्द के उच्चरित होने पर सब गौवों गोमात्र) में एक साथ ज्ञान होत है। इससे यह [गोशब्द] प्राकृतिवाचक है। आकृति के साथ [अनित्य] शब्द का संज्ञा-संशो] सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। सम्बन्ध करनेवाला कोई व्यक्ति आकृति का निर्देश करके हो सम्बन्ध करेगा। [अङ्गुलि से सङ्घत करके कहेगा श्वसका नाम गौ है। संकेतित] गोविण्य में [इच्छित्व पशुत्व गोत्व ज्ञावि बहुत सी आकृतियों की विद्यमानता होने से शब्द के बिना गोशब्दवाच्य द्रव्यत्वादि आकृतियों से पृथक् [गोत्वरूप] आकृति का किस प्रकार उपदेश करेगा? गो शब्द के नित्य होने पर तो अनेकधा उच्चरित और पूर्व सुना हुआ अन्य गोव्यक्तियों में अन्वय-व्यतिरेक से यह आकृति का वाचक है, ऐसा जान लेगा। इसलिये नो [शब्द] नित्य है॥१६॥

### संख्याऽभावात् ॥२०॥ (३०)

श्रुष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः इति वदन्ति, नाष्टी गोशब्दा इति। किमतो यद्येवम्? अनेन वचनेनावगम्यते प्रत्यभिजानन्तीति। वयं तावत् प्रत्यभिजानीमो न नः करणदौर्बल्यम्। एवमन्येऽपि प्रत्यभिजानन्ति स एवायमिति। प्रत्यभिजानानाः प्रत्यभिजानन्ति चेद्, वयमिवान्येऽपि नान्य इति वक्तुमर्हन्ति। अथ मतम्, अन्यत्वे सति सादृश्येन व्यामूढाः श्रु इति वक्ष्यन्ति। तन्। न हि ते सदृश इति प्रतिपद्यन्ति। किं ताह? स एवायमिति। विदिते च स्फुटेऽन्यत्वे व्यामोह इति गम्यते। न चायमन्यः इति प्रत्यक्षमन्यद्वा । प्रमाणमस्ति॥

विवरण-सूत्र में यौगपद्यात् पद में चातुर्वर्णादीनां स्वार्थ उपसंख्यानम् (काशिका ५।१। १२४) वचन से स्वार्थ में ष्यञ् जानना चाहिये। भाष्य में- अन्यासु गोव्यक्तिध्वन्यव्यतिरेका-भ्याम्- इसका तात्पर्य यह है कि अन्वय प्रनुगति प्रतीति और व्यतिरेक भिन्नता से गोत्व जाति को जान लेगा। इसे इस प्रकार समझना चाहिये- वृद्ध पुरुष ने किसी से कहा-शगौ लाश। वह गौ को ले आया। दूसरी बार कहा- शभैस लाश। वह भैस को ले आया। फिर कभी पुनः कहा- शगो लाश। वह गो को ले आया। इस प्रकार बार-बार शब्दों के प्रयोग को सुनकर और लाये हुए। द्रव्य को देखकर बालक समझ लेता है कि गौ प्राणी से भैस प्राणी पृथक् है। और अनेक बार कभी लाल कभी काली कभी सफेद रंग की गो में समानता देखकर यह जान लेता हैलेता है कि रंगभेद होने पर भी इनमें एक आकार है। अतः यही गोशब्दवाच्य है। इस प्रकार वृद्धजनों के पुन-पुनः व्यवहार से, तथा यह बार-बार उच्चरित गो शब्द वही है, इस ज्ञान से उसको गोत्व बादि जाति के साथ संज्ञासंज्ञी सम्बन्ध का बोध हो जाता है ॥१६॥

### संख्याऽभावात्॥२०॥

सूत्रार्थ- [ग्राठ दस बार गो शब्द के उच्चारण करने पर भी] (संख्याऽभावात्) संख्या को प्रतीति न होने से [शब्द नित्य है]।

**व्याख्या-** श्रुष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरित हुआ है। ऐसा [लोक में] कहते हैं, आठ गोशब्द उच्चरित हुए ऐसा नहीं कहते। यदि ऐसा [लौकिक पुरुषों का कथन] है, तो इससे क्या? इस बचन से जाना जाता है कि [लौकिक पुरुष एक गोशब्द को हो पुनः पुनः उच्चरित] जानते हैं। [अर्थात् यह गोशब्द बही है, जो पूर्व उच्चरित हुआ था।] हम यह भी जानते हैं कि हमारी इन्द्रियों में कोई दुर्बलता (न्यूनता कमो) नहीं है। इसी प्रकार अन्य भी जानते हैं कि यह वही [गोशब्द] है। जाननेवाले यदि जानते हैं [कि यह वही गोशब्द है], तो हमारे समान ही अन्य भी यह नहीं कह सकते कि यह (गोशब्द पूर्व उच्चरित गोशब्द से) भिन्न है। और यदि आपका यह विचार है, कि [गोशब्दों में] भिन्नत्व होने पर भी सदृशता से व्यामूढ हुए श्वही है। ऐसा कहेंगे। तो यह ठीक नहीं है। वे पुरुष पूर्व उच्चरित गोशब्द के सदृश है यह नहीं जानते [अर्थात् सादृश्य का ज्ञान उन्हें नहीं होता। तो क्या ज्ञान होता है? यह वही है [जो पूर्व उच्चरित हुआ था]। भिन्नत्व का विस्पष्ट ज्ञान होने पर ही व्यामोह जाना जाता है। यह अन्य

स्यादेतत्, बुद्धिकर्मणी अपि ते प्रत्यभिज्ञयिते, ते अपि नित्ये प्राप्नुतः। नैष दोषः। न हि ते प्रत्यक्षे। अथ प्रत्यक्षे नित्ये एव। ह्यस्तनस्य शब्दस्य विनाशादन्योऽद्यतन इति चेत्, नैष विनष्टः, यत एनं पुनरुपलभीमहे। न हि प्रत्यक्षदृष्टं मुहूर्तमदृष्ट्वा पुनरुपलभ्यमानं प्रत्यभिजानन्तो विनष्टं परिकल्पयन्ति। परिकल्पयन्तो द्वितीय संदर्शने मांतरि जायायां पिततिर वा नाऽऽश्वस्युः। न ह्यनुपलम्भमात्रेण नास्तीत्यव-है, इसमें न प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अन्य प्रमाण है॥

**विवरण-** किमतो यद्येवम् प्रष्टा का अभिप्राय यह है कि लौकिक पुरुषों के श्रुष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरित हुमाः कहने से शब्द की एकता सिद्ध नहीं होती। क्योंकि अष्टकृत्वः में जो श्रुत्वसुचः अत्यय है, उसका प्रयोग द्रव्य का भेद होने पर भी लोक में देखा जाता है-अद्याष्ट-कृत्यो ब्राह्मणा भुक्तवन्तः (ग्राज आठ बार ब्राह्मणों ने भोजन किया) प्रयोग में ब्राह्मणों के भिन्न-भिन्न होने पर भी कृत्वसुच प्रत्यय के दर्शन से आपका हेतु अनेकान्त (अनिश्चित) है। कृत्वसुच प्रत्यय संख्ययाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच (अष्टा० ५।४।१७) से क्रिया की पुनः-पुनः आवृत्ति की गणना में होता है। उसका द्रव्य के एकत्व वा अनेकत्व के बोधन कराने में तात्पर्य

नहीं है। इसका उत्तर सिद्धान्ती ने अनेन वचनेन प्रत्यभिजानन्ति से दिया है। इसका भाव यह है कि गोशब्द के एकत्व में हम केवल कृत्वसुच् प्रत्यय को हो हेतुरूप में नहीं देते हैं। अपितु कृत्वसुच् के साथ प्रत्यभिज्ञा का जो प्रायः साहचर्य देखा जाता है, उसको दर्शाने के लिये झष्टकृत्वःअष्टकृत्वः गोशब्द उच्चरितः, नाष्टौ गोशब्दाः ऐसा हमने निर्देश किया है। जब हम कहते हैं-पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते, तब इसका यही अर्थ होता है कि कोई देवदत्तादि नामवाला व्यक्ति दिन में पांच बार खाता है। यहां कर्ता के एकत्व का जैसे ज्ञान होता है, उसी प्रकार भ्रष्टकृत्वो गोशब्द उच्चरितः से भी यह जाना जाता है कि एक ही गो शब्द आठ बार प्रयुक्त हुआ है। विविते व- यहां श्चश शब्द अवधारण में है- स्फुटेऽन्यत्वे विवित एवं व्यामोह इति गम्यते। हमने श्चश को अवधारणार्थक मानकर ही व्याख्या की है।

व्याख्या (आक्षेप) यदि यह प्रत्यभिज्ञा से एकत्व) माना जाये, तो बुद्धि (ज्ञान) और कर्म की भी प्रत्यभिज्ञा होती है, वे (ज्ञान और कर्म) भी नित्य प्राप्त होते हैं। (समा-घान) यह दोष, नहीं है। वे (ज्ञान और कर्म) प्रत्यक्ष नहीं हैं। और यदि प्रत्यक्ष हों तो नित्य ही होंगे। [इसका भाव यह है कि जो पदार्थ प्रत्यक्ष हैं, और कारणान्तर से जिनका विनाश देखा जाता है, वे नित्य नहीं हैं! यथा घटादि पदार्थ। शब्द में श्रौत्र प्रत्यक्ष है, और कारणान्तर से उसका विनाश नहीं देखा जाता (आगे द्रष्टव्य), अतः वह नित्य है।] पूर्व दिन में [उपलब्ध] दशब्द का विनाश हो जाने से आज का शब्द भिन्न है-यवि ऐसा कहो। तो हमारा कथन है-वह (पूर्व दिन में उपलब्ध शब्द) विनष्ट नहीं हुआ, जिससे इसको [प्रांज] पुनः उपलब्ध करते हैं। [अर्थात् पूर्व दिन उपलब्ध शब्द को हो यतः आज पुनः उपलब्ध करते हैं, इसलिये वह नष्ट नहीं हुला ऐसा मानते हैं।] किसी प्रत्यक्षवृष्ट पवार्य को थोड़ी देर न देखकर पुनः दिखाई पड़नेवाले को यह वही है ऐसा जानते हुए पूर्ववृष्ट] विनष्ट हो गया, ऐसी कल्पना नहीं करते। ऐसी कल्पना भारते हुए तो माता-पितृमाता-पिता और मार्या के [कालान्तर में] दूसरी बार दिखाई पड़ने परः आश्वस्त

गम्य नष्ट इत्येव कल्पयन्ति। अप्रमाणतायां विदितायां नास्तीत्यवगच्छामः। न हि प्रमाणे प्रत्यक्षे सत्यप्रमाणता स्यात्। प्रस्तोति पुनरव्यामोहे नावगम्यमाने न क्वचिद-व्यभावः। न चाऽसिद्धेऽभावे व्यामोहः, न च सिद्धोऽभावः। तस्मादसति व्यामोहे नाभावः। तदेतदानुपूर्व्या सिद्धम्। तस्मात् पुरस्तादनुच्चरितमनुपलभमाना अपि न श्विनष्टः इत्यवगन्तुमर्हन्ति। यथा गृहानिर्गताः सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्योप-लभमाना अपि न प्राक् प्रवेशाद् विनष्टा इत्यवगच्छन्ति। तद्वदेनमपि न अन्य इति वक्तुमर्हन्ति। येऽपि सर्वेषां भावानां प्रतिक्षणं विनाशमभ्युपगच्छन्ति, रोऽपि न शक्नु-वन्ति शब्दस्य वदितुम्। अन्ते हि क्षयदर्शनात् ते मन्यन्ते। न च शब्दस्यान्तो न च क्षयो लक्ष्यते। श्च इतिश्च प्रत्यक्षः प्रत्ययः, सःश इत्यानुमानिकः। न च प्रत्यक्षविरुद्ध-मनुमानमुदेति, स्वकार्यं वा साधयति। तस्मान्नित्यः ॥२०॥

नहीं होंगे [कि यह हमारे माता-पिता वा मार्या हैं]। [इसलिये कुछ काल की] अनुपलब्धिमात्र से श्च नहीं है ऐसा जानकर श्विनष्ट हो गया। ऐसी कल्पना नहीं करते। अप्रमाणता ज्ञात होने पर ही श्च नहीं है ऐसा जानते हैं। प्रत्यक्ष प्रमाण के होने पर ही अप्रमाणता नहीं हो सकती। है ऐसा व्यामोहरहित ज्ञान होने पर कहीं भी अभाव की कल्पना नहीं होती। अमात्र सिद्ध हुए विना व्यामोह नहीं कहा जाता और अभाव सिद्ध नहीं होता। इसलिये व्यामोह न होने पर अभाव नहीं होता। यह इस आनुपूर्वी से सिद्ध है। इसलिये पूर्व अनुश्चरित को उपलब्ध न करते हुए मो श्विनष्ट है ऐसा ज्ञान नहीं कर सकते। जैसे घर से बाहर गये हुए सब गृह-जनों को नः देखते हुए पुनः घर में प्रवेश करके [उन गृह-जनों को] उपलब्ध करनेवाले भी [गृह में] प्रवेश से पूर्व [गृहजन] विनष्ट हो गये थे ऐसा नहीं मानते। उसी प्रकार इस सम्प्रति उपलब्धमान शब्द] को मो [पूर्व शब्द से] अन्य नहीं कह सकते। और जो (बौद्ध दार्शनिक सब माबों (पदार्थों) का प्रतिक्षण विनाश स्वीकार करते हैं, वे भी शब्द के विनाशों को नहीं कह सकते। क्योंकि वे बन्त में [प्रत्येक पक्षार्थ का] क्षय देखने से [प्रतिक्षण विनाश] मानते हैं। शब्द का अन्त नहीं है, बोर ना हो क्षय उपलब्ध होता है। श्च वही है यह प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह पूर्वोपलब्ध के सदृश है यह आनुमानिक ज्ञान है। ना ही प्रत्याविरुद्ध अनुमान का उदय होता है और ना ही वह स्व-कार्य को सिद्ध करता है। इसलिये शब्द नित्य है। ॥ २०॥

**विवरण-** भाष्यकार ने पूर्व उपलब्ध शब्द से सम्प्रति उपलब्ध शब्द भिन्न नहीं है, अर्थात् अनुपलब्धिमात्र से विनाश की कल्पना नहीं की जा सकती है, इसके दो लौकिक इष्टान्त दिये हैं। पहला स्पष्टयन्व है कोई पुरुष अपने माता-पिता प्रादि को कुछ समय न देवक

अनपेक्षत्वात् ॥२१॥ (३०)

येषामनवगतोत्पत्तीनां द्रव्याणां भाव इव लक्ष्यते, तेषामपि केषाञ्चिदनिवृत्त्या गम्यते, येषां विनाशकारणमुपलभ्यते। यथाऽभिनवं पटं दृष्ट्वा। न चौरं क्रियमाणमुपलब्धवान्। अथवाऽनित्यत्वमवगच्छति रूपमेव दृष्ट्वा। तन्तुव्यतिषङ्गजनितोऽयम्, तन्तुव्यतिषङ्गविनाशात् तन्तुविनाशाद्वा विनश्यतीत्यवगच्छति। नैव शब्दस्य किञ्चिद् कारणमवगम्यते, यद्विनाशाद् विनश्यतीत्यवगम्यते ॥२१॥

कालान्तर में उपलब्ध करके उनमें अन्यत्व की कल्पना नहीं करता। उसी प्रकार प्रथम उपलब्ध शब्द को कुछ काल उपलब्ध न करके कालान्तर में पुनः उपलब्ध करने पर उसे अन्य कैसे कह सकता है? दूसरे दृष्टान्त का भाष्य पाठ कुछ भ्रष्ट है। हमने व्याख्या मुद्रित



पाठानुसार ही की है। उसका शुद्ध पाठ इस प्रकार होना चाहिये- यथा गृहान्निर्गतं सर्वगृहजनमपश्यन्तः पुनः प्रविश्य-मानानुपलभ्यापि न प्राक्प्रवेशाद् विनष्टा इत्यवगच्छन्ति। अर्थात् जैसे कुछ लोग किसी के घर पर जायें, परन्तु वहां घर के बाहर गये सब जनों को न देखते हुए, और कुछ काल में घर में प्रवेश करते हुआं को देखकर यह नहीं समझते कि घर में प्रवेश से पूर्व वे नष्ट हो गये थे। यहीं पाठ दार्ध्यान्त- श्पूर्व अनुच्चरित शब्द को उपलब्ध न करते हुए पुरुष भी उपलब्धि होने से पूर्व नष्ट हो गया, यह नहीं मान सकते शब्द के साथ सान्य रखता है। येऽपि सर्वेषां मावानाम्- प्रसङ्ग से प्रतिक्षण विनाश माननेवाले बौद्धों के मत का निर्देश करके दर्शाया है कि प्रतिक्षण विनाश-वादी बौद्ध भी शब्द का विनाश सिद्ध नहीं कर सकते, तो फिर जो पदार्थों को कुछ काल स्थिर मानते हैं, वे भला शब्द का विनाश कैसे सिद्ध कर सकते हैं

**अनपेक्षत्वात् ॥२१॥**

**सूत्रार्थ-** [विनाश कारण की] (अनपेक्षत्वात्) अपेक्षा नहीं होने से [शब्द नित्य है]।

**व्याख्या-** जिन द्रव्यों को उत्पत्ति का ज्ञान नहीं होता, केवल सत्ता (स्थिति) मात्र लक्षित होती है। उनमें से भी कुछ द्रव्यों की जिनका विनाश कारण जाना जाता है, अनित्यता जानी जाती है। जैसे नवीन वस्त्र को देखकर। यद्यपि इस नवीन वस्त्र को बनाते हुए नहीं देखा। [फिर भी उसके बिनादा का निश्चय समी को होता है। अथवा नवीन वस्त्र के रूपमात्र को देखकर द्रष्टा उसकी अनित्यता जान लेता है। तन्तुओं के खडे और साडे संयोग से पह उत्पन्न हना है, अतः आई और खडे तन्तुओं का जो संयोग है उसके विनाश से अथवा तन्तुओं के विनाश से नष्ट हो जायेगा ऐसा इष्टा जानता है। इस प्रकार शब्द की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं जाना जाता है, जिस उत्पत्ति-कारण के विनाश से नष्ट हो जायेगा, ऐसा जाना नाये ॥२१॥

**प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥२२॥ (३०)**

**इदं पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रम्-** ननु वायुकारणकः स्यादिति, वायुरुद्ङ्गतः संयोगविभागैः शब्दो भवतीति। तथा च शिक्षाकाराः आहुः- वायुरापद्यते शब्दताम् इति। नैतदेवम्। वायवीयश्चेच्छब्दो भवेद्, वायोः सन्निवेशविशेषः स्यात्। न च वायवीयान् अवयवान् शब्दे सतः प्रत्यभिजानीमः। यथा पदस्थ तन्तुमयान्, न चेत् भवति। स्याच्चेदेवं, स्पर्शनेनोपलभेमहि। न च वायवोयानवयवान् शब्दगतान् स्पृशामः। तस्मान्न वायुकारणकः। अतो नित्यः ॥२२॥

**प्रख्याभावाच्च योगस्य ॥ २२॥**

**सूत्रार्थ-** [शब्द में वायु के] (योगस्य) अवयवों के योग की (प्रख्याभावात्) उपलब्धि का अभाव होने से (च) भी [वायु के अवयवों के नाश से शब्द का विनाश नहीं माना जा सकता। अतः पूर्वोक्त हेतु से शब्द नित्य है]।

**विशेष-** इस सूत्र में पाठभेद उपलब्ध होते हैं। शसुबोधिनीकारण ने श्योगस्यश के स्थान में श्योग्यस्यश पाठ मानकर अर्थ किया है (योग्यस्य) श्रोत्रेन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष विषयवाले शब्द का (प्रस्याभावात्) बायुविकार के श्रोत्रेन्द्रिय से ग्राह्य न होने से, यह भाव है। शकुतूहल वृत्तिश में प्रेक्षामावाच्च संयोगस्य पाठ मानकर शशब्द में बा के अवयवों के संयोग की अनुपलब्धि होने से याब्द वायु-कारण बाला नहीं है अर्थ किया है। धागे प्रत्यामावाच्च योग्यस्य पाठान्तररूप से मानकर अर्थ किया है- श्योग्यस्यश यह जाति में एकवचन है। वायु के अवयवों की उपलब्धि का अभाव होने से शब्द वायु-कारणवाला नहीं है। **व्याख्या-** यह सूत्र कुछ पदों के पश्चात् है [अर्थात् सूत्रकार ने पूर्वपक्ष का निर्देश न करके समाधानपरक सूत्र हो पड़ा है। वे पूर्वपक्षपरक शब्द हैं] शब्द वायुकारणबाला हो होवे, वायु में उत्तम संयोग विभागों से ही शब्द होता है। जैसा कि शिक्षाकार कहते हैं- श्बापु ही शब्दता को प्राप्त होता है। ऐसा नहीं है। यदि शब्द वायवीय (वाग्वात्मक) होवे, तो वह वायु का समूहविशेष होगा। वायवीय अवयवों को शब्द में वर्तमान होते हुआं को हम नहीं जानते। जैसे पह के तन्तुमय अवयवों को जानते हैं, ऐसी उपलब्धि शब्द में नहीं होती। यवि [शब्द में वायवीय अवयव] होवें, तो स्पर्श से हम उनको उपलब्ध करें। शब्दगत वायवीय अव सबों को हम स्पर्श नहीं करते। [अर्थात् स्पर्श से वे उपलब्ध नहीं होते। इस कारण शब्द वायु-कारणवाला नहीं है। इसलिये शब्द मिथ्य है] ॥२२॥

**लिङ्गदर्शनाच्च ॥२३॥ (३०)**

**लिङ्गं चेत् भवति- श्वाचा विरूपनित्यया इति। अन्यपरं होदं वाक्यं वादो नित्यतामनुवदति। तस्मान्नित्यः शब्दः ॥२३॥ इति शब्दनित्यताऽधिकरणम् ॥६॥**

**वायुरापद्यते शब्दताम्-** यह पाठ हमें इसी आनुपूर्वी में ही उपलब्ध नहीं हुआ, परन्तु ऐसा भाव धनेक ग्रन्थों में मिलता है। उन ग्रन्थों का पाठ और उनके पते भाष्यपाठ पर टिप्पणी शकी संख्या देकर नीचे लिखे हैं ॥२२॥

**लिङ्गदर्शनाच्च ॥ २३॥**

**सूत्रार्थ** (लिङ्गदर्शनात्) लिङ्ग के दर्शन से (च) मी [शब्द नित्य है]।

**व्याख्या-** लिङ्ग भी ऐसा होता है- वाचा विश्रूपनित्यया (ऋ० ८।७५१६) है विविधरूपवाले अमर्ने ! नित्यवाणी से। अन्यपरक होता

हुआ ही यह वाक्य वाणी की नित्यतः का कथन करता है। इस [लिङ्ग] से भी शब्द नित्य है॥२३॥

**विवरण-** श्लिङ्गशब्द का पर्व है- लिङ्गचते ज्ञायतेऽर्योऽनेन जिससे अर्थ का ज्ञान होता है, उसको लिङ्ग कहते हैं। इसी भाव की अर्थाभिधानसामर्थ्य लिङ्गम् शब्द को कहने का जो शब्द में सामर्थ्य है, उसे लिङ्ग कहते हैं इस प्रकार प्रकट करते हैं। मीमांसा में कई स्थानों में जहां लिङ्गवर्शन शब्द का प्रयोग होता है, वहां तात्पर्य श्मुख्यार्थ के भिन्न होते हुये भी अर्थान्तर की सूचना से होता है। यही भाव भाष्यकार ने यहां अभ्यपरं हीदं वाक्यम् से प्रकट किया है। श्वाचा विरूपनित्ययाश्चरण जिसे ऋचा का है, उसका मुख्य प्रयोजन अग्नि के वर्णन में है। परन्तु नित्यया वाचा पदों से वाणी शब्दों की नित्यता भी सूचित हो जाती है।

#### **स्मरणीय बिन्दु-**

- मीमांसा शब्द को नित्य मानती है।
- शब्द ध्वनि से अभिव्यक्त होता है।
- वर्णों का अस्तित्व शाश्वत माना गया है।
- शब्द ज्ञान का साधन है।
- वेद शब्दरूप होने से नित्य हैं।

#### **शब्दावली-**

- शब्द
- नित्यता
- ध्वनि
- वर्ण
- शब्दज्ञान
- शाश्वत

#### **5 अंक के प्रश्न-**

1. शब्दनित्यत्व क्या है?
2. ध्वनि और शब्द में अन्तर बताइए।
3. वर्ण किसे कहते हैं?
4. शब्द को नित्य क्यों माना गया है?
5. शब्दज्ञान का महत्व बताइए।

#### **15 अंक के प्रश्न-**

1. मीमांसा दर्शन में शब्दनित्यत्व सिद्धान्त का विवेचन कीजिए।
2. ध्वनि एवं शब्द के सम्बन्ध का विश्लेषण कीजिए।
3. शब्द की नित्यता के पक्ष में तर्क प्रस्तुत कीजिए।

#### **बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. मीमांसा शब्द को कैसा मानती है?

(क) नश्वर

(ख) नित्य

(ग) मिथ्या

(घ) क्षणिक

2. शब्द किससे अभिव्यक्त होता है?

(क) जल

(ख) ध्वनि

(ग) अग्नि

(घ) वायु



3. शब्द किसका साधन है?

(क) अज्ञान

**(ख) ज्ञान**

(ग) मोह

(घ) दुःख

4. वेद क्यों नित्य माने जाते हैं?

**(क) वे शब्दरूप हैं**

(ख) वे नये हैं

(ग) वे नश्वर हैं

(घ) वे मानवकृत हैं

5. वर्ण कैसे माने जाते हैं?

(क) क्षणिक

**(ख) शाश्वत**

(ग) मिथ्या

(घ) असत्य

## इकाई-4.3 वाक्यार्थ का प्रामाण्य

उद्देश्य-

1. वाक्यार्थ की अवधारणा को समझना।
2. शब्द एवं वाक्य के सम्बन्ध का अध्ययन करना।
3. वाक्यबोध की प्रक्रिया को जानना।

वाक्याधिकरणम्, अथवा वेदध्यार्थप्रत्यायकत्वाधिकरणम् ॥७॥

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्मुरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥ (१०)

**विवरण-** पदेभ्यः केभ्यश्चिदुत्तरं सूत्रम् सूत्रकार कहीं-कहीं पूर्वपक्ष को मन में रखकर ही उनका उत्तररूप सूत्र पढ़ देते हैं। यह शैली प्रत्यत्र भी देखी जाती है। पाणिनीय व्याकरण के वाक्तिककार कात्यायन ने भी अनेक वाक्तिकसूत्रों की रचना इसी शैली के अनुसार की है। भाष्य-कार पतञ्जलि सर्वत्र वाक्तिक के निर्देश से पूर्व वाक्तिककार के मन में स्थित पूर्वपक्ष को लितकर और अन्त में- अत उत्तरं पठति का निर्देश करके वाक्तिकसूत्र का निर्देश करते हैं। यथा ऋलुक् (१०१ आह्निक १) सूत्र के आरम्भ में।

उत्पत्तौ वाऽवचनाः स्मुरर्थस्यातन्निमित्तत्वात् ॥२४॥

यद्यप्यौत्पत्तिको नित्यः शब्दोऽर्थसम्बन्धश्च, तथापि न चोदनालक्षणो धर्मः। चोदना हि वाक्यम्। न हि श्वाग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गं कामः इत्यतोऽववाक्यादन्यतमः- स्मात् पदाद् अग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति गम्यते। गम्यते तु पदत्रये उच्चरिते। नः

सूत्रार्थ (वा) यह पूर्व कथन की निवृत्ति के लिये है। (उत्पत्तौ) शब्द अर्थ सम्बन्ध के नित्य हा. ने पर भी चोदनाएं (अवचनाः) धर्म को कहनेवाली नहीं (स्युः) हो सकती, (प्रवस्य) [चोदनारूप वाक्य के] अर्थ की (अतन्निमित्तत्वात्) पदार्थनिमित्तक न होने से। [अर्थात् चोदना के वाक्यरूप होने से जो वाक्यार्थ जाना जाता है, वह पदार्थनिमित्तक नहीं है।]

**विशेष-** शास्त्र में श्वाश् शब्द सर्वत्र पूर्व कथन की निवृत्ति के लिये आता है। शास्त्र-दीपिका की सिद्धान्तचन्द्रिका टीका में उत्पत्तौ चावचनाः पाठ मानकर लिखा है-श्चश्च श्वापि के अर्थ में है। शब्द अर्थ और सम्बन्ध के नित्य होने पर भी चोदना का प्रामाण्य नहीं है। क्योंकि चोदना के शब्द वाक्यार्थ के वाचक नहीं हैं (पृष्ठ १५२, निर्णयसागर संस्करण)। इस पाठ और अर्थ के अनुसार श्वाश् शब्द को भी श्वापि के अर्थ में मानकर यही अर्थ किया जा सकेता है। कुतूहलवृत्ति के अनुसार सूत्र का अर्थ इस प्रकार है- श्वाश् शब्द पूर्व कथन के प्रत्याख्यान में प्रयुक्त हुआ है। (उत्पत्तौ) जो उत्पन्न होता है, जाना जाता है वाक्यार्थ के विषय में चोदनाएँ (अवचनाः) अप्रमाण हैं [करण में ल्युट्]। क्या कारण है? (अर्थस्य) धर्मावबोध लक्षणरूपः अयं के (अतन्निमित्तत्वात्) चोदनागत पदों के [वाक्यार्थ में] निमित्त न होने के। अर्थात् चोद-नारूप वाक्य का अर्थ चोदनागत पदों से नहीं जाना जाता है। सुबोधिनीवृत्ति में श्वापि वा रचनाः श्वा पाठ मानकर अयं किया है- शब्द अर्थ सम्बन्ध के नित्य होने पर (दा) भी (उत्पत्तौ) पदार्थज्ञान को उत्पत्ति होने पर, वाक्य वाक्यार्थ के सम्बन्ध (रचनाः) पुरुषों से रचित कल्पित होवे, (अर्थस्य) वाक्यार्थज्ञान में (अतन्निमित्तत्वात्) पदार्थज्ञान के निमित्त न होने से, अर्थात् वाक्यार्थज्ञान में पदार्थज्ञान से भिन्न कारण होने से।

**व्याख्या-** यद्यत्रि शब्द अर्थ और उनका सम्बन्ध औत्पत्तिक अर्थात् निल है, फिर मो धर्म चोदनालक्षणवाला नहीं है। [अर्थात् चो. दनावक्य से गम्यमान नहीं है।] चोदना प्रेरक बचन निश्चय हो वाक्य है। अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इस वाक्य के किसी पद से श्वाग्नि-होत्र से स्वर्ग होता है ऐसा अर्थ विदित नहीं होता। दोनों पदों के उच्चरित होने पर [यह जयं] जाना जाता है। यहां तीन, पद के समुदाय के अतिरिक्त चौथा कोई शब्द नहीं है। यह

चाऽत्र चतुर्थः शब्दोऽस्त्यन्यदतः पदत्रयसमुदायात्। न चाऽयं समुदायोऽस्ति लोके, यतोऽस्य व्यवहारादर्थोऽवगम्यते। पदानि अमूनि प्रयुक्तानि, तेषां नित्योऽर्थः। अप्रयु-क्तश्च समुदायः। तस्मात् समुदायस्यार्थः कृत्रिमो व्यामोहो वा। न च पदार्था एवं वाक्यार्थः। सामान्ये हि पदं प्रवृत्तते, विशेषे वाक्यम्। अन्यच्च सामान्यम्, अन्यो विशेषः। न च पदार्थाद्वाक्यार्थावगतिः, असम्बन्धात्। असति चेत् सम्बन्धं कस्मिंश्चित् पदार्थोऽवगतेऽर्थान्तरमवगम्येत, एकस्मिन्नवगते सर्वमवगतं स्यात्। न चोतदेवं भवति, तस्मादन्यो वाक्यार्थः॥

स्यादेतत्। अप्रयुक्तादपि वाक्यादसति [च] सम्बन्धे स्वभावादर्थोऽवगम इति यदि कल्प्येत, शब्दो धर्ममात्मीयं व्युत्क्रामेत्। न चोष शब्दधर्मो यदप्रयुक्तादपि शब्दा-दर्थः प्रतीयते। न हि प्रथमश्रुतात् कुतश्चिच्छब्दात् केचिदर्थं प्रतीयन्ति। तदभि-ध

**ीयते-पदधर्मोऽयं, न वाक्यधर्मः। वाक्याद्धि प्रथमावगतादपि प्रतियन्तोऽर्थं दृश्यन्ते।**

[अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः समुदाय लोक में [प्रयुक्त] नहीं है, जिससे इस [समुदाय] के वृद्ध व्यवहार से अर्थ जाना जाये। ये पद (पृथक् पृथक् रूप से लोक में) प्रयुक्त हैं, उनका अयं नित्य है। समुदाय प्रयुक्त नहीं है। इसलिये इस पक्षसमुदाय से गम्यमान] अर्थ कृत्रिम है अथवा व्यानोहरूप है। पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं है। पद सामान्य अर्थ में ही वर्तमान होता है, [और] वाक्य विशेष अर्थ में वर्तमान होता है। सामान्य अन्य है, और विशेष अन्य है। [अर्थात् दोनों भिन्न भिन्न हैं।] पदों के अर्थों से वाक्य के अर्थ का ज्ञान नहीं होता, [पद और वाक्य का] सम्बन्ध न होने से। सम्बन्धसम्बन्ध न होने पर यदि किसी पदार्थ के ज्ञात होने पर अर्था-मार का ज्ञान हो जावे, [अथवा एक [पदार्थ के ज्ञात होने पर सब पदार्थ जाने जायें। इस प्रकार नहीं होता, इसलिये [पदार्थ से] वाक्यार्थ भिन्न हैं॥

**विवरण-** वाक्यादन्यस्मात् का अर्थ है वाक्यरूप पद से। जैसे श्मशान चिल्लाते हैंश का अर्थ होता है- श्मशान पर बैठे पुरुष चिल्लाते हैंश। कस्मिंश्चिद् अवगते- इस वाक्य से पदार्थ वाक्यार्थ का सम्बन्ध न होने पर किसी पद के अर्थ का ज्ञान होने पर वाक्य में प्रयुज्यमान पदों के अतिरिक्त अर्थ का ज्ञान भी हो सकता हैश यह अभिप्राय दर्शाया है। धौर दूसरे एकस्मिन्नकगते वाक्य से श्मशान पद का अर्थ ज्ञात होने पर सारा वाक्यार्थ जाना जावे श्मशान दोष दर्शाया है। अन्यो वाक्यार्थः- अर्थात् पदार्थमूलक वाक्यार्थ नहीं हो सकता॥

**व्याख्या-** यह (वाक्यार्थ को निन्ता) होवे। परन्तु (पूर्व) अप्रयुक्त वाक्य से मो [पदार्थ और वाक्यार्थ का सम्बन्ध न होने पर भी स्वभाव से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, ऐसी यदि कल्पना करें, तो शब्द अपने धर्म का उल्लंघन करेगा। [पूर्व] अप्रयुक्त [शब्द से मो शब्द के अर्थ की प्रतीति होती है, यह शब्द का धर्म नहीं है। किसी भी प्रयम भुत शब्द से कोई भी अर्थ को नहीं जानते। इस त्रिविव में कहते हैं यह [रक्त पद का धर्म है, वाक्य का धर्म नहीं है। वाक्य से ती प्रसस अवगत (श्रुत) से भी अर्थ को जानते (उपलब्ध करते हुए देखे जाते हैं।

**मैतदेवम्। यदि प्रथमश्रुतादवगच्छेयुः, अपि तहि सर्वेऽत्रगच्छेयुः पदार्थविदोऽन्ये च। न त्वपदाथ. '। वेदोऽवगच्छन्ति, तस्मान्नैतदेवम्। ननु पदार्थविद्भिरप्यवगच्छद्भिरकृत एवं वाक्यार्थसम्बन्धो भविष्यति, पदा. र्थवेदनेन हि संस्कृताः अवगविष्यन्ति। यथा तमेव पदार्थं द्वितीयादिश्रवणेनेति। नेति ब्रूमः। यदि वाक्येऽन्यो वर्णः पूर्ववर्णजनित-संस्कारसहितः पदार्थेभ्योऽर्थान्तरं प्रत्याययति, उपकारस्तु तदा नश पदार्थज्ञानादव-कल्पते। तस्मात् कृत्रिमो वाक्यार्थप्रत्ययो व्यामोहो वा। न पदार्थद्वारेण संभवति वाक्यार्थज्ञानमिति ॥**

**नन्वेवं भविष्यति-** सामान्यवाचिनः पदस्य गौरिति वा अश्व इति वा विशेषक शुक्ल इति वा कृष्ण इति वा पदमन्तिकादुपनिपतति यदा, तदा वाक्यार्थोऽवगम्यते। तत्। न कथमिव गौरिति वा भश्व इति वा सामान्यवाचिनः पदात् सर्वगवीषु सर्वा-श्वेषु च बुद्धिरुपसर्पन्ती श्रुतिजनिता वाक्यानुरोधेन कुतश्चिद्विशेषादपवर्त्तत। न च शुक्ल इत्यादेविशेषवचनस्य शृङ्गणादिनिवृत्तिर्भवति शब्दार्थः। न चानर्थको मा भूत्, इत्यर्थपरिकल्पना शक्या। अतो न पदार्थजनितो वाक्यार्थः। तस्मात् कृत्रिमः। पद-सङ्घाताः खल्वेते, सङ्घाताश्च पुरुषकृता दृश्यन्ते। यथा-

(आक्षेप) इत्त प्रकार नहीं होता। यदि प्रथम श्रुत [वाक्य] से [अर्थ को जान लेवें, तो सनी [अर्थ को] जान लेवें पदार्थ को जानने। टाले तथा अन्य (पदार्थ को न जाननेवाले मी)। यतः पदार्थ को न जाननेवाले [वाक्य के अर्थ को] नहीं जानते, इस कारण यह (प्रथमभूत वाक्य से मी वाक्यार्थ को जानते हुए देखते हैं) इस प्रकार नहीं है। [अर्थात् आपका कथन अयुक्त है।] अच्छा तो पदार्थ को जाननेवाले [वाक्यार्थ को] जानते हुआ से भी वाक्यार्थ-सम्बन्ध प्रकृत होगा, [परन्तु] पदार्थज्ञान से संस्कृत हुए वाक्यार्थ को जान लेंगे। जैसे उसी पदार्थ को [पद के] द्वितीय श्रादि श्रवण से जान लेते हैं। ऐसा नहीं हो सकता, यह हमारा कहना है। यदि वाक्य का अन्त्य वर्ण पूर्व-पूर्व-वर्ण जनित संस्कार के साथ पदार्थों से [वाक्यावरून] अर्थान्तर का बोध कराता है, तो उस अवस्था में पदार्थज्ञान से उपकार सिद्ध नहीं होता। इसलिये वाक्यार्थज्ञान कृत्रिम है अथवा व्यामोह है। पदार्थज्ञान से वाक्यार्थज्ञान सम्भव नहीं है॥ अच्छा तो इस प्रकार होगा-गी अथवा अश्व इस सामान्यवाची पद का विशेषक शुक्ल अथवा कृष्ण पद जब समीप में उपस्थित होता है, तब श्वेत वा काली गौ श्वेत वा काला अश्व ऐसा] वाक्यार्थ जाना जाता है। यह ठीक नहीं। किसी भी प्रकार सामान्यवाची गौ अबवा अश्व पद के श्रवण से उत्पन्न बुद्धि सब गौवों अथवा सब अश्वों में व्याप्त होती हुई वाक्य के अनुरोध से किसी शुक्ल वा कृष्ण पर] विशेष से प्रपतित नहीं होगी, अर्थात् रुकेगी नहीं। और शुक्ल इत्यादि विशेषवाचक शब्द का शृङ्गणादि की निवृत्ति होती है यह शब्दार्थ नहीं है। [प्रयुक्त हुआ विशेषवचन शब्द अनर्थक न होवे, इत्तसे [शृङ्गणादिनिवृत्तिरूप] अर्थ को कल्पना नहीं नहीं की जा सकती। इससे वाक्यार्थ पदार्थ से जनित (उत्पन्न हुआ) नहीं है। इसलिये [वाक्यार्थ] कृत्रिम है। ये [चोवनारूप वाक्य] पदों के संघात है, और [पों के] संघात पुरुष

**नीलोवलवनेष्वद्य चरन्तश्चारुसंरवाः। नीलकौशेयसंवीताः प्रनृत्यन्तीव कादम्बाः॥**

**अतो वेदिका अपि पुरुषकृता इति॥२४॥**

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥ (३०)

तेष्वेव पदार्थेषु भूतानां वर्तमानानां पदानां क्रियार्थेन समुच्चारणम्। न अन-पेक्ष्य पदार्थान् पार्थग्येन वाक्यमर्थान्तरप्रसिद्धम्।  
कृतः? प्रमाणाभावात्। किञ्चित् प्रमाणमस्ति, येन प्रमिमीमहे। न ह्यनपेक्षितपदार्थस्य वाक्यान्त्यवर्गस्थान पूर्ववर्ण अनितसंस्क.  
रसहितस्य शक्तिरस्ति पदार्थेभ्योऽर्थान्तरे वक्तुमिति॥

कृत देखे जाते हैं। यथा- शआज नीलकमलों के वनों में विवरते हुए मजुर शब्दवाले कलहंस ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे नीले रेशमी वस्त्र धारण की हुई स्त्रियां नाच रही हों। इस हेतु से बंदिक [वाक्य] भी पुरुषकृत हैं॥२४॥

**विवरण-** कादम्बाः कदम्बे समूहे मवाः, भवार्थ अण, कलहंसाः (द्र०- शब्दकल्पद्रुन) समूह में रहने वाले मनोहर ध्वनि करनेवाले हंस। अमर २।५।२३ की टीका में कुछ टीका-कारों ने शकादम्बश् का शब्दार्थ अर्थ भी किया है। नीलोत्पलवनेषु इस श्लोक का उपयुक्त अर्थ मुद्रित पाठ के अनुसार किया है। इस श्लोक के कई पाठान्तर भी मिलते हैं। एक पाठ है-प्रणश्यन्तीव कादम्बाः इसका अर्थ होगा- शकलहंस ऐसे प्रतीत होते हैं, जैसे वे नीलकमलों में छिप गये हों। हमें यह पाठान्तर युक्त प्रतीत नहीं होता। दूसरा पाठान्तर मद्रास विश्वविद्यालय-मुद्रित शबृहतीश टीका सहित शाबरभाष्य का इस प्रकार है- रामकौशेयसंवीताः। इसमें शरामश् सम्बोधन पद अलग होना चाहिये। अर्थ होगा- हे राम ! आज कलहंस ऐसे प्रतीत होते हैं।

जैसे रेशमी वस्त्र पहने हुए स्त्रियां नाच रही हों। तीसरा पाठान्तर न्यायरत्नमाला में पार्थसारथि मिश्र द्वारा निदिष्ट पाठ में मिलता है। उसका पाठ है- रामाः कौशेयसंधीताः कादम्बा इव शोमनाः (३०- पूनामुद्रित शाबरभाष्य की टीका, पृष्ठ ६५)। इसका अर्थ है- शकलहंस इस प्रकार सुशोभित हो रहे हैं, जैसे रेशमी वस्त्र पहने स्त्रियां सुशोभित हों ॥२४॥

तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात् ॥२५॥

**सूत्रार्थ-** (तद्भूतानाम्) स्व-स्व अर्थों में वर्तमान पदों का (क्रियार्थेन) क्रियावाची पद के साथ (समाम्नायः) उच्चारण पाठ देखा जाता है। [इस कारण क्रियावाचक पदसहित पदसमूह से वाक्याचं बोध होता है, क्योंकि] (अर्थस्य) वाक्यार्थ के (तन्निमित्तत्वात्) पदार्थ-तिमित्तवाला होने से।

**व्याख्या-** उन्हीं पदार्थों में वर्तमान पदों का क्रिया-अर्वाले पद के साथ समुच्चारण है। परदोधित अर्थों की अपेक्षा न करता हुआ वाक्य पृथक् अर्थ के रूप से अर्थान्तर में प्रसिद्ध नहीं है। किस कारण? प्रमाण न होने से। कोई प्रमाण नहीं है, जिससे हम जानें [कि वाक्य पदार्थ की अपेक्षा न रखता हुआ अर्थान्तर का बोध कराता है। क्योंकि पदार्थ को अपेक्षा न रखते हुए पूर्व-पूर्ववर्णजनित संस्कारसहित वाक्य के अन्तिम वर्ण को पदार्थों से अर्थान्तर में वर्तमान होने में शक्ति नहीं है।]

नत्वर्थापत्तिरस्ति, यत् पदार्थव्यतिरिक्तमर्थमवगच्छामः। न च शक्तिमन्तरेण तदवकल्प्यते इति। तन्न।  
अर्थस्य तन्निमित्तत्वात्। भवेद्वर्थापत्तिर्यद्यसत्यामपि शक्तः नाऽन्यस्मिन्निमित्तमवकल्प्येत। अवगम्यते तु निमित्तम्। किम्? पदार्थाः। पदानि हि स्वं स्वं पदार्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि। अयेदानीं पदार्था अवगताः सन्तो वाक्यार्थं गमयन्ति। कथम्? यत्र हि शुक्ल इति वा कृष्ण इति वा गुणः प्रतीतो भवति, भवति खत्वसावलं गुणवति प्रत्ययमाधातुम्। तेन गुणवति प्रत्ययमिच्छन्तः केवलं शृणुवचनमुच्चारयन्ति। संपत्स्यते एषां यथा संकल्पितोऽभिप्रायः, भविष्यति विशिष्टार्थसंप्रत्ययः। विशिष्टार्थसंप्रत्ययश्च वाक्यार्थः। एवं चेद्, श्रवगम्यते अन्यत एव वाक्याऽर्थः, को जातुचिद् अद्रष्टा पदसमुदायस्य शक्तिरर्थाद् अवगम्यते इति वदिष्यति?

(आक्षेप) श्रुतिपत्ति प्रयाग है, जो पदार्थ से भिन्न अर्थ को जानते (उल्लब्ध करते) हैं। बिना शक्ति के वह वाक्य अर्थान्तर को कहने में समर्थ नहीं होता। (समाधान) ऐसा नहीं है। अर्थ के तन्निमित्त होने से। अर्थापत्ति प्रमाण हो सकती है, यदि शक्ति के न होने पर भी अन्य निमित्त न जाना जाय। वह [अन्य] निमित्त तो जाना जाता है। कौनसा निमित्त? पदार्थ। पद अपने-अपने अर्थ को कहकर [अपने-अपने] व्यापार से निवृत्त हो जाते हैं। उसके पश्चात् पदार्थ ज्ञात होते हुए वाक्य के अर्थ का बोध कराते हैं। कैसे? जहां शुक्ल अथवा कृष्ण ऐसा गुण प्रतीत होता है, वहां वह [उस शुक्ल वा कृष्ण] गुणवाले [गौ अथवा अश्व] में ऐसा गुण प्रतीत होता है, वहां वह [उस शुक्ल वा कृष्ण] गुणवाले [गौ अथवा अश्व] में [विशेष] ज्ञान उत्पन्न करने में निश्चय ही समर्थ होता है। इसलिये [उस-उस] गुणवाले पदार्थ में ज्ञान की च्छा करते हुए केवल [उस-उस] गुण को कहनेवाले शब्द का उच्चारण करते हैं। [इस केवल गुणवाचक शब्द के उच्चारण से इनका यथासंकलित अभिप्राय सिद्ध हो जायेगा, [तद्गुण] विशिष्ट अर्थ का ज्ञान हो जायेगा। विशिष्टार्थ-सम्प्रत्यय ही वाक्यार्थ है। यदि ऐसा है, तो [पदसमुदाय की शक्ति से] अन्य से ही वाक्यार्थ जाना जाता है। फिर कौन श्रवदृष्ट पद-समुदाय की शक्ति अर्थापत्ति से जानी जाती है? ऐसा कहेगा?

**विवरण-** केवलं गुणवचनम् जब वक्ता को गह ज्ञात होता है कि मेरा अभिप्राय थोता समझ जायेगा, तब वह 'शुक्ल गाय को लाओ'

‘काली गाय को लाओ’ न कहकर केवल ‘शुक्ल को लाओ’ ‘कालो को लाओ’ इतना ही कहता है। और श्रोता भी जान जाता है कि वक्ता का तात्पर्य ‘शुक्ल गाय’ अथवा शकाली गाय से है। वह उस गुणविशिष्ट को ले भ्राता है॥

अपि च, अन्वयव्यतिरेकाभ्यामेतदवगम्यते- श्भवति हि कदाविदियमवस्था मानसादप्याघाताद् दृश्यदुच्चरितेभ्यः पदेभ्यो न पदार्था अवधार्यन्ते। तदानीं नियोगतो वाक्यार्थं नावगच्छेयुः, यद्यस्य अपार्थगर्थमभविष्यत्। नियोगतस्तु नाव-गच्छन्ति।

अपि चाऽन्तरेणापि पदोच्चारणं यः शोक्ल्यमवगच्छति, अवगच्छत्येवाऽसौ शुक्लगुणकम्। तस्मात् पदार्थप्रत्यये एव वाक्यार्थः, नास्य पदसमुदायेन सम्बन्धः। यत्तु- श्रौतः पदार्थो न वाक्यानुगोधेन कुतश्चिद्विशेषादपत्तितुमहतीति। सत्यम् एवैवमेतत्। यत्र केवलः पदार्थः प्रयुज्यमानः प्रयोजनाभावादनर्थकः सञ्जायते इत्येव गतं भवति, तत्र वाक्यार्थोऽपि तावद्भवतु इति विशिष्टार्थताऽवगम्यते, न सर्वत्र।

**व्याख्या-**और मी, अन्वय और व्यतिरेक से यह जाना जाता है कि एकमी मानतिक आघात से भी यह अवस्था होती है कि उच्चरित पदों से पदार्थों का अवधारण (निश्चय) नहीं होता। उस समय नियमित रूप से वाक्यार्थ को नहीं जानें, यदि इस (वाक्यार्थ) की अपृवक्ता होवे। **विवरण-** अन्वय अनु + अय अनुगति होने पर होना। व्यतिरेक वि+प्रति + रेक (रिचि पृथक्भावे) विशेषरूप से अतिक्रमण करना तात्पर्य न होने पर न होना। यहां भाष्यकार यह दर्शाते हैं कि जब पदार्थ जाना जाता है, तब वाक्यार्थ भी जाना जाता है, और जब किसी कारण से पदार्थ नहीं जाना जाता है, तब वाक्यार्थ भी नहीं जाना जाता है। इस अन्वयव्यतिरेक से यही सिद्ध होता है कि वाक्यार्थज्ञान में पदार्थज्ञान ही कारण है॥

**व्याख्या-**और मी, जो शुक्लता को जानता (उपलब्ध करता) है, [परन्तु गौ वा धश्वविशेष को दूरता के कारण उपलब्ध नहीं करता] वह [गवादि] पद के उच्चारण के बिना मी [रंमाने अथवा हिनहिनाने की ध्वनि सुनकर शुक्ल गुणवाले [गौ वा अश्व को जान लेता है। इसलिये पदार्थ का ज्ञान होने पर ही वाक्यार्थ [का ज्ञान होता है], इस (वाक्यार्थ) का पदसमुदाय के साथ सम्बन्ध नहीं है [यह स्पष्ट है]। और जो कहते हो कि श्रौत पदार्थ वाक्य के अनुरोध से किसी [कृष्णादि] विशेष के हटने (दूर होने) योग्य नहीं है। यह सत्य ही है। जहां केवल पदार्थ प्रयुक्त हुआ प्रयोजन के अनाव से अनर्थक हो जाता है, ऐसा जाना जाता है, बहां वाक्यार्थ मी मुख्य होवे, इस प्रकार विशिष्टार्थता [वाक्य की] जानी जाती है, सर्वत्र नहीं। [अर्थात् जहां केवल पदार्थ प्रयुक्त हुआ भी सप्रयोजन होता है, अनवक नहीं होता, वहां वाक्यार्थ

एवञ्च सति, गुणान्तरप्रतिषेधो न शब्दार्थः इत्येतदपि परिहृतं भवति।

अपि च प्रातिपदिकादुच्चरन्ती द्वितीयादिविभक्तिः, प्रातिपदिकार्थो विशेषक इत्याह। सा च विशेषश्रुतिः सामान्यश्रुति बाधेता। यच्च, श्रुते पदसङ्घाताः पुरुषकृता दृश्यन्ते इति, परिहृतं शतत्कर्तृस्मरणादिभिः। अपि चौवज्जातोयकेऽर्थं वाक्यानि संहतु न किञ्चन पुरुषाणां बीजमस्ति ॥२५॥

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥२६॥ (उ०)

सामान्य श्रुतिलब्ध ही होता है। इस प्रकार स्वीकार करने पर गुणान्तर का प्रतिषेध शब्दार्थ नहीं है, यह दोष भी परिहृत हो जाता है। और भी, प्रातिपदिक से उच्चारित द्वितीयादि विभक्ति [है, उसका] प्रातिपदिकार्थ विशेषक है, ऐसा कहा गया है। [अर्थात् कर्मादि अर्थों में जो प्रातिपदिक उससे द्वितीयादि विभक्तियां होती हैं। इस प्रकार द्वितीयादि विभक्ति प्रातिपदिकार्थ के साथ अन्वित होकर अर्थ को प्रकाशित करती हैं। अन्यथा] वह [द्वितीयादि] विशेषश्रुति [सामान्य प्रातिपदिक] श्रुति को बाधित करे। और जो श्ये पक्लंघात पुरुषकृत देखे जाते हैं [तहत् चोदनावाक्य मी पुरुषकृत होंगे। कहा, उसका परिहार कर्ता के अस्मरण आदि द्वारा कर दिया है (द्र० पृष्ठ ४१)। और भी, इस प्रकार के [अतीन्द्रिय] अर्थ में वाक्यों का संघटन करने में पुरुषों के सम्बन्ध में कोई बोज (प्रमाण) नहीं है ॥२५॥

**विवरण-** प्रातिपदिकार्थो विशेषक इत्याह-यह निर्देश विभक्ति-विधायक कर्मणि द्वितीया (२।३।२) प्रादि विभक्तिविधायक, तथा ड्याप्रातिपदिकात् स्वौजसमौट् (४११।१-२) सूत्रों के एक वाक्य पक्ष को स्वीकार करके किया है। इस पक्ष में अर्थ होता है- कर्मादिवाचक प्राति-पदिक से द्वितीयादि विभक्तियां होती हैं। इसी के साथ वचनविधायक बहुबु बहुवचनम्, द्वच-कोद्विचनेकवचने (१।४।२१, २२) सूत्रों के सम्बन्ध जोड़ने पर पूरा अर्थ होता है- ‘कर्मत्वा-दियोग्य अर्थवाले प्रातिपदिक से एकत्वादि पर्व में द्वितीयादि विभक्तियों के एकवचन प्रादि होते हैं।’

परिहृतं तद्- भाष्यकार ने कर्वस्मरण आदि के द्वारा पूर्व (पृष्ठ ४१ में) लिखा है। उसे ही यहां संकेतित किया है। अगले सूत्र द्वारा देंगे ॥२५॥ शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में सूत्रकार इस दोष का उत्तर

लोके सन्नियमात् प्रयोगसन्निकर्षः स्यात् ॥२६॥

मूत्रार्थ- [भाष्यानुसार शब्दव्यत्यय से (लोके) लोक में (सन्निकर्षात्) [इन्द्रिय अर्थ मे] सन्निकर्ष से [अर्थों को उपलब्ध करके (प्रयोगसन्निकर्षः) पदों की समीपता ख वाक्यरचना

लौकिकेषु पुनरर्थेषु प्रत्यक्षेणार्थमुपलभ्य सन्नियमः सन्निबन्धन शक्यं तत्र संहतु म् एवञ्जातीयकानि नीलोत्पलवनेष्वद्येति। तस्माद् अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्ग-कामः इत्येतेभ्य एव पदेभ्यो येऽर्था अवगताः तेभ्य एव तदवगम्यते अग्निहोत्रात् स्वर्गो भवतीति। पदेभ्य एत्र पदार्थप्रत्ययः, पदार्थभ्यो वाक्यार्थ इति ॥ २६॥ इति वेदस्याऽर्थ-प्रत्यायकत्वाऽधिकरणम् ॥७॥

(स्यात्) हो सकती है। [परन्तु वैदिक स्वर्गादि अर्थों का इन्द्रियसन्निकर्ष न होने से अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः आदि वाक्यरचना पौरुषेय नहीं है।]

विशेष इस सूत्र का अर्थ भाष्य और वृत्तियों में सर्वथा अस्पष्ट है। भाष्य के सूत्र-व्याख्यान से प्रतीत होता है कि भाष्यकार ने सूत्रगत सन्नियम और सन्निकर्ष शब्दों (प्राति-एदिक मात्रों) का स्थान विपर्यय करके लोके सन्निकर्षात् प्रयोगसन्नियमः स्यात् रूप में रखकर व्याख्यान किया है। शास्त्रदीपिका की सिद्धान्तचन्द्रिका टीका में स्पष्ट लिखा है एवं च व्यव हितविपरिणतानुषङ्गेण व्याख्येयम्। आगे इस सूत्र की व्याख्या इस प्रकार की है-

(लोके) लोक में (सन्निकर्षात्) सन्निकर्ष प्रमाणान्तर सम्बन्ध होने से (प्रयोगसन्नियमः) प्रयोग का नियम (स्यात्) हो सकता है, पुरुषाधीन प्रयोगव्यवस्था युक्त हो सकती है। परन्तु यहां (वेद में) प्रमाणान्तर (इन्द्रियसन्निकर्ष) से प्रतीयमान अर्थ की विषयता न होने से युक्त नहीं है। सिद्धान्तचन्द्रिका, पृष्ठ १६०। सुबोधिनीवृत्ति में (लोके) लौकिक शब्दों में पदार्थज्ञानपूर्वक (सन्नियमात्) प्रयोग होने से वेद में भी गुरुपरम्परा से ज्ञानपूर्वक (प्रयोगसन्निकर्षः) प्रयोग की समीपता की उपपत्ति होवे।

कुतूहलवृत्ति में (लोके) लोक में (सन्नियमात्) प्रमाणान्तर से गृहीत धर्च में (प्रयोग सन्निकर्षः) प्रयोग का पुरुषसम्बन्ध (स्यात्) होवे। वेद में प्रमाणान्तर की अपेक्षा नहीं है।

**व्याख्या**-लौकिक अर्थों में प्रत्यक्ष से अर्थ को प्राप्त करके वहां (उन अर्थों में) नीलोत्पलवनैव्वद्य इत्यादि प्रकार के वाक्यों की रचना के लिये सन्नियम सन्निबन्धन [पुरुषों द्वारा] शक्य है संभव है। इसलिये अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्यादि वाक्यों से हो पदों के द्वारा जो अर्थ जाने गये हैं, उन्हीं से यह जाना जाता है कि अग्निहोत्र से स्वर्ग होता है (स्वर्ग मिलता है)। पदों से पदार्थों का ज्ञान होता है। सौर पदार्थों से वाक्याचं [जाना जाता है]॥२६॥

### स्मरणीय बिन्दु-

- शब्दों के समूह से वाक्यार्थ उत्पन्न होता है।
- वाक्य ज्ञान का पूर्ण साधन है।
- आकांक्षा, योग्यता एवं आसक्ति वाक्यबोध के कारण हैं।
- वाक्यार्थ प्रामाणिक ज्ञान प्रदान करता है।
- मीमांसा वाक्यप्रधान दर्शन है।

### शब्दावली-

- वाक्यार्थ
- वाक्यबोध
- आकांक्षा
- योग्यता
- आसक्ति
- शब्दसमूह

### 5 अंक के प्रश्न-

1. वाक्यार्थ क्या है?
2. वाक्यबोध किसे कहते हैं?
3. आकांक्षा का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. योग्यता क्या है?
5. वाक्य ज्ञान का साधन कैसे है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. वाक्यार्थ प्रामाण्य का विवेचन कीजिए।



2. वाक्यबोध की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
3. आकांक्षा, योग्यता एवं आसक्ति का विश्लेषण कीजिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. वाक्यार्थ किससे उत्पन्न होता है?  
(क) एक शब्द से  
(ख) शब्दसमूह से  
(ग) मौन से  
(घ) संकेत से
2. वाक्य किसका साधन है?  
(क) अज्ञान  
(ख) ज्ञान  
(ग) मोह  
(घ) दुःख
3. वाक्यबोध के कारणों में कौन सम्मिलित है?  
(क) आकांक्षा  
(ख) हिंसा  
(ग) निद्रा  
(घ) भ्रम
4. मीमांसा कैसा दर्शन है?  
(क) शून्यवाद  
(ख) वाक्यप्रधान  
(ग) केवल तर्कप्रधान  
(घ) नास्तिक
5. योग्यता किससे सम्बन्धित है?  
(क) अर्थसंगति  
(ख) युद्ध  
(ग) शरीर  
(घ) निद्रा

## इकाई-4.4 वेद की अपौरुषेयता

उद्देश्य-

1. वेद की अपौरुषेयता को समझना।
2. वेदों की नित्यता का अध्ययन करना।
3. मानवखत एवं अपौरुषेय ज्ञान में अन्तर जानना।

वेदापौरुषेयत्वाधिकरणम् ॥८॥

वेदांश्चौकेश सन्निकर्ष पुरुषाख्याः ॥२७॥ (५०)

उक्तं- चोदनालक्षणोऽर्थो धर्मः इति। यतो न पुरुषकृतः शब्दस्याऽर्थन सम्बन्धः। तत्र पदवाक्याश्रय आक्षेपः परिहृतः। इदानीमन्यथाऽऽक्षेप्यामः। श्पौरुषे-याश्चोदनाः इति वदामः। सन्निकृष्टकालाः कृतका वेदा इदानीन्तनाः। ते च चोद-नानां समूहाः तत्र श्पौरुषेयाश्चेद्वेदाः असंशय पौरुषेयाश्चोदनाः। कथं पुनः कृतका वेदा इति? केचिन्मन्यन्ते- यतः पुरुषाख्याः। पुरुषेण हि समाख्यायन्ते वेदाः- काठक कालापकं पैप्पलादकं श्मोद्गलमिति। न हि सम्बन्धाद् ऋते समाख्यानम्। न च वेदांश्चौकेश सन्निकर्ष पुरुषाख्याः ॥२७॥

सूत्रार्थ- (च) और (एक) कुछ लोग (वेदान्) वेदों को (सन्निकर्षम्) निकट काल का कहते हैं, क्योंकि वे (पुरुषाख्याः) पुरुषविशेष के नाम से कहे जाते हैं। [मथा- काठकम्, कालापकम् कठ और कलापी द्वारा रचित।]

विशेष चकार 'तु' अर्थ में है, ऐसा सिद्धान्तचन्द्रिकाकार का मत है (शास्त्रदीपिका पृष्ठ १६१)। सन्निकर्षम् पद का सरलता से सम्बन्ध नहीं होता। अतः सुबोधिनीकार ने लिखा है असमानवचनत्वं चिन्त्यम्।

व्याख्या-पूर्व कह चुके हैं कि श्चोदना से लक्षित अर्थ धर्म है। क्योंकि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध पुरुषों द्वारा किया हुआ नहीं है। इस विषय में पद और वाक्य के आश्रय से होनेवाले आक्षेपों का परिहार पूर्व कर दिया है। इस समय हम अन्य प्रकार से आक्षेप करेंगे। श्चोदनाएँ पौरुषेय हैं ऐसा हम कहते हैं। समीप के काल के [पुरुषों से] बनाये गये वेद वर्तमान काल के हैं। और वे चोदनाओं के समुदाय हैं। श्रुतः यदि वेद पौरुषेय हैं, तो निस्सन्देह चोदनाएँ भी पौरुषेय हैं। वेद [पुरुषों] पुरुषों से बनाए गये फंसे हैं? कुछ लोग मानते हैं- जिस कारण वे पुरुषाख्य हैं। पुरुष से ही वेद कहे जाते हैं [अर्थात् पुरुषों के नामों से हो वेदों का व्यवहार होता है]-काठकम्, कालापकम्, पैप्पलादकम्, श्मोद्गलम्। सम्बन्ध के बिना [पुरुष नाम से]

पुरुषस्य (शब्देनास्ति सम्बन्धोऽन्यदतः कर्ता पुरुषः, कार्यः शब्द इति। ननु प्रवचन-लक्षणा समाख्या स्यात्? नेति ब्रूमः। असाधारणं हि विशेषणं भवति। एक एव हि कर्ता, बहवोऽपि प्रबूयः। अतोऽस्मर्यमाणोऽपि चोदनायाः कर्ता स्यात्। तस्मान् प्रमाणं चोदनालक्षणोऽर्थो धर्म इति ॥२७॥

कथन नहीं होता। पुरुष का शब्द के साथ इससे भिन्न कोई सम्बन्ध नहीं है कि पुरुष कर्ता है और शब्द [उससे] कार्य है। अच्छा तो प्रवचनलक्षणा (अध्यापन निमित्तक) सनाखवा (नाम) होवे। नहीं, ऐसा हम कहते हैं। विशेषण असाधारण [धर्मवाला] ही होता है। कर्ता एक ही होता है, प्रवचन बहुत भी कर सकते हैं। इसलिये चोदना के कर्ता का स्मरण न होते हुए भी वह होगा ही। इसलिये (पुरुषकर्तृक होने से) चोदना से लक्षित अर्थ धर्म में प्रमाण नहीं है ॥२७॥

विशेष एके-सूत्रस्थ एके शब्द का पर्थ कुतूहल वृत्तिकार ने श्ताकिर्कश अर्थात् श्तायविक किया है। यह चिन्त्य है। तैययिक शब्द को अनित्य मानते हुए भी अतीत अनागत मन्वन्तरों और कल्पान्तरों में सम्प्रदाय के अविच्छेद से वेदों को नित्य मानते हैं, उनका प्रामाण्य आप्त-प्रामाण्य से स्वीकार करते हैं। जैसे ज्ञान की पराकाष्ठा ईश्वर में व्यासभाष्य (११२५) में मानी है, इसी प्रकार आप्तत्व की पराकाष्ठा भी ईश्वर में है। अतः वेद का प्रामाण्य उनके मत में परमाप्त ईश्वर से प्रादुर्भाव होने से माना जाता है। इसी प्रकार श्इस शब्द की इस अर्थ में शक्ति है श्इसे भी ईश्वरसंकेत स्वीकार करते हैं। पुरुषाखशः- वेद कठादि पुरुषों के नाम से कहे जाते हैं। यया काठकम् पादि। इस मत में शास्त्रदीपिका के सिद्धान्तचन्द्रिकाकार ने काठकम् धादि में अधिकृत्य कृते ग्रन्थे (अष्टा० ४।३।८७) से तद्धित प्रत्यय माना है। यह अशुद्ध है। अधिकृत्य कृते ग्रन्थे से प्रत्यय नहीं होता है। जहां व्यक्तिविशेष को ध्यान में रखकर ग्रन्थ रचा गया हो जैसे सुमद्रामधिकृत्य कृतो ग्रन्थः सौभद्रः (काशिका) अर्थात् जिसमें सुभद्रा के विषय में लिखा गया हो, वह श्शोनद्रश् कहता है। काठकादि संहिताओं में कठादि का वर्णन नहीं है। इसलिये पूर्वपक्षी के मतानुसार कृते ग्रन्थे (घष्टा० ४।३।११६) से तद्धित प्रत्यय जानना चाहिये। जैसे-वररुचिना कृतो ग्रन्थः वाररुचः, वाररुचाः श्लोकाः (वररुचि के द्वारा रचा ग्रन्थ वा श्लोक)। इसी प्रकार कठ द्वारा रचित काठक, कलापी द्वारा रचित कालापक प्रादि होंगे। यहां यह भी जानना आवश्यक है कि पाणिनि ने प्रोक्त (प्रवचन) प्रकरण में कठादि शब्दों से तत्तद् प्रत्ययों का विधान किया है। पूर्वपक्षानुसार कृते पन्वे प्रकरण में उनका निर्देश अपेक्षित होना।

मौङ्गलम्- इसका पाठान्तर मौहलम् मिलता है, वह अपपाठ है। वस्तुतः वहां शुद्धतर पाठ सोडकम् होना चाहिये। भाष्यकार ने कृष्णयजुः की दो शाखाओं के नाम लिखे हैं— काठकम्, कालापकम्। पैप्पलादक शाला प्रथर्ववेद की है। अतः इसके साथ का दूसरा नाम भी

**अनित्यदर्शनाच्च ॥२८॥ (५०)**

जननमरणवन्तश्च वेदार्थाः श्रूयन्ते। बबरः प्रावाहणिरकामयतश्च कुसुरुविन्द प्रौद्दालकिरकामयतश्च इत्येवमादयः। उद्दालकस्यापत्यं गम्यते औद्दालकिः। यद्यपि, प्रान् औद्दालकिजन्मनो नाऽयं ग्रन्थो भूतपूर्वः। एवमप्यनित्यता ॥२८॥

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥२६॥ (३०)

उक्तमस्माभिः, शब्दपूर्वत्वमध्येतुणाम्। केवलमाक्षेपपरिहारो बक्तव्यः, सोऽभिधीयते ॥२६॥

घथवंशाखा का ही होना चाहिये। मौङ्गल शाखा ऋग्वेद की है (द्र०- वैदिक वाङ्मय का इतिहास, भाग १, ऋग्वेद की शाखाएं प्रकरण)। पतञ्जलि ने भी महाभाष्य ४।३।१०१ में इस प्रकार का एक पाठ दिया है- श्या त्वसौ वर्णानुपूर्वी साऽनित्या। तद्भेदाच्चौतद् भवति-काठकम्, कालापकम्, मौक्कम्, पैप्पलादकम् इति। इन में तीन नाम समान हैं, अतः चोया नाम भी पतञ्जलिनिदिष्ट मौदकम् ही युक्त है।

विशेष-प्रकृत बेद शब्द का अभिप्राय, तथा पूर्वोत्तरमीमांसा के सिद्धान्तानुसार इस अधिकरण की व्याख्या हह्य अधिकरण के अन्त में दर्शायेंगे ॥ २७॥

अनित्यदर्शनाच्च॥ २८॥सूत्राय- [वेद में] (अनित्यदर्शनाच्च) अनित्य (जन्ममरणधर्मा) पुरुषों का दर्शन होने से (च) भी [वेद पुरुषकृत हैं]॥

**व्याख्या-** जननमरणवाले वेदार्थ सुने जाते हैं। [अर्थात् उत्पत्तिमरणधर्मा मनुष्यों का चेर में वर्णन मिलता है।] बबरः प्रावाहणिरकामयत (तं० सं० ७।१।१००२) प्रवहण के पुत्र बबर ने कामना की; कुसुरुविन्द औद्दालकिरकामयत (तै० सं० ७/२/२११) उद्दालक के पुत्र कुसुरुविन्द ने कामना की, इत्यादि। औद्दालाक उद्दालक का पुत्र जाना जाता है। यदि ऐसा है, तो औद्दालकि के जन्म से पूर्व यह ग्रन्थ नहीं है। इस प्रकार जो वेद की अनित्यता है ॥२८॥

उक्तं तु शब्दपूर्वत्वम् ॥ २६॥

**सूत्रार्थ-** (तु) पूर्वपक्ष को हटाने के लिये है, (शब्दपूर्वत्वम्) [अध्येताओं का] शब्द-पूर्वत्व (जैसे अध्येता गुरु से धाजकल वेद का अध्ययन करते हैं, वैसे ही वर्तमान गुरुओं ने अपने से पूर्वत्व) (उक्तम्) कह दिया।

विशेष-माध्वकार का सूत्रार्थ अस्पष्ट है। सुबोधिनीकार ने इस प्रकार (उक्तम्) कह दिया। अर्थात् शब्द के नित्य होने से वेद भी नित्य है। यह स्पष्ट एवं संगत है ॥२६॥

**व्याख्या-** हम कह चुके अध्येताओं के शब्दपूर्वत्व के विषय में। केवल वो आक्षेपों का परिहार कहना है, यह (अगले सूत्रों से) कहा जाता है॥२६॥

**आख्या प्रवचनात् ॥३०॥ (३०)**

विशेष-अध्येता का शब्दपूर्वत्व क्या है, और यह सूत्रकार ने अथवा भाष्यकार ने पूर्व कहा कहा है? यह अस्पष्ट है। कुतूहलवृत्ति में अध्येताओं के शब्दपूर्वत्व के विषय में इस प्रकार, लिखा है- शब्द उच्चारण पूर्व पूर्व अध्ययन। पूर्व वेदाध्ययनपूर्वक ही उत्तरात्तर अध्ययनः अध्येताओं द्वारा होता है, यह कहा है। यह विवादग्रस्त [कठादि का] वेदाध्ययन अध्ययनपूर्वक है, अध्ययन होने से, साम्प्रतिक अध्ययन के समान। इस अनुमान से बेद का कोई भी प्रथम अध्येता नहीं है। जिससे वेद की सकतुं कता सिद्ध होवे। कुतूहलवृत्तिकार की कल्पना का मूल भट्टकुमारिल की पूर्व अधिकरण की निम्न कारिका है-

**वेदस्याध्ययनं सर्वं गुर्वध्ययनपूर्वकम्। वेदाध्ययनवाच्यत्वाद् अधुनाध्ययनं यया॥ ( पृष्ठ ६४६, काशी सं० )**

अर्थात् वेद का सम्पूर्ण अध्ययन गुरु से अध्ययनपूर्वक है। वेदाध्ययन वाच्य हीने से। जैसे साम्प्रतिक बेद का अध्ययन। यहां यह भी विवेचनीय है कि भाष्यकार ने अर्माभिः पद का जो प्रयोग किया है, वह उन्होंने अपने लिये किया है, अथवा सूत्रकार के लिये? यदि अपने लिये प्रयोग किया है, तो सूत्र साथ उसका कोई सम्बन्ध नहीं। इतना ही नहीं, भाष्य में पूर्वत्र कहीं भी वेद के अध्येताओं के सा का गुर्वध्ययनपूर्वकत्व नहीं कहा। केवल शब्दार्थ के सम्बन्ध में कहा है कि शैैसे हम वृद्धव्यवहार से शब्दार्थ-सम्बन्ध को ग्रहण करते हैं, वैसे ही उन वृद्धों ने अपने पूर्व वृद्धों से शब्दार्थ सम्बन्ध जाना था, उन्होंने उनसे पूर्व वृद्धों से। इस प्रकार शब्दार्थ-सम्बन्ध अनादि है (द्र० पृष्ठ ४४)। और यदि अस्माभिः का निर्देश सूत्रकार के लिये है, तो उन्होंने भी यह बात नहीं कही। यदि कहा जाये कि शसूत्र में हीं वह सब शकथन है, जो भाष्य में कहा गया है तो यह भी ठीक नहीं। उत्तरमीमांसी का अद्वैत विशिष्टाद्वैत द्वैत आदि

सभी मतानुयायियों ने भाष्य किया है। बंया उन सभी के भाष्यों में जो परस्परविरुद्ध सिद्धान्त हैं, वह सबः सूत्रकार को अभिप्रेत हैं? हम समझाते हैं कोई भी बुद्धिमान् इस बात को स्वीकार नहीं करेगा। अतः प्रकृत सूत्र का श्मुबोबिनीवृत्तिकार का अर्थ (जो ऊपर दर्शाया है) वह अधिक युक्त है॥ २३॥

**आख्या प्रवचनात् ॥३॥**

सूत्रार्थ [वेद की] (आख्या) काठक ग्रादि संज्ञां (प्रवचनात्) विशेष वचन कपन श्रद्धापन से [व्यवहृत होती है]।

यदुक्तम् ख शकृत् लक्षणा समाख्या काठकायाश् इति। तदुच्यते। नेयमर्थापत्तिः। अकर्तृभिरपि ह्योनामाचक्षीरन्। प्रकर्षेण वचनमनन्यसाधारणं कठादिभिरनुष्ठितं स्यात्। तथापि हि समाख्यातारो भवन्ति। स्मर्यते च वैशम्पायनः सर्वशाखाध्यायी। कठः पुनरिमां केवलां शाखामध्यापयाम्बभूवेति। स बहुशाखाध्यायिनां सन्निधविक शाखाध्यायी अन्यां शाखामनश्रीयानः, तस्यां प्रकृष्टत्वादसाधारणमुपपद्यते विशेषणम् ॥३०॥

**व्याख्या-** और जो कहा है- श्काठक आदि संज्ञा कर्तृलक्षणा (कर्ता को लक्षित करनेवाली) है। इस विषय में कहते हैं। यह अथ। पत्ति नहीं है। जो कर्ता नहीं है उनसे भी इस संज्ञा को कहा जा सकता है। विशेष-वचन कथन अध्यापन, अर्थात् अन्य साधारण प्रवचन कठादि पुरुषों के द्वारा अनुष्ठित हुआ होगा। उस प्रकार भी कहनेवाले होते हैं। [अर्थात् कठादि पुरुषों ने जिनका अनन्यसाधारण अध्यापन कराया, उनका नाम उनके नाम पर प्रसिद्ध हो गया।] [कठादि का अनन्यसाधारण प्रवचन कसे माना जाये? इस पर कहते हैं यह परम्परा से स्मरण किया जाता है कि श्वैशम्पायन सब शाखाओं का अध्येता था। कठ ने केवल इस (काठक) शाखा का ही अध्यापन कराया। अतः वह बहुत शालायों के अध्येताओं की सन्निधि में एक शाखा का ही अध्ययन करनेवाला, अन्य शास्त्राओं का अध्ययन न करनेवाला, उस शाखा में प्रकृष्टः (उत्कृष्ट) होने के कारण उसके द्वारा अध्यापित शाखा का काठक यह] असाधारण विशेषण उपपन्न होता है॥३०॥

**विवरण-** भाष्यकार द्वारा निर्दिष्ट श्वैशम्पायन सब शाखाओं का अध्येता था, वह परन्तु परम्परा से स्मरण किया जाता है। तत्त्व हमारी दृष्टि में नहीं था। यह परम्परा मीमांसकों में रही भौ हों, तब भी वस्तुस्थिति में विपरीत होते से चिन्त्य है। शालाओं के प्रवचन का जो इतिहास उपलब्ध होता है, उसके अनुसार कृष्णयजुः पायन ने वैशम्पायन को कृष्णयजुः का जो प्रवचन किया था, उसका पुनः प्रवचन वैशम्पायन ने आलम्बि, पलङ्ग, कमल, ऋचाभ, आरुणि, ताण्डध, श्यामायन, कठ, कलापि इन नौ शिष्यों को किया (८०-काशिका ४।३।१०४)। तैत्तिरीय काण्डानु-क्रम (काण्डानुक्रमणी) के अनुसार वैशम्पायन का एक शिष्य यास्क भी था, और यत्स्के की शिष्य वैशम्पायन का लघु भ्राता तित्तिरि। इस प्रकार वैशम्पायन के १० साक्षात् शिष्यों के नाम इतिहास में सुरक्षित हैं। सम्भव है वैशम्पायन के अन्य शिष्य भी रहे होंगे। वैशम्पायन का एक नाम चरक है (द्र०-काशिका ४।३।१०४)। यह नाघ श्वेतकुष्ठ वा गलितकुष्ठ के कारण पड़ा था। कठ यदि शिष्यों ने वैशम्पायन से प्राप्त यजुः का अपने-अपने शिष्यों को जिस विशिष्ट पाठ का प्रवचन किया, वह वैशम्पायन के कुठ कलापि श्रादि के नाम से काठक काला-

**परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥ (उ०)**

यच्च प्रावाहणिरिति। तन्। प्रावाहणस्य पुरुषस्याऽसिद्धत्वात्, न प्रावाहण-स्यापत्यं प्रावाहणिः। प्रशब्दः प्रकर्षे सिद्धो वहतिश्च प्रापणे, न त्वस्य समुदायः क्व-चित् सिद्धः। इकारस्तु यथैवापत्ये सिद्धस्तथा क्रियायामपि कर्तरि। तस्माद् यः प्रावाहयति स प्रावाहणिः। बबर इति शब्दानुवृत्तिः। तेन यो नित्योऽर्थस्तमेवैतौ शब्दो वदिष्यतः। अत उक्तं- परन्तु श्रुतिसामान्यमात्रमिति ॥३१॥

पक आदि के रूप से प्रसिद्ध हुआ। कठादि का शाखा-प्रवचन मन्त्रार्थ तथा यज्ञादि कार्य की दृष्टि से किया गया प्रवचन वैशम्पायन के प्रवचन से पर्याप्त भिन्न था। कठादि के शिष्यों ने पुनः अपने शिष्यों को विशिष्ट पाठ का प्रवचन किया। इस प्रकार कृष्णयजुः के विभिन्न चरणों की ८४ शाखाएं प्रवृत्त हुईं। यतः वैशम्पायन का एक नाम चरक था, अतः उसके शिष्य-प्रशिष्यों द्वारा प्रोक्त सभी ८४ शाखाएं सामान्यरूप से चरक नाम से प्रसिद्ध हुईं। और उनके द्वारा बन में आध्वर्यव कर्म करानेवाले चरकाव्यय कहलाये। हमारा विचार है कि शबरस्वामी द्वारा लिखित श्वैशम्पायन सर्वशाखाध्यायी था। का मूल कृष्णयजुः शाखाओं का चरक सामान्य नामः का व्यवहार है ॥३०॥

**परं तु श्रुतिसामान्यमात्रम् ॥३१॥**

**सूत्रार्थ-** [और जो वेद के पौरुषेयत्व में] (परम्) अन्य अनित्यदर्शन हेतु दिया है, वह (तु) ठीक नहीं। [क्योंकि ऐसे शब्द] (श्रुतिसामान्यमात्रम्) शब्द के सामान्य अर्थ (धात्वर्थ) मात्र के वाचक है।

**व्याख्या-** और जो श्प्रावाहणिः इत्यादि अनित्यवर्णन कहा। वह नहीं है। प्रावाहण नामवाले पुरुष के असिद्ध होने से प्रावाहण का श्रपत्य प्रावाहणि भी नहीं है। श्प्रश शब्द प्रकर्ष (उत्कर्ष) में सिद्ध (प्रसिद्ध है, और श्वहश् घातु प्रापण (प्राप्ति) में, किन्तु इसका समुदाय प्रावाहणि] कहीं प्रसिद्ध नहीं है। इकार (इप्रत्यय) जैसे अपत्य में सिद्ध है, वैसे ही कर्तृ विशिष्ट क्रिया में भी [सिद्ध] है। इसलिये

जो उत्कृष्टतमा प्राप्त कराता है वह प्रावाहणि होता है। 'बबर' यह शब्द का अनुकरण है। इससे जो नित्य अर्थ है, उसी को ये दोनों शब्द कहेंगे। इसलिये (सूत्रकार ने) कहा है- शब्द सामान्यमात्र अर्थों को कहनेवाला है॥३१॥

**विवरण-** इकारस्तु अपत्ये अपत्य (संतान) अर्थ में अकारान्त प्रातिपदिक से अत इज् (मष्ठा० ४।१।८५) नियम से इज् होता है। जैसे दशरथ का अपत्य दशरथि रान। क्रिया-यामपि कर्त्तरि-पूर्व श्वहश् धातु का निर्देश करने से विदित होता है कि भाष्यकार शबरस्वामी श्वहश् धातु से किसी श्इश् प्रत्यय का निर्देश स्वीकार करते हैं। पाणिनीय शब्दानुशासन के धनु-सार एक श्इश् प्रत्यय है- इङ्गितपौ धातुनिर्देशे (वा० ३।३।१०८) वातिक से विहित 'इकु' रूप। यह केवल धातुनिर्देश में होता है, कर्ता में नहीं होता। जैसे- भिदिः छिदिः। दूसरा है-इण् अजादिभ्यः (वा० ३।३।१०८) वातिक से विहित इरण (पाठा० श्इश्) रूप है। जैसे- आजिः ज्ञातिः। इसका बहुलग्रहण से कर्ता में भी विधान माना जा सकता है। तीसरा है औणादिक बसिवपि वारिभ्य इण् (उ० ४।१२६) सूत्र विहित इरण। यह कर्ता में भी होता है। परन्तु चाहे वातिकस्य इण् (पाठा० इन्) हो चाहे औणादिक, इनसे प्रपूर्वक वह धातु से प्रवाहिशब्द उपपन्न होगा। यद्यपि भाष्यकार ने प्रत्यक्ष निर्देश नहीं किया, तथापि यदि हम कयाञ्चत् भाष्यकार के अभिप्राय की कल्पना करके प्रवरहण शब्द से अश्व इवाचरति अश्वति के समान आचार अर्थ में क्विप् करके प्रवाहस को धातु बनाकर श्इण वा इज् प्रत्यय करें, तब भी इण् वा इन् से श्प्रश् के अकार को वृद्धि नहीं हो सकती। क्योंकि अत उपवायाः (अष्टा ७।२।११६) के नियम से उपबा को ही वृद्धि होती है। षड्ग के आदि घच् को वृद्धि तो तद्धितेष्वाचामादेः (अष्टा० ७।२०।११७) के नियम से तद्धित प्रत्यय परे ही होती है। घतः यहां किसी भी प्रकार क्रियावाची शब्द से उत्पन्न इरण वा इन् कृदन्त प्रत्यय परे श्प्रवाहणश् के आदि प्रकार को वृद्धि नहीं हो सकती। यदि यह कहा जाय कि सांकूटिनम् सांराविणम् के समान श्प्रवाणिश् में आद्यच् को वृद्धि हो जायेगी, तो यह कथन भी व्याकरणानभिज्ञता का बोधक होगा। सांकूटिन सांराविण शब्दों में सम्पूर्वक श्कूटश् और श्रुश् धातु से श्अनिविषौ माव इनुणश् (अष्टा० ३।३।४४) से इनुख प्रत्यय होकर श्अकूटिन्श् और श्अंराविन्श् शब्द बनते हैं। तत्पश्चात् श्अण इनुणःश् (११०।११५) से इनुान्त शब्दों से स्वायं में श्अणुश् तद्धित प्रत्यय होता है, फिर तद्धितेष्वाचामादेः (७।२।११७) से आराच् को वृद्धि होती है। अतः भाष्यकार की यह कल्पना नितान्त अशुद्ध है। सम्भवतः इसी कारण कुतूहलवृत्तिकार बासुदेव दीक्षित, जो सिद्धान्तकौमुदी पर बालमनोरमा टीकाकार के रूप में प्रसिद्ध वैमाकरण हैं, ने भाष्यकार की इस कल्पना को छुआ भी नहीं। उन्होंने प्रवाहनित्यता के रूप में प्रतिकल्प प्रावाणि बबर (प्रवाहण का पुत्र बबर) की सत्ता स्वीकार करके समा धान किया है। परन्तु यह समाधान शबरस्वामी भट्टकुमारिल आदि के मतानुसार चिन्त्य है। इनके मत में नः सृष्टि की उत्पत्ति हुई है, और ना ही महाप्रलय होता है। ये सृष्टि को अनादि-सिद्ध अनन्त मानते हैं॥३१॥

**अथ कथमवगम्यते- नायमुन्मत्तवानवाक्यसदृश इति? तथाहि पश्यामः-वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत इति। यथा जरदगवो गायति मत्तकानि कथं नाम जरदगवी गायेत्? कथं वा वनस्पतयः सर्पा वा सत्रमासोरन्निति? उच्यते-कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥३२॥ (उ०)**

**व्याख्या-** श्यह कैसे जाना जाता है कि यह (वेद) उन्मत्त एवं बालक के वाक्य के संदेश नहीं है? श्जैसा कि हम देखते हैं- वनस्पतयः सत्रमासत, सर्पाः सत्रमासत क्त स्पतियां सत्र (कर्मविशेष) में बैठें; सर्प सत्र में बैठे। अर्थात् वनस्पतियों और सर्पों ने सत्र किया। जैसे कोई कहै- श्जरदगव (बूढ़ा सांड) मत्त (मस्त) करन। वाले गीतों को गाता है। मला जरदगव कैसे गीत गायेगा? [इसी प्रकार] वनस्पतियां अथवा सर्प कसे सत्र करेंगे? [सूत्रकार] (समाधान) कहते हैं-

**कृते वा विनियोगः स्यात् कर्मणः सम्बन्धात् ॥३२॥**

सूत्रार्थ (वा) पूर्वपक्ष की निवृत्ति में, अर्थात् उक्त दोष नहीं है। (कृते) कर्म में (विनियोगः) विशेष नियोग सम्बन्ध अर्थात् अन्वय (स्यात्) होगा, (कर्मणः) कर्म के साथ [विधि की प्रशंसा द्वारा (संबन्धात्) सम्बन्ध होने से।

**विनियुक्तं हि दृश्यते परस्परेण सम्बन्धार्थम्। कथम्? ज्योतिष्टोम इत्यभि-धाये कर्त्तव्य इत्युच्यते। केनेत्याकाञ्जिते सोमेनेति। किमर्थमिति? स्वर्गयोति। कथमिति? इत्थमतया इतिकर्त्तव्यतयेति। एवमवगच्छन्तः पार्थे रेभिः संस्कृतं पिण्डितं वाक्यार्थ कथमुन्मत्तबालवाक्यसदृशम् इति, वक्ष्यामः ॥**

**नन्वनुपपन्नमिदं दृश्यते- वनस्पतयः सत्रमासतेत्येवमादिः। नानुपपन्नम्। मानेन अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्येवमादयोऽनुपपन्नाः स्युः। अपि च, वन-स्पतयः सत्रमासतेत्येवमादयोऽपि नानुपपन्नाः। स्तुतयो, ह्यताः सत्रस्य वनस्पतयो नामाऽचेतना इदं सत्रमुपासितवन्तः, कि पुर्नावद्वांसो ब्राह्मणाः? तद्यथा लोके-सन्ख्यायों मृगा अपि न चरन्ति, कि पुनर्विद्वांसो ब्राह्मणा इति? अपि च, अविगीतः**

- विशेष- कुतूहलवृत्ति में श्वाश् पद को अवधारणार्थक माला है। श्अन्वयः स्यादेवश् घन्वय हो ही जायेगा 'कृते' में कर्म में क्त है॥  
- ज्योतिष्टोम इत्यभिधाय यहां से आगे भाष्यकार ने जिन पदों का परस्पर सम्बन्ध दर्शाया है, उसका वैदिक वाक्य है-ज्योतिष्टोमेत



है- बजेत स्वर्गकामः। इति इतिकर्तव्यतया-किसी भी दर्शपूर्णमास आदि याग के प्रकरण में जो अनेक कर्मों का श्रुति कर्तव्यम् इति कर्तव्यम् (यह करना बाहिये, यह करना चाहिये) निर्देश, उपलक्ष होता है, उस सारे क्रियाकलाप को याशिकों की परिभाषा में इतिकर्तव्यता कहा जाता है।

व्याख्या (आक्षेपे) यह (बचन तो अनुपपन्न (न हो सकनेवाला) देखा जाता है वनस्पतयः सत्रमासत इत्यादि। (समाधान) अनुपपन्न नहीं है। इस बचन से अग्नि-होत्र जुहुयात् स्वर्गकोमः इत्यादि वाक्य अनुपपन्न नहीं होंगे। और श्री, वनस्पतयः सत्र-मासत इत्यादि भी अनुपपन्न नहीं है। ये सत्र की स्तुतियां हैं अवेतन वहस्पतियों ने। मी सत्र का अनुष्ठान किया, तो फिर विद्वान् ब्राह्मण क्यों नहीं सत्र करें? जैसे लोक में [कहते हैं] संध्याकाल में मृग भी नहीं विचरते, तो फिर विद्वान् ब्राह्मण कसे [लौकिक कर्म में] विचर सकते हैं? (अर्थात् वे लौकिक कर्म छोड़कर संध्याकाल में संध्योपालन कर्म करें।) और भी, अवि गीत (अनिन्दित उपयुक्त) सुनिश्चित मित्रोपदेश किस प्रकार आईफा के सोग्य हो सकता है यह उन्मत्त एवं बालवाक्य के सदृश है। इसलिये श्रुतदत्ता से लक्षित अर्थ हो धर्म है, यह सिद्ध होता है ॥३२॥

**सुहृदुपदेशः सुप्रतिष्ठितः कथमिवाशङ्क्येत उन्मत्तवाल वाक्यसदृश इति? तस्मात् श्रुतदत्तालक्षणोऽर्थो धर्मः इति सिद्धम् ॥३२॥ इति वेदस्याऽपौरुषेयत्वाधिकरणम् ॥८॥**

**इति श्रीशबरस्वामिकृते मीमांसाभाष्ये प्रथमाध्यायस्य प्रथमः ( तर्कपादाभिषेयः ) पादः ॥**

**विवरण-** भाष्यकार ने यहां वनस्पतयः सत्रमासतः सर्पाः सत्रमासत ये दो वाक्य उद्धृत किये हैं। ये वाक्य उपलब्ध शाखा ब्राह्मणरूप वैदिक वाङ्मय में हमें उपलब्ध नहीं हुए। इन जैसा ही एक वाक्य ऐतरेय ब्राह्मण ४।१७ में गावो वै सत्रमासत (गौवें सत्र में बैठीं) उपलब्ध होता है (तै० सं० ७।५११११; काठक सं० ३।३।१; जै० ब्रा० २।३७४ भी द्र०)। भाष्यकार ने इन्हें सत्र के स्तुतिपरक वाक्य माना है। इसत्र अनेक हैं, पर ये वचन किस सत्र के स्तुतिवचन हैं, यह भाष्यकार ने नहीं बताया। स्तुतिवचन (स्तुत्यर्थवाद) विधि वाक्य (कर्मविधायक वाक्य) के साथ संबद्ध होकर कर्मविशेष की स्तुति को कहते हैं। यह आगे विधिना त्वेकवाक्य-त्वात् स्तुत्यर्थेन विधीनां स्युः (११२१७) सूत्रद्वारा कहा है। हमारा विचार है कि भाष्यकार ने ये वचन किन्हीं प्राचीन व्याख्याग्रन्थों में उद्धृत ही स्वीकार कर लिये हैं। उन्हें भी उस विधि-वाक्य का परिज्ञान नहीं था। जिनके साथ भाष्य में पठित वाक्यों का सम्बन्ध था। अतः भाष्य-कार का सारा प्रयत्न श्रुतदत्तों में दण्डा मारने के सदृश है। सम्भवतः इसीलिये कुतूहलवृत्तिकार ने भाष्योद्धृत वाक्यों का परित्याग करके वायुर्वे क्षेपिष्ठा देवता (द्र०- शाबरभाष्य १।२।७ में उद्धृत) ग्रादि अर्थवाद वाक्य को उद्धृत किया है। इस वाक्य का विधिवाक्य विज्ञात है-वायव्यं श्वेतमालमेत भूतिकामः (१० सं० २।१।१)। इसका विशेष विचार १।२।७ के भाष्य में करेंगे। बतः इस विषय में वहीं देखें। हमने जो गावो वै सत्रमासत वचन उद्धृत किया है, वह गवामयन सत्र के प्रकरण में पठित है (३० ऐ० ग्रा० ४।१७)। उनका विधि वाक्य है- गवामयनेन यन्ति। इस विधिवाक्य के समीप में पठित होने से गावो वं सत्रमासत स्तुत्यर्थवाद माना जाता है। ऐतरेय ब्राह्मण के इस प्रकरण से स्पष्ट है कि गवामयन सत्र सृष्टिगत उत्तरायण और दक्षिणायनरूप श्रादित्य की किरणों की गति का रूपक है गावो वा आवित्याः, आदित्यानामेव अयनेन यन्ति। यहां आदित्यात् संमूताः इस अर्थ में संभूते (पष्ठा० ४।३१४१) से यथाविहित ण्य प्रत्यय होता है। आदित्याः श्रादित्यसंभूताः रश्मयः। श्रादित्य की रश्मियां वर्षाकाल में मन्द होकर दसवें मास में पुनः तीक्ष्ण हो जाती हैं। अर्थात् उनके सींग उत्पन्न हो जाते हैं। यत्र गावो भूरिशुङ्गा अयासः (१० १११५४१६) मन्त्र में सूर्यरश्मियों को भूरिशुङ्गा कहा है (३०- निरुक्त २।७)। इस प्रकार गवामयन प्रकरण पठित 'दशमे मासि शका शूङ्गाण्यजायन्त' इत्यादि अर्थवादवचन भी उपपन्न हो जाते **देव वनस्पतियों का निर्देश देवेभ्यो वनस्पते हुवीवि हिरण्यपर्ण ( २० सं० ४।११३१७; ते. ब्रा. ३०६०११ ), देवो देवर्बनस्पतिहिरण्यपर्ण ( यजुः २१।५६ )** आदि अनेक मन्त्रों में मिलता है।

यह हिरण्यवर्ण वनस्पति 'अग्नि' है। वनस्पति के विषय में **अग्निरिति शाकपूणिः** ऐसा निर्देश करके निरुक्तकार ने पूर्वनिदिष्ट देवेभ्यो वनस्पते मन्त्र को ही उद्धृत किया है। सर्पसत्र के सर्प भी आधिदैविक तत्त्व हैं। यजुर्वेद १३।६,७,९ में भूमि और जल में रहनेवाले सर्पों के अतिरिक्त अन्तरिक्ष द्यु, द्यु के प्रकाश और सूर्य की रश्मियों में वर्तमान सर्पों का भी उल्लेख मिलता है। शतपथ ब्राह्मण ७।४।१।२५ में इन लोकों की गति यदि किंचिद् चार्श करने के कारण सर्व कहा है- श्रमे बे लोकाः सर्पाः, ते हानेन सर्वेण सर्पन्ति ० ग्रा० २।२।६।२ में देवों (रश्मियों) को सर्प, और पृथिवी को उनकी राज्ञी कहा है- श्रदेवा थे सर्पाः, तेषां होयं राजीश। सूर्यमण्डल में जो गतिशील कृष्णमण्डल हैं, वे भी सर्पण के कारण सर्प हैं। सूर्य की ज्वालाएं भी सर्प हैं। आकाश में विचरनेवाले कुछ सर्प भयंकर विषवाले हैं। इनके संयोग के कारण अन्तरिक्षस्थ जल दूषित हो जाती है। इस विषय में निम्न वचन द्रष्टव्य है-

**फूत्कारविषवातेन नागानां व्योमचारिणाम्।**

**वर्षासु सक्षिं तोयं दिव्यमप्याश्विनं विना॥**

अबो-व्योमचारी नागों के फूत्कार के विष से वर्षों में दिव्य जल भी विषयुक्त हो जाता है। केवल आश्विन मास का ही जल इस दोष से रहित होता है।



यहां केवल प्रसंगवश हो ब्राह्मण ग्रन्थों में सांकेतिक आधिदैविक गोसत्र वनस्पतिसत्र और सर्पसत्र के विषय में लिखा है, जिनका याज्ञिकों के गवामयन आदि सत्रों के साथ सम्बन्ध है। इस विषय में अधिक 'औतयज्ञ-मीमांसा' निबन्ध (इसी भाग के आदि में संलग्न) में देखें। पारोक्षिक जनमेजय के सर्पसत्र का वैदिक सर्पसत्र के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है॥३२॥

### स्मरणीय बिन्दु-

- वेद किसी मनुष्य द्वारा रचित नहीं हैं।
- वेद शाश्वत एवं अपौरुषेय हैं।
- ऋषि वेदों के द्रष्टा हैं, रचयिता नहीं।
- वेद स्वतः प्रमाण हैं।
- मीमांसा वेदों की सर्वोच्च प्रामाणिकता स्वीकार करती है।

### शब्दावली-

- अपौरुषेयता
- स्वतःप्रमाण
- ऋषि
- वेद
- शाश्वत
- द्रष्टा

### 5 अंक के प्रश्न-

1. अपौरुषेयता क्या है?
2. ऋषियों को वेदद्रष्टा क्यों कहा जाता है?
3. स्वतःप्रमाण का अर्थ लिखिए।
4. वेदों को शाश्वत क्यों कहा गया है?
5. मानवकृत एवं अपौरुषेय ज्ञान में अन्तर बताइए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. वेद की अपौरुषेयता का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. मीमांसा दर्शन में वेदों की नित्यता स्पष्ट कीजिए।
3. वेद स्वतःप्रमाण क्यों माने जाते हैं? विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. वेद कैसे माने जाते हैं?

(क) मानवकृत

(ख) अपौरुषेय

(ग) नश्वर

(घ) काल्पनिक

2. ऋषि क्या हैं?

(क) वेदों के रचयिता

(ख) वेदों के द्रष्टा

(ग) राजा

(घ) उपासक

3. वेद कैसे हैं?

(क) नश्वर

(ख) शाश्वत

(ग) क्षणिक

(घ) मिथ्या

4. स्वतःप्रमाण का अर्थ क्या है?

**(क) स्वयं प्रमाण**

(ख) दूसरों पर आधारित

(ग) असत्य

(घ) अनुमानित

5. मीमांसा वेदों को क्या मानती है?

(क) मिथ्या

**(ख) सर्वोच्च प्रमाण**

(ग) काल्पनिक

(घ) मानवकृत

॥ ओ३म् ॥

# वैदिकेतर-1

MDPHMJ-104



दिव्य प्रकाशन

## एम ए दर्शन (SLM)

### MDPHMN-104 वैदिकेतर-1

Credits- 04

#### पाठ्यक्रम के उद्देश्य :-

1. विद्यार्थियों को ग्रीक दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का ज्ञान कराना।
2. प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिकों के वैचारिक मत एवं सिद्धान्तों को जानना।
3. बुद्धिवादी, अनुभववादी एवं समीक्षात्मक दर्शन का तुलनात्मक परिचय व ज्ञान मीमांसीय, तत्व मीमांसीय एवं आचार मीमांसीय बोध कराना।
4. पाश्चात्य दर्शन के इतिहास को भलीभांति जानना।

#### खण्ड-1 सुकरात पूर्व के दार्शनिक एवं उनके प्रमुख मत

1 क्रेडिट

इकाई-1 थेल्स, एनेक्जिमेंडर, एनेक्जिमेनीज, पाइथागोरस, हेरेक्लाइट्स, पाइथागोरस, हेरेक्लाइट्स, सॉफिस्ट प्रोटैगोरस, जॉर्जियस

पार्मेनीडिज ,

इकाई-2 सुकरात- दार्शनिक पद्धति, सद्गुण, ज्ञान का सिद्धान्त

इकाई-3 लेटा- प्रत्यय, ज्ञानमीमांसा, आत्मा की अमरता

इकाई-4 अरस्तु- द्रव्य एवं स्वरूप, कारणता का सिद्धान्त, ईश्वर की अवधारणा

#### खण्ड-2 आधुनिक दर्शन ( बुद्धिवाद )

1 क्रेडिट

इकाई-5 रेने देकार्त- द्रव्य विचार, आत्मा का विचार, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण, क्रिया-प्रतिक्रियावाद

इकाई-6 स्पिनोजा- द्रव्य विचार, सर्वेश्वरवाद, समानान्तरवाद

इकाई-7 लाईब्निज- चिदणुवाद।

इकाई-8 पूर्व स्थापित सामंजस्य

#### खण्ड-2 अनुभवाद

1 क्रेडिट

इकाई-10 बर्कले- जड़वाद की आलोचना, आत्मगत प्रत्ययवाद

इकाई-11 ह्यूम-संशयवाद,

इकाई-12 कार्य कारणता का सिद्धान्त, आत्मा एवं ईश्वर विचार

#### खण्ड-4 काण्ट का समीक्षावाद

1 क्रेडिट

इकाई-13 संश्लेषणात्मक ज्ञान एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान

इकाई-14 बुद्धि की कोटियाँ

इकाई-15 देश काल की अवधारणा

इकाई-16 संवृति एवं परमार्थ, अज्ञेयवाद।

#### परिणाम :-

1. ग्रीक दर्शन के विभिन्न सम्प्रदायों का विवरण।
2. प्राचीन पाश्चात्य दार्शनिकों के वैचारिक सिद्धान्तों की विद्यार्थियों को जानकारी प्राप्त होगी।
3. बुद्धिवादी एवं अनुभववादी चिन्तकों व दार्शनिकों का परिचय व सिद्धान्तों का विवरण प्राप्त होगा।
4. भारतीय एवं पाश्चात्य दर्शन के बारे में तुलनात्मक चिंतन विकसित होगा।

## विषय-सूची

| विषय                                                                                                                                    | पृष्ठ सं.    |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|
| <b>खण्ड-1 सुकरात पूर्व के दार्शनिक एवं उनके प्रमुख मत</b>                                                                               | <b>5-17</b>  |
| इकाई-1.1 थेल्स, एनेक्जिमेंडर, एनेक्जिमेनीज, पाइथागोरस, हेरेक्लाइट्स, पाइथागोरस, हेरेक्लाइट्स, पार्मेनीडिज, सॉफिस्ट प्रोटेगोरस, जॉर्जियस | 5-7          |
| इकाई-1.2 सुकरात- दार्शनिक पद्धति, सद्गुण, ज्ञान का सिद्धान्त                                                                            | 8-9          |
| इकाई-1.3 लेटा- प्रत्यय, ज्ञानमीमांसा, आत्मा की अमरता                                                                                    | 10-14        |
| इकाई-1.4 अरस्तु- द्रव्य एवं स्वरूप, कारणता का सिद्धान्त, ईश्वर की अवधारणा                                                               | 15-17        |
| <b>खण्ड-2 आधुनिक दर्शन ( बुद्धिवाद )</b>                                                                                                | <b>18-32</b> |
| इकाई-2.1 रेने देकार्त- द्रव्य विचार, आत्मा का विचार, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण, क्रिया-प्रतिक्रियावाद                                 | 18-22        |
| इकाई-2.2 स्पिनोजा- द्रव्य विचार, सर्वेश्वरवाद, समानान्तरवाद                                                                             | 23-26        |
| इकाई-2.3 लाईबनिट्ज                                                                                                                      | 27-30        |
| इकाई-2.4 चिदणुवाद                                                                                                                       | 31-32        |
| <b>खण्ड-3 अनुभवाद</b>                                                                                                                   | <b>33-47</b> |
| इकाई-3.1 जॉन लॉक-जन्मजात प्रत्ययों का खंडन, प्राथमिक एवं गौण गुण, अज्ञेयवाद                                                             | 33-38        |
| इकाई-3.2 बर्कले-जड़वाद की आलोचना, आत्मगत प्रत्ययवाद                                                                                     | 39-41        |
| इकाई-3.3 ह्यूम-संशयवाद                                                                                                                  | 42-44        |
| इकाई-3.4 कार्य कारणता का सिद्धान्त, आत्मा एवं ईश्वर विचार                                                                               | 45-47        |
| <b>खण्ड-4 काण्ट का समीक्षावाद</b>                                                                                                       | <b>48-57</b> |
| इकाई-4.1 संश्लेषणात्मक ज्ञान एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान                                                                                    | 49-50        |
| इकाई-4.2 बुद्धि की कोटियाँ                                                                                                              | 51-52        |
| इकाई-4.3 देश काल की अवधारणा                                                                                                             | 53-54        |
| इकाई-4.4 संवृति एवं परमार्थ, अज्ञेयवाद।                                                                                                 | 55-57        |

## प्रस्तावना

सभ्यता के प्रारम्भ में मनुष्य द्वारा वातावरण तथा प्राकृतिक साधनों के साथ अपने सम्बन्ध का उचित संतुलन बनाये रखने के लिए आवश्यक था कि उनके परिवर्तनशील रहस्यात्मक पक्षों को वह समझे। आरम्भ में इसी प्रकार के रहस्योद्घाटन के प्रयत्न को दर्शन कहा जाता था। यूनान में इसे फिलॉसोफी कहा जाता था जोकि अंग्रेजी का शब्द है, किन्तु दो यूनानी शब्दों फिलोस और सोफिया से बना है जिसके क्रमशः अर्थ है- अनुराग तथा विद्या अथवा ज्ञान। इस प्रकार फिलॉसोफी का शब्दिक अर्थ हुआ- विद्यानुराग अथवा ज्ञान से प्रेम। किन्तु समय के साथ-साथ इस शब्द के अर्थ में भी परिवर्तन होता गया।

प्रारम्भिक यूनानी दर्शन भौतिक संसार के पदार्थों के मूल तत्व की खोज में ही व्यस्त था। यहाँ पर संसार के भौतिक पदार्थों के मूल तत्व की खोज करना ही दर्शन कहलाता था। इसके पश्चात दर्शन की परिभाषाएँ निरन्तर बदलती रही। ज्यों-ज्यों दर्शन का क्षेत्र विस्तृत होता गया उसकी परिभाषा में भी व्यापकता आती रही। जैसे- प्लेटो ने वस्तुओं के यथार्थ स्वरूप तथा शाश्वत ज्ञान को ही दर्शन के मुख्य उद्देश्य में समाहित किया। आगे चलकर अरस्तू ने कहा कि दर्शन वह विज्ञान है जो परम तत्व के यथार्थ स्वरूप की जाँच करता है। काण्ट के अनुसार दर्शन सम्प्रत्ययों की व्याख्या एवं विश्लेषण का विज्ञान है। हीगेल के अनुसार दर्शन परत तत्व का विज्ञान है अर्वाचीन विचारधारा के अनुसार दर्शन सम्प्रत्ययों का तार्किक विश्लेषण है।

दार्शनिक अन्वेषण का प्रारम्भ तब होता है जब मनुष्य स्वयं अपने तथा जगत् के स्वरूप से अनभिज्ञ होता है अथवा अपने तथा जगत् के सन्दर्भ में उपलब्ध जानकारी से सन्तुष्ट नहीं होता है। यह असन्तुष्टि अथवा सकारात्मक रूप में जिज्ञासा ही मनुष्य को स्वयं तथा जगत् से सम्बन्धित मौलिक प्रश्नों एवं समस्याओं के समाधान प्राप्त करने के लिए प्रेरित करती है।

दार्शनिक अन्वेषण का स्वरूप समीक्षात्मक, विश्लेषणात्मक, संश्लेषणात्मक अथवा समन्वयात्मक होने के साथ-साथ मूल्यात्मक भी होता है। क्योंकि यह मनुष्य के नैतिक जीवन से सम्बन्धित विभिन्न प्रश्नों का मूल्याधारित समाधान खोजने का प्रयास करना है और एक मूल्यात्मक आदर्श व्यवस्था भी प्रस्तुत करने का प्रयास करता है।

दर्शन का कार्य केवल जगत् के सम्बन्ध में मूलभूत प्रश्नों को हल करना नहीं है वरन् हमारे नैतिक, सामाजिक, राजनीतिक, सांस्कृतिक तथा धार्मिक जीवन को सुदृढ़ आधार भी प्रदान करना है तथा ऐसा मार्ग दिखलाना है जिस पर चलकर व्यक्ति स्वयं का तथा औरों का कल्याण कर सके।



## खण्ड-1 सुकरात पूर्व के दार्शनिक एवं उनके प्रमुख मत

### इकाई-1.1 थेल्स, एनेक्जीमेंडर, एनेक्जिमेनीज, पाइथागोरस, हेरेक्लाइट्स

#### उद्देश्य-

1. पूर्व सुकराती दार्शनिकों के प्रमुख सिद्धान्तों को समझ सकेगा।
2. यूनानी दर्शन की प्रारम्भिक दार्शनिक परम्परा का विश्लेषण कर सकेगा।
3. भौतिक तत्त्ववाद एवं परिवर्तनवाद की अवधारणाओं का अध्ययन कर सकेगा।

**ऐतिहासिक पृष्ठभूमि** - पाश्चात्य-दर्शन का जन्म ग्रीस में हुआ। ग्रीक दर्शन में सर्वप्रथम हमें जड़-जगत् के विषय में विवेचन मिलता है। थेलीज से डेमोक्रीटस तक का दर्शन जड़-जगत् का ही दर्शन है। इसमें संसृति विज्ञान पर विशेष ध्यान दिया गया है। काल की दृष्टि से सम्पूर्ण पाश्चात्य दर्शन को पाँच युगों में विभाजित किया जा सकता है-

1. **ग्रीक यूनानी युग**- ईसा से छठी शताब्दी पूर्व से चौथी शताब्दी तक।
2. **मध्ययुग**- पांचवी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक ।
3. **आधुनिक युग**- सत्रहवीं शताब्दी से लेकर अठारहवीं शताब्दी तक।
4. **अर्वाचीन युग**- उन्नीसवीं शताब्दी।
5. **समकालीन युग**- बीसवीं शताब्दी।

दर्शन के इतिहास की यह सामान्य विशेषता है कि पहले उसमें तत्त्व-विज्ञान की प्रतिष्ठा की जाती है। तत्त्व-विज्ञान पर विचार करते-करते जब हमारे अन्दर क्लान्ति उत्पन्न हो जाती है तो तत्त्व-विज्ञान से हम संसृति-विज्ञान की ओर अग्रसर होते हैं। यह प्रवृत्ति ग्रीक दर्शन, आधुनिक दर्शन और समकालीन दर्शन, तीनों में समान रूप से पाई जाती है। प्लेटो एवं एरिस्टॉटल के दर्शन समन्वयात्मक दर्शन के ज्वलन्त उदाहरण हैं। उनमें वस्तुनिष्ठा, आत्मनिष्ठा और तत्त्वनिष्ठा, तीनों का समावेश पाया जाता है।

पांचवी शताब्दी से चौदहवीं शताब्दी तक का दर्शन-काल अन्धकार का युग कहलाता है। क्योंकि इस समय दर्शन स्वतन्त्र न होकर ईसाई धर्म, विशेषकर कैथोलिक चर्च की मान्यताओं का दास रहा। इस काल में स्वतन्त्र चिन्तन के अभाव के कारण दर्शन में कोई प्रगति नहीं हुई और बुद्धि अथवा तर्क का स्थान अन्धविश्वासों ने ले लिया। एरिजेना मध्ययुग के प्रथम प्रसिद्ध दार्शनिक हैं और विलियम ओखम अन्तिम। मध्ययुग को शास्त्रीय युग भी कहते हैं।

पन्द्रहवीं शताब्दी के मध्य से लेकर सत्रहवीं सदी के मध्य (1450-1644) तक का काल सन्धि-काल कहलाता है। मध्य युग और आधुनिक युग के सन्धि-काल का इतिहास सांस्कृतिक पुनर्जागरण और धार्मिक सुधार का इतिहास है। इस काल में धार्मिक परम्पराओं एवं उनके प्रभुत्व का क्रमिक ह्रास तथा व्यक्ति की स्वतंत्रता एवं भौतिक विज्ञान की उत्तरोत्तर उति होती है। निकोलस ऑव क्यूसा (1401-1464) से लेकर फ्रांसिस बेकन (1561-1626) तक का इतिहास सन्धि-काल का इतिहास है।

**आधुनिक दर्शन** का प्रारम्भ फ्रान्स के सुप्रसिद्ध दार्शनिक रेने देकार्त (1596-1650) से होता है। सत्रहवीं और अठारहवीं शताब्दी का दर्शन धर्म से बिल्कुल ही प्रभावित न होकर 'विज्ञान' द्वारा संचालित है। इस काल के **देकार्त**, **स्पिनोजा** और **लाइब्निज** केवल दार्शनिक ही नहीं थे, वे प्रथम श्रेणी के गणितज्ञ और वैज्ञानिक भी थे। उनके दर्शन पर उनके गणित और विज्ञान की गहरी छाप है। लॉक, बर्कले और ह्यूम ने विज्ञान की निरीक्षण एवं आगमन-पद्धति से प्रभावित होने के कारण ही दर्शन में अनुभववाद की स्थापना की। उनके दर्शन के ऊपर प्रसिद्ध वैज्ञानिक न्यूटन की प्रिन्सिपिया का प्रभाव स्पष्ट है। काण्ट का दर्शन भी विज्ञान के प्रभाव से अछूता नहीं रहा है। उन्होंने स्वयं विज्ञान पर पुस्तकें लिखी थी। काण्ट के बाद के दार्शनिकों के ऊपर, जैसे हेगल और ब्रैडले पर विकासवादी दर्शन का प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

**अर्वाचीन दर्शन** उन्नीसवीं शताब्दी का दर्शन है। यह हेगल के दर्शन के विज्ञानवाद, सर्वेश्वरवाद, बुद्धिवाद एवं प्रागनुभविक पद्धति के प्रतिक्रियास्वरूप उत्पन्न हुआ।

**समकालीन दर्शन** बीसवीं शताब्दी का दर्शन है। इस दर्शन के ऊपर विज्ञान एवं गणित की अपूर्व छाप है। समकालीन दर्शन बर्ट्रेण्ड रसेल से प्रारम्भ होता है जो स्वयं एक महान् गणितज्ञ और वैज्ञानिक थे। वे और उनके गुरु ह्याइटडेड नयी अनुभववादी क्रान्ति के जनक व प्रवर्तक माने जाते हैं।

## ग्रीक युग-

ग्रीक दर्शन का सबसे प्राचीन मत 'माइलेशियन मत' है, जिसके तीन प्रतिनिधि-थेलीज, ऐनिक्जिमेण्डर और एनेक्जिमेनीज हैं।

**थेलीज-** थेलीज पाश्चात्य दर्शन के सर्वप्रथम दार्शनिक हैं। इनकी गणना ग्रीस के 'सप्तर्षियों' में की जाती है। इन्होंने मिस्त्र का रेखा-गणित प्रणाली का ग्रीस में प्रथम बार प्रचार किया। इनका समय ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी है इन्होंने 585 ई० पूर्व में होने वाले सूर्य ग्रहण की भविष्यवाणी कर दी थी। थेलीज के अनुसार विश्व का परम तत्व 'जल' है। जल से ही सृष्टि की उत्पत्ति है, जल के ऊपर ही इसकी स्थिति है और जल में ही इसका प्रलय है। जल, बिन्दु रूप से, सबका जनक है। जल गति और परिणाम का सूचक है और उस परिणाम का आधारभूत तत्व भी है। जल तरल है, किन्तु उड़नेवाली भाप के रूप में और घन बर्फ के रूप में भी बदलता है। जल जीवन और पोषण के लिए आवश्यक है।

**ऐनिक्जिमेण्डर-** ऐनिक्जिमेण्डर के अनुसार जल या अन्य किसी भौतिक द्रव्य को परम तत्व नहीं माना जा सकता। परम तत्व अनन्त होना चाहिए। चारों भौतिक द्रव्य, पृथ्वी, जल, अग्नि और वायु, सान्त हैं। इनमें परस्पर संघर्ष है। यदि इनमें कोई द्रव्य या महाभूत अनन्त होता तो अन्य महाभूतों की सत्ता नहीं रहती। अतः परम तत्व इन चारों महाभूतों में भी और इनका भी जनक होना चाहिए। इस परम तत्व को उन्होंने केवल 'असीम' कह कर पुकारा है।

**एनेक्जिमेनीज-** ये एनेक्जिमेण्डर के शिष्य हैं। इन्होंने वायु को परम तत्व माना और उसे असीम और अनन्त बताया। वायु ही अग्नि का रूप लेती है और तरल होकर जल बन जाती है एवं जम कर पृथ्वी के रूप में परिणत हो जाती है। आत्मा भी प्राणवायु ही है। इससे गति और जीवन का संचार होता है। समस्त लोक वायु के आधार पर टिके हुए हैं।

**पाइथेगोरस-** माइलेशियन मत के बाद पाइथेगोरस मता का जन्म हुआ। इसके संस्थापक पाइथेगोरस थे। इनमें वैज्ञानिक विश्लेषण और रहस्यवादी साधना का समन्वय था। इनका समय ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी है। गणित के ये संस्थापक माने जाते हैं। रेखागणित में इनके नाम से इनका एक सिद्धान्त अभी तक प्रचलित है। इनके अनुसार सब पदार्थ संख्यामात्र है। संगीत को ये मानसिक दोष दूर करने का साधन मानते थे और दर्शन को 'सर्वोत्तम संगीत' कहते थे। जैसे संगीत में विविध स्वर एक ही तीन को ध्वनि करते हैं, वैसे ही दर्शन में भी सब सांसारिक पदार्थ, परस्पर भिन्न होते हुए भी एक ही तत्व का राग अलापते हैं। पाइथेगोरस ने 'स्वरूप' की प्रतिष्ठा की। स्वरूप अतीन्द्रिय सामान्य और विज्ञानरूप है। अभेद, समन्वय और सांमजस्य इसी कारण संभव होते हैं।

**हेरेक्लाइटस-** ये ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी के अन्त और पांचवी शताब्दी के आरम्भ में हुए। हेरेक्लाइटस के अनुसार अग्नि या तेजस्तत्व पर तत्व है। इसी से जल और पृथ्वी उत्पन्न होता है। यह तत्व ज्वलन्त और गतिशील है। अग्नि और परिणाम दोनों एक है। संसार में कुछ भी नित्य नहीं है। सब अनित्य और क्षणिक हैं। वस्तुतः कोई ऐसा पदार्थ नहीं है जो गतिशील या परिणामी हो, किन्तु गति या परिणाम ही एक मात्र तत्व है। विश्व गति है, परिणाम है, धरा है, प्रवाह है, सन्तान है।

**पार्मेनाइडीज -** इनका समय ईसा पूर्व पाँचवीं शताब्दी है। प्लेटो के अनुसार जब एथेन्स में इनका वार्तालाप सॉक्रेटीज से हुआ। पार्मेनाइडीज का दर्शन हेरेक्लाइटस के क्षणिकवाद का तीव्र खण्डन करता है। इनके अनुसार तत्व 'सत्य' है, परिणाम या गति नहीं। तत्व 'शुद्ध सत्ता' (Pure Being) है। वह एक, अद्वितीय, नित्य, अपरिणामी, अविनाशी और कूटस्थ है। गति, परिवर्तन या परिणाम केवल भ्रान्ति है। वस्तुतः गति असम्भव है।

**जीनो-** जीनो ईलिया के निवासी और पार्मेनाइडीज के शिष्य थे। उनके प्रखर तर्कों के प्रहार भयंकर होते थे। उन्होंने विरोधियों का प्रबल खण्डन करके भेद-प्रपंच और गति को भ्रान्तिमात्र सिद्ध किया। यदि 'सत्' अनेक-रूप हो तो उसे एक साथ 'सान्त और अनन्त' दोनों होना पड़ेगा जो असंगत है। यदि 'सत्' अनेक रूप हो तो उसकी सत्ता आकाश में माननी पड़ेगी और आकाश से परिच्छिन्न होने के कारण वह 'सत्' नहीं रहेगा।

**गति के विरुद्ध जीनो के तर्क ये हैं-**

गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता, क्योंकि एक स्थान से दूसरे स्थान पर जाने के पहले इस दूरी की आधी दूरी तक जाना पड़ेगा और इस आधी दूरी के पहले इसकी भी आधी दूरी तय कर लेनी पड़ेगी और इस प्रकार आधी दूरी की संभावना सदा बनी रहने के कारण गति का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। 'सान्त' समय में यह 'अनन्त' दूरी तय नहीं की जा सकती।

**सोफिस्ट सम्प्रदाय -** ईसा पूर्व पाँचवीं सदी के मध्य में ग्रीस में सन्देहवाद की धरा वेग से बही। धर्मिक अन्धविश्वास उखड़ रहे थे और सामाजिक तथा नैतिक जीवन की रूढ़ियों पर भी आँच आ रही थी। जिन लोगों ने इस विचार-स्वातन्त्र्य को लाने में सहायता दी वो 'सोफिस्ट' कहलाते हैं। ये लोग अपने समय की राजनीतिक और सामाजिक परिस्थितियों की उपज हैं।

प्रोटेगोरस प्लेटो ने अपनी एक कृति इन्हीं के नाम पर लिखी है जिससे सिद्ध होता है कि प्लेटो इनका आदर करते थे। प्रोटेगोरस का सिद्धान्त, "मानव सब पदार्थों का मानदण्ड है" (Homo Mensura) प्रसिद्ध है।

**जॉर्जियस -** दूसरे प्रसिद्ध सोफिस्ट जॉर्जियस हैं। उनके अनुसार सत्य सापेक्ष ही है, निरपेक्ष सत्य असम्भव है। उनका मत है कि

प्रथम तो कोई सत्य ही नहीं है, द्वितीय, यदि हो भी तो उसे हम नहीं जान सकते; तृतीय, यदि जान भी लें तो उसे दूसरे को समझा नहीं सकते।

### स्मरणीय बिन्दु

थेल्स ने जल को मूल तत्व माना।

एनेक्सीमेंडर ने 'असीम' को मूल तत्व माना।

पाइथागोरस ने संख्या को ब्रिव का आधार माना।

हेराक्लाइटस ने परिवर्तन को सत्य माना।

यूनानी दर्शन में प्रकृति के मूल तत्व की खोज प्रमुख थी।

### शब्दावली

| शब्द             | अर्थ                                      |
|------------------|-------------------------------------------|
| तत्त्ववाद        | मूल तत्व का सिद्धान्त                     |
| परिवर्तनवाद      | परिवर्तन को वास्तविक मानने वाला सिद्धान्त |
| असीम             | अनन्त मूल तत्व                            |
| संख्या सिद्धान्त | संख्या को वास्तविकता का आधार मानना        |
| प्रकृतिवाद       | प्रकृति आधारित दर्शन                      |

### 5 अंक के प्रश्न

1. थेल्स के अनुसार मूल तत्व क्या है?
2. एनेक्सीमेंडर के 'असीम' सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
3. पाइथागोरस के संख्या सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
4. हेराक्लाइटस के परिवर्तनवाद को समझाइए।
5. पूर्व सुकराती दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. पूर्व सुकराती दार्शनिकों के प्रमुख सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. थेल्स से हेराक्लाइटस तक यूनानी दर्शन के विकास का वर्णन कीजिए।
3. पाइथागोरस और हेराक्लाइटस के दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. पूर्व सुकराती दर्शन में प्रकृति की अवधारणा का विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. थेल्स ने किसे मूल तत्व माना? (घ) अग्नि (ख) जल (ग) वायु (घ) पृथ्वी  
उत्तर (ख)
2. 'सब कुछ परिवर्तनशील है' यह किसका सिद्धान्त है? (घ) सुकरात (ख) प्लेटो (ग) हेराक्लाइटस (घ) अरस्तू  
उत्तर (ग)
3. संख्या सिद्धान्त किस दार्शनिक से सम्बन्धित है? (घ) थेल्स (ख) पाइथागोरस (ग) प्लेटो (घ) लक्कक  
उत्तर (ख)
4. एनेक्सीमेंडर ने किसे मूल तत्व माना? (घ) असीम (ख) अग्नि (ग) वायु (घ) जल  
उत्तर (घ)
5. पूर्व सुकराती दर्शन मुख्यतः किससे सम्बन्धित था? (घ) राजनीति (ख) नैतिकता (ग) प्रकृति (घ) धर्म  
उत्तर (ग)

## इकाई- 1.2 सुकरात- दार्शनिक पद्धति, सद्गुण, ज्ञान का सिद्धान्त

### उद्देश्य-

1. सुकरात की द्वन्द्वात्मक पद्धति को समझना।
2. सद्गुण एवं ज्ञान के सम्बन्ध का अध्ययन करना।
3. नैतिक दर्शन में सुकरात के योगदान का विश्लेषण करना।

**सॉक्रेटीज** सॉक्रेटीज की आँखें बड़ी, होठ मोटे और नाक चपटी थी। वे एक लम्बा ढीला चोगा पहनते थे जो सर्दी और गर्मी दोनों में काम आता था। वे प्रायः नंगे पैर घूमते थे। वाद-विवाद में उनकी अत्यधिक रुचि थी और वे प्रायः बाजार में या मित्र-मण्डलियों में दार्शनिक चर्चा करते रहते थे। उनका जीवनद्वषि-कल्प था। उनको सर्दी-गर्मी, सुख-दुःख, भूख-प्यास आदि द्वन्द्व नहीं सताते थे।

सॉक्रेटीज के दर्शन की पद्धति “द्वन्द्वात्मक तर्क” (Dialectical Reasoning) की है। यह प्रश्नोत्तर की पद्धति है। वे वादविवाद के अत्यन्त प्रेमी थे। किन्तु यह वादविवाद शुष्क या व्यर्थ का वाद-विवाद नहीं था, यह वादविवाद तत्त्वबोध के लिये था। सॉक्रेटीज ने दर्शन को ‘विज्ञानों का विज्ञान (Science of Sciences) माना है। अन्य विज्ञान (Sciences, Hypotheses) को मानकर चलते हैं। दर्शन विकल्पों का खण्डन करके चलता है। जहाँ अन्य विज्ञान समाप्त हो जाते हैं, वहाँ दर्शन प्रारम्भ होता है क्योंकि दर्शन का लक्ष्य विशुद्ध विज्ञानस्वरूप तत्व का साक्षात्कार है। इनका प्रमुख सिद्धान्त सद्गुण सम्बन्धित है जिसमें वे कहते हैं कि ज्ञान ही धर्म या सद्गुण (Virtue) है। शिवतत्व का ज्ञान सर्वोत्तम धर्म है। अज्ञान ही अधर्म (Vice) है।

महात्मा सुकरात के पहले भी साफिस्ट लोगों ने कुछ नैतिक नियमों को बतलाया, परन्तु उनके नैतिक नियम व्यक्तिनिष्ठ या आत्मनिष्ठ हैं। उन्होंने सामान्य नैतिक नियमों को नहीं बतलाया। सर्वप्रथम महात्मा सुकरात ने सार्वभौम तथा सर्वमान्य नैतिक सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया।

उनकी नीति मीमांसा के भी दो पक्ष हैं। खण्डन पक्ष में महात्मा सुकरात साफिस्ट सिद्धान्त का निराकरण करते हैं तथा मण्डन पक्ष में वे स्व-सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। मानव को जिस कार्य से सुख प्राप्त हो वही कार्य उसके लिए नैतिक है, शुभ है। जिससे व्यक्ति को दुःख हो वह अशुभ है, अनैतिक है। अतः व्यक्तिगत सुख ही नैतिकता का मापदण्ड है। महात्मा सुकरात व्यक्तिगत सुख को नहीं वरन् सामान्य सुख को नैतिकता का मापदण्ड मानते हैं। यह आत्मगत नहीं, वरन् सर्वगत सुख है। इसे महात्मा सुकरात सद्गुण मानते हैं। यह सद्गुण ज्ञान रूप हैं। सद्गुण का सम्बन्ध आचरण से है, परन्तु आचरण ज्ञान के बिना सम्भव नहीं।

महात्मा सुकरात का नैतिक सिद्धान्त आत्मगत Subjective और विषयगत Objective दोनों माना गया है। यह आत्मगत या व्यक्तिनिष्ठ है क्योंकि व्यक्ति के बिना सद्गुण या शुभ निराश्रय है। व्यक्ति ही सद्गुणी होता है। शुभ की इच्छा करता है। अतः सद्गुण और शुभ व्यक्ति के माध्यम से ही अभिव्यक्त होते हैं। इस अर्थ में नैतिकता व्यक्तिनिष्ठ है, परन्तु सद्गुण या शुभ केवल व्यक्ति विशेष तक ही सीमित नहीं। शुभ का अपना अस्तित्व है, अपनी सत्ता है। यह सामान्य शुभ है। यह व्यक्ति का सुख नहीं वरन् सामान्य सुख है जिसे शुभ का सिद्धान्त कहा जाता है।

बुद्धि से हम सभी नियमों का ज्ञान प्राप्त करते हैं। सामान्य शुभ तो सिद्धान्त द्वय। यह बुद्धिगम्य है, भावनागम्य नहीं, परन्तु व्यक्तिगत भावनाओं से ही इसकी अभिव्यक्ति होती है। सामान्य नियम एक हैं, अनेक नहीं। भावनाएँ व्यक्तिगत होने के कारण अनेक हुआ करती हैं। नियम बौद्धिक होने के कारण एक ही होगा।

महात्मा सुकरात का ज्ञान सिद्धान्त केवल सैद्धान्तिक ही नहीं वरन् व्यावहारिक है। उनके अनुसार धर्म और ज्ञान में तादात्म्य है। ज्ञान ही धर्म तथा धर्म ही ज्ञान है। Virtue is knowledge उसके विपरीत अज्ञान ही अधर्म है। हमें सद्गुणी बनने के पूर्व सद्गुणी के ज्ञान की नितान्त आवश्यकता है। जिस व्यक्ति को पुण्य का ज्ञान हो, वह कभी पाप नहीं करेगा। पाप के दुष्परिणामों से अनभिज्ञ होने के कारण ही मनुष्य पाप करता है। इस प्रकार सद्गुण और ज्ञान में तादात्म्य है।

### नीति मीमांसा की विशेषताएँ-

(1) यदि ज्ञान ही सद्गुण है तो सद्गुणों की शिक्षा सम्भव है, क्योंकि ज्ञान को शिक्षा दी जाती है। साधारणतः हम धर्म या सद्गुणों को ज्ञान का विषय नहीं, वरन् कर्म का विषय मानते हैं। शिक्षणीय है, इसे हम न्याय वाक्यों में इस प्रकार रख सकते हैं ज्ञान ही धर्म है।

ज्ञान शिक्षणीय है।

अतः धर्म ही शिक्षणीय है।

(2) यदि ज्ञान ही धर्म है तो ज्ञान क समान धर्म एक है। जिस प्रकार विशेष सत्य एक सामान्य, सार्वभौम सत्य के विभिन्न अंग हैं।

उसी प्रकार आत्म संयम, विवेक, दूरदर्शिता, करुणा, दया आदि सभी सद्गुण या धर्म एक ही सामान्य सार्वभौम धर्म से उत्पन्न होते हैं। ज्ञान ही धर्म है।

ज्ञान एक है।

अतः धर्म भी एक है।

(3) यदि ज्ञान ही धर्म है तो ज्ञान ही सभी नैतिक कर्मों का आधार है। हम कर्म प्रसन्नता की प्राप्ति के लिए करते हैं, परन्तु प्रसन्नता तो शुभ कर्मों पर आधारित है।

प्रत्येक व्यक्ति प्रसन्न चाहता है।

प्रसन्नता शुभ कर्मों पर आधारित है।

किन्तु शुभ कर्मों के लिए शुभ का ज्ञान होना आवश्यक है। इस प्रकार ज्ञान शुभ का आधार है।

अतः ज्ञान ही धर्म है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. सुकरात ने ह्ज्ञान ही सद्गुण हैह का सिद्धान्त दिया।
2. उन्होंने प्रश्नोत्तर पद्धति का उपयोग किया।
3. नैतिकता को सार्वभौमिक माना।
4. आत्मज्ञान को सर्वोच्च महत्व दिया।
5. सुकरात पश्चिमी नैतिक दर्शन के जनक माने जाते हैं।

### शब्दावली

| शब्द                | अर्थ                           |
|---------------------|--------------------------------|
| द्वंद्वात्मक पद्धति | प्रश्नोत्तर आधारित तर्क पद्धति |
| सद्गुण              | नैतिक श्रेष्ठता                |
| आत्मज्ञान           | स्वयं का ज्ञान                 |
| नैतिकता             | आचरण सम्बन्धी सिद्धान्त        |
| सार्वभौमिक          | सब पर लागू होने वाला           |

### 5 अंक के प्रश्न

1. सुकरात की द्वंद्वात्मक पद्धति क्या है?
2. ह्ज्ञान ही सद्गुण हैह स्पष्ट कीजिए।
3. सुकरात की नैतिक विचारधारा लिखिए।
4. आत्मज्ञान का महत्व बताइए।
5. सुकरात के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. सुकरात के ज्ञान सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. सुकरात की नैतिक विचारधारा की समीक्षा कीजिए।
3. पश्चिमी दर्शन में सुकरात के योगदान का वर्णन कीजिए।
4. ह्ज्ञान ही सद्गुण है आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. ह्ज्ञान ही सद्गुण हैह किसने कहा? (घ) प्लेटो (ख) अरस्तू (ग) सुकरात (घ) लक्कक उत्तर (ग)
2. सुकरात की पद्धति कहलाती हैरू (घ) अनुभववाद (ख) द्वंद्वात्मक पद्धति (ग) भौतिकवाद (घ) यथार्थवाद उत्तर (ख)
3. सुकरात का दर्शन मुख्यतः किससे सम्बन्धित है? (घ) प्रखरति (ख) नैतिकता (ग) गणित (घ) विज्ञान उत्तर (ख)

## इकाई-1.3 प्लेटो- प्रत्यय, ज्ञानमीमांसा, आत्मा की अमरता

उद्देश्य-

1. प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त को समझना।
2. ज्ञान और मत के अन्तर का अध्ययन करना।
3. आत्मा की अमरता सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करना।

### प्लेटो ( Plato ) 428 ई० पू०-347 ई० पू०

**दार्शनिक सिद्धान्त-** ज्ञान एवं मत, प्रत्यय सिद्धान्त, ईश्वर का स्वरूप एवं स्थान, आत्मा का स्वरूप एवं इसकी अमरता के लिए प्रमाण।

प्लेटो ग्रीस के सबसे महान् और विश्व के एक महान् दार्शनिक हैं। उनकी प्रतिभा सर्वतोमुखी थी। उनकी प्रशंसा करना सूर्य को दीपक दिखाने के समान है। प्लेटो का जन्म उच्चकुलनी सामन्त परिवार में हुआ था। सॉक्रेटीज के वे पटशिष्य थे। प्लेटो ने अपनी महान् कृतियाँ सम्वादों (Dialogue) के रूप में लिखी हैं। दार्शनिक महत्व के साथ-साथ उनका साहित्यिक महत्व भी विशेष है। प्लेटो ने पचास वर्षों में अनेक सम्वादों की रचना की है। प्लेटो में ग्रीक दर्शन अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँचा है और इसलिये उनको “पूर्ण ग्रीक” (The Complete Greek) की उपाधि दी गई है।

प्रत्यक्ष को ज्ञान मानने से ज्ञान की वस्तुनिष्ठता समाप्त हो जाती है क्योंकि इसके अनुसार ज्ञान सापेक्ष होने से ज्ञान आत्मनिष्ठ हो जाता है। हम सामान्य अनुभव से जानते हैं कि ज्ञान केवल प्रत्यक्ष से नहीं मिलता वरन् स्मृति, अनुमान, तर्क, चिन्तन आदि से भी मिलता है।

प्लेटो के अनुसार ज्ञान वह है जो सभी लोगों के लिए मान्य, सर्वव्यापक और एक समान हो। प्रत्ययों का ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। प्लेटो के अनुसार ज्ञान आत्मा का स्वाभाविक गुण है। यह आत्मा में कहीं बाहर से नहीं आता वरन् यह आत्मा में पहले से ही सुषुप्त अवस्था में विद्यमान रहता है तथा इन्द्रिय संवेदन पाकर विज्ञानों के रूप में जागृत हो जाता है।

**ज्ञान के प्रकार ( Types of Knowledge )** - प्लेटो प्रज्ञानात्मक चेतना की चार अवस्थाओं के आधार पर ज्ञान की चार कोटियाँ बताते हैं, जिनमें से गणितीय ज्ञान तथा तात्त्विकज्ञान को ही वे ज्ञान की कोटि में रखते हैं जबकि शेष दो कोटियों- प्रातिभासिक ज्ञान और इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान को वे ज्ञान की श्रेणी में न रखकर कोरा-विश्वास मानते हैं।

**1. प्रातिभासिक ज्ञान ( Conjectural Knowledge )** - प्लेटो के अनुसार यह निम्नतम कोटि का ज्ञान है जिसकी विषयवस्तु, अनुकृतियाँ प्रतिबिम्ब, स्वप्न तथा विपर्यय (भ्रम) होते हैं। रेगिस्तान में जल की प्रतीति, रज्जू में सर्प की प्रतीति आदि इस ज्ञान के उदाहरण हैं।

**2. इन्द्रिय प्रत्यक्ष ज्ञान ( Sensational Knowledge )** - प्लेटो के अनुसार चूँकि इस ज्ञान के सम्बन्ध में भी भ्रम की सम्भावना सदैव बनी रहती है। इस कारण इस कोटि के ज्ञान को भी यथार्थ नहीं कहा जा सकता वरन् यह भी सम्भाव्य ही होता है। और इसी कारण प्लेटो इसे भी विश्वास की श्रेणी में रखते हैं।

**3. बौद्धिक ज्ञान ( Rational Knowledge )** - इस ज्ञान का सम्बन्ध विशेषतया गणितीय प्रत्ययों से होता है। इसी कारण प्लेटो इसे गणितीय ज्ञान भी कहते हैं। चूँकि यह ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है, इसलिए प्लेटो इसे विश्वास की कोटि में न रखकर ज्ञान की कोटि में रखते हैं।

**4. प्रमा अथवा विवेकयुक्त बोध ( Rational Insight )** - यह ज्ञान (प्रमा) सर्वोच्च ज्ञान होता है क्योंकि इसके विषय समष्टि रूप प्रत्यय होते हैं। चूँकि प्रत्यय तात्त्विक हैं अतः प्लेटो इस ज्ञान को तात्त्विक ज्ञान भी कहते हैं।

**ज्ञान और मत में भेद ( Distinction between Knowledge and Opinion )** - कुछ दार्शनिक मत (वचपदपद) को ज्ञान की श्रेणी में रखते हैं परन्तु प्लेटो मत को ज्ञान स्वीकार न कर इसे केवल विश्वास मात्र मानते हैं। उनके अनुसार ज्ञान बौद्धिक अथवा अन्तःप्रज्ञात्मक होता है। इस अर्थ में केवल प्रत्ययों का ज्ञान ही ज्ञान हो सकता है जबकि मत बौद्धिक नहीं होता क्योंकि यह आस्था या विश्वास पर आधारित होता है। ज्ञान अपरिवर्तनशील होता है जबकि मत में परिवर्तनशीलता पायी जाती है। किसी व्यक्ति का एक विषय के प्रति वर्तमान में जो मत है वह हो सकता है भविष्य में बदल जाए। प्लेटो के अनुसार ज्ञान सर्वमान्य तथा सर्वव्यापक होता है और यह तर्कबुद्धि द्वारा प्रमाणित होता है जबकि मत भाव, संवेग तथा लोक परम्परा पर आधारित होता है जिसके कारण यह व्यक्तिनिष्ठ भी हो सकता है जबकि ज्ञान वही है जो वस्तुनिष्ठ हो तथा सर्वमान्य हो।

**ज्ञान की प्रामाणिकता-** प्लेटो के अनुसार प्रत्ययों का ज्ञान ही वास्तविक एवं सर्वोच्च ज्ञान है। यही तात्त्विक ज्ञान है।



**सम्प्रत्ययवाद-** सम्प्रत्ययवाद के अनुसार सम्प्रत्यय जाति भावना है जो किसी एक प्रकार की विशिष्ट वस्तुओं में देखी जाती है।

**जैसे-** गोत्व सभी विशिष्ट काली, उजली, चित्तकवरी गायों में पाया जाता है। इसके अनुसार सदृश वस्तुओं में पाये जाने वाले सामान्य गुण को सम्प्रत्यय कहा जाता है। सम्प्रत्यय विशिष्ट वस्तुओं के अतिरिक्त अन्य कोई अपनी सत्ता नहीं रखते हैं। हाँ सम्प्रत्यय मानव मन की उपज है, पर विशिष्ट वस्तुएँ इसका आश्रय होती हैं।

**नाममात्रवाद-** नामात्रवाद के अनुसार सम्प्रत्यय नाम है, या शब्द मात्र है जो किसी एक प्रकार की वस्तुओं की ओर निर्देश करता है। इसके अनुसार केवल विशिष्ट वस्तुओं की ही सत्ता है और संप्रत्यय की अपनी कोई सत्ता नहीं है।

**प्रत्ययसत्तावाद-** प्रत्यय सत्यवाद का अर्थ है, वही ब्रह्मवाद जिसमें आदर्श को स्थान दिया जाता है। पर प्लेटो तथा हेगेल के दर्शन में Idealism का अर्थ है, वह वाद जिसमें प्रत्यय की अपनी निजी और स्वतन्त्र सत्ता स्वीकारी जाती है।

सुकरात ने यह अवश्य कहा कि ज्ञान संप्रत्ययों के ही आधार सच्चा ज्ञान हो सकता है क्योंकि सम्प्रत्यय सर्वव्यापी और सर्वमान्य सामान्य होता है। जब सुकरात के अनुसार संप्रत्यय क्या वस्तुविशेषों में पाये जाते हैं? सुकरात के अनुसार वस्तुविशेषों और सर्वव्यापी सामान्यों से विरोध है। अतः वस्तुविशेषों में सम्प्रत्यय नहीं होते हैं। तब सम्प्रत्यय कहाँ से आए? सुकरात कहेंगे कि सभी मनुष्यों में सुषुप्तावस्था में कैसे और कहाँ से आए? उनके अनुसार दो बातें स्पष्ट हैं-

(i) सामान्य मानव मन में सुषुप्तावस्था में रहते हैं।

(ii) फिर वस्तु विशेष का काम यही है कि सुषुप्तावस्था में पड़े सामान्यों को जागृत करें। इन दोनों बातों को स्पष्ट करने के लिए प्लेटो ने प्रत्ययवाद की स्थापना की है-

प्लेटो ने ऐसी स्थिति में प्रत्ययों की अपनी निजी-स्वतन्त्रता मानी है। इसलिए प्लेटो के प्रत्ययवाद को प्रत्ययात्मक वास्तववाद (Realism of Ideas) भी कहा जात है।

प्लेटो के दर्शन में प्रत्ययों का स्थान उनके चिन्तन का केन्द्र है, पर इसकी व्याख्या करने के लिए प्लेटो की ज्ञान मीमांसा के दो भागों में बाँटा जाता है, अर्थात् नकारात्मक और स्वीकारात्मक पक्ष, नकारात्मक पक्ष में बताया जाता है कि ज्ञान प्रत्यक्ष नहीं है और स्वीकारात्मक पक्ष को प्रत्यय सिद्धान्त Theory of id में कहा जाता है।

**प्रत्ययसिद्धान्त-** प्लेटो का यह सिद्धान्त पारमैनिडीज के नित्यवाद से प्रभावित है जिसके अनुसार नित्यता अथवा एकता ही एकमात्र सत्य है। दृश्य जगत् में परिवर्तनशीलता, परिणाम, गति तथा अनित्यता के दर्शन होते हैं और इस परिवर्तनशीलता तथा अनित्यता आदि की व्याख्या पारमैनिडीज के मत के द्वारा सम्भव नहीं थी। इसलिए उन्होंने हेरेक्लाइटस के परिणामवाद या परिवर्तनवाद सिद्धान्त को स्वीकार किया तथा उसके आधार पर दृश्य जगत् की व्याख्या का प्रयास किया। अपने इस सिद्धान्त को परिपूर्ण बनाने हेतु हेराक्लाइटस तथा पारमैनिडीज के एकांगी सिद्धान्त का समन्वय कर अपने प्रत्यय सिद्धान्त की स्थापना की। इस प्रकार दृश्य जगत् की वस्तुओं का ज्ञान व्यक्ति सापेक्ष होने के कारण यथार्थ अथवा वास्तविक नहीं हो सकता जबकि प्लेटो के अनुसार ज्ञान वही है जो नित्य, निरपेक्ष, सर्वमान्य, सर्वव्यापक तथा निर्भ्रान्त हो। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय पूर्ण सत्, नित्य, शाश्वत, सनातन, अपरिणामी, ज्ञेय रूप तथा जगत् का स्वरूप कारण हैं।

प्लेटो का प्रत्यय सिद्धान्त सुकरात के संप्रत्यय सिद्धान्त का ही विकसित रूप है, प्लेटो के मत को प्रत्ययों का वास्तववाद कहा जाता है। यहाँ प्रत्यय केवल सम्प्रत्यय नहीं है, पर ये आदर्श हैं। जिस प्रकार से विशिष्ट गाय, घोड़े इत्यादि को मानसिक नहीं माना जाता है, पर कहा जाता है कि ये विशिष्ट पशु एवं वस्तुओं की मानव मन से परे उनकी स्वतन्त्र सत्ता प्लेटो ने स्वीकारी है। इसलिये प्लेटो के अनुसार प्रत्ययों की स्वतन्त्र निजी सत्ता है। चूँकि प्रत्यय इन्द्रियग्राह्य नहीं होते और न दिक्-काल में होते हैं। इसलिये इन्हें वास्तविक नहीं कहा जा सकता।

अद्वैत वेदान्त की भाषा में वास्तविक सत्ता परम् सत् नहीं है। वह माया है। उसकी सत्ता व्यावहारिक है, पर इसके विपरीत पारलौकिक ब्रह्म ही परम सत् है। प्लेटो का प्रत्ययवाद भी बहुत कुछ अद्वैत वेदान्त के समान ही है।

**सम्प्रत्यय और प्रत्यय** - सुकरात के अनुसार वस्तुविशेषों को प्रत्यक्ष करने के बाद ही उनका सम्प्रत्यय प्राप्त किया जाता है। इसके विपरीत प्लेटो का कहना है कि सामान्य प्रत्यय का ज्ञान वस्तु विशेषों के प्रत्यक्ष करने के पूर्व ही हम में होता है, और तब उनके आधार पर उन्हें मानदंड समझकर हम वस्तुओं को समझ पाते हैं। प्लेटो का प्रत्यय सुकराती सम्प्रत्यय नहीं है और प्रत्ययों का सच्चा ज्ञान पूर्व जन्म में हुई अनुभूतियों के अनुस्मरण मात्र से होता है। इसलिये अब प्रत्ययों के लक्षणों पर ध्यान देना चाहिए।

**प्रत्ययों का अनुतंत्र-**

प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त में प्रत्यय अनेक हैं। जितने जाति सम्प्रत्यय हैं, उतने ही प्रत्यय भी हैं। प्लेटो के अनुसार प्रत्यय अनेक अवश्य है पर उनमें सोपानक्रमिक व्यवस्था होती है। इस प्रकार की व्यवस्था को पिरैमिडी कहा जाता है। प्रत्येक पिरैमिडी व्यवस्था की आधारभूमि में अनेक निम्नतर वस्तुएँ रहती हैं। और जैसे-जैसे निम्नतर से उच्चतर वस्तुओं की ओर प्रगति होती जाती है, वैसे-वैसे अधिक अमूर्त प्रत्यय देखने में आते हैं, और अन्त में चोटी पर केवल सर्वव्यापक अति अमूर्त प्रत्यय एक ही रह जाता

है। प्लेटो की पिरैमिडी व्यवस्था में शुभ का प्रत्यय चोटी पर रहता है।

प्लेटो को सोपानक्रमिक व्यवस्था का आभास संभवतः प्रत्ययों के वर्गीकरण की प्रक्रिया से प्राप्त हुआ होगा। वर्गीकरण की प्रक्रिया में नीचे से ऊपर प्रगति की जाती है, अर्थात् विशेष से सामान्य की ओर और सामान्यता की अमूर्तता के आधार पर कम सामान्य से अधिक और अन्त में अधिकतम सामान्य की ओर प्रगति की जाती है।

शुभ का प्रत्यय विश्व की सभी वस्तुओं, मानव विचार में अन्तर्निहित सभी सम्प्रत्ययों और प्रत्ययों की अन्तर्वर्ती शक्ति है। अतः सामान्यता की दृष्टि से शुभ का प्रत्यय सभी प्रत्यक्षों और प्रत्ययों से अतीतज है पर संचालन की दृष्टि से शुभ का प्रत्यय सभी प्रत्यक्षों और प्रत्ययों में उनकी अन्तर्वर्ती अनुप्रमाणित करने वाली शक्ति है।

प्लेटो का दर्शन केवल ज्ञानपिपासा को शान्त नहीं करता है। इनका मुख्य उद्देश्य है कि मानव अपनी चरम गति को प्राप्त करे, जिसमें मानव देवत्व को प्राप्त कर अमर हो जाता है।

### शुभ प्रत्यय का स्वरूप-

सुकरात ने शुभ सम्प्रत्यय के द्वारा सभी सदगुणों को व्यवस्थित किया था। इसी प्रकार प्लेटो भी शुभ प्रत्यय के आधार पर सभी प्रत्ययों को क्रमबद्ध करते हैं।

शुभ प्रत्यय के द्वारा ज्ञान और सत्यता को प्राप्त किया जाता है, पर याद रखना चाहिये कि शुभ प्रत्यय ज्ञान और सत्यता से उच्चतर भी है। फिर शुभ का प्रत्यय न केवल प्रत्ययों का सारतत्व होता है, परन्तु वह उनकी शक्तियों और सारतत्वों की अपेक्षा कहीं अधिक बढ़कर होता है।

प्लेटो ने शुभा के प्रत्यय को विश्व और प्रत्ययों का कारण कहा है पर यह कारण अधिकतर अरस्तू के द्वारा प्रतिपादित प्रयोजन कारण के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। शुभ का प्रत्यय इस अर्थ में कारण है कि सभी वस्तुएँ उसी से निकलती हैं और अन्तिम रूप में फिर उसी ओर प्रगति करती हैं।

### ईश्वर विचार

**प्लेटो के दर्शन में ईश्वर का स्वरूप एवं स्थान-** प्लेटो के अनुसार ईश्वर एक नित्य सत्ता, परन्तु वह विज्ञान रूप अथवा प्रत्यय रूप न होकर आत्म रूप हैं। वह दिक्कालातीत है तथा शिव एवं सत्य रूप है। उसे सभी विज्ञानों का पूर्ण ज्ञान है। वह पूर्ण, निर्विकार, निर्विशेष और अपरिवर्तनीय है। वह विज्ञानों से स्वतन्त्र तथा स्वप्रतिष्ठित है। परन्तु प्लेटो के अनुसार ईश्वर इस इन्द्रिय जगत् का सृष्टा नहीं है वरन् वह केवल विश्वकर्मा हैं। इसी कारण वह जगत् का उपादान कारण न होकर केवल निमित्त कारण है। प्लेटो का ईश्वर सम्पूर्णतया शुभ और नैतिक है। प्लेटो ने ईश्वर को सृष्टिकर्ता माना है, कहा गया है कि गर्त में से तथा चार अग्नि, जल, पृथ्वी, वायु के आधार पर ईश्वर ने इस विश्व की व्यवस्था की है, विश्व की रचना के साथ उसने काल की भी रचना की है। इस रूप में ईश्वर को शिल्पकार कहा जा सकता है, क्योंकि पूर्व स्थापित पदार्थ के आधार पर ईश्वर ने विश्व की व्यवस्था की है।

### ईश्वर और शुभ प्रत्यय

प्लेटो को धर्म के संरक्षण हेतु ईश्वर की अवधारणा को स्थान देना पड़ा था। वास्तव में न्यायसंगत रीति से ईश्वर का कोई स्थान उनके प्रत्यय सिद्धान्त में नहीं है। कोई भी प्रत्यय ऐसा नहीं है जो गति उत्पन्न करे। इसलिए ईश्वर प्रत्यय यदि हो तो भी उसे सृष्टिकर्ता अथवा रचयिता नहीं कहा जा सकता है। फिर प्रत्यय परिभाषा तुल्य है, तथा वैज्ञानिक नियम। इनमें व्यक्तित्व, इच्छा, संकल्प तथा अभिप्रेरणाओं का अभाव ही कहा जायेगा। लेकिन ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है जो प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त के प्रतिकूल है।

न्यायसंगत रूप में यदि प्रत्यय सिद्धान्त सही हो तो ईश्वरवाद नहीं स्वीकारा जा सकता है और यदि ईश्वरवाद को उचित माना जाये तो प्रत्यय सिद्धान्त, सही नहीं होता है। संभव है कि प्रत्यय सिद्धान्त और ईश्वरवाद के बीच न्यायसंगत संबद्धता न हो, पर दोनों का लक्ष्य एक ही था कि मानव सदगुणी हो, इसी जीवन में अमरता का पान करे, और देव तुल्य भव्य आत्माएँ हो जाये।

**आत्मा सम्बन्ध विचार-** उद्देश्य अथवा प्रयोजन किसी चेतन सत्ता का ही धर्म हो सकता है, किसी अचेतन सत्ता का नहीं इसी आधार पर प्लेटो आत्मा को स्वीकार करते हैं। प्लेटो आत्मा को दो प्रकार का माना है- 1. विश्वात्मा 2. जीवात्मा या मानवात्मा। प्लेटो के अनुसार जीवात्मा के तीन पक्ष हैं- 1. बुद्धि जिसका धर्म है ज्ञान, 2. संकल्प जिसका धर्म है साहस 3. जिसका धर्म है क्षुधा अथवा क्रिया। बौद्धिक पक्ष ही जीवात्मा का श्रेष्ठ पक्ष है। प्लेटो के अनुसार व्यक्ति जो कर्म करता है, उसका फल उसको अवश्य मिलता है लेकिन यह एक जीवन में सम्भव नहीं होता। अतः पुनर्जन्म की आवश्यकता मानी गयी है, इसी संदर्भ में आत्मा अमर है। प्लेटो के दर्शन में मानव आत्मा के संदर्भ में दो उल्लेखनीय बातें हैं- अर्थात् आत्मा का जन्म जन्मान्तरों में आवागमन का सिद्धान्त और जन्म के पूर्व प्रत्यय ज्ञान का अनुस्मरण का सिद्धान्त।

प्लेटो ने आत्मा की अमरता के पक्ष में कई प्रमाणों को प्रस्तुत किया है-

(1) आत्मा ही एक प्रकार का अस्तित्व है जो स्वतः संचालित होता है और अन्य सभी वस्तुओं को संचालित करता है। यह आत्म संचालित अस्तित्व आत्मा है। चूँकि गति का अन्त कभी नहीं होता, इसलिए स्वतः संचालित आत्मा अमर कही जा सकती है।

(i) जहाँ दो अवस्थाएँ सापेक्ष हो तो एक के रहने पर दूसरी की भी अपेक्षा की जाती है। प्लेटो के कहने का अभिप्राय है कि सापेक्ष प्रत्यय बिना एक दूसरे के सम्भव नहीं है। जन्म-मरण सापेक्ष है। अतः आत्मा का जन्म-मरण का चक्कर चलता रहता है। इससे स्पष्ट हो जाता है कि आत्मा अमर है।

(ii) प्लेटो का कहना है कि जो वस्तु मिश्रित है, केवल उसी वस्तु के टुकड़ों में विभाजन हो सकता है और इस विभाजन को उस वस्तु का विनाश कहा जा सकता है, परन्तु आत्मा सरल और निरवयव है। इसलिए आत्मा अमर है। क्यों समझा जाये कि आत्मा सरल और निरवयव है और आत्मा प्रत्ययों से उच्चतर है।

(iii) प्लेटो के अनुसार सभी प्रत्ययों का ज्ञान अनुस्मरण मात्र है। प्लेटो के अनुसार इसके पूर्व ही मानव ने इस भूतल पर जन्म लिया उसे प्रत्ययों का पूरा ज्ञान था और ज बवह देहधरी होकर जन्म लेता है तब प्रत्यक्षों के द्वारा उसे अपने पूर्व जन्म के प्रत्ययों के ज्ञान का संकेत मिलता है और उसे इस ज्ञान का अनुस्मरण मात्र होता है।

सत्य यही है कि सभी ज्ञान मानव के अन्दर सर्वदा विद्यमान रहते हैं। अनुभव अथवा प्रत्यक्षों के द्वारा हमें केवल इसका अनुस्मरण होता है। इस अनुस्मरण की वास्तविकता के आधार पर कहा जा सकता है कि आत्मा अमर है।

प्लेटो का विज्ञानवाद उनके सत्य के **यथार्थवाद** या **संवादिता सिद्धान्त** पर आधारित है। यथार्थवाद का अर्थ यह है कि सत्य हमारे मानसिक प्रत्ययों और बाह्य तथ्यों के सामंजस्य का प्रतिल है। प्लेटो इसे ही माध्यम बनाकर विज्ञानवाद का प्रतिपादन करते हैं- वास्तविक ज्ञान प्रत्ययात्मक होता है अर्थात् ज्ञान यथार्थ तभी होगा जब प्रत्यय होगा, पर प्रत्यय यथार्थ तभी समझा जाएगा जब इसकी संगति बाह्य और वस्तुनिष्ठ विज्ञानों के साथ हो, इस प्रकार प्रत्ययों की यथार्थता के लिए बाह्य विज्ञानों का होना अनिवार्य है, अतः विज्ञान सत्य है।

संवादिता सिद्धान्त का तात्पर्य है कि सत्य (ज्ञान मानसिक प्रत्ययों और बाह्य तथ्यों के सामंजस्य अथवा सादृश्य का प्रतिफल होता है। उदाहरणार्थ- यदि हमारे मन में 'झील' का प्रत्यय है तो यह प्रत्यय वास्तविक तभी समझा जाएगा, जबकि हमारे स्वतन्त्र जगत् में ऐसा कोई पदार्थ नहीं है तो हमारा प्रत्यय असत्य अथवा अयथार्थ समझा जाएगा। यथार्थ बिम्ब और प्रतिबिम्ब की परस्पर संगति का परिणाम होता है। यही संवादिता सिद्धान्त है।

प्लेटो के अनुसार इन्द्रिय जगत् और प्रत्यय जगत् में अंश और प्रतिबिम्ब का सम्बन्ध नहीं है। अंश मानने पर यह मानना पड़ेगा कि वह सत् में सहभागी है। ऐसा मानने पर व्यवहार और परमार्थ का भेद मिट जाता है तथा विज्ञान जगत् की अनिवार्य एकता भी भंग होती है।

दूसरी ओर 'प्रतिबिम्बवाद' को मानने पर व्यावहारिक जगत् पूर्णतया असत् और निरर्थक बन जाता है तथा अनावस्था दोष आ जाता है। अतः प्लेटो इन दोनों सिद्धान्तों को न मानते हुए यह मत प्रतिपादित करते हैं कि इन्द्रिय जगत् की वस्तुएँ विज्ञानों के अनुकरण मात्र है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. प्लेटो ने प्रत्ययों को वास्तविक माना।
2. ज्ञान को सार्वभौमिक एवं शश्वत बताया।
3. आत्मा को अमर माना।
4. इन्द्रिय ज्ञान को निम्न स्तर का ज्ञान कहा।
5. 'शुभ' का प्रत्यय सर्वोच्च माना गया।

### शब्दावली

| शब्द         | अर्थ                   |
|--------------|------------------------|
| प्रत्यय      | शश्वत आदर्श रूप        |
| ज्ञानमीमांसा | ज्ञान का अध्ययन        |
| अमरता        | मृत्यु से परे अस्तित्व |
| मत           | व्यक्तिगत बिवास        |
| शुभ          | सर्वोच्च आदर्श         |

### 5 अंक के प्रश्न

1. प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
2. ज्ञान और मत में अन्तर बताइए।

3. प्लेटो के अनुसार आत्मा क्या है?
4. प्लेटो के ज्ञान के प्रकार लिखिए।
5. 'शुभ' के प्रत्यय का महत्व बताइए।

#### 15 अंक के प्रश्न

1. प्लेटो के प्रत्यय सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. प्लेटो की ज्ञानमीमांसा का विश्लेषण कीजिए।
3. प्लेटो के आत्मा सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कीजिए।
4. प्लेटो के दर्शन में ज्ञान की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

#### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. प्रत्यय सिद्धान्त किसका है? (घ) सुकरात (ख) प्लेटो (ग) अरस्तू (घ) लक्कक  
उत्तर (ख)
2. प्लेटो ने आत्मा को क्या माना? (घ) भ्रवर (ख) भौतिक (ग) अमर (घ) क्षणिक  
उत्तर (ग)
3. प्लेटो के अनुसार सर्वोच्च प्रत्यय कौन-सा है? (घ) सत्य (ख) सौन्दर्य (ग) शुभ (घ) न्याय  
उत्तर (ग)

## इकाई-1.4 अरस्तू - ग्रीक दार्शनिक 384-322 ई. पू.

### उद्देश्य-

1. अरस्तू के द्रव्य एवं स्वरूप सिद्धान्त का अध्ययन करना।
2. कारणता के सिद्धान्त को समझना।
3. अरस्तू के यथार्थवाद का विश्लेषण करना।

एरिस्टॉटल का जन्म थ्रेस के स्टेगिरा नामक नगर में हुआ था। उनके पिता मेसीडोन-नरेश के राजवैद्य थे। 17 वर्ष की आयु में एरिस्टॉटल विद्याध्ययन के लिए एथेन्स स्थित प्लेटो की 'एकेडमी' में भर्ती हुए और बीस वर्ष तक, प्लेटो का देहान्त होने तक, वे अपने गुरु प्लेटो के साक्षात् सम्पर्क में रहे। प्लेटो के बाद दार्शनिक महत्ता में एरिस्टॉटल का ही नाम आता है। उन्होंने दर्शन, तर्कशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिक-विज्ञान, प्राणि-विज्ञान, आचार-शास्त्र, राजनीति और साहित्य पर महत्वपूर्ण विचार प्रकट किये हैं। अरस्तू की कारणता की अवधारणा व्यापक एवं तत्त्व मीमांसक है। अरस्तू ने चार कारणों का उल्लेख किया है- उपादान, निमित्त आकारिक एवं प्रयोजन कारण।

**उदाहरणार्थ-** कढ़ई किसी न किसी प्रकार की लकड़ी से कुर्सी बनाता है। लकड़ी को उत्पादन कारण कहा जा सकता है। फिर कढ़ई आरा, छैनी, बटाली इत्यादि औजार के द्वारा लकड़ी को काँट-छाँट कर लकड़ी को परिवर्तित कर देता है, इसे निमित्त कारण कहा जाता है। निमित्त कारण परिवर्तन का मुख्य आधार होता है। इसका सम्बन्ध शक्ति अथवा ऊर्जा के साथ रहता है। आकारिक कारण वस्तु का सार होता है जो उस वस्तु की परिभाषा के द्वारा व्यक्त किया जाता है, पर वस्तु के सारतत्त्व अथवा उसकी परिभाषा के प्लेटो ने प्रत्यय कहा है। अतः आकारिक कारण वास्तव में प्लेटो द्वारा निर्दिष्ट प्रत्यय ही है। अन्त में प्रयोजन कारण है जिसके लिये कुर्सी बनाई जाती है। प्रयोजन कारण वह परमलक्ष्य है जिसकी ओर कढ़ई की सभी प्रक्रियाएँ संचालित होती हैं।

**कारणता सिद्धान्त-** अरस्तू के अनुसार कारण चार प्रकार के कारण हैं।

1. **उपादान कारण-** यह वह द्रव्य है, जिसमें वस्तु का निर्माण होता है।
2. **निमित्त कारण-** इसके कारण वस्तु में परिवर्तन अथवा परिणाम सम्भव होता है।
3. **स्वरूप कारण-** यह वस्तु का सार रूप है जो मूर्त रूप में अभिव्यक्त होता है,
4. **लक्ष्य या प्रयोजन कारण-** यह वह कारण है जिसकी सिद्धि के लिए वस्तु का निर्माण किया जाता है।

अरस्तू मूलरूप से दो ही कारण मानता है- उपादान एवं निमित्त कारण। शेष दो कारण निमित्त कारण के अर्न्ततः स्वीकार कर लेता है। इस प्रकार उसके दर्शन में एक द्रव्य है तथा दूसरा स्वरूप अथवा आकार।

### मैटर और फॉर्म

**द्रव्य सम्बन्धी विचार-** द्रव्य वे हैं जो अभिधन के केवल कर्तृपद या उद्देश्य ही हो सकते हैं, वे न तो किसी उद्देश्य के विधेय ही हो सकते हैं तथा न ही किसी दूसरे उद्देश्य पर आश्रित हो सकते हैं। इस परिभाषा के आधार पर कहा जा सकता है कि अरस्तू के अनुसार द्रव्य वह है जो अपना स्वतन्त्र अस्तित्व रखता है तथा जो अपने अस्तित्व के लिए किसी अन्य वस्तु की अपेक्षा नहीं रखता है। अरस्तू के अनुसार के अनुसार विशुद्ध सामान्य और विशुद्ध विशेष अमूर्त कल्पनाएँ हैं, वास्तविक सत्ताएँ नहीं। वास्तविक सत्ता 'सामान्य और विशेष दोनों का यौगिक द्रव्य है। अरस्तू के अनुसार व्यक्ति ही एक मात्र सत् है।

**द्रव्य एवं आकार-** अरस्तू के अनुसार द्रव्य केवल भौतिक द्रव्य नहीं है, भावनाएँ, संकल्प इत्यादि अभौतिक तत्त्वों का भी समावेश होता है, यह गति एवं परिवर्तन का आधार है। इसे अरस्तू सम्भाव्यता भी कहते हैं। अरस्तू के अनुसार आकार अथवा स्वरूप वस्तु का अन्तिम लक्ष्य होता है। स्वरूप ही द्रव्य को निश्चिता, विशेषता तथा गुण प्रदान करता है। इसे वास्तविकता या यथार्थता भी कहा गया है। अरस्तू के अनुसार द्रव्य या संभाव्य तथा आकार या वास्तविकता सापेक्ष पद हैं। द्रव्य अपनी आकार को ग्रहण करता है। यही विकास का मानदण्ड है।

अरस्तू ने उपादान, निमित्त आकारिक एवं प्रयोजन कारण को उत्पादन और प्रयोजन कारण में रूपान्तरित कर दिया है। सर्वप्रथम देखा जाये तो आकारिक और प्रयोजन कारण वास्तव में दोनों एक ही हैं। आकारिक किसी भी वस्तु का सार उसका समप्रत्यय और प्रत्यय होता है, जिसे प्रयोजन कारण कहा जाता है। वह वास्तव में प्रत्यय को लक्ष्य रूप में साकार किया जाता है।

फिर निमित्त कारण का सम्बन्ध बनना, बनाना, होना (Becoming) के साथ होता है। वास्तव में निमित्त, आकारिक और प्रयोजन कारण तीनों एक ही हुए और इस एक को अरस्तू ने फॉर्म कहा है। अब उत्पादन को फॉर्म में रूपान्तरित नहीं किया जा सका है। इसलिये अरस्तू विश्व के परम सत् को 'मैटर' और 'फॉर्म' के द्वारा स्पष्ट करते हैं, अर्थात् विश्व की अनेकता, वस्तुओं की गतिशीलता और उनमें पिरैमिडी व्यवस्था।

लोहा, लकड़ी मिट्टी इत्यादि में भी अपने गुण हैं। गुण तो फोर्म न हो? हाँ, अरस्तू के विश्व की पिरैमिडी व्यवस्था में तल पर फोर्म विहीन मैटर होता है और चोटी पर मैटर विहीन फोर्म रहता है। पर फोर्म विहीन मैटर ही यथार्थ नहीं होता है। यथार्थ से समझा जाता है इन्द्रियानुभव हो जो दिक् काल में इन्द्रियों के द्वारा जाना जाये इसलिए मैटर जो फोर्म विहीन रूप में समझा जाये तो उसका कोई अस्तित्व ही नहीं है। पर सभी वास्तविक अथवा यथार्थ वस्तुओं में मैटर और फोर्म का सम्मिश्रण रहता है। मैटर और फोर्म वास्तव में सापेक्ष है।

### संभाव्यता और वास्तविकता

मैटर सभी गुणों से रिक्त है, पर शून्य नहीं है। चूँकि मैटर में कोई रूप-रंग स्वाद आकार नहीं है, इसलिये इसमें किसी भी रूप और आकार को आरोपित किया जा सकता है। अतः वास्तविक वस्तुओं को फोर्म मंडित मैटर कहा जा सकता है। चूँकि फोर्मरहित मैटर में किसी भी फोर्म को ग्रहण करने की संभावना अथवा क्षमता रहती है इसलिये अरस्तू ने मैटर को संभाव्यता कहा है।

पुनः जब किसी एक निश्चित रूप में इस संभाव्यता को वास्तविक वस्तु का रूप फोर्म के द्वारा साँचे में ढाल दिया जाता है तब एक प्रकार की संभाव्यता साकार हो जाती है। अतः फोर्म संभाव्यता को साकार करता है। इसलिये फोर्म संभवन की व्याख्या करता है कि किस प्रकार एक वस्तु में अपना नियमित परिवर्तन होता है।

संभाव्यता से साकारीकरण का संभवन नेम के द्वारा स्पष्ट किया गया है, जिसमें संभवन होता है वह है मैटर और जो संभवित होकर वास्तविक रूप ले लेता है वह है - व्यष्टि अथवा व्यष्टिपूर्ण वस्तु।

गुणों से विहीन मैटर शून्यवत् होकर असत् समझा जा सकता है और असत् से वास्तविक जगत् की व्याख्या नहीं हो सकती है, पर संभाव्य तो किसी भी रूप में वास्तविक हो सकता है। यही कारण है कि अरस्तू ने मैटर के स्थान पर संभाव्यता की अवधारणा को प्रयुक्त किया है। मैटर संभाव्यता है, जिसमें अनेक वस्तुओं में वास्तविक होने की शक्यता अथवा क्षमता रहती है और फोर्म वास्तवीकरण का सिद्धान्त होता है। फोर्म संभाव्यता को किसी न किसी वस्तु के रूप में संभाव्यता को साकार करता है। साकार संभाव्यता ही वास्तविक वस्तु विशेष कहलाता है। वास्तवीकरण का सिद्धान्त विश्व में परिवर्तन गति और विकास का आधार होता है।

**ईश्वर सम्बन्धी अवधारणा-** अरस्तू के अनुसार संसार की जितनी भी वस्तुयें हैं वे शुद्ध आकार की प्राप्ति की ओर अग्रसर हैं। इस गति में आकार की मात्रा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती हैं। और अन्त में जो शुद्ध आकार प्राप्त होता है वही साध्य रूप में ईश्वर है। इस शुद्ध आकार को ही ईश्वर कहा गया है। ईश्वर विकास की पूर्ण सिद्धता है। ईश्वर विशुद्ध स्वरूप अथवा आकार है, इसलिए इसे आकारों का आकार अर्थात् उच्चतम आकार कहा गया है। इसका विचार किसी वस्तु का विचार नहीं होता अतः यह सिद्ध विचारों का विचार है।

मैटर और फोर्म के योग से विश्व की सभी वस्तुएँ रची हुई हैं। इन वस्तुओं में नीची और ऊँची अवस्थाओं का भेद दिखाई देता है जिसे सोपान क्रमिक व्यवस्था कहा जाता है। नीच ऊँच की क्या कसौटी है? जिस वस्तु में अधिक मैटर, संभाव्यता हो और फोर्म की मात्रा कम हो, उसे निम्न श्रेणी में रखा जायेगा। इसकी तुलना में जिस वस्तु में कम मैटर और अधिक फोर्म अथवा वास्तविकता की मात्रा हो, उसे अपेक्षाकृत उच्चतर श्रेणी में रखा जाएगा। इस वास्तविकता और संभाव्यता की दृष्टि से विश्व की सभी वस्तुओं को एक पिरैमिडी अनुक्रम में देखा जा सकता है।

**सिद्धान्तः** उच्चतम चोटी में मैटरविहीन फोर्म रह जाता है और निम्नतल में फोर्मविहीन मैटर रह जाता है। मैटर विहीन उच्चतम फोर्म को अरस्तू ने ईश्वर की संज्ञा दी है। अरस्तू की सोपानाक्रमिक व्यवस्था को विकासक्रम की संज्ञा दी गई है। अरस्तू अपने विकासक्रम को प्रयोजन कारण से प्रभावित होकर प्रयोजनात्मक मानते हैं।

जिसमें जितनी अधिक फोर्म की मात्रा होगी और उसी अनुपात में जितनी मात्रा मैटर की कम होगी, उसे अधिक सत् कहा जायेगा। इसलिए उच्चतम चोटी में केवल फोर्म ही रहेगा और मैटर की सभी सम्भाव्यता साकार मानी जायेगी। अतः यदि इस उच्चतम चोटी को ईश्वर कहा जाये तो इसमें कुछ भी ऐसी संभाव्यता नहीं कही जायेगी जो ईश्वर में साकार नहीं कही जाये। इसलिये ईश्वर सम्पूर्णतया परिपूर्ण कहा जायेगा। इसी को परम सत् कहा जायेगा और इसकी तुलना में सभी यथार्थ वस्तुओं को न्यूनाधिक मात्रा में असत् कहा जायेगा।

ईश्वर वह परम लक्ष्य है जिसकी ओर सभी नीची-ऊँची स्तरों की वस्तुएँ आकृष्ट होती और संचालित रहती हैं। पुनः ईश्वर विश्व का निमित्त कारण भी है और निमित्त कारण की हैसियत से सभी प्रकार के परिवर्तन अथवा संभवन का हेतु है। अतः ईश्वर को सम्पूर्ण विश्व का प्रेरक कहा गया है।

अरस्तू के अनुसार विकासशृंखला की उच्चतम स्थिति द्रव्य विहीन आकार अथवा शुद्ध आकार (pure form) ही ईश्वर है जो जगत् का प्रयोजन, लक्ष्य व निमित्त कारण है। ईश्वर संसार की गति का साध्य अर्थात् प्रवर्तक है परन्तु वह स्वयं अप्रवर्तित है क्योंकि वह



विकास की उच्चतम स्थिति है तथा उसका कारण मानने से अनवस्था दोष आता है।

ईश्वर “स्वरूप का स्वरूप” है। वह आनन्द स्वरूप है परन्तु वह पुरुष विशेष नहीं है क्योंकि उसमें न तो सत्ता है, न ही वैयक्तिकता। ईश्वर स्वरूप मात्र है उसमें विशेष तत्त्व का अभाव है, वह सामान्य प्रत्ययात्मक है। नलस्वरूप हुआ। लोगों की देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य में आस्था जागी। अब समाज की सेवा को ही ईश्वर की यथार्थ सेवा का रूप दिया गया।

### स्मरणीय बिन्दु

1. अरस्तू ने चार कारणों का सिद्धान्त दिया।
2. द्रव्य और स्वरूप का समन्वय किया।
3. प्लेटो के प्रत्ययवाद की आलोचना की।
4. अनुभव को ज्ञान का आधार माना।
5. अरस्तू को तर्कशास्त्र का जनक कहा जाता है।

### शब्दावली

| शब्द        | अर्थ                                      |
|-------------|-------------------------------------------|
| द्रव्य      | वस्तु का आधार                             |
| स्वरूप      | वस्तु का रूपात्मक तत्त्व                  |
| कारणता      | कारण-कार्य सम्बन्ध                        |
| यथार्थवाद   | वास्तविकता को स्वीकार करने वाला सिद्धान्त |
| तर्कशास्त्र | तर्क का विज्ञान                           |

### 5 अंक के प्रश्न

1. अरस्तू के चार कारणों को लिखिए।
2. द्रव्य और स्वरूप में अन्तर बताइए।
3. अरस्तू का यथार्थवाद क्या है?
4. प्लेटो के प्रत्ययवाद की अरस्तू द्वारा आलोचना स्पष्ट कीजिए।
5. अरस्तू के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. अरस्तू के कारणता सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. अरस्तू के द्रव्य एवं स्वरूप सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिए।
3. प्लेटो और अरस्तू के दर्शन की तुलनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. पश्चिमी दर्शन में अरस्तू के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. चार कारणों का सिद्धान्त किसने दिया? (घ) प्लेटो (ख) सुकरात (ग) अरस्तू (घ) ह्यूम  
उत्तर (ग)
2. अरस्तू किसके जनक माने जाते हैं? (घ) नैतिक दर्शन (ख) तर्कशास्त्र (ग) अनुभववाद (घ) प्रत्ययवाद  
उत्तर (ख)
3. अरस्तू ने किसकी आलोचना की? (घ) अनुभववाद (ख) प्रत्ययवाद (ग) नैतिकता (घ) विज्ञान  
उत्तर (ख)

## खण्ड-2 आधुनिक दर्शन ( बुद्धिवाद )

### इकाई-2.1 देकार्त (DESCARTES) 1596 से 1650 ई.

उद्देश्य-

1. देकार्त के बुद्धिवादी दर्शन को समझना।
2. आत्मा एवं द्रव्य सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करना।
3. ईश्वर के अस्तित्व सम्बन्धी प्रमाणों का विश्लेषण करना।

रेने देकार्त का जन्म ट्रान्स के तुरेन नगर में हुआ। उनका शरीर निर्बल, किन्तु बुद्धि प्रबल थी। कैथोलिक मत के जेसुइट पादरियों की शिक्षासंस्था में वे पढ़े थे। देकार्त प्रसिद्ध गणितज्ञ, वैज्ञानिक और दार्शनिक थे। गणित और ज्योतिर्विद्या में उन्होंने कुछ महत्वपूर्ण अन्वेषण किये हैं। दर्शन के आधुनिक युग के तो वे पिता ही कहे जाते हैं। उन्होंने दर्शन को एक नई पद्धति दी, जिसके कारण उन्हें आधुनिक दर्शन का जनक माना जाता है।

देकार्त का प्रयास यही था कि दर्शन के क्षेत्र में सार्वभौमिक, सर्वमान्य, एवं निश्चित सत्य की प्रतिस्थापना हो ताकि उस पर सम्पूर्ण दर्शन की स्थापना हो सके। देकार्त अपनी दार्शनिक विधि में बुद्धि को महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं। उनके अनुसार बुद्धि के दो व्यापर होते हैं, प्रतिभान तथा निगमन। प्रतिमान विशुद्ध बुद्धि प्रदान करने में सहायक होता है तथा निगमन द्वारा आधार वाक्यों से निष्कर्ष निकाला जाता है। इस प्रकार देकार्त बुद्धिवादी दार्शनिक कहलाते हैं।

**आधुनिक युग की विशेषताएँ** 15वीं शताब्दी से 17वीं शताब्दी के दार्शनिक विचारों को आधुनिक विचार कहा जाता है। इसे सांस्कृतिक पुनर्जागरण काल भी कहते हैं। इसे प्रबुद्ध काल भी कहते हैं, क्योंकि चर्च युग की रात्रि बीत चुकी थी तथा वैज्ञानिक अनुसन्धनों की रश्मियों ने जनता को जगा दिया।

(1) **चर्चा की अवनति**- नवजागरण के पश्चात् चर्च की प्रभृता के प्रति विद्रोह होने लगा।

(1) **वैज्ञानिक उन्नति**- वैज्ञानिक खोजों के कारण मनुष्य के दृष्टिकोण में आमूल परिवर्तन हो गया। वैज्ञानिकों ने यह असिद्ध कर दिया कि ईश्वर सृष्टि का सम्राट है, वह स्वर्गधम में स्थित है तथा वहीं से अपने साम्राज्य की देखभाल करता है।

**इन दोनों के अतिरिक्त भी कई विशेषताएँ हैं-**

(1) **बौद्धिकता**- मध्ययुगीन दर्शन धर्म के केन्द्रित होने के कारण विश्वास प्रधान दर्शन था। ज्ञान धर्मग्रन्थों तक सीमित था तथा धर्मग्रन्थ धर्मगुरुओं तक। इस युग में प्रत्येक सत्य की परीक्षा प्रारम्भ हुई। इस प्रकार अन्धविश्वास और रुढ़िवाद का अन्त हो गया।

(2) **व्यक्तिवाद**- चर्च के प्रति विद्रोह के कारण आधुनिक दर्शन व्यक्तिवादी हैं। वैज्ञानिक प्रगति के कारण लोगों का आप्तवचन में विश्वास समाप्त हो गया। सभी विषयों का स्वतन्त्र विचार से उन्मुक्त वातावरण में निरपेक्ष और परीक्षण करने के कारण व्यक्तिगत विचारों का महत्व बढ़ा।

चिन्तन पर बल के कारण ही इस युग को बुद्धि प्रधान या बौद्धिक युग कहा गया है। इस युग को वैज्ञानिक भी कहा गया है।

#### धार्मिक आन्दोलन

धार्मिक आन्दोलन के लिए **मार्टिन लूथर** का नाम विख्यात है। लूथर पहले कैथोलिक था। वहाँ पोप की विलासप्रियता और अत्याचार को देखकर लूथर को बहुत सन्ताप हुआ और चर्च के प्रति उसकी श्रद्धा समाप्त होने लगी।

#### मनवतावाद

मानवतावाद पुनर्जागरण और धार्मिक आन्दोलन के फलस्वरूप हुआ। लोगों की देवी-देवताओं के स्थान पर मनुष्य में आस्था जागी। अब समाज की सेवा को ही ईश्वर की यथार्थ सेवा का रूप दिया गया।

**आधुनिक दर्शन की धराएँ-**

(1) **बुद्धिवाद (Rationalism)** - आधुनिक युग में इस प्रकार के प्रश्न उठने लगे, ज्ञान क्या है? ज्ञान की उत्पत्ति कैसे होती है? ज्ञान की सीमा क्या है? अर्थात् किन-किन विषयों का यथार्थ ज्ञान मनुष्य प्राप्त कर सकता है?

बुद्धिवादी दार्शनिकों की सामान्य मान्यता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है। जिस प्रकार शरीर का गुण विस्तार है उसी प्रकार मन या आत्मा का गुण विचार है। बुद्धि ही ज्ञान की जननी है। बुद्धिवादी ज्ञान को सार्वभौम और अनिवार्य मानते हैं। इस प्रकार ज्ञान जन्मजात पत्ययों Innate Id में पर पर आधारित रहता है।

**उदाहरणार्थ-** दो वस्तु यदि किसी एक वस्तु के बराबर हो तो आपस में भी बराबर होंगी।

इस प्रकार बुद्धिवाद की मान्यताएँ निम्न हैं-

1. बुद्धि निष्क्रिय नहीं वरन् सक्रिय है। बुद्धि की क्रिया से ही आत्मा में अन्तर्निहीत जन्मजात प्रत्यय बाहर निकलते हैं। इस प्रकार बुद्धि ही ज्ञान की जननी है।
2. जन्मजात प्रत्ययों की पहचान स्पष्टता है।

**उदाहरणार्थ-** गणितशास्त्र में स्पष्ट ज्ञान पाया जाता है, इसीलिए गणित ही आदर्श ज्ञान है।

1. बुद्धिवादी ज्ञान को अनिवार्य तथा सार्वभौम मानते हैं। अनिवार्य तथा सार्वभौम ज्ञान हमें अनुभव से कदापि प्राप्त नहीं हो सकता

2. **अनुभववाद (Empiricism)** - अनुभववाद के अनुसार अनुभव ही ज्ञान की जननी है और मान्यताएँ निम्न हैं-

(i) जन्म के समय मन कोरे कागज या साफ स्लेट के समान रहता है। इसे अन्धकारमय कमरा बतलाया गया है जो अनुभव के प्रकाश से भरता है। संवेदना और स्व-संवेदना ही ज्ञान के वातायन है।

(ii) कोई भी ज्ञान जन्मजात नहीं सभी ज्ञान अर्जित है। अनुभाववादी आगमनात्मक प्रणाली को आदर्श मानते हैं।

देकार्त बुद्धिवादी है और बौद्धिक ज्ञान में उनका अटूट विश्वास है। अपनी “**प्रणाली विमर्श**” में देकार्त ने बुद्धि का विश्लेषण करते हुए दो मुख्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है-

I. बुद्धि में यथार्थ ज्ञान प्राप्त करने की सामर्थ्य है।

II. बुद्धि में यथार्थ अयथार्थ ज्ञान को पृथक् करने की भी सामर्थ्य है।

देकार्त बुद्धिवादी है इसके अनुसार बुद्धि ही यथार्थ ज्ञान की जननी है। यह यथार्थ ज्ञान सार्वभौम, सुनिश्चित और अनिवार्य है। इस प्रकार के यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति के दो साधन हैं-

**सहज ज्ञान (Intuition)**

**निगमन (Deduction)**

### सहज ज्ञान या अन्तर्बोध

यह स्वयं सिद्ध ज्ञान है। यह पूर्णतः सुस्पष्ट तथा सुभिन्न होता है। यह इन्द्रियों द्वारा प्राप्त नहीं होता। अन्य प्रमाणों में प्रमाणि कता का आधार तो शुद्ध अनुभूति ही है। यह मौलिक ज्ञान है।

### यथार्थ और अयथार्थ ज्ञान

देकार्त के अनुसार सार्वभौम और सुनिश्चित ज्ञान ही सत्य या यथार्थ ज्ञान है, जिसकी प्राप्ति हमें अन्तर्बोध तथा निगमन से होती है। अन्तर्बोध और निगमन के अतिरिक्त जो भी ज्ञान हमें प्राप्त होता है वह असत्य या भ्रमात्मक ज्ञान है। इस भ्रम की उत्पत्ति के कई कारण हैं जैसे-

(घ) बचपन से ही हमारी बुद्धि शरीर में निगमन है। हम बाल्यकाल से ही अनेक भ्रान्त धरणाओं और पूर्वाग्रहों के शिकार हैं। इसी कारण हमें सुभिन्न तथा स्पष्ट बोध नहीं हो पाता।

(ख) ज्ञान की अभिव्यक्ति शब्दों के माध्यम से होती है। शब्दों के आवरण में यथार्थ ज्ञान छुप जाता है।

(ग) परम्परा अन्धविश्वास और जनश्रुति आदि के कारण भी सत्य ज्ञान नहीं हो पाता।

बुद्धि से भ्रम के निराकरण के लिए हमें संशय का सहारा लेना होगा। संशय के सहारे ही हम सत्य और असत्य में भेद कर सकते हैं और सत्य को अपनाकर असत्य का परित्याग कर सकते हैं। इस प्रकार भ्रान्त और निर्भ्रान्त में सत्य और असत्य में भेद तो संशय या सन्देह से सम्भव है।

### सन्देह और सत्य

देकार्त ने सन्देह के ही सत्य का माध्यम स्वीकार किया है। निस्सन्देह सत्य तभी प्राप्त हो सकता है जब हम सभी मान्यता की सन्देहतात्मक दृष्टि से परीक्षा करें। हम परम्परागत विचार को स्वीकार कर सकते हैं, परन्तु परीक्षा के बाद। तात्पर्य यह है कि परीक्षित सत्य ही निश्चित सत्य माना जा सकता है। प्रारम्भ से ही देकार्त गणित के प्रेमी थे। उनकी दृष्टि में गणित शास्त्र के सत्य ही निश्चयात्मक तथा स्वयं सिद्ध हैं।

अतः सुनिश्चित तथा स्वयं सिद्ध गणित की प्रणाली ही दशग्न शास्त्र की प्रणाली होनी चाहिये। देकार्त का उत्तर है कि स्वयं सिद्ध आधार वाक्यों की प्राप्ति हमें आन्तरिक दृष्टि से होगी जिसे देकार्त प्रज्ञा Intuition कहते हैं। प्रज्ञा से प्राप्त सत्य मापदण्ड है। इन सत्यों पर ही दूसरे वाक्यों की सत्यता निर्भर है, अर्थात् अन्य वाक्यों की सत्यता आधार वाक्यों से निकलेगी या अनुमानजन्य होगी।

अतः संक्षेप में देकार्त के अनुसार दार्शनिक पद्धति दो है। पहली प्रज्ञात्मक पद्धति है। यह पद्धति सद्यः अनुभूति है जो विचार या तर्क के परे है। दूसरी पद्धति निगमनात्मक है। इस पद्धति के अनुसार हम आधार वाक्यों को सत्य मानकर कुछ निष्कर्ष निकालते हैं अर्थात् अनुमान करते हैं।

मुझे धोखा हो रहा है का अर्थ है कि मेरे चिन्तन का विषय गलत है परन्तु मेरा चिन्तन करना गलत नहीं है अतः चिन्तन कार्य भ्रम नहीं। भले ही चिन्तन का विषय भ्रम हो। निराकरण करने से ही निराकर्ता की सत्ता सिद्ध है।

**सन्देह पद्धति-** सन्देह देकार्त की दार्शनिक विधि का मूलभूत आधार हैं। इसी कारण देकार्त की दार्शनिक विधि को संदेह पद्धति भी कहा जाता है। इस प्रकार देकार्त की दार्शनिक विधि में सन्देह की प्रक्रिया का महत्वपूर्ण स्थान हैं। और यह संदेह प्रक्रिया तब तक रहती है जब तक कि अन्तिम सत्य प्राप्त न हो जाये। देकार्त अपनी सन्देह पद्धति का प्रयोग करते हुए तथा सभी प्रकार की पूर्वमान्यताओं एवं पूर्वाग्रहों पर प्रश्न चिन्ह लगाते हुए आगे बढ़ते हैं। वे इन्द्रियजन्य ज्ञान, बाह्यजगत की सत्ता, गणितीय ज्ञान आदि पर सन्देह करते हैं। लेकिन संदेहकर्ता पर संदेह नहीं करते। इसलिए वे कहते हैं - मैं सोचता हूँ, इसलिए मैं हूँ।

**मैं सोचता हूँ अतः मैं हूँ- (Cogito Ergo Sum)** - देकार्त के अनुसार सभी संदेह की सीमा में आ सकते हैं लेकिन ऐसा नहीं हो सकता कि संदेह करने वाला भी संदेहप्रद हो, क्योंकि संदेहकर्ता की सत्ता पर कभी भी संदेह नहीं किया जा सकता। इसीलिए जब वे कहते हैं कि मैं सोचता हूँ तो इससे आत्मा के अस्तित्व का ज्ञान होता है और ये ज्ञान असंदिग्ध, सुस्पष्ट तथा तथा स्वतः प्रमाणित होता है। अतः आत्मा को वे स्वयं सिद्ध मानते हैं।

### आत्मा का स्वरूप

देकार्त की प्रसिद्ध उक्ति है - Cogito Ergo Sum I think therefore, I am अर्थात् मैं सोचता हूँ इसीलियें मैं हूँ इसीलिए मेरी सत्ता स्वयंसिद्ध है।

- (1) “मैं सोचता हूँ इसीलिए मैं हूँ।” यह अनुमान नहीं वरन् सद्यः अनुभूति है। आत्मा की सत्ता तो स्वयं सबका आधार है। यह तो ज्ञान की पूर्व मान्यता है।
- (2) “मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ” का अर्थ कि मेरी (आत्मा की) सत्ता चिन्तन करने पर निर्भर है। चिन्तन के अनेक स्वरूप हैं, जैसे सन्देह करना, समझना, स्वीकार करना, अस्वीकार करना, इच्छा करना, कल्पना करना आदि।
- (3) “मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ” से स्पष्ट सिद्ध है कि मानसिक क्रिया आत्मा के अस्तित्व पर ही निर्भर है परन्तु इसी प्रकार हम शारीरिक क्रियाओं के आधार पर आत्मा का अस्तित्व निर्भर नहीं मान सकते। यह नहीं कहा जा सकता कि “मैं घूमता हूँ इसलिए मैं हूँ।” घूमना शारीरिक क्रिया है। इससे आत्मा का अस्तित्व नहीं वरन् शरीर का अस्तित्व स्पष्टतः सिद्ध होता है।
- (4) “मैं सोचता हूँ इसलिए मैं हूँ।” अर्थात् ज्ञाता होने के कारण आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध है, इससे स्पष्ट पता चलता है कि ज्ञान आत्मा का गुण है।
- (5) “मैं सोचता हूँ इसीलिए मैं हूँ।” यह सर्वप्रथम असंदिग्ध, निश्चयात्मक ज्ञान है। देकार्त के लिये यह मापदण्ड है।

### ईश्वर विचार-

सर्वप्रथम उन्होंने आत्म तत्व की सत्ता को सन्देहातीत, स्वयंसिद्ध माना है। अतः देकार्त के अनुसार जो वस्तु आत्म तत्व के समान निस्सन्देह, स्वयंसिद्ध हो वही सत्य है।

देकार्त के अनुसार हमारे विचार तीन प्रकार के हैं-

1. **नैसर्गिक विचार (Innate Ideas)**
2. **आकस्मिक विचार (Adventitious Ideas)**
3. **काल्पनिक विचार (Imaginative Ideas)**

**ईश्वर का अस्तित्व-** आत्मा के अस्तित्व के आधार पर ही ये वे ईश्वर का अस्तित्व सिद्ध करते हैं। देकार्त के अनुसार आत्मा में दो प्रकार के विज्ञान पाये जाते हैं,

1. सार्थक विज्ञान,
2. काल्पनिक विज्ञान।

सार्थक विज्ञान वे विज्ञान हैं जो आत्मा में बाह्य कारणों से उत्पन्न होते हैं। जबकि काल्पनिक विज्ञानों को आत्मा स्वयं रचती है। सार्थक विज्ञानों में ईश्वर का विज्ञान भी जन्मजात विज्ञान है। देकार्त ईश्वर को पूर्ण, असीम, सर्वशक्तिमान, सर्वव्यापी मानते हैं। देकार्त का ईश्वर धर्ममीमांसीय सत्ता न होकर तत्त्वमीमांसीय सत्ता है। देकार्त के अनुसार ईश्वर आत्मा एवं जगत् का सृष्टा भी है, किन्तु सृष्टा कहने का तात्पर्य यह नहीं कि वह जगत् का उपादान कारण भी है, वरन् ईश्वर जगत् का केवल निमित्त कारण है। ईश्वर को उन्होंने 4 प्रमाणों द्वारा सिद्ध किया है-

1. सत्तामूलक प्रमाण,
2. कारणमूलक प्रमाण
3. विश्वमूलक प्रमाण
4. स्पष्ट तथा विशिष्ट विचार युक्ति।

नैसर्गिक विचार जन्मजात प्रत्यय हैं, जिन्हें मनुष्य बाह्य संसार से नहीं प्राप्त करता। आकस्मिक विचार बाह्य संसार से जन्य होते हैं तथा काल्पनिक विचार शुद्ध कल्पना प्रसुत है। उपरोक्त तीन प्रकार के विचारों में ईश्वर विचार नैसर्गिक या जन्मजात है। हममें ईश्वर की धरणा जन्म से ही विद्यमान है। देकार्त ईश्वर की सत्ता सिद्ध करने के लिये अग्रलिखित प्रमाण देते हैं-

1. **कार्य-कारण मूलक तर्क** (Causal Proof) - सम्पूर्ण विश्व इसी कार्य कारण नियम से बँध है। बिना कारण के कार्य नहीं होता असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं। (Nothing Produces Nothing) इस नियम का एक दूसरा स्वरूप है कि कार्य की सत्ता कारण से न्यून नहीं हो सकती।

सर्वप्रथम हमारी बुद्धि में 'ईश्वर है' ऐसा विचार जन्म से (Innate) विद्यमान है। यह विचार कार्य हुआ। अतः इसका भी कारण अवश्य होना चाहिये, अन्यथा इसमें अकारण घटना uncaused event को दोष होगा। देकार्त है कि 'ईश्वर है' ऐसे विचार का कारण ईश्वर ही हो सकता है दूसरा कोई नहीं। हम सर्वज्ञ पूर्ण और अनन्त के रूप में जानते हैं। अल्पज्ञ अपूर्ण और शान्ति जीवन इसका कारण नहीं हो सकते। अतः सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान ईश्वर ही इसका कारण है, क्योंकि कारण की सत्ता कार्य से न्यून नहीं हो सकती।

2. **सत्तामूलक तर्क** (Ontological Proof) - देकार्त का कहना है कि पूर्ण ईश्वर का ज्ञान ही उसकी सत्ता का द्योतक है। ईश्वर के अस्तित्व के बिना उसके पूर्ण तथा अनन्त होने का ज्ञान असंभव है।

साधारणतः विचार और वस्तु में भेद है। यह आवश्यक नहीं कि हमारे सभी विचारों के अनुरूप भी हो परन्तु पूर्ण तथा अनन्त ईश्वर का विचार ईश्वर के बिना असंभव है। संसार के सभी पदार्थ अपूर्ण हैं, परन्तु अपूर्ण ईश्वर तो वदतोव्याघात है। तात्पर्य यह है कि यदि ईश्वर की सत्ता न होती तो हम उसे पूर्ण तथा अनन्त कैसे जानते। देकार्त का तर्क एन्सेल्म से भिन्न है। एन्सेल्म का तर्क सत्तामूलक है तथा देकार्त का तर्क कार्य कारण मूलक है।

**एन्सेल्म** के अनुसार ईश्वर विचार से ही ईश्वर की सत्ता सिद्ध होती है, देकार्त के अनुसार हममें पूर्ण ईश्वर का विचार है। इस विचार का कारण केवल ईश्वर ही हो सकता है। सत्तामूलक तर्क में अनिवार्यता नहीं परन्तु कार्य कारण मूलक तर्क में अनिवार्यता है। देकार्त के अनुसार अनिवार्यता वस्तु में है, विचार में नहीं। हम किसी काल्पनिक विषय पर विचार कर सकते हैं, जिसका कोई अस्तित्व न हो।

3. **सृष्टिमूलक तर्क** (Cosmological Proof) - ईश्वर ही सृष्टि का कर्ता है। ईश्वर के अतिरिक्त अन्य कोई इसका कर्ता नहीं हो सकता, मनुष्य शान्त है वह अनन्त सृष्टि का कर्ता नहीं हो सकता।

सृष्टि जड़ है, वह स्वयं अपना कारण नहीं हो सकती है। जड़ वस्तु केवल उत्पादन कारण हो सकती है। ईश्वर ही सृष्टि का निमित्त कारण स्वीकार किया गया है।

4. **निगमनात्मक तर्क** (Deductive Proof) - देकार्त का कहना है कि आत्म तत्व के समान ही ईश्वर तत्व का भी हमें स्पष्टतः अनुभव होता है। अतः ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध है। दोनों में अन्तर भी इतना ही है कि आत्म तत्व स्वतः सिद्ध साक्षात् अनुभूति है, परन्तु ईश्वर की सिद्धि आत्मा के समान सुस्पष्ट होने पर निर्भर है। अतः ईश्वर तत्व सिद्धि ही सुस्पष्टता का आधार है। इसी कारण इस तर्क को निगमनात्मक माना गया है।

**मन और शरीर-**

**मन और शरीर का सम्बन्ध-** देकार्त पर तथा अपर दो प्रकार के द्रव्य स्वीकार करते हैं तथा अपर द्रव्य के भी दो भेद मानते हैं। शरीर तथा मन। शरीर का लक्षण विस्तार है जबकि मन का लक्षण विचार है। शरीर की क्रिया से आत्मा के एक प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है जिसके कारण आत्मा को बाह्य जगत के विषय में जानकारी प्राप्त होती है। इस प्रकार आत्मा की क्रिया शरीर में प्रतिक्रिया उत्पन्न करती है। देकार्त के अनुसार पीनियल ग्रन्थि के माध्यम से आत्मा (मन) और शरीर के बीच क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। यही सिद्धान्त क्रिया प्रतिक्रिया का सिद्धान्त कहलाता है।

देकार्त ईश्वर के अतिरिक्त चित् तथा अचित् दो और तत्व मानते हैं। मन का गुण है विचार तथा शरीर का गुण विस्तार है। इस प्रकार चित् तथा अचित् के विचार तथा विस्तार दो गुण हुए। मन सक्रिय है तथा शरीर निष्क्रिय।

### द्वैतवाद

उपरोक्त विवरण से मन तथा शरीर का द्वैत स्पष्ट है। चेतना तथा जड़ दोनों विरोधी हैं, अतः इनमें कोई पारस्परिक सम्बन्ध सम्भव नहीं। हम न तथा शरीर में अन्त क्रिया का प्रतिदिन अनुभव करते हैं। हमारे शरीर को भूख, प्यास लगती है। मन खिन्न हो जाता है।

हमारा मन प्रसन्न रहता है तो चेहरा भी खिला हुआ लगता है। यह कैसे संभव है? इसका उत्तर देकार्त अपने चिद्चित् संयोगवाद के द्वारा देते हैं। यहीं देकार्त का अन्त क्रियावाद या क्रिया-प्रतिक्रियावाद का सिद्धान्त कहलाता है। इस सिद्धान्त के अनुसार आत्मा और शरीर में पीनियल ग्रन्थि के द्वारा क्रिया-प्रतिक्रिया होती है। शरीर की क्रिया से आत्मा में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है,

जिसके फलस्वरूप आत्मा को बाह्य जगत् का ज्ञान प्राप्त होता है। इसी प्रकार आत्मा की क्रिया से शरीर में प्रतिक्रिया उत्पन्न होती है, जिसके फलस्वरूप शरीर में विचार के अनुकूल व्यवहार होने लगता है। पुरीतन गाडी ही मन और शरीर का मिलन है। जैनों के जीव और अजीव समाज के चित् और अचित् सांख्य के पुरुष और प्रकृति के समान ही देकार्त के मन और शरीर में द्वैत स्पष्ट है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. देकार्त आधुनिक दर्शन के जनक माने जाते हैं।
2. हमें सोचना है, इसलिए मैं हूँ उनका प्रसिद्ध कथन है।
3. उन्होंने मन और शरीर को अलग द्रव्य माना।
4. बुद्धि को ज्ञान का प्रमुख स्रोत माना।
5. ईश्वर के अस्तित्व के पक्ष में तर्क प्रस्तुत किए।

### शब्दावली

| शब्द         | अर्थ                                         |
|--------------|----------------------------------------------|
| बुद्धिवाद    | बुद्धि को ज्ञान का आधार मानने वाला सिद्धान्त |
| द्रव्य       | स्वतंत्र अस्तित्व रखने वाली सत्ता            |
| आत्मा        | चेतन तत्त्व                                  |
| संदेह पद्धति | सत्य की खोज हेतु व्यवस्थित संदेह             |
| द्वैतवाद     | दो मूल तत्वों का सिद्धान्त                   |

### 5 अंक के प्रश्न

1. देकार्त के संदेहवाद को स्पष्ट कीजिए।
2. हमें सोचना है इसलिए मैं हूँ का अर्थ बताइए।
3. देकार्त के द्वैतवाद की व्याख्या कीजिए।
4. देकार्त के अनुसार आत्मा क्या है?
5. देकार्त के बुद्धिवाद की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. देकार्त के दार्शनिक सिद्धान्तों का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. देकार्त के आत्मा एवं द्रव्य सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. देकार्त द्वारा प्रस्तुत ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाणों की समीक्षा कीजिए।
4. आधुनिक दर्शन में देकार्त के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. हमें सोचना है इसलिए मैं हूँ किसका कथन है? (घ) लकड़क (ख) ह्यूम (ग) देकार्त (घ) कांट  
उत्तर (ग)
2. देकार्त किस दर्शन के प्रमुख प्रवर्तक हैं? (घ) अनुभववाद (ख) बुद्धिवाद (ग) भौतिकवाद (घ) व्यवहारवाद  
उत्तर (ख)
3. देकार्त ने कितने द्रव्य माने? (घ) एक (ख) दो (ग) तीन (घ) चार  
उत्तर (ख)



## इकाई-2.2 स्पिनोजा 1632 से 1677 ई.

### उद्देश्य-

1. स्पिनोजा के द्रव्य सिद्धान्त को समझना।
2. सर्वैश्वरवाद की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. समानान्तरवाद का विश्लेषण करना।

स्पिनोजा पश्चिम के एक महान् दार्शनिक हैं। उनका जन्म हॉलैण्ड के एमस्टर्डम नगर में बसे हुए एक यहूदी परिवार में हुआ था। स्पिनोजा प्रमुख आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिक हैं। वे एक विलक्षण प्रतिभा के व्यक्ति थे। गणित एवं दर्शन में उनकी विशेष रुचि थी। वे ईसाई धर्म के अन्धविश्वासों एवं धर्मिक मान्यताओं को स्वीकार नहीं करते थे। उनके दार्शनिक विचार यहूदी तथा ईसाई धर्म के प्रतिकूल होने कारण उन्हें धर्माधिकारियों ने 'निन्दनीय नास्तिक' की उपाधि से विभूषित किया।

**दार्शनिक विधि-** स्पिनोजा के अनुसार ज्यामिति के निष्कर्ष अनिवार्य एवं निश्चयात्मक होते हैं, अतः यदि दर्शन के क्षेत्र में ज्यामिति विधि को अपनाया जाए तो दर्शन के क्षेत्र में **अनिवार्यता, निश्चयात्मकता तथा प्रामाणिकता** आ सकती है। ज्यामिति के सत्य जिस प्रकार अपरिवर्तित माने जाते हैं, ठीक उसी प्रकार स्पिनोजा भी द्रव्य को परिवर्तन-शून्य मानते हैं।

देकार्त के समान भी गणित के महान् प्रेमी थे, गणित प्रणाली का आरम्भ देकार्त से होता है, परन्तु स्पिनोजा के दर्शन में इसका चरण उत्कर्ष है।

देकार्त ने सत्य की प्राप्ति के लिए सन्देह का मार्ग बनाया, परन्तु स्पिनोजा ने सत्य से सत्य प्राप्ति की। स्पिनोजा का कहना है कि सत्य स्वयं सिद्ध है, स्वप्रकाश है। इसकी सिद्धि के लिए किसी साधन की आवश्यकता नहीं।

### द्रव्य विचार-

**द्रव्य विचार** - द्रव्य गुण और पर्याय- ये तीन स्पिनोजा के दर्शन के आधार-स्तम्भ हैं। द्रव्य वह है जिसकी स्वतन्त्र सत्ता हो और जिसके ज्ञान के लिए किसी अन्य पदार्थ के ज्ञान की अपेक्षा न हो। गुण हैं - द्रव्य के स्वरूप-धर्म अर्थात् वे धर्म जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है। द्रव्य के परिणामी धर्म ही पर्याय या प्रकार हैं।

स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही परम द्रव्य है जिससे सम्पूर्ण सृष्टि अद्भूत है। स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य वह है जिसकी सत्ता स्वतन्त्र हो, जिसका ज्ञान किसी दूसरे ज्ञान की अपेक्षा न करता है। तात्पर्य यह है कि द्रव्य की सत्ता तथा ज्ञान दोनों स्वतन्त्र हैं। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर ही परम द्रव्य है। वह एक अद्वैत, परम स्वतन्त्र, सबका कारण होते हुए भी स्वयं अकारण स्वयंभू, स्वतः सिद्ध है।

### द्रव्य की विशेषताएँ-

1. द्रव्य स्वतन्त्र है।, द्रव्य को स्वतन्त्र कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य सबका आधार होते हुए भी स्वयं निराधार है।
2. द्रव्य निरपेक्ष है। द्रव्य स्वयं अकारण होने के कारण सापेक्ष नहीं। जो कारण होते हैं, वे कारणापेक्ष कहे जाते हैं। अकारण होने से द्रव्य निरपेक्ष है।
3. द्रव्य अद्वितीय है। द्रव्य को एक से अधिक मानने से उसकी सत्ता सीमित होगी। अतः द्रव्य की स्वतन्त्र मानने के लिए उसे अद्वितीय स्वीकार करना आवश्यक है।
4. द्रव्य अपरिच्छिन्न तथा अपरिमित है। सर्वाभौम एक परम स्वतन्त्र होने से द्रव्य की सत्ता किसी अन्य पर आश्रित नहीं। एक होने से वह असीम है।
5. द्रव्य स्वतः सिद्ध है। स्वतः सिद्ध कहने से तात्पर्य यह है कि द्रव्य ज्ञान का आधार द्रव्य ही है। द्रव्य ज्ञान में किसी अन्य ज्ञान की अपेक्षा नहीं, अर्थात् द्रव्य स्वयं अपना प्रमाण है, स्व संबन्ध है।

- I. द्रव्य स्वतन्त्र है।
- II. द्रव्य निषेध है।
- III. द्रव्य अपरिच्छिन्न या अपरिमित है।
- IV. द्रव्य स्वतः सिद्ध और स्वयंज्योति है।
- V. द्रव्य स्वयंभू है।
- VI. द्रव्य पूर्ण है।
- VII. द्रव्य नित्य है।
- VIII. द्रव्य निर्गुण और अनिर्वचनीय है।

- IX. हमारी वाणी और बुद्धि की पहुँच द्रव्य तक नहीं है।
- X. बुद्धि द्रव्य की ओर संकेत करती है, किन्तु उसे पूर्णरूप में नहीं जान सकती।
- XI. वह निर्विकल्प अनुभूति का विषय है।
- XII. ईश्वर और सृष्टि का तादात्म्यसम्बन्ध है।
- XIII. ईश्वर कारण हैं और सृष्टि कार्य।

स्पिनोजा 'कारण' को विशिष्ट अर्थ में प्रयुक्त करते हैं। उनके अनुसार, अद्वैत वेदान्त की भाँति, कारण और कार्य में तादात्म्य सम्बन्ध है। सृष्टि का अर्थ है यह चिदचिद्रूप विश्व। विश्व की ईश्वर से पृथक् कोई सत्ता नहीं है। विश्व ईश्वर के अन्तर्गत है। ईश्वर ही विश्व में व्याप्त है। विश्व ईश्वर के अन्तर्गत है। ईश्वर ही विश्व व्याप्त है। अतः यह मानना उचित है कि स्पिनोजा के अनुसार पारमार्थिक द्रष्टि से ईश्वर निर्गुण और अनिर्वचनीय हैं, एवं व्यावहारिक द्रष्टि से सगुण और सविशेष।

### ईश्वर विचार

स्पिनोजा के दर्शन में ईश्वर विचार बहुत महत्वपूर्ण विषय है। स्पिनोजा की दृष्टि में ईश्वर ही एक अद्वैत, अनन्त, निरपेक्ष, पूर्णद्रव्य है। चित्-अचित् आदि सभी ईश्वर के गुण हैं। ईश्वर ही समस्त सृष्टि का कारण है, परन्तु स्वयं अकारण है।

जिस प्रकार त्रिभुज के तीनों कोण मिलकर दो समकोण के बराबर होते हैं; उसी प्रकार संसार के समस्त गुण और कार्य सर्वाभौम ईश्वर की आवश्यक अभिव्यक्ति हैं। सर्वाभौम ईश्वर के अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं। विश्व उसकी आवश्यक अभिव्यक्ति है, जैसे तीनों कोण त्रिभुज की।

### ईश्वर का विश्वरूप तथा विश्वातीत रूप-

सर्वप्रथम विश्व ईश्वर की अनिवार्य अभिव्यक्ति होने के कारण ईश्वर रूप ही है। कार्य कारण से पृथक् नहीं, आधेय आधार से भिन्न नहीं है, अतः विश्व की सत्ता भी ईश्वर से अलग नहीं।

इसी कारण स्पिनोजा सम्पूर्ण विश्व को ईश्वर रूप मानते हैं। ईश्वर का विश्वात्मरूप है, परन्तु ईश्वर अनन्त है। इसकी सत्ता सीमा नहीं, अर्थात् वह केवल विश्व रूप ही नहीं, विश्वातीत भी हैं। कार्य कारण की अभिव्यक्ति होने से कारण रूप ही है; परन्तु कारण की सत्ता कार्य करे परे भी हैं। जगत् अनन्त ईश्वर की सीमा नहीं वह असीम हैं, ईश्वर अनन्त है, उसके गुण भी अनन्त हैं, उसके अनन्त गुणों में प्रत्येक गुण अनन्त सत्ताओं की अभिव्यक्ति करता है।

स्पिनोजा के ईश्वर का विश्वरूप तथा विश्वातीत रूप भगवद्गीता के व्यक्त तथा अवयक्त रूप से मिलता-जुलता है। गीता में भी दो रूप बतलाये गये हैं। सम्पूर्ण जगत् ईश्वर का व्यक्त स्वरूप या विभक्त रूप है; परन्तु वस्तुतः ईश्वर अविभक्त है।

### सर्वेश्वरवाद-

कारण से पृथक् कार्य की सत्ता नहीं, अतः विश्व की भी ईश्वर से अलग कोई सत्ता नहीं। सम्पूर्ण सृष्टि ईश्वर से ही व्याप्त है। यही स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद है। विश्व का अधिष्ठान ईश्वर है। अतः ईश्वर से पृथक् विश्व की सत्ता नहीं।

स्पिनोजा का सर्वेश्वरवाद उपनिषद् के बहुत निकट है। उपनिषद् में भी बतलाया गया है कि यह सारी सृष्टि ब्रह्ममय है (सर्वम् खलु इदं ब्रह्म)

### सर्वेश्वरवाद के गुण-

यह रहस्यवाद की पुष्टि करता है। रहस्यवाद एक ऐसा दार्शनिक सिद्धान्त है जिसके अनुसार साधक अपने को इष्ट देव के साथ विलीन कर देना चाहता है अर्थात् इसमें उपासक और उपास्य के बीच द्वैत नहीं रह पाता। सर्वेश्वरवाद भी यही करता है। इसके अनुसार सम्पूर्ण विश्व ईश्वरमय है। सभी प्राणी ईश्वरमय हैं सर्वेश्वरवादी भक्त भगवान के साथ अनन्य सम्बन्ध रखता है। यह सभी वस्तुओं को ईश्वरमय समझता है। पतंग के समान ईश्वररूपी दीपशिखा पर वह ईश्वरीय प्रेम से व्याकुल होकर अपनी बली चढ़ा देता है। इस प्रकार सर्वेश्वरवाद, रहस्यवाद की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत करता है। स्पिनोजा के सर्वेश्वरवाद का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है। वैज्ञानिक युग को बौद्धिक युग भी कहा जाता है। बुद्धि स्वभावतः अनेकता में एकता का दर्शन करना चाहती है। सर्वेश्वरवाद भी एकता के आधार पर अनेकता का दर्शन करना चाहता है। इसके अनुसार ईश्वर ही परम सत्ता है। अनेकता इसी एक सत्ता का विकार है। इस प्रकार, इससे बौद्धिक जिज्ञासा की संतुष्टि होती है

### ईश्वर का निर्गुण रूप-

ईसाई मत में ईश्वर गुण है। ईश्वर के तीन रूप हैं, (Trinity) अतः ईश्वर को निराकर नहीं कहा जा सकता। स्पिनोजा के ईश्वर निर्गुण और निराकर है। स्पिनोजा के अनुसार ईश्वर के सगुण होने का अर्थ है कि ईश्वर सीमित है तथा सीमित का अर्थ परतन्त्र है, ईश्वर का निर्वचन मिथ्या है वस्तुतः विशेषण से तो वह सीमित हो जाता है।

## गुण विचार-

स्पिनोजा ने बतलाया कि गुण वे धर्म हैं जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है। इस परिभाषा में यदि पूर्वाद्ध अर्थात् गुण वे धर्म हैं, पर बल दिया जाये तो स्पष्टतः गुण द्रव्य के धर्म या स्वरूप प्रतीत होते हैं, परन्तु यदि परिभाषा के उत्तराद्ध अर्थात् जिनको बुद्धि द्रव्य का स्वरूप समझती है, पर बल दिया जाये तो निश्चित रूप से प्रतीत होता है कि गुण बुद्धिगत विचार है, द्रव्यगत स्वरूप नहीं। अतः दोनों व्याख्याएँ प्रामाणिक प्रतीत होती हैं। अतः स्पिनोजा के गुण भी मायारूप कारण उपाधि के समान है। इन्हों से समस्त प्रपंचात्मक जगत की सृष्टि होती है।

## समानान्तरवाद-

**मन और शरीर का सम्बन्ध अथवा समानात्मरवाद**-स्पिनोजा के अनुसार शरीर तथा मनस् क्रमशः विस्तार तथा चैतन्य गुणों के ही विकार या पर्याय हैं। देकार्त ने इनके सम्बन्ध की समस्या का समाधान अन्तर्क्रियावाद या क्रिया-प्रतिक्रियावाद के आधार पर किया था, परन्तु स्पिनोजा को यह स्वीकार नहीं है, उन्होंने कहा शरीर तथा मनस दो स्वतन्त्र द्रव्य नहीं हैं बल्कि द्रव्य के दो सामानान्तर गुण हैं। ये गुण उसी प्रकार हैं जिस प्रकार सामानान्तर रेखायें साथ-साथ चलती हैं। इस प्रकार स्पिनोजा शरीर तथा मनस ये दो ईश्वर के सामान्तर गुण हैं। एवं आपस में स्वतः क्रिया करते हैं। इसी कारण इसे सामानान्तरवाद कहा गया है।

स्पिनोजा चित् और अचित् को द्रव्य का गुण मानते हैं। चित् विचार है अथा अचित् विस्तार है। स्पिनोजा के अनुसार ये दोनों एक ही द्रव्य के दो स्वरूप हैं। देकार्त मन और शरीर में अन्तःक्रिया के लिए अन्तःक्रियावाद का सिद्धान्त बतलाते हैं।

स्पिनोजा चित् और अचित् की उत्पत्ति एक ही ईश्वर से मानते हैं इनमें कार्य कारण सम्बन्ध स्वीकार करने की कोई आवश्यकता नहीं। स्पिनोजा का कहना है कि समान ही समान को उत्पन्न कर सकता है। मन और शरीर तो असमान हैं। ये एक-दूसरे का कारण नहीं बन सकते। स्पिनोजा का द्रव्य द्विरूपात्मक है, अर्थात् चित् और अचित् इसके दोनों स्वरूप हैं। चित् और अचित् आपस में समानान्तर है, इनमें कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं।

## पर्याय-

स्पिनोजा के अनुसार पर्याय द्रव्य के परिणामी धर्म हैं। इनका अस्तित्व है, परन्तु इनका अस्तित्व निरपेक्ष नहीं, सापेक्ष है। ये द्रव्य सापेक्ष है तथा द्रव्य के बिना इनका ज्ञान नहीं हो सकता है।

पर्याय के इस स्वरूप से ज्ञात होता है कि पर्याय द्रव्य के विकार हैं, परन्तु स्पिनोजा के अनुसार द्रव्य निर्विकारी, अपरिणामी बतलाया गया है। स्पिनोजा का कहना है कि पर्याय द्रव्य में विकार नहीं उत्पन्न कर सकते, वरन् पर्याय गुणों के विकार हैं। विश्व की व्याख्या के लिए विकार का सिद्धान्त आवश्यक है। इसी अनित्य तथा अपरिणामी विश्व की व्याख्या के लिए स्पिनोजा ने विकार सिद्धान्त को अपनाया है। ईश्वर एक अनन्त होते हुए भी पर्यायों के माध्यम से ही विश्व में अभिव्यक्त होता है। स्पिनोजा के अनुसार पर्याय दो प्रकार के हैं- अनन्त तथा सान्त। अनन्त ईश्वर का स्वरूप होने के कारण पर्याय भी अनन्त है, परन्तु व्यक्तिगत रूप में पर्याय सास्त है। स्पिनोजा इसका समाधान करते हुए कहते हैं कि पर्याय को नित्य कहने का तात्पर्य यही है कि पर्याय अकारण नहीं। वन्ध्यापुत्र के समान मिथ्या पदार्थ भी नहीं। अभिव्यक्ति के अर्थ में द्रव्य ही पर्याय का कारण है। अतः पर्यायों का नित्य स्वरूप ईश्वर स्वरूप का द्योतक तथा इनका अनित्य स्वरूप विश्व के विभिन्न पदार्थों का द्योतक है।

## स्पिनोजा ज्ञान के तीन स्तर बतलाते हैं-

इन्द्रियजन्य ज्ञान

तर्कजन्य ज्ञान या बौद्धिक ज्ञान

प्रज्ञाजन्य ज्ञान।

**1 इन्द्रियजन्य ज्ञान ( Imagination )** यह ज्ञान अस्पष्ट तथा अपर्याप्त है, क्योंकि इससे हमें वस्तु के यथार्थ स्वरूप का ज्ञान नहीं प्राप्त होता। यह ज्ञान विशेष तक ही सीमित रहता है तथा वैयक्तिक है।

इसमें पूर्णता नहीं, क्योंकि पूर्ण ज्ञान तो केवल ईश्वर बोध में है। इसी कारण स्पिनोजा इन्द्रिय अन्य ज्ञान को आधार के बिना निष्कर्ष कहते हैं।

**2 तर्कजन्य ज्ञान ( Reason )** यह बौद्धिक ज्ञान है जो संश्लेषणात्मक होता है। इस स्तर पर हमें वस्तुओं के बाह्य स्वरूप का ही नहीं, वरन् उनके आपसी सम्बन्ध का भी ज्ञान प्राप्त होता है। इस स्तर पर हमें वस्तुओं का सार तथा उनके ईश्वर से सम्बन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है। इस ज्ञान को स्पिनोजा वैज्ञानिक मानते हैं। इस स्तर पर हमें ईश्वर के विश्वव्यापी तथा विश्वात्मा स्वरूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

**3 प्रज्ञाजन्य ज्ञान (Intuition)** - यह ज्ञान सर्वोच्च है, क्योंकि इससे समग्रता तथा ईश्वरता का स्पष्ट बोध होता है। इससे हमें संपूर्ण प्रकृति की व्यवस्था का स्पष्ट ज्ञान होता है। यह ईश्वर के एक, अनन्त अद्वैत रूप की निर्विकल्प अनुभूति है। स्पिनोजा इस ज्ञान को साक्षात् या सद्यः अनुभूति मानते हैं।

### स्मरणीय बिन्दु

1. स्पिनोजा ने एक ही द्रव्य को स्वीकार किया।
2. ईवर और प्रखरति को एक माना।
3. उनका दर्शन सर्वेवरवाद कहलाता है।
4. मन और शरीर को समानान्तर माना।
5. बुद्धि के माध्यम से मुद्रि की बात कही।

### शब्दावली

| शब्द         | अर्थ                                |
|--------------|-------------------------------------|
| सर्वेवरवाद   | ईवर और प्रखरति की एकता का सिद्धान्त |
| समानान्तरवाद | मन और शरीर की समानान्तर क्रियाएँ    |
| द्रव्य       | मूल सत्ता                           |
| प्रखरति      | प्राखरतिक जगत                       |
| मोक्ष        | बंधन से मुद्रि                      |

### 5 अंक के प्रश्न

1. स्पिनोजा के द्रव्य सिद्धान्त को स्पष्ट कीजिए।
2. सर्वेवरवाद क्या है?
3. समानान्तरवाद की व्याख्या कीजिए।
4. स्पिनोजा के अनुसार ईवर क्या है?
5. स्पिनोजा के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. स्पिनोजा के सर्वेवरवाद का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. स्पिनोजा के द्रव्य सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिए।
3. स्पिनोजा के समानान्तरवाद की समीक्षा कीजिए।
4. आधुनिक दर्शन में स्पिनोजा के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. स्पिनोजा ने कितने द्रव्य स्वीकार किए? (घ) एक (ख) दो (ग) तीन (घ) अनेक  
उत्तर (घ)
2. स्पिनोजा का दर्शन कहलाता है (घ) द्वैतवाद (ख) अनुभववाद (ग) सर्वेवरवाद (घ) यथार्थवाद  
उत्तर (ग)
3. समानान्तरवाद किससे सम्बन्धित है? (घ) आत्मा और ईवर (ख) मन और शरीर (ग) ज्ञान और अनुभव (घ) प्रखरति और विज्ञान  
उत्तर (ख)

## इकाई-2.3 लाइबनिट्ज (Leibnitz)

### उद्देश्य-

1. लाइबनिट्ज के चिदिबन्धुवाद को समझना।
2. मोनाड सिद्धान्त का अध्ययन करना।
3. पूर्वस्थापित सामंजस्य की अवधारणा का विश्लेषण करना।

### 1646 से 1716 ई.-

गॉटफ्रिड विल्हेल्म लाइबनिट्ज का जन्म जर्मनी के लाइपजिग नगर में हुआ था। पिता स्थानीय विश्वविद्यालय में आचार्य दर्शन के अध्यापक थे। वे लाइबनिट्ज को 6 वर्ष का छोड़कर चल बसे थे। लाइबनिट्ज ने गणित के 'कलन' का, जिसका उनके समकालीन वैज्ञानिक न्यूटन ने भी स्वतन्त्र आविष्कार किया था, स्वतन्त्र रीति से आविष्कार किया।

### लाइबनिट्ज दर्शन के मूलभूत सिद्धान्त की व्याख्या

**1. निरन्तरता का नियम (Law of continuity)** - उन्होंने गणित के गहरे अध्ययन के पश्चात् यह पता लगाया कि संख्या का कोई अन्त नहीं। संख्या को असीमित बढ़ाया जा सकता है साथ ही साथ इस असीमितता को छोटे से छोटे भाग में बाँटा जा सकता है। इससे यह निष्कर्ष निकाला कि किसी पदार्थ के विभाजन में कोई सीमा नहीं; परन्तु अंशों के योग्य को भी सीमा नहीं, परन्तु अंशों में निरन्तरता अवश्य है।

लाइबनिट्ज के अनुसार विश्व के मूलतत्त्व चिद्गु है। सभी चिद्गु एक समान। चिद्गु में चेतना का भेद है। निम्न, उच्च, उच्चतर और उच्चतम आदि चिद्गु को अनेक श्रेणियों है; परन्तु ये श्रेणियों आकस्मिक नहीं। एक स्तर दूसरे स्तर से पूर्णतः सम्बद्ध है।

**उदाहरणार्थ-** निम्नतम से लेकर उच्चतम श्रेणी तक चेतना के विभिन्न स्तर हैं। इनमें परिणाम के भेद अवश्य है, परन्तु इनमें गुणात्मक भेद नहीं। इसका आधार निरन्तरता का नियम है। इस नियम के आधार पर हो लाइबनिट्ज सजीव और निर्जीव, चेतन और अचेतन का भेद समाप्त करते हैं।

**2 व्यक्तित्व का नियम (Law of Individuality)** - लाइबनिट्ज के दर्शन परम तत्त्व व्यक्ति विशेष है। विशेष पदार्थ चिद्गु है। चिद्गु अनेक है परन्तु सभी चिद्गु व्यक्ति विशेष है। एक चिद्गु दूसरे के समान नहीं, अतः सभी विशेष है। सभी चिद्गु को अलग-अलग मानने के कारण लाइबनिट्ज परम तत्त्व की अनेकता स्वीकार करते हैं। विश्व में चिद्गु असंख्य हैं।

ये चिद्गु हो लाइबनिट्ज के द्रव्य है। चिद्गु विश्व के परम तत्त्व तो हैं, परदा अन्तिम, अविभाज्य, न्यूनतम पदार्थ नहीं। परमाणुवादियों के अनुसार विश्व का अविभाज्य पदार्थ ही परमाणु कहलाता है।

दूसरी बात यह है कि वैज्ञानिकों के परमाणु अचेतन पदार्थ है। लाइबनिट्ज के परमाणु चेतन है। विकास का कोई स्तर चेतनाशून्य नहीं। अतः लाइबनिट्ज नहीं परमाणुवादी दार्शनिकों न्यूनतम, अविभाज्य पदार्थ को ही मानते हैं और न अचेतन रूप ही स्वीकार करते हैं। इसी प्रकार लाइबनिट्ज के चिद्गु गणित के बिन्दु से भी भिन्न हैं। गणितीय बिन्दु निर्जीव है, उनमें शक्ति नहीं। लाइबनिट्ज के अनुसार शक्ति ही द्रव्य का सार है। लाइबनिट्ज चिद्गु को शक्तिमान विशेष पदार्थ मानते हैं। पुनः लाइबनिट्ज का द्रव्य देकार्त के समान परम स्वतन्त्र भी है।

लाइबनिट्ज ने चिद्गु के माध्यम से ही विश्व के विविधता ने व्याख्या की है। चिद्गु अनेक हैं, परन्तु सभी एक से नहीं। तात्पर्य यह है कि प्रत्येक चिद्गु का अपन स्वत्व है। वनस्पति जगत से लेकर मानव तक भी स्तरों में जीव व्याप्त हैं। सभी चेतन सम्पन्न हैं, हैं परन्तु चेतना में न्यूनाधिक मात्रा है यह भेद चिद्गु का स्वत्व या निजत्व सिद्ध करता है।

**3 सामंजस्य का नियम (Law of Harmony)** - चिद्गु अनेक है तथा संबंध अपना-अपना स्वत्व है, परन्तु सबों में एकता भी है। चिद्गु भिन्न-भिन्न हैं, परन्तु सबमे चेतना शक्ति है, कोई भी चिद्गु अचेतन तथा शक्तिहीन नहीं। चिद्गु में आन्तरिक एकता है। इसी कारण विश्व में सामंजस्य तथा व्यवस्था है। इस एकता का कारण ईश्वर है।

लाइबनिट्ज इसे पूर्व स्थापित सामंजस्य कहते हैं। चिद्गु में पारस्परिक एकता तथा विश्व में व्यवस्था ईश्वर के द्वारा पहले से स्थापित है। इसी पूर्व स्थापित सामंजस्य के सूत्र में बंधकर सभी चिद्गु एक से कार्य करते हैं।

**4 पर्याप्त कारण का नियम (Law of Sufficient Reason)** - विश्व में कार्य-कारण ही श्रृंखला है परन्तु सर्वप्रथम कारण तो स्वयं-भूया अकारण

होता है यह परम कारण ईश्वर है। लाइबनिट्ज उसे अनिवार्य और “सह सम्भाव्य” सत्य के द्वारा स्पष्ट करते हैं। अनिवार्य सत्य अविरोध नियम पर आधारित रहते हैं। परन्तु सम्भाव्य पर्याप्त कारणता नियम पर सिद्ध किये जाते हैं। ईश्वर ने अनेक सम्भव विश्वों में विश्व का चयन किया, क्योंकि इसमें अधिक पूर्णता थी, यहीं पर्याप्त कारणता है। अंत यह संसार सभी संसारों में श्रेष्ठ है। ईश्वर हो सम्भाव्यों में में किसी एक को संभव बनाता है

### द्रव्य विचार-

देकार्त के अनुसार स्वतन्त्र होने का अर्थ असीम होना है। श्री अर्थ के अनुसार स्पिनोजा ईश्वर को ही एकमात्र द्रव्य मानते हैं, क्योंकि ईश्वर हो मग तथा अनन्त है। लाइबनिट्ज के अनुसार स्वतन्त्र होने का अर्थ स्वतन्त्र शक्ति अतः द्रव्य वह नहीं जिसकी सत्ता अपने आप पर आत हो, वरन (यदि यहीं द्रव्य तो लक्षण हो तो सान्त द्रव्य नहीं हो सकते) वह जिसमें स्वतन्त्र किया हो तथा सभी फार के परिणामों का जो स्वतः आधार हो, अतः द्रव्य परिणामी है, क्रियात्मक है।

लाइबनिट्ज परमाणुओं के भौतिक स्वरूप निषेध करते हैं। उनके अनुसार भौतिक पदार्थ निस्वयव, अविभाज्य नहीं हो सकता। भौतिक या जड़त्व होने के कारण वह नित्य भी नहीं हो सकता। भौतिक कण यदि जितना भी छोटा हो, विभाज्य है तथा अनित्य है। अतः इन परमाणुओं का स्वरूप भौतिक, आध्यात्मिक या चिदात्मक स्वीकार करना होगा। तात्पर्य यह है कि विश्व की तम, अविभाज्य इकाई आध्यात्मिक है, इसे लाइबनिट्ज चिद्गुण कहते हैं

### चिद्गुणवाद-

**चिद्गुणवाद-** इनके अनुसार आत्मा की चार चित्तभूमियाँ हैं- स्वचेतन, चेतन, उपचेतन, और अचेतन। उपचेतन और अचेतन मानसिक दशाओं को लाइबनिट्ज ने “लघु चेतना” नाम दिया है। लाइबनिट्ज द्रव्य को भौतिक इकाई मानते हैं क्योंकि भौतिक इकाई कितनी भी लघु हों वह विभाज्य होती है। अतः चैतन्य ही एकमात्र ही द्रव्य है। इसी चैतन्य द्रव्य को चिद्गुण की संज्ञा दी गयी है। इसी द्रव्य द्वारा लाइबनिट्ज ने सम्पूर्ण विश्व को स्पष्ट करने का प्रयास किया है। ये चिद्गुण स्वतन्त्र, आत्मनिर्भर, आध्यात्मिक इकाई, सरल, अविभाज्य तथा अनादि अनन्त हैं। लाइबनिट्ज ने मुख्य रूप से 5 प्रकार के चिद्गुण बताये हैं-

1. सुषुप्त चिद्गुण,
2. उपचेतन चिद्गुण
3. चेतन चिद्गुण
4. स्वचेतन चिद्गुण
5. ईश्वरीय चिद्गुण।

इनमें अचेतन का अर्थ चेतना की न्यूनतम मात्रा से है। इस प्रकार चिद्गुण अचेतन से पूर्ण चेतनता की ओर गति ईश्वर करता है तथा यह गति तक जाती है।

लाइबनिट्ज का द्रव्य सिद्धान्त चिद्गुणवाद कहलाता है, क्योंकि चिद्गुण ही द्रव्य है। चिद्गुण ग्रीक शब्द है, जो एकतावाचक है। संभवतः लाइबनिट्ज ने ‘मोनाड शब्द’ सिद्ध रासायनिक वान हेलमोण्ट से लिया था। वान हेलमोण्ट ने ही सर्वप्रथम सरल, सूक्ष्म, न्यूनतम अवयव को चिद्गुण माना है।

लाइबनिट्ज के अनुसार द्रव्य एक नहीं अनेक हैं, परन्तु ये चित् रूप हैं। ये चिद्गुण जगत के मूल कारण हैं। ये अचेतन अणुरूप नहीं वरन चेतन शक्तिरूप हैं। संसार प्रत्येक पदार्थ इन्हीं सरल शक्तिरूप तत्त्वों का संघात हैं, जिसमें विस्तार नहीं वह भौतिक भी नहीं, वह तात्त्विक है। ये शक्तिरूप सरल द्रव्य ही तात्त्विक पदार्थ हैं जिन्हें लाइबनिट्ज मोनाड कहते हैं। लाइबनिट्ज भौतिक पदार्थों का गुण विस्तार नहीं मानते। उनके अनुसार भौतिक पदार्थों का आवश्यक गुण शक्ति है। जड़ पदार्थ शक्ति सम्पन्न है। जड़ पदार्थों में परिणाम या परिवर्तन होता है, क्योंकि वे शासक है। लाइबनिट्ज के दर्शन में इसी शक्ति का नाम चिद्गुण है।

वैज्ञानिक परमाणुओं को शक्ति रूप तो मानते हैं, परन्तु अचेतन स्वीकार करते हैं। लाइबनिट्ज के अनुसार परमाणु चेतन है, क्योंकि ये अभौतिक हैं। इन्होंने अभौतिक शक्ति सम्पन्न, परमाणुरूप पदार्थ को लाइबनिट्ज चिद्गुण कहते हैं। शक्ति विस्तार शून्य है, क्योंकि यह जड़ पदार्थ नहीं, अतः शक्ति का विभाजन भी सम्भव नहीं। अविभाज्य होने के कारण शक्ति सरल है। सरलता तथा अविभाज्यता के कारण शक्ति को मौलिक द्रव्य भी माना गया है।

### चिद्गुण और चेतना-

लाइबनिट्ज के अनुसार चेतन परमाणु ही चिद्गुण है। अतः चेतन ही चिद्गुण का लक्षण माना गया है। विश्व असंख्य चेतन परमाणुओं से भरा है। प्रत्येक चिद्गुण अपने आपमें शक्ति विशेष है। चिद्गुण की विशिष्टता उसकी स्वगत चेतना से सिद्ध होती है तात्पर्य यह है चेतना ही चिद्गुण का गुण है जिसके कारण चिद्गुण का सजातीय भेद सम्भव है।

इस दृष्टि से कहा गया है कि चिद्गुण में गुणात्मक तथा संख्यात्मक दोनों भेद है तात्पर्य यह है कि न्यूनाधिक चेतना के कारण चिद्गुण



७ भिन्न है तथा अनेक होने के कारण उनमें संख्यात्मक भेद अवयव ही हैं। चेतना के आधार पर लाइबनिट्ज चिदणु की तारतम्यस श्रेणी की व्याख्या बतलाते हैं।

यदि चिदणु भिन्न-भिन्न है तो उनकी श्रेणी कैसी? इसकी व्याख्या लाइबनिट्ज क्रमबद्धता Law of Continuty से करते हैं। लाइबनिट्ज के अनुसार चेतना के विकार की एक श्रृंखला है। चेतना के पाँच स्तर हैं। अचेतन, उपचेतन, चेतन, स्वचेतन और पूर्ण चेतन।

- **अचेतन** - अचेतन का अर्थ चेतना का नितान्त अभाव नहीं, वरन् चेतना की न्यूनतम मात्रा है। यह निम्नतम श्रेणी है जिसे लाइबनिट्ज सरल या निम्न चिदणु का स्तर बतलाते हैं। इस स्तर के चिदणु में चेतना सोयी हुई सी रहती है। यह जड़ जगत है।

- **उपचेतन** - इस स्तर की चेतना स्वप्नावस्थित जैसी है। इस स्तर में स्मृति विद्यमान रहती है। यह पशुजगत तथा वनस्पति जगत है।

- **चेतन** - इस स्तर पर चेतना जागृतावस्था में रहती है। अतः प्राणी को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तथा यह मानव का द्वितीय स्तर है।

- **स्वचेतन** - यह भी मानव का स्तर है। मानव विचारशील होता है, क्योंकि विचार आत्मा का गुण होता है, इसलिए इस स्तर को आत्मा का स्तर कहते हैं। पशु में भी आत्मा है, परन्तु आत्म चेतन नहीं, विचार नहीं।

- **पूर्ण चेतन** - यह स्तर ईश्वर का है। ईश्वर को ब्रह्माण्ड की सभी वस्तुओं का पूर्ण बोध रहता है।

चेतन के कारण ही चिदणु में संवेदन शक्ति में होती है, जो अधिक चेतन है वह अधिक संवेदन शक्ति सम्पन्न है। यह संवेदन शक्ति ही प्रत्येक चिदणु का कार्य अथवा प्रत्येक चिदणु चेतन होने से संवेदनशील है, परन्तु संवेदना की मात्रा भिन्न-भिन्न है।

क्षीणतम चिदणु में ज्ञानात्मक शक्ति अवश्य रहती है, परन्तु नहीं के बराबर। वह निर्जीव जगत है। इन्हें लाइबनिट्ज नग्न चिदणु कहते हैं। द्वितीय प्रकार क्षीणतर चिदणु का है। (वनस्पति जगत तृतीय प्रकार के चिदणु क्षीण कहे जाते हैं। इस जगत में संवेदन स्पष्ट होता है। यह पशु जगत है। लाइबनिट्ज इसे चेतन जगत मानते हैं। चौथे प्रकार का चिदणु स्पष्टतर ज्ञान का होता है। यह स्वचेतन मानव जगत का है। लाइबनिट्ज इसे आत्मजगत मानते हैं। पंचम प्रकार के चिदणु केवल एक है, जिसे लाइबनिट्ज ईश्वर कहते हैं। ईश्वर भी स्पष्टतम ज्ञान होता है।

**ईश्वर का चिदणु-** इस चिदणु में पूर्ण चैतन्य होता है, वह चिदणुओं की सोपान क्रमिक व्यवस्था में सर्वोच्च स्थान पर स्थित होता है। इसमें पूर्ण चेतना, क्रियाशक्ति तथा ज्ञान की पराकाष्ठा होती है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. लाइबनिट्ज ने मोनाड को वास्तविकता का आधार माना।
2. प्रत्येक मोनाड स्वतंत्र एवं चेतन है।
3. ईश्वर सर्वोच्च मोनाड है।
4. बिब पूर्वस्थापित सामंजस्य से संचालित होता है।
5. उनका दर्शन आध्यात्मिक बहुलवाद कहलाता है।

### शब्दावली

|              |                          |
|--------------|--------------------------|
| शब्द         | अर्थ                     |
| मोनाड        | चेतन सूक्ष्म तत्व        |
| चिद्विन्दु   | चेतन इकाई                |
| सामंजस्य     | समन्वित व्यवस्था         |
| बहुलवाद      | अनेक तत्वों का सिद्धान्त |
| आध्यात्मिकता | चेतना आधारित दृष्टिकोण   |

### 5 अंक के प्रश्न

1. मोनाड सिद्धान्त क्या है?
2. चिद्विन्दुवाद की व्याख्या कीजिए।
3. लाइबनिट्ज के अनुसार ईश्वर क्या है?
4. पूर्वस्थापित सामंजस्य का अर्थ बताइए।

5. लाइबनिज् के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

**15 अंक के प्रश्न**

1. लाइबनिज् के मोनाड सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. चिद्बिन्दुवाद का विस्तृत विश्लेषण कीजिए।
3. लाइबनिज् के पूर्वस्थापित सामंजस्य सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
4. आधुनिक दर्शन में लाइबनिज् के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न**

1. मोनाड सिद्धान्त किसका है? (घ) देकार्त (ख) स्पिनोजा (ग) लाइबनिज् (घ) लॉक  
उत्तर (ग)
2. लाइबनिज् ने वास्तविकता का आधार क्या माना? (घ) पदार्थ (ख) अनुभव (ग) मोनाड (घ) प्रकृति  
उत्तर (ग)
3. सर्वोच्च मोनाड कौन है? (घ) मनुष्य (ख) प्रकृति (ग) आत्मा (घ) ईश्वर  
उत्तर (घ)

## इकाई-2.4 चिद्गु का स्वभाव

### उद्देश्य-

1. पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धान्त को समझना।
2. मन एवं शरीर सम्बन्धी समस्या का अध्ययन करना।
3. लाइबनिट्ज के दार्शनिक ख्रष्टिकोण का विश्लेषण करना।

चिद्गु बाह्य प्रभाव से रहित हैं। इसी दृष्टि से चिद्गु को गंवाक्षहीन Windowless माना गया है। क्योंकि प्रत्येक चिद्गु छिद्र रहित हैं। यह चिद्गु की स्वतन्त्रता सिद्ध और करता है। पूर्णतः स्पष्टतम रूप में प्रतिबिम्बित करना तो केवल उच्चतम चिद्गु (ईश्वर) का कार्य है, परन्तु अन्य चिद्गु न्यूनाधिक भाव से प्रतिबिम्बित करते हैं, जिसमें जितनी जड़ता है, वह उतने ही निम्न ढंग से या अस्पष्ट रूप से विश्व को प्रतिबिम्बित करता हैं। अतः उच्चतम चिद्गु ईश्वर ही पूर्णतः सक्रिय है। शक्ति सब में समानतः है, परन्तु शक्ति के विकास में भेद में भेद हैं।

### पूर्व स्थापित सामंजस्य-

लाइबनिट्ज के अनुसार चिद्गु गवाक्षहीन है, छिद्ररहित है अर्थात् वे बाह्य प्रभावविहीन है। वे अपने आन्तरिक नियमों से ही परिचालित होते हैं। सभी स्वतन्त्र हैं। यदि सभी चिद्गु स्वतन्त्र रूप से शक्ति के पुंज है तो उनमें अन्तक्रिया कैसे? शरीरात्म सम्बन्ध तथा विश्व में साम्य, एकरूपता की व्याख्या पूर्व स्थापित सामंजस्य से होती है। चिद्गु स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष होकर भी एक दूसरे के सहयोगी हैं। इसी कारण संसार में नियम तथा व्यवस्था है, विश्व में नियम तथा व्यवस्था, एकता तथा सामंजस्य का कारण ईश्वर है। यह सामंजस्य ईश्वर के द्वारा सृष्टि के पूर्व हो स्थापित है। चिद्गु की सृष्टि करने के समय ईश्वर ने ऐसी व्यवस्था निश्चित कर दी है कि सभी चिद्गु में समान परिवर्तन हो। एक की क्रिया के समान दूसरे में भी क्रिया उत्पन्न हो। अतः चिद्गु गवाक्षहीन होकर भी एक दूसरे के सहचारी हैं, सभी चिद्गुओं में एक समान ही क्रिया उत्पन्न होती है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धान्त लाइबनिट्ज ने दिया।
2. मन और शरीर में प्रत्यक्ष सम्बन्ध नहीं माना गया।
3. ईश्वर ने पहले से सामंजस्य स्थापित किया है।
4. बिब्व एक सुव्यवस्थित व्यवस्था है।
5. प्रत्येक मोनाड स्वतंत्र रूप से कार्य करता है।

### शब्दावली

| शब्द              | अर्थ                               |
|-------------------|------------------------------------|
| सामंजस्य          | संतुलित समन्वय                     |
| मोनाड             | चेतन इकाई                          |
| मन-शरीर समस्या    | चेतना और शरीर के सम्बन्ध का प्रश्न |
| पूर्वस्थापित      | पहले से निर्धारित                  |
| दार्शनिक व्यवस्था | सिद्धान्त आधारित संरचना            |

### 5 अंक के प्रश्न

1. पूर्व स्थापित सामंजस्य क्या है?
2. लाइबनिट्ज के अनुसार मन और शरीर का सम्बन्ध स्पष्ट कीजिए।
3. मोनाड की विशेषताएँ लिखिए।
4. पूर्वस्थापित सामंजस्य सिद्धान्त का महत्व बताइए।
5. लाइबनिट्ज के दर्शन की मुख्य विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धान्त का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. लाइबनिट्ज के मन-शरीर सम्बन्धी विचारों की समीक्षा कीजिए।
3. मोनाडवाद और पूर्वस्थापित सामंजस्य का विश्लेषण कीजिए।
4. बुद्धिवादी दर्शन में लाइबनिट्ज के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. पूर्व स्थापित सामंजस्य सिद्धान्त किसने दिया? (घ) देकार्त (ख) स्पिनोजा (ग) लाइबनिट्ज (घ) कांट  
उत्तर (ग)
2. पूर्व स्थापित सामंजस्य किस समस्या से सम्बन्धित है? (घ) ईश्वर और प्रकृति (ख) मन और शरीर (ग) ज्ञान और अनुभव  
(घ) नैतिकता और धर्म  
उत्तर (ख)
3. लाइबनिट्ज के अनुसार सामंजस्य किसने स्थापित किया? (घ) मनुष्य (ख) प्रकृति (ग) आत्मा (घ) ईश्वर  
उत्तर (घ)

## खण्ड-3 अनुभववाद

### इकाई-3.1 जॉन लॉक-जन्मजात प्रत्ययों का खंडन, प्राथमिक एवं गौण गुण, अज्ञेयवाद जॉन लॉक 1632 से 1704 ई.

#### उद्देश्य-

1. जकन लकक के अनुभववादी दर्शन को समझना।
2. जन्मजात प्रत्ययों के खण्डन का अध्ययन करना।
3. प्राथमिक एवं गौण गुणों की अवधारणा का विश्लेषण करना।

लॉक का जन्म इंग्लैण्ड के साधरण गृहस्थ परिवार में हुआ। आक्सफोर्ड में पदार्थ-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, और चिकित्सा-विज्ञान का अध्ययन किया और वहीं वे यूनानी भाषा के अध्यापक बन गये। लॉक ने बुद्धिवाद की इस मान्यता का खण्डन किया कि ज्ञान का मूल स्रोत इन्द्रियातीत सहज अनुभूति है। हमारे कोई सहज प्रत्यक्ष नहीं हैं। लॉक अनुभववादी परम्परा के प्रथम गणितीय दार्शनिक हैं। लॉक ही पहले ऐसे दार्शनिक हैं। जिन्होंने दार्शन के आकर्षण के अन्तर को **तत्त्वमीमांसा से हटाकर ज्ञान मीमांसा** पर केन्द्रित किया।

लॉक अनुभववाद के पिता माने जाते हैं। क्योंकि सर्वप्रथम इन्होंने बुद्धिवाद की मान्यताओं को विशेष कर अनुभववाद की नई नींव डाली। लॉक के अनुभववाद के अनुसार हमारा समस्त ज्ञान अनुभवजन्य है। बाह्य जगत का ज्ञान हमें बाह्य इन्द्रियों से होता है और आन्तरिक जगत का आन्तर्निरीक्षण से होता है। अतः इन्द्रियों के बिना हमें ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। अर्थात् ज्ञान इन्द्रिय सापेक्ष है। उच्च से उच्च विचार भी अनुभवजन्य है।

#### जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन

**जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन-** बुद्धिवादी मानते हैं कि मनुष्य के मन में जन्म से ही कुछ सार्वभौमिक एवं प्रागनुभविक प्रत्यय विद्यमान होते हैं। किन्तु लॉक बुद्धि के स्थान पर अनुभव को ज्ञान का प्रमुख स्रोत मानने के कारण सभी प्रत्ययों को अर्जित मानते हैं। बुद्धिवादियों की यह मान्यता है कि सभी प्रत्यय जन्मजात होते हैं तथा ये ही हमारे समस्त ज्ञान को विषय हैं। यदि ईश्वर ने हमें रंग के प्रत्ययों को प्राप्त करने के लिए आंखें प्रदान की हैं तो ये कहना तर्कसंगत नहीं है कि रंग का प्रत्यय जन्मजात है। सर्वसम्मति के आधार पर जन्मजात प्रत्ययों को स्वीकार किया गया है। उसी प्रकार अनुभव को भी सर्वसम्मति के आधार पर स्वीकार किया जा सकता है। जैसे फूल को देखकर सभी लोग सर्वसम्मति से स्वीकार करते हैं कि ये लाल रंग का फूल है। यदि प्रत्यय जन्मजात होते तो सभी में समान रूप से पाये जाते लेकिन हम देखते हैं कि सभी में भिन्न-भिन्न प्रकार का ज्ञान होता है। कुछ आस्तिक हैं तो कुछ नास्तिक। अतः ईश्वर का विचार भी भिन्न-भिन्न है।

लॉक जन्मजात प्रत्ययों के खण्डन के लिए निम्न तर्क देते हैं-

(1) बुद्धिवादी दार्शनिक सार्वभौम तथा अनिवार्य ज्ञान को जन्मजात मानते हैं, लॉक के अनुसार ऐसा कोई दार्शनिक या व्यावहारिक सिद्धान्त नहीं। जिसे सारे विश्व लोग स्वीकार करते हों, यदि सारा विश्व किसी एक विचार से सहमत हो तो वे सार्वभौम माना जा सकता है। परन्तु सार्वभौम होने से यह विचार जन्मजात नहीं। किसी दूसरे कारणवश भी एकमत हो सकता है।

(2) लाइबनिटज कहते हैं कि जन्मजात प्रत्यय हममें जन्म से विद्यमान रहते हैं परन्तु हमें सर्वदा उनकी प्रतीति नहीं होती। क्योंकि वे प्रत्यय अचेतन मस्तिष्क में हैं। लॉक का कहना है कि वस्तु का होना एवं उसकी प्रतीति का न होना असम्भव है अतः अप्रतीयमान अस्तित्व तो विरोधसूचक हैं।

(3) यदि कोई सार्वभौम अनिवार्य ज्ञान है तो उसकी सत्ता सबमें होनी चादिना पागल, मुर्ख आदि सब में वह ज्ञान विद्यमान होना चाहिये। कोई भी बच्चा जन्म से या नहीं जानता कि  $3 + 4 = 7$  वरन् एक से सात तक गिनती सीखकर ही जाना है कि तीन और चार का योग सात होगा।

(4) बुद्धिवादी दार्शनिकों का कहना है कि तादात्म्य का नियम तथा विरोध का नियम आदि मौखिक जन्मजात प्रत्यय है। यदि ये नियम जन्मजात होते तो बच्चे, मूर्ख, जंगली, असभ्य आदि सभी इसे जानते।

(5) कुछ लोगों का कहना है कि नैतिक नियम जन्मजात है, लॉक का कहना है सा कोई भी नैतिक नियम नहीं, जिसे सारे संसार के लोग स्वीका का कहना है प्रत्येक समाज के लिये आचार के नियम अपने देश तथा परिस्थिति के अनुसार होते हैं।

न्याय आदि के सिद्धान्त को अधिकतर लोग स्वीकार करते हैं, इसलिये नहीं कि वह जन्मजात है, वरन् वह हितकर है। हित या भलाई की धारणा भिन्न-भिन्न देशों में भिन्न-भिन्न हैं। अतः न्याय आदि नैतिक सिद्धान्त भी अलग-अलग हैं।

(6) कुछ लोग ईश्वर प्रत्यय को जन्मजात मानते हैं। लॉक का कहना है कि दुनिया में बहुत-सी जातियाँ हैं जिनको ईश्वर का ज्ञान

तक नहीं। पुनः यदि ईश्वर का प्रत्यय जन्मजात होता तो नास्तिक क्यों होते ?

(7) कुछ लोगों का कहना है कि जन्मजात ज्ञान तो हममें जन्म से ही विद्यमान रहते हैं, परन्तु बुद्धि विकसित हो जाने पर हम उन्हें पहचानते हैं। यदि बुद्धि के विकसित होने पर हम उन्हें पहचानते हैं तो केवल जन्मजात प्रत्ययों की क्षमता ही जन्म से समय हो सकती है, जन्मजात प्रत्यय नहीं।

जन्म के समये हमारा मन कोरे कागज। अन्धेरे कमरे, साफ स्लेट के समान रहता है। इस पर कुछ भी अंकित नहीं रहता। ज्ञान की रश्मियाँ जिन वातायन से भीतर प्रवेश करती हैं उन्हें संवेदना तथा स्वसंवेदना कहते हैं। संवेदना से बाह्य जगत का ज्ञान प्राप्त होता है तथा स्वसंवेदना से आन्तरिक जगत की अनुमति होती है।

## प्रत्यय

लॉक के अनुसार ज्ञान प्रत्ययों से बनता है। प्रत्यय दो प्रकार के हैं-

(घ) सरल (Simple) (ख) मिश्रित (Mixed)

सरल प्रत्ययों को ग्रहण करने में हमारी बुद्धि निष्क्रिय रहती है तथा मिश्र प्रत्ययों में सक्रिय। सरल एक ही प्रकार की इन्द्रियानुभूति है। इस प्रत्यय के चार प्रकार माने गये हैं-

(घ) एक बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले प्रत्यय, जैसे-रूप, रस, रंग, गन्ध इत्यादि ।

(ख) एक से अधिक बाह्य इन्द्रियों से प्राप्त होने वाले, जैसे विस्तार, आकृति, गति इत्यादि।

(ग) अन्तःकरण के स्वसंवेदन से प्राप्त होने वाले जैसे-चिन्तन, मनन, संकल्प, स्नेह, स्मृति इत्यादि ।

(घ) बाह्येन्द्रिय तथा अन्तःन्द्रिय 'मन' के संवेदन से प्राप्त होने वाले जैसे सुख, दुःख सत्ता, शक्ति, एकता आदि।

### मिश्र प्रत्यय-

सरल प्रत्ययों के निर्माण में हमारी बुद्धि निष्क्रिय होती है क्योंकि यह बाह्य वस्तुओं से जन्य संवेदनाओं को ज्यों का त्यों ग्रहण करती है। मिश्र प्रत्ययों के निर्माण में निम्न छः अवस्थाओं का वर्णन किया गया है-

(1) सरल प्रत्ययों का ग्रहण (Perception)- सरल प्रत्यय संवेदना तथा स्वसंवेदना के द्वारा ही बुद्धि को प्राप्त होते हैं।

(2) सरल प्रत्ययों का धारण (Retention) - प्रत्ययों का धारण करना स्मृति का काम है। अतः स्मृति न रहे तो प्राप्त संवेदनाएँ विस्मृत हो जाएँगी तथा आगे की ज्ञान प्रक्रिया भी समाप्त हो जायेगी।

(3) प्रत्ययों का पृथक्करण (Discernment)- वस्तुतः बुद्धि की पहली सक्रिय अवस्था यही है। बुद्धि को असंख्य संवेदनाएँ प्राप्त होती है। बुद्धि उन सबों को अलग-अलग वर्गों में विभाजित करती है।

(4) सरल विज्ञानों का सन्तुलन (Comparison)- संतुलन का अर्थ है विज्ञानों को क्रम से व्यवस्थित करना। यहाँ समान सरल प्रत्ययों को ही व्यवस्थित कर बटिकार उन्हें सन्तुलित करती है।

(5) प्रत्ययों का मिश्रण (Composition)- - इस अवस्था में बुद्धि संतुलित प्रत्ययों का योग कराती हैं।

(6) नामकरण (Abstraction)- हम किसी व्यक्ति या वस्तु विशेष का नामकरण उसके सामान्य तथा सार गुणों के आधार पर ही करते हैं।

(1) पर्याय (Mode)- पर्याय सरल प्रत्ययों के योग से बनते हैं तथा द्रव्याश्रित है। द्रव्याश्रित कहने का तात्पर्य यह है कि द्रव्य ही पर्याय का आधार है, अर्थात् पर्याय की सत्ता स्वतन्त्र नहीं।

उदाहरणार्थ- त्रिभुज, कृतज्ञता, हत्या आदि विचार पर्याय माने गये हैं।

पर्याय दो प्रकार के माने गये हैं- (i) सरल (ii) मिश्र

(i) सरल- यदि एक ही प्रकार की विभिन्न वस्तुएँ एक ही वर्ग में रखी जाये तो वह सरल प्रत्यय है।

उदाहरणार्थ- दर्जन, कौड़ी, इत्यादि ।

(ii) मिश्र- मिश्र पर्याय वे हैं जिसमें वस्तु के विभिन्न प्रकार हों।

उदाहरणार्थ- सौन्दर्य के विचार में रूप, आकृति तथा दृष्टा का आनन्द आदि अनेक प्रत्यय सम्मिलित हैं।

(2) द्रव्य (Substance) - द्रव्य भी सरल प्रत्ययों का योग है। द्रव्य की सत्ता स्वतन्त्र है। द्रव्य गुण का आश्रय है। गुण का हम प्रत्यक्ष करते हैं, परन्तु गुण के आधार (द्रव्य) का प्रत्यक्ष नहीं होता।

द्रव्य प्रत्यय के भी दो प्रकार हैं- व्यष्टि रूप या समष्टि रूप।

उदाहरणार्थ- मनुष्य व्यष्टि रूप द्रव्य प्रत्यय है तथा सेना समष्टि रूप प्रत्यय है।

(3) सम्बन्ध (Relation) - ये भी सरल प्रत्ययों से ही बनते हैं। किन्हीं दो व्यक्तियों या वस्तुओं में तुलना के आधार पर निर्मित



प्रत्यय को सम्बन्ध प्रत्यय कहा जाता है। सम्बन्ध प्रत्यय सर्वदा दो सम्बन्धियों के बीच रहता है।

**उदाहरणार्थ** - (पिता-पुत्र) (बड़ा-छोटा)।

**गुण विचार-**

गुण की अवधारणा द्रव्य ज्ञान के लिये आवश्यक है, गुणों के ज्ञान के बिना हमें द्रव्य का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः गुणों का ज्ञान आवश्यक है। लॉक ने स्पष्टतः बतलाया है कि गुणों के आधार को द्रव्य कहते हैं। गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें होता है। द्रव्य का नहीं। गुणों का आधार गुणी (द्रव्य) अवश्य है, क्योंकि गुण निराधार नहीं रह सकते, क्योंकि निराधार का ज्ञान सम्भव नहीं। गुणों का ज्ञान हमें होता है आधार द्रव्य भी अवश्य है।

लॉक महोदय का कहना है कि गुण के दो प्रकार हैं-

(i) **मूल गुण** - मूल गुण किसी द्रव्य या वस्तु का अपना स्वतन्त्र धर्म या स्वभाव है। इन्हें वस्तु या द्रव्य का अविच्छेद धर्म भी कहा गया है।

**उदाहरणार्थ-** आकृति किसी वस्तु का मूलगुण है। आकृति के बिना हमें वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

मूल गुण के स्वतन्त्र कहने का तात्पर्य यह है कि आकृति, गति आदि प्रत्युयों का ज्ञान तो हमें इन्द्रियों से होता है परन्तु इनका अस्तित्व इन्द्रिय ज्ञान से स्वतन्त्र हैं। इस प्रकार ज्ञान की दृष्टि से मूलगुण परतन्त्र है, परन्तु सत्ता की दृष्टि से स्वतन्त्र।

(ii) **उपगुण**-उपगुण वस्तु के स्वतन्त्र नहीं। उपगुण मूलगुणों के माध्यम से उत्पन्न होते हैं। अतः उपगुण के कारण मूलगुण हैं।

**उदाहरणार्थ-** रूप उपगुण है। रूप आकार के बिना नहीं रह सकता। लॉक के अनुसार रूप संवेदना है। इसकी उत्पत्ति आकृति के अधीन हैं। अतः उपगुण संवेदना है जो मूलगुणों के माध्यम से अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार विभिन्न संवेदनाओं को उत्पन्न करने वाली शक्ति का नाम ही उपगुण है। उपगुण अपनी उत्पत्ति और ज्ञान दोनों दृष्टि से परतन्त्र है। इनकी उत्पत्ति मूलगुणों के कारण होती है तथा इनका ज्ञान भी ज्ञाता पर निर्भर है। रूप संवेदना है, जो देखने वाले पर निर्भर है। लॉक महोदय का कहना है कि उपगुण वस्तु के धर्म नहीं, वरन् मूलगुणों के माध्यम से उत्पन्न संवेदना है।

**मूलगुण और उपगुण में भेद-**

(घ) मूलगुण द्रव्य के अविच्छेद धर्म या स्वभाव है। इन्हें द्रव्य से पृथक् नहीं किया जा सकता। उपगुण वस्तु के धर्म नहीं, वरन् मूलगुण के धर्म है।

(ख) मूल गुण द्रव्य के स्वतन्त्र हैं। उपगुण ज्ञाता पर निर्भर है। यदि ज्ञाता न हो तो रूप की संवेदना नहीं होगी। अतः मूलगुण की सत्ता स्वतन्त्र हैं, उपगुण परतन्त्र है।

(ग) मूलगुण किसी वस्तु का वास्तविक धर्म है। इसके बिना वस्तु की सत्ता नहीं रह सकती। उपगुण तो संवेदना है। संवेदनाओं का स्वरूप बदलता रहता है।

(घ) लॉक के अनुसार मूलगुण निरपेक्ष है तथा उपगुण सापेक्ष।

(ङ) लॉक के अनुसार उपगुणों का सम्बन्ध हमारी इन्द्रियों से है, बुद्धि से नहीं, परन्तु मूलगुणों का सम्बन्ध हमारी बुद्धि से है। हमारी बुद्धि इन गुणों को द्रव्य का आवश्यक, अविच्छेद धर्म मानती है। अतः पहला बाह्य इन्द्रियों से गम्य है तथा दूसरा आन्तरिक इन्द्रियों से गम्य है।

लॉक के अनुसार ज्ञान मीमांसीय दृष्टि से द्रव्य अज्ञात है। क्योंकि द्रव्य का हमें केवल गुण प्राप्त होता है जो उनके सरल प्रत्ययों द्वारा ही मिलता है। अतः उनके गुणों को ही जान सकते हैं न कि द्रव्य को। अतः द्रव्य वह है जो सभी परिवर्तन के रहने पर भी स्थायी बना रहता है। लॉक ने अपने तत्व मीमांसा में तीन द्रव्यों की सत्ता को स्वीकार किया है-भौतिक पदार्थ, आत्मा तथा ईश्वर।

लॉक के अनुसार गुणों के आश्रय या आधार का नाम ही द्रव्य है। उनका कहना है कि गुणों का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते हैं तथा हम यह भी जानते हैं कि गुण निराधार नहीं रह सकते। अतः गुणों के आधार का नाम ही द्रव्य है। परन्तु द्रव्य की सत्ता गुणों के समान प्रत्यक्ष नहीं। उसकी सत्ता अनुमेय है। लॉक का कहना है कि द्रव्य अज्ञेय है, (Unknowable) अर्थात् द्रव्य के अपने स्वरूप के सम्बन्ध में हम कुछ भी नहीं जानते, (I Know not what) गुणों का सन्निधन का कारण हम द्रव्य मान लेते हैं।

गुणों का प्रत्यक्ष हमें होता है। अतः उनके आधार की कल्पना सत् है। अतः बाह्य वस्तु का वे निराकरण नहीं करते। इसलिए लॉक को बाह्य प्रत्यक्षवादी नहीं माना गया है, क्योंकि उनके अनुसार बाह्य वस्तु का हमें प्रत्यक्ष नहीं होता, प्रत्यक्ष तो गुणों का होता है। लॉक के अनुसार द्रव्य मिश्र प्रत्यय है। इस मिश्र प्रत्यय की उत्पत्ति तीन सरल प्रत्ययों के योग से होती है।

(i) मूलगुण

(ii) उपगुण

(iii) निष्क्रिय तथा सक्रिय शक्ति।

**प्राथमिक और गौण गुण-** प्राथमिक गुणों की परिभाषा देते हुए लॉक कहते हैं कि प्राथमिक गुण वे गुण हैं जिनका अधिष्ठान भौतिक पदार्थ होता है तथा जो किसी भी परिस्थिति में भौतिक पिण्डों से अवियोजनीय होते हैं अर्थात् जो भौतिक पदार्थ से पृथक् नहीं किये जा सकते हैं। लॉक के अनुसार इन गुणों का परिणामों द्वारा मापन किया जा सकता है। ये गुण छः होते हैं 1. ठोसपन 2. आकार 3. गति 4. विराम 5. विस्तार 6. संख्या। इन छः प्राथमिक गुणों से जड़तत्त्व अथवा भौतिक पदार्थ का मुख्य प्राथमिक गुण अर्थात् सार गुण 'ठोसपन' होता है।

**गौण गुण-** लॉक के अनुसार गौण गुण आत्मनिष्ठ होते हैं। लॉक कहते हैं कि गौण गुण वे गुण हैं जिनका ज्ञान या बोध वस्तुओं एवं इन्द्रियों के सम्पर्क से होता है। उनके अनुसार गौण गुणों का भौतिक पदार्थ में वस्तुतः स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होता है। वरन् यह अपने अस्तित्व के लिए प्राथमिक गुणों पर निर्भर करते हैं।

जिस प्रकार शरीर द्रव्य गुण विस्तार है, उसी प्रकार आत्म द्रव्य का गुण विचार है। विचार और विस्तार का हमें स्पष्ट अनुभव होता है परन्तु जड़ और चेतन के निजी स्वरूप का हमें पता नहीं, हम केवल गुणों को जानते हैं। इसी प्रकार लॉक ईश्वर की सत्ता भी सिद्ध करते हैं। ईश्वर परम पुरुष (Supremebeing) है। वह माननीय ज्ञान, अनन्त मुख आदि से सम्पन्न परम पुरुष है। अतः यह नहीं कहा जा सकता कि इन्त्य है और अज्ञेय है। यदि है तो ज्ञेय है और अज्ञेय है तो नहीं है। इसका अस्तित्व मानकर भी इसे ज्ञान का विषय न मानना (अज्ञेय मानना) तो विरोध है।

लॉक द्रव्य के तीन प्रकार बतलाते हैं- भौतिक (जड़), आध्यात्मिक (आत्मा), ईश्वर (द्रव्य)

(1) **जड़ द्रव्य-** संवेदन के सरल विज्ञानों को संकलित कर हम भौतिक पिण्डों का निर्माण करते हैं। लॉक इस प्रकार जड़ द्रव्य की सत्ता सिद्ध करते हैं

(घ) बाह्य पदार्थ ही हमारी संवेदनाओं के कारण हैं। इन्द्रियों के रहने पर भी बाह्य वस्तु का होना आवश्यक है।

(ख) संवेदना और स्मरण में स्पष्ट अन्तर भी बाह्य वस्तु की सत्ता प्रामाणित करता है। दिन में सूर्य देखने से प्रकाश की संवेदना अधिक स्पष्ट होती है, परन्तु सूर्य के स्मरण में यह बात नहीं पाई जाती। इससे बाह्य वस्तु (सूर्य) का अस्तित्व प्रामाणित होता है।

(ग) हमारी विभिन्न इन्द्रियाँ बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व प्रमाणित करती हैं। हम र्क के ठण्डापन का प्रत्यक्ष करते हैं। इसे अपने हाथों पर रखने से असह्य ठंडक जन्य कष्ट की अनुभूति कर पाते हैं। यदि बर्फ बाह्य वस्तु नहीं होती तो इससे ठंडापन का कष्ट किस प्रकार होता

(2) **आत्म द्रव्य-** स्व-संवेदन के सरल विज्ञानों प्रत्यक्ष, कल्पना, स्मरण, तर्क, भय इत्यादि को संकलित कर हम जीवात्माओं के मिश्र विज्ञान का निर्माण करते हैं। लॉक की आत्मा विषयी होने के साथ-साथ विषय भी है।

(3) **ईश्वर द्रव्य-** अनुभववादी लॉक ने आत्मा के साथ-साथ ईश्वर को भी स्वीकार इस किया है। इन्होंने ईश्वर को परोक्ष ज्ञान का विषय बताया है। इसका ज्ञान हमें निदर्शन से मिलता है जो एक प्रकार का श्रृंखलाबद्ध प्रतिभज्ञान है।

लॉक के अनुसार विश्व की सभी वस्तुएँ कार्य-कारण की श्रृंखला में बँधी हैं। अनवस्था दोष से बचने के लिए यह आवश्यक है कि उनका कोई न कोई आदि कारण हो अवश्य होना चाहिए। इसी आदि कारण को ईश्वर की संज्ञा दी जाती है। यह लॉक का कारणतामूलक या विश्वमूलक प्रमाण है। अनुभववादी होने पर भी उन्होंने कारणता नियम को एक नित्य सत्य के रूप में स्वीकार कर लिया है।

लॉक ने ईश्वर के प्रत्यय को जन्मजात न कहकर अनुभव जन्य बताया है। हमें अनुभव में अस्तित्व, ज्ञान, शक्ति, सुख, आनन्द आदि प्रत्ययों की प्राप्ति होती रहती है। इनकी सार्थकर्ता के लिए इनकी पराकाष्ठा के रूप में ईश्वर का अस्तित्व मानना पड़ता है। लॉक देकार्त की भाँति ईश्वर को केवल निमित्त कारण मानते हैं, जड़ तत्त्व विश्व का उपादान कारण है।

लॉक के अनुसार सम्पूर्ण मानवीय ज्ञान अनुभवजन्य है। इसमें जन्मजात कोई भी अंश नहीं है। ज्ञान प्रत्ययों के मेल से बनता है। प्रत्यय दो प्रकार के हैं- सरल और मिश्र। अनुभव से ही प्रत्ययों की प्राप्ति होती है। अनुभव दो प्रकार के हैं संवेदन और स्वसंवेदन। सम्पूर्ण ज्ञान इन्हीं दो दरवाजों से होकर आत्मा में प्रवेश करता है। जन्म के समय मन या आत्मा कोरे कागज के समान होता है। अनुभव द्वारा ही इनमें विभिन्न प्रत्यय या विचार आते हैं। इन्होंने 'जन्मजात' प्रत्ययों का खण्डन किया है।

**ज्ञान का सिद्धान्त-** लॉक अनुभव को ही एकमात्र ज्ञान का स्रोत मानते हैं। उनके अनुसार संवेदन और स्वसंवेदन इन दो के कारण ज्ञान प्राप्त होता है। इन्द्रियों द्वारा उत्पन्न की गई गति अथवा संस्कार संवेदन कहलाते हैं। जबकि संवेदनों द्वारा प्राप्त सरल प्रत्ययों पर मन द्वारा किये गये व्यापारों का प्रत्यक्षीकरण स्वसंवेदन कहलाता है। इस प्रकार सरल प्रत्यय और जटिल प्रत्यय उत्पन्न होते हैं जो ज्ञान के आधार बनते हैं। लॉक के अनुसार मन में बाह्य पदार्थों के ज्ञान की उत्पत्ति के लिए तीन आवश्यक अंग हैं। मन के प्रत्यय एवं बाह्य पदार्थों का अस्तित्व तथा प्रत्ययों तथा बाह्य पदार्थों के मध्य सादृश्यता। इस सादृश्यता को लॉक ने संवादिता सिद्धान्त कहा है। यदि प्रत्यय और वस्तु के मध्य संवादिता है तो हमारा ज्ञान प्रामाणिक है अन्यथा नहीं।

**ज्ञान का स्वरूप-** ज्ञान के विषय केवल प्रत्यय हैं। इनके अनुसार आत्मा को बाह्य वस्तुओं का साक्षात् ज्ञान नहीं होता। प्रत्ययों के माध्यम से ही इन वस्तुओं का ज्ञान आत्मा को होता है। प्रत्यय ही ज्ञान की सामग्रिया है। इन्हीं से ज्ञान का निर्माण होता है। लॉक के अनुसार प्रत्ययों के बीच चार प्रकार की अनुकूलता या प्रतिकूलता है।

(i) **तादात्म्य एवं वैधर्म्य-** दो प्रत्ययों की अभिन्नता को तादात्म्य कहते हैं तथा इसी प्रकार दो प्रत्ययों की भिन्नता को वैधर्म्य कहते हैं।

(ii) **सम्बन्ध-** प्रत्ययों के बीच जो अमूर्त सम्बन्ध पाया जाता है, उसे सम्बन्ध कहते हैं।

(iii) **सह-अस्तित्व-** जब दो प्रत्ययों का किसी उद्देश्य में युगपद भाव या अभाव हो तो उसे सह-अस्तित्व कहते हैं।

(iv) **वास्तविक अस्तित्व-** जब मन किसी प्रत्यय से समानता रखने वाले किसी वास्तविक अस्तित्व का प्रत्यक्षीकरण करता है, जैसे- परमात्मा है तो वास्तविक अस्तित्व की प्राप्ति होती है।

**ज्ञान की प्रामाणिकता** - हमारे प्रत्ययों के कुछ आदिरूप होते हैं। यदि प्रत्ययों की संगति उनके आदिरूपों के साथ हो, उन गुणों के साथ हो जिनके कारण प्रत्यय उत्पन्न होते हैं तो हमारा ज्ञान यथार्थ कहा जाएगा। यदि संगति न हो तो ज्ञान अयथार्थ कहा जाएगा। जितनी अधिक संगति होगी, ज्ञान की यथार्थता भी उतनी ही अधिक होगी। आदि रूप से प्रत्ययों की समानता जितनी अधिक होगी, वह ज्ञान उतना ही अधिक प्रामाणिक होगा। प्रत्ययों और वस्तुओं की सत्ता के बीच अनुरूपता ही सत्य है। इस प्रकार लॉक सत्यता के संवादिता सिद्धान्त के समर्थक हैं। लॉक स्वतः प्रामाण्यवाद को मानते हैं।

**ज्ञान के प्रकार-लॉक के अनुसार ज्ञान के तीन प्रकार हैं-**

(i) **अपरोक्ष या प्रातिभ ज्ञान-** जब प्रत्ययों में संगति या असंगति का प्रत्यक्ष बिना किसी तृतीय प्रत्यय की मदद से हो जाता है तो इसे श्रुतिभ ज्ञान कहते हैं। यह ज्ञान स्वतः सिद्ध, निश्चयात्मक, असंदिग्ध एवं सबसे अधिक प्रामाणिक है।

(ii) **निदर्शनात्मक ज्ञान** - जब प्रत्ययों के बीच संगति या असंगति का प्रत्यक्ष किसी तृतीय प्रत्यय के माध्यम से होता है तो उसे निदर्शनात्मक ज्ञान कहते हैं। तर्कशास्त्र व गणित के ज्ञान कुछ इस प्रकार के होते हैं।

(iii) **संवेदन ज्ञान** - यह निकृष्टतम ज्ञान की अवस्था है। इन्द्रियों द्वारा प्राप्त ज्ञान ही संवेदन ज्ञान है। यह स्वप्न या भ्रम से अधिक प्रामाणिक है, परन्तु प्रातिभ ज्ञान तथा निदर्शनात्मक ज्ञान से कम प्रामाणिक है। विश्व की वस्तुओं का ज्ञान इसी प्रकार का ज्ञान है।

**स्मरणीय बिन्दु**

1. लक्कक को अनुभववाद का जनक कहा जाता है।
2. मन को जन्म के समय कोरी पटी माना।
3. ज्ञान का स्रोत अनुभव को माना।
4. प्राथमिक और गौण गुणों में भेद किया।
5. जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन किया।

**शब्दावली**

| शब्द            | अर्थ                                        |
|-----------------|---------------------------------------------|
| अनुभववाद        | अनुभव को ज्ञान का आधार मानने वाला सिद्धान्त |
| जन्मजात प्रत्यय | जन्म से प्राप्त विचार                       |
| प्राथमिक गुण    | वस्तु में निहित वास्तविक गुण                |
| गौण गुण         | इन्द्रियों पर आधारित गुण                    |
| कोरी पटी        | प्रारम्भिक रिद्र मन                         |

**5 अंक के प्रश्न**

1. लक्कक के अनुसार मन क्या है?
2. जन्मजात प्रत्ययों का खण्डन स्पष्ट कीजिए।
3. प्राथमिक एवं गौण गुणों में अन्तर बताइए।
4. अनुभववाद की व्याख्या कीजिए।
5. लक्कक के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. लक़क के अनुभववाद का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. लक़क द्वारा जन्मजात प्रत्ययों के खण्डन का विश्लेषण कीजिए।
3. प्राथमिक एवं गौण गुणों की समीक्षा कीजिए।
4. आधुनिक दर्शन में लक़क के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. अनुभववाद का जनक किसे कहा जाता है? (घ) देकार्त (ख) लक़क (ग) ह्यूम (घ) कांट  
उत्तर (ख)
2. सिद्धान्त किसने दिया? (घ) स्पिनोजा (ख) लक़क (ग) प्लेटो (घ) अरस्तू  
उत्तर (ख)
3. ज्ञान का स्रोत लक़क ने क्या माना? (घ) बुद्धि (ख) अनुभव (ग) आत्मा (घ) ईश्वर  
उत्तर (ख)

## इकाई-3.2 बर्कले-जड़वाद की आलोचना, आत्मगत प्रत्ययवाद

बर्कले-1685-1753

### उद्देश्य-

1. बर्कले के आत्मगत प्रत्ययवाद को समझना।
2. जड़वाद की आलोचना का अध्ययन करना।
3. बर्कले के ज्ञान सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण करना।

बर्कले का जन्म आयरलैंड में हुआ था। उनकी प्रतिभा असाधारण, प्रवृत्ति धार्मिक और स्वभाव मधुर था। जड़ तत्व का खण्डन करके बर्कले अपने सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। यह उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है कि-“सत्ता अनुभव-मूलक है” अर्थात् उसी की सत्ता मानी जा सकती है जो अनुभव करता है या अनुभव किया जाता है। अनुभव-कर्ता आत्मा और अनुभव के विषय हैं विज्ञान। अतः आत्मा और उसके विज्ञानों के अतिरिक्त और किसी की सत्ता नहीं है। “सत्ता अनुभव-मूलक है”- इस सिद्धान्त में ‘अनुभव’ शब्द से केवल ‘इन्द्रियानुभव’ का ही तात्पर्य नहीं है, अपितु इसमें अन्तर्बोध और ‘निर्विकल्प स्वानुभूति’ का भी समावेश हो जाता है। वास्तविक सत्ता ईश्वरीय ज्ञान ही है।

पाश्चात्य दर्शन के इतिहास में बर्कले का विज्ञानवाद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। विज्ञानवाद का प्रारम्भ प्रायः प्लेटो से माना जाता है। बर्कले की यहां विशेषता है कि उन्होंने जड़ पदार्थ का पूर्णतः निषेध किया है तथा अध्यात्मवाद की स्थापना की है। बर्कले मूलतः धार्मिक दार्शनिक हैं। ईश्वर और आत्मा की सत्ता सिद्ध करना ही वे अपना पुनीत कर्तव्य समझते हैं।

बर्कले अपने विज्ञानवाद की सिद्धि से ईश्वर, आत्मा आदि आध्यात्मिक विषयों की सिद्धि करते थे। वस्तुतः जिसे हम देख करके या स्पर्श करके जानते हैं, वह भौतिक वस्तु नहीं, विज्ञान रूप ही है। विज्ञान के अतिरिक्त हम किसी वस्तु को देख या स्पर्श नहीं कर सकते। इन विज्ञानों का अस्तित्व मन या आत्मा पर निर्भर है। अतः वस्तुओं का अस्तित्व भी आत्मा सापेक्ष या आत्मनिर्भर है। अतः सम्पूर्ण जगत् मन या आत्मा पर निर्भर है। आत्मा ही दृष्टा या अनुभवकर्ता है। आत्मा में अनुभव करने की शक्ति परमात्मा या ईश्वर की देन है। ईश्वर प्रदत्त शक्ति के कारण ही आत्मा इन्द्रिय विज्ञानों का अनुभवकर्ता होता है।

बर्कले दोषरहित लॉक है। तात्पर्य यह है कि लॉक के अनुभववाद में कुछ असंगति है। बर्कले ने इनका निराकरण कर अनुभववाद को पूर्ण बनाने का प्रयास किया है। बर्कले के अनुसार यदि हमारा ज्ञान प्रत्ययों तक सीमित है तो हम प्रत्ययों के अतिरिक्त कुछ भी नहीं जानते। दूसरे शब्दों में हमारा ज्ञान संवेदना या अनुभव तक सीमित है। इसी कारण बर्कले अपने प्रसिद्ध निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सत्ता अनुभवमूलक है अर्थात् अस्तित्व संवेदना पर निर्भर है या ज्ञान केवल विज्ञान या प्रत्यय तक सीमित है।

**ज्ञान मीमांसा-** बर्कले के अनुसार अनुभव के दो प्रकार हैं- 1. संवेदन 2. अनुचिन्तन अथवा स्वसंवेदन। बर्कले के अनुसार संवेदन इन्द्रियों के द्वारा साक्षात् अनुभूत होता है। संवेदन के प्रत्यय- रूप, रस, गन्ध, स्वाद आदि- ईश्वर द्वारा निर्मित होते हैं जबकि स्वसंवेदन के प्रत्यय आत्मा द्वारा निर्मित होते हैं। बर्कले के अनुसार ज्ञान प्राप्ति के लिए दो तत्त्व अनिवार्य होते हैं- 1. प्रत्यय 2. अनुभवकर्ता अथवा विषयी। बर्कले के अनुसार ज्ञान निर्णयों की समष्टि है। ये निर्णय, संवेदन तथा स्वसंवेदन से प्राप्त प्रत्ययों के समबन्ध होने पर बनते हैं। बर्कले के अनुसार प्रत्ययों के यह सम्बन्ध योजना स्वयं ईश्वर करता है।

### अमूर्त प्रत्यय

बर्कले के अनुसार अमूर्त विचारों (जाति विज्ञानों) का निषेध किये बिना हम जड़ वस्तु की सत्ता का निराकरण नहीं कर सकते, क्योंकि अमूर्त विचार ही जड़ की सत्ता के साधक हैं। हम अमूर्त विचार या काल्पनिक सामान्य के आधार पर जड़ वस्तु का ज्ञान प्राप्त करते हैं।

बर्कले अमूर्त प्रत्ययों का खण्डन करते हैं तथा इसे भाषा का दुष्प्रयोग बतलाते हैं। बर्कले अमूर्त प्रत्यय के खण्डन के लिए निम्न तर्क देते हैं-

(1) अमूर्त प्रत्ययों को उत्पन्न करने की शक्ति मनुष्य में नहीं। मानवी बुद्धि केवल विशेष प्रत्ययों को ही उत्पन्न कर सकती है, सामान्य प्रत्ययों को नहीं, मानव के लिए यह असम्भव है कि वह गतिमान वस्तु से पृथक् गति के अमूर्त प्रत्यय का निर्माण करे।  
(2) लॉक के अनुसार अमूर्तिकरण या सामान्यीकरण पशु की अपेक्षा मानव की विशेषता है। पशु में सामान्यीकरण की शक्ति नहीं। बर्कले का कहना है कि शब्द सामान्य प्रत्यय के संकेत होने के कारण नहीं, वरन् विशेष प्रत्ययों का संकेत बना लिया जाता है जो परोक्ष रूप से वस्तु का निर्देश करता है।

**उदाहरणार्थ-** गति प्रत्यय । बर्कले का कहना है कि ऐसी कोई गति नहीं जो गतिशील वस्तु से पृथक् हो।

(3) लॉक का कहना है कि अमूर्त प्रत्यय का निर्माण सरल नहीं कष्ट साध्य के बार बर्कले का कहना है कि अमूर्तिकरण असाध्य

है।

**उदाहरणार्थ-** त्रिभुज के अमूर्त प्रत्यय (सामान्यीकरण) से हम ऐसे सामान्य प्रत्यय की कल्पना करते हैं जो न समबाहु है, न समद्वि बाहु है और न विष्णुबाहु तथा वह इन सभी का सूचक या बोधक भी है। यह तो वदतोव्याघात है।

(4) लॉक का कहना है कि सामान्य प्रत्यय निर्माण अमूर्तिकरण के द्वारा होता है। बर्कले का कहना है कि कोई भी प्रत्यय सामान्य इसलिये हो जाता है कि वह अपने समान विशेष प्रत्ययों का प्रतीक बन जाता है।

बर्कले सामान्यीकरण का निषेध नहीं करते वरन् अमूर्तिकरण का खण्डन करते हैं। अमूर्तिकरण के बिना भी सामान्य प्रत्यय बन सकते हैं।

(5) अमूर्त प्रत्ययों के प्रतिपादक लॉक स्वीकार करते हैं कि अमूर्त प्रत्यय नामकरण के लिये बनाये जाते हैं या अभियान के हेतु हैं।

**उदाहरणार्थ-** मनुष्य शब्द सामान्य प्रत्यय है, जिसके कारण हम प्रत्येक मनुष्य को एक नाम से पुकारते हैं।

### सत्ता अनुभवमूलक है

**सत्ता दृष्टता है** - बर्कले एक प्रत्ययवादी दार्शनिक हैं और प्रत्ययवादी होने के कारण वे किसी भी वस्तु का ज्ञाता से स्वतन्त्र अस्तित्व स्वीकार नहीं करते हैं। उनके अनुसार किसी वस्तु का अस्तित्व अनुभवकर्ता अथा ज्ञाता पर ही निर्भर करता है। इसी मान्यता के कारण उनके प्रत्ययवाद को आत्मनिष्ठ प्रत्यवाद की संज्ञा दी जाती है। बर्कले की “सत्ता दृष्टता है” उक्ति के दो अर्थ हैं।

1. उसी की सत्ता है जो अनुभवकर्ता है
2. उसी की सत्ता है जिसका अनुभव हो सकता है।

प्रथम अर्थ के अनुसार यदि देखा जाये तो बर्कले केवल ईश्वर तथा आत्मा को ही इस सत्ता की श्रेणी में रखते हैं। क्योंकि ये ही अनुभवकर्ता हैं, जबकि दूसरे अर्थ के अनुसार विज्ञानों की सत्ता है, क्योंकि बर्कले विज्ञानों को हमारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत माना है। इस प्रकार बर्कले ने ये माना कि सत्ता होने के लिए उसका दृष्टता होना आवश्यक है। जो अनुभव का विषय है, उसी की सत्ता है। इसका अर्थ ये हुआ कि प्रत्येक वस्तु के लिए अनुभवकर्ता या तो आत्मा है अथवा ईश्वर।

जड़ तत्त्व के निराकरण के पश्चात् बर्कले इस निष्कर्ष पर पहुँचते हैं कि सहा अनुभवमूलक है। तात्पर्य यह है कि अनुभवविहीन सत्ता मान्य नहीं अर्थात् अस्तित्व अनुभवात्मक है। होना (Esse) तथा प्रत्यक्ष होना (Percipi) दोनों एक हैं।

बर्कले विज्ञानवादी हैं, वे विज्ञान के अतिरिक्त वस्तु की सत्ता स्वीकार नहीं करते। वस्तु विज्ञानरूप ही है, जिसे हम बाह्य वस्तु कहते हैं, वह वस्तुतः आन्तरिक विज्ञान है। हमारे ज्ञान के विषय अर्थात् ज्ञेय विज्ञान ही है क्योंकि विज्ञान के अतिरिक्त हमें किसी वस्तु का ज्ञान नहीं होता। इसी कारण बर्कले कहते हैं कि जो कुछ भी ज्ञेय है, वहीं सत्ता - है। अनुभवकर्ता तो केवल आत्मा है तथा अनुभव के विषय विज्ञान है। अतः ज्ञाता और ज्ञेय के अतिरिक्त किसी की सत्ता नहीं है।

यदि कोई देखने वाला नहीं, अर्थात् अनुभवकर्ता नहीं, तो अनुभव का विषय नहीं। इसीलिये कहा गया है कि अनुभव का विषय अनुभवकर्ता पर आश्रित है। अनुभव हमें सत्ता या अस्तित्व का ही होता है, अर्थात् सत्ता अनुभवमूलक है अथवा डेय का अस्तित्व ज्ञाता के प्रत्यक्ष पर आश्रित है।

### विज्ञानवाद

बर्कले विज्ञानवादी है, क्योंकि उनके अनुसार ज्ञान का विषय विज्ञान है, वस्तु नहीं। ये विज्ञान मनुष्य की आत्मा पर निर्भर है या आत्मगत है। अतः बर्कले आत्मनिष्ठ विज्ञानवादी कहे जाते हैं। हमारा ज्ञान इंद्रियजन्य संवेदनाओं पर निर्भर है। ये संवेदनाएँ विज्ञानजन्य होती हैं। वस्तुजन्य नहीं। अतः सभी बाह्य वस्तुओं के रूप में हम मनः प्रसूत विज्ञानों की ही उपलब्धि करते हैं।

विज्ञान क्या है, तथा इसकी उत्पत्ति कैसे होती है? इसका उत्तर है कि विज्ञान हमारे ज्ञान के प्रत्यक्ष विषय है अथवा हमारे मन के प्रत्यक्ष गम्य ज्ञेय विषय ही विज्ञान था प्रत्यय है। इन प्रत्ययों या विज्ञानों की उत्पत्ति हमारे मन में ही होती है, अर्थात् मन या आत्मा ही विज्ञान का अधिष्ठान है।

जिसे हम वस्तु कहते हैं, बर्कले उसे प्रत्ययों का समूह कहते हैं। हम प्रत्ययों के समूह या विज्ञान संघात को ही वस्तु की संज्ञा प्रदान करते हैं। वस्तुतः वह वस्तु नहीं, विज्ञान है। इन विज्ञानों की उत्पत्ति के सम्बन्ध में बर्कले का कहना है कि ये विज्ञान मानसिक होने के कारण मनाश्रित ही हैं। किसी भी विचार विज्ञान का कारण वस्तु नहीं, मन ही है, अर्थात् विज्ञान आत्मनिष्ठ है।

**आत्मा-**

जड़ तत्त्व तो निष्क्रिय हैं, उनमें प्रत्ययों को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं। हम कह सकते हैं कि प्रत्यय ही प्रत्यय के कारण है। बर्कले के अनुसार यह भी उचित नहीं, क्योंकि प्रत्यय तो निष्क्रिय है। अतः उनमें दूसरे को उत्पन्न करने की शक्ति नहीं। साथ ही साथ प्रत्यय निराधार भी नहीं हो सकते। अतः पारिशेष्यात् यह स्वीकार करना होगा कि प्रत्ययों का कारण कोई द्रव्य अवश्य है जो इनका आधार या आश्रय है।

बर्कले के अनुसार इस प्रकार का सक्रिय तथा अजड़ तत्त्व आत्मा है। यह आत्मा ही ज्ञान का अधिष्ठान है। आत्मा ज्ञाता है



तथा विज्ञान या प्रत्यय ही इसके विषय हैं। बर्कले इसी ज्ञाता को मन(Mind), आत्मा (Soul) तथा अहं (Myself) आदि विभिन्न संज्ञा प्रदान करते हैं। ज्ञान निराधार नहीं हो सकता, अतः ज्ञाता या आत्मा ही उसका आधार है।

### ईश्वर या परमात्मा

बर्कले के अनुसार, ईश्वर का अस्तित्व अन्य आत्मा के समान अनुमानगम्य है। ईश्वर की सिद्धि करते हुए बर्कले कहते हैं कि यदि हम ध्यानपूर्वक प्राकृतिक वस्तुओं की नियमानुकूल व्यवस्था और श्रृंखला पर विचार करें तथा प्रकृति के अपार सौन्दर्य को देखें और यह जानने का प्रयत्न करें कि नित्य, अनित्य ज्ञान, शिव, पूर्ण आदि शब्दों से किन गुणों का परिचय मिलता है तो हमें स्पष्ट जान होगा कि एक सर्वोपरि आत्मा है, जिसके द्वारा सब कुछ संचालित है तथा जो सबके अस्तित्व का कारण है।

वह सर्वशक्तिमान है, अतः सभी प्रकार के विज्ञानों को उत्पन्न करने की शक्ति है। उसी के बनाये हुए नियमों से जागतिक विज्ञानों में नियमानुकूलता तथा क्रमबद्धता है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. बर्कले ने भौतिक पदार्थ का निषेध किया।
2. हअस्तित्व का अर्थ है प्रत्यक्ष होनाह उनका प्रसिद्ध सिद्धान्त है।
3. आत्मा और प्रत्ययों को वास्तविक माना।
4. अनुभव को ज्ञान का आधार माना।
5. ईश्वर को सर्वज्ञ प्रत्यक्षकर्ता माना।

### शब्दावली

|            |                                          |
|------------|------------------------------------------|
| शब्द       | अर्थ                                     |
| प्रत्ययवाद | विचारों को वास्तविक मानने वाला सिद्धान्त |
| आत्मगत     | आत्मा पर आधारित                          |
| जड़वाद     | पदार्थ को मूल मानने वाला सिद्धान्त       |
| प्रत्यक्ष  | इन्द्रिय अनुभव                           |
| चेतना      | जागरूकता                                 |

### 5 अंक के प्रश्न

1. बर्कले के आत्मगत प्रत्ययवाद को स्पष्ट कीजिए।
2. हअस्तित्व का अर्थ है प्रत्यक्ष होनाह समझाइए।
3. बर्कले ने जड़वाद की आलोचना क्यों की?
4. बर्कले के अनुसार ईश्वर का स्वरूप बताइए।
5. बर्कले के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. बर्कले के आत्मगत प्रत्ययवाद का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. बर्कले द्वारा जड़वाद की आलोचना का विश्लेषण कीजिए।
3. बर्कले के ज्ञान सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
4. अनुभववादी दर्शन में बर्कले के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. इम पे जव इम चमतबमपअमकह किसका सिद्धान्त है? (घ) लक्कक (ख) ह्यूम (ग) बर्कले (घ) कांट उत्तर (ग)
2. बर्कले ने किसका निषेध किया? (घ) आत्मा (ख) ईश्वर (ग) भौतिक पदार्थ (घ) चेतना उत्तर (ग)
3. बर्कले का दर्शन कहलाता हैरू (घ) भौतिकवाद (ख) आत्मगत प्रत्ययवाद (ग) यथार्थवाद (घ) बुद्धिवाद उत्तर (ख)

### इकाई-3.3 ह्यूम-संशयवाद ( 1711-1776 ई. )

#### उद्देश्य-

1. ह्यूम के संशयवाद को समझना।
2. अनुभववादी ज्ञानमीमांसा का अध्ययन करना।
3. कारण-कार्य सम्बन्ध पर ह्यूम के विचारों का विश्लेषण करना।

डेविड ह्यूम का जन्म स्कॉटलैंड में हुआ। वे एडिनबरा विश्वविद्यालय में पढ़े। वे ग्रीक और लैटिन भाषायें जानते थे। उन्होंने ग्रीक और रोमन साहित्य का अच्छा अध्ययन किया था तथा साहित्य, दर्शन और इतिहास के प्रति उनकी विशेष अभिरुचि थी। ह्यूम में इन्द्रियानुभववाद अपनी चरम सीमा पर पहुँचा। ह्यूम के अनुसार विज्ञान किसी बाह्य वस्तु के प्रतिबिम्ब नहीं है अपितु संवेदन या स्वसंवेदन के ही प्रतिबिम्ब हैं।

लॉक और बर्कले के समान ही ह्यूम स्वीकार करते हैं कि हमारे ज्ञान का एकमात्र स्रोत अनुभव है। ह्यूम के अनुसार हमारे ज्ञान के दो साधन हैं-संस्कार तथा विज्ञान। ह्यूम का कहना है कि हमारे ज्ञान की सम्पूर्ण सामग्री इन्हीं दो मार्गों से प्राप्त होती है। दोनों में स्पष्टता और प्रबलता का भेद है।

#### ह्यूम का अनुवाद-

**ज्ञान सिद्धान्त-** लॉक की भांति ह्यूम संवेदन और स्वसंवेदन को ही ज्ञान का स्रोत मानते हैं जिन्हें वे अपने दर्शन में 'संस्कार' शब्द से अभिहित करते हैं और इसका लगभग वही अर्थ लेते हैं जो लॉक ने संवेदन और स्वसंवेदन का लिया था। इस प्रकार ह्यूम के अनुसार संवेदन या स्वसंवेदन अर्थात् सरल संस्कार ही ज्ञान के मूल स्रोत हैं। इन्हीं से विज्ञानों तथा अन्य मिश्र संस्कारों का निर्माण होता है।

**संस्कार-** वैसे ह्यूम के अनुसार जो प्रत्यक्ष तीव्र और स्पष्ट होते हैं, उन्हें संस्कार के अन्तर्गत सभी इन्द्रिय संवेदनों, मनोवेगों और भावनाओं को रखते हैं जो कि हमारे मानस में सबसे पहले प्रवेश करते हैं।

**विज्ञान-** ह्यूम के अनुसार जो प्रत्यक्ष क्षीण और अस्पष्ट होते हैं, उन्हें विज्ञान कहा जाता है। ह्यूम के अनुसार हमारे प्रत्येक ज्ञान का विश्लेषण संस्कारों की कोटियों में होता है। इन संस्कारों और विज्ञानों सादृश्य सम्बन्ध होता है।

(1) **संस्कार-** संवेदना तथा स्व-संवेदना को ही ह्यूम संस्कार कहते हैं। हमारी इन्द्रियाँ दो प्रकार की हैं। बाह्य तथा आन्तरिक। पाँच प्रकार की बाह्य संवेदनाएँ हैं। आन्तरिक इन्द्रिय केवल मन है जिसे सुख-दुःख आदि का ज्ञान होता है। सुख-दुःख का ज्ञान ही स्व-संवेदना है। इन दोनों का सम्मिलित नाम ह्यूम ने संस्कार दिया है।

ह्यूम के अनुसार ये संस्कार प्रबल, सजीव स्पष्ट होते हैं। ये हमारे सधः अनुभूति के विषय हैं। विज्ञान संस्कार अपना प्रतिबिम्ब या प्रतिरूप मन में छोड़ते हैं, इन्हें विज्ञान कहा गया है। विज्ञान को संस्कार का प्रतिरूप कहा गया है।

उदाहरणार्थ- सर्दी, गर्मी, सुख-दुःख आदि का हम सधः अनुभव करते हैं। ये संस्कार हैं जो पूर्णतः सजीव तथा स्पष्ट हैं, बाद में ये संस्कार क्षीण हो जाते हैं तथा अपना प्रतिरूप ही मानस पटल पर छोड़ देते हैं। इन्हें ही विज्ञान कहा गया है। इससे स्पष्ट है कि विज्ञान संस्कार पर निर्भर है। संस्कार प्राथमिक है तथा विज्ञान गौण।

(2) **विज्ञान-** ह्यूम के अनुसार विज्ञान के दो प्रकार हैं- सरल तथा मिश्रित। ह्यूम के अनुसार सरल मूल संस्कारों के प्रतिरूप हैं, परन्तु मिश्र विज्ञानों के लिये मूल संस्कारों का होना आवश्यक नहीं अर्थात् ये अपने मूल संस्कारों के प्रतिबिम्बित भी हो सकते हैं और नहीं भी हो सकते हैं।

#### विज्ञानों का पारस्परिक सम्बन्ध

ह्यूम के अनुसार हमारा मन विज्ञानों का भण्डार है। इसमें विज्ञानों का प्रवाह सर्वदा नियमित रूप से चलता रहता है। यदि इनमें सम्बन्ध नहीं होता तो ये विज्ञान अर्थहीन हो जाते, लेकिन ऐसा नहीं है। अतः ये विज्ञान आकस्मिक और असम्बद्ध नहीं, इनमें साहचर्य स्वाभाविक है। ह्यूम के अनुसार यह अनुषंगित नियम (Law of Association) में सम्बन्ध है, परन्तु ये नियम सार्वभौम तथा अनिवार्य नहीं। ये विज्ञान एक के बाद एक आते रहते हैं तथा हम स्वभावतः इनमें सम्बन्ध की कल्पना कर लेते हैं। इनका सम्बन्ध अनिवार्य नहीं, वरन् केवल आनन्तर्य हैं।

अनुषंगित नियम निम्न तीन सम्बन्धों में किसी एक के अनुसार कार्य करता है-

- (1) सादृश्य सम्बन्ध।
- (2) कालगत या देशगत साहचर्य सम्बन्ध

(3) कार्य कारण सम्बन्ध

(1) सादृश्य सम्बन्ध- इसका आधार समानता है। यदि दो वस्तुएँ समान हो तो एक का विज्ञान उपस्थित होने पर दूसरे का भी विज्ञान उपस्थित हो जाता है क्योंकि दोनों में समानता है।

(2) देशगत या कालगत सम्बन्ध- इसके अनुसार यदि दो घटनाओं में एक घटना दूसरी घटना के बाद एक ही स्थान, एक ही समय में घटित हो तो उनमें देशगत या कालगत साहचर्य सम्बन्ध स्थापित हो जाता है तथा एक के विज्ञान के उपस्थित होने पर दूसरे का विज्ञान भी उपस्थित हो जाता है।

(3) कारण-कार्य सम्बन्ध- इसके अनुसार भी एक विज्ञान के उपस्थित होने पर दूसरे का विज्ञान उपस्थित हो जाता है।

उदाहरणार्थ- अग्नि और ताप, विषपान और मृत्यु में एक के उपस्थित होने पर दूसरा भी उपस्थित हो जाता है। इन तीनों नियमों से ही हमारे विज्ञानों में संयोग-वियोग होते रहते हैं, जिनसे हमारा ज्ञान बढ़ता है।

### मानव ज्ञान

ह्यूम के अनुसार मानव ज्ञान दो प्रकार का होता है-

(i) विज्ञानों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञान ।

(ii) वस्तुजगत का ज्ञान ।

गणितशास्त्र तर्क आदि का ज्ञान प्रथम कोटि का है। यह केवल प्रत्ययात्मक ज्ञान है तथा निश्चित और असन्दिग्ध ज्ञान है। कोई भी ज्ञान जो स्वतः सिद्ध या निर्देशन द्वारा सिद्ध हो, वह इस कोटि में आ सकता है।

उदाहरणार्थ - त्रिभुज की तीनों भुजाएँ मिलकर दो समकोण के बराबर होती है। क्योंकि इस कोटि का ज्ञान कोरी कल्पना है। वस्तु जगत् से इनका कोई सम्बन्ध नहीं। ह्यूम के अनुसार यह केवल मनोवैज्ञानिक अन्वेषण है।

दूसरे प्रकार का ज्ञान वस्तु जगत् का ज्ञान है। यह इन्द्रियानुभव पर आश्रित होने के कारण पूर्णतः निश्चित तथा असन्दिग्ध नहीं होता। इनमें अनिवार्यता केवल सम्भाव्य है। वस्तु जगत् का सम्पूर्ण ज्ञान कार्य कारण नियम पर आधारित है। इसी नियम के आधार पर हम प्रत्यक्ष तथा स्मृति की परिधि को पार करते हैं। हम कार्य से कारण तथा कारण से कार्य के आधार पर ज्ञान प्राप्त करते हैं परन्तु कार्य कारण नियम तो केवल विश्वास पर आधारित है, इसमें अनिवार्यता नहीं। कार्य कारण नियम के संदिग्ध होने से सम्पूर्ण वस्तु जगत् में असन्दिग्ध तथा अनिवार्य ज्ञान असम्भव है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. ह्यूम ने अनुभव को ज्ञान का आधार माना।
2. उन्होंने कारण-कार्य सम्बन्ध पर संशय व्यक्त किया।
3. आत्मा के स्थायी अस्तित्व को अस्वीकार किया।
4. ज्ञान को प्रभाव और प्रत्ययों में विभाजित किया।
5. संशयवाद को दार्शनिक ख्रष्टिकोण बनाया।

### शब्दावली

|         |                                            |
|---------|--------------------------------------------|
| शब्द    | अर्थ                                       |
| संशयवाद | निश्चित ज्ञान पर संदेह करने वाला सिद्धान्त |
| प्रभाव  | प्रत्यक्ष अनुभव                            |
| प्रत्यय | अनुभव की मानसिक प्रतिलिपि                  |
| कारणता  | कारण-कार्य सम्बन्ध                         |
| अनुभव   | इन्द्रिय ज्ञान                             |

### 5 अंक के प्रश्न

1. ह्यूम के संशयवाद को स्पष्ट कीजिए।
2. प्रभाव और प्रत्यय में अन्तर बताइए।
3. ह्यूम के अनुसार कारणता क्या है?
4. ह्यूम ने आत्मा के बारे में क्या कहा?
5. ह्यूम के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. ह्यूम के संशयवाद का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. ह्यूम के कारणता सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. ह्यूम की ज्ञानमीमांसा की समीक्षा कीजिए।
4. आधुनिक अनुभववाद में ह्यूम के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. संशयवाद का प्रमुख दार्शनिक कौन है? (घ) लॉक (ख) ह्यूम (ग) स्पिनोजा (घ) देकार्त  
उत्तर (ख)
2. ह्यूम ने ज्ञान का आधार क्या माना? (घ) बुद्धि (ख) अनुभव (ग) ईश्वर (घ) आत्मा  
उत्तर (ख)
3. ह्यूम ने कारणता को किस रूप में देखा? (घ) निश्चित सत्य (ख) आदत (ग) आत्मा (घ) विज्ञान  
उत्तर (ख)

## इकाई- 3.4 कार्य कारणता का सिद्धान्त, आत्मा एवं ईश्वर विचार

### उद्देश्य-

1. कार्य-कारण सम्बन्ध की अवधारणा को समझना।
2. आत्मा एवं ईश्वर सम्बन्धी विचारों का अध्ययन करना।
3. अनुभववादी दृष्टिकोण से कारणता का विश्लेषण करना।

ह्यूम के अनुसार हमारे पास ज्ञान के दो स्रोत हैं- बुद्धि और अनुभव। अतः हमें कारण कार्य सम्बन्ध का ज्ञान या तो बुद्धि द्वारा हो सकता है या अनुभव द्वारा। सर्वप्रथम ह्यूम कारणता नियम का कारण-कार्य सम्बन्ध की बौद्धिक अनिवार्यता का खण्डन करते हैं। वे कहते हैं कि ये सम्बन्ध हमारा पूर्व अनुभव द्वारा अर्जित होता है। बाह्य जगत में इस प्रकार की कोई अनिवार्यता नहीं है। कारण और कार्य का सम्बन्ध एक व्यक्ति जनित ज्ञान है न कि वस्तु जनित। एक विशेष प्रकार के संयोग को देखकर हम उनके बीच परस्पर सम्बन्ध में विश्वास कर लेते हैं और यह कल्पना व्यवहारिक जगत में लागू कर लेते हैं। जबकि वस्तुतः इन दोनों के बीच कारण-और कार्य के तात्त्विक सम्बन्ध नहीं है। ये सिद्धान्त ह्यूम के संशयवाद को जन्म देता है।

यहाँ प्रश्न यह है कि हम कारण से क्या समझते हैं? यदि कारण का निश्चय हो जाये तभी हम संवेदना का कारण भौतिक या आध्यात्मिक द्रव्य स्वीकार करते हैं। अतः ह्यूम के दर्शन में द्रव्य से पूर्व कारण का निश्चय करना आवश्यक है।

हम केवल इतना ही अनुभव कर पाते हैं कि एक घटना दूसरे की अनुवर्ती या पश्चातवर्ती है। यदि कारण कार्य में अनिवार्य सम्बन्ध है तो हमें इसकी अनिवार्यता का अनुभव होना चाहिये परन्तु ऐसा होता नहीं।

इस अनुमान का आधार हमारा पूर्वानुभव है तथा हमारा स्वभाव है। यदि दो घटनाओं को एक साथ हम कई बार घटित होते देखें तो भविष्य में एक को देखकर दूसरे का हम स्वभावतः अनुमान कर लेते हैं, परन्तु इस अनुमान में अनिवार्यता नहीं। बादल तथा वृष्टि में कार्य कारण सम्बन्ध मान लेते हैं। इसी मान्यता के आधार पर हम कहते हैं कि भविष्य भूत के समान होगा, समान कारणों का समान कार्य होगा, परन्तु यह मान्यता तो केवल मनोवैज्ञानिक है।

ह्यूम कार्य-कारण सम्बन्ध पर दो दृष्टि से विचार करते हैं-

(1) **तार्किक**- तार्किक दृष्टि से ह्यूम का कहना है कि जब हम दो घटनाओं को बिना अपवाद के एक साथ घटते हुए देखते हैं तो पहले को कारण तथा दूसरे को कार्य मान लेते हैं।

(2) **मनोवैज्ञानिक**- ह्यूम के अनुसार कार्य-कारण की व्याख्या मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सम्भव है। हम जब दो घटनाओं में देशगत, कालगत सामीप्य और आनन्तर्य देखते हैं तो स्वभावतः उन दोनों घटनाओं के बीच अपने मन में साहचर्य सम्बन्ध (Association) स्थापित कर लेते हैं। इसी आदत के कारण हम कल्पना करते हैं कि घटनाओं में कोई अनिवार्य सम्बन्ध है, परन्तु इस अनिवार्यता के अनुमान का वस्तुतः कारण तो केवल मानसिक आदत है। भविष्य की सभी घटनाओं का भूत के समान ही हों, यह केवल संभावना है।

### द्रव्य विचार

ह्यूम का द्रव्य विचार भी पूर्णतः अनुभववादी ही है। उनके अनुसार अनुभव के परे कोई द्रव्य नहीं। इसी कारण वे आत्मा, परमात्मा तथा जड़ आदि सभी द्रव्यों का खण्डन करते हैं।

ह्यूम के अनुसार हमारे ज्ञान का एकमात्र साधन इन्द्रियानुभव है। इन्द्रियों के द्वारा हमें केवल संस्कार और विज्ञान का ही अनुभव प्राप्त होता है। संस्कार तथा विज्ञान दोनों से हमें किसी प्रकार के द्रव्य का अनुभव नहीं होता। ह्यूम के अनुसार गुणों के आधार रूप द्रव्य की कल्पना करना मिथ्या है।

कारण और कार्य का सम्बन्ध नियत तथा अनिवार्य नहीं। अतः हम गुणों के कारण रूप द्रव्य की सत्ता नहीं स्वीकार कर सकते। कोई भी वस्तु केवल गुणों का संघात या समुदाय मात्र है। हम इसी संघात को भ्रान्ति से द्रव्य कहते हैं। जिस प्रकार हम केवल स्वभाव से ही किसी को किसी का कारण मान लेते हैं, उसी प्रकार हम स्वभावतः गुणों के संघात को द्रव्य की संज्ञा प्रदान करते हैं। यदि नेत्र से प्राप्त होता है, तो रूप है। यदि त्वचा से तो स्पर्श है, परन्तु रूप, रस, शब्द, गन्ध आदि सभी गुण हैं। अतः द्रव्य की सत्ता सिद्ध नहीं। जिस प्रकार भौतिक द्रव्य की सत्ता असिद्ध है, उसी प्रकार आध्यात्मिक द्रव्य की भी। हमारा ज्ञान केवल इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है।

### आत्मा का खण्डन

गुणों के समूह के अतिरिक्त द्रव्य का अनुभव हमें नहीं होता। इस प्रकार द्रव्य प्रत्यय तो कल्पना के माध्यम से सरल प्रत्ययों का संयोग मात्र है। हम इन सरल प्रत्ययों के एकीकरण को एक नाम द्रव्य दे देते हैं। स्पष्ट है कि घृणा, द्वेष, सुख, दुःख

रूप अनुभवों के अतिरिक्त आत्मा का अस्तित्व नहीं। हमारा ज्ञान संस्कार और विज्ञान तक सीमित है। सभी संस्कार तथा विज्ञान क्षणिक है तथा परिणामी है। इनसे नित्य तथा अपरिणामी आत्मा का बोध सम्भव नहीं।

### ईश्वर विचार

आत्मा के समान परमात्मा को भी ह्यूम असिद्ध बतलाते हैं। जिस प्रकार आत्मा के अस्तित्व को हम बुद्धि से प्रमाणित नहीं कर सकते, उसी प्रकार ईश्वर की सत्ता उनका रूप गुण आदि भी मानव बुद्धि के परे है। वस्तुतः ईश्वर प्रमाणगम्य नहीं, ईश्वर की प्रकृति तथा गुण मानव बुद्धि के परे हैं।

### सन्देहवाद

ह्यूम संशयवाद को संशवाद में किसी भी प्रकार की अनिवार्यता को स्वीकार्य नहीं करते किसी भी वस्तु के बीच संस्कारों और विज्ञानों का सादृश्य अवश्य होता है लेकिन अनिवार्य सम्बन्ध अनुभव पर आधारित है, जिसे व्यक्ति प्रामाणिक मान लेता है।

लॉक के अनुभववाद का अन्त ह्यूम के सन्देहवाद में हुआ। ह्यूम शुद्ध अनुभववादी है। यदि हमारा ज्ञान इन्द्रियानुभव तक ही सीमित है। यदि इन्द्रियानुभव ही हमारे ज्ञान का मापदण्ड है तो अनिवार्य ज्ञान की प्राप्ति नहीं हो सकती। इसी कारण उन्होंने कार्य कारण जैसे सर्वमान्य सिद्धान्त को सम्भाव्य बतलाया है। अनिवार्य नहीं। यदि हमारा ज्ञान केवल विशेषों तक ही सीमित है तो सामान्य कोरी कल्पना है। अतः कार्य कारण, द्रव्य, परमात्मा आदि सभी पर सन्देह करने के कारण हम निश्चय रूप से ह्यूम को सन्देहवादी कह सकते हैं।

तत्त्व मीमांसा के विषयों में वे कुछ दूर तक अवश्य सन्देहवादी हैं, परन्तु गणित, प्राकृतिक विज्ञान तथा पामाजिक विज्ञान की यथार्थता वे स्वीकार करते हैं। अतः इन विज्ञानों में वे सन्देहवादी नहीं।

### स्मरणीय बिन्दु

1. कारणता अनुभव का परिणाम मानी गई।
2. आत्मा के स्थायी अस्तित्व पर प्रश्न उठाया गया।
3. ईश्वर सम्बन्धी ज्ञान को अनुभव से परे माना गया।
4. कार्य और कारण के सम्बन्ध को आदत कहा गया।
5. अनुभववादी दर्शन में निश्चितता का अभाव है।

### शब्दावली

|        |                               |
|--------|-------------------------------|
| शब्द   | अर्थ                          |
| कार्य  | परिणाम                        |
| कारण   | परिणाम उत्पन्न करने वाला तत्व |
| कारणता | कार्य और कारण का सम्बन्ध      |
| आत्मा  | चेतन सत्ता                    |
| ईश्वर  | सर्वोच्च सत्ता                |

### 5 अंक के प्रश्न

1. कार्य-कारण सम्बन्ध क्या है?
2. अनुभववादी दर्शन में कारणता को कैसे देखा गया?
3. आत्मा सम्बन्धी विचार स्पष्ट कीजिए।
4. ईश्वर सम्बन्धी अनुभववादी ख्रष्टिकोण बताइए।
5. कार्य-कारण सिद्धान्त की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. कार्य-कारण सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. अनुभववादी दर्शन में आत्मा एवं ईश्वर सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण कीजिए।
3. ह्यूम के कारणता सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
4. अनुभववाद में निश्चित ज्ञान की समस्या का विवेचन कीजिए।



### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. कार्य-कारण सम्बन्ध को आदत किसने कहा? (घ) लक्कक (ख) बर्कले (ग) ह्यूम (घ) कांट  
उत्तर (ग)
2. अनुभववादी दर्शन का आधार क्या है? (घ) बुद्धि (ख) अनुभव (ग) ईवर (घ) आत्मा  
उत्तर (ख)
3. कारणता का सम्बन्ध किससे है? (घ) आत्मा (ख) ईवर (ग) कार्य और कारण (घ) नैतिकता  
उत्तर (ग)

## खण्ड-4 काण्ट का समीक्षावाद

### काण्ट- 1724-1804 ई.

जर्मनी के सुप्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट की गणना विश्व के महत्तम दार्शनिकों में है। काण्ट का जन्म कोनिग्जबर्ग नगर के एक दरिद्र परिवार में हुआ था। कोनिग्जबर्ग विश्वविद्यालय में वे गणित, विज्ञान और दर्शन के एक अत्यन्त प्रतिभाशाली छात्र थे।

**काण्ट के विख्यात दार्शनिक ग्रन्थ है:-**

- 1 'शुद्ध ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Pure Reason),
2. 'आचार-मूलक ज्ञान की परीक्षा' (Critique of Practical Reason)
3. 'कला और सौन्दर्यज्ञान की परीक्षा' (Critique of Judgment)

काण्ट के सिद्धान्त को समीक्षावाद (Criticism) कहते हैं, क्योंकि काण्ट बुद्धिवाद और अनुभववाद दोनों की समीक्षा करते हैं। काण्ट सर्वप्रथम बुद्धिवादी बने, परन्तु उनके अनुसार बुद्धिवाद का अन्त अन्धविश्वास है। पुनः वे अनुभववादी बने, परन्तु, उनके अनुसार अनुभववाद का अन्त सन्देहवाद है, अतः दोनों दोषपूर्ण हैं। परन्तु इनमें गुण भी है। काण्ट ने दोनों के दोषों का परिहार कर दोनों के गुणों का समन्वय किया है। इसे ही समीक्षावाद कहते हैं।

**बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वय:-** सभी बुद्धिवादी दार्शनिकों ने बुद्धि को ही ज्ञान का एकमात्र स्त्रोत माना तथा समस्त ज्ञान को जन्मजात या सहज स्वीकार कर तत्त्व के ज्ञान को अनिवार्यता तथा सार्वभौमिकता प्रदान करने का प्रयास किया किन्तु इस प्रयास में इन्होंने यथार्थता एवं सत्यता को अपने ज्ञान विचार से दूर कर दिया। स्वयं काण्ट ने इस सन्दर्भ में कहा था कि "ह्यूम ने मुझे गहरी निद्रा (मताग्रही निद्रा से जगा दिया" इससे यह स्पष्ट होता है कि काण्ट ने ह्यूम के संशयवाद को बड़ी गम्भीरता से लिया।

**बुद्धिवाद एवं अनुभववाद का समन्वय:-** काण्ट ने ज्ञान में अनिवार्यता तथा सत्यता दोनों लक्षण प्राप्त करने के लिए बुद्धि तथा अनुभव दोनों स्त्रोतों को पर्याप्त महत्त्व दिया। बुद्धिवादी केवल बुद्धि को ही ज्ञान स्त्रोत मानते हैं तथा अनुभववादी केवल अनुभव को ही ज्ञान का स्त्रोत मानते हैं जबकि काण्ट ने माना कि केवल न बुद्धि द्वारा ही ज्ञान पूर्ण हो सकता है और न केवल अनुभव द्वारा ही वरन् ज्ञान की पूर्णता के लिए दोनों आवश्यक है। काण्ट के अनुसार अनुभव ज्ञान के लिए उपादान सामग्री प्रदान करता है जबकि बुद्धि उस उपादान सामग्री को आकार प्रदान कर प्रत्ययों का निर्माण करती है। इसी सन्दर्भ में काण्ट ने कहा है कि "इन्द्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि विकल्प पंगु है या शून्य है तथा बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय संवेदन अन्धे हैं। "

काण्ट ने अपनी समीक्षा में बतलाया है कि अनुभव ही ज्ञान का आरम्भ है। तात्पर्य यह है कि ज्ञान संवेदनाओं से भी प्रारम्भ होता है, परन्तु संवेदनाएँ विश्रृंखल तथा असम्बद्ध होती हैं। इन इन्द्रिय संवेदनाओं के ज्ञान बनाने के लिए बुद्धि विकल्प के साँचे में ढालना पड़ता है। बुद्धि में कुछ जन्मजात विकल्प होते हैं। बुद्धि इन विकल्पों के द्वारा ही असम्बद्ध संवेदनाओं को सुसम्बद्ध बनाती है। अतः स्पष्ट है कि साँचा बुद्धि से ही प्राप्त होता है तथा सामग्री संवेदना से मिलती है। यह सत्य है कि ज्ञान श्री गणेश अनुभव से ही होता है। अतः काण्ट का स्पष्ट कथन है कि इन्द्रिय संवेदनों के बिना बुद्धि विकल्प पंगु है और बुद्धि विकल्पों के बिना इन्द्रिय-संवेदन अन्धे हैं।

प्राणानुभव विकल्पों के बिना संवेदनाएँ अनियमित, अनिश्चित और विश्रृंखल होंगी। अतः ज्ञान का आरम्भ अनुभव से है, परन्तु ज्ञान की उत्पत्ति अनुभव से नहीं होती।

## इकाई- 4.1 संश्लेषणात्मक ज्ञान एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान

### उद्देश्य-

1. कांट के ज्ञानमीमांसात्मक सिद्धान्त को समझना।
2. संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान में अन्तर का अध्ययन करना।
3. कांट के समीक्षावाद का विश्लेषण करना।

काण्ट के अनुसार ज्ञान संश्लेषणात्मक अनुभव निरपेक्ष निर्णय है या अनुभवातीत यथार्थ निर्णय है। निर्णय दो प्रकार के होते हैं-

- (1) विश्लेषणात्मक (Analogic)
- (2) संश्लेषणात्मक (Synthetic)

विश्लेषणात्मक निर्णय में विधेय केवल उद्देश्य के निहित गुणों को स्पष्ट करता है, अर्थात् विधेय उद्देश्य का केवल विश्लेषण करता है तथा कोई नयी बात नहीं बतलाता।

**उदाहरणार्थ-** शरीर विसृत होना है। सभी अविवाहित कुंआरे हैं।

संश्लेषणात्मक निर्णयों में विधेय उद्देश्य के बारे में नया ज्ञान देता है।

**उदाहरणार्थ-** कुछ मानव निरक्षर होते हैं, यह संश्लेषणात्मक निर्णय है, क्योंकि निरक्षरता मानव के बारे में एक नया ज्ञान देता है।

निर्णय का उपरोक्त वर्गीकरण ज्ञान के विषय-वस्तु के अनुसार है, परन्तु उत्पत्ति की दृष्टि से पुनः दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है।

- (i) अनुभव निरपेक्ष (Apriori)
- (ii) अनुभव सापेक्ष (Aposteriori)

अनुभव निरपेक्ष निर्णय वह है जिसकी सत्यता हमारे अनुभव पर आधारित नहीं, अर्थात् जो अनुभव के बिना भी सत्य स्वीकार किया जा सकता है।

**उदाहरणार्थ-** प्रत्येक घटना सारण होती है। (Every Event has a Cause)

अनुभव सापेक्ष निर्णय हमारे अनुभव पर आश्रित रहते हैं।

**उदाहरणार्थ-** स्फेद फूलों में सुगन्ध होती है। इन निर्णयों में अनिवार्यता नहीं होती।

**देश और काल सम्बन्धी अवधारणा:-** देश और काल इन्द्रिय संवेदन और बुद्धि विकल्पों के बीच के दो द्वार हैं। इन्द्रिय संवेदन इन्हीं दो द्वारों के माध्यम से बुद्धि विकल्प तक पहुँचते हैं। काण्ट के अनुसार वे कोई बाह्य वस्तुएँ नहीं हैं वरन् मानसिक हैं जिनके माध्यम से हमें बाह्य वस्तु का कोई संवेदन प्राप्त होता है तो वह संवेदन देश और काल के माध्यम से ही प्राप्त होता है। जो भी वस्तु का ज्ञान प्राप्त होता है वे सभी संवेदनों के माध्यम से होता है और संवेदन देशकाल के माध्यम से प्राप्त होते हैं।

### प्रत्यय

प्रत्यय परीक्षा में काण्ट सिद्ध करते हैं कि संश्लेषणात्मक प्रागनुभविक निर्णय भौतिक विज्ञान में प्राप्त होते हैं अतः भौतिक विज्ञान में भी वैज्ञानिक या यथार्थ ज्ञान सम्भव है। भौतिक विज्ञान कार्य कारण नियम, गुरुत्वाकर्षण नियम, पदार्थों का स्वरूप गुण आदि विषयों पर प्रकाश डालता है।

बुद्धि के कार्यों या व्यापारों को काण्ट महोदय प्रत्यय की संज्ञा देते हैं। बुद्धि के कार्य या व्यापार संयोजन, वियोजन, वर्गीकरण, एकीकरण आदि हैं। ये सभी प्रत्ययात्मक हैं। शुद्ध प्रत्यय तो प्रत्यक्ष के बिना खाली है। अतः प्रत्यक्ष (संवेदना) प्रत्ययों के बिना अन्या है। (Concepts without percepts are empty Percepts without concepts are blind) -

तात्पर्य यह है कि बुद्धि संवेदनाओं पर अपने नियमों को लागू कर क्षेत्र बना देती है, परन्तु संवेदनाओं को ग्रहण करने में निष्क्रिय तथा संवेदनाओं को ज्ञान का रूप देने में (ज्ञेय बनाने में) सक्रिय है। संवेदनाएँ तो प्रकृति प्रसूत या बाह्य विषयों से उत्पन्न होती हैं। इन्हें काण्ट प्रत्यक्ष कहते हैं, परन्तु संवेदनाओं को संयोजित करना, व्यवस्थित या क्रमबद्ध बनाना बुद्धि का कार्य है। इसे प्रत्यय कहा गया है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. कांट ने बुद्धिवाद और अनुभववाद का समन्वय किया।
2. विश्लेषणात्मक निर्णय में विधेय उद्देश्य में निहित होता है।
3. संश्लेषणात्मक निर्णय नया ज्ञान प्रदान करता है।

4. कांट ने पूर्वानुभव ज्ञान को स्वीकार किया।
5. समीक्षावाद ज्ञान की सीमाओं का अध्ययन करता है।

### शब्दावली

| शब्द                | अर्थ                                         |
|---------------------|----------------------------------------------|
| विश्लेषणात्मक ज्ञान | ऐसा ज्ञान जिसमें विधेय उद्देश्य में निहित हो |
| संश्लेषणात्मक ज्ञान | ऐसा ज्ञान जो नया तथ्य जोड़ता हो              |
| पूर्वानुभव          | अनुभव से पूर्व प्राप्त ज्ञान                 |
| समीक्षावाद          | ज्ञान की समीक्षा करने वाला दर्शन             |
| निर्णय              | विचारात्मक कथन                               |

### 5 अंक के प्रश्न

1. विश्लेषणात्मक ज्ञान क्या है?
2. संश्लेषणात्मक ज्ञान को स्पष्ट कीजिए।
3. कांट के समीक्षावाद का अर्थ बताइए।
4. पूर्वानुभव ज्ञान क्या है?
5. कांट के दर्शन की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. संश्लेषणात्मक एवं विश्लेषणात्मक ज्ञान का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।
2. कांट के ज्ञानमीमांसात्मक सिद्धान्त का विश्लेषण कीजिए।
3. कांट के समीक्षावाद की आलोचनात्मक समीक्षा कीजिए।
4. बुद्धिवाद और अनुभववाद के समन्वय में कांट के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. समीक्षावाद का प्रमुख दार्शनिक कौन है? (घ) देकार्त (ख) लक़क (ग) कांट (घ) ह्यूम  
उत्तर (ग)
2. कौन-सा ज्ञान नया तथ्य जोड़ता है? (घ) विश्लेषणात्मक (ख) संश्लेषणात्मक (ग) अनुभवजन्य (घ) संदेहात्मक  
उत्तर (ख)
3. पूर्वानुभव ज्ञान किससे सम्बन्धित है? (घ) अनुभव (ख) इन्द्रिय (ग) अनुभव से पूर्व (घ) प्रयोग  
उत्तर (ग)

## इकाई- 4.2 बुद्धि के कोटियाँ

### उद्देश्य-

1. कांट की बुद्धि की कोटियों को समझना।
  2. ज्ञान निर्माण में बुद्धि की भूमिका का अध्ययन करना।
  3. अनुभव एवं बुद्धि के सम्बन्ध का विश्लेषण करना।
- ज्ञान प्राप्ति के लिए काण्ट ने निम्नलिखित 12 बुद्धि कोटियों का वर्णन किया है जो इस प्रकार हैं-

#### (घ) परिमाणात्मक

1. पूर्णता (Unity)
2. अनेकता (Plurality)
3. एकता (Totality)

#### (ख) गुणात्मक

1. सत्ता (Reality)
2. अभाव (Negation)
3. सीमा (Limitation)

#### (ग) सम्बन्धत्मक

1. द्रव्य-गुण-सम्बन्ध (Substance & Accident)
2. कार्य-कारण-सम्बन्ध (Cause and Effect)
3. अन्योन्य-सम्बन्ध (Reciprocity between the Active and the Passive)

#### (घ) प्रकारात्मक

1. सम्भावना असम्भावना (Possibility and Impossibility)
  2. भाव-अभाव (Existence & Non-existence)
  3. अनिवार्यता-आगन्तुकता (Necessity and Contingency)
- इन बुद्धि विकल्पों के माध्यम से ज्ञान की प्रमाणिकता सिद्ध होती है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. कांट ने बुद्धि की बारह कोटियाँ बताई।
2. कोटियाँ अनुभव को व्यवस्थित करती हैं।
3. ज्ञान निर्माण में बुद्धि सक्रिय भूमिका निभाती है।
4. कारणता बुद्धि की एक कोटि है।
5. अनुभव बिना बुद्धि के अव्यवस्थित है।

### शब्दावली

| शब्द    | अर्थ                |
|---------|---------------------|
| कोटियाँ | बुद्धि के मूल ढाँचे |
| बुद्धि  | विचार करने की शक्ति |
| अनुभव   | इन्द्रियजन्य ज्ञान  |
| कारणता  | कारण-कार्य सम्बन्ध  |
| संरचना  | व्यवस्थित रूप       |

### 5 अंक के प्रश्न

1. कांट की बुद्धि की कोटियाँ क्या हैं?
2. ज्ञान निर्माण में बुद्धि की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. कारणता कोटि का अर्थ बताइए।

4. कांट के अनुसार अनुभव और बुद्धि का सम्बन्ध क्या है?
5. बुद्धि की कोटियों की विशेषताएँ लिखिए।

#### 15 अंक के प्रश्न

1. कांट की बुद्धि की कोटियों का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. ज्ञान निर्माण में बुद्धि की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
3. कांट के अनुसार अनुभव और बुद्धि के समन्वय की समीक्षा कीजिए।
4. कांट के ज्ञानमीमांसात्मक दर्शन का मूल्यांकन कीजिए।

#### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. कांट ने कितनी बुद्धि की कोटियाँ मानी? (घ) 8 (ख) 10 (ग) 12 (घ) 14  
उत्तर (ग)
2. कारणता क्या है? (घ) अनुभव (ख) बुद्धि की कोटि (ग) आत्मा (घ) ईश्वर  
उत्तर (ख)
3. ज्ञान निर्माण में कौन सक्रिय भूमिका निभाता है? (घ) केवल अनुभव (ख) केवल इन्द्रियाँ (ग) बुद्धि (घ) केवल स्मृति  
उत्तर (ग)



## इकाई-4.3 देश काल की अवधारणा

### उद्देश्य-

1. कांट की देश एवं काल सम्बन्धी अवधारणा को समझना।
2. ज्ञान निर्माण में देश और काल की भूमिका का अध्ययन करना।
3. अनुभव और पूर्वानुभव के सम्बन्ध का विश्लेषण करना।

किसी विषय के ज्ञान में सर्वप्रथम देश और काल के माध्यम से संवेदन शक्ति संवेदनों को ग्रहण करती है और उन्हें बुद्धि के विकल्पों तक पहुँचा देती है। देश और काल संवेदन शक्ति के दो दरवाजे हैं जिनसे होकर ज्ञान रश्मियाँ संवेदनों के रूप में मन या आत्मा में प्रवेश करती हैं। देश और काल कोई बाह्य वस्तुएँ नहीं हैं। ये हमारे ही मानसिक चक्षुः हैं, जिनके माध्यम से हम वस्तुओं को देखते हैं। ये इन्द्रिय संवेदन और बुद्धि विकल्प के मध्य दो दरवाजे हैं। इन्द्रिय संवेदन इन दरवाजों से होते हुए बुद्धि विकल्पों तक पहुँच पाते हैं। हम तत्त्व को इन्हीं दो चक्षुः के माध्यम से देखते हैं। अतः हमारा बाह्य जगत् का ज्ञान देश और काल के रंग में रंगकर प्राप्त होता है। ये संवेदन समूह अस्त-व्यस्त, अशक्त, अर्थहीन, असम्बद्ध और क्षणिक हैं। ये ज्ञान के रूप में परिणत होने में अक्षम हैं। हमारी आत्मा निष्क्रिय होकर इन्हें ग्रहण नहीं करती बल्कि वह सक्रिय होकर इनको व्यवस्थित एवं नियमित बनाती है। अनुभूत होने के लिए बाह्य जगत् को देश और काल दोनों दरवाजों से निकलना पड़ता है और आन्तरिक जगत् को केवल काल के द्वार से गुजरना पड़ता है।-

### काण्ट देश और काल की व्याख्या दो प्रकार से करते हैं-

(i) तत्त्व मीमांसक व्याख्या इस व्याख्या के द्वारा काण्ट यह दिखाना चाहते हैं कि देश और काल संवेदनमाहिता के प्रागानुभविक रूप हैं। यहाँ वे यह भी दिखाना चाहते हैं कि देश और काल प्रत्यय नहीं बल्कि प्रत्यक्ष हैं। उन्होंने देश और काल का तत्त्व मीमांसात्मक प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है-

(घ) देश-काल के प्रत्यय अनुभव पर आदत नहीं है बल्कि स्वयं अनुभव देश-काल के प्रत्ययों पर आदृत है।

(ख) देश और काल प्रत्यय रूप न होकर प्रत्यक्ष रूप हैं। ये अनुभव निरपेक्ष प्रत्यक्ष रूप हैं। काण्ट ने इसे सिद्ध करने के लिए कई प्रमाणों को उपस्थित किया है।

(1) साधारणतः हम मानते हैं कि घटनाओं में साहचर्य सम्बन्ध और वस्तुओं में आनन्तर्य सम्बन्ध से काल का पता चलता है, परन्तु काण्ट के अनुसार काल के कारण ही घटनाओं में पूर्वापर या आनन्तर्य सम्बन्ध पाया जाता है। काल का ज्ञान न होने से काण्ट देश और काल की व्याख्या दो प्रकार से करते हैं-

(i) तत्त्व मीमांसक व्याख्या इस व्याख्या के द्वारा काण्ट यह दिखाना चाहते हैं कि देश और काल संवेदनमाहिता के प्रागानुभविक रूप हैं। यहाँ वे यह भी दिखाना चाहते हैं कि देश और काल प्रत्यय नहीं बल्कि प्रत्यक्ष हैं। उन्होंने देश और काल का तत्त्व मीमांसात्मक प्रतिपादन निम्न प्रकार से किया है-

(घ) देश-काल के प्रत्यय अनुभव पर आदृत नहीं है बल्कि स्वयं अनुभव देश-काल के प्रत्ययों पर आदृत है।

(ख) देश और काल प्रत्यय रूप न होकर प्रत्यक्ष रूप हैं। ये अनुभव निरपेक्ष प्रत्यक्ष रूप हैं। काण्ट ने इसे सिद्ध करने के लिए कई प्रमाणों को उपस्थित किया है।

साधारणतः हम मानते हैं कि घटनाओं में साहचर्य सम्बन्ध और वस्तुओं में आनन्तर्य सम्बन्ध से काल का पता चलता है, परन्तु काण्ट के अनुसार काल के कारण ही घटनाओं में पूर्वापर या आनन्तर्य सम्बन्ध पाया जाता है। काल का ज्ञान न होने से पूर्वापर या आनन्तर्य का बोध नहीं हो सकता। इसलिए काल अनुभव-निरपेक्ष है। देश और काल की कल्पना बाह्य वस्तुओं के अभाव में की जा सकती है, परन्तु देश-काल के अभाव में बाह्य वस्तुओं की कल्पना असंभव है। देश-ज्ञान मानव मन में प्रारम्भ से ही होता है, जिसके आधार पर हमें दूर, नजदीक, ऊपर-नीचे आदि का ज्ञान होता है। यदि देश-काल अनुभविक होते हैं तो इनके अभाव की कल्पना अन्य अनुभविक पदार्थों के अभाव जैसी की जाती, परन्तु यह संभव नहीं है। देश-काल न विमर्शात्मक है और न सामान्य प्रत्यय। ये विशुद्ध प्रत्यक्ष हैं।

देश और काल को अनेक खण्डों में बाँटकर जानना सर्वथा अनुचित है। देश एक है। काल भी एक है। सभी कालों को जोड़कर अनन्त काल बनता है। इसी प्रकार सभी देशों के योग से अनन्त देश का प्रत्यय बनता है। देश और काल बाह्य पदार्थ नहीं हैं। ये हमारे मानसिक धर्म हैं। ये प्रत्यक्षानुभूति के दरवाजे हैं जिनसे होकर संवेदन ज्ञान बनने के लिए बुद्धि विकल्पों तक पहुँचते हैं। इनकी सत्ता सार्वभौम और अनुभव के लिए अनिवार्य है। देश-काल की गति परमार्थ तक नहीं है। जो कुछ भी सत् है, वह दिक्-काल से अविच्छिन्न है। हमें जिसका भी ज्ञान है, वह दिक् काल से घिरा है। परमार्थ तो अज्ञेय है। जहाँ संवेदन है, वही देश काल वास्तविक है।

देश काल की अतीन्द्रिय व्याख्या इस व्याख्या के द्वारा गणित-शास्त्र के सार्वभौम एवं अनिवार्य प्रकथनों की व्याख्या की जाती है। गणित शास्त्र का सम्बन्ध देश-काल से है। ज्यामिति का सम्बन्ध देश से है। अंकगणित का सम्बन्ध काल से है और यंत्र गतिविज्ञान देश और काल दोनों पर

निर्भर है। देश-काल के कारण ही गणित शास्त्र की प्रतिज्ञप्तियाँ प्रागानुभविक एवं संश्लेषणात्मक होती हैं। काण्ट का कहना है कि-अतीन्द्रिय दृष्टि से देश-काल विषयनिष्ठ है परन्तु व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है।

### स्मरणीय बिन्दु

1. कांट के अनुसार देश और काल पूर्वानुभव रूप हैं।
2. ये बाह्य जगत के गुण नहीं हैं।
3. अनुभव देश और काल के माध्यम से संभव होता है।
4. देश बाह्य अनुभव का रूप है।
5. काल आन्तरिक अनुभव का रूप है।

### शब्दावली

| शब्द          | अर्थ                   |
|---------------|------------------------|
| देश           | स्थान                  |
| काल           | समय                    |
| पूर्वानुभव    | अनुभव से पूर्व का रूप  |
| बाह्य अनुभव   | बाहरी वस्तुओं का अनुभव |
| आन्तरिक अनुभव | मानसिक अनुभव           |

### 5 अंक के प्रश्न

1. कांट के अनुसार देश क्या है?
2. काल की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. देश और काल को पूर्वानुभव रूप क्यों कहा गया?
4. बाह्य और आन्तरिक अनुभव में अन्तर बताइए।
5. कांट के देश-काल सिद्धान्त की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. कांट की देश एवं काल सम्बन्धी अवधारणा का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. ज्ञान निर्माण में देश और काल की भूमिका का विश्लेषण कीजिए।
3. कांट के पूर्वानुभव सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।
4. देश और काल को लेकर कांट एवं अन्य दार्शनिकों की तुलना कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न

1. कांट के अनुसार देश क्या है? (घ) पदार्थ (ख) अनुभव का रूप (ग) आत्मा (घ) ईश्वर  
उत्तर (ख)
2. काल किस प्रकार का रूप है? (घ) बाह्य (ख) आन्तरिक (ग) भौतिक (घ) वैज्ञानिक  
उत्तर (ख)
3. देश और काल को कांट ने क्या माना? (घ) वस्तुगत गुण (ख) पूर्वानुभव रूप (ग) पदार्थ (घ) अनुभवजन्य तथ्य  
उत्तर (ख)

### उद्देश्य-

1. कांट के संवृति एवं परमार्थ सम्बन्धी सिद्धान्त को समझना।
2. अज्ञेयवाद की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. ज्ञान की सीमाओं का विश्लेषण करना।

काण्ट संवृति या आभास या व्यवहार (Phenomena) तथा परमार्थ (Noumena) में अन्तर मानते हैं। हमें ज्ञान केवल संवृति या व्यवहार का होता है। परमार्थ के विषय में हमें कोई जानकारी नहीं मिलती। उनके अनुसार ज्ञान के लिए सर्वप्रथम संवेदन की प्राप्ति आवश्यक है। संवेदनशक्ति देश और काल के माध्यम से संवेदन प्राप्त करती है। ये संवेदन असंबद्ध, अव्यवस्थित एवं खरे हुए रहते हैं। इनको परस्पर सम्बद्ध एवं व्यवस्थित करने का कार्य बुद्धि का है। बुद्धि अपने बारह अनुभव निरपेक्ष विकल्पों के साँचों में संवेदनों को डालकर परस्पर सम्बद्ध एवं व्यवस्थित करके निर्णय बनाती है। तब हमें ज्ञान की प्राप्ति होती है। अतः ज्ञान के लिए इन्द्रिय संवेदन एवं बुद्धि विकल्प दोनों आवश्यक हैं।

हमें केवल संवृति या आभास का ज्ञान होता है। काण्ट के समक्ष यह प्रश्न है कि क्या भौतिक विज्ञान में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है? इसका उत्तर भावात्मक है। भौतिक विज्ञान संवेदन शक्ति से मसाले एवं बुद्धि की धारणाओं से अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के तत्त्व पाकर यथार्थ ज्ञान की रचना कर पाता है। काण्ट की दृष्टि में विश्व के दोहरे रूप हैं। एक को आभासिक विश्व (Phenomena) और दूसरे को वास्तविक विश्व (Noumena) कहा जाता है।

जहाँ तक वास्तविक विश्व का प्रश्न है, उसे हम नहीं जान सकते। उसका देश कि क्या भौतिक विज्ञान में यथार्थ ज्ञान की प्राप्ति होती है? इसका उत्तर भावात्मक है। भौतिक विज्ञान संवेदन शक्ति से मसाले एवं बुद्धि की धारणाओं से अनिवार्यता और सार्वभौमिकता के तत्त्व पाकर यथार्थ ज्ञान की रचना कर पाता है। काण्ट की दृष्टि में विश्व के दोहरे रूप हैं। एक को आभासिक विश्व (Phenomena) और दूसरे को वास्तविक विश्व (Noumena) कहा जाता है।

जहाँ तक वास्तविक विश्व का प्रश्न है, उसे हम नहीं जान सकते। उसका देश काल में गाक्षात् नहीं होता। उसकी संवेदना नहीं होती। जिसकी संवेदना ही नहीं होती, उसका धारणाओं से कोई मतलब नहीं होता। अतः वास्तविक विश्व का हमें ज्ञान नहीं होता। जब कभी उसे हम देखेंगे तब देश काल के चश्मे से ही। देश-काल के चश्मे से, स्वतन्त्र वस्तु स्थिति कैसी है, नहीं कहा जा सकता। वास्तविक विश्व हमारे ज्ञान का विषय नहीं है, इसे ही अज्ञेयवाद कहा जाता है। परन्तु, अज्ञेय को अज्ञेय कहना विरोधी बात है। शुद्ध अज्ञेय नाम की चीज नहीं। अज्ञेय को अज्ञेय कहने का अर्थ है कि अज्ञेय के विषय में हम इतना अवश्य जानते हैं कि वह अज्ञेय है। काण्ट उपर्युक्त आपत्ति का उत्तर यह कहकर देते हैं कि किसी वस्तु का विचार हम दो रूपों में कर सकते हैं-भावात्मक और निषेधात्मक रूप।

भावात्मक रूप में हम किसी वस्तु को उसी सीमा तक जान सकते हैं, जिस सीमा तक हमारी ज्ञान शक्ति जा सकती है। निषेधात्मक रूप से हम यह जान पाते हैं कि एक हद से आगे जाना निषेध है। निषेध इसलिए कि हम जा ही नहीं सकते। यह निषेध हमारी ससीमता का परिचायक है। काण्ट के अनुसार वास्तविक विश्व का ज्ञान दूसरे प्रकार का ज्ञान है। पहले रूप के ज्ञान को हम आभासिक विश्व ज्ञान कह सकते हैं। हम आभासिक विश्व को ही जान सकते हैं। यह हमारी ससीम शक्ति के अनुरूप बात है। काण्ट का अज्ञेयवाद मनुष्य के ज्ञान की सीमा की वास्तविकता की ओर संकेत करता है।

**काण्ट की दृष्टि में आभासिक विश्व के भी दो रूप हैं-**

- (i) व्यष्टि आभासिक विश्व तथा
- (ii) समष्टि आभासिक विश्व। व्यष्टि आभासिक विश्व वह है जो व्यक्ति विशेष के अनुभव पर निर्भर हो। समष्टि आभासिक विश्व सम्पूर्ण प्रकृति है।

काण्ट के समक्ष अब प्रश्न है कि क्या तत्त्व मीमांसा का ज्ञान हो सकता है? तत्त्व मीमांसा के तीन प्रश्न हैं। पहला प्रश्न है कि वास्तविक विश्व का ज्ञान हो सकता है या नहीं? इसका उत्तर दिया जा चुका है। दूसरा प्रश्न है कि क्या आत्मा है? यदि है तो उसकी अमरता का स्वरूप क्या है? इस प्रश्न का उत्तर काण्ट ने यह कहकर दिया कि आत्मा को एक स्थायी पदार्थ के रूप में न अनुभव सिद्ध कर सकता है, न बुद्धि। यदि इसका स्थायित्व ही सिद्ध नहीं होता तो इसकी अमरता का प्रश्न ही नहीं उठता। आत्मा के ज्ञान में हमारा अनुभव और हमारी बुद्धि असमर्थ है। आत्मा आस्था का विषय है, विश्लेषण और विवरण का नहीं। यही बात ईश्वर के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है।

## अज्ञेयवाद-

काण्ट के अनुसार वस्तु के दो रूप हैं, दृश्य या प्रतीति तथा यथार्थ। हमारा ज्ञान केवल वस्तु के प्रतीयमान या दृश्यरूप तक ही सीमित है। हमारी बुद्धि के विकल्प केवल संवेदनाओं पर ही कार्य करते हैं। इन अनुभवेतर विषयों पर हम विचार कर सकते हैं, क्यों इनकी सत्ता है। इनका ज्ञान नहीं हो सकता पर इनकी सत्ता का निषेध भी सम्भव नहीं, अर्थात् ये भावरूप हैं।

जिन विषयों का हमें अनुभव नहीं होता वे हमारे ज्ञान के परे हैं, अर्थात् अनुभवेतर विषय अज्ञेय है। परमार्थ अज्ञेय है का अर्थ है कि परमार्थ की संवेदनाएँ हमें नहीं प्राप्त होती, अतः परमार्थ ज्ञान का विषय नहीं बन सकता।

काण्ट के अनुसार हमें संवृत्ति या आभास का ज्ञान होता है। यह ज्ञान सार्वभौम, अनिवार्य एवं यथार्थ होता होता है। जहाँ तक परमार्थ का प्रश्न है, काण्ट के अनुसार इसका ज्ञान नहीं हो सकता। इसके संवेदन नहीं प्राप्त होते। यह प्रत्यक्षीकरण का विषय नहीं है। यह अज्ञान एवं अज्ञेय है। यही काण्ट का अज्ञेयवाद है।

**आलोचना-** काण्ट के अज्ञेयवाद की कटु आलोचना हुई। इसे संदेहवाद की तरह आत्मघाती कहा गया है। यदि परमार्थ तक बुद्धि विकल्पों की पहुँच नहीं है और न इनकी संवेदना संभव है तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि परमार्थ वास्तव में है और अज्ञेय है? परमार्थ के सम्बन्ध में हम इतना तो जानते हैं कि यह है और अज्ञेय है। फिर इसे अज्ञेय कैसे कह सकते हैं? काण्ट कभी भी परमार्थ या परम सत्ता का निषेध नहीं करते। उनका केवल यही कहना है, कि परम सत्ता है परन्तु वह क्या है और उसके वास्तविक स्वरूप की कल्पना कर सकते हैं, परन्तु देश और काल के अभाव की कल्पना नहीं की जा सकती। अतः ये अनुभव द्वारा प्राप्त नहीं कहे जा सकते। इसलिए देश काल को सभी प्रत्यक्ष वस्तुओं का प्रागानुभविक रूप कहा जा सकता है। काण्ट ने जिस उदाहरण से यह दिखाने का प्रयास किया है कि गणित शास्त्र में प्रागानुभविक संश्लेषणात्मक निर्णय है, वही अस्पष्ट है। उनका उदाहरण है,  $7+5=12$ , प्लात और पाँच मिलकर बारह होते हैं, एक विश्लेषणात्मक वाक्य है, परन्तु काण्ट ने मनगढ़ंत ढंग से इसे संश्लेषणात्मक कहा है।

## स्मरणीय बिन्दु

1. काण्ट ने संवृत्ति और परमार्थ में भेद किया।
2. संवृत्ति वह है जो हमें अनुभव में दिखाई देती है।
3. परमार्थ वस्तु-स्वरूप है जिसे पूर्णतः जाना नहीं जा सकता।
4. काण्ट का दर्शन अज्ञेयवाद की ओर संकेत करता है।
5. ज्ञान की सीमाओं का निर्धारण समीक्षावाद का मुख्य उद्देश्य है।

## शब्दावली

| शब्द         | अर्थ                                  |
|--------------|---------------------------------------|
| संवृत्ति     | प्रत्यक्ष जगत                         |
| परमार्थ      | वस्तु का वास्तविक स्वरूप              |
| अज्ञेयवाद    | अंतिम सत्य को न जान पाने का सिद्धान्त |
| वस्तु-स्वरूप | वस्तु का वास्तविक रूप                 |
| ज्ञान सीमा   | ज्ञान की सीमा                         |

## 5 अंक के प्रश्न

1. संवृत्ति क्या है?
2. परमार्थ की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. अज्ञेयवाद क्या है?
4. काण्ट के अनुसार वस्तु-स्वरूप क्या है?
5. काण्ट के समीक्षावाद की विशेषताएँ लिखिए।

## 15 अंक के प्रश्न

1. काण्ट के संवृत्ति एवं परमार्थ सिद्धान्त का आलोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. काण्ट के अज्ञेयवाद का विश्लेषण कीजिए।
3. ज्ञान की सीमाओं सम्बन्धी काण्ट के विचारों की समीक्षा कीजिए।
4. समीक्षावाद में वस्तु-स्वरूप की अवधारणा का मूल्यांकन कीजिए।

## बहु विकल्पीय प्रश्न

1. संवृति किससे सम्बन्धित है? (घ) वस्तु-स्वरूप (ख) प्रत्यक्ष अनुभव (ग) आत्मा (घ) ईश्वर  
उत्तर (ख)
2. परमार्थ को कांट ने कैसा माना? (घ) पूर्णतः ज्ञेय (ख) प्रत्यक्ष (ग) अज्ञेय (घ) भौतिक  
उत्तर (ग)
3. अज्ञेयवाद किससे सम्बन्धित है? (घ) नैतिकता (ख) अंतिम सत्य को न जान पाने से (ग) राजनीति (घ) विज्ञान  
उत्तर (ख)

॥ ओ३म् ॥

# संस्कृत व्याकरण-1

MDPHID-105



दिव्य प्रकाशन



# संस्कृत व्याकरण-1

## MDPHID-105

Credit-4

### उद्देश्य-

- प्रारम्भिक छात्रों को व्याकरण के मूलभूत सिद्धान्तों से अवगत कराना।
- अध्येताओं को व्याकरण के माध्यम से संस्कृतभाषा के लेखन, अध्यन-अध्यापन में कुशल बनाना।
- अध्येताओं को व्याकरण के द्वारा सम्भाषण एवं व्यावसायिक कुशलता प्रदान करना।

### परिणाम-

- अध्येता संस्कृत भाषा के व्याकरण के सिद्धान्तों में निपुण हो जाता है।
- विद्यार्थी व्याकरण के द्वारा भाषा के पठन-पाठन लेखन एवं सम्भाषण में कुशलता प्राप्त कर लेता है।
- अध्येता व्याकरण की रचनाशैली से भी अवगत हो जाता है।

इकाई १. पाणिनिवर्णोच्चारणशिक्षा।

( क्रेडिट-1 )

इकाई २. सञ्ज्ञासमासप्रकरणम्

( क्रेडिट-1 )

इकाई ३. विभक्त्यर्थानुवादप्रकरणम्

( क्रेडिट-1 )

इकाई ४. प्रत्ययसन्धिशब्दरूपप्रकरणम्

( क्रेडिट-1 )

## विषय-सूची

| क्रम संख्या | विषय                         | पृष्ठ संख्या |
|-------------|------------------------------|--------------|
| इकाई-1      | पाणिनिवर्णोच्चारण शिक्षा     | 5-13         |
| १.१         | प्रथम वर्ग - वर्णमाला        | 5-9          |
| १.२         | द्वितीय वर्ग - वर्णोच्चारणम् | 10-13        |
| इकाई-2      | संज्ञासमासप्रकरणम्           | 14-42        |
| २.१         | अणिणुणादिसंज्ञा              | 14-          |
| २.२         | वृद्धिसंयोगसवर्णादिसंज्ञा    | -27          |
| २.३         | समासप्रकरणम्                 | 26-          |
| २.४         | केवलाव्ययीभावादिसमासाः       | -42          |
| इकाई-3      | विभक्त्यर्थानुवादप्रकरणम्    | 43-61        |
| ३.१         | संस्कृतशब्दलकारकर्त्तादिः    | 43-45        |
| ३.२         | प्रथमादिविभक्त्यनुवादः       | 46-61        |
| इकाई-4      | प्रत्ययसन्धिशब्दरूपप्रकरणम्  | 62-129       |
| ४.१         | क्तादिप्रत्ययप्रकरणम्        | 62-73        |
| ४.२         | स्वरादिसन्धिप्रकरणम्         | 74-80        |
| ४.३         | शब्दरूपधातुरूपसंग्रहः        | 81-129       |

## भूमिका

संस्कृत एक वैज्ञानिक, सम्पूर्ण, सनातन, दिव्य भाषा तो है ही साथ ही इसका श्रेष्ठतम साहित्य, वेदों से लेकर दर्शन, उपनिषद्, श्रोतस्मार्त, स्मृतियां, इतिहास, पुराण, रामायण, महाभारत, रघुवंश, कादम्बरी, अभिज्ञानशाकुन्तलम्, गीता, हर्षचरितम्, चरक, सुश्रुत, छन्द, कल्प, ज्योतिष व व्याकरणादि सभी परा-अपरा विद्या व पराविद्या के महान् ग्रन्थ संस्कृत में ही हैं। संस्कृत भारतीय धर्म, दर्शन, अध्यात्म एवं ऋषियों के ज्ञान, तप, त्याग, महान् आदर्शों, भौतिक व आध्यात्मिक जीवन के अन्तिम सत्त्यों, निष्कर्षों एवं निर्णयों के जानने का एकमात्र माध्यम है। संस्कृत भारत की आत्मा है। संस्कृत ऋषियों के समस्त पुण्य का फल है। संस्कृत जीवन में दिव्यता, भव्यता व पूर्णता पाने का माध्यम है। संस्कृत जीवन के समस्त शुभ का प्रवेश द्वार है। ये मात्र एक भाषा ही नहीं जीवन के सम्पूर्ण विकास का साधन है। संस्कृत मात्र भारत व भारतीयों के ही नहीं सम्पूर्ण विश्व के अभ्युदय (समग्र स्थाई व अहिंसक भौतिक समृद्धि) तथा निःश्रेयस जीवन की पूर्णता की प्राप्ति का एकमात्र माध्यम है। संस्कृत के इस सत्य को समझने का सामर्थ्य बिना व्याकरण के संभव ही नहीं है। अतः संस्कृत में सन्निहित महान्तम ज्ञान विज्ञान व कौशल को प्राप्त करना है तो संस्कृत व्याकरण उसके लिए नितान्त आवश्यक है। यदि संभव हो सके तो महर्षि पाणिनि प्रणीत अष्टाध्यायी व महर्षि पतंजलि प्रणीत महाभाष्य व निरुक्त आदि सम्पूर्ण व्याकरण का अध्ययन यदि कोई कर सके तो यह जीवन का बहुत बड़ा दिव्य सौभाग्य है। यदि इतना संभव न हो तो कम से कम व्याकरण प्रवेश जैसी अत्यन्त सरल व सुगम पुस्तकों के माध्यम से संस्कृत व्याकरण का सामान्य ज्ञान तो होना ही चाहिए। इस दिशा में यह लघु पुस्तिका आप का थोड़ा सा मार्गदर्शन व सहयोग अवयक करेगी। ऐसी मुझे सात्विक अपेक्षा है।

अथ  
शिक्षाप्रकरणं प्रथमम् ।  
तत्र प्रथमो वर्गः वर्णमाला

उद्देश्य

1. संस्मृत वर्णमाला एवं उच्चारण का ज्ञान प्राप्त करना।
2. स्वर एवं व्यंजन के भेदों को समझना।
3. शुद्ध उच्चारण एवं प्रयत्न का अभ्यास करना।

शिक्षां घ्राणं तु वेदस्य प्रवदन्ति महर्षयः ।  
अन्यथोच्चारयंश्छन्दो नरो भवति किल्बिषी ॥ 1 ॥  
उच्चारणस्य साधुत्वं सममादरभाजनम् ।  
मतं लोके च वेदे च संवादो विदुषामिह ॥ 2 ॥  
शब्दान्मोच्चीचरन्मिथ्या शिष्यः प्राथमकल्पिकः ।  
व्याक्रियां वक्ष्यमाणोऽतः शिक्षां तावदुपक्रमे ॥ 3 ॥

आर्यावर्त में जिस लिपि में संस्कृत लिखी जाती है उसे देवनागरी कहते हैं। संस्कृत ब्राह्मी तथा खरोष्ठी लिपि में भी लिखी जाती रही। जिसे आज संस्कृत कहते हैं वैदिक काल में इसे 'भाषा' कहते थे। संस्कृत शब्द का मूल अर्थ सुन्दर रीति से निष्पादित, परिमार्जित, अलंकृत है। आदि में यह वाक् (वाणी) का विशेषण होकर प्रयुक्त होता था,<sup>१</sup> पीछे विशेष्य रूप से नपुंसक लिंग में प्रयुक्त होने लगा<sup>२</sup>। लिपि का देवनागरी यह नाम कैसे पड़ा निश्चय से नहीं कहा जा सकता। हो सकता है आर्यों के किसी नगरविशेष में इसका जन्म होने से इसका यह नाम पड़ा हो। अथवा किसी नगर विशेष की लिपि न होकर देवों आर्यों के नगरों में प्रयुक्त होने से यह इस नाम से प्रसिद्ध हुई हो। इस की वर्णमाला में दो प्रकार के वर्ण हैं- स्वर तथा

१. यदि वाचं प्रदास्यामि द्विजातिरिव संस्कृताम् ।

रावणं मन्यमाना मां सीता भीता भविष्यति ॥ ( रा० ५.३०.१८ )

२. संस्कृतं नाम देवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः । ( काव्यादर्श १.३३ )

व्यञ्जन । कुल वर्णों की संख्या ६३ अथवा ६४ है।<sup>१</sup> इनमें २२ स्वर हैं, शेष व्यञ्जन । एकीय मत के अनुसार दीर्घ लू मानने से ६४ संख्या सम्पन्न होती है।

जिन वर्णों के उच्चारण में दूसरे वर्णों की सहायता की अपेक्षा नहीं उन्हें "स्वर" कहते हैं।<sup>२</sup> स्वरों के तीन भेद हैं ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत। जिनके उच्चारण में एक मात्रा समय लगे उन्हें ह्रस्व स्वर कहते हैं, जिनके उच्चारण में दो मात्रा समय लगे उन्हें दीर्घ और जिन के उच्चारण में तीन मात्रा समय लगे उन्हें प्लुत स्वर कहते हैं।<sup>३</sup> मूलभूत ह्रस्व स्वर ये हैं - अ इ उ ऋ लृ । पूर्वाचार्य इन्हें 'समानाक्षर' नाम से कहते हैं। दीर्घ स्वर ये हैं-आ, ई, ऊ, ऋ । दीर्घ (मिश्र) स्वर ये हैं- ए ऐ ओ औ। इन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। यह संज्ञा भी प्राचीन वैयाकरणों की है, पाणिनिसूत्रों में इसका कहीं निर्देश नहीं। दो-दो अक्षरों (वर्णों) की सन्धि (मेल) से ये बने हैं, अतः इन्हें सन्ध्यक्षर कहते हैं। लृ दीर्घ नहीं होता ऐसा आचार्य मानते हैं। सन्ध्यक्षर ह्रस्व नहीं होते । अ इ उ ऋ में से प्रत्येक के ह्रस्व, दीर्घ (आ ई ऊ ऋ), प्लुत (आ३ ई३ ऊ३ ऋ३) तीन-तीन भेद होने से ये कुल १२ हुए। लृ के ह्रस्व और प्लुत होने से दो भेद हुए। ए ऐ ओ औ के दीर्घ और प्लुत दो-दो भेद होने से ये ८ हुए । इस प्रकार कुल स्वर २२ हुए। पर प्रत्येक स्वर के उदात्त, अनुदात्त, स्वरित - ये तीन-तीन और भेद भी हैं। भाग वाले तालु आदि स्थानों में ऊर्ध्व (ऊंचे) भाग से उत्पन्न हुआ अकारादि वर्ण उदात्त (उदात्तगुण वाला) कहलाता है, निचले भाग से उत्पन्न हुआ अनुदात्त (अनुदात्त गुणवाला)। जिस अकारादि वर्ण के उच्चारण में उदात्त और अनुदात्त

१. त्रिषष्टिश्चतुःषष्टिर्वा वर्णाः शम्भुमते मताः । पाणिनीय शिक्षा ।

२. स्वरन्तीति स्वराः, स्वं शब्दोपतापयोः, भ्वादिः, पचाद्यच स्वयं राजन्त इति स्वराः । यह अर्थ-प्रधान नैरुक्त शैली के अनुसार

व्युत्पत्ति है। स्वयं राजन्त इति स्वरा अन्वगभवति व्यञ्जनम् (महाभाष्य १।२।२६) ।

३. ऊकालोऽङ्भूस्वदीर्घप्लुतः (१।१।२७) । पदच्छेद ऊकालः । अच् । ह्रस्व-दीर्घ-प्लुतः । उश्च ऊश्च ऊ३श्च वः। वः कालो यस्य स ऊकालः । 'ऊ' यह कुक्कुट के रुत का अनुकरण है। इस रुत में तीन अवस्थायें देखी जाती हैं, पहली अवस्था १ मात्रा काल की, दूसरी २ मात्रा काल की, तीसरी ३ मात्रा काल की।

दोनों हों अर्थात् पहली अर्धमात्रा उदात्त हो और शेष अनुदात्त, उसे स्वरित (=स्वरित गुणवाला) कहते हैं।<sup>१</sup> उदात्त आदि का श्रुतिप्रकर्ष से कुछ संबन्ध नहीं। स्वर सानुनासिक (आनुनासिक्य धर्मवाले) तथा निरनुनासिक (आनुनासिक्य रहित) होते हैं। अँ, अ इत्यादि ।

पहले उदात्तादि स्वरों का लोक में भी उपयोग होता था<sup>२</sup> जो अब नहीं रहा । वेद में पद-पदार्थ बोध में उपयोगी होने से इनका महत्त्वपूर्ण स्थान है। व्यञ्जन जो संख्या में ४१ (अथवा ४२) हैं, इस प्रकार लिखे जाते हैं-

१. क् ख् ग् घ् ङ् (कवर्ग)
२. च् छ् ज् झ् ञ् (चवर्ग)
३. ट् ठ् ड् ढ् ण् (टवर्ग)
४. त् थ् द् ध् न् (तवर्ग)
५. प् फ् ब् भ् म् (पवर्ग)

ये पाँच-पाँच वर्णों के पाँच वर्ग हैं। प्रत्येक वर्ग की संज्ञा उसके आदि वर्ण के अनुसार है, जैसे क् के आदि होने से प्रथम वर्ग कवर्ग कहलाता है।

य् र् ल् व्  
श् ष् स् ह्

१. उच्चैरुदात्तः, नीचौरनुदात्तः, समाहारः स्वरितः (१.२.२

१.३०.३१)। तस्यादित उदात्तमर्थ ह्रस्वम् (१.२.३२) । यहाँ आदितः आदौ । अर्धह्रस्वम् = अर्धमात्रा । ४

२. उदक् च विपाशः (४.२.७४) यह सूत्रा अण् के अधिकार में अञ् विधान करता है। दत्तेन निर्वृत्तः कूपो दात्तः । दत्त नाम के पुरुष द्वारा विपाट् (व्यास) नदी के उत्तर तीर पर बनवाए हुए कुएँ को 'दात्त' कहते हैं। अञ्प्रत्ययान्त होने से 'दात्त' आद्युदात्त हुआ, अण् प्रत्ययान्त होता तो प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता । रूप में भेद न होने पर भी स्वर में भेद है।

इस से विदित होता है कि ब्राह्मणादि शिष्ट लोग ही नहीं, किन्तु सामान्य जनता किसान आदि भी शब्दों का सस्वर उच्चारण करते थे। सूक्ष्मदृक् भगवान् सूत्राकार ने तो वस्तुस्थिति का अनुवादमात्र किया है। जिस पर मुग्ध होकर काशिकाकार ने महती सूक्ष्मेक्षिका वर्तते सूत्राकारस्य' ऐसा कहा है।



य व ल दो प्रकार के होते हैं- सानुनासिक तथा निरनुनासिक । यँ वँ लँ, य व ल ।

इनके अतिरिक्त दो और व्यञ्जन हैं- अनुस्वार<sup>१</sup> (-) और विसर्जनीय (: )। ये स्वर के अनन्तर ही प्रयुक्त होते हैं, अतः प्रायः इन्हें ‘अ’ के साथ दिखा दिया जाता है- अं अः। विसर्जनीय मूलभूत वर्ण नहीं है। स् अथवा र का विकार है। विसर्जनीय (: ) के कुछ ध्वनि-भेद से और कुछ रूप-भेद से दो और नाम हैं-जिह्वामूलीय, उपध्मानीय । पहला केवल क ख से पूर्व प्रयुक्त होता है, दूसरा केवल प फ से पूर्व ।

अनुस्वार, विसर्जनीय, जिह्वामूलीय और उपध्मानीय को “अयोगवाह” कहते हैं। उक्त वर्गों को छोड़ कर ४ और वर्ण हैं जो ‘यम’ नाम से कहे जाते हैं। वे लोक में इन नामों से प्रसिद्ध हैं- कुँ खुँ गुँ घुँ। पञ्चम वर्ण परे होने पर पूर्व वर्ण सदृश जो वर्ण उनके बीच में उच्चरित हो जाता है उसे ‘यम’<sup>२</sup>

१. ‘अनुस्वार’ यह अन्वर्थ संज्ञा है। अनुस्वार का अर्थ है- अनुगतः स्वारम् अनुस्वारः । स्वर एव स्वारः । प्रज्ञादित्वाद्गु । स्वर शब्द से स्वार्थिक प्रत्यय अण् होकर ‘स्वार’ शब्द सिद्ध होता है।

‘अनुस्वार’ को स्वर भी माना जाता है- अनुस्वारो व्यञ्जनं वा स्वारो

वा-ऋ० प्रा० २४।२२॥

२. लोक में यम, यमज, यमल समानयोनि, समानकालोत्पत्तिक दो बच्चों को कहते हैं। यमाविमौ शिशू (यमजौ यमलौ)। यमज बच्चे बहुत कुछ समानाकृतिक होते हैं। इस सादृश्य को लेकर ऐसे वर्णों की ‘यम’ संज्ञा की है।

‘यम’ का स्थान नासिका है- अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते (पाणिनीय शिक्षा)। भट्टोजिदीक्षित ने ‘यम’ की ‘नासिक्यता’ को स्वीकार नहीं किया है ऐसा कौमुदीस्थ लक्षण व उदाहरण से प्रतीत होता है- वर्गेष्वाद्यानां चतुर्णां पञ्चमे परे मध्ये यमो नाम पूर्ववर्णसदृशो वर्णः । पलिक्वनी चख्वन्तुः । अग्निः । प्रक्रियासर्वस्वकार नारायणभट्ट का यम-लक्षण इसकी अपेक्षा अतिग्राह्य है- यमाः स्युरग्निरत्नादौ सनासा जम्परा भयः । यह लक्षण शिक्षा तथा प्रातिशाख्य के साथ अधिक संवादी है। म० म० पं० शिवदत्त शास्त्री (तत्त्वबोधिनी-टिप्पणीकार) का इसके विपरीत ऐसा कथन है- (यमः) कवर्गीय एव भवति नान्यवर्गीयः। श्रीश्च ते लक्ष्मीश्च पत्कन्यौ (यजुः) इत्यत्र तकारनकारयोरपि मध्ये ककारस्यैव दर्शनात्। यह प्रमाणान्तर-सव्यपेक्ष है।

कहते हैं। पलिक्वनी, चख्वन्तुः, अग्निः, घघ्नन्ति- ये क्रम से उदाहरण हैं। ‘यम’ भी “अयोगवाह” हैं। अनुस्वार आदि इन आठ वर्गों का अक्षरसामान्य (प्रत्याहारसूत्रांक) में योग (=उपदेवा, उच्चारण) नहीं है तो भी इनसे ‘बहन’ (= निर्वहण, निर्वाह) शास्त्र कार्य होता है, अतः इन्हें “अयोगवाह”<sup>३</sup> कहते हैं।

**द्वितीयो वर्गः- वर्णोच्चारणम्**

अ आ कवर्ग ह (असंयुक्त) तथा विसर्जनीय का कण्ठ में उच्चारण होता है। अतः इन्हें ‘कण्ठ्य’ कहते हैं। पाणिनीय शिक्षा में क वर्ग को ‘जिह्वामूलीय’ कहा है।<sup>४</sup>

इ ई चवर्ग य श का तालु में उच्चारण होता है। अतः इन्हें ‘तालव्य’ कहते हैं।

ऋ, ॠ ट वर्ग र ष का मूर्धा में उच्चारण होता है। अतः इन्हें ‘मूर्धन्य’ कहते हैं। मूर्धा = कोमल तालु का पिछला भाग ।

लृ तवर्ग ल स का दाँतों में उच्चारण होता है। अतः इन्हें ‘दन्त्य’<sup>५</sup> कहते हैं।

उ ऊ पवर्ग और उपध्मानीय का ओष्ठों से उच्चारण होता है, अतः इन्हें ‘ओष्ठ्य’ कहते हैं।

‘व’ का उच्चारण ऊपर के दाँतों से अधर ओष्ठ की सहायता से होता है अतः इसे ‘दन्तोष्ठ्य’<sup>६</sup> कहते हैं।

१. अयोगाश्च ते वाहाश्च इत्ययोगवाहाः । अविद्यमानो योगो येषां तेऽयोगाः । बहुब्रीहिः । वाह इत्यत्र ज्वलितिकसन्तेभ्यो ण इति कर्तरि णः ।

२. जिह्वामूले कुः प्रोक्तः (पा० शि०) । हकारं पञ्चमैर्युक्तमन्तःस्थाभिश्च संयुतम् । उरस्यं तं विजानीयात् (पा० शि०)

३. वस्तुतः तवर्ग दन्तमूलीय है, इसका ऊपर के दाँतों के मूल से उच्चारण होता है, इसीलिए भग्नदन्त पुरुष भी तवर्ग का उच्चारण कर सकता है। दन्तमूलीयस्तु तकारवर्गः-ऋक् प्रा. (१.१.४.) दन्तमूलों के पीछे के खुर-खुरे तथा उभरे प्रदेश से बोले जाने

वाले वर्णों को 'बस्वर्य' कहते हैं। किन्हीं लोगों के मत में रेफ (र्) 'बस्वर्य' है।

४. दन्तोष्ठ्यो वः स्मृतो बुधैः (पा० शि० १८) । वकार ओष्ठसंभूतो दन्ताग्रकरणः स्मृतः । उवोपोपध्मा ओष्ठे । (शुक्ल यजुः प्रा० १। ७०) ।

ए ऐ का उच्चारण कण्ठ और तालु में होता है, अतः इन्हें 'कण्ठतालव्य' कहते हैं।

ओ औ का उच्चारण कण्ठ और ओष्ठों में होता है, अतः इन्हें 'कण्ठोष्ठ्य' कहते हैं।

यरलव-ये 'अन्तःस्थ' अथवा अन्तःस्था (विचित्रत्ययान्त) कहलाते हैं, कारण कि वर्णमाला में इनका स्थान स्पर्शों और ऊष्म वर्णों के बीच में है और यह भी कि ये न तो स्वर हैं और न पूर्ण व्यञ्जन, क्योंकि दूसरे व्यञ्जनों की भांति इनके उच्चारण में जिह्वा के अग्रादि भाग ताल्वादि स्थानों को पूर्णतया स्पर्श नहीं करते। ऊष्म वर्णों (श्, ष् स् ह्) की भांति इनके उच्चारण में ताल्वादि स्थानों का घर्षण भी नहीं होता ।

श ष स ह - ये 'ऊष्मन्' कहलाते हैं, क्योंकि इनकी उत्पत्ति में श्वास की अधिकता प्रधान है। इनमें ताल्वादि स्थानों का घर्षण होने से इन्हें 'घर्षक' भी कहते हैं।

क से लेकर म तक के वर्णों को 'स्पर्श' कहते हैं, (स्पर्श एषामस्तीति स्पर्शाः) क्योंकि इनके उच्चारण में जिह्वा के अग्रादि भाग ताल्वादि स्थानों को सम्पूर्णतया स्पर्श करते हैं। वर्णात्मक ध्वनि तब उत्पन्न होती है जब जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा वायु-प्रवाह को रोक कर छोड़ा जाता है। इस कारण इन्हें 'स्फोटक' भी कहा जाता है।

प्रत्येक वर्ग के पञ्चम वर्ण को 'अनुनासिक' (ँ) भी कहते हैं, क्योंकि वर्ग के दूसरे वर्णों के साथ ताल्वादि स्थानों के समान होते हुए भी इनका नासिका में भी उच्चारण होता है। इनके उच्चारण में वायु नासिका द्वारा तथा मुख-द्वारा निकलती है।

अनुस्वार और यमों का उच्चारण केवल नासिका में होता है, अतः इन्हें 'नासिक्य' कहते हैं। अनुस्वार आदि के उच्चारण में मुखद्वार बन्द रहता है। नासिका से ही वायु निकलती है।

---

१. मुखनासिका वचनोऽनुनासिकः । (१.१.८) । अनुगतो नासिकाम् अनुनासिकः । मुखसहिता नासिका मुखनासिका (शा. कपार्थिवादि) ।

२. अनुस्वारयमानां च नासिका स्थानमुच्यते । पा० शिक्षा ।

## वर्णोच्चारण-कोष्ठ

| स्थान    | स्पर्श      | अनुनासिका | अन्तःस्थ ऊष्मन् |    | ह्रस्वस्वर | दीर्घस्वर |
|----------|-------------|-----------|-----------------|----|------------|-----------|
| कण्ठ     | क् ख् ग् घ् | ङ्        | -               | ह् | अ          | आ         |
| तालु     | च् छ् ज् झ् | ञ्        | य्              | श् | इ          | ई         |
| मूर्धा   | ट् ठ् ड् ढ् | ण्        | र्              | ष् | ऋ          | ॠ         |
| दन्त     | त् थ् द् ध् | न्        | ल्              | स् | लृ         | -         |
| ओष्ठ     | प् फ् ब् भ् | म्        |                 |    | उ          | ऊ         |
| दन्तोष्ठ |             |           | व्              |    |            |           |
| कण्ठतालु |             |           |                 |    |            | ए ऐ       |
| कण्ठोष्ठ |             |           |                 |    |            | ओ औ       |

ह् र् श् ष् स् परे रहते नित्य ही अनुनासिक के प्रसंग में अनुस्वार का उच्चारण इष्ट है, जैसे सिंह, संरम्भ,<sup>१</sup> शिंशपा, प्रशंसा। आजकल अनुस्वार के स्थान में कुछ लोग 'न्' का उच्चारण करते हैं और कुछ 'म्' का। शुद्ध अनुस्वार का उच्चारण विशेष अभ्यास-साध्य है।

### प्रयत्न

जब किसी पुरुष के मन में किसी अन्य पुरुष के प्रति कुछ कहने की इच्छा हा. 'ती है तो वह अपने संकल्प से जाठर अग्नि को प्रेरित करता है, जिससे नाभि-प्रदेश का वायु वेग से उठता हुआ मूर्धा तक पहुँचकर जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा निरोध होने पर मुख के ताल्वादि स्थानों के साथ टकराता है, जिससे वर्ण अभिव्यक्त होते हैं। पीछे लौटता हुआ वही वायु यत्नविशेष की सहायता से गल-विवर आदि का विकास करता है। इस सारे व्यापार का नाम प्रयत्न है। प्रयत्न के दो भेद हैं- आभ्यन्तर (प्रयत्न) और बाह्य (यत्न)। आभ्यन्तर प्रयत्न को 'करण' भी कहते हैं। आभ्यन्तर प्रयत्न ४ प्रकार का है- स्पृष्ट, ईषत्स्पृष्ट, विवृत, संवृत। इन्हें आभ्यन्तर इसलिये कहते हैं कि इनका कार्य आस्य अर्थात् ओष्ठ से लेकर काकलक (कण्ठपिटक, टेंदुआ) से पहले-पहले मुख के भीतर होता है और यह वर्णोत्पत्ति से पूर्व होता है। जब

१. अनुस्वारस्तु कर्तव्यो नित्यं ह्योः शवसेषु च (पा० शि०)। क्विबन्त सम्राट् शब्द में अवश्य अनुनासिक 'म्' का उच्चारण होता है। मो राजि समः क्वौ (८.३.२५)।

वर्णोत्पत्ति से पूर्व जिह्वा के अग्रादि भाग ताल्वादि स्थानों को पूर्णतया स्पर्श करते हैं तब उस व्यापार को 'स्पृष्ट' कहते हैं। जब थोड़ा स्पर्श करते हैं, उसे 'ईषत्स्पृष्ट', जब उसके समीप पहुँचते हैं, उसे 'संवृत' और जब दूर रहते हैं उसे 'विवृत' कहते हैं। तदनुसार स्पर्शों का प्रयत्न स्पृष्ट, अन्तःस्थों का ईषत्स्पृष्ट, ऊष्मन् वर्णों और स्वरों का विवृत तथा 'अ' का संवृत हैं।<sup>१</sup>

दीर्घ एकादेश आदि की सिद्धि के लिए प्रक्रियादशा में 'अ' को विवृत माना गया है। 'आ' विवृत है, उसके साथ 'अ' को सवर्ण बनाकर शास्त्रीय कार्य (दीर्घ एकादेश) करने के लिए ऐसी कल्पना की गई है, लोक में तो 'अ' संवृत ही है। अतः शास्त्र (अष्टाध्यायी) के अन्त में भगवान् पाणिनि 'अ अ इति' इस सूत्रा से इस कल्पना को दूर करते हैं और 'अ' को अपने शुद्ध संवृत रूप

१. आधुनिक भाषाविज्ञान के पण्डित इस प्रकार वर्णोत्पत्ति अथवा वर्णा-भिव्यक्ति मानते हैं- फेफड़ों को साफ कर के निकलता हुआ वायु श्वासनालिका (wind-pipe) द्वारा उस के अग्रभाग में अवस्थित काकलक (कण्ठपिटक, स्वरयन्त्र, larynx) में पहुँचता है, जहाँ से मुख-विवर तथा नासिका-विवर में जाता है। काकलक के मुँह पर दो स्वरतन्त्रियाँ (Vocal chords) हैं, जो रबर की तरह स्थिति-स्थापक (खिंचकर सिकुड़ जाने वाले दो परदे हैं) (प्रत्येक परदा अतिसूक्ष्म तन्त्रियों का समूह है)। इन का विवार (खुलना) और संवार (सटना, बन्द होना) काकलक में आए हुए वायु को रूप देता है संवार के कारण कम्पन होने से वायु नादवान् हो जाता है, विवार की अवस्था में श्वास-रूप रहता है। यही नादवान् वायु घोषवान् (गूँजवाला) होकर मुख में पहुँचता है और नादरहित श्वास अधोषवान् होकर। ताल्वादि स्थानों में जिह्वा के अग्रादि भागों द्वारा वायु के निरोध किये जाने पर और तदनन्तर निर्मुक्त किये जाने पर ककार आदि स्पर्शों की उत्पत्ति होती है। जिह्वा की समीप में स्थिति (अधिक ऊपर उठना) से मुख विवार बहुत पतला अथवा संवृत हो जाता है, उस अवस्था में उच्चरित वर्ण को 'संवृत' कहा जाता है। जब जिह्वा की दूर स्थिति (कम

से कम ऊपर उठना) होती है तो मुखविवर अधिक विवृत रहता है, उस समय उच्चरित वर्ण को 'विवृत' कहते हैं। (इस संवृतता, विवृतता का कण्ठ की संवृति, विवृति के साथ कोई सम्बन्ध नहीं) ।

में उपस्थित करते हैं। स्वरूप से प्रच्युत हुए की पुनः स्वरूप प्राप्ति को 'प्रत्यापत्ति' कहते हैं। सो यह प्रत्यापत्ति अन्तिम सूत्रा से की गई है।

## बाह्य यत्न

बाह्य (प्र) यत्न<sup>१</sup> ग्यारह प्रकार का है- विवार, संवार, श्वास, नाद, घोष, अघोष, अल्पप्राणता, महाप्राणता, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित । भाष्यकार के मत में बाह्य प्रयत्न आठ ही हैं; अर्थात् उदात्त, अनुदात्त और स्वरित प्रयत्न नहीं। इन्हें बाह्य प्रयत्न इसलिए कहते हैं कि यह कार्य मुख से बाहर काकलक से नीचे गल-विवर के संकोचविकासादि रूप से होता है और यह वर्णोत्पत्ति के पश्चात् होता है। बाह्य प्रयत्न को अनुप्रदान भी कहते हैं। नाभि प्रदेश से उठता हुआ वायु जब गल विवर को खोल देता है, उस व्यापार को 'विवार' कहते हैं, जब संकुचित करता है तब 'संवार' कहते हैं। जब काकलक से केवल श्वास आता है उसे 'श्वास' और जब ध्वनि-विशिष्ट श्वास तब उसे 'नाद' कहते हैं। श्वास-प्रकृतिक वर्ण 'अघोष' कहलाते हैं और नाद-प्रकृतिक 'घोषवान्' । जिन वर्णों की उत्पत्ति में प्राणवायु की अल्पता होती है, उन्हें 'अल्पप्राण' और जिनकी उत्पत्ति में प्राणवायु की अधिकता होती है, उन्हें 'महाप्राण' कहते हैं।

'खर्' वर्णों का प्रयत्न विवार, श्वास और अघोष है। 'हश्' वर्णों का संवार, नाद व घोष। वर्णों के प्रथम, तृतीय और पञ्चम वर्ण तथा यण् का प्रयत्न अल्पप्राण है। वर्णों के द्वितीय, चतुर्थ तथा 'शल्' वर्णों का महाप्राण है।

सवर्ण संज्ञा (जिसे आगे कहेंगे) में बाह्य प्रयत्नों का उपयोग नहीं। हाँ, जहाँ एक के स्थान में नाना आदेश प्राप्त होते हों वहाँ अन्तरतम (सदृशतम) आदेश के निश्चय के लिए ये उपयोगी हैं।

१. प्रयतनं प्रयत्नः स्थानकरणव्यापारः न्यास । प्रयत्न शब्द में 'प्र' शब्द आदिकर्म में है। प्रारम्भो यत्नस्य प्रयत्नः। यत्नानां मध्ये प्रथमं वर्णोत्पत्तेः पूर्वमारभ्यमाण इत्यर्थ इत्युद्योतः । वर्णाभिव्यक्ति से पहले प्राणवायु के मूर्धा में टकराने पर स्पृष्टता आदि प्रयत्नों का व्यापार हो जाता है, पश्चात् लौटने पर विवार आदि बाह्य प्रयत्नों का व्यापार होता है। अतः 'प्रयत्न' शब्द से ४ आभ्यन्तर प्रयत्न ही लिए जाते हैं। बाह्य विवार आदि को यत्न कहना अधिक ठीक होगा ।

## प्रयत्न विवेक का कोष्ठ

| आभ्यन्तर प्रयत्न | वर्ण                                                     | बाह्य यत्न                       |     |
|------------------|----------------------------------------------------------|----------------------------------|-----|
| स्पृष्ट          | क च ट त प                                                | अल्पप्राण विवार श्वास अघोष       | ख छ |
|                  | ठ थ फ                                                    | महाप्राण ,, ,, ,,                |     |
|                  | ग ज ड द ब                                                | अल्पप्राण संवार नाद घोष          |     |
|                  | घ झ ढ ध भ                                                | महाप्राण ,, ,, ,,                |     |
|                  | ङ ञ ण न म                                                | अल्पप्राण ,, ,, ,,               |     |
| ईषत्स्पृष्ट      | य र ल व                                                  | अल्पप्राण संवार नाद घोष          |     |
|                  | श ष स                                                    | महाप्राण विवार श्वास अघोष        |     |
|                  | ह                                                        | ,, संवार नाद घोष                 |     |
| विवृत            | अ (प्रक्रिया दशा मेक),<br>आ इ ई उ ऊ<br>ऋ ॠ लृ ए ऐ<br>ओ औ | अल्पप्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित |     |
| संवृत            | अ (प्रयोगस्थ)                                            | अल्पप्राण उदात्त अनुदात्त स्वरित |     |

वेदों के अङ्गों में शिक्षा प्रथम<sup>१</sup> अङ्ग है। शुद्ध उच्चारण सिखाने की विद्या को शिक्षा कहा गया है। शुद्ध उच्चारण से वक्ता और श्रोता को जो रस आता है वह विलक्षण ही है, वह स्वयंसंवेद्य है, कहा नहीं जा सकता है। अतः उपनिषत्कार ऋषियों ने भी अपनी कृतियों में शिक्षा<sup>२</sup> को उचित स्थान दिया है। महाकवि यायावरीय राजशेखर ने भी अपनी कृति काव्यमीमांसा में शिक्षा के महत्त्व का वर्णन करते हुए शुद्ध उच्चारण को मनुष्य का अलङ्कार मानते हुए इसे अनेक जन्मोपार्जित माना है।<sup>३</sup> आचार्य पाणिनि ने भी शिक्षा को वेद का घ्राण<sup>४</sup> बतलाया है।

इति श्री चारुदेवशास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणचन्द्रोदये शिक्षानाम प्रथमम्प्रकरणमवसितम् ॥

१. शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्दस्, ज्योतिष- ये वेद के छः अङ्ग हैं।
२. अथ शिक्षां व्याख्यास्यामः तै० उ०
३. यथा जन्मान्तराभ्यासात्कण्ठे कस्यापि रक्तता । तथैव पाठसौन्दर्यं नैकजन्मविनिर्मितम् ॥
४. शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य ।

### स्मरणीय बिंदु

शिक्षा वेद का प्रथम अंग है।  
वर्णों के उच्चारण में स्थान एवं प्रयत्न का महत्त्व है।  
संस्मृत उच्चारण वैज्ञानिक माना गया है।  
उदात्त, अनुदात्त और स्वरित तीन स्वर भेद हैं।  
अनुस्वार एवं विसर्ग अयोगवाह कहलाते हैं।

### शब्दावली

शब्द    अर्थ  
स्वर    स्वयं उच्चरित ध्वनि  
व्यंजन    स्वर की सहायता से बोले जाने वाले वर्ण  
उदात्त    ऊँचे स्वर वाला  
विसर्ग    चिन्ह  
अनुस्वार    चिन्ह

### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. संस्कृत में कुल स्वर कितने माने गए हैं?

क) 10

ख) 12

ग) 13

घ) 14

उत्तर (ख)

2. 'क' वर्ग का उच्चारण स्थान है

क) तालु

ख) मूर्धा

ग) कंठ

घ) दन्त

उत्तर (ग)

3. 'य, र, ल, व' को कहा जाता है

क) ऊष्म

ख) अंतःस्थ

ग) स्पर्श

घ) स्वर

उत्तर (ख)

4. अनुस्वार का उच्चारण मुख्यतः होता है

क) कंठ से

ख) तालु से

ग) नासिका से

घ) दन्त से

उत्तर (ग)

5. शिक्षा किसका अंग है?

क) पुराण

ख) वेद

ग) उपनिषद्

घ) स्मृति

उत्तर (ख)



## अथ संज्ञा प्रकरणम्

### उद्देश्य

1. पाणिनीय संज्ञाओं का ज्ञान प्राप्त करना।
2. समास के प्रकारों को समझना।
3. व्याकरणिक संरचना का अभ्यास करना।

अणादिरूप-वृद्ध्याद्या आचार्येण प्रकल्पिताः ।

संज्ञाः शास्त्रप्रवृत्त्यर्थमर्थाप्यन्ते यथाक्रमम् ॥

पाणिनिव्याकरण के आधारभूत माहेश्वर<sup>१</sup> नाम से प्रसिद्ध १४ सूत्रा ये हैं-

१. वैयाकरण कुल में यह ऐतिह्य है कि पाणिनि व्याकरण के मूल-भूत अ इ उ ण् आदि १४ सूत्रा भगवान् शिव के नृत्तावसान में ढक्का-वादन से उत्पन्न हुए। अतः इन्हें 'माहेश्वर' कहते हैं। पर भगवान् भाष्यकार प्रत्याहारेनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न इत्यादि श्लोक-वार्तिक का व्याख्यान करते हुए कहते हैं - एषा ह्याचार्यस्य शैली लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति- अचोऽक्षु हलो हल्षु। यहाँ आचार्य शब्द अनादि शब्द पुरुष के लिए प्रयुक्त हुआ है, ऐसा नागोजिभट्ट का कथन है। सम्भवतः 'अनादि शब्द-पुरुष' से उन्हें शिव अभिप्रेत है। पर यह संगत प्रतीत नहीं होता। यह दूराधिरोहिणी कल्पना है। यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ढक्क. वादन से उत्पन्न हुए सूत्रों को उपदेश नाम से कैसे व्यपदिष्ट किया जा सकता है। भाष्यस्थ 'उपदिशति' (= उच्चारयति) शब्द का प्रयोग भी असंगत रहता है। शैली शब्द का प्रयोग भी पुरुषकृत प्रयत्न की ओर संकेत करता है। शीलाद् अभ्यासवशाद् आगता शैली शील से निष्पन्न निबन्धन प्रकार-विशेष । भाष्य में आचार्य शब्द का व्यवहार सूत्राकार भगवान् पाणिनि अथवा वार्तिककार भगवान् कात्यायन के लिए प्रयुक्त हुआ है, हाँ, बहुवचन में प्रयुक्त हुआ यह पूर्वाचार्यों का संकेतक है। ये सूत्रा शिवसूत्रा हैं इसका भाष्य में गन्धमात्र भी संकेत नहीं है। हमारा विचार है कि ये सूत्रा भगवान् पाणिनि की उपज्ञा (आद्य ज्ञान) हैं; उनकी अपनी कृति हैं। भाष्यकार का इन्हें अक्षरसमाम्नाय कहना भी इनकी अनादिकालता का बोधक नहीं, कारण कि सम्आड्पूर्वक

म्ना धातु आ प्रयोग संग्रह अर्थ में भी होता था, जैसे कि यास्क निरुक्त (७.१३) में 'भूयांसि तु समाम्नातात्, यत् तु सविज्ञानभूतं स्यात्प्राधान्यस्तुति तत् समामने' इस वाक्य में करते हैं। नागोजिभट्ट भी 'अक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः' का अर्थ 'वाक्संग्रहोपायः' ऐसा करते हैं।

अइउण् (१) ऋलृक् (२) ए ओङ् (३) ऐ औच् (४) हयवरट् (५) लण् (६) जमडणनम् (७) झभञ् (८) घढधष् (९) जबगडडश् (१०) खफछठथचटतव् (११) कपय् (१२) शषसर् (१३) हल् (१४) ।

भाष्य में इन्हें 'अक्षरसमाम्नाय' अथवा वर्णसमाम्नाय कहा है। इन्हें 'प्रत्याहार सूत्रा'<sup>२</sup> भी कहते हैं। यहाँ हकारादि में जो अकार है वह उच्चारण-सौकर्य के लिए है। इन सूत्रों के आधार पर अष्टाध्यायी में ४३ 'प्रत्याहार' प्रयोग में आए हैं। वे ये हैं-

अण्, अक्, अच्, अट्, अण्, अम्, अश्, अल्, इक्, इच्, इण्, उक्, एङ्, एच्, ऐच्, हश्, हल्, यण्, यम्, यञ्, यय्, यर्, वश्, वल्, रल्, जम्, मय्, डम्, झष्, झश्, झय्, झर्, झल्, भष्, जश्, बश्, खय्, खर्, छव्, चय्, चर् शर् शल् ।

शास्त्र में प्रयुक्त हुए अणु आदि प्रत्याहार हैं, यह व्याख्यान से ही जाना जाता है, लक्षण से नहीं। अण, इण आदि कहाँ प्रत्ययादि स्वरूप से वि-वक्षित हैं, कहाँ प्रत्याहार रूप से, इसमें भाष्यकारादि का वचन प्रमाण है।

थोड़े से शब्दों में अथवा थोड़े से प्रयास से शास्त्रप्रवृत्ति कराने के लिए प्रत्याहारों की रचना हुई है। ऊपर दिए हुए प्रत्याहार दो-दो वर्णों से घटित हुए हैं पर बहुत से वर्णों का बोध कराते हैं। ये कैसे घटित हुए हैं और किन वर्णों का ग्रहण कराते हैं इस विषय में कहते हैं-

किसी एक सूत्रा के किसी वर्ण को आदि में उच्चारण कर उसके अन्त में उसी सूत्रा अथवा उसके आगे के किसी सूत्रा के इत्संज्ञक (अन्त्य) वर्ण का उच्चारण करने से ये वर्णसमुदायरूप प्रत्याहार घटित हुए हैं, यह इन्हें देखने से ही स्पष्ट है। प्रत्येक सूत्रा के अन्त्य वर्ण (हल्) की 'इत्'<sup>३</sup> संज्ञा है। इत् संज्ञा

१. प्रत्याह्रियन्ते संक्षिप्यन्ते वर्णा अस्मिन्निति प्रत्याहारः ।

२. एतीति इत्, (इण क्विप्) जो चला जाता है वह 'इत्' है। यह अन्वर्थ संज्ञा है। हलन्त्यम् (१.३.३)। अन्योन्याश्रयदोष को हटाने के लिए इसके।

दो अर्थ किए जाते हैं- उपदेशे ऽन्त्यं हल् इत् स्यात्, हल् इति सूत्रो ऽन्त्यम् इत् स्यात् । उपदेश आद्य उच्चारण को कहते हैं। सोमसुत् में अन्त्य हल् श्च तुक्-विधायक शास्त्र से निष्पन्न होने से आद्य उच्चारण नहीं; अतः इसकी इत् संज्ञा नहीं। और इत् संज्ञा न होने से लोप भी नहीं होता। उपदेश इस प्रकार परिगणित हुए हैं-

**धातुसूत्रागणोणादिनामलिङ्गानुशासनम् ।**

**आगमाः प्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥**

वाले वर्ण को अनुबन्ध भी कहते हैं। ये अनुबन्ध शास्त्रीय कार्य करने के लिए लगाए जाते हैं जैसे यहाँ शास्त्र प्रवृत्त्यर्थ प्रत्याहार बनाने के लिए। जिसकी इत् संज्ञा हो (अर्थात् जो अनुबन्ध हो) उसका लोप<sup>१</sup> (अदर्शन) हो जाता है । कार्यार्थ लगाए हुए अनुबन्ध अविद्यमान होते हुए ही उस-उस शास्त्रकार्य को सम्पन्न करते हैं ऐसा माना जाता है। प्रत्याहार का आदि वर्ण अन्त्य इत् संज्ञक वर्ण से मिलकर अपने स्वरूप तथा अपने से लेकर अन्त्य वर्ण पर्यन्त सूत्रों में पढ़े हुए मध्य में आने वाले सब वर्णों का बोधक (ग्राहक) होता है।<sup>२</sup> अण् कहने से अ इ उ का बोध होता है, तथा अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ ह य व र ल का भी, पर इत्संज्ञक ण्, क्, ड्, च् ण् का नहीं। ऐसा ही सभी प्रत्याहारों के विषय में जानो

अण् प्रत्याहार के अन्तर्गत ह्रस्व स्वरों से दीर्घ स्वरों का भी बोध होता है,<sup>३</sup> अर्थात् शास्त्र में जो कार्य अण् को कहा जाएगा वह जैसे ह्रस्व स्वरों को होगा, वैसे ही दीर्घ स्वरों को भी। 'अच्' से सब स्वरों का बोध होता है, इत्संज्ञक ण् कङ् च् का नहीं। 'हल्' कहने से सब व्यञ्जनों का । अर्थात् हयवरट् सूत्रा के ह से लेकर 'हल्' इस सूत्रा के 'ल्' तक । इत्संज्ञक ट् आदि का नहीं। इसलिए 'झल्' कहने से 'झभञ्' सूत्रा के झ से लेकर 'हल्' सूत्रा के

१. तस्य लोपः (१.३.६)। श्रद्दर्शनं लोपः (१.१.६०)।

२. आदिरन्त्येन सहेता (१.१.७१) आदिः । अन्त्येन । सह । इता । ऐसा पदच्छेद है ।

३. अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६६)। अण, और उदित् (कु चु सवर्णों का भी। पर प्रत्यय नहीं होता। इस शास्त्र को टु तु पु) अपने आपका बोध कराते हैं और अपने (= प्रत्यय, आदेश, आगम) अण से ऐसा बोध ग्रहणक (संग्राहक) शास्त्र कहते हैं।

अन्त्य इत्संज्ञक ल् तक के वर्णों का बोध होता है, पर बीच में आने वाले इत्संज्ञक ज्, ष्, श्, व्, य्, र् का और अपने अन्त में आने वाले इत्संज्ञक ल् का नहीं ।

प्रत्याहार सूत्रों में 'ण्' दो बार पढ़ा है। 'अण्' से पहले णकार तक के वर्णों का ग्रहण (बोध) होता है। **अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः** (१।१।६६) में उपात्त अण् को छोड़ कर । यहीं अण् से परे के णकार तक के वर्णों का ग्रहण होता है, अन्यत्र कहीं नहीं। इसमें व्याख्यान ही शरण है। यथा उरण् रपरः (१।१।५१)। अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः (८।४।५७) – यहाँ पूर्व णकार तक के वर्णों का ग्रहण होता है। 'इण्' से परे के णकार तक का ही ग्रहण होता है।

पर यदि अण् 'तपर' (तः परो यस्मात्, 'त्' है परे जिससे, अथवा तादपि परस्तपरः, 'त्' से परे) पढ़ा हो तो दीर्घ आदि का ग्रहण न होगा। जैसे **अदेङ्गुणः** (१।१।२) सूत्र में 'अ' 'तपर' पढ़ा है, इसलिए 'अ' अपने काल वाले ह्रस्व (एकमात्रिघ) का ही बोध करायेगा, दीर्घ (द्विमात्रिघ) का नहीं, जिससे 'अ' की गुण संज्ञा होगी, दीर्घ 'आ' की नहीं। एङ् भी 'तपर' पढ़ा है (तादपि परस्तपरः, 'त्' से परे होने से), इस से प्लुत (त्रिमात्रिघ) एङ् (ए, ओ) की गुण संज्ञा नहीं होगी ।

**वृद्धिः**<sup>१</sup>– आत् (तपर आ) और ऐच् = ऐ, औ) की वृद्धि संज्ञा होती है। चाहे आदैच् तद्भाविता, वृद्धि शब्द उच्चारण करके भाविता (उत्पादित, साधित, विहित) हों, चाहे अतद्भाविता (वृद्धि शब्द द्वारा अविहित)। 'तपर' करने से त्रिमात्रिक, चतुर्मात्रिक आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा नहीं होगी। आश्वलायनः। ऐतिकायनः। औपगवः। यहाँ तद्भाविता आ, ऐ, औ की वृद्धि संज्ञा हुई है। अश्वलस्य गोत्रापत्यम्, इतिकस्य गोत्रापत्यम्, उपगोरपत्यम् – यहाँ अश्वल तथा इतिक से फक् प्रत्यय हुआ है, और आदि अच् (अ, ख) को वृद्धि हुई है। 'उपगु' से अण् होकर आदि अच् 'उ' को वृद्धि हुई है। शालीयः मालीयः। यहाँ 'आ' तद्भाविता नहीं तो भी वृद्धि संज्ञा होने से वृद्धाच्छः (४।२।११४) से छ प्रत्यय होता है। शालायां भवः शालीयः। मालायां भवः = मालीयः।

**गुण<sup>१</sup>**- अत् (तपर अ) और एङ् (तपर एङ् = ए, ओ) की गुण संज्ञा होती है, चाहे अत्, एङ् तद्भाविता (गुण शब्द द्वारा विहित) हों, चाहे अतद्भाविता। तद्भाविता-तरिता। चेता। स्तोता-यहाँ 'तृ' को अर् गुण शब्द उच्चारण करके विहित हुआ है। इसी प्रकार 'चि' और 'स्तु' के 'इ', 'उ' को गुण विधि से 'ए' और 'ओ' हुए हैं। अतद्भाविता-ते पचन्ति। अहं पचे-यहाँ पच + अ + अन्ति, पच् + अ ए में क्रम से 'अ' तथा 'ए' अतद्भाविता हैं। 'अन्ति' के 'अ' की गुण संज्ञा होने से ही **अतो गुणे** (६।१।६७) से पररूप एकादेश हुआ है। 'पच' में **टित आत्मनेपदानां टेरे** (३।४।७६) से 'इट्' को 'ए' हुआ है, गुणविधि से नहीं, तो भी गुणसंज्ञा होने से 'अतो गुणे' से पररूप एकादेश हुआ है।

**संयोग<sup>२</sup>**- विजातीय (=भिन्नजातीय) अचों से अव्यवहित (व्यवधानरहित) अनन्तरोच्चारित हलों की 'संयोग' संज्ञा है। समुदाय की संज्ञा की है, प्रत्येक संयुक्त हल् की नहीं। हल् शब्द यहाँ जातिपरक है, अतः दो हलों के समुदाय की संयोग-संज्ञा इष्ट है तथा बहुतों के समुदाय की भी। 'अग्नि' में ग् न् का संयोग है। 'अश्व' में श् व् का। 'कर्ण' में र् ण् का। इन्द्र, चन्द्र, मन्द्र में न् द् र् का। उष्ट्र, राष्ट्र, भ्रष्ट्र, में ष् ट् र् का संयोग है। अनन्तरोच्चारित हलों की संयोग संज्ञा की है, अचों की नहीं, अतः तितउ च्छत्रम् में यद्यपि अ उ अनन्तरोच्चारित हैं, पर इनकी संयोग संज्ञा नहीं। यहाँ भी यदि संयोग संज्ञा होती तो 'उ' का **संयोगान्तस्य लोपः** (८।२।२३) से लोप हो जाता।

**सवर्ण<sup>३</sup>**- मुख के भीतर होने वाले तालु आदि स्थान तथा प्रयत्न = स्पृष्टतादि वर्ण-गुण जिस वर्ण के जिस समानजातीय वर्ण के प्रति तुल्य (समान = सदृश) हैं वे दोनों परस्पर 'सवर्ण' कहलाते हैं। सूत्रा में 'आस्य' शब्द तद्धितान्त है- आस्ये भवम् आस्यम्। शरीरावयवाच्च (४।३।५५) से यत्। **आस्यं च प्रयत्नश्चेति आस्यप्रयत्नौ। तुल्यौ आस्यप्रयत्नौ यस्य तत् तुल्यास्यप्रयत्नं वर्णम्।** वर्ण शब्द नपुंसक भी है। **दण्डाग्रम्। खट्वाग्रम्।** सावर्ण्य होने पर **अकः सवर्णे दीर्घः** (६।१।१०१) से सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ है।

**प्रगृह्य<sup>४</sup>**- ई, ऊ, ए- अन्तवाले द्विवचन की प्रगृह्य संज्ञा होती है। द्विवचन

- 
- 1 अदेङ् गुणः (१.१.२.)
  - 2 हलोऽनन्तराः संयोगः (१।१।७) ।
  - 3 तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् (१।१।९) ।
  - 4 ईदूदेद् द्विवचनम् प्रगृह्यम् (१।१।११) ।

सुप् व तिङ् के एक-एक त्रिक के द्वितीय घटक अवयव की संज्ञा है। उस द्विवचन के अन्त में जब ई, ऊ, ए हों तो उसकी शास्त्र में प्रगृह्य संज्ञा की है। इस का यह फल है कि अच् परे रहते ऐसा द्विवचन प्रकृत्याऽवस्थित रहता है, अर्थात् अपने स्वरूप में अवस्थित रहता है, सन्धि द्वारा विकार को प्राप्त नहीं होता। इसे **प्रकृतिभाव** कहते हैं। **अग्नी** इति। **वायू** इति। **माले** इति। **पचेते** इति। **पचेथे** इति। अग्नी आदि में ईकारादि व्यपदेशिवद्भाव से ईकारान्तादि द्विवचन हैं। पचेते, पचेथे में आते, आथे मुख्यरूप से एकारान्त द्विवचन हैं।

**घु<sup>१</sup>**- दा-रूप चार धातुएँ (डुदाञ् दाने, दाण् दाने, दो अवखण्डने, देङ्, रक्षणे) तथा धा-रूप दो (डुधाञ् धारणपोषणयोः, धेट् पाने) घु-संज्ञक होती हैं, दाप् लवने, दैप् शोधने की यह संज्ञा नहीं होती। दो अवखण्डने तथा देङ् रक्षणे इन्हें उपदेशावस्था में ही आकार अन्तादेश हो जाता है। इसी प्रकार धेट् पाने को भी। 'दाधाः' का विग्रह ऐसा है- **दाश्च दाश्च दाश्च दाः। धाश्च धाश्च धौ। दाश्च धौ च दाधाः।** घु- संज्ञा होने से प्रणिददाति, प्रणियच्छति, प्रणिद्यति, प्रणिदयते, प्रणिदधाति, प्रणिधयति में उपसर्गस्थ निमित्त से 'नि' को णत्व हुआ। पर धु संज्ञा न होने से प्रनिदाति बर्हिः (कुशा को काटता है), प्रनिदायति मुखम् (मुंह को धोता है) में णत्व नहीं होता।

**घ<sup>२</sup>**- आतिशायनिक प्रत्यय तरप्, तमप् की 'घ' संज्ञा होती है। इसका फल यह है कि **ब्राह्मणितरा, ब्राह्मणितमा-** यहाँ घ-रूप-कल्प-चेलट् (६।३।४३) सूत्रा से डीनन्त 'ब्राह्मणी' शब्द को ह्रस्व हो जाता है। तरबन्त, तमबन्त की घ-संज्ञा नहीं होती। यदि हो जाय तो **कुमारगौरितरा** सिद्ध नहीं होगा, कारण कि उत्तरपद परे होने पर **पर** होने से पुंवद्भाव को बाधकर 'कुमारी' शब्द के डी को ह्रस्व प्रसक्त होगा, तरप् परे रहते 'गौरी' को नहीं होगा जिससे '**कुमारिगौरितरा**', यह अनिष्ट रूप निष्पन्न होगा।

**अव्यय<sup>३</sup>** - वह शब्दरूप जो तीनों लिङ्गों, सातों विभक्तियों में तथा तीनों वचनों में बदलता नहीं, एकसमान रहता है, उसे 'अव्यय' कहते हैं-

**सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।  
सर्वेषु च वचनेषु यन्न व्येति तदव्ययम् ॥**

- 
- 1 दाधा घ्वदाप् (१.१.२०)
  - 2 तरप्तमपौ घः (१.१.२२)
  - 3 स्वरादिनिपातमव्ययम् (१.१.३७)। चादयोऽसत्त्वे (१.४.५७)।

स्वर् आदि शब्द गणपठित हैं, इन की अव्यय संज्ञा की है। च, वा, ह, अह, अहह आदि गणपठित 'निपात' कहलाते हैं। तथा प्र, परा, सम्, अनु आदि २२ निपात पढ़े हैं। इन निपातों की भी 'अव्यय' संज्ञा की है।

**सर्वनामस्थान<sup>१</sup>**- सुप् (सु औ जस् अम् औट् शस् टा आदि २१ प्रत्यय) के पहले पाँच प्रत्यय (= सुट्) की 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है जब वे अनपुंसक लिङ्ग शब्द से परे आएँ। जस् और शस् के स्थान में नपुंसकलिङ्ग शब्द-सम्बन्धी 'शि' की भी 'सर्वनामस्थान' संज्ञा है। यह इतनी बड़ी संज्ञा पूर्वाचार्यकृत है, पाणिनि ने इसे अपने शास्त्र में अपना लिया है। **उगिदचां सर्वनामस्थानेऽधतोः** (७।१।७०) इत्यादि इसके प्रदेश हैं।

**सम्प्रसारण<sup>२</sup>**- यण् के स्थान में जो शास्त्र-विहित इक् हो उसकी सम्प्रसारण संज्ञा है तथा यण के स्थान में इक् होता है इस वाक्यार्थ की भी सम्प्रसारण संज्ञा है। **विधि में वाक्यार्थ संज्ञी है- ष्यङः सम्प्रसारणम्** (६।१।१३), जैसे यहाँ। अनुवाद में (जहाँ सम्प्रसारण अनुवाद्य है, विधेय नहीं, जहाँ सम्प्रसारण को उद्देश करके कुछ कहा गया है) **यण्स्थानिक इक् वर्ण संज्ञी** है। जैसे **सम्प्रसारणाच्च** (६।१।१०८) यहाँ यण् के स्थान में इक्। यहाँ संख्यातानुदेश है, अर्थात् स्थानी यण् (य् व् ल् र्) को जो क्रम से इक् (इ उ ऋ लृ) हो उसकी सम्प्रसारण संज्ञा है, जो व्युत्क्रम से हो, उसकी नहीं, इसीलिये अदुहितराम् - यहाँ अदुहि (अदुह, लङ् इट्) में ल् के स्थान में 'इ' हुआ है, इसकी सम्प्रसारण संज्ञा नहीं। यदि होती तो हलः (६।४।२) सूत्रा से 'इ' को दीर्घ हो जाता।

**टि<sup>३</sup>**- संनिविष्ट अचों के मध्य में जो अन्त्य अच् तदादि शब्दसङ्घात की 'टि' संज्ञा की है। 'तदादि' बहुव्रीहि है। स श्रादि र्यस्य तदादिः। तद् से अच् परामृष्ट है। 'अचः' यह निर्धारण अर्थ में षष्ठी है। जाति अर्थ में एकवचन प्रयुक्त हुआ है। जहाँ अन्त्य अच् किसी वर्ण का आदि नहीं, अर्थात् जब उस से परे कोई वर्ण नहीं, तो व्यपदेशिवद्भावे से इस अकेले अच् की भी 'टि' संज्ञा होती है- अग्निचित् (जिस ने अग्नि चयन किया है) में 'इत्' शब्द 'टि' है। सोमसुत् (जिसने सोमरस निष्पादन किया है) में 'उत्' शब्द 'टि' है। आताम्। आथाम् में आम् 'टि' है।

1 सुडनपुंसकस्य (१.१.४३)। शि सर्वनामस्थानम् (१.१.४.२)।

2 इग्यणः सम्प्रसारणम् (१.१.४५)

3 अचोऽन्त्यादि टि (१.१.६४)।



कुमुद्वान्। नड्वान्-यहाँ ड्मत्तुप् प्रत्यय परे रहते कुमुद तथा नड के अन्त्य अच् 'अ' का टे: (६।४।१४३) से लोप हुआ है। यहाँ 'अ' टिसंज्ञक है।

**उपधा<sup>१</sup>**- धात्वादि वर्णसमुदाय में अन्त्य अल् से पूर्व जो अल् वर्ण हो उसकी उपधा संज्ञा है। पच्। पठ्- यहाँ अकार उपधा है। छिद्। भिद् में 'इ' उपधा है। बुध्। युध् में 'उ' उपधा है। वृत्। वृध् में ऋ उपधा है। शिष्टः। शिष्टवान् में समुदाय षट् आदि से पूर्व की नहीं।

**अपृक्त<sup>२</sup>**- जो प्रत्यय एक अल्मात्र से घटित हुआ है उसकी 'अपृक्त' संज्ञा है। एक = असहाय, जिसका दूसरा साथी = सहोच्चा। रित नहीं। **एकोऽल् यस्य स एकाल्।** 'अपृक्त' शब्द का अर्थ असंयुक्त = जुदा, अलग, अकेला है। पृची सम्पर्क - क्त = पृक्त। नञ्पूर्वक = अपृक्त।

**प्रातिपदिक<sup>३</sup>**- अर्थवान् शब्द जो न धातु हो और न प्रत्यय और न प्रत्ययान्त, उसकी प्रातिपदिक संज्ञा है। प्रातिपदिक शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ है- **प्रतिपदं भवं प्रातिपदिकम्** = पद पद में होने वाला। प्रातिपदिकार्थ में प्रथमा विभक्ति होती है। शब्द के श्रवण मात्र से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही प्रातिपदिकार्थ है। **नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः।** डित्थः। कपित्थः। कुण्डम्। पीठम्। अर्थवान् इसलिये कहा कि वनं धनम् इत्यादि में नान्त शब्द रूप जो अनर्थक है, की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य (८।२।७) से न् लोप हो जाय। अधातु क्यों कहा? इसलिये कि हन् धातु के लङ् रूप 'अहन्' की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो यहाँ भी न्-लोप हो जाय। अप्रत्यय (जो प्रत्यय न हो, तथा प्रत्ययान्त न हो) क्यों कहा? इसलिए कि काण्डे। कुड्ये- इन की प्रातिपदिक संज्ञा न हो। यदि हो जाय तो **ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य** (१।२।४७) से 'ए' को ह्रस्व 'इ' हो जाय। प्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा का निषेध किया है, पर कृत्प्रत्ययान्त तथा तद्धितप्रत्ययान्त की प्रातिपदिक संज्ञा होती ही है- कारकः। हारकः। (कृत् प्रत्यय ण्वुल्)। कर्ता। हर्ता। (कृत् प्रत्यय तृच्)। औपगवः। कापटवः। (तद्धित प्रत्यय अण्)। अर्थवान् पदसमुदाय **समास** की भी प्रातिपदिक संज्ञा होती है, पर अर्थवान् पद समुदाय वाक्य की नहीं।

- 1 अलोन्त्यात्पूर्व उपधा (१।१।६५)
- 2 अपृक्त एकाल्प्रत्ययः (१।२।४१)।
- 3 अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (१।२।४५)

**इत्<sup>१</sup>**– उपदेशावस्था के अन्त्य हल् की इत् संज्ञा होती है, हलन्त्यम् (प्रत्याहारसूत्रा १४) में हल् के ‘लू’ की भी। उपदेशावस्था के अच् की भी इत् संज्ञा होती है, जिस अच् को पाणिनि ने आनुनासिक्य-धर्म-युक्त पढ़ा हो- अ इ उण्- यहाँ णकार की इत् संज्ञा है। **ऋलृक्**– यहाँ ककार की। पर ‘अग्निचित्’ में ‘त्’ की नहीं। यह ‘त्’ औपदेशिक नहीं। तुक् आगम है। एध्। स्पर्ध<sup>२</sup>– यहाँ ‘अ’ इत्संज्ञक है। अभ्र औ अपः– यहाँ अनुनासिक शास्त्रविहित है, औपदेशिक नहीं, अतः इत् संज्ञा नहीं हुई। इत् संज्ञा होती तो ‘आ’ का लोप हो जाता।

**नदी<sup>३</sup>**– ईकारान्त, ऊकारान्त नित्य स्त्रीलिङ्ग शब्द की ‘नदी’ संज्ञा होती है। सूत्रा में यू का विग्रह है **ईश्च ऊश्च = यू** (इतरेतरयोग द्वन्द्व)। **स्त्र्याख्यौ** = **स्त्रियमाचक्षाते**, श्रुत्या स्त्रीत्व को कहते हैं, वाक्य में पदान्तर के योग से जिन का स्त्रीत्व सम्पन्न होता है, वे नहीं। कुमारी (डीप्)। गौरी (डीए) लक्ष्मीः। (यहाँ लक्ष्मी में औरणादिक ‘ई’ प्रत्यय है, डीप आदि स्त्री प्रत्यय नहीं)। शार्ङ्गरवी (डीन्)। ब्रह्मबन्धूः (ऊङ्)। यवागूः (यु-आगूच्)। पर सेतानी, ग्रामणी, खलपू (सफाई करने वाला)– ये ‘स्त्र्याख्य’ नहीं, स्वतन्त्र प्रयुक्त हुए स्त्रीत्व को नहीं कहते हैं। पदान्तरयोग से अवश्य कहते हैं। इन की ‘नदी’ संज्ञा नहीं होगी– सेनान्ये स्त्रियै। ग्रामध्ये स्त्रियै। खलप्वे स्त्रियै। इनमें नदी संज्ञा न होने से **आणनद्याः** (७।३।११२) से आट् आगम नहीं हुआ।

**घि<sup>४</sup>**– शेष शब्दरूप ‘सखि’ शब्द को वर्जन करके घि-संज्ञक होता है। ‘**शेष**’ से अभिप्राय ऐसे शब्दस्वरूप से है जो ह्रस्व इवर्णान्त ह्रस्व उवर्णान्त है पर ‘स्त्र्याख्य’ नहीं है, और जो ‘स्त्र्याख्य’ तो है पर नदीसंज्ञक नहीं। अग्नि। वायु-से डे परे ‘धि’ संज्ञा होने से घेर्ङिति (७।३।१११) से गुण होता है– **अग्नये**। वायवे। अग्नि, वायु पुमान् शब्द हैं, स्त्र्याख्य नहीं हैं। कृति। धेनु-ये स्त्र्याख्य हैं, पर नदीसंज्ञक नहीं हैं, इनके डे परे रहते ‘घि’-निमित्तक गुण होकर कृतये, धेनवे रूप होते हैं। ‘सखि’ शब्द की ‘घि’ संज्ञा प्राप्त थी, उसका निषेध कर दिया है।

**लघु<sup>५</sup>**– ह्रस्व (एकमात्रिघ) अच् की ‘लघु’ संज्ञा है।

**गुरु<sup>५</sup>**– संयोग परे रहते ह्रस्व अच् की ‘गुरु’ संज्ञा है– कुण्डा। शिक्षा। भिक्षा। यहाँ संयोग (ण् ड्, क् ष्) परे होने से पूर्व अक्षर के ‘गुरु’ होने से **गुरोश्च हलः** (३।३।१०३) से अङ् प्रत्यय होता है। दीर्घ अक्षर की भी गुरु संज्ञा की है– ईहा। **गुरोश्च हलः** (३।३।१०३) से अङ्। ईहाञ्चक्रे। इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः (३।१।३६) से लिट् परे आम् प्रत्यय हुआ है।

1 हलन्त्यम् (१।३।३)। उपदेशेजनुनासिक इत् (१।३।२)

2 यू स्त्र्याख्यौ नदी (१।४।३)।

3 शेषो घ्यसखि (१।४।७)।

4 ह्रस्वं लघु (१।४।१०)।

5 संयोगे गुरु (१।४।११) दीर्घ च (१।४।१२)।

**अङ्गः<sup>६</sup>**– जिस शब्दरूप से प्रत्यय विधान किया गया है तदादि (वह है आदि जिसका) शब्द-संघात की अङ्ग संज्ञा होती है प्रत्यय परे रहते। **यस्मात्प्रत्ययविधिस्तत श्रारभ्या तस्मात्प्रत्ययाद्यः शब्दसंघातस्तस्य संज्ञा क्रियते**, अर्थात् जिससे प्रत्यय विहित हुआ है, उससे लेकर प्रत्यय तक जो शब्द संघात है, उसकी (अङ्ग) संज्ञा की जा रही है। जहाँ ऐसा शब्दसंघात न होगा वहाँ केवल शब्द की भी व्यपदेशिवद्भावेन अङ्ग संज्ञा होगी– करिष्यति। हरिष्यति– यहाँ कृ, ह से तिप् प्रत्यय विधान किया है, पीछे ‘स्य’ प्रत्यय आया है। तिप् प्रत्यय परे रहते ‘कृ’ तदादि है, कृ + स्य इस संघात की ‘अङ्ग’ संज्ञा हुई। कुण्ड + शि (ख)। ‘कुण्ड’ से शि प्रत्यय विधान किया गया है। पीछे **नपुंसकस्य झलचः** (७।१।७२) से **नुम्** होता है। अब ‘कुण्डन्’ यह शब्दसंघात ‘अङ्ग’ बन जाता है, अतः नान्त होने से **सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ** (६।४।८) से उपधा-दीर्घ हो जाता है। कर्ता। हर्ता– यहाँ कृ, ह से तृच् प्रत्यय हुआ है, इसके परे रहते पूर्व कृ, ह की अङ्ग संज्ञा होने से **सार्वधातुकार्धधातुकयोः** (७।३।८४) से गुण होता है। यहाँ कृ, ह की **व्यपदेशिवद्भाव** से अङ्ग संज्ञा है।

**पद<sup>७</sup>**– सुबन्त तथा तिङन्त शब्दरूप की ‘पद’ संज्ञा है। सु औ जस् २१ प्रत्ययों को सुप् कहते हैं। तिप् तस् कि आदि १८ प्रत्ययों को तिङ् कहते हैं।

क्य (= क्यच्, क्यङ्) परे होने पर नान्त शब्द रूप की ही पद संज्ञा होती है, दूसरे किसी की नहीं। सुबन्त से क्यच्, क्यङ् विधान किए हैं, अतः क्यच्परक तथा क्यङ्-परक की पद संज्ञा सिद्ध ही थी। **सिद्धे सत्यारम्भो नियमार्थः**। सिद्ध होने पर जो विधान किया जाता है वह नियमार्थ होता है। क्यच्-राजीयन्ति प्रजाः (प्रजायें अपने लिए राजा चाहती हैं)। यहाँ राजन् की पद संज्ञा होने से न् का लोप हो गया। वाच्यति द्विजः। (ब्राह्मण वाणी को चाहता है)। स्रुच्यति याजकः। (पुरोहित सूवा को चाहता है)। यहाँ वाच, सू च् की पदसंज्ञा न होने से ‘कुत्व’ नहीं होता। सिन् (स् इत् है जिसका) प्रत्यय परे रहते पूर्व की पद संज्ञा होती है।<sup>८</sup> **भवतष्ठक्छसौ** (४।२।११५)। भवत् + छस् (=ईय) =भवदीय। **झलां जशोऽन्ते** (८।२।३६) से ‘त्’ को जश्त्व से ‘द्’ हुआ। भ-संज्ञा प्राप्त थी।

यदि 'भ' संज्ञा होती तो 'त्' को 'द्' न होता। ऊर्णा + युस् = ऊर्णायुः (ऊर्णनाभि, लूता, मकड़ी)। यहाँ भ-संज्ञा होती तो **यस्येति च** (६।४।१४८) से अवर्ण (=आ) का लोप हो जाता। 'युस्' सित् प्रत्यय है।

- 1 यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् (१।४।१३) ।
- 2 सुप्तिङन्तं पदम् (१।४।१४क)। नः क्ये (१।४।१५क)
- 3 सिति च (१।४।१६) ।

सु<sup>१</sup> (सु औ जस्) आदि सर्वनामस्थान-वर्जित कप्रत्ययावधिक प्रत्ययों के परे रहते पूर्व शब्दरूप की पद संज्ञा होती है। सु आदि २१ प्रत्यय जिन्हें सुप् कहते हैं, उनमें सुट् को (पहले पाँच का) छोड़कर शेष असर्वनामस्थान हैं। पञ्चमाध्याय के अन्त में समासान्त प्रकरण **समासान्ताः** (५।४।६८) से प्रारम्भ होता है और कप्-समासान्त-विधान के साथ समाप्त हो जाता है। इस अवधि के अनुसार सभी तद्धित प्रत्ययों से पूर्व की पद संज्ञा होती है। अतिप्रसङ्ग को वक्ष्यमाण सूत्रा से वारित किया जाएगा- राजभ्याम्। राजभिः। भ्याम्, भिस् असर्वनामस्थान स्वादि प्रत्यय हैं। इन से पूर्व राजन् की पद संज्ञा होने से न् लोप हुआ है। राजत्वम् (राज्ञो भावः, त्व तद्धित प्रत्यय)। राजता (राज्ञो भावः, तल् तद्धित)। राजतरः (इमौ राजानौ, अयमनयो राजतरः, अतिशायने तरप् तद्धित)। राजतमः (इमे राजानः, अयमेषां राजतमः, तमप् तद्धित)। पद संज्ञा होने से न् का लोप हुआ है।

**भ<sup>२</sup>**- पदसंज्ञा का अवबाद भ-संज्ञा का विधान किया जा रहा है। यकारादि अजावि कप् प्रत्ययावधिक सर्वनामस्थानर्जित स्वादि प्रत्यय परे होने पर पूर्व की भ-संज्ञा होती है- राज्ञः। राज्ञा। राज्ञे। राज्ञः। राज्ञि। राज्ञोः। राज्ञाम्। यहाँ सर्वत्र असर्वनामस्थान स्वादि प्रत्यय अजादि है, अतः 'भ' संज्ञा होने से **अल्लोपोऽनः** (६।४।१३४) से 'अन्' के 'अ' का लोप होता है। गार्ग्यः। वात्स्यः। गोत्रापत्य में यञ् तद्धित है। यकारादि होने से भ-संज्ञा होकर यस्येति च (६।४।१४८) से 'अ' का लोप हुआ है। कुमारी। गौरी। ब्राह्मणी।

यहाँ स्त्री प्रत्यय डीप्, डीष, डीन् अजादि हैं। अतः भ-संज्ञा होने से 'कुमार' आदि के 'अ' का **यस्येति च** (६।४।१४८) से लोप हुआ है। दाक्षिः। प्लाक्षिः। यहाँ अपत्यार्थक इञ् तद्धित होने से पूर्व की भ-संज्ञा होने से **यस्येति च** (६।४।१४८) से 'अ' का लोप हुआ है।

तकारान्त, सकारान्त शब्दरूप की भी भ-संज्ञा होती है जब मत्वर्थीय प्रत्यय परे हो- उदश्वित्वान् घोषः (अहीरों का निवास जहाँ छाछ प्रचुर-मात्रा में विद्यमान है)। विद्युत्वान् बलाहकः (बिजलीयुक्त मेघ)। यहाँ तान्त उदश्वित्, तथा विद्युत् के भ-संज्ञक होने से 'त्' को जश्त्वविधि से 'द्' नहीं हुआ। यशस्वी। पयस्वी-यहाँ सकारान्त यशस् पयस् के स् को भ-संज्ञा होने से पदत्व-निमित्तक रुत्व नहीं हुआ। विदुष्मती सभा (बहवो विद्वांसः सन्त्यत्र)- यहां भी भ-संज्ञा होने से विद्वस् को सम्प्रसारण हुआ है और स् को रुत्व नहीं हुआ।

**निपात<sup>३</sup>**- चादयोऽसत्त्वे (१।४।५७) से लेकर **अधिरीश्वरे** (१।४।६७) सूत्रा तक के सूत्रों द्वारा अनुक्रान्त 'च' आदि की निपात संज्ञा की है। इस संज्ञा का गति, उपसर्ग, कर्मप्रवचनीय संज्ञाओं के साथ समावेश है, बाध्य-बाधक भाव नहीं। यथा 'अपि' गति भी है, उपसर्ग भी है, कर्मप्रवचनीय भी (अर्थविशेष मेक) और निपात भी।

1 स्वादिष्वसर्वनामस्थाने (१।४।११७क)

2 यचि भम् (१।४।१८) ।

3 प्राग्रीश्वरान्निपाताः (१।४।५६) । चादयो ऽ सत्त्वे (१।४।६७) । प्रादयः० (१।४।५८) ।

**उपसर्ग<sup>१</sup>**- प्र, परा, अप, सम्, अनु आदि २२ निपातों की उपसर्ग संज्ञा की है जब ये क्रियायुक्त हो. कर क्रियापद से पूर्व प्रयुक्त हों। **प्रणयति। परिणयति** (विवाहता है)। **प्रणायकः।** (प्रकर्षण नयतीति)। **परिणायकः** (वोढा)। क्रियायोग न होने पर उपसर्ग संज्ञा नहीं होगी- **प्रगतो नायकोऽस्माद् देशात् प्रणायको देशः** (ऐसा देश जहाँ से नेता चला गया है)। यहाँ प्र का योग **गमि**-क्रिया के साथ है, 'नी' के साथ नहीं, अतः उपसर्ग संज्ञा न होने से उपसर्गस्थ निमित्त से 'नी' को जो णत्व प्राप्त था, वह नहीं हुआ। निपात संज्ञा अवस्थित रही।

**गति<sup>२</sup>**- क्रियायोग में प्रादि निपातों की गति संज्ञा भी की है- प्रकृत्य।

**प्रकृतम्।** 'प्रकृत्य' में गतिसमास हुआ है। समास होने से क्त्वा को ल्यप् हुआ। **'प्रकृतम्'** में **गतिरनन्तरः** (६।२।४६) से 'प्र' गति प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) होता है।

**उपसर्गाः क्रियायोगे। गतिश्च-** इस प्रकार योग विभाग कर के क्यों पढ़ा? गत्युपसर्गाः (अथवा उपसर्गा गतिश्च) क्रियायोगे ऐसा एकयोग रूप में क्यों नहीं पढ़ा? इसलिए कि वक्ष्यमाण निपातों की गतिसंज्ञा ही हो उपसर्ग संज्ञा मत हो। अन्यथा ऊरी स्यात्- यहाँ **उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यचरः** (८।३।८७) से षत्व का प्रसङ्ग होगा।

**कर्मप्रवचनीय<sup>३</sup>**- इसका आचार्य ने लक्षण नहीं किया। पर इसका व्युत्पत्त्यर्थ है- कर्म प्रोक्तवन्त इति कर्मप्रवचनीयाः। कर्म = क्रिया। कर्मप्रवचनीयाः। क्रिया को नहीं कहते, निर्वृत्त क्रिया द्वारा जनित सम्बन्ध के विशेषक होते हैं। हेतुभूत लक्षण आदि अर्थ में अनु आदि निपातों की कर्मप्रवचनीय संज्ञा की है। संज्ञा का फल यह है कि कर्मप्रवचनीय से युक्त में द्वितीया विभक्ति होती है- शाकल्यस्य संहितामनु प्रावर्षत्, शाकल प्रोक्त ऋग्वेदीय शाखा के पाठ की समाप्ति से लक्षित तद्-हेतुक वृष्टि हुई। यहाँ अनु कर्मप्रवचनीय के योग में 'संहिता' से द्वितीया विभक्ति हुई।

**विभक्ति<sup>४</sup>**- सुप् जो २१ प्रत्यय हैं और तिङ् जो १८ प्रत्यय हैं उनके एक-एक त्रिक (सु औ जस्), (तिप्, तस् झि) की विभक्ति संज्ञा की है। त्रिक में वर्तमान सु आदि अथवा तिप् आदि एक एक की भी विभक्ति संज्ञा इष्ट है। **न विभक्तौ तुस्माः** (१।३।४) इत्यादि में इस संज्ञा का उपयोग किया गया है।

- |   |                                |
|---|--------------------------------|
| 1 | उपसर्गाः क्रियायोगे (१।४।५६) । |
| 2 | गतिश्च (१।४।६०) ।              |
| 3 | कर्मप्रवचनीयाः (१।४।८३) ।      |
| 4 | विभक्तिश्च (१।४।१०४) ।         |

**आमन्त्रित<sup>५</sup>**- संबोधन अर्थ में जो प्रथमा विभक्ति होती है उसकी आमन्त्रित संज्ञा है। **आमन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत्** (८।१।७२), **आमन्त्रितस्य च** (६।१।१६८, ८।१।१६) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग हुआ है।

**सम्बुद्धि<sup>६</sup>**- आमन्त्रित प्रथमा के एकवचन की सम्बुद्धि संज्ञा है। **एङ्हस्वात्सम्बुद्धेः** (६।१।६६)। **सम्बुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे** (१।१।१६) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग हुआ है।

**सार्वधातुक<sup>७</sup>**- धात्वधिकारोक्त तिङ् तथा शित् प्रत्ययों की सार्वधातुक संज्ञा होती है। नयति। यहाँ तिप् के सार्वधातुक होने से धातु से शप् प्रत्यय हुआ तथा शप् के शित्व निमित्त से सार्वधातुक होने से धातु को गुण हुआ। 'रोदिति' में तिप् के सार्वधातुक होने से **रुदादिभ्यः सार्वधातुके** (७।२।७६) से इट् आगम हुआ। पचमान- यहाँ शानच् परे रहते सार्वधातुक होने से धातु से शप् प्रत्यय हुआ। धातोः (३।१।६१) से धात्वधिकार प्रारम्भ होता है।

**आर्धधातुक<sup>८</sup>**- धात्वधिकारोक्त तिङ् तथा शित् से भिन्न प्रत्यय की आर्धधातुक संज्ञा की है। लविता। लवितुम्। लवितव्यम्। यहाँ लू से ता (तास् डा), तुमुन्, तव्य प्रत्ययों को वलादि आर्धधातुक होने से इट् आगम होता है। धात्वधिकारोक्त क्यों कहा? इसलिये कि **गुप्तिज्क्लृद्यः सन्** (३।२।५) से विहित सन् की आर्धधातुक संज्ञा नहीं होती, क्योंकि यह सन् धात्वधिकारोक्त नहीं। धात्वधिकार तो (३।१।९१) से प्रारम्भ होता है। जुगुप्सते। तितिक्षते। चिकित्सति में सन् को इट् नहीं हुआ। लूभ्याम्। लूभिः-यहाँ 'लू' के क्विबन्त होने से धातुत्व होने पर भी भ्याम्, भिस् के धात्वधिकारोक्त न होने से आर्धधातुक संज्ञा नहीं हुई। यदि होती तो वलादिलक्षण इट् हो जाता।

**अभ्यास<sup>९</sup>**- षाष्ठ द्विवचन (दो बार उच्चारण) में धातु के प्रथम खण्ड को 'अभ्यास' कहते हैं। **अभ्यासाच्च** (७।३।५५) इत्यादि सूत्रों में इस संज्ञा का उपयोग किया गया है।

**अभ्यस्त<sup>१०</sup>**- द्विवचन होने पर दोनों खण्डों के समुदाय को 'अभ्यस्त' कहते हैं।

**जक्षि जागृ दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास् तथा।  
अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया धातवो मुनिभाषिताः ॥<sup>१</sup>**

- 1 साऽऽमन्त्रितम् (२।३।४८) ।
- 2 एकवचनं सम्बुद्धिः (२।३।४६) ।
- 3 तिङ्शित्सर्वधातुकम् (३।४।११३) ।
- 4 आर्धधातुकं शेषः (३।४।११४) ।
- 5 पूर्वोऽभ्यासः (६।१।४) ।
- 6 उभे अभ्यस्तम् (६।१।५) ।
- 7 जक्षित्यादयः षट् (६।१।६) ।

जक्ष् आदि इन सात धातुओं की भी अभ्यस्त संज्ञा होती हैं। जिसका फल यह होता है कि झि के झ् को अत् आदेश होता है -जक्षति। शासति। जाग्रति। सूत्रा में जक्षित्यादयः- यह अत्तद्गुणसंविज्ञान बहुव्रीहि है। अतः जक्ष् को साथ लेकर सात धातुएँ होती हैं।

**आम्प्रेडित<sup>१</sup>**- अष्टम अध्याय प्रथम पाद में **सर्वस्य द्वे** (८।१।१) इस अधिकार में जो **नित्यवीप्सयोः** (८।१।४) इत्यादि सूत्रों द्वारा द्विर्वचन विधान किया है, वहाँ द्विरुक्त से परे जो शब्दरूप है उसकी 'आम्प्रेडित' संज्ञा की है। **दस्यो दस्योऽघातयिष्यामि त्वा।** यहाँ दूसरा 'दस्यो' आम्प्रेडित है। यहाँ भर्त्सने अर्थ में द्विरुक्ति हुई है। **आम्प्रेडितं भर्त्सने** (८।२।६५) से आम्प्रेडित को प्लुत हुआ है। भुक्तवा भुक्तवा व्रजति। भोजं भोजं व्रजति। यहाँ अनुदात्तं च (८।१।३) से आम्प्रेडित भुक्तवा शब्द सारा अनुदात्त हो जाता है। ऐसे ही आम्प्रेडित भोजम् भी। द्विरुक्त भुक्तवा प्रत्ययस्वर से अन्तोदात्त है। द्विरुक्त भोजम् (णमुलन्त) लित् स्वर से आद्युदात्त है।

**॥ इति संज्ञाप्रकरणं समाप्तम् ॥**

- 1 तस्य परमाप्प्रेडितम् (८।१।२) ।



## समासप्रकरणम् अनेकपदानामेकपदीभवन समासः।

अनेक पद मिलकर एक पद होना समास है। अर्थात् दो या दो से अधिकशब्दों को मिलाने या जोड़ने को समास कहते हैं। सम् उपसर्ग पूर्वक अस् धातु के योग से समासशब्द निष्पन्न होता है। समास का अर्थ है संक्षेप। व्याकरण में भी इसी भाव को लेकर समास की परिभाषा है कि अनेक पदों के समूह को संक्षेप करना 'समास' कहा जाता है। क्योंकि दो या दो से अधिक पदों का एक पद बन जाना ही संक्षेप अर्थात् समास है। समास करने पर समास हुए शब्दों के बीच की विभक्ति नहीं रहती। समस्त समासयुक्त शब्द एक हो जाता है, अन्त में विभक्ति लगती है। इसके विपरीत समास के तोड़ने को विग्रह कहते हैं। समास उन्हीं पदों के बीच में होता है जिनमें अपना अर्थ बताने का सामर्थ्य होना चाहिए।

### समास प्रकरण-

(१) समास दो या दो से अधिक शब्दों के साथ होता है। इनमें से पहले पद को पूर्वपद कहते हैं। और अन्तिम या अगले पद को उत्तर पद कहते हैं। (२) समास सुबन्तों का ही होता है, तिङन्तों के साथ समास नहीं होता है। (३) वृत्त्यर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः। समास के अर्थ को बताने वाले वाक्य को विग्रह कहते हैं। जैसे राज्ञः पुरुषः यह विग्रह वाक्य है। एवं राजपुरुषः यह समस्त पद है।

(४) समासः पञ्चधा समास के पाँच भेद होते हैं-

(१) केवलसमास = विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवल समासः प्रथमः।

(२) अव्ययीभावसमास = प्रायेणपूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः।

(३) तत्पुरुषसमास = प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः।

तत्पुरुषस्य भेदः कर्मधारयः- तत्पुरुष का भेद कर्मधारय है।

कर्मधारयभेदो द्विगुः- कर्मधारय का भेद ही द्विगु है।

(४) बहुव्रीहि समास = प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः ।

(५) द्वन्द्व समास = प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ।

समास के लाभ- समास करने से तीन लाभ होते हैं।

१. मध्यगत विभक्ति का लोप हो जाता है।

२. एक पद बन जाता है।

३. एक पद बन जाने से एक स्वर होना।

### १. केवलसमासः

‘विशेषसंज्ञा विनिर्मुक्तः केवलसमासः प्रथमः।’ कोई विशेषसंज्ञा से रहित केवलसमास प्रथम समास है।

यह समास किसी विशेष अधिकार के रूप में नहीं आता इसलिए इसे केवल समास कहते हैं। सह सुपा २/१/४॥ ‘सुप् सुपा सह वा समस्यते’ अर्थात् सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। जैसे -

समस्त पद

समास विग्रह

भूतपूर्वः

पूर्वभूतः

वागर्थोविव

वागर्थौ इव

### २. अव्ययी-भावसमासः

प्रायेणपूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभावो द्वितीयः।

जिसमें प्रायः पूर्व पद का अर्थ प्रधान होता है। वह अव्ययीभाव समास कहलाता है। अव्ययीभाव समास में प्रथम पद अव्यय होता है तथा दूसरा शब्द संज्ञा होता है। लेकिन समास होने पर दोनों शब्द अव्यय बन जाते हैं। अव्ययीभावश्च २/४/१८॥ इस सूत्रा से अव्ययी भाव संज्ञा होती है, अतः इन शब्दों के रूप नहीं चलते। केवल नपुंसक लिंग के प्रथमा एकवचन के समान इनके रूप चलते हैं।

उदाहरण- इसमें षोडश अर्थों में अव्ययों का प्रयोग होता है-

| अर्थ            | विग्रह                      | समस्तपद        | अर्थ                        |
|-----------------|-----------------------------|----------------|-----------------------------|
| विभक्ति         | हरौ इति                     | अधिहरि         | हरि में                     |
| समीप            | गङ्गायां समीपम्             | उपगङ्गम्       | गंगा के समीप                |
| समृद्धि         | मद्राणां समृद्धि            | सुमद्रम्       | मद्रों की समृद्धि           |
| वृद्धि          | - यवनानां वृद्धि            | - दुर्यवनम्    | - यवनों का नाश              |
| अभाव            | - मक्षिकाणाम् अभावः         | - निर्मक्षिकम् | - मक्खियों का अभाव          |
| अत्यय           | - हिमस्य अत्ययः             | - अतिहिमम्     | - हिम का अभाव               |
| असम्प्रति       | - निद्रा सम्प्रति न युज्यते | - अतिनिद्रम्   | - नींद के अनुचित समय में    |
| शब्दप्रादुर्भाव | - हरिशब्दस्य प्रकाशः        | - इति हरिः     | - ज्ञान शब्द का प्रादुर्भाव |
| पश्चात्         | - विष्णोः पश्चात्           | - अनुविष्णुः   | - विष्णु के पीछे            |
| यथा             | - शक्तिम् अनतिक्रम्य        | - यथाशक्ति     | - शक्ति के अनुसार           |
| आनुपूर्व्य      | - ज्येष्ठस्य आनुपूर्व्येण   | - अनुज्येष्ठम् | - ज्येष्ठ के अनुसार         |
| यौगपद्य         | - चक्रेण युगपत्             | - सचक्रम्      | - चक्र के पीछे              |
| सादृश्य         | - हरेः सादृश्यम्            | - सहरिः        | - हरि के समान               |
| सम्पत्ति        | - क्षत्राणां सम्पत्तिः      | - सक्षत्रम्    | - क्षत्रियों की सम्पत्ति    |
| साकल्य          | - तृणम् अपि अपरित्यज्य      | - सतृणम्       | - सब कुछ                    |
| अन्त            | - अग्निग्रन्थ पर्यन्तम्     | - साग्नि       | - अग्निकाण्ड तक             |

विशेष सूत्रों के कारण निम्न शब्दों में भी अव्ययीभाव समास है-

| विग्रह                    | समस्त पद     | अर्थ                   |
|---------------------------|--------------|------------------------|
| पञ्चानां गङ्गानां समाहारः | - पञ्चगङ्गम् | - पाँच गङ्गाओं का समूह |
| द्वयोः यमुनयोः समाहारः -  | द्वियमुनम्   | - दो यमुनाओं का समूह   |
| शरदः समीपम्               | - उपशरदम्    | - शरद के समीप          |
| विपाशायाः अभिमुखम् -      | प्रतिविपाशम् | - व्यास नदी की ओर      |
| जरायाः समीपम् -           | उपजरसम्      | - बुढ़ापे के समीप      |
| राज्ञः समीपम्             | - उपराजम्    | - राजा के समीप         |
| आत्मनि अधि                | - अध्यात्मम् | - आत्मा के विषय में    |
| चर्मणः समीपम् -           | उपचर्मम्     | - चर्म के समीप         |
| समिधः समीपम् -            | उपसमिधम्     | - समिधा के समीप        |
| गुणानां योग्यं            | - अनुगुणम्   | - गुणों के योग्य       |
| लेखस्य योग्यम्            | - अनुलेखम्   | - लेख के योग्य         |
| ज्ञानम् अनतिक्रम्य -      | यथाज्ञानम्   | - ज्ञान के अनुसार      |
| दिनम्-दिनम्               | - प्रतिदिनम् | - प्रत्येक दिन         |

### ३. तत्पुरुषसमासः

‘प्रायेणोभयपदप्रधानस्तत्पुरुषस्तृतीयः’

जिसमें प्रायः उत्तर पद का अर्थ प्रधान हो उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। तत्पुरुषः २/१/२२॥ इस सूत्रा से तत्पुरुष संज्ञा होती है। इस समास में प्रथम शब्द विशेषण का कार्य करता है और दूसरा शब्द विशेष्य प्रधान होता है। इसके मूलरूप से दो भेद होते हैं।

१. व्यधिकरण तत्पुरुष समास-अर्थात् विभिन्न विभक्ति वाले शब्दों के साथ समास ।

२. समानाधिकरण तत्पुरुष समास- अर्थात् समान विभक्ति वाले शब्दों के साथ समास ।

## व्यधिकरण तत्पुरुष

यह समास प्रथमा विभक्ति को छोड़कर शेष सभी विभक्तियों में देखा जाता है।

### १. द्वितीया तत्पुरुष समास

द्वितीयाश्रितातीत-पतित-गतात्यस्त-प्राप्तापन्नैः २/१/२४॥

द्वितीया विभक्ति से युक्त समर्थ सुबन्त का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त प्राप्त, आपन्न ऐसी प्रकृति है जिनकी, ऐसे समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है- वह तत्पुरुष समास कहलाता है। इनका प्रथम पद द्वितीयान्त होता है।

#### उदाहरण-

| विग्रह          | समस्तपद      | अर्थ                 |
|-----------------|--------------|----------------------|
| कृष्णं श्रितः   | कृष्णश्रितः  | कृष्ण के आश्रित      |
| दुःखम् अतीतः    | दुःखातीतः    | दुखों से दूर हुआ     |
| कष्टं पतितः     | कष्टपतितः    | कष्ट में पड़ा हुआ    |
| स्वर्गं गतः     | स्वर्गगतः    | स्वर्ग को प्राप्त    |
| लङ्काम् अत्यस्त | लङ्कात्यस्त  | लङ्का के पार पहुँचाँ |
| दुःखं प्राप्तः  | दुःखप्राप्तः | दुःख पाया हुआ        |
| शोकम् आपन्नः    | शोकापन्नः    | शोकाकुल              |
| जीवनं प्राप्तः  | प्राप्तजीवनः | जीवन को प्राप्त हुआ  |
| कष्टं आपन्नः    | आपन्नकष्टः   | कष्ट पाया हुआ        |
| मुहूर्तं सुखः   | मुहूर्तसुखम् | ४८ मिनट तक का सुख    |
| क्षणं स्थायी    | क्षणस्थायी-  | ४ मिनट तक रहने वाला  |

### २. तृतीया तत्पुरुष

तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन २/१/३०॥

तृतीया शब्द का जो अर्थ उसके द्वारा किये गये गुण के वाचक शब्दों के साथ तत्पुरुष समास कहलाता है। जिनके प्रथम पद में तृतीया विभक्ति का प्रयोग होता है।

#### उदाहरण-

| विग्रह                                                                     | समस्तपद      | अर्थ                     |
|----------------------------------------------------------------------------|--------------|--------------------------|
| हरिणा त्रातः                                                               | हरित्रातः    | हरि से रक्षित            |
| नखैः भिन्नः                                                                | नखभिन्नः     | नाखुनों से फाड़ा हुआ     |
| खड्गेन हतः                                                                 | खड्कतः       | तलवार से मारा हुआ        |
| शङ्कुलया खण्डः                                                             | शङ्कुलाखण्डः | सरौते से काटा हुआ टुकड़ा |
| विशेष शब्दों के योग के कारण निम्न शब्दों में तृतीया तत्पुरुष समास होता है- |              |                          |
| मासेन पूर्वः                                                               | मासपूर्वः    | एक मास पूर्व             |
| मात्रा सदृशः                                                               | मातृसदृशः    | माता के समान             |
| धान्येन विकलम्                                                             | धान्यविकलम्  | धान्य से रहित            |
| आचारेण कुशलः                                                               | आचारकुशलः    | व्यवहार से कुशल          |
| दध्ना ओदनः                                                                 | दध्नोदनः     | दही भात                  |

### ३. चतुर्थी तत्पुरुष

चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः । २/१/३६ ॥

चतुर्थन्त शब्द का चतुर्थन्त के लिए जो वस्तु, तथा बलि, अर्थ, हित, सुख और रक्षित शब्दों के साथ विकल्प से समास होता है, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं। जब प्रथम शब्द चतुर्थी विभक्ति का होता है। तब चतुर्थी तत्पुरुष समास होता है।

उदाहरण-

| विग्रह                     | समस्तपद       | अर्थ                  |
|----------------------------|---------------|-----------------------|
| यूपाय दारू                 | यूपदारू       | खम्बे के लिए लकड़ी    |
| द्विजाय यवागूः द्विजार्थम् |               | ब्राह्मण के लिए लप्सी |
| भूताय बलिः भूतबलिः         |               | प्राणी के लिए बलि     |
| गवे हितम्                  | गोहितम्       | गाय के लिए हितकारक    |
| ब्राह्मणाय सुखम्           | ब्राह्मणसुखम् | ब्राह्मण के लिए सुख   |
| काकाय रक्षितम्             | काकरक्षितम्   | कौआ के लिए सुरक्षित   |
| गोभ्यः रक्षितम् गोरक्षितम् |               | गायों के लिए सुरक्षित |

## ४. पञ्चमी तत्पुरुष

पञ्चमी भयेन - २/१/३७॥

पञ्चम्यन्त शब्द का भयवाचक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। इसमें प्रथमान्त पद पञ्चमी है। अतः पञ्चमी तत्पुरुष समास है। अर्थात् प्रथम शब्द जब पञ्चमी विभक्ति का होता है। तब पञ्चमी तत्पुरुष समास होता है।

उदाहरण-

| विग्रह           | समस्तपद        | अर्थ              |
|------------------|----------------|-------------------|
| चौरात् भयम्      | चोरभयम्        | चोर से भय         |
| सर्पात् भीतः     | सर्पभीतः       | सर्प से डरा हुआ   |
| ग्रामात् निर्गतः | ग्रामनिर्गतः   | गाँव से निकला हुआ |
| चौरात् त्रस्तः   | चौरत्रस्तः     | चोर से डरा हुआ    |
| सुखात् अपेतः     | सुखोपेतः       | सुख से रहित       |
| चक्रात् मुक्तः   | चक्रमुक्तः     | चक्र से छूटा हुआ  |
| स्वर्गात् पतितः  | स्वर्गपतितः    | स्वर्ग से च्युत   |
| अन्तिकात् आगतः   | अन्तिकादागतः   | समीप से आया       |
| स्तोकात् मुक्तः  | स्तोकान्मुक्तः | थोड़े से छूट गया  |
| अल्पात् मुक्तः   | अल्पान्मुक्तः  | थोड़े से छूट गया  |

## ५. षष्ठी तत्पुरुष

षष्ठी २/२/८॥

षष्ठ्यन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। यह सूत्रा षष्ठ्यन्त के साथ किसी भी शब्द का समास करता है। जिसका प्रथम शब्द षष्ठी विभक्ति होता है।

उदाहरण-

| विग्रह                                                                                      | समस्तपद         | अर्थ                        |
|---------------------------------------------------------------------------------------------|-----------------|-----------------------------|
| राज्ञः पुरुषः                                                                               | राजपुरुषः       | राजा का पुरुष               |
| ब्राह्मणस्य याजकः                                                                           | ब्राह्मणयाजकः   | ब्राह्मण का यज्ञ कराने वाला |
| विद्यायाः स्नातकः                                                                           | विद्यास्नातकः   | विद्या स्नातक               |
| छात्रस्य अध्यापकः                                                                           | छात्राध्यापकः   | छात्र को पढ़ाने वाला        |
| अन्नस्य उत्पादकः                                                                            | अन्नोत्पादकः    | अन्न उगाने वाला             |
| अपवाद- पाचक, याचक, सेवक, कर्ता, हर्ता, सृष्टा के साथ समास नहीं होता। वह पद वैसा ही रहता है। |                 |                             |
| विग्रह                                                                                      | समस्तपद         | अर्थ                        |
| सूपस्य पाचकः                                                                                | सूपस्य पाचकः    | दाल पकाने वाला              |
| धनस्य याचकः                                                                                 | धनस्य याचकः     | धन मांगने वाला              |
| नृपस्य सेवकः                                                                                | नृपस्य सेवकः    | राजा का सेवक                |
| यज्ञस्य कर्ता                                                                               | यज्ञस्य कर्ता   | यज्ञ का कर्ता               |
| पुस्तकस्य हर्ता                                                                             | पुस्तकस्य हर्ता | पुस्तक को चुराने वाला       |
| जगतः स्रष्टा                                                                                | जगतः स्रष्टा    | संसार को बनाने वाला         |
| सर्वेषां श्वेततरः                                                                           | सर्वश्वेतः      | सभी में श्वेत               |
| सर्वेषां प्रियतरः                                                                           | सर्वप्रियः      | सभी में प्रिय               |
| सर्वेषाम् महत्तरः                                                                           | सर्वमहान्       | सभी में महान                |

## ६. सप्तमी तत्पुरुष

सप्तमी शौण्डै - २/१/४०॥

सप्तम्य का शौण्ड आदि समर्थ शब्दों के साथ समास होता है। इस सूत्रा का प्रथमान्त पद सप्तमी है। अर्थात् जिसका प्रथम शब्द सप्तमी विभक्ति होता है, वह सप्तमी तत्पुरुष समास है।

उदाहरण-

| विग्रह          | समस्तपद      | अर्थ                   |
|-----------------|--------------|------------------------|
| अक्षेषु शौण्डः  | अक्षशौण्डः   | पासे खेलने में प्रवीण  |
| सभायां पण्डितः  | सभापण्डितः   | सभा में पण्डित         |
| कर्मणि कुशलः    | कर्मकुशलः    | कार्य में चतुर         |
| श्राद्धे काकः   | श्राद्धकाकः  | श्राद्ध में कौए की तरह |
| चक्रे बन्धः     | चक्रबन्धः    | चक्र में बंधा हुआ      |
| छायायां शुष्कः  | छाया शुष्कः  | छाया में सूखा हुआ      |
| अध्ययने धूर्तः  | अध्ययनधूर्तः | अध्ययन में लगा हुआ     |
| स्थाल्यां पक्वः | स्थालीपक्वः  | स्थाली में पका हुआ     |

## ७. नञ् तत्पुरुष

नञ् २/२/६॥

नञ् इस अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है। यह भी तत्पुरुष समास ही है। यदि किसी संज्ञा या सर्वनाम के पूर्व 'न अव्यय' रहे तो ऐसा समस्त पद 'नञ् तत्पुरुष समास' कहा जाता है।

उदाहरण-

| विग्रह      | समस्तपद    | अर्थ             |
|-------------|------------|------------------|
| न अश्वः     | अनश्वः     | जो घोड़ा न हो    |
| न ईश्वरः    | अनीश्वरः   | जो ईश्वर न हो    |
| न ब्राह्मणः | अब्राह्मणः | जो ब्राह्मण न हो |
| न सत्यम्    | असत्यम्    | जो सत्य न हो     |

प्रादितत्पुरुष

प्र आदि उपसर्गों के साथ यदि किसीशब्द का समास होता है तो ऐसे समस्त शब्द प्रादि तत्पुरुष समास कहे जाते हैं।

उदाहरण-

| विग्रह             | समस्तपद    | अर्थ             |
|--------------------|------------|------------------|
| प्रगतः आचार्यः     | प्राचार्यः | प्रधानाचार्य     |
| निर्गतः गृहात्     | निर्गृहः   | घर से निकला हुआ  |
| अतिक्रान्तः रथम्   | अतिरथः     | अत्यन्त वीर      |
| परिम्लानः अध्ययनाय | पर्यध्ययनः | पढ़ाई से पका हुआ |
| कुत्सितः पुरुषः    | कुपुरुषः   | बुरा मनुष्य      |
| शोभनः पुरुषः       | सुपुरुषः   | अच्छा मनुष्य     |



## गति तत्पुरुष

ऊरी आदि निपात, च्वि तथा डाच् प्रत्यान्तशब्द भी क्रिया के योग में गति संज्ञक हो जाते हैं। अतः इनशब्दों के साथ जो समास होता है, उसे गति तत्पुरुष समास कहते हैं।

### उदाहरण-

| विग्रह                   | समस्तपद     | अर्थ          |
|--------------------------|-------------|---------------|
| ऊरी कृत्वा               | ऊरीकृत्य    | स्वीकार करके  |
| अशुक्लंशुक्लं कृत्वा इति | शुक्लीकृत्य | सफेद करके     |
| तिरस् कृत्वा             | तिरस्कृत्य  | तिरस्कार करके |
| सत् कृत्वा               | सत्कृत्य    | सत्कार करके   |

### उपपदतत्पुरुष

प्रथम पद को उपपद कहते हैं। इसमें द्वितीय पद होने पर कृदन्त का रूप बनता है, न कि क्रिया रूप में।

### उदाहरण-

| विग्रह        | समस्तपद    | अर्थ            |
|---------------|------------|-----------------|
| कुम्भं करोति  | कुम्भकारः  | कुम्भकार        |
| स्वर्णं करोति | स्वर्णकारः | सुनार           |
| धनं ददाति     | धनदः       | धन देने वाला    |
| कम्बलं ददाति  | कम्बलदः    | कम्बल देने वाला |

### मध्यमपदलोपी समास

इस समास में मध्यम पद का लोप हो जाता है।

### उदाहरण-

| विग्रह             | समस्तपद      | अर्थ                               |
|--------------------|--------------|------------------------------------|
| शाकप्रियः पार्थिव  | शाकपार्थिवः  | जिस राजा को शाक प्रिय हो           |
| देवपूजकः ब्राह्मणः | देवब्राह्मणः | देवताओं की पूजा करने वाला ब्राह्मण |

### अलुक् तत्पुरुष

यह एक ऐसा भेद है, जहाँ विभक्ति का लोप नहीं होता।

### उदाहरण-

| विग्रह      | समस्तपद    | अर्थ                  |
|-------------|------------|-----------------------|
| आत्मने पदम् | आत्मनेपदम् | धातुओं का प्रथम भेद   |
| परस्मै पदम् | परस्मैपदम् | धातुओं का द्वितीय भेद |
| दूरात् आगतः | दूरादागतः  | दूर से आया हुआ        |
| युधि स्थिरः | युधिष्ठिरः | युधिष्ठिर             |
| सरसि जम्    | सरसिजम्    | तालाब में उत्पन्न     |

## समानाधिकरण तत्पुरुष

### कर्मधारय समास-

तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः १/२/४२॥

जिस समास में पूर्वपद और उत्तर पद एक ही विभक्ति के हो, उस समास की कर्मधारय संज्ञा होती है। यहाँ विभक्तियाँ ही शब्दों की आधारशिला हैं। कर्मधारय समास में प्रथम शब्द विशेषण और द्वितीय शब्द संज्ञा होता है अथवा दोनों शब्द संज्ञाएँ होती हैं अथवा दोनों विशेषण होकर किसी तीसरे विशेष्य शब्द के उपकारक होते हैं।

#### उदाहरण-

| विग्रह             | समस्तपद     | अर्थ      |
|--------------------|-------------|-----------|
| नीलम् उत्पलम्      | नीलोत्पलम्  | नीला कमल  |
| रक्तम् उत्पलम्     | रक्तोत्पलम् | लाल कमल   |
| कृष्णः च असौ सर्पः | कृष्णसर्पः  | काला सर्प |

#### उपमानपूर्वपद कर्मधारय

इस समास में पूर्वपद उपमान और उत्तरपद उपमेय होता है।

#### उदाहरण-

| विग्रह       | समस्तपद  | अर्थ      |
|--------------|----------|-----------|
| घन इव श्यामः | घनश्यामः | श्रीकृष्ण |

#### उपमान उत्तरपद कर्मधारय

यदि उपमेय और उपमान शब्दों का साथ-साथ प्रयोग किया जाए तो इसे 'उपमितसमास' या 'उपमानोत्तरपद' कर्मधारय समास कहते हैं। उदाहरण-

| विग्रह             | समस्तपद       | अर्थ             |
|--------------------|---------------|------------------|
| मुखं कमलम् इव      | मुखकमलम्      | मुख कमल के समान  |
| पुरुषः व्याघ्रः इव | पुरुषव्याघ्रः | पुरुष बाघके समान |

## रूपककर्मधारय

उदाहरण-

| विग्रह                           | समस्तपद | अर्थ              |
|----------------------------------|---------|-------------------|
| मुखम् एव कमलम् मुखकमलम्          |         | मुख ही कमल        |
| पुरुषः एव व्याघ्रः पुरुषव्याघ्रः |         | पुरुष ही व्याघ्रः |

### विशेषणोभयपद कर्मधारय

समास विभिन्न वाले विशेषण पदों के समास को विशेषणोभयपद कर्मधारय समास कहते हैं।

उदाहरण-

| विग्रह                     | समस्तपद | अर्थ              |
|----------------------------|---------|-------------------|
| शुक्लः च पीतः च शुक्लपीतः  |         | सफेद और पीला      |
| चरम् च अचरम् च चराचरम्     |         | चर और अचर         |
| कृतम् च अकृतम् च कृताकृतम् |         | किया और नहीं किया |

## द्विगु समास

संख्यापूर्वो द्विगुः २/१/५२॥

विशेष्य और विशेषण के समास में यदि विशेषण संख्यावाचक हो तो उसे द्विगु समास कहते हैं। यह कर्मधारय संज्ञा का एक भेद द्विगु समास है। द्विगु, कर्मधारय को तत्पुरुष का एक भेद माना जाता है।

उदाहरण-

| विग्रह                    | समस्तपद    | अर्थ                   |
|---------------------------|------------|------------------------|
| पञ्चगावः धनं यस्य सः      | पञ्चगवधनः  | पाँच गाय हैं धन जिसका  |
| त्रयाणां भुवनानां समाहारः | त्रिभुवनम् | तीनों भुवनों का समूह   |
| चतुर्णां युगानां समाहारः  | चतुर्युगम् | चारों युगों का समूह    |
| पञ्चानां गवां समाहारः     | पञ्चगवम्   | पाँच गायों का समूह     |
| त्रयाणां लोकानाम् समाहारः | त्रिलोकी   | तीनों लोकों का समूह    |
| सप्तानां शतानां समाहारः   | सप्तशती    | सात सौ श्लोकों का समूह |
| चतुर्णां शालानां समाहारः  | चतुश्शाली  | चार शालाओं का समूह     |

### ४. बहुव्रीहिसमासः

प्रायेणान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिश्चतुर्थः ।

अनेकमन्यपदार्थे २/२/२४॥

अन्य पद के अर्थ में विद्यमान एक से अधिक प्रथमान्त पद परस्पर में विकल्प से समास होता है। उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं।

बहुव्रीहि समास में प्रथमान्त पदों का अन्य पद के अर्थ में समास है। इस समास में प्रायः अन्य पद का अर्थ प्रधान हो, वह बहुव्रीहि समास होता है।

बहुव्रीहि समास की पहचान है कि जहाँ अर्थ करने पर जिसको, जिसके जिसका आदि अर्थ निकलता है तथा समस्त पद किसी विशेष्य के विशेषण के रूप में प्रयुक्त होता है। दोनों शब्द मिलकर किसी अन्य पद के विशेषण होते हैं। बहुव्रीहि शब्द अपने समास के लक्षण को स्वयं प्रकट करता है। इसके दो भेद होते हैं।

१. समानाधिकरण बहुव्रीहि।

२. व्यधिकरण बहुव्रीहि ।

## समानाधिकरण बहुव्रीहि

उदाहरण-

द्वितीया बहुव्रीहि-

### विग्रह

प्राप्तम् उदकं यस्य सः

तृतीया बहुव्रीहि-

ऊढ रथः येन सः

चतुर्थी बहुव्रीहि-

उपहतः पशुः यस्मै सः

### समस्तपद

प्राप्तोदकम्

ऊढरथः

उपहतपशुः

### अर्थ

जिसको जल प्राप्त है

जिसने रथ खीचाँ हो

जिसने पशु भेंट किया हो

### पञ्चमी बहुव्रीहि-

निर्गतं धनं यस्मात् सः

निर्धनः

जिसका धन समाप्त हो गया हो

नास्ति परः क्रूरः यस्मात् सः

अक्रूरः

जिससे बढ़कर कोई क्रूर न हो

### षष्ठी बहुव्रीहि-

लम्बौ कर्णौ यस्य सः

लम्बकर्णः

लम्बे कानों वाला

### सप्तमी बहुव्रीहि-

वीराः पुरुषाः यस्मिन् सः

वीरपुरुषः

वीर पुरुष वाला गाँव

रूपवती भार्या यस्य सः

रूपवद्भार्याः

सुन्दर स्त्री वाला पुरुष

सुकेशी भार्या यस्य सः

सुकेशीभार्याः

सुन्दर केशों वाली स्त्री

कल्याणी प्रिया यस्य सः

कल्याणीप्रियः

कल्याणी प्रिया है जिसकी

महत् यशः यस्य सः

महायशः

महान यश वाला

प्रियं सर्पिः यस्य सः

प्रियसर्पिष्कः

जिसे घी प्रिय हो

बहवः दण्डिनः यस्य सा

बहुदण्डिका

बहुत साधु वाली नगरी

व्यूढम् उरः यस्य सः

व्यूढोरस्कः

चौड़ी छाती वाला

### व्यधिकरण बहुव्रीहि

दोनों शब्द भिन्न-भिन्न विभक्ति के होते हैं। प्रायः प्रथम पद प्रथमा विभक्ति का और दूसरा पद षष्ठी या सप्तमी विभक्ति का होता है।

#### उदाहरण-

#### विग्रह

#### समस्तपद

#### अर्थ

चन्द्रः शेखरे यस्य सः

चन्द्रशेखरः

चन्द्र है जिसके सिर पर

प्रपतितं पर्णं यस्मात् सः

प्रपतितपर्णः

जिससे पत्ता गिर गया हो

विगतं जीवनं यस्मात् सः

विगतजीवनः

विगत जीवन वाला

केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्धं प्रवृत्तं -केशाकेशी-

बालों को पकड़कर युद्ध हुआ।

शोभनं हृदयं यस्य सः

सुहृद्

मित्र

दुष्टं हृदयं यस्य सः

दुर्हृद्

शत्रु

### ५. द्वन्द्वसमासः

चार्थे द्वन्द्वः २/२/२९॥

च के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्तों का समास होता है और उसकी द्वन्द्व संज्ञा होती है। चकार के चार अर्थ हैं- समुच्चयान्वाच, येतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः अर्थात् समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार।

जिस समास में प्रायः दोनों पदों का अर्थ प्रधान हो, वह द्वन्द्व समास होता है। द्वन्द्व समास की पहचान है कि जहाँ अर्थ करने पर बीच में और अर्थ निकले। इसके निम्नलिखित भेद होते हैं-

#### १. इतरेतरद्वन्द्व २. समाहारद्वन्द्व ३. एकशेषद्वन्द्व

#### इतरेतरद्वन्द्व

जब पदार्थ परस्पर में मिलकर आगे अन्वित होते हैं, तब उसे इतरेतर योग कहा जाता है।

#### उदाहरण-

#### विग्रह

#### समस्तपद

#### अर्थ

रामः च लक्ष्मणः च

रामलक्ष्मणौ

राम और लक्ष्मण

रामः च लक्ष्मणः च भरतः- रामलक्ष्मणभरतशत्रुघ्नाः-

राम लक्ष्मण भरत शत्रुघ्न

#### च शत्रुघ्नःच-

माता च पिता च

मातापितरौ

माता और पिता

कुक्कुटः च मयूरी च

कुक्कुटमयूरौ

मुर्गा और मयूरी

हरिः च हरः च

हरिहरौ

विष्णु और शिव

युधिष्ठिरः च भीमः च अर्जुनः च- युधिष्ठिरभीमार्जुनाः- युधिष्ठिर भीम अर्जुन

**समाहार द्वन्द्व**

जब दो या दो से अधिक पदार्थों का समूहात्मक रूप में अर्थ का अन्वय होता है तो उसे समाहार नामक द्वन्द्व कहा जाता है।



### उदाहरण-

#### विग्रह

पाणि च पादौ च  
मार्दङ्गिकः च पाणविकः च-  
गोः च व्याघ्रः च  
अश्वः च महिषः च  
गङ्गा च शोणः च  
कुरुवः च कुरुक्षेत्रं च  
दधि च घृतं च  
पूर्वः च अपरः च  
अधरः च उत्तरः च

#### समस्तपद

पाणिपादम्  
मार्दङ्गिकपाणविकम्  
गोव्याघ्रम्  
अश्वमहिषम्  
गङ्गाशोणम्  
कुरुकुरुक्षेत्रम्  
दधिघृतम्  
पूर्वापरम्  
अधरोत्तरम्

#### अर्थ

हाथ और पैर  
मृदंग और पणव वाला  
गाय और बाघ  
घोड़ा और भैसा  
गङ्गा और शोण नदी  
कुरू और कुरुक्षेत्र  
दही और घी  
पूर्व और पश्चिम  
नीचे और उपर

### एकशेषद्वन्द्व समास

जब दो या दो से अधिक पदार्थों का अन्वय एक ही शब्द में होता है तब उसे एक शेष द्वन्द्व समास कहते हैं।

### उदाहरण-

#### विग्रह

सःच सःच सः च  
पुत्रः च दुहिता च  
माता च पिता च  
अजा च अजः च  
ब्राह्मणी च ब्राह्मणः च ब्राह्मणौ  
भ्राता च स्वसा च  
द्यौः च पृथ्वी च

#### समस्तपद

ते  
पुत्रौ  
पितरौ  
अजौ  
ब्राह्मण और ब्राह्मण  
भ्रातरौ  
रोदसी

#### अर्थ

वे सब पुरूष  
पुत्र और पुत्री  
माता और पिता  
बकरा और बकरी  
भाई और बहन  
आकाश और भूमि

## समासान्त प्रकरण

| विग्रह                                | समस्तपद     | अर्थ                  |
|---------------------------------------|-------------|-----------------------|
| परमः च असौ राजा                       | परमराजः     | श्रेष्ठ राजा          |
| विदुषः सखा                            | विद्वत्सखा  | विद्वान् का मित्र     |
| सुष्ठु पन्थाः यस्य सः                 | सुपथः       | सुन्दर मार्ग वाला देश |
| विमलाः आपः यस्य सः -विमलापम्          |             | निर्मल जल वाला        |
| अहः च रात्रिः च                       | अहोरात्रम्  | दिन और रात            |
| सर्वा रात्रिः                         | सर्वरात्रः  | सम्पूर्ण रात्रि       |
| पुण्या रात्रिः                        | पुण्यरात्रः | पवित्र रात्रि         |
| तिसृणां रात्रीणां समाहारः त्रिरात्रम् |             | तीन रातों का समूह     |
| शोभनः राजा                            | सुराजा      | अच्छा राजा            |
| कुत्सितः राजा                         | किंराजा     | निन्दित राजा          |

( इति समास प्रकरण समाप्तः )

(नोट- उपलिखित सभी उदाहरणों को समास करना और समास विग्रह करने के समझना चाहिए)

### स्मरणीय बिंदु

माहेवर सूत्र पाणिनीय व्याकरण का आधार हैं।  
 गुण एवं वृद्धि स्वर परिवर्तन हैं।  
 समास से भाषा संक्षिप्त एवं प्रभावी बनती है।  
 तत्पुरुष समास सबसे अधिक प्रचलित है।  
 अव्ययीभाव समास में अव्यय प्रधान होता है।

### शब्दावली

| शब्द     | अर्थ                |
|----------|---------------------|
| संज्ञा   | विशेष नाम           |
| समास     | संक्षिप्त शब्द रचना |
| गुण      | स्वर परिवर्तन       |
| वृद्धि   | दीर्घ स्वर वृद्धि   |
| तत्पुरुष | उत्तरपद प्रधान समास |

### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. माहेवर सूत्रों की संख्या है

क) 10

ख) 12

ग) 14

घ) 16

उत्तर (ग)

2. 'रामलक्ष्मणौ' किस समास का उदाहरण है?

क) तत्पुरुष

ख) द्वंद्व

ग) कर्मधारय

घ) बहुव्रीहि

उत्तर (ख)

3. 'अदे गुणः' सूत्र किससे संबंधित है?

क) समास

ख) गुण

ग) प्रत्यय

घ) विभक्ति

उत्तर (ख)

4. 'राजपुरुषः' किस समास का उदाहरण है?

क) बहुव्रीहि

ख) अव्ययीभाव

ग) तत्पुरुष

घ) द्विगु

उत्तर (ग)

5. 'वृद्धिरादै' सूत्र किससे संबंधित है?

क) वृद्धि

ख) संधि

ग) प्रत्यय

घ) धातु

उत्तर (क)

## विभक्त्यर्थाः अनुवादप्रकरणम्

### उद्देश्य-

1. विभक्तियों के अर्थ को समझना।
2. संस्क्रुत वाक्य निर्माण का अभ्यास करना।
3. विभक्ति प्रयोग की शु)ता विकसित करना।

अनु-पश्चात्, वद् वाद कहना, एक बात को फिर से कहना अर्थात् एक बात को अन्य शब्दों में बदल कर कहना। जो बात पहले किसी भाषा में कही गई हो उसको भाषान्तर द्वारा कहना अनुवाद है। अनुवाद करने के लिए सन्धि, समास, प्रत्यय, उपसर्ग, अव्यय, कारक, विशेषण आदि का ज्ञान अपेक्षित है। वाक्य का शाब्दिक अर्थ जानने के लिए 'सुप्तिङन्तं पदं वाक्यं' इसका अभिप्राय है कि सुबन्त राम आदि शब्द और तिङन्त भवति आदि क्रियायें इनके समूह को वाक्य कहते हैं। इस प्रकार परस्पर सम्बन्ध रखने वाले सुबन्त और तिङन्त क्रिया के समूह को वाक्य कहते हैं। क्रिया को देखकर ही कर्ता का अध्याहार किया जाता है। अतः वाक्य बनाने के लिए मुख्य रूप से दो पदों की आवश्यकता होती है- कर्ता और क्रिया। पहले कर्ता का बाद में क्रिया का प्रयोग किया जाता है। वाक्य को पूर्ण बनाने के लिए कर्ता के अतिरिक्त कर्म, करण आदि कारकों की भी आवश्यकता होती है।

संस्कृत शब्द का अर्थ है-शुद्ध, परिमार्जित, परिष्कृत। अतः संस्कृत भाषा का अर्थ है-शुद्ध एवं परिमार्जित भाषा।

संस्कृत में तीन वचन होते हैं-

तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः १/४/१०२॥

एकवचन, द्विवचन तथा बहुवचन ।

तीन पुरुष होते हैं-

तिङस्त्रीणित्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः १/४/१०१॥

प्रथमपुरुष, मध्यमपुरुष तथा उत्तमपुरुष। कारक ६ होते हैं। षष्ठी और सम्बोधन को लेकर आठ कारक होते हैं।

संस्कृत में धातु के १० लकार होते हैं। ये दसों लकार हैं-१. लट्लकार २. लोट्लकार ३. लङ् लकार ४. लृट् लकार ५. विधि

लिङ्ग ६. लिट् लकार ७. लुट् लकार ८. लुङ् लकार ९. लृङ् लकार १० आशीर्लिङ्ग ।

धातुएँ तीन प्रकार की होती हैं, अतः धातुओं के तीन प्रकार से रूप चलते हैं-

१. परस्मैपदी २. आत्मनेपदी ३. उभयपदी।

लकार-

|            |                            |
|------------|----------------------------|
| लट्लकार    | (वर्तमान काल)              |
| लृट्लकार   | (भविष्यकाल)                |
| लोट्लकार   | (आज्ञा के अर्थ मेक)        |
| विधिलिङ्ग  | (आज्ञा, चाहिए के अर्थ मेक) |
| लङ्लकार    | (भूतकाल)                   |
| लिट्लकार   | (अद्यतन परोक्षभूत)         |
| लुङ्लकार   | (सामान्यभूत)               |
| लृङ्लकार   | (हेतुहेतुमद्भूत)           |
| लुट्लकार   | (अनद्यतन भविष्यत् )        |
| आशीर्लिङ्ग | (आशीर्वाद)                 |

सामान्यतः इस संसार में तीन प्राणी होते हैं- मैं (स्वयक), तू (सामने वाला), सः वह (अन्य कोई और)। इन

तीनों पुरुषों के अलावा कोई और नहीं होता। अतः इस तालिका में बताया गया है-

|                       |         |           |
|-----------------------|---------|-----------|
| एकवचन                 | द्विवचन | बहुवचन    |
| प्रथम पुरुष-सः पठति । | तौ पठतः | ते पठन्ति |

|                        |                     |                  |
|------------------------|---------------------|------------------|
| वह पढ़ता है।           | वे दोनों पढ़ते हैं। | वे सब पढ़ते हैं। |
| मध्यम पुरुष-त्वम् पठसि | युवाम् पठथः         | यूयं पठथ         |
| तू पढ़ता है।           | तुम दोनों पढ़ते हो। | तुम सब पढ़ते हो। |
| उत्तम पुरुष-अहम् पठामि | आवाम् पठावः         | वयम् पठामः       |
| मैं पढ़ता हूँ।         | हम दोनों पढ़ते हैं। | हम सब पढ़ते हैं। |

**प्रथमपुरुष-किसी अन्य अर्थात् Third Person** के लिए हम प्रथम पुरुष का प्रयोग करते हैं। एकपुरुष के लिए हम एकवचन का, दो पुरुषों के लिए द्विवचन का और बहुत से अर्थात् दो से अधिक पुरुषों के लिए बहुवचन का प्रयोग करते हैं। एकवचन जैसे- सः पठति, वह पढ़ता है।

द्विवचन जैसे- तौ पठतः- वे दोनों पढ़ते हैं। बहुवचन जैसे- ते पठन्ति, वे सब पढ़ते हैं।

**मध्यमपुरुष-त्वम् अर्थात् तू (Second Person)** के लिए मध्यम पुरुष का प्रयोग किया जाता है। एक तू के लिए एकवचन, दो अर्थात् तुम दोनों के लिए द्विवचन, तुम सब के लिए बहुवचन का प्रयोग करते हैं। जैसे-

एकवचन- त्वम् पठसि - तू पढ़ता है।

द्विवचन- युवां पठतः तुम दोनों पढ़ते हो।

बहुवचन- यूयं पठथ तुम सब पढ़ते हो।

**उत्तमपुरुष- उत्तमपुरुष अर्थात् मैं (First person)** के लिए उत्तमपुरुष का प्रयोग किया जाता है। मैं अर्थात् स्वयं के लिए एकवचन, हम दो के लिए द्विवचन, हम सब के लिए बहुवचन का प्रयोग करते हैं। जैसे-

एकवचन- अहं पठामि, मैं पढ़ता हूँ।

द्विवचन- आवाम् पठावः, हम दोनों पढ़ते हैं।

बहुवचन- वयम् पठामः, हम सब पढ़ते हैं।

**भवान्, भवती शब्द-** प्रायः त्वम् शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है। इसके स्थान पर हम किसी शिष्ट शब्द का प्रयोग करते हैं। यथा भवान्, भवती अर्थात् आप।

भवान् - पुल्लिङ्ग (आप)

भवती - स्त्रीलिङ्ग (आप)

इस शब्द का प्रयोग त्वम् के स्थान पर लगाने का लाभ यह है कि हमें मध्यम पुरुष का प्रयोग नहीं करना पड़ता है। इस शब्द के साथ हम प्रथम पुरुष का प्रयोग करते हैं। यथा-

आप पढ़ते हैं - भवान् पठति।

आप दोनों पढ़ते हो भवन्तौ पठतः।

आप सब पढ़ते हैं भवन्तः पठन्ति ।

इस तालिका का प्रयोग हम सभी लकारों के साथ वैसे ही करते हैं जैसे कि पूर्व में लटलकार में प्रयोग किया है।

अनुवाद प्रणाली के वर्णन करने से पूर्व कारकों का संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर उचित होगा।

**कारक शब्द का साधारण अर्थ है-** क्रिया से सम्बन्ध रखने वाला अर्थात् वाक्य में क्रिया से जिसका सम्बन्ध होता है वह कारक कहलाता है- 'क्रियान्वयित्वं कारकत्वम्'। कारक का, क्रियाजनकं कारकम्, यह लक्षण भी ग्राह्य है। संस्कृत व्याकरण

के अनुसार कारक छः होते हैं-कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदाना, अपादान और अधिकरण

**कर्ता कर्म च करणं च सम्प्रदानं तथैव च।**

**अपादानाधिकरणे इत्याहुः कारकाणि षट् ॥**

क्रिया का करने वाला संपादक- कर्ता।

क्रिया का कर्म -कर्म।

क्रिया का संपादन जिसके द्वारा हो -करण।

क्रिया जिसके लिए हो -सम्प्रदान।

क्रिया जिससे दूर हो -अपादान।

क्रिया जिस स्थान पर हो -अधिकरण।

क्रिया के साथ जिस शब्द का सीधा संबंध होता है, उसे कारक कहते हैं। यथा- कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण।

| विभक्तियाँ | कारक | चिन्ह     |                        |
|------------|------|-----------|------------------------|
| प्रथमा     |      | कर्त्ता   | ने                     |
| द्वितीया   |      | कर्म      | को                     |
| तृतीया     |      | करण       | ने, से, द्वारा, के साथ |
| चतुर्थी    |      | सम्प्रदान | को, के लिए             |
| पञ्चमी     |      | अपादान    | से (अलग होने मेक)      |
| षष्ठी      |      | सम्बन्ध   | का, के, की             |
| सप्तमी     |      | अधिकरण    | में, पे, पर            |
| सम्बोधन    |      | सम्बोधन   | हे, अरे, भो            |

‘रामः पुस्तकं पठति’ इस वाक्य में पढ़ने वाला राम है। पढ़ना क्रिया है। क्रिया के करने वाले को कर्त्ता कहते हैं। अतः राम कर्त्ता है।

**प्रथम वाक्य में पढ़ने का विषय** ‘पुस्तक’ है। अतः पुस्तक के लिए कर्त्ता ने क्रिया की, अतः मुख्यतः जिस हेतु के लिए कर्त्ता क्रिया करता है, उसको कर्म कहते हैं।

‘नृपः’ स्वहस्तेन ब्राह्मणाय ‘धनं ददाति’ वाक्य में दान क्रिया की पूर्ति हाथ से हुई है, अतः हाथ करण हुआ। इसी वाक्य में दान की क्रिया ‘ब्राह्मणों’ के लिए हुई है। अतः ब्राह्मण सम्प्रदान हुआ।

‘वृक्षेभ्यः पक्वानि फलानि भूमौ पतन्ति’ वृक्षों से भूमि पर फल गिरते हैं। इस वाक्य में वृक्षों से फल पृथक् हुए, अतः वृक्ष अपादान हुआ। फल भूमि पर गिरे, अतः भूमि अधिकरण हुई। आम का सम्बन्ध वृक्षों से है, अतः आम सम्बन्ध हुआ।

उपरिलिखित चार वाक्यों में पढ़ना, देना, गिरना आदि क्रियाओं के सम्पादन में जिन कर्त्ता, कर्म आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है, उसे कारक कहते हैं। कारक या विभक्ति वह वस्तु है जिसका उपयोग क्रिया की पूर्ति के लिए किया जाता है। अनेक वैयाकरणों ने सम्बन्ध को भी कारक माना है।

भवत् (आप) शब्द के साथ सदा प्रथम पुरुष होता है। तीनों लिंगों में धातु का रूप वही होता है। कर्त्ता में प्रथमा और कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

बिना प्रत्यय लगाये शब्द या धातु का प्रयोग नहीं किया जाता है। रामः पठति, प्रयोग होगा। राम पठ् नहीं।

## प्रथमा विभक्ति

( कर्त्ता कारघ )

सूत्रा- प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा

शब्द (प्रातिपदिकार्थ) अर्थ, लिङ्ग (पुँल्लिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग, नपुंसकलिङ्ग) परिमाण (नाप, तौल) तथा वचन (संख्या), में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग होता है

संस्कृत व्याकरण के अनुसार जब तक किसी शब्द से प्रथमा आदि किसी विभक्ति का प्रयोग नहीं हो जाता, तब तक उसका कुछ भी अर्थ नहीं ग्रहण किया जा सकता।

प्रातिपदिकार्थ- रामः, मोहनः, वृक्षः, पशुः आदि।

लिङ्ग-नरः, नारी, पुस्तकम्, तटः, तटी, तटम् आदि।

परिमाण- द्रोणः व्रीहिः, ( सोलह सेर धान )।

वचन ( संख्या ) एकः, द्वौ बहवः, चत्वारः आदि।

उदाहरण वाक्य-रामः पठति। सः पठति। त्वं पठसि। अहं गच्छामि। भवान् अत्र आगच्छति। यूयं पुष्पं रक्षथ। वयं विद्या पठामः ।

संस्कृत में अनुवाद करो-

प्रथमा विभक्ति

१. वह पढ़ता है २. आप लिखते हैं ३. बन्दर दौड़ते हैं ४. घोड़े कहाँ जाते हैं ५. वे सब पढ़ते हैं ६. आप यहाँ आते हैं ७. वहाँ क्या हो रहा है ८. बालक पढ़ता है ९. राम लिखता है १०. वह गाँव को जाता है ११. राम विद्यालय जाता है १२. आप वहाँ जाते हैं १३. राजा यहाँ आता है १४. वह मनुष्य कहाँ जाता है १५. वे दोनों जहाँ जाते हैं वहाँ हँसते हैं १६. दो राजा वहाँ जा रहे हैं १७. दो आदमी यहाँ आ रहे हैं १८. वे मनुष्य कहाँ

जा रहे हैं १९. सुशीला क्या पढ़ती है २०. सब बालक विद्यालय जा रहे हैं २१. मैं लड़की को देखता हूँ २२. मैं फूल को सूँघता हूँ २३. हम वहाँ से नहीं आ रहे हैं २४. हम खेल भी करते हैं और भोजन भी करते हैं।



## अशुद्धि संशोधन

### अशुद्ध वाक्य

१. रामं विद्यालयः गच्छति ।
२. भवान् तत्र गच्छन्ति ।
३. मनुष्यौ आगच्छन्ति ।
४. यत्र गच्छतः तत्र हसन्ति ।
५. बालकाः विद्यालयं गच्छति ।
६. स पठन्ति ।
७. तौ लिखति ।
८. ते आगच्छति ।
९. भवान् पठन्ति ।
१०. भवती हसतः ।
११. नृपः गच्छन्ति ।
१२. अहं स्थापि।
१३. वयं दृश्यामः ।
१४. वयं जिघ्रावः।
१५. अहं जलं पापि।
१६. दश पुस्तकम् अस्ति।
१७. द्वौ बालकाः।
१८. रामः च कृष्णः पठति।

### शुद्धवाक्य

- रामः विद्यालयं गच्छति।
- भवान् तत्र गच्छति ।
- मनुष्यौ आगच्छतः ।
- यत्र गच्छतः तत्र हसतः ।
- बालकाः विद्यालयं गच्छन्ति ।
- सः पठति ।
- सः लिखति ।
- ते आगच्छन्ति ।
- भवान् पठति ।
- भवती हसति ।
- नृपः गच्छति।
- अहं तिष्ठामि ।
- वयं पश्यामः।
- वयं जिघ्रामः।
- अहं जलं पिबामि।
- दश पुस्तकानि सन्ति।
- द्वौ बालकौ।

रामः कृष्णः च पठतः ।

## सम्बोधन

### सूत्रा-सम्बोधने च-

सम्बोधन में भी प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है। जैसे- हे राम !, हे कृष्ण !

## द्वितीया विभक्ति

### कर्म कारक

**कर्तुरीप्सिततमं कर्म-** कर्ता जिसको बहुत चाहता हो (व्यक्ति, वस्तु या क्रिया को)। उसे कर्म कहते हैं। सः पुस्तकं पश्यति। ते प्रश्नं पृच्छन्ति। यहाँ पर प्रश्न पूछना कर्ता को इष्ट है अतः यहाँ पर द्वितीया विभक्ति है।

**सूत्रा- कर्मणि द्वितीया -**

जिस पदार्थ या व्यक्ति पर क्रिया का फल पड़ता है उसे कर्मकारक कहते हैं। इसमें द्वितीया विभक्ति होती है। जैसे रामः ग्रामं गच्छति। इस वाक्य में जाना क्रिया का फल ग्राम पर पड़ रहा है। अतः ग्राम कर्म कारक हुआ और उसमें द्वितीया विभक्ति हुई।

अभितः, परितः, समया, निकषा, हा, प्रति, अनु के साथ द्वितीया विभक्ति होती है।

**जैसे-**

१. ग्रामं अभितः जलम् अस्ति (गाँव के दोनों ओर जल है)।
२. वनं निकषा समया वा (वन के समीप)।
३. ग्रामं परितः वनम् अस्ति (गाँव के चारों ओर वन है)।
४. ग्रामं समया पाठशाला अस्ति (विद्यालय के पास पाठशाला है)।
५. विद्यालयं निकषा वनम् अस्ति (विद्यालय के पास वन है)।
६. हा दुर्जनम् (दुर्जन के लिए खेद है)।
७. विद्यालयं प्रति गच्छति (विद्यालय की ओर जाता है)।
८. रामम् अनुगच्छति (राम के पीछे जाता है)।

९. पुस्तकं पठति (पुस्तक पढ़ता है)।

गति (चलना, हिलना, जाना) अर्थवाली धातुओं के साथ द्वितीया होती है।

१. ग्रामं गच्छति (गाँव को जाता है)।
२. वनं विचरति (वन में घूमता है)।
३. तृप्तिं गच्छति (तृप्ति को प्राप्त करता है)।
४. गृहं गच्छति (घर को जाता है)।
५. धनिकः क्रोशं चलति (धनिक कोश भर चलता है)।
६. सः जलं पिबति (वह जल पीता है)।
७. पुस्तकं पठति (पुस्तक पढ़ता है)।

उभयतः, सर्वतः, धिक्, उपर्युपरि, अधोऽधः और अध्यधि के साथ द्वितीया होती है। अन्तरा, अन्तरेण और विना के साथ, अधिशी, अधिस्था, अध्यास् धातु के साथ, समय और स्थान के दूरवाचीशब्दों में द्वितीया होती है। जैसे-

१. ग्रामम् उभयतः जलम् अस्ति (गाँव के दोनों ओर जल है)।
२. विद्यालयं सर्वतः पुष्पाणि सन्ति (विद्यालय के चारों ओर पुष्प है)।
३. लोकम् उपर्युपरि, अधोऽधः, अध्यधि ईश्वरः अस्ति (संसार के ऊपर, नीचे- नीचे, अन्दर-अन्दर ईश्वर है)।
४. क्रोशं चलतु (कोस भर चले)।
५. ग्रामम् अधोऽधः जलम् अस्ति (गाँव के नीचे नीचे जल है)।
६. ग्रामं विद्यालयं चान्तरा जलम् अस्ति (गाँव और विद्यालय के बीच में जल)
७. गङ्गा यमुनां चान्तरा प्रयागः अस्ति (गङ्गा और यमुना के बीच में प्रयाग है)।
८. ज्ञानमन्तरेण न सुखम् (ज्ञान के बिना सुख नहीं है)।
९. श्रमं विना न धनम् (श्रम के बिना धन नहीं है)।
१०. रमेशः आसनम् अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा (रमेश आसन पर बैठता है)।
११. गृहम् अधिशेते (घर में सोता है)।

१२. दश दिनानि लिखति (दश दिनों तक लिखता है)।

१३. पञ्चवर्षाणि पठति (पांच वर्षों तक पढ़ता है)।

दुह, याच्, पच्, दण्ड, रुध्, चि, पृच्छ, ब्रू, शास्, जि, मथ, मुष्, नी, ह, कृष्, वह आदि धातुओं के अपादान आदि कारक अविवक्षित होते हैं और इन्हीं की कर्म संज्ञा होती है। जैसे-

१. गोपः गां पयः दोग्धि (गवाला गो से दूध दुहता है)।

२. दरिद्रः राजानं वस्त्रं याचते (दरिद्र राजा से वस्त्र मांगता है)।

३. नृपं क्षमा याचते (राजा से क्षमा मांगता है)।

४. सः तण्डुलान् ओदनं पचति (वह चावलों से भात पकाता है)।

५. राजा चौरं शतं दण्डयति (राजा चोर को सौ रूपये का दण्ड देता है)।

६. गाम् ब्रजम् अवरुणद्धि (गो को ब्रज में घेरता है)।

७. मुनिं मार्गं पृच्छति (मुनि से रास्ता पूछता है)।

८. लतां पुष्पाणि चिनोति (बेल से फूल चुनता है)।

९. शिष्यं धर्मं ब्रूते (शिष्य से धर्म की बात कहता है)।

१०. गुरुः शिष्यं धर्मं शास्ति (गुरु शिष्य को धर्म की बात कहता है)।

११. शत्रुं शतं जयति (दुश्मन से सौ रूपये जीतता है)।

१२. सागरं सुधां मध्नाति (समुद्र से अमृत को मथता है)।

१३. चौरः देवदत्तं शतं मुष्णाति (चोर देवदत्त से सौ रूपये चुराता है)।

१४. कृषकः ग्रामं अजां नयति, हरति, कर्षति, वहति वा (कृषक गाँव में बकरी को ले जाता, हरता, खींचता अथवा पंहुचाता है)।

## संस्कृत में अनुवाद करो

### द्वितीया विभक्ति

१. राम विद्यालय जाता है २. रमा फल चाहती है ३. गुरु प्रश्न पूछता है ४. बालिका विद्यालय की ओर जाती है ५. पिता सूर्य को देखता है ६. पुत्र गाँव के पास बैठा है ७. पुत्र चन्द्रमा को चाहता है ८. विद्वान् धर्म की ओर (अनु) जाता है ९. शिष्य समुद्र को पूछता है १०. संसार ईश्वर को नमस्कार करता है ११. फूल के चारो ओर जल है १२-घर के दोनो ओर फल और फूल हैं १३. हे दुर्जन! धर्म को क्यों नहीं स्मरण करता ? १४. राजा दुर्जन को दुःख देता है १५. नगर के दोनो ओर वन हैं १६. दुर्जनों को धिक्कार १७. गाँव के नीचे नीचे जल है १८. लोक के अन्दर अन्दर राम हैं १९. गाँव और विद्यालय के बीच में जल है २०. धर्म के बिना सुख नहीं २१. बालक आसन पर बैठता है २२. पुत्र घर में सोता है २३. वह दश वर्ष तक अध्ययन करता है २४. वह पांच दिन तक लिखता है २५. वह कोस भर चलता है २६. तू राज्य जीतेगा २७. मैं धन नहीं चुराऊंगा २८. वह राजा से भूमि मांगता है २९. वह चावलों से भात पकायेगा ३०. वह पुत्र से प्रश्न पूछेगा ३१. वह शिष्य को सत्य बतायेगा ३२. वह नगर में बकरी को ले जायेगा।

### अशुद्धि संशोधन

#### अशुद्ध वाक्य

१. विद्यालये गच्छति ।

२. विद्यालयस्य प्रति।

३. ग्रामस्य निकषा।

४. धर्मस्य अनुगच्छति ।

५. पुष्पस्य परितः ।

६. नगरस्य उभयतः ।

#### शुद्ध वाक्य

विद्यालयं गच्छति।

विद्यालयं प्रति ।

ग्रामं निकषा।

धर्मं अनुगच्छति।

पुष्पं परितः।

नगरं उभयतः ।

|                           |                     |
|---------------------------|---------------------|
| ७. लोकस्य उपर्युपरि ।     | लोकम् उपर्युपरि ।   |
| ८. धर्मस्य अन्तरेण।       | धर्मम् अन्तरेण।     |
| ९. आसने अधितिष्ठति ।      | आसनम् अधितिष्ठति ।  |
| १०. त्वं तिष्ठिष्यसि ।    | त्वं स्थास्यसि ।    |
| ११. नृपात् वसुधां याचते । | नृपं वसुधां याचते।  |
| १२. नगरे अजां नेष्यति ।   | नगरं अजां नेष्यति । |

## तृतीया विभक्ति

### करण कारक

सूत्रा- साधकतमं करणम्-क्रिया की सिद्धि में सहायक को करण कहते हैं।

**कर्तृकरणयोस्तृतीया**-करण में तृतीया होती है और कर्मवाच्य तथा भाववाच्य में कर्ता में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-

१. कन्दुकेन क्रीडति ( गेंद से खेलता है )।

२. दण्डेन चलति ( दण्ड से चलता है )।

३. रामेण गृहं गम्यते (राम के द्वारा घर जाया जाता है)।

**सहयुक्तेऽप्रधाने**-सह, साकम्, सार्धम्, समम्, (साथ अर्थ मेक) के साथ तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-

१. भूपतिना सह सेनापतिः चरति (राजा के साथ सेनापति विचरण करता है)।

२. यतिना सार्धं कविः गायति (संन्यासी के साथ कवि गाता है)।

३. जनकेन सह, सार्धं, समं, वा गृहं गच्छति (पिता के साथ घर जाता है)।

**इत्थंभूतलक्षणे**-जिस लक्षण से किसी व्यक्ति या वस्तु का ज्ञान होता है उस लक्षण बोधकशब्द में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-

जटाभिस्तापसः (जटाओं से तपस्वी ज्ञात होती है)।

हेतौ-कारण बोधक शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-

अध्ययनेन वसति (अध्ययन के लिए रहता है)।

विद्यया यशः भवति (विद्या से यश होता है)।

किम्, कार्यम्, अर्थम्, प्रयोजनम् (चारों प्रयोजन के अर्थ में हो तो) के साथ तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-

मूर्खेण पुत्रेण किम् (मूर्ख पुत्र से क्या लाभ)।

अलं (बस, मत) के साथ तृतीया होती है। जैसे-

अलं हसितेन (मत हंसो) ।

अलं विवादेन (विवाद मत करो)।

**येनाङ्गविकारः**-शरीर का जो अङ्ग विकार से विकृत दिखाई दे, उसमें तृतीया विभक्ति होती है। जैसे -

नेत्रेण काणः (आंख से काना)।

कर्णेन बधिरः (कान से बहरा है)।

देवदत्तः शिरसा खल्वाटोऽस्ति (देवदत्त शिर से गंजा है)।

**प्रकृत्यादिभ्य उपसंख्यानाम्-प्रकृति (स्वभाव) आदि क्रिया विशेषण शब्दों में तृतीया विभक्ति होती है। जैसे-**

**प्रकृत्या** साधुः (स्वभाव से सरल)।

सुखेन जीवति (सुख से जीता है)।

सरलतया लिखति (सरलता से लिखता है)।

### संस्कृत में अनुवाद करो

#### तृतीया विभक्ति

१. राम गेंद से खेलता है २. मुनि दण्डे के साथ चलता है ३. सूर्य ने किरणों से लोक को तपाया ४. राजा कवि के साथ घूमता है ५. राजा के साथ सेनापति यहाँ आया ६. जटा से संन्यासी ज्ञात होता है ७. मनोरथों से कार्य सिद्ध नहीं होते ८. बालक बन्दर के साथ खेलता है ९. मुनि राजा के साथ बैठा १०. दुर्जन शिष्य से क्या लाभ ? ११. मत हंसो १२. शत्रु आंख से काना है

१३. शिशु कान से बहरा है १४. पशु पैर से लंगड़ा है १५. गुरु स्वभाव से सज्जन है १६. शिशु पशुओं के साथ पहाड़ पर जाये  
१७. वायु सुख से बहती है १८. साधु वृक्षों के पास बसे।

### अशुद्धि संशोधन

| अशुद्ध वाक्य             | शुद्ध वाक्य            |
|--------------------------|------------------------|
| १. अलं हसितस्य ।         | अलं हसितेन ।           |
| २. नेत्रस्य काणः।        | नेत्रेण काणः।          |
| ३. सुखात् वहति ।         | सुखेन वहति ।           |
| ४. गिरौ गच्छेत् ।        | गिरिं गच्छेत्।         |
| ५. भूपत्युः सह अगच्छत् । | भूपतिना सह अगच्छत् ।   |
| ६. यतिः मुनेः सह गच्छति। | यतिः मुनिना सह गच्छति। |

## चतुर्थी विभक्ति

### सम्प्रदान कारक

**कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्**—दान के कर्म के द्वारा जिसे संतुष्ट करना चाहता है वह पदार्थ सम्प्रदान कहलाता है।

**चतुर्थी सम्प्रदाने**— सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे—

ब्राह्मणाय गां ददाति (ब्राह्मण को गाय देता है)।

**रूच्यर्थानां प्रियमाणः** रुच धातु और इस अर्थ वाली अन्य धातुओं के योग में प्रसन्न होने वाला शब्द सम्प्रदान होता है। जैसे—  
हरये भक्तिः रोचते (हरि को भक्ति अच्छी लगती है)।

बालकाय मोदकं रोचते (बालक को लड्डू अच्छा लगता है)।

पुत्राय दुग्धं रोचते (पुत्र को दूध अच्छा लगता है)।

**कुधदुहेर्ष्यासूयार्थानां यं प्रति कोपः** क्रुध्, द्रुह, ईर्ष्या, असूया अर्थ की धातुओं के साथ जिस पर क्रोध किया जाता है उसमें चतुर्थी विभक्ति होती है। जैसे— रामः मूर्खाय क्रुध्यति, कुप्यति, द्रुह्यति, ईर्ष्यति, असूयति (राम मूर्ख पर क्रोध करता है)।

नृपः दुर्जनेभ्यः क्रुध्यति (राजा दुर्जनों पर क्रोध करता है)।

कथ निवेदय, उपदिश, धारय (ऋणी होना), स्पृह, कल्पते (होना), संपद्यते (होना), हितम् तथा सुखी के साथ चतुर्थी होती है। जैसे—  
शिष्याय कथयति (शिष्य को कहता है)।

रामः देवदत्ताय शतं धारयति (राम देवदत्त से सौ रूपये धारण करता है)।

ब्राह्मणाय हितं वा सुखं भवेत् (ब्राह्मणों का हित वा सुख होवेक)। ज्ञानाय कल्पते सम्पद्यते (ज्ञान के लिए है)।

तादर्थ्यं चतुर्थी—जिस प्रयोजन के लिए जो वस्तु या क्रिया होती है, उसमें चतुर्थी होती है। जैसे—

मोक्षाय हरिं भजति (मोक्ष के लिए हरि को भजता है)।

शिशुः दुग्धाय क्रन्दति (बालक दूध के लिए रोता है)।

ज्ञानाय गुरुः सेव्यते (ज्ञान के लिए गुरु की सेवा की जाती है)।

चतुर्थी के अर्थ में 'अर्थम्' और 'कृते' अव्ययों का प्रयोग किया जाता है। कृते के साथ षष्ठी होती है। भोजनार्थम्, भोजनस्य कृते (भोजन के लिए)।

**नमः स्वस्तिस्वाहास्वधालं वषट् योगाच्च** नमः, स्वस्ति, स्वाहा, स्वधा, अलम्, (पर्याप्त अर्थ वाले शब्द) वषट् के साथ चतुर्थी होती है। जैसे—

गुरवे नमः (गुरु को नमस्कार है)।

शिष्याय स्वस्ति (शिष्य का कल्याण हो)।

अग्नये स्वाहा (अग्नि के लिए स्वाहा)।

पितृभ्यः स्वधा (पितृओं के लिए स्वधा)।

इन्द्राय वषट् (इन्द्र के लिए स्वधा)।

हरिः दैत्येभ्यः अलम्, प्रभुः, समर्थः, शक्तः वा (विष्णु दैत्यों के लिए पर्याप्त हैक)।

## संस्कृत में अनुवाद करो

### चतुर्थी विभक्ति

१. बालक को लड्डू अच्छा लगता है २. उस बालक को दूध दो ३. राजा ने ब्राह्मणों को धन दिया ४. इस मुनि को धन दो ५. मुनि मोक्ष के लिए ईश्वर को भजता है ६. किस राजा को धन देते हो ७. उस कवि को भोजन दो ८. पिता को नमस्कार ९. शिष्य को आशीर्वाद १०. दुर्जनों के लिए राजा पर्याप्त है ११. ज्ञान के लिए गुरु के पास जाओ १२. अग्नि के लिए स्वाहा १३. पितरों के लिए स्वधा १४. जो बालक विद्यालय नहीं जाता, उसको पिता दण्ड देता है १५. इन बालकों को पुस्तक दो और उन बालकों को गेंद दो १६. उस बालक को यह पुस्तक अच्छी लगती है १७. गुरु शिष्य पर क्रोध करता है १८. यह दुर्जन उस सज्जन से द्रोह करता है १९. रमेश श्याम से ईर्ष्या करता है २०. पुत्र पिता को भोजन के लिए निवेदन करता है २१. वह गुरु इन शिष्यों को विद्या देता है २२-राम इन फलों को चाहता है २३. वह मनुष्य राम का सौ रूपये का ऋणी है।

## अशुद्धि संशोधन

### अशुद्ध वाक्य

१. तं बालकं दुग्धं वितर ।
२. एतं मुनिं धनं यच्छ।
३. जनकं नमः।
४. बालकं पुस्तकं रोचते ।
५. शिष्ये क्रुध्यति ।
६. सेनापतिम् अकथयत् ।

### शुद्ध वाक्य

- तस्मै बालकाय दुग्धं वितर।
- एतस्मै मुनये धनं यच्छ।
- जनकाय नमः।
- बालकाय पुस्तकं रोचते ।
- शिष्याय क्रुध्यति ।
- सेनापतये अकथयत् ।



## पञ्चमी विभक्ति

### अपादान कारक

**ध्रुवमपायेपादानम्** – जिससे कोई वस्तु पृथक् हो उसे अपादान कहते हैं।

**अपादाने पञ्चमी**—अपादान में पञ्चमी होती है। जैसे—

वृक्षात् पत्रं पतति (वृक्ष से पत्ता गिरता है)।

तस्मात् अश्वात् स नरः अपतत् (उस घोड़े से यह व्यक्ति गिर गया)।

अन्य, आरात्, इत् (तथा अन्य अर्थवाले और भीशब्द), ऋते, पूर्व आदि दिशा वाची शब्द (इनका देश, काल अर्थ हो तो भी), प्रकृति, बहिः, इन शब्दों के साथ पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—

ज्ञानाद् ऋते मोक्षः नास्ति (ज्ञान के बिना मोक्ष नहीं है)।

ग्रामाद् पूर्वः, पश्चिमः, उत्तरः, दक्षिणः, प्राक् आदि गाँव के पूर्व आदि की ओर। शैशवाद् प्रभृति (बचपन से लेकर)। ग्रामाद् बहिः (गाँव के बाहर)।

**भीत्रार्थानां भयहेतुः** – भय और रक्षा अर्थ की धातुओं के साथ भय के कारण में पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे –

है)। धीराः निश्चयार्थात् न विरमन्ति (धैर्यशाली व्यक्ति निश्चित अर्थों से नहीं हारते

चौरात् बिभेति (चोर से डरता है)।

चौरात् त्रायते (चोर से रक्षा किया जाता है)।

जुगुप्सा, विरमति, प्रमाद्यति के साथ पञ्चमी होती है।

पापाद् जुगुप्सते (पाप से घृणा करता है)।

धर्मात् प्रमाद्यति (धर्म कर्म में भूल करता है)।

**वारणार्थानामीप्सितः**—जिस वस्तु से किसी को हटाया जाय, उसमें पञ्चमी होती है। जैसे—

यवेभ्यः पशुं वारयति (जौ से पशु को हटाता है)।

पुत्रं पापात् वारयति, निवारयति वा (पुत्र को पाप से हटाता है)।

**आख्यातोपयोगेः**— जिससे विद्या आदि पढी जाए, उत्तमें पञ्चमी होती है। जैसे—

उपाध्यायात् अधीते (आचार्य से पढता है)।

गुरोः पठति (गुरु से पढता है)।

जायते, उद्भवति, प्रभवति, उद्गच्छति (इन चारों का उत्पन्न होना या निकलना अर्थ हो तो) निलीयते, और प्रतियच्छति के साथ पञ्चमी होती है। जैसे—

**प्रजापतेः लोकः जायते (प्रजापति ने संसार को बनाया)।**

हिमालयाद् गङ्गा प्रभवति, उद्भवति वा (हिमालय से गङ्गा निकलती है)।

नृपात् चौरः निलीयते (राजा से चोर छिपता है)।

तिलेभ्यः माषान् प्रतियच्छति (तिलों से उड़द बदलता है)।

तुलना में जिससे तुलना की जाती है, उसमें पञ्चमी विभक्ति होती है। जैसे—

रामात् कृष्णः पटुतरः (राम से चतुर है)।

धनात् ज्ञानं गुरुतरम् (धन से ज्ञान श्रेष्ठ है)।

अमुष्माद् बालकात् अयं बालकः पटुतरः (इस बालक से यह बालक चतुर है)।

मौनात् सत्यं विशिष्यते (मौन से सत्य श्रेष्ठ है)।

**पृथक्, विना के साथ पञ्चमी, द्वितीया और तृतीया तीनों होती हैं। जैसे—**

रामात्, रामेण, रामं विना पृथक् वा (राम से अलग)।

श्रमात्, श्रमेण, श्रमं वा विना विद्या न भवति (परिश्रम के बिना विद्या नहीं आती)।

दूर, निकटवाची शब्दों में पञ्चमी, द्वितीया और तृतीया होती है। जैसे -

ग्रामस्य दूरात्, दूरेण, दूरम् (गाँव से दूर)।

वनस्य निकटात्, निकटेन, निकटं वा (वन के निकट)।

जनकस्य समीपात् (अन्तिकात्, पार्श्वात्, निकटात्, सकाशात्) आगच्छामि-पिता के पास से आता है।

## संस्कृत में अनुवाद करो

### पञ्चमी विभक्ति

१. बालक महल से गिर गया २. किस घोड़े से वह सेनापति गिरा ३. उस पाठशाला से यह लड़की यहाँ आयी ४. उस गुरु से यह शिष्य पढ़ता है ५. रमा चोर से डरती है ६. वह राजा उस लड़की को राक्षस से बचाता है ७. प्रजा से राजा के लिए धन लाओ ८. धर्म के बिना सुख नहीं ९. गाँव के पास सारी सेना है १०. गाँव के पूर्व, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण की ओर लोग रहते हैं ११. मैं बाल्यकाल से लेकर यहाँ रहता हूँ १२. उस गुरु से विद्या पढो १३. यह बालक पाप से घृणा करता है १४. मेरा पुत्र धर्म से प्रमाद करता है १५. वह शिष्य इस पाप से रुकता है १६. यह गुरु उस शिष्य को पाप से हटाता है १७. जौ से इन पशुओं को हटाओ १८. प्रजापति से यह लोक उत्पन्न होता है १९-गङ्गा हिमालय से निकलती है २०. बीजों से अङ्कुर उत्पन्न होते हैं २१. वह बालक पिता से छिपता है २२. नगर से दूर वह विद्यालय है २३. उस गुरु से विद्या पढो २४. वह वैश्य इन चावलों से उड़द को बदलता है २५. धन से ज्ञान बढ़ा है २६. उस गुरु के पास से इस ग्राम में आया हूँ।

### अशुद्धि संशोधन

#### अशुद्ध वाक्य

१. इदं वृक्षात् एते फलानि ।

२. तं नगरं अगच्छत् ।

३. तेन गुरुणा अधीते।

४. चौरेण बिभेति ।

५. ग्रामस्य पूर्वः, प्राक् वनम् अस्ति । ग्रामात् पूर्वः प्राक् वनमस्ति ।

६. अनेन पापेन निवारयति ।

७. ऐभिः तण्डुलैः माषान् प्रतियच्छति। एभ्यः तण्डुलेभ्यः माषान् प्रतियच्छति।

धनात् ज्ञानं गुरुतरम् ।

#### शुद्ध वाक्य

एतस्माद् वृक्षात् एतानि फलानि ।

तद् नगरं अगच्छत् ।

तस्मात् गुरोः अधीते ।

चौरात् बिभेति ।

अस्मात् पापात् निवारयति ।

अस्मात् पापात् निवारयति ।

एभ्यः तण्डुलेभ्यः माषान् प्रतियच्छति।

धनेन ज्ञानं

गुरुतरः ।

## षष्ठी-विभक्ति

### संबन्ध-कारक

सूत्रा- षष्ठी शेषे-सम्बन्ध का बोध कराने में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे-

गङ्गायाः जलम् (गङ्गा का जल)।

रामस्य पुस्तकम् (राम की पुस्तक)।

देवदत्तस्य धनम् (देवदत्त का धन)।

रामायणस्य कथा (रामायण की कथा)।

रामस्य पुत्रम् आह्वय (राम के पुत्र को बुलाओ)।

यस्य नास्ति स्वयं प्रज्ञा (जिसके पास स्वयं बुद्धि नहीं है)।

राज्ञः पुरुषः गच्छति (सिपाही जा रहा है)।

भजोशम्भोः चरणयोः (शिव के चरण सम्बन्धी सेवा करता हूँ)।

फलानां तृप्तः (फल सम्बन्धी तृप्त)।

**षष्ठी हेतु प्रयोगे**-हेतु शब्द के साथ षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे

अन्नस्य हेतोः वसति (अन्न के लिए रहता है)।

अध्ययनस्य हेतोः वाराणस्यां तिष्ठति (अध्ययन के लिए वाराणसी में रहता है)। अध्ययनस्य हेतोः जीवति (अध्ययन के लिए जीता है)।

**निमित्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां प्रायदर्शनम्**- निमित्त वा उसके अर्थवाचक शब्दों (कारण, प्रयोजन, हेतु के साथ प्रायः सभी विभक्तियाँ होती हैं)। जैसे किं निमित्तम्, केन निमित्तेन, कस्मै निमित्ताय वसति, कस्मात् निमित्तात्, कस्य हेतोः, कस्मात् कारणात्, केन प्रयोजनेन (किस कारण से रहता है)। त्वं कस्य हेतोः, कस्मात् कारणात्, केन कारणेन शोकसि तुम किस कारण शोक करते हो ?

**अधीगर्थदयेशां कर्मणि**-स्मरण अर्थ की धातुओं के साथ कर्म में षष्ठी विभक्ति होती है। जैसे- मातुः स्मरति (माता का स्मरण करता है)। रामस्य दयमानः (राम के ऊपर दया करता हुआ)।

**उपरि, उपरिष्ठात्, अधः, अधस्तात्, पुरः, पुरस्तात्, पश्चात्, अग्रे दक्षिणतः** और उत्तरतः के साथ षष्ठी होती है। जैसे- ग्रामस्य दक्षिणतः, उत्तरतः आदि (ग्राम के दक्षिण, उत्तर की ओर) वृक्षस्य उपरि, उपरिष्ठात्, अधः, अधस्तात् (वृक्ष के ऊपर, नीचे)। गृहस्याग्रे वसुधां खनति (घर के आगे पृथ्वी खोदता है)।

यतश्च निर्धारणम्-बहुतों में से एक को छांटने में जिसमें से छाँटा जाय, उसमें षष्ठी और सप्तमी होती है। जैसे- छात्राणां छात्रेषु वा रामः श्रेष्ठः पटुतमो वा (छात्रों में राम श्रेष्ठ या चतुर है)। नराणां नरेषु वा ब्राह्मणः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है)। कवीनां कविषु वा कालिदासः श्रेष्ठः अस्ति (कवियों में कालिदास श्रेष्ठ है)।

**कर्तृकर्मणोः कृतिः**-कृदन्तशब्द (जिनके अन्त में कृत् प्रत्यय अर्थात् तृच् (तृ), क्तिन् (ति), अच् (अ), घञ् (अ), ल्युट् (अन्) आदि हों) के कर्ता और कर्म में षष्ठी होती है। जैसे- शिशोः शयनम् (बच्चे का सोना), रामस्य गमनम् (राम का जाना)।

**कृते** (लिए), समक्षम्, मध्ये, अन्त और अन्तरे के साथ षष्ठी होती है। जैसे-भोजनस्य कृते (भोजन के लिए), गुरोः समक्षम् (गुरु के समक्ष), छात्राणां मध्ये (छात्रों के बीच में), गृहस्य अन्तः अन्तरे वा (घर के अन्दर)। दूर और समीपवाची शब्दों के साथ षष्ठी और पञ्चमी होती है। जैसे ग्रामस्य ग्रामाद् वा दूरं, समीपं, पार्श्वं, सकाशं वा वनमस्ति (गाँव के दूर, समीप, पास में वन है)। जनकस्य समीपात्, पार्श्वत्, सकाशात् वा आगच्छति (पिता के पास से आता है)।

**तुल्यवाचीशब्दों के साथ षष्ठी और तृतीया विभक्ति दोनों होती हैं**। जैसे-कृष्णेन कृष्णस्य वा तुल्यः सदृशः समः (कृष्ण के समान)।

आशीर्वाद सूचकशब्दों (आयुष्मन्, भद्रम्, कुशलम्, सुखम्, हितम्, अर्थः, प्रयोजनम्, शम्, पथ्यम्) आदि के साथ षष्ठी और चतुर्थी दोनों होती हैं। जैसे- कृष्णस्य कृष्णाय वा भद्रम्, कुशलम्, शं वा स्यात् (कृष्ण का कल्याण, कुशल हो)।

## संस्कृत में अनुवाद करो

### षष्ठी विभक्ति

१. यह गङ्गा का जल है २. बालक की यह पुस्तक है ३. यह धन किसका है ४. तुम यहाँ पर किस लिए रहते हो ५. राम पिता को स्मरण करता है ६. मैं धन के निमित्त जीता हूँ ७. पुस्तकों में गीता श्रेष्ठ है ८. इस नगर के उत्तर और दक्षिण की ओर वृक्ष हैं ९. घर के ऊपर, नीचे, आगे और पीछे की ओर आग जल रही है १०. राम सज्जन की पूजा करता है ११. वह धन चाहता है १२. मूर्ख धन के निमित्त ही जीते हैं १३. इस लड़की का पढ़ना इसको अच्छा लगता है १४. इस स्त्री का खाना पकाना इसे अच्छा लगता है १५. अध्ययन के लिए गुरु के सामने जाओ १६. राम के तुल्य कोई नहीं है १७. यह बालक पिता का आश्रय लेता है १८. राजा प्रजा का पालन करता है १९. मैं ईश्वर का ध्यान करता हूँ २०. वह वस्त्र बुनता है

### अशुद्धि संशोधन

#### अशुद्धवाक्य

१. जनकं स्मरति ।

२. वृक्षस्य एते पुष्पानि।

३. गुरोः निन्दति ।

४. अस्य बालिकां पठनम् ।

५. भोजनस्य पाकः अमुं रोचते।

#### शुद्धवाक्य

जनकस्य स्मरति ।

वृक्षस्य एतानि पुष्पाणि।

गुरुं निन्दति।

अस्याः बालिकायाः पठनम् ।

भोजनस्य पाकः अस्मै रोचते।

### सप्तमी-विभक्ति

#### अधिकरण-कारक

**आधारोऽधिकरणम्**-किसी क्रिया के आधार को अधिकरण कहते हैं, जहाँ पर या जिसमें वह कार्य किया जाता है।

**सप्तम्यधिकरणे** - अधिकरण कारक में सप्तमी होती है। जैसे विद्यालये पठति (विद्यालय में पढ़ता है)। पाठशालायाम् उपाध्यायाः सन्ति (पाठशाला में अध्यापक हैं)। गृहे बालकः वर्तते (घर में बालक है)। विद्यालये छात्राः बालिकाश्च वर्तन्ते (विद्यालय में बालक और बालिकाएँ हैं)।

**विषय में, बारे में, अर्थ में तथा समय बाधकशब्दों में सप्तमी होती है।** मोच्छे इच्छास्ति (मोक्ष के विषय में इच्छा है)। दिने, दिवसे, प्रातः काले, मध्याह्ने, सायंकाले वा कार्यं करोति (दिन में, प्रातः काल में, मध्याह्न में, सायंकाल में कार्य करता है)। शैशवे, यौवने, वार्धक्ये वा पठति (बाल्यकाल में, यौवन में, वृद्धत्व समय में पढ़ता है)। सायं काले मार्गे बालकाः कूर्दन्ते (सायंकाल मार्ग में बालक कूदते हैं)। सः बालः तच्च फलं आसने वर्तते (वह बालक और वह फल आसन पर है)। यतिः धर्मे रमति (यति धर्म में रमता है)। कटे आस्ते (चटाई पर बैठता है)।

**प्रेम, आसक्ति या आदरसूचक धातुओं और शब्दों (स्निह, अभिलष, अनुरज्ज, आदृ, रति, आसक्त आदि) के साथ सप्तमी होती है।** जैसे-मयि स्नेहः (मुझसे स्नेह है)। सः बालके स्निह्यति (वह बालक से स्नेह करता है)। तस्य मम पुत्रे स्नेहः वर्तते (उसका मेरे पुत्र से स्नेह है)। अस्माकं धर्मे अभिलाषा वर्तताम् (हमारी धर्म में अभिलाषा हो)। नृपः प्रजासु आद्रियते (राजा प्रजा में आदर पाता है)। धर्मे रतिः वर्तताम् (धर्म में रति हो)। सत्ये मम श्रद्धा, निष्ठा, विश्वासः वा वर्तते (सत्य में मेरी श्रद्धा, निष्ठा, विश्वास हो)। जनकः पुत्रे विश्वसति (पिता पुत्र पर विश्वास करता है)।

**यस्य च भावेन भावलक्षणम्**-एक क्रिया के बाद दूसरी क्रिया होने पर प्रथम क्रिया सप्तमी में होती है। कर्तृवाच्य में कर्ता और कृदन्त में सप्तमी होती है। कर्मवाच्य में कर्म और कृदन्त में सप्तमी होगी और कर्ता में तृतीया। प्रथम क्रिया में कृदन्त का प्रयोग होना चाहिए। जैसे- रामे वनं गते दशरथः मृतः (राम के वन जाने पर दशरथ मर गये)। कार्ये कृते सति अहं वनमगच्छाम् (कार्य कर लेने पर मैं वन में गया)। भोजने कृते सति सः विद्यालयमगच्छत् (भोजन कर लेने पर वह विद्यालय गया)। सूर्ये उदिते कमले प्रकाशते (सूर्य के उदित होने पर कमल खिलता है)।

**संलग्न अर्थ वाले शब्दों (युक्तः, व्यापृतः, लग्नः, व्यग्रः, तत्परः) और चतुर अर्थ वाले शब्दों (कुशल, निपुण, साधु, पटु, प्रवीणः, दक्षः, चतुरः) के साथ सप्तमी होती है।** जैसे कार्ये लग्नः, तत्परः, युक्तः वा (कार्य में लगा है)। शास्त्रे कुशलः, निपुणः, दक्षः वा (कार्य में कुशल, निपुण, दक्ष है)। रामः तस्यां कन्यायाम् अनुरक्तः अस्ति (राम उस कन्या पर अनुरक्त है)।

**क्षिप्, मुच्, अस् (फेंकना अर्थ की), धातुओं के साथ तथा विश्वास और श्रद्धा अर्थ वाली धातुओं तथा शब्दों (विश्वसिति, विश्वासः, श्रद्धा, निष्ठा, आस्था) के साथ सप्तमी होती है।** जैसे मृगे बाणं क्षिपति (मृग पर बाण चलाता है)। जनकः

पुत्रे विश्वसिति (पिता पुत्र पर विश्वास करता है)। सत्ये मम श्रद्धा निष्ठा विश्वासः वा वर्तते (सत्य में मेरी श्रद्धा है)।

**यतश्चनिर्धारणम्**—जातिगुण, क्रिया संज्ञाओं की जहाँ अपने समुदाय से कोई विशेषता दिखलायी जाती है वहाँ समुदाय वाचक शब्दों में षष्ठी वा सप्तमी विभक्ति होती है। जैसे—

नृणां नृषु वा द्विजः श्रेष्ठः (मनुष्यों में ब्राह्मण श्रेष्ठ है)। छात्राणां छात्रेषु वा रामः श्रेष्ठः (छात्रों में राम चतुर है)।

पात्र, आस्पद, स्थान, पद, भाजन, और प्रमाण शब्द जब विधेय के रूप में प्रयुक्त होंगे तो इनमें नपुंसकलिङ्ग एकवचन ही रहेगा। उद्देश्य रूप में होंगे तो अन्य वचन भी होंगे। जैसे—

गुणाः पूजा स्थानं सन्ति (गुण पूजा के स्थान हैं)।

यूयम् मम कृपापात्रं स्थ भवन्तः प्रमाणं सन्ति (तुम सब मेरे कृपा के पात्र हो आप सब प्रमाण हैं)।

अत्र सप्त पात्राणि सन्ति (यहाँ सात पात्र हैं)।

त्वं धनानां पात्रम्, आस्पदं, स्थानं, पदं, भाजनं वा असि (तुम धनों के पात्र हो)।

पात्रेषु भाजनेषु वा जलं वर्तते (पात्रों में जल है)।

आस्पदेषु स्थानेषु वा ते तिष्ठन्ति (स्थानों पर वे सब बैठे हैं)।

सभी संख्यावाचक शब्दों से 'प्रकार से' अर्थ में 'धा' लगता है। जैसे—'प्रकार का' अर्थ में विध, गुणा अर्थ में गुण, तथा बार अर्थ में वारम् लगता है। जैसे—एकधा, द्विधा, त्रिधा, बहुधा (एक प्रकार से, दो प्रकार से इत्यादि)। एकविधः, द्विविधः। द्वि और उभय शब्द सदा द्विवचन में ही आते हैं। उभय (दोनोक) शब्द तीनों वचन में आते हैं। जैसे—द्वौ बालकौ (दो बालक)। द्वे बालिके (दो लड़कियाँ)। द्वे पुस्तके (दो पुस्तकें)। द्वाभ्यां बालकाभ्यां द्वाभ्यां बालिकाभ्यां च पुस्तकानि वितर (दो बालकों और दो बालिकाओं को पुस्तकें दो)।

तयोः द्वयोः छात्रयोः रामः पटुत्तरः (इन दो छात्रों में राम चतुर है)।

दम्पती, पितरौ, अश्विनौ इनके रूप द्विवचन में ही चलते हैं। इनके साथ क्रिया द्विवचन में ही चलती है। जैसे दम्पती भ्रमतः (पति-पत्नी घूमते हैं)। पितरौ आगच्छतः (माता-पिता आते हैं)। उभौ बालकौ उभयं पुस्तकं पटतः (दोनों बालक दोनों पुस्तकें पढ़ते हैं)।

द्वय, युगल, युग, द्वन्द्व ये चारों दो अर्थ के बोधक हैं। ये शब्द के अन्त में जुड़ते हैं और नपुंसकलिङ्ग एकवचन में रहते हैं। जैसे छात्रद्वयम्, छात्रयुगलम्, छात्रयुगं पुस्तकानि पठति (छात्र दो पुस्तकें पढ़ते हैं)।

यत् और तत् शब्द सापेक्ष सर्वनाम हैं। अतः यत् शब्द में जो लिङ्ग विभक्ति और वचन होगा वही तत् शब्द में भी होगा। जैसे बुद्धिर्यस्य बलं तस्य (जिसकी बुद्धि उसका बल)। यानि शुभानि कर्माणि, तानि त्वया सेवितव्यानि (जो शुभ कर्म हैं तुम्हें करने चाहिए)।

यत् शब्द जब किसी अर्थ में आता है, तब वह नपुंसकलिङ्ग एकवचन में रहता है। जैसे—सः अभाषत् यत् अहमधुना गमिष्यामि (उसने कहा कि अब मैं जाऊंगा)।

त्रि से अष्टादशन् (३ से १८) तक के सारे शब्द तथा कति शब्द सदा बहुवचन में ही आते हैं।

**आदरार्थे बहुवचनम्** — आदर प्रकट करने में एक के लिए भी बहुवचन हो जाता है। गुरवः, पूज्यः। जो जातिवाचक शब्दों में एकवचन और बहुवचन दोनों होते हैं। ब्राह्मणः पूज्यः, ब्राह्मणाः पूज्याः।

देशवाचक शब्दों में बहुवचन का प्रयोग होता है। नगर का नाम या देश अन्त में होने पर एकवचन होगा। जैसे अहम् अङ्गान् बङ्गान् विदर्भान् गौडान् वा अगच्छम्। पाटलिपुत्रम्, अङ्गदेशं वा अगच्छम्।

## संस्कृत में अनुवाद करो सप्तमी विभक्ति

१. नगर में मनुष्य हैं २. बालक मार्ग में संन्यासी को देखता है ३. मोक्ष के विषय में तुम यत्न करते हो ४. बालक घर में कूदता है ५. विद्या सत्य से सुशोभित होती है ६. पशुओं में सिंह श्रेष्ठ है ७. वह धन में रमता है ८. तू बाल्यकाल में विद्या सीखता है ९. पिता पुत्र से स्नेह करता है १०. वह सत्य में विश्वास करता है ११. गुरु शिष्यों में आदर पाता है १२. हरि रमा पर अनुरक्त है १३. हमारी धर्म में रति है १४. मेरे भोजन कर लेने पर बालक यहाँ आया १५. हरि शास्त्रों में निपुण और कुशल है १६. राजा ने मूर्त्तों पर बाण चलाये।

## अशुद्धि संशोधन

### अशुद्धवाक्य

१. मम भोजनम् कृते सति। मम भोजने कृते सति।
  २. पुत्रस्य शयनम् कृते सति। पुत्रेणशयने कृते सति।
  ३. नृपेण मृगेषुशराः अक्षिपत्। नृपः मृगेषुशरान् अक्षिपत्।
- (इति कारक प्रकरणम् समाप्तः)

### शुद्धवाक्य

## स्मरणीय बिंदु

संस्कृत में सात मुख्य विभक्तियाँ हैं।  
विभक्ति से कारक का बोध होता है।  
वाक्य निर्माण में विभक्ति का विशेष महत्व है।  
संस्कृत भाषा अत्यंत व्यवस्थित है।  
विभक्तियाँ अर्थ स्पष्ट करती हैं।

## शब्दावली

| शब्द    | अर्थ            |
|---------|-----------------|
| विभक्ति | कारक सूचक रूप   |
| कारक    | क्रिया से संबंध |
| कर्ता   | कार्य करने वाला |
| कर्म    | कार्य का विषय   |
| अधिकरण  | स्थान सूचक      |

## बहुविकल्पीय प्रश्न

1. कर्ता कारक में कौन-सी विभक्ति होती है?  
क) द्वितीया  
ख) तृतीया  
ग) प्रथमा  
घ) सप्तमी  
उत्तर (ग)
2. कर्म कारक में प्रयोग होती है ख  
क) प्रथमा  
ख) द्वितीया  
ग) पंचमी  
घ) सप्तमी  
उत्तर (ख)
3. करण कारक की विभक्ति है  
क) तृतीया  
ख) चतुर्थी  
ग) पंचमी  
घ) षष्ठी  
उत्तर (क)
4. 'रामाय' शब्द में कौन-सी विभक्ति है?



- क) प्रथमा
- ख) चतुर्थ
- ग) पंचमी
- घ) सप्तमी
- उत्तर (ख)

5. 'हे राम!' में कौन-सा कारक है?

- क) करण
- ख) कर्म
- ग) संबोधन
- घ) अधिकरण
- उत्तर (ग)

## इकाई- 4 प्रत्ययः प्रकरणम्

( १ ) क्त, ( २ ) क्तवतु प्रत्यय

( देखो अभ्यास ३१, ३२, ३३ )

**उद्देश्य**

1. प्रत्ययों का ज्ञान प्राप्त करना।
2. संधि के नियमों को समझना।
3. शब्दरूप एवं धातुरूप का अभ्यास करना।

**सूचना-** क्त और क्तवतु प्रत्यय भूतकाल में होते हैं। क्त का त और क्तवतु का तवत् शेष रहता है। क्त कर्मवाच्य या भाववाच्य में होता है, क्तवतु कर्तृवाच्य में। धातु को गुण या वृद्धि नहीं होती है। संप्रसारण होता है। अन्य नियमों के लिए देखो अभ्यास ३१-३३। क्त प्रत्ययान्त के रूप पुलिङ्ग में रामवत्, स्त्रीलिङ्ग में आ लगाकर रमावत् और नपुंसकलिङ्ग में गृहवत् चलेंगे। यहाँ केवल पुलिङ्ग के ही रूप दिये गये हैं। क्त प्रत्ययान्त का क्तवतु-प्रत्ययान्त रूप बनाने का सरल प्रकार यह है कि क्त-प्रत्ययान्त के बाद में 'वत्' और जोड़ दो। अभ्यास ३३ में दिए नियमानुसार तीनों लिङ्गों में रूप चलाओ।  
**धातुएँ अकारादिक्रम से दी गई हैं।**

|                       |                          |                       |                    |                   |
|-----------------------|--------------------------|-----------------------|--------------------|-------------------|
| अद् जग्धः<br>(अन्नम्) | कृष् कृष्टः<br>कृ कीर्णः | घ्रा घ्रातः<br>घ्राणः | त्यज् त्रै<br>त्रै | त्यक्तः<br>त्रातः |
| अधि+इ                 | अधीतः क्रन्द्            | क्रन्दितः चर्         | चरितः दंश्         | दष्टः             |
| अर्च् अर्चितः         | क्रम् क्रान्तः           | चल् चलितः             | दण्ड् दण्डितः      |                   |
| अस् (२ प.)            | भूतः क्री                | क्रीतः चि             | चितः दम्           | दान्तः            |
| आप् आप्तः             | क्रीड् क्रीडितः          | चिन्त् चिन्तितः       | दय् दयितः          |                   |
| आ+रभ्                 | आरब्धः क्रुध             | क्रुद्धः चुर्         | चोरितः दह्         | दग्धः             |
| आलम्ब्                | आलम्बितः क्षि            | क्षीणः चेष्ट्         | चेष्टितः दा        | दत्तः             |
| आ-ह्वे                | आहूतः क्षिप्             | क्षिप्तः छिद्         | छिन्नः दिव्        | द्यूनः, द्यूतः    |
| इ इतः                 | क्षुभ् क्षुब्धः          | जन् जातः              | दिश् दिष्टः        |                   |
| इष् इष्टः             | खन् खातः                 | जि जितः               | दीप् दीप्तः        |                   |
| ईक्ष् ईक्षितः         | खाद् खादितः              | जीव् जीवितः           | दुह् दुग्धः        |                   |
| उत्+डी                | उड्डीनः गण               | गणितः जू              | जीर्णः दृश्        | दृष्टः            |
| कथ् कथितः             | गम् गतः ज्ञा             | ज्ञातः दो (दा)        | दितः कम्           |                   |
| कम् कान्तः            | गर्ज् गर्जितः            | ज्वल् ज्वलितः         | द्युत् द्योतितः    |                   |
| कम्प् कम्पितः         | गृ गीर्णः                | तन् ततः               | धा हितः            |                   |
| कुप् कुपितः           | गै (गा) गीतः             | तप् तप्तः             | धाव् धावितः        |                   |
| कूर्द कूर्दितः        | ग्रस् ग्रस्तः            | तुष् तुष्टः           | धृ धृतः            |                   |
| कृ कृतः               | ग्रह गृहीतः              | तृप् तृप्तः           | ध्मा ध्मातः        |                   |
| ध्वै ध्यातः           | भुज् भुक्तः              | लिख् लिखितः           | श्रु श्रुतः        |                   |
| ध्वस् ध्वस्तः         | भू भूतः                  | लिह लीढः              | शिल्प् शिल्पितः    |                   |
| नम् नतः               | भृ भृतः                  | लुभ् लुब्धः           | सद् सन्नः          |                   |
| नश् नष्टः             | भ्रम् भ्रान्तः           | वच् (ब्रू) उक्तः सन्  | सातः निन्द्        |                   |
| निन्द् निन्दितः       | मद् मत्तः                | वद् उदितः             | सह सोढः            |                   |
| नी नीतः               | मन् मतः                  | वन्द् वन्दितः         | साध् साधितः        |                   |

|            |          |         |              |            |          |           |            |
|------------|----------|---------|--------------|------------|----------|-----------|------------|
| नृत्       | नृतः     | मन्थ्   | मन्थितः      | वप्        | उप्तः    | सिच्      | सिक्तः     |
| पच्        | पक्वः    | मा      | मितः         | वस्        | उषितः    | सिध्      | सिद्धः     |
| पठ्        | पठितः    | मिल्    | मिलितः       | वह         | ऊढः      | सिव्      | स्यूतः     |
| पत्        | पतितः    | मुच्    | मुक्तः       | वा         | वातः     | सृज्      | सृष्टः     |
| पद्        | पन्नः    | मुद्    | मुदितः       | विकस्      | विकसितः  | सेव्      | सेवितः     |
| पलाय्      | पलायितः  | मुह     | मुग्धः, मूढः | विद् (२प.) | विदितः   | सो (सा)   | सितः       |
| पा (१प.)   | पीतः     | मूर्च्छ | मूर्च्छितः   | विद् (१०)  | वेदितः   | स्तु      | सितः       |
| पाल्       | पालितः   | मृज्    | मृष्टः       | विश्       | विष्टः   | स्था      | स्थितः     |
| पुष्       | पुष्टः   | यज्     | इष्टः        | वृत्       | वृत्तः   | स्ना      | स्नातः     |
| पूज्       | पूजितः   | यत्     | यतितः        | वृध्       | वृद्धः   | स्निह     | स्निग्धः   |
| पृ         | पूर्णः   | यम्     | यतः          | वे         | तः       | स्पृश्    | स्पृष्टः   |
| प्रच्छ्    | पृष्टः   | या      | यातः         | व्यथ्      | व्यथितः  | स्वप्     | सुप्तः     |
| प्रथ्      | प्रथितः  | याच्    | याचितः       | व्यध्      | विद्धः   | स्वाद्    | स्वादितः   |
| प्र+हि     | प्रहितः  | युज्    | युक्तः       | शक्        | शक्तः    | स्विद्    | स्विन्नः   |
| प्रेर्     | प्रेरितः | युध्    | युद्धः       | शङ्क्      | शङ्कितः  | हन्       | हतः        |
| बन्ध्      | बद्धः    | रक्ष    | रक्षितः      | शप्        | शप्तः    | हस्       | हसितः      |
| बुध्       | बुद्धः   | रच्     | रचितः        | शम्        | शान्तः   | हा (३ प.) | हीनः       |
| ब्रू (वच्) | उक्तः    | रज्     | रक्तः        | शास्       | शिष्टः   | हा (३ आ.) | हानः       |
| भक्षु      | भक्षितः  | रम्     | रतः          | शिक्ष      | शिक्षितः | हिंस्     | हिंसितः    |
| भज्        | भक्तः    | रुच्    | रुचितः       | शी         | शयितः    | हु        | हुतः       |
| भज्ज       | भग्नः    | रुद्    | रुदितः       | शुच्       | शुचितः   | ह         | हतः        |
| भण्        | भणितः    | रुध्    | रुद्धः       | शुभ्       | शोभितः   | हष्       | हृष्टः     |
| भाष्       | भाषितः   | रुह्    | रूढः         | शुष्       | शुष्कः   | हस्       | हसितः      |
| भिद्       | भिन्नः   | लभ्     | लब्धः        | शृ         | शीर्णः   | ही        | हीतः, हीणः |
| भी         | भीतः     | लष्     | लषितः        | श्रि       | श्रितः   | ह्वे      | हूतः       |

### ( ३ ) शतृ प्रत्यय

### ( देखो अभ्यास ३४ )

**सूचना** - परस्मैपदी धातुओं को लट् के स्थान पर शतृ होता है। शतृ का अत् शेष रहता है। पुलिङ्ग में पठत् के तुल्य, स्त्रीलिङ्ग में ई लगाकर नदी के तुल्य और नपुंसकलिङ्ग में जगत् के तुल्य रूप चलेंगे। यहाँ पर केवल पुलिङ्ग के रूप दिए हैं। रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ३४।

**धातुएँ अकारादिक्रम से दी गई हैं।**

|           |          |       |         |          |          |       |          |
|-----------|----------|-------|---------|----------|----------|-------|----------|
| अद्       | अदन्     | चल्   | चलन्    | पत्      | पतन्     | व्यध् | विध्यन्  |
| अर्च्     | अर्चन्   | चि    | चिन्वन् | पा (१प०) | पिबन्    | शक्   | शक्नुवन् |
| अस् (२प.) | सन्      | छिद्  | छिन्दन् | पाल्     | पालयन्   | शप्   | शपन्     |
| आप्       | आप्नुवन् | जप्   | जपन्    | पूज्     | पूजयन्   | शम्   | शाम्यन्  |
| आ+रुह्    | आरोहन्   | जि    | जयन्    | प्रच्छ   | पृच्छन्  | शुष्  | शुष्यन्  |
| आ+ह्वे    | आह्वयन्  | जीव्  | जीवन्   | प्रेर्   | प्रेरयन् | श्रि  | श्रयन्   |
| इ         | यन्      | ज्वल् | ज्वलन्  | बन्ध्    | बध्न्    | श्रु  | शृण्वन्  |
| इष्       | इच्छन्   | तप्   | तपन्    | भक्ष     | भक्षयन्  | सद्   | सीदन्    |
| कुप्      | कुप्यन्  | तुद्  | तुदन्   | भज्      | भजन्     | सिच्  | सिञ्चन्  |
| कृष्      | कर्षन्   | तुष्  | तुष्यन् | भिद्     | भिन्दन्  | सिव्  | सीव्यन्  |

|         |           |        |         |       |           |          |         |
|---------|-----------|--------|---------|-------|-----------|----------|---------|
| कृ      | किरन्     | तू     | तरन्    | भृ    | भरन्      | सृ       | सरन्    |
| क्रन्द् | क्रन्दन्  | त्यज्  | त्यजन्  | भू    | भवन्      | सृज्     | सृजन्   |
| क्रम्   | क्राम्यन् | दण्ड्  | दण्डयन् | भ्रम् | भ्रमन्    | सृप्     | सर्पन्  |
| क्रीड्  | क्रीडन्   | दह्    | दहन्    |       | भ्राम्यन् | स्तु     | स्तुवन् |
| क्रुध्  | क्रुध्यन् | दिक्   | दीव्यन् | मिल्  | मिलन्     | स्था     | तिष्ठन् |
| क्षम्   | क्षाम्यन् | दिश    | दिशन्   | रक्ष  | रक्षन्    | स्पृश्   | स्पृशन् |
| क्षिप्  | क्षिपन्   | दुह    | दुहन्   | रच्   | रचयन्     | स्मृ     | स्मरन्  |
| खन्     | खनन्      | दृश्   | पश्यन्  | रुद्  | रुदन्     | स्वप्    | स्वपन्  |
| खाद्    | खादन्     | धाव्   | धावन्   | लष्   | लषन्      | हन्      | घनन्    |
| गण      | गणयन्     | धृ     | धरन्    | लिख   | लिखन्     | हस्      | हसन्    |
| गम्     | गच्छन्    | ध्यै   | ध्यायन् | लिह्  | लिहन्     | हा (३प.) | जहत्    |
| गर्ज    | गर्जन्    | नम्    | नमन्    | वद्   | वदन्      | हिंस्    | हिंसन्  |
| गृ      | गिरन्     | नश्    | नश्यन्  | वस्   | वसन्      | हु       | जुह्वन् |
| गै      | गायन्     | निन्द् | निन्दन् | वह    | वहन्      | ह        | हरन्    |
| घ्रा    | जिघ्रन्   | नृत्   | नृत्यन् | विश्  | विशन्     | हृष्     | हृष्यन् |
| चर्     | चरन्      | पठ्    | पठन्    | वृष्  | वर्षन्    | ह्वे     | ह्वयन्  |

## ( ४ ) शानच् प्रत्यय

( देखो अभ्यास ३५ )

**सूचना-** आत्मनेपदी धातुओं के लट् के स्थान पर शानच् होता है। उभयपदी धातुओं के लट् के स्थान पर शतृ और शानच् दोनों होते हैं। शानच् का आन शेष रहता है। शानच्-प्रत्ययान्त के रूप पुं० में रामवत्, स्त्री० में आ लगाकर रमावत् और नपुं० में गृहवत् चलेंगे। यहाँ पर पुल्लिङ्ग के ही रूप दिए गए हैं। धातुएँ अकारादि-क्रम से दी गई हैं।

### आत्मनेपदी धातुएँ

### उभयपदी धातुएँ

|                  |              |            |          |           |            |          |          |
|------------------|--------------|------------|----------|-----------|------------|----------|----------|
| अधि+इ            | अधीयानः मन्  |            | मन्यमानः | कथ्       | कथयन्      | कथयमानः  |          |
| आ+रभ्            | आरभमाणः मुद् |            | मोदमानः  | कृ        | कुर्वन्    | कुर्वाणः |          |
| आ+लम्ब्          | आलम्बमानः    |            | मृ       | प्रियमाणः | क्री       | क्रीणन्  | क्रीणानः |
| आस् आसीनः        | यत्          | यतमानः     | ग्रह     | गृहणन्    | गृहणानः    |          |          |
| ईक्ष् ईक्षमाणः   | याच्         | याचमानः    | चि       | चिन्वन्   | चिन्वानः   |          |          |
| ईह् ईहमानः       | युध्         | युध्यमानः  | चिन्त्   | चिन्तयन्  | चिन्तयमानः |          |          |
| उद्+डी           | उड्डयमानः    |            | रुच्     | रोचमानः   | चुर्       | चोरयन्   | चोरयमाणः |
| कम्प् कम्पमानः   | लभ्          | लभमानः     | ज्ञा     | जानन्     | जानानः     |          |          |
| कूर्द् कूर्दमानः | वन्द्        | वन्दमानः   | तन्      | तन्वन्    | तन्वानः    |          |          |
| गाह् गाहमानः     | वि+राज्      | विराजमानः  | दा       | ददत्      | ददानः      |          |          |
| ग्रस् ग्रसमानः   | वृत्         | वर्तमानः   | धा       | दधत्      | दधानः      |          |          |
| चेष्ट् चेष्टमानः | वृध्         | वर्धमानः   | नी       | नयन्      | नयमानः     |          |          |
| जन् जायमानः      | व्यथ्        | व्यथमानः   | पच्      | पचन्      | पचमानः     |          |          |
| त्रै त्रायमाणः   | शङ्क्        | शङ्कमानः   | ब्रू     | ब्रुवन्   | ब्रुवाणः   |          |          |
| त्वर त्वरमाणः    | शिक्ष्       | शिक्षमाणः  | भुज्     | भुज्जन्   | भुज्जानः   |          |          |
| दय् दयमानः       | शी           | शयानः      | मुच्     | मुञ्चन्   | मुञ्चमानः  |          |          |
| द्युत् द्योतमानः | शुच्         | शोचमानः    | यज्      | यजन्      | यजमानः     |          |          |
| ध्वंस् ध्वंसमानः | शुभ्         | शोभमानः    | युज्     | युज्जन्   | युज्जानः   |          |          |
| पलाय् पलायमानः   | श्लाघ्       | श्लाघमानः  | रुध्     | रुन्धन्   | रुन्धानः   |          |          |
| प्रथ् प्रथमानः   | सं+पद्       | संपद्यमानः | वह्      | वहन्      | वहमानः     |          |          |
| बाध् बाधमानः     | सह्          | सहमानः     | श्रि     | श्रयन्    | श्रयमाणः   |          |          |
| भास् भासमानः     | सेव्         | सेवमानः    | सु       | सुन्वन्   | सुन्वानः   |          |          |
| भिक्ष् भिक्षमाणः | स्मि         | स्मयमानः   | ह        | हरन्      | हरमाणः     |          |          |

## ( ५ ) तुमुन्, ( ६ ) तव्यत्, ( ७ ) तृच् प्रत्यय

( देखो अभ्यास ३६, ३९, ४२ )

**सूचना-** (घ) तुमुन् प्रत्यय 'को', 'के लिए' अर्थ में होता है। तुमुन् का तुम् शेष रहता है। तुमुन्-प्रत्ययान्त अव्यय होता है, अतः रूप नहीं चलते। धातु को गुण होता है। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ३६ । (ख) तव्यत् प्रत्यय लगाकर रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि तुमुन्-प्रत्यय वाले रूप में तुमुन् के स्थान पर तव्यत् लगा दो। तव्यत् प्रत्यय 'चाहिए' अर्थ में होता है। तव्यत् का तव्य शेष रहता है। पुं० में तव्य-प्रत्ययान्त के रूप रामवत्, स्त्री० में आ लगाकर रमावत्, नपुं० में गृहवत् चलेंगे। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ३९। (ग) तृच् प्रत्यय कर्ता या वाला अर्थ में होता है। तृच् का तृ शेष रहता है। तृच् प्रत्यय लगाकर रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि तुम्, प्रत्यय वाले रूप में तुम् के स्थान पर तृ लगा दो। तृच्-प्रत्ययान्त के रूप पुं० में कर्तृ के तुल्य, स्त्री० में ई लगाकर नदी के तुल्य और नपुं० में कर्तृ के तुल्य चलेंगे। तृच् प्रत्यय के विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ४२। उदाहरणार्थ-तुम्, तव्य, तृ लगाकर इन धातुओं के ये रूप होंगे। कृ-कर्तुम्, कर्तव्य, कर्तृ। ह-हर्तुम्, हर्तव्य, हर्तृ। लिखु-लेखितुम्, लेखितव्य, लेखितृ।

धातुएँ अकारादिक्रम से दी गयी है।

|                   |                          |                       |                        |                    |                    |
|-------------------|--------------------------|-----------------------|------------------------|--------------------|--------------------|
| अद् अत्तुम्       | ईक्ष् ईक्षितुम्          | क्री क्रीत्तुम्       | क्रेत्तुम्             | ग्रस्              | ग्रसितुम्          |
| अधि+इ             | अध्येत्तुम् कथ् कथयितुम् | क्रीड् क्रीडितुम्     | क्रीड् क्रीडितुम्      | ग्रह ग्रहीत्तुम्   | ग्रह ग्रहीत्तुम्   |
| अर्च अर्चितुम्    | कम् कमितुम्              | क्रुध् क्रुधितुम्     | क्रोद्धम् क्रोद्धितुम् | घ्रा घ्रात्तुम्    | घ्रात्तुम्         |
| अस् (२प.)         | भवितुम् कम्प कम्पितुम्   | क्षिप् क्षिप्तुम्     | क्षम् क्षमितुम्        | चल् चलितुम्        | चल् चरितुम्        |
| आप् आप्तुम्       | कुप् कोपितुम्            | कूर्द कूर्दितुम्      | खन् खनितुम्            | चि चेतुम्          | चि चेतुम्          |
| आ+रभ्             | आरब्धुम् कृ कृत्तुम्     | कर्तुम् कर्तुम्       | खाद् खादितुम्          | चिन्त चिन्तयितुम्  | चिन्त चिन्तयितुम्  |
| आ+रुह             | आरोढुम् कृप् कृपितुम्    | कल्पितुम् कल्पितुम्   | गण् गणयितुम्           | चुर् चोरयितुम्     | चुर् चोरयितुम्     |
| आ-लप्             | आलपितुम् कृष् कृष्टुम्   | गम् गन्तुम्           | चेष्ट् चेष्टितुम्      | जन् जनितुम्        | जन् जनितुम्        |
| आस् आसितुम्       | कृ कृत्तुम्              | गर्ज् गर्जितुम्       | छिद् छितुम्            | जप जपितुम्         | जपितुम्            |
| आ+ह् आह्वितुम्    | क्रन्द् क्रन्दितुम्      | गृ गृत्तुम्           | जन् जन्तुम्            | शप् शप्तुम्        | शप् शप्तुम्        |
| इ एत्तुम्         | क्रम् क्रमितुम्          | गै गैत्तुम्           | जप जपितुम्             | शम् शमितुम्        | शम् शमितुम्        |
| इष् एषितुम्       | पद् पत्तुम्              | याच् याचितुम्         | शप् शप्तुम्            | शिक्ष शिक्षितुम्   | शिक्ष शिक्षितुम्   |
| जि जेतुम्         | पलाय पलायितुम्           | युज् युजितुम्         | शम् शमितुम्            | शी शीत्तुम्        | शी शीत्तुम्        |
| जीव जीवितुम्      | पा (१, २) पातुम्         | युध् युधितुम्         | शिक्ष शिक्षितुम्       | शुच् शुचितुम्      | शुच् शुचितुम्      |
| ज्ञा ज्ञातुम्     | पाल् पालयितुम्           | रक्ष रक्षितुम्        | शी शीत्तुम्            | शुभ् शुभितुम्      | शुभ् शुभितुम्      |
| ज्वल् ज्वलितुम्   | पुष् पोषितुम्            | रच् रचितुम्           | शुच् शुचितुम्          | श्रि श्रितुम्      | श्रि श्रितुम्      |
| डी डयितुम्        | पूज् पूजयितुम्           | रम् रन्तुम्           | शुभ् शुभितुम्          | श्रोत् श्रोत्तुम्  | श्रोत् श्रोत्तुम्  |
| तप् तप्तुम्       | प्रच्छ प्रच्छितुम्       | राज् राजितुम्         | श्रि श्रितुम्          | श्लेष् श्लेष्टुम्  | श्लेष् श्लेष्टुम्  |
| तृप् तृप्तिम्     | प्रेर् प्रेरितुम्        | रुच् रुचितुम्         | श्रु श्रुत्तुम्        | सह सहितुम्         | सह सहितुम्         |
| तृ तरितुम्        | बन्ध् बन्धितुम्          | रुद् रुदितुम्         | शिल् शिल्पितुम्        | सिच् सिचितुम्      | सिच् सिचितुम्      |
| त्यज् त्यक्तुम्   | बाध् बाधितुम्            | रुध् रुधितुम्         | सह सहितुम्             | सिध् सिधितुम्      | सिध् सिधितुम्      |
| त्रै त्रातुम्     | बुध् बुधितुम्            | लभ् लभितुम्           | सिच् सिचितुम्          | सिध् सिधितुम्      | सिध् सिधितुम्      |
| दंश् दंष्टुम्     | ब्रू(वच्) वक्तुम्        | लम्ब लम्बितुम्        | सिध् सिधितुम्          | सु सुत्तुम्        | सु सुत्तुम्        |
| दह दग्धुम्        | भक्ष भक्षयितुम्          | लष् लषितुम्           | सिध् सिधितुम्          | सृ सृत्तुम्        | सृ सृत्तुम्        |
| दा दातुम्         | भज् भजितुम्              | लिख लिखितुम्          | सिध् सिधितुम्          | सृप् सृप्तिम्      | सृप् सृप्तिम्      |
| दिश् देष्टुम्     | भाष् भाषितुम्            | लिह लिहितुम्          | सु सुत्तुम्            | सेव सेवितुम्       | सेव सेवितुम्       |
| दीक्ष दीक्षितुम्  | भिद् भित्तुम्            | वच् वक्तुम्           | सृ सृत्तुम्            | स्तु स्तोतुम्      | स्तु स्तोतुम्      |
| दुह दोग्धुम्      | भुज् भुजितुम्            | वद् वदितुम्           | सृप् सृप्तिम्          | स्था स्थातुम्      | स्था स्थातुम्      |
| द्रुह द्रोग्धुम्  | भू भूत्तुम्              | वन्द् वन्दितुम्       | सृप् सृप्तिम्          | स्ना स्नातुम्      | स्ना स्नातुम्      |
| धा धातुम्         | भृ भृत्तुम्              | वप् वप्तुम्           | सृप् सृप्तिम्          | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| धाव् धावितुम्     | भ्रम् भ्रमितुम्          | वस् वस्तुम्           | सृप् सृप्तिम्          | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| धृ धर्तुम्        | मन् मन्तुम्              | वह वहितुम्            | सृप् सृप्तिम्          | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| ध्यै ध्यातुम्     | मा मातुम्                | विद् (४,६,७) वेत्तुम् | सृप् सृप्तिम्          | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| ध्वंस् ध्वंसितुम् | मिल् मेलितुम्            | विश् विशितुम्         | सृप् सृप्तिम्          | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| नम् नन्तुम्       | मुच् मुक्तुम्            | वृ (१०) वृत्तुम्      | हन् हन्तुम्            | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| नश् नंष्टुम्      | मुद् मुदितुम्            | वृध् वृधितुम्         | हस् हसितुम्            | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| निन्द् निन्दितुम् | मृ मृत्तुम्              | वृष् वृषितुम्         | हा हातुम्              | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| नी नेतुम्         | यज् यजितुम्              | वे वेत्तुम्           | हिंस् हिंसितुम्        | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| नृत् नर्तितुम्    | यत् यत्तुम्              | शक् शक्तुम्           | हु हुत्तुम्            | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| पच् पक्तुम्       | यम् यन्तुम्              | शक् शक्तुम्           | ह हत्तुम्              | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| पठ् पठितुम्       | या यातुम्                | शक् शक्तुम्           | ह हत्तुम्              | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |
| पत् पतितुम्       |                          | शक् शक्तुम्           | ह हत्तुम्              | स्पर्ध स्पर्धितुम् | स्पर्ध स्पर्धितुम् |

## (८) क्त्वा, (९) ल्यप् प्रत्यय

## (देखो अभ्यास ३७, ३८)

**सूचना-** 'कर' या करके अर्थ में क्त्वा और ल्यप् होते हैं। क्त्वा का त्वा और ल्यप् का य शेष रहता है। धातु से पहले उपसर्ग नहीं होगा तो क्त्वा होगा। यदि उपसर्ग पहले होगा तो ल्यप् होगा। दोनों प्रत्ययान्त शब्द अव्यय होते हैं, अतः इनके रूप नहीं चलते। दोनों प्रत्यय लगाकर रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ३७ और ३८। जिन उपसर्गों के साथ ल्यप् वाला रूप अधिक प्रचलित है, वही यहाँ दिए गए हैं। **धातुएँ अकारादिक्रम से दी गयी हैं।**

|                    |             |            |            |             |            |
|--------------------|-------------|------------|------------|-------------|------------|
| अद्                | जग्ध्वा     | प्रजग्ध्य  | क्षम्      | क्षमित्वा   | संक्षम्य   |
| अधि+इ              | -           | अधीत्य     | क्षिप्     | क्षिप्त्वा  | प्रक्षिप्य |
| अर्च्              | अर्चित्वा   | समर्थ्य    | क्षुब्     | क्षुभित्वा  | प्रक्षुभ्य |
| अस् (२ प०) भूत्वा  |             | सम्भूय     | खन्        | खनित्वा     | उत्खाय     |
| अस् (४ प०) असित्वा |             | प्रास्य    |            | खात्वा      |            |
| आ+ट्-              | -           | आदृत्य     | गण्        | गणयित्वा    | विगणय्य    |
| आप्                | आप्तत्वा    | प्राप्य    | गम्        | गत्वा       | आगम्य      |
| आस्                | आसित्वा     | उपास्य     | -          | -           | आगत्य      |
| इ                  | इत्वा       | प्रेत्य    | गृ         | गीर्त्वा    | उद्गीर्य   |
| इष्                | इष्ट्वा     | समिष्य     | गै         | गीत्वा      | प्रगाय     |
| ईक्ष               | ईक्षित्वा   | समीक्ष्य   | ग्रस्      | ग्रसित्वा   | संग्रस्य   |
| उत्+डी             | -           | उड्डीय     | ग्रह्      | गृहीत्वा    | संगृह्य    |
| कम्                | कमित्वा     | संक्राम्य  | घ्रा       | घ्रात्वा    | आघ्राय     |
| कूर्द्             | कूर्दित्वा  | प्रकूर्द्य | चर्        | चरित्वा     | आचर्य      |
| कृ                 | कृत्वा      | उपकृत्य    | चल्        | चलित्वा     | प्रचल्य    |
| कृष्               | कृष्ट्वा    | आकृष्य     | चि         | चित्वा      | संचित्य    |
| कृ                 | कीर्त्वा    | विकीर्य    | चिन्त्     | चिन्तयित्वा | संचिन्त्य  |
| क्रन्द्            | क्रन्दित्वा | आक्रन्द्य  | चुर्       | चोरयित्वा   | संचोर्य    |
| क्रम्              | क्रमित्वा   | संक्रम्य   | छिद्       | छित्वा      | उच्छिद्य   |
| -                  | क्रान्त्वा  | -          | जन्        | जनित्वा     | संजाय      |
| क्री               | क्रीत्वा    | विक्रीय    | जप्        | जपित्वा     | संजप्य     |
| क्रीड्             | क्रीडित्वा  | प्रक्रीड्य | जि         | जित्वा      | विजित्य    |
| क्रुध्             | क्रुध्वा    | संक्रुध्य  | जीव्       | जीवित्वा    | संजीव्य    |
| ज्ञा               | ज्ञात्वा    | विज्ञाय    | पलाय्      | -           | पलाय्य     |
| ज्वल्              | ज्वलित्वा   | प्रज्वल्य  | पा (१.)    | पीत्वा      | निपाय      |
| तन्                | तनित्वा     | वितत्य     | पाल्       | पालयित्वा   | संपाल्य    |
| तप्                | तप्त्वा     | संतप्य     | पुष्       | पुष्ट्वा    | संपुष्य    |
| तुष्               | तुष्ट्वा    | संतुष्य    | पूज्       | पूजयित्वा   | संपूज्य    |
| तृ                 | तीर्त्वा    | उत्तीर्य   | पृ         | पूर्त्वा    | आपूर्य     |
| त्यज्              | त्यक्त्वा   | परित्यज्य  | प्रच्छ्    | पृष्ट्वा    | संपृच्छ्य  |
| दंश्               | दष्ट्वा     | संदश्य     | बन्ध्      | बद्ध्वा     | आबध्य      |
| दह्                | दग्ध्वा     | संदह्य     | बुध्       | बुद्ध्वा    | प्रबुध्य   |
| दा                 | दत्त्वा     | आदाय       | ब्रू (वच्) | उक्त्वा     | प्रोच्य    |
| दिव्               | देवित्वा    | संदीव्य    | भक्ष्      | भक्षयित्वा  | संभक्ष्य   |
| दिश्               | दिष्ट्वा    | उपदिश्य    | भज्        | भक्त्वा     | विभज्य     |
| दीप्               | दीपित्वा    | संदीप्य    | भञ्ज्      | भङ्क्त्वा   | विभज्य     |
| दुह्               | दुग्ध्वा    | संदुह्य    | भाष्       | भाषित्वा    | संभाष्य    |



|             |            |           |        |            |            |
|-------------|------------|-----------|--------|------------|------------|
| दृश्        | दृष्ट्वा   | संदृश्य   | भिद्   | भित्वा     | प्रभिद्य   |
| द्युत्      | द्योतित्वा | विद्युत्य | भी     | भीत्वा     | संभीय      |
| धा          | हित्वा     | विधाय     | भुज्   | भुक्त्वा   | उपभुज्य    |
| धाव्        | धावित्वा   | प्रधाव्य  | भू     | भूत्वा     | संभूय      |
| धृ          | धृत्वा     | आधृत्य    | भृ     | भृत्वा     | संभृत्य    |
| ध्मा        | ध्मात्वा   | आध्माय    | भ्रंश् | भ्रष्ट्वा  | प्रभ्रश्य  |
| ध्यै        | ध्यात्वा   | संध्याय   | भ्रम्  | भ्रमित्वा  | संभ्रम्य   |
| नम्         | नत्वा      | प्रणम्य   | -      | भ्रान्त्वा | -          |
| नश्         | नष्ट्वा    | विनश्य    | मथ्    | मथित्वा    | विमथ्य     |
| नि+वृ       | -          | निवृत्य   | मन्    | मत्वा      | अनुमत्य    |
| नी          | नीत्वा     | आनीय      | मा     | मित्वा     | प्रमाय     |
| नुद्        | नुत्वा     | प्रणुद्य  | मिल्   | मिलित्वा   | संमिल्य    |
| नृत्        | नर्तित्वा  | प्रनृत्य  | मुच्   | मुक्त्वा   | विमुच्य    |
| पच्         | पक्त्वा    | संपच्य    | मुह्   | मुग्ध्वा   | संमुह्य    |
| पठ्         | पठित्वा    | संपठ्य    | यज्    | इष्ट्वा    | समिज्य     |
| पत्         | पतित्वा    | निपत्य    | यम्    | यत्वा      | संयम्य     |
| पद्         | पत्वा      | संपद्य    | या     | यात्वा     | प्रयाय     |
| याच्        | याचित्वा   | अनुयाच्य  | शम्    | शान्त्वा   | निशम्य     |
| युज्        | युक्त्वा   | प्रयुज्य  | शास्   | शिष्ट्वा   | अनुशिष्य   |
| युध्        | युद्ध्वा   | प्रयुध्य  | शी     | शयित्वा    | संशय्य     |
| रक्ष्       | रक्षित्वा  | संरक्ष्य  | शुष्   | शुष्ट्वा   | परिशुष्य   |
| रच्         | रचयित्वा   | विरचय्य   | श्रि   | श्रित्वा   | आश्रित्य   |
| रभ्         | रब्ध्वा    | आरभ्य     | श्रु   | श्रुत्वा   | संश्रुत्य  |
| रम्         | रत्वा      | विरम्य    | श्लिष् | श्लिष्ट्वा | आश्लिष्य   |
| रुद्        | रुदित्वा   | विरुद्य   | श्वस्  | श्वसित्वा  | विश्वस्य   |
| रुध्        | रुद्ध्वा   | विरुध्य   | सद्    | सत्त्वा    | निषद्य     |
| रुह्        | रूढ्वा     | आरुह्य    | सह्    | सोढ्वा     | संसह्य     |
| लप्         | लपित्वा    | विलप्य    | साध्   | साद्ध्वा   | प्रसाध्य   |
| लभ्         | लब्ध्वा    | उपलभ्य    | सिच्   | सिक्त्वा   | अभिषिच्य   |
| लम्ब्       | लम्बित्वा  | आलम्ब्य   | सिध्   | सिद्ध्वा   | निषिध्य    |
| लष्         | लषित्वा    | अभिलष्य   | सिव्   | सेवित्वा   | संसीव्य    |
| लिख्        | लिखित्वा   | आलिख्य    | सृज्   | सृष्ट्वा   | विसृज्य    |
| लिह्        | लीढ्वा     | आलिह्य    | सेव्   | सेवित्वा   | निषेव्य    |
| ली          | लीत्वा     | निलीय     | सो     | सित्वा     | अवसाय      |
| लुभ्        | लुब्ध्वा   | प्रलुभ्य  | स्तु   | स्तुत्वा   | प्रस्तुत्य |
| वद्         | उदित्वा    | अनूद्य    | स्था   | स्थित्वा   | प्रस्थाय   |
| वन्द्       | वन्दित्वा  | अभिवन्द्य | स्ना   | स्नात्वा   | प्रस्नाय   |
| वप्         | उप्त्वा    | समुप्य    | स्निह् | स्निग्ध्वा | उपस्निह्य  |
| वस्         | उषित्वा    | उपोष्य    | स्पृश् | स्पृष्ट्वा | संस्पृश्य  |
| वह्         | ऊढ्वा      | प्रोह्य   | स्मृ   | स्मृत्वा   | विस्मृत्य  |
| विद् (२ प०) | विदित्वा   | संविद्य   | स्वप्  | सुप्त्वा   | संषुप्य    |
| विद् (१०)   | वेदयित्वा  | निवेद्य   | हन्    | हत्वा      | निहत्य     |

|       |           |          |     |         |          |
|-------|-----------|----------|-----|---------|----------|
| विश्  | विष्ट्वा  | प्रविश्य | हस् | हसित्वा | विहस्य   |
| वृत्  | वर्तित्वा | निवृत्य  | हा  | हित्वा  | विहाय    |
| वृध्  | वर्धित्वा | संवृध्य  | हु  | हुत्वा  | आहुत्य   |
| वृष्  | वर्षित्वा | प्रवृष्य | ह   | हत्वा   | प्रहृत्य |
| व्यध् | विद्ध्वा  | आविध्य   | हष् | हषित्वा | प्रहृष्य |
| शप्   | शप्त्वा   | अभिशाप्य | हवे | हूत्वा  | आहूय     |

## ( १० ) ल्युट्, ( ११ ) अनीयर् प्रत्यय

( देखो अभ्यास ३९, ४३ )

**सूचना** - (घ) ल्युट् प्रत्यय भाववाचक शब्द बनाने के लिए धातु से लगता है। ल्युट् का 'अन' शेष रहता है। धातु को गुण होता है। ल्युट् प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होता है। अन्य नियमों के लिए देखो अभ्यास ४३। (ख) 'चाहिए' अर्थ में अनीयर् प्रत्यय होता है। अनीयर् का 'अनीय' शेष रहता है। अनीयर् प्रत्ययवाला रूप बनाने का सरल उपाय यह है कि ल्युट् के अन के स्थान पर अनीय लगा दो। अन्य नियमों के लिए देखो अभ्यास ३९। जैसे-कृ का करण, करणीय। दा-दान, दानीय। पठ्-पठन, पठनीय। धातुएँ अकारादि क्रम से दी गई हैं-

|                   |          |           |           |          |          |          |         |  |
|-------------------|----------|-----------|-----------|----------|----------|----------|---------|--|
| अद्               | अदनम्    | कूर्द     | कूर्दनम्  | ग्रस्    | ग्रसनम्  | त्रै     | त्राणम् |  |
| अधि+इ अध्ययनम्    | कृ       | करणम्     |           | ग्रह     | ग्रहणम्  | दंश्     | दंशनम्  |  |
| अन्विष् अन्वेषणम् | कृप्     | कल्पनम्   |           | घ्रा     | घ्राणम्  | दण्ड्    | दण्डनम् |  |
| अर्च् अर्चनम्     | कृष्     | कर्षणम्   |           | चर्      | चरणम्    | दम्      | दमनम्   |  |
| अर्ज् अर्जनम्     | कू       | करणम्     |           | चल्      | चलनम्    | दह्      | दहनम्   |  |
| अस् (२)           | भवनम्    | क्रन्द्   | क्रन्दनम् | चि       | चयनम्    | दा       | दानम्   |  |
| अस् (४)           | असनम्    | क्रम्     | क्रमणम्   | चिन्त्   | चिन्तनम् | दिव्     | देवनम्  |  |
| आ+क्रम्           | आक्रमणम् | क्री      | क्रयणम्   | चुर्     | चोरणम्   | दिश्     | देशनम्  |  |
| आ+चर् आचरणम्      | क्रीड्   | क्रीडनम्  | चेष्ट्    | चेष्टनम् | दीप्     | दीपनम्   |         |  |
| आर-रभ्            | आरभणम्   | क्रुध्    | क्रोधनम्  | छिद्     | छेदनम्   | दुह्     | दोहनम्  |  |
| आ+रुह् आरोहणम्    | क्लिश्   | क्लेशनम्  | जन्       | जननम्    | दृश्     | दर्शनम्  |         |  |
| आ+लप् आलपनम्      | क्षम्    | क्षमणम्   | जप्       | जपनम्    | द्युत्   | द्योतनम् |         |  |
| आस् आसनम्         | क्षिप्   | क्षेपणम्  | जि        | जयनम्    | द्रुह्   | द्रोहणम् |         |  |
| आ+ह्वे आह्वानम्   | खन्      | खननम्     | जीव्      | जीवनम्   | धा       | धानम्    |         |  |
| इ अयनम्           | खाद्     | खादनम्    | ज्ञा      | ज्ञानम्  | धाव्     | धावनम्   |         |  |
| इष् एषणम्         | गण्      | गणनम्     | ज्वल्     | ज्वलनम्  | धृ       | धरणम्    |         |  |
| ईक्ष् ईक्षणम्     | गम्      | गमनम्     | डी        | डयनम्    | ध्यै     | ध्यानम्  |         |  |
| उद्+डी उड्डयनम्   | गर्ज्    | गर्जनम्   | तप्       | तपनम्    | ध्वंस्   | ध्वंसनम् |         |  |
| कथ् कथनम्         | गाह्     | गाहनम्    | तुष्      | तोषणम्   | नन्द     | नन्दनम्  |         |  |
| कम् कमनम्         | गृ       | गरणम्     | तृप्      | तर्पणम्  | नम्      | नमनम्    |         |  |
| कम्प् कम्पनम्     | गै (गा)  | गानम्     | तृ        | तरणम्    | नश्      | नशनम्    |         |  |
| कुप् कोपनम्       | ग्रन्थ्  | ग्रन्थनम् | त्यज्     | त्यजनम्  | नि+गृ    | निगरणम्  |         |  |
| निन्द् निन्दनम्   | भुज्     | भोजनम्    | लभ्       | लभनम्    | शम्      | शमनम्    |         |  |
| नि+यम् नियमनम्    | भू       | भवनम्     | लम्ब्     | लम्बनम्  | शास्     | शासनम्   |         |  |
| नि+वस् निवसनम्    | भृ       | भरणम्     | लष्       | लषणम्    | शिक्ष    | शिक्षणम् |         |  |
| नि+विद् निवेदनम्  | भ्रंश्   | भ्रंशनम्  | लस्       | लसनम्    | शी       | शयनम्    |         |  |
| नि+सिध् निषेधनम्  | भ्रम्    | भ्रमणम्   | लिख्      | लेखनम्   | शुभ्     | शोभनम्   |         |  |

|           |           |       |         |          |           |          |             |
|-----------|-----------|-------|---------|----------|-----------|----------|-------------|
| नी        | नयनम्     | मद्   | मदनम्   | लिह      | लेहनम्    | शुष्     | शोषणम्      |
| नृत्      | नर्तनम्   | मन्   | मननम्   | ली       | लयनम्     | श्रि     | श्रयणम्     |
| पच्       | पचनम्     | मन्थ् | मन्थनम् | लुट्     | लोटनम्    | श्रु     | श्रवणम्     |
| पट्       | पठनम्     | मा    | मानम्   | लुप्     | लोपनम्    | सं+मिल्  | संमेलनम्    |
| पत्       | पतनम्     | मिल्  | मेलनम्  | लुभ्     | लोभनम्    | सद्      | सदनम्       |
| पलाय्     | पलायनम्   | मुच्  | मोचनम्  | लोक्     | लोकनम्    | सह       | सहनम्       |
| पा (१ प०) | पानम्     | मुद्  | मोदनम्  | लोच्     | लोचनम्    | लोचनम्   | साध् साधनम् |
| पाल्      | पालनम्    | मुष्  | मोषणम्  | वच्      | वचनम्     | सिच्     | सेचनम्      |
| पुष्      | पोषणम्    | मुह्  | मोहनम्  | वञ्च     | वञ्चनम्   | सिव्     | सेवनम्      |
| पूज्      | पूजनम्    | मृ    | मरणम्   | वद्      | वदनम्     | सु       | सवनम्       |
| प्र+काश्  | प्रकाशनम् | यज्   | यजनम्   | वन्द्    | वन्दनम्   | सृ       | सरणम्       |
| प्रच्छ्   | प्रच्छनम् | यत्   | यतनम्   | वप्      | वपनम्     | सृज्     | सर्जनम्     |
| प्र+आप्   | प्रापणम्  | यम्   | यमनम्   | वर्ण     | वर्णनम्   | सृप्     | सर्पणम्     |
| प्र+विश्  | प्रवेशनम् | या    | यानम्   | वह       | वहनम्     | सेव्     | सेवनम्      |
| प्र+हस्   | प्रहसनम्  | याच्  | याचनम्  | विकस्    | विकसनम्   | स्तु     | स्तवनम्     |
| प्रेर्    | प्रेरणम्  | युज्  | योजनम्  | विद्     | वेदनम्    | स्था     | स्थानम्     |
| प्रेष्    | प्रेषणम्  | युध्  | योधनम्  | वि+धा    | विधानम्   | स्ना     | स्नानम्     |
| बन्ध्     | बन्धनम्   | रक्ष  | रक्षणम् | वि+नश्   | विनशनम्   | स्निह्   | स्नेहनम्    |
| बाध्      | बाधनम्    | रच्   | रचनम्   | वि+लप्   | विलपनम्   | स्पृश्   | स्पर्शनम्   |
| बुध्      | बोधनम्    | रज्   | रज्जनम् | वि+श्वस् | विश्वसनम् | स्मृ     | स्मरणम्     |
| ब्रू      | वचनम्     | रम्   | रमणम्   | वृ       | वरणम्     | स्त्रंस् | स्त्रंसनम्  |
| भक्ष्     | भक्षणम्   | राज्  | राजनम्  | वृत्     | वर्तनम्   | स्वप्    | स्वपनम्     |
| भज्       | भजनम्     | रुच्  | रोचनम्  | वृध्     | वर्धनम्   | हन्      | हननम्       |
| भज्ज्     | भज्जनम्   | रुद्  | रोदनम्  | वृष्     | वर्षणम्   | हु       | हवनम्       |
| भाष्      | भाषणम्    | रुध्  | रोधनम्  | वेप्     | वेपनम्    | ह        | हरणम्       |
| भिद्      | भेदनम्    | लप्   | लपनम्   | शप्      | शपनम्     | हष्      | हर्षणम्     |

## ( १२ ) घञ् प्रत्यय

( देखो अभ्यास ४१ )

**सूचना-** भाव अर्थ में घञ् प्रत्यय होता है। घञ् का 'अ' शेष रहता है। घञन्त शब्द पुल्लिङ्ग होता है। घञ् प्रत्यय लगाकर रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ४१। घञ् प्रत्ययान्त शब्द उपसर्गों के साथ बहुत प्रचलित हैं। स्वयं उपसर्ग लगाकर अन्य रूप बनावें।

**धातुएँ अकारादि-क्रम से दी गई हैं।**

|                 |          |          |          |           |         |          |          |
|-----------------|----------|----------|----------|-----------|---------|----------|----------|
| अधि+इ           | अध्यायः  | चर्      | चारः     | प्र+भू    | प्रभावः | वि+लप्   | विलापः   |
| अभि+लष्         | अभिलाषः  | चल्      | चालः     | प्र+विश्  | प्रवेशः | वि+वह्   | विवाहः   |
| अव+तृ           | अवतारः   | चि       | कायः     | प्र+सद्   | प्रसादः | वि+श्रम् | विश्रामः |
| अव+लिह्         | अवलेहः   | चुर्     | चोरः     | प्र+सृ    | प्रसारः | वि+श्वस् | विश्वासः |
| अस् (२ प०) भावः | छिद्     | छेदः     | प्र+स्तु | प्रस्तावः | वि+सृज् | विसर्गः  |          |
| आ+क्षिप्        | आक्षेपः  | जप्      | जापः     | प्रह्     | प्रहारः | वृष्     | वर्षः    |
| आ+गम्           | आगमः     | तप्      | तापः     | बुध्      | बोधः    | शप्      | शापः     |
| आ+चर्           | आचारः    | यज्      | यागः     | भज्       | भागः    | शम्      | शमः      |
| आ+दृश्          | आदर्शः   | दह्      | दाहः     | भिद्      | भेदः    | शुच्     | शोकः     |
| आ+धृ आधारः      | दा       | दायः     | भुज्     | भोगः      | शुष्    | शोषः     |          |
| आ+मुद्          | आमोदः    | दिक्     | देवः     | मिल्      | मेलः    | श्रि     | श्रायः   |
| आ+रुह्          | आरोहः    | दुह्     | दोहः     | मुह्      | मोहः    | श्रु     | श्रावः   |
| आ+वृत्          | आवर्तः   | द्रुह्   | द्रोहः   | मृज्      | मार्गः  | श्लिष्   | श्लेषः   |
| आ+हन्           | आघातः    | धा       | धायः     | यज्       | यागः    | सं+कृ    | संस्कारः |
| उत्+पद्         | उत्पादः  | नश्      | नाशः     | युज्      | योगः    | सं+तन्   | सन्तानः  |
| उत्+सह्         | उत्साहः  | नि+इ     | न्यायः   | युध्      | योधः    | सं+तुष्  | सन्तोषः  |
| उप+दिश्         | उपदेशः   | नि+वस्   | निवासः   | रञ्ज्     | रागः    | सं+मन्   | संमानः   |
| कम् कामः        | नि+सिध्  | निषेधः   | रम्      | रामः      | सं+यम्  | संयमः    |          |
| कुप् कोपः       | पच्      | पाकः     | रुध्     | रोधः      | सिच्    | सेकः     |          |
| कृ कारः         | पट्      | पाठः     | लभ्      | लाभः      | सृज्    | सर्गः    |          |
| कृष् कर्षः      | पत्      | पातः     | लिख्     | लेखः      | स्निह्  | स्नेहः   |          |
| क्षिप् क्षेपः   | पुष्     | पोषः     | लुभ्     | लोभः      | स्पृश्  | स्पर्शः  |          |
| क्षुभ् क्षोभः   | प्र+काश् | प्रकाशः  | वद्      | वादः      | स्वप्   | स्वापः   |          |
| गम् गमः         | प्र+कृ   | प्रकारः  | वि+कस्   | विकासः    | हस्     | हासः     |          |
| ग्रस् ग्रासः    | प्र+कृष् | प्रकर्षः | वि+कृप्  | विकल्पः   | ह       | हारः     |          |
| ग्रह् ग्राहः    | प्र+नम्  | प्रणामः  | विद्     | वेदः      | हष्     | हर्षः    |          |

## ( १३ ) ण्वल् प्रत्यय

( देखो अभ्यास ४३ )

**सूचना-** कर्ता या 'वाला' अर्थ में ण्वल् प्रत्यय होता है। ण्वल् के स्थान पर 'अक' शेष रहता है। धातु को गुण या वृद्धि होगी। विशेष्य के अनुसार तीनों लिंग होते हैं। विशेष नियम के लिए देखो अभ्यास ४३। **धातुएँ अकारादि-क्रम में दी गई हैं।**

|                 |          |        |         |          |            |        |         |
|-----------------|----------|--------|---------|----------|------------|--------|---------|
| अध्यापि         | अध्यापकः | द्विष् | द्वेषकः | प्र+विश् | प्रवेशकः   | रुध्   | रोधकः   |
| अन्विष्         | अन्वेषकः | धा     | धायकः   | प्र+सृ   | प्रसारकः   | लिख्   | लेखकः   |
| उत्+पद्         | उत्पादकः | धाव्   | धावकः   | प्र+स्तु | प्रस्तावकः | वच्    | वाचकः   |
| उद्+धृ उद्धारकः | धृ       | धारकः  | प्रेर्  | प्रेरकः  | वह्        | वाहकः  |         |
| उद्+मद्         | उन्मादकः | ध्यै   | ध्यायकः | बन्ध्    | बन्धकः     | वि+कस् | विकासकः |

|                |            |            |           |        |            |                |
|----------------|------------|------------|-----------|--------|------------|----------------|
| उप+दिश्        | उपदेशकः    | ध्वंस्     | ध्वंसकः   | बाध्   | बाधकः      | वि+आप् व्यापकः |
| उप+आस्         | उपासकः     | नश्        | नाशकः     | बुध्   | बोधकः      | वि+धा विधायकः  |
| कृ कारकः       | निन्द्     | निन्दकः    | ब्रू(वच्) | वाचकः  | वि+भज्     | विभाजकः        |
| कृष् कर्षकः    | नि+विद्    | निवेदकः    | भक्ष्     | भक्षकः | वि+स्कम्भू | विष्कम्भकः     |
| क्रीड् क्रीडकः | निवृ       | निवारकः    | भज्       | भाजकः  | वृध्       | वर्धकः         |
| खाद् खादकः     | नि+सिध्    | निषेधकः    | भाष्      | भाषकः  | वृष्       | वर्षकः         |
| गण् गणकः       | नी         | नायकः      | भिद्      | भेदकः  | शास्       | शासकः          |
| गम् गमकः       | नृत्       | नर्तकः     | भुज्      | भोजकः  | शिक्ष्     | शिक्षकः        |
| गै गायकः       | पच्        | पाचकः      | भू        | भावकः  | शुष्       | शोषकः          |
| ग्रह् ग्राहकः  | पठ्        | पाठकः      | मुच्      | मोचकः  | श्रु       | श्रावकः        |
| चि चायकः       | पत्        | पातकः      | मुद्      | मोदकः  | सं+चल्     | संचालकः        |
| चिन्त् चिन्तकः | परि+ईक्ष्  | परीक्षकः   | मुह्      | मोहकः  | सं+तप्     | संतापकः        |
| छिद् छेदकः     | पा (१ प.)  | पायकः      | मृ        | मारकः  | सं+युज्    | संयोजकः        |
| जन् जनकः       | पाल्       | पालकः      | याज्      | याजकः  | सं+हृ      | संहारकः        |
| तृ तारकः       | पुष्       | पोषकः      | यम्       | यामकः  | साध्       | साधकः          |
| दह् दाहकः      | पूज्       | पूजकः      | याच्      | याचकः  | सिच्       | सेचकः          |
| दीप् दीपकः     | प्र+काश    | प्रकाशकः   | युज्      | योजकः  | सेव्       | सेवकः          |
| दुह् दोहकः     | प्र+क्षिप् | प्रक्षेपकः | युध्      | योधकः  | स्था       | स्थापकः        |
| दृश् दर्शकः    | प्र+चर्    | प्रचारकः   | रक्ष्     | रक्षकः | स्मृ       | स्मारकः        |
| द्युत् द्योतकः | प्रच्छ्    | प्रच्छकः   | रञ्ज्     | रञ्जकः | हन्        | घातकः          |
| द्रुह् द्रोहकः | प्र+दा     | प्रदायकः   | रुच्      | रोचकः  | हष्        | हर्षकः         |

### ( १४ ) क्तिन्, ( १५ ) यत् प्रत्यय

( देखो अभ्यास ४५, ४० )

**सूचना-** (घ) भाववाचक संज्ञा बनाने के लिए धातु से क्तिन् प्रत्यय होता है। क्तिन् का 'ति' शेष रहता है। 'ति'-प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिंग होते हैं। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ४५ । (ख) 'चाहिए' अर्थ में अजन्त धातुओं से यत् प्रत्यय होता है। यत् का 'य' शेष रहता है। तीनों लिंगों के रूप चलते हैं। विशेष नियमों के लिए देखो अभ्यास ४० ।  
धातुएँ अकारादि-क्रम से दी गई हैं।

| क्तिन् प्रत्यय |            |           |          | यत् प्रत्यय |             |         |          |
|----------------|------------|-----------|----------|-------------|-------------|---------|----------|
| अधि+इ          | अधीतिः     | तृप्      | तृप्तिः  | यम्         | यतिः        | अधि+इ   | अध्येयम् |
| अस् (२ प.)     | भूतिः      | दीप्      | दीप्तिः  | युज्        | युक्तिः     | आ+ख्या  | आख्येयम् |
| आप् आप्तिः     | दृश्       | दृष्टिः   | रम्      | रतिः        | उप+मा       | उपमेयम् |          |
| आ+संज्         | आसक्तिः    | धृ        | धृतिः    | रुह्        | रूढिः       | क्री    | क्रेयम्  |
| आ+सद्          | आसत्तिः    | नम्       | नतिः     | वि+आप्      | व्याप्तिः   | क्षि    | क्षेयम्  |
| आ+हु आहुतिः    | नी         | नीतिः     | वि+नश्   | विनष्टिः    | गै (गा)     | गेयम्   |          |
| इष् इष्टिः     | पच्        | पक्तिः    | वि+श्रम् | विश्रान्तिः | घ्रा        | घ्रेयम् |          |
| उप+लभ्         | उपलब्धिः   | पा(१प.)   | पीतिः    | वृत्        | वृत्तिः     | चि      | चेयम्    |
| ऋध् ऋद्धिः     | पुष्       | पुष्टिः   | वृध्     | वृद्धिः     | जि          | जेयम्   |          |
| कम् कान्तिः    | पृ         | पूर्तिः   | वृष्     | वृष्टिः     | ज्ञा        | ज्ञेयम् |          |
| कृ कृतिः       | प्र+आप्    | प्राप्तिः | शक्      | शक्तिः      | दा          | देयम्   |          |
| कृष् कृष्टिः   | प्री       | प्रीतिः   | शम्      | शान्तिः     | धा          | धेयम्   |          |
| कृ कीर्तिः     | बुध्       | बुद्धिः   | शुध्     | शुद्धिः     | ध्यै (ध्या) | ध्येयम् |          |
| कृत् कीर्तिः   | ब्रू (वच्) | उक्तिः    | श्रु     | श्रुतिः     | नी          | नेयम्   |          |

|                 |       |           |        |          |           |          |         |
|-----------------|-------|-----------|--------|----------|-----------|----------|---------|
| क्रम् क्रान्तिः | भज्   | भक्तिः    | सं+पद् | संपत्तिः | पा (१ प.) | पेयम्    |         |
| क्षम् क्षान्तिः | भी    | भीतिः     | सं+सृ  | संसृतिः  | भू        | भव्यम्   |         |
| गम् गतिः        | भुज्  | भुक्तिः   | सं+हृ  | संहृतिः  | मा        | मेयम्    |         |
| गै (गा)         | गीतिः | भू        | भूतिः  | सिध्     | सिद्धिः   | विधा     | विधेयम् |
| चि चितिः        | भ्रम् | भ्रान्तिः | सृज्   | सृष्टिः  | श्रु      | श्रव्यम् |         |
| छिद् छितिः      | मन्   | मतिः      | स्तु   | स्तुतिः  | सु        | सव्यम्   |         |
| जन् जातिः       | मा    | मितिः     | स्था   | स्थितिः  | स्था      | स्थेयम्  |         |
| ज्ञा ज्ञातिः    | मुच्  | मुक्तिः   | स्मृ   | स्मृतिः  | हा        | हेयम्    |         |
| तुष् तुष्टिः    | यज्   | इष्टिः    | स्वप्  | सुप्तिः  | हु        | हव्यम्   |         |

## सन्धि प्रकरणम्

(घ) स्वर-सन्धि

### (१) यण्-सन्धि

(देखो अभ्यास १०)

(इको यणचि) इ ई को य्, उ ऊ को व्, ऋ ॠ को र्, लृ को ल् हो जाता है, यदि बाद में कोई स्वर हो तो। सवर्ण (वैसा ही) स्वर हो तो नहीं। जैसे-

(१) प्रति+एकः = प्रत्येकः (२) पठतु+एकः = पठत्वेकः

पठति+अल = पठत्यत्र

अनु+अयः = अन्वयः

इति+अत्र = इत्यत्र

मधु+अरिः = मध्वरिः

इति+आह = इत्याह

गुरु+आज्ञा = गुर्वाज्ञा

यदि+अपि यद्यपि

पठतु+अल = पठत्वत्र

नदी+औ = नद्यौ

वधू+औ = वध्वौ

सुधी+उपास्यः=सुध्युपास्यः

(३) पितृआ = पित्रा

मातृ+ए = मात्रे

धातृ+अंशः = धात्रंशः

कर्तृ+आ = कर्त्रा

कर्तृ+ ई = कर्त्री

(४) लृ+आकृतिः=लाकृतिः

### (२) अयादिसन्धि

(देखो अभ्यास ११)

(एचोऽयवायावः) ए को अय्, ओ को अव्, ऐ को आय्, औ को आव् हो जाता है, बाद में कोई स्वर हो तो। (पदान्त ए या ओ के बाद अ होगा तो नहींक) जैसे-

(१) हरे+ए=हरये

(२) भो+अति=भवति

(३) नै+अकः=नायकः

कवे+ए=कवये

पो+अनः=पवनः

गै+अकः=गायकः

ने+अनम्=नयनम्

गुरो+ए=गुरवे

गै+अति=गायति

शे+अनम्=शयनम्

भानो+ए=भानवे

(४) द्वौ+एतौ=द्वावेतौ

जे+अः=जयः

भो+अनम्=भवनम्

पौ+अकः=पावकः

संचे+अः=संचयः

श्रो+अणम्=श्रवणम्

भौ+अकः=भावकः

### (३) गुणसन्धि

(देखो अभ्यास १२)

(आद्गुणः) (१) अ या आ के बाद इ या ई हो तो दोनों को 'ए' होगा। (२) अया आ के बाद उ या ऊ हो तो दोनों को 'ओ' होगा। (३) अ या आ के बाद ऋ या ॠ हो तो दोनों को 'अ' होगा। (४) अ या आ के बाद लृ होगा तो दोनों को अल् होगा। जैसे-

(१) महा+ईशः=महेशः

(२) पर+उपकारः=परोपकारः

(३) महा+ऋषिः=महर्षिः

गण+ईशः=गणेशः

महा+उत्सवः=महोत्सवः

राज+ऋषिः=राजर्षिः

रमा+ईशः=रमेशः

हित+उपदेशः=हितोपदेशः

ग्रीष्म+ऋतुः=ग्रीष्मर्तुः

तथा+इति=तथेति

गंगा+उदकम्=गङ्गोदकम्

ब्रह्म+ऋषिः=ब्रह्मर्षिः

न+इदम्=नेदम्

पश्य+उपरि=पश्योपरि

(४) तव+लृकारः=तवल्कारः

### (४) वृद्धि सन्धि

(देखो अभ्यास १३)

(वृद्धिरेचि) (१) अ या आ के बाद ए या ऐ हो तो दोनों को 'ऐ' होगा। (२) अ या आ के बाद ओ या औ होगा तो दोनों को 'औ' होगा। जैसे-

(१) अत्र+एकः=अत्रैकः

(२) तण्डुल+ओदनम्=तण्डुलौदनम्

पश्य+एतम्=पश्यैतम्

जल+ओघः=जलौघः

सा+एषा=सैषा

महा+ओषधिः=महौषधिः

राज+ऐश्वर्यम्=राजैश्वर्यम्

देव+औदार्यम्=देवौदार्यम्



## ( ५ ) पूर्वरूप सन्धि

( देखो अभ्यास १४ )

( एङः पदान्तादति ) पद ( अर्थात् सुबन्त या तिङन्त ) के अन्तिम ए या ओ के बाद अ हो तो उसको पूर्वरूप ( अर्थात् ए या ओ जैसा रूप ) हो जाता है। ( अ हटा है, इस बात के सूचनार्थ ५ ( अवग्रह चिह्न ) लगा दिया जाता है ) जैसे-

( १ ) हरे+अव=हरेऽव

( २ ) विष्णो+अव=विष्णोऽव

लोके+अस्मिन्=लोकेऽस्मिन्

रामो+अधुना=रामोऽधुना

विद्यालये+अस्मिन्=विद्यालयेऽस्मिन्

लोको+अयम्=लोकोऽयम्

## ( ६ ) सवर्ण दीर्घ सन्धि

( देखो अभ्यास १५ )

( अकः सवर्णे दीर्घः ) अ इ उ ऋ के बाद कोई सवर्ण ( सदृश ) अक्षर हो तो दोनों के स्थान पर उसी वर्ण का दीर्घ अक्षर हो जाता है। अर्थात् ( १ ) अ या आ + अ या आ आ। ( २ ) इ या ई + इ या ई = ई । ( ३ ) उ या ऊ + उ या ऊ = ऊ । ( ४ ) ऋ या ॠ + ऋ या ॠ = ॠ ।

( १ ) हिम+आलयः=हिमालयः ( २ ) गिरि+ईशः=गिरीशः ( ३ ) गुरु+उपदेशः=गुरूपदेशः

विद्या+आलयः=विद्यालयः

श्री+ईशः=श्रीशः

भानु+उदयः=भानूदयः

तथा+अपि=तथापि

इति+इदम्=इतीदम्

लघु+ऊर्मिः=लघूर्मिः

शिष्ट+आचारः=शिष्टाचारः

पठति+इदम्=पठतीदम्

( ४ ) होतृ+ऋकारः=होतृकारः

## ( ख ) हल् सन्धि

## ( ७ ) श्चुत्व सन्धि

( देखो अभ्यास १६ )

( स्तोः श्चुना श्चुः ) स् या तवर्ग से पहले या बाद में श् या चवर्ग कोई भी हो तो स् और तवर्ग को क्रमशः श् और चवर्ग हो जाता है। जैसे-

रामस्+च=रामश्च

तत्+च=तच्च

सद्+जनः=सज्जनः

कस्+चित्=कश्चित्

सत्+चित्=सच्चित्

उद्+ज्वलः=उज्ज्वलः

दुस्+चरित्रः=दुश्चरित्रः

सत्+चरित्रः=सच्चरित्रः

याच्+ना=याच्ना

हरिस्+शेते=हरिश्शेते

उत्+चारणम्=उच्चारणम्

शार्ङ्गिन्+जय=शार्ङ्गिञ्जय

## ( ८ ) ष्टुत्वसन्धि ( देखो अभ्यास १७ ) ( ष्टुना ष्टुः )

स् या तवर्ग के पहले या बाद में प् या टवर्ग कोई भी हो तो स् और तवर्ग को क्रमशः ष् और टवर्ग हो जाता है। जैसे-

इष् + तः = इष्टः

रामस् + षष्ठः = रामष्यष्ठः

विष् + नुः = विष्णुः

पेष् + ता = पेष्टा

उद् + डीनः = उड्डीनः

कृष् + नः = कृष्णः

दुष् + तः = दुष्टः

तत् + टीका = तट्टीका

उष् + त्रः = उष्ट्रः

## ( ९ ) जश्त्वसन्धि ( १ ) ( देखो अभ्यास १८ ) ( झलां जशोऽन्ते )

झलों ( वर्ग के १, २, ३, ४ और ऊष्म ) को जश् ( ३ अर्थात् अपने वर्ग के तृतीय अक्षर ) होते हैं, झल् पद के अन्तिम अक्षर हों तो। ( पद अर्थात् सुबन्त या तिङन्त )। जैसे-

सुप् + अन्तः = सुबन्तः

चित् + आनन्द = चिदानन्दः

षट् + एव = षडेव

अच् + अन्तः = अजन्तः दिक् + अम्बरः दिगम्बरः

षट् + आननः = षडाननः

जगत् + ईशः = जगदीशः

उत् + देश्यम् = उद्देश्यम्

दिक् + गजः = दिग्गजः

## ( १० ) जश्त्वसन्धि ( देखो अभ्यास १९ ) ( झलां जश् झशि )

झलों ( वर्ग के १, २, ३, ४, ऊष्म ) को जश् ( ३, अपने वर्ग के तृतीय अक्षर ) होते हैं, बाद में झश् ( वर्ग के ३, ४ ) हों तो। ( यह नियम पद के बीच में लगता है, पहला नियम ( ९ ) पद के अन्त में )

बुध् + धिः = बुद्धिः

दघ् + धः = दग्धः

युध् + धम् = युद्धम्

सिध् + धिः = सिद्धिः      दुघ् + धम् = दुग्धम्      वृध् + धिः = वृद्धिः  
 क्षुभ् + धः = क्षुब्धः      लभ् धः = लब्धः      शुध् + धिः = शुद्धिः

**( ११ ) चर्व सन्धि ( देखो अभ्यास २० ) ( खरि च )**

झलों (वर्ग के १, २, ३, ४, ऊष्म) को चर् ( १, उसी वर्ग के प्रथम अक्षर ) होते हैं, बाद में खर् ( १, २, श, ष, स ) हों तो। जैसे-

सद् + कारः = सत्कारः      तद् + परः = तत्परः      सद् + पुत्रः = सत्पुत्रः  
 उद् + पत्रः उत्पन्नः      उद् + साहः उत्साहः      तज् + छिवः = तच्छिवः

**( १२ ) अनुस्वार सन्धि ( देखो अभ्यास ९ ) ( मोऽनुस्वारः )**

पदान्त म् के बाद कोई हल् (व्यंजन) हो तो म् को अनुस्वार ( क ) हो जाता है, बाद में स्वर हो तो नहीं। जैसे-

हरिम् + वन्दे = हरिं वन्दे      कम् + चित् = कंचित्      सत्यम् + वद = सत्यं वद  
 गुरुम् + नमति = गुरुं नमति      कार्यम् + कुरु = कार्यं कुरु      धर्मम् + चर = धर्मं चर

## ( ग ) विसर्ग सन्धि

### ( १३ ) विसर्ग सन्धि

(देखो अभ्यास २१)

( विसर्जनीयस्य सः ) विसर्ग के बाद खर् (वर्ग के १, २, श, ष, स) हो तो विसर्ग को स् हो जाता है। (श या चवर्ग बाद में हो तो श्चुत्व सन्धि भी)। जैसे-

हरिः + त्रायते = हरिस्त्रायते ।

रामः + तिष्ठति = रामस्तिष्ठति ।

कः + चित् = कश्चित् ।

निः + चलः = निश्चलः ।

बालः + चलति = बालश्चलति ।

रामः + शेते = रामश्शेते ।

जनाः + तिष्ठन्ति = जनास्तिष्ठन्ति ।

रामः + च = रामश्च ।

### ( १४ ), ( १५ ) उत्त्व सन्धि ( १ )

(देखो अभ्यास २२)

( १४ ) ( ससजुषो रुः ) पद के अन्तिम स् को रु (ः) होता है। सजुष् शब्द के ष् को भी रु होता है। सूचना- इस रु का साथ रणतया विसर्ग (ः) ही बचता है। इसी रु को सन्धि नियम १५, १६ और १७ से उ या य् होता है। जहाँ उ या य् नहीं होगा, वहाँ पर या तो विसर्ग बचेगा या र् बचेगा।

( १५ ) ( अतो रोरप्लुतादप्लुते ) ह्रस्व अ के बाद रु (ः या र्) को उ हो जाता है, बाद में ह्रस्व अ हो तो। (सूचना- इस उ को पूर्ववर्ती अ के साथ सन्धि-नियम ३ से गुणसन्धि करके ओ हो जाता है और बाद के अ को सन्धि-नियम ५ से पूर्वरूप सन्धि होती है। अतएव अः+अ = ओऽ होता है) जैसे

रामः+अस्ति = रामोऽस्ति ।

कः+अपि = कोऽपि।

सः+अपि = सोऽपि।

सः+अपठत् = सोऽपठत्।

रामः+अवदत् = रामोऽवदत् ।

नृपः+अगच्छत् = नृपोऽगच्छत् ।

देवः+अधुना = देवोऽधुना।

कः+अयम् = कोऽयम्।

सूचना- स्मरण रखें कि रामः, कः आदि में सब स्थानों पर स् का ही सन्धि नियम १४ के अनुसार विसर्ग (ः) दीखता है। यह विसर्ग मूलरूप में सु (स्) है, उसी को रु (र् या ः) होता है। जहाँ पर उ या य् नहीं होगा, वहाँ पर र् शेष रहता है। अतः सन्धि-नियम १४ से अ आ के अतिरिक्त अन्य स्वरों के बाद विसर्ग का 'र्' शेष रहता है, बाद में कोई स्वर या व्यंजन (३, ४, ५ हो तो)। जैसे

हरिः + अवदत् = हरिरवदत्।

गुरुः + अस्ति = गुरुरस्ति।

शिशुः + आगच्छत् = शिशुरागच्छत्।

पितुः + इच्छा = पितुरिच्छा।

लक्ष्मीः + इयम् = लक्ष्मीरियम् ।

वधूः + एषा = वधूरेषा ।

गुरोः + भाषणम् = गुरोर्भाषणम्

हरेः + द्रव्यम् = हरेर्द्रव्यम् ।

### ( १६ ) उत्त्व सन्धि ( २ )

(देखो अभ्यास २३)

( हशि च ) ह्रस्व अ के बाद रु (र् या ः) को उ हो जाता है, बाद में हश् (वर्ग के ३, ४, ५, ह, य, व, र, ल) हो तो। (सूचना सन्धि-नियम १५ बाद में अ हो तब लगता है, यह बाद में हश् हो तो। उ करने के बाद सन्धि-नियम ३ से गुण होकर ओ होगा। अतः अः हश् ओ हश् होगा, अर्थात् अः को ओ)। जैसे-

रामः + वन्द्यः = रामो वन्द्यः ।

कृष्णः + वदति = कृष्णो वदति ।

बालः + लिखति = बालो लिखति ।

रामः + जयति = रामो जयति ।

देवः + गच्छति = देवो गच्छति ।

बालः + हसति = बालो हसति।

नृपः + रक्षति = नृपो रक्षति।

शिष्यः + जयति = शिष्यो जयति ।

### ( १७ ) यत्वसन्धि

(देखो अभ्यास २४)

( भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि ) भोः, भगोः, अघोः शब्द और अ या आ के बाद रु (र् या ः) को य् होता है, बाद में अश् (स्वर, ह, य, व, र, ल, वर्ग के ३, ४, ५) हो तो। (सूचना - १. हलि सर्वेषाम्, २. लोपः शाकल्यस्य। य् के बाद यदि कोई व्यंजन होगा तो य् का लोप अवश्य होगा। य् के बाद यदि कोई स्वर होगा तो य् का लोप ऐच्छिक है। यदि लोप करेंगे तो कोई दीर्घ, गुण, वृद्धि आदि सन्धि-कार्य नहीं होगा। अर्थात् अः या आः अश् अ या आ + अश्। जैसे-

देवाः + गच्छन्ति = देवा गच्छन्ति।

नराः + हसन्ति = नरा हसन्ति।

रामः + इच्छति = राम इच्छति ।

शिष्याः + एते = शिष्या एते।

देवाः + इह देवा = इह, देवायिह।  
कन्याः + इच्छन्ति = कन्या इच्छन्ति।

छात्राः + लिखन्ति = छात्रा लिखन्ति।  
पुत्रः + आगच्छति = पुत्र आगच्छति।

## ( १८ ) सुलोपसन्धि

(देखो अभ्यास २५)

( एतत्तदोः सुलोपोऽकोरनञ्समासे हलि ) सः और एषः के विसर्ग का लोप होता है, बाद में कोई हल् (व्यंजन) हो तो। (सकः, एषकः, असः, अनेषः के विसर्ग का लोप नहीं होगा)। (सूचना- सः, एषः के बाद अ होगा तो सन्धि-नियम १५ से 'ओऽ' होगा।

अन्य स्वर बाद में होंगे तो सन्धि-नियम १७ से विसर्ग का लोप होगा।

(१) सः + पठति = स पठति।  
सः + लिखति = स लिखति।  
एषः + वदति = एष वदति।  
एषः + गच्छति = एष गच्छति।

(२)

सः + अयम् = सोऽयम्।  
सः + आगत = स आगतः।  
सः + इच्छति = स इच्छति।  
एषः + अपि = एषोऽपि।

|            |          |         |              |            |          |           |            |
|------------|----------|---------|--------------|------------|----------|-----------|------------|
| ध्ये       | ध्यातः   | भुज्    | भुक्तः       | लिख        | लिखितः   | श्रु      | श्रुतः     |
| ध्वंस्     | ध्वस्तः  | भू      | भूतः         | लिह        | लीढः     | शिल्प्    | शिल्पः     |
| नम्        | नतः      | भृ      | भृतः         | लुभ्       | लुब्धः   | सद्       | सन्नः      |
| नश्        | नष्टः    | भ्रम्   | भ्रान्तः     | वच् (ब्रू) | उक्तः    | सन्       | सात        |
| निन्द्     | निन्दितः | मद्     | मत्तः        | वद्        | उदितः    | सह        | सोढः       |
| नी         | नीतः     | मन्     | मतः          | वन्द्      | वन्दितः  | साध्      | साधितः     |
| नृत्       | नृतः     | मन्थ्   | मन्थितः      | वप्        | उप्तः    | सिच्      | सिक्तः     |
| पच्        | पक्वः    | मा      | मितः         | वस्        | उषितः    | सिध्      | सिद्धः     |
| पठ्        | पठितः    | मिल्    | मिलितः       | वह्        | ऊढः      | सिव्      | स्यूतः     |
| पत्        | पतितः    | मुच्    | मुक्तः       | वा         | वातः     | सृज्      | सृष्टः     |
| पद्        | पन्नः    | मुद्    | मुदितः       | वि+कस्     | विकसितः  | सेव्      | सेवितः     |
| पलाय्      | पलायितः  | मुह्    | मुग्धः, मूढः | विद् (२प.) | विदितः   | सो (सा)   | सितः       |
| पा (१ प.)  | पीतः     | मूर्च्छ | मूर्च्छितः   | विद् (१०)  | वेदितः   | स्तु      | स्तुतः     |
| पाल्       | पालितः   | मृज्    | मृष्टः       | विश्       | विष्टः   | स्था      | स्थितः     |
| पुष्       | पुष्टः   | यज्     | इष्टः        | वृत्       | वृत्तः   | स्ना      | स्नातः     |
| पूज्       | पूजितः   | यत्     | यतितः        | वृध्       | वृद्धः   | स्निह     | स्निग्धः   |
| पृ         | पूर्णः   | यम्     | यतः          | वे         | उतः      | स्पृश्    | स्पृष्टः   |
| प्रच्छ     | पृष्टः   | या      | यातः         | व्यथ्      | व्यथितः  | स्वप्     | सुप्तः     |
| प्रथ्      | प्रथितः  | याच्    | याचितः       | व्यध्      | विद्धः   | स्वाद्    | स्वादितः   |
| प्र+हि     | प्रहितः  | युज्    | युक्तः       | शक्        | शक्तः    | स्विद्    | स्विन्नः   |
| प्रे       | प्रेरितः | युध्    | युद्धः       | शङ्क्      | शङ्कितः  | हन्       | हतः        |
| बन्ध्      | बद्धः    | रक्ष    | रक्षितः      | शप्        | शप्तः    | हस्       | हसितः      |
| बुध्       | बुद्धः   | रच्     | रचितः        | शम्        | शान्तः   | हा (३ प.) | हीनः       |
| ब्रू (वच्) | उक्तः    | रज्ज्   | रक्तः        | शास्       | शिष्टः   | हा (३ आ.) | हानः       |
| भक्ष्      | भक्षितः  | रम्     | रतः          | शिक्ष्     | शिक्षितः | हिंस्     | हिंसितः    |
| भज्        | भक्तः    | रुच्    | रुचितः       | शी         | शयितः    | हु        | हुतः       |
| भज्ज्      | भग्नः    | रुद्    | रुदितः       | शुच्       | शुचितः   | ह         | हतः        |
| भण्        | भणितः    | रुध्    | रुद्धः       | शुभ्       | शोभितः   | हष्       | हष्टः      |
| भाष्       | भाषितः   | रुह्    | रूढः         | शुष्       | शुष्कः   | हस्       | हसितः      |
| भिद्       | भिन्नः   | लभ्     | लब्धः        | शृ         | शीर्णः   | ही        | हीतः, हीणः |

भी भीतः लष् लषितः श्रि श्रितः ह्वे हूतः

( ३ ) शतृ प्रत्यय

( देखो अभ्यास ३४ )

**सूचना-** परस्मैपदी धातुओं को लट् के स्थान पर शतृ होता है। शतृ का अत् शेष रहता है। पुल्लिङ्ग में पठत् के तुल्य, स्त्रीलिङ्ग में ई लगाकर नदी के तुल्य और नपुंसकलिङ्ग में जगत् के तुल्य रूप चलेंगे। यहाँ पर केवल पुल्लिङ्ग के रूप दिए हैं। रूप बनाने के नियमों के लिए देखो अभ्यास ३४। **धातुएँ अकारादिक्रम से दी गई हैं।**

|              |           |        |         |             |           |             |          |
|--------------|-----------|--------|---------|-------------|-----------|-------------|----------|
| अद्          | अदन्      | चल्    | चलन्    | पत्         | पतन्      | व्यध        | विध्यन्  |
| अर्च         | अर्चन्    | चि     | चिन्वन् | पा ( १ प० ) | पिबन्     | शक्         | शक्नुवन् |
| अस् ( २ प. ) | सन्       | छिद्   | छिन्दन् | पाल्        | पालयन्    | शप्         | शपन्     |
| आप्          | आप्नुवन्  | जप्    | जपन्    | पूज्        | पूजयन्    | शम्         | शाम्यन्  |
| आ+रुह        | आरोहन्    | जि     | जयन्    | प्रच्छ्     | पृच्छन्   | शुष्        | शुष्यन्  |
| आ+ह्वे       | आह्वयन्   | जीव्   | जीवन्   | प्रेर्      | प्रेरयन्  | श्रि        | श्रयन्   |
| इ            | यन्       | ज्वल्  | ज्वलन्  | बन्ध्       | बध्न्     | श्रु        | शृण्वन्  |
| इष्          | इच्छन्    | तप्    | तपन्    | भक्ष्       | भक्षयन्   | सद्         | सीदन्    |
| कुप्         | कुप्यन्   | तुद्   | तुदन्   | भज्         | भजन्      | सिच्        | सिञ्चन्  |
| कृष्         | कर्षन्    | तुष्   | तुष्यन् | भिद्        | भिन्दन्   | सिक्        | सीव्यन्  |
| कृ           | किरन्     | तृ     | तरन्    | भृ          | भरन्      | सृ          | सरन्     |
| क्रन्द्      | क्रन्दन्  | त्यज्  | त्यजन्  | भू          | भवन्      | सृज्        | सृजन्    |
| क्रम्        | क्राम्यन् | दण्ड्  | दण्डयन् | भ्रम्       | भ्रमन्    | सृप्        | सर्पन्   |
| क्रीड्       | क्रीडन्   | दह्    | दहन्    |             | भ्राम्यन् | स्तु        | स्तुवन्  |
| क्रुध्       | क्रुध्यन् | दिक्   | दीव्यन् | मिल्        | मिलन्     | स्था        | तिष्ठन्  |
| क्षम्        | क्षाम्यन् | दिश्   | दिशन्   | रक्ष्       | रक्षन्    | स्पृश्      | स्पृशन्  |
| क्षिप्       | क्षिपन्   | दुह्   | दुहन्   | रच्         | रचयन्     | स्मृ        | स्मरन्   |
| खन्          | खनन्      | दृश्   | पश्यन्  | रुद्        | रुदन्     | स्वप्       | स्वपन्   |
| खाद्         | खादन्     | धाव्   | धावन्   | लष्         | लषन्      | हन्         | घ्नन्    |
| गण्          | गणयन्     | धृ     | धरन्    | लिख्        | लिखन्     | हस्         | हसन्     |
| गम्          | गच्छन्    | ध्यै   | ध्यायन् | लिह         | लिहन्     | हा ( ३ प. ) | जहत्     |
| गर्ज्        | गर्जन्    | नम्    | नमन्    | वद्         | वदन्      | हिंस्       | हिंसन्   |
| गृ           | गिरन्     | नश्    | नश्यन्  | वस्         | वसन्      | हु          | जुह्वन्  |
| गै           | गायन्     | निन्द् | निन्दन् | वह्         | वहन्      | ह           | हरन्     |
| घ्रा         | जिघ्रन्   | नृत्   | नृत्यन् | विश्        | विशन्     | हष्         | हृष्यन्  |
| चर्          | चरन्      | पठ्    | पठन्    | वृष्        | वर्षन्    | ह्वे        | ह्वयन्   |

**सन्धि-विचार ( ख )**

( १९ ) ( एङि पररूपम् ) अकारान्त उपसर्ग के बाद धातु का ए या ओ हो तो दोनों के स्थान पर पररूप ( अर्थात् ए या ओ जैसा रूप ) हो जाता है। अर्थात् ( १ ) अ+ए=ए, ( २ ) अ+ओ=ओ। जैसे- ( १ ) प्र+एजते = **प्रेजते**। ( २ ) उप+ओषति=उपोषति ।

( २० ) ( ईदूदेद्विवचनं प्रगृह्यम् ) ईकारान्त, ऊकारान्त और एकारान्त द्विवचन के रूप की प्रगृह्य संज्ञा होती है अर्थात् उनके साथ कोई सन्धि का कार्य नहीं होगा। जैसे-

हरी + एतौ = हरी एतौ।

गङ्गे + अमू = गङ्गे अमू।

विष्णू + इमौ = विष्णू इमौ ।

पचेते + इमौ = पचेते इमौ।

( २१ ) ( यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा ) पदान्त यर् ( ह को छोड़कर सभी व्यंजन ) के बाद अनुनासिक ( वर्ग का पञ्चम अक्षर ) हो तो यर् को अपने वर्ग का पंचम अक्षर हो जायेगा। यह नियम ऐच्छिक है। जैसे-

वाक् + मयम् = वाङ्मयम् ।

दिक् + नागः = दिङ्नागः ।

तत् + न = तन्न ।

तत् + मयम् = तन्मयम् ।

सद् + मतिः = सन्मतिः ।

पद् + नगः = पन्नगः ।

षट् + मुखः = षण्मुखः ।

अप् + मयम् = अम्मयम् ।

( २२ ) ( तोर्लि ) तवर्ग के बाद ल हो तो तवर्ग को भी ल् हो जाता है। अर्थात् (१) त् या

द् + ल = ल्ल, (२) न् + ल = ल्ल। जैसे-

उत् + लेखः = उल्लेखः ।

तत् + लीनः = तल्लीनः ।

पद् + लवः = पल्लवः ।

विद्वान् + लिखति = विद्वल्लिखति ।

( २३ ) ( शश्छोऽटि ) पदान्त झय् (वर्ग के १, २, ३, ४) के बाद श् हो तो उसको छ् हो जाता है, यदि उस श् के बाद अट् (स्वर, ह, य्, व्, र्) हो तो। यह नियम ऐच्छिक है। श् को छ् होने पर पूर्ववर्ती त् को श्रुत्वसन्धि (नियम ७) से च् हो जायेगा जैसे-

तत् + शिवः = तच्छिवः ।

तत् + शिला = तच्छिला ।

सत् + शीलः = सच्छीलः ।

उत् + श्रायः = उच्छ्रायः ।

( २४ ) ( अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः ) अनुस्वार के बाद यय् (य, र, ल, व, वर्ग के १, २, ३, ४, ५) हो तो अनुस्वार को परसवर्ण (आगे के वर्ण का पंचम अक्षर) हो जाता है।

जैसे-

अं + कः = अङ्कः ।

अं + चितः = अञ्चितः ।

शां + तः = शान्तः ।

शं + का = शङ्का ।

कं + ठः = कण्ठः ।

सं + मानः = सम्मानः ।

( २५ ) ( नश्छव्यप्रशान् ) पदान्त न् को रु (ः, स्) होता है, यदि छव् (च्, छ्, ट्, ठ्, त्, थ्) बाद में हो और छव् के बाद अम् (स्वर, ह, अन्तःस्थ, वर्ग के पंचम अक्षर) हो तो। प्रशान् शब्द में नियम नहीं लगेगा। इस नियम के साथ कुछ अन्य नियम भी लगते हैं, अतः इस नियम का रूप होगा-न् + छव् = स् + छव् या स् + छव्। श्रुत्व-नियम यदि प्राप्त होगा तो लगेगा। जैसे-

कस्मिन् + चित् = कस्मिंश्चित् ।

शार्ङ्गिन् + छिन्धि - शार्ङ्गिंश्छिन्धि ।

धीमान् + च = धीमांश्च ।

चक्रिन् + त्रायस्व = चक्रिंस्त्रायस्व ।

अस्मिन् + तरौ = अस्मिंस्तरौ ।

तस्मिन् + तथा = तस्मिंस्तथा ।

( २६ ) ( वा शरि ) विसर्ग के बाद शर् (श, ष, स) हो तो विसर्ग को विसर्ग और स् दोनों होते हैं। श्रुत्व या ष्टुत्व (नियम ७, ८) यदि प्राप्त होंगे तो लगेगे। जैसे-

हरिः + शेते = हरिः शेते, हरिश्शेते ।

रामः + षष्ठः = रामषष्ठः ।

रामः + शेते = रामः शेते, रामश्शेते ।

बालः + स्वपिति = बालस्स्वपिति ।

( २७ ) ( रोरि ) र् के बाद र् हो तो पहले र् का लोप हो जाता है।

( २८ ) ( द्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः ) द् या र् का लोप हुआ हो तो उससे पूर्ववर्ती अ, इ, उ का दीर्घ हो जाता है। जैसे-

पुनर् + रमते = पुना रमते ।

शम्भुर् + राजते = शम्भू राजते ।

हरिर् + रम्यः = हरी रम्यः ।

अन्तर् + राष्ट्रियः = अन्ताराष्ट्रियः ।

## शब्दरूपप्रकरणम्

( १ ) ( घ ) शब्दरूप-संग्रह

( १ ) राम ( राम ) अकारान्त पुलिङ्ग

| पुरुष    | एकवचन  | द्विवचन    | बहुवचन   |
|----------|--------|------------|----------|
| प्रथम    | रामः   | रामौ       | रामाः    |
| द्वितीया | रामम्  | रामौ       | रामान्   |
| तृतीया   | रामेण  | रामाभ्याम् | रामैः    |
| चतुर्थी  | रामाय  | रामाभ्याम् | रामेभ्यः |
| पंचमी    | रामात् | रामाभ्याम् | रामेभ्यः |
| षष्ठी    | रामस्य | रामयोः     | रामाणाम् |
| सप्तमी   | रामे   | रामयोः     | रामेषु   |
| संबोधन   | हे राम | हे रामौ    | हे रामाः |

( २ ) हरि ( विष्णु ) इकारान्त पुं०

|       |        |           |         |
|-------|--------|-----------|---------|
| प्र४  | हरिः   | हरी       | हरयः    |
| द्वि० | हरिम्  | हरी       | हरीन्   |
| तृ०   | हरिणा  | हरिभ्याम् | हरिभिः  |
| च०    | हरये   | हरिभ्याम् | हरिभ्यः |
| पं०   | हरेः   | हरिभ्याम् | हरिभ्यः |
| ष०    | हरेः   | हर्योः    | हरीणाम् |
| स०    | हरौ    | हर्योः    | हरिषु   |
| सं०   | हे हरे | हे हरी    | हे हरयः |

( १ ) राम ( संक्षिप्तरूप ) ( देखो अभ्यास ५ )

| पुरुष | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|-------|-------|---------|--------|
| प्र०  | अः    | औ       | आः     |
| द्वि० | अम्   | औ       | आन्    |
| तृ०   | एन    | आभ्याम् | ऐः     |
| च०    | आय    | आभ्याम् | एभ्यः  |
| पं०   | आत्   | आभ्याम् | एभ्यः  |
| ष०    | अस्य  | अयोः    | आनाम्  |
| स०    | ए     | अयोः    | एषु    |
| सं०   | अ     | औ       | आः     |

( २ ) हरि ( सं० रूप ) ( दे० अ० ८ )

|       |     |         |       |
|-------|-----|---------|-------|
| प्र०  | इः  | ई       | अयः   |
| द्वि० | इम् | ई       | ईन्   |
| तृ०   | इना | इभ्याम् | इभिः  |
| च०    | अये | इभ्याम् | इभ्यः |
| पं०   | एः  | इभ्याम् | इभ्यः |
| ष०    | एः  | योः     | ईनाम् |
| स०    | औ   | योः     | इषु   |
| सं०   | ए   | ई       | अयः   |



( ३ ) गुरु ( गुरु ) उकारान्त पुं०

|       |         |            |          |
|-------|---------|------------|----------|
| प्र४  | गुरुः   | गुरू       | गुरवः    |
| द्वि० | गुरुम्  | गुरू       | गुरून्   |
| तृ०   | गुरुणा  | गुरुभ्याम् | गुरुभिः  |
| च०    | गुरवे   | गुरुभ्याम् | गुरुभ्यः |
| पं०   | गुरोः   | गुरुभ्याम् | गुरुभ्यः |
| ष०    | गुरोः   | गुर्वोः    | गुरूणाम् |
| स०    | गुरौ    | गुर्वोः    | गुरुषु   |
| सं०   | हे गुरो | हे गुरू    | हे गुरवः |

( ४ ) कर्तृ ( करने वाला ) ऋकारान्त पुं०

|          |          |             |            |
|----------|----------|-------------|------------|
| प्रथम    | कर्ता    | कर्तारौ     | कर्तारः    |
| द्वितीया | कर्तारम् | कर्तारौ     | कर्तृन्    |
| तृतीया   | कर्त्रा  | कर्तृभ्याम् | कर्तृभिः   |
| चतुर्थी  | कर्त्रे  | कर्तृभ्याम् | कर्तृभ्यः  |
| पंचमी    | कर्तुः   | कर्तृभ्याम् | कर्तृभ्यः  |
| षष्ठी    | कर्तुः   | कर्त्रोः    | कर्तृणाम्  |
| सप्तमी   | कर्तरि   | कर्त्रोः    | कर्तृषु    |
| संबोधन   | हे कर्तः | हे कर्तारौ  | हे कर्तारः |

( ३ ) गुरु ( सं० रूप ) ( दे० अ० ९ )

|       |     |         |       |
|-------|-----|---------|-------|
| प्र०  | उः  | ऊ       | अवः   |
| द्वि० | उम् | ऊ       | ऊन्   |
| तृ०   | उना | उभ्याम् | उभिः  |
| च०    | अवे | उभ्याम् | उभ्यः |
| पं०   | ओः  | उभ्याम् | उभ्यः |
| ष०    | ओः  | वोः     | ऊनाम् |
| स०    | औ   | वोः     | उषु   |
| सं०   | ओ   | ऊ       | अवः   |

( ४ ) कर्तृ ( सं० रूप ) ( दे० अ० १५ )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | आ    | आरौ     | आरः   |
| द्वि० | आरम् | आरौ     | ऋन्   |
| तृ०   | रा   | ऋभ्याम् | ऋभिः  |
| च०    | रे   | ऋभ्याम् | ऋभ्यः |
| पं०   | उः   | ऋभ्याम् | ऋभ्यः |
| घ०    | उः   | रोः     | ऋणाम् |
| स०    | अरि  | रोः     | ऋषु   |
| सं०   | अः   | आरौ     | आरः   |

( २ ) पितृ ( पिता ) ऋकारान्त पुं०

|       |         |            |          |
|-------|---------|------------|----------|
| प्र४  | पिता    | पितरौ      | पितरः    |
| द्वि० | पितरम्  | पितरौ      | पितृन्   |
| तृ०   | पित्रा  | पितृभ्याम् | पितृभिः  |
| च०    | पित्रे  | पितृभ्याम् | पितृभ्यः |
| पं०   | पितुः   | पितृभ्याम् | पितृभ्यः |
| ष०    | पितुः   | पित्रोः    | पितृणाम् |
| स०    | पितरि   | पित्रोः    | पितृषु   |
| सं०   | हे पितः | हे पितरौ   | हे पितरः |

( ५ ) पितृ ( सं० रूप ) ( दे० अ० १६ )

|       |      |                             |     |
|-------|------|-----------------------------|-----|
| प्र०  | आ    | अरौ                         | अरः |
| द्वि० | अरम् | अरौ                         | ऋन् |
| तृ०   |      | शेष कर्तृवत् ( दे० शब्द ४ ) |     |
| च०    |      |                             |     |
| पं०   |      |                             |     |
| ष०    |      |                             |     |
| स०    |      |                             |     |
| सं०   |      |                             |     |

( ६ ) गो ( गाय या बैल ) ओकारान्त पुं, स्त्री०

|       |        |          |         |
|-------|--------|----------|---------|
| प्र०  | गौः    | गावौ     | गावः    |
| द्वि० | गाम्   | गावौ     | गाः     |
| तृ०   | गवा    | गोभ्याम् | गोभिः   |
| च०    | गवे    | गोभ्याम् | गोभ्यः  |
| पं०   | गोः    | गोभ्याम् | गोभ्यः  |
| ष०    | गोः    | गवोः     | गवाम्   |
| स०    | गवि    | गवोः     | गोषु    |
| सं०   | हे गौः | हे गावौ  | हे गावः |

( ७ ) भूभृत् ( राजा, पर्वत ) तकारान्त पुं०

|          |           |              |            |
|----------|-----------|--------------|------------|
| प्रथम    | भूभृत्    | भूभृतौ       | भूभृतः     |
| द्वितीया | भूभृतम्   | भूभृतौ       | भूभृतः     |
| तृतीया   | भूभृता    | भूभृद्भ्याम् | भूभृद्भिः  |
| चतुर्थी  | भूभृते    | भूभृद्भ्याम् | भूभृद्भ्यः |
| पंचमी    | भूभृतः    | भूभृद्भ्याम् | भूभृद्भ्यः |
| षष्ठी    | भूभृतः    | भूभृतोः      | भूभृताम्   |
| सप्तमी   | भूभृति    | भूभृतोः      | भूभृत्सु   |
| संबोधन   | हे भूभृत् | हे भूभृतौ    | हे भूभृतः  |

सूचना -

प्र० साधारणतया (द्यो शब्द को छोड़कर)

द्वि० अन्य कोई शब्द गो

तृ० शब्द के तुल्य नहीं चलता।

च०

पं०

ष०

स०

सं०

( ७ ) भूभृत् ( सं० रूप )

|       |     |          |        |
|-------|-----|----------|--------|
| प्र०  | त्  | तौ       | तः     |
| द्वि० | तम् | तौ       | तः     |
| तृ०   | ता  | द्भ्याम् | द्भिः  |
| च०    | ते  | द्भ्याम् | द्भ्यः |
| पं०   | तः  | द्भ्याम् | द्भ्यः |
| ष०    | तः  | तोः      | ताम्   |
| स०    | ति  | तोः      | त्सु   |
| सं०   | त्  | तौ       | तः     |

( ८ ) भगवत् ( भगवान् ) तकारान्त पुं०

|       |          |             |            |
|-------|----------|-------------|------------|
| प्र०  | भगवान्   | भगवन्तौ     | भगवन्तः    |
| द्वि० | भगवन्तम् | भगवन्तौ     | भगवतः      |
| तृ०   | भगवता    | भगवद्भ्याम् | भगवद्भिः   |
| च०    | भगवते    | भगवद्भ्याम् | भगवद्भ्यः  |
| पं०   | भगवतः    | भगवद्भ्याम् | भगवद्भ्यः  |
| ष०    | भगवतः    | भगवतोः      | भगवताम्    |
| स०    | भगवति    | भगवतोः      | भगवत्सु    |
| सं०   | हे भगवन् | हे भगवन्तौ  | हे भगवन्तः |

( ९ ) गच्छत् ( जाता हुआ ) तकारान्त पुं०

|       |           |              |             |
|-------|-----------|--------------|-------------|
| प्र०  | गच्छन्    | गच्छन्तौ     | गच्छन्तः    |
| द्वि० | गच्छन्तम् | गच्छन्तौ     | गच्छतः      |
| तृ०   | गच्छता    | गच्छद्भ्याम् | गच्छद्भिः   |
| च०    | गच्छते    | गच्छद्भ्याम् | गच्छद्भ्यः  |
| पं०   | गच्छतः    | गच्छद्भ्याम् | गच्छद्भ्यः  |
| ष०    | गच्छतः    | गच्छतोः      | गच्छताम्    |
| स०    | गच्छति    | गच्छतोः      | गच्छत्सु    |
| सं०   | हे गच्छन् | हे गच्छन्तौ  | हे गच्छन्तः |

( ८ ) भगवत् ( सं० रूप ) ( दे० अ० १७ )

|       |        |          |        |
|-------|--------|----------|--------|
| प्र०  | आन्    | अन्तौ    | अन्तः  |
| द्वि० | अन्तम् | अन्तौ    | अतः    |
| तृ०   | ता     | द्भ्याम् | द्भिः  |
| च०    | ते     | द्भ्याम् | द्भ्यः |
| पं०   | तः     | द्भ्याम् | द्भ्यः |
| ष०    | तः     | तोः      | ताम्   |
| स०    | ति     | तोः      | त्सु   |
| सं०   | अन्    | अन्तौ    | अन्तः  |

( ९ ) गच्छत् ( सं० रूप ) ( दे० अ० २० )

|       |                                    |       |       |
|-------|------------------------------------|-------|-------|
| प्र०  | अन्                                | अन्तौ | अन्तः |
| द्वि० | शेष भगवत् के तुल्य ( देखो शब्द ८ ) |       |       |
| तृ०   |                                    |       |       |
| च०    |                                    |       |       |
| पं०   |                                    |       |       |
| ष०    |                                    |       |       |
| स०    |                                    |       |       |
| सं०   |                                    |       |       |

( १० ) करिन् ( हाथी ) इन्नन्त पुं०

|          |          |           |          |
|----------|----------|-----------|----------|
| प्रथम    | करी      | करिणौ     | करिणः    |
| द्वितीया | करिणम्   | करिणौ     | करिणः    |
| तृतीया   | करिणा    | करिभ्याम् | करिभिः   |
| चतुर्थी  | करिणे    | करिभ्याम् | करिभ्यः  |
| पंचमी    | करिणः    | करिभ्याम् | करिभ्यः  |
| षष्ठी    | करिणः    | करिणोः    | करिणाम्  |
| सप्तमी   | करिणि    | करिणोः    | करिषु    |
| संबोधन   | हे करिन् | हे करिणौ  | हे करिणः |

( ११ ) पथिन् ( मार्ग ) इन्नन्त पुं०

|       |           |            |         |
|-------|-----------|------------|---------|
| प्र०  | पन्थाः    | पन्थानौ    | पन्थानः |
| द्वि० | पन्थानम्  | पन्थानौ    | पथः     |
| तृ०   | पथा       | पथिभ्याम्  | पथिभिः  |
| च०    | पथे       | पथिभ्याम्  | पथिभ्यः |
| पं०   | पथः       | पथिभ्याम्  | पथिभ्यः |
| ष०    | पथः       | पथोः       | पथाम्   |
| स०    | पथि       | पथोः       | पथिषु   |
| सं०   | हे पन्थाः | हे पन्थानौ |         |

( १० ) करिन् ( सं० रूप ) ( दे० अ० १८ )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | ई    | इनौ     | इनः   |
| द्वि० | इनम् | इनौ     | इनः   |
| तृ०   | इना  | इभ्याम् | इभिः  |
| च०    | इने  | इभ्याम् | इभ्यः |
| पं०   | इनः  | इभ्याम् | इभ्यः |
| ष०    | इनः  | इनोः    | इनाम् |
| स०    | इनि  | इनोः    | इषु   |
| सं०   | इन्  | इनौ     | इनः   |

सूचना - साधारणतया पथिन्

शब्द के तुल्य अन्य किसी शब्द  
के रूप नहीं चलते हैं।

हे पन्थानः

( १२ ) आत्मन् ( आत्मा ) अन्नन्त पुं०

|          |           |            |            |
|----------|-----------|------------|------------|
| प्रथम    | आत्मा     | आत्मानौ    | आत्मानः    |
| द्वितीया | आत्मानम्  | आत्मानौ    | आत्मनः     |
| तृतीया   | आत्मना    | आत्मभ्याम् | आत्मभिः    |
| चतुर्थी  | आत्मने    | आत्मभ्याम् | आत्मभ्यः   |
| पंचमी    | आत्मनः    | आत्मभ्याम् | आत्मभ्यः   |
| षष्ठी    | आत्मनः    | आत्मनोः    | आत्मनाम्   |
| सप्तमी   | आत्मनि    | आत्मनोः    | आत्मसु     |
| संबोधन   | हे आत्मन् | हे आत्मानौ | हे आत्मानः |

( १३ ) राजन् ( राजा ) अन्नन्त पुं०

|          |               |           |           |
|----------|---------------|-----------|-----------|
| प्रथम    | राजा          | राजानौ    | राजानः    |
| द्वितीया | राजानम्       | राजानौ    | राज्ञः    |
| तृतीया   | राज्ञा        | राजभ्याम् | राजभिः    |
| चतुर्थी  | राज्ञे        | राजभ्याम् | राजभ्यः   |
| पंचमी    | राज्ञः        | राजभ्याम् | राजभ्यः   |
| षष्ठी    | राज्ञः        | राज्ञोः   | राज्ञाम्  |
| सप्तमी   | राज्ञि, राजनि | राज्ञोः   | राजसु     |
| संबोधन   | हे राजन्      | हे राजानौ | हे राजानः |

( १२ ) आत्मन् ( सं० रूप )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | आ    | आनौ     | आनः   |
| द्वि० | आनम् | आनौ     | अनः   |
| तृ०   | अना  | अभ्याम् | अभिः  |
| च०    | अने  | अभ्याम् | अभ्यः |
| पं०   | अनः  | अभ्याम् | अभ्यः |
| ष०    | अनः  | अनोः    | अनाम् |
| स०    | अनि  | अनोः    | अषु   |
| सं०   | अन्  | आनौ     | आनः   |

( १३ ) राजन् ( सं० रूप ) ( दे० अ० १९ )

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | आ       | आनौ     | आनः   |
| द्वि० | आनम्    | आनौ     | नः    |
| तृ०   | ना      | अभ्याम् | अभिः  |
| च०    | ने      | अभ्याम् | अभ्यः |
| पं०   | नः      | अभ्याम् | अभ्यः |
| ष०    | नः      | नोः     | नाम्  |
| स०    | नि, अनि | नोः     | असु   |
| सं०   | अन्     | आनौ     | आनः   |

( १४ ) विद्वस् ( विद्वान् ) असन्त पुं०

|       |             |               |               |
|-------|-------------|---------------|---------------|
| प्र०  | विद्वान्    | विद्वान्सौ    | विद्वान्सः    |
| द्वि० | विद्वान्सम् | विद्वान्सौ    | विद्वान्सः    |
| तृ०   | विदुषा      | विद्वद्भ्याम् | विद्वद्भिः    |
| च०    | विदुषे      | विद्वद्भ्याम् | विद्वद्भ्यः   |
| पं०   | विदुषः      | विद्वद्भ्याम् | विद्वद्भ्यः   |
| ष०    | विदुषः      | विदुषोः       | विदुषाम्      |
| स०    | विदुषि      | विदुषोः       | विद्वत्सु     |
| सं०   | हे विद्वन्  | हे विद्वान्सौ | हे विद्वान्सः |

सूचना - साधारणतया अन्य  
किसी शब्द के रूप विद्वस् के  
तुल्य नहीं चलते हैं।

( १५ ) रमा ( लक्ष्मी ) आकारान्त स्त्री०

|       |         |           |         |
|-------|---------|-----------|---------|
| प्र०  | रमा     | रमे       | रमाः    |
| द्वि० | रमाम्   | रमे       | रमाः    |
| तृ०   | रमया    | रमाभ्याम् | रमाभिः  |
| च०    | रमायै   | रमाभ्याम् | रमाभ्यः |
| पं०   | रमायाः  | रमाभ्याम् | रमाभ्यः |
| ष०    | रमायाः  | रमयोः     | रमाणाम् |
| स०    | रमायाम् | रमयोः     | रमासु   |
| सं०   | हे रमे  | हे रमे    | हे रमाः |

( १५ ) रमा ( सं० रूप ) ( दे० अ० ७ )

|       |       |         |       |
|-------|-------|---------|-------|
| प्र०  | आ     | ए       | आः    |
| द्वि० | आम्   | ए       | आः    |
| तृ०   | अया   | आभ्याम् | अभिः  |
| च०    | आयै   | आभ्याम् | आभ्यः |
| पं०   | आयाः  | आभ्याम् | आभ्यः |
| ष०    | आयाः  | अयोः    | आनाम् |
| स०    | आयाम् | अयोः    | आसु   |
| सं०   | ए     | ए       | आः    |

( १६ ) मति ( बुद्धि ) इकारान्त स्त्री०

|          |              |           |         |
|----------|--------------|-----------|---------|
| प्रथम    | मतिः         | मती       | मतयः    |
| द्वितीया | मतिम्        | मती       | मतीः    |
| तृतीया   | मत्या        | मतिभ्याम् | मतिभिः  |
| चतुर्थी  | मत्यै, मतये  | मतिभ्याम् | मतिभ्यः |
| पंचमी    | मत्याः, मतेः | मतिभ्याम् | मतिभ्यः |
| षष्ठी    | मत्याः, मतेः | मत्योः    | मतीनाम् |
| सप्तमी   | मत्याम्, मतौ | मत्योः    | मतिषु   |
| संबोधन   | हे मते       | हे मती    | हे मतयः |

( १६ ) मति ( सं० रूप ) ( दे० अ० २१ )

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | इः      | ई       | अयः   |
| द्वि० | इम्     | ई       | ईः    |
| तृ०   | या      | इभ्याम् | इभिः  |
| च०    | यै, अये | इभ्याम् | इभ्यः |
| पं०   | याः, एः | इभ्याम् | इभ्यः |
| ष०    | याः, एः | योः     | ईनाम् |
| स०    | याम्, औ | योः     | इषु   |
| सं०   | ए       | ई       | अयः   |

( १७ ) नदी ( नदी ) ईकारान्त स्त्री०

|       |       |       |       |
|-------|-------|-------|-------|
| प्र०  | नदी   | नद्यौ | नद्यः |
| द्वि० | नदीम् | नद्यौ | नदीः  |

( १७ ) नदी ( सं० रूप ) ( दे० अ० २२ )

|       |     |    |    |
|-------|-----|----|----|
| प्र०  | ई   | यौ | यः |
| द्वि० | ईम् | यौ | ईः |



|     |         |           |          |
|-----|---------|-----------|----------|
| तृ० | नद्या   | नदीभ्याम् | नदीभिः   |
| च०  | नद्यै   | नदीभ्याम् | नदीभ्यः  |
| पं० | नद्याः  | नदीभ्याम् | नदीभ्यः  |
| ष०  | नद्याः  | नद्योः    | नदीनाम्  |
| स०  | नद्याम् | नद्योः    | नदीषु    |
| सं० | हे नदि  | हे नद्यौ  | हे नद्यः |

|     |      |         |       |
|-----|------|---------|-------|
| तृ० | या   | ईभ्याम् | ईभिः  |
| च०  | यै   | ईभ्याम् | ईभ्यः |
| पं० | याः  | ईभ्याम् | ईभ्यः |
| ष०  | याः  | योः     | ईनाम् |
| स०  | याम् | योः     | ईषु   |
| सं० | इ    | यौ      | यः    |

( १८ ) स्त्री ( स्त्री ) ईकारान्त स्त्री०

|       |            |              |             |
|-------|------------|--------------|-------------|
| प्र०  | स्त्री     | स्त्रियौ     | स्त्रियः    |
| द्वि० | स्त्रियम्  | स्त्रियौ     | स्त्रियः    |
|       | स्त्रीम्   | स्त्रियौ     | स्त्रीः     |
| तृ०   | स्त्रिया   | स्त्रीभ्याम् | स्त्रीभिः   |
| च०    | स्त्रियै   | स्त्रीभ्याम् | स्त्रीभ्यः  |
| पं०   | स्त्रियाः  | स्त्रीभ्याम् | स्त्रीभ्यः  |
| ष०    | स्त्रियाः  | स्त्रियोः    | स्त्रीणाम्  |
| स०    | स्त्रियाम् | स्त्रियोः    | स्त्रीषु    |
| सं०   | हे स्त्री  | हे स्त्रियौ  | हे स्त्रियः |

**सूचना-** स्त्री शब्द के तुल्य अन्य किसी शब्द के रूप नहीं चलते हैं।

( १९ ) धेनु ( गाय ) उकारान्त स्त्री०

| पुरुष    | एकवचन          | द्विवचन    | बहुवचन   |
|----------|----------------|------------|----------|
| प्रथम    | धेनुः          | धेनू       | धेनवः    |
| द्वितीया | धेनुम्         | धेनू       | धेनूः    |
| तृतीया   | धेन्वा         | धेनुभ्याम् | धेनुभिः  |
| चतुर्थी  | धेन्वै, धेनवे  | धेनुभ्याम् | धेनुभ्यः |
| पंचमी    | धेन्वाः, धेनोः | धेनुभ्याम् | धेनुभ्यः |
| षष्ठी    | धेन्वाः, धेनोः | धेन्वोः    | धेनूनाम् |
| सप्तमी   | धेन्वाम्, धेनौ | धेन्वोः    | धेनुषु   |
| संबोधन   | हे धेनो        | हे धेनू    | हे धेनवः |

( १९ ) धेनु ( सं० रूप ) ( दे० अ० २३ )

| पुरुष | एकवचन   | द्विवचन | बहुवचन |
|-------|---------|---------|--------|
| प्र०  | उः      | ऊ       | अवः    |
| द्वि० | उम्     | ऊ       | ऊः     |
| तृ०   | वा      | उभ्याम् | उभिः   |
| च०    | वै, अवे | उभ्याम् | उभ्यः  |
| पं०   | वाः, ओः | उभ्याम् | उभ्यः  |
| ष०    | वाः, ओः | वोः     | ऊनाम्  |
| स०    | वाम्, औ | वोः     | उषु    |
| सं०   | ओ       | ऊ       | अवः    |

( २० ) वधू ( बहू ) ऊकारान्त स्त्री०

|          |         |           |          |
|----------|---------|-----------|----------|
| प्रथम    | वधूः    | वध्वौ     | वध्वः    |
| द्वितीया | वधूम्   | वध्वौ     | वधूः     |
| तृतीया   | वध्वा   | वधूभ्याम् | वधूभिः   |
| चतुर्थी  | वध्वै   | वधूभ्याम् | वधूभ्यः  |
| पंचमी    | वध्वाः  | वधूभ्याम् | वधूभ्यः  |
| षष्ठी    | वध्वाः  | वध्वोः    | वधूनाम्  |
| सप्तमी   | वध्वाम् | वध्वोः    | वधूषु    |
| संबोधन   | हे वधु  | हे वध्वौ  | हे वध्वः |

( २१ ) मातृ ( माता ) ऋकारान्त स्त्री०

|       |         |            |          |
|-------|---------|------------|----------|
| प्र०  | माता    | मातरौ      | मातरः    |
| द्वि० | मातरम्  | मातरौ      | मातृः    |
| तृ०   | मात्रा  | मातृभ्याम् | मातृभिः  |
| च०    | मात्रे  | मातृभ्याम् | मातृभ्यः |
| पं०   | मातुः   | मातृभ्याम् | मातृभ्यः |
| ष०    | मातुः   | मात्रोः    | मातृणाम् |
| स०    | मातरि   | मात्रोः    | मातृषु   |
| सं०   | हे मातः | हे मातरौ   | हे मातरः |

( २० ) वधू ( सं० रूप )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | ऊः   | वौ      | वः    |
| द्वि० | ऊम्  | वौ      | ऊः    |
| तृ०   | वा   | ऊभ्याम् | ऊभिः  |
| च०    | वै   | ऊभ्याम् | ऊभ्यः |
| पं०   | वाः  | ऊभ्याम् | ऊभ्यः |
| ष०    | वाः  | वोः     | ऊनाम् |
| स०    | वाम् | वोः     | ऊषु   |
| सं०   | उ    | वौ      | वः    |

( २१ ) मातृ ( सं० रूप )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | आ    | अरौ     | अरः   |
| द्वि० | अरम् | अरौ     | ऋन्   |
| तृ०   | रा   | ऋभ्याम् | ऋभिः  |
| च०    | रे   | ऋभ्याम् | ऋभ्यः |
| पं०   | उः   | ऋभ्याम् | ऋभ्यः |
| ष०    | उः   | रोः     | ऋणाम् |
| स०    | अरि  | रोः     | ऋषु   |
| सं०   | अः   | अरौ     | अरः   |

( २२ ) वाच् ( वाणी ) चकारान्त स्त्री०

|       |            |            |          |
|-------|------------|------------|----------|
| प्र०  | वाक्-ग्    | वाचौ       | वाचः     |
| द्वि० | वाचम्      | वाचौ       | वाचः     |
| तृ०   | वाचा       | वाग्भ्याम् | वाग्भिः  |
| च०    | वाचे       | वाग्भ्याम् | वाग्भ्यः |
| पं०   | वाचः       | वाग्भ्याम् | वाग्भ्यः |
| ष०    | वाचः       | वाचोः      | वाचाम्   |
| स०    | वाचि       | वाचोः      | वाक्षु   |
| सं०   | हे वाक्-ग् | हे वाचौ    | हे वाचः  |

( २३ ) दिश् ( दिशा ) शकारान्त स्त्री०

|          |            |            |          |
|----------|------------|------------|----------|
| प्रथम    | दिक्-ग्    | दिशौ       | दिशः     |
| द्वितीया | दिशम्      | दिशौ       | दिशः     |
| तृतीया   | दिशा       | दिग्भ्याम् | दिग्भिः  |
| चतुर्थी  | दिशे       | दिग्भ्याम् | दिग्भ्यः |
| पंचमी    | दिशः       | दिग्भ्याम् | दिग्भ्यः |
| षष्ठी    | दिशः       | दिशोः      | दिशाम्   |
| सप्तमी   | दिशि       | दिशोः      | दिक्षु   |
| संबोधन   | हे दिक्-ग् | हे दिशौ    | हे दिशः  |

( २२ ) वाच् ( सं० रूप )

|       |       |          |        |
|-------|-------|----------|--------|
| प्र०  | क्-ग् | चौ       | चः     |
| द्वि० | चम्   | चौ       | चः     |
| तृ०   | चा    | ग्भ्याम् | ग्भिः  |
| च०    | चे    | ग्भ्याम् | ग्भ्यः |
| पं०   | चः    | ग्भ्याम् | ग्भ्यः |
| ष०    | चः    | चोः      | चाम्   |
| स०    | चि    | चोः      | क्षु   |
| सं०   | क्-ग् | चौ       | चः     |

( २३ ) दिश् ( सं० रूप )

|       |       |          |        |
|-------|-------|----------|--------|
| प्र०  | क्-ग् | शौ       | शः     |
| द्वि० | शम्   | शौ       | शः     |
| तृ०   | शा    | ग्भ्याम् | ग्भिः  |
| च०    | शे    | ग्भ्याम् | ग्भ्यः |
| पं०   | शः    | ग्भ्याम् | ग्भ्यः |
| ष०    | शः    | शोः      | शाम्   |
| स०    | शि    | शोः      | क्षु   |
| सं०   | क्-ग् | शौ       | शः     |

( २४ ) क्षुध् ( भूख ) धकारान्त स्त्री०

|       |           |              |            |       |                                |
|-------|-----------|--------------|------------|-------|--------------------------------|
| प्र०  | क्षुत्    | क्षुधौ       | क्षुधः     | प्र०  | सूचना-साधारणतया क्षुध् शब्द के |
| द्वि० | क्षुधम्   | क्षुधौ       | क्षुधः     | द्वि० | तुल्य किसी शब्द के रूप नहीं    |
| तृ०   | क्षुधा    | क्षुद्भ्याम् | क्षुद्भिः  | तृ०   | चलते हैं।                      |
| च०    | क्षुधे    | क्षुद्भ्याम् | क्षुद्भ्यः | च०    |                                |
| पं०   | क्षुधः    | क्षुद्भ्याम् | क्षुद्भ्यः | पं०   |                                |
| ष०    | क्षुधः    | क्षुधोः      | क्षुधाम्   | ष०    |                                |
| स०    | क्षुधि    | क्षुधोः      | क्षुत्सु   | स०    |                                |
| सं०   | हे क्षुत् | हे क्षुधौ    | हे क्षुधः  | सं०   |                                |

( २५ ) उपानह् ( जूता ) हकारान्त स्त्री०

|       |           |              |            |       |                             |
|-------|-----------|--------------|------------|-------|-----------------------------|
| प्र०  | उपानत्    | उपानहौ       | उपानहः     | प्र०  | सूचना-साधारणतया उपानह् शब्द |
| द्वि० | उपानहम्   | उपानहौ       | उपानहः     | द्वि० | के तुल्य किसी शब्द के रूप   |
| तृ०   | उपानहा    | उपानद्भ्याम् | उपानद्भिः  | तृ०   | नहीं चलते हैं।              |
| च०    | उपानहे    | उपानद्भ्याम् | उपानद्भ्यः | च०    |                             |
| पं०   | उपानहः    | उपानद्भ्याम् | उपानद्भ्यः | पं०   |                             |
| ष०    | उपानहः    | उपानहोः      | उपानहाम्   | ष०    |                             |
| स०    | उपानहि    | उपानहोः      | उपानत्सु   | स०    |                             |
| सं०   | हे उपानत् | हे उपानहौ    | हे उपानहः  | सं०   |                             |

( २६ ) गृह ( घर ) अकारान्त नपुं०

|          |        |            |           |
|----------|--------|------------|-----------|
| प्रथम    | गृहम्  | गृहे       | गृहाणि    |
| द्वितीया | गृहम्  | गृहे       | गृहाणि    |
| तृतीया   | गृहेण  | गृहाभ्याम् | गृहैः     |
| चतुर्थी  | गृहाय  | गृहाभ्याम् | गृहेभ्यः  |
| पंचमी    | गृहात् | गृहाभ्याम् | गृहेभ्यः  |
| षष्ठी    | गृहस्य | गृहयोः     | गृहाणाम्  |
| सप्तमी   | गृहे   | गृहयोः     | गृहेषु    |
| संबोधन   | हे गृह | हे गृहे    | हे गृहाणि |

( २७ ) वारि ( जल ) इकारान्त नपुं०

|       |            |            |           |
|-------|------------|------------|-----------|
| प्र०  | वारि       | वारिणी     | वारीणि    |
| द्वि० | वारि       | वारिणी     | वारीणि    |
| तृ०   | वारिणा     | वारिभ्याम् | वारिभिः   |
| च०    | वारिणे     | वारिभ्याम् | वारिभ्यः  |
| पं०   | वारिणः     | वारिभ्याम् | वारिभ्यः  |
| ष०    | वारिणः     | वारिणोः    | वारीणाम्  |
| स०    | वारिणि     | वारिणोः    | वारिषु    |
| सं०   | हे वारि-रे | हे वारिणी  | हे वारीणि |

( २६ ) गृह ( सं० रूप ) ( दे० अ० ६ )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | अम्  | ए       | आनि   |
| द्वि० | अम्  | ए       | आनि   |
| तृ०   | एन   | आभ्याम् | ऐः    |
| च०    | आय   | आभ्याम् | एभ्यः |
| पं०   | आत्  | आभ्याम् | एभ्यः |
| ष०    | अस्य | अयोः    | आनाम् |
| स०    | ए    | अयोः    | एषु   |
| सं०   | अ    | ए       | आनि   |

( २७ ) वारि ( सं० रूप ) ( दे० अ० २४ )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | इ    | इनी     | ईनि   |
| द्वि० | इ    | इनी     | ईनि   |
| तृ०   | इना  | इभ्याम् | इभ्यः |
| च०    | इने  | इभ्याम् | इभ्यः |
| पं०   | इनः  | इभ्याम् | इभ्यः |
| ष०    | इनः  | इनोः    | ईनाम् |
| स०    | इनि  | इनोः    | इषु   |
| सं०   | इ, ए | इनी     | ईनि   |

( २८ ) दधि ( दही ) इकारान्त नपुं०

|       |             |           |          |
|-------|-------------|-----------|----------|
| प्र०  | दधि         | दधिनी     | दधीनि    |
| द्वि० | दधि         | दधिनी     | दधीनि    |
| तृ०   | दध्ना       | दधिभ्याम् | दधिभिः   |
| च०    | दध्ने       | दधिभ्याम् | दधिभ्यः  |
| पं०   | दध्नः       | दधिभ्याम् | दधिभ्यः  |
| ष०    | दध्नः       | दध्नोः    | दध्नाम्  |
| स०    | दध्नि, दधनि | दध्नोः    | दधिषु    |
| सं०   | हे दधि-धे   | हे दधिनी  | हे दधीनि |

( २८ ) दधि ( सं० रूप )

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | इ       | इनी     | ईनि   |
| द्वि० | इ       | इनी     | ईनि   |
| तृ०   | ना      | इभ्याम् | इभिः  |
| च०    | ने      | इभ्याम् | इभ्यः |
| पं०   | नः      | इभ्याम् | इभ्यः |
| ष०    | नः      | नोः     | नाम्  |
| स०    | नि, अनि | नोः     | इषु   |
| सं०   | इ, ए    | इनी     | ईनि   |

( २९ ) मधु ( शहद ) उकारान्त नपुं०

|          |           |           |          |
|----------|-----------|-----------|----------|
| प्रथम    | मधु       | मधुनी     | मधूनि    |
| द्वितीया | मधु       | मधुनी     | मधूनि    |
| तृतीया   | मधुना     | मधुभ्याम् | मधुभिः   |
| चतुर्थी  | मधुने     | मधुभ्याम् | मधुभ्यः  |
| पंचमी    | मधुनः     | मधुभ्याम् | मधुभ्यः  |
| षष्ठी    | मधुनः     | मधुनोः    | मधूनाम्  |
| सप्तमी   | मधुनि     | मधुनोः    | मधुषु    |
| संबोधन   | हे मधु-धो | हे मधुनी  | हे मधूनि |

( २९ ) मधु ( सं० रूप ) ( दे० अ० २५ )

|       |      |         |       |
|-------|------|---------|-------|
| प्र०  | उ    | उनी     | ऊनि   |
| द्वि० | उ    | उनी     | ऊनि   |
| तृ०   | उना  | उभ्याम् | उभिः  |
| च०    | उने  | उभ्याम् | उभ्यः |
| पं०   | उनः  | उभ्याम् | उभ्यः |
| ष०    | उनः  | उनोः    | ऊनाम् |
| स०    | उनि  | उनोः    | उषु   |
| सं०   | उ, ओ | उनी     | ऊनि   |



( ३० ) पयस् ( दूध, जल ) असन्त नपुं०

|       |        |           |           |
|-------|--------|-----------|-----------|
| प्र०  | पयः    | पयसी      | पयांसि    |
| द्वि० | पयः    | पयसी      | पयांसि    |
| तृ०   | पयसा   | पयोभ्याम् | पयोभिः    |
| च०    | पयसे   | पयोभ्याम् | पयोभ्यः   |
| पं०   | पयसः   | पयोभ्याम् | पयोभ्यः   |
| ष०    | पयसः   | पयसोः     | पयसाम्    |
| स०    | पयसि   | पयसोः     | पयःसु     |
| सं०   | हे पयः | हे पयसी   | हे पयांसि |

( ३१ ) नामन् ( नाम ) अन्नन्त नपुं०

|       |               |           |           |
|-------|---------------|-----------|-----------|
| प्र०  | नाम           | नामनी     | नामानि    |
| द्वि० | नाम           | नामनी     | नामानि    |
| तृ०   | नाम्ना        | नामभ्याम् | नामभिः    |
| च०    | नाम्ने        | नामभ्याम् | नामभ्यः   |
| पं०   | नाम्नः        | नामभ्याम् | नामभ्यः   |
| ष०    | नाम्नः        | नाम्नोः   | नाम्नाम्  |
| स०    | नाम्नि, नामनि | नाम्नोः   | नामसु     |
| सं०   | हे नाम, नामन् | हे नामनी  | हे नामानि |

( ३० ) पयस् ( सं० रूप ) ( दे० अ० ३६ )

|       |     |         |       |
|-------|-----|---------|-------|
| प्र०  | अः  | असी     | आंसि  |
| द्वि० | अः  | असी     | आंसि  |
| तृ०   | असा | ओभ्याम् | ओभिः  |
| च०    | असे | ओभ्याम् | ओभ्यः |
| पं०   | असः | ओभ्याम् | ओभ्यः |
| ष०    | असः | असोः    | असाम् |
| स०    | असि | असोः    | अःसु  |
| सं०   | अः  | असी     | आंसि  |

( ३१ ) नामन् ( सं रूप ) ( दे० अ० २७ )

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | अ       | अनी     | आनि   |
| द्वि० | अ       | अनी     | आनि   |
| तृ०   | ना      | अभ्याम् | अभिः  |
| च०    | ने      | अभ्याम् | अभ्यः |
| पं०   | नः      | अभ्याम् | अभ्यः |
| ष०    | नः      | नोः     | नाम्  |
| स०    | नि, अनि | नोः     | असु   |
| सं०   | अ. अन्  | अनी     | आनि   |

( ३२ ) अहन् ( दिन ) अन्नन्त नपुं०

|          |                  |           |          |
|----------|------------------|-----------|----------|
| प्रथम    | अहः              | अहनी      | अहानि    |
| द्वितीया | अहः              | अहनी      | अहानि    |
| तृतीया   | अह्ना            | अहोभ्याम् | अहोभिः   |
| चतुर्थी  | अह्ने            | अहोभ्याम् | अहोभ्यः  |
| पंचमी    | अहः              | अहोभ्याम् | अहोभ्यः  |
| षष्ठी    | अहः              | अहोः      | अहाम्    |
| सप्तमी   | अह्नि, अहनि अहोः |           | अहः सु   |
| संबोधन   | हे अहः           | हे अहनी   | हे अहानि |

सूचना- अहन् शब्द के तुल्य  
अन्य किसी शब्द के रूप नहीं  
चलते हैं।

( ३३ ) जगत् ( संसार ) तकारान्त नपुं०

|       |         |            |           |
|-------|---------|------------|-----------|
| प्र०  | जगत्    | जगती       | जगन्ति    |
| द्वि० | जगत्    | जगती       | जगन्ति    |
| तृ०   | जगता    | जगद्भ्याम् | जगद्भिः   |
| च०    | जगते    | जगद्भ्याम् | जगद्भ्यः  |
| पं०   | जगतः    | जगद्भ्याम् | जगद्भ्यः  |
| ष०    | जगतः    | जगतोः      | जगताम्    |
| स०    | जगति    | जगतोः      | जगत्सु    |
| सं०   | हे जगत् | हे जगती    | हे जगन्ति |

( ३३ ) जगत् ( सं रूप )

|       |     |           |         |
|-------|-----|-----------|---------|
| प्र०  | अत् | अती       | अन्ति   |
| द्वि० | अत् | अती       | अन्ति   |
| तृ०   | अता | अद्भ्याम् | अद्भिः  |
| च०    | अते | अद्भ्याम् | अद्भ्यः |
| पं०   | अतः | अद्भ्याम् | अद्भ्यः |
| ष०    | अतः | अतोः      | अताम्   |
| स०    | अति | अतोः      | अत्सु   |
| सं०   | अत् | अती       | अन्ति   |

( ३४ ) ( घ ) सर्व ( सगा ) सर्वनाम पुं०

|       |            |             |           |
|-------|------------|-------------|-----------|
| प्र०  | सर्वः      | सर्वौ       | सर्वे     |
| द्वि० | सर्वम्     | सर्वौ       | सर्वान्   |
| तृ०   | सर्वेण     | सर्वाभ्याम् | सर्वैः    |
| च०    | सर्वस्मै   | सर्वाभ्याम् | सर्वेभ्यः |
| पं०   | सर्वस्मात् | सर्वाभ्याम् | सर्वेभ्यः |
| ष०    | सर्वस्य    | सर्वयोः     | सर्वेषाम् |
| स०    | सर्वस्मिन् | सर्वयोः     | सर्वेषु   |

( ३४ ) ( ख ) सर्व ( सगा ) नपुं०

|          |            |             |           |
|----------|------------|-------------|-----------|
| प्रथम    | सर्वम्     | सर्वे       | सर्वाणि   |
| द्वितीया | सर्वम्     | सर्वे       | सर्वाणि   |
| तृतीया   | सर्वेण     | सर्वाभ्याम् | सर्वैः    |
| चतुर्थी  | सर्वस्मै   | सर्वाभ्याम् | सर्वेभ्यः |
| पंचमी    | सर्वस्मात् | सर्वाभ्याम् | सर्वेभ्यः |
| षष्ठी    | सर्वस्य    | सर्वयोः     | सर्वेषाम् |
| सप्तमी   | सर्वस्मिन् | सर्वयोः     | सर्वेषु   |

( ३४ ) ( घ ) सर्व ( सं० रूप )

( दे० अ० १०-१२ )

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | अः      | औ       | ए     |
| द्वि० | अम्     | औ       | आन्   |
| तृ०   | एन      | आभ्याम् | ऐः    |
| च०    | अस्मै   | आभ्याम् | एभ्यः |
| पं०   | अस्मात् | आभ्याम् | एभ्यः |
| ष०    | अस्य    | अयोः    | एषाम् |
| स०    | अस्मिन् | अयोः    | एषु   |

( ३४ ) ( ख ) सर्व ( सं० रूप )

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | अम्     | ए       | आनि   |
| द्वि० | अम्     | ए       | आनि   |
| तृ०   | एन      | आभ्याम् | ऐः    |
| च०    | अस्मै   | आभ्याम् | एभ्यः |
| पं०   | अस्मात् | आभ्याम् | एभ्यः |
| ष०    | अस्य    | अयोः    | एषाम् |
| स०    | अस्मिन् | अयोः    | एषु   |

## ( ३४ ) ( ग ) सर्व ( सगा ) स्त्रीलिङ्ग

|       |            |             |           |
|-------|------------|-------------|-----------|
| प्र०  | सर्वा      | सर्वे       | सर्वाः    |
| द्वि० | सर्वाम्    | सर्वे       | सर्वाः    |
| तृ०   | सर्वया     | सर्वाभ्याम् | सर्वाभिः  |
| च०    | सर्वस्यै   | सर्वाभ्याम् | सर्वाभ्यः |
| पं०   | सर्वस्याः  | सर्वाभ्याम् | सर्वाभ्यः |
| ष०    | सर्वस्याः  | सर्वयोः     | सर्वासाम् |
| स०    | सर्वस्याम् | सर्वयोः     | सर्वासु   |

## ( ३४ ) ( ग ) सर्व ( सं० रूप )

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | आ       | ए       | आः    |
| द्वि० | आम्     | ए       | आः    |
| तृ०   | अया     | आभ्याम् | आभिः  |
| च०    | अस्यै   | आभ्याम् | आभ्यः |
| पं०   | अस्याः  | आभ्याम् | आभ्यः |
| ष०    | अस्याः  | अयोः    | आसाम् |
| स०    | अस्याम् | अयोः    | आसु   |

( ३५ ) ( घ ) किम् ( कौन ) पुल्लिङ्ग  
( दे० अ० १०-१२ )

| विभक्ति | एकवचन   | द्विवचन  | बहुवचन |
|---------|---------|----------|--------|
| प्रथमा  | कः      | कौ       | के     |
| द्वितीय | कम्     | कौ       | कान्   |
| तृतीया  | केन     | काभ्याम् | कैः    |
| चतुर्थी | कस्मै   | काभ्याम् | केभ्यः |
| पंचमी   | कस्मात् | काभ्याम् | केभ्यः |
| षष्ठी   | कस्य    | कयोः     | केषाम् |
| सप्तमी  | कस्मिन् | कयोः     | केषु   |

## ( ३५ ) ( ख ) किम् ( कौन ) नपुं०

|          |         |          |        |
|----------|---------|----------|--------|
| प्रथमा   | किम्    | के       | कानि   |
| द्वितीया | किम्    | के       | कानि   |
| तृतीया   | केन     | काभ्याम् | कैः    |
| चतुर्थी  | कस्यै   | काभ्याम् | केभ्यः |
| पंचमी    | कस्मात् | काभ्याम् | केभ्यः |
| षष्ठी    | कस्य    | कयोः     | केषाम् |
| सप्तमी   | कस्मिन् | कयोः     | केषु   |

## ( ३५ ) ( ग ) किम् ( कौन ) स्त्रीलिङ्ग

|          |         |          |        |
|----------|---------|----------|--------|
| प्रथमा   | का      | के       | काः    |
| द्वितीया | काम्    | के       | काः    |
| तृतीया   | कया     | काभ्याम् | काभिः  |
| चतुर्थी  | कस्यै   | काभ्याम् | काभ्यः |
| पंचमी    | कस्याः  | काभ्याम् | काभ्यः |
| षष्ठी    | कस्याः  | कयोः     | कासाम् |
| सप्तमी   | कस्याम् | कयोः     | कासु   |

( ३७ ) ( घ ) एतद् ( यह ) पुल्लिङ्ग  
( दे० अ० १०-१२ )

| विभक्ति | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---------|-------|---------|--------|
| प्रथमा  | एषः   | एतौ     | एते    |

( ३६ ) ( घ ) तद् ( वह ) पुल्लिङ्ग  
( दे० अ० १०-१२ )

| विभक्ति | एकवचन   | द्विवचन  | बहुवचन |
|---------|---------|----------|--------|
| प्र०    | सः      | तौ       | ते     |
| द्वि०   | तम्     | तौ       | तान्   |
| तृ०     | तेन     | ताभ्याम् | तैः    |
| च०      | तस्मै   | ताभ्याम् | तेभ्यः |
| पं०     | तस्मात् | ताभ्याम् | तेभ्यः |
| ष०      | तस्य    | तयोः     | तेषाम् |
| स०      | तस्मिन् | तयोः     | तेषु   |

## ( ३६ ) ( ख ) तद् ( वह ) नपुं०

|       |         |          |        |
|-------|---------|----------|--------|
| प्र०  | तत्     | ते       | तानि   |
| द्वि० | तत्     | ते       | तानि   |
| तृ०   | तेन     | ताभ्याम् | तैः    |
| च०    | तस्मै   | ताभ्याम् | तेभ्यः |
| पं०   | तस्मात् | ताभ्याम् | तेभ्यः |
| ष०    | तस्य    | तयोः     | तेषाम् |
| स०    | तस्मिन् | तयोः     | तेषु   |

## ( ३६ ) ( ग ) तद् ( वह ) स्त्रीलिङ्ग

|       |         |          |        |
|-------|---------|----------|--------|
| प्र०  | सा      | ते       | ताः    |
| द्वि० | ताम्    | ते       | ताः    |
| तृ०   | तया     | ताभ्याम् | ताभिः  |
| च०    | तस्यै   | ताभ्याम् | ताभ्यः |
| पं०   | तस्याः  | ताभ्याम् | ताभ्यः |
| ष०    | तस्याः  | तयोः     | तासाम् |
| स०    | तस्याम् | तयोः     | तासु   |

( ३८ ) ( घ ) यद् ( जो ) पुल्लिङ्ग  
( दे० अ० १०-१२ )

| विभक्ति | एकवचन | द्विवचन | बहुवचन |
|---------|-------|---------|--------|
| प्र०    | यः    | यौ      | ये     |

|          |          |           |         |       |         |          |        |
|----------|----------|-----------|---------|-------|---------|----------|--------|
| द्वितीया | एतम्     | एतौ       | एतान्   | द्वि० | यम्     | यौ       | यान्   |
| तृतीया   | एतेन     | एताभ्याम् | एतैः    | तृ०   | येन     | याभ्याम् | यैः    |
| चतुर्थी  | एतस्मै   | एताभ्याम् | एतेभ्यः | च०    | यस्मै   | याभ्याम् | येभ्यः |
| पंचमी    | एतस्मात् | एताभ्याम् | एतेभ्यः | पं०   | यस्मात् | याभ्याम् | येभ्यः |
| षष्ठी    | एतस्य    | एतयोः     | एतेषाम् | ष०    | यस्य    | ययोः     | येषाम् |
| सप्तमी   | एतस्मिन् | एतयोः     | एतेषु   | स०    | यस्मिन् | ययोः     | येषु   |

(३७) (ख) एतद् (यह) नपुं०

|          |          |           |         |
|----------|----------|-----------|---------|
| प्रथमा   | एतत्     | एते       | एतानि   |
| द्वितीया | एतत्     | एते       | एतानि   |
| तृतीया   | एतेन     | एताभ्याम् | एतैः    |
| चतुर्थी  | एतस्मै   | एताभ्याम् | एतेभ्यः |
| पंचमी    | एतस्मात् | एताभ्याम् | एतेभ्यः |
| षष्ठी    | एतस्य    | एतयोः     | एतेषाम् |
| सप्तमी   | एतस्मिन् | एतयोः     | एतेषु   |

(३७) (ग) एतद् (यह) स्त्रीलिङ्ग

|          |          |           |         |
|----------|----------|-----------|---------|
| प्रथमा   | एषा      | एते       | एताः    |
| द्वितीया | एताम्    | एते       | एताः    |
| तृतीया   | एतया     | एताभ्याम् | एताभिः  |
| चतुर्थी  | एतस्यै   | एताभ्याम् | एताभ्यः |
| पंचमी    | एतस्याः  | एताभ्याम् | एताभ्यः |
| षष्ठी    | एतस्याः  | एतयोः     | एतासाम् |
| सप्तमी   | एतस्याम् | एतयोः     | एतासु   |

(३९) युष्मद् (तू) (देखो अ० १३)

|         |            |
|---------|------------|
| त्वम्   | युवाम्     |
| त्वाम्  | युवाम्     |
| त्वा    | वाम्       |
| त्वया   | युवाभ्याम् |
| तुभ्यम् | युवाभ्याम् |
| ते      | वाम्       |
| त्वत्   | युवाभ्याम् |
| तव      | युवयोः     |
| ते      | वाम्       |
| त्वयि   | युवयोः     |

(४१) (घ) इदम् (यह) पुं०

|          |         |         |       |
|----------|---------|---------|-------|
| प्रथमा   | अयम्    | इमौ     | इमे   |
| द्वितीया | इमम्    | इमौ     | इमान् |
| तृतीया   | अनेन    | आभ्याम् | एभिः  |
| चतुर्थी  | अस्मै   | आभ्याम् | एभ्यः |
| पंचमी    | अस्मात् | आभ्याम् | एभ्यः |
| षष्ठी    | अस्य    | अनयोः   | एषाम् |
| सप्तमी   | अस्मिन् | अनयोः   | एषु   |

(४१) (ख) इदम् (यह) नपुं०

|          |         |         |       |
|----------|---------|---------|-------|
| प्रथमा   | इदम्    | इमे     | इमानि |
| द्वितीया | इदम्    | इमे     | इमानि |
| तृतीया   | अनेन    | आभ्याम् | एभिः  |
| चतुर्थी  | अस्मै   | आभ्याम् | एभ्यः |
| पंचमी    | अस्मात् | आभ्याम् | एभ्यः |
| षष्ठी    | अस्य    | अनयोः   | एषाम् |

(३८) (ख) यद् (जो) नपुं०

|       |         |          |        |
|-------|---------|----------|--------|
| प्र०  | यत्     | ये       | यानि   |
| द्वि० | यत्     | ये       | यानि   |
| तृ०   | येन     | याभ्याम् | यैः    |
| च०    | यस्मै   | याभ्याम् | येभ्यः |
| पं०   | यस्मात् | याभ्याम् | येभ्यः |
| ष०    | यस्य    | ययोः     | येषाम् |
| स०    | यस्मिन् | ययोः     | येषु   |

(३८) (ग) यद् (जो) स्त्रीलिङ्ग

|       |         |          |        |
|-------|---------|----------|--------|
| प्र०  | या      | ये       | याः    |
| द्वि० | याम्    | ये       | याः    |
| तृ०   | यया     | याभ्याम् | याभिः  |
| च०    | यस्यै   | याभ्याम् | याभ्यः |
| पं०   | यस्याः  | याभ्याम् | याभ्यः |
| ष०    | यस्याः  | ययोः     | यासाम् |
| स०    | यस्याम् | ययोः     | यासु   |

(४०) अस्मद् (मैक) (दे० अ० १४)

|       |        |           |           |
|-------|--------|-----------|-----------|
| प्र०  | अहम्   | आवाम्     | वयम्      |
| द्वि० | माम्   | आवाम्     | अस्मान्   |
|       | मा     | नौ        | नः        |
| तृ०   | मया    | आवाभ्याम् | अस्माभिः  |
| च०    | मह्यम् | आवाभ्याम् | अस्मभ्यम् |
|       | मे     | नौ        | नः        |
| पं०   | मत्    | आवाभ्याम् | अस्मत्    |
| ष०    | मम     | आवयोः     | अस्माकम्  |
|       | मे     | नौ        | नः        |
| स०    | मयि    | आवयोः     | अस्मासु   |

(४१) (ग) इदम् (यह) स्त्री०

|       |         |         |       |
|-------|---------|---------|-------|
| प्र०  | इयम्    | इमे     | इमाः  |
| द्वि० | इमाम्   | इमे     | इमाः  |
| तृ०   | अनया    | आभ्याम् | आभिः  |
| च०    | अस्यै   | आभ्याम् | आभ्यः |
| पं०   | अस्याः  | आभ्याम् | आभ्यः |
| ष०    | अस्याः  | अनयोः   | आसाम् |
| स०    | अस्याम् | अनयोः   | आसु   |

(४२) एक (एघ) (दे० अ० २८)

|          |        |             |
|----------|--------|-------------|
| पुंलिङ्ग | नपुंसक | स्त्रीलिङ्ग |
| प्र०     | एकः    | एकम्/एका    |
| द्वि०    | एकम्   | एकम्/एकाम्  |
| तृ०      | एकेन   | एकेन/एकया   |
| च०       | एकस्मै | एकस्मै      |
| पं०      | एकस्य  | एकस्य       |

सप्तमी अस्मिन् अनयोः एषु ष. एकस्मिन् एकस्मिन् एकस्याम् स  
सूचना-एकवचन में ही रूप चलते हैं।

(४३) द्वि (दो) (देखो अ० २८)

|            |                   |       |
|------------|-------------------|-------|
| पुलिंग     | नपुं०, स्त्रीलिंग |       |
| द्वौ       | द्वे              | प्र०  |
| द्वौ       | द्वे              | द्वि० |
| द्वाभ्याम् | द्वाभ्याम्        | तृ०   |
| द्वाभ्याम् | द्वाभ्याम्        | च०    |
| द्वाभ्याम् | द्वाभ्याम्        | पं०   |
| द्वयोः     | द्वयोः            | ष०    |
| द्वयोः     | द्वयोः            | स०    |

सूचना- केवल द्विवचन में रूप चलेंगे।

(४४) त्रि (तीन) (दे० अ० २९)

|           |               |          |
|-----------|---------------|----------|
| पुं०      | नपुं०         | स्त्री०  |
| त्रयः     | त्रीणि तिस्रः |          |
| त्रीन्    | त्रीणि तिस्रः |          |
| त्रिभिः   | त्रिभिः       | तिसृभिः  |
| त्रिभ्यः  | त्रिभ्यः      | तिसृभ्यः |
| त्रिभ्यः  | त्रिभ्यः      | तिसृभ्यः |
| त्रयाणाम् | त्रयाणाम्     | तिसृणाम् |
| त्रिषु    | त्रिषु        | तिसृषु   |

सूचना- बहु० में ही रूप चलेंगे।

(४५) चतुर् (चार) (देखो अ० २९)

|           |           |          |
|-----------|-----------|----------|
| पुं०      | नपुं०     | स्त्री०  |
| चत्वारः   | चत्वारि   | चतस्रः   |
| चतुरः     | चत्वारि   | चतस्रः   |
| चतुर्भिः  | चतुर्भिः  | चतसृभिः  |
| चतुर्भ्यः | चतुर्भ्यः | चतसृभ्यः |
| चतुर्णाम् | चतुर्णाम् | चतसृणाम् |
| चतुर्षु   | चतुर्षु   | चतसृषु   |

(४६) पञ्चन् (पाँच), (७) षष् (छः)

|       |           |         |
|-------|-----------|---------|
| प्र०  | पञ्चषट्   |         |
| द्वि० | पञ्चषट्   |         |
| तृ०   | पञ्चभिः   | षडभिः   |
| च०    | पञ्चभ्यः  | षड्भ्यः |
| ष०    | पञ्चानाम् | षण्णाम् |
| स०    | पञ्चसु    | षट्सु   |

(४८) सप्तन् (सात), (४९) अष्टम् (आख), (५०) नवन् (नौ), (५१) दशन् (दस)

|           |           |           |       |           |         |
|-----------|-----------|-----------|-------|-----------|---------|
| सप्त      | अष्ट      | अष्टौ     | प्र०  | नव        | दश      |
| सप्त      | अष्ट      | अष्टौ     | द्वि० | नव        | दश      |
| सप्तभिः   | अष्टभिः   | अष्टाभिः  | तृ०   | नवभिः     | दशभिः   |
| सप्तभ्यः  | अष्टभ्यः  | अष्टाभ्यः | च०    | नवभ्यः    | दशभ्यः  |
| सप्तभ्यः  | अष्टभ्यः  | अष्टाभ्यः | पं०   | नवभ्यः    | दशभ्यः  |
| सप्तानाम् | अष्टानाम् | अष्टानाम् | ष०    | नवानाम्   | दशानाम् |
| सप्तसु    | अष्टसु    | अष्टासु   | स०    | नवसु दशसु |         |

सूचना- त्रि से दशन् तक के रूप बहुवचन में ही चलेंगे। (देखो अ० २९-३०)।

(ख) शब्दरूप-संग्रह

(५२) सखि (मित्र) इकारान्त पुं०

|          |            |            |       |
|----------|------------|------------|-------|
| सखा      | सखायौ      | सखायः      | प्र०  |
| सखायम्   | सखायौ      | सखीन्      | द्वि० |
| सख्या    | सखिभ्याम्  | सखिभिः     | तृ०   |
| सख्ये    | सखिभ्याम्  | सखिभ्यः    | च०    |
| सख्युः   | सखिभ्याम्  | सखिभ्यः    | पं०   |
| सख्युः   | सख्योः     | सखीनाम्    | ष०    |
| सख्यौ    | सख्योः     | सखिषु      | स०    |
| हे सखे ! | हे सखायौ ! | हे सखायः ! | सं०   |

(५३) सरित् (नदी) तकारान्त स्त्री०

|       |          |             |           |
|-------|----------|-------------|-----------|
| प्र०  | सरित्    | सरितौ       | सरितः     |
| द्वि० | सरितम्   | सरितौ       | सरितः     |
| तृ०   | सरिता    | सरिद्भ्याम् | सरिद्भिः  |
| च०    | सरिते    | सरिद्भ्याम् | सरिद्भ्यः |
| पं०   | सरितः    | सरिद्भ्याम् | सरिद्भ्यः |
| ष०    | सरितः    | सरितोः      | सरिताम्   |
| स०    | सरिति    | सरितोः      | सरित्सु   |
|       | हे सरित् | हे सरितौ    | हे सरितः  |

(५४) शर्मन् (सुख) अन्नन्त नपुं०

|      |        |         |      |
|------|--------|---------|------|
| शर्म | शर्मणी | शर्माणि | प्र० |
|------|--------|---------|------|

(५५) मनस् (मन) असन्त नपुं०

|     |      |        |
|-----|------|--------|
| मनः | मनसी | मनांसि |
|-----|------|--------|



|                           |            |            |       |        |           |            |
|---------------------------|------------|------------|-------|--------|-----------|------------|
| शर्म                      | शर्मणी     | शर्माणि    | द्वि० | मनः    | मनसी      | मनांसि     |
| शर्मणा                    | शर्मभ्याम् | शर्मभिः    | तृ०   | मनसा   | मनोभ्याम् | मनोभिः     |
| शर्मणे                    | शर्मभ्याम् | शर्मभ्यः   | च०    | मनसे   | मनोभ्याम् | मनोभ्यः    |
| शर्मणः                    | शर्मभ्याम् | शर्मभ्यः   | पं०   | मनसः   | मनोभ्याम् | मनोभ्यः    |
| शर्मणः                    | शर्मणोः    | शर्मणाम्   | ष०    | मनसः   | मनसोः     | मनसाम्     |
| शर्मणि                    | शर्मणोः    | शर्मसु     | स०    | मनसि   | मनसोः     | मनःसु-स्सु |
| हे शर्म, शर्मन् हे शर्मणी |            | हे शर्माणि | सं०   | हे मनः | हे मनसी   | हे मनांसि  |

(५६) (घ) पूर्व (प्रथम, पूर्व) पुल्लिङ्ग

(५६) (ख) पूर्व-स्त्रीलिङ्ग

|             |              |            |       |             |              |            |
|-------------|--------------|------------|-------|-------------|--------------|------------|
| पूर्वः      | पूर्वो       | पूर्वे     | प्र०  | पूर्वा      | पूर्वे       | पूर्वाः    |
| पूर्वम्     | पूर्वो       | पूर्वान्   | द्वि० | पूर्वाम्    | पूर्वे       | पूर्वाः    |
| पूर्वेण     | पूर्वाभ्याम् | पूर्वैः    | तृ०   | पूर्वया     | पूर्वाभ्याम् | पूर्वाभिः  |
| पूर्वस्मै   | पूर्वाभ्याम् | पूर्वभ्यः  | च०    | पूर्वस्यै   | पूर्वाभ्याम् | पूर्वाभ्यः |
| पूर्वस्मात् | पूर्वाभ्याम् | पूर्वभ्यः  | पं०   | पूर्वस्याः  | पूर्वाभ्याम् | पूर्वाभ्यः |
| पूर्वस्य    | पूर्वयोः     | पूर्वेषाम् | ष०    | पूर्वस्याः  | पूर्वयोः     | पूर्वासाम् |
| पूर्वस्मिन् | पूर्वयोः     | पूर्वेषु   | स०    | पूर्वस्याम् | पूर्वयोः     | पूर्वासु   |

(५६) (ग) पूर्व-नपुंसकलिङ्ग (५७) कति (कितने), (५८) उभ (दोनोक)

|             |              |            |       |         |                |           |
|-------------|--------------|------------|-------|---------|----------------|-----------|
|             |              |            |       | पुं०    | स्त्री०, नपुं० |           |
| पूर्वम्     | पूर्व        | पूर्वाणि   | प्र०  | कति     | उभौ            | उभे       |
| पूर्वम्     | पूर्व        | पूर्वाणि   | द्वि० | कति     | उभौ            | उभे       |
| पूर्वेण     | पूर्वाभ्याम् | पूर्वैः    | तृ०   | कतिभिः  | उभाभ्याम्      | उभाभ्याम् |
| पूर्वस्मै   | पूर्वाभ्याम् | पूर्वभ्यः  | च०    | कतिभ्यः | उभाभ्याम्      | उभाभ्याम् |
| पूर्वस्मात् | पूर्वाभ्याम् | पूर्वभ्यः  | पं०   | कतिभ्यः | उभाभ्याम्      | उभाभ्याम् |
| पूर्वस्य    | पूर्वयोः     | पूर्वेषाम् | ष०    | कतीनाम् | उभयोः          | उभयोः     |
| पूर्वस्मिन् | पूर्वयोः     | पूर्वेषु   | स०    | कतिषु   | उभयोः          | उभयोः     |

### ( ३ ) धातुरूप-संग्रह ( घ ) भ्वादिगण ( परस्मैपदी धातुएँ )

( १ ) भू (होना) लट् (वर्तमान) ।

( १ ) भू (सं० रूप) (दे० अ० ५)

|       |                      |        |          |                           |         |       |
|-------|----------------------|--------|----------|---------------------------|---------|-------|
| भवति  | भवतः                 | भवन्ति | प्र० पु० | अति                       | अतः     | अन्ति |
| भवसि  | भवथः                 | भवथ    | म० पु०   | असि                       | अथः     | अथ    |
| भवामि | भवावः                | भवामः  | उ० पु०   | आमि                       | आवः     | आमः   |
|       | लोट् (आज्ञा अर्थ)    |        |          | लोट् (सं० रूप) (दे० अ० ६) |         |       |
| भवतु  | भवताम्               | भवन्तु | प्र० पु० | अतु                       | अताम्   | अन्तु |
| भव    | भवतम्                | भवत    | म० पु०   | अ                         | अतम् अत |       |
| भवानि | भवाव                 | भवाम   | उ० पु०   | आनि                       | आव      | आम    |
|       | लङ् (अनद्यतन भूतकाल) |        |          | लङ् (सं० रूप) (दे० अ० ७)  |         |       |
| अभवत् | अभवताम्              | अभवन्  | प्र० पु० | अत्                       | अताम्   | अन्   |
| अभवः  | अभवतम्               | अभवत   | म० पु०   | अः                        | अतम् अत |       |
| अभवम् | अभवाव                | अभवाम  | उ० पु०   | अम्                       | आव      | आम    |

सूचना- धातु के पहले अ लगेगा।

विधिलिङ् ( आज्ञा या चाहिए अर्थ )

विधिलिङ् ( सं० रूप ) ( दे० अ० ८ )

|       |         |        |          |     |            |
|-------|---------|--------|----------|-----|------------|
| भवेत् | भवेताम् | भवेयुः | प्र० पु० | एत् | एताम् एयुः |
|-------|---------|--------|----------|-----|------------|

|                          |           |            |                                     |         |          |
|--------------------------|-----------|------------|-------------------------------------|---------|----------|
| भवेः                     | भवेतम्    | भवेत       | म० पु० एः                           | एतम्    | एत       |
| भवेयम्                   | भवेव      | भवेम       | उ० पु० एयम्                         | एव      | एम       |
| <b>लृट् ( भविष्यत् )</b> |           |            | <b>लट् ( सं० रूप ) ( दे० अ० १ )</b> |         |          |
| भविष्यति                 | भविष्यतः  | भविष्यन्ति | प्र० पु० इष्यति                     | इष्यतः  | इष्यन्ति |
| भविष्यसि                 | भविष्यथः  | भविष्यथ    | म० पु० इष्यसि                       | इष्यथः  | इष्यथ    |
| भविष्यामि                | भविष्यावः | भविष्यामः  | उ० पु० इष्यामि                      | इष्यावः | इष्यामः  |

**सूचना- ( १ )** कुछ धातुओं में इष्यति वाले रूप लगते हैं और कुछ में स्यति, स्यतः, स्यन्ति आदि बिना इ वाले रूप लगते हैं।  
**( २ )** भ्वादिगण ( १ ) की परस्मैपदी सभी धातुओं के रूप पाँचों लकारों में भू धातु के तुल्य चलते हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त रूप अन्त में लगेंगेक)

**( २ ) हस् ( हँसना ) ( दे० अ० ५-९ )**

**सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।**

|                 |           |            |
|-----------------|-----------|------------|
| <b>लट्</b>      |           |            |
| हसति            | हसतः      | हसन्ति     |
| हससि            | हसथः      | हसथ        |
| हसामि           | हसावः     | हसामः      |
| <b>लोट्</b>     |           |            |
| हसतु            | हसताम्    | हसन्तु     |
| हस              | हसतम्     | हसत        |
| हसानि           | हसाव      | हसाम       |
| <b>लङ्</b>      |           |            |
| अहसत्           | अहसताम्   | अहसन्      |
| अहसः            | अहसतम्    | अहसत       |
| अहसम्           | अहसाव     | अहसाम      |
| <b>विधिलिङ्</b> |           |            |
| हसेत्           | हसेताम्   | हसेयुः     |
| हसेः            | हसेतम्    | हसेत       |
| हसेयम्          | हसेव      | हसेम       |
| <b>लृट्</b>     |           |            |
| हसिष्यति        | हसिष्यतः  | हसिष्यन्ति |
| हसिष्यसि        | हसिष्यथः  | हसिष्यथ    |
| हसिष्यामि       | हसिष्यावः | हसिष्यामः  |

**( ३ ) पठ् ( पढ़ना ) ( दे० अ० ५-९ )**

**सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।**

|                 |           |            |
|-----------------|-----------|------------|
| <b>लट्</b>      |           |            |
| प्र० पठति       | पठतः      | पठन्ति     |
| म० पठसि         | पठथः      | पठथ        |
| उ० पठामि        | पठावः     | पठामः      |
| <b>लोट्</b>     |           |            |
| प्र० पठतु       | पठताम्    | पठन्तु     |
| म० पठ           | पठतम्     | पठत        |
| उ० पठानि        | पठावपठाम  |            |
| <b>लङ्</b>      |           |            |
| प्र० अपठत्      | अपठताम्   | अपठन्      |
| म० अपठः         | अपठतम्    | अपठत       |
| उ० अपठम्        | अपठाव     | अपठाम      |
| <b>विधिलिङ्</b> |           |            |
| प्र० पठेत्      | पठेताम्   | पठेयुः     |
| म० पठेः         | पठेतम्    | पठेत       |
| उ० पठेयम्       | पठेव      | पठेम       |
| <b>लृट्</b>     |           |            |
| प्र० पठिष्यति   | पठिष्यतः  | पठिष्यन्ति |
| म० पठिष्यसि     | पठिष्यथः  | पठिष्यथ    |
| उ० पठिष्यामि    | पठिष्यावः | पठिष्यामः  |

**( ४ ) रक्ष् ( रक्षा करना ) ( दे० अ० ५-९ ) ( ५ ) वद् ( बोलना ) ( दे० अ० ५-९ )**

**सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे। सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।**

|             |          |          |             |        |        |
|-------------|----------|----------|-------------|--------|--------|
| <b>लट्</b>  |          |          | <b>लट्</b>  |        |        |
| रक्षति      | रक्षतः   | रक्षन्ति | प्र० वदति   | वदतः   | वदन्ति |
| रक्षसि      | रक्षथः   | रक्षथ    | म० वदसि     | वदथः   | वदथ    |
| रक्षामि     | रक्षावः  | रक्षामः  | उ० वदामि    | वदावः  | वदामः  |
| <b>लोट्</b> |          |          | <b>लोट्</b> |        |        |
| रक्षतु      | रक्षताम् | रक्षन्तु | प्र० वदतु   | वदताम् | वदन्तु |
| रक्ष        | रक्षतम्  | रक्षत    | म० वद       | वदतम्  | वदत    |

|             |             |              |      |           |           |            |
|-------------|-------------|--------------|------|-----------|-----------|------------|
| रक्षाणि     | रक्षाव      | रक्षाम       | उ०   | वदानि     | वदाव      | वदाम       |
|             | लङ्         |              |      |           | लङ्       |            |
| अरक्षत्     | अरक्षताम्   | अरक्षन्      | प्र० | अवदत्     | अवदताम्   | अवदन्      |
| अरक्षः      | अरक्षतम्    | अरक्षत       | म०   | अवदः      | अवदतम्    | अवदत       |
| अरक्षम्     | अरक्षाव     | अरक्षाम      | उ०   | अवदम्     | अवदाव     | अवदाम      |
|             | विधिलिङ्    |              |      |           | विधिलिङ्  |            |
| रक्षेत्     | रक्षेताम्   | रक्षेयुः     | प्र० | वदेत्     | वदेताम्   | वदेयुः     |
| रक्षेः      | रक्षेतम्    | रक्षेत       | म०   | वदेः      | वदेतम्    | वदेत       |
| रक्षेयम्    | रक्षेव      | रक्षेम       | उ०   | वदेयम्    | वदेव      | वदेम       |
|             | लृट्        |              |      |           | लृट्      |            |
| रक्षिष्यति  | रक्षिष्यतः  | रक्षिष्यन्ति | प्र० | वदिष्यति  | वदिष्यतः  | वदिष्यन्ति |
| रक्षिष्यसि  | रक्षिष्यथः  | रक्षिष्यथ    | म०   | वदिष्यसि  | वदिष्यथः  | वदिष्यथ    |
| रक्षिष्यामि | रक्षिष्यावः | रक्षिष्यामः  | उ०   | वदिष्यामि | वदिष्यावः | वदिष्यामः  |

(६) पच् (पकाना) (दे० अ० ५-९) (७) नम् (प्रणाम करना) (दे० अ० ५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे। सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।

|           |           |            |      |               |          |           |
|-----------|-----------|------------|------|---------------|----------|-----------|
|           | लट्       |            |      |               | लट्      |           |
| पचति      | पचतः      | पचन्ति     | प्र० | नमति          | नमतः     | नमन्ति    |
| पचसि      | पचथः      | पचथ        | म०   | नमसि          | नमथः     | नमथ       |
| पचामि     | पचावः     | पचामः      | उ०   | नमामि         | नमावः    | नमामः     |
|           | लोट्      |            |      |               | लोट्     |           |
| पचतु      | पचताम्    | पचन्तु     | प्र० | नमतु          | नमताम्   | नमन्तु    |
| पच        | पचतम्     | पचत        | म०   | नम            | नमतम्    | नमत       |
| पचानि     | पचाव      | पचाम       | उ०   | नमानि         | नमाव     | नमाम      |
|           | लङ्       |            |      |               | लङ्      |           |
| अपचत्     | अपचताम्   | अपचन्      | प्र० | अनमत्         | अनमताम्  | अनमन्     |
| अपचः      | अपचतम्    | अपचत       | म०   | अनमः          | अनमतम्   | अनमत      |
| अपचम्     | अपचाव     | अपचाम      | उ०   | अनमम्         | अनमाव    | अनमाम     |
|           | विधिलिङ्  |            |      |               | विधिलिङ् |           |
| पचेत्     | पचेताम्   | पचेयुः     | प्र० | नमेत् नमेताम् | नमेयुः   |           |
| पचेः      | पचेतम्    | पचेत       | म०   | नमेः नमेतम्   | नमेत     |           |
| पचेयम्    | पचेव      | पचेम       | उ०   | नमेयम्        | नमेव     | नमेम      |
|           | लृट्      |            |      |               | लृट्     |           |
| पक्ष्यति  | पक्ष्यतः  | पक्ष्यन्ति | प्र० | नंस्यति       | नंस्यतः  | नंस्यन्ति |
| पक्ष्यसि  | पक्ष्यथः  | पक्ष्यथ    | म०   | नंस्यसि       | नंस्यथः  | नंस्यथ    |
| पक्ष्यामि | पक्ष्यावः | पक्ष्यामः  | उ०   | नंस्यामि      | नंस्यावः | नंस्यामः  |

(८) गम् (जाना) (दे० अ० ५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे। सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।

गम् को लट्, लोट्, लङ्,  
विधिलिङ् में गच्छ होता है।

(९) दृश् (देखना) (दे० अ० ५-९)

दृश् को लट्, लोट्, लङ्,  
विधिलिङ् में पश्य होता है।

|        |        |          |      |        |        |          |
|--------|--------|----------|------|--------|--------|----------|
|        | लट्    |          |      |        | लट्    |          |
| गच्छति | गच्छतः | गच्छन्ति | प्र० | पश्यति | पश्यतः | पश्यन्ति |
| गच्छसि | गच्छथः | गच्छथ    | म०   | पश्यसि | पश्यथः | पश्यथ    |

|           |                 |            |      |                 |             |              |
|-----------|-----------------|------------|------|-----------------|-------------|--------------|
| गच्छामि   | गच्छावः         | गच्छामः    | उ०   | पश्यामि         | पश्यावः     | पश्यामः      |
|           | <b>लोट्</b>     |            |      | <b>लोट्</b>     |             |              |
| गच्छतु    | गच्छताम्        | गच्छन्तु   | प्र० | पश्यतु          | पश्यताम्    | पश्यन्तु     |
| गच्छ      | गच्छतम्         | गच्छत      | म०   | पश्य            | पश्यतम्     | पश्यत        |
| गच्छानि   | गच्छाव          | गच्छाम     | उ०   | पश्यानि         | पश्याव      | पश्याम       |
|           | <b>लङ्</b>      |            |      | <b>लङ्</b>      |             |              |
| अगच्छत्   | अगच्छताम्       | अगच्छन्    | प्र० | अपश्यत्         | अपश्यताम्   | अपश्यन्      |
| अगच्छः    | अगच्छतम्        | अगच्छत     | म०   | अपश्यः          | अपश्यतम्    | अपश्यत       |
| अगच्छम्   | अगच्छाव         | अगच्छाम    | उ०   | अपश्यम्         | अपश्याव     | अपश्याम      |
|           | <b>विधिलिङ्</b> |            |      | <b>विधिलिङ्</b> |             |              |
| गच्छेत्   | गच्छेताम्       | गच्छेयुः   | प्र० | पश्येत्         | पश्येताम्   | पश्येयुः     |
| गच्छेः    | गच्छेतम्        | गच्छेत     | म०   | पश्येः          | पश्येतम्    | पश्येत       |
| गच्छेयम्  | गच्छेव          | गच्छेम     | उ०   | पश्येयम्        | पश्येव      | पश्येम       |
|           | <b>लृट्</b>     |            |      | <b>लृट्</b>     |             |              |
| गमिष्यति  | गमिष्यतः        | गमिष्यन्ति | प्र० | द्रक्ष्यति      | द्रक्ष्यतः  | द्रक्ष्यन्ति |
| गमिष्यसि  | गमिष्यथः        | गमिष्यथ    | म०   | द्रक्ष्यसि      | द्रक्ष्यथः  | द्रक्ष्यथ    |
| गमिष्यामि | गमिष्यावः       | गमिष्यामः  | उ०   | द्रक्ष्यामि     | द्रक्ष्यावः | द्रक्ष्यामः  |

(१०) सद् (बैठना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।  
सद् को लट्, लोट्, लङ्,  
विधिलिङ् में सीद् होता है।

|           |                 |            |  |  |  |
|-----------|-----------------|------------|--|--|--|
|           | <b>लट्</b>      |            |  |  |  |
| सीदति     | सीदतः           | सीदन्ति    |  |  |  |
| सीदसि     | सीदथः           | सीदथ       |  |  |  |
| सीदामि    | सीदावः          | सीदामः     |  |  |  |
|           | <b>लोट्</b>     |            |  |  |  |
| सीदतु     | सीदताम्         | सीदन्तु    |  |  |  |
| सीद       | सीदतम्          | सीदत       |  |  |  |
| सीदानि    | सीदाव           | सीदाम      |  |  |  |
|           | <b>लङ्</b>      |            |  |  |  |
| असीदत्    | असीदताम्        | असीदन्     |  |  |  |
| असीदः     | असीदतम्         | असीदत      |  |  |  |
| असीदम्    | असीदाव          | असीदाम     |  |  |  |
|           | <b>विधिलिङ्</b> |            |  |  |  |
| सीदेत्    | सीदेताम्        | सीदेयुः    |  |  |  |
| सीदेः     | सीदेतम्         | सीदेत      |  |  |  |
| सीदेयम्   | सीदेव           | सीदेम      |  |  |  |
|           | <b>लृट्</b>     |            |  |  |  |
| सत्स्यति  | सत्स्यतः        | सत्स्यन्ति |  |  |  |
| सत्स्यसि  | सत्स्यथः        | सत्स्यथ    |  |  |  |
| सत्स्यामि | सत्स्यावः       | सत्स्यामः  |  |  |  |

(१२) पा (पीना) (भू के तुल्य)

(११) स्था (देखना) (दे० अ०५-९)

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।  
स्था को लट्, लोट्, लङ्,  
विधिलिङ् में तिष्ठ होता है।

|      |                 |            |             |  |  |
|------|-----------------|------------|-------------|--|--|
|      | <b>लट्</b>      |            |             |  |  |
| प्र० | तिष्ठति         | तिष्ठतः    | तिष्ठन्ति   |  |  |
| म०   | तिष्ठसि         | तिष्ठथः    | तिष्ठथ      |  |  |
| उ०   | तिष्ठामि        | तिष्ठावः   | तिष्ठामः    |  |  |
|      | <b>लोट्</b>     |            |             |  |  |
| प्र० | तिष्ठतु         | तिष्ठताम्  | तिष्ठन्तु   |  |  |
| म०   | तिष्ठ तिष्ठतम्  | तिष्ठत     |             |  |  |
| उ०   | तिष्ठानि        | तिष्ठाव    | तिष्ठाम     |  |  |
|      | <b>लङ्</b>      |            |             |  |  |
| प्र० | अतिष्ठत्        | अतिष्ठताम् | अतिष्ठन्    |  |  |
| म०   | अतिष्ठः         | अतिष्ठतम्  | अतिष्ठत     |  |  |
| उ०   | अतिष्ठम्        | अतिष्ठाव   | अतिष्ठाम    |  |  |
|      | <b>विधिलिङ्</b> |            |             |  |  |
| प्र० | तिष्ठेत्        | तिष्ठेताम् | तिष्ठेयुः   |  |  |
| म०   | तिष्ठेः         | तिष्ठेतम्  | तिष्ठेत     |  |  |
| उ०   | तिष्ठेयम्       | तिष्ठेव    | तिष्ठेम     |  |  |
|      | <b>लृट्</b>     |            |             |  |  |
| प्र० | स्थास्यति       | स्थास्यतः  | स्थास्यन्ति |  |  |
| म०   | स्थास्यसि       | स्थास्यथः  | स्थास्यथ    |  |  |
| उ०   | स्थास्यामि      | स्थास्यावः | स्थास्यामः  |  |  |

(१२) स्मृ (स्मरण करना) (दे० अ०५-९)

सूचना-पा को लट्, लोट्, लङ्,  
विधिलिङ् में पिब् होता है।

सूचना-भू के तुल्य रूप चलेंगे।

|          |                 |           |      |                 |             |              |
|----------|-----------------|-----------|------|-----------------|-------------|--------------|
|          | <b>लट्</b>      |           |      | <b>लट्</b>      |             |              |
| पिबति    | पिबतः           | पिबन्ति   | प्र० | स्मरति          | स्मरतः      | स्मरन्ति     |
| पिबसि    | पिबथः           | पिबथ      | म०   | स्मरसि          | स्मरथः      | स्मरथ        |
| पिबामि   | पिबावः          | पिबामः    | उ०   | स्मरामि         | स्मरावः     | स्मरामः      |
|          | <b>लोट्</b>     |           |      | <b>लोट्</b>     |             |              |
| पिबतु    | पिबताम्         | पिबन्तु   | प्र० | स्मरतु          | स्मरताम्    | स्मरन्तु     |
| पिब      | पिबतम्          | पिबत      | म०   | स्मर            | स्मरतम्     | स्मरत        |
| पिबानि   | पिबाव           | पिबाम     | उ०   | स्मराणि         | स्मराव      | स्मराम       |
|          | <b>लङ्</b>      |           |      | <b>लङ्</b>      |             |              |
| अपिबत्   | अपिबताम्        | अपिबन्    | प्र० | अस्मरत्         | अस्मरताम्   | अस्मरन्      |
| अपिबः    | अपिबतम्         | अपिबत     | म०   | अस्मरः          | अस्मरतम्    | अस्मरत       |
| अपिबम्   | अपिबाव          | अपिबाम    | उ०   | अस्मरम्         | अस्मराव     | अस्मराम      |
|          | <b>विधिलिङ्</b> |           |      | <b>विधिलिङ्</b> |             |              |
| पिबेत्   | पिबेताम्        | पिबेयुः   | प्र० | स्मरेत्         | स्मरेताम्   | स्मरेयुः     |
| पिबेः    | पिबेतम्         | पिबेत     | म०   | स्मरेः          | स्मरेतम्    | स्मरेत       |
| पिबेयम्  | पिबेव           | पिबेम     | उ०   | स्मरेयम्        | स्मरेव      | स्मरेम       |
|          | <b>लट्</b>      |           |      | <b>लट्</b>      |             |              |
| पास्यति  | पास्यतः         | पास्यन्ति | प्र० | स्मरिष्यति      | स्मरिष्यतः  | स्मरिष्यन्ति |
| पास्यसि  | पास्यथः         | पास्यथ    | म०   | स्मरिष्यसि      | स्मरिष्यथः  | स्मरिष्यथ    |
| पास्यामि | पास्यावः        | पास्यामः  | उ०   | स्मरिष्यामि     | स्मरिष्यावः | स्मरिष्यामः  |

(१४) जि (जीतना) (भू के तुल्य) लट्-जयति, जयतः, जयन्ति। जयसि, जयथः, जयथ। जयामि, जयावः, जयामः। लोट्-जयतु, जयताम्, जयन्तु। जय, जयतम्, जयत। जयानि, जयाव, जयाम। लङ्-अजयत्!, अजयताम्, अजयन्। अजयः, अजयतम्, अजयत। अजयम्, अजयाव, अजयाम। विधिलिङ्-जयेत्, जयेताम्, जयेयुः। जये, जयेतम्, जयेत। जयेयम्, जयेव, जयेम। लृट्-जेष्यति, जेष्यतः, जेष्यन्ति। जेष्यसि, जेष्यथः, जेष्यथ। जेष्यामि, जेष्यावः, जेष्यामः।

## आत्मनेपदी धातुएँ

(१५) सेव् (सेवा करना) लट् (वर्तमान) (१५) लट् (सं० रूप) (दे० अ० १८)

|       |         |         |          |     |      |       |
|-------|---------|---------|----------|-----|------|-------|
| सेवते | सेवेते  | सेवन्ते | प्र० पु० | अते | एते  | अन्ते |
| सेवसे | सेवेथे  | सेवध्वे | म० पु०   | असे | एथे  | अध्वे |
| सेवे  | सेवावहे | सेवामहे | उ० पु०   | ए   | आवहे | आमहे  |

**लोट्** (आज्ञा अर्थ)

**लोट्** (सं० रूप) (दे० अ० १९)

|         |          |           |          |       |       |         |
|---------|----------|-----------|----------|-------|-------|---------|
| सेवताम् | सेवेताम् | सेवन्ताम् | प्र० पु० | अताम् | एताम् | अन्ताम् |
| सेवस्व  | सेवेथाम् | सेवध्वम्  | म० पु०   | अस्व  | एथाम् | अध्वम्  |
| सेवै    | सेवावहै  | सेवामहै   | उ० पु०   | ऐ     | आवहै  | आमहै    |

**लङ्** (अनद्यतन भूतकाल)

**लङ्** (सं० रूप) (दे० अ० २०)

|         |           |           |          |      |       |        |
|---------|-----------|-----------|----------|------|-------|--------|
| असेवत   | असेवेताम् | असेवन्त   | प्र० पु० | अत   | एताम् | अन्त   |
| असेवथाः | असेवेथाम् | असेवध्वम् | म० पु०   | अथाः | एथाम् | अध्वम् |
| असेवे   | असेवावहि  | असेवामहि  | उ० पु०   | ए    | आवहि  | आमहि   |

**सूचना-** धातु के पहले 'अ' लगेगा।

**विधिलिङ्** (आज्ञा या चाहिए अर्थ)

**विधिलिङ्** (सं० रूप) (दे० अ० २१)

|        |            |           |          |     |         |        |
|--------|------------|-----------|----------|-----|---------|--------|
| सेवेत  | सेवेयाताम् | सेवेरन्   | प्र० पु० | एत  | एयाताम् | एरन्   |
| सेवेथा | सेवेयाथाम् | सेवेध्वम् | म० पु०   | एथा | एयाथाम् | एध्वम् |
| सेवेय  | सेवेवहि    | सेवेमहि   | उ० पु०   | एय  | एवहि    | एमहि   |

**लृट्** (भविष्यत्)

**लृट्** (सं० रूप) (दे० अ० २२)

|           |             |             |          |        |          |          |
|-----------|-------------|-------------|----------|--------|----------|----------|
| सेविष्यते | सेविष्येते  | सेविष्यन्ते | प्र० पु० | इष्यते | इष्येते  | इष्यन्ते |
| सेविष्यसे | सेविष्येथे  | सेविष्यध्वे | म० पु०   | इष्यसे | इष्येथे  | इष्यध्वे |
| सेविष्ये  | सेविष्यावहे | सेविष्यामहे | उ० पु०   | इष्ये  | इष्यावहे | इष्यामहे |

**सूचना-** (१) कुछ धातुओं में इष्यते वाले रूप लगते हैं और कुछ में स्यते स्येते, स्थन्ते आदि बिना इ वाले रूप लगते हैं।

(२) भ्वादिगण (१) की आत्मनेपदी सभी धातुओं के रूप पाँचों लकारों में सेव् धातु के तुल्य चलते हैं। उपर्युक्त संक्षिप्त रूप अन्त में लगेंगे।

(१६) लभ् (पाना) (दे० अ० १८-२२) (१७) वृध् (बढ़ना) (दे० अ० १८-२२) सूचना-सेव् के तुल्य रूप चलेंगे। सूचना सेव् के तुल्य रूप चलेंगे।

| लट्      |           |          | लट्      |          |             |            |
|----------|-----------|----------|----------|----------|-------------|------------|
| लभते     | लभेते     | लभन्ते   | प्र०     | वर्धते   | वर्धेते     | वर्धन्ते   |
| लभसे     | लभेथे     | लभध्वे   | म०       | वर्धसे   | वर्धेथे     | वर्धध्वे   |
| लभे      | लभावहे    | लभाभहे   | उ०       | वर्धे    | वर्धावहे    | वर्धामहे   |
| लोट्     |           |          | लोट्     |          |             |            |
| लभताम्   | लभेताम्   | लभन्ताम् | प्र०     | वर्धताम् | वर्धेताम्   | वर्धन्ताम् |
| लभस्व    | लभेथाम्   | लभध्वम्  | म०       | वर्धस्व  | वर्धेथाम्   | वर्धध्वम्  |
| लभै      | लभावहै    | लभामहै   | उ०       | वर्धै    | वर्धावहै    | वर्धामहै   |
| लङ्      |           |          | लङ्      |          |             |            |
| अलभत     | अलभेताम्  | अलभन्त   | प्र०     | अवर्धत   | अवर्धेताम्  | अवर्धन्त   |
| अलभथाः   | अलभेथाम्  | अलभध्वम् | म०       | अवर्धथाः | अवर्धेथाम्  | अवर्धध्वम् |
| अलभे     | अलभावहि   | अलभामहि  | उ०       | अवर्धे   | अवर्धावहि   | अवर्धामहि  |
| विधिलिङ् |           |          | विधिलिङ् |          |             |            |
| लभेत     | लभेयाताम् | लभेरन्   | प्र०     | वर्धेत   | वर्धेयाताम् | वर्धेरन्   |
| लभेथाः   | लभेयाथाम् | लभेध्वम् | म०       | वर्धेथाः | वर्धेयाथाम् | वर्धेध्वम् |

|                                               |             |             |                                      |            |              |              |
|-----------------------------------------------|-------------|-------------|--------------------------------------|------------|--------------|--------------|
| लभेय                                          | लभेवहि      | लभेमहि      | उ०                                   | वर्धेय     | वर्धेवहि     | वर्धेमहि     |
|                                               | लट्         |             |                                      | लट्        |              |              |
| लप्स्यते                                      | लप्स्येते   | लप्स्यन्ते  | प्र०                                 | वर्धिष्यते | वर्धिष्येते  | वर्धिष्यन्ते |
| लप्स्यसे                                      | लप्स्येथे   | लप्स्यध्वे  | म०                                   | वर्धिष्यसे | वर्धिष्येथे  | वर्धिष्यध्वे |
| लप्स्ये                                       | लप्स्यावहे  | लप्स्यामहे  | उ०                                   | वर्धिष्ये  | वर्धिष्यावहे | वर्धिष्यामहे |
| ( १८ ) मुट् ( प्रसन्न होना ) ( दे० अ० १८-२२ ) |             |             | ( १९ ) सह् ( सहना ) ( दे० अ० १८-२२ ) |            |              |              |
| सूचना- सेव् के तुल्य रूप चलेंगे।              |             |             | सूचना- सेव् के तुल्य रूप चलेंगे।     |            |              |              |
|                                               | लट्         |             |                                      | लट्        |              |              |
| मोदते                                         | मोदेते      | मोदन्ते     | प्र०                                 | सहते       | सहेते        | सहन्ते       |
| मोदसे                                         | मोदेथे      | मोदध्व      | म०                                   | सहसे       | सहेथे        | सहध्वे       |
| मोदे                                          | मोदावहे     | मोदामहे     | उ०                                   | सहे        | सहावहे       | सहामहे       |
| लोट्                                          |             |             |                                      | लोट्       |              |              |
| मोदताम्                                       | मोदेताम्    | मोदन्ताम्   | प्र०                                 | सहताम्     | सहेताम्      | सहन्ताम्     |
| मोदस्व                                        | मोदेथाम्    | मोदध्वम्    | म०                                   | सहस्व      | सहेथाम्      | सहध्वम्      |
| मोदै                                          | मोदावहै     | मोदामहै     | उ०                                   | सहै        | सहावहै       | सहामहै       |
| लङ्                                           |             |             |                                      | लङ्        |              |              |
| अमोदत                                         | अमोदेताम्   | अमोदन्त     | प्र०                                 | असहत       | असहेताम्     | असहन्त       |
| अमोदथाः                                       | अमोदेथाम्   | अमोदध्वम्   | म०                                   | असहथाः     | असहेथाम्     | असहध्वम्     |
| अमोदे                                         | अमोदावहि    | अमोदामहि    | उ०                                   | असहे       | असहावहि      | असहामहि      |
| विधिलिङ्                                      |             |             |                                      | विधिलिङ्   |              |              |
| मादेत                                         | मोदेयाताम्  | मोदेरन्     | प्र०                                 | सहेत       | सहेयाताम्    | सहेरन्       |
| मोदेथाः                                       | मोदेयाथाम्  | मोदेध्वम्   | म०                                   | सहेथाः     | सहेयाथाम्    | सहेध्वम्     |
| मादेय                                         | मादेवहि     | मोदेमहि     | उ०                                   | सहेय       | सहेवहि       | सहेमहि       |
| लृट्                                          |             |             |                                      | लृट्       |              |              |
| मोदिष्यते                                     | मोदिष्येते  | मोदिष्यन्ते | प्र०                                 | सहिष्यते   | सहिष्येते    | सहिष्यन्ते   |
| मोदिष्यसे                                     | मोदिष्येथे  | मोदिष्यध्वे | म०                                   | सहिष्यसे   | सहिष्येथे    | सहिष्यध्वे   |
| मोदिष्ये                                      | मोदिष्यावहे | मोदिष्यामहे | उ०                                   | सहिष्ये    | सहिष्यावहे   | सहिष्यामहे   |
| ( २० ) याच् ( माँगना ) ( सेव के तुल्य )       |             |             | ( २१ ) नी ( ले जाना ) उभयपदी धातु    |            |              |              |
|                                               | लट्         |             |                                      | लट्        |              |              |
| याचते                                         | याचेते      | याचन्ते     | प्र०                                 | नयति       | नयतः         | नयन्ति       |
| याचसे                                         | याचेथे      | याचध्वे     | म०                                   | नयसि       | नयथः         | नयथ          |
| याचे                                          | याचावहे     | याचामहे     | उ०                                   | नयामि      | नयावः        | नयामः        |
| लोट्                                          |             |             |                                      | लोट्       |              |              |
| याचाताम्                                      | याचेताम्    | याचन्ताम्   | प्र०                                 | नयतु       | नयताम्       | नयन्तु       |
| याचस्व                                        | याचेथाम्    | याचध्वम्    | म०                                   | नय         | नयतम्        | नयत          |
| याचै                                          | याचावहै     | याचामहै     | उ०                                   | नयानि      | नयाव         | नयाम         |
| लङ्                                           |             |             |                                      | लङ्        |              |              |
| अयाचत                                         | अयाचेताम्   | अयाचन्त     | प्र०                                 | अनयत्      | अनयताम्      | अनयन्        |
| अयाचथाः                                       | अयाचेथाम्   | अयाचध्वम्   | म०                                   | अनयः       | अनयतम्       | अनयत         |
| अयाचे                                         | अयाचावहि    | अयाचामहि    | उ०                                   | अनयम्      | अनयाव        | अनयाम        |
| विधिलिङ्                                      |             |             |                                      | विधिलिङ्   |              |              |



|           |             |             |      |          |          |           |
|-----------|-------------|-------------|------|----------|----------|-----------|
| याचेत     | याचेयाताम्  | याचेरन्     | प्र० | नयेत्    | नयेताम्  | नयेयुः    |
| याचेथाः   | याचेयाथाम्  | याचेध्वम्   | उ०   | नयेः     | नयेतम्   | नयेत      |
| याचेय     | याचेवहि     | याचेमहि     | म०   | नयेयम्   | नयेव     | नयेम      |
| लृट्      |             |             |      | लृट्     |          |           |
| याचिष्यते | याचिष्येते  | याचिष्यन्ते | प्र० | नेष्यति  | नेष्यतः  | नेष्यन्ति |
| याचिष्यसे | याचिष्येथे  | याचिष्यध्वे | म०   | नेष्यसि  | नेष्यथः  | नेष्यथ    |
| याचिष्ये  | याचिष्यावहे | याचिष्यामहे | उ०   | नेष्यामि | नेष्यावः | नेष्यामः  |

(२१) नी (आत्मनेपद) लट् नयते, नयेते, नयन्ते। नयसे, नयेथे, नयध्वे। नये, नयावहे, नयामहे। लोट्- नयताम्, नयेताम्, नयन्ताम्। नयस्व, नयेथाम्, नयध्वम्। नयै, नयावहै, नयामहै। लङ्- अनयत, अनयेताम्, अनयन्त। अनयथाः, अनयेथाम्, अनयध्वम्। अनये, अनयावहि, अनयामहि। विधिलिङ्- नयेत, नयेयाताम्, नयेरन् नयेथाः, नयेयाथाम्, नयेध्वम्। नयेय, नयेवहि, नयेमहि। लृट्- नेष्यते, नेष्येते, नेष्यन्ते। नेष्यसे, नेष्येथे, नेष्यध्वे। नेष्ये, नेष्यावहे, नेष्यामहे।

(२२) ह (ले जाना) उभयपदी धातु (भू और सेव् के तुल्य)

| परस्मैपद -लट् |           |            | आत्मनेपद - लट् |          |            |
|---------------|-----------|------------|----------------|----------|------------|
| हरति          | हरतः      | हरन्ति     | प्र०           | हरते     | हरन्ते     |
| हरसि          | हरथः      | हरथ        | म०             | हरसे     | हरध्वे     |
| हरामि         | हरावः     | हरामः      | उ०             | हरे      | हरामहे     |
| लोट्          |           |            |                | लोट्     |            |
| हरतु          | हरताम्    | हरन्तु     | प्र०           | हरताम्   | हरन्ताम्   |
| हर            | हरतम्     | हरत        | म०             | हरस्व    | हरेथाम्    |
| हराणि         | हराव      | हराम       | उ०             | हरै      | हरावहै     |
| लङ्           |           |            |                | लङ्      |            |
| अहरत्         | अहरताम्   | अहरन्      | प्र०           | अहरत     | अहरेताम्   |
| अहरः          | अहरतम्    | अहरत       | म०             | अहरथाः   | अहरेथाम्   |
| अहरम्         | अहराव     | अहराम      | उ०             | अहरे     | अहरावहि    |
| विधिलिङ्      |           |            |                | विधिलिङ् |            |
| हरेत्         | हरेताम्   | हरेयुः     | प्र०           | हरेत     | हरेयाताम्  |
| हरेः          | हरेतम्    | हरेत       | म०             | हरेथाः   | हरेयाथाम्  |
| हरेयम्        | हरेव      | हरेम       | उ०             | हरेय     | हरेवहि     |
| लृट्          |           |            |                | लृट्     |            |
| हरिष्यति      | हरिष्यतः  | हरिष्यन्ति | प्र०           | हरिष्यते | हरिष्येते  |
| हरिष्यसि      | हरिष्यथः  | हरिष्यथ    | म०             | हरिष्यसे | हरिष्येथे  |
| हरिष्यामि     | हरिष्यावः | हरिष्यामः  | उ०             | हरिष्ये  | हरिष्यावहे |

(२३) अस् (होना) (दे० अ० १०-११)

सूचना-अस् को लट् में भू हो जाता है।

**अदादिगण-लट्**

|       |      |       |
|-------|------|-------|
| अस्ति | स्तः | सन्ति |
| असि   | स्थः | स्थ   |
| अस्मि | स्वः | स्मः  |

**लोट्**

|       |        |       |
|-------|--------|-------|
| अस्तु | स्ताम् | सन्तु |
| एधि   | स्तम्  | स्त   |
| असानि | असाव   | असाम  |

**लङ्**

|       |         |      |
|-------|---------|------|
| आसीत् | आस्ताम् | आसन् |
| आसीः  | आस्तम्  | आस्त |
| आसम्  | आस्व    | आस्म |

**विधिलिङ्**

|        |          |       |
|--------|----------|-------|
| स्यात् | स्याताम् | स्युः |
| स्याः  | स्यातम्  | स्यात |
| स्याम् | स्याव    | स्याम |

**लृट्**

|           |           |            |
|-----------|-----------|------------|
| भविष्यति  | भविष्यतः  | भविष्यन्ति |
| भविष्यसि  | भविष्यथः  | भविष्यथ    |
| भविष्यामि | भविष्यावः | भविष्यामः  |

(२४) दा (देना) (दे० अ० ५-९)

(परस्मैपद के रूप ये हैं)

**जुहोत्यादिगण-लट्**

|      |       |       |       |
|------|-------|-------|-------|
| प्र० | ददाति | दत्तः | ददति  |
| म०   | ददासि | दत्थः | दत्थ  |
| उ०   | ददामि | दद्वः | दद्वः |

**लोट्**

|      |       |         |      |
|------|-------|---------|------|
| प्र० | ददातु | दत्ताम् | ददतु |
| म०   | देहि  | दत्तम्  | दत्त |
| उ०   | ददानि | ददाव    | ददाम |

**लङ्**

|      |        |          |       |
|------|--------|----------|-------|
| प्र० | अददात् | अदत्ताम् | अददुः |
| म०   | अददाः  | अदत्तम्  | अदत्त |
| उ०   | अददाम् | अदद्व    | अदद्व |

**विधिलिङ्**

|      |         |           |        |
|------|---------|-----------|--------|
| प्र० | दद्यात् | दद्याताम् | दद्युः |
| म०   | दद्याः  | दद्यातम्  | दद्यात |
| उ०   | दद्याम् | दद्याव    | दद्याम |

**लृट्**

|      |          |          |           |
|------|----------|----------|-----------|
| प्र० | दास्यति  | दास्यतः  | दास्यन्ति |
| म०   | दास्यसि  | दास्यथः  | दास्यथ    |
| उ०   | दास्यामि | दास्यावः | दास्यामः  |

(२५) दिव् (चमकना आदि) (दे० अ० ८) (२६) नृत् (नाचना) (दे० अ० ८)

सूचना-धातु में य लगाकर भू के तुल्य। सूचना दिव् के तुल्य रूप चलेंगे।

**दिवादिगण-लट्**

|          |          |           |
|----------|----------|-----------|
| दीव्यति  | दीव्यतः  | दीव्यन्ति |
| दीव्यसि  | दीव्यथः  | दीव्यथ    |
| दीव्यामि | दीव्यावः | दीव्यामः  |

**लोट्**

|          |           |           |
|----------|-----------|-----------|
| दीव्यतु  | दीव्यताम् | दीव्यन्तु |
| दीव्य    | दीव्यतम्  | दीव्यत    |
| दीव्यानि | दीव्याव   | दीव्याम   |

**लङ्**

|          |            |          |
|----------|------------|----------|
| अदीव्यत् | अदीव्यताम् | अदीव्यन् |
| अदीव्यः  | अदीव्यतम्  | अदीव्यत  |
| अदीव्यम् | अदीव्याव   | अदीव्याम |

**विधिलिङ्**

|           |            |           |
|-----------|------------|-----------|
| दीव्येत्  | दीव्येताम् | दीव्येयुः |
| दीव्येः   | दीव्येतम्  | दीव्येत   |
| दीव्येयम् | दीव्येव    | दीव्येम   |

**लट्**

|           |           |             |
|-----------|-----------|-------------|
| देविष्यति | देविष्यतः | देविष्यन्ति |
|-----------|-----------|-------------|

**लट्**

|      |          |          |           |
|------|----------|----------|-----------|
| प्र० | नृत्यति  | नृत्यतः  | नृत्यन्ति |
| म०   | नृत्यसि  | नृत्यथः  | नृत्यथ    |
| उ०   | नृत्यामि | नृत्यावः | नृत्यामः  |

**लोट्**

|      |          |           |           |
|------|----------|-----------|-----------|
| प्र० | नृत्यतु  | नृत्यताम् | नृत्यन्तु |
| म०   | नृत्य    | नृत्यतम्  | नृत्यत    |
| उ०   | नृत्यानि | नृत्याव   | नृत्याम   |

**लङ्**

|      |          |            |          |
|------|----------|------------|----------|
| प्र० | अनृत्यत् | अनृत्यताम् | अनृत्यन् |
| म०   | अनृत्यः  | अनृत्यतम्  | अनृत्यत  |
| उ०   | अनृत्यम् | अनृत्याव   | अनृत्याम |

**विधिलिङ्**

|      |           |            |           |
|------|-----------|------------|-----------|
| प्र० | नृत्येत्  | नृत्येताम् | नृत्येयुः |
| म०   | नृत्येः   | नृत्येतम्  | नृत्येत   |
| उ०   | नृत्येयम् | नृत्येव    | नृत्येम   |

**लट्**

|      |            |            |              |
|------|------------|------------|--------------|
| प्र० | नर्तिष्यति | नर्तिष्यतः | नर्तिष्यन्ति |
|------|------------|------------|--------------|

देविष्यसि    देविष्यथः    देविष्यथ    म०  
 देविष्यामि    देविष्यावः    देविष्यामः    उ०  
 ( २७ ) नश् ( नष्ट होना ) ( दे० अ० ८ )  
 तुल्य रूप चलेंगे।

|          |           |          |      |
|----------|-----------|----------|------|
|          | लट्       |          |      |
| नश्यति   | नश्यतः    | नश्यन्ति | प्र० |
| नश्यसि   | नश्यथः    | नश्यथ    | म०   |
| नश्यामि  | नश्यावः   | नश्यामः  | म०   |
|          | लोट्      |          |      |
| नश्यतु   | नश्यताम्  | नश्यन्तु | प्र० |
| नश्य     | नश्यतम्   | नश्यत    | म०   |
| नश्यानि  | नश्याव    | नश्याम   | उ०   |
|          | लङ्       |          |      |
| अनश्यत्  | अनश्यताम् | अनश्यन्  | प्र० |
| अनश्यः   | अनश्यतम्  | अनश्यत   | म०   |
| अनश्यम्  | अनश्याव   | अनश्याम  | उ०   |
|          | विधिलिङ्  |          |      |
| नश्येत्  | नश्येताम् | नश्येयुः | प्र० |
| नश्येः   | नश्येतम्  | नश्येत   | म०   |
| नश्येयम् | नश्येव    | नश्येम   | उ०   |
|          | लृट्      |          |      |

( घ )

|           |           |            |      |
|-----------|-----------|------------|------|
| नशिष्यति  | नशिष्यतः  | नशिष्यन्ति | प्र० |
| नशिष्यसि  | नशिष्यथः  | नशिष्यथ    | म०   |
| नशिष्यामि | नशिष्यावः | नशिष्यामः  | उ०   |

( ख )

|             |             |              |      |
|-------------|-------------|--------------|------|
| नङ्क्ष्यति  | नङ्क्ष्यतः  | नङ्क्ष्यन्ति | प्र० |
| नङ्क्ष्यसि  | नङ्क्ष्यथः  | नङ्क्ष्यथ    | म०   |
| नङ्क्ष्यामि | नङ्क्ष्यावः | नङ्क्ष्यामः  | उ०   |

नर्तिष्यसि    नर्तिष्यथः    नर्तिष्यथ  
 नर्तिष्यामि    नर्तिष्यावः    नर्तिष्यामः  
 ( २८ ) भ्रम् ( घूमना ) ( दे० अ० ८ ) सूचना-दिक् के  
 सूचना-दिक् के तुल्य रूप चलेंगे।

|             |              |             |  |
|-------------|--------------|-------------|--|
|             | लट्          |             |  |
| भ्राम्यति   | भ्राम्यतः    | भ्राम्यन्ति |  |
| भ्राम्यसि   | भ्राम्यथः    | भ्राम्यथ    |  |
| भ्राम्यामि  | भ्राम्यावः   | भ्राम्यामः  |  |
|             | लोट्         |             |  |
| भ्राम्यतु   | भ्राम्यताम्  | भ्राम्यन्तु |  |
| भ्राम्य     | भ्राम्यतम्   | भ्राम्यत    |  |
| भ्राम्याणि  | भ्राम्याव    | भ्राम्याम   |  |
|             | लङ्          |             |  |
| अभ्राम्यत्  | अभ्राम्यताम् | अभ्राम्यन्  |  |
| अभ्राम्यः   | अभ्राम्यतम्  | अभ्राम्यत   |  |
| अभ्राम्यम्  | अभ्राम्याव   | अभ्राम्याम  |  |
|             | विधिलिङ्     |             |  |
| भ्राम्येत्  | भ्राम्येताम् | भ्राम्येयुः |  |
| भ्राम्येः   | भ्राम्येतम्  | भ्राम्येत   |  |
| भ्राम्येयम् | भ्राम्येव    | भ्राम्येम   |  |
|             | लृट्         |             |  |

सूचना-भ्रम् के रूप भू धातु के  
 तुल्य भी चलते हैं। जैसे- भ्रमति,  
 भ्रमतु, अभ्रमत्, भ्रमेत्, भ्रमिष्यति)

(२९) श्रु (सुनना) (दे० अ० २६-२७)

**भ्वादिगण-लट् ( श्रु को शृ )**

|        |        |           |
|--------|--------|-----------|
| शृणोति | शृणुतः | शृण्वन्ति |
| शृणोषि | शृणुथः | शृणुथ     |
| शृणोमि | शृणुवः | शृणुमः    |

**लोट् ( श्रु को शृ )**

|         |          |           |
|---------|----------|-----------|
| शृणोतु  | शृणुताम् | शृण्वन्तु |
| शृणु    | शृणुतम्  | शृणुत     |
| शृणवानि | शृणवाव   | शृणवाम    |

**लङ् ( श्रु को शृ )**

|         |           |          |
|---------|-----------|----------|
| अशृणोत् | अशृणुताम् | अशृण्वन् |
| अशृणोः  | अशृणुतम्  | अशृणुत   |
| अशृणवम् | अशृणुव    | अशृणुम   |

**विधिलिङ् ( श्रु को शृ )**

|          |            |         |
|----------|------------|---------|
| शृणुयात् | शृणुयाताम् | शृणुयुः |
| शृणुयाः  | शृणुयातम्  | शृणुयात |
| शृणुयाम् | शृणुयाव    | शृणुयाम |

**लृट्**

|            |            |             |
|------------|------------|-------------|
| श्रोष्यति  | श्रोष्यतः  | श्रोष्यन्ति |
| श्रोष्यसि  | श्रोष्यथः  | श्रोष्यथ    |
| श्रोष्यामि | श्रोष्यावः | श्रोष्यामः  |

(३०) आप् (पाना) (दे० अ० २६-२७)

**स्वादिगण-लट्**

|      |         |         |            |
|------|---------|---------|------------|
| प्र० | आप्नोति | आप्नुतः | आप्नुवन्ति |
| म०   | आप्नोषि | आप्नुथः | आप्नुथ     |
| उ०   | आप्नोमि | आप्नुवः | आप्नुमः    |

**लोट्**

|      |          |           |            |
|------|----------|-----------|------------|
| प्र० | आप्नोतु  | आप्नुताम् | आप्नुवन्तु |
| म०   | आप्नुहि  | आप्नुतम्  | आप्नुत     |
| उ०   | आप्नवानि | आप्नवाव   | आप्नवाम    |

**लङ्**

|      |         |           |          |
|------|---------|-----------|----------|
| प्र० | आप्नोत् | आप्नुताम् | आप्नुवन् |
| म०   | आप्नोः  | आप्नुतम्  | आप्नुत   |
| उ०   | आप्नवम् | आप्नुव    | आप्नुम   |

**विधिलिङ्**

|      |           |             |          |
|------|-----------|-------------|----------|
| प्र० | आप्नुयात् | आप्नुयाताम् | आप्नुयुः |
| म०   | आप्नुयाः  | आप्नुयातम्  | आप्नुयात |
| उ०   | आप्नुयाम् | आप्नुयाव    | आप्नुयाम |

**लृट्**

|      |           |           |            |
|------|-----------|-----------|------------|
| प्र० | आप्स्यति  | आप्स्यतः  | आप्स्यन्ति |
| म०   | आप्स्यसि  | आप्स्यथः  | आप्स्यथ    |
| उ०   | आप्स्यामि | आप्स्यावः | आप्स्यामः  |

( ३१ ) शक् ( सकना )। सूचना आप् के तुल्य रूप चलेंगे।

**लट्**- शक्नोति, शक्नुतः, शक्नुवन्ति। शक्नोषि, शक्नुथः, शक्नुथ। शक्नोमि, शक्नुवः, शक्नुमः। **लोट्**- शक्नोतु, शक्नुताम्, शक्नुवन्तु। शक्नुहि, शक्नुतम्, शक्नुत। शक्नवानि, शक्नवाव, शक्नवाम। **लङ्**- अशक्नोत्, अशक्नुताम्, अशक्नुवन्। अशक्नोः अशक्नुतम्, अशक्नुत। अशक्नवम्, अशक्नुव, अशक्नुम। **विधिलिङ्**- शक्नुयात् शक्नुयाताम्, शक्नुयुः। शक्नुयाः शक्नुयातम्, शक्नुयात। शक्नुयाम्, शक्नुयाव शक्नुयाम। **लृट्**- शक्यति, शक्यतः, शक्यन्ति। शक्यसि, शक्यथः, शक्यथ। शक्यामि शक्यावः, शक्यामः)

( ३२ ) तुद् ( दुःख देना ) (दे० अ० ६)

**सूचना**- तुद् को लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में गुण नहीं होगा।

भू के तुल्य रूप चलेंगे।

( ३३ ) इष् ( चाहना ) (दे० अ० ६)

**सूचना**- इष् को लट्, लोट्, लङ् और विधिलिङ् में इच्छ होता है।

भू के तुल्य रूप चलेंगे।

**तुदादिगण-लट्**

|        |        |         |
|--------|--------|---------|
| तुदति  | तुदतः  | तुदन्ति |
| तुदसि  | तुदथः  | तुदथ    |
| तुदामि | तुदावः | तुदामः  |

**लोट्**

|        |         |         |
|--------|---------|---------|
| तुदतु  | तुदताम् | तुदन्तु |
| तुद    | तुदतम्  | तुदत    |
| तुदानि | तुदाव   | तुदाम   |

**लङ्**

|        |          |        |
|--------|----------|--------|
| अतुदत् | अतुदताम् | अतुदन् |
| अतुदः  | अतुदतम्  | अतुदत  |
| अतुदम् | अतुदाव   | अतुदाम |

**लट्**

|      |         |         |          |
|------|---------|---------|----------|
| प्र० | इच्छति  | इच्छतः  | इच्छन्ति |
| म०   | इच्छसि  | इच्छथः  | इच्छथ    |
| उ०   | इच्छामि | इच्छावः | इच्छामः  |

**लोट्**

|      |         |          |          |
|------|---------|----------|----------|
| प्र० | इच्छतु  | इच्छताम् | इच्छन्तु |
| म०   | इच्छ    | इच्छतम्  | इच्छत    |
| उ०   | इच्छानि | इच्छाव   | इच्छाम   |

**लङ्**

|      |        |          |        |
|------|--------|----------|--------|
| प्र० | ऐच्छत् | ऐच्छताम् | ऐच्छन् |
| म०   | ऐच्छः  | ऐच्छतम्  | ऐच्छत  |
| उ०   | ऐच्छम् | ऐच्छाव   | ऐच्छाम |

| विधिलिङ्   |            |             |      | विधिलिङ्  |           |            |
|------------|------------|-------------|------|-----------|-----------|------------|
| तुदेत्     | तुदेताम्   | तुदेयुः     | प्र० | इच्छेत्   | इच्छेताम् | इच्छेयुः   |
| तुदेः      | तुदेतम्    | तुदेत       | म०   | इच्छेः    | इच्छेतम्  | इच्छेत     |
| तुदेयम्    | तुदेव      | तुदेम       | उ०   | इच्छेयम्  | इच्छेव    | इच्छेव     |
| लट्        |            |             |      | लट्       |           |            |
| तोत्स्यति  | तोत्स्यतः  | तोत्स्यन्ति | प्र० | एषिष्यति  | एषिष्यतः  | एषिष्यन्ति |
| तोत्स्यसि  | तोत्स्यथः  | तोत्स्यथ    | म०   | एषिष्यसि  | एषिष्यथः  | एषिष्यथ    |
| तोत्स्यामि | तोत्स्यावः | तोत्स्यामः  | उ०   | एषिष्यामि | एषिष्यावः | एषिष्यामः  |

(३४) प्रच्छ (पूछना) (दे० अ० ६)

(३५) लिख (लिखना) (दे० अ० ६)

**सूचना-** लट्, लोट्, लङ् और विधि **सूचना-**लट्, लोट्, लङ् और विधि-लिङ् में लिङ् में प्रच्छ को पृच्छ हो जाता है। लिख को गुण नहीं होगा। भू या तुद् के भू या तुद् के तुल्य रूप चलेंगे। तुल्य रूप चलेंगे।

| लट्       |            |           |      | लट्      |          |         |
|-----------|------------|-----------|------|----------|----------|---------|
| पृच्छति   | पृच्छतः    | पृच्छन्ति | प्र० | लिखति    | लिखतः    | लिखन्ति |
| पृच्छसि   | पृच्छथः    | पृच्छथ    | म०   | लिखसि    | लिखथः    | लिखथ    |
| पृच्छामि  | पृच्छावः   | पृच्छामः  | उ०   | लिखामि   | लिखावः   | लिखामः  |
| लोट्      |            |           |      | लोट्     |          |         |
| पृच्छतु   | पृच्छताम्  | पृच्छन्तु | प्र० | लिखतु    | लिखताम्  | लिखन्तु |
| पृच्छ     | पृच्छतम्   | पृच्छत    | म०   | लिख      | लिखतम्   | लिखत    |
| पृच्छानि  | पृच्छाव    | पृच्छाम   | उ०   | लिखानि   | लिखाव    | लिखाम   |
| लङ्       |            |           |      | लङ्      |          |         |
| अपृच्छत्  | अपृच्छताम् | अपृच्छन्  | प्र० | अलिखत्   | अलिखताम् | अलिखन्  |
| अपृच्छः   | अपृच्छतम्  | अपृच्छत   | म०   | अलिखः    | अलिखतम्  | अलिखत   |
| अपृच्छम्  | अपृच्छाव   | अपृच्छाम  | उ०   | अलिखम्   | अलिखाव   | अलिखाम  |
| विधिलिङ्  |            |           |      | विधिलिङ् |          |         |
| पृच्छेत्  | पृच्छेताम् | पृच्छेयुः | प्र० | लिखेत्   | लिखेताम् | लिखेयुः |
| पृच्छेः   | पृच्छेतम्  | पृच्छेत   | म०   | लिखेः    | लिखेतम्  | लिखेत   |
| पृच्छेयम् | पृच्छेव    | पृच्छेम   | उ०   | लिखेयम्  | लिखेव    | लिखेम   |

| लृट्        |             |              | लृट् |            |            |             |
|-------------|-------------|--------------|------|------------|------------|-------------|
| प्रक्ष्यति  | प्रक्ष्यतः  | प्रक्ष्यन्ति | प्र० | लेखिष्यति  | लेखिष्यतः  | लेखिष्यन्ति |
| प्रक्ष्यसि  | प्रक्ष्यथः  | प्रक्ष्यथ    | म०   | लेखिष्यसि  | लेखिष्यथः  | लेखिष्यथ    |
| प्रक्ष्यामि | प्रक्ष्यावः | प्रक्ष्यामः  | उ०   | लेखिष्यामि | लेखिष्यावः | लेखिष्यामः  |

(३६) कृ (करना) (दे० अ० १२-१३)

(केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं)

| तनादिगण-लट् |          |           |      |
|-------------|----------|-----------|------|
| करोति       | कुरुतः   | कुर्वन्ति | प्र० |
| करोषि       | कुरुथः   | कुरुथ     | म०   |
| करोमि       | कुर्वः   | कुर्मः    | उ०   |
| लोट्        |          |           |      |
| करोतु       | कुरुताम् | कुर्वन्तु | प्र० |

(३७) क्री (खरीदना) (दे० अ० २८-२९)

(केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं)

क्रयादिगण-लट्

|          |            |           |
|----------|------------|-----------|
| क्रीणाति | क्रीणीतः   | क्रीणन्ति |
| क्रीणासि | क्रीणीथः   | क्रीणीथ   |
| क्रीणामि | क्रीणीवः   | क्रीणीमः  |
| लोट्     |            |           |
| क्रीणातु | क्रीणीताम् | क्रीणन्तु |

|           |            |            |      |            |              |             |
|-----------|------------|------------|------|------------|--------------|-------------|
| कुरु      | कुरुतम्    | कुरुत      | म०   | क्रीणीहि   | क्रीणीतम्    | क्रीणीत     |
| करवाणि    | करवाव      | करवाम      | उ०   | क्रीणानि   | क्रीणाव      | क्रीणाम     |
|           | लङ्        |            |      |            | लङ्          |             |
| अकरोत्    | अकुरुताम्  | अकुर्वन्   | प्र० | अक्रीणात्  | अक्रीणीताम्  | अक्रीणन्    |
| अकरोः     | अकुरुतम्   | अकुरुत     | म०   | अक्रीणाः   | अक्रीणीतम्   | अक्रीणीत    |
| अकरवम्    | अकुर्व     | अकुर्म     | उ०   | अक्रीणाम्  | अक्रीणीव     | अक्रीणीम    |
|           | विधिलिङ्   |            |      |            | विधिलिङ्     |             |
| कुर्यात्  | कुर्याताम् | कुर्युः    | प्र० | क्रीणीयात् | क्रीणीयाताम् | क्रीणीयुः   |
| कुर्याः   | कुर्यातम्  | कुर्यात    | म०   | क्रीणीयाः  | क्रीणीयातम्  | क्रीणीयात   |
| कुर्याम्  | कुर्याव    | कुर्याम    | उ०   | क्रीणीयाम् | क्रीणीयाव    | क्रीणीयाम   |
|           | लृट्       |            |      |            | लृट्         |             |
| करिष्यति  | करिष्यतः   | करिष्यन्ति | प्र० | क्रेष्यति  | क्रेष्यतः    | क्रेष्यन्ति |
| करिष्यसि  | करिष्यथः   | करिष्यथ    | म०   | क्रेष्यसि  | क्रेष्यथः    | क्रेष्यथ    |
| करिष्यामि | करिष्यावः  | करिष्यामः  | उ०   | क्रेष्यामि | क्रेष्यावः   | क्रेष्यामः  |

( ३८ ) ज्ञा ( जानना ) ( दे० अ० २८-२९ )

( ३९ ) ग्रह ( लेना ) ( दे० अ० २८-२९ )

सूचना - लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ् में

ज्ञा को 'जा' हो जाता है।

क्री के तुल्य रूप चलेंगे।

सूचना- लट्, लोट्, लङ्, विधिलिङ्

में ग्रह को गृह हो जाता है।

क्री के तुल्य रूप चलेंगे ।

लट्

|          |        |         |         |
|----------|--------|---------|---------|
| प्र० पु० | जानाति | जानीत : | जानन्ति |
| म० पु०   | जानासि | जानीथः  | जानीथ   |
| उ० पु०   | जानामि | जानीवः  | जानीमः  |

लोट्

|          |        |          |         |
|----------|--------|----------|---------|
| प्र० पु० | जानातु | जानीताम् | जानन्तु |
| म० पु०   | जानीहि | जानीतम्  | जानीत   |
| उ० पु०   | जानानि | जानाव    | जानाम   |

लङ्

|          |         |           |        |
|----------|---------|-----------|--------|
| प्र० पु० | अजानात् | अजानीताम् | अजानन् |
| म० पु०   | अजानाः  | अजानीतम्  | अजानीत |
| उ० पु०   | अजानाम् | अजानीव    | अजानीम |

विधिलिङ्

|          |          |            |         |
|----------|----------|------------|---------|
| प्र० पु० | जानीयात् | जानीयाताम् | जानीयुः |
| म० पु०   | जानीयाः  | जानीयातम्  | जानीयात |
| उ० पु०   | जानीयाम् | जानीयाव    | जानीयाम |

लट्

|      |          |          |           |
|------|----------|----------|-----------|
| प्र० | गृह्णाति | गृह्णीतः | गृह्णन्ति |
| म०   | गृह्णासि | गृह्णीथः | गृह्णीथ   |
| उ०   | गृह्णामि | गृह्णीवः | गृह्णीमः  |

लोट्

|      |          |            |           |
|------|----------|------------|-----------|
| प्र० | गृह्णातु | गृह्णीताम् | गृह्णन्तु |
| म०   | गृहाण    | गृह्णीतम्  | गृह्णीत   |
| उ०   | गृह्णानि | गृह्णाव    | गृह्णाम   |

लङ्

|      |           |             |          |
|------|-----------|-------------|----------|
| प्र० | अगृह्णात् | अगृह्णीताम् | अगृह्णन् |
| म०   | अगृह्णाः  | अगृह्णीतम्  | अगृह्णीत |
| उ०   | अगृह्णाम् | अगृह्णीव    | अगृह्णीम |

विधिलिङ्

|      |            |              |           |
|------|------------|--------------|-----------|
| प्र० | गृह्णीयात् | गृह्णीयाताम् | गृह्णीयुः |
| म०   | गृह्णीयाः  | गृह्णीयातम्  | गृह्णीयात |
| उ०   | गृह्णीयाम् | गृह्णीयाव    | गृह्णीयाम |

|          |            | लट्        |             |
|----------|------------|------------|-------------|
| प्र० पु० | ज्ञास्यति  | ज्ञास्यतः  | ज्ञास्यन्ति |
| म० पु०   | ज्ञास्यसि  | ज्ञास्यथः  | ज्ञास्यथ    |
| उ० पु०   | ज्ञास्यामि | ज्ञास्यावः | ज्ञास्यामः  |

( ४० ) चुर ( चुराना ) ( दे० अ० ७ )

|      |             | लट्         |              |
|------|-------------|-------------|--------------|
| प्र० | ग्रहीष्यति  | ग्रहीष्यतः  | ग्रहीष्यन्ति |
| म०   | ग्रहीष्यसि  | ग्रहीष्यथः  | ग्रहीष्यथ    |
| उ०   | ग्रहीष्यामि | ग्रहीष्यावः | ग्रहीष्यामः  |

( ४१ ) चिन्त् ( सोचना ) ( दे० अ० ७ )

सूचना - चुर और चिन्त् के अन्त में अय लगाकर भू के तुल्य रूप चलते । केवल परस्मैद के रूप यहाँ दिये हैं।

|          |         | चुरादिगण-लट् |          |
|----------|---------|--------------|----------|
| प्र० पु० | चोरयति  | चोरयतः       | चोरयन्ति |
| म० पु०   | चोरयसि  | चोरयथः       | चोरयथ    |
| उ० पु०   | चोरयामि | चोरयावः      | चोरयामः  |

|      |           | लट्       |            |
|------|-----------|-----------|------------|
| प्र० | चिन्तयति  | चिन्तयतः  | चिन्तयन्ति |
| म०   | चिन्तयसि  | चिन्तयथः  | चिन्तयथ    |
| उ०   | चिन्तयामि | चिन्तयावः | चिन्तयामः  |

|          |         | लोट्     |          |
|----------|---------|----------|----------|
| प्र० पु० | चोरयतु  | चोरयताम् | चोरयन्तु |
| म० पु०   | चोरय    | चोरयतम्  | चोरयत    |
| उ० पु०   | चोरयाणि | चोरयाव   | चोरयाम   |

|      |           | लोट्       |            |
|------|-----------|------------|------------|
| प्र० | चिन्तयतु  | चिन्तयताम् | चिन्तयन्तु |
| म०   | चिन्तय    | चिन्तयतम्  | चिन्तयत    |
| उ०   | चिन्तयानि | चिन्तयाव   | चिन्तयाम   |

|          |         | लङ्       |         |
|----------|---------|-----------|---------|
| प्र० पु० | अचोरयत् | अचोरयताम् | अचोरयन् |
| म० पु०   | अचोरयः  | अचोरयतम्  | अचोरयत  |
| उ० पु०   | अचोरयम् | अचोरयाव   | अचोरयाम |

|      |           | लङ्         |           |
|------|-----------|-------------|-----------|
| प्र० | अचिन्तयत् | अचिन्तयताम् | अचिन्तयन् |
| म०   | अचिन्तयः  | अचिन्तयतम्  | अचिन्तयत  |
| उ०   | अचिन्तयम् | अचिन्तयाव   | चिन्तयाम  |

|          |          | विधिलिङ्  |          |
|----------|----------|-----------|----------|
| प्र० पु० | चोरयेत्  | चोरयेताम् | चोरयेयुः |
| म० पु०   | चोरयेः   | चोरयेतम्  | चोरयेत   |
| उ० पु०   | चौरयेयम् | चोरयेव    | चोरयेम   |

|      |            | विधिलिङ्    |            |
|------|------------|-------------|------------|
| प्र० | चिन्तयेत्  | चिन्तयेताम् | चिन्तयेयुः |
| म०   | चिन्तयेः   | चिन्तयेतम्  | चिन्तयेत   |
| उ०   | चिन्तयेयम् | चिन्तयेव    | चिन्तयेत   |

|          |             | लट्         |              |
|----------|-------------|-------------|--------------|
| प्र० पु० | चोरयिष्यति  | चोरयिष्यतः  | चोरयिष्यन्ति |
| म० पु०   | चोरयिष्यसि  | चोरयिष्यथः  | चोरयिष्यथ    |
| उ० पु०   | चोरयिष्यामि | चोरयिष्यावः | चोरयिष्यामः  |

|  |               | लट्           |                |
|--|---------------|---------------|----------------|
|  | चिन्तयिष्यति  | चिन्तयिष्यतः  | चिन्तयिष्यन्ति |
|  | चिन्तयिष्यसि  | चिन्तयिष्यथः  | चिन्तयिष्यथ    |
|  | चिन्तयिष्यामि | चिन्तयिष्यावः | चिन्तयिष्यामः  |

( ४२ ) कथ ( कहना ) ( दे० अ० ७ )

( ४३ ) भक्ष ( खाना ) ( दे० अ० ७ )

सूचना- कथ और भक्ष के अन्त में 'अय' लगाकर भू या चुर के तुल्य रूप चलते हैं। केवल परस्मैपद के रूप यहाँ दिये हैं।

लट्

लट्



|          |        |        |         |
|----------|--------|--------|---------|
| प्र० पु० | कथयति  | कथयतः  | कथयन्ति |
| म० पु०   | कथयसि  | कथयथः  | कथयथ    |
| उ० पु०   | कथयामि | कथयावः | कथयामः  |

लोट्

|          |        |         |         |
|----------|--------|---------|---------|
| प्र० पु० | कथयतु  | कथयताम् | कथयन्तु |
| म० पु०   | कथय    | कथयतम्  | कथयत    |
| उ० पु०   | कथयानि | कथयाव   | कथयाम   |

लङ्

|          |        |          |        |
|----------|--------|----------|--------|
| प्र० पु० | अकथयत् | अकथयताम् | अकथयन् |
| म० पु०   | अकथयः  | अकथयतम्  | अकथयत  |
| उ० पु०   | अकथयम् | अकथयाव   | अकथयाम |

विधिलिङ्

|          |         |          |         |
|----------|---------|----------|---------|
| प्र० पु० | कथयेत्  | कथयेताम् | कथयेयुः |
| म० पु०   | कथयेः   | कथयेतम्  | कथयेत   |
| उ० पु०   | कथयेयम् | कथयेव    | कथयेम   |

लृट्

|          |            |            |             |
|----------|------------|------------|-------------|
| प्र० पु० | कथयिष्यति  | कथयिष्यतः  | कथयिष्यन्ति |
| म० पु०   | कथयिष्यसि  | कथयिष्यथः  | कथयिष्यथ    |
| उ० पु०   | कथयिष्यामि | कथयिष्यावः | कथयिष्यामः  |

|      |          |          |           |
|------|----------|----------|-----------|
| प्र० | भक्षयति  | भक्षयतः  | भक्षयन्ति |
| म०   | भक्षयसि  | भक्षयथः  | भक्षयथ    |
| उ०   | भक्षयामि | भक्षयावः | भक्षयामः  |

लोट्

|      |          |           |           |
|------|----------|-----------|-----------|
| प्र० | भक्षयतु  | भक्षयताम् | भक्षयन्तु |
| म०   | भक्षय    | भक्षयतम्  | भक्षयत    |
| उ०   | भक्षयाणि | भक्षयाव   | भक्षयाम   |

लङ्

|      |          |            |          |
|------|----------|------------|----------|
| प्र० | अभक्षयत् | अभक्षयताम् | अभक्षयन् |
| म०   | अभक्षयः  | अभक्षयतम्  | अभक्षयत  |
| उ०   | अभक्षयम् | अभक्षयाव   | अभक्षयाम |

विधिलिङ्

|      |           |            |           |
|------|-----------|------------|-----------|
| प्र० | भक्षयेत्  | भक्षयेताम् | भक्षयेयुः |
| म०   | भक्षयेः   | भक्षयेतम्  | भक्षयेत   |
| उ०   | भक्षयेयम् | भक्षयेव    | भक्षयेम   |

लृट्

|      |              |              |               |
|------|--------------|--------------|---------------|
| प्र० | भक्षयिष्यति  | भक्षयिष्यतः  | भक्षयिष्यन्ति |
| म०   | भक्षयिष्यसि  | भक्षयिष्यथः  | भक्षयिष्यथ    |
| उ०   | भक्षयिष्यामि | भक्षयिष्यावः | भक्षयिष्यामः  |

## ( धातुरूप-संग्रह ( ख ) )

### भ्वादिगण

( ४४ ) वस् ( रहना ) ( भू के तुल्य )

| लट्       |           |            |
|-----------|-----------|------------|
| वसति      | वसतः      | वसन्ति     |
| वससि      | वसथः      | वसथ        |
| वसामि     | वसावः     | वसामः      |
| लोट्      |           |            |
| वसतु      | वसताम्    | वसन्तु     |
| वस        | वसतम्     | वसत        |
| वसानि     | वसाव      | वसाम       |
| लङ्       |           |            |
| अवसत्     | अवसताम्   | अवसन्      |
| अवसः      | अवसतम्    | अवसत       |
| अवसम्     | अवसाव     | अवसाम      |
| विधिलिङ्  |           |            |
| वसेत्     | वसेताम्   | वसेयुः     |
| वसेः      | वसेतम्    | वसेत       |
| वसेयम्    | वसेव      | वसेम       |
| लृट्      |           |            |
| वत्स्यति  | वत्स्यतः  | वत्स्यन्ति |
| वत्स्यसि  | वत्स्यथः  | वत्स्यथ    |
| वत्स्यामि | वत्स्यावः | वत्स्यामः  |

### अदादिगण

( ४५ ) अद् ( खाना ) परस्मैपद

| लट्       |           |            |
|-----------|-----------|------------|
| अत्ति     | अत्तः     | अदन्ति     |
| अत्सि     | अत्थः     | अत्थ       |
| अद्मि     | अद्मः     | अद्मः      |
| लोट्      |           |            |
| अत्तु     | अत्ताम्   | अदन्तु     |
| अद्धि     | अत्तम्    | अत्त       |
| अदानि     | अदानि     | अदाम       |
| लङ्       |           |            |
| आदत्      | आत्ताम्   | आदन्       |
| आदः       | आत्तम्    | आत्त       |
| आदम्      | आद्म      | आद्म       |
| विधिलिङ्  |           |            |
| अद्यात्   | अद्याताम् | अद्युः     |
| अद्याः    | अद्यातम्  | अद्यात     |
| अद्याम्   | अद्याव    | अद्याम     |
| लृट्      |           |            |
| अत्स्यति  | अत्स्यतः  | अत्स्यन्ति |
| अत्स्यसि  | अत्स्यथः  | अत्स्यथ    |
| अत्स्यामि | अत्स्यावः | अत्स्यामः  |

( 46 ) ब्रू ( कहना )

सूचना- दोनों पदों में लट् में ब्रू को 'वच्' हो जाता है।

### परस्मैपद

| लट्     |        |           |
|---------|--------|-----------|
| ब्रवीति | ब्रूतः | ब्रुवन्ति |
| आह      | आहतुः  | आहुः      |
| ब्रवीषि | ब्रूथः | ब्रूथ     |

### आत्मनेपद

| लट्    |          |          |
|--------|----------|----------|
| ब्रुते | ब्रुवाते | ब्रुवते  |
| ब्रूषे | ब्रूवाथे | ब्रूध्वे |

|           |                     |            |      |           |                     |
|-----------|---------------------|------------|------|-----------|---------------------|
| आत्थ      | आहतुः               |            |      |           |                     |
| ब्रवीमि   | ब्रूवः              | ब्रूमः     | उ०   | ब्रुवे    | ब्रूवहे             |
|           | लोट्                |            |      |           | लोट्                |
| ब्रवीतु   | ब्रूताम्            | ब्रूवन्तु  | प्र० | ब्रुताम्  | ब्रुवाताम्          |
| ब्रूहि    | ब्रूतम्             | ब्रूत      | म०   | ब्रूष्व   | ब्रूवथाम्           |
| ब्रवाणि   | ब्रवाव              | ब्रवाम     | उ०   | ब्रवै     | ब्रवावहै            |
|           | लङ्                 |            |      |           | लङ्                 |
| अब्रवीत्  | अब्रूताम्           | अब्रुवन्   | प्र० | अब्रूत    | अब्रुवाताम्         |
| अब्रवीः   | अब्रूतम्            | अब्रूत     | म०   | अब्रूथाः  | अब्रूवाथाम्         |
| अब्रवम्   | अब्रूव              | अब्रूम     | उ०   | अब्रुवि   | अब्रूवहि            |
|           | विधिलिङ्            |            |      |           | विधिलिङ्            |
| ब्रूयात्  | ब्रूयाताम्          | ब्रूयुः    | प्र० | ब्रुवीत   | ब्रूवीयाताम्        |
| ब्रूयाः   | ब्रूयातम्           | ब्रूयात    | म०   | ब्रुवीथाः | ब्रूवीयाथाम्        |
| ब्रूयाम्  | ब्रूयाव             | ब्रूयाम    | उ०   | ब्रुवीय   | ब्रूवीवहि           |
|           | लट् ( ब्रू को वच् ) |            |      |           | लट् ( ब्रू को वच् ) |
| वक्ष्यति  | वक्ष्यतः            | वक्ष्यन्ति | प्र० | वक्ष्यते  | वक्ष्येते           |
| वक्ष्यसि  | वक्ष्यथः            | वक्ष्यथ    | म०   | वक्ष्यसे  | वक्ष्येथे           |
| वक्ष्यामि | वक्ष्यावः           | वक्ष्यामः  | उ०   | वक्ष्ये   | वक्ष्यावहे          |

( ४७ ) दुह ( दुहना ) परस्मैपद

( ४८ ) रुद ( रोना ) परस्मैपद

सूचना- धातु उभयपदी है। यहाँ केवल परस्मैपद के रूप दिये गये हैं।

|        |           |         |      |         |           |
|--------|-----------|---------|------|---------|-----------|
|        | लट्       |         |      |         | लट्       |
| दोग्धि | दुग्धः    | दुहन्ति | प्र० | रोदिति  | रुदितः    |
| धोक्षि | दुग्धः    | दुग्ध   | म०   | रोदिषि  | रुदिथः    |
| दोह्मि | दुह्वः    | दुह्यः  | उ०   | रोदिमि  | रुदिवः    |
|        | लोट्      |         |      |         | लोट्      |
| दोग्धु | दुग्धाम्  | दुहन्तु | प्र० | रोदितु  | रुदिताम्  |
| दुग्धि | दुग्धम्   | दुग्ध   | म०   | रुदिहि  | रुदितम्   |
| दोहानि | दोहाव     | दोहाम   | उ०   | रोदानि  | रोदाव     |
|        | लङ्       |         |      |         | लङ्       |
| अधोक्  | अदुग्धाम् | अदुहन्  | प्र० | अरोदीत् | अरुदिताम् |

|            |            |             |                |            |             |        |
|------------|------------|-------------|----------------|------------|-------------|--------|
| अधोक्      | अदुग्धम्   | अदुग्ध      | अरोदत्         | म० अरोदीः  | अरुदितम्    | अरुदित |
|            |            |             | अरोदः          |            |             |        |
| अदोहम्     | अदुह्व     | अदुह्व      | उ० अरोदम्      | अरुदिव     | अरुदिम      |        |
|            | विधिलिङ्   |             |                | विधिलिङ्   |             |        |
| दुह्यात्   | दुह्याताम् | दुह्युः     | प्र० रुद्यात्  | रुद्याताम् | रुद्युः     |        |
| दुह्याः    | दुह्यातम्  | दुह्यात     | म० रुद्याः     | रुद्यातम्  | रुद्यात     |        |
| दुह्याम्   | दुह्याव    | दुह्याम     | उ० रुद्याम्    | रुद्याव    | रुद्याम     |        |
|            | लट्        |             |                | लट्        |             |        |
| धोक्ष्यति  | धोक्ष्यतः  | धोक्ष्यन्ति | प्र० रोदिष्यति | रोदिष्यतः  | रोदिष्यन्ति |        |
| धोक्ष्यसि  | धोक्ष्यथः  | धोक्ष्यथ    | म० रोदिष्यसि   | रोदिष्यथः  | रोदिष्यथ    |        |
| धोक्ष्यामि | धोक्ष्यावः | धोक्ष्यामः  | उ० रोदिष्यामि  | रोदिष्यावः | रोदिष्यामः  |        |

( ४९ ) स्वप् ( सोना ) परस्मैपद

|          |            |          |  |  |  |
|----------|------------|----------|--|--|--|
|          | लट्        |          |  |  |  |
| स्वपिति  | स्वपितः    | स्वपन्ति |  |  |  |
| स्वपिषि  | स्वपिथः    | स्वपिथ   |  |  |  |
| स्वपिमि  | स्वपिवः    | स्वपिमः  |  |  |  |
|          | लोट्       |          |  |  |  |
| स्वपितु  | स्वपिताम्  | स्वपन्तु |  |  |  |
| स्वपिहि  | स्वपितम्   | स्वपित   |  |  |  |
| स्वपानि  | स्वपाव     | स्वपाम   |  |  |  |
|          | लङ्        |          |  |  |  |
| अस्वपीत् | अस्वपिताम् | अस्वपन्  |  |  |  |
| अस्वपत्  |            |          |  |  |  |
| अस्वपीः  | अस्वपितम्  | अस्वपित  |  |  |  |
| अस्वपः   |            |          |  |  |  |
| अस्वपम्  | अस्वपिव    | अस्वपिम  |  |  |  |
|          | विधिलिङ्   |          |  |  |  |

( ५० ) हन् ( मारना ) परस्मैपद

|            |          |         |  |  |  |
|------------|----------|---------|--|--|--|
|            | लट्      |         |  |  |  |
| प्र० हन्ति | हतः      | घ्नन्ति |  |  |  |
| म० हन्ति   | हथः      | हथ      |  |  |  |
| उ० हन्मि   | हन्वः    | हन्मः   |  |  |  |
|            | लोट्     |         |  |  |  |
| प्र० हन्तु | हताम्    | घ्नन्तु |  |  |  |
| म० जहि     | हतम्     | हत      |  |  |  |
| उ० हनानि   | हनाव     | हनाम    |  |  |  |
|            | लङ्      |         |  |  |  |
| प्र० अहन्  | अहताम्   | अघ्नन्  |  |  |  |
| म० अहः     | अहतम्    | अहत     |  |  |  |
| उ० अहनम्   | अहन्व    | अहन्म   |  |  |  |
|            | विधिलिङ् |         |  |  |  |

|           |             |          |
|-----------|-------------|----------|
| स्वप्यात् | स्वप्याताम् | स्वप्युः |
| स्वप्याः  | स्वप्यातम्  | स्वप्यात |
| स्वप्याम् | स्वप्याव    | स्वप्याम |

लट्

|             |             |              |
|-------------|-------------|--------------|
| स्वप्स्यति  | स्वप्स्यतः  | स्वप्स्यन्ति |
| स्वप्स्यसि  | स्वप्स्यथः  | स्वप्स्यथ    |
| स्वप्स्यामि | स्वप्स्यावः | स्वप्स्यामः  |

( ५१ ) इ ( जाना ) परस्मैपद

लट्

|     |     |       |
|-----|-----|-------|
| एति | इतः | यन्ति |
| एषि | इथः | इथ    |
| एमि | इवः | इमः   |

लोट्

|       |       |       |
|-------|-------|-------|
| एतु   | इताम् | यन्तु |
| इहि   | इतम्  | इत    |
| अयानि | अयाव  | अयाम  |

लङ्

|      |       |      |
|------|-------|------|
| ऐत्  | ऐताम् | आयन् |
| ऐः   | ऐतम्  | ऐत   |
| आयम् | ऐव    | ऐम   |

विधिलिङ्

|       |         |      |
|-------|---------|------|
| इयात् | इयाताम् | इयुः |
| इयाः  | इयातम्  | इयात |
| इयाम् | इयाव    | इयाम |

लट्

|         |         |          |
|---------|---------|----------|
| एष्यति  | एष्यतः  | एष्यन्ति |
| एष्यसि  | एष्यथः  | एष्यथ    |
| एष्यामि | एष्यावः | एष्यामः  |

( ५३ ) शी ( सोना )

|      |         |           |        |
|------|---------|-----------|--------|
| प्र० | हन्यात् | हन्याताम् | हन्युः |
| म०   | हन्याः  | हन्यातम्  | हन्यात |
| उ०   | हन्याम् | हन्याव    | हन्याम |

लट्

|      |           |           |            |
|------|-----------|-----------|------------|
| प्र० | हनिष्यति  | हनिष्यतः  | हनिष्यन्ति |
| म०   | हनिष्यसि  | हनिष्यथः  | हनिष्यथ    |
| उ०   | हनिष्यामि | हनिष्यावः | हनिष्यामः  |

( ५२ ) आस् ( बैठना ) आत्मनेपद

लट्

|      |       |        |        |
|------|-------|--------|--------|
| प्र० | आस्ते | आसाते  | आसते   |
| म०   | आस्से | आसाथे  | आध्वे  |
| उ०   | आसे   | आस्वहे | आस्महे |

लोट्

|      |         |         |        |
|------|---------|---------|--------|
| प्र० | आस्ताम् | आसाताम् | आसताम् |
| म०   | आस्व    | आसाथाम् | आध्वम् |
| उ०   | आसै     | आसावहै  | आसामहै |

लङ्

|      |        |         |        |
|------|--------|---------|--------|
| प्र० | आस्त   | आसाताम् | आसत    |
| म०   | आस्थाः | आसाथाम् | आध्वम् |
| उ०   | आसि    | आस्वहि  | आस्महि |

विधिलिङ्

|      |        |           |          |
|------|--------|-----------|----------|
| प्र० | आसीत   | आसीयाताम् | आसीरन्   |
| म०   | आसीथाः | आसीयाथाम् | आसीध्वम् |
| उ०   | आसीय   | आसीवहि    | आसीमहि   |

लट्

|      |          |            |            |
|------|----------|------------|------------|
| प्र० | आसिष्यते | आसिष्येते  | आसिष्यन्ते |
| म०   | आसिष्यसे | आसिष्येथे  | आसिष्यध्वे |
| उ०   | आसिष्ये  | आसिष्यावहे | आसिष्यामहे |

( ५४ ) हु ( हवन करना )

अदादिगण। आत्मनेपद

| लट्      |            |            |
|----------|------------|------------|
| शेते     | शयाते      | शेरते      |
| शेषे     | शयाथे      | शेध्वे     |
| शये      | शेवहे      | शेमहे      |
| लोट्     |            |            |
| शेताम्   | शयाताम्    | शेरताम्    |
| शेष्व    | शयाथाम्    | शेध्वम्    |
| शयै      | शयावहै     | शयामहे     |
| लङ्      |            |            |
| अशेत     | अशयाताम्   | अशेरत      |
| अशेथाः   | अशयाथाम्   | अशेध्वम्   |
| अशयि     | अशेवहि     | अशेमहि     |
| विधिलिङ् |            |            |
| शयीत     | शयीयाताम्  | शयीरन्     |
| शयीथाः   | शयीयाथाम्  | शयीध्वम्   |
| शयीय     | शयीवहि     | शयीमहि     |
| लट्      |            |            |
| शयिष्यते | शयिष्येते  | शयिष्यन्ते |
| शयिष्यसे | शयिष्येथे  | शयिष्यध्वे |
| शयिष्ये  | शयिष्यावहे | शयिष्यामहे |

जुहोत्यादिगण। परस्मैपद

| लट्      |          |            |
|----------|----------|------------|
| प्र०     | जुहोति   | जुहुतः     |
| म०       | जुहोषि   | जुहुथः     |
| उ०       | जुहोमि   | जुहुवः     |
|          |          | जुहुमः     |
| लोट्     |          |            |
| प्र०     | जुहोतु   | जुहुताम्   |
| म०       | जुहुधि   | जुहुतम्    |
| उ०       | जुह्वानि | जुहवाव     |
|          |          | जुहवाम     |
| लङ्      |          |            |
| प्र०     | अजुहोत्  | अजुहुताम्  |
| म०       | अजुहोः   | अजुहुतम्   |
| उ०       | अजुहवम्  | अजुहुव     |
|          |          | अजुहुम     |
| विधिलिङ् |          |            |
| प्र०     | जुहुयात् | जुहुयाताम् |
| म०       | जुहुयाः  | जुहुयातम्  |
| उ०       | जुहुयाम् | जुहुयाव    |
|          |          | जुहुयाम    |
| लट्      |          |            |
| प्र०     | होष्यति  | होष्यतः    |
| म०       | होष्यसि  | होष्यथः    |
| उ०       | होष्यामि | होष्यावः   |
|          |          | होष्यामः   |

( ५५ ) भी ( डरना ) परस्मैपद

| लट्    |          |         |
|--------|----------|---------|
| बिभेति | बिभीतः   | बिभ्यति |
| बिभेषि | बिभीथः   | बिभीथ   |
| बिभेमि | बिभीवः   | बिभीमः  |
| लोट्   |          |         |
| बिभेतु | बिभीताम् | बिभ्यतु |

( ५६ ) दा ( देना ) आत्मनेपद

सूचना- परस्मैपद के रूप, देखो पृष्ठ ९५

| लट्  |         |         |
|------|---------|---------|
| प्र० | दत्ते   | ददाते   |
| म०   | दत्से   | ददाथे   |
| उ०   | ददे     | दद्वहे  |
|      |         | दद्वहे  |
| लोट् |         |         |
| प्र० | दत्ताम् | ददाताम् |
|      |         | ददताम्  |

|          |            |           |      |         |           |           |
|----------|------------|-----------|------|---------|-----------|-----------|
| बिभीहि   | बिभीतम्    | बिभीत     | म०   | दत्स्व  | ददाथाम्   | दद्धवम्   |
| बिभयानि  | बिभयाव     | बिभयाम    | उ०   | ददै     | ददावहै    | ददामहै    |
|          | लङ्        |           |      |         | लङ्       |           |
| अबिभेत्  | अबिभीताम्  | अबिभयुः   | प्र० | अदत्त   | अददाताम्  | अददत      |
| अबिभेः   | अबिभीतम्   | अबिभीत    | म०   | अदत्थाः | अददाथाम्  | अदद्धवम्  |
| अबिभयम्  | अबिभीव     | अबिभीम    | उ०   | अददि    | अदद्वहि   | अदद्वहि   |
|          | विधिलिङ्   |           |      |         | विधिलिङ्  |           |
| बिभीयात् | बिभीयाताम् | बिभीयुः   | प्र० | ददीत    | ददीयात्   | ददीरन्    |
| बिभीयाः  | बिभीयातम्  | बिभीयात   | म०   | ददीथाः  | ददीयाताम् | ददीध्वम्  |
| बिभीयाम् | बिभीयाम    | उ०        | ददीय | ददीवहि  | ददीमहि    |           |
|          | लट्        |           |      |         | लट्       |           |
| भेष्यति  | भेष्यतः    | भेष्यन्ति | प्र० | दास्यते | दास्येते  | दास्यन्ते |
| भेष्यसि  | भेष्यथः    | भेष्यथ    | म०   | दास्यसे | दास्येथे  | दास्यध्वे |
| भेष्यामि | भेष्यावः   | भेष्यामः  | उ०   | दास्ये  | दास्यावहे | दास्यामहे |

( ५७ ) धा ( धारण करना )

जुहोत्यादिगण। उभयपदी

सूचना - भू के तुल्य रूप चलेंगे।

सूचना - भू के तुल्य रूप चलेंगे।

| लट्-परस्मैपद |           |         | लट्-आत्मनेपद |          |           |          |       |
|--------------|-----------|---------|--------------|----------|-----------|----------|-------|
| एकवचन        | द्विवचन   | बहुवचन  | पुरुष        | एकवचन    | द्विवचन   | बहुवचन   |       |
| दधाति        | धत्तः     | दधति    | प्र०         | धत्ते    | दधाते     | दधते     |       |
| दधासि        | धत्थः     | धत्थ    | म०           | धत्से    | दधाथे     | दद्ध्वे  |       |
| दधामि        | दध्वः     | दध्मः   | उ०           | दधे      | दध्वहे    | दध्महे   |       |
|              | लोट्      |         |              |          | लोट्      |          |       |
| दधातु        | धत्ताम्   | दधतु    | प्र०         | धत्ताम्  | दधाताम्   | दधताम्   |       |
| धेहि         | धत्तम्    | धत्त    | म०           | धत्स्व   | दधाथाम्   | धद्ध्वम् |       |
| दधानि        | दधाव      | दधाम    | उ०           | दधै      | दधावहै    | दधामहै   |       |
|              | लङ्       |         |              |          | लङ्       |          |       |
| अदधात्       | अधत्ताम्  | अदधुः   | प्र०         | अधत्त    | अदधाताम्  | अदधत     | अदधाः |
| अधत्तम्      | म०        | अधत्थाः |              | अदधाथाम् | अधद्ध्वम् | अदधाम्   | अदध्व |
| अदध्म        | उ०        | अदध्वहि | अदध्महि      |          |           |          |       |
|              | विधिलिङ्  |         |              |          | विधिलिङ्  |          |       |
| दध्यात्      | दध्याताम् | दध्युः  | प्र०.        | दधीत     | दधीयाताम् | दधीरन्   |       |
| दध्याः       | दध्यातम्  | दध्यात  | म०           | दधीथाः   | दधीयाथाम् | दधीध्वम् |       |



|          |          |           |      |         |           |           |
|----------|----------|-----------|------|---------|-----------|-----------|
| दध्याम्  | दध्याव   | दध्याम    | उ०   | दधीय    | दधीवहि    | दधीमहि    |
|          | लृट्     |           |      |         | लृट्      |           |
| धास्यति  | धास्यतः  | धास्यन्ति | प्र० | धास्यते | धास्येते  | धास्यन्ते |
| धास्यसि  | धास्यथः  | धास्यथ    | म०   | धास्यसे | धास्येथे  | धास्यध्वे |
| धास्यामि | धास्यावः | धास्यामः  | उ०   | धास्ये  | धास्यावहे | धास्यामहे |

( ५८ ) युष् ( लङ्ना ) आत्मनेपद

( ४९ ) जन् ( उत्पन्न होना ) आत्मनेपद

सूचना - लट्, लोट्, लङ्, विधि लिङ् में जन् को जा होता है।

| लट्       |              |             | लट्-( जन् को जा )      |          |            |            |
|-----------|--------------|-------------|------------------------|----------|------------|------------|
| एकवचन     | द्विवचन      | बहुवचन      | पुरुष                  | एकवचन    | द्विवचन    | बहुवचन     |
| युध्यते   | युध्येत      | युध्यन्ते   | प्र०                   | जायते    | जायेते     | जायन्ते    |
| युध्यसे   | युध्येथ      | युध्यध्वे   | म०                     | जायसे    | जायेथे     | जायध्वे    |
| युध्ये    | युध्यावहे    | युध्यामहे   | उ०                     | जाये     | जायावहे    | जायामहे    |
| लोट्      |              |             | लोट् ( जन् को जा )     |          |            |            |
| युध्यताम् | युध्येताम्   | युध्यन्ताम् | प्र०                   | जायताम्  | जायेताम्   | जायन्ताम्  |
| युध्यस्व  | युध्येथाम्   | युध्यध्वम्  | म०                     | जायस्व   | जायेथाम्   | जायध्वम्   |
| युध्यै    | युध्यावहै    | युध्यामहै   | उ०                     | जायै     | जायावहै    | जायामहै    |
| लङ्       |              |             | लङ् ( जन् को जा )      |          |            |            |
| अयुध्यत   | अयुध्येताम्  | अयुध्यन्त   | प्र०                   | अजायत    | अजायेताम्  | अजायन्त    |
| अयुध्यथाः | अयुध्येथाम्  | अयुध्यध्वम् | म०                     | अजायथाः  | अजायेथाम्  | अजायध्वम्  |
| अयुध्ये   | अयुध्यावहि   | अयुध्यामहि  | उ०                     | अजाये    | अजायावहि   | अजायामहि   |
| विधिलिङ्  |              |             | विधिलिङ् ( जन् को जा ) |          |            |            |
| युध्येत   | युध्येयाताम् | युध्येरन्   | प्र०                   | जायेत    | जायेयाताम् | जायेरन्    |
| युध्येथाः | युध्येयाथाम् | युध्येध्वम् | म०                     | जायेथाः  | जायेयाथाम् | जायेध्वम्  |
| युध्येय   | युध्येवहि    | युध्येमहि   | उ०                     | जायेय    | जायेवहि    | जायेमहि    |
| लृट्      |              |             | लृट्                   |          |            |            |
| योत्स्यते | योत्स्येते   | योत्स्यन्ते | प्र०                   | जनिष्यते | जनिष्येते  | जनिष्यन्ते |
| योत्स्यसे | योत्स्येथे   | योत्स्यध्वे | म०                     | जनिष्यसे | जनिष्येथे  | जनिष्यध्वे |
| योत्स्ये  | योत्स्यावहे  | योत्स्यामहे | उ०                     | जनिष्ये  | जनिष्यावहे | जनिष्यामहे |

( ६० ) सु ( स्नान करना या कराना, रस निकालना )

स्वादिगण। उभयपदी

| लट्-परस्मैपद |            |           | लट्-आत्मनेपद |           |              |             |
|--------------|------------|-----------|--------------|-----------|--------------|-------------|
| एकवचन        | द्विवचन    | बहुवचन    | पुरुष        | एकवचन     | द्विवचन      | बहुवचन      |
| सुनोति       | सुनुतः     | सुन्वन्ति | प्र०         | सुनुते    | सुन्वान्ते   | सुन्वते     |
| सुनोषि       | सुनुथः     | सुनुथ     | म०           | सुनुषे    | सुन्वाथे     | सुनुध्वे    |
| सुनोमि       | सुनुवः     | सुनुमः    | उ०           | सुन्वे    | सुनुवहे      | सुनुमहे     |
|              | सुन्वः     | सुन्मः    |              |           | सुन्वहे      | सुन्महे     |
|              | लोट्       |           |              |           | लोट्         |             |
| सुनोतु       | सुनुताम्   | सुन्वन्तु | प्र०         | सुनुताम्  | सुन्वाताम्   | सुन्वताम्   |
| सुनु         | सुनुतम्    | सुनुत     | म०           | सुनुष्व   | सुन्वाथाम्   | सुनुध्वम्   |
| सुनवानि      | सुनवाव     | सुनवाम    | उ०           | सुनवै     | सुनवावहै     | सुनवामहै    |
|              | लङ्        |           |              |           | लङ्          |             |
| असुनोत्      | असुनुताम्  | असुन्वन्  | प्र०         | असुनुत    | असुन्वाताम्  | असुन्वत     |
| असुनोः       | असुनुतम्   | असुनुत    | म०           | असुनुथाः  | असुन्वाथाम्  | असुनुध्वम्  |
| असुनवम्      | असुनुव     | असुनुम    | उ०           | असुन्वि   | असुनुवहि     | असुनुमहि    |
|              |            |           |              | असुन्वहि  | असुन्महि     |             |
|              | विधिलिङ्   |           |              |           | विधिलिङ्     |             |
| सुनुयात्     | सुनुयाताम् | सुनुयुः   | प्र०         | सुन्वीत   | सुन्वीयाताम् | सुन्वीरन्   |
| सुनुयाः      | सुनुयातम्  | सुनुयात   | म०           | सुन्वीथाः | सुन्वीयाथाम् | सुन्वीध्वम् |
| सुनुयाम्     | सुनुयाव    | सुनुयाम   | उ०           | सुन्वीय   | सुन्वीवहि    | सुन्वीमहि   |
|              | लृट्       |           |              |           | लृट्         |             |
| सोष्यति      | सोष्यतः    | सोष्यन्ति | प्र०         | सोष्यते   | सोष्येते     | सोष्यन्ते   |
| सोष्यसि      | सोष्यथः    | सोष्यथ    | म०           | सोष्यसे   | सोष्येथे     | सोष्यध्वे   |
| सोष्यामि     | सोष्यावः   | सोष्यामः  | उ०           | सोष्ये    | सोष्यावहे    | सोष्यामहे   |

( ६१ ) स्पृश् ( छूना ) परस्मैपद

| लट्      |           |           |
|----------|-----------|-----------|
| एकवचन    | द्विवचन   | बहुवचन    |
| स्पृशति  | स्पृशतः   | स्पृशन्ति |
| स्पृशसि  | स्पृशथः   | स्पृशथ    |
| स्पृशामि | स्पृशावः  | स्पृशामः  |
|          | लोट्      |           |
| स्पृशतु  | स्पृशताम् | स्पृशन्तु |
| स्पृश    | स्पृशतम्  | स्पृशत    |

( ६२ ) मृ ( मरना ) आत्मनेपद

सूचना - लट् में मृ धातु परस्मैपदी होती है।

| लट्   |           |            |             |
|-------|-----------|------------|-------------|
| पुरुष | एकवचन     | द्विवचन    | बहुवचन      |
| प्र०  | म्रियते   | म्रियेते   | म्रियन्ते   |
| म०    | म्रियसे   | म्रियेथे   | म्रियध्वे   |
| उ०    | म्रिये    | म्रियावहे  | म्रियामहे   |
| लोट्  |           |            |             |
| प्र०  | म्रियताम् | म्रियेताम् | म्रियन्ताम् |
| म०    | म्रियस्व  | म्रियेथाम् | म्रियध्वम्  |

|     |               |               |                |      |           |              |             |
|-----|---------------|---------------|----------------|------|-----------|--------------|-------------|
|     | स्पृशानि      | स्पृशाव       | स्पृशाम        | उ०   | प्रियै    | प्रियावहै    | प्रियामहै   |
|     |               | लङ्           |                |      |           | लङ्          |             |
|     | अस्पृशत्      | अस्पृशताम्    | अस्पृशन्       | प्र० | अप्रियत   | अप्रियेताम्  | अप्रियन्त   |
|     | अस्पृशः       | अस्पृशतम्     | अस्पृशत        | म०   | अप्रियथाः | अप्रियेथाम्  | अप्रियध्वम् |
|     | अस्पृशम्      | अस्पृशाव      | अस्पृशाम       | उ०   | अप्रिये   | अप्रियावहि   | अप्रियामहि  |
|     |               | विधिलिङ्      |                |      |           | विधिलिङ्     |             |
|     | स्पृशेत्      | स्पृशेताम्    | स्पृशेयुः      | प्र० | प्रियेत   | प्रियेयाताम् | प्रियेरन्   |
|     | स्पृशेः       | स्पृशेतम्     | स्पृशेत        | म०   | प्रियेथाः | प्रियेयाथाम् | प्रियेध्वम् |
|     | स्पृशेयम्     | स्पृशेव       | स्पृशेम        | उ०   | प्रियेय   | प्रियेवहि    | प्रियेमहि   |
|     |               | लट्           |                |      |           | लट्          |             |
| (घ) | स्प्रक्ष्यति  | स्प्रक्ष्यतः  | स्प्रक्ष्यन्ति | प्र० | मरिष्यति  | मरिष्यतः     | मरिष्यन्ति  |
|     | स्प्रक्ष्यसि  | स्प्रक्ष्यथः  | स्प्रक्ष्यथ    | म०   | मरिष्यसि  | मरिष्यथः     | मरिष्यथ     |
|     | स्प्रक्ष्यामि | स्प्रक्ष्यावः | स्प्रक्ष्यामः  | उ०   | मरिष्यामि | मरिष्यावः    | मरिष्यामः   |
| (ख) | स्पक्ष्यति    | स्पक्ष्यतः    | स्पक्ष्यन्ति   | प्र० |           |              |             |
|     | स्पक्ष्यसि    | स्पक्ष्यथः    | स्पक्ष्यथ      | म०   |           |              |             |
|     | स्पक्ष्यामि   | स्पक्ष्यावः   | स्पक्ष्यामः    | उ०   |           |              |             |

( ६३ ) मुच् ( छोड़ना )

तुदादिगण। उभयपद

|         |           |              |           |
|---------|-----------|--------------|-----------|
|         |           | लट्-परस्मैपद |           |
|         | एकवचन     | द्विवचन      | बहुवचन    |
|         | मुञ्चति   | मुञ्चतः      | मुञ्चन्ति |
|         | मुञ्चसि   | मुञ्चथः      | मुञ्चथ    |
|         | मुञ्चामि  | मुञ्चावः     | मुञ्चामः  |
|         |           | लोट्         |           |
|         | मुञ्चतु   | मुञ्चताम्    | मुञ्चन्तु |
|         | मुञ्च     | मुञ्चतम्     | मुञ्चत    |
| मुञ्चाव | मुञ्चाम   |              | उ०        |
|         |           | लङ्          |           |
|         | अमुञ्चत्  | अमुञ्चताम्   | अमुञ्चन्  |
|         | अमुञ्चः   | अमुञ्चतम्    | अमुञ्चत   |
|         | अमुञ्चम्  | अमुञ्चाव     | अमुञ्चाम  |
|         |           | विधिलिङ्     |           |
|         | मुञ्चेत्  | मुञ्चेताम्   | मुञ्चेयुः |
|         | मुञ्चेः   | मुञ्चेतम्    | मुञ्चेत   |
|         | मुञ्चेयम् | मुञ्चेव      | मुञ्चेम   |

( ६४ ) रुध् ( रोकना, ढकना )

रुधादिगण। उभयपद

|         |            | लट्-परस्मैपद |           |          |  |
|---------|------------|--------------|-----------|----------|--|
| पुरुष   | एकवचन      | द्विवचन      | बहुवचन    |          |  |
| प्र०    | रुणद्धि    | रुन्धः       | रुन्धन्ति |          |  |
| म०      | रुणत्सि    | रुन्धः       | रुन्ध     |          |  |
| उ०      | रुणध्मि    | रुन्ध्वः     | रुन्धमः   |          |  |
|         |            | लोट्         |           |          |  |
| प्र०    | रुणद्धु    | रुन्धाम्     | रुन्धन्तु |          |  |
| म०      | रुन्धि     | रुन्धम्      | रुन्ध     | मुञ्चानि |  |
| रुणधानि | रुणधाव     | रुणधाम       |           |          |  |
|         |            | लङ्          |           |          |  |
| प्र०    | अरुणत्     | अरुन्धाम्    | अरुन्धन्  |          |  |
| म०      | अरुणः      | अरुन्धम्     | अरुन्ध    |          |  |
| उ०      | अरुणधम्    | अरुन्ध्व     | अरुन्धम   |          |  |
|         |            | विधिलिङ्     |           |          |  |
| प्र०    | रुन्ध्यात् | रुन्ध्याताम् | रुन्ध्युः |          |  |
| म०      | रुन्ध्याः  | रुन्ध्यातम्  | रुन्ध्यात |          |  |
| उ०      | रुन्ध्याम् | रुन्ध्याव    | रुन्ध्याम |          |  |

|            |            |            |      |            |            |             |
|------------|------------|------------|------|------------|------------|-------------|
|            | लृट्       |            |      |            | लृट्       |             |
| मोक्षयति   | मोक्षयतः   | मोक्षयन्ति | प्र० | रोत्स्यति  | रोत्स्यतः  | रोत्स्यन्ति |
| मोक्षयसि   | मोक्षयथः   | मोक्षयथ    | म०   | रोत्स्यसि  | रोत्स्यथः  | रोत्स्यथ    |
| मोक्ष्यामि | मोक्ष्यावः | मोक्ष्यामः | उ०   | रोत्स्यामि | रोत्स्यावः | रोत्स्यामः  |

**सूचना-** आत्मनेपद में सेव् के तुल्य रूप चलेंगे। लट्-मुञ्चते, लोट्-मुञ्चताम्, लङ्-अमुञ्चत, विधिलिङ्-मुञ्चेत, लृट्-मोक्षयते।

**सूचना-** आत्मनेपद में रुध् के रूप भुज् (धातु ६५) के तुल्य चलेंगे। लट्-रुन्धे, लोट्-रुन्धाम्, लङ्-अरुन्ध, विधिलिङ्-रुन्धीत, लृट्-रोत्स्यते।

( ६५ ) भुज् ( १. पालन करना, २. भोजन करना )

**सूचना-** भुज् धातु पालन करने के अर्थ में परस्मैपदी होती है और भोजन करना, उपभोग करना अर्थ में आत्मनेपदी होती है।

| लट्-परस्मैपद |              |            |       | लट्-आत्मनेपद |              |               |  |
|--------------|--------------|------------|-------|--------------|--------------|---------------|--|
| एकवचन        | द्विवचन      | बहुवचन     | पुरुष | एकवचन        | द्विवचन      | बहुवचन        |  |
| भुनक्ति      | भुङ्क्त      | भुञ्चन्ति  | प्र०  | भुङ्क्ते     | भुञ्चते      | भुञ्चते       |  |
| भुनक्षि      | भुङ्क्थः     | भुङ्क्थ    | म०    | भुङ्क्षे     | भुञ्जाथे     | भुङ्ग्ध्वे    |  |
| भुनज्मि      | भुञ्ज्वः     | भुञ्ज्मः   | उ०    | भुञ्जे       | भुञ्ज्वहे    | भुञ्ज्महे     |  |
| लोट्         |              |            |       | लोट्         |              |               |  |
| भुनक्तु      | भुङ्क्ताम्   | भुञ्जन्तु  | प्र०  | भुङ्क्ताम्   | भुञ्जाताम्   | भुञ्जताम्     |  |
| भुङ्ग्ध      | भुङ्क्तम्    | भुङ्क्त    | म०    | भुङ्क्ष्व    | भुञ्जाथाम्   | भुङ्ग्ध्वम्   |  |
| भुनजानि      | भुनजाव       | भुनजाम     | उ०    | भुनजै        | भुनजावहै     | भुनजामहै      |  |
| लङ्          |              |            |       | लङ्          |              |               |  |
| अभुनक्       | अभुङ्क्ताम्  | अभुञ्जन्   | प्र०  | अभुङ्क्त     | अभुञ्जाताम्  | अभुञ्जतअभुनक् |  |
| अभुङ्क्तम्   | म०           | अभुङ्क्थाः |       | अभुञ्जाथाम्  | अभुङ्ग्ध्वम् |               |  |
| अभुनजम्      | अभुञ्ज्व     | अभुञ्ज्म   | उ०    | अभुञ्जि      | अभुञ्ज्वहि   | अभुञ्ज्महि    |  |
| विधिलिङ्     |              |            |       | विधिलिङ्     |              |               |  |
| भुञ्ज्यात्   | भुञ्ज्याताम् | भुञ्ज्युः  | प्र०  | भुञ्जीत      | भुञ्जीयाताम् | भुञ्जीरन्     |  |
| भुञ्ज्याः    | भुञ्ज्यातम्  | भुञ्ज्यात  | म०    | भुञ्जीथाः    | भुञ्जीयाथाम् | भुञ्जीयध्वम्  |  |
| भुञ्ज्याम्   | भुञ्ज्याव्   | भुञ्ज्याम  | उ०    | भुञ्जीय      | भुञ्जीवहि    | भुञ्जीमहि     |  |
| लृट्         |              |            |       | लृट्         |              |               |  |
| भोक्षयति     | भोक्षयतः     | भोक्षयन्ति | प्र०  | भोक्ष्यते    | भोक्ष्येते   | भोक्ष्यन्ते   |  |
| भोक्षयसि     | भोक्षयथः     | भोक्षयथ    | म०    | भोक्ष्यसे    | भोक्ष्येथे   | भोक्ष्यध्वे   |  |
| भोक्ष्यामि   | भोक्ष्यावः   | भोक्ष्यामः | उ०    | भोक्ष्ये     | भोक्ष्यावहे  | भोक्ष्यामहे   |  |

( ६६ ) तन् ( फैलाना )

तनादिगण। उभयपदी

| लट्-परस्मैपद |         |        |       | लट्-आत्मनेपद |         |        |  |
|--------------|---------|--------|-------|--------------|---------|--------|--|
| एकवचन        | द्विवचन | बहुवचन | पुरुष | एकवचन        | द्विवचन | बहुवचन |  |

|                 |                           |            |          |                 |                   |                   |
|-----------------|---------------------------|------------|----------|-----------------|-------------------|-------------------|
| तनोति           | तनुतः                     | तन्वन्ति   | प्र०     | तनुते           | तन्वाते           | तन्वते            |
| तनोषि           | तनुथः                     | तनुथ       | म०       | तनुषे           | तन्वाथे           | तनुध्वे           |
| तनोमि           | तनुवः, तन्वः तनुमः, तन्मः |            | उ०       | तन्वे           | तनुवहे,<br>तन्वहे | तनुमहे,<br>तन्महे |
| <b>लोट्</b>     |                           |            |          | <b>लोट्</b>     |                   |                   |
| तनोतु           | तनुताम्                   | तन्वन्तु   | प्र०     | तनुताम्         | तन्वाताम्         | तन्वताम्          |
| तनु             | तनुतम्                    | तनुत       | म०       | तनुष्व          | तन्वाथाम्         | तनुध्वम्          |
| तनवानि          | तनवाव                     | तनवाम      | उ०       | तनवै            | तनवावहै           | तनवामहै           |
| <b>लङ्</b>      |                           |            |          | <b>लङ्</b>      |                   |                   |
| अतनोत्          | अतनुताम्                  | अतन्वन्    | प्र०     | अतनुत           | अतन्वाताम्        | अतन्वत            |
| अतनोः           | अतनुतम्                   | अतनुत      | म०       | अतनुथाः         | अतन्वाथाम्        | अतनुध्वम्         |
| अतनवम्          | अतनुव,                    | अतनुम,     | उ०       | अतन्वि          | अतनुवहि,          | अतनुमहि           |
| अतन्व           | अतन्म                     |            |          | अतन्वहि         | अतन्महि           |                   |
| <b>विधिलिङ्</b> |                           |            |          | <b>विधिलिङ्</b> |                   |                   |
| तनुयात्         | तनुयाताम्                 | तनुयुः     | प्र०     | तन्वीत          | तन्वीयाताम्       | तन्वीरन्          |
| तनुयाः          | तनुयातम्                  | तनुयात     | म०       | तन्वीथाः        | तन्वीयाथाम्       | तन्वीध्वम् .      |
| तनुयाम्         | तनुयाम                    | उ० तन्वीय  | तन्वीवहि | तन्वीमहि        |                   |                   |
| <b>लृट्</b>     |                           |            |          | <b>लृट्</b>     |                   |                   |
| तनिष्यति        | तनिष्यतः                  | तनिष्यन्ति | प्र०     | तनिष्यते        | तनिष्येते         | तनिष्यन्ते        |
| तनिष्यसि        | तनिष्यथः                  | तनिष्यथ    | म०       | तनिष्यसे        | तनिष्येथे         | तनिष्यध्वे        |
| तनिष्यामि       | तनिष्यावः                 | तनिष्यामः  | उ०       | तनिष्ये         | तनिष्यावहे        | तनिष्यामहे        |

### स्मरणीय बिंदु

- प्रत्यय से नए शब्द बनते हैं।
- संधि शब्दों को जोड़ती है।
- संस्कृत में शब्दरूपों का विशेष महत्व है।
- धातु संस्कृत भाषा का आधार है।
- संधि से भाषा मधुर बनती है।

### शब्दावली

|         |                                 |
|---------|---------------------------------|
| शब्द    | अर्थ                            |
| प्रत्यय | शब्द के अंत में जुड़ने वाला भाग |
| संधि    | वर्णों का मेल                   |
| धातु    | क्रिया का मूल रूप               |
| शब्दरूप | शब्द के विभक्ति रूप             |
| धातुरूप | धातु के क्रियात्मक रूप          |

### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. 'राम + इति' में कौन-सी संधि होगी?

क) विसर्ग संधि

ख) स्वर संधि

ग) व्यंजन संधि

घ) यण संधि

उत्तर (ख)

2. 'गच्छति' किस धातु से बना है?

क) भू

ख) गम्

ग) पठ्

घ) ख्र

उत्तर (ख)

3. 'रामः' शब्द किस लिंग का है?

क) स्त्रीलिंग

ख) पुल्लिंग

ग) नपुंसकलिंग

घ) कोई नहीं

उत्तर (ख)

4. प्रत्यय जुड़ने से बनता है

क) धातु

ख) वर्ण

ग) नया शब्द

घ) कारक

उत्तर (ग)

5. 'देवालयः' में कौन-सी संधि है?

क) गुण संधि

ख) वृद्धि संधि

ग) यण संधि

घ) विसर्ग संधि

उत्तर (क)



**UNIVERSITY OF PATANJALI**

NAAC A+ GRADE ACCREDITED

**Open & Distance Learning  
(ODL)**



**SELF-LEARNING MATERIAL (SLM)**

**M.A Darshan**

**Semester -2**



**ACADEMIC SESSION**

**2026 — 2027**

**Department of Philosophy**

**UNIVERSITY OF PATANJALI**

**Haridwar-Delhi Highway, Haridwar, Uttarakhand — 249405**

**[www.universityofpatanjali.com](http://www.universityofpatanjali.com)**



## लेखक

1. साध्वी देव पूजा
2. साध्वी देव शिला
3. डा. बदरी बळ्ळारी
4. डा. सावर सिङ्ग यादव
5. स्वामी इन्द्रदेव

## समीक्षक

डा. ब्रजभूषण ओझा प्रध्यापक (व्याकरण) बनारस हिन्दु विश्वविद्यालय काशी

## संपादक

डा. , साध्वी देवप्रिया संकायाध्याक्षा पतंजलि विश्वविद्यालय हरिद्वार

॥ ओ३म् ॥

# संख्य-योगदर्शनम्

MDPHMJ-201



दिव्य प्रकाशन

# सांख्य-योगदर्शनम्

## MDPHMJ-201

### उद्देश्य-

- योग व सांख्य के प्रमुख सिद्धान्तों का अवबोध कराना।
- योग व सांख्य के प्रथम अध्याय के सूत्रार्थ व भाष्यार्थ को सहज रीति से हृदयङ्गम कराना।
- योग व सांख्य के इतिहास एवं परम्पराओं का ज्ञान कराना।

### परिणाम-

- विद्यार्थी उपनिषद् में सन्निहित विषय से पूर्णरूप से अवगत हो जाता है।
- विद्यार्थी उपनिषदों के गहन अध्ययन से देश काल परिस्थिति में विचलित नहीं होता उस के जीवन में ठहराव आ जाता है।
- विद्यार्थी के जीवन में सुख-शान्ति व दिव्यता का आधान होता है।

## विषय सूची

|                                                            |                  |
|------------------------------------------------------------|------------------|
| <b>खण्ड-1 ज्ञान और वैराग्य की महिमा</b>                    | <b>5-24</b>      |
| इकाई-1.1 जीवात्मा का संसरण                                 | 5-9              |
| इकाई-1.2 भूत चैतन्यविषयक विचार                             | 10-12            |
| इकाई-1.3 ध्यान का स्वरूप एवं वृत्ति निरोध के उपाय          | 13-17            |
| इकाई-1.4 बुद्धिसर्ग का निरूपण                              | 18-24            |
| <br><b>खण्ड-2 वैराग्याध्याय के सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ</b> | <br><b>25-42</b> |
| इकाई-2.1 चौदह प्रकार की प्राणि सृष्टि                      | 25-27            |
| इकाई-2.2 सांख्य और ईश्वरवाद                                | 28-33            |
| इकाई-2.3 बन्ध और मोक्ष निरूपण                              | 34-37            |
| इकाई-2.4 कर्मफल व्यवस्था                                   | 38-42            |
| <br><b>खण्ड- 3 ईश्वर स्वरूप वर्णन</b>                      | <br><b>43-</b>   |
| इकाई-3.1 ईश्वर का स्वरूप                                   | 43-46            |
| इकाई-3.2 ईश्वर का निज नाम                                  | 47-49            |
| इकाई-3.3 चित्त की प्रसन्नता के उपाय                        | 50-52            |
| इकाई-3.4 चित्त की प्रसन्नता एवं एकाग्रता के विभिन्न उपाय   | 53-60            |
| <br><b>खण्ड- 4 क्रिया योग एवं पञ्च क्लेश</b>               | <br><b>61-1</b>  |
| इकाई-4.1 क्रिया योग की परिभाषा                             | 61-63            |
| इकाई-4.2 क्रिया योग का फल                                  | 64-65            |
| इकाई-4.3 पञ्च क्लेश                                        | 66-67            |
| इकाई-4.4 अविद्या क्लेशों की जननी                           | 68-76            |

## भूमिका

सांख्य योगदर्शन भारतीय दर्शनशास्त्र के दो प्रमुख दर्शन हैं, जो मानव जीवन, आत्मा, प्रकृति और मुक्ति के मार्ग को समझाने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। 'सांख्य' दर्शन विश्व के सृजन और उसके तत्वों की व्याख्या करता है, जबकि 'योग' दर्शन आत्मा की मुक्ति और मनोवृत्तियों के नियंत्रण का मार्ग बताता है। इस पुस्तक का उद्देश्य इन दोनों दर्शनशास्त्रों की मूल अवधारणाओं, सिद्धांतों और उनके अनुप्रयोगों को स्पष्ट रूप से प्रस्तुत करना है, ताकि पाठक न केवल दर्शन की दार्शनिक गहराई को समझ सकें, बल्कि इसे अपने जीवन में भी लागू कर सकें।

सांख्य दर्शन, जो हिन्दू दर्शन के छह मुख्य दर्शनशास्त्रों में से एक है, प्रकृति (प्रकृति) और पुरुष (आत्मा) के द्वैतवाद पर आधारित है। यह दर्शन बताता है कि सम्पूर्ण सृष्टि पाँच तत्वों (पंचमहाभूत) और तत्वों के संयोजन से बनी है। सांख्य का मुख्य उद्देश्य जीवात्मा और प्रकृति के बीच के संबंध को समझाना तथा जन्म-मृत्यु के चक्र से मुक्ति का मार्ग दिखाना है। इस दर्शन में दुःख और आनंद के कारणों को समझकर उन्हें दूर करने के उपाय बताए गए हैं।

योगदर्शन, महर्षि पतंजलि द्वारा रचित 'योगसूत्र' के माध्यम से प्रसिद्ध हुआ। योग का अर्थ है 'संयोजन' या 'एकाग्रता', जो मन और आत्मा के बीच की दूरी को समाप्त कर मुक्ति की प्राप्ति का मार्ग है। योगदर्शन के आठ अंग हैं, जो जीवन के विभिन्न पक्षों को नियंत्रित कर व्यक्ति को आत्मसाक्षात्कार की ओर ले जाते हैं। यह दर्शन मानसिक, शारीरिक और आध्यात्मिक अनुशासन का समन्वय करता है, जिससे मानव अपने अस्तित्व के वास्तविक स्वरूप को पहचान सकता है।

यह पुस्तक सांख्य योगदर्शन के दर्शन को सरल भाषा में प्रस्तुत करती है, जिससे विद्यार्थी, शोधकर्ता और दर्शन में रुचि रखने वाले सभी लोग इसके गूढ़ तत्वों को समझ सकें। इसमें सांख्य दर्शन के तत्वमीमांसा, पृथक-पुरुष और प्रकृति की व्याख्या के साथ-साथ योग के अभ्यास, ध्यान, समाधि और जीवन में उनके महत्व पर भी विस्तृत चर्चा की गई है। साथ ही, यह भी समझाया गया है कि कैसे ये दोनों दर्शन एक-दूसरे के पूरक हैं और मिलकर मनुष्य को मोक्ष की प्राप्ति की राह दिखाते हैं।

वर्तमान युग में जब मानसिक तनाव और असंतुलन आम समस्या बन गए हैं, तब सांख्य योगदर्शन का अध्ययन और अभ्यास अत्यंत आवश्यक हो जाता है। ये दर्शन न केवल जीवन के आध्यात्मिक पक्ष को जागृत करते हैं, बल्कि व्यावहारिक जीवन में भी मानसिक शांति और संतुलन प्रदान करते हैं। इस पुस्तक के माध्यम से पाठक अपनी जीवनशैली में सकारात्मक परिवर्तन ला सकते हैं और आत्मा की अनंत शांति को प्राप्त कर सकते हैं।

अतः यह पुस्तक सांख्य योगदर्शन के गहन और विस्तृत अध्ययन का परिचय मात्र नहीं, बल्कि एक साधन है, जो आत्म-प्राप्ति और जीवन की सच्ची समझ की दिशा में मार्गदर्शन करता है। इस भूमिका के माध्यम से हम इस पुस्तक के पाठकों को सांख्य योग के अमूल्य ज्ञान से परिचित कराना चाहते हैं, जिससे वे अपने जीवन में अध्यात्म और मानसिक शांति का अनुभव कर सकें।

## खण्ड-1 ज्ञान और वैराग्य की महिमा

### इकाई-1.1 जीवात्मा का संसरण

उद्देश्य-

1. जीवात्मा और संसरण की अवधारणा को समझना।
2. सूक्ष्म शरीर एवं स्थूल शरीर के संबंध का अध्ययन करना।
3. मोक्ष और कैवल्य के महत्व को जानना।

संसरण - पुनर्जन्म + देहांतरण + भोग की पुनरावृत्ति अर्थात् आत्मा का एक शरीर से दूसरे शरीर में जाना, जब तक वह मोक्ष (कैवल्य) को प्राप्त न कर ले आत्मा के अज्ञान और प्रकृति के साथ भ्रमपूर्ण संयोग का परिणाम है। पुरुष नित्य, अकर्ता और साक्षी होते हुए भी, जब प्रकृति के विकारों (बुद्धि, अहंकार, मन आदि) के साथ एकरूपता कर लेता है, तब वह भोग, कर्म, और पुनर्जन्म के चक्र में पड़ जाता है। विवेक और आत्म-प्रकृति भेद का ज्ञान ही इस संसरण से मुक्ति का मार्ग है, जिसे कैवल्य कहा गया है। यह ज्ञान प्राप्त होते ही जीव का संसरण समाप्त हो जाता है और वह स्वरूप में स्थित हो जाता है - यही मोक्ष है। स्थूलभूतों से स्थूलशरीर और स्थूलभूतों के कारणरूप सूक्ष्मभूतों से सूक्ष्म शरीर की रचना होती है। इसी शरीर के आधार पर जीवात्मा विविध योनियों में संसरण किया करता है।

तद्विजात् संसृतिः॥ ( सां.द.3/3 )

( तद्विजात् ) तस्य शरीरस्य बीजान्महत्तत्त्वादितन्मात्रपर्यन्ताद-विशेषगणात् साशयाल्लिङ्गशरीररूपात् ( संसृतिः ) संसरणं देहादेहान्तरगमनं भवति योनिकोटिसहस्रपु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः। ( मनु० ६।६३ )

अर्थ:-

( तद्विजात् ) उस स्थूल शरीर के बीजभूत महत्तत्त्व से - तन्मात्रपर्यन्त आदि से निर्मित वासनायुक्त सूक्ष्मशरीर से ( संसृतिः ) एक देह से दूसरे देह में गति होती है- योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः ( मनु० ६।६३ ) इस अन्तरात्मा की सृतियां गतियां असंख्य योनियों में होती हैं।

व्याख्या:-स्थूल शरीर के बीज उपादानभूत तन्मात्र सूक्ष्मभूतों से घटित निर्मित, वासनाओं सहित सूक्ष्मशरीर से आत्माओं का देहान्तरादि में संसरण गमनागमन होता है।

योनिकोटिसहस्रेषु सृतीश्चास्यान्तरात्मनः॥ ( मनु.6/63 )॥

जब आत्मा स्थूल शरीर को छोड़कर दूसरे स्थूल शरीर में जाता है, तो वह छोड़ा हुआ स्थूल शरीर तो वहीं रह जाता है, किन्तु 18 तत्त्वों से घटित निर्मित सूक्ष्म शरीर आत्मा को आवेष्टित किए हुए सर्गारम्भ से ही आत्मा के साथ बना रहता है, देहान्तर में उसी से आवेष्टित आत्मा विभिन्न शरीरों में जाता रहता है। सूक्ष्म शरीर के 18 तत्त्वों में से 13 करण आश्रित और पाँच तन्मात्र आश्रय कहे जाते हैं। कभी कभी इस आश्रयभाग को ही सूक्ष्म शरीर कह दिया जाता है। यथा “एकदेश-दग्धेऽपि पटो दग्ध इत्युच्यते” अर्थात् वस्त्र का एक भाग जलने पर भी वस्त्र जल गया ऐसा कह देते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी सूक्ष्मशरीर के केवल आश्रयभाग को सूक्ष्मशरीर के रूप में कहा गया है।

इस प्रकार संसार की अति लम्बी महायात्रा में यह सूक्ष्मशरीर आत्मा के आवेष्टन कवच सूक्ष्मयान के रूप में सर्वदा साथ साथ बना रहता है, जब तक कि तत्त्वज्ञान विवेकज्ञानआत्मसाक्षात्कार न हो जाय। जब आत्म साक्षात्कार हो जाता है, तब यह कवच छूट जाता है। जैसे साँप केंचुली से।

आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम्॥ ( सां.द.3/4 )

अथ च ( अविवेकाच्च ) महत्तत्त्वाहङ्कारतन्मात्राणां बोज-भूतानाम् ( प्रवर्तनम् ) प्रवृत्तिः स्थूलशरीरनिर्माणाय ( आविवेकात् ) यावद् विवेको न जायेत तावद् भवति सति विवेके निवृत्तिरित्यर्थः।

अर्थ:- ( च ) और ( अविवेकाच्च ) उन बीजरूप महत्तत्त्व-अहङ्कारतन्मात्रों का ( प्रवर्तनम् ) स्थूलशरीरनिर्माणार्थ प्रवृत्ति व्यवहार ( आविवेकात् ) जब तक विवेक न हो जावे तब तक होता है, विवेक हो जाने पर निवृत्त हो जाता है।

अविशेष घटित सूक्ष्मशरीरों का प्रवर्तन संसरण संसृति विवेकज्ञान होने तक रहता है। अर्थात् आत्मा के आवेष्टनभूत सूक्ष्मशरीरों की प्रवृत्ति प्रवर्तन संसरण विवेकज्ञान होने तक ही रहती है। जब आत्म साक्षात्कार हो जाने पर प्रकृति-पुरुष के विवेक का ज्ञान हो जाता है, तब यह प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है। “आ” शब्द मर्यादा (सीमा) अर्थ में है। विवेक की सीमा तक ही यह संसरण

(देहाद्देहान्तरगमनम्) चल सकता है, आगे नहीं।

उपभोगादितरस्य॥ ( सां.द.3/5 )

( इतरस्य ) अविशेषेभ्यो महदादिभ्यो लिङ्गदेहरूपेभ्य इतरस्य विशेषस्य स्थूलशरीरस्य प्रवर्तनं वर्तमानत्वम् ( उपभोगात् ) उपभोगहेतोर्भवति यावत्तस्योपभोगस्तावदेव स प्रवर्ततेऽवतिष्ठतं, किन्तु लिङ्गदेहस्तु यावद् विवेको न जायेत तावत् तिष्ठत्येव नहि स्थूलशरीरेण नष्टेन सह तस्य विनाशो भवति॥

अर्थ:- (इतरस्य) अविशेष अर्थात् महत्तत्त्वादि लिङ्गदेह से भिन्न विशेष अर्थात् स्थूल शरीर की प्रवृत्ति वर्तमानता स्थिति (उपभोगात्) उपभोग के हेतु होती है जब तक उपभोग है तब तक वह प्रवृत्त होता है रहता है। किन्तु लिङ्ग देह तो जब तक विवेक न हो जावे तब तक रहता ही है, स्थूल शरीर के नाश के साथ उसका नाश नहीं होता।

व्याख्या:-जब तक उस उस शरीर सम्बन्धी भोग है, तब तक वे वे स्थूल शरीर रहते हैं। यदि कोई बीच में ही अन्याय से मार दे या आत्महत्या कर ले तो फिर वैसे ही शरीर में आकर वे भोग पूरे करने होते हैं। किन्तु, सूक्ष्मशरीर तो सर्गारम्भ में बनकर विवेकपर्यन्त अथवा अगले महाप्रलय पर्यन्त चलते रहते हैं। प्रलयकाल में कारणलय हो जाने पर सारम्भ में फिर बनाए जाते हैं और पूरे सर्ग चलते रहते हैं। सूत्र ३,४,५ का आशय अगली सांख्य कारिका में बताया है।

सूक्ष्मास्तेषां नियता मातृपितृजा निवर्तन्ते॥ ( सां.का.36/2 )

अर्थात् उनमें सूक्ष्मशरीर, स्थूलशरीर एवं पञ्चमहाभूतों के घट, पटादि से सूक्ष्मशरीर स्थिर (सर्गकालपर्यन्त) हैं, किन्तु मातापितृज स्थूलशरीर एवं प्रभूत घट, पटादि मृत्युकाल में नष्ट हो जाते हैं।

सम्प्रति परिष्वक्तो द्वाभ्याम् ( सां.द.3/6 )

( सम्प्रति ) पूर्वसूत्रतः प्रकृत उपभोगोऽपेक्ष्यते। उपभोगकाले ( द्वाभ्यां परिष्वक्तः ) स्थूलसूक्ष्मशरीरभ्यां परिवृतो भवति जीवात्मा॥६॥

अर्थ:- (सम्प्रति) पूर्वसूत्र से उपभोग लक्षित है। सम्प्रति उपभोगकाल में (द्वाभ्याम्) स्थूल, सूक्ष्म दोनों शरीरों से (परिष्वक्तः) घिरा हुआ-बन्धा हुआ आत्मा होता है।

व्याख्या:-सर्गकाल में आत्मा दोनों प्रकार के शरीरों से सम्बद्ध रहता है। इनमें से सूक्ष्मशरीर तो सृष्टि के आरम्भ से लेकर प्रलय पर्यन्त आत्मा के साथ सम्बद्ध रहता है और स्थूल शरीर कर्मानुसार बीच बीच में बदलता रहता है। किन्तु, इसका क्रम सतत चालू रहता है। प्रलय काल में दोनों अपने कारण में लीन हो जाते हैं। पुनः अगला सर्ग आरम्भ होने पर भोगादि साधन प्रस्तुत करते हुए इनका क्रम निरन्तर चालू रहता है, जब तक कि विवेकज्ञान हो जाने पर संसार के दुःखों से मुक्ति न हो जाए।

पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य। ( सां.द.3/8 )

( पूर्वोत्पत्तेः-एकस्य भोगात् ) पूर्वा सर्गादावुत्पत्तिर्यस्य तथाभूतस्य पूर्वोत्पत्तिमत एकस्य लिङ्गशरीरस्य भोगात् सुखदुःखभोगसम्भवात् ( तत्कार्यत्वम् ) सुखदुःखभोगकार्यत्वं सुखदुःखप्रतीयमानध्यं भवति ( इतरस्य न ) स्थूलशरीरस्य न भवति, मृतशरीरेऽदर्शनात्।

अर्थ:- (पूर्वोत्पत्तेः एकस्य) पूर्वसर्गादि में उत्पत्ति जिस की है ऐसे एक लिङ्गशरीर के (भोगात्) सुख-दुःख के भोगसम्भव से (तत्कार्यत्वम्) सुख-दुःख की प्रतीति होती है (इतरस्य न) सूक्ष्म शरीर से भिन्न स्थूल शरीर का सुख-दुःख प्रतीति कार्य नहीं है।

व्याख्या:-पूर्व उत्पन्न होने से भोग सूक्ष्म शरीर का कार्य है ऐसा कहना प्रत्यक्ष का प्रलाप है। और व्याख्याकारों का यह कहना कि मृतशरीर में सुखादि भोगों की प्रतीति न होने के हेतु से सो ठीक नहीं, क्योंकि स्थूलशरीर के बिना केवल सूक्ष्मशरीर से भी तो कोई सुख-दुःखादि की अनुभूति नहीं होती। यदि स्थूल शरीर के बिना ही सूक्ष्मशरीर से सुखादि भोग सम्पन्न हो जाते तो फिर स्थूलशरीर की आवश्यकता ही क्या थी, और फिर स्थूल शरीरों के अभाव में खान-पान आदि की सामग्री भी निष्प्रयोजन होती।

इसका तात्पर्य यही है कि जब सूक्ष्मशरीरयुक्त आत्मा स्थूलशरीर से युक्त हो जाता है, तभी सुख-दुःखादि भोग सम्पन्न हो पाते हैं, अन्यथा नहीं। सां० २/४४ में भी कहा है -सम्भवेन स्वतः। अर्थात् सूक्ष्मशरीर स्वयं बिना स्थूलशरीर के आत्मा को सुखादि भोग सम्पन्न नहीं करा सकता।

सप्तदशैकं लिङ्गम्। ( सां.द.3/9 )

अत्र वक्तव्यम् अनिरुद्धवृत्तौ सूत्रार्थोऽष्टादशपदार्थपरः कृतस्तत्र लिङ्गशरीरमष्टा-दशपदार्थकं मतम् सप्तदश च एकञ्च अष्टादश तैः लिङ्गं सूक्ष्मदेहः उत्प-द्यते। वुद्धचहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दश इन्द्रियाणीति ( अनिरुद्धः ) विज्ञानभिक्षुभाष्येऽनिरुद्धकृतोऽर्थः खण्डितः नतु सप्तदशमेकञ्चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम् ( विज्ञानभिक्षुः ) परन्तु



विज्ञान-भिक्षुभाष्येऽपि पदार्थास्तु तथैवाष्टादश मताः सूक्ष्मशरीरस्य केवलमहङ्कारस्य बुद्धावन्तर्भावं प्रदर्श्य एकादशेन्द्रियाणि पञ्चतन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहङ्कारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः। (विज्ञानभिक्षुः) किमे-तेन कथनप्रकारेण पदार्थास्तु तथैवाष्टादशात्रापि स्वीकृताः परन्तु न सरलसरण्या-सारल्येन नासिका न गृहीता किन्तु वक्रतामवलम्ब्य पृष्ठतो हस्तं परिभ्राम्य गृहीता। अहङ्कारस्तु सांख्यपरिगणिते पञ्चविंशतिगणे स्वतन्त्रः पदार्थः, कुतो हि तस्य बुद्धावन्तर्भावः कल्प्यते। अन्यैः स्वामिहरिप्रसादादिभाष्यकारैरपि तथैवाष्टादशपदार्थान् स्वीकृत्यापि साहङ्कारा बुद्धिरिति युद्धावहङ्कारस्यान्तर्भावं प्रदार्था विहितः। सैषा कथनप्रक्रिया सांख्यपरिगणनप्रकारात् सूनपदेभ्यश्च विरुद्धाऽस्ति। अथ च विज्ञान-भिक्षुभाष्ये सूत्रस्थम् एकम् इति पदमाश्रित्य सर्वेषां लिङ्गशरीरमेकमित्यपि प्रतिपादितं तदपि न युक्तं यत उक्तं हि चतुर्थे सूत्रे आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् (४) विवेकपर्यन्तमेव लिङ्गशरीरं तिष्ठति येन पुनर्जन्मार्थं देहान्तरे जीवात्मा संसरति तथा च वेदान्तदर्शनेऽपि तदापीतेः संसारव्यपदेशात् (वेदा० ४।२।८) प्रत्येकस्य सूक्ष्म-शरीरं पृथक् तच्च यावन्मोक्षो न जायते तावत्प्रवर्तते। अस्तु। यत्र सूत्रेऽष्टादशपदार्थास्तु सबैर्वैरपि भाष्यकार लिङ्गशरीरस्याभिमतः, सप्त दशत्वं कथनमात्रमहङ्कारस्य बुद्धावन्तर्भावं प्रदर्शय। तस्मात्सारल्यमवलम्ब्य सूत्रार्थेन भवितव्यमित्येवास्माकमभीष्टं तथैव मत्वेदानीमर्थो-विधीयते (सप्तदश-एकं लिङ्गम्) पञ्च तन्मात्राणि मनः सहितान्येकदाशेन्द्रियाण्यहङ्कारश्च सप्तदश तथैकं लिङ्गं महत्तत्त्वं बुद्धिरित्यर्थः। लिङ्गशब्देन महत्तत्त्वमभिप्रेयते ऋषिपतिविशेषलिङ्गं नात्रालिङ्गं। नि गुणपर्वाणिलिङ्गमात्रं महत्तत्त्वम् (योग० २।१६ व्यासः) कथं हि पृथक् पृथङ् निर्देशः सप्तदश पुनः एकं लिङ्गम् कथं न अष्टादशइत्येवोच्येत। तत्र लिङ्गस्य महत्तत्त्वस्य प्राधान्यप्रदर्शनाय, यदिदमत्र सूक्ष्मशरीरे प्रमुखं लिङ्गं महत्तत्त्वं तदेव प्रमुखं लिङ्गमाश्रित्य हीदं लिङ्गशरीरमुच्यते। यथा हि पञ्चभूतेषु सर्वस्थूला पृथिवी प्राधान्येन तस्मात् पञ्चभूतनिमित्तकमपि शरीरं स्थूलशरीरं पार्थिवमुच्यते तत्र पृथिवीप्राधान्यात्। तथैवात्र एकं लिङ्गम् इति प्राधान्यमवलम्ब्य पृथङ् निर्देशादिव लिङ्गशरीरम्। यत्खलु वचनमुद्धृतं विज्ञानभिक्षुभाष्ये कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ बन्ध-मोक्षैः प्रयुज्यते। सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते च सः॥ कुन्त्य-मिदं वचनमिति तु न सूचितं तत्प्रामाणिकशास्त्रस्याप्रामाणिकस्येति न ज्ञायते। तथापि तथाभूतग्रन्थस्यापि वचनेऽस्मिन् न विज्ञानभिक्षुभाष्यपुष्टिर्भवति मथा विज्ञानभिक्षुणा सूत्रार्थमन्यथा कुवताऽपि संगृहीता ह्यष्टादश पदार्थी लिङ्गशरीरस्य तथैवान्न वचनेऽपि प्रतिभान्ति पदार्थाष्टादशत्यम् सप्तदशकेन राशिना कर्मात्मा पुरुषः अत्र, सप्तदशको राशिः, पुनस्तेन सह कर्मात्मा पुरुषः-अहङ्कारयुक्तो जीव उक्तः। निगुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा हो ते (सांख्य० ६।६२) अहङ्कारः प्रक्रियते पुनः विशिष्टस्य जीवत्यम् (सांख्य० ६।६३) अहङ्कारविशिष्ट आत्मा जोवः, पश्चात् अहङ्कारकर्त्राधीना कार्य-सिद्धिः... (सांख्य० ६।६४) कर्तृत्वमहङ्कारस्य यद्वाऽहङ्कारविशिष्टस्यात्मनो भवति तथैवात्रोद्धृतवचनेऽपि कर्मात्मा पुरुषः अहङ्कारो निर्दिष्टः सप्तदशकेन राशिना सह सङ्गतस्तदाष्टादशत्वं तु जातमेव लिङ्गदेहपदार्थानाम्॥६॥

**व्याख्याः**-अनिरुद्धवृत्ति में सूत्रार्थ अठारह पदार्थपरक है। वहां लिङ्ग शरीर अठारह पदार्थ वाला कहा है-सप्तदश च एकञ्च अष्टादश, तैः लिङ्गं सूक्ष्मदेहः उत्पद्यते बुद्धयहङ्कारमनांसि पञ्च सूक्ष्मभूतानि दश इन्द्रियाणीति (अनिरुद्धः) अर्थात् सतरह और एक अठारह उनके साथ लिङ्ग-सूक्ष्मदेह उत्पन्न होता है; वे हैं- बुद्धि, अहङ्कार, मन, पांच सूक्ष्म भूत, दश इन्द्रियां। विज्ञानभिक्षुभाष्य में अनिरुद्ध के अर्थ का खण्डन किया है-न तु सप्तदशमेकं चेत्यष्टादशतया व्याख्येयम् (विज्ञानभिक्षुः)। परन्तु विज्ञानभिक्षुभाष्य में भी पदार्थ तो वैसे ही सूक्ष्म शरीर के अठारह माने हैं, केवल अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव दिखलाकर एकादशेन्द्रियाणि पञ्च तन्मात्राणि बुद्धिश्चेति सप्तदश, अहङ्कारस्य बुद्धावेवान्तर्भावः (विज्ञानभिक्षुः) इस प्रकार कथन से क्या हुआ? पदार्थ तो वहीं अठारह स्वीकार किये, परन्तु सरलता से नाक न पकड़ी वक्रता का आश्रय लेकर पीठ के पीछे से हाथ लाकर उलटे घुमाकर पकड़ी। अहङ्कार तो पच्चीस पदार्थगण में स्वतन्त्र पदार्थ गिना गया है, उसका कैसे बुद्धि में अन्तर्भाव कल्पित किया जा सकता है? अन्य स्वामी हरिप्रसाद आदि भाष्यकारों ने भी उसी प्रकार अठारह पदार्थों को अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सतरह माना है। यह कथनशैली सांख्यपरिगणन शैली और सूत्रपदों के विरुद्ध है। तथा विज्ञानभिक्षुभाष्य में सूत्रस्थ एकम् इस पद से सब का लिङ्गशरीर एक हैश्वर्य कहा, सो भी ठीक नहीं, क्योंकि चतुर्थ सूत्र आविवेकाच्च प्रवर्तनमविशेषाणाम् ४,-विवेकपर्यन्त ही लिङ्ग शरीर ठहरता है, जिसके द्वारा जीवात्मा दूसरा स्थूल शरीर प्राप्त करने को गति करता है। तथा वेदान्त दर्शन में भी तदापीतेः संसारव्यपदेशात् (वेदान्त० ४।२।८) प्रत्येक का सूक्ष्म शरीर पृथक् है और वह जब तक मोक्ष न हो तब तक रहता है। अपितु उस सूक्ष्म शरीर के द्वारा जीवात्मा सुख-दुःख की अनुभूति करता है, यह अभी इसी अध्याय में सांख्यकार ने पूर्वोत्पत्तेस्तत्कार्यत्वं भोगादेकस्य नेतरस्य ८, आठवें सूत्र में कहा है।

इस प्रकार भोग सबके अलग-अलग हैं, सूक्ष्म शरीर भी अलग-अलग हैं। एक लिङ्ग शरीर का कथन करना अयुक्त है। यहां सूत्र में लिङ्ग शरीर के अठारह पदार्थ तो सब भाष्यकारों ने ही माने हैं। अहङ्कार का बुद्धि में अन्तर्भाव करके सतरह कथनमात्र

ही है। अतः सरलता का अवलम्बन कर सूत्रार्थ होना चाहिए, जो हमें अभीष्ट है। अब हम सूत्र का अर्थ करते हैं—(सप्तदश) पांच तन्मात्राएं, ग्यारह इन्द्रियां मन, ज्ञानेन्द्रियां, कर्मेन्द्रियां, अहङ्कार, ये सतरह (एकं लिङ्गम्) एक महत्तत्त्व-बुद्धि। लिङ्ग शब्द से महत्तत्त्व अभीष्ट है। जैसे योगदर्शन में कहा है—विशेषा-विशेषलिङ्गमात्रालिङ्गानि गुणपर्वाणि (योग० २।१९)। सप्तदश, एकं लिङ्गम् यह पृथक् पृथक् कथन क्यों किया ? क्यों नहीं अष्टादश ऐसा ही कह दिया ? उस लिङ्ग महत्तत्त्व की प्रधानता के प्रदर्शनार्थ प्रयोग यह है कि यहां सूक्ष्मशरीर में प्रमुख लिङ्ग है। उस को आश्रित करके ही यह लिङ्गशरीर कहा जाता है। जैसे पांच भूतों में सब से अधिक स्थूल पृथिवी प्रधान है। पांच भूत स्थूल शरीर के निमित्त होते हुए भी पार्थिव कहा जाता है। उसकी स्थूलता में पृथिवी की प्रधानता से ऐसा कथन है। वैसे ही एकं लिङ्गम् इस प्रकार लिङ्ग की प्रधानता को आश्रितकर पृथक् कथन करना लिङ्ग शरीर की प्रसिद्धि के लिये है। और जो विज्ञानभिक्षुभाष्य में वचन उद्धृत किया है—कर्मात्मा पुरुषो योऽसौ बन्धमोक्षैः प्रयुज्यते। सप्तदशैकेनापि राशिना युज्यते च सः कहां का वचन है, यह सूचित नहीं किया। वह प्रामाणिक शास्त्र का है या अप्रामाणिक ग्रन्थ का वचन है, यह ज्ञात नहीं होता। कदाचित् किसी नव्यग्रन्थ का वचन हो। तथापि इस वचन से विज्ञानभिक्षुभाष्य की पुष्टि नहीं होती। जैसा कि विज्ञानभिक्षु ने सूत्रार्थ को अन्यथा करते हुए लिङ्ग शरीर में अठारह पदार्थ संकलित किए हैं। किन्तु यहां भी सीधे शब्दों में सतरह अलग और एक अलग कहा है सप्तदशैकेन राशिना सप्तदशक राशि सतरह पुनः कर्मात्मा पुरुषः कर्मात्मा पुरुष अहङ्कारयुक्त जीव कहा है। निर्गुणत्वात् तदसम्भवादहङ्कारधर्मा होते (सांख्य० ६। ६२) विशिष्ट जीवत्वम् (सांख्य० ६। ६३) अहङ्कारविशिष्ट आत्मा जीव हुआ। फिर अहङ्कारकर्त्रधीना कार्यसिद्धिः (सांख्य० ६। ६४) कर्तृत्व अहङ्कार का या अहङ्कारविशिष्ट आत्मा का होता है। ऐसे ही यहां उद्धृत वचन में भी कर्मात्मा पुरुषः कर्मात्मा पुरुष अहङ्कार या अहङ्कारविशिष्ट आत्मा अभीष्ट है— सप्तदशैक राशि के साथ सङ्गत है। तब सतरह और एक अठारह तो हो गए लिङ्ग देह के पदार्थ ?

सतरह और एक अठारह घटक, अवयव, तत्त्वों वाला सूक्ष्मशरीर है। अर्थात् बुद्धि, अहङ्कार, मन (अन्तःकरण), पांच तन्मात्र (सूक्ष्मभूत) दश इन्द्रिय (५ ज्ञानेन्द्रिय + ५ कर्मेन्द्रिय) इन अठारह तत्त्वों से मिलकर लिङ्गशरीर-सूक्ष्मशरीर बनता है। इनमें लिङ्ग-महत्तत्त्व-बुद्धि की प्रधानता- प्रमुखता प्रदर्शित करने के लिए इस सूक्ष्मशरीर को लिङ्गशरीर कहा जाता है। जैसे प्राण, अपान, व्यान, उदान, समान, नाग, कर्म, कुकल, देवदत्त, धनञ्जय इन दश प्राणवायुओं को प्राण के प्रधानत्व से प्राण ही कह देते हैं। तथा 'योगः समाधिः' में व्यासजी ने योगांगों के अन्तिम प्रमुख अंग को योग के नाम से पुकारा है, वैसे ही सूक्ष्म शरीर के प्रमुख घटक लिङ्ग प्रधानता के कारण पूरे सूक्ष्मशरीर को लिङ्गप्रधान शरीर कह देते, महत्त्व, बुद्धि की लिङ्गशरीर हैं।

सूत्र 3.4.8,6 के आशय को प्रकारान्तर से समझाया है—

**पूर्वोत्पन्नमसक्तं नियतं महदादिसूक्ष्मपर्यन्तम्।**

**संसरति निरुपभोगं भावैरधिवासितं लिङ्गम्॥ ( सां.का.४० )**

पूर्वोत्पन्न यह सूक्ष्मशरीर जो कि महदादि सूक्ष्म तन्मात्र पर्यन्त है, वह अव्याहत गति वाला है, स्थिर है। स्वयं शब्दादि विषय भोग से रहित है और धर्माधर्म भावना से वासित होकर संसरण करता रहता है।

**पुरुषार्थं संसृतिलिङ्गानां सूपकारवद्राजः ( सां.द.3/16 )**

( लिङ्गानां संसृतिः पुरुषार्थम् ) लिङ्गशरीराणां यद्वा लिङ्गशरीररूपाणां महत्तत्त्वादीनां बुद्ध्यादीनां पञ्चतन्मात्रान्ताणां वा देहे संसरणं प्रापणं पुरुषार्थमात्मार्थमस्ति। उक्तं यथा पूर्वमपि आत्मार्थत्वात् सृष्टेः महदादिक्रमेण पञ्चतन्मात्रान्तायाः , ( सांख्य० २।११ ) ( राज्ञः सूप-कारवत् ) यथा राज्ञः सूपकारस्य पाककतुः प्रवृत्ती राजार्था भवति॥१६॥

**अर्थः—**(लिङ्गानाम्) लिङ्गशरीरों की या लिङ्गशरीररूप महत्तत्त्व, बुद्धि आदि की, उनके भागों की (संसृतिः) दूसरे देह में संसरण गति-प्राप्ति (पुरुषार्थम्) पुरुष के लिये है। जैसे पूर्व कहा है—आत्मार्थत्वात् सृष्टेः महदादिक्रमेण पञ्च भूतानाम् (सांख्य० २।११) महदादि क्रम से पञ्चतन्मात्र पर्यन्त सृष्टि आत्मार्थ है (राज्ञः सूपकारवत्) राजा के पाककर्ता रसोइये की भांति, जैसे राजा का रसोइया सारी पाकसृष्टि राजा के लिए करता है, ऐसे समस्त करण-सृष्टि पुरुष के लिये है॥१६॥

**व्याख्याः—**समस्त करणों का संसरण पुरुषों के लिए होता है। देह से देहान्तर में करणों की जो सतत गति होती रहती है, और अनादि काल से बराबर यही क्रम चल रहा है, यह सब चेतन आत्मा के प्रयोजन को सिद्ध करने के लिए है। आत्मा के प्रयोजन हैं भोग और अपवर्ग, उन्हीं को सम्पन्न करने के लिए करणों की सब दौड़-धूप है। सूत्र के आशय को अगली सांख्य-कारिका में समझाया है।

पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन।

प्रकृतेर्विभुत्वयोगाद् नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम्॥ ( सां.का.42 )

अर्थात् यह लिङ्ग (सूक्ष्म-शरीर) भोगापवर्गरूप पुरुषार्थ के लिए ही निमित्त (धर्मादि) और नैमित्तिक (तज्जन्य स्थूल देह आदि) के प्रसंग से प्रकृति के व्यापक सम्बन्ध से नट की तरह व्यवहार करता है।

**महत्वपूर्ण बिंदु-**

- जीवात्मा कर्मों के अनुसार जन्म लेती है।
- सूक्ष्म शरीर आत्मा के साथ रहता है।
- विवेक ज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।

**शब्दावली-**

- संसरण ख पुनर्जन्म का चक्र
- कैवल्य ख मोक्ष की अवस्था
- सूक्ष्म शरीर ख सूक्ष्म तत्त्वों से निर्मित शरीर

**5 अंक के प्रश्न-**

1. संसरण क्या है?
2. सूक्ष्म शरीर की परिभाषा दीजिए।
3. कैवल्य का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. स्थूल और सूक्ष्म शरीर में अंतर बताइए।
5. पुनर्जन्म की अवधारणा क्या है?

**15 अंक के प्रश्न-**

1. सांख्य दर्शन में जीवात्मा के संसरण का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीर के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. कैवल्य की अवधारणा पर निबंध लिखिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. संसरण का अर्थ है

(क) मोक्ष

(ख) पुनर्जन्म

(ग) समाधि

(घ) ध्यान

2. कैवल्य का संबंध किससे है?

(क) बंधन

(ख) जन्म

(ग) मोक्ष

(घ) शरीर

3. सूक्ष्म शरीर में कितने तत्त्व बताए गए हैं?

(क) 5

(ख) 10

(ग) 18

(घ) 25

## इकाई-1.2 भूत चैतन्यविषयक विचार

**उद्देश्य:-**

1. भूत-चैतन्यवाद की अवधारणा को समझना।
2. सांख्य दर्शन के दृष्टिकोण का अध्ययन करना।
3. चेतना और प्रकृति के संबंधों को स्पष्ट करना।

**भूत-चैतन्यवाद:-** भूत = पंचमहाभूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश), **चैतन्यवाद-** चेतना को प्राथमिक मानने वाला विचार, भूत-चैतन्यवाद वह विचार है, जो कहता है कि चेतना भौतिक तत्त्वों (भूतों) से उत्पन्न होती है। अर्थात् जब पंचमहाभूत विशेष संगठित अवस्था में होते हैं (जैसे शरीर में), तभी चेतना प्रकट होती है। यह मत आज के भौतिकवादी दृष्टिकोण से मेल खाता है, जैसे कि आधुनिक न्यूरोसाइंस का यह मानना कि चेतना मस्तिष्क की क्रियाओं से उत्पन्न होती है। सांख्य दर्शन का दृष्टिकोण:- सांख्य दर्शन भूत-चैतन्यवाद को स्पष्ट रूप से खंडन करता है।

उसका तात्त्विक निष्कर्ष है: “चेतना न तो प्रकृति से उत्पन्न होती है, न महत्तत्त्व, अहंकार या पंचमहाभूतों से। चेतना का आश्रय केवल पुरुष है।” भारतीय दर्शन में चेतना की प्रकृति को लेकर विभिन्न दृष्टिकोण प्रस्तुत किए गए हैं। इन्हीं में एक विचार है- “भूत-चैतन्यवाद”। यह विचार यह मानता है कि चेतना भूतों (भौतिक तत्त्वों) से ही उत्पन्न होती है। सांख्य दर्शन इस विचार को अस्वीकार करता है, और स्पष्ट रूप से कहता है कि चेतना आत्मा (पुरुष) का गुण है, न कि किसी भौतिक या प्राकृतिक तत्त्व का देह जो कि चेतन प्रतीत होता है, उसमें स्वाभाविक चेतनता है अथवा नहीं इसके लिए इस प्रसंग को प्रारम्भ करते हैं।

**न सांसिद्धिकं चैतन्यं प्रत्येकादृष्टेः। ( सां.द.3/20 )**

( चैतन्यं सांसिद्धिकं न ) देहे यच्चैतन्यं तत् सांसिद्धिकं स्वाभाविकं देहस्वभावोद्भवं देहप्रकृतिसम्भवं नास्ति देहस्य यानि भूतानि कारणानि तेभ्यो निष्पन्नं नास्ति। यतः ( प्रत्येकादृष्टेः ) प्रत्येकस्मिन् पृथक् पृथग्भूते तस्व चैतन्यस्यादृष्टत्वात्, नहि पृथक् पृथग्भूते चैतन्यं चैतन्यमात्रा वोपलभ्यते तत्र तु जडत्वमेवावतिष्ठते।

**अर्थ:-** ( चैतन्यं सांसिद्धिकं न ) देह में चैतन्य-चेतनता स्वाभाविक-देह के उत्पादक भूतों से उत्पन्न हुई नहीं है। देह के जो कारण भूत हैं उन से निष्पन्न या प्रकट नहीं है। क्योंकि ( प्रत्येकादृष्टेः ) प्रत्येक पृथक् पृथक् भूत में उस चैतन्य चेतनता के अदृष्ट होने से, न मिलने से, न पाए जाने से, उनमें जडत्व ही है।

**व्याख्या:-** भूतों का विश्लेषण करने पर प्रत्येक मूलभूततत्त्व में चैतन्य का प्रदर्शन होने से, जगत् के मूलतत्त्व, स्वतः चेतन नहीं माने जा सकते। जड़ जगत् के मूलतत्त्व सत्त्व-रजस् तमम् है। इनकी स्थिति अथवा स्वरूप का वर्णन पहले सूत्र (1/32) किया जा चुका है। उससे स्पष्ट है, कि चेतना इनसे सर्वथा पृथक् तत्त्व है। जब मूलकारण जड़स्वरूप है, तब कार्य-देह चेतन कैसे हो सकता है ? सांख्यसिद्धान्त के अनुसार जड़ चेतन के रूप में अथवा चेतन जड़ के रूप में परिवर्तित नहीं हो सकता। परन्तु आधुनिक भौतिकविज्ञान-विशारदों ने इस सिद्धान्त को स्वीकार नहीं किया। परीक्षणों के आधार पर उन्होंने इम तथाकथित तथ्य को प्रकट किया है, कि जड़ चेतन दोनों एक दूसरे के रूप में परिवर्तित हो सकते हैं। इसप्रकार एक ही मूलतत्त्व की ये दो भिन्न अवस्था है। संसार में जो चेतना अनन्तरूप में बिखरी पड़ी है, मानव का उनपर कोई नियंत्रण नहीं है। सत्त्वमूल के भौतिक शरीर का निर्माण करके भी मानव उसमें चेतना को लाकर नहीं बिठा सकता इससे निश्चित है, कि मूलतत्त्व जड़ हैं। उनका कोई परिणाम चेतन नहीं हो सकता। फलतः देह चेतन न होने से भोक्ता नहीं माना जाना चाहिए। तब प्रत्येक देह में एक अतिरिक्त चेतन भोक्ता का अस्तित्व स्वीकार करना अनिवार्य हो जाता है।

**तस्माच्च तस्माच्च विपर्यासात् सिद्धं साक्षित्वमस्य पुरुषस्य।**

**कैवल्यं, माध्यस्थ्यं, द्रष्टृत्वमैकर्तृभावश्च॥ ( सां.का.19 )**

**अर्थ:-** पुरुष अकर्ता है इसपर कहा जाता है। तस्माच्च० पूर्वोक्त गुण्यके विपर्यास से अर्थात् विपरीत होने से - पुरुष निर्गुण विवेकी मोक्ता इत्यादि गुणों से पुरुष का जो वैपरीत्य कहा है इससे। सिद्ध० सत्त्व रज तमके कर्तृभूत हानेपर पुरुष का साक्षित्व स्वयं सिद्ध है। यह वहीं पुरुष है जो कि बहुत्व के प्रति अधिकृत है (अर्थात् जिसका बहुत होना पूर्व कारिका में सिद्ध किया गया है)। कर्ता जो गुण हैं वे ही प्रवृत्त होते हैं। साक्षी न तो प्रवृत्त होता है और न निवृत्त ही होता है। और क्या। कैवल्य० केवल होना, कैवल्य का अर्थ है अन्यत्व। त्रिगुणों से केवल अर्थात् (इनसे) अन्य। माध्यस्थ्यं मध्यस्थ होना। संन्यासी की तरह पुरुष भी मध्यस्थ है। जैसे गाँव के किसान जब खेतीपाती के काममें प्रवृत्त हो जाते हैं तब उस गाँव में रहनेवाला संन्यासी केवल उनके काम को देखता रहता

है क्योंकि उसके पास तो जमीन आदि है नहीं, पर है वह भी वहीं का बासी, इसी प्रकार गुण अपने-अपने कर्मों में प्रवृत्त होते हैं तो पुरुष उनको केवल देखता रहता है वह उनमें प्रवृत्त नहीं होता, इसीलिये उसमें द्रष्टृत्व (अर्थात् देखना और कर्म न करना) है। क्योंकि वह मध्यस्थ है इसलिए वह द्रष्टा है और इसलिये उन कर्मों का अकर्ता भी है। सत्त्व रजस् रूप से प्रवृत्त होते हैं, पुरुष नहीं प्रवृत्त होता। तमस् ये तीनों गुण ही कर्मकर्ता रूप इस प्रकार पुरुष का अस्तित्व भी सिद्ध है।

**प्रपञ्चमरणाद्यभावश्च॥ ( सां.द.3/21 )**

( प्रपञ्चत्वाद्यभावः च ) प्रगताः प्रस्थिताः पञ्च प्राणा यस्माद् देहात् स प्रपञ्चो मृतदेहस्तस्य भावः प्रपञ्चत्वां मृतत्वं तस्य मृतत्वस्य मरणस्य तथादिना सुषुप्तिमूर्च्छयोरपि ग्रहणम्, मृतत्वसुषुप्तिमूर्च्छानामभावः प्रसज्यते देहस्य चैतन्ये सति यतो देहस्तु मृतत्वसुषुप्तिमूर्च्छासु खल्वपि तिष्ठत्येव तदा तद्धर्मेणापि स्थातव्यमेव॥

**अर्थः-**(प्रपञ्चत्वाद्यभावः च) प्रगमन-प्रयाण-प्रस्थान कर गये पञ्च प्राण जिस देह से वह प्रपञ्च अर्थात् मृतदेह। मृतदेह का भाव प्रपञ्चत्व-मृतदेहत्व-मृतत्व-मरण तथा आदि से सुषुप्ति मूर्च्छा अर्थात् का भी ग्रहण होता है। मरण, सुषुप्ति, मूर्च्छा का अभाव हो जावे देह के चैतन्य मानने पर, क्योंकि सुषुप्ति, मूर्च्छा के समय देह तो है, पुनः उसका धर्म चैतन्य मानने पर वह भी होना चाहिए, पर नहीं होता है। अतः चैतन्य धर्म देह का नहीं, आत्मा का है।

**व्याख्याः-**शरीर को तभी चेतन माना जा सकता है जब सब भूत और भौतिक तत्त्व भी चेतन मानें जावें। उस अवस्था में प्रतीत होने वाले समस्त जड़ प्रपञ्च में (जड़ जगत) में जड़ता नहीं रहनी चाहिए तथा मरणादि अवस्थाएँ भी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि देह में चेतना न रहना या चेतना का शरीर को छोड़ जाना ही मरण है। जब सारा शरीर स्वयं चेतन है तो छोड़कर जा ही नहीं सकता। क्योंकि जब तक वस्तु रहती है स्वभाव तो तब तक बना ही रहता है। 'आदि' शब्द से सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाएँ ग्रहण की जा सकती हैं। देह को चेतन मानने पर ये अवस्थाएँ भी नहीं होनी चाहिए। क्योंकि अवस्था परिणाम जड़ का धर्म है। चेतन तो सदा एकरस रहता है। किन्तु ये सब बातें प्रत्यक्षविरुद्ध हैं।

कुछ पुस्तकों में 'प्रपञ्चत्वाद्यभावश्च' पाठान्तर है। वहाँ आदि शब्द से मरण, सुषुप्ति, मूर्च्छा आदि अवस्थाओं का ग्रहण किया जा सकता है।

**मदशक्तिवच्चेत् प्रत्येकपरिदृष्टे सौक्ष्म्यात् सांहत्ये तदुद्भवः। ( सां.द.3/22 )**

( मदशक्तिवच्चेत् ) न स्याद् देहस्य सांसिद्धिकं स्वाभाविकं चैतन्यं किन्तु मदशक्तिवद् देहे प्रादुर्भूतं भवेत्, यथा सुरायां मद्रशक्तिः समुद् भवति। मदशक्तिनाशाद् देहस्य मृतत्वादिप्रसङ्गो भवेदतो न दोष इति चेदुच्चेत तर्हि ( सौक्ष्म्यात् प्रत्येकपरिदृष्टे ) सौम्याद् वैद्यकशास्त्रप्रतिपादितमादकत्व परीक्षण प्रकारात् सूक्ष्मभावेन सुरायाः प्रत्येकपदार्थगतपरिदृष्टे मदशक्तिवत् सति ( तदुद्भवः सांहत्ये ) तस्याः मदशक्तेरुद्भवो भवति तेषां सुरापदाथीनां सति सम्मेलने। न तथा देहकारणेषु भूतेषु प्रत्येकस्मिन् चैतन्यमुपलभ्यते, दृष्टान्तवैपरीत्याद् देहचैतन्यवादो न युक्तः॥

**अर्थः-**(मदशक्तिवत्-चेत्) देह का चैतन्य स्वाभाविक न हो किन्तु मदशक्ति की भाँति देह में प्रकट हो जावे, जैसे भिन्न-भिन्न वस्तुओं से बनी सुरा-शराब, में मदशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वैसे देह में मदशक्ति की भाँति चैतन्य है। मदशक्ति नाश से नशा उतर जाने की भाँति देह का मरण आदि बन सके, यदि ऐसी कल्पना की जावे तो (सौक्ष्म्यात् प्रत्येकपरिदृष्टे) सूक्ष्मता से वैद्यकशास्त्र में प्रतिपादित मादकत्व परीक्षण प्रकार से सुरा के प्रत्येक पदार्थ में मदशक्ति देखे जाने पाए जाने पर (तदुद्भवः सांहत्ये) उसका उद्भव मेल सुराघोल में हो जाता है। वैसे देह के कारण-भूतों में प्रत्येक में चैतन्य की मात्रा उपलब्ध नहीं, अतः विपरीत दृष्टान्त होने से देह का चैतन्य सिद्ध नहीं हो सकता।

**व्याख्याः-**यदि मादकशक्ति के समान (भूतों) में चेतना मानी जाए, तो यह कहना उचित नहीं, क्योंकि सूक्ष्मरूप से सुरा आदि मादक द्रव्यों के प्रत्येक घटक अवयव में परीक्षण द्वारा मादकता देखे जाने पर उनके मिश्रण (घोल) में मादकता की प्रतीति (उद्भव) सम्भव है।

ऐसी शंका उत्पन्न होती है कि जैसे मादक द्रव्यों के घटकों अवयवों में पृथक् पृथक् मादकता प्रतीत नहीं होती किन्तु मिलाने पर हो जाती है, वैसे ही भूतों में पृथक् पृथक् चेतनता नहीं होती किन्तु उनके मिश्रणभूत शरीरों में हो जाती है। तो इसके समाधान के रूप में वैद्यक शास्त्रों में बताए परीक्षणों से पता चलता है कि सुरा आदि मादक द्रव्यों के अवयवों घटकों में जो सूक्ष्मरूप से मादकता होती है, उनके मिश्रण में वही प्रकट हो जाती है। किन्तु, भौतिक तत्त्वों के परीक्षणों से यह कभी ज्ञात नहीं हुआ कि इनमें चेतनता है। इसलिए इनके संयोग से बने शरीरों में भी चेतनता नहीं मानी जा सकती। अतः प्रत्येक शरीर में एक अलग से चेतन भोक्ता मानना आवश्यक है।

## 5 अंक के प्रश्न:-

1. भूत-चैतन्यवाद क्या है?
2. सांख्य दर्शन चेतना को कैसे देखता है?
3. पंचमहाभूतों का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
4. चेतना का आधार क्या है?
5. प्रकृति और पुरुष में अंतर बताइए।

## 15 अंक के प्रश्न:-

1. भूत-चैतन्यवाद का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में चेतना की अवधारणा को स्पष्ट कीजिए।
3. प्रकृति और पुरुष के संबंध पर विस्तार से लिखिए।

## बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में चेतना का आधार हैरू  
(क) प्रकृति  
(ख) पुरुष  
(ग) पंचमहाभूत  
(घ) मन
2. पंचमहाभूतों में कौन सम्मिलित नहीं है?  
(क) पृथ्वी  
(ख) जल  
(ग) अग्नि  
(घ) आत्मा
3. भूत-चैतन्यवाद किससे संबंधित है?  
(क) चेतना  
(ख) कर्म  
(ग) योग  
(घ) मोक्ष

## महत्वपूर्ण बिंदु:-

- सांख्य दर्शन चेतना को पुरुष का गुण मानता है।
- पंचमहाभूत जड तत्त्व हैं।
- चेतना आत्मा से संबंधित है।

## शब्दावली:-

- पुरुष चेतन तत्त्व
- प्रकृति जड तत्त्व
- पंच महाभूत पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश



## इकाई-1.3 ध्यान का स्वरूप एवं वृत्ति निरोध के उपाय

**उद्देश्य:-**

1. ध्यान की अवधारणा को समझना।
2. वृत्ति निरोध के उपायों का अध्ययन करना।
3. योग और ध्यान के संबंधों को जानना।

भारतीय दर्शन की परंपरा में “ध्यान” केवल मानसिक एकाग्रता नहीं है, बल्कि आत्मबोध, मोक्ष और अंतर्मुक्ति का प्रमुख साधन है। यद्यपि सांख्य दर्शन मुख्यतः तत्त्वमीमांसा और ज्ञेय-ज्ञाता के विवेक पर केंद्रित है, फिर भी उसमें ध्यान, वृत्तियों का नियंत्रण, और मोक्ष (कैवल्य) की प्राप्ति के साधनों का संकेत दिया गया है।

यद्यपि पतंजलि योगसूत्र में ध्यान और चित्तवृत्ति निरोध का अधिक स्पष्ट विवरण है, परन्तु योगदर्शन और सांख्यदर्शन में घनिष्ठ संबंध होने के कारण सांख्य दर्शन में भी ध्यान और वृत्ति-निरोध एक दार्शनिक पृष्ठभूमि के रूप में समाहित हैं।

**ध्यान का स्वरूप-ध्यान:-** सांख्य दर्शन मुख्यतः ज्ञानमार्ग को स्वीकार करता है। इसमें ध्यान का उद्देश्य केवल मानसिक एकाग्रता नहीं, बल्कि आत्मा (पुरुष) और प्रकृति के बीच के भेद का साक्षात् ज्ञान प्राप्त करना है। हालाँकि “ध्यान” शब्द का प्रत्यक्ष उल्लेख सांख्य सूत्रों में सीमित है, परन्तु ध्यान का तत्त्वार्थ रूप विवेक ख्याति के रूप में स्पष्ट होता है। “बुद्धि, अहंकार, मन और इन्द्रियों की चेष्टाओं को स्थिर कर आत्मा के स्वरूप का साक्षात्कार करना।”

**रागोपहतिर्ध्यानम्। ( सां.द.3/30 )**

**( रागोपहतिः-ध्यानम् ) संसारसक्तिरिन्द्रियभोगप्रवृत्तिर्वा रागः, तस्य खलूपशमो निवृत्तिर्ध्यानं मनसः स्थिरीभावः।**

**अर्थ:-**(रागोपहतिः) संसार में आसक्ति-लगाव या इन्द्रियभोगों की प्रवृत्ति राग है, उस राग की निवृत्ति (ध्यानम्) ध्यान है- मन का स्थिर होना है।

**व्याख्या:-**राग का उपधातु, हनन, निवृत्ति, उपशमन ध्यान कहा जाता है। संसार में आसक्ति अथवा इन्द्रियों के भोग की प्रवृत्ति राग है। जब कोई बाह्यविषय अन्तःकरण में भाषित नहीं होता, केवल आत्मविषयक वृत्ति निरन्तर चलती रहती है, तो उस अवस्था को ध्यान कहते हैं। और जब ध्यान में वृत्ति का लोप हो जाता है, केवल ध्येयरूप आत्मा की ही अनुभूति होती है तब समाधि की अवस्था प्राप्त होकर आत्मसाक्षात्कार होता है।

सांसारिक विषयों में बुद्धि (मन) की जो आसक्ति होती है, उस आसक्ति को राग कहते हैं। यह विषयोपराग ही विवेकज्ञान की उत्पत्ति में महान् प्रतिबन्धक होता है, यानी विषयोपराग के रहते (विषयासक्ति के रहते) विवेकज्ञान नहीं हो पाता। इस मानसिक आसक्ति का विनाश जिस उपाय से होता है, उस उपाय को ध्यान कहते हैं। यहाँ पर कार्य कारण का अभेद निर्देश औपचारिक (लाक्षणिक) किया गया है। क्योंकि रागक्षय को तो ध्यान नहीं कह सकते। अतः इस अभेद दृष्टि से ही सूत्रकार ने रागोपहति यानी रागक्षय को ध्यान कह दिया है। यहाँ पर ध्यान शब्द से योगशास्त्र-प्रतिपादित धारणा, ध्यान और समाधि तीनों ही का सङ्ग्रह समझना चाहिये। क्योंकि पातञ्जल योगशास्त्र में योग के आठो अङ्गों को विवेकज्ञानोत्पत्ति में कारण (हेतु) बताया है। यह बात योगसूत्र के द्वितीय पाद में योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेकख्यातेः (यो. सू. २।२८)। सूत्र से स्पष्ट होती है। इनके अवान्तर प्रकारों को योगशास्त्र में हो देख लेना चाहिये निष्कर्ष यह है कि सूत्रकार ने ध्यानं निविषयं मनः मन की निविषय अवस्था को ध्यान शब्द से बताया है। उस समय अन्तःकरण (मन या बुद्धि) में कोई भी बाह्य विषय प्रविष्ट नहीं हो पाता है। उस समय निरन्तर ध्येय-विषयक वृत्ति ही रहती है। उसके सिवाय अन्य कोई भी विषय, मानसिक वृत्ति में नहीं रहता है। मन की अवस्था को ध्यान कहा जाता है। इस अवस्था का (ध्यान का) अभ्यास निरन्तर करते करते जब वृत्ति का भी नाश (लोप) हो जाता है और मन ध्येयाकार ही हो जाता है, अर्थात् ध्येय-ध्याता-ध्यान यह भेद नहीं रहता यानी व्याता और ध्यान अंश नष्ट होकर एक मात्र ध्येय अंश ही अवशिष्ट रहता है, तब उसी अवस्था को समाधि कहते हैं। इसी अवस्था में आत्म-प्रत्यक्ष होता है।

**वृत्तिनिरोधात् तत्सिद्धिः। ( सां.द.3/31 )**

**( वृत्तिनिरोधात् ) प्रमाणादिपञ्चवृत्तीनां निरोधात् ( तत्सिद्धिः ) ध्यानसिद्धिर्भवति।**

**अर्थ:-**वृत्तियों के निरोध से उस ध्यान अवस्था की सिद्धि होती है। यह अति कठिन कार्य है। इसके लिए धैर्यपूर्वक निरन्तर दृढता से अभ्यास की आवश्यकता होती है, धीरे-धीरे यह अवस्था प्राप्त होने लगती है। ध्यान की सफलता के अनुसार ज्ञान विवेक का प्रकाश होने लगता है। और जब यह ज्ञान विवेक प्रकृति-पुरुष भेद के साक्षात्कार तक पहुँच जाता है, तब उस ज्ञानान्मुक्तिः की



सार्थकता होती है।

**व्याख्या:-** योग के अङ्गभूत ध्यान की सिद्धि तभी होती है, जब ध्येय (आत्मा) के अतिरिक्त अन्यान्य सभी विषयों की ओर से बुद्धिवृत्ति (मन की वृत्ति) को हटाकर एकमात्र अपने ध्येय आत्मा की ओर ही उसे (बुद्धिवृत्ति को) लगाया जाय। अर्थात् सम्प्रज्ञात योग के द्वारा ही ध्यान-निष्पत्ति (ध्यानावस्था की प्राप्ति) होती है, अन्यथा नहीं। अर्थात् इस प्रकार के ध्यान से ही विवेकज्ञान रूप फल की प्राप्ति होती है। अतः फल-प्राप्ति तक ध्यान करते रहना चाहिये। ध्येयातिरिक्त अन्यान्य विषयों की ओर से बुद्धिवृत्ति का निरोध करने पर ही ध्यानावस्था की प्राप्ति में विषयान्तर सन्चाररूप प्रतिबन्ध का नाश हो जाता है, तब ध्येय (आत्मा) का साक्षात्कार होता है। इसलिये वृत्ति-निरोधरूप योग को भी विवेकज्ञान होने में योगाङ्गभूत ध्यान आदि की तरह कारण (हेतु) समझना चाहिये। याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रायश्चित्ताध्याय में अपरार्कव्याख्योद्धृत देवल का भी वचन, इसी आशय का उपलब्ध होता है-विषयेभ्यो निवृत्त्याऽभिप्रेतार्थे मनसोऽवस्थापनं योगः (या. स्मृ. प्राय. १०६ अपरार्क)। तथा श्रुति-स्मृति-प्रतिपादित वचनों से भी इसी आशय की स्पष्ट प्रतीति होती है। कठोपनिषद् में बताया है कि अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति- (क. उ. १।२।१२)। किन्तु इस प्रकार का वृत्तिनिरोध यानी अपनी बुद्धि-वृत्तियों को अन्यान्य बाह्य विषयों से हटाना, आसान नहीं है, अत्यन्त कठिन काम है। किन्तु दृढ़ता के साथ निरन्तर अभ्यास करते रहने पर कुछ समय के बाद वैसी स्थिति प्राप्त हो जाती है। एवं च ज्ञानोत्पत्ति में कारण ध्यान-निष्पत्ति है।

### वृत्ति निरोध के उपाय-

सांख्य दर्शन में वृत्ति (चित्त की चेष्टाएँ) बांधने वाली प्रकृति का लक्षण है। जब तक चित्त की वृत्तियाँ (स्मृति, विकल्प, राग-द्वेष आदि) सक्रिय हैं, आत्मा (पुरुष) अपने साक्षीस्वरूप में स्थित नहीं हो सकता। इसलिए वृत्तियों का निरोध (नियंत्रण) ही विवेक-ज्ञान की प्राप्ति और मोक्ष (कैवल्य) का मार्ग है। वृत्तियाँ -चित्त की चेष्टाएँ या मानसिक प्रवृत्तियाँ।

**उदाहरण:** स्मृति, अनुमान, संकल्प, विकल्प, संदेह, राग-द्वेष आदि ये वृत्तियाँ पुरुष को आत्मा के साक्षात्कार से दूर रखती हैं और संसार (बंध) का कारण बनती हैं सत्त्वबुद्धि, इन्द्रिय संयम, वैराग्य और पुरुष-प्रकृति विवेक के द्वारा चित्त की वृत्तियों का स्थायी, निरोध। यही निरोध आत्मा को उसके स्वरूप में स्थित करता है- और यही कैवल्य (मोक्ष) है।

### धारणाऽऽसनस्वकर्मणा तत्सिद्धिः। ( सां.द.३/३२ )

( धारणाऽऽसनस्वकर्मणा ) धारणयाऽऽसनेन स्वकर्मणा च ( तत्सिद्धिः ) वृत्तिनिरोधस्य सिद्धिर्भवति।

**अर्थ:-**धारणा, आसन और स्वकर्मों के अनुष्ठान से वृत्तिनिरोध की सिद्धि होती है। इन्द्रिय, मन आदि की स्वाभाविक प्रवृत्ति विषयों की ओर होती है, जिसे रोकने हेतु अटूट धैर्य की आवश्यकता होती है। अन्यथा साधक का आरम्भ या मध्य में धैर्य टूट जाता है, क्योंकि बार-बार इन्द्रियों की वृत्तियाँ उसे विषयों में ही ला पटकती हैं। कोई विरला ही धीर धैर्यशाली व्यक्ति इस संघर्ष में सफल हो पाता है।

**व्याख्या:-** सूत्रकार ने विषयों की ओर से बुद्धिवृत्ति को हटाने की जो बातें कहीं हैं, वह किसी घृणा या द्वेष से नहीं कहीं हैं, अपितु प्रत्येक को उसके अपने वास्तविक लक्ष्य की प्राप्ति के उपाय के रूप में वे कही हैं। वृत्ति निरोध का अभ्यास दृढ़ता से निरन्तर एवं धैर्यपूर्वक करते रहना चाहिये। बीच में यदि अभ्यास छोड़ दिया जाय तो विषयों की ओर इन्द्रियों की दौड़ पुनः होने लगती है। उस स्थिति में ध्याननिष्पत्ति का होना संभव नहीं होगा। वृत्तियों का निरोध होने पर ही ध्यान लग पाता है।

### निरोधश्छर्दिविधारणाभ्याम्। ( सां.द.३/३३ )

( निरोधः ) निरोधो धारणार्थः। मनसो निरोधो देशबन्धो धारणारूपः ( छर्दिविधारणाभ्याम् ) प्राणस्य छर्दनेन वेगाद् बहिर्निःसारणेन स्तम्भनेन च सम्पद्यते।

**अर्थ:-**प्राण के छर्दन (रेचन-वेग से वमन की भाँति बाहर निकालने) से और विधारण (स्तम्भन-कुम्भक) से निरोधः निरोध मन को वश में करने का नाम 'धारणा' है। अगले दो सूत्रों में आसन तथा स्वकर्म का वर्णन होने से यहाँ पर 'धारणा' का अध्याहार कर लेते हैं। कारण-कार्य के अभेदोपचार से निरोध को ही धारणा कह दिया है। वस्तुतः प्राणायाम के अनन्तर मन को देश-विशेष में रोक देने का नाम धारणा है। अथवा 'प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य' (योग. 1/34) के अनुसार यह प्राणायाम ही निरोध धारणा का उपाय है। प्राणायाम के फल में कहा है 'धारणासु च योग्यता मनसः' (योग. 2/53)। अथवा यों समझें कि योग की धारणा, वृत्तिनिरोध समाधि के लिए अति आवश्यक है, जिसकी सिद्धि हेतु प्राणायाम की अनिवार्यता है।

**व्याख्या:-** उक्त सूत्र में श्रप्राणश् का अध्याहार किया जाता है, क्योंकि प्राण पदार्थ इतना प्रसिद्ध है, कि सर्वदा सभी के बुद्धिगत है, वह किसी से भी अज्ञात नहीं है। प्रच्छर्दन और विधारण के द्वारा प्राण के निरोध करने को ही भाष्यकार ने प्रच्छर्दन-विधारणाभ्यां

वा प्राणस्य (यो. सू. १।३४) इस सूत्र में प्राणायाम शब्द से कहा है। कुंभक करने के पूर्व जो श्वास भीतर की ओर अधिक खींचा जाता है, उसे पूरक कहते हैं। विना पूरक किये कुम्भक का होना सम्भव नहीं है। छदि का अर्थ है- बमन, अर्थात् विधारण का (विनिर्गतं धारणं) अर्थ है-त्याग। अतः पूरण और रेचन इन दो क्रियाओं की उपलब्धि हो जाती है। विधारणम् (विशेषण धारणं) का अर्थ है-कुम्भक यानी स्वाभाविक रूप से चलती हुई श्वास को और अधिक खींचकर भीतर उसे यथा शक्ति रोक रखने को विधारण अथवा कुम्भक कहते हैं। जब श्वास (प्राण-वायु) को भीतर रोक रखना अशक्य हो जाय तब उस श्वास को शनैः शनैः बाहर छोड़ने को दि (रेचक) कहते हैं। एवंच पूरक, रेचक, कुम्भक इन क्रियाओं के द्वारा प्राणों का जो निरोध (वशीकरण) किया जाता है, उसे धारणा कहते हैं। आसन और कर्म दोनों के लक्षण, उनके वाचक शब्द (स्वशब्द) के द्वारा ही आगे बताये जायेंगे। इसलिये सूत्र में परिशेषतः धारणा के ही लक्ष्य होने से सूत्र में धारणा पद का ग्रहण नहीं किया है। चित्त की धारणा तो समाधि की तरह ध्यान शब्द से ही ग्रहण की गई है - यह कह चुके हैं। पुनः पुनः प्राणायाम का अभ्यास करने से प्राण की गति, सूक्ष्म हो जाती है। किसी लक्ष्य में मन को लगाये रखने को (निरुद्ध कर रखने की) स्थिति, प्राणायामकरने से ही प्राप्त होती है। एवंच प्राणायाम से बढ़कर मन को एकाग्र करने का अन्य कोई उपाय नहीं है। किसी देशविशेष (लक्ष्य) में मन के रोक रखने को ही धारणा कहते हैं। अत एव योगसूत्र में देशबन्धश्चित्तस्य धारणा कहा गया है। इस धारणा के अभ्यास से ही वृत्तिनिरोध होता है।

**स्थिरसुखमासनम्॥ ( सां.द.३/३४ )**

( स्थिरसुखमासनम् ) शरीरस्य स्थिरं सुखं यस्मिन् भवति तथा भूतं शरीरचेष्टारहितं शरीरसुखसम्पादकमासनं विधेयम्।

निश्चल हल-चल से रहित सुखपूर्वक बैठने का नाम आसन है। ध्यान-समाधि की सिद्धि के लिए किसी आसन पर निश्चल सुखपूर्वक बैठने का अभ्यास अत्यावश्यक है, अन्यथा वृत्तिनिरोध में बाधा पहुँचती है। आसन-स्वस्तिकासन, पद्मासन, वीरासन, सिद्धासन, वज्रासन आदि बहुत से हैं, उनमें से अपनी अनुकूलता के अनुसार छौट लेना चाहिए।

**स्वकर्म स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम्। ( सां.द.३/३५ )**

( स्वकर्म ) स्वकर्म खलु ( स्वाश्रमविहितकर्मानुष्ठानम् ) त्वाश्रमस्य मुमुक्षोराश्रमस्य संन्यासाश्रमस्य विहितं यद्विहितं कर्मानुष्ठानं तत्सेवनीयम्॥३५॥

अर्थ:-अपने-अपने आश्रम के लिए वेदादि में विहित प्रतिपादित कर्मों का अनुष्ठान आचरण करना स्वकर्म कहलाता है। कर्म शब्द से यहाँ यम, नियम, प्रत्याहार का ग्रहण समझना चाहिए। अथवा मुमुक्ष के लिए जो आवश्यक कर्म हैं उन्हें समझना चाहिए।

इनका अनुष्ठान वृत्तिनिरोध, ध्यान, समाधि में अत्यन्त सहायक है, जिसमें कि आत्मज्ञान, आत्मसाक्षात्कार होता है।

**व्याख्या:-** सूत्राक्षरों से ही अर्थ की स्पष्टता हो जाती है। सूत्राक्षरों को देखने से यह सूचित होता है कि किसी भी आश्रम में रहने वाला व्यक्ति योगसाधना कर सकता है। आश्रम चार होते हैं- (१) ब्रह्मचर्य, (२) गृहस्थ, (३) वानप्रस्थ (४) संन्यास। इस सूत्र में कर्म शब्द से यम-नियम का ग्रहण किया गया है। जितेन्द्रियत्वरूप प्रत्याहार भी सभी आश्रमों के लिये साधारण होने से उसका भी प्रवेश कर्म में किया जाता है। इससे पातञ्जल सूत्र में ज्ञानसाधन के रूप में बताये गये आठ योगाङ्गों का भी यहाँ संग्रह हो जाता है। उसी को बतानेवाला एक सूत्र भी है- **यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि ( यो. सू. २।२६ )**। उनका स्वरूप उसी (योगसूत्र) में देख लेना चाहिये। उक्त वृत्तिनिरोध के उपाय (साधन) भूत उपरिनिर्दिष्ट आठ यम-नियम आदि बताये हैं, उनमें पाँच अङ्ग तो बाह्य हैं और तीन आन्तरिक अङ्ग हैं। बाह्य अङ्ग तो योगानुष्ठान की भूमि तयार करते हैं। आन्तरिक तीन उपायों में से प्रथम उपाय धारणा है, इस उपाय के द्वारा मन को किसी एक देश अथवा लक्ष्य में निरुद्ध किया जाता है। यह वृत्ति-निरोध का प्रथम उपाय है। इस प्रथम उपाय का अभ्यास कर लेने के पश्चात् वृत्तिनिरोध का द्वितीय उपाय ध्यान है। इस उपाय का अभ्यास करने पर मन की बाह्यवृत्तियों का निरोध हो जाता है, और एक ध्येय ही भासित होता रहता है। इस उपाय से ध्येयाकार वृत्ति हो जाती है।

**वैराग्यादभ्यासाच्च। ( सां.द.३/३६ )**

( वैराग्यात् ) वृत्तिनिरोधो वैराग्याद् द्विविधादपरात्पराच्च विषय दोषदर्शनात् तथा ज्ञानप्रसादमात्रात् ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् ( योग० १।१६ व्यासः ) तथा ( अभ्यासात् च ध्यानाभ्यासाच्च भवति।

अर्थ:-वैराग्य से और अभ्यास से समाधि वैराग्य अर्थात् विषयों में वितृष्णा तथा ध्यान आदि अवस्थाओं का निरन्तर अभ्यास करने से समाधि लाभ होकर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। यद्यपि वैराग्य और अभ्यास प्रत्येक अध्यात्ममार्गी के लिये साधारण है, तथापि जिन उत्तम अधिकारियों को यम नियम आदि के अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं रहती, उनकी दृष्टि से इनका पृथक् उपायरूप में उल्लेख कर दिया गया है। तेईसवें सूत्र में ज्ञान से मुक्ति का होना बताया है, यहाँ तक आत्मज्ञान के उपायों का वर्णन किया गया।

**व्याख्या:-**वैराग्य के सहित केवल ध्यान के अभ्यास से ही ज्ञान और उसके साधनभूत योग की सिद्धि, उत्तम अधिकारियों को प्राप्त हो जाती है। इस बात की पुष्टि गरुडपुराण के वचन से भी हो रही है-

आसनस्थानविधयो न योगस्य प्रसाधकाः।  
विलम्बजननाः सर्वे विस्तराः परिकीर्तिताः  
शिशुपालः सिद्धिमाप स्मरणाभ्यासगौरवात्।  
( गरु. पु. १।२२७/४४-४५ इति )

आसनेति। आसन, स्थान आदि विधियाँ योग की उत्कृष्ट साधन नहीं। हैं, ये सब बहुत विलम्ब लगाने वाली हैं और इन सबका बड़ा विस्तार बताया गया है। शिशुपाल ने तो स्मरण के अभ्यासमात्र से ही सिद्धि प्राप्त कर ली थी। योगभाष्य के विवरणकार ने भी कहा है-

स्थानासनविधानानि योगस्य विधयोऽपि वा।

व्याख्येयजनकाः सर्वे न ते योगस्य हेतवः॥ ( योगभा. विव. २।२६ )।

अथवा वैराग्य और ध्यान के अभ्यास को यहाँ पर ध्यान के ही हेतुरूप में बताया है। सूत्र में च के ग्रहण करने से धारणा का समुच्चय माना जाता है। इस प्रकार ज्ञान से मोक्ष का होना सांख्य सूत्र (३।२३) में बताया गया है।

तात्पर्य यह है कि विषयों के प्रति तृष्णारहित (वैराग्यसम्पन्न) होकर ध्यान, धारणा का अभ्यास निरन्तर करते रहने से समाधि लगने लगती है, और आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। उत्तम अधिकारियों को बहिरंग साधनों की आवश्यकता नहीं रहती, उनको अन्तरङ्ग साधन से ही आत्मसाक्षात्कार हो जाता है।

**5 अंक के प्रश्न:-**

1. ध्यान क्या है?
2. वृत्ति निरोधा का अर्थ बताइए।
3. योग में ध्यान का महत्व क्या है?
4. चित्तवृत्ति क्या है?
5. समाधि का संक्षिप्त परिचय दीजिए।

**15 अंक के प्रश्न:-**

1. ध्यान के स्वरूप का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. वृत्ति निरोधा के उपायों की विवेचना कीजिए।
3. योग दर्शन में ध्यान और समाधि का संबंध स्पष्ट कीजिए।

1. योग का मुख्य उद्देश्य हैरू  
(क) धान  
(ख) चित्तवृत्ति निरोधा  
(ग) शक्ति  
(घ) कर्म
2. ध्यान का संबंध किससे है?  
(क) मन की एकाग्रता  
(ख) शरीर  
(ग) भोजन  
(घ) निद्रा
3. समाधि किसकी अवस्था है?  
(क) चित्त की स्थिरता  
(ख) शरीर की शक्ति  
(ग) निद्रा  
(घ) क्रोधा

### महत्वपूर्ण बिंदु:-

- ध्यान मन को स्थिर करता है।
- वृत्ति निरोधा योग का आधार है।
- समाधि सर्वोच्च अवस्था मानी गई है।

### शब्दावली:-

- ध्यान मन की एकाग्रता
- वृत्ति मानसिक गतिविधियाँ
- समाधि पूर्ण एकाग्रता की अवस्था

## इकाई-1.4 बुद्धिसर्ग का निरूपण

**उद्देश्य:-**

1. बुद्धि के स्वरूप को समझना।
2. बुद्धिसर्ग की प्रक्रिया का अध्ययन करना।
3. सांख्य दर्शन में बुद्धि की भूमिका को जानना।

सांख्य दर्शन एक नैष्परवादी द्वैतवादी तत्त्वमीमांसा है, जो विश्व की उत्पत्ति एवं तत्वों के क्रमिक विकास (सर्ग) को प्रकृति और पुरुष के माध्यम से समझाता है। इसमें प्रकृति को मूल कारण माना गया है, और सृष्टि का आरंभ महत्तत्त्व (बुद्धि) से होता है। इसलिए बुद्धि को प्रथम विकार या प्रथम सर्ग कहा गया है।

सांख्य दर्शन के अनुसार जब प्रकृति में त्रिगुणों (सत्त्व, रजस, तमस्) की असाम्यावस्था होती है, तब उसमें विकास आरंभ होता है और महत्तत्त्व (बुद्धि) उत्पन्न होता है। इसी को बुद्धि-सर्ग कहा जाता है। प्रत्यय अर्थात् ज्ञान, ज्ञान कराने वाली बुद्धि होती है, बुद्धि जैसी होगी वैसा ही ज्ञान कराएगी इस प्रकार से बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान भी कई प्रकार की होगी, उसी सृष्टि को बुद्धि सर्ग या प्रत्यय सर्ग कहा जाता है। जो प्रस्तुत प्रसंग में बतायी गई है-

**एष प्रत्ययसर्गो विपर्यया-ऽशक्ति-तुष्टि-सिद्ध्याख्यः।**

**गुणवैषम्यविमर्दात्तस्य च भेदास्तु पञ्चाशत्॥ ( सां.का.46 )**

यह प्रत्ययसर्ग (बौद्धिक सृष्टि) विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि नाम से चार प्रकार का है। गुणों की विषमता न्यूनाधिक्य होने से इनके भेद तो पचास होते हैं। अब प्रत्यय सर्ग के सभी भेदों की व्याख्या करेंगे।

**विपर्ययभेदाः पञ्च॥ ( सां.द.3/37 )**

**( विपर्ययभेदाः पञ्च ) ज्ञानप्रतिपक्षिणो विपर्ययस्य मिथ्याज्ञानस्यभेदाः पञ्च सन्ति।**

**अर्थ:-**(विपर्ययभेदाः पञ्च) ज्ञान के प्रतिपक्षी विपर्यय मिथ्याज्ञान ३।२४, के भेद पांच हैं।

**व्याख्या:-**पाँच भेद विपर्यय के हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष, अभिनिवेश इनके दूसरे शास्त्रीय नाम क्रमशः ये हैं- तमस्, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश- ये पांच भेद विपर्यय के हैं, जिन्हें योगशास्त्र (२।३) में बताया है, ये सब बन्यहेतुमूत विपर्यय के अवान्तर भेद हैं। इस कारण शुवत्यादिज्ञान रूप विपर्ययों का इसमें संग्रह न होने पर भी कोई क्षति नहीं है। उपर्युक्त जो अविद्या, अस्मिता आदि बताये गये हैं। उन पाँचों को वलेश शब्द से भी कहा जाता है। उन्हीं को शास्त्रकारों ने अन्य संज्ञाओं से भी बताया है। जैसे यथाक्रम से (१) तमस्, (२) मोह, (३) महामोह, (४) तामिस्र, (५) अन्धतामिस्र। इन पाँचों में से प्रथम जो अविद्या (तमस्) है, उसका लक्षण अनित्याऽशुचिदुःखानात्पसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या यह योगशास्त्र ( यो. सू. २।५ ) में बताया गया है। अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्म पदार्थों में नित्य, शुचि, सुख. तथा आत्मभावना करना ही अविद्या है। इसी प्रकार आत्मानात्मनोरेकता प्रत्ययः अस्मिता यह अस्मिता का लक्षण बताया गया है। अर्थात् इस आत्मा के भोग साधन रूप देह, बुद्धि आदि जो हैं, उन्हीं को आत्मा समझना अस्मिता है। यानी शरीरादि जड़ तत्वों के अतिरिक्त कोई अन्य, आत्मा नाम की वस्तु नहीं है। इसी को मोह कहते हैं। किन्तु अविद्या का स्वरूप ऐसा नहीं है। आत्मा की शरीर-अशरीर उभयरूपता में भी शरीर में बहम् बुद्धि की उपपत्ति हो जाती है। राग और द्वेष तो लोकप्रसिद्ध ही हैं। जो वस्तु अपने अनुकूल प्रतीत होती है, उसमें राग की भावना होती है, और जो वस्तु अपने प्रतिकूल प्रतीत होती है, उसमें द्वेष की भावना होती है। यह रागात्मिका, तथा द्वेषात्मिका वृत्ति, योग मार्ग में बाधक होती है। इन्हीं को क्रमशः महामोह और तामिस्र कहते हैं। मरण (मृत्यु) से भय (त्रास) होना, अर्थात् मैं कभी भी न मरूँ, सर्वदा जीवित रहूँ इस प्रकार की भावना को अभिनिवेश कहते हैं। इस अभिनिवेश की वृत्ति में यह विचार अन्तर्निहित रहता है कि आत्मा मर जाता है यानी आत्मतत्त्व विनाशशील है, और जो विनश्वर शरीर है, उसे उसी अवस्था में बनाये रखने की इच्छा रहती है। अपने सामने असंख्य प्राणियों को प्रतिदिन मरते हुए देखकर भी अपने को अमरणशील बने रहने की सोचना ही घोर अन्धकार है, इसी को अन्धतामिस्र कहते हैं। इन सब भावनाओं का मुख्य आधार अविद्या ही है। ये रागादिक विपर्यय के कार्य होने से इन्हें भी विपर्यय शब्द से कहा गया है। आचार्य वार्षगण्य ने भी (सांख्यतत्त्व कौमुदी) (का. ४७) में अविद्या को पश्चपर्वा कहा है, ऐसा श्री वाचस्पतिमिश्र कहते हैं- पश्चपर्वा अविद्या इत्याह भगवान् वार्षगण्यः। (सां. त. कौ. का. ४७)।

**‘विपर्ययो मिथ्याज्ञानं, तद्विपर्यादा विपरीतम्’ ( यो.द )**

अर्थात् अनित्य, अशुचि, दुःख तथा अनात्मरूप तत्त्वों में नित्य, शुचि, सुख तथा आत्मरूप की भावना होना अविद्या है। (तम्) देह अथवा बुद्धि आदि जो आत्मा के भोगसाधन हैं, उनको आत्मा मानना 'अस्मिता' है (अपर नाम - मोह) अनुकूल प्रतीत होने वाले तत्त्वों में रागभावना तथा प्रतिकूल में द्वेषभावना हो जाती है, इसे महामोह और 'तामिस्र' कहते हैं। मैं कभी न मरूँ, सदा जीवित रहूँ, यह भावना 'अभिनिवेश' कहाती है (अन्धतामिस्र) उन सभी का मुख्य आधार अविद्या ही है।

विपर्यय 5 हैं पर उनके अवान्तर भेद अनेक हो सकते हैं-

**अवान्तरभेदाः पूर्ववत् (सां.द.3/41)**

(पूर्ववत्-अवान्तरभेदाः) पूर्ववदिति पूर्वस्य परुन्चेत्यनुपपद्यते। पूर्वस्य प्रक्रमस्य विपर्ययस्यैकस्यापि सतः पञ्चाचान्तरभेदाः सन्ति तमो मोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्रश्चेति नामभिः। "विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्-तमोमोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति (योग० ११८ व्यासः)।

**अर्थः-**(पूर्ववत्) पूर्ववत् यह पूर्वस्य पञ्च इसको लक्षित करता है। पूर्व प्रक्रम के एक विपर्यय के पांच (अवान्तरभेदाः) अलग-अलग भेद हैं विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम् तमोमोहो महामोहस्तामिस्रोऽन्धतामिस्र इति (योग० ११८। व्यासः) तम, मोह, महामोह, तामिस्र, अन्धतामिस्र। ये पांच विपर्ययभेद हैं।

**व्याख्याः-** 5 विपर्ययों में पहला अविद्या है। उसका स्वरूप है- अनात्मा में आत्मबुद्धि होना। अनात्मवर्ग में प्रकृतिरूप 8 तत्व है। अव्यक्त मूल प्रकृति, बुद्धि, अहंकार और 5 तन्मात्र ये 8 प्रकृति-विकृति। इन 8 अनात्मतत्त्वों में आत्म बुद्धि होना ४ प्रकार की अविद्या है। ये ही 8 अस्मिता के विषय बनकर अस्मिता कहलाते हैं।

शब्दादि 5 विषय, दिव्य (देवों को ग्राह्य) और अदिव्य (मनुष्यों में ग्राह्य) भेद से ये 10 होते हैं।

अभिलाषापूर्वक इनके प्राप्त करने की अनुकूल भावना होना राग है जो कि 10 प्रकार की होगी। अविद्या और अस्मिता के आधार पर 8 है तथा राग के 101 इस प्रकार इन 18 के प्रति द्वेषवृत्ति की उद्भावना के आधार पर 18 द्वेष होते हैं। ये ही 18 आधार अभिनिवेश के हैं। इस प्रकार सामान्य रूप से 5 विपर्ययों के और विशेष विभाग करके 62 भेद हो जाते हैं।

विपर्यय के अनन्तर क्रमप्राप्त अशक्ति का सूत्रकार निर्देश करता है-

**अशक्तिरष्टाविंशतिधा तु॥ (सां.द.3/38)**

(अशक्तिः-अष्टाविंशतिधा) अशक्तिः खल्वष्टाविंशतिभेदयुक्ता भवति।

**अर्थः-**(अशक्तिः) अशक्ति (अष्टाविंशतिधा) अठारह प्रकार की है।

**व्याख्याः-**साधनरूप इन्द्रियशक्ति का अभाव हो जाना इन्द्रिय विघात ही अशक्ति है। यह २४ प्रकार की होती है। 11 इन्द्रियाँ हैं इस प्रकार 11 अशक्ति हुई। १ तुष्टि और 8 सिद्धि मिलाकर थे 17 बुद्धिवृत्ति है इनका विघात ही बुद्धि विघात है। इसे 17 अशक्ति कहते हैं। इस प्रकार 17 बुद्धि विघात व 11 इन्द्रिय विघात मिलाकर कुल 24 अशक्तियाँ हैं। तथापि इस अर्थ की व्याख्या कारिका के द्वारा की गई है-

**एकादशेन्द्रियाधाः सह बुद्धिवधैरशक्तिरुद्दिष्टा।**

**सप्तदश वधा बुद्धेर्विपर्ययात् तुष्टिसिद्धीनाम्॥ (सां. का. ४९ इति)**

एकादशेति। मन, श्रोत्र, त्वक् चक्षु, रसना, घ्राण-ये पञ्च-ज्ञानेन्द्रियाँ और छठवाँ मन तथा वाक्, पाणि, पाद, पायु, उपस्थ-ये पाँच कर्मेन्द्रियाँ मिलकर बागर् इन्द्रियाँ होती हैं। ये ग्यारहों इन्द्रियाँ जब कुण्ठित हो जाती हैं, एकादशेन्द्रियवध हुआ, यह कहा जाता है। वध का अर्थ है कुण्ठित भाव। यह कुण्ठित होना भी दोष है। इन्द्रियाँ ग्यारह हैं, इसलिये उनके कुण्ठितभाव (वध) भी ग्यारह हैं।

**बाधिर्यं कुष्ठितान्धत्वं जडताऽजिघ्रता तथा।**

**सूकता कौण्यपङ्गुत्वे क्लैब्योदावर्तमुग्धताः।**

अर्थात् शब्दग्रहणाऽपाटव यह श्रोत्र का दोष है, स्पर्शग्रहणाऽपाटव यह त्वगिन्द्रिय का दोष है, रूपग्रहणाऽपाटव-यह नेत्र-दोष है, रसग्रहणाऽपाटव यह रसना-दोष है, अवघ्राणाऽपाटव यह घ्राण-दोष है-ये पाँच ज्ञानेन्द्रियों के वध कहलाते हैं। तथा वचनाऽपाटव यह वाग्दोष है, आदानाऽपाटव यह हस्तदोष है, चलनाऽपाटव यह पाददोष है, मैथुनाऽपाटव यह उपस्थेन्द्रिय का दोष है, पायु शक्ति का अभाव- यह पायुदोष है-ये कर्मेन्द्रियों के वध कहलाते हैं। तथा संकल्प शक्ति का अभाव यह मनोदोष है। इन्द्रियों के इस वध (वैगुण्यरूप दोष) को ही अशक्ति कहते हैं। एवं च एकादशेन्द्रियवधहेतुक बुद्धि की अशक्ति की संख्या भी एकादश बताई गई है। एकादशेन्द्रियवध तो कारण है, और बुद्धि-वधरूपिणी अशक्ति, उसका कार्य है। कार्य-कारण दोनों की अभेदविवक्षा से एकादशेन्द्रियवधाः, अशक्तिः इस प्रकार दोनों



शब्दों का सामानाधिकरण्य (एकार्थ-प्रतिपादकत्व) बताया गया है। अर्थात् कार्य-कारण का अभेद बताने के लिये इन्द्रियवध को बुद्धि की अशक्ति कहा गया है। इस प्रकार बुद्धि की ग्यारह प्रकार को अशक्ति को बताकर उसकी (बुद्धि के) स्वरूपात्मक (साक्षात्) अशक्ति सत्रह प्रकार की होती है। यही बुद्धिवध कहलाता है।

अर्थात् नौ प्रकार की तुष्टियों के विघात (वध) भी नौ ही होंगे, उसी प्रकार आठ प्रकार की सिद्धियों के विघात (वध) भी आठ ही होते हैं। ये सत्रह प्रकार की बुद्धिवृत्ति रूप भावनाएँ हैं। इनका विघात होना ही बुद्धि का विघात कहलाता है। ये सब बुद्धि की अशक्तियाँ स्वतः और परतः मिलाकर अट्ठाईस होती हैं। सूत्रगत तु शब्द, विशेष प्रसिद्धि को सूचित करने के लिये प्रयुक्त किया गया है। अर्थात् ये अट्ठाईस प्रकार की अशक्तियाँ अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। ग्यारह इन्द्रियाँ, आत्मा के भोग की साधन हैं। किन्तु कभी किसी इन्द्रिय का विघात भी होता है। यह विघात ही अशक्ति है। अर्थात् इनकी भोग साधनतारूप शक्ति का अभाव हो जाता है।

**तुष्टिर्नवधा॥ ( सां.द.3/39 )**

( तुष्टिः-नवधा ) तुष्टिस्तु नवप्रकाराऽस्ति। तस्याः कारणं सिद्धिः सा च-

अर्थः-(तुष्टिः- नवधा) तुष्टि तो नौ प्रकारवाली है।

**व्याख्याः**-परितोष की ऐसी भावना का उद्रेक होना कि अमुक अध्यात्मसम्बन्धी कार्य हो ही गया है, अथवा अमुक साधन या रीति से स्वतः हो जाएगा, मुझे उसमें क्या करना है? यह आत्मज्ञान का बाधक होता है। तुष्टि 9 प्रकार की है।

**तुष्टि के भेद-**

**आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः॥ ( सां.द.3/43 )**

( आध्यात्मिकादिभेदात्-नवधा तुष्टिः ) आध्यात्मिकाद्य यथान्तरभेदा-नवधा तुष्टिर्भवति। आत्मन्यधिष्ठितत्वादाध्यात्मिकी तुष्टिः स्वात्मस्थिति-परितोषरूपेति यावत्। आदिशब्देन बाह्येषु विषयेषु दोषदर्शनात्तेभ्यो घृणारूपा यद्वा वैराग्यरूपा तुष्टिर्बाह्या। एवं तुष्टिद्वयं नवविधं तत्राध्यात्मिक्याश्चत्वारो भेदाः, बाह्यायाश्च पञ्च भेदाः सन्ति। आध्यात्मिक्वस्तुष्टयः प्रकृत्युपादानकालभागाख्याः क्रान्तोऽम्भः सलिलमोघो वृष्टिरित्ययान्तरनामतश्च प्रसिद्धाः। तासु प्रकृतिः परिणामिनी नाहं परिणामी किन्त्वहं नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावो न मया तत्परिणामतापः श्वस्मिन् खल्वारोपणीयो नान्यो विवेकदर्शनप्रयासो विधेय इति प्रकृतिविषयाऽम्भो नाम तुष्टिः। प्रव्रज्यान्त्रतोपादानात् प्राकृतिकसम्बन्धाद्विमुक्तोऽहं नेदानीं तापप्रसङ्गो न च ध्यानापेक्षेति तूपादानाख्या प्रव्रज्योपादानरूपा सलिलं नाम तुष्टिः। ध्यानं बहुकालमनुष्ठितं मयाऽतो भविष्यत्येव ब्रह्मसाक्षात्कारोऽलमये ध्यानाभ्यासेनेति कालाख्या खल्योघः ध्यानसंग्रहः नाम तुष्टिः। स्वतो भाग्यात् साक्षात्कारो भविष्यत्यस्मि ह्यहं भाग्यवान् लब्ध समाधिप्रज्ञोऽहमिति भाग्याख्या वृष्टिस्तुष्टिः। बाह्यविषयोपरमाद् भवन्ति विषयाणामजेनरक्षणक्षयसङ्ग हिंसादोष-दर्शनाद् भवन्ति। तत्र गन्धादिविषयाणामर्जनदोषदर्शनाद् या भवति सा पारं नाम तुष्टिः। या रक्षणदोषदर्शनाद् भवति सुपारश् नाम सा तुष्टिः। या क्षयदोषदर्शनाद् भवति पारपारं नाम सा तुष्टिः। या सङ्गदोषदर्शनाद् भोगदोषदर्शनाद् भवति सा तुष्टिरनुत्तमाऽम्भो नाम। या हिंसादोषदर्शनाद् भवति यन्नानुपहत्य भूतानि भोगसिद्धिरेवम्भूता सा तुष्टिरुत्त-माऽम्भो नाम॥

अर्थः-आध्यात्मिकादि अवान्तरभेद से (नवधा तुष्टिः नौ नौ प्रकार की तुष्टि होती है। आत्मा में अधिष्ठित होने से आध्यात्मिकी तुष्टि स्वात्मा में स्थित सन्तोषरूपा। आदि शब्द से बाहिरी विषयों में दोषदर्शन से उनसे घृणारूपा या वैराग्यरूपा तुष्टि बाह्या है। इस प्रकार दोनों तुष्टियाँ नौ प्रकार की हैं। उनमें आध्यात्मिक चार हैं और बाह्य पांच हैं। आध्यात्मिक तुष्टियाँ प्रकृति, उपादान, काल, भाग इन चार नामों से हैं। उनमें - प्रकृति परिणामवाली है, मैं परिणामी नहीं किन्तु नित्य ही शुद्धबुद्धमुक्तस्वभाववान् हूँ, वह परिणामताप मुझे अपने में आरोपित नहीं, करना अन्य विवेकदर्शनाभ्यास मुझे नहीं करना, यह प्रकृतिविषयक अम्भ नाम की तुष्टि है। प्रव्रज्यान्त्रत-संन्यासव्रत के उपादान स्वीकार से प्राकृतिक सम्बन्ध से मैं विमुक्त हो गया, अब ताप प्रसङ्ग नहीं और न ध्यान की आवश्यकता, यह उपादान प्रव्रज्योपादानरूपा सलिल नाम तुष्टि। ध्यान बहुत काल मैंने लगाया अब, ब्रह्मसाक्षात्कार होगा ही, आगे ध्यानाभ्यास बन्द कर देना चाहिए, यह कालाख्या ओघः = ध्यानसंग्रह तुष्टि है। अपने आप भाग्य से साक्षात्कार होगा, मैं भाग्यवान् हूँ, समाधिप्रज्ञा को प्राप्त हूँ, यह भाग्याख्या वृष्टि तुष्टि है। बाह्य तुष्टियाँ तो बाह्य विषय के उपराग से होती हैं विषयों के अर्जन - रक्षण- क्षय- सङ्ग- हिंसा के दोषदर्शन से। जो विषयों के अर्जन दोषदर्शन से तुष्टि होती है वह पार नाम की, रक्षण दोषदर्शन से सुपार नाम की, क्षयदोषदर्शन से पारपार नाम की, सङ्गदोषदर्शन से भोगदोषदर्शन से अनुत्तमाऽम्भ नाम की, हिंसादोषदर्शन से- बिना प्राणियों को पीडा दिए भोगसिद्धि नहीं होती, ऐसी तुष्टि उत्तमाऽम्भ नाम की।

**व्याख्याः**-आध्यात्मिक के 4 भेद हैं और बाह्यविषयक के 5, ये मिलाकर 9 हो जाते हैं। आध्यात्मिक 4 प्रकार की प्रकृति, उपादान, काल, भाग्य। यह सब कुछ प्रकृति का परिणाम है, वही सब करती रहती है, मैं तो अपरिणामी कूटस्थ चेतन हूँ। मुझे क्या करना ? इस प्रकार सन्तुष्ट होकर बैठ जाना प्रकृति नामक तुष्टि है। अपर नाम अम्भ है।



दण्डकमण्डलु, अक्षमाला, कृष्णमृगचर्म आदि के धारण कर लेने अथवा जटाजूट होकर संन्यास कर ग्रहण कर लेने से ही मोक्ष की प्राप्ति हो जाएगी, इस रूप में सन्तुष्ट हो जाना 'उपादान' नामक तुष्टि अपरनाम सहित

संन्यास लेकर थोड़ा-बहुत जप-तप करने पर कष्ट से बचने के लिए यह भावना कर लेना कि जब समय आएगा, आप ही सिद्धि हो जाएगी, प्रत्येक कार्य अपने समय पर ही होता है व्यर्थ आत्मज्ञान के लिए कष्ट क्यों उठाना 'काल' नामक तुष्टि है अपर नाम ओघ है। जैसे भाग्य से ही मोक्ष होगा प्रयत्न करने से क्या लाभ? ऐसा जो सोचता है वह भाग्य नामक तुष्टि है।

शब्दादि 5 विषयों के वैराग्य से होने वाली तुष्टियाँ बाह्य तुष्टियाँ कहलाती हैं। अर्जन, रक्षण, क्षय, संग और हिंसा इन दोषों के कारण इन विषयों से उपरति (विरक्ति) होती है।

योगसाधना का अभ्यास करने वाला व्यक्ति बीच में ही तुष्टि की अर्थात् सन्तोष की भावना करने लगे कि मेरी योगसाधना तो पूर्ण हो चुकी, मैं, अब महान् योगी, या योगिराज हो गया है, तो निश्चित समझिये कि इस प्रकार की भावना, आत्मसाक्षात्कार में विघ्नरूप बाधक होती है। क्योंकि आत्मसाक्षात्कार होने के पूर्व अर्धमार्ग में ही सन्तुष्ट होकर आगे अभ्यास करने की वह उपेक्षा करने लगता है। उपेक्षा करने से आत्मसाक्षात्कार नहीं हो पाता है। अतः इस प्रकार को तुष्टि, आत्म-साक्षात्कार में विघ्नरूप होने से बाधक है।

**सिद्धिरष्टधा॥ ( सां.द.3/40 )**

“विपर्ययभेदाः पञ्च” ( ३७ ) “अशक्तिरष्टाविंशतिधा” ( ३८ ) “तुष्टिर्नवधा” ( ३६ ) “सिद्धिरष्टधा” ( ४० ) इति चतुःसूत्रीमुक्त्वा तथैव अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ( ४१ ) एवमितरस्याः ( ४२ ) आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टि ( ४३ ) ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ( ४४ ) एषा चतुःसूत्री पुनरुक्ता, सैषा पुनरुक्तिरयुक्ता प्रतिभाति, मन्येऽहमत्रैषा पुनरुक्तिरियती हि न कृताऽऽसीत् सूत्रकारेण किन्तु सविवरणा कृता भवेत्, कालवशाद् यद्वा लिपिलेखकविभ्रमादथवा कस्यचिद् भाष्यकारस्याज्ञानात् तत्रस्थविवरणवचनानि सूत्रवाह्यानि मत्वा पृथक्कृतानि स्युः पुनश्चाल्पविवरणेन प्रायः संख्यानिर्देशेन सह सैषा पुनरुक्तिरवशिष्टा अवेदिति मे मतिः। द्वितीया विचारणा - अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ( ४१ ) इति सूत्रतः पूर्ववत् शब्दः सर्वत्रोत्तरेषु त्रिषु सूत्रेष्वनुपपद्यते पूर्वाचार्य-कृतविवरणवदर्थे तदा विपर्ययभेदाः पञ्च ( ३७-४० ) इत्याद्या पूर्वा चतुःसूत्री निरर्थिका भवति। तृतीया विचारणा - तत्रैव पूर्वचतुःसूत्र्याम् विपर्ययभेदाः पञ्च पूर्ववत् ( ३७ ) इति सूत्ररचनया भाव्यं तत एव पूर्ववत् शब्दः पूर्वचतुःसूत्रीस्थेषु त्रिष्वन्येष्वपि सूत्रेषु किलानुवर्तनीयः, पुनरुत्तरचतुःसूत्री स्यादनावश्यकः। तत्रोभयचतुःसूत्रीरक्षणाय प्रथमा विचारणा गरिष्ठा युक्ता च सा हि खल्वस्माभिरभीष्यते॥

**अर्थः-**(सिद्धिः- अष्टधा) सिद्धि आठ प्रकार की है। वक्तव्य-विपर्ययभेदाः पञ्च ( ३७ ), अशक्तिरष्टाविंशतिधा ( ३८ ), तुष्टिर्नवधा ( ३९ ) सिद्धिरष्टधा ( ४० ), यह चतुःसूत्री कहकर वैसे ही अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ( ४१ ), एवमितरस्याः ( ४२ ), आध्यात्मिकादिभेदान्नवधा तुष्टिः ( ४३ ), ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा ( ४४ ), यह चतुःसूत्री फिर कही है। यह विपर्यय आदि की पुनरुक्ति अयुक्त प्रतीत होती है। हमारी सम्मति में यह पुनरुक्ति सूत्रकार ने इतनी ही नहीं की होगी, किन्तु विवरणसहित की होगी। कालवश या लेखनकर्ता के भ्रमवश अथवा किसी भाष्यकार के अज्ञानवश इन में दिये विवरण सूत्र से बाहर की बात समझकर पृथक् कर दिये हों, फिर थोड़े विवरण प्रायः संख्यानिर्देश के साथ यह पुनरुक्ति रह गई हो, यह सम्भव है। दूसरी विचारणा- अवान्तरभेदाः पूर्ववत् ( ४१ ), इस सूत्र में पूर्ववत् शब्द सब पिछले सूत्रों में अनुगत हों पूर्वाचार्यों के विवरण के समान अर्थ में तब विपर्ययभेदाः पञ्च ( ३६-४० ), यह पूर्वचतुःसूत्री निरर्थक हो जावे। तीसरी विचारणा- उसी पूर्व चतुःसूत्री में विपर्ययभेदाः पञ्च पूर्ववत् ( ३७ ), ऐसी सूत्ररचना होनी चाहिए, वहीं से पूर्ववत् शब्द का पूर्वचतुःसूत्री के अन्य तीन सूत्रों में भी अनुवर्तन किया जावे, फिर उत्तर चतुःसूत्री अनावश्यक हो जावे। दोनों चतुःसूत्रियों को रखने के लिये प्रथम विचारधारा अधिक युक्त है और हमें अभीष्ट है।

**व्याख्याः-** इसे भी सूत्रकार स्वयं ( सु. ३।४४ में ) बतायेंगे आत्मसाक्षात्कार की इच्छा रखने वाला योगी जब समाधि की अवस्था तक पहुँच जाता है, तब उसे अनेक चमत्कारों का अनुभव होने लगता है। कभी प्रदीप्त प्रकाश तो कभी महात्मा, देवताओं के दर्शन, उनके साथ वार्तालाप, कभी-कभी अत्यधिक सात्त्विक आनन्द का अनुभव उसे हुआ करता है। कभी-कभी कठिन से कठिन समस्याओं का समाधान अपने आप स्वयं कर लेता है, कभी-कभी अनेकविध वाद्यों की ध्वनि सुनाई पड़ती है, कभी, भविष्य की बातों को भी प्रत्यक्ष की तरह जान लेता है। इन सब अनुभूयमान चमत्कारों को वह सिद्धि समझकर उन्हीं में अटक जाता है, और जादूगर की तरह जनता में प्रदर्शन कर प्रभूत यश और धन का अर्जन करने में जुट जाता है, किन्तु आत्मसाक्षात्कार-रूप जो वास्तविक लक्ष्य है, वह दूर ही रह जाता है। अतः आत्म-साक्षात्कार रूप लक्ष्य की प्राप्ति में यह चमत्कार रूप सिद्धि बाधक ही समझी जाती है। किन्तु तीव्रतम साधना करनेवाला योगी, उक्त सिद्धि (चमत्कार) में अटकता नहीं है, किन्तु उन सिद्धियों की वह उपेक्षा करता रहता है, और अपना अन्तिम लक्ष्य जो आत्म-साक्षात्कार है, उसे प्राप्त कर ही लेता है। ऐसे योगी के लिये ये सिद्धियाँ उत्साहवर्धक होती हैं। अतः शिसिद्धिः, आत्मसाक्षात्कार में साधक भी है और बाधक भी है।

ऊहादिभिः सिद्धिरष्टधा॥ ( सां.द.3/44 )

( ऊहादिभिः सिद्धिः-अष्टधा )

ऊहादिभिरवान्तरभेदेः

सिद्धिरष्टधा

भवति।

तत्र

गुरुमुखादनधीत्य स्वयमध्ययनाज्ञानलाभोऽध्ययनसिद्धिस्तारं नाम। स्वयमप्यध्ययनं न कृत्वा शब्दमेव श्रुत्वा ज्ञानोत्पत्तिः शब्दसिद्धिः सुतारं नाम। शब्दमप्राप्यापि ज्ञानप्रादुर्भाव ऊहः सिद्धिस्तारतारं नाम। ऊहनमन्तरेणाप्यभीष्टस्य प्राप्तिरिति प्राप्तिरिति रम्यकं नाम। बाह्यपदार्थमनपेक्ष्य नैर्मल्यं शुद्धिसिद्धिः सदा मुदितं नाम। स्वत एवाध्यात्मिकाधिभौतिकाधिदैविकदुःखविमुक्तिरिति विमुक्तिसिद्धिस्त्रिधाविमुक्तिसिद्धिः प्रमोदमुदितमोदमाननामिका।

अर्थः-ऊहादि के भेदों से (सिद्धिः - अष्टधा) सिद्धि आठ प्रकार की है। उन में गुरुमुख से अध्ययन न करके स्वयं अध्ययन करके ज्ञानलाभ होना अध्ययनसिद्धि तार नाम की, स्वयं अध्ययन भी न करके शब्दमात्र सुनकर ज्ञानोत्पत्ति होना शब्दसिद्धि सुतार नाम की, शब्द भी न सुनकर भीतर ज्ञान प्रादुर्भाव होना ऊहासिद्धि तारतार नाम की, ऊहा के बिना तर्कना या भावना के बिना अभीष्ट प्राप्ति हो जाना प्राप्तिरिति रम्यक नाम की, ब्रह्मपदार्थप्राप्ति के बिना निर्मलता का लाभ शुद्धि सिद्धि सदा मुदित नाम की, स्वतः ही आध्यात्मिक-आधिभौतिक-आधिदैविक-दुःखविमुक्ति विमुक्तिसिद्धि-त्रिधावि-मुक्तिसिद्धि प्रमोद मुदित मोदमान नाम की 9 प्रकार की तुष्टि के अन्तर अब क्रम प्राप्त 8 प्रकार की सिद्धियों का वर्णन कारिका के द्वारा करते हैं-

ऊहः शब्दोऽध्ययनं, दुःखविघातास्त्रयः सुहृत्प्रादितः।

दानं च सिद्धयोऽष्टौ सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशास्त्रविधः॥ ( सां.का.57 )

ऊह आदि भेदों से सिद्धि आठ प्रकार की होती है। वे आठ प्रकार ये हैं-(१) ऊह, (२) शब्द, (३) अध्ययन, (४) आध्यात्मिक दुःखविघात, (५) आधिभौतिक दुःखविघात, (६) आधिदैविक-दुःखविघात, (७) सुहृत्प्राप्ति, (८) दान। इस सूत्र की भी कारिका के द्वारा व्याख्या की गई है-अस्यायमर्थः। उक्त कारिका का अर्थ यह है-आध्यात्मिकादि दुःखत्रयप्रतियोगिक होने से तीन दुःखविघात भी हैं, और ये ही मुख्य सिद्धियाँ हैं। अन्य सिद्धियाँ तो उन मुख्य सिद्धियों की साधन होने से गौण सिद्धियाँ हैं। अभिप्राय यह है कि तीनों प्रकार के दुःखों का विघातमुख्यसिद्धि है, क्योंकि दुःखं मा भुञ्जीय किसी प्रकार का भी दुःख मुझे न भोगना पड़े यही इच्छा स्वभावतः रहने सेविपर्यय, अशक्ति, तुष्टि और सिद्धि के रूप में 50 प्रत्ययसर्ग अथवा बुद्धिसर्ग नाम से शास्त्र में बताया अध्यात्ममार्ग की अवस्थाओं का निरूपण किया गया है। इनमें प्रथम 3 आत्मज्ञान में बाधकतत्त्व और अन्तिम साधक या सहायक है।

मनुष्य इसी के लिये प्रयत्नशील रहता है। और शास्त्रों की प्रवृत्ति भी मनुष्याभिलषित इसी कल्याण को प्राप्ति कराने के लिये हुई है। अवशिष्ट पाँच प्रकार की सिद्धियाँ उक्त मुख्य सिद्धियों की प्राप्ति होने में साधनभात्र हैं। ये साधनभूत सिद्धियाँ मुमुक्षु को अपने में फंसा लेती हैं, और उसे लक्ष्यसिद्धि के प्रयत्नों से विरत करा देती हैं, क्योंकि साधक अपने को इन सिद्धियों से ही कृतकृत्य मानने लगता है। अतः ये सिद्धियाँ लक्ष्यसिद्धि में बाधक मानी जाती हैं।

जब साधक को यह जिज्ञासा होती है कि आत्मा क्या है ? मोक्ष क्या है ? उसकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ? तब वह इन भावनाओं से प्रेरित होकर किसी से उपदेश प्राप्त किये बिना ही पूर्वजन्म के अभ्यासवश स्वयं ही शास्त्र के स्वाध्यायमात्र से आत्म-तत्त्व का ऊहन करने लगता है, तब उसे ऊह नाम की सिद्धि कहते हैं। जैसे-किसी अन्य व्यक्ति के द्वारा किये जाते हुए अध्ययन के शब्दों को सुनकर अथवा स्वयं ही शास्त्रों का आकलन करके यह ज्ञान प्राप्त कर लेता है कि मैं (आत्मा) चेतन स्वरूप हूँ और यह जड़ है तथा मुझे चेतन से सर्वथा भिन्न है। इस वास्तविकता को जानकर आत्मस्वरूप के साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील व्यक्ति आत्मज्ञान प्राप्त कर लेता है, यही शब्द नामकी सिद्धि है। जैसेकिसी गुरु के समीप रहकर यथाविधि उसकी सेवा, शुश्रूषा करते हुए शिष्याचार्यभाव से अध्यात्मशास्त्र का अध्ययन कर आत्मस्वरूप के याथार्थ्य को समझते हुए उसके साक्षात्कार के लिये प्रयत्नशील होकर उसका साक्षात्कार कर लेना अध्ययन नामकसिद्धि कहलाती है।

जैसे जब कोई स्वार्थरहित अर्थात् प्रत्युपकार की अपेक्षा न रखनेवाला मित्रादिव्यक्ति, त्रिविधताप से मुक्त करने की भावना से प्रेरित होकर आवे और अध्यात्ममार्ग का पथ प्रदर्शन करके आत्मसाक्षात्कार तक पहुँचा दे, तब उससिद्धि को सुहृत्प्राप्ति कहते हैं। धनादि उपयुक्त वस्तुओं को अर्पण करते हुए गुरु की आराधना सेवा आदि के द्वारा उसे सन्तुष्ट कर उनसे ज्ञानलाभजब किया जाता है, तब उसे दान सिद्धि कहते हैं। इन अष्टविध सिद्धियों में से प्रारम्भ की (१) ऊह, (२) शब्द और (३) अध्ययन, ये तीन सिद्धियाँ, तीन दुःख-विघातरूप मुख्यसिद्धि की अङ्कुशरूप यानी आकर्षक हैं। (१) सुहृत्प्राप्ति और (२) दान ये दो सिद्धियाँ ऊहादि तीन सिद्धियों की अपेक्षा मन्दसाधन रूप हैं यह बताने के लिये ऊहादि तीन सिद्धियों को अङ्कुशरूप बताया गया है। वाचस्पतिप्रिय ने सिद्धेः पूर्वोऽङ्कुशास्त्रविधः की व्याख्या इस प्रकार की है-इन अष्टसिद्धियों का अङ्कुश यानी निवारक, पूर्वोक्त विपर्यय, अशक्ति, तुष्टि ये त्रिविध हैं, क्योंकि ये बन्धक हैं। किन्तु भाष्यकार विज्ञानभिक्षु का कहना है कि वह व्याख्या ठीक नहीं है। क्योंकि तुष्टिका अभाव, अशक्तिरूप होने से बाधिर्य आदि के समान उसमें सिद्धिविरोधित्वकी उपलब्धि हो जाने से तुष्टि और अतुष्टि (तुष्ट्यभाव)

दोनों में सिद्धिविरोधित्व का होना सम्भव नहीं है। इस प्रकार पचास प्रत्ययसग (बुद्धिसर्ग), जो अध्यात्ममार्ग को अवस्थाएँ हैं, उनको विपर्यय, अशक्ति तुष्टि, और सिद्धि के रूप में बताया गया। इनमें से प्रथम तीन, आत्मज्ञान की प्रतिबन्धक होने से बाधक हैं, और अन्तिम की जो हैं, वे साट्क को उत्साहित कर आत्मज्ञान में सहायक हाने से साधक होता हैं।

#### विपर्यय-

|               |          |
|---------------|----------|
| तम            | अविद्या  |
| मोह           | अस्मिता  |
| महामोह        | राग      |
| तामिस्त्र     | द्वेष    |
| अन्धतामिस्त्र | अभिनिवेश |

#### तृष्टि -

|                     |                  |
|---------------------|------------------|
| प्रकृति             | अम्भ             |
| उपादान              | सलिल             |
| काल                 | ओघ               |
| भाग्य               | वृष्टि           |
| अर्जनोपरम           | पार              |
| रक्षणोपरम           | सुपार            |
| क्षयोपरम            | पारपार / पारावार |
| भोगोपरम / अहप्युपरम | अनुतमाम्भ        |
| हिंसोपरम            | उत्तमाम्भ        |

#### सिद्धि-

|                  |                      |
|------------------|----------------------|
| ऊह               | तार                  |
| शब्द             | सुतार                |
| अध्ययन           | तरतार                |
| आत्मिक दुःखविघात | प्रमोद               |
| भौतिक दुःखाविघात | प्रमुदित/मुदित       |
| दैविक दुःख विघात | मोदमान               |
| सुहृत्प्राप्ति   | रम्यक                |
| दान              | सदाप्रमुदित/सदामुदित |

#### अशक्ति-

|           |                     |
|-----------|---------------------|
| घ्राणवध   | अजिघ्रता (घ्राणपाक) |
| रसन्वध    | सुप्तिता (जड़ता)    |
| चक्षुर्वध | अन्धता              |
| त्वग्वध   | कुष्ठता             |
| श्रोत्रवध | बधिरता              |
| वाग्वध    | मूकता               |
| पाणिवध    | कुणिता              |

पादवध  
पायु वध  
उपस्थवध  
मनोवध

पंगुता  
गुदावर्त (उदावते)  
क्लीवता  
उन्माद

### 5 अंक के प्रश्न

1. बुद्धि क्या है?
2. बुद्धिसर्ग का अर्थ बताइए।
3. महत्तत्त्व क्या है?
4. अहंकार का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
5. बुद्धि और मन में अंतर बताइए।

### 15 अंक के प्रश्न:-

1. सांख्य दर्शन में बुद्धिसर्ग का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. महत्तत्त्व और अहंकार की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. बुद्धि के कार्यों का विवेचन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. महत्तत्त्व का संबंध किससे है?

(क) बुद्धि

(ख) शरीर

(ग) इंद्रिय

(घ) भोजन

2. अहंकार किसका कारण है?

(क) 'मैं' भावना

(ख) मोक्ष

(ग) समाधि

(घ) ध्यान

3. बुद्धि का मुख्य कार्य क्या है?

(क) निर्णय

(ख) निद्रा

(ग) क्रोधा

(घ) भोजन

### महत्वपूर्ण बिंदु:-

- महत्तत्त्व से बुद्धि उत्पन्न होती है।
- अहंकार 'मैं' की भावना को जन्म देता है।
- बुद्धि निर्णय लेने का कार्य करती है।

### शब्दावली:-

- बुद्धि निर्णय शक्ति
- महत्तत्त्व प्रकृति का प्रथम विकार
- अहंकार 'मैं' की भावना

## खण्ड- 2 वैराग्याध्याय के सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ

### इकाई-2.1 चौदह प्रकार की प्राणि सृष्टि

उद्देश्य:-

1. प्राणि सृष्टि के विभिन्न प्रकारों को समझना।
2. सांख्य दर्शन में सृष्टि की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. जीवों के वर्गीकरण को जानना।

संसार एक कार्य-कारण शृंखला है, जहाँ आत्मा विभिन्न योनियों में कर्मफल के अनुसार भ्रमण करता है, और केवल ज्ञान एवं विवेक से उससे मुक्त हो सकता है। सांख्य दर्शन के अनुसार यह संसार प्रकृति के विविध विकारों से उत्पन्न हुआ है। प्रकृति ने जिस सृष्टि को जन्म दिया, वह केवल जड़ जगत तक सीमित नहीं है, बल्कि चेतन-प्राणियों की सृष्टि भी इसका भाग है। सांख्य में 14 प्रकार के प्राणियों का उल्लेख मिलता है जिन्हें 14 प्रकार की प्राणी सृष्टि कहा जाता है। यह विवेचना सांख्यकारिका एवं वाचस्पति मिश्र की टीकाओं पर आधारित है।

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं तत्कृते सृष्टिराविवेकात्। ( सां.द.3/47 )

( तत्कृते ) पुरुषकृते-पुरुषार्था या खलु ( आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तं दैवादि-प्रभेदा सृष्टिः ) ब्रह्माणमारभ्य ब्रह्मणः शरीरमारभ्य स्थावरपर्यन्ता दैवादि-प्रभेदयुक्ता दैवमनुष्यतिर्यक्स्था वरभेदयुक्ता सृष्टिरस्ति सा ( आविवेकात् ) विवेकपर्यन्तं प्रवर्तते, यावत् पुरुषस्य विवेको न जायेत तायत् प्रवर्तते। तत्र तत्र योनिषु शरीरधारणाय तथा भोगाय चान्ते विवेकान्मोक्षायापि।

अर्थ:- (तत्कृते) पुरुष के निमित्त-पुरुष के लिये (आब्रह्मस्तम्ब-पर्यन्तम्) ब्रह्मा के शरीर से लेकर स्थावरपर्यन्त (दैवादिप्रभेदा सृष्टिः) दैव-आदि भेदयुक्त दैव, मनुष्य, तिर्यक्, स्थावर भेदयुक्त सृष्टि (आविवेकात्) विवेक हो जाने तक प्रवृत्त होती है। जब तक पुरुष को विवेक न हो जावे तब तक प्रवृत्त होती है, उस-उस योनि में शरीर धारण के लिये तथा भोग और अन्त में मोक्ष के लिये।

व्याख्या-पुरुष के भोग-अपवर्ग सम्पन्न करने के लिए ब्रह्मा से लेकर स्थावर पर्यन्त सृष्टि-सर्ग प्रवृत्ति विवेकज्ञान होने तक रहती है। विवेकज्ञान होते ही सृष्टि रुद्ध हो जाती हो, ऐसा नहीं समझना चाहिए। प्रकृति की प्रवृत्ति कभी नहीं रुकती, किन्तु जिस पुरुष को विवेकज्ञान हो गया उसके लिए प्रकृति का प्रयोजन नहीं रहता। अर्थात् उसकी दृष्टि में प्रकृति की प्रवृत्ति होना, न होना कोई महत्त्व नहीं रखता। इसीलिए विवेक पर्यन्त सृष्टि की प्रवृत्ति कही है, क्योंकि उस समय पुरुष अपनी वृत्तिसरूपता को छोड़कर स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। योग में भी कहा है कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्ट... (योग02/22) सांख्य-कारिका में भी ये चौदह भेद बताए हैं-

अष्टविकल्पो दैवस्तैर्यग्योनश्च पञ्चधा भवति।

मानुषश्चौकविधः समासतोऽयं त्रिधा सर्गः। ( सां.का.53 )

अर्थात् आठ प्रकार की देवों की सृष्टि है, पाँच प्रकार की तिर्यक् योनियों (पशु, पक्षी आदि) की सृष्टि है और एक प्रकार की मनुष्यों की सृष्टि है। वस्तुतः दैव और मानुष के 6 भेद मनुष्य के ही हैं। जैसा कि अन्यश्रुतियों में कहा है-‘सत्यं वै देवा अनृतं मनुष्याः। विद्वा सो हि देवाःश् (शत०1/1/1/1)

ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला। ( सां.द.3/48 )

( ऊर्ध्वं सत्त्वविशाला ) दैवसृष्टिः सत्त्वबहुला भवति।

अर्थ:- (ऊर्ध्वम्) ऊँची सृष्टि अर्थात् दैव सृष्टि (सत्त्वविशाला) सत्त्वगुणप्रधान होती है।

व्याख्या:-सत्त्वगुण प्रधान सृष्टि ऊर्ध्वम् ऊँची उन्नत होती है। जिन योनियों में रजोगुण-तमोगुण न्यून तथा सत्त्वगुण प्रधान रहता है, जिसके कारण पुरुष मन की शुद्धि, इन्द्रियदमन वैदिक कर्मानुष्ठान, तप, स्वाध्याय, निष्कपटतादि धर्म पाए जाते हैं, वे ऊँच उत्तम कहाते हैं। सात्त्विक गुणप्रधान योगभ्रष्ट (अन्तिमस्थिति को अप्राप्त) व्यक्तियों का जन्म ऐसे माता-पिता के घर में होता है, जहाँ उन्हें आत्मज्ञान के लिए अधिकाधिक सुविधा प्राप्त हो। आकाश में कोई ऐसा लोक या स्थान विशेष नहीं है, क्योंकि संसार सारा ही त्रिगुणात्मक है, केवल सत्त्वरूप कहीं नहीं। अतः ऐसे जन समुदाय को ही सूत्र में ऊर्ध्व कहा है। गीता में भी यही बात कही है

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।

एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्॥ ( गीता 6/42 )

तमोविशाला मूलतः॥ ( सां.द.3/49 )

( मूलतः-तमोविशाला ) अधोभूता तिर्यकसृष्टिः स्थावरसृष्टिश्च तमोबहुला भवति।

अर्थः-(मूलतः) अधोभूता-नीच सृष्टि-तिर्यक् तथा स्थावर की सृष्टि (तमोविशाला) तमोगुणप्रधान होती है।

व्याख्या:-तमोगुणप्रधान सृष्टि निम्न श्रेणी योनियों की होती है। जिनमें अज्ञानरूपी अन्धकार छाया रहता है, जहाँ आत्मज्ञान का प्रश्न ही नहीं होता। पेट भरना, सन्तति बढ़ाना (शिशुनोदर-परायणाः) आदि ही लक्ष्य रहता है। जिनमें बहुत से मनुष्य तथा अन्य सब प्राणी और स्थावर आते हैं, वे निम्न योनियाँ हैं।

मध्ये रजोविशाला॥ ( सां.द.3/50 )

( मध्ये रजोविशाला ) उभययोर्मध्ये भवा मनुष्यसृष्टिस्तु रजोबहुला भवति॥

अर्थः-(मध्ये) मध्यमा सृष्टि मनुष्य सृष्टि रजोगुणप्रधान होती है।

व्याख्या:-रजोगुणप्रधान सृष्टि मध्ये मध्यम कोटि की है। समस्त मानव समुदाय प्रायः इसी सृष्टि के अंग हैं। जिनमें हिंसा, असत्य, क्रोध, चञ्चलता आदि धर्म पाए जाते हैं। किन्तु सत्त्वप्रधान तथा तमस् प्रधान मनुष्य क्रमशः ऊर्ध्व और निम्न श्रेणियों में गिने जाते हैं। ये तीनों प्रकार की सृष्टियाँ अपने अपने शुभाऽशुभ कर्मों के आधार पर होती हैं। इनमें निश्चित सीमा रेखा खींचना कठिन है। ये तीनों सृष्टियाँ प्रकृति की त्रिगुणात्मकता की द्योतक हैं। मनु महाराज कहते हैं -

देवत्वं सात्त्विका यान्ति मनुष्यत्वं च राजसाः।

तिर्यक्त्वं तामसा नित्यमित्येषा त्रिविधा गतिः॥ मनु. 12/40॥

जो मनुष्य सात्त्विक हैं, वे देव अर्थात् विद्वान् जो रजोगुणी होते हैं वे मध्यम और जो तमोगुण युक्त होते हैं वे नीचगति को प्राप्त होते हैं। इन ४७-५० सूत्रों के विषय को सांख्य-कारिका में संक्षेप से कहा है

धर्मेण गमनमूर्ध्वं गमनमधस्ताद् भवत्यधर्मेण॥ ( सां.का.४४-१ )

ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालश्च मूलतः सर्गः।

मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तम्॥ ( सां.का.54 )

तीनों लोक त्रिगुणात्मक हैं (किन्तु उनमें गुणों के न्यूनाधिक्य से विभिन्नता हो जाती है। (इसलिए किस लोक में कौन गुण अधिक है यह कहते हैं - ऊर्ध्वम् पूर्वोक्त आठों देवस्थानों में (ब्राह्म आदि योनियों में) सत्त्वविशालः सत्त्व गुण का विस्तार अधिक है अर्थात् उनमें सत्त्वगुण अधिक मात्रा में रहता है। यद्यपि उनमें भी रज तम रहते हैं। किन्तु न्यूनमात्रा में। तमो० पशु से लेकर स्थावर पर्यन्त (५ योनियों) में सारी सृष्टि तमोगुण से व्याप्त है (अर्थात् पशु, मृग पक्षी, सरीसृप और स्थावर योनियों में तमोगुण अधिक मात्रा में रहता है।) यद्यपि उनमें भी सत्त्व और रज रहते हैं किन्तु न्यून मात्रा में। मध्ये० मानुष लोक में रजो गुण का विस्तार अधिक होता है। यद्यपि उनमें भी सत्त्व और तम होते हैं किन्तु न्यूनमात्रा में। इसीलिये मनुष्य प्रायः दुखी रहते हैं। (क्योंकि रजोगुण परिणाम दुःख है)। इस प्रकार ब्रह्मादि० ब्रह्मा से लेकर तृण पर्यन्त अर्थात् दैव से लेकर स्थावर योनि पर्यन्त (सृष्टि का दर्शन हुआ)। इस प्रकार लिङ्गसर्ग (तन्मात्रमर्ग) और मावसर्ग अमौक्तिक तथा देव, तिर्यक एवं मानुष सर्ग भौतिक सर्ग कहलाते हैं। यही प्रकृति द्वारा उत्पन्न सोलह ५ तन्मात्र + ८ भाव + ३ योनि = १६, प्रकार की सृष्टि हैं

धर्म से ऊर्ध्वगमन अर्थात् सुखविशेष, और अधर्म से अधःपतन अर्थात् दुःखविशेष होता है। देवलोक अर्थात् विद्वद्गर्ग सत्त्व-प्रधान होता है, निम्नसर्ग अर्थात् तिर्यक योनियाँ तमोगुणप्रधान होती हैं और सामान्य मनुष्यलोक रजोगुणप्रधान होता है। ब्रह्मादि ऋषियों से लेकर स्तम्ब (लतागुल्मादि) पर्यन्त सभी लोक तीन गुणों से व्याप्त हैं।

5 अंक के प्रश्नः-

1. प्राणि सृष्टि का अर्थ क्या है?
2. चौदह प्रकार की सृष्टि का संक्षिप्त परिचय दीजिए।
3. स्थावर और जंगम में अंतर बताइए।
4. जीव सृष्टि के मुख्य प्रकार कौन-कौन से हैं?
5. सांख्य दर्शन में सृष्टि का आधार क्या है?

### 15 अंक के प्रश्न:-

1. चौदह प्रकार की प्राणि सृष्टि का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. सांख्य दर्शन में जीवों के वर्गीकरण की विवेचना कीजिए।
3. सृष्टि की उत्पत्ति और विकास पर निबंध लिखिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. सांख्य दर्शन में सृष्टि का मूल कारण हैरू  
(क) पुरुष

#### (ख) प्रकृति

- (ग) आत्मा
- (घ) मन

2. जंगम सृष्टि का संबंध किससे है?

#### (क) चलने वाले जीव

- (ख) वृक्ष
- (ग) पर्वत
- (घ) जल

3. स्थावर का अर्थ हैरू

- (क) गतिशील

#### (ख) स्थिर

- (ग) चेतन
- (घ) मानव

### महत्वपूर्ण बिंदु:-

- प्रकृति से सृष्टि की उत्पत्ति होती है।
- जीवों का वर्गीकरण विभिन्न आधारों पर किया गया है।
- स्थावर और जंगम दो प्रमुख वर्ग हैं।

### शब्दावली:-

- स्थावर स्थिर जीव
- जंगम चलने वाले जीव
- सृष्टि जगत की उत्पत्ति



## इकाई-2.2 सांख्य और ईश्वरवाद

### उद्देश्य-

1. सांख्य दर्शन और ईश्वरवाद को समझना।
2. ईश्वर के प्रति सांख्य ख्रष्टिकोण का अध्ययन करना।
3. ईश्वरवाद और निरीश्वरवाद में अंतर जानना।

सांख्य ने पुरुष की संनिधि को विषम परिणाम में निमित्त कारण माना है, पुरुष-विशेष का वर्णन नहीं किया, किंतु सामान्यतो दृष्ट प्रमाण से उसकी सिद्धि होती है, क्योंकि जिस प्रकार व्यष्टि रूप से पुरुष की संनिधि गुणों के व्यष्टि गुणों के अव्यक्त साम्य परिणाम तथा समष्टि व्यक्त गुणों के विषम परिणाम में निमित्त कारण है।

कई साम्प्रदायिक पक्ष पत्तियों ने कपिल मुनि पर नास्तिकता और उनके दर्शन पर अनीश्वरवाद का दोषारोपण किया है। इसके कई कारण हो सकते हैं-

(1) सांख्य ने प्रधान (मूल प्रकृति) को जगत् का स्वतंत्र कारण माना है, ईश्वर का वर्णन नहीं किया है। वास्तव में मूल प्रकृति को सांख्य में जगत् का उपादान कारण माना है, उसको उसके उपादान कार्यों की अपेक्षा से स्वतन्त्र बतलाया है, क्योंकि वह गुणों की साम्यावस्था है, जो पुरुष के लिये निष्प्रयोजन है। इस साम्य परिणाम तथा विषम परिणाम में निमित्त कारण ईश्वर ही है, जिसकी संनिधि से परिणाम हो रहा है।

(2) सांख्य ने ईश्वर को 25 तत्त्वों में अलग वर्णन नहीं किया है। इसके सम्बन्ध में ऊपर बतला आये हैं कि पुरुष में पुरुष-विशेष ईश्वर को सम्मिलित कर दिया गया है। केवल वेदान्त ने ब्रह्म को हान और ब्रह्मज्ञान को हानोपाय अर्थात् साध्य और साधन दोनों माना है इसलिये उनमें ब्रह्म का ही विशेषरूप से विस्तार पूर्वक वर्णन है, अन्य चारों दर्शन-न्याय, वैशेषिक, सांख्य और योग ने परमात्मा तत्त्व को केवल हान अर्थात् साधन जड़ और चेतन तत्त्व का विवेकपूर्ण ज्ञान बतलाया है, इसलिये इन्हें उसको विशेष रूप से अलग वर्णन करने की आवश्यकता नहीं प्रतीत हुई, क्योंकि जानना तो केवल अपने से भिन्न वस्तु का होता है, जो दृश्य कहलाता है और वह त्रिगुणात्मक जड़-तत्त्व है। जिसके वास्तविक स्वरूप को विवेक पूर्ण जानकर आत्मा से भिन्न करने के लिये दर्शनकारों ने अपने-अपने माप और वर्णन शैली के अनुसार अवान्तर भेदों में विभक्त करके दिखलाया है। अपने शुद्ध परमात्मरूप का जानना नहीं होता, उसमें तो स्वरूप व स्थिति होती है।

“येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्”

जिससे यह सब जाना जाता है उसको किससे जाने? तथा विज्ञातारतमरे केन विजानीयात्। सबके जानने वाले विज्ञाता को किससे जाना जा सकता है अर्थात् किसी से भी नहीं जा सकता है।

ईश्वरसिद्धेः।

ईश्वरसिद्धेः का समाधान ( सां० द. 1/92 )

उपयुक्त सूत्रसे सांख्या पर अनीश्वरवादी होनेका दोष लगाया जाता है। यह सूत्र पहले अध्यायके प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसङ्ग में आया है। अब उसे स्पष्ट किये देते हैं।

यत् सम्बद्धं सत् तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्। ( सां० द. 1/89 )

( यत्सम्बन्धसिद्धम् ) यस्य सम्बन्धो यत्सम्बन्धस्तेन सिद्धं यत्सम्बन्धसिद्धम्। यस्य वस्तुनः सम्बन्धेन सिद्धं पुरुषेऽधिगतम् ( तदाकारोल्लेखि विज्ञानम् ) तद्वस्तुस्वरूपोद्भासि विज्ञानं भवति ( तत् प्रत्यक्षम् ) तत् प्रत्यक्षं प्रमाणम्।

अर्थ:-यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखिविज्ञानं तत्प्रत्यक्षम्॥८९॥ (यत्सम्बन्धसिद्धम्) जिसके सम्बन्ध से सिद्ध जिस वस्तु के सम्बन्ध से पुरुष के अन्दर प्राप्त (विज्ञानम्) जो विशिष्ट ज्ञान (तदाकारोल्लेखि) उस वस्तु के स्वरूप को दर्शानेवाला है (तत्प्रत्यक्षम्) वह प्रत्यक्ष प्रमाण है।

व्याख्या:-इस सूत्र में प्रत्यक्षका लक्षण बतलाया है। अर्थात् इन्द्रियोंके संनिकर्षरूप सम्बन्धको प्राप्त हुआ जो उस विषयके आकारका चित्र खींचनेवाला विज्ञान (चित्तकी वृत्ति) है, वह प्रत्यक्ष कहलाता है। इसपर यह शङ्का होती है कि योगियोंको बिना इन्द्रियोंके संनिकर्षके चित्तवृत्तिका वस्तुके तदाकार होकर प्रत्यक्ष ज्ञान होता है; इसलिये उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष आ जाता है। इसका समाधान अगले सूत्रमें करते हैं-(सां० द. 1/90)

योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः॥ ( सां० द. 1/90 )

(योगिनाम्-अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्) योगिनामबाह्यप्रत्यक्षमनिन्द्रियप्रत्यक्षमान्तरिकप्रत्यक्षं भवति तद्व्यनेन गृहीतं स्यात्। संसारिणां बाह्य प्रत्यक्षं बाह्येन्द्रियेण वस्तुसम्बन्धजनितं भवति योगिनां प्रत्यक्षं तु खल्वबाह्यप्रत्यक्षमान्तरिकप्रत्यक्षमन्तःकरणेन वस्तुसम्बन्धसिद्धं भवति। अत्रास्माकं प्रत्यक्षलक्षणे यत्सम्बन्धसिद्धम् इति सम्बन्धसिद्धत्वलक्षणं तूभयेषां संसारिणां योगिनां च प्रत्यक्षे समानमतो न दोषो यतो योगिनामबाह्यप्रत्यक्षमपि गृहीतं स्यादनेन प्रत्यक्षलक्षणेनेति सांख्यानां प्रत्यक्षलक्षणपरिभाषायामित्याशयः। अनिरुद्धवृत्तौ विज्ञानभिक्षुभाष्ये चास्मात् पूर्व प्रत्यक्षलक्षणकं सूत्रं बाह्यप्रत्यक्षलक्षणपरमैन्द्रियिकप्रत्यक्षलक्षणपर व्याख्यातम्, अत एवोक्त ताभ्यां यत्बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकम्, योगिप्रत्यक्षन्तु अबाह्यलौकिकं च” (अनिरुद्धः) ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः (विज्ञानभिक्षुः) इत्थमुभयत्रापि सूत्रमन्यथा हि व्याख्यातम्। पूर्वसूत्रे नेन्द्रियशब्द उपात्तः बाह्येन्द्रियेण वान्तःकरणेन वा सम्बन्धसिद्धं प्रत्यक्षनिति सामान्यलक्षणं यत्सम्बन्धसिद्धम् पदेन सूचितमत एव तत्र सूत्रोक्त प्रत्यक्षलक्षणे न दोषस्तत्र योगिप्रत्यक्षेऽपि तद्व्याप्तेरभीष्टत्वात्।

**अर्थः-** (योगिनाम्-अबाह्यप्रत्यक्षत्वात्-न दोषः) योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष - अनिन्द्रियप्रत्यक्ष होता है, वह भी इस लक्षण में आ जावे, इसलिये इस प्रत्यक्ष लक्षण में दोष नहीं। सांसारिक जनों का बाह्य प्रत्यक्ष है, वह बाह्य इन्द्रियों द्वारा वस्तुसम्बन्ध से उत्पन्न होता है, योगियों का प्रत्यक्ष तो अबाह्यप्रत्यक्ष भीतरी प्रत्यक्ष अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध सूक्ष्म-गुप्त-दूरस्थ वस्तु से भी सम्बन्ध होने से होता है। यहाँ हमारे प्रत्यक्ष-लक्षण में यत्सम्बन्धसिद्धम्- सम्बन्ध से सिद्ध होना लक्षण तो दोनों सांसारिकों और योगियों के प्रत्यक्ष में समान है, अतः दोष नहीं है। इससे योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष भी गृहीत हो जाता है सांख्य के इस लक्षण में। अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षुभाष्य में इससे पूर्व प्रत्यक्ष लक्षणवाले सूत्र का बाह्य प्रत्यक्षलक्षणपरक-ऐन्द्रियिक प्रत्यक्षलक्षणपरक व्याख्यान किया है। अतएव उन्होंने कहा है- बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकं योगिप्रत्यक्षं तु - अबाह्यमलौकिकं च (अनिरुद्धः) अर्थात् बाह्यप्रत्यक्षलक्षण वाला लौकिक प्रत्यक्ष है, यह योगी का प्रत्यक्ष तो अबाह्य और अलौकिक होता है, यह अनिरुद्ध कथन है। और ऐन्द्रियप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः (विज्ञानभिक्षुः) ऐन्द्रियिकप्रत्यक्ष ही लक्ष्य है। योगी तो अबाह्य प्रत्यक्ष वाले होते हैं।

यह विज्ञानभिक्षु का कथन है। इस प्रकार दोनों ने अन्यथा व्याख्यान किया है। पूर्व सूत्र में इन्द्रिय शब्द ग्रहण नहीं किया, किन्तु बाह्य इन्द्रिय द्वारा या अन्तःकरण के द्वारा वस्तुसम्बन्ध से सिद्ध ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह सामान्य लक्षण यत्सम्बन्धसिद्धम् पद से सूचित किया है। अतएव वहाँ पूर्व सूत्र में किए प्रत्यक्षलक्षण में दोष नहीं है, योगी के प्रत्यक्ष में भी उसकी व्याप्ति अभीष्ट होने से। योगियोंका बाह्य प्रत्यक्ष न होनेसे उपर्युक्त लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता; अर्थात् उपर्युक्त लक्षण केवल बाह्य प्रत्यक्ष ज्ञानका है, योगियोंका इस प्रकारका ज्ञान बाह्य प्रत्यक्ष नहीं है, वह आभ्यन्तर प्रत्यक्ष है। इसलिये सूत्र में बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष नहीं आता।

**लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः। (सां० द.1/91)**

(वा) अथवा (लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात्-अदोषः) लीनानां सूक्ष्माणाभतीन्द्रियाणां वस्तूनां लब्धोऽतिशयोऽप्रतिबद्धो निरन्तर आत्म्यीकृतः सम्बन्धो भवति हि योगिनां यथोक्त योगदर्शने परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्यवशीकारः (योग० ११४०) तिहेतोरुक्तपूर्वसूत्रेऽन्तःकरणसम्बन्धप्रत्यक्षलक्षणेऽदोषो न दोषोऽस्ति। सिद्धत्वाद् दोषपरिहारोऽत्र सूत्रे निरन्तरात्मसम्बन्ध सिद्धत्वाद् दोषनिराकरणमिति विशेषः। अनिरुद्धवृत्तौ विज्ञानभिक्षुभाष्ये चात्र प्रत्यक्षलक्षणप्रसङ्गे नितान्तासत्यकल्पना कृता। तत्र योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः १०, इति सूत्रमुभयत्र पूर्वप्रत्यक्षलक्षणाद् भिन्नविषयकं व्याख्यातं यत् पूर्ववैन्द्रियिकस्य बाह्येन्द्रियसाध्यस्य लौकिकस्य प्रत्यक्षस्य लक्षणमुक्तं न योगिनां प्रत्यक्षस्याबाह्यस्य बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकं योगिप्रत्यक्षां व्यबाह्यमलौकिकं च, अतो नाव्यापकत्वदोषः (अनिरुद्धः) ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः, अतो न दोषः (विज्ञानभिक्षुः) पुनश्च लीनवस्तुलब्धातिशयस्य म्यन्धाद्वादोषः (६१) इति सूत्रे योगिनां प्रत्यक्षस्यापि लक्षणं मतं तस्मिन्नेवैकस्मिन् सूत्रे अथवा लक्षणेन योगिप्रत्यक्षस्यापि संग्रह इति पचान्तरमाहलीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (अनिरुद्धः) वास्तवंसमाधेयमाहलीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (विज्ञानभिक्षुः) किं यत् योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (६०) तथा लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (६१) इति सूत्रद्वयं पूर्वोक्तस्य यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् (१०) इति सूत्रस्य व्याख्यानभूतं सांख्यकाराद् भिन्नस्य कस्यचिद् व्याख्याकारस्य वचनं यत् योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (६१) इति सूत्रादसन्तोषं प्राप्य पुनर्वास्तविकसमाधानम् लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (६१) इति वचनं पुरः स्थापयति। किं सूत्रकारस्यावास्तविकेन समाधानेनापि भाव्यं नैव शिष्टाचारः समाचारो वा तत्र साक्षात्कृतमृषीणाम्। पुनश्चयोगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्नदोषः (६) तथा लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (६१) इति सूत्रे तु सांख्य-शास्त्रस्य स्तः, न हि कस्यचिद् व्याख्याकर्तुः। तस्मादनिरुद्धवृत्तौ विज्ञानभिक्षुभाष्ये चौप प्रसङ्गोऽनवबुद्धचान्यथा व्याख्यातः। अतएवाग्रे ईश्वरासिद्धेः” (६२) इति सूत्रव्याख्यानमप्ययुक्तं जातम्। वस्तुतः ईश्वरसाधनायैव योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (६०) तथा लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (६१) इति सूत्राभ्यां योगिनामबाह्यप्रत्यक्षस्याप्यन्तर्भावः पूर्वप्रत्यक्षलक्षणे स्यादिति कृत्या यत्सम्बन्धसिद्धतदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् (८६) सूत्रे यत्सम्बन्धसिद्धम् सामान्यलक्षणपरं पदं रक्षितम्। यत ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षेणेश्वरस्य सिद्धिर्न भवति तत्रेश्वरासिद्धिप्रसक्तिर्न भवेदत एव

योगिप्रत्यक्षेण तत्सिद्धिर्भवेदिति प्रत्यक्षस्य सामान्यं लक्षणं सूत्रे निर्दिष्टं यत्सम्बन्धसिद्धमिति। याश्चर्यं ह्यं तत् ईश्वरासिद्धेः ( ६३ ) सूत्रावतरणे विज्ञानभिक्षुरैन्द्रियिकप्रत्यक्षमेश्वरसिद्धावव्याप्तिदोषं निराकरोतीश्वरनिषेधात् तस्येश्वरस्य सन्निकर्षाजन्यत्वात् इत्युक्त्वा परन्तु सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः ( १०६ ) सूने योगजधर्मस्य चोत्तेजकतया प्रकृतिपुरुषादीनां प्रत्यक्षप्रमा भवति ( विज्ञानभिक्षुः ) यद्य वं तदीश्वरविषये प्रत्यक्षस्याव्याप्तिपरिहारो व्यर्था यतस्तस्यापि योगजधर्मेण प्रत्यक्षता सम्भवति।

अर्थः- ( वा ) अथवा ( लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धात्-अदोषः ) लीन अर्थात् सूक्ष्मों, अतीन्द्रिय वस्तुओं का प्राप्त अत्यधिक, बिना रुकावट, निरन्तर आत्म्य सम्बन्ध योगियों का होने से अदोष है। जैसे योगदर्शन में कहा है- ‘परमाणुपरममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकारः’ (योग० १।४०) = परमाणु और परममहत् पर्यन्त योगी के इस चित्त का वशीकार होता है। अतः उस प्रत्यक्षलक्षण में दोष नहीं। पूर्वसूत्र में अन्तःकरण द्वारा वस्तुसम्बन्ध होने से दोष का परिहार किया। इस सूत्र में निरन्तर आत्मसम्बन्ध सिद्ध होने से निराकरण किया है, यह विशेष है।

अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु भाष्य में यहाँ प्रत्यक्षलक्षणप्रसङ्ग में नितान्त असत्य कल्पना की है। वहाँ योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (९०), इस सूत्र का दोनों में पूर्व प्रत्यक्षलक्षण से भिन्नविषयक व्याख्यान किया कि पूर्व तो ऐन्द्रियिक बाह्य इन्द्रिय से साध्य लौकिक प्रत्यक्ष का लक्षण कहा, योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष का नहीं-‘बाह्यप्रत्यक्षलक्षणमिदं लौकिकं योगिप्रत्यक्षं त्वबाह्यमलौकिकं च अतो नाव्यापकत्वदोषः (अनिरुद्ध) -बाह्य प्रत्यक्षलक्षण है यह लौकिक है, किन्तु योगियों का प्रत्यक्ष तो अबाह्य और अलौकिक है, अतः अव्यापकत्व दोष नहीं है। ऐन्द्रियिकप्रत्यक्षमेवात्र लक्ष्यं योगिनश्चाबाह्यप्रत्यक्षकाः, अतो न दोषः (विज्ञानभिक्षु)-ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष यहाँ लक्ष्य है। योगी अबाह्यप्रत्यक्षवाले होते हैं, अतः दोष नहीं। और फिर लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (९१) इस सूत्रप्रसङ्ग में योगियों के प्रत्यक्ष का लक्षण भी उसी योगियोंको लीन वस्तुओं (सूक्ष्म, व्यवहित, विप्रकृष्ट) में अतिशय सम्बन्ध होनेसे अव्याप्ति दोष नहीं आता। दूसरी शंका इस प्रकार उत्पन्न होती है कि योगियोंको ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है इसलिये सूत्रमें बतलाये हुए लक्षणमें अव्याप्ति दोष आता है। इसका उत्तर सूत्रकार निम्न सूत्रमें देते हैं-एक पूर्व सूत्र (८९) से मान लिया अथवा लक्षणेन योगिप्रत्यक्षस्यापि संग्रह इति पक्षान्तरमाह - लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (अनिरुद्ध) अथवा इस लक्षण से योगियों के प्रत्यक्ष का भी संग्रह है यह पक्षान्तर से कहता है- लीनवस्तु..... सूत्र द्वारा दोष नहीं है। तथा वास्तवं समाधानमाहलीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (विज्ञानभिक्षु)-वास्तविक समाधान कहता है लीनवस्तु.....सूत्र में। अस्तु ! क्या यह जो योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (९०) तथा लीनवस्तु-लब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः (९१) ये दोनों सूत्र पूर्व कहे हुए यत्सम्बन्धसिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् (८९) इस सूत्र के व्याख्यान रूप हैं, सांख्यकर्ता से भिन्न किसी व्याख्याकर्ता के हैं कि जो योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (९१) सूत्र से असन्तोष को प्राप्त हो फिर वास्तविक समाधान लीनवस्तुलब्ध..... (९०) इस वचन को सामने उपस्थित करता है? क्या सूत्रकार की ओर से अवास्तविक समाधान होना चाहिए ? यह शिष्टाचार या सम्यगाचार साक्षात्कर्ता ऋषियों का नहीं होता। और फिर योगिनाम०(९०) लीनवस्तु०(९१) सूत्र तो सांख्यशास्त्र के हैं न कि किसी व्याख्याकार के वचन। अतः अनिरुद्धवृत्ति और विज्ञानभिक्षु के भाष्य में यह प्रसङ्ग न समझकर अन्यथा व्याख्यात किया गया है। इसी कारण आगे ईश्वरासिद्धेः (९२) इस सूत्र का व्याख्यान भी अयुक्त हुआ। वस्तुतः ईश्वर-साधन के लिये ही योगिनामबाह्यप्रत्यक्षत्वान्न दोषः (९०) तथा लीनवस्तुलब्धातिशयसम्बन्धाद्वादोषः(९१) इन सूत्रों से योगियों के अबाह्य प्रत्यक्ष-भीतरी प्रत्यक्ष का भी अन्तर्भाव पूर्व प्रत्यक्षलक्षण में है, यह दर्शाया गया। इसी कारण यत्सम्बन्ध सिद्धं तदाकारोल्लेखि विज्ञानं तत्प्रत्यक्षम् (८९) सूत्र में यत्सम्बन्धसिद्धम् सामान्यलक्षणपरक पद रखा। क्योंकि ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष से ईश्वर की सिद्धि नहीं होती वहाँ ईश्वरासिद्धि प्रसङ्ग न हो अतएव योगिप्रत्यक्ष से उसकी सिद्धि हो सके, इसलिये प्रत्यक्ष का सामान्य लक्षण सूत्र में निर्दिष्ट किया है। यत्सम्बन्धसिद्धम् आत्मा का किसी उपकरण द्वारा या बिना उपकरण, जिस वस्तु के साथ सम्बन्ध से प्राप्त उसके स्वरूप का प्रकाशक ज्ञान प्रत्यक्ष है। यह आश्चर्य है ईश्वरासिद्धेः (९२) सूत्र के अवतरण में विज्ञानभिक्षु ईश्वरसिद्धि में ऐन्द्रियिक प्रत्यक्ष के अव्याप्तिदोष का निराकरण करते हैं, ईश्वर का निषेध करके कि उस ईश्वर के सन्निकर्षाजन्यत्वात् सन्निकर्ष से अजन्य होने से परन्तु सौक्ष्म्यादनुपलब्धिः (१०९) सूत्र में योगजधर्मस्य चोत्तेजकतया प्रकृतिपुरुषादीनां प्रत्यक्षप्रमा भवति (विज्ञानभिक्षुः) योगजधर्म की उत्कृष्टता से प्रकृति-पुरुष आदि की प्रत्यक्षप्रमा होती है। यदि ऐसा है तो ईश्वरविषय में प्रत्यक्ष का अव्याप्ति परिहार व्यर्थ हुआ, क्योंकि उसकी भी योगजधर्म से प्रत्यक्ष प्रमा हो सकती है सन्निकर्षाजन्यत्वात् कथन का मूल्य न रहा मे

ईश्वरासिद्धेः। ( सां०द. १/९२ )

( ईश्वरासिद्धेः ) ईश्वरस्यासिद्धिदोषप्रसङ्गा-ईश्वरस्य सिद्धिर्वाह्यप्रत्यक्षेणैन्द्रियिकप्रत्यक्षेण न भवति, नहि बाह्यप्रत्यक्षस्य विषय ईश्वरः, श्रुतिश्च वदति हीश्वरस्य प्रत्यक्षत्वम् त्वमेव प्रत्यक्ष ब्रह्मासि व्यामेय प्रत्यक्ष ब्रह्म वदिष्यामि ( तै० उ० १।१।१ ) एवं योगिनामबाह्यप्रत्यक्षमपेक्ष्यतेऽत एव सांख्ये प्रत्यक्षलक्षणं सामान्यं यद्योगिनां प्रत्यक्षेऽपि घटते, योगिनामबाह्यप्रत्यक्षेण भविष्यति हीश्वरसिद्धिः

**अर्थ:-**(ईश्वरसिद्धेः) ईश्वर के असिद्धिदोष प्रसङ्ग से। ईश्वर की सिद्धि बाहिरी प्रत्यक्ष इन्द्रियप्रत्यक्ष से नहीं होती। बाह्यप्रत्यक्ष का विषय ईश्वर नहीं है और श्रुति ईश्वर को प्रत्यक्ष कहती है- यो विद्यात् प्रत्यक्षं ब्रह्म (अथर्ववेद) जो प्रत्यक्ष ब्रह्म को जानता है, त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि त्वामेव प्रत्यक्षं ब्रह्म वदिष्यामि (तै० उ० १।१।१) तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है तुझे ही प्रत्यक्ष ब्रह्म कहूँगा। इस प्रकार योगियों का भीतरी प्रत्यक्ष आवश्यक है। अतएव सांख्य में प्रत्यक्ष लक्षण सामान्य किया है जो योगियों के प्रत्यक्ष में भी घटता है, योगियों के भीतरी प्रत्यक्ष से ईश्वरसिद्धि हो जावेगी।

**व्याख्या:-**ईश्वरकी असिद्धिसे अव्याप्ति दोष नहीं आता है। यह सूत्र ईश्वरके अस्तित्वके अभावको नहीं बतलाना है, किंतु इससे ईश्वरके शुद्ध स्वरूपका प्रत्यक्ष अन्तःकरणद्वारा नहीं होता अर्थात् चित्तवृत्ति ईश्वरके शुद्ध स्वरूपके तदाकार होकर उसका ज्ञान नहीं प्राप्त करा सकती है। इसलिये इस सूत्रसे ईश्वरके अस्तित्वकी असिद्धि नहीं बतलायी गयी है, किंतु जिस प्रकार पदार्थोंका साधारण मनुष्योंको बाह्य प्रत्यक्षसे और योगियोंको सूक्ष्म पदार्थोंका आभ्यन्तर प्रत्यक्ष से ज्ञान होता है, इस प्रकार ईश्वरका प्रत्यक्ष द्वारा ज्ञान नहीं होता।सांख्यने ईश्वरको ऐसा स्वेच्छाचारी सम्राट् नहीं माना है, जो अपने मनोरंजनके लिये सृष्टिकी रचना करता है और स्वार्थ सिद्धि के लिये सर्वहितकारी नियमोंका भो उल्लङ्घन कर सकता है; किंतु सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् और ज्ञानस्वरूप माना है, जिसकी ज्ञान-शक्ति से जड-प्रकृति में सारे पुरुष कि कल्याणार्थ उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयकी ज्ञान, नियम और व्यवस्थापूर्वक क्रिया हो रही है। इसी बातको गीताके पाँचवें अध्यायमें निम्नलिखित श्लोकोंमें दर्शाया है-

**न कर्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।**

**न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्तते॥14॥**

**नादत्ते कस्यचित्पापं न चौव सुकृतं विभुः।**

**अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः॥15॥**

**ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।**

**तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्॥16॥**

ईश्वर भूत-प्राणियोंके न कर्तापनको और न कर्मों तथा कर्मोंके फलके संयोगको (वास्तवमे) है, किंतु परमात्माके सान्निध्य से प्रकृति ही बर्तती है। अर्थात् गुण ही गुणों में बरत रहे हैं॥14॥

सर्वव्यापी ईश्वर न किसीके पापको और न किसीके शुभ कर्मको भी अहण करता है अविद्यासे ज्ञान (विवेक-ज्ञान) ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहे हैं॥15॥

परंतु जिनका अन्तःकरणका अज्ञान विवेकज्ञानद्वारा नाश हो गया है, उनका वह ज्ञान उस परब्रह्म परमात्माके स्वरूपको हृदयमें प्रकाशित करता है अर्थात् साक्षात् कराता है॥16॥

**ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा। ( सां०द. 1/93 )**

उपर्युक्त सूत्रसे ईश्वरकी सिद्धि स्पष्ट शब्दोंमें बतलायी गयी है।विज्ञानभिक्षुने यहाँ अपने सांख्य-प्रवचनभाष्यमें ईश्वरको प्रकृतिलयका वाचक बतालाया इसलिये पाठकोंके स्वतन्त्रतापूर्वक विचार करनेके लिये प्रकृतिलय के प्रसङ्गके साथ इस सूत्रको बताये है( सां० द० 11 )

**न कारणलयात् कृतकृत्यता मग्नवदुत्थानात्। ( सां द०3/54 )**

(कारणलयात् कृतकृत्यता न) कारणलयात् खलु न कृतकृत्यता पुनरावृत्तेरभावः (मग्नवत्-उत्थानात्) जलाशये मग्नस्यान्तर्गतस्य यथा पुनरुत्थानं भवति तथैव प्रकृतौ लीनस्याप्युत्थानेन भवितव्यम्।

**अर्थ:-**

(कारणलयात्- कृतकृत्यता न) कारणलय से कृतकृत्यता नहीं होती, पुनरावृत्ति का अभाव नहीं होता (मग्नवत् - उत्थानात्) जलाशय में मग्न हुए अन्दर डुबकी लगाए हुए का पुनरुत्थान होता है-फिर आना होता है, अतः प्रकृति में लीन होने से कृतकृत्यता नहीं, क्योंकि प्रकृतिलीन का भी पुनर्जन्मार्थ बाहिर आना होता है।

**व्याख्या:-**कारणमें लीन होनेसे पुरुषको कृतकृत्यता नहीं हो सकती, क्योंकि डुबकी लगाने वाले के समाने ऊपर उठना होता है। इस विषयमें योगदर्शन 1/19 की व्याख्या देखिये। अर्थात् प्रकृतिलय होना भी मुक्ति नहीं है, क्योंकि जिस प्रकार डुबकी लगाने वाले को श्वास लेनेके किये ऊपर उठना होता है, इसी प्रकार प्रकृतिलयों को भी एक नियत समयके पश्चात् विवेकज्ञान द्वारा स्वरूपावस्थिति को प्राप्त करनेके लिये प्रकृति लीनता से निकलकर फिर जन्म लेना होता है।

**अकार्यत्वेऽपि तद्योगः पारवश्यात्। ( सां द० 3/55 )**



( अकार्यत्वे-अपि तद्योगः ) प्रकृतेरकार्यत्वेऽपि, प्रकृतिर्नहि कार्य किन्तु कारणमस्ति तथापि तस्या अकार्यत्वेऽपि कार्यत्वयोगः कार्ये महदादि-भूतभौतिकान्ते परिणमनं परिणामस्वभावोऽस्ति ( पारवश्यात् ) परव-शवर्तित्वात् पुनः कार्यरूपे परिणता भविष्यति हि, यः खलु परस्तां कार्यं परिणमयिष्यति तस्मात् कारणस्य कार्यरूपपरिणामधर्मवत्त्वयात् कार्यरूपे पुनः पुनः प्रवर्तनात् पुनरुत्थानं भवत्येव न कारणलये कृतकृत्यता।

**अर्थः-**(अकार्यत्वे- अपि) प्रकृति अकार्य होने पर भी (तद्योगः) उसका कार्यत्वयोग कार्यरूप में महत्तत्त्वादि भूत-भौतिक पर्यन्तकार्यरूप में परिणत हो जाना योग अनिवार्य अवसर है ही (पारवश्यात्) परवशता से परवशवर्ती होने से पुनः कार्यरूप में परिणत होगी ही। जो शपरश् है वह उसे कार्यरूप में परिणत कर देता है। अतः कारण के कार्यरूपपरिणाम धर्मवाला होने से, कार्यरूप में पुनः प्रवर्तन से पुनरुत्थान होता ही है, कारणलय में कृतकृत्यता नहीं।

**व्याख्याः-** यद्यपि प्रकृति कार्य नहीं है, तो भी परतन्त्रतासे उसका योग होता है। अर्थात् यद्यपि प्रकृति कार्य पदार्थ नहीं है, कारण है, फिर भी सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् ईश्वर के नियमों के अधीन पुरुषके अपवर्ग (स्वरूपास्थिति) करानेके लिये प्रवृत्त हो रही है। प्रकृतिलय पुरुष स्वरूपावस्थितिको प्राप्त किये हुए नहीं होते हैं। इसलिये प्रकृति ईश्वरीय नियमों से परतन्त्र हुई, उनको अपवर्ग दिलाने के लिये प्रकृतिलीनतासे निकालकर ऊँचे योगियोंके कुलमें जन्म दिलाती है।

**स हि सर्ववित् सर्वकर्ता। ( सां द० 3/56 )**

(सः हि) स पर एव यः प्रकृति कार्ये परिणमयति खल्वस्ति (सर्ववित् सर्वकर्ता) सर्वज्ञः सर्वकर्ता च पुरुषविशेष।

**अर्थः-** (सः- हि) वह पर जो प्रकृति को कार्यरूप में परिणत करता है निश्चय ही (सर्ववित् सर्वकर्ता) सर्वज्ञ और सर्वकर्ता पुरुषविशेष है।

**व्याख्याः-**वही सर्वज्ञ और सबका कर्ता है। अर्थात् वह चेतन-तत्त्व ईश्वर, प्रकृति जिसके अधीन ज्ञान, व्यवस्था और नियमपूर्वक पुरुषके अपवर्गके लिये प्रवृत्त हो रही है, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है।

**ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा॥ ( सां द० 3/57 )**

( ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा ) ईदृशस्य सर्वज्ञस्य सर्वकर्तु रीश्वरस्य सिद्धिः सत्ता सिद्धा नित्याऽवाध्याऽनिवार्या न निवार्या, यत्सिद्धये योगिनामबाह्यप्रत्यक्षं प्रथमाध्यायेऽस्माभिः सांख्यैः प्रदर्शितं तथाभूतेन योगिनामबाह्यप्रत्यक्षेण श्रुत्या च सिद्धिः सिद्धा नित्याऽनिवार्याऽस्ति त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि ( तै० उ० १११ ) स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञमतिगुणेशः संसारमोक्षस्थितिबन्धहेतुः। ( श्वेता० ६।१६ )

**अर्थः-**(ईदृशेश्वरसिद्धिः सिद्धा) ऐसे सर्वज्ञ, सर्वकर्ता ईश्वर की सिद्धि-सत्ता नित्य है, अनिवार्य है, जिस की सिद्धि के लिये योगियों का अबाह्य प्रत्यक्ष प्रथम अध्याय में हम सांख्यों ने प्रदर्शित किया है। योगियों के उस भीतरी प्रत्यक्ष से और श्रुति से ईश्वर की सिद्धि नित्य है, अनिवार्य है-त्वमेव प्रत्यक्षं ब्रह्मासि (तै० उ० १।१) तू ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। यो विद्यात्प्रत्यक्षं ब्रह्म (अथर्व) जो ब्रह्म को प्रत्यक्ष जाने। स विश्वकृद् विश्वविदात्मयोनिर्ज्ञः कालकालो गुणी सर्वविद्यः। प्रधानक्षेत्रज्ञमतिगुणेशः संसारस्थितिमोक्षहेतुः (श्वेता० ६।१६)- वह सर्वकर्ता, सर्वज्ञ, आत्माधार, चेतन, काल, का काल अनन्तगुणशक्तिवाला, प्रकृति-जीवात्मा का स्वामी, गुणों का स्वामी, सृष्टिस्थितिप्रलय का हेतु है।

**व्याख्याः-**इस प्रकारकी ईश्वर की सिद्धि सिद्ध है अर्थात् प्रथम अध्यायके बानवे सूत्रमें ईश्वरके बद्ध तथा मुक्त दोनों प्रकारका न होनेसे असिद्धि बतायी थी; पर इस प्रकार सर्वसृष्टिका नियन्ता, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् ईश्वरकी सिद्धि सिद्ध है।

**5 अंक के प्रश्नः-**

1. ईश्वरवाद क्या है?
2. सांख्य दर्शन ईश्वर को कैसे देखता है?
3. निरीश्वरवाद का अर्थ बताइए।
4. पुरुष खजीव, और ईश्वर में अंतर बताइए।
5. सांख्य दर्शन में प्रकृति की भूमिका क्या है?

**15 अंक के प्रश्नः-**

1. सांख्य दर्शन और ईश्वरवाद का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
2. भारतीय दर्शन में ईश्वर की अवधारणा पर निबंध लिखिए।
1. सांख्य दर्शन को माना जाता हैरू

(क) ईश्वरवादी

(ख) निरीश्वरवादी

(ग) भौतिकवादी

(घ) अद्वैतवादी

2. सांख्य दर्शन में जगत का कारण हैरू

(क) ईश्वर

(ख) प्रकृति

(ग) आत्मा

(घ) मन

3. ईश्वरवाद का संबंध किससे है?

(क) ईश्वर

(ख) शरीर

(ग) इंद्रिय

(घ) कर्म

**महत्वपूर्ण बिंदु**

- सांख्य दर्शन प्रकृति को प्रधान मानता है।
- पुरुष चेतन तत्त्व है।

**शब्दावली**

- ईश्वरवाद ख ईश्वर को मानने वाला सिद्धांत
- निरीश्वरवाद ख ईश्वर को न मानने वाला सिद्धांत
- पुरुष-चेतन तत्त्व

## इकाई-2.3 बन्ध और मोक्ष निरूपण

### उद्देश्य-

1. बंध और मोक्ष की अवधारणा को समझना।
2. मोक्ष प्राप्ति के साधनों का अध्ययन करना।
3. आत्मज्ञान के महत्व को जानना।

सांख्य दर्शन भारतीय दर्शनों में एक प्रमुख ज्ञानप्रधान एवं द्वैतवादी दर्शन है। इसमें प्रकृति और पुरुष दो शाश्वत एवं स्वतंत्र तत्त्व माने गए हैं। सांख्य दर्शन का मुख्य उद्देश्य है- बंध से मुक्ति (मोक्ष) की प्राप्ति। यह दर्शन मानता है कि बंध अविवेकजन्य है, और मुक्ति विवेकजन्य।

**बंधन:-** जब पुरुष (आत्मा) अज्ञानवश प्रकृति के विकारों को अपना मान लेता है और उनमें कर्तापन तथा भोक्तापन का अनुभव करता है, तो वह बंधन कहलाता है।

**मुक्ति:-** जब पुरुष को यह निश्चित विवेक हो जाए कि वह न कर्ता है, न भोक्ता, और वह प्रकृति से सर्वथा भिन्न है - तब वह प्रकृति के समस्त विकारों से मुक्त हो जाता है। यही मुक्ति या कैवल्य है।

**ज्ञानान्मुक्तिः॥ ( सां द० 3/23 )॥**

**( ज्ञानात्-मुक्तिः )** ज्ञानात् खलु सर्वप्रक्रमज्ञानाद् विवेकसाक्षात्काराद् भवति मुक्तिः पुरुषस्य चेतनस्य।

**अर्थ:- ( ज्ञानात्-मुक्तिः )** ज्ञान से-विवेक-साक्षात्कार से पुरुष की मुक्ति होगी।

**व्याख्या:-**चेतन-अचेतन के भेद के साक्षात्कार से मोक्ष-अपवर्ग होता है। आत्म-साक्षात्कार हो जाने पर मुक्ति हो जाती है। प्रायः व्यक्ति की प्राकृतिक पदार्थों में आसक्ति बनी रहती है, किन्तु जब सत्संगादि से प्रभावित होने पर आत्मा को जानने की इच्छा तीव्र हो जाती है तब अन्तर्मुख होकर समाधि के लिए प्रयत्नशील होता है। निरन्तर दृढप्रयत्न से समाधिलाभ होने पर जब अपने रूप का साक्षात्कार कर लेता है, तब देखता है कि मैं चेतन, शुद्ध, अपरिणामी तथा प्रकृति से सर्वथा भिन्न हूँ। उस समय प्राकृतिक पदार्थों का आकर्षण समाप्त हो जाता है। फिर उसके लिए कुछ पाना शेष नहीं रहता। यही आत्मा की मुक्ति है। 'न ह्यरक्तस्य जन्मो दृष्टः' - (न्या.भा.)।

आत्मदर्शन यानी आत्मसाक्षात्कार (ज्ञान) से अपवर्ग (मोक्ष) की प्राप्ति होती है, इस संसार में प्रकृतितत्त्व से उत्पन्न हुए लिङ्गशरीर से आविष्ट हुआ आत्मा रहता है। अतएव वह सांसारिकविषयों में बराबर आसक्त रहता है। परन्तु जब असंख्य जन्मों के असंख्य संस्कारों में से कोई शुभ संस्कार उदित हो जाता है, तब सांसारिक विषयों की ओर से वह हट जाता है, यानी उनमें उसका मन अनासक्त हो जाता है। अर्थात् उसकी अन्तर्दृष्टि हो जाती है, और वह अपने आत्मा का वास्तविक स्वरूप जानने का प्रयत्न करने लगता है, जिससे योगाभ्यास आदि साधनों का निरन्तर दृढता पूर्वक श्रद्धा के साथ प्रयत्न करते-करते आत्मा के वास्तविक स्वरूप का अनुभव होने लगता है। उसे यह अनुभव होने लगता है कि आत्मा चेतन है और प्रकृति तथा उसके कार्यभूत अन्य तत्त्व सभी अचेतन (जड़) हैं। इस जड़ प्रकृति से यह चेतन आत्मा सर्वथा भिन्न है। इसी प्रतीति को विवेकज्ञान कहते हैं। ऐसा विवेकज्ञान होनेपर लिङ्ग ( करणों) का समस्त व्यापार उस व्यक्ति के प्रति समाप्त हो जाता है। यही उसका अपवर्ग रूप मोक्ष कहलाता है।

**बन्धो विपर्ययात्॥ ( सां द० 3/24 )**

**( विपर्ययात्-बन्धः )** तद्विपरीतादज्ञानात् प्रक्रमस्याविवेकाद् भवति पुरुषस्य चेतनस्य देहे बन्धः।

**अर्थ:- (विपर्ययात्-बन्धः)** उसके विपरीत अर्थात् अज्ञान से अविवेक से बन्धन देह में होता है॥

**व्याख्या:-**विपर्यय-ज्ञान के विपरीत आत्मज्ञान न होने से (अज्ञान अविवेक से) बन्ध होता है। अर्थात् चेतन-अचेतन का अभेदरूप अविवेक बन्धन का कारण है और शरीर सम्बन्ध तथा त्रिविध दुःख का हेतु है। इसी परिस्थिति में व्यक्ति अभ्युदय लौकिक सुख के लिए सामाजिक नियमों में बंध जाता है। अर्थात् देहान्तरों में घूमता है। सूत्र 23, 24 के आशय को ही अगली सांख्य-कारिका के उत्तरार्ध से बताया है -

**ज्ञानेन चापवर्गो विपर्ययादिष्यते बन्धः॥ ( सां.का.44/2 )**

अर्थात् ज्ञान (निमित्त) से अपवर्ग (नैमित्तिक) अर्थात् मोक्ष होता है। और अज्ञान (निमित्त) से बन्ध निमित्तिक अर्थात् जन्म-मरण-चक्र होता है।

विपर्यय से यानी आत्मज्ञान न होने की स्थिति में सुख-दुःखरूप बन्धसंज्ञक भोगात्मक पुरुषार्थ, लिङ्ग के संसरण से होता रहता है। अर्थात् बुद्धि आदि करणों (लिङ्ग-शरीर) से आत्मा आवेष्टित रहता है, और उसका (लिङ्गरूप करणों का) संसरण (आवागमन)



होता रहता है, जिससे यह बन्धनावस्था बराबर बनी रहती है। किन्तु किसी जन्म के शुभ-संस्कार के कारण सद्गुरु के उपदेश से बाह्यप्रवृत्तियाँ, अन्तर्मुख हो जाती हैं, तब विवेकज्ञान होकर मुक्ति का लाभ होता है, अधया नहीं।

**रूपैः सप्तभिरात्मानं बध्नाति प्रधानं कोशकारवद् विमोचयत्येकेनरूपेण॥ ( सां द० 3/73 )**

(प्रधानं सप्तभिः-रूपैः- आत्मानं बध्नाति) महत्तत्त्वाहङ्कारपञ्चतन्मात्रैः सप्तभिरवस्थान्तरभूतैर्विकृतिरूपैर्जीवात्मानं बध्नाति यतस्तत् एव सान्तःकरणमुभयमिन्द्रियं निष्पद्यते। उच्यते हि प्रकृतेर्महान् महबोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम् (सांख्य० १।६१) कथमिव (कोशकारवत्) कोशकार इव तन्तुकीट इव यथा तन्तुकीटस्तन्तुर्बिबध्नाति, दृष्टान्तस्यैक एवांशोऽत्र बन्धनमेवाभिप्रेयते न सर्वांशत्वं स्वबन्धनमपि यद्वा प्रकृतेरात्मानभूतः पुरुषस्तमात्मभूतः प्रकृतिर्बध्नाति। पुनः (एकेन रूपेण विमोचयति) एकेन रूपेण स्वरूपभूतेन प्रकृतिरूपेण सृष्टिनिर्वर्तनेन विमोचयति। बन्धस्तु खलु पुरुषस्यैव सोऽविवेकात्, विवेकाविवेको पुरुषाधिष्ठानको, पूर्वस्मिन्स्मिन्सूत्रे प्रकृतेर्बन्धमोक्षकथनमन्यभाष्यकारप्रलपनमेव। बहुभिः सूत्रैः सिध्यति हि पुरुषस्य हि बन्धः स चाविवेकात् सति विवेके मोक्षः।

**अर्थः-**प्रधानं सप्तभिः - रूपैः) प्रकृति सात रूपों से- महत्तत्त्व, अहङ्कार, पांच तन्मात्राओं से अवस्थान्तर विकाररूपों से (आत्मानं बध्नाति) आत्मा को बांधती है, क्योंकि इससे आत्मा के अन्तःकरण और इन्द्रियां बनती हैं। कहा है-प्रकृतेर्महान्महतोऽहङ्कारोऽहङ्कारात्पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम् (सांख्य० १।६१) तथा महदादिक्रमेण..... आत्मार्थत्वात् सृष्टेः... ..(सांख्य० २।१०, ११) महत्तत्त्वादि क्रम से स्थूल भूतों से पूर्व सृष्टि आत्मा के करणोपकरणार्थ है। प्रकृति इन सातरूपों से आत्मा को कैसे बांधती है इस में दृष्टान्त है- (कोशकारवत्) तन्तुकीट की भांति। जैसे तन्तुकीट तन्तुओं से बांधता है। यहां दृष्टान्त का एक ही अंश बन्धनमात्र अभीष्ट है, सर्वांश नहीं। अथवा प्रकृति का आत्मा चेतन पुरुष है, उसे बांधती है। पुनः (एकेन रूपेण विमोचयति) एक रूप से स्वरूपभूत प्रकृति रूप से सृष्टिनिर्वर्तन से विमुक्त करती है। बन्ध तो पुरुष का ही है और वह अविवेक से। विवेक-अविवेक पुरुष में रहने वाले हैं। पूर्व और इस सूत्र में प्रकृति का बन्धन और मोक्ष कथन करना अन्य भाष्यकारों का प्रलापमात्र है। अनेकसूत्रों से पुरुष का ही बन्ध अविवेक से है और विवेक हो जाने पर मोक्ष पुरुष का होना है

**व्याख्याः-**प्रधान प्रकृति सात रूपों से आत्मा को बांधता है और एक रूप से छुड़ाता है मुक्त करता है कोशकार (रेशम के कीड़े) के समान। धर्म-अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य-अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य, ये 8 प्रकृतिजनित रूप बतलाये जाते हैं। इनमें ज्ञान से अतिरिक्त सात से प्रकृति आत्मा को बांधती है और एक ज्ञान से मुक्त करा देती है। जैसे रेशम का कीड़ा खोल में बंधा रहता है, केवल एक द्वार से धागे को काटकर निकल जाता है। इसी प्रकार जीवात्मा 18 तत्त्वों के सूक्ष्म शरीर में बंधा रहता है, केवल ज्ञान तत्त्वज्ञान-विवेक से इस बन्धन को काटकर मुक्त हो जाता है। सांख्य-कारिका में इस सूत्र के आशय के विरुद्ध बताया है-

**रूपैः सप्तभिरेव तु बध्नात्यात्मानमात्मना प्रकृतिः।**

**सैव च पुरुषार्थं प्रति विमोचयत्येकरूपेण॥ ( सां.का.63 )**

प्रकृति बद्ध होती है, मुक्त होती है, संसरण करती है, कैसे ? (अर्थात् प्रकृतिगते बन्ध, संसार और अपवर्ग किन साधनों से होते हैं?) (उत्तर) वही कहा जाता है- रूपैः सात रूपों से ही। ये सात कहे जाते हैं- धर्म, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य, अनैश्वर्य, ये सात प्रकृति के रूप हैं। इससे आत्मानं अपने को प्रकृति बाध लेती है। आत्मना अपने से ही सैव वही प्रकृति पुरुषार्थ० पुरुष का अर्थ (प्रयोजन-भोगापवर्ग रूप) करना चाहिए, इस प्रकार अपने को मुक्त कर लेती है। एक अवशिष्ट रूप अर्थात् ज्ञान से। प्रकृति अपने को सात धर्म-अधर्म आदि भावों के द्वारा बाँधती है और वही पुरुषार्थ की सिद्धि के लिए एक रूप (ज्ञानरूप भाव) से स्वयं को मुक्त करती है।

**निमित्तत्वमविवेकस्येति न दृष्टहानिः॥ ( सां द० 3/74 )**

(अविवेकस्य निमित्तत्वम्) तन्न महत्तत्त्वादौ खल्वविवेकस्य निमित्तत्वमस्ति, अविवेकस्तत्र निमित्तम्, अविवेकयुक्तं हि महत्तत्त्वयादिविवेध्नाति प्रकृतिः (दृष्टहानिन) दृष्टस्य साक्षाद्भुतस्य कारणस्य बन्धः। कारणस्य न हानिः, यतः साक्षान्निमित्तं तु बन्धस्याविवेक एव, अविवेकनिमित्तादेव पुरुषस्य प्रवृत्तिरतश्च महत्तत्त्वादिसृष्टिः।

**अर्थः-**(अविवेकस्य निमित्तत्वम्) महत्तत्त्व आदि कथन में अविवेक की निमित्तता है। महत्तत्त्व आदि से बन्ध में अविवेक निमित्त है। जिसे अविवेक होगा, उसे ही महत्तत्त्व आदि से प्रकृति बांधती है। अतः (दृष्टहानिः- न) साक्षात् कारण बन्धकारण की हानि नहीं। क्योंकि साक्षात् निमित्त तो बन्ध का अविवेक ही है। अविवेक निमित्त से ही पुरुष की प्रवृत्ति और इसी कारण महत्तत्त्वादि सृष्टि है।

**व्याख्याः-**अविवेक का निमित्त (बन्धकारण) होना मुख्य है इसलिए देखे हुए का विरोध नहीं है। जीव के बन्धन का मूल कारण तो अविवेक ही है, किन्तु धर्मादि का अनुष्ठान भी अविवेक की अवस्था में ही अन्तःकरण की शुद्धि के लिए किया जाता है। विवेक ज्ञान की अवस्था में समाधि द्वारा जब आत्म-साक्षात्कार हो जाता है तब इन सब की निवृत्ति होकर मोक्ष हो जाता है।

अविवेकनिमित्तादिति अविवेकरूप निमित्तकारण से प्रकृति और पुरुष का संयोग होता है, उस संयोग के होने से उत्पन्न होने

बाले प्राकृत दुःखका पुरुष में जो प्रतिबिम्ब पड़ता है, वही दुःख-भोग है, अर्थात् दुःखसम्बन्ध है और उसकी निवृत्ति ही मोक्षज्ञक पुरुषार्थ है। अन्तःकरणशुद्धि के अनन्तर समाधिलाभ का होना ही विवेक है, उसके पूर्व यच्च यावत् प्रयत्न सब कुछ अविवेक ही है। अविवेक के नष्ट करने का सम्पूर्ण प्रयत्न भी अविवेक के काल में ही होता है। अतः यह समझना कि विवेकज्ञान प्राप्त करने के लिये बन्ध के निमित्तभूत धर्म, ज्ञान, वैराग्य आदि का त्याग करने पर दृष्ट हानि होगी, क्योंकि प्रायः सभी लोग आत्मसाक्षात्कार के लिये धर्मादि का अनुष्ठान किया करते हैं। किन्तु इस प्रकार समझना उचित नहीं है, क्योंकि अविवेककाल में हो अविवेक के उच्छेदार्थ समस्त प्रयत्न किये जाते हैं, जिससे विवेक हो पाता है। अतः विवेक प्राप्ति में धर्मानुष्ठान का कोई विरोध न होने से किसी प्रकार की दृष्टहानि नहीं है।

**तत्त्वाभ्यासानेतिनेतीति त्यागाद्विवेकसिद्धिः। ( सां द० 3/75 )**

(तत्त्वाभ्यासात्) तत्त्वचिन्तनादात्मपरमात्मचिन्तनात्। कथमित्युच्यते (न-इति न-इति-इति त्यागात्) यद् यद् वरन्तु केनापि साधनेन मनसाऽपि वाऽनुभूतं भवेत्तेन तन्नेति नेति तत्त्वमात्मतत्त्वं परमात्मतत्त्वमिति त्यागप्रकारात् (विवेकसिद्धिः) विवेकस्यात्मनः परमात्मनः स्वात्मनि साक्षात्कारसिद्धिर्भवति। उच्यते यथा अथात आदेश नेति नेति नह्य तस्मा दिति नेत्यन्यत् परमस्ति (बृह० २।३।६) स एष आत्मा नेति नेति।

**अर्थः-**(तत्त्वाभ्यासात्) तत्त्वचिन्तन से आत्मा-परमात्मा के मनन आदि से। कि (न-इति न-इति) जो-जो वस्तु किसी भी साधन से, मन से भी अनुभव में आये, वह नहीं है, नहीं है, तत्त्व अर्थात् परमात्मा। (इति त्यागात्) इस प्रकार त्याग प्रकार से (विवेकसिद्धिः) विवेक की परमात्मा के साक्षात्कार की सिद्धि स्वात्मा में होती है। जैसे कहा है-अथात आदेश नेति नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति (बृह० २।३।६) स एष आत्मा नेति नेति (बृह० ३।४।२६)।

**व्याख्याः-**आत्मज्ञान के अभ्यास से नेति, न तो विकार आत्मा है नेति, और न मूल प्रकृति आत्मा है इस प्रकार प्रकृति और प्राकृत पदार्थों के त्याग से विवेक की सिद्धि होती है। श्रुति भी इस बात को कहती है

‘अथात आदेशो नेति नेति न ह्येतस्मादिति, नेत्यन्यत् परमस्ति’ (बृह० 2/3/6)॥

स एष नेति’ (बृह० 3/1/26, 4/2/4)।

इस सूत्र के आशय को अगली सांख्य-कारिका में बताया है -

**एवं तत्त्वाभ्यासान्नास्मि न मे नाहमित्यपरिशेषम्।**

**अविपर्ययाद् विशुद्धं केवलमुत्पद्यते ज्ञानम्॥ ( सां.का.64 )**

वह ज्ञान कैसे उत्पन्न होता है ? (उत्तर) एवं पूर्वोक्त प्रकार से २५ तत्त्वों के आलोचन रूप अभ्यास से अर्थात् यह प्रकृति है, यह पुरुष है, ये पञ्चतन्मात्रा इन्द्रिय और महाभूत हैं, ऐसा पुरुष को ज्ञान उत्पन्न होता है। नास्मि मैं कर्ता नहीं हूँ, न मे यह मेरा भोग्य शरीर नहीं है। क्योंकि मैं भिन्न हूँ और शरीर भिन्न है। नाहम् मैं (अहङ्कार विशिष्ट) मोक्ता नहीं हूँ। इत्यपरिशेषम् इस प्रकार का अपरिशेष अर्थात् संशय अन्तिम अहङ्कार रहित अविपर्ययाद्विशुद्धं विषयं = संशय, अविपर्यय से अर्थात् असंशय से, विशुद्ध मिथ्याज्ञान रूप मल से रहित) केवल (पुरुषमात्र गोचर) श्वह पुरुष ही केवल है। अन्य कुछ नहीं। ऐसा मोक्ष को कारणभूत ज्ञान = पञ्चविंशति तत्त्वात्मक ज्ञान पुरुष को उत्पद्यते अभिव्यक्त होता है। इस प्रकार तत्त्वविषयक ज्ञान के अभ्यास से संशय-रहित, प्रमारूप, मिथ्याज्ञान से अमिश्रित, जिसमें कुछ भी ज्ञातव्य शेष न रह जाये; ऐसा ज्ञान उत्पन्न हो जाता है।

**तेन निवृत्तप्रसवामर्थवशात् सप्तरूपविनिवृत्ताम्।**

**प्रकृतिं पश्यति पुरुषः प्रेक्षकवदवस्थितः स्वस्थः॥ ( सां.का.65 )**

ज्ञान होने पर पुरुष क्या करता है ? (उत्तर) उस विशुद्ध केवल ज्ञान से पुरुष० जैसे नाटक देखनेवाला सभासद नतंकी को देखता है ऐसे ही पुरुष एक दर्शक की तरह प्रकृति को देखता है। स्वस्थ का अर्थ है (स्वमिन् तिष्ठति इस बिग्रह के अनुसार) अपने स्थान पर ही स्थित हुआ। (प्रश्न)-- कैसी प्रकृति को देखता है ? (उत्तर) - निवृत्तप्रसवा बुद्धि और अहङ्कार के कार्यों से निवृत्त हुई। अथ० पुरुष के भोगापवर्गरूप प्रयोजन संपादित कर देने से जिन धर्माधर्मादि सात रूपों से अपने को बाँध लेती है उन सात रूपों से विनिवृत्त हुई प्रकृति को वह देखता है। उस तत्त्वज्ञान के द्वारा स्वरूपस्थित पुरुष भोग एवं विवेक-ज्ञान का सम्पादन कर लेने पर, धर्माधर्मादि सप्त भावों से विनिवृत्त हुई प्रकृति को एक तटस्थ प्रेक्षक की तरह देखता है।

प्रकृति और उसका विकाररूप जितना भी जड़ वर्ग है, उसके प्रति नेति-नेति श्रुति की सहायता लेकर तत्त्वाभ्यास करने से विवेक की निष्पत्ति होती है, और सब तो अभ्यास का अङ्ग मात्र है। तथा च श्रुतिः अथात आदेशो नेति-नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति ( वृ० उ० २।३।६ ), तथा स एष आत्मा नेति-नेतीत्यादिरिति-(बृ० ३०४/२१४)। अब इसके पश्चात् नेति-नेति यह ब्रह्म का आदेश है। नेति-नेति इससे बढ़ कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है। तथा यह नेति-नेति रूप से वर्णन किया हुआ आत्मा, वह अगृह्य है, वह

अशीयं है, वह अबद्ध है, और वह अक्षीण है। पुराणों में भी कहा गया है-

अव्यक्ताद्ये विशेषान्ते विकारेऽस्मिन् च वर्णिते। चेतनाचेतनान्यत्वज्ञानेन ज्ञानमुच्यते॥ इति।

अव्यक्त (मूल प्रकृति) से लेकर महाभूत (विशेष) तक वर्णन किये गये इस विकारप्रपञ्च में अचेतन (जड़) से चेतन की भिन्नता का अवधारण करने से ज्ञान हो जाता है। उसी को तत्त्वज्ञान कहते हैं। वायु पुराण में इसी को किञ्चित् पाठभेद से कहा गया है-अव्यक्तादिविशेषान्ते विकारेऽस्मिन् चेतने। चेतनाऽचेतनान्यत्वविज्ञानं ज्ञानमुच्यते॥- (वा. पु. ५६।५४)। अग्निपुराण (३७६। ३) में, और मत्स्यपुराण (१४५१५५) में भी यह श्लोक किञ्चित् स्वल्प पाठभेद के साथ उपलब्ध होता है

### 5 अंक के प्रश्न:-

1. बंध क्या है?
2. मोक्ष का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मज्ञान का महत्व क्या है?
4. अविद्या किसे कहते हैं?
5. मोक्ष प्राप्ति के साधन कौन-कौन से हैं?

### 15 अंक के प्रश्न:-

1. सांख्य दर्शन में बंधा और मोक्ष का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. अविद्या और मोक्ष के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मज्ञान की भूमिका पर निबंध लिखिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. मोक्ष का अर्थ हैरू

(क) जन्म

### (ख) बंधान से मुक्ति

(ग) कर्म

(घ) निद्रा

2. बंधान का मुख्य कारण हैरू

(क) ज्ञान

### (ख) अविद्या

(ग) ध्यान

(घ) समाधि

3. आत्मज्ञान से प्राप्त होता हैरू

(क) दुःख

### (ख) मोक्ष

(ग) जन्म

(घ) क्रोध

### महत्वपूर्ण बिंदु:-

- अविद्या बंधान का कारण है।
- आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।
- मोक्ष जीवन का परम लक्ष्य है।

### शब्दावली:-

- बंध ख्र संसारिक बंधान
- मोक्ष मुद्रि
- अविद्या अज्ञान

## इकाई-2.4 कर्मफल व्यवस्था

उद्देश्य-

1. कर्मफल सिद्धांत को समझना।
2. कर्म और फल के संबंध का अध्ययन करना।
3. जीवन में नैतिकता के महत्व को जानना।

सांख्य दर्शन एक द्वैतवादी ज्ञानप्रधान दर्शन है, जो प्रकृति और पुरुष को दो स्वतंत्र तत्त्व मानता है। यह कर्मफल सिद्धांत को स्वीकार करता है। यह मानता है कि प्रत्येक जीव अपने कर्मों के अनुसार फल भोगता है - चाहे वह जन्म, सुख-दुःख या जीवन की स्थिति हो। सांख्य के अनुसार: कर्मों का कर्ता है अहंकार रूपी चित्त (प्रकृति का विकार) कर्मों का भोक्ता है पुरुष (जो वास्तव में निष्क्रिय है, परंतु चेतना का प्रतिबिंब उसमें दिखाई देता है) विवेकज्ञान होजाने पर तत्काल शरीरपात नहीं होजाता। प्रत्युत प्रारब्ध कर्म जब तक रहते हैं, भोगस्थिति बनी रहती है। अध्याय की समाप्ति तक इसी अर्थ का प्रतिपादन किया गया है।

**बाधितानुवृत्त्या मध्यविवेकतोऽप्युपभोगः॥ ( सां द० 3/77 )**

( मध्यविवेकतः-बाधितानुवृत्तेः-अपि-उपभोगः ) मध्यविवेकाद् बाधिता या खल्वनुवृत्तिरनुरक्तिरनुरागरूपा प्रवृत्तिर्येनाभ्यासिना तस्यापि विवेकाभ्यासिनो भवत्युपभोगस्तात्कालिको यावत्प्रारब्धभोगसमाप्तिः। अधिमात्रविवेकस्य तु सर्वथा भोगाभावो भवति। अथवा ( मध्यविवेकतः अपि-उपभोगः-बाधितानुवृत्तः ) मध्यविवेकतोऽपि भवत्युपभोगोबाधितानां विवेकाभ्यासान्निवारितानां विषयाणामनुवृत्तेरनुवर्तमानत्वात् तेऽनुवर्तन्ते शरीरमनुवर्तन्ते हि विषया यावच्छरीरं तस्यापि मध्यविवे-किनः, नष्टेन शरीरेण सहैव तेऽपि नक्ष्यन्ति हि।

**अर्थः-** (मध्यविवेकतः) मध्यविवेक से (बाधितानुवृत्तेः -अपि) बाधित करदी, अनुवृत्ति-अनुरक्ति-अनुरागरूपप्रवृत्ति जिस अभ्यासी ने उस ऐसे विवेकाभ्यासी का भी (उपभोगः) उपभोग तत्कालीन होता है, जब तक प्रारब्धभोगसमाप्ति हो। अधिमात्र विवेकी उत्तमविवेकी का सर्वथा भोगाभाव हो जाता है। अथवा (मध्यविवेकतः अपि-उपभोगः) मध्यविवेक से भी उपभोग होता है। (बाधितानुवृत्तेः) विवेकाभ्यास से बाधित विषयों की अनुवृत्ति से अनुवर्तमानता से वे अनुवर्तमान रहते हैं शरीर के साथ, जब तक शरीर है उस मध्य विवेकी का, शरीर के नाश के साथ नष्ट हो जाते हैं।

**व्याख्याः-**विवेक होजाने की अवस्था में भी बाधित की अनुवृत्ति चलते रहने से उपभोग बना रहता है। विवेक से जिस स्थिति की बाधा निवृत्ति की जाती है, वह बाधित कहलाती है। विवेकज्ञान समस्त सञ्चित कर्मों को भस्म कर देता है। पर प्रारब्ध कर्म अर्थात् जो कर्म फलोन्मुख हो चुके हैं, जिन के फलों को भोगने के लिए वर्तमान शरीर प्रारम्भ हुआ है विवेकज्ञानके द्वारा नष्ट नहीं होते। उनकी समाप्ति फल भोगकर होती है। इसलिए प्रारब्ध कर्मों से जनित दुःख तथा क्षुधा, तृष्णा, निद्रा, आसन, वसन आदि का क्रम चलते रहने से विवेक अवस्था में भी कुछ की चाहिए। प्रारब्ध कर्मों के चलते रहने से उनका भोग भी होता है, भौर विवेकज्ञान होजाने से मुक्त अवस्था भी आजाती है। यहां प्रारब्धकर्मजनित दुःखों को भी 'बाधित' इसलिए कहा गया कि उनका अस्तित्व केवल वर्तमान देह की स्थिति तक है आगे निश्चित ही उनकी बाधा हो चुकी है।

**जीवन्मुक्तश्च॥( सां द० 3/78 )**

( जीवन्मुक्तः च ) जीवन्मुक्तश्च स मध्यविवेकी भवति, तदा च स जीवन्मुक्तोऽभिधीयते आत्मानं चेद् विजानीयादयस्मीति पुरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ( बृह० ४१४/१२ )।

**अर्थः-** (जीवन्मुक्तः च) वह मध्यविवेकी जीवन्मुक्त होता है, तब वह जीवन्मुक्त कहलाता है। आत्मानं चेद् विजानीयादयस्मीति पुरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीरमनुसंज्वरेत् ( बृह० ४।४।१२ )-मनुष्य आत्मा को यदि जानता है कि यह मैं हूँ। तो किसे चाहता हुआ किसकी कामना के लिये चिन्ता करे, आदि।

**व्याख्याः-**भोग और मोक्ष की इस सन्धिकाल की अवस्था में उस श्रात्मज्ञानी को जीवन्मुक्त कहा जाता है। सूत्रकार ने यही बताया क्योंकि ऐसा व्यक्ति जीवित रहता हुआ मुक्त होता है, इसलिए वह जीवन्मुक्त है। देह बने रहने से अभी जीवित है, और विवेकज्ञान होजाने के कारण मुक्त है। यह स्थिति समाज के लिए अत्यन्त आवश्यक है। ऐसे व्यक्ति आत्मज्ञान का उपदेश करते और शास्त्रों की रचना करते हैं।

**उपदेशोपदेष्टृत्वात् तत्सिद्धिः। ( सां द० 3/79 )**

( उपदेश्योपदेष्टत्वात् : ) विवेकार्थी खलुपदेश्यस्तस्य विवेकार्थिन उपदेश्यस्य विवेकोपेष्टा भवितव्यमेव तस्मात् ( तत्सिद्धिः ) तस्य जीवन्मुक्तस्य विवेकसम्पन्नस्य सिद्धिस्तस्यास्तित्वसिद्धिर्भवति।

अर्थ:-

( उपदेश्योपदेष्टत्वात् ) विवेकार्थी उपदेश्य है, उसका विवेकोपदेष्टा होना चाहिए। अतः ( तत्सिद्धिः ) उस जीवन्मुक्त विवेकसम्पन्न की सिद्धि-अस्तित्वसिद्धि होती है।

**व्याख्या:-**उपदेश्य अर्थात् समस्त अधिकारी जनता के लिए उपदेष्टा होने के कारण जीवन्मुक्त व्यक्तियों का होना अत्यन्त आवश्यक है। 'उपदेश्य' पद का उपदेश करने योग्य आत्मज्ञान आदि अर्थ भी समझ लेना चाहिए। आत्मज्ञान अथवा अन्य परोक्ष अर्थों का प्रतिपादन श्रात्मज्ञान के अनुभवी ठीक कर सकते हैं। ये जीवन्मुक्त ही अध्यात्मसम्बन्धी शास्त्रों की रचना करते हैं। परमार्थ कपिल ने सांख्यशास्त्र का इसी रूप में उपदेश किया है। वैदिक साहित्य भी जीवन्मुक्त की स्थिति को स्पष्ट करता है।

**श्रुतिश्च ( सां द० ३/८० )**

( श्रुतिः च ) अस्मिन् विषये जीवन्मुक्तविषये युक्तिरेवास्तीति न किन्तु श्रुतिश्च चकारात्स्मृतिश्च प्रमाणमस्ति। समित्याणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ( मुण्ड० १।२।१२ ) द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च। जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः। ( मुक्तिको० २।३२ ) आत्मकल्पेन वा व्यवतिष्ठते प्रलयं वाधिगच्छति ( योग० व्यासः ) जीवन्नेव विद्वान् हर्षार्थाभ्यां विमुच्यते इत्यनिरुद्धः।

**अर्थ:-**( श्रुतिः च ) च अपि के अर्थ में है। इस विषय में जीवन्मुक्त के सम्बन्ध में, जीवन्मुक्त के अस्तित्वसिद्धि के सम्बन्ध में युक्ति ही है ऐसा नहीं, किन्तु श्रुति भी प्रमाण है- द्विविधश्चित्तनाशोऽस्ति सरूपोऽरूप एव च। जीवन्मुक्तः सरूपः स्यादरूपो देहमुक्तिगः। ( मुक्तिको० २।३२ )। योगदर्शन में भी दो प्रकार से चित्त का नाश कहा है- एक तो सरूपनाश चित्त होता हुआ भी आत्मा के रूप में स्थित हो गया। दूसरा हुआ अरूपनाश देह से छूट जाने पर। चित्तम् - आत्मकल्पेन वा व्यवतिष्ठते प्रलयं वाधि गच्छति ( योग० व्यासः ) योगदर्शन में व्यास ने कहा है कि निरुद्धचित्त की दो स्थितियां होती हैं, या तो आत्मा के रूप को धारण लेता है उस में शान्तरूप से स्थिर हो जाता है या उसका प्रलय हो जाता है।

**व्याख्या:-**वैदिक साहित्य भी जीवन्मुक्त के अस्तित्व को सिद्ध करता है। समस्त वैदिक साहित्य के रचयिता जीवन्मुक्त आत्मा ही रहे हैं। वैदिक साहित्य अपने अस्तित्व से जीवन्मुक्त की स्थिति को स्पष्ट करता है। वैदिक साहित्य में समस्त शाखासंहिता उपवेद व ब्राह्मण ग्रंथों का समावेश समझना चाहिए। यदि ऐसा न हो, तो समाज अव्यवस्थित हो जाए। जीवन्मुक्त के अस्तित्व में श्रुति का वचन-

**दीक्षयैव नरो मुच्येत् तिष्ठेन्मुक्तोऽपि विग्रहे।**

**कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घटः॥**

**ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ( बृ. उ. ४।४।६ ) त्यादिरिति॥**

दीक्षा प्राप्त करने मात्र से ही मनुष्य मुक्त हो जाता है, वह मुक्त होता हुआ भी अपने शरीर को धारण किये रहता है। कुलाल के चक्र पर रखा हुआ घट जैसे विच्छिन्न होने पर भी भ्रमण करता रहता है। तथा ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति ( बृ. उ. ४।४।६ ) वह ब्रह्म ही रहकर ब्रह्म को प्राप्त होता है। नारदीयस्मृतिरपि-

**पूर्वाभ्यासत्रलात् कार्ये न लोको न च वैदिकः।**

**अपुण्यपापः सर्वात्मा जीवन्मुक्तः स उच्यते॥ इति**

पूर्वाभ्यास के प्रभाव से जो कार्य करता रहता है, तथापि न वह लोकरीति का अनुसरण करता है और न वह वेदविहित कर्म में ही निमग्न रहता है। वह तो पुण्य-पाप से रहित हुआ सर्वान्तर्यामी होकर रहता है, उसी को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्ति के सम्बन्ध में अन्यान्य श्रुतियां भी हैं-विमुक्तश्च विमुच्यते ( कठ उ. ५।१ ), यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते। अत्र ब्रह्म समश्नुते- ( बृ. उ. ४।४।७ ), तथा शारीरकभाष्य ६।१५ में भी उद्धृतश्रुति-स चक्षुरचक्षुरिव। न्यायवातिक ( ४।२।२ ) में उद्धृत श्रुति-जीवन्नेव हि विद्वान् स हर्षायासाम्यां मुच्यते।

**इतरथाऽन्धपरम्परा॥ ( सां द० ३/८१ )**

( इतरथा ) अन्यथा यद्य तादृशो जीवन्मुक्त उपदेष्टा न भवेत्-तर्हि ( अन्धपरम्परा ) अन्धपरम्पराऽविवेकस्य परम्परा प्रसज्येत नहि कस्यापि विवेको जायेत, तस्माज्जीवन्मुक्तस्य सिद्धिः।

**अर्थ:-** ( इतरथा ) अन्यथा, यदि ऐसा जीवन्मुक्त उपदेष्टा न हो तो ( अन्धपरम्परा ) अविवेक की अन्धपरम्परा का प्रसङ्ग हो जावे। किसी को भी विवेक न हो सके। अतः जीवन्मुक्त की सिद्धि है।



**व्याख्या:-**यदि आत्मज्ञानी उपदेष्टा न हों, विवेकज्ञान होते ही उनका शरीरपात हो जाता हो, और न ऐसे विवेकी जीवन्मुक्त शास्त्रनिर्माता हों, तो समाजव्यवस्था सर्वथा नष्ट-भ्रष्ट होजाए। साक्षात्कृतधर्मा आत्मज्ञानी ऋषियों के उपदेश और उनके शास्त्र ही समाज को व्यवस्थित रखते हैं। क्योंकि उनके बताए मार्ग पर चलता हुआ जनसमाज सुखी सम्पन्न तथा अपने लक्ष्य पर पहुँचने के लिए अग्रसर रहता है। अन्यथा अदूरदर्शितापूर्ण आपसी संघर्षों में पड़कर समाज विपन्न एवं नष्ट होजाता है। समाज के सुमार्ग पर चलने और सुरक्षित रहने के लिए ऋषियों की जीवन्मुक्त अवस्था का होना अत्यन्त उपयुक्त है।

अभ्यास तक पहुँचकर विवेकनिष्पत्ति को प्राप्त न कर केवल श्रवणमात्र से ही विवेकनिष्पत्ति मानकर यदि उपदेश देने लग जाय तो अन्धपरम्परा चलने का प्रसङ्ग आवेगा। क्योंकि श्रवणमात्र से भी विवेक तो होता ही है, किन्तु वह मन्द विवेक होता है। ऐसे मन्दविवेक प्राप्त किये पुरुष में उपदेष्टृत्व रहने पर अवश्य ही अन्धपरम्परा चल पड़ेगी। क्योंकि मन्दविवेकी को समग्रतया आत्मतत्त्व का ज्ञान तो हुआ नहीं है, उसी अवस्था में यदि वह लोगों को उपदेश देना आरम्भ कर दे तो किसी अंश में उसे स्वयं ही भ्रम रहने से वह शिष्य में भी भ्रान्ति पैदा कर देगा, वह भ्रान्त शिष्य भी दूसरे को भ्रम पैदा कर देगा, वह भी तीसरे को अपने जैसा ही भ्रान्त कर देगा। ये भ्रान्त लोग स्वयं को भ्रान्त नहीं समझते, उस भ्रम को ही वे सत्य, सिद्धान्त के रूप में समझे रहते हैं, उसी का प्रचार करते रहते हैं, उस कारण एक अन्धपरम्परा का चलना शुरू हो जाता है। सत्य सिद्धान्त का ज्ञान नहीं हो पाता है। उसकारण आत्मकल्याण से वह वञ्चित रहता है।

**चक्रभ्रमणवद् धृतशरीरः। ( सां द० ३/८२ )**

( चक्रभ्रमणवत्-धृतशरीरः ) यथा कुम्भकारस्य चक्रं दण्डेन भ्रामितं सत् तस्य भ्रमणनिमित्तभूतदण्डापगमेऽपि चक्रभ्रमणं भवति हि-कञ्चित् कालं भ्रमञ्चक्रं दृश्यते ह्यवशिष्टवेगतो यद्वा वेगलेशतः, तथैव स जीवन्मुक्तोऽपि धृतशरीरः सशरीरस्तिष्ठति। उक्तं च दीक्षयैव नरो मुच्येत तिष्ठेन्मुक्तोऽपि विग्रहे। कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घटः॥ अशुक्लकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति ( योग० ४।७० व्यास० )।

**अर्थ:-**(चक्रभ्रमणवत्) जैसे कुम्हार का चाक दण्डे से घुमाया हुआ घुमाने के साधन दण्डे के हटा लेने पर भी कुछ काल तक घूमता रहता है, उसके शेष वेग या वेगलेश के कारण। वैसे ही जीवन्मुक्त भी (धृतशरीरः) शरीर धारण किए हुए सशरीर रहता है। कहा भी है दीक्षयैव नरो मुच्येत तिष्ठन् मुक्तोऽपि विग्रहे। कुलालचक्रमध्यस्थो विच्छिन्नोऽपि भ्रमेद् घटः॥ तथा अशुक्लकृष्णा संन्यासिनां क्षीणक्लेशानां चरमदेहानामिति (योग० ४।७० व्यासः) चरमदेहवाले अन्तिमदेहवाले, क्षीणक्लेशों वाले संन्यासियों की कर्मगति पुण्यपाप से रहित होती है।

**व्याख्या:-**चाक के घूमने के समान शरीर को धारण किए रहता है। जैसे कुम्हार चाक में डण्डा डालकर उसे वेग से घुमाकर छोड़ देता है, फिर भी चाक कुछ समय तक घूमता रहता है। ऐसे ही प्रारब्ध कर्मों से चालित यह शरीर, विवेकज्ञान से सञ्चितकर्मनाश होजाने पर भी प्रारब्ध द्वारा उपयुक्त काल तक चलता रहता है। इसलिए जीवन्मुक्त का अस्तित्व निराधार नहीं वेग नामक संस्कार के कारण चाक घूमता रह सकता है, पर विवेकज्ञान से तो समस्त कर्मों का उच्छेद होजाता है।

कुलाल (कुम्हार) का काम निवृत्त होने पर भी पूर्व किये कर्म के वेग से कुछ कालतक वह चक्र स्वयं ही घूमता रहता है। अभिप्राय यह है कि जैसे कुलाल (घट बनाने वाला कुम्हार) घटादि के निष्पादक चक्र को दण्डे के द्वारा वेग से घुमाकर छोड़ देता है, तथापि वह चक्र अपने वेगाख्य संस्कार के कारण घूमता ही रहता है। इस प्रकार के सन्दर्भ में कुलाल-चक्र को उपमा अनेकत्र दृष्टिगोचर होती है। जैसे - शारीरक (४।१।१५) में कुलालचक्रवत् प्रवृत्तवेगस्य। इस कुलालचक्र भ्रमण के समान ही विवेकज्ञान से सञ्चितकर्मों का नाश हो जाने पर भी प्रारब्धकर्म का नाश होनेतक धारण किये रहता है। क्योंकि प्रारब्धकर्मणां भोगादेव क्षयः-यह अकाट्य सिद्धान्त है। छान्दोग्य उपनिषद् (६।१४।२) के शाङ्करभाष्य में भी बताया है कि येन कर्मणा शरीरमारब्धं तस्योपभोगेन क्षयात् देहपातं यावदित्यर्थः।

**संस्कारलेशतस्तत्सिद्धिः। ( सां द० ३/८३ )**

( संस्कारलेशतः तत्सिद्धिः ) संस्कारलेशतः कृतकर्मभोगरूपविषयाणां संस्कारलेशात् संस्काराभासात् तस्य जीवन्मुक्तस्य शरीरधारणसिद्धिः॥

**अर्थ:-**(संस्कारलेशतः) किए हुए कर्मों के भोगरूप विषयों के संस्कार लेश से संस्कार के आभास से (तत्सिद्धिः) जीवन्मुक्त के शरीर धारण की सिद्धि होती है।

**व्याख्या:-**विवेकज्ञान हो जाने पर समस्त सञ्चित कर्मों का उच्छेद हो जाता है, प्रारब्ध कर्मों का नहीं। इसलिए प्रारब्ध संस्कारों का जो लेश शेष रह जाता है, उसीके कारण देहधारण की सिद्धि होती है। प्रारब्ध कर्म क्या है ? जिन कर्मों के फलों को भोगने

के लिए वर्तमान देह आरम्भ हुआ है, उनमें से कुछ भोगे जाचुके हैं और कुछ शेष हैं। ये सब कर्म फलोन्मुख हैं, अर्थात् फल को उत्पन्न करने के लिए सर्वथा तैयार हैं। इन कर्मों का ज्ञान से उच्छेद नहीं होता, इनका उच्छेद फल भोगने से ही होगा। वे फल भोगे अवश्य जाते हैं। पर उनसे जीवन्मुक्त को कोई अनुकूल या प्रतिकूल भाव उत्पन्न नहीं होते। कर्मों की यह स्थिति ऐसी है, जैसे एक सिंह अपने स्थान से छलांग लगाता है। जैसे ही उसने छलांग लगाई, शिकारी ने उसको गोली मारी। गोली ठीक लग जाने पर भी सिंह तत्काल नहीं गिरता, उस छलांग को पूरा करके ही गिरता है। इसीप्रकार वर्तमान देहधारण आत्मा की एक छलांग, है, जो नियमित कर्मरूप शक्ति से लगाई गई है। आत्मज्ञानी उसमें विवेकरूपी गोली मारता है, निशान ठोक बैठता है। पहली सञ्चित शक्ति समाप्त होजाती है, आगे छलांग नहीं लग सकती।

वर्तमान देहपात के अनन्तर विवेकज्ञान रहते फिर जन्म न होगा, पर जो छलांग लगाई जाचुकी है, यह अवश्य पूरी होगी। वर्तमान देह अपने कर्मानुसार पूरा होगा। उस अवस्था में प्रारब्धकर्म भी आगे किसी ऐसे कर्म का प्रजनन नहीं कर सकते, जो इरा कर्मपरम्परा को चालू बनाए रख सकें। उस समय कर्म वस्तुतः नपुंसक होजाते हैं, और उतना हाथपैर मारकर स्वतः शान्त होजाते हैं। फलतः विवेकज्ञान होजाने पर कर्मों का वास्तविक अस्तित्व नहीं माना जाना चाहिए। जीवन्मुक्त की स्थिति ऐसी ही होती है।

**विवेकानिःशेषदुःखनिवृत्ती कृतकृत्यता नेतरान्नेतरात्॥ (सां द० 3/84)**

(विवेकात्-निःशेषदुःखनिवृत्तौ) पूर्णविवेकात् खलु समस्तदुःखनिवृत्तिर्भवति, तदैव (कृतकृत्यः) पुरुषः कृतकृत्यो भवति (इतरात्) भिन्नात् विवेकभिन्नात् केवलकर्मणो नेत्यर्थः। नेतरात् द्विरुक्तिरध्यायसमाप्त्यर्था।

**अर्थः-**(विवेकात्- निःशेषदुःखनिवृत्तौ) पूर्ण विवेक से समस्त दुःख-निवृत्ति होती है। तब ही (कृतकृत्यः) पुरुष कृतकृत्य-सफल होता है (इतरात्-न) भिन्न से विवेक को छोड़ अन्य साधन से अर्थात् केवल कर्म से नहीं। नेतरात् द्विवार कथन अध्याय की समाप्ति के लिये है।

**व्याख्याः-** विवेकज्ञान से अशेष दुःखों की निवृत्ति हो जाने पर कृतकृत्यता अर्थात् मोक्ष अवस्था प्राप्त हो जाती है। विवेकज्ञान के अतिरिक्त अन्य किसी उपाय से इस अवस्था का प्राप्त करना संभव नहीं। वेद आत्मज्ञान को मोक्ष का उपाय बताता है। 'तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय' (यजु० 31/18), उस चेतन आत्म-पुरुष को जानकर ही मृत्यु के पार होता है, मोक्ष का अन्य मार्ग नहीं है।

विवेकसिद्धि से परवैराग्य के द्वारा समस्त वृत्तियों का निरोध करने पर बाधित-अबाधित-साधारण अर्थात् दोनों प्रकार के दुःखों की निःशेष निवृत्ति हो जाती है, तभी पुरुष कृतकृत्य होता है, अर्थात् उसे मुक्तिलाभ होता है। जीवन्मुक्ति आदि अन्य उपायों से मुक्ति नहीं होती है। किन्तु विवेक-पूर्वक चित्त का लय होने पर ही निरतिशय कृतकृत्यता होती है। नेतरात् पदों की आवृत्ति अध्यायसमाप्ति की द्योतक है।

**5 अंक के प्रश्नः-**

1. कर्मफल क्या है?
2. शुभ और अशुभ कर्म में अंतर बताइए।
3. कर्मफल सिद्धांत का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. पुनर्जन्म और कर्म का क्या संबंध है?
5. कर्मफल व्यवस्था का महत्व क्या है?

**15 अंक के प्रश्नः-**

1. सांख्य दर्शन में कर्मफल व्यवस्था की विवेचना कीजिए।
2. कर्म और पुनर्जन्म के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. नैतिक जीवन में कर्म सिद्धांत की भूमिका पर निबंध लिखिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. कर्मफल सिद्धांत का संबंधा किससे है

- (क) कर्म
- (ख) निद्रा
- (ग) भोजन



(घ) शरीर

2. शुभ कर्म का परिणाम होता हैरू

(क) दुःख

(ख) सुख

(ग) अज्ञान

(घ) क्रोधा

3. पुनर्जन्म का आधार माना गया हैरू

(क) कर्म

(ख) धान

(ग) भोजन

(घ) शरीर

**महत्वपूर्ण बिंदु:-**

- प्रत्येक कर्म का रू मिलता है।
- शुभ कर्म सुख प्रदान करते हैं।
- कर्मफल सिद्धांत पुनर्जन्म से जुड़ा है।

**शब्दावली:-**

- कर्म - कार्य
- कर्मफल - कर्म का परिणाम
- पुनर्जन्म - पुनः जन्म लेना

## खण्ड-3 ईश्वर का स्वरूप

### इकाई-3.1 ईश्वर का स्वरूप

#### उद्देश्य-

1. ईश्वर की अवधारणा को समझना।
2. भारतीय दर्शन में ईश्वर के स्वरूप का अध्ययन करना।
3. ईश्वर के गुणों का विवेचन करना।

क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः॥1.24॥

पदच्छेदः क्लेश, कर्म, विपाक, आशयैः, अपरामृष्टः, पुरुष-विशेषः, ईश्वरः।

शब्दार्थः- क्लेश - क्लेश, कर्म - कर्म, विपाक - विपाक, आशयैः - आशय (इन चारों के), अपरामृष्टः- संबंध से रहित है (तथा), पुरुषविशेषः - जो समस्त पुरुषों से उत्तम है, वह, ईश्वरः - ईश्वर है।

व्यासभाष्यम्- अविद्यादयः क्लेशाः, कुशलाकुशलानि कर्माणि, तत्फलं विपाकः, तदनुगुणा वासना आशयाः। ते च मनसि वर्तमानाः पुरुषे व्यपदिश्यन्ते, स हि तत्फलस्य भोक्तेति। यथा जयः पराजयो वा योद्धृषु वर्तमानः स्वामिनि व्यपदिश्यते। यो ह्यानेन भोगेनापरामृष्टः स पुरुषविशेष ईश्वरः।

कैवल्यं प्राप्तास्तर्हि सन्ति च बहवः केवलिनः, ते हि त्रीणि बन्धनानि छित्त्वा कैवल्यं प्राप्ताः। ईश्वरस्य च तत्संबन्धो न भूतो न भावी। यथा मुक्तस्य पूर्वा बन्धकोटिः प्रज्ञायते, नैवमीश्वरस्य। यथा वा प्रकृतिलीनस्योत्तरा बन्धकोटिः सम्भाव्यते, नैवमीश्वरस्य। स तु सदैव मुक्तः सदैवेश्वर इति।

योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षः स किं सनिमित्त आहोस्विन्निर्निमित्त इति? तस्य शास्त्रं निमित्तम्। शास्त्रं पुनः किंनिमित्तम् ? प्रकृष्टसत्त्वनिमित्तम्।

एतयोः शास्त्रोत्कर्षयोरीश्वरसत्त्वे वर्तमानयोरनादिः संबन्धः। एतस्मादेतद्भवति सदैवेश्वरः सदैव मुक्त इति। तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम्, न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशय्यते। यदेवातिशयि स्यात्तदेव तत्स्यात्। तस्माद्यत्र काष्ठाप्राप्तिरैश्वर्यस्य स ईश्वरः। न च तत्समानमैश्वर्यमस्ति, कस्मात्, द्वयोस्तुल्य-योरेकस्मिन्युगपत्कामितेऽर्थे नवमिदमस्तु पुराणमिदमस्त्वित्येकस्य सिद्धावितरस्य प्रकाम्यविधातादूनत्वं प्रसक्तम्। द्वयोश्च तुल्ययोर्युगपत्कामितार्थप्राप्तिर्नास्ति, अर्थस्य विरुद्धत्वात्। तस्माद्यस्य साम्याति-शयैर्विनिर्मुक्तमैश्वर्यं स एवेश्वरः। स च पुरुषविशेष इति॥२४॥

भाष्यानुवादः अविद्यादि पाँच क्लेश हैं। पुण्यापुण्य ये कर्म हैं। उनका फल विपाक है। फलभोगानुसार बनने वाले संस्कार आशय हैं। मन में वर्तमान वे (क्लेशादि) पुरुष में कहे जाते हैं ऐसा इसलिए कहा जाता है क्योंकि पुरुष ही उस फल का भोक्ता है। जैसे योद्धाओं में वर्तमान जय वा पराजय राजा में कही जाती है। जो इस भोग से रहित है वह पुरुषविशेष ईश्वर है।

कैवल्य को प्राप्त हुए अनेक केवली हैं। वे आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक नामक तीन बन्धन को दूर करके कैवल्य को प्राप्त हुए हैं। ईश्वर का उन बन्धनों से सम्बन्ध न हुआ न होगा। जिस प्रकार मुक्तपुरुष का मुक्ति से पूर्व बन्धन होता है, उस प्रकार ईश्वर का बन्धन नहीं होता। जैसे प्रकृतिलीन योगी का समाधि भङ्ग होने पर बन्धन होता है वैसे ईश्वर का बन्धन नहीं होता। वह सदा ही मुक्त है और सदैव ईश्वर है।

सूत्र में जो उत्कृष्ट गुण-कर्म-स्वभाव वाले ईश्वर का ग्रहण है उसका वह शाश्वतिक उत्कर्ष प्रामाणिक है वा अप्रामाणिक ? उसमें शास्त्र प्रमाण है। शास्त्र में क्या प्रमाण है ? उसमें प्रमाण है उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव वाला ईश्वर।

ईश्वर में विद्यमान उत्कृष्ट गुण, कर्म, स्वभाव एवं शास्त्र इन दोनों का अनादि सम्बन्ध है। इससे यह सिद्ध होता है कि वह सदा ही ईश्वर है और सदा ही मुक्त है। और उसका वह ऐश्वर्य (किसी अन्य के ऐश्वर्य की) समानता या अधिकता से रहित है। किसी अन्य के ऐश्वर्य से वह (ईश्वर का ऐश्वर्य) उल्लंघित नहीं होता। जो ही ऐश्वर्य अतिशयी होवे वह ही वह (ईश्वर का ऐश्वर्य) है। इसलिये जिसमें ऐश्वर्य की पराकाष्ठा होती है, वह ईश्वर है। उसके समान ऐश्वर्य नहीं है। किस कारण? समान कोटि के दो ऐश्वर्यवालों के होने पर, दोनों ऐश्वर्यवालों को अभीष्ट किसी एक पदार्थ के विषय में एक ही काल में “यह नवीन हो यह पुरातन हो। इस प्रकार के विरुद्ध संकल्प के होने पर, एक ही संकल्पसिद्धि होने में दूसरे के अभीष्ट का खण्डन हो जाने से दूसरे ऐश्वर्य में न्यूनता आ जायेगी। क्योंकि ‘नवीनता और पुराणता’ इन दोनों के एक-दूसरे के सर्वथा विरुद्ध होने के कारण उस पदार्थ में एक

ही समय में दोनों का अभीष्ट सङ्कल्प एक साथ सिद्ध हो नहीं सकता। इसलिए जिसका ऐश्वर्य समानता एवं अतिशय से मुक्त है, वह ही ईश्वर है, वह पुरुषविशेष है॥२४॥

क्लेश (अविद्यादि पञ्च क्लेश), कर्म (तीन प्रकार के कर्म), विपाक (कर्मों का फल), आशय (समस्त वासनाएं) से जो सर्वथा पृथक् है ऐसे पुरुष विशेष को ईश्वर कहा गया है। क्लेश पांच प्रकार के होते हैं-

१. अविद्या

२. अस्मिता

३. राग

४. द्वेष

५. अभिनिवेश

कर्म को भी अलग-अलग परिपेक्ष्य में विभाजित किया गया है। वैसे सामान्यतः लोक में पाप कर्म और पुण्य कर्म ये दो प्रकार से कर्म के विभाग किये हैं लेकिन विभिन्न शास्त्रों में मुख्यतः कर्म को तीन प्रकार से बांटा गया है।

१. निमित्त कर्म

२. नैमित्तिक कर्म

३. काम्य कर्म

योग दर्शन में कर्म को तीन प्रकार से बांटा गया है-

१. शुक्ल कर्म अर्थात् शुभ कर्म

२. अशुक्ल कर्म अर्थात् अशुभ कर्म

३. शुक्लाशुक्ल अर्थात् मिश्रित कर्म

भगवद्गीता में कर्म का तीन प्रकार से प्रभाग किया है-

१. कर्म

२. अकर्म

३. विकर्म

कर्म जब फल देने लगते हैं तो इसी को विपाक कहा गया है और ईश्वर चूँकि निष्काम कर्म करता हुआ जगत का परिपालन करता है तो उसके कर्म नहीं बनने के कारण वह सर्वथा विपाक से रहित होता है।

जब किसी कर्म के विपाक को प्राप्त होने पर उसके भोगने से उत्पन्न वासनाएं होती हैं उन्हें योग दर्शन कि भाषा में आशय कहा गया है। कहीं कहीं आशय का अर्थ दूसरी तरह भी किया जाता है। कर्म जब तक फलोन्मुख नहीं होते तब तक चित्तभूमि में जो वासना सुप्त रूप से रहती है वह आशय नाम से कही जाती है। ईश्वर कर्म एवं कर्मफल से रहित होता है इसलिए वह आशय रहित भी होता है अर्थात् ईश्वर में किसी भी प्रकार से कोई भी वासनाएं नहीं होती हैं। कर्म, कर्मफल एवं उन्हें भोगने से पुरुष उनकी वासनाओं से बच नहीं सकता इसीलिए ईश्वर को महर्षि पतंजलि ने पुरुष विशेष के नाम से कहा है।

**तत्र निरतिशयं सर्वज्ञबीजम् ॥1.25॥**

**पदच्छेदः** तत्र, निरतिशयम्, सर्वज्ञ, बीजम्।

**शब्दार्थः** तत्र - उस (ईश्वर में), सर्वज्ञ-बीजम् - सर्वज्ञत्व का बीज अर्थात् ज्ञान, निरतिशयम् - निरतिशय है।

**व्यासभाष्यम्-** यदिदमतीतानागतप्रत्युत्पन्नप्रत्येकसमुच्चयातीन्द्रियग्रहणमल्पं बह्विति सर्वज्ञबीजमेतद्विवर्धमानं यत्र निरतिशयं स सर्वज्ञः। अस्ति काष्ठाप्राप्तिः सर्वज्ञबीजस्य सातिशयत्वात्परिमाणवदिति।

यत्र काष्ठाप्राप्तिर्ज्ञानस्य स सर्वज्ञः। स च पुरुषविशेष इति। सामान्यमात्रोपसंहारे च कृतोपक्षयमनुमानं न विशेषप्रतिपत्तौ समर्थमिति। तस्य संज्ञादिविशेषप्रतिपत्तिरागतः पर्यन्वेष्ट्या। तस्यात्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्, ज्ञानधर्मोपदेशेन कल्पप्रलयमहाप्रलयेषु संसारिणः पुरुषानुद्धरिष्यामीति। तथा चोक्तम्-आदिविद्वान्निर्माणचित्तमधिष्ठाय कारुण्याद्भगवान्परमर्षिरासुरये जिज्ञासमानाय तन्त्रं प्रोवाचेति॥२५॥

**भाष्यानुवादः** भूत, भविष्य, वर्तमान में से किसी एक का वा सभी का अतीन्द्रिय ज्ञान जो किसी में न्यून और किसी में अधिक होता है, वही सर्वज्ञता का बीज है। वही बढ़ता-बढ़ता जिसमें पराकाष्ठा को प्राप्त हो जाता है वह सर्वज्ञ कहा जाता है। सर्वज्ञता का बीज पराकाष्ठा को प्राप्त होता है उसमें न्यूनाधिक्य सम्भव होने के कारण। जिसमें न्यूनाधिक्य की स्थिति सम्भव होती है उसकी पराकाष्ठा भी होती है। जैसे परिमाण।

जिसमें ज्ञान की काष्ठाप्राप्ति है वह सर्वज्ञ है, और वह पुरुषविशेष है। सामान्यज्ञानमात्र प्रस्तुत करके निवृत्त हुआ अनुमानप्रमाण पदार्थ के विशेष धर्म को बताने में समर्थ नहीं होता। इसलिये ईश्वर के संज्ञादि विशेषों का ज्ञान आगमप्रमाण से प्राप्त करना चाहिये। उस (ईश्वर) का अपना कोई स्वार्थ न होने पर भी प्राणियों पर अनुग्रह करना प्रयोजन है। ज्ञान एवं धर्म के उपदेश के द्वारा कल्पप्रलय एवं महाप्रलय में सांसारिक लोगों का उद्धार करूँ यह उसका प्रयोजन है। ऐसा कहा गया है— आदिविद्वान् भगवान् सर्वज्ञ (ईश्वर) ने जिस ज्ञान से मनुष्यों को विद्वान् बनाया जाता है उस ज्ञान को सुसज्जित करके करुणा से जिज्ञासायुक्त जीवात्मा के लिए वेदज्ञान दिया ॥२५॥

उपरोक्त सूत्र में तत्र शब्द से ईश्वर को कहा गया है। महर्षि पतंजलि कहते हैं कि ईश्वर में सर्वज्ञता के बीज की निरतिशयता अर्थात् पराकाष्ठा है। अतिशय का अर्थ होता है जो बढ़ता रहता है लेकिन महर्षि ने सूत्र में निरतिशय शब्द का प्रयोग किया है जिसका अर्थ होगा जो घटने और बढ़ने से रहित है अर्थात् अपनी पराकाष्ठा में स्थित है, जिसमें ज्ञान का घटना और बढ़ना नहीं है। अतीत, भविष्य और वर्तमान तीनों कालों में ईश्वर की सर्वज्ञता है। अतिशय सर्वज्ञता का बीच से अर्थ है कि ईश्वर से बढ़कर या उसके समान किसी में भी ज्ञान नहीं है।

अतिशय का अर्थ होता है बढ़ा हुआ है। इसलिए जब कोई व्यक्ति बढ़ा चढ़ा कर कोई बात करता है तो उसे कहा जाता है कि यह तो अतिशयोक्ति है अर्थात् आपने बढ़ा चढ़ाकर यह बात बोली है। निरतिशय का अर्थ हुआ जो बढ़ता नहीं है या बढ़ाया नहीं जा सकता है और न ही न्यून किया जा सकता है। ऐसा ज्ञान तो अपनी स्वाभाविकता में परिपूर्ण है उसे निरतिशय ज्ञान कहा गया है।

ऐसा नहीं है कि ईश्वर केवल ज्ञान के विषय में सर्वज्ञ है, उसमें सब प्रकार के शुभ गुणों, स्वाभाविक गुणों की पराकाष्ठा है। सब प्रकार के ऐश्वर्यों की पराकाष्ठा का आधार भी ईश्वर ही है।

**स एष पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात् ॥१.२६॥**

**पदच्छेदः** पूर्वेषाम् , अपि , गुरुः , कालेन , अनवच्छेदात्।

**शब्दार्थः पूर्वेषाम्-** (वह ईश्वर) पूर्व उत्पन्न गुरुगणों का अपि - भी गुरुः - गुरु है, (क्योंकि वह) कालेन- काल से अनवच्छेदात् - सीमित नहीं है अर्थात् सर्वकाल में विद्यमान है।

**व्यासभाष्यम्-** पूर्वं हि गुरुवः कालेनावच्छिद्यन्ते यत्रावच्छेदार्थेन कालो नोपावर्तते स एष पूर्वेषामपि गुरुः। यथास्य सर्गस्यादौ प्रकर्षगत्या सिद्धस्तथातिक्रान्तसर्गादिष्वपि प्रत्येतव्यः॥२६॥

**भाष्यानुवादः** पूर्ववर्ती गुरु काल से अवच्छिन्न होते हैं। अवच्छेद के लिये काल जहाँ प्रवृत्त नहीं होता वह यह पूर्ववर्ती गुरुओं का भी गुरु है। उत्कृष्ट ऐश्वर्य के साथ जैसा इस सृष्टि के आरम्भ में सिद्ध था इसी प्रकार अतीत सृष्टियों में भी जानना चाहिए॥२६॥

वह ईश्वर पूर्व में उत्पन्न हुए सभी ब्रह्मवादियों, गुरुओं का भी गुरु है क्योंकि वह पुरुष विशेष काल से व्याप्त अर्थात् समय से बंधा हुआ नहीं है उससे सर्वथा पार है। ऐसा नहीं है कि ईश्वर किसी काल में तो है और किसी समय नहीं है, वह सब समय उपस्थित है। ईश्वर सृष्टि से पूर्व भी है और प्रलय के बाद भी है। ईश्वर प्रत्येक काल में होने से वह सभी गुरुओं का भी गुरु कहा गया है। सृष्टि आरम्भ में सबसे पहला उपदेष्टा होने से ईश्वर को गुरुओं का भी गुरु कहा गया है। ईश्वर ने सृष्टि के आदि में चार ऋषियों के शुद्ध एवं पवित्र अंतःकरण में चारों वेदों का उपदेश दिया था इस हेतु से भी ईश्वर गुरुओं का भी गुरु कहा गया है।

वे चार ऋषि हैं-

1. अग्नि
2. आदित्य
3. वायु
4. अंगिरा

श्वेताश्वेतर उपनिषद् में भी इसी बात को कहा गया है कि- “जिस ईश्वर ने सृष्टि के आदि में ब्रह्मा को उत्पन्न किया एवं जिसने ब्रह्मा के शुद्ध एवं पवित्र अंतःकरण में वेदों का स्वर एवं अर्थसहित ज्ञान का आलोक किया मैं उस ईश्वर की मैं मुमुक्षु शरण में आता हूँ।” पूर्व में भी जितने ब्रह्मवादी अर्थात् ब्रह्म की महिमा कहने वाले हुए हैं उनका मार्गदर्शक भी ईश्वर ही है। ईश्वर ने ही उन्हें सब प्रकार से सन्मार्ग की प्रेरणा दी है।

व्यवहार की दृष्टि से मैं कहना चाहूँगा कि ईश्वर सब गुरुओं का भी गुरु है तथापि लोक में गुरु भी उस परमेश्वर का ही मूर्त रूप एवं प्रतिनिधि हैं। यह परम सत्य है कि ईश्वर ही परम गुरु है लेकिन उस ईश्वर तक पहुँचाने वाले गुरु भी सत्य हैं। इसी प्रसंग पर कबीर जी का एक दोहा अत्यंत प्रसिद्ध है-

**गुरु गोविंद दोऊ खड़े काके लागूँ पाय**

बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय॥

**5 अंक के प्रश्न:-**

1. ईश्वर का अर्थ क्या है?
2. ईश्वर के प्रमुख गुण बताइए।
3. सर्वव्यापकता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. ईश्वर और जीव में अंतर बताइए।
5. सांख्य दर्शन में ईश्वर की स्थिति क्या है?इ

**15 अंक के प्रश्न:-**

1. भारतीय दर्शन में ईश्वर के स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. ईश्वर के गुणों का विवेचन कीजिए।
3. ईश्वर और जीव के संबंधा पर निबंधा लिखिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. ईश्वर को माना जाता हैरू

(क) सर्वज्ञ

(ख) अज्ञानी

(ग) नश्वर

(घ) जड

2. ईश्वर का गुण नहीं हैरू

(क) सर्वशक्तिमान

(ख) सर्वव्यापक

(ग) अज्ञान

(घ) सर्वज्ञ

3. जीव और ईश्वर में मुख्य अंतर हैरू

(क) चेतना

(ख) सर्वज्ञता

(ग) अस्तित्व

(घ) आत्मा

**महत्वपूर्ण बिंदु:-**

- ईश्वर सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान है।
- ईश्वर को जगत का नियामक माना गया है।
- ईश्वर और जीव में गुणात्मक भेद है।

**शब्दावली:-**

- सर्वज्ञ ख सब कुछ जानने वाला
- सर्वव्यापक ख हर जगह विद्यमान
- जीव ख व्यद्रिगत आत्मा

## इकाई- 3.2 ईश्वर का निज नाम

उद्देश्य:-

1. ईश्वर के विभिन्न नामों को समझना।
2. वैदिक खण्डिकोण से ईश्वर के नामों का अध्ययन करना।
3. ईश्वर के नामों के दार्शनिक महत्व को जानना।

तस्य वाचकः प्रणवः॥1.27॥

पदच्छेदः तस्य , वाचकः , प्रणवः।

शब्दार्थः तस्य - उस (ईश्वर का), वाचक - वाचक (नाम), प्रणवः - प्रणव अर्थात् ओंकार है।

व्यासभाष्यम्- वाच्य ईश्वरः प्रणवस्य। किमस्य संकेतकृतं वाच्यवाचकत्वमथ प्रदीपप्रकाशवदवस्थितिमिति। स्थितोऽस्य वाच्यस्य वाचकेन सह संबन्धः। संकेतस्त्वीश्वरस्य स्थितमेवार्थमभिनयति। यथावस्थितः पितापुत्रयोः संबन्धः संकेतेनावद्योत्यते, अयमस्य पिता, अयमस्य पुत्र। सर्गान्तरेष्वपि वाच्यवाचकशक्त्यपेक्षस्तथैव संकेतः क्रियते। संप्रतिपत्तिनित्यतया नित्यः शब्दार्थसंबन्ध इत्यागमिनः प्रतिजानते॥27॥

भाष्यानुवादः प्रणव का वाच्य ईश्वर है। प्रणव एवं ईश्वर का वाच्य-वाचक सम्बन्ध संकेतकृत है अथवा प्रदीप एवं उसके प्रकाश के समान अवस्थित है ? इस वाच्य ईश्वर का वाचक प्रणव के साथ सम्बन्ध पहले से विद्यमान है। यह संकेत ईश्वर के साथ विद्यमान सम्बन्ध को ही बतलाता है। जिस प्रकार पिता-पुत्र का पहले से विद्यमान सम्बन्ध संकेत के द्वारा बतलाया जाता है कि यह इसका पिता है, यह इसका पुत्र है। उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा अन्य सर्गों में भी वाच्यवाचकत्व की शक्ति की अपेक्षा से संकेत किया जाता है। सदृश व्यवहार की परम्परा के प्रवाहरूप से नित्य होने से शब्द तथा अर्थ का वाच्यवाचकत्व सम्बन्ध नित्य है, ऐसा आगम (वेद) को मानने वाले कहते हैं॥२७॥

पिछले 4 सूत्रों में महर्षि ने ईश्वर विषय में बताया इसलिए जिज्ञासु शिष्यों ने महर्षि से पूछा कि ईश्वर का निज नाम क्या है? हम यदि उसका नाम स्मरण करना चाहें तो उसे किस नाम से पुकारें? उसके प्रत्युत्तर में महर्षि कहते हैं-

ईश्वर का निज नाम प्रणव अर्थात् ओ३म् है। ओंकार को ही आदि ध्वनि भी कहा जाता है। सम्पूर्ण ब्रह्मांड में ओ३म् की ध्वनि प्रसारित हो रही है। एक अर्थ में कहें तो ईश्वर के नाम का उच्चारण यह सम्पूर्ण सृष्टि यह ब्रह्मांड कर रहा है।

पूर्व में एक सूत्र आया था “ईश्वरप्रणिधानाद्वा” 1/23 ईश्वर प्रणिधान से शीघ्र ही समाधिलाभ हो जाता है। ईश्वरप्रणिधान का अर्थ है ईश्वर की भक्ति विशेष और दश इंद्रियों के माध्यम से होने वाले सारे कर्मों को और कर्मों के फल को ईश्वर को समर्पित कर देना। ईश्वर की भक्ति में नाम जप का विशेष महत्व होता है इसलिए ईश्वर के निज नाम की भी आवश्यकता होती है इसी को दृष्टि में रखकर इस सूत्र में ईश्वर के निज नाम को बतलाया गया है। आगे के सूत्रों में भी अनेक बार ईश्वर प्रणिधान शब्द बार बार आया।

जब हम अपने आराध्य, पूज्य या प्रिय को पुकारते हैं तो उनकी स्मृति प्रगाढ़ हो जाती है इसलिए नाम लेने अथवा जपने से ईश्वर के प्रति हमारी प्रीति बढ़ने लगती है और उसके सभी स्वाभाविक गुण हममें भी प्रविष्ट होने लग जाते हैं। ईश्वर के नाम का जप कैसे करना चाहिए यह महर्षि ने अगले सूत्र में बताया है।

तज्जपस्तदर्थभावनम्॥28॥

पदच्छेदः तत् , जपः , तत् , अर्थ , भावनम्।

शब्दार्थः तत् - उस (ॐ कार का), जपः - जप और, तत् - उस (ईश्वर के), अर्थ - अर्थस्वरूप (का), भावनम् - ध्यान करना अर्थात् पुनः पुनः चिन्तन करना चाहिए।

व्यासभाष्यम्- प्रणवस्य जपः प्रणवाभिधेयस्य चेश्वरस्य भावनम्। तदस्य योगिनः प्रणवं जपतः प्रणवार्थं च भावयतश्चित्तमेकाग्रं संपद्यते। तथा चोक्तम्-

भाष्यानुवादः- प्रणव का जप और प्रणव के वाच्य ईश्वर की भावना करनी चाहिये। उस प्रणव के जप करने वाले और उसके अर्थ की भावना करने वाले योगी का चित्त एकाग्र होता है। और उसी प्रकार कहा है -ओम् जप के सहयोग से वृत्तियों का निरोध करे। वृत्तियों के निरोध के सहयोग से ओम् का जप करे। इन दोनों के सामर्थ्य से परमात्मा प्रकट होता है॥२८॥

उस प्रणव अर्थात् ॐ का जप, प्रणव शब्द में निहित अर्थ के साथ बार बार भावना के साथ करना चाहिये। अलग अलग मतों

जप के अनेक प्रकार हैं लेकिन मुख्यतः जप को चार भागों में बांटा गया है। जप में शब्द, शब्द का अर्थ और अर्थ की भावना यह प्रमुखता से आता है।

**जप चार प्रकार से किया जाता है-**

1. वाचिक जप
2. उपांशु जप
3. मानसिक जप
4. अजपाजप

**वाचिक जप-** उच्च स्वर में बोलकर जो जप किया जाता है उसे वाचिक जप कहा जाता है। जैसे ॐ ॐ ॐ इस प्रकार निरन्तर ऊंचे स्वर में बोलना। वाचिक जप से वाणी की सिद्धि भी प्राप्त होती है।

**उपांशु जप-** थोड़े से ओष्ठ खुलें हों और धीरे धीरे बोलकर जप करना उपांशु जप कहलाता है। जैसे: जब हम जप करें तो केवल हमें ही सुनाई दे दूर बैठे व्यक्तियों को नहीं। उपांशु जप से धीरे-धीरे मन एकाग्र होने लगता है और साधक की वृत्तियां बहिर्मुखी से अंतर्मुखी होने लग जाती हैं। उपांशु जप से वाणी में स्थिरता के साथ शरीर में भी स्थैर्य आने लगता है।

**मानसिक जप-** शांतिपूर्वक आसन में बैठकर, ध्यान मुद्रा लगाकर जब हम मन ही मन जप करते हैं, मन ही मन ओंकार या मंत्र को जपते हैं तो वह मानसिक जप कहलाता है। मनु महाराज के अनुसार विधियज्ञ से यह जप हजार गुना उत्तम है।

**अजपाजप-** उपरोक्त जपों का जब अच्छी प्रकार, भलीभांति अभ्यास हो जाता है तब बिना प्रयास के भी जप की निरंतरता बनी रहती है उसे अजपाजप कहते हैं। यह अत्यंत स्वाभाविक रूप से होता है। सारे कार्य करते हुए भी यह जप निरन्तर साधक के भीतर अखंड रूप से चलता रहता है और सदैव उसे प्रभु की छत्रछाया में बिठाए रखता है। यह जप की सर्वोत्तम स्थिति है। एक महात्मा ने इस विषय में कहा है कि - **राम हमारा जप करे, हम बैठे आराम।**

जप यदि अर्थ पूर्वक नहीं कर रहे हैं तो उसका लाभ नहीं होता है। केवल बोलने की आवृत्ति भर होती है। यदि जप का अर्थपूर्वक जाप किया जाय लेकिन भावना न हो तो पूर्ण लाभ नहीं मिलता है। आंशिक लाभ तो मिलता है और यह आंशिक लाभ पूर्ण लाभ की ओर साधक को बढ़ाता भी है। ईश्वर के निज नाम ॐ संस्कृत के अव रक्षणे धातु से निष्पन्न होता है। धातु पाठ में अव रक्षणे के 17 अर्थ बताए गए हैं।

**5 अंक के प्रश्न:-**

1. ईश्वर का निज नाम क्या है?
2. 'ॐ' का महत्व बताइए।
3. वेदों में बताये गये ईश्वर के नामों का वर्णन कीजिए।
4. ईश्वर के विभिन्न नामों का उद्देश्य क्या है?
5. परमात्मा शब्द का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

**15 अंक के प्रश्न:-**

1. ईश्वर के निज नाम का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. वैदिक साहित्य के अनुसार ईश्वर के नामों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. 'ॐ' के आध्यात्मिक महत्व पर निबंध लिखिए।

**बहु किवल्पीय प्रश्न-**

1. 'ॐ' किसका प्रतीक है  
(क) प्रकृति  
(ख) ईश्वर  
(ग) मनुष्य  
(घ) शरीर



2. परमात्मा का अर्थ हैरू

( क ) महान आत्मा

(ख) जीव

(ग) शरीर

(घ) प्रकृति

3. वेदों में ईश्वर को कहा गया हैरू

(क) नश्वर

( ख ) अनादि

(ग) जड

(घ) अज्ञानी

**महत्वपूर्ण बिंदु:-**

- 'ऊँ' ईश्वर का पवित्र प्रतीक है।
- ईश्वर के अनेक नाम उसके गुणों को दर्शाते हैं।
- वेदों में ईश्वर को अनादि और अनंत बताया गया है।

**शब्दावली:-**

- ऊँ - परम ध्वनि
- परमात्मा ख सर्वोच्च आत्मा
- अनादि ख जिसका आदि न हो

## इकाई-3.3 चित्त की प्रसन्नता के उपाय

उद्देश्य-

1. चित्त की प्रसन्नता का महत्व समझना।
2. मानसिक शांति के उपायों का अध्ययन करना।
3. योग और ध्यान के माध्यम से चित्त शुद्धि को जानना।

**मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्॥1.33॥**

**पदच्छेदः** मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षाणाम्, सुख, दुःख, पुण्य, अपुण्य, विषयाणाम्, भावनातः, चित्त-प्रसादनम्।

**शब्दार्थः** सुख - सुखी, दुःख - दुःखी, पुण्य - पुण्यात्मा (और), अपुण्य - पापात्मा (के)

**विषयाणाम्** - विषयों में (क्रमशः), मैत्री - मित्रता, करुणा - दया, मुदिता - आनंद (और)

**उपेक्षाणाम्** - उपेक्षा (की) भावनातः - भावना से, चित्त-प्रसादनम् - चित्त प्रसन्न और स्वच्छ (होता है)।

**व्यासभाष्यम्**- तत्र सर्वप्राणिषु सुखसंभोगापन्नेषु मैत्रीं भावयेत्, दुःखितेषु करुणाम्, पुण्यात्मकेषु मुदिताम्, अपुण्यशीलेषूपेक्षाम्। एवमस्य भावयतः शुक्लो धर्म उपजायते। ततश्च चित्तं प्रसीदति, प्रसन्नमेकाग्रं स्थितिपदं लभते॥३३॥

**भाष्यानुवादः**- उन भावनाओं में से सुखभोगयुक्त सब प्राणियों में मैत्री की, दुःखी प्राणियों में करुणा की, पुण्यात्माओं में हर्ष की और अपुण्यात्माओं में उपेक्षा की भावना करनी चाहिए। इस प्रकार भावना करने वाले उपासक के आत्मा में शुद्धधर्म उत्पन्न होता है। उससे चित्त प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त एकाग्र होकर स्थिति पद को प्राप्त होता है॥३३॥

सुखी, दुखी, पुण्यात्मा और पापात्मा के विषय में मित्रता, दया, हर्ष, और उपेक्षा की भावना रखने से चित्त प्रसन्न और विमल हो जाता है। संसार में चार प्रकार के लोग रहते हैं जिनसे प्रतिदिन हमारा व्यवहार होता है।

1. सुखी
2. दुखी
3. पुण्यात्मा
4. पापात्मा

इनके साथ व्यवहार करने में ही व्यक्ति अज्ञानवश स्वयं दुखी सुखी होता रहता है। व्यवहार का भी अपना विज्ञान है और सर्वप्रथम महर्षि पतंजलि ने यह विज्ञान संसार को इस सूत्र में दिया है। यह विज्ञान सार्वभौमिक है और सभी मनुष्यों पर समान रूप से लागू होता है।

चित्त की या मन की प्रसन्नता किस प्रकार प्राप्त करें जब भी इस विषय पर चर्चा होगी तो सबसे पहले महर्षि के इस सूत्र का वर्णन किया जायेगा। सूत्र कहता है कि इस संसार में चार प्रकार के लोगों से आपका सामना होगा और उन चार प्रकार के लोगों से आपको एक निश्चित दृष्टि को ध्यान में रखकर व्यवहार करना होगा।

- 1) सुखी प्रतीत होते व्यक्ति के विषय में मित्रता का भाव रखना होगा।
- 2) दुखी प्रतीत होते व्यक्ति के विषय में दया का भाव रखना होगा।
- 3) जो पुण्यात्मा हैं उनके प्रति हर्ष का भाव रखना चाहिए।
- 4) जो पापात्मा हैं पाप में लगे हुए हैं उनके प्रति मन में उपेक्षा का भाव रखना चाहिए।

क्या होगा जब हम सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता का भाव रखेंगे ?- आईये इसका विज्ञान समझते हैं- जब हम सुखी व्यक्तियों के प्रति मित्रता की भावना से व्यवहार करते हैं तो हमारे चित्त में प्रसन्नता का भाव जग जाता है और हम भी अनायास ही खुश हो जाते हैं। जितना अधिक हम सुखी व्यक्तियों के संपर्क में रहेंगे उतना ही हमारा चित्त प्रसन्नता से भरा रहेगा। सुखी व्यक्ति हमारे लिए सहज ही प्रेरणा बन जाता है और हमें अपनी ओर आकर्षित करता है। इसलिए यदि सुखी व्यक्ति के प्रति हमारा मैत्री पूर्ण व्यवहार होगा तो हम अधिक से अधिक सुख अपनी ओर आकर्षित कर पाएंगे। जिससे हमारी मैत्री होती है उसकी सहज संवेदनाएं हमारे भीतर भी स्पंदित होती हैं और अधिक तीव्रता से हम उसे ग्रहण कर पाने में सक्षम हो पाते हैं लेकिन संसार में सदा ऐसा संभव नहीं है कि हमें केवल सुखी व्यक्ति ही मिलें इसलिए अलग अलग प्रकार के व्यक्ति हमें व्यवहार में मिलते रहेंगे।

क्या होगा जब हम दुखी व्यक्तियों के प्रति दया का भाव रखेंगे ?- आईये इसका विज्ञान भी समझते हैं- महर्षि ने दुखी व्यक्तियों के प्रति दुःख का भाव न रखकर दया का भाव रखने को कहा है। क्योंकि यदि दुखी के प्रति हम दुःख का भाव रखेंगे तो हम भी

दुखी हो जायेंगे इसलिए दुखी के प्रति दया का भाव रखने का निर्देश है। दया का भाव रखने से हमारी मनुष्यता भी जीवित रहेगी और हम संवेदना के स्तर पर भी जीवित रह पाएंगे। दया के भाव से हमारे भीतर करुणा उत्पन्न होगी और हम अपने सामर्थ्य के अनुसार दुखी व्यक्ति की सेवा सुश्रुषा भी कर पाएंगे। संसार में अधिकतर लोग दुखी हैं और व्यवहार में हम अधिकतर ऐसे ही लोगों से मिलते रहते हैं इसलिए हम दुखियों के प्रति दया का भाव रखते हुए यथासंभव उनकी सेवा करें जिससे हमारा चित्त विचलित न होकर शांत रह सके।

आज अधिकांश व्यक्ति अशांत इसलिए भी हैं कि चारों ओर तो दुःख है लेकिन उनके भीतर दया का भाव समाप्त प्रायः हो गया है तो दया भाव नहीं दिखाने और उपलब्ध सामर्थ्य का प्रयोग नहीं करने से वह दुःख तप्त हो गया है। महर्षि द्वारा दिए गए इस अति प्राचीन सूत्र का प्रयोग बंद हुआ तो सारी मानवता दुःख में डूब गई है। यदि आज मानवता को पुनः इस दुःख के घेरे से बाहर लाना है तो प्रत्येक को महर्षि पतंजलि के इस सूत्र की ओर लौटने के अतिरिक्त कोई और मार्ग शेष नहीं है।

क्या होगा जब हम पुण्यात्माओं के प्रति हर्ष का भाव रखेंगे?— आईये इसका विज्ञान भी समझते हैं— जितना अधिक मानव अपनी सहज प्रवृत्तियों के प्रति जागरूक होता जायेगा उतना ही उसका चित्त शांत, निर्मल और विमल होकर उसे प्रसन्न रखेगा। वस्तुतः यह सम्पूर्ण सूत्र सहज प्रवृत्ति की ओर ही इशारा है। महर्षि कह रहे हैं कि सहज प्रवृत्ति के सहारे हम अपने चित्त को शांत और प्रशांत रख सकते हैं।

जब भी कोई व्यक्ति अच्छे कर्म कर रहा हो तो एक मनुष्य होने के नाते हमारा कर्तव्य है कि हम उसे कार्य को सराहें और भगवत्प्राप्त सामर्थ्य के अनुसार उसकी अच्छे कर्म करने में सहायक बनें। यही सहज प्रवृत्ति होनी चाहिए। लेकिन हम अच्छे कर्म में सहायक न बनकर बाधक बनते हैं तो भले ही उस समय किसी को अच्छा भले ही लगे लेकिन भीतर से हम बुरे इन्सान बनते जायेंगे और अंततः दुःख को ही प्राप्त होंगे। हमारे भीतर की जो अन्य सहज प्रवृत्तियां हैं वे भी अव्यवस्थित होकर हमारे चित्त को अशांत करती रहेंगी।

इसलिए महर्षि कहते हैं कि जो भी शुभ कर्म में लगा है उसे देखकर, सुनकर, जानकर हमारे भीतर हर्ष की भावना आनी चाहिए। जैसा मैंने कहा कि यह सहज प्रवृत्ति है लेकिन अनेक जन्म जन्मान्तर से जन्म-मृत्यु के चक्र में फंसकर व्यक्ति अपनी इस सहज प्रवृत्ति को भूल चुका है या खो चुका है इसीलिए महर्षि इसे पुरुषार्थ की श्रेणी में रख रहे हैं अर्थात् हमें ऐसी भावना करनी पड़ेगी। यदि सहजता से किसी साधक को, किसी शुभ कर्म कर रहे व्यक्ति को देखकर हर्ष नहीं भी हो रहा है तो भी इस सूत्र को याद करके उसके प्रति हर्ष की भावना निर्मित करनी पड़ेगी ताकि धीरे धीरे वह सहज भावना पुनः अपनी स्थिति को प्राप्त हो जाए।

क्या होगा जब हम अशुभ में प्रवृत्त लोगों के प्रति उपेक्षा का भाव रखेंगे?— आईये इसका विज्ञान भी समझते हैं— पूरे जीवन में हम व्यावहारिक स्तर पर ऐसे बहुत से लोगों से मिलते हैं जो शुभ और अशुभ दोनों प्रकार के कर्मों में लगे रहते हैं और यह जीवन शैली उनके लिए अति सामान्य होती है। पूरी मानवता लगभग इस जीवन शैली के आधार पर अपना जीवन जी रही है। इस प्रकार की परिस्थिति में एक साधक को कैसे व्यवहार करना चाहिए और चित्त को किस प्रकार शांत प्रशांत रखना चाहिए इसी ओर इशारा करता है यह सूत्र। महर्षि का स्पष्ट निर्देश है कि अशुभ या गलत कर्मों में लगे हुए व्यक्तियों के प्रति हम उपेक्षा का भाव रखें जिससे कि हमारा मन विक्षोभ को न प्राप्त हो।

यह अत्यंत कठिन साधना है और यह बिना समझ के सम्भव नहीं है। अशुभ में लगे व्यक्तियों के प्रति उपेक्षा का भाव करने से पूर्व आपको अशुभ की ही सर्वथा उपेक्षा करनी होगी। आपके मन में यह भाव प्रतिष्ठित हो जाये कि एक क्षण को भी अशुभ आपके आस पास नहीं भटक सकता है। क्या है अशुभ और क्या है इसकी प्रवृत्ति जब तक यह ठीक ठीक समझ में नहीं आता है तब तक अशुभ के प्रति उपेक्षा उत्पन्न नहीं होगी और जब तक अशुभ के प्रति उपेक्षा नहीं कर पायेगा साधक तब तक अशुभ में प्रवृत्त व्यक्ति के लिए उपेक्षा करने का भाव भी नहीं आएगा।

उदाहरण के लिए: यदि आपके पूरे मन एवं प्राणों में गाली अर्थात् अपशब्दों के प्रति उपेक्षा का भाव नहीं होगा तब तक जो व्यक्ति आपको या किसी अन्य को आपकी उपस्थिति में गाली देता है; उसके प्रति आप उपेक्षा के भाव में नहीं आ सकते हैं। यह एक प्रक्रिया है और इसका प्रारम्भ है अशुभ की उपेक्षा।

### 5 अंक के प्रश्न:-

1. चित्त की प्रसन्नता क्या है?
2. मानसिक अशांति के कारण बताइए।
3. योग का चित्त पर क्या प्रभाव पड़ता है?
4. ध्यान का महत्व स्पष्ट कीजिए।

5. सकारात्मक सोच का महत्व क्या है?

**15 अंक के प्रश्न:-**

1. चित्त की प्रसन्नता के उपायों का विस्तार से वर्णन कीजिए।
2. योग और ध्यान द्वारा मानसिक शांति की प्राप्ति पर चर्चा कीजिए।
3. सकारात्मक चिंतन की भूमिका पर निबंध लिखिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. चित्त की प्रसन्नता का मुख्य साधन हैरू

(क) क्रोधा

(ख) ध्यान

(ग) लोभ

(घ) मोह

2. मानसिक शांति प्राप्त होती हैरू

(क) द्वेष से

(ख) योग से

(ग) क्रोधा से

(घ) हिंसा से

3. सकारात्मक सोच से उत्पन्न होता हैरू

(क) तनाव

(ख) प्रसन्नता

(ग) दुःख

(घ) भय

**महत्वपूर्ण बिंदु:-**

- ध्यान मानसिक शांति प्रदान करता है।
- सकारात्मक सोच चित्त को प्रसन्न रखती है।
- योग मानसिक संतुलन बनाए रखता है।

**शब्दावली:-**

- चित्त - मन की अवस्था
- प्रसन्नता - आनंद की स्थिति
- ध्यान - मानसिक एकाग्रता

## इकाई- 3.4 चित्त की प्रसन्नता एवं एकाग्रता के विभिन्न उपाय

उद्देश्य-

1. चित्त की एकाग्रता के महत्व को समझना।
2. एकाग्रता बढ़ाने के उपायों का अध्ययन करना।
3. योग एवं साधना की भूमिका को जानना।

**प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य॥1.34॥**

**पदच्छेदः** प्रच्छर्दन , विधारणाभ्याम्, वा, प्राणस्य।

**शब्दार्थः** वा- अथवा, प्राणस्य- प्राणवायु को, प्रच्छर्दन- बारम्बार बाहर निकालने (और), विधारणाभ्याम्- रोकने से (भी चित्त स्थिर होता है)

**व्यासभाष्यम्-** कौष्ठ्यस्य वायोर्नासिकापुटाभ्यां प्रयत्नविशेषाद्वमनं प्रच्छर्दनम्। विधारणं

**प्राणायामः। ताभ्यां वा मनसः स्थितिं संपादयेत्॥34॥**

**भाष्यानुवादः-** उदरस्थवायु को नासिका के पुटों द्वारा विशिष्ट प्रयत्न के द्वारा बाहर निकालना प्रच्छर्दन है। विधारण = रोकना प्राणायाम है अथवा उन दोनों के द्वारा मन की स्थिति का सम्पादन करे॥३४॥

नासिका द्वारा फेफड़ों में स्थित वायु को वेगपूर्वक बाहर फेंकने एवं बाहर ही उसे रोककर रखने से मन की साधनात्मक स्थिति बनती है या एकाग्र स्थिति बनती है। इस सूत्र में दो शब्द विशेष रूप से कहे गए हैं-

**प्रच्छर्दनः** फेफड़ों में रहने वाली प्राणवायु को वेगपूर्वक बाहर फेंकने को प्रच्छर्दन कहते हैं।

**विधारणः** वेगपूर्वक बाहर की ओर फेंकी प्राणवायु को बाहर ही रोक देने की प्रक्रिया को विधारण कहते हैं।

मन की स्थिति को साधने के लिए ये दो साधन कहे गए हैं। जब कभी भी मन में विक्षोभ हो, मन चंचलता से ग्रसित हो, निराशा, उदासी, किंकर्तव्यविमूढ़ता के पल हों, अकर्मण्यता मन पर छाई हो, आलस्य प्रमाद अपना जाल फेंकता हो तब प्रत्येक मनुष्य को प्राणायाम की इस विधि का उपयोग करके अपनी चेतना को स्थिर करना चाहिए। स्थिर हुई चेतना ही फिर उर्ध्वगामी होकर मनुष्य को प्रज्ञालोक तक लेकर जा सकती है।

प्राणायाम के मुख्यतः तीन भेद कहे गए हैं-

**रेचक**

**पूरक**

**कुम्भक**

**रेचकः** फेफड़ों में स्थित प्राणवायु को (श्वास) बाहर ले जाना या तीव्रता से फेंकना रेचक कहलाता है।

**पूरकः** नासिका छिद्रों से श्वास को भीतर ले जाना योग की भाषा में पूरक कहलाता है।

**कुम्भकः** श्वास को रोक देना कुम्भक कहलाता है और इसके दो भेद हैं।

**बाह्य कुम्भक-** बाहर फेंकी गई श्वास को बाहर ही प्रयत्नपूर्वक रोक देना बाह्य कुम्भक कहलाता है।

**अन्तःकुम्भक-** भीतर ली गई श्वास को भीतर ही प्रयत्नपूर्वक रोक देना अन्तः कुम्भक कहलाता है।

इस सूत्र में प्राणायाम के इन तीन भेदों में से दो शब्द प्रयुक्त हुए हैं। रेचक को ही प्रच्छर्दन शब्द से और कुम्भक को विधारण शब्द से कहा है।

आईये इस सूत्र के वैज्ञानिक पक्ष पर कुछ विचार करते हैं। हमारा मन, हमारे प्राणों की गति पर निर्भर करता है और हमारे प्राण हमारे मन की स्थिति पर निर्भर करते हैं। मन और प्राण परस्पर एक दूसरे को प्रभावित करते हैं अतः यह तो निश्चित ही है कि किसी एक पक्ष पर होने वाली गतिविधि अन्य पर प्रभाव अवश्य डालेगी।

गतिविधि यदि प्राण और मन को संतुलित करने की होगी तो दोनों के ऊपर सकारात्मक प्रभाव पड़ेगा और यदि गतिविधि या प्रक्रिया विक्षोभ पैदा करने की होगी तो विपरीत एवं नकारात्मक प्रभाव पड़ेगा।

जब साधक प्राणों के आयामों में से प्रच्छर्दन एवं विधारण का प्रयोग करता है तो प्राणों के इस प्रकार के स्पंदन से मन भी उसी लय के साथ समाहित होने लगता है। मन भी तीव्रता के साथ हिलोरे लेता है और फिर दृढ़ता के साथ स्थिर हो जाता है। इस तीव्रता में मन सोचना बंद कर देता है जिससे मन की चंचलता, अस्थिरता, सोचना, व्यर्थ की चिंता आदि सबकुछ खत्म हो जाता

है और मन अपनी स्थिर अवस्था को प्राप्त हो जाता है।

यह पूर्णतः वैज्ञानिक बात है कि यदि मन को शांत करना है या उसे स्थिर अवस्था में लाना है तो इस केवल प्राणों में किये गए प्रयोगों से ही सम्भव है अथवा मन के द्वारा ही किये गए कुछ अन्य उपायों से सम्भव है।

मन को जितना हम सोचने के पार ले जा सकें उतना ही मन को स्थिर कर पाएंगे इसीलिए अष्टांग योग का अस्तित्व है। इस प्रकार प्रच्छर्दन एवं विधारण उन उपायों में से एक प्रमुख उपाय है। यह मन को साधने की साधनाओं में से एक प्रमुख उपाय है।

आगे के 5 और सूत्रों में चित्त की स्थिति बनाने या चित्त को एकाग्रभिमुख करने की बात महर्षि करेंगे।

**विषयवती वा प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी॥१.३५॥**

**पदच्छेदः** विषयवती , वा , प्रवृत्तिः , उत्पन्ना , मनसः , स्थिति , निबन्धनी।

**शब्दार्थः** विषयवती - विषयवाली, प्रवृत्तिः - प्रवृत्ति, उत्पन्ना - उत्पन्न (होकर वह), वा - भी, मनसः - मन की, स्थिति - स्थिति (को), निबन्धनी - बाँधने वाली (होती है)।

**व्यासभाष्यम्** - नासिकाग्रे धारयतोऽस्य या दिव्यगन्धसंवित्सा गन्धप्रवृत्तिः। जिह्वाग्रे रससंवित्। तालुनि रूपसंवित्। जिह्वामध्ये स्पर्शसंवित्। जिह्वामूले शब्दसंवित्। तेषां वृत्तय उत्पन्नाश्चित्तं स्थितौ निबन्धन्ति, संशयं विधमन्ति, समाधिप्रज्ञायां च द्वा रीभवन्तीति। एतेन चन्द्रादित्यग्रहमणिप्रदीपरश्म्यादिषु प्रवृत्तिरुत्पन्ना विषयवत्येव वेदितव्या।

यद्यपि हि तत्तच्छास्त्रानुमानाचार्योपदेशैरवगतमर्थतत्त्वं सद्भूतमेव भवति, एतेषां यथाभूतार्थ-प्रतिपादनसामर्थ्यात्, तथापि यावदेकदेशोऽपि कश्चिन्न स्वकरणसंवेद्यो भवति तावत्सर्वं परोक्षमिवाप-वर्गादिषु सूक्ष्मेष्वर्थेषु न दृढां बुद्धिमुत्पादयति। तस्माच्छास्त्रानुमानाचार्योप- देशोपोद्बलनार्थमेवावश्यं कश्चिदर्थविशेषः प्रत्यक्षीकर्तव्यः। ॥३५॥

**भाष्यानुवादः-** नासिका के अग्रभाग में धारणा करने वाले इस साधक को जो दिव्यगन्ध का साक्षात्कार होता है वह गन्धप्रवृत्ति है। जिह्वा के अग्रभाग में धारणा करने से दिव्यरस का साक्षात्कार होता है वह रसप्रवृत्ति है। तालु में धारणा करने से दिव्यरूप का साक्षात्कार होता है वह रूपप्रवृत्ति है। जिह्वामध्य में धारणा करने से दिव्यस्पर्श का साक्षात्कार होता है वह स्पर्शप्रवृत्ति है। जिह्वामूल में धारणा करने से दिव्यशब्द का साक्षात्कार होता है वह शब्दप्रवृत्ति है। ये इतनी प्रवृत्तियाँ उत्पन्न होकर चित्त को स्थिर करती हैं और समाधिप्रज्ञा में माध्यम बनती हैं। इससे चन्द्र, सूर्य, ग्रह, मणि, प्रदीप और रश्मि आदि में उत्पन्न प्रवृत्ति विषयवती ही जाननी चाहिए।

यद्यपि उन-उन शास्त्रों, अनुमानप्रमाण तथा आचार्यों के उपदेश से ज्ञात बातें यथार्थ ही होती हैं क्योंकि इनमें यथार्थ बतलाने का सामर्थ्य होता है फिर भी जब तक इनमें से कोई एक देश अपने उपकरणों (मन-इन्द्रियों) द्वारा नहीं जाना जाता तब तक परोक्ष के समान रहने वाला अपवर्गपर्यन्त सारा विषय सूक्ष्मतत्त्वों के प्रति दृढ़विश्वास को उत्पन्न नहीं करता। इसलिये शास्त्र, अनुमान और आचार्यों के उपदेश की पुष्टि के लिए अवश्य ही किसी विशिष्ट अंश को प्रत्यक्ष कर लेना चाहिए। ॥३५॥

पांच विषयों (रूप, रस, गन्ध, स्पर्श एवं शब्द) वाली उत्पन्न हुई प्रवृत्ति भी मन को एकाग्र एवं स्थिरता प्रदान करने वाली होती है जिससे मन शांत एवं निर्मल हो जाता है। 5 विषयों में से किसी विषय को विशेष रूप से एकाग्रता का विषय बनाया जाता है तब जो प्रकृष्ट वृत्ति उत्पन्न होती है वह मन को शांत, प्रशांत एवं विमल बना देती है। यह स्थिति योग में आरूढ़ होने के लिए अत्यंत आवश्यक है। जैसा कि अनेक स्थानों पर पहले कहा जा चुका है कि योग केवल चित्त की दो ही प्रकार की भूमियों में संभव है-एक एकाग्र भूमि और दूसरा निरुद्ध भूमि।

जब तक साधक को एकाग्र भूमि प्राप्त नहीं होगी वह योगमार्ग ओर आगे कदम नहीं रख सकता है अतः साधक को एकाग्र भूमि प्राप्त कराने के लिए ही यह सब उपाय महर्षि बता रहे हैं।

मन को प्रसन्न, शांत, प्रशांत एवं स्थिरता प्रदान करने के बहुत सारे उपायों में से यह एक उपाय है। महर्षि कहते हैं कि साधक किसी भी एक प्रक्रिया को श्रद्धापूर्वक अनुष्ठान करके अपनी मनःस्थिति को ठीक कर सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि- 5 विषयों में से किसे अभ्यास के लिए चुना जाए? क्या अभ्यास के लिए महर्षि ने कोई निश्चित क्रम बताया है? हम अपनी बुद्धि से यह निर्णय कर सकते हैं कि किस विषय को हम अपने अभ्यास का माध्यम बना सकते हैं।

जब साधक आंख बंद कर, पद्मासन या किसी भी सुखासन में बैठकर विषयों को माध्यम बनाकर अपने मन को शांत करने के उपाय का अनुष्ठान करता है तो सर्वप्रथम शब्द एक ऐसा विषय है आंख बंद करने के बाद भी प्रकृति की सानिध्य में हमें सुनाई देता है। अतः शब्द से प्रारम्भ करना सर्वोत्तम है।

जब महर्षि ने इन सूत्रों को लिखा होगा तब निश्चित ही चारों ओर प्रकृति ही प्रकृति होगी एवं महर्षि ने इन सूत्रों को प्रकृति के सानिध्य में ही अपनाने की दृष्टि से लिखा होगा। अतः मन की स्थिरता एवं प्रशांतता के लिए ये सब अभ्यास हमें प्रकृति की



समीपता में ही करने चाहिए।

आंखें बंद कर, सुखासन या पद्मासन में बैठकर हम नदी की कलकल ध्वनि को विषय बनाकर उसे सुनने में तल्लीन हो जाएं। शेष सभी 4 विषय अर्थात् रूप, रस, गन्ध एवं स्पर्श हट जाएं। साधक की समस्त चेतना केवल शब्द सुनने पर एकत्रित हो जाये, धीरे धीरे केवल नदी का कलरव, कलकल ध्वनि या नाद शेष रह जायेगा यहां तक कि जब साधक को अपने होने का अनुभव भी तिरोहित हो जाता है तो इस उपाय की पूर्णता घटित होती है। जब शब्द विषय ही शेष रह जाता है तो मन में एक ही वृत्ति प्रगाढ़ होकर मन को लयबद्ध कर देती है, जहां द्वैत समाप्त हो जाता है और एकत्व का अनुभव ही शेष रह जाता है। एकाकार होने की यह भावना अप्रतिम सुख देने के साथ साथ मन को एक नए आयाम पर ले जाती है, मन को एक शिखर आरोहण करा देती है। साधक का यह अनुभव उसे अध्यात्म की ओर अधिक गहराई में ले जाने को आतुर हो जाता है और इसके लिए आवश्यक पुरुषार्थ विशेष करने का भी साहस देता है। साधक के मन में आध्यात्मिक उन्नति की ऐसी उमंग चढ़ती है जिसका कोई पार नहीं। यह उत्साह, उमंग और दृढ़-इच्छाशक्ति बड़ी सात्विक और संयमित होती है। इन क्षणों में साधक अनियंत्रित होकर नहीं अपितु पूर्ण संयमित होकर योग मार्ग पर आरूढ़ हो जाता है।

शब्द को विषय बनाकर जब साधक अभ्यास करता है तो वहां शब्द की निरन्तरता होनी चाहिए। यदि शब्द बीच-बीच में खंडित हो रहा है तो वृत्ति का प्रवाह नहीं बन पाएगा, बार बार एकाग्रता भंग होगी जिससे मन में चंचलता कम होने के बजाय बढ़ने लगे जाएगी।

अतः नदी का अजस्र प्रवाह या सतत चलने वाली ओंकार की ध्वनि ही सर्वश्रेष्ठ है। जितनी भी प्राकृतिक सतत चलने वाली ध्वनियां हैं वही इस उपाय के लिए उपयुक्त हैं।

शब्द के बाद रूप एक ऐसा विषय है जो प्रतिक्षण हमारे अनुभव में आता है। बन्द आंखों से भी रूप एक ऐसा विषय है जो निरंतर दिखता एवं चलता रहता है। मन की इस सहज प्रवृत्ति को यदि ध्यान एवं एकाग्रता का विषय बना लिया जाए तो आसानी से अन्य विषय तिरोहित हो जाते हैं। रूप विषय को माध्यम बनाकर अभ्यास करने के लिए साधक को किसी बन्द गुफा या बन्द कमरे में जहां किसी भी प्रकार से शब्द न सुनाई दे, वहाँ बैठना चाहिए ताकि केवल रूप विषय पर एकाग्रता बनाई जा सके। जहां शब्द व्यवधान न बने किसी भी तरह। हाँ एकबार जब साधक इसमें निष्णात हो जाता है तब उसके लिए शब्द भी किसी प्रकार का व्यवधान नहीं रह जाता है। लेकिन प्रारंभिक साधकों के लिए यह सावधानी अत्यंत आवश्यक है।

बन्द कमरे या गुफा में पद्मासन या सुखासन में बैठकर शांत चित्त चित्र या भगवान की मूर्ति को अविचल निहारते जाएं। प्रगाढ़ता के साथ देखने भर का अभ्यास करना है जिससे कि वह रूप ही शेष रह जाये। रूप जितना अज्ञात की ओर ले जाने वाला हो उतना ही श्रेष्ठ है, क्योंकि अज्ञात की ओर ले जाना वाला रूप विचार की ओर नहीं लेकर जाता वह शून्य की ओर ले जाता है। अज्ञात के विषय में हमें कुछ पता नहीं होता है इसलिए उस विषय में विचार उत्पन्न न होकर शून्यता महसूस होती है जो मन को शांत एवं निर्मल बना देती है।

इसी प्रकार दिव्य गंध, सात्विक गंध का आलंबन लेकर उस गन्ध विषय में पूर्णतः एकाकार हो जाने से भी मन को निर्मलता एवं प्रशान्तिता प्राप्त होती है। जब भी हम विषयों को माध्यम बनाकर मन की शांति एवं स्थिरता के लिए साधना या अभ्यास करते हैं तो यह अनिवार्य शर्त है कि हम उस विषय में पूर्णतः तल्लीन हो जाएं, उस विषय के अतिरिक्त हमारे भीतर कुछ भी शेष न बचे ऐसी स्थिति का निर्माण हुए बिना, हम प्रकृष्ट वृत्ति द्वारा मन को एकाग्र एवं शांत नहीं कर सकते हैं।

दिव्य गन्ध या सात्विक गन्ध के लिए आप सुगंधित घूप, किसी पुष्प की सुगंध या सात्विक मिष्ठान या पकवान की गन्ध का सहारा ले सकते हैं। तीक्ष्ण इत्र या ऐसी गन्ध जो मन को उत्तेजित करती हो उसको विषय नहीं बनाना चाहिए।

गन्ध, रस एवं स्पर्श ये विषय ऐसे हैं जिन्हें साधने में विशेष प्रयत्न या अभ्यास करना पड़ता है। मेरी दृष्टि में साधक को शब्द के आश्रय अथवा दिव्य रूप के आश्रय से ही यह साधना करनी चाहिए क्योंकि यह सर्वसुलभ एवं सरल विधियों में से एक है। समाज में इन दो विधियों का सहारा भी खूब लिया जाता है। अन्य तीन गन्ध, रस एवं स्पर्श का प्रचलन कम रहा है और श्रम साध्य है। जब साधक के पास दो सर्वसुलभ विकल्प उपलब्ध हों तब साधक को इन्हीं दो के ऊपर कार्य करना चाहिए।

रस के माध्यम से यदि कोई अभ्यास करना चाहे तो किसी मन पसंद एवं जो घर में बन सकता है ऐसे मिष्ठान को विषय बनाकर उसके ही रस का स्वाद महसूस करते हुए पूर्णतः उसमें तल्लीन हो जाएं। बांकी सभी विषय निवृत्त हो जाएं; केवल रस विषय ही शेष रह जाये इस प्रकार भी एक वृत्ति शेष रहने से मन की शांत स्थिति एवं स्थिरता प्राप्त हो जाती है।

जो साधक स्पर्श विषय को आधार बनाकर मन को शांत एवं स्थिर करना चाहते हैं वे किसी कोमल वस्त्र, कम्बल आदि के सात्विक स्पर्श को विषय बनाकर उसको अनुभव करने का अभ्यास करें और धीरे धीरे उस स्पर्श में तल्लीन हो जाये जिससे केवल



स्पर्श का अनुभव ही शेष रह जाये।

इस प्रकार 5 विषयों को किस प्रकार विषय बनाकर उझसे मन को शांत एवं निर्मल किया जा सकता है उसकी बात यहां पूरी हुई। स्मरण रहे कि यह उपाय केवल मन को शांत करने, एकाग्रता बनाने एवं मन की स्थिरता के लिए किए जाने चाहिए न कि इन्हें ही अंतिम उपाय मान लिया जाए। योग की उच्चतम साधना के लिए ये उपाय साधन मात्र हैं।

आगे के सूत्रों में मन की प्रशांतता एवं निर्मलता के लिए महर्षि कुछ और उपाय बता रहे हैं।

### विशोका वा ज्योतिष्मती॥१.३६॥

पदच्छेदः विशोका , वा , ज्योतिष्मती।

शब्दार्थः वा- अथवा, विशोका - शोकरहित, ज्योतिष्मती - ज्योतिष्मति प्रवृत्ति (भी मन की स्थिति को बाँधने वाली होती है)।

व्यासभाष्यम्- प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनीत्यनुवर्तते। हृदयपुण्डरीके धारयतो या बुद्धिसंवित, बुद्धिसत्त्वं हि भास्वरमाकाशकल्पं, तत्र स्थितिवैशारद्यात्प्रवृत्तिः सूर्येन्दुग्रहमणिप्रभारूपाकारेण विकल्पते। तथाऽस्मितायां समापन्नं चित्तं निस्तरङ्गमहोदधिकल्पं शान्तमनन्तमस्मितामात्रं भवति। यत्रेदमुक्तम्-तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येवं तावत्संप्रजानीत इति। एषा द्वयी विशोका विषयवती, अस्मितामात्रा च प्रवृत्तिर्ज्योतिष्मतीत्युच्यते यया योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥३६॥

भाष्यानुवाद- प्रवृत्तिरुत्पन्ना मनसः स्थितिनिबन्धनी, यह अंश पूर्वसूत्र से आता है। हृदयपुण्डरीक में धारणा करने वाले योगी को बुद्धि का जो साक्षात्कार होता है - बुद्धिसत्त्व प्रकाशरूप आकाश के समान होता है उसमें एकाग्रताजन्य निर्मलता के कारण प्रवृत्ति (उत्कृष्ट ज्ञान) सूर्य, चन्द्र, ग्रह, मणि की कान्ति के सदृशरूप वाली उत्पन्न होती है। उसी प्रकार अस्मिता में एकाग्रचित्त तरङ्गों से रहित महान् समुद्र के समान शान्त, महान् अस्मितामात्र होता है। जिसके विषय में कहा गया है कि उस अणुमात्र आत्मा को जानकर मैं हूँ इस प्रकार जानता है। विशोका ज्योतिष्मती नामक यह प्रवृत्ति दो प्रकार की है - एक विशोका विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति, दूसरी विशोका अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति। जिस साक्षात्कारात्मक प्रवृत्ति के द्वारा योगी का चित्त स्थिति पद को प्राप्त करता है॥३६॥

शोक से रहित एवं प्रकाश पूर्ण प्रवृत्ति उत्पन्न करने से भी साधक का मन स्थिरता को प्राप्त होता है। पूर्व में कहे गए उपायों से जिस प्रकार मन स्थिर, शांत एवं विमल हो जाता है इसी प्रकार विशोका ज्योतिष्मती नाम की इस विशेष प्रवृत्ति से भी मन विमल हो जाता है।

व्यास भाष्य के अनुसार यह दो प्रकार की है- 'विषयवती ज्योतिष्मती' 'अस्मिता मात्र ज्योतिष्मती'

इस प्रवृत्ति में सत्त्व गुण अधिक मात्रा में रहता है; रजोगुण एवं तमोगुण शून्य रहता है। रजोगुण एवं तमोगुण रहित होने से ही इसे विशोका कहा जाता है। शोकरजो गुण एवं तमोगुण से ही उत्पन्न होता है।

कुछ ध्यान के अभ्यासी बताते हैं कि नाभि के ऊपर हृदय प्रदेश में एक कमल है जिसका मुख नीचे की ओर है। श्वास को तेजी से बाहर फेंकने एवं वहीं रोकने से यह कमल ऊर्ध्व मुख हो जाता है और साधक प्रफुल्लित अनुभव करने लग जाता है। इस हृदय प्रदेश स्थित कमल के बीच में ओंकार है। इस कमल का सीधा सम्बन्ध ब्रह्मनाडी से है जो सूर्य, चंद्र आदि लोको से संबंधित है। जब साधक या योगी इस बिंदु पर एकाग्र होता तो आत्मा में सात्विक प्रकाश भासने लग जाता है। योगी को सर्वत्र सुनहरा प्रकाश अनुभव में आता है जिससे उसका मन गहरा शांत होने लग जाता है।

कुछ योगी बताते हैं कि भृकुटि मध्य में सात्विक प्रकाश की कल्पना करने से धीरे धीरे वहां प्रकाश की झलक दिखाई देने लग जाती है और गहरे अभ्यास से पूरे शरीर में वह प्रकाश फैलने लग जाता है। जिससे साधक का मन उसी प्रकाश में तल्लीन हो जाता है और वह स्वयं को प्रकाश स्वरूप अनुभव करने लग जाता है।

### वीतरागविषयं वा चित्तम्॥३७॥

पदच्छेदः वीत , राग , विषयम् , वा , चित्तम्।

शब्दार्थः वा - अथवा, राग- राग, वीत- रहित, विषयम्- विषयवाला (महापुरुषों का)

चित्तम्- चित्त (मन की स्थिति को बाँधने वाला होता है)।

व्यासभाष्यम्-वीतरागचित्तालम्बनोपरक्तं वा योगिनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति॥३७॥

भाष्यानुवादः- वीतराग योगियों के चित्त का आलम्बन करने वाले योगसाधक का चित्त 'स्थितिपद' को प्राप्त करता है॥३७॥

जिन योगियों का चित्त अर्थात् अंतःकरण राग मुक्त हो गया है ऐसे योगियों के चित्त का आश्रय लेने से, उनके चित्त में एकाग्रता बनाने से भी साधक का चित्त निर्मल एवं शांत हो जाता है।

हम जिस भाव से युक्त होकर, जिस वीतराग महापुरुष के द्वंद्वातीत, इच्छारहित, सहज एवं सरल चित्त का भाव आश्रय लेकर अभ्यास करते हैं, हम भी उसी वीतराग भाव से आप्लावित होने लगते हैं। हम जैसे विचार करते हैं वैसे ही बनने लग जाते हैं। जैसी

वस्तु, विचार या व्यक्ति की महिमा गाते हुए उसपर चिंतन करते हैं उस वस्तु, विचार या व्यक्ति की महिमा से हम भी भरने लग जाते हैं। इसी मूल धारणा का सहारा इस सूत्र में लिया गया है।

कैसे लें वीतराग चित्त का आश्रयः साधक अपनी सुविधानुसार किसी भी आसन चाहे पद्मासन हो या सुखासन या अन्य कोई, उसमें अच्छे से स्थित होकर कोमलता से आंखें बंद करके किसी वीतराग महापुरुष के इच्छारहित चित्त पर मन को एकाग्र करने का अभ्यास करें।

एक मिनट तक मध्यम गति से श्वास को भीतर लें और छोड़ें। इस प्रकार से मन आंशिक शांत होकर प्रारंभिक रूप से एकाग्र हो जाएगा और साधक वीतराग चित्त पर सहजता से मन को टिका सकता है।

एक बार में ही वीतराग महापुरुष जैसे महर्षि पतंजलि, महर्षि कपिल, महर्षि कणाद, महर्षि जैमिनी, महर्षि वेदव्यास, मर्यादा पुरुषोत्तम भगवान श्री राम, योगेश्वर भगवान श्री कृष्ण, आदि योगी शिव अथवा ऐसे गुरु जिनके ऊपर आपको विश्वास हो कि वे वीतराग हो चुके हैं; ऐसे वीतराग चित्त की महिमा का मन ही मन में स्पष्टता से मनन कर लें और प्रसन्नता का अनुभव करें। तत्पश्चात् ऐसे वीतराग चित्त में अपनी सम्पूर्ण ऊर्जा, प्रयास को लगा दें और अपने को तल्लीन कर दें।

एक बात का ध्यान रखना है कि इसमें अधिक विचार नहीं करना है अपितु वीतराग महापुरुष के चित्त को ही अनुभव करने का प्रयास करना है। साधक को इस स्थिति तक पहुँचना होगा जैसे वे वीतराग महापुरुष के चित्त वाला ही हो गया है और उसे वह सब अनुभव हो रहा है जैसा उन वीतराग महापुरुष को महसूस होता हो। यह इस साधना का मुख्य एवं मूल बिंदु है।

जब साधक इस प्रकार से वीतराग चित्त को अनुभव करने लग जायेगा तो स्वतः ही उसका भी चित्त तदाकार हो शांत एवं निर्मलता को प्राप्त हो जाएगा। क्योंकि जिसके सभी द्वंद्व समाप्त हो चुके हैं, जिसकी इच्छा और अनिच्छा समाप्त हो गई है, जो राग और द्वेष से पार सहज और सरल हो चुका है, जो किसी भी दौड़ का हिस्सा नहीं है, जो एकत्व एवं समत्व को प्राप्त हो चुका है वह मन की निर्मलता एवं प्रशांतता को सदा पाया हुआ है और ऐसे चित्त का आश्रय उस साधक को भी इसी प्रकार की अनुभूति से भर देता है।

ऐसा नहीं है कि इस विधि को अपनाने के बाद साधक का चित्त सदा के लिए निर्मल एवं शांत हो जाता है, साधक जब जब इस विधि का प्रयोग करता है तब तब उसका मन शांत एवं निर्मल हो जाता है। शांत एवं निर्मल हुए मन से योग मार्ग पर आगे बढ़ने में सहायता मिलती है। यह बार-बार करने वाला अभ्यास है। इसके बार-बार के अभ्यास से फिर साधक का चित्त सहज ही प्रसन्न एवं शांत रहने लगता है। राग से रहित महापुरुषों, योगियों के चित्त में मन को एकाग्र करनेवाला चित्त भी साधक के मन को शांत, स्थिर एवं निर्मल बनाता है।

ऐसे योगी एवं महापुरुष, जीवन के सभी क्षेत्रों में हमारे आदर्श जिन्होंने पूर्व में योग विद्या एवं अध्यात्म विद्या से अपने अंतःकरण को निर्मल, शुद्ध एवं राग रहित कर लिया है, उनके चित्त में मन को अखंडरूपेण लगाए रखने से भी साधक के मन में शांत प्रवृत्ति उत्पन्न होने लगती है जिससे उसका मन भी शांत एवं निर्मल हो जाता है।

हमारा मस्तिष्क जैसा सोचता है, हृदय जैसी भावना रखता है और बुद्धि जैसी तर्कपूर्ण एवं श्रद्धा के साथ विचार करती है; इन सब में हमारा लगाव या जुड़ाव होता जाता है। योगियों का रागरहित हुआ चित्त भी एक सात्विक आलंबन है जिस पर यदि इच्छापूर्वक मन एकाग्र किया जाए तो जैसा एक रागरहित हुए योगी के चित्त में प्रशांतता होती है; उसी की तरंग साधक भी महसूस करने लग जाता है।

आप भी एक प्रयोग करके इसे अनुभव कर सकते हैं। परम पिता परमेश्वर के प्रति, अपने गुरुजनों के प्रति हमारी अनन्य श्रद्धा होती है। प्रत्यक्ष रूप से हमारे गुरु का हमारे जीवन पर सीधा प्रभाव पड़ता है। एक समर्थ गुरु अपने शिष्यों के जीवन को प्रतिपल मार्गदर्शित करते हैं क्योंकि उनका सम्पूर्ण जीवन ही शिष्य के लिए दर्शन बन जाता है। एक ओर जहाँ गुरु का आचरण भी शिष्य को उसके जीवन में मार्गदर्शक का कार्य करता है वहीं अपने वचनों से, अपने आदेशों व निदेशों से भी शिष्य को आगे बढ़ने में सहायता करते हैं।

“परमपिता परमेश्वर या मेरे समर्थ गुरु एवं गुरुसत्ता, ऋषि सत्ता मेरे माध्यम से जी रहे हैं। मेरे माध्यम से मेरा परमात्मा, मेरा गुरु जी रहा है। इसलिए मैं एक पल को भी कोई ऐसा कार्य, भावना या विचार न करूँ जिससे मेरे परमात्मा और मेरे गुरु के जीने के ढंग पर कालिख पड़े।” इस प्रकार की भावना से आवेशित चित्त से जब हम अपने अपने समर्थ एवं योगी गुरु, स्वयं परमात्मा के चित्त पर मन को एकाग्र ही नहीं अपितु हम वहीं हैं ऐसा मानेंगे तो तत्क्षण हमारा पुराना चित्त खो जायेगा और तत्क्षण हम भी शांति पा जाएंगे।

यह प्रयोग अध्यात्म की दृष्टि से भी अत्यंत लाभकारी है। ऐसा विचार करने मात्र से आपके जीवन में सकारात्मक परिवर्तन

आने लग जाएंगे और पाएंगे कि आप उसी समय एक नए इंसान बन गए हैं। गुरु चेतना, ऋषि चेतना एवं ब्रह्म चेतना आपके भीतर प्रकाशित होने लग जायेगी। यदि जीवन को जीना ही जो तो उसे अपना मानकर नहीं अपितु परमात्मा का मानकर जियेंगे तो सदैव तनावमुक्त, प्रसन्नचित्त, पुरुषार्थी जीवन जियेंगे।

इस पूरे संसार में परमात्मा एवं समर्थ गुरु सत्ता, ऋषि सत्ता के अतिरिक्त किसका ऐसा चित्त होगा जिस पर मन एकाग्र किया जा सकता हो अर्थात् केवल परमात्मा एवं समर्थ गुरु सत्ता का चित्त ही ऐसा चित्त है, अन्य नहीं।

आज के समय में हम ऐसे ही समर्थ गुरु परम पूज्य स्वामी रामदेव जी महाराज जी के आश्रय में पल और बढ़ रहे हैं जिनके चित्त में मन को लगाकर हम भी अपने मन को शांत और निर्मल बना सकते हैं। पूज्य श्री की अपनी निजी अभिलाषा परमात्मा की अभिलाषा में मिल गई है इसलिए उनका स्वयं का कोई राग और द्वेष नहीं है। ऐसे रागरहित एवं द्वेष रहित चित्त पर भी साधक सुगमता से मन को एकाग्र कर मन को स्थिर कर सकता है।

**स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनं वा॥1.38॥**

**पदच्छेदः** स्वप्न , निद्रा , ज्ञान , आलम्बनम् , वा।

**शब्दार्थः** स्वप्न- स्वप्न (और), निद्रा- निद्रा (के), ज्ञान- ज्ञान (का), आलम्बनम् - अवलम्बन (करनेवाला चित्त), वा- भी (स्थिर हो सकता है)।

**व्यासभाष्यम्-** स्वप्नज्ञानालम्बनं वा निद्राज्ञानालम्बनं वा तदाकारं योगनश्चित्तं स्थितिपदं लभत इति ॥38॥

**भाष्यानुवादः-** स्वप्नगत ज्ञान को आलम्बन बनाने वाला वा सुषुप्तिगत ज्ञान को आलम्बन करने वाला, तदाकारकारित योगी का चित्त स्थितिपद को प्राप्त करता है ॥३८॥

स्वप्नज्ञानित एवं निद्रा से जनित ज्ञान का आलंबन लेने वाला चित्त भी मन को स्थिरता एवं प्रशांतता देने वाला होता है। शास्त्रों में तीन प्रमुख अवस्थाओं को माना गया है। जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, जाग्रत अवस्था में रजोगुण की अधिकता होने और तमो गुण के दबे होने से मनुष्य की वृत्तियां बाहर की ओर बहती हैं। वहीं निद्रा में तमोगुण बढ़ जाता है और रजोगुण को दबा लेता है जिससे वृत्तियां भीतर की ओर (अंतर्मुखी) हो जाती हैं।

जाग्रत से भिन्न निद्रा अवस्था को भी ज्ञान की दृष्टि से दो भागों में बांटा जा सकता है।

एक स्वप्न दूसरा सात्त्विक निद्रा। ऐसे व्यक्तियों के लिए, जिन्हें अच्छी सात्त्विक वृत्ति के कारण सात्त्विक स्वप्न आते हैं उनके लिए एक उपाय बताते हैं। वे कहते हैं कि, जब व्यक्ति प्रातः काल सोकर उठता है तो कई बार स्वप्न का ज्ञान उठने के बाद बना रहता है। प्रयत्नपूर्वक यदि कोई उस ज्ञान को स्मरण कर कुछ काल तक उसी स्वप्न ज्ञान की स्मृति को बना पाए तो एकाग्रता के समय उस ज्ञान का निरंतर आलंबन लेकर भी मन शांत और निर्मल हो जाता है। स्मृति का गहरा प्रयोग कर वह चित्त एक वृत्ति का आश्रय लेकर स्थिरता को प्राप्त हो जाता है।

इससे भिन्न, अर्थात् स्वप्न से भिन्न सुषुप्ति अवस्था से बाहर आकर जब कोई व्यक्ति यह कहता है कि वह रात सुखपूर्वक सोया, उसे बहुत अच्छा विश्राम प्राप्त हुआ तो यह जो सोने के बाद का ज्ञान है यदि कोई इस अनुभूति का आलंबन लेकर मन को एकाग्र करे तो वह भी शांति को प्राप्त कर सकता है और यह आलंबन भी मन को सम्यक् रूप से बांधने वाला होता है।

महर्षि ने इन सूत्रों में प्रसिद्ध सभी विधियों के बारे में अपने शिष्यों को बता दिया, इन विधियों की कोई भी सीमा नहीं है यह जानकर उन्होंने चित्त की प्रशांतता प्राप्त करने के लिए अंतिम उपाय भी अगले सत्र में बता दिया है।

**यथाभिमतध्यानाद्वा॥1.39॥**

**पदच्छेदः** यथा , अभिमत , ध्यानात् , वा

**शब्दार्थः** यथा - (जिसको) जो, अभिमत - अभिमत (हो, उसके), ध्यानात् - ध्यान से;

**वा** - भी (मन स्थिर हो जाता है)।

**व्यासभाष्यम्-** यदेवाभिमतं तदेव ध्यायेत्। तत्र लब्धस्थितिकमन्यत्रापि स्थितिपदं लभत इति॥39॥

**भाष्यानुवादः-** उपरोक्त निर्देशित साधनों में से जो साधन साधक के अनुकूल हों, उन्हीं के आलम्बन से चित्त को एकाग्र करने का प्रयत्न करे। वहाँ पर स्थिरता को प्राप्त चित्त (योग से सम्बद्ध) अन्य विषयों में भी स्थितिपद को प्राप्त करता है॥३९॥

उपरोक्त कही गई विधियों में से जिसे जो विधि अपनी प्रकृति के अनुसार उचित लगती हो या समझ में आती हो, उसके अनुष्ठान या पालन से भी मन शांत एवं निर्मल हो जाता है।

इस सूत्र के दो प्रकार से अर्थ निकलते हैं। एक, उपरोक्त विधियों में से कोई एक विधि या उपरोक्त बताई गई विधियों के

अतिरिक्त कोई अन्य विधि

मन को शांत, प्रशांत, निर्मल, विमल एवं स्थिर करने के लिए उस समय प्रचलित कुछ प्रमुख एवं मर्यादित साधनों एवं विधियों का अच्छी प्रकार से उल्लेख करने के बाद भी महर्षि ने यहां कहा है कि केवल 6 विधि ही नहीं है अपितु मन को शांत एवं निर्मल करने के और भी उपाय हो सकते हैं अतः जिसको जैसा अभिमत हो वह उन विधियों की सहायता से मन को शान्त कर सकता है अर्थात् वह अन्य सात्त्विक विधियों का अनुष्ठान कर सकता है।

हम सब ऋषि मुनियों की ही संतान हैं, वे ही हमारे पूर्वज और आदर्श हैं। उन्होंने प्रथम दृष्टि से जिन विधियों का उल्लेख मन की निर्मलता एवं उसकी स्थिरता के लिए सूत्र रूप में कह दिए हैं, हमें उन्हीं विधियों को अपने अभ्यास में लाना चाहिए; क्योंकि बहुत सारी विधियों में से स्वयं महर्षि ने श्रेष्ठ आलंबनों का चुनाव किया है।

महर्षि ने यह सूत्र रचकर अन्य संभावित विधियों का निषेध नहीं किया है। प्रत्येक सूत्र में “यह नहीं तो इस विधि का उपयोग करें” ऐसा वे कहते आये हैं।

महर्षि के समय में बहुत सारी विधियां प्रचलित होंगी, उन विधियों में से जब कुछ प्रमुख विधियों को सूत्र रूप में कह दिया तो अन्य विधियों का कोई निषेध नहीं हो जाये इसलिए यह सूत्र कहा है।

#### 5 अंक के प्रश्न:-

1. एकाग्रता का अर्थ क्या है?
2. चित्त विचलन के कारण बताइए।
3. प्राणायाम का महत्व क्या है?
4. साधना किसे कहते हैं?
5. मानसिक एकाग्रता के लाभ बताइए।

#### 15 अंक के प्रश्न:-

1. चित्त की एकाग्रता के विभिन्न उपायों का वर्णन कीजिए।
2. योग, प्राणायाम और ध्यान की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. साधना के द्वारा मानसिक विकास पर निबंध लिखिए।

#### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. एकाग्रता बढ़ाने में सहायक हैरू

(क) ध्यान

(ख) क्रोधा

(ग) आलस्य

(घ) भय

2. प्राणायाम का संबंध हैरू

(क) श्वास नियंत्रण

(ख) भोजन

(ग) निद्रा

(घ) क्रोधा

3. साधना का उद्देश्य हैरू

(क) मानसिक विकास

(ख) हिंसा

(ग) तनाव

(घ) आलस्य

#### महत्वपूर्ण बिंदु:-

- ध्यान और प्राणायाम एकाग्रता बढ़ाते हैं।
- साधना मानसिक विकास का माध्यम है।
- चित्त की स्थिरता से फलता प्राप्त होती है।

**शब्दावली:-**

- एकाग्रता - मन की स्थिरता
- प्राणायाम - श्वास नियंत्रण
- साधना - आध्यात्मिक अभ्यास

## खण्ड-4 क्रिया योग एवं पञ्च क्लेश

### इकाई-4.1- क्रिया योग की परिभाषा

उद्देश्य-

1. क्रिया योग की अवधारणा को समझना।
2. योग दर्शन में क्रिया योग के महत्व का अध्ययन करना।
3. तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के स्वरूप को जानना।

तपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः॥२.१॥

पदच्छेदः तपः, स्वाध्याय, ईश्वर-प्रणिधानानि, क्रिया-योगः।

शब्दार्थः तपः - तप, स्वाध्याय - अध्यात्मशास्त्रों के पठन-पाठन (और), ईश्वर-प्रणिधानानि - ईश्वर शरणागति - (ये तीनों), क्रिया-योगः - क्रिया योग हैं।

व्यासभाष्यम्- नातपस्विनो योगः सिध्यति। अनादिकर्मक्लेशवासनाचित्रा प्रत्युपस्थितविषयजाला चाशुद्धिर्नान्तरेण तपः संभेदमापद्यत इति तपस उपादानम्। तच्च चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते। स्वाध्यायः प्रणवादिपवित्राणां जपो मोक्षशास्त्राध्ययनं वा। ईश्वरप्रणिधानं सर्वक्रियाणां परमगुरावर्पणं तत्फलसंन्यासो वा॥१॥

भाष्यानुवादः- जो तप नहीं कहता (व्यक्ति) उसका योग सिद्ध नहीं होता। प्रवाह से अनादि कर्मों एवं क्लेशों की वासनाओं से रंगी हुई एवं विषयजाल को उपस्थित करने वाली अशुद्धि तपस्या के बिना छिन्न-भिन्न नहीं होती। इसलिये तप का ग्रहण किया है। और साधक के द्वारा वह तपस्या की जानी चाहिए जो चित्त को प्रसन्न करने वाली हो, बाधित न करने वाली हो, ऐसा योगी लोग मानते हैं। प्रणवादि पवित्रमन्त्रों का जप और मोक्षशास्त्रों का अध्ययन स्वाध्याय कहा जाता है। सब कर्मों को परमगुरु (ईश्वर) में अर्पित कर देना और उनके लौकिक फलों को न चाहना ईश्वर प्रणिधान है॥१॥

साधनपाद का यह प्रथम सूत्र है। समाधिपाद में योग के मूलभूत एवं उच्च सिद्धांतों का प्रतिपादन करने के बाद महर्षि साधनपाद का आरंभ करते हैं। साधन पाद में क्रियायोग एवं अष्टांग योग के माध्यम से समाधिलाभ प्राप्त करने की विधियों एवं उपायों के ऊपर दृष्टि डाली गई है। शिष्यों को सर्वप्रथम क्रिया योग के रूप में पहला साधन बताते हैं-

**क्रियायोगः** तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान इन तीन साधना पद्धति के समग्र अनुष्ठान को 'क्रिया योग' के नाम से कहा गया है।

कोई भी व्यक्ति जो योग मार्ग पर अपनी यात्रा प्रारम्भ करना चाहता है वह इन तीन प्रकार की साधनाओं को एक साथ अनुष्ठान के रूप में कर सकता है। इसके लिए किसी विशेष योग्यता की आवश्यकता नहीं है। ऐसी साधना पद्धति जिसे समझकर कोई भी अपना कार्मिक अनुष्ठान प्रारंभ कर सकता है।

**तपः** - द्वन्दों को सहन करने का नाम तप है। द्वंद्व हैं-सुख दुख, लाभ हानि, मान अपमान, सदीं गर्मी आदि। जीवन में व्यक्ति अनेक प्रकार जे द्वन्दों से घिरा रहता है अतः किसी भी साधक को इन द्वन्दों को सहने का अभ्यास करना चाहिए जिससे उसके भीतर तप का अंश निर्मित होने लग जाये और उसकी सहनशक्ति बढ़कर उसे किसी भी प्रकार के उलझन से, विचलन से बचा ले।

ऐसा कहा गया है कि जो तपस्वी नहीं है उसका योग सिद्ध नहीं होता है। अर्थात् जो तपस्वी नहीं होगा तो निश्चित रूप से वह द्वन्दों से भरा होगा और विचलन की स्थिति में होगा। विचलन और द्वंद्व से भरे व्यक्ति में योग घटित नहीं हो सकता है। अतः तपस्वी होने को हमें अनिवार्य रूप से प्रथम और महत्वपूर्ण चरण समझना चाहिए।

योग के जितने भी साधन होंगे वहां अभ्यास और वैराग्य की उपस्थिति अवश्यमेव होगी। योग के सब प्रकार के साधनों के अनुष्ठान में अभ्यास और वैराग्य ये दो सर्वोपरि साधनों की आहुति अवश्य लगेगी। तप का निरंतर अभ्यास और तप के अनुष्ठान में बाधक तत्वों के प्रति वैराग्य, यह सबकुछ योगी के लिए कर्तव्य है।

स्वाध्याय स्व का अर्थ है स्वयं और अध्याय का अर्थ है अध्ययन। स्वयं का अध्ययन। स्वाध्याय का दूसरा अर्थ है ऐसे शास्त्रों का अध्ययन जो योगी की अक्लिष्ट वृत्तियों को उभारे तथा क्लिष्ट वृत्तियों को नष्ट करने में सहायक हों। शास्त्र या गुरु वचन जो योगी को योग मार्ग पर बनाये रखें, उसे योग की स्थिति से नीचे न आने दें।

स्वाध्याय एक एन्टी वायरस की तरह है जो बीच-बीच में आने वाले संशयों को दूर करके बार-बार साधक को योग मार्ग पर उन्मुख करता है। यदि कोई साधक तप तो करता है, ईश्वर प्रणिधान भी करता है तो उसे कभी कभी संशय घेर सकता है उस स्थिति में उसके योग मार्ग से गिरने की संभावना भी रहती है अतः समग्र रूप से क्रिया योग का अनुष्ठान करणीय है।

स्वाध्याय से साधक स्वतः योग मार्ग पर आरूढ़ रहता है।

ईश्वर प्रणिधानः मन, वचन, वाणी से अपने समस्त कर्मों को बिना फल की इच्छा किये सर्वमना ईश्वर को समर्पित कर देना ईश्वर प्रणिधान कहलाता है। ईश्वर प्रणिधान नें साधक स्वयं को निमित्त मात्र मानकर कर्मयोग का आश्रय लेकर, अपने आश्रम विहित कर्मों को असंशयित होकर करता है जिससे वह द्वंद्व रहित हो जाता है और समाधि की ऊंची स्थिति तक पहुंच जाता है।

योग में ईश्वर प्रणिधान एक प्रमुख साधना पद्धति गई जिसका अवलम्बन लेकर किसी भी श्रेणी का साधक योग के सर्वोपरि लाभ समाधि तक को प्राप्त कर सकता है। इन तीन क्रियाओं का समग्र रूप से अनुष्ठान करते रहने से, योग यात्रा अच्छे से आगे बढ़ जाती है।

### अंक के प्रश्न

1. क्रिया योग क्या है?
2. तप का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. स्वाध्याय किसे कहते हैं?
4. ईश्वर प्रणिधान का महत्व क्या है?
5. योग में अनुशासन की भूमिका बताइए।

### 15 अंक के प्रश्न

1. योग दर्शन में क्रिया योग का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान की विवेचना कीजिए।
3. मानसिक शुद्धि में क्रिया योग की भूमिका पर निबंध लिखिए।

1. क्रिया योग के अंग हैं

(क) तप

(ख) स्वाध्याय

(ग) ईश्वर प्रणिधान

(घ) उपरोक्त सभी

2. स्वाध्याय का संबंध है

(क) अध्ययन

(ख) भोजन

(ग) निद्रा

(घ) खेल

3. ईश्वर प्रणिधान का अर्थ है

(क) ईश्वर में समर्पण

(ख) क्रोधा

(ग) हिंसा

(घ) आलस्य



### महत्वपूर्ण बिंदु

- ★ क्रिया योग आत्मशुद्धि का साधन है।
- ★ तप अनुशासन को विकसित करता है।
- ★ स्वाध्याय आत्मज्ञान को बढ़ाता है

### शब्दावली

- ★ तप - आत्मसंयम
- ★ स्वाध्याय - आत्म अध्ययन
- ★ ईश्वर प्रणिधान - ईश्वर में समर्पण

## इकाई-4.2 क्रिया योग का फल

उद्देश्य:-

1. क्रिया योग के लाभों को समझना।
2. मानसिक एवं आध्यात्मिक विकास का अध्ययन करना।
3. योग साधना के परिणामों को जानना।

**समाधिभावनार्थः क्लेशतनूकरणार्थश्च ॥2.2॥**

**पदच्छेदः** समाधि , भावना , अर्थः , क्लेश , तनू , करण , अर्थः , च

**शब्दार्थः** समाधि - (यह क्रियायोग) समाधि की, भावना - सिद्धि, अर्थः - के लिए, च - और, क्लेश -(अविद्यादि) क्लेशों को, तनू - क्षीण, करण - करने, अर्थः - के लिए (है)।

**व्यासभाष्यम्-** स ह्यासेव्यमानः समाधिं भावयति क्लेशांश्च प्रतनूकरोति। प्रतनूकृतान्क्लेशान्प्रसंख्यानाग्निना दग्ध बीजकल्पानप्रसवर्धर्मिणः करिष्यतीति तेषां तनूकरणात्पुनः क्लेशैरपरामृष्टा सत्त्वपुरुषान्यतामात्रख्यातिः सूक्ष्मा प्रज्ञा समाप्ताधि कारा प्रतिप्रसवाय कल्पिष्यत इति॥२॥

**भाष्यानुवादः** - सेवन किया जाने वाला वह (क्रियायोग) समाधि को उत्पन्न करता है और क्लेशों को निर्बल बना देता है। वह निर्बल बने क्लेशों को विवेकख्याति रूपी अग्नि के द्वारा दग्धबीज सदृश बनायेगा। उनके निर्बल करने से क्लेशों के सम्पर्क से रहित सत्त्व (बुद्धि) पृथक् है और पुरुष पृथक् है इसको जनाने वाली सूक्ष्मबुद्धि समाप्ताधिकार वाली (कृतकृत्य) होकर प्रकृति में लीन होने में समर्थ हो जायेगी॥२॥

प्रथम सूत्र में क्रियायोग की साधनात्रय पद्धति के बारे में बताने के बाद शिष्यों के मन की सहज जिज्ञासा का समाधान करते हुए महर्षि कहते हैं कि- क्रियायोग के निरंतर अभ्यास एवं वैराग्यपूर्ण अनुष्ठान से समाधि की भावना प्रबल होती है और साथ ही साथ में व्यक्ति के भीतर पञ्च क्लेशों का बल भी क्षीण होता चले जाता है। पञ्च क्लेश कौन कौन से हैं एवं उनके अपने क्या-क्या कार्य हैं, यह सबकुछ आने वाले सूत्रों में महर्षि पृथक् रूप से बताएंगे।

जब साधक क्रियायोग अर्थात् तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान का निरंतर अनुष्ठान करता है तब उसके भीतर विवेकख्याति नाम की अग्नि उत्पन्न होने लगती है जो क्लेशों को दग्धबीज जैसी अवस्था में ले आती है। योग की भाषा में कहें तो प्रकृति और पुरुष के भेद को जनाने वाली सूक्ष्म बुद्धि प्रकृति में लीन हो जाती है।

**क्रियायोग से कैसे क्लेश निर्बल हो जाते हैं-** तप से साधक के शरीर के साथ-साथ मन की भी अशुद्धि मिटने लगती है, वहीं स्वाध्याय से मन और हृदय की शुद्धि होने लग जाती है। ईश्वर प्रणिधान से समर्पण की भावना के अतिरेक होने से हृदय पूर्ण रूप से स्वच्छ एवं उदात्त हो जाता है। इस प्रकार क्रियायोग का अनुष्ठान साधक को पञ्च क्लेशों से रहित करता हुआ शुद्ध अंतःकरण प्रदान करता है। शुद्ध अंतःकरण से साधक की आगे की यात्रा और अधिक आनंददायक एवं गतिशील हो जाती है। इन्द्रिय, मन, बुद्धि, हृदय की शुद्धता से ही योग का मार्ग आगे बढ़ता है। इसलिए प्रारंभ में ही क्रियायोग का अभ्यास आवश्यक है। जब तप से द्वंद्व सहन करने की शक्ति आ जायेगी तब अविचलन की स्थिति में अधर्माचरण नहीं होगा। सत्य और असत्य का बोध ठीक प्रकार से हो पायेगा। मैं और मेरे रूपी अहंकार से साधक दूर होने लग जायेगा। राग, द्वेष और अभिनिवेश रूपी क्लेशों का बल भी कम होता चले जाएगा। कायिक, मानसिक और वाचिक तप से, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान से जीवन के विभिन्न आयामों पर विस्तृत रूप से प्रभाव पड़ेगा और योगी निर्भर होता चला जायेगा।

अतः क्रियायोग के फलस्वरूप साधक के मन में समाधि के प्रति भावना प्रगाढ़ होती चली जायेगी और साथ ही जिन पञ्च क्लेशों से उसका जीवन नारकीय हुआ पड़ा है, उनके बंधनों से भी वह मुक्त होता चला जायेगा।

प्रत्येक व्रत एवं अनुष्ठान का निरंतर अभ्यास एवं वैराग्यपूर्वक निर्वहन करना ही योग मार्ग में सफलता है अन्यथा बीच मंझधार की स्थिति बनी रहती है।

**अंक के प्रश्न:-**

1. क्रिया योग का मुख्य नल क्या है?
2. योग साधना से क्या लाभ होते हैं?
3. मानसिक शुद्धि का अर्थ बताइए।

4. आत्मसंयम क्यों आवश्यक है?
5. योग से एकाग्रता कैसे बढ़ती है?

#### 15 अंक के प्रश्न:-

1. क्रिया योग के ऋतुओं का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. योग साधना और मानसिक विकास के संबंध को स्पष्ट कीजिए।
3. आत्मिक उन्नति में क्रिया योग की भूमिका पर निबंध लिखिए।

1. क्रिया योग का उद्देश्य हैरू  
(क) आत्मशुद्धि  
(ख) हंसा  
(ग) क्रोधा  
(घ) मोह
2. योग से प्राप्त होता हैरू  
(क) अशांति  
(ख) मानसिक संतुलन  
(ग) तनाव  
(घ) भय
3. आत्मसंयम से उत्पन्न होता हैरू  
(क) आलस्य  
(ख) एकाग्रता  
(ग) दुःख  
(घ) भ्रम

#### महत्वपूर्ण बिंदु:-

- ★ क्रिया योग मानसिक शांति प्रदान करता है।
- ★ योग साधना आत्मविकास का मार्ग है।
- ★ नियमित अभ्यास से आत्मसंयम विकसित होता है।

#### शब्दावली:-

- ★ आत्मशुद्धि - मन की पवित्रता
- ★ आत्मसंयम - स्वयं पर नियंत्रण
- ★ साधना - नियमित आध्यात्मिक अभ्यास

## इकाई- 4.3 पञ्च क्लेश

उद्देश्य-

1. पंच क्लेशों की अवधारणा को समझना।
2. मानव जीवन में क्लेशों के प्रभाव का अध्ययन करना।
3. क्लेशों से मुक्ति के उपायों को जानना।

अविद्याऽस्मिता रागद्वेषाभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः॥२.३॥

पदच्छेदः अविद्या , अस्मिता , राग , द्वेष , अभिनिवेशाः , क्लेशाः।

शब्दार्थः अविद्या- अविद्या, अस्मिता- अस्मिता (अहंकार), राग- राग, द्वेष- द्वेष (और)

अभिनिवेशाः - अभिनिवेश (जीवन के प्रति ममता- ये पाँचों)

क्लेशाः - क्लेश हैं।

व्यासभाष्यम्- क्लेशा इति पञ्च विपर्यया इत्यर्थः। ते स्यन्दमाना गुणाधिकारं द्रढयन्ति, परिणाममवस्थापयन्ति, कार्यकारण स्रोत उन्नमयन्ति, परस्परानुग्रहतन्त्रीभूत्वा कर्मविपाकं चाभिनिर्हरन्तीति॥३॥

भाष्यानुवादः- क्लेश का अर्थ पाँच विपर्यय (अर्थात् पाँच प्रकार का मिथ्याज्ञान) है। वे वर्तमान (प्रवृत्त हुए) गुणों के अधिकार (कार्योत्पादन रूपी गुणों के अधिकार) को बलिष्ठ बनाते हैं। (कार्यरूप) परिणाम को चलाते हैं कार्य-कारण के स्रोत को उत्पन्न करते हैं, परस्पर सहयोग देकर कर्म फल को सम्पन्न करते हैं॥३॥

पूर्व के सूत्र में एक नया शब्द आया क्लेश अतः स्वाभाविक रूप से प्रश्न उठना था कि अब ये क्लेश क्या हैं और इनकी संख्या कितनी है? महर्षि उक्त जिज्ञासा के उत्तर में सभी पञ्च क्लेशों के नाम गिनाते हैं। ये हैं- अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशों से महर्षि का क्या आशय है, इस बात समझाने के लिए महर्षि व्यास जी अपने योग दर्शन के भाष्य में कहते हैं कि ये पांच क्लेश पांच प्रकार के मिथ्याज्ञान हैं। अविद्या आदि ये पांच क्लेश व्यक्ति की अधर्म प्रवृत्ति को बढ़ा देते हैं और इस प्रकार प्रवृत्ति को कार्य रूप में परिणित कर देते हैं। अंततः व्यक्ति जन्म जन्मांतर कर्म फल के चक्रव्यूह में फँसता चले जाता है। जब तक प्रत्येक प्रवृत्ति या कर्म के मूल में ये पांच कर्म होंगे मनुष्य बंधन से मुक्त नहीं हो सकता है।

जब तक अविद्या आदि क्लेश मूल में है किसी भी कर्म के व्यक्ति धर्माचरण से युक्त नहीं हो सकता है। समाधि की सिद्धि नहीं हो सकती है। साधक अपने सच्चे स्वरूप में स्थिति को प्राप्त नहीं कर सकता है। अतः इस सूत्र में महर्षि ने संकेत रूप में पांच क्लेशों के केवल नाम यहां गिनाए हैं। आगे के सूत्रों में विस्तृत रूप से इन पांच क्लेशों के स्वरूप एवं उनके कार्यों के ऊपर बात की गई है।

अंक के प्रश्नः-

1. पंच क्लेश क्या हैं?
2. अविद्या का अर्थ बताइए।
3. अस्मिता किसे कहते हैं?
4. राग और द्वेष में अंतर बताइए।
5. अभिनिवेश का अर्थ स्पष्ट कीजिए।

15 अंक के प्रश्नः-

1. पंच क्लेशों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. मानव जीवन में क्लेशों के प्रभाव की विवेचना कीजिए।
3. योग साधना द्वारा क्लेशों से मुक्ति पर निबंध लिखिए।

1. पंच क्लेशों में सम्मिलित नहीं हैरू  
(क) अविद्या  
(ख) अस्मिता  
(ग) राग

## (घ) समाधि

2. राग का अर्थ हैरू

(क) आसक्ति

(ख) वैराग्य

(ग) क्रोधा

(घ) शांति

3. अभिनिवेश का संबंध हैरू

(क) मृत्यु भय

(ख) आनंद

(ग) ज्ञान

(घ) ध्यान

**महत्वपूर्ण बिंदु:-**

- ★ पंच क्लेश दुःख के कारण हैं।
- ★ अविद्या सभी क्लेशों की जड़ है।
- ★ योग साधना क्लेशों को कम करती है।

**शब्दावली:-**

- ★ अविद्या - अज्ञान
- ★ अस्मिता - अहंभाव
- ★ अभिनिवेश - मृत्यु का भय

## इकाई- 4.4 अविद्या क्लेशों की जननी एवं पञ्च क्लेश परिभाषा

उद्देश्य-

1. अविद्या के स्वरूप को समझना।
2. अविद्या और अन्य क्लेशों के संबंध का अध्ययन करना।
3. ज्ञान के महत्व को जानना।

**अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषां प्रसुप्ततनुविच्छिन्नोदाराणाम्॥2.4॥**

**पदच्छेदः** अविद्या , क्षेत्रम् , उत्तरेषाम् , प्रसुप्त , तनु , विच्छिन्न , उदाराणाम्

**शब्दार्थः** अविद्या - अविद्या (ही), उत्तरेषाम् - अगले शेष चार अर्थात् अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश क्लेशों का (उत्पत्ति), क्षेत्रम् - क्षेत्र है, (जो), प्रसुप्त - प्रसुप्त, तनु - शिथिल कर दिए गए, विच्छिन्न - कभी अन्य वृत्ति के द्वारा विच्छिन्न अर्थात् अभिभूत होकर और उदाराणाम् - उदार होकर - (इन चार प्रकार की अवस्थाओं वाले होते हैं)।

**व्यासभाष्यम्-** अत्राविद्या क्षेत्रं प्रसवभूमिरुत्तरेषामस्मितादीनां चतुर्विधविकल्पानां, प्रसुप्ततनु-विच्छिन्नोदाराणाम्। तत्र का प्रसुप्तिः? चेतसि शक्तिमात्रप्रतिष्ठानां बीजभावोपगमः, तस्य प्रबोध आलम्बने संमुखीभावः। प्रसंख्यानवतो दग्धक्लेशबीजस्य संमुखीभूतेऽप्यालम्बने नासौ पुनरस्ति, दग्धबीजस्य कुतः प्ररोह इति, अतः क्षीणक्लेशः कुशलश्चरमदेह इत्युच्यते। तत्रैव सा दग्धबीजभावा पञ्चमी क्लेशावस्था नान्यत्रेति।

तनुत्वमुच्यते-प्रतिपक्षभावानोपहताः क्लेशास्तनवो भवन्ति। तथा विच्छिद्य विच्छिद्य तेन तेनात्यना पुनः पुनः समुदाचरन्तीति विच्छिन्नाः। कथम्? रागकाले क्रोधस्यादर्शनात् न हि रागकाले क्रोधः समुदाचरति। रागश्च क्वचिदृश्यमानो न विषयान्तरे नास्ति। नैकस्यां स्त्रियां चौत्रो रक्त इत्यन्यासु खीषु विरक्तः, किं तु तत्र रागो लब्धवृत्तिरन्यत्र तु भविष्यद्वृत्तिरिति। स हि तदा प्रसुप्ततनुविच्छिन्नो भवति। विषये यो लब्धवृत्तिः स उदारः॥४॥

**भाष्यानुवादः-** यहाँ अविद्या प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न, उदार अवस्थावाले चार प्रकार के अगले अस्मितादि क्लेशों का क्षेत्र = प्रसवभूमि है। उनमें से प्रसुप्ति क्या है ? चित्त में केवल शक्तिरूप से स्थित क्लेशों का बीजभाव को प्राप्त हो जाना (प्रसुप्ति है) । आलम्बन के उपस्थित होने पर उसका प्रवृत्त होना = जाग जाना प्रबोध है। विवेकख्यातियुक्त दग्धक्लेशबीज वाले योगी के समक्ष व्यञ्जक विषय (आलम्बन) के होने पर भी क्लेश नहीं जागता, दग्धबीज (क्लेश) का अङ्कुर = उगना कैसे होगा ? इसलिए क्षीण क्लेश (योगी) कुशल, चरमदेह कहा जाता है। वह दग्धबीजभाव नामक पाँचवीं क्लेशावस्था विवेकख्यातियुक्त योगी की ही होती है अन्य की नहीं।

**तनुत्व कहा जाता है** - प्रतिपक्ष भावना से प्रताड़ित क्लेश निर्बल होते हैं। उसी प्रकार रुक रुक कर उस-उस रूप से पुनः प्रकट होते हैं इसलिए विच्छिन्न कहे जाते हैं। कैसे ? रागकाल में क्रोध के न दीखने से। राग के समय क्रोध प्रवृत्त नहीं होता। कहीं दीखने वाला राग विषयान्तरमें नहीं है, ऐसा नहीं होता। चैत्र (नामक कोई पुरुष) एक स्त्री में रक्त (आसक्त) अन्य स्त्रियों में विरक्त है, ऐसा नहीं है अपितु उसमें राग वर्तमान है, अन्यो में भविष्य में होने वाला है। वही (राग) तब प्रसुप्त, तनु वा विच्छिन्न होता है। विषय के प्रति जो प्रकट रहता है, वह उदार है॥४॥

प्रस्तुत सूत्र में महर्षि अब पञ्च क्लेशों में से प्रथम क्लेश अविद्या की परिभाषा कर रहे हैं, उसके स्वरूप के बारे में हम सबको बता रहे हैं।

साधक का कार्य है कि वह क्रियायोग का आश्रय लेकर समाधि की भावना को बढ़ाते जाए और साथ ही साथ अपने क्लेशों को क्षीण करते चले जाएं। इसके लिए क्लेशों के स्वरूप का ठीक ठीक ज्ञान अत्यंत आवश्यक है। यदि कोई भी साधक इनके स्वरूपों को भली भांति समझपूर्वक समझ लेता है तो इनको निर्बल करने के लिए कृत संकल्पित हो सकता है और समय और साधना के साथ ये निर्बल हो सकते हैं।

**अविद्या:** सबसे पहली और महत्वपूर्ण बात यह है कि अविद्या सब क्लेशों की जननी है। सबके मूल में अविद्या ही उपस्थित है। अविद्या के होने मात्र से सारे बंधन और दुख हैं, क्लेश हैं।

ऐसा समझें कि अविद्या कारण (उत्पत्तिकर्ता) है तो शेष चार क्लेश (अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश) उसके कार्य हैं।

अविद्या के साथ-साथ शेष 4 क्लेशों की पांच अवस्थाएं बताई गई हैं। ये सभी क्लेश इन 4 अवस्थाओं में डोलते रहते हैं। पांचवीं जो अवस्था है वह दग्धबीज है, उसे प्रयत्नपूर्वक या योगस्थ होकर साधक को प्राप्त करनी पड़ती है।

जब साधक के चित्त में क्लेश केवल बीज रूप में होते हैं तो क्लेशों की ऐसी अवस्था प्रसुप्त कही जाती है। अभी इन क्लेशों का अंकुरण नहीं हुआ है, लेकिन ये अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर कभी भी प्रकट होकर मनुष्य को बंधन और दुख में डाल सकते हैं। जिन जिन क्लेशों के संस्कार कमजोर रूप में बीजभाव को प्राप्त हैं, उनके लिए अनुकूल वातावरण प्राप्त होने पर भी वे धीरे-धीरे अपना प्रभाव दिखाते हैं, तुरंत से उद्बुद्ध नहीं होते, लेकिन जितना वे प्रकट होते हैं अगली बार वहीं से प्रकट होने लगते हैं। ऐसा नहीं होता है कि वे वापस अपनी बीज अवस्था को चले जाएं।

इसी प्रकार जिन क्लेशों के संस्कार मजबूत होते हैं या जो पूर्व में थोड़ा बहुत उगने शुरू हो गए थे, उनको अनुकूल वातावरण मिलने पर तत्क्षण अपना प्रभाव दिखाना शुरू कर देते हैं और मनुष्य को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त कर देते हैं, द्वंद्व में डालना शुरू कर देते हैं और मनुष्य एक आंतरिक संघर्ष में पड़ जाता है। यह प्रक्रिया केवल क्लेशों के बारे में ही नहीं अपितु अच्छे शुभ संस्कारों के लिए भी समझनी चाहिए।

प्रक्रिया निर्दोष होती है, वह तो संवाहक मात्र होती है। दोष, हमारे चयन, प्रवृत्ति और संस्कारों का होता है। एक ही सीढ़ी हमें ऊपर भी चढ़ाती है और वही नीचे की ओर भी ले जाती है। हमें तय करना है कि हमें शिखर की ओर चढ़ना है या नीचे पतन की ओर।

चित्त में जब क्लेश थोड़ा बहुत उगा हुआ रहता है, न तो केवल बीज रूप में और न ही पूर्ण रूप से अंकुरित। क्लेशों की ऐसी अवस्था जब उनकी शक्ति क्षीण रूप में होती है और उनके कार्य रूप में प्रवृत्त होने की प्रबल शक्ति नहीं होती है। यदि कोई भी अनुकूल परिस्थिति आ जाये तो वह तनु अवस्था से उदार अर्थात् कार्य रूप में शीघ्रता से आ जायेगा।

ऐसा समझें कि कोई व्यक्ति क्रोधी तो नहीं है पर अपने क्रोध को भीतर ही भीतर दबा के रखता है। जब भी क्रोध करने की स्थिति निर्मित होने की संभावना रहती है वह प्रयत्नपूर्वक रोक लेता है। यह क्रोध रूपी संस्कार की तनु अवस्था है। यदि मनुष्य क्रोध दबाने पर ध्यान न दे तो कभी भी क्रोध कर सकता है। इसी प्रकार राग, द्वेष, अभिनिवेश, काम, लोभ, मोह, मद, मत्सर, ईर्ष्या आदि क्लेशों या संस्कारों के विषय में समझ लेना चाहिए।

आज के समय में सभी क्लेश और बुरे संस्कार इस तनु अवस्था में हैं और लोगों के जीवन में क्रियायोग अर्थात् तप, स्वाध्याय और ईश्वर प्रणिधान के अभाव के कारण सारे अनर्थ हो रहे हैं। सभी क्लेशों को जैसे ही अनुकूल आलंबन मिलता है तो वे उदार अवस्था में आकर मनुष्य को अपने-अपने कार्य में प्रवृत्त कर देते हैं और फिर नाना प्रकार से बांधते रहते हैं। इस प्रकार पूरी दुनिया एक अनजाने से भय, चिंता और अवसाद का शिकार हो रही है।

**विच्छिन्न:** जब कोई एक क्लेश प्रबल रूप से उदार अवस्था में आ जाता है तो उसके विरोधी स्वभाव वाले क्लेश चित्त में नीचे दब जाते हैं। ऐसे क्लेशों को विच्छिन्न अवस्था वाला कहा जायेगा।

जैसे कोई व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति से द्वेष करता है और अभी वह अपने बच्चे से अच्छे से प्रेम पूर्वक बात कर रहा है, उसके साथ खेल रहा है। उसकी बच्चे के प्रति राग का भाव प्रबल है। अचानक से ऐसा व्यक्ति उसके सम्मुख आ जाता है जिससे वह घनघोर द्वेष करता है तो उसके राग के भाव नीचे दब जाएंगे और द्वेष की प्रवृत्ति प्रबल हो जाएगी। इस स्थिति में जो राग नामक क्लेश है उसकी विच्छिन्न अवस्था हो जाएगी और द्वेष को उदार अवस्था वाला कहेंगे।

अतः स्पष्ट है कि क्लेशों की प्रसुप्त अवस्था बालपन में सबसे अधिक होती है। उसके बाद जैसे- जैसे व्यक्ति संसार में विचरण करने लगता है उसके क्लेश धीरे धीरे तनु, फिर विच्छिन्न एवं उदार होते चले जाते हैं। यदि क्रियायोग का सहारा न लिया जाए तो मनुष्य में सभी क्लेश, विकार या तो विच्छिन्न अवस्था में रहेंगे या फिर उदार (प्रकट रूप में) रहेंगे।

**उदार:** जब कोई भी क्लेश अनुकूल वातावरण पड़ने पर तीव्र रूप में कार्य रूप में आ जाता है तो उसे उस क्लेश की उदार अवस्था में आना कहते हैं। जैसे क्रोध का वातावरण प्राप्त होने पर जब तक क्रोध को दबाकर रखा जाता है तो वह क्रोध की तनु अवस्था और जब क्रोध प्रकट रूप में अर्थात् जब व्यक्ति क्रोध करने लग जाता है तो उसे उदार अवस्था कहेंगे। क्रोध के प्रबल होने पर उससे विपरीत प्रेम या स्नेह की विच्छिन्न अवस्था कही जाएगी।

**दग्धबीज:** क्लेशों की दग्धबीज की अवस्था केवल युक्त योगी जनों की होती है। जब किसी क्लेश की उदार या विच्छिन्न अवस्था को क्रियायोग के साधन से तनु किया जाता है और फिर योग मार्ग पर आगे बढ़ते हुए निर्बीज समाधि से पूरी तरह समाप्त किया जाता है, तो उसे दग्धबीज अवस्था कहते हैं।

जैसे किसी बीज को आग में भून दिया जाय तो उसमें अंकुरण की संभावना 100 प्रतिशत नष्ट हो जाती है। इसी प्रकार निर्बीज समाधि से पांचों क्लेशों को पूरी तरह भून (दग्धबीज) कर दिया जाता है और योगी निर्बीज अवस्था को या दग्धबीज अवस्था को प्राप्त हो जाता है। यही सबसे बड़ा लक्ष्य है।



अतः साधक एवं युञ्जन् योगी को होशपूर्वक अपने क्लेशों की तनु अवस्था का ध्यान रखकर उन्हें उदार होने से पूर्व ही दग्ध बीज करने का पूरा प्रयास करते रहना चाहिये। क्लेशों को तनु से उदार अवस्था में न लाने देने के लिए प्रतिपक्ष भावना रूपी साधन का बार बार प्रयोग करना चाहिए। प्रतिपक्ष भावना का अर्थ है कि जो भी विकार, या कुसंस्कार प्रकट होना चाह रहा है उसके विपरीत अच्छे या शुभ गुणों का चिंतन करना, कुसंस्कार या क्लेश के दुष्परिणाम का चिंतन कर उससे दूर हटने का प्रयास करना। इस प्रकार प्रतिपक्ष भावना से क्लेशों को उदार होने से बचाया जा सकता है और उन्हें दग्धबीज भी करने में आगे बढ़ा जा सकता है और अंतिम रूप से दग्धबीज करने के लिए निर्बीज या असम्प्रज्ञात समाधि का प्रयोग होता है।

**अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ॥२.५॥**

**पदच्छेदः** अनित्य , अशुचि , दुःख , अनात्मसु , नित्य , शुचि , सुख , आत्म-ख्यातिः, अविद्या।

**शब्दार्थः** अनित्य- अनित्य, अशुचि- अपवित्र, दुःख- दुख (और), अनात्मसु- आत्मा से भिन्न पदार्थ में (यथाक्रम से), नित्य- नित्य, शुचि- पवित्र, सुख- सुख (और), आत्म-ख्यातिः - आत्माभाव की अनुभूति, अविद्या- अविद्या है।

**व्यासभाष्यम्-** अनित्ये कार्ये नित्यख्यातिः। तद्यथा-ध्रुवा पृथिवी, ध्रुवा सचन्द्रतारका द्यौः, अमृता दिवौकस इति। तथाऽशुचौ परमबीभत्से काये शुचिख्यातिः, उक्तं च -

**स्थानादबीजादुपष्टम्भानिः स्यन्दानिधनादपि। कायमाधेयशौचत्वात्पण्डिता ह्यशुचि विदुः**

इत्यशुचौ शुचिख्यातिर्दृश्यते। नवेव शशाङ्कलेखा कमनीयेयं कन्या मध्वमृतावयवनिर्मितव चन्द्रं भित्त्वा निःसृतेव ज्ञायते, नीलोत्पलपत्रायताक्षी हावगर्भाभ्यां लोचनाभ्यां जीवलोकमाश्वासयन्तीवेति कस्य केनाभिसम्बन्धो, भवति चैवमशुचौ शुचिविपर्यासप्रत्यय इति। एतेनापुण्ये पुण्यप्रत्ययस्तथैवानर्थे चार्थप्रत्ययो व्याख्यातः।

तथा दुःखे सुखख्यातिं वक्ष्यति-परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ( २।१५ ) इति। तत्र सुखख्यातिरविद्या।

तथानात्मन्यात्मख्यातिर्बाह्योपकरणेषु चेतनाचेतनेषु भोगाधिष्ठाने वा शरीरे, पुरुषोकरणे वा मनस्यनात्मन्यात्मख्यातिरिति। तथैतदत्रोक्तम्-व्यक्तमव्यक्तं वा सत्त्वमात्मत्वेनाभिप्रतीत्य तस्य संपदमनुनन्दत्यात्मसंपदं मन्वानस्तस्य व्यापदमनुशोचत्यात्मव्यापदं मन्वानः, स सर्वोऽप्रतिबुद्ध इति।

**एषा चतुष्पदा भवत्यविद्या मूलमस्य क्लेशसंतानस्य कर्माशयस्य च सविपाकस्येति॥५॥**

**भाष्यानुवादः** अनित्य पदार्थों में नित्य पदार्थ का ज्ञान अविद्या है। जैसे कि पृथिवी नित्य, चन्द्र तारों सहित द्युलोक नित्य, देवगण नित्य हैं, उसी प्रकार अशुद्ध अतिघृणित शरीर में शुद्धज्ञान। और कहा है - स्थान (उदर स्थान) के कारण, उपादान (रजवीर्य) के कारण, उपष्टम्भ (रसरक्तादि) का आश्रय होने के कारण, निःस्यन्द (मलमूत्र स्वेदादि) के कारण और निधन (मृत्यु) के कारण व शुद्धि की अपेक्षा रखने के कारण विद्वान् शरीर को अशुद्ध मानते हैं। इस प्रकार अशुद्ध शरीर में शुद्ध ज्ञान देखा जाता है।

चन्द्रमा के नवीन कला के समान मनोरम यह कन्या मधु और अमृत के अवयवों से बनी हुई के समान, चन्द्रमा को फोड़कर निकली हुई सी प्रतीत होती है। नीलकमल की पंखुडियों के समान विशाल नेत्रवाली शृंगाररसविलास से युक्त दृष्टियों के द्वारा मानों प्राणिजगत् को तृप्त कर रही हो। इस प्रकार किस (अपवित्र शरीर) का किस (मधु अमृत चन्द्र) के साथ सम्बन्ध है? इस प्रकार अशुद्ध शरीर में शुद्धि का विरुद्ध ज्ञान होता है। इसी प्रकार इसके द्वारा अपुण्य में पुण्य का ज्ञान और अनर्थ में अर्थ का ज्ञान व्याख्यात हुआ। वैसे ही दुःख में सुख का ज्ञान परिणामतापसंस्कार दुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ( २/१५ ) के द्वारा कहेगा। उसमें सुख ज्ञान अविद्या है।

इसी प्रकार अनात्मा में आत्मख्याति अर्थात् बाह्योपकरण चेतन (बन्धु, बान्धव, पशु आदि) अचेतन (भूमि, धन, सम्पत्ति आदि) भोग के आधार शरीर को, पुरुष के उपकरण मन को, जो कि आत्मा नहीं है उनको आत्मा जानना अविद्या है। इसी प्रकार इस विषय में कहा गया है कि पुत्र, मित्र, पशु आदि व्यक्त, धन सम्पत्ति भूमि आदि अव्यक्त पदार्थों को अपना स्वरूप मानकर उनकी सम्पन्नता पर अपनी सम्पन्नता जानता हुआ प्रसन्न होता है। उनकी विपन्नता में अपनी विपन्नता मानता हुआ शोक करता है, ऐसा मानने वाला प्रत्येक व्यक्ति अज्ञानी है।

इस क्लेश सन्तान और फल सहित कर्माशय की चार भागों में रहने वाली यह अविद्या मूल है॥५॥

इससे पूर्व सूत्र में अविद्या की छोटी सी परिभाषा दी थी कि वह सभी क्लेशों की जननी है, प्रभव या प्रसव भूमि है। अब प्रस्तुत सूत्र में अविद्या के स्वरूप के बारे में बता रहे हैं। अनित्य पदार्थों में नित्यता देखना, अशुद्ध पदार्थों में शुद्धता देखना, दुःख को सुख समझना और जड़ पदार्थों को चेतन जानना यही अविद्या का प्रमुख लक्षण है।

कैसे हम अनित्य में नित्य का दर्शन करते हैं?-यह प्रकृति त्रिगुणात्मक है। परिणामी है लेकिन चेतन तत्त्व से पृथक् सभी प्राकृतिक

तत्त्वों को सदा बने रहने वाला समझना अविद्या है। प्रकृति के जड़ पदार्थों से निर्मित इस मानव शरीर को भी नित्य समझना गहरी अविद्या है। यह शरीर सदा रहेगा इस प्रकार की बुद्धि रखने वाला घोर अविद्या में जी रहा है।

यदि कोई शरीर को अनित्य समझकर तदनुरूप भावनात्मक एवं क्रियात्मक आचरण नहीं करता है, वह तो अत्यंत घनघोर अविद्या रूपी क्लेश से ग्रसित है, ऐसा समझना चाहिए।

इस प्रकार जितने भी दैनिक जीवन में हम अनित्य पदार्थों से सम्बद्ध रहते हैं, उनके प्रति यदि नित्यता के भाव से व्यवहार करते हैं और समझते हैं कि ये व्यक्ति, स्थान, सम्बन्ध नित्य बने रहेंगे तो ऐसा समझना ही अविद्या है।

वस्तुतः सर्वप्रथम इस शरीर को नित्य मानना ही सब प्रकार के अविद्या के मूल में है। शरीर को नित्य मानकर जब हम व्यक्ति, वस्तु, स्थान और सम्बन्धों को नित्य मानकर व्यवहार करने लगते हैं तो पूरी तरह अविद्या से आविष्ट हो जाते हैं। तब बंधन और अधिक कठोर और दुखदायी होने लग जाता है।

इस प्रकार अनित्य में नित्य देखने से कैसे अविद्या मानी जाती है आप समझ सकते हैं। योग का प्रारंभ स्वयं अर्थात् शरीर, मन, बुद्धि से होता हुआ आत्म तत्त्व तक जाता है। अतः शरीर, मन, बुद्धि के विकारों से ऊपर उठकर, देहाध्यास से ऊपर उठकर ही योग सिद्ध होता है। इसलिए अविद्या के जितने भी रूप हैं वे सबसे पहले साधक को अपने शरीर, मन एवं बुद्धि से जोड़कर देखने पड़ेंगे और उनसे निवृत्त होना पड़ेगा।

कुछ लोग शरीर को शुद्ध करने में अपने जीवन को लगा देते हैं और जीवन के बड़े लक्ष्य दुख निवृत्ति की ओर ध्यान ही नहीं देते हैं। ऐसा नहीं है कि हमें अपने शरीर की शुद्धि के लिए कुछ भी प्रयत्न नहीं करना चाहिए। अष्टांग योग के आठ अंगों में नियम में शौच के ऊपर बात की गई है लेकिन वह शौच शरीर के बाहरी एवं भीतरी शुचिता के लिए कहा गया और वे भी उतना ही जितने में व्यवहार सिद्ध होता है। न कि शरीर की शुद्धि के लिए उसमें लिप्त होने के लिए कहा गया है। अब अशुद्धि में शुद्धि देखने से कैसे अविद्या निर्मित होती उसे समझते हैं-

मानव शरीर को जैसे नित्य मानने से अविद्या क्लेश सिद्ध हो रहा था उसी प्रकार इस शरीर को शुद्ध मानना भी अविद्या है। शरीर की सुंदरता, यौवन आदि को देखकर, इसे शुद्ध और सुगंधित समझना अविद्या है।

शरीर तो स्वभाव से ही अशुद्ध है। इसे बार बार शुद्ध न किया जाए तो यह अशुद्धि का घर बन जायेगा। अशुद्ध शरीर को नित्य और शुद्ध मानना भी अविद्या है।

अविद्या का तीसरा प्रमुख स्वरूप है- दुख को सुख समझना। संसार में जिसे लोग सुख समझते हैं वस्तुतः वह दुख ही है। इस प्रकार दुख को सुख समझना एक गहरी अविद्या है जिसके फेर में पूरी दुनिया घूम रही है। केवल योगी व्यक्ति ही आभासीय और सांसारिक सुखों में दुख दर्शन कर उनसे दूर होने का अभ्यास करता है।

यह संसार माया से बना है ऐसा सभी सामान्य रूप से कहते पाए जाते हैं लेकिन वह माया कैसे समझ में आये ये भी एक बहुत बड़ी माया है। अतः संसार में जिसे सुख माना जा रहा है वस्तुतः वह दुख ही है। जब तक एक साधक दुख और सुख दोनों प्रकार की अनुभूति से मुक्त नहीं होगा तब तक वह जीवन मुक्त नहीं हो सकता है। योग के मार्ग पर यह सबसे बड़ी परीक्षा है साधक की।

किस प्रकार सुख को दुख समझें इसकी विस्तृत व्याख्या हम आगे के सूत्र संख्या 15 में करेंगे। वहां 4 प्रकार के दुखों के बारे में विस्तार से बताएंगे और साथ ही यह भी बताएंगे कि कैसे एक युञ्जन योगी को दुख समझना चाहिए और कैसे गृहस्थियों को दुख समझना चाहिए।

अविद्या के चौथे रूप में अनात्मा में आत्मा का दर्शन करना अविद्या है। जड़ पदार्थों में आत्मभाव रखना अविद्या है। मन, बुद्धि, शरीर को ही आत्मा मानकर चलना अविद्या है।

जड़ एवं चेतन तत्त्व का ठीक ठीक निर्धारण नहीं कर पाना अविद्या है। जब तक कोई साधक प्रकृति और पुरुष का समझ की दृष्टि से भेद ठीक से नहीं जान पाता है तो वह योग की अपनी यात्रा प्रारंभ नहीं कर सकता है। अनुभव और आचरण की दृष्टि से भेद को विवेकज्ञान प्राप्त होने पर ही हो पायेगा, उसी ज्ञान के लिए योग का सारा पुरुषार्थ है।

**दृग्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता॥2.6॥**

**पदच्छेदः** दृक् , दर्शन , शक्त्योः , एकात्मता , इव , अस्मिता।

**शब्दार्थः** दृग्दर्शनशक्त्योः - दृक्-शक्ति और दर्शन-शक्ति इन दोनों का, एकात्मता - एकरूप

**इव** - जैसा ( भान होना), **अस्मिता** - अस्मिता (क्लेश है)।

**व्यासभाष्यम्-** पुरुषो दृक्शक्तिर्बुद्धिर्दर्शनशक्तिरित्येतयोरेकस्वरूपापत्तिरिवास्मिता क्लेश उच्यते। भोक्तृभोग्यशक्त्योरत्यन्तविभक्तयोरत्यन्तासंकीर्णयोरविभागप्राप्ताविव सत्यां भोगः कल्पते, स्वरूप-प्रतिलम्भे तु तयोः कैवल्यमेव

भवति कुतो भोग इति। तथा चोक्तम्-बुद्धितः परं पुरुषमाकार-शीलविद्यादिभिर्विभक्तमपश्यन्कुर्यात्तत्राऽऽत्मबुद्धि मोहेनेति॥ ६॥

**भाष्यानुवादः** पुरुष देखने वाला (और) बुद्धि देखने का साधन है। इन दोनों का एक रूप में प्रतीत होना अस्मिता क्लेश कहा जाता है। भोक्तृशक्ति (भोक्ता) भोग्यशक्ति (भोग्य) नितान्त पृथक् तथा अमिश्रित हैं। इनके मिश्रित रूप में प्राप्त होने (पृथक् पृथक् प्राप्त न होने) पर भोग सिद्ध होता है। (दोनों के) स्वरूप के परिज्ञान होने पर तो कैवल्य ही होता है, भोग कैसे ? और ऐसा कहा है - मोह (अविद्या) के कारण अपने को बुद्धि से भिन्न, चेतन स्वरूप, नित्य, ज्ञानादि गुण सम्पन्न न मानकर बुद्धि में आत्मा की प्रतीति करता है (अर्थात् बुद्धि को आत्मा मानता है)॥६॥

हमारे इस शरीर में दो प्रकार की शक्ति हैं। एक है दृक् शक्ति अर्थात् देखने वाला पुरुष और दूसरी शक्ति है दर्शन शक्ति अर्थात् देखने की साधन स्वरूपा बुद्धि। जब इन दोनों शक्तियों के बीच भेद ज्ञान को न देखकर दोनों के एकरूप ज्ञान को अस्मिता नामक क्लेश कहते हैं।

दो विपरीत तत्त्वों के गुण, स्वभाव एवं स्वरूप में अत्यंत भेद होना स्वाभाविक है लेकिन अविद्या के कारण जब चेतन और जड़ पदार्थों के बीच के भेद को न समझकर उनमें एकरूपता का भान रखते हैं तो इसे अस्मिता क्लेश कहा जाता है। अज्ञान के कारण यह इतना मिला जुला रूप व्यक्ति को दिखता है कि बिना योगस्थ हुए इनके परस्पर भेद को देखना असंभव है। इसे ही ईश्वर की माया शक्ति कहा जाता है।

पुरुष चेतन तत्त्व है वहीं बुद्धि जड़ है और प्रकृति का प्रथम विकार है। पुरुष अपरिणामी है वहीं बुद्धि परिणामिनी है। पुरुष में देखने की शक्ति है लेकिन बुद्धि दिखाने वाली साधन मात्र है।

अष्टांग योग एवं क्रियायोग की साधना के अभाव में व्यक्ति माया के वशीभूत हुआ इस बुद्धिग्राह्य भेद को भी न पहचानकर दोनों को एक जैसा समझ लेता है और फिर दुख पाता हुआ क्लेश के संस्कार जमा करता जाता है।

पुरुष शक्ति और दर्शन शक्ति (बुद्धि) के स्वरूप को अलग अलग न जानकर इन्हें एक ही समझना यह मानव जाति की सबसे बड़ी और आखिरी गलतफहमी है। जो मनुष्य योग साधना से इनके अलग-अलग स्वरूप को ठीक ठीक से जान लेता है उसे ही सच्चा ज्ञान प्राप्त होता है अन्यो को नहीं।

इस प्रकार हमने जाना कि अस्मिता नामक क्लेश क्या है। इन सभी क्लेशों को हम क्रिया योग (तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधन) द्वारा क्षीण कर सकते हैं और फिर अष्टांग योग एवं आगे असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा दग्धबीज करके कृतकृत्य हो सकते हैं।

**सुखानुशयी रागः॥२.७॥**

**पदच्छेदः** सुख , अनुशयी , रागः।

**शब्दार्थः** सुख- सुख (की प्रतीति के), अनुशयी- पीछे (अर्थात् सुख को भोगने की इच्छा), रागः- राग (क्लेश है)।

**व्यासभाष्यम्-** सुखाभिज्ञस्य सुखानुस्मृतिपूर्वः सुखे तत्साधने वा यो गर्धस्तृष्णा लोभः स राग इति॥७॥

**भाष्यानुवादः** सुख को जानने वाले का सुखस्मरणपूर्वक सुख वा सुख के साधन में जो आकांक्षा = तृष्णा = लोभ है, वह राग है॥ ७॥

अविद्या, अस्मिता नामक दो क्लेशों को विस्तारपूर्वक समझाने के बाद राग तीसरा क्लेश है जो सामान्य रूप से प्रत्येक मनुष्य में प्रकट रूप में पाया ही जाता है। जब कभी भी हम किसी भी सुख को भोगते हैं तो भोगने के बाद हमारे अंतःकरण (मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार) में उस सुख और जिन साधनों से हमें सुख प्राप्त हुआ था उनके प्रति पुनः भोग करने की जो इच्छा है, वह इच्छा विशेष या लोभ विशेष को राग नाम का क्लेश कहते हैं।

सुख भोगने में तो सभी को अच्छा लगता है लेकिन सुख भोगने में उतनी हानि नहीं है जितनी सुख भोगने के बाद राग नाम का क्लेश आपको जीवन भर आगे दुखों में डालता रहेगा। इसलिए साधु संत जब सन्यास लेते हैं तो राग और द्वेष रूपी इन दोनों क्लेशों को छोड़ने के लिए सर्व सम्भव सुखों से और सांसारिक सभी द्वेषों से अपना मुँह मोड़ लेते हैं।

राग और द्वेष ये दो क्लेश ही दैनिक जीवन में हमें क्लेशों के बीच फंसाकर हमारे संस्कार प्रबल करते रहते हैं इनसे बचना ही योग मार्ग पर आगे बढ़ने की सफलता है।

राग कैसे बन जाता है- मान लीजिए कि आपने जिह्वा से कोई सुख लिया। गुलाब जामुन खाया और उसे स्वाद ले लेकर खाया तो आपके अंदर के अन्तःकरण रूपी सॉफ्टवेयर में गुलाब जामुन के प्रति सुख की इच्छा अंकित हो गई। अगली बार जब गुलाब जामुन आपके सम्मुख होगा तब पुरानी स्मृति या याद अन्तःकरण देगा और आपको भीतर से धक्का देगा कि गुलाब जामुन खाओ। यदि सहज उपलब्ध है तो आप खा लेंगे लेकिन यदि गुलाब जामुन प्राप्त करने में कोई बाधा आ रही है तो आपको बैचन भी करने

लग जायेगा। यह सब राग नाम का क्लेश करा रहा है।

यदि गुलाब जामुन देने में कोई व्यक्ति ही बाधा बन रहा है तो तुरंत ही उस व्यक्ति से आपका द्वेष हो जाएगा। इस प्रकार राग वाले विषय में जो भी बाधक होगा चाहे वह व्यक्ति हो, वस्तु हो या स्थान हो आप उससे द्वेष करने लग जाएंगे। जिस विषय में भी आपके राग की प्रबलता होगी उसके बीच आने वाले तत्त्वों में आप द्वेष करने लग जाएंगे। इस प्रकार राग और द्वेष दोनों आपके जीवन को हिलाने लग जाएंगे। फिर द्वंद्व, विचलन और उलझन जीवन में शुरू होती चली जायेगी। इसी प्रकार के जितने भी सुख हम अन्य इंद्रियों (आंख, कान, नाक, त्वचा) से लेते हैं, उनके विषय में भी ऐसा ही समझ लेना चाहिए। आगे के सूत्रों में बताएंगे कि कैसे ये क्लेश मानव के सुंदर जीवन को नारकीय बना देते हैं और कैसे हम इन क्लेशों से और सब प्रकार के दुखों से बच सकते हैं।

**दुःखानुशयी द्वेषः॥२.८॥**

**पदच्छेदः** दुःख , अनुशयी , द्वेषः।

**शब्दार्थः** दुःख- दुःख (की प्रतीति के), अनुशयी- पीछे (अर्थात् दुःख को न भोगने की इच्छा), द्वेषः - द्वेष (क्लेश है)।

**व्यासभाष्यम्-** दुःखाभिज्ञस्य दुःखानुस्मृतिपूर्वो दुःखे तत्साधने वा यः प्रतिघो मन्युर्जिघांसा क्रोधः स द्वेष इति॥८॥

**भाष्यानुवादः** दुःख को जानने वाले का दुःख स्मरणपूर्वक दुःख वा दुःख के साधन में जो प्रतिकार करने का भाव, क्रोध करने का (मानसिक), भाव मारने की इच्छा; क्रोध है, वह 'द्वेष' है॥८॥

यह भी सर्वविदित है कि सबके जीवन में अलग अलग दुख आते रहते हैं, जब दुख भोग लिया जाता है या आकर चला जाता है तो उसके बाद दुख और जिनके कारण से दुख मिला था उन्हें दूर करने की इच्छा संस्कार रूप में चित्त में अंकित रह जाती है, जिसे द्वेष नामक क्लेश कहते हैं।

द्वेष नामक क्लेश से अनेक दुर्भाव जैसे मानसिक एवं प्रकट क्रोध, हिंसा, ईर्ष्या, उत्पन्न होते हैं। द्वेष नामक क्लेश जब जीवन में अधिक बढ़ जाता है तो निरंतर संशय की स्थिति बना देता है जिसके कारण से व्यक्ति किसी पर भी सहजता से विश्वास नहीं कर पाता है। यदि कोई व्यक्ति निरंतर संशय की स्थिति में जीता है तो वह अपनी आत्मा से दूर होता चला जाता है। एक प्रकार से वह केवल शरीर भाव से ही जी रहा है, जीवन के असली तत्त्व जो वह स्वयं आत्मस्वरूप है उससे बहुत अधिक बिछड़ने लग जाता है। यह स्थिति अत्यंत भयावह है।

द्वेष क्लेश बढ़ने से, लगातार नकारात्मक भाव से भरने लग जाता है। स्वभाव से चिढ़चिढ़ा और शिकायती होने लग जाता है।

जब कोई व्यक्ति किसी दुख से ग्रसित होता है तो चिंतन करता है कि दुख क्यों आया, किन साधनों के कारण आया तो यह दुख का अनुभव संस्कार रूप में चित्त पर चिपक जाता है। चित्त पर चिपके ये संस्कार कोई भी अनुकूल वातावरण उत्पन्न होने पर स्मृति को उत्पन्न कर देते हैं। फिर इस स्मृति से द्वेष पैदा होता है। यही द्वेष के उत्पन्न होने का क्रम एवं प्रक्रिया है।

राग और द्वेष दो विपरीत क्लेश हैं लेकिन दोनों की उत्पत्ति के क्रम एवं प्रक्रिया में एक जैसी समानता है।

राग अलग तरह से व्यक्ति को दुखी करता है और द्वेष अलग तरह से। द्वेष, व्यक्ति को पाप और हिंसा में प्रवृत्त करता है। बुरे कर्माशयों की ओर लेकर जाता है और फिर पूरे मानव जीवन को जन्मजन्मांतरों में भटकाता है। इसलिए दैनिक जीवन में राग और द्वेष को ठीक ठीक समझकर इनका प्रयोग केवल स्वयं के जीवन के उत्थान में लगाना चाहिए।

द्वेष क्लेश होने के साथ साथ एक शक्ति भी है। ऐसी शक्ति जो हमें हटाने की, निवृत्ति की शक्ति देती है। अतः इसका प्रयोग यदि आप स्वयं के जीवन से दोषों और दुर्गुणों को हटाने के लिए करेंगे तो यही शक्ति सात्विक शक्ति बन जाएगी। ईश्वर ने जो कुछ बनाया है उसमें अच्छाई और बुराई दोनों डालकर भेजी हुई है, अब यह आपका चुनाव है कि आप उस शक्ति का प्रयोग अच्छाई के लिए करते हैं या स्वयं उसकी चपेट में आकर स्वयं को नष्ट करते हैं।

जग की सेवा, खोज अपनी, प्रीति उससे कीजिये

जिंदगी का राज है ये जानकर जी लीजिये।

**स्वरसवाही विदुषोऽपि तथारूढोऽभिनिवेशः॥२.९॥**

**पदच्छेदः** स्वरसवाही , विदुषः , अपि , तथा , आरूढः , अभिनिवेशः।

**शब्दार्थः** स्वरसवाही- जो परम्परागत स्वभाव से चला आ रहा है एवं, विदुषुः - (जो मूढ़ों की भाँति) विवेकशील पुरुषों में, अपि - भी, तथारूढः - विद्यमान देखा जाता है, (वह), अभिनिवेशः - अभिनिवेश अर्थात् जीवन के प्रति ममता है।

**व्यासभाष्यम्-** सर्वस्य प्राणिन इयमात्माशीर्नित्या भवति मा न भूवं भूयासमिति। न चाननुभूत-मरणधर्मकस्यैषा भवत्यात्माशीः।



एतया च पूर्वजन्मानुभवः प्रतीयते। स चायमभिनवेशः क्लेशः स्वरसवाही, कृमेरपि जातमात्रस्य प्रत्यक्षानुमानागमैरसंभावितो मरणत्रास उच्छेददृष्ट्यात्मकः पूर्वजन्मानु-भूतं मरण दुःखमनुमापयति।

यथा चायमत्यन्तमूढेषु दृश्यते क्लेशस्तथा विदुषोऽपि विज्ञातपूर्वापरान्तस्य रूढः। कस्मात्? समाना हि तयोः कुशलाकुशलयोर्मरणदुःखानुभवादियं वासनेति॥९॥

**भाष्यानुवादः** प्रत्येक प्राणी की यह नित्य आत्मेच्छा होती है कि मैं न होऊ ऐसा न हो किन्तु मैं होऊँ (अर्थात् सदा रहूँ)। मरण धर्म के अनुभव के बिना यह आत्मेच्छा नहीं होती। इसके द्वारा पूर्वजन्म का अनुभव सिद्ध होता है। और यह अभिनवेश क्लेश अपने संस्कार से, केवल जन्मे हुए कृमि का भी प्रत्यक्षानुमानागमों द्वारा असम्भावित मरणभय उच्छेद स्वरूप (यह क्लेश) पूर्वजन्म में अनुभूत मरण दुःख को जानता है।

अत्यन्त मूढ़ों में जिस प्रकार यह क्लेश दिखता है, उसी प्रकार आदि और अन्त जानने वाले विद्वान् में भी विद्यमान है। क्यों ? मरण दुःख के अनुभव करने के कारण यह वासना उन ज्ञानी एवं अज्ञानी दोनों में समान रूप से होती है॥९॥

प्रत्येक व्यक्ति के भीतर एक डर समान रूप से वर्तमान है वह है मृत्यु का डर। इसे अभिनवेश क्लेश के नाम से कहा गया है। केवल सामान्य मनुष्य नहीं अपितु ऐसे विद्वान् भी जो अभी केवल शास्त्रीय रीति से आत्मा, परमात्मा, प्रकृति को जानते हैं, योग के सिद्धांतों, नियमों को केवल जानते हैं लेकिन पूर्ण रूप से सजा अनुभव नहीं प्राप्त किया है और अभी जीवन मुक्तिका अभ्यास कर रहे हैं, वे भी इस अभिनवेश क्लेश से युक्त होते हैं। यह क्लेश अत्यंत सूक्ष्म रूप से सामान्य मनुष्यों, विद्वानों के चित्त में उपस्थित रहता ही है।

एक प्रश्न उठता है कि इस जन्म में बिना मृत्यु के क्षण आये हुए कैसे किसी को मृत्यु का भय हो सकता है। यदि किसी को मृत्यु के क्षण आये हों लेकिन मृत्यु मुख से बच गया हो तब तो उसे मृत्यु का भय क्या होता है, यह पता चल सकता है।

लेकिन सभी के जीवन में न तो ऐसी घटनाएं होती हैं और न ही ऐसा सम्भव हो सकता है। तब किस कारण से सभी जीव मात्र के मन में मृत्यु का डर अर्थात् अभिनवेश क्लेश बैठा हुआ है। यह भी सत्य है कि प्रत्येक प्राणी के भीतर अभिनवेश क्लेश है। इसका अर्थ है कि संस्कार रूप में यह डर बैठा हुआ है, इस जन्म से नहीं बल्कि पूर्व जन्म में जब उसकी मृत्यु हुई थी तब उसके मन में मृत्यु का जो भय उत्पन्न हुआ था वही वर्तमान जीवन में अभिनवेश क्लेश के रूप में आंतरिक रूप से बना हुआ है। इससे पूर्व जन्म भी सिद्ध हो जाता है। आत्मा अजर और अमर है यह भी सिद्ध होता है। जन्म जन्मान्तरों से जीवन का प्रवाह चला आ रहा है इस बात की सिद्धि भी अभिनवेश नामक क्लेश के रहने से हो जाती है।

यह क्लेश अत्यंत सूक्ष्म रूप में सदैव कार्यरत है। कोई कोई व्यक्ति तो इस सिंड्रोम से अत्यंत ग्रसित रहता है क्योंकि उसका यह अभिनवेश नाम का क्लेश उदार अवस्था में आ जाता है। इसलिए जो निरंतर तप, स्वाध्याय एवं ईश्वर प्रणिधान रूपी साधना त्रय का आश्रय लेकर जीवन में आगे बढ़ते हैं वे मृत्यु के भय से भी मुक्त होते चले जाते हैं और जब किसी योगी को पूर्ण रूप से यथार्त या तत्त्वज्ञान का अनुभव जो जाता है वह न तो स्वयं की मृत्यु के भय से ग्रसित होता है अपितु किसी भी प्राणी के मृत्यु पर व्यथित नहीं होता है।

**ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः ॥२.१०॥**

**पदच्छेदः** ते , प्रतिप्रसव , हेयाः , सूक्ष्माः।

**शब्दार्थः** ते - वे (पूर्वोक्त पाँच क्लेश, जो क्रिया योग से), सूक्ष्माः - सूक्ष्मावस्था को प्राप्त हैं, प्रतिप्रसव- चित्त को अपने कारण में विलीन करने के साधन द्वारा, हेयाः - नष्ट करने योग्य हैं।

**व्यासभाष्यम्-** ते पञ्च क्लेशा दग्धबीजकल्पा योगिनश्चरिताधिकारे चेतसि प्रलीने सह तेनैवास्त गच्छन्ति॥१०॥

**भाष्यानुवादः-** योगी के कृतकार्य चित्त के (प्रकृति में) लीन होने पर उसी के साथ ये पाँच क्लेश विलीन हो जाते हैं ॥१०॥ पूर्व के सूत्र संख्या 3 से लेकर 9 तक महर्षि पतंजलि ने पञ्च क्लेशों के स्वरूप एवं कार्यों के विषय में विस्तार से समझाया। शिष्यों द्वारा क्लेशों को ठीक से जान लेने के बाद उनके मन में जिज्ञासा हुई कि ये क्लेश तो बहुत दुखदायी हैं, इनके कारण तो पूरा जीवन ही अस्त व्यस्त हुआ पड़ा है। सारे बंधन और दुखों का कारण भी यहीं है तो अब इनका सर्वथा नाश किस प्रकार सम्भव है?

क्या क्रियायोग से केवल इन्हें तनु ही किया जा सकता है या कोई और उपाय भी है। शिष्यों को उत्तर देते हुए महर्षि कहते हैं कि- ये अविद्या आदि पञ्च क्लेश अत्यंत सूक्ष्म हैं। ये चित्त रूपी जिस प्रकृति से उत्पन्न हुए हैं, उसी में लीन होने योग्य होने से त्याज्य हैं।

योग साधना में जो बाधक तत्त्व हैं उन्हें उनके कारण में लीन करना होता है और जो समाधि में सहायक तत्त्व हैं उनकी

अभिव्यक्ति करनी होती है। साधक को यह समझना बहुत आवश्यक है कि कौन से दुर्गुण किस कारण में जाकर लीन होंगे और कौन से सहायक तत्व या भाव किस कारण से अभिव्यक्त होंगे। योग मार्ग में कुछ भी नष्ट नहीं होता, सिर्फ लीन हो जाता है। जो जिससे उत्पन्न है उसी में जाकर उसका विलय होना ही नष्ट होना कहा जाता है। अतः एक दृष्टि रखनी होती है कि हमें अपने दुर्गुणों, विकारों, कुसंस्कारों, बुरी आदतों को उनके कारण में लीन करा देना है और जो कुछ शुभ है, अच्छे संस्कार हैं उन्हें अभिव्यक्त करना है। इसी एक सोच और दृष्टि से साधक योग मार्ग पर आगे बढ़ने लगे जाता है।

जैसे ही पञ्च क्लेश, चित्त के साथ प्रकृति में लीन हो जाते हैं, योगी विकार रहित होकर समाधि की अवस्था को प्राप्त हो जाता है। ईश्वर के साहचर्य को प्राप्त करता हुआ नित्य आनंद में रमण करता है। समाधान की स्थिति में जीता है, जीवन मुक्ति के साथ जीता है।

**ध्यानहेयास्तवृत्तयः॥२.११॥**

**पदच्छेदः** ध्यान , हेयाः , तत् , वृत्तयः।

**शब्दार्थः** वृत्तयः - वृत्तियाँ, ध्यान- ध्यान के द्वारा, हेयाः - नष्ट करने योग्य हैं।

**व्यासभाष्यम्-** क्लेशानां या वृत्तयः स्थूलास्ताः क्रियायोगेन तनूकृताः सत्यः प्रसंख्यानेन ध्यानेन हातव्या यावत्सूक्ष्मीकृता यावद्गन्धबीजकल्पा इति। यथा वस्त्राणां स्थूलो मलः पूर्व निर्धूयते पश्चात्-सूक्ष्मो यत्नेनोपायेन वापनीयते तथा स्वल्पप्रतिपक्षाः स्थूला वृत्तयः क्लेशानां, सूक्ष्मास्तु महाप्रतिपक्षा इति॥११॥

**भाष्यानुवादः-** क्लेशों की जो स्थूल वृत्तियाँ हैं वे क्रियायोग द्वारा सूक्ष्म की जाती हैं प्रसङ्ख्यान (विवेकख्याति) के द्वारा नष्ट करने योग्य होती हैं, जिससे सूक्ष्म हो जायें, दग्धबीज के सदृश हो जायें। जिस प्रकार वस्त्रों का स्थूलमल पहले दूर किया जाता है पश्चात् सूक्ष्ममल प्रयत्न से दूर किया जाता है। उसी प्रकार क्लेशों की स्थूल वृत्तियाँ अल्प प्रयत्न से दूर करने योग्य होती हैं, जबकि सूक्ष्म (वृत्तियाँ) अधिक प्रयत्न के द्वारा दूर करने योग्य होती हैं॥११॥

जब क्लेशों को क्रियायोग के द्वारा निर्बल कर दिया जाता है अर्थात् क्लेशों की स्थूल वृत्तियों को क्रियायोग से सूक्ष्म कर दिया जाता है तब ध्यान के द्वारा उन्हें दग्धबीज करने का प्रयास करना चाहिए।

जब क्लेश बड़े रूप में या उग्र रूप में प्रकट होते हैं तो इसे क्लेशों का स्थूल रूप कहा जाता है। इसे हटाने के लिए क्रियायोग का सहारा लिया जाता है। क्रियायोग से इन्हें केवल सूक्ष्म किया जा सकता है लेकिन इन्हें लगभग पूरी तरह खत्म करने के लिए साधक को विशेष प्रयत्न करना पड़ता है जिसे महर्षि ने 'ध्यान' कहा है।

यहां ध्यान से महर्षि का अर्थ है विवेकख्याति। ध्यान से जैसे एकनिष्ठ ज्ञान उत्पन्न होता है उसी प्रकार मुझे अपने क्लेशों के सूक्ष्म रूप को समाप्त करना है इस प्रकार के एकनिष्ठ ज्ञान के प्रवाह से हटाने का बड़ा प्रयत्न करना चाहिए।

योग दर्शन एक व्यवस्थित शास्त्र है। यहाँ ठीक-ठीक स्वरूप ज्ञान, निश्चित प्रक्रिया, निश्चित लक्ष्य, समस्या और समाधान की बात की जाती है। अतः यदि महर्षि यह कहते हैं कि सूक्ष्म क्लेश ध्यान या विवेकज्ञान के द्वारा हटाये जा सकते हैं तो यह 100% सत्य है। कोई भी साधक यदि ठीक ठीक साधना का आचरण करेगा तो निश्चित पायेगा कि योग सूत्रों में वर्णित विधियों से उसे कहे गए परिणाम मिलते ही हैं।

यह योग दर्शन आचरण का शास्त्र है, इसमें बिना आचरण के कोई गति नहीं है। इसलिए जो भी साधक योग सूत्रों को पढ़कर अपने जीवन में साधना करना चाहते हैं उन्हें निश्चित की गई विधियों को आचरण में लाना ही होगा।

जब क्रियायोग से हमारे क्लेश सूक्ष्म हो जाएंगे तब बार बार प्रत्येक कर्म, व्यवहार, चेष्टा में साधक को देखना चाहिए कहीं लेशमात्र इनमें क्लेश तो नहीं है। यदि है तो उससे दूर होने का प्रयास करते रहना चाहिए। इस प्रकार जब निरंतर रूप से ज्ञान का प्रहार होता रहेगा तो एक दिन ऐसा आएगा जब आप पूर्ण रूप से क्लेशों के ऊपर नियंत्रण पा लेंगे।

**5 अंक के प्रश्नः-**

1. अविद्या क्या है?
2. अविद्या को क्लेशों की जननी क्यों कहा गया है?
3. ज्ञान और अविद्या में अंतर बताइए।
4. अविद्या का मानव जीवन पर क्या प्रभाव पड़ता है?
5. अविद्या से मुक्ति के उपाय बताइए।

**15 अंक के प्रश्नः-**

1. अविद्या क्लेशों की जननी कैसे है? विस्तार से समझाइए।
2. आत्मबोधा के महत्व की विवेचना कीजिए।
3. योग दर्शन में अविद्या की भूमिका पर निबंध लिखिए।

1. अविद्या का अर्थ हैरू

(क)ज्ञान

(ख)अज्ञान

(ग)ध्यान

(घ)समाधि

2. अविद्या से उत्पन्न होता हैरू

(क)ज्ञान

(ख)क्लेश

(ग)मोक्ष

(घ)आनंद

3. अविद्या से मुद्रि का साधान हैरू

(क)आत्मज्ञान

(ख)आलस्य

(ग)मोह

(घ)क्रोधा

**महत्वपूर्ण बिंदु:-**

अविद्या सभी दुःखों का मूल कारण है।

आत्मज्ञान से अविद्या का नाश होता है।

योग साधना ज्ञान प्राप्ति में सहायक है।

**शब्दावली**

अविद्या - अज्ञान

आत्मज्ञान - आत्मा का ज्ञान

क्लेश - मानसिक दुःख



॥ ओ३म् ॥

# न्याय-वैशेषिकदर्शन-II

MDPHMJ-202



दिव्य प्रकाशन

# MDPHMJ-202

## न्याय-वैशेषिकदर्शन II

Credits 05  
Marks 100 (25+75)

उद्देश्य : न्याय के द्वितीय अध्याय व वैशेषिक के तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय के सूत्रार्थ एवं भाष्यार्थ को सरलतम रीति से अवबोध कराना।

परिणाम: न्याय व वैशेषिक पदार्थों के लक्षणों की प्रामाणिकता की पुष्टि।

### खण्ड १: न्याय दर्शन-द्वितीय अध्याय

(२ क्रेडिट)

इकाई १: संशय की परीक्षा।

इकाई २: प्रमाणों की सामान्य परीक्षा।

इकाई ३: अनुमान प्रमाण की परीक्षा।

इकाई ४: उपमान प्रमाण की परीक्षा एवं शब्द प्रमाण की सामान्य परीक्षा।

### खण्ड २: न्याय दर्शन-द्वितीय अध्याय

(१ क्रेडिट)

इकाई ५: शब्द प्रमाण की विशेष परीक्षा।

इकाई ६: प्रमाण चतुष्टय पर चर्चा।

इकाई ७: शब्द अनित्यत्व की परीक्षा।

इकाई ८: शब्द परिणाम एवं शब्द शक्ति की समीक्षा।

### खण्ड ३: वैशेषिकदर्शन-तृतीय अध्याय

(१ क्रेडिट)

इकाई ९: हेतु एवं हेत्वाभास का निरूपण, हेतु का लक्षण एवं भेद

इकाई १०: संयोग सम्बन्ध वाला हेतु, समवाय सम्बन्ध वाला हेतु

इकाई ११: हेत्वाभास का लक्षण एवं भेद, आत्मतत्त्व की सिद्धि में हेतु

इकाई १२: देहादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में विभिन्न साधक लिंगों का वर्णन, आत्मा के गुणों का वर्णन, आत्मा के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं नानात्व की सिद्धि

### खण्ड ४: वैशेषिकदर्शन-चतुर्थ अध्याय

(१ क्रेडिट)

इकाई १३: परमाणुवाद, परमाणु के दृष्टिगोचरित न होने का कारण

इकाई १४: पृथिव्यादि चारों भूतों के कार्य

इकाई १५: शरीर के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध

इकाई १६: शरीर के भेद, अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु

सहायक ग्रन्थ १: न्यायदर्शन (विद्योदयभाष्य सहित आचार्य उदयवीर शास्त्री )

२: न्याय दर्शन (वात्स्यायनभाष्य सहित)

३: वैशेषिक दर्शन उदयवीर शास्त्री

४: वैशेषिक दर्शन आनन्द प्रकाश

५: प्रशस्तपाद भाष्य दुण्डीराजशास्त्री

## विषय-सूची

|                                                                                                                                                             |       |
|-------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|-------|
| खण्ड- १: न्याय दर्शन- द्वितीय अध्याय                                                                                                                        | 4-26  |
| इकाई- १.१: संशय की परीक्षा।                                                                                                                                 | 4-8   |
| इकाई- १.२: प्रमाणों की सामान्य परीक्षा।                                                                                                                     | 9-15  |
| इकाई- १.३: अनुमान प्रमाण की परीक्षा।                                                                                                                        | 16-18 |
| इकाई- १.४: उपमान प्रमाण की परीक्षा एवं शब्द प्रमाण की सामान्य परीक्षा।                                                                                      | 19-26 |
| <br>                                                                                                                                                        |       |
| खण्ड- २: न्याय दर्शन- द्वितीय अध्याय                                                                                                                        | 27-61 |
| इकाई- २.१: शब्द प्रमाण की विशेष परीक्षा।                                                                                                                    | 27-34 |
| इकाई- २.२: प्रमाण चतुष्टय पर चर्चा।                                                                                                                         | 35-40 |
| इकाई- २.३: शब्द अनित्यत्व की परीक्षा।                                                                                                                       | 41-49 |
| इकाई- २.४: शब्द परिणाम एवं शब्द शक्ति की समीक्षा।                                                                                                           | 50-61 |
| <br>                                                                                                                                                        |       |
| खण्ड- ३: वैशेषिकदर्शन- तृतीय अध्याय                                                                                                                         | 62-77 |
| इकाई- ३.१: हेतु एवं हेत्वाभास का निरूपण, हेतु का लक्षण एवं भेद                                                                                              | 62-64 |
| इकाई- ३.२: संयोग सम्बन्ध वाला हेतु, समवाय सम्बन्ध वाला हेतु                                                                                                 | 65-68 |
| इकाई- ३.३: हेत्वाभास का लक्षण एवं भेद, आत्मतत्त्व की सिद्धि में हेतु                                                                                        | 69-73 |
| इकाई- ३.४: देहादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में विभिन्न साधक लिंगों का वर्णन,<br>आत्मा के गुणों का वर्णन, आत्मा के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं नानात्व की सिद्धि | 74-77 |
| <br>                                                                                                                                                        |       |
| खण्ड- ४: वैशेषिकदर्शन- चतुर्थ अध्याय                                                                                                                        | 78-96 |
| इकाई- ४.१: परमाणुवाद, परमाणु के दृष्टिगोचरित न होने का कारण                                                                                                 | 78-82 |
| इकाई- ४.२: पृथिव्यादि चारों भूतों के कार्य                                                                                                                  | 83-87 |
| इकाई- ४.३: शरीर के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध                                                                                                  | 88-91 |
| इकाई- ४.४: शरीर के भेद, अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु                                                                                                    | 92-96 |



## खण्ड १: संशय एवं प्रमाणों की परीक्षा

### इकाई-१.१: संशय की परीक्षा

#### उद्देश्य-

1. संशय के स्वरूप को समझना, न्याय दर्शन के अनुसार संशय की तार्किक परिभाषा और उसके कारणों का गहराई से अध्ययन करना।
2. पूर्वपक्ष और सिद्धांत पक्ष का विश्लेषण संशय के लक्षणों पर उठाए गए आक्षेपों (पूर्वपक्ष) और गौतम ऋषि द्वारा दिए गए उनके समाधानों (सिद्धांत पक्ष) को समझना।
3. विशेषापेक्षा का महत्व यह जानना कि संशय केवल समान धर्म दिखने से नहीं, बल्कि विशेष गुणों को न देख पाने की व्याकुलता से उत्पन्न होता है।
4. परीक्षा पद्धति, न्याय शास्त्र में उद्देश, लक्षण के बाद 'परीक्षा' (Critical Analysis) की प्रक्रिया कैसे कार्य करती है, इसे संशय के उदाहरण से सीखना।

प्रथम अध्याय में प्रमाणादि षोडश पदार्थों का क्रम से उद्देश्य एवं लक्षण का वर्णन किया गया। प्रस्तुत अध्याय में षोडश पदार्थों में पठित प्रथम पदार्थ प्रमाण की परीक्षा की जायेगी। प्रमाणों के द्वारा अर्थ की परीक्षा को न्याय कहा जाता है। अतएव इस अध्याय से चतुर्थ अध्याय पर्यन्त प्रमाणों एवं प्रमेयों की परीक्षा के लिए सबसे पहले परीक्षणीय अर्थ पर संशय करना पड़ता है। इसलिए परीक्षा का अंगभूत साधन संशय की परीक्षा प्रथम अनिवार्य है।

संशयपरीक्षा प्रकरणम् -

**“समानानेकधर्माध्यवसायादन्यतरधर्माध्यवसायाद्वा न संशयः” २/१/१**

**समानस्य धर्मस्याध्यवसायात्संशयो न धर्ममात्रात् । अथ वा समानमनयोद्धर्ममुपलभ इति धर्मधर्मिग्रहणे संशयाभाव इति ।**

समान धर्म तथा अनेक धर्म के अध्यवसाय से अथवा दोनों में से किसी एक धर्म के अध्यवसाय से संशय नहीं हो सकता है। प्रस्तुत सूत्र में पूर्वपक्ष पूर्वाध्याय में कथित संशय के लक्षण पर आक्षेप करता है। पूर्वपक्ष का कहने का तात्पर्य यह है कि जो आपने संशय का लक्षण करते हुए कहा है **समानानेकधर्मोपपत्तेर्विप्रतिपत्तेरुपलब्ध्यनुपलब्ध्यव्यवस्थातश्चविशेषापेक्षो विमर्शः संशयः। १/१/२३** इस सूत्र में समानधर्म एवं अनेकधर्म या विशेष-धर्म को संशय का हेतु कहा गया है वह युक्त नहीं है, क्योंकि किसी पदार्थ में विशेषधर्म भी रहते हैं तथा सामान्यधर्म भी रहते हैं। उन उन पदार्थों में किन्हीं धर्मों का केवल निश्चय हा. ना संशय जनक नहीं होता। स्थाणु एवं पुरुष सजातीय पदार्थ हैं। उनमें किन्हीं समान अथवा भिन्न धर्मों के निश्चयमात्र से किसी प्रकार का संशय उत्पन्न नहीं होता है। इसी प्रकार प्रत्येक पदार्थ में उस पदार्थ से इतर पदार्थ का व्यावर्तक विशेषधर्म रहता ही है। ऐसे में वह धर्म संशय का हेतु नहीं हो सकता, क्योंकि विशेषधर्म तो संशय को नष्ट करने वाला होता है। उससे संशय उत्पन्न कैसे होगा जैसे कृतत्व धर्म शब्द के सजातीय गन्ध आदि गुणों में तथा असजातीय घट पटादि द्रव्यों में रहता है यह निश्चित है। इतने मात्र से संशय नहीं हो सकता। केवल किसी धर्मों में धर्म के होने मात्र से संशय होने लगे तो सर्वत्र संशय होने लगेगा, क्योंकि किसी भी पदार्थ में सामान्यधर्म एवं विशेषधर्म तो सदा रहते ही हैं। अथवा किन्हीं दो एक पदार्थों में समानधर्म की उपलब्धि होना भी संशय का कारण नहीं क्योंकि धर्म धर्मों का ग्रहण होने पर किसी संशय का अवकाश नहीं। और ऐसा भी संभव नहीं है कि किसी एक धर्मों में समान धर्म का निश्चय अन्य धर्मों में संदेह को उत्पन्न करे। जैसे किसी एक धर्मों में रूप का निश्चय अन्य धर्मों में स्पर्श के विषय में संशय को उत्पन्न नहीं कर सकता है।

इसी प्रकार अनेकधर्म के निश्चय से भी संशय नहीं हो सकता है, क्योंकि विभिन्न धर्मियों में अनेक धर्मों का ग्रहण होना धर्म धर्मों का निश्चय ही है। इससे संशय का अवकाश ही नहीं है। कारण यह है कि अनेक धर्म से तो संशय निवृत्त होता है वह संशय को कब से उत्पन्न करने लगा ।

समान एवं अनेकधर्म को संशय में हेतु का खंडन करने के पश्चात् तत्क्षण सूत्र कथित विप्रतिपत्ति एवं अव्यवस्था के अध्यवसाय को भी संशय के हेतु का खंडन करते हुए पूर्वपक्षी कहता है -

**“विप्रतिपत्त्यव्यवस्थाध्यवसायाच्च” २/१/२**

**न विप्रतिपत्तिमात्रादव्यवस्थामात्राद्वा संशयः । किं तर्हि ? विप्रतिपत्तिमुपलभमानस्य संशयः एवमव्यवस्थायामपीति।**

विप्रतिपत्ति से अव्यवस्था से एवं इनके अध्यवसाय से संशय नहीं होता है। प्रस्तुत सूत्र में पूर्वसूत्र से संशय पद की अनुवृत्ति है। विप्रतिपत्ति का तात्पर्य है कि एक ही विषय में परस्पर दो अर्थों को जानना। जैसे एक ही आत्मा के विषय में परस्पर दो बातें प्रसिद्ध हैं। वैदिक आचार्यों का कहना है कि आत्मा का अस्तित्व है जबकि चार्वाक जैसे नास्तिकों का कहना है कि आत्मा का अस्तित्व नहीं है। ऐसे ही आत्मा के विषय में अस्तित्व एवं अनस्तित्व विषयक परस्पर विरुद्ध अर्थ होने से विप्रतिपत्ति है। उपरोक्त दोनों विरुद्ध अर्थों को जानने मात्र से किसी को संशय नहीं होता है। सबको पता होता है कि अमुक समुदाय इस तथ्य को स्वीकार करता है तथा अमुक समुदाय भिन्न तथ्य को स्वीकार करता है। इतने मात्र से किसी को संशय उत्पन्न नहीं हो सकता है। अतः विप्रतिपत्ति के निश्चय मात्र से संशय का होना असंभव है।

इसी प्रकार उपलब्धि की अव्यवस्था तथा अनुपलब्धि की अव्यवस्था मात्र से संशय नहीं होता और न ही इनके अव्यवस्था के निश्चय से संशय होता है। संशय तभी होता है जब विशेष जानने की जिज्ञासा हो। जैसे कोई वस्तु विद्यमान होती हुई उपलब्ध होती है तथा कोई अविद्यमान होती हुई उपलब्ध होती है। उपलब्धि की इस अव्यवस्था को केवल जानने मात्र से संशय नहीं होता, क्योंकि यह तो प्रायः सबको पता ही होता है कि कभी कभी वस्तु न होते हुए भी आभासित होने लगती है। इतने मात्र से संशय नहीं हो सकता है। अब पूर्वपक्ष विप्रतिपत्ति को अन्य प्रकार से संशय में हेतु का निषेध करता है -

**“विप्रतिपत्तौ च संप्रतिपत्तेः” २/१/३**

**यां च विप्रतिपत्तिं भवान् संशयहेतुं मन्यते सा सम्प्रतिपत्तिः सा हि द्वयोः प्रत्यनीकधर्माविषया । तत्र यदि विप्रतिपत्तेः संशयः ? सम्प्रतिपत्तेरेव संशय इति ।**

विप्रतिपत्ति में परस्पर दो विरुद्ध ज्ञानों में संप्रतिपत्ति यानी निश्चित ज्ञान होने से भी संशय नहीं हो सकता है। अभिप्राय यह है कि परस्पर दो विरुद्ध मतावलंबियों के विषय में एक तीसरे व्यक्ति को ज्ञात रहता है कि अमुक का यह सिद्धांत है तथा अमुक का यह सिद्धांत है। ऐसे में तीसरे व्यक्ति को इस विषय में संशय नहीं हो सकता है, क्योंकि उन दोनों के विषय में वह निश्चित है कि इनका ऐसा ही मानना है। इस प्रकार उन विप्रतिपत्तियों में तीसरे व्यक्ति को संप्रतिपत्ति यानी निश्चय होने से संशय नहीं हो सकता है। अतः विप्रतिपत्ति का अध्यवसाय भी संशय का जनक नहीं हो सकता है।

पूर्वोक्त अव्यवस्था के विषय में पूर्वपक्ष दोषारोप करता हुआ कहता है -

**“अव्यवस्थात्मनि व्यवस्थितत्वाच्चाव्यवस्थायाः” २/१/४**

**न संशयः । यदि तावदियमव्यवस्था आत्मनि ( एव ) व्यवस्थिता ? व्यवस्थानादव्यवस्था न भवतीत्यनुपपन्नः संशयः।**

अब पूर्वोक्त पूर्वपक्ष की बातों को सिद्धान्ती एक ही सूत्र में समाधान कर देता है -

**“यथोक्ताध्यवसायादेव तद्विशेषापेक्षात् संशये नासंशयो नात्यन्तसंशयो वा” २/१/६**

**संशयानुपपत्तिः संशयानुच्छेदश्च न प्रसज्यते । कथं ? यत्तावत् समानधर्माध्यवसायः संशयहेतुः न समानधर्ममात्रमिति।**

पूर्वोक्त अध्यवसाय निश्चय से ही उसके विषय में विशेष जानने की अपेक्षा से संशय होने पर संशय का न होना अथवा अत्यंत संशय का होना नहीं हो सकता है। पूर्वपक्ष ने पूर्वोक्त पाँचों सूत्रों में मुख्य रूप से दो बातें कही हैं। पहला यह कि समानादि धर्मों से संशय नहीं हो सकता तथा दूसरा यह कि समानादि धर्मों का निरंतर धर्मों के साथ विद्यमान होने से सतत संशय होगा।

उपरोक्त दोनों आक्षेपों का समाधान न्यायकार ने प्रस्तुत सूत्र में किया है। सूत्रकार का आशय यह है कि जब समानादि धर्मों के अध्यवसाय निश्चय से ही विशेष जानने की अपेक्षा से संशय होता है। जब हम किसी धर्म में दो वस्तुओं के समानधर्म को देखते हैं। जैसे रस्सी में लम्बाई वक्रता इत्यादि धर्म को देखा। यह धर्म रस्सी से भिन्न सर्प में भी पाया जाता है। यहाँ केवल समानधर्म की उपलब्धि हो रही है परंतु विशेष धर्म की उपलब्धि नहीं हो रही है। ऐसे में दृष्टा को विशेष जानने की अपेक्षा हुई कि मैं इसके विशेष धर्म को जानूँ कि आखिर में यह साँप है अथवा रस्सी। समानादि धर्मों के अध्यवसाय पूर्वक ही जब विशेष जानने की अपेक्षा होती है, तब संशय उत्पन्न होता है। केवल समानादि धर्मों के होने मात्र अथवा निश्चय मात्र से संशय नहीं होता है बल्कि उनके निश्चय से जब विशेष जानने की अपेक्षा होती है तब संशय अवश्य होता है। इसलिए लक्षणसूत्रोक्त समानादि धर्मों से संशय नहीं होता अथवा न अत्यंत संशय होता है। अतः यह पूर्वपक्ष का कहना संगत नहीं है, क्योंकि पूर्वपक्ष ने इन पदों की नितांत उपेक्षा करके केवल लक्षण में कहे गये आधे अधूरे बात को प्रस्तुत करके खंडन किया है।

**पृथक्प्रवादयोर्व्याहतमर्थमुपलभे विशेषं च न जानामि नोपलभे येनान्यतरमवधारयेयम् तत्कोऽत्र विशेषः स्याद्येनैकतरमवधारयेयमिति ।** इसी प्रकार विप्रतिपत्ति आदि में भी एक के मत में आत्मा है तथा दूसरे के मत में आत्मा नहीं है। इन दोनों के मतों को जानकर तीसरे व्यक्ति को विशेष जानने की इच्छा होती है कि आखिर में इन दोनों में से किसके मत सत्य हैं। ऐसी इच्छा के

होने पर जब तक उसे संशय के निवर्तक प्रमाण नहीं मिल जाते तब तक संशय वर्तमान रहता है। प्रमाणादि की सम्यक् उपलब्धि से संशय निभूत हो जाता है। उपरोक्त सभी स्थितियों में विशेष जानने की अपेक्षा ही संशय का हेतु सिद्ध होती है। इसलिए संशय नहीं होगा अथवा अत्यंत संशय होगा, यह पूर्वपक्ष का कहना सर्वथा असंगत है।

अन्ततः न्यायकार संशयपरीक्षा प्रकरण का उपसंहार करते हुए अंतिम सूत्र कहते हैं -

**“यत्र संशयस्तत्रैवमुत्तरोत्तर प्रसङ्गः” २/१/७**

जहाँ जहाँ प्रमाणादि विषयों की परीक्षा में संदेह हो वहाँ वहाँ समाधान प्रस्तुत कर देना चाहिए। सिद्धान्तपक्ष का आशय यह है कि आगे प्रमाणादि पदार्थों के परीक्षा के क्रम में जहाँ जहाँ पूर्वपक्ष संशय के विषय में कहे कि अमुक विषय में तो संशय ही नहीं है, अतः इसकी परीक्षा की क्या आवश्यकता है इत्यादि। तब वहाँ वहाँ उपरोक्त एक रीतियों से जिस प्रकार समाधान प्रस्तुत किया गया है ठीक उसी प्रकार समाधान प्रस्तुत करके परीक्षा के प्रकरण को आगे बढ़ाना चाहिए। इस प्रकार सात सूत्रों के द्वारा संशय परीक्षा प्रकरण पूर्ण होता है।

### स्मरणीय बिंदु-

- संशय का स्थान- न्याय दर्शन के 16 पदार्थों में संशय तीसरा पदार्थ है। परीक्षा (तार्किक विश्लेषण) के लिए संशय का होना अनिवार्य माना गया है (न अनिरूपिते अर्थे न निणह्यते, अपितु संशयिते अर्थे न्यायः प्रवर्तते)।
- संशय के कारण- संशय मुख्यतः पाँच कारणों से होता है, समान धर्म का ज्ञान, अनेक धर्म (असाधारण धर्म) का ज्ञान, विप्र. तिपत्ति (विरोधी मत), उपलब्धि की अव्यवस्था और अनुपलब्धि की अव्यवस्था।
- विशेषापेक्षा- जब हमें दो वस्तुओं के समान गुण दिखते हैं (जैसे अंधेरे में खड़ा खंभा और मनुष्य दोनों लंबे दिखते हैं), लेकिन उनके विशेष गुण (जैसे सिर-पैर या लकड़ी की गांठें) नहीं दिखते, तब (विशेषापेक्षा) के कारण संशय उत्पन्न होता है।
- पूर्वपक्ष का आक्षेप- पूर्वपक्ष का कहना है कि यदि समान धर्म का ज्ञान है, तो संशय नहीं 'निश्चय' होना चाहिए। यदि धर्म का ज्ञान नहीं है, तब भी संशय नहीं हो सकता।
- सिद्धांत पक्ष का समाधान महर्षि गौतम स्पष्ट करते हैं कि संशय केवल ज्ञान से नहीं, बल्कि 'विशेष की अपेक्षा' (Desire to know the specific) के साथ होने वाले अनिश्चयात्मक ज्ञान से होता है।
- अतिव्याप्ति खंडन- न्यायकार यह सिद्ध करते हैं कि संशय कोई अनंत काल तक चलने वाली प्रक्रिया नहीं है, विशेष गुण का ज्ञान होते ही संशय स्वतः समाप्त हो जाता है।

### शब्दावली-

- संशय (Samsaya) एक ही धर्मी (वस्तु) में परस्पर विरोधी नाना धर्मों का विमर्श या अनिश्चयात्मक ज्ञान।
- पूर्वपक्ष (Purvapaksha)- वह पक्ष जो सिद्धांत पर आक्षेप या शंका उठाता है (Opponent's view)
- सिद्धांत पक्ष (Siddhanta)- जो तर्कों द्वारा शंकाओं का समाधान कर अंतिम निर्णय स्थापित करता है।
- विशेषापेक्षा (Visheshapeksha)- विशेष धर्म या असाधारण गुण को जानने की आकांक्षा।
- विप्रतिपत्ति (Vipratipatti)- एक ही विषय पर दो विद्वानों या शास्त्रों के परस्पर विरोधी विचार (Contradiction)
- स्थाणु (Sthanu)- टूट या लकड़ी का खंभा (संशय के उदाहरण में प्रयुक्त)
- अध्यवसाय (Adhyavasaya)- निश्चय, ज्ञान या निर्णयात्मक बुद्धि।
- अव्यवस्था (Avavyastha)- नियम का अभाव (जब किसी चीज़ की उपलब्धि या अनुपलब्धि अनिश्चित हो।
- अतिव्याप्ति (Ativyapti) लक्षण का बहुत अधिक विस्तार हो जाना (Over&application)

### 5 अंक के प्रश्न-

1. संशय किसे कहते हैं?
2. न्याय दर्शन के अनुसार संशय के कितने कारण 'हेतु' बताए गए हैं?
3. 'विशेषापेक्षा' 'विशेष की अपेक्षा' क्या है?
4. पूर्वपक्ष के अनुसार 'समान धर्म' संशय का कारण क्यों नहीं हो सकता?
5. विप्रतिपत्ति (विप्रतिपत्तिः) का क्या अर्थ है?
6. सिद्धांत पक्ष ने पूर्वपक्ष के आक्षेपों का समाधान किस मुख्य सूत्र से किया है?
7. संशय को न्याय परीक्षा का अंग क्यों माना गया है?
8. 'स्थाणु' और पुरुष के उदाहरण में संशय कैसे उत्पन्न होता है?



9. क्या विप्रतिपत्ति का ज्ञान होने पर सबको संशय होता है?

10. 'संशय परीक्षा प्रकरण' में कुल कितने सूत्र हैं?

**15 अंक के प्रश्न-**

1. संशय के लक्षणों पर पूर्वपक्ष द्वारा किए गए आक्षेपों का उल्लेख करते हुए सिद्धांत पक्ष (न्यायकार) द्वारा किए गए समाधान की समीक्षा कीजिए।

2. "विशेषापेक्षा" (विशेष को जानने की इच्छा) संशय की उत्पत्ति में किस प्रकार अनिवार्य है? 'स्थाणु-पुरुष' या 'रज्जु-सर्प' के उदाहरण से स्पष्ट कीजिए।

3. विप्रतिपत्ति (मतभेद) और अव्यवस्था से उत्पन्न होने वाले संशय के विरुद्ध पूर्वपक्ष के तर्कों का परीक्षण कीजिए। क्या विप्रतिपत्ति का ज्ञान हमेशा संशय पैदा करता है?

4. 'संशय परीक्षा प्रकरण' के उन सूत्रों की व्याख्या कीजिए जो संशय की अतिव्याप्ति (Over&application) या निरंतरता (Infinite loop) के आरोपों का खंडन करते हैं।

5. न्याय शास्त्र में 'संशय की परीक्षा' को प्रथम स्थान पर क्यों रखा गया है? 'संशय' और 'प्रमाण परीक्षा' के अंतर्संबंधों पर प्रकाश डालिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. न्याय दर्शन के अनुसार 'संशय' कौन से नंबर का पदार्थ है?

(क) प्रथम

(ख) द्वितीय

(ग) तृतीय

(घ) चतुर्थ

2. संशय का मुख्य लक्षण क्या है?

(क) निश्चित ज्ञान

(ख) अनिश्चयात्मक ज्ञान

(ग) प्रत्यक्ष ज्ञान

(घ) शब्द ज्ञान

3. सूत्र 2.1.1 में पूर्वपक्ष ने किसका खंडन किया है?

(क) प्रमाण का

(ख) प्रमेय का

(ग) संशय के लक्षणों का

(घ) मोक्ष का

4. 'विप्रतिपत्ति' (विप्रतिपत्तिः) का अर्थ क्या है?

(क) समान मत होना

(ख) परस्पर विरोधी मत होना

(ग) संशय का न होना

(घ) गुरु का उपदेश

5. सिद्धांत पक्ष (न्यायकार) के अनुसार संशय उत्पन्न होने के लिए क्या अनिवार्य है?

(क) केवल समान धर्म का ज्ञान

(ख) केवल विशेष धर्म का ज्ञान

(ग) विशेषापेक्षा (विशेष जानने की इच्छा)

(घ) इनमें से कोई नहीं

6. सूत्र 2.1.6 में प्रयुक्त 'अध्यवसाय' शब्द का क्या अर्थ है?

(क) भ्रम

(ख) निश्चय या ज्ञान

(ग) अज्ञान

(घ) संदेह

7. 'स्थाणु या पुरुष' (खंभा या मनुष्य) का उदाहरण किस पदार्थ को समझाने के लिए दिया जाता है?

(क) प्रमाण

(ख) दृष्टान्त

**(ग) संशय**

(घ) निग्रहस्थान

8. पूर्वपक्ष के अनुसार, यदि केवल समान धर्म दिखने से संशय होता, तो क्या परिणाम होता?

(क) ज्ञान की प्राप्ति

(ख) संशय का अंत

**(ग) अत्यंत संशय (निरंतर संदेह)**

(घ) मोक्ष

9. न्याय दर्शन में परीक्षा का आधार किसे माना गया है?

**(क) संशय को**

(ख) तर्क को

(ग) विकल्प को

(घ) वाद को

10. 'अति सर्वत्र वर्जयेत्' का अर्थ इस पाठ के संदर्भ में क्या है?

(क) अधिक ज्ञान प्राप्त करना

**(ख) किसी भी चीज की अति या अधिकता से बचना**

(ग) अधिक संशय करना

(घ) अधिक सूत्रों को पढ़ना

## इकाई-१.२: प्रमाणों की सामान्य परीक्षा

### उद्देश्य-

- प्रमाणों की प्रामाणिकता की रक्षा: पूर्वपक्ष द्वारा 'त्रैकाल्य' (तीन काल) के आधार पर प्रमाणों पर किए गए आक्षेपों को समझना और सिद्धांत पक्ष (न्याय) द्वारा उनकी तार्किक रक्षा का अध्ययन करना।
- प्रत्यक्ष के लक्षण का सूक्ष्म विश्लेषण: यह समझना कि प्रत्यक्ष के लक्षण में 'आत्मा' और 'मन' का उल्लेख न होने पर भी वे कैसे समाहित माने जाते हैं।
- अवयवी की सत्ता का प्रतिपादन: पूर्वपक्ष के 'प्रत्यक्ष अनुमान ही है इस मत का खंडन करना और यह सिद्ध करना कि 'अवयवी' (संपूर्ण वस्तु) अपने 'अवयवों' (हिस्सों) से भिन्न एक स्वतंत्र सत्ता है।
- तार्किक प्रतिवाद कौशल: 'प्रतिषेध की अनुपपत्ति' जैसे सूत्रों के माध्यम से यह सीखना कि किसी भी निषेध के लिए स्वयं एक आधार (प्रमाण) की आवश्यकता होती है।

सांख्य परीक्षा के अंगभूत संशय की परीक्षा के पश्चात् षोडश पदार्थान्तर्गत पठित प्रथम प्रमाण नामक पदार्थ की परीक्षा करते हुए सर्वप्रथम सूत्रकार प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों की अप्रामाणिकता में दिए गए पूर्वपक्ष के हेतुओं को प्रस्तुत कर रहे हैं।

“ प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यं त्रैकाल्यासिद्धे: ” २/१/८

प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्यं नास्ति, त्रैकाल्यासिद्धे: पूर्वापरसहभावानुपपत्तेरित्यर्थः। प्रत्यक्षादि का अप्रामाण्य है, क्योंकि तीनों कालों में उनकी असिद्धि होने से। प्रस्तुत क्षेत्र में पूर्वपक्ष ने प्रत्यक्ष आदि चारों प्रमाणों को सामान्यरूप से अप्रामाणिक कहा है। अप्रामाणिकता को सिद्ध करने के लिए त्रैकाल्यासिद्धि: को हेतु रूप में प्रस्तुत किया है। त्रैकाल्य असिद्धि का तात्पर्य है प्रमाण प्रमेय के पूर्वापरसहभाव की असिद्धि। अब इन्हीं त्रैकाल्य असिद्धि को पूर्वपक्ष अग्रिम तीन सूत्रों के द्वारा वर्णन करता है।

“ पूर्व हि प्रमाणसिद्धौ नेन्द्रियार्थसन्निकर्षात् प्रत्यक्षोत्पत्तिः ” २/१/९

गन्धादिविषयं ज्ञानं प्रत्यक्षं, तद्यदि पूर्वं, पश्चाद्गन्धादीनां सिद्धिः ?

गन्धादिसन्निकर्षादुत्पद्यत इति प्रमेय के पूर्वकाल में प्रमाण की सिद्धि मानने पर इन्द्रिय व अर्थ के सन्निकर्ष होने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति होती है यह कथन ठीक नहीं होगा।

पूर्वपक्ष का तात्पर्य यह है कि प्रमाण को प्रमेय से पूर्वकाल में स्वीकार किया जाए तो जो गन्धादि ज्ञान प्रत्यक्ष कहलाता है और वह गन्ध रूप प्रमेय से पूर्व ही उसका बोध हो जाता है, तब इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति की बात जो प्रत्यक्षलक्षण सूत्र में कही गयी है, वह अनुपपन्न हो जायेगी, क्योंकि गन्धादि प्रमेयों की अविद्यमानता में ही उसका ज्ञान हो गया। तब आपका सिद्धान्तपक्ष में प्रत्यक्षलक्षणात् सूत्र व्यर्थ हो जायेगा। यदि प्रमाण को प्रमेय के पश्चात् कहो तो -

“ पश्चात् सिद्धौ न प्रमाणेभ्यः प्रमेयसिद्धिः ” २/१/१०

असति प्रमाणे केन प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयः स्यात् प्रमाणेन खलु प्रमीयमाणोऽर्थः प्रमेयमित्यत त्सिध्यति ।

प्रमाण को प्रमेय के पश्चात्काल में स्वीकार करने पर प्रमाणों से प्रमेय की सिद्धि नहीं होगी। प्रस्तुत सूत्र में पूर्वोक्त का आशय यह है कि यदि प्रमाण को प्रमेय के पश्चात् स्वीकार करे तो प्रमाण के न होने पर प्रमेय की सिद्धि कैसे होगी, कारण यह है कि प्रमाण के द्वारा जो जाना जाए उसे प्रमेय कहते हैं। प्रमाण तो पश्चात् आ रहा है प्रमेय के पश्चात् भी प्रमाण की सत्ता असिद्ध है। पूर्वापर के निषेध हो जाने पर कोई यह कहे कि दोनों को एक साथ स्वीकार किया जाए, तब पूर्वपक्ष के द्वारा इसका भी खंडन किया जा रहा है -

“ युगपत्सिद्धौ प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावो बुद्धीनाम् ” २/१/११

यदि प्रमाणं प्रमेयं च युगपद्भवतः ? एवमपि गन्धादिष्विन्द्रियार्थेषु ज्ञानानि प्रत्यर्थनियतानि युगपत्सम्भ-  
वतः - न्तीति ज्ञानानां प्रत्यर्थनियतत्वात् क्रमवृत्तित्वाभावः। या इमा बुद्धयः क्रमेणार्थेषु वर्तन्ते तासां क्रमवृत्तित्वं न संभवतीति।

प्रमाण और प्रमेय की सत्ता को एक ही काल में स्वीकार करने पर ज्ञान के प्रतिनियत होने से उसके क्रम का अभाव हो जायेगा। पूर्वपक्ष का कहना यह है कि यदि प्रमाण एवं प्रमेय दोनों को एक ही काल में स्वीकार करें तो ज्ञान के अक्रम होने का दोष आयेगा। कारण यह है कि सूत्रकार ने पूर्व में ही ज्ञान की अयुगपत् उत्पत्ति के न होने को मन का लिंग बताया है। मन एक काल में किसी एक ही अर्थ का ज्ञान आत्मा को करा सकता है। प्रमाण और प्रमेय के एक ही काल में स्वीकार करें तो दोनों का युगपत् ज्ञान होने का प्रसंग आयेगा जो कि न्यायकार को स्वयं इष्ट नहीं है। अतः दोनों को साथ साथ कहना भी संगत नहीं है। अतः प्रत्यक्षादि

प्रमाणों का तीनों कालों में असिद्ध होने से अप्रमाणत्व सिद्ध होता है।

अस्य समाधि – उपलब्धिहेतोरूपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावा नियमाद्यथादर्शनं विभाग वचनम् क्वचिदुपलब्धि हेतुः पूर्व, पश्चादुपलब्धि विषयः यथाऽऽदित्यस्य प्रकाश उत्पद्यमानानाम्। क्वचिदुपलब्धिहेतोरूपलब्धिविषयश्च सह भवतः यथा धूमेनाग्नेर्ग्रहणमिति।

उपरोक्त आक्षेप का समाधान करते हुए भाष्यकार कहते हैं, कि उपलब्धि के हेतु प्रमाण एवं उपलब्धि के विषय प्रमेय के पूर्वाप. रसहभाव का निश्चित नियम न होने से हम जैसा देखेंगे वैसा स्वीकार करेंगे। तात्पर्य यह है कि प्रमाण प्रमेय के संदर्भ में कोई नियम नहीं होता है, कि प्रमाण प्रमेय में कौन पूर्व और कौन पश्चात् होगा। कभी प्रमाण पहले देखा जाता है तो प्रमेय बाद में जैसे कि उत्पन्न होने वाले घटादि पदार्थों की उपलब्धि में आदित्य का प्रकाश रूप प्रमाण पूर्व में देखा जाता है तथा उपलब्धि का विषय घटादि पदार्थ पश्चात् देखा जाता है। कभी तो उपलब्धि का विषय पूर्व तथा उपलब्धि का हेतु पश्चात् देखा जाता है, जैसे कि पूर्व से स्थित अंधेरे में विद्यमान पदार्थों की प्रदीपन से उपलब्धि होने में विषय पहले है तथा प्रमाणभूत प्रदीप पश्चात् है। कहीं पर प्रमाण एवं प्रमेय दोनों साथ प्रमाणभूत धूम एवं प्रमेयभूत अग्नि दोनों साथ साथ देखे जाते हैं। अतः प्रमाण एवं प्रमेय के मध्य पूर्वापरसहभाव की नियत व्यवस्था न होने से जैसा देखेंगे वैसा स्वीकार करेंगे। इसलिए उपरोक्त प्रश्न का उत्तर एकान्तवच – नीय न होकर विभज्य वचनीय है। रही बात प्रमाण प्रमेय के नामकरण पर तो प्रमाण प्रमेय की संज्ञा त्रैकालिक है। उपलब्धि का हेतु होने से प्रमाण की संज्ञा का तीनों कालों से योग होता है। जैसे वह अपनी आँखों से देखा था देख रहा है और देखेगा। इन तीनों कालों में आँखों का करणत्व बाधित नहीं होता है। इसी प्रकार प्रमेय के विषय में भी उस पदार्थ को जान लियाए प्रायः जाना जाना जा रहा है जाना जायेगा इन तीनों ही अवस्थाओं में वस्तु के ज्ञानविषयत्व की तीनों कालों में हानि नहीं हो रही है। अतः चाहे प्रमाण पहले हो या प्रमेय उनके नामकरण का तीनों कालों का योग होने से कोई आपत्ति नहीं है। इस प्रकार पूर्वपक्ष के द्वारा नामकरण की अनुपपत्ति की बात असिद्ध हो जाती है।

पूर्वोक्त पूर्वपक्ष के द्वारा किये खंडनों को सूत्रकार उसी की भाषा में जवाब देते हुए कहते हैं

“त्रैकाल्यासिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः” २/१/१२

अस्य तु विभागः। पूर्व हि प्रतिषेधसिद्धावसति प्रतिषेध्ये किं तेन प्रतिषिध्यते। पश्चात् सिद्धौ प्रतिषेध्यासिद्धिः प्रतिषेधाभ. त्वदिति। युगपत्सिद्धौ प्रतिषेध्यसिद्धयभ्यनुज्ञानादनर्थकः प्रतिषेध इति। प्रतिषेधलक्षणे च वाक्येऽनुपपद्यमाने सिद्ध प्रत्यक्षादीनां प्रमाणत्वमिति।

पूर्वपक्ष का प्रतिषेध तीनों काल में असिद्ध होने से अनुपपन्न अयुक्त है। जिस प्रकार पूर्वपक्ष में प्रमाण एवं प्रमेय के पूर्वापरसहभाव को लेकर तीनों कालों में असिद्ध की बात कही थी ठीक उसी प्रकार सिद्धान्ती पूर्वपक्ष के प्रतिषेध को त्रैकाल्य में प्रमाण असिद्ध होने का आक्षेप पुनः उसी के ऊपर के ऊपर लगाते हैं। सिद्धान्ती का कहना है कि आपके मत में पूर्वपक्ष के मत में भी दो पदार्थ हैं एक प्रतिषेध दूसरा प्रतिषेध्य। यदि प्रतिषेध को पूर्व में मानेंगे तो प्रतिषेध्य के अभाव में वह किसका प्रतिषेध करेगा ? प्रतिषेध के अभाव में प्रतिषेध्य संज्ञा उत्पन्न न होगी। यदि प्रतिषेध एवं प्रतिषेध्य दोनों को साथ साथ स्वीकार करें तो पूर्वपक्ष के अपने प्रमाणभूत प्रतिषेध को स्वीकार कर लेने पर यह कहना ठीक नहीं होगा कि प्रमाण से पूर्व पूर्वपक्ष प्रतिषेध करेगा, उसको तो प्रामाणिक मानना ही पड़ेगा अन्यथा प्रतिषेध ही असिद्ध हो जायेगा। अपने प्रतिषेध को तो प्रमाण के रूप में स्वीकार करें परन्तु दूसरों के प्रमाण को प्रमाण के रूप में स्वीकार न करना सर्वथा अन्याय है। इसी तथ्य को सूत्रकार ने स्पष्ट करते हुए कहा है –

“सर्वप्रमाण प्रतिषेधाच्च प्रतिषेधानुपपत्तिः” २/१/१३

त्रैकाल्यासिद्धिरित्यस्य हेतोर्यद्युदाहरणमुपादीयते हेत्वर्थस्य साधकत्वं दृष्टान्ते दर्शयितव्यमिति, न च तर्हि प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यम्। अथ प्रत्यक्षादीनामप्रामाण्यम्? उपादीयमानमप्युदाहरणं नार्थ साधयिष्यतीति सोऽयं सर्वप्रमाणव्याहतो हेतुरहेतुः ‘सिद्धान्तमभ्युपेत्य तद्विरोधी विरुद्धः’ २/२/६ इति। वाक्यार्थो ह्यस्य सिद्धान्तः।

प्रमाणमात्र का प्रतिषेध होने पर तो आपका प्रतिषेध वर्णन भी असिद्ध हो जायेगा। पूर्वपक्ष से यह पूछा जाये कि आपका जो प्रतिषेध है वह प्रामाणिक है या नहीं दि वह कहे कि प्रामाणिक है तो फिर पूर्वपक्ष का यह कहना अनुपपन्न हो जायेगा कि प्रमाण होते ही नहीं। वह स्वयं प्रमाण का प्रयोग करके प्रतिषेध कर रहा है और कहता है कि प्रमाण होते ही नहीं। यदि नहीं होते तो तुम्हारे पास प्रतिषेध रूप प्रमाण कहां से आया । यदि पूर्वपक्ष यह कहे कि सारे प्रमाण का प्रतिषेध हो जाता है तो प्रस्तुत सूत्र में सूत्रकार ने कहा कि यदि सभी प्रमाण को निषेध करते हो तो तुम्हारा प्रतिषेध रूप प्रमाण भी खंडित हो जायेगा। प्रतिषेध ही असिद्ध हो जायेगा। तात्पर्य यह है कि प्रमाणमात्र का निषेध होने से तुम्हारा प्रतिषेध ही अप्रामाणिक हो जायेगा क्योंकि जब दुनिया में प्रमाण नामक कोई वस्तु ही नहीं है तो तुम्हारा खंडन ही अप्रामाणिक हो जायेगा।

इस पर पूर्वपक्ष यह कहे कि हमारा खंडन तो प्रमाण है परन्तु सिद्धान्ती का मंडन प्रमाण नहीं है तब सूत्रकार कहते हैं-

“तत्प्रामाण्ये वा न सर्वप्रमाणविप्रतिषेधः” २/१/१४

प्रतिषेधलक्षणे स्ववाक्ये तेषामवयवाश्रितानां प्रत्यक्षादीनां प्रामाण्येऽभ्यनुज्ञायमाने परवाक्येऽप्यवयवाश्रितानां प्रामाण्यं प्रसज्यते अविशेषादिति।

अपने प्रतिज्ञादि अवयव समूह को प्रामाण्य स्वीकार करने पर प्रमाणमात्र का प्रतिषेध ठीक नहीं है। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अपने मत में प्रतिज्ञादि अवयव समूह को प्रमाण रूप में स्वीकार किया जाता है ठीक उसी प्रकार दूसरों के द्वारा प्रतिज्ञादि अवयव समूह को भी प्रमाण के रूप में स्वीकार करना ही पड़ेगा। कारण यह है कि प्रतिज्ञादि वाक्य समूह दोनों का समान ही है। पूर्वपक्ष की प्रतिज्ञा तो प्रतिज्ञा है परन्तु सिद्धान्त पक्ष की प्रतिज्ञा अप्रतिज्ञा है, यह कहना अन्याय है। इसी प्रकार अन्य अवयवों के विषय में भी समझ लेना चाहिए।

प्रमाण एवं प्रमेय के पूर्वापरसहभाव के असिद्ध में पूर्वपक्ष के द्वारा कहे गये प्रमेय के पश्चात् प्रमाण को स्वीकार नहीं किया जा सकता इसका खंडन करते हुए सूत्रकार स्वयं कह रहे हैं -

“त्रैकाल्याप्रतिषेधश्च शब्दादातोद्यसिद्धिवत्तत्सिद्धेः” २/१/१५

किमर्थ पुनरिदमुच्यते? पूर्वोक्तनिबन्धनार्थम् यत्तवत्पूर्वोक्तमूपलब्धिहेतोरूपलब्धिविषयस्य चार्थस्य पूर्वापरसहभावानियमाद् यथादर्शनं विभाग वचनमिति, तदितः समुत्थानं यथा विज्ञायेत। अनियमदर्शी खल्वयमृषिर्नियमेन प्रतिषेध प्रयाचष्टे।

भूत वर्तमान व भविष्य ऐसे तीनों कालों का प्रमाणों के विषय में प्रतिषेध नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द से वाद्ययंत्रों की सिद्धि के समान पूर्वसिद्ध प्रमेय का पश्चात् उत्पन्न प्रमाण से सिद्धि हो जाती है। जिस प्रकार वीणा बांसुरी इत्यादि के बजने पर उनकी ध्वनि से प्रमेयभूत पूर्वसिद्ध वीणा आदि वाद्ययंत्रों की सिद्धि हो जाती है। यहां पर वीणा आदि वाद्ययंत्र साध्य प्रमेय है तथा इनकी ध्वनि साधन प्रमाण है। वाद्ययंत्र पहले से विद्यमान रहता है उसके ध्वनि की पश्चात् उत्पत्ति को सुनकर छिपे हुए वाद्ययंत्र का अनुमान हो जाता है। अतः पूर्वपक्ष के द्वारा यह कहना कि प्रमाण के पश्चात् होने से प्रमेय की सिद्धि नहीं हो सकती यह कहना सर्वथा निराधार है। प्रमेय की अनियमितता का प्रदर्शन करते हुए कहते हैं -

“प्रत्यक्षलक्षणानुपपत्तिरसमग्रवचनात्” २/१/२१

आत्ममनःसन्निकर्षो हि कारणान्तरं नोक्तमिति।

प्रत्यक्षप्रमाण का लक्षण असिद्ध है, क्योंकि लक्षण का अधूरा होने से। प्रत्यक्ष प्रमाण का लक्षण करते हुए गत अध्याय में सूत्रकार ने कहा है -इन्द्रियार्थसन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानमव्यपदेश्यमव्यभिचारिव्यवसाया -त्मकं प्रत्यक्षम् १/१/५ प्रस्तुत प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में केवल इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष से प्रत्यक्ष की उत्पत्ति कही गयी है जो कि अधूरा कथन है। क्यों अधूरा है इसका विवेचन करते हुए स्वयं पूर्वपक्ष कह रहा है

“नात्ममनसोः सन्निकर्षाभावे प्रत्यक्षोत्पत्तिः” २/१/२२

आत्ममनसोः सन्निकर्षाभावे नोत्पद्यते प्रत्यक्षमिन्द्रियार्थसन्निकर्षाभावादिति।

आत्मा मन के सन्निकर्ष के अभाव होने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। जिस प्रकार इन्द्रिय एवं अर्थ के सन्निकर्ष न रहने पर प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं होती है, ठीक उसी प्रकार आत्मा एवं मन के सन्निकर्ष न होने पर भी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति नहीं हो सकती। अतः प्रत्यक्षोत्पत्ति में आत्मा एवं मन के सन्निकर्ष को भी समान रूप से कारण स्वीकार करना चाहिए। परन्तु लक्षणसूत्र में इनका कथन नहीं किया गया है इसलिए लक्षण अधूरा है।

अब पूर्वपक्ष के आक्षेप का समाधान न्यायकार कर रहे हैं -

“ज्ञानलिङ्गत्वादात्मनो नानवरोधः” २/१/२४

ज्ञानमात्मलिङ्गं तदगुणत्वात् न चासंयुक्ते द्रव्ये संयोगजस्य गुणस्योत्पत्तिरस्तीति।

ज्ञान रूप हेतु से आत्मा का असंग्रह नहीं है। प्रत्यक्षलक्षणसूत्र में ज्ञानम् पद पड़ा है। ज्ञान आत्मा का गुण होता है यह कहा जा चुका है इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानान्यात्मनो लिङ्गम् गुणी के संयोग के बिना गुण की उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः ज्ञान शब्द आत्मा का गुण है इसलिए आत्मा के सन्निकर्ष के बिना प्रत्यक्ष की अनुत्पत्ति की बात पूर्वपक्ष की युक्त नहीं है। लक्षणसूत्र में पठित ज्ञान पद से आत्मा का भी संग्रह हो जाता है। अतः लक्षण अधूरा नहीं है।

अब लक्षणसूत्र में मन को सन्निकर्ष को भी सूत्रकार दिखा रहे हैं -

“तदयौगपद्य लिंगत्वाच्च न मनसः” २/१/२५

अनवरोध इति वर्तते। युगपज्ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगमित्युच्यमाने सिद्ध्यत्येव मनःसन्निकर्षापेक्ष इन्द्रियार्थसन्निकर्षो ज्ञानकारण

मिति॥

प्रस्तुत सूत्र में पूर्वसूत्र से अनवरोध पद की अनुवृत्ति है अर्थात् युगपत् ज्ञान की अनुत्पत्ति होना मन का लिंग कहा जाता है। जैसा कि पूर्व में सूत्रकार ने कहा है युगपत् ज्ञानानुत्पत्तिर्मनसो लिंगम् आत्मा में ज्ञान की उत्पत्ति क्रम से ही देखी जाती है अक्रम से नहीं। एक साथ ज्ञान के न होने में ज्ञान के क्रमिकत्व का नियामक मन का अस्तित्व सिद्ध होता है अतः लक्षणसूत्र में पठित ज्ञान पद से मन का भी ग्रहण हो जाता है क्योंकि ज्ञान जब उत्पन्न होता है क्रम से ही होता है और क्रम से इसलिए होता है कि बीच में मन का संपर्क इन्द्रियों के साथ होता है। जिस समय मन का जिस इन्द्रिय से सम्बन्ध होता है उस समय उसी के विषय का ज्ञान होता है अन्य का नहीं। यदि मन का सन्निकर्ष नहीं होता तो समस्त इन्द्रियों का अपने अपने विषयों के साथ एक साथ संपर्क होने से एक साथ ज्ञान होना चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता है। इससे पता चलता है कि मन का संपर्क अवश्य है। अतः प्रत्यक्ष लक्षणसूत्र में पठित ज्ञान पद से मन सन्निकर्ष का भी संग्रह हो जाता है। इसलिए मन का सन्निकर्ष न होने से लक्षणसूत्र अधूरा असमग्र यह पूर्वपक्ष का कहना अयुक्त है।

प्रश्न यह उठता है कि ज्ञान पद से आत्मा एवं मन का संग्रह करने के बजाये सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से आत्मेन्द्रियार्थ सन्निकर्षोत्पन्नं ज्ञानं प्रत्यक्षम् ऐसा क्यों नहीं कहा है इसका समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं

“प्रत्यक्षनिमित्तत्वाच्चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षस्य स्वशब्देन वचनम्” २/१/२६

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दानां निमित्तमात्मनःसन्निकर्षः, प्रत्यक्षस्यैवेन्द्रियार्थसन्निकर्ष इत्यसमानोऽसमानत्वात्तस्य ग्रहणम्।

इन्द्रियों का सन्निकर्ष केवल प्रत्यक्षलक्षण में हेतु होने से स्पष्ट रूप से इन्द्रिय व अर्थ का कथन सूत्रकार में किया गया है। अभिप्राय यह है कि इन्द्रिय एवं अर्थ का सन्निकर्ष विशेष रूप से प्रत्यक्ष प्रमाण में ही होता है अन्यत्र अनुमानादि में नहीं। आत्मा एवं मन का सन्निकर्ष तो समान रूप से प्रत्यक्ष अनुमान उपमान एवं शब्द चारों प्रमाणों में विशेष होने से महर्षि ने मुक्तकंठ से उसे कहा है जबकि आत्मेन्द्रियमनोऽर्थ सन्निकर्ष समान कारण होने से स्पष्ट रूप से नहीं कहा गया है।

इन्द्रियोऽर्थ सन्निकर्ष को प्रत्यक्ष में निमित्त होने को महर्षि दृष्टान्तपूर्वक बता रहे हैं -

“सुप्तव्यासक्तमनसां चेन्द्रियार्थयोः सन्निकर्षनिमित्तत्वात्” २/१/२७

इन्द्रियार्थसन्निकर्षस्य ग्रहणं नात्मनसोः सन्निकर्षस्येति। एकदा खल्वयं प्रबोधकालं प्रणिधाय सुप्तः प्रणिधानवशात् प्रबुध्यते। यदा तु तीव्रौ ध्वनिस्पर्शौ प्रबोधकारणं भवतः तदा प्रसुप्तस्येन्द्रिया -र्थसन्निकर्षनिमित्तं प्रबोधज्ञानमुत्पद्यते।

निद्रावस्था में रहने वाले एवं किसी एक विषय में आसक्त मन वाले व्यक्ति का भी प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के नियत होने से।

जब कोई व्यक्ति गहरी निद्रा में सोया होता है उस समय बाह्य विषयों का किंचित भी आभास नहीं होता है। ऐसी अवस्था में उस व्यक्ति को तीव्र शब्द अथवा तीव्र स्पर्श करने पर जाग जाता है जिसके कारण उसे बाह्य विषयों का बोध होने लगता है। यहां पर सोया हुआ व्यक्ति मन के प्रेरणा से नहीं जागा बल्कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से बलात् मन आकृष्ट हो जाता है। ठीक इसी प्रकार किसी एक विषय में अत्यंत आसक्त व्यक्ति चिंतन में डूबा हुआ है ऐसे व्यक्ति को भी तीव्र स्पर्श करने पर विषयांतर का बोध हो जाता है। यहां पर भी व्याक्षिप्त चित्त वाला व्यक्ति मन के प्रेरणा से विषयांतर का बोध नहीं करता बल्कि इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से बलात् मन आकृष्ट होकर आत्मा को विषयांतर का बोध करा देता है। इस प्रकार सुप्त और व्यासक्त मन वाले व्यक्तियों के प्रत्यक्ष की उत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। इसी कारण से लक्षणसूत्र में आत्म मनः सन्निकर्ष को न कहकर इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को प्रत्यक्ष का लक्षण बताया गया है।

प्रत्यक्षोत्पत्ति में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष के प्राधान्य का वर्णन करते हुए सूत्रकार पुनः कहते हैं ।

“तैश्चापदेशोज्ञानविशेषाणाम्” २/१/२८

इन्द्रिय एवं अर्थ का ही प्राधान्य सिद्ध होता है। अतः प्रत्यक्ष के लक्षण में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष को स्पष्ट रूप से पढ़ा है आत्मा-मन सन्निकर्ष को नहीं। प्रत्यक्ष को अनुमान मानने का निषेध प्रत्यक्षलक्षण के समग्रवचन का समाधान होने के पश्चात् पूर्वपक्ष प्रत्यक्ष को अनुमान कहने का दंभ भरता है। पूर्वपक्ष के इस भावना को महर्षि गौतम ने सूत्रित किया है -

“प्रत्यक्षमनुमानमेकदेशग्रहणादुपलब्धेः” २/१/२९

यदिदमिन्द्रियार्थसन्निकर्षादुत्पद्यते ज्ञानं वृक्ष इति एतत्। किल प्रत्यक्षं, तत् खल्वनुमानमेव। कस्मात् ? एकदेशग्रहणात् वृक्षस्योपलब्धेः।

प्रत्यक्ष नामक प्रमाण वस्तुतः अनुमान ही है, क्योंकि एकदेश के ग्रहण से उपलब्धि होने से। पूर्वपक्ष प्रत्यक्ष को अनुमान कहने की धृष्टता करते हुए कहता है कि वस्तुतः प्रत्यक्ष अनुमान ही है क्योंकि किसी भी वस्तु का जब हम अपनी आंखों से प्रत्यक्ष करते हैं तो केवल उसके सामने वाला भाग ही हमें दिखाई देता है। पीछे वाला बीच वाला नीचे वाला ऊपर वाला भाग दिखाई नहीं देता है। जैसे हम वृक्ष को देखते हैं तो उसका सामने वाले भाग से ही इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष होता है शेष का ज्ञान हम अनुमान से करते



है। जैसे दृष्ट धूम रूप लिंग से अदृष्ट अग्नि का अनुमान करते हैं। वैसे ही दृश्य पुरोवर्ती भाग एकदेश से अदृष्ट समस्त वृक्ष के अवयवों का ज्ञान हो जाता है। वस्तुतः वृक्ष का ज्ञान अनुमान से हो रहा है न कि प्रत्यक्ष से। अतः जहाँ कहीं भी प्रत्यक्ष होता है वहाँ समान रूप से अनुमान ही होता है। अतएव प्रत्यक्ष अनुमान ही उससे भिन्न नहीं।

उपरोक्त पूर्वपक्ष के आक्षेप का समाधान करते हुए सूत्रकार कहते हैं ।

**“न चैकदेशोपलब्धिः अवयवसद्भावात्” २/१/३३**

**न चैकदेशोपलब्धिमात्रम् । किं तर्हि ? एकदेशोपलब्धिः तत्सहचरितावयव्युपलब्धिश्च । कस्मात् ? अवयवसद्भावात् ।**

अवयवी का सद्भाव होने से वृक्षादि के एकदेश की उपलब्धि नहीं होती है। सिद्धान्ती का अभिप्राय यह है कि जब हम किसी पदार्थ का प्रत्यक्ष देखते हैं तो केवल उसके एक भाग का ही ग्रहण नहीं होता है बल्कि अवयवी का पूरे अवयव में व्याप्त होने से पूरे पदार्थ का ग्रहण होता है। अवयवों के संयोग से एक अवयवी का निर्माण होता है जो पूरे अवयव में व्याप्त होता है। अवयव अनेक होते हैं जबकि अवयवी एक होता है। अवयव व्याप्य होते हैं जबकि अवयवी व्यापक होता है। जैसे वृक्ष अवयवी है तथा मूल शाखा पत्ते इत्यादि उसके अवयव हैं। मूल से लेकर एक एक पत्ते तक वृक्ष अनुगत रहता है। अवयवी रूप वृक्ष के एक होने के कारण चाहे जिस भी ओर से वृक्ष को देखेंगे हमें एक वृक्ष ही दिखाई देगा क्योंकि प्रत्यक्ष करने वाले को अवयव का नहीं अपितु अवयवी का प्रत्यक्ष होता है। इसलिए वृक्ष रूप एक संपूर्ण अवयवी का प्रत्यक्ष से ग्रहण होने से वृक्षादि के प्रत्यक्ष को अनुमान नहीं कह सकते। अवयव से भिन्न अवयवी की सत्ता होती है। इसमें कार्य द्रव्यों में प्रयोग होने वाला एकत्व संख्या से भी पता चलता है। यदि अवयव से भिन्न अवयवी को स्वीकार नहीं करेंगे तब अवयवों का बहुत्व होने से प्रत्येक पदार्थ अनेक होगा जिसके कारण एक घट है एक पट है इत्यादि में एकत्व संख्या का व्यवहार नहीं हो पायेगा। इन पदार्थों में एकत्व संख्या अवयवी को ही सिद्ध करने में सूत्रकार ने निम्न हेतुओं का प्रयोग किया है -

**“धारणाकर्षणोपपत्तेश्च” २/१/३६**

**अवयव्यर्थान्तरभूत इति। संग्रहकारिते वै धारणाऽऽकर्षणे।**

धारण और आकर्षण की सिद्धि से भी अवयवी की सत्ता अवयवों से भिन्न सिद्ध होती है। कार्यद्रव्यों को केवल अवयवों का समूह मात्र स्वीकार करने पर धारण वस्तु को उठाना एवं आकर्षण खींचना नहीं हो पाएगा। कारण यह है कि अवयवों के समूह में ऐसा नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि जब हम घट पटादि कार्यद्रव्य के एक भाग को पकड़कर उठाते हैं तो पूरा द्रव्य उठ जाता है। यदि कार्यद्रव्य एक अवयवी रूप नहीं होता तो जैसे बालू की ढेरी के एक भाग पकड़कर उठाने पर पूरा बालू की ढेरी नहीं उठती बल्कि मुट्ठी भर बालू ही उठता है। इसका तात्पर्य यह है कि कार्यद्रव्य बालू की ढेरी की भांति मात्र अवयवों का समुदाय नहीं है बल्कि संपूर्ण रूप से एक अवयवी है। इसलिए उसके किसी एक भाग को पकड़कर उठाने से पूरा पदार्थ उठ जाता है। इसी प्रकार कार्यद्रव्य के किसी एक देश को पकड़कर खींचने पर पूरा पदार्थ सरकने लगता है। यदि वह संपूर्ण पदार्थ एक नहीं होता, तो केवल अवयवों का समूह होता तो बालू की ढेरी की भांति केवल मुट्ठी भर हाथ में आना चाहिए। परंतु ऐसा न होकर पूरा कार्यद्रव्य सरकने लगता है। इसका तात्पर्य है कि सारे अवयव मिलकर एक अवयवी का निर्माण करते हैं जो संपूर्ण अवयवों में समान रूप से व्याप्त रहता है। उसको चाहे जहाँ से देखे वह वैसा ही दिखाई देता है। इसलिए वृक्ष के पुरोवर्ती भाग में भी वृक्ष रूप अवयवी व्याप्त होने से प्रत्यक्षकर्ता को पूरे वृक्ष का ही ज्ञान होता है न कि आधे अधूरे भाग का। इस प्रकार न्यायकार ने अवयवी की अतिरिक्त सत्ता को स्वीकार करके प्रत्यक्ष को अनुमान कहने वाले पूर्वपक्ष की आशंका का समाधान किया।

**स्मरणीय बिंदु-**

- त्रैकाल्य आक्षेप (सूत्र 2.1.8): पूर्वपक्ष का तर्क है कि प्रमाण प्रमेय से पहले (पूर्व), बाद में (पश्चात्) या साथ (युगपत्) नहीं हो सकता। यदि पहले है तो प्रमेय के बिना प्रमाण किसका? यदि बाद में है तो वह प्रमेय की सिद्धि नहीं कर सकता।
- न्याय का उत्तर: प्रमाण और प्रमेय का संबंध काल के अनुसार बदलता रहता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से वस्तु दिखती है (प्रमाण पहले), या धुएँ से अग्नि का ज्ञान होता है (प्रमेय पहले)।
- व्याघात का तर्क (सूत्र 2.1.12): यदि पूर्वपक्ष कहता है कि ‘कोई प्रमाण सिद्ध नहीं है’, तो उसका यह कथन (निषेध) भी सिद्ध नहीं हो सकता, क्योंकि निषेध करने के लिए भी प्रमाण चाहिए।
- प्रत्यक्ष लक्षण (सूत्र 2.1.21-25): प्रत्यक्ष के सूत्र में आत्मा और मन का नाम इसलिए नहीं लिया गया क्योंकि वे ज्ञान मात्र के सामान्य कारण हैं। प्रत्यक्ष का विशेष कारण ‘इन्द्रिय-अर्थ सन्निकर्ष’ है, इसलिए उसे ही प्रधानता दी गई।
- प्रत्यक्ष बनाम अनुमान (सूत्र 2.1.31-33): पूर्वपक्ष कहता है कि हम वृक्ष का केवल एक हिस्सा देखते हैं और पूरे वृक्ष का अनुमान लगाते हैं, अतः प्रत्यक्ष अनुमान है। न्याय कहता है कि हम ‘एकदेश’ के माध्यम से ‘अवयवी’ (संपूर्ण वृक्ष) का साक्षात् प्रत्यक्ष करते हैं।



- अवयवी की सिद्धि (सूत्र 2.1.36): यदि 'अवयवी' (जैसे घड़ा या वस्त्र) को न माना जाए, तो 'धारण' (पकड़ना) और 'आकर्षण' (खींचना) जैसी क्रियाएँ संभव नहीं होंगी, क्योंकि हम परमाणु को नहीं खींच सकते।

#### शब्दावली-

- त्रैकाल्य (Traikalya): तीनों काल-भूत, वर्तमान और भविष्य।
- प्रमाण (Pramana): यथार्थ ज्ञान का साधन (Means of valid knowledge)।
- प्रमेय (Prameya): जिसे जाना जाए या ज्ञान का विषय (Object of knowledge)।
- अवयवी (Avayavi): संपूर्ण वस्तु जो अपने अंगों (अवयवों) से मिलकर बनी है (The Whole)।
- अवयव (Avayava): वस्तु के हिस्से या अंग (Parts/ Components)।
- एकदेश (Ekadesha): किसी वस्तु का केवल एक भाग या अंश।
- असमग्र (Asamagra): अपूर्ण या अधूरा।
- सन्निकर्ष (Sannikarsha): इंद्रिय और विषय का संपर्क (Contact/Connection)।
- प्रतिषेध (Pratisheda): निषेध या खंडन करना (Refutation/Denial)।
- धारण और आकर्षण (Dharana & Akarshana): किसी वस्तु को थामना और उसे अपनी ओर खींचना।

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. 'त्रैकाल्यसिद्धि' (सूत्र 2.1.8) के आधार पर पूर्वपक्ष का मुख्य आक्षेप क्या है?
2. सूत्र 2.1.12 ('त्रैकाल्यसिद्धेः प्रतिषेधानुपपत्तिः') के माध्यम से सिद्धांत पक्ष ने क्या उत्तर दिया है?
3. प्रत्यक्ष के लक्षण में आत्मा और 'मन' का उल्लेख न होने पर पूर्वपक्ष ने क्या आपत्ति की है? (सूत्र 2.1.21-22)
4. सूत्र 2.1.24 के अनुसार 'ज्ञान' पद से 'आत्मा' की सिद्धि कैसे होती है?
5. 'प्रत्यक्ष वास्तव में अनुमान है' - इस कथन के पीछे पूर्वपक्ष का क्या तर्क है? (सूत्र 2.1.31)
6. 'धारण' और 'आकर्षण' (सूत्र 2.1.36) के माध्यम से अवयवी की सत्ता कैसे सिद्ध होती है?
7. सूत्र 2.1.13 के अनुसार 'सर्वप्रमाण प्रतिषेध' में क्या दोष है?

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. प्रमाणों की त्रैकाल्यसिद्धि (तीन काल) के आधार पर पूर्वपक्ष द्वारा किए गए आक्षेपों का सविस्तर वर्णन कीजिए।
2. 'त्रैकाल्यसिद्धि' के आक्षेप पर सिद्धांत पक्ष (न्यायकार) द्वारा दिए गए 'समाधान' की समीक्षा कीजिए।
3. प्रत्यक्ष के लक्षण की 'अपूर्णता' (असमग्रता) पर पूर्वपक्ष के आक्षेप और सिद्धांत पक्ष द्वारा उसके समाधान को स्पष्ट कीजिए।
4. 'प्रत्यक्ष अनुमान ही है' - पूर्वपक्ष के इस मत का 'अवयवी' की सत्ता के आधार पर खण्डन कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. 'त्रैकाल्यसिद्धि' (सूत्र 2.1.8) का प्रयोग पूर्वपक्ष ने किसलिए किया है?

(क) प्रमाणों को सिद्ध करने के लिए

(ख) प्रमाणों की अप्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए

(ग) मोक्ष प्राप्ति के लिए

(घ) संशय दूर करने के लिए

2. पूर्वपक्ष के अनुसार, यदि प्रमाण प्रमेय से पहले (पूर्व) हो, तो कौन सा लक्षण व्याहत (गलत) होगा?

(क) शब्द प्रमाण का लक्षण

(ख) इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष (प्रत्यक्ष का लक्षण)

(ग) अनुमान का लक्षण

(घ) उपमान का लक्षण

3. प्रमाणों का निषेध (प्रतिषेध) संभव नहीं है क्योंकि वह स्वयं एक प्रमाण की अपेक्षा रखता है - यह तर्क किस सूत्र से संबंधित है?

(क) 2.1.8

(ख) 2.1.10

(ग) 2.1.12

(घ) 2.1.20

4. धुआँ देखकर अग्नि का ज्ञान होना- यह उदाहरण पाठ में किस संदर्भ में काल-नियम समझाने हेतु दिया गया है?

(क) प्रमाण-प्रमेय की युगपत् (साथ) सिद्धि के लिए

(ख) प्रमाण की अप्रामाणिकता के लिए

(ग) केवल भूतकाल के लिए

(घ) केवल भविष्य काल के लिए

5. प्रत्यक्ष लक्षण को असमग्र (अधूरा) क्यों कहा गया?

(क) क्योंकि इसमें इन्द्रिय शब्द नहीं है

(ख) क्योंकि इसमें आत्मा और मन के सन्निकर्ष का पाठ नहीं है

(ग) क्योंकि यह वेदों के विरुद्ध है

(घ) क्योंकि इसमें केवल अनुमान की चर्चा है

6. ज्ञान शब्द से 'आत्मा' का ग्रहण क्यों हो जाता है?

(क) क्योंकि ज्ञान आत्मा का गुण है

(ख) क्योंकि ज्ञान और आत्मा एक ही हैं

(ग) क्योंकि ज्ञान इन्द्रियों का धर्म है

(घ) क्योंकि ज्ञान मन का पर्यायवाची है

7. प्रत्यक्ष अनुमान ही है - पूर्वपक्ष ने ऐसा क्यों कहा?

(क) क्योंकि हम वस्तु के केवल एक भाग (एकदेश) को देखते हैं

(ख) क्योंकि प्रत्यक्ष और अनुमान में कोई अंतर नहीं है

(ग) क्योंकि प्रत्यक्ष से ज्ञान नहीं होता

(घ) क्योंकि प्रत्यक्ष केवल वेदों में होता है

8. 'अवयवी' की सत्ता को सिद्ध करने के लिए कौन से दो हेतु दिए गए हैं?

(क) दर्शन और स्पर्श

(ख) धारण और आकर्षण

(ग) गंध और रूप

(घ) शब्द और अनुमान

9. यदि 'अवयवी' को स्वीकार न किया जाए, तो क्या समस्या आएगी?

(क) ज्ञान नहीं होगा

(ख) वस्तुओं में 'एकत्व' (एक होने) का व्यवहार नहीं हो पाएगा

(ग) संशय समाप्त हो जाएगा

(घ) प्रमाण बढ़ जाएंगे

10. सोए हुए व्यक्ति का 'तीव्र ध्वनि' से जाग जाना किसका प्रमाण है?

(क) केवल आत्मा के सन्निकर्ष का

(ख) इन्द्रियार्थ सन्निकर्ष की प्रधानता का

(ग) मन के अभाव का

(घ) केवल भविष्य काल का

## इकाई-१.३: अनुमानपरीक्षाप्रकरण

### उद्देश्य-

- अनुमान की प्रामाणिकता की रक्षा: पूर्वपक्ष द्वारा अनुमान पर लगाए गए व्यभिचार (दोष/भ्रम) के आरोपों को समझना और उनका तार्किक खंडन करना।
- लिंग (चिह्न) का सूक्ष्म विश्लेषण: यह सीखना कि अनुमान गलत नहीं होता, बल्कि चिह्नों को गहराई से न पहचानना ही भ्रम का कारण है।
- अनुमान के प्रकारों का व्यावहारिक ज्ञान: पूर्ववत्, शेषवत् और सामान्यतोदृष्ट अनुमानों को उदाहरणों (जैसे वर्षा, चींटियाँ, मयूर शब्द) के माध्यम से स्पष्ट करना।
- तार्किक सूक्ष्मता का विकास: वास्तविक कार्य-कारण संबंध और उसके सदृश दिखने वाले अन्य आभासों के बीच अंतर करने की क्षमता विकसित करना।

प्रत्यक्ष प्रमाण की परीक्षा के अनन्तर क्रमप्राप्त अनुमान नामक प्रमाण की परीक्षा प्रारंभ होती है। इस विषय में सर्वप्रथम पूर्वपक्ष अनुमान प्रमाण के लक्षण पर आक्षेप करता हुआ कहता है

**रोधोपघातसादृश्येभ्यो व्यभिचारादनुमानमप्रमाणम् २/१/३८**

अप्रमाणमिति, एकदाप्यर्थस्य न प्रतिपादकमिति। रोधादपि नदी पूर्णा गृह्यते तदा चोपरष्टादृष्टो देव इति मिथ्यानुमानम् । नीडोपघातादपि पिपीलिकाण्डसंचारो भवति, तदा च भविष्यति वृष्टिरिति मिथ्यानुमानमिति। पुरुषोऽपि मयूरवाशितमनुकरोति तदापि शब्दसादृश्यान्मिथ्यानुमानं भवति। प्रतिषेध को रुकावट करते हुए सूत्रकार ने अथ तत्पूर्वक त्रिविधमनुमानं पूर्ववच्छेषवत्सामान्यतो दृष्टम् इस सूत्र में तीन प्रकार से अनुमान की प्रक्रिया कही है। पूर्ववत् इसमें कारण से कार्य का अनुमान शेषवत् इसमें कार्य से कारण का अनुमान सामान्यतो दृष्ट-समान रूप से जहां कार्य कारण भाव नहीं है वहां भी नियम साहचर्य से अनुमान होता है। उपरोक्त विषयों में बढ़े हुए नदी के जल स्तरों से ऊपर पर्वतों पर बारिश होने का अनुमान चींटियों के अंडे लेकर जाते देखकर बारिश होने का पूर्वानुमान तथा मयूर की ध्वनि को सुनकर बारिश का पूर्वानुमान होने का दृष्टांत दिया जाता है।

उपरोक्त दृष्टांतों में अनुमान का व्यभिचार दिखाते हुए प्रस्तुत सूत्र में पूर्वपक्ष ने कहा है कि कथित तीनों प्रकार के अनुमान मिथ्या होता है। कभी कभी नदी का जल अवरुद्ध होने के कारण भी जलस्तर बढ़ जाता है तो ऐसे में बढ़े हुए जल से वर्षा होने का अनुमान मिथ्या ही होगा। चींटियों के नीड़ टूट जाने पर भी वे अपने अंडे को ले जाती हुई दिखती हैं इतने से वर्षा का पूर्वानुमान करना मिथ्या ही होगा। इसके अतिरिक्त मयूर के सदृश किसी मनुष्यादि के ध्वनि को सुनकर कोई बारिश को अनुमान करेगा तो मिथ्या ही होगा। इन तीनों स्थलों पर वर्षा का अनुमान मिथ्या होने से अनुमान का लक्षण व्यभिचरित होने से अनुमान अप्रमाण सिद्ध होता है। अब सूत्रकार समाधान करते हुए कहते हैं -

**नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात् २/१/३९**

**नायमनुमानव्यभिचारः, अननुमाने तु खल्वयमनुमानाभिमानः। कथम् ? नाविशिष्टो लिंगं**

**भवितुमर्हति।**

नहीं उपरोक्त आशंका ठीक नहीं, क्योंकि किसी एक नदी में ऊपर रोध रुकावट हो जाने पर जल स्तर का बढ़ जाना चींटियों के नीड़ का टूट जाना व्यक्ति के द्वारा मयूर सदृश ध्वनि का करना इन अवस्थाओं से अनुमान के लिंग भिन्न हैं।

सूत्रकार का आशय यह है कि अनुमान के लिंग एवं आपके पूर्वपक्ष के द्वारा कथित अनुमान के लिंग दोनों में भेद होने से अनुमान में व्यभिचार दोष का आरोप युक्त नहीं है। वर्षा के द्वारा बढ़े हुए नदी के जलस्तर एवं नदी के अवरुद्ध हो जाने पर बढ़े हुए जलस्तर दोनों में भेद होता है। वर्षा के द्वारा बढ़े हुए जलस्तर में पानी मटमैला होता है झाग उठते हैं पेड़ की पत्तियां टहनियां सब उसके साथ बहते हुए दिखाई देता है। इन सभी लिंगों को देखकर ऊपर वर्षा होने का अनुमान होता है जबकि नदी के अवरोध से बढ़े जलस्तर में ऐसा कुछ देखने को नहीं मिलता है। इसलिए अनुमान के लिंग और आपके द्वारा कहे लिंग दोनों में अंतर है।

चींटियों के नीड़ के दूर जाने से चींटियों के अंडे लेकर जाने में अव्यवस्था होती है। चींटियां भय से इधर-उधर भागती हैं, जबकि अनुमान स्थल वाले चींटियों के भागने में भेद होता है। चींटियां एक क्रम से पंक्तिबद्ध होकर जाती हैं और यत्र तत्र वैसे ही कई स्थलों पर देखा जाता है, जिससे अंदर रहने वाले विशेष कृमि उस ऊष्मा को समझते हैं जो वर्षा ऋतु के आने से पूर्व भभकने लगती है जिसके कारण प्रायः चींटियां अपने अंडे को सुरक्षित जगह ले जाने की भावना से क्रमबद्ध यत्र तत्र जाती हुई दिखती हैं,

जबकि पूर्वपक्ष द्वारा दिखाए नीड़ के टूट फूट जाने वाले दृष्टान्त में ऐसा नहीं होता है इसलिए दोनों में अंतर होने से अनुमान के लक्षण में व्यभिचारदोष की कल्पना पूर्वपक्ष के द्वारा काटना निस्सार है।

जहां पर व्यक्ति मयूर की ध्वनि का अनुकरण करता है वह वस्तुतः मयूर की ध्वनि नहीं है इस बात को पारखी व्यक्ति भलीभांति समझता है। इस कारण से नकल की हुई ध्वनि को सुनकर अनुमान करने वाला व्यक्ति अनुमान में प्रवृत्त नहीं होता है क्योंकि वे दोनों ध्वनियों के अंतर को समझता है। अतः अनुमान स्थलों के लिंगों पूर्वपक्ष कथित शोधक त्रास एवं सादृश्य रूप लिंगों के पर्याप्त भेद होने के कारण व्यभिचारदोष की कल्पना निराधार है।

इस कारण से पूर्ववत् शेषवत् एवं सामान्यतो दृष्ट अनुमान में व्यभिचारदोष न होने से प्रमाण सिद्ध होते हैं।

### स्मरणीय बिंदु-

- व्यभिचार दोष (आक्षेप): पूर्वपक्ष का कहना है कि अनुमान कभी-कभी गलत हो जाता है। जैसे: नदी का बढ़ा जल देखकर वर्षा का अनुमान करना गलत हो सकता है यदि जल किसी बांध या रुकावट के कारण बढ़ा हो।
- नीड़ोपघात और रोध: चींटियों का अंडे लेकर निकलना हमेशा वर्षा का संकेत नहीं होता, कभी-कभी घोंसला टूटने (नीड़ोपघात) के डर से भी वे ऐसा करती हैं। वैसे ही नदी के मार्ग में रुकावट (रोध) से भी जल स्तर बढ़ जाता है।
- सिद्धान्त पक्ष का समाधान (सूत्र 2.1.39): महर्षि गौतम कहते हैं कि जो व्यक्ति नदी के जल में 'फेन' (झाग), शकलुषताश् (मटमैलापन) और श्काष्ठ-तृणश् (लकड़ी-घास) के बहाव को नहीं देखता, वही भ्रमित होता है। वर्षा का जल और रुकावट का जल अलग-अलग चिह्नों वाला होता है।
- चिह्नों का अंतर: चींटियों का भयवश भागना (अव्यवस्थित होना) और वर्षा की पूर्व सूचना के लिए अंडे ले जाना (व्यवस्थित पंक्तिबद्ध होना) दोनों अलग क्रियाएँ हैं।
- मयूर-शब्द का उदाहरण: यदि कोई मनुष्य मोर की नकल करता है, तो वह मयूर-ध्वनि के सदृश है, वास्तविक मयूर-ध्वनि नहीं। ध्वनि के सूक्ष्म कंपन (कम्प) और स्थान भेद से असली और नकली का भेद समझा जा सकता है।
- त्रिविध अनुमान:
- पूर्ववत्: कारण से कार्य का अनुमान (बादल देखकर वर्षा का अनुमान)।
- शेषवत्: कार्य से कारण का अनुमान (नदी का वेग देखकर वर्षा का अनुमान)।
- सामान्यतोदृष्ट: जो प्रत्यक्ष नहीं है, उसका सामान्य लक्षणों से अनुमान (जैसे सूर्य की गति का अनुमान उसके स्थान परिवर्तन से)।

### शब्दावली-

- लिंग: वह चिह्न या लक्षण जिसके माध्यम से साध्य (अदृश्य वस्तु) का ज्ञान होता है।
- व्यभिचार: दोष, भटकाव या हेतु का साध्य के बिना भी पाया जाना (जैसे धुआं न हो पर आग हो, या आग न हो पर धुआं दिखे)।
- रोध: नदी के प्रवाह में रुकावट या बाँध।
- नीड़ो पघात: घोंसले या निवास स्थान का नष्ट होना।
- सादृश्य: समानता (दोष का कारण जब हम नकली को असली समझ लेते हैं)।
- एकदेश: किसी वस्तु या चिह्न का केवल एक हिस्सा (अधूरा ज्ञान)।
- अध्यवसाय: निश्चय या निर्णयात्मक ज्ञान।
- अर्थान्तर: भिन्न अर्थ या भिन्न परिस्थिति।

### 5 अंक के प्रश्न-

1. पूर्वपक्ष के अनुसार अनुमान 'अप्रमाण' क्यों है? (सूत्र 2.1.37-38)
2. सूत्र 2.1.38 में 'रोध' और 'नीड़ोपघात' का क्या अर्थ है?
3. सूत्र 2.1.39 ("नैकदेशत्राससादृश्येभ्योऽर्थान्तरभावात्") का मुख्य सिद्धांत क्या है?
4. वर्षा के कारण बढ़े जल और रुकावट के कारण बढ़े जल में क्या अंतर है?
5. चींटियों के किस व्यवहार से वर्षा का 'सही' अनुमान होता है?
6. 'मयूर-सादृश्य' दोष का समाधान क्या है?
7. न्याय दर्शन के अनुसार अनुमान के तीन प्रकार कौन से हैं?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. अनुमान प्रमाण की प्रामाणिकता पर पूर्वपक्ष द्वारा दिए गए 'व्यभिचार' दोष के तर्कों का सविस्तार वर्णन कीजिए। (सूत्र 2.1.

37-38 के आधार पर)

2. “अनुमान व्यभिचारी नहीं है, अपितु लिंग (चिह्न) के सूक्ष्म अंतर को न समझना दोष है”- इस कथन की न्यायकार के समाधान (सूत्र 2.1.39) के परिप्रेक्ष्य में व्याख्या कीजिए।

3. अनुमान के त्रिविध स्वरूप (पूर्ववत्, शेषवत्, सामान्यतोदृष्ट) को स्पष्ट करते हुए उसकी प्रमाणिकता सिद्ध कीजिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. पूर्वपक्ष के अनुसार, नदी के बढ़े हुए जल को देखकर वर्षा का अनुमान करना ‘मिथ्या’ क्यों हो सकता है?

(क) क्योंकि जल गंदा हो सकता है

**(ख) क्योंकि नदी का मार्ग अवरुद्ध (रोध) होने से भी जल बढ़ सकता है**

(ग) क्योंकि नदी सूख सकती है

(घ) क्योंकि वर्षा केवल पर्वतों पर होती है

2. चींटियों के अंडे लेकर चलने के किस व्यवहार को पूर्वपक्ष ने ‘व्यभिचारी’ माना है?

(क) पंक्तिबद्ध चलना

**(ख) घोंसला टूटने (नीडोपघात) के कारण भागना**

(ग) धीरे-धीरे चलना

(घ) भोजन की तलाश में निकलना

3. “मयूर की ध्वनि के सदृश मनुष्य द्वारा की गयी ध्वनि” अनुमान में किस दोष को दर्शाती है?

**(क) शब्द-सादृश्य दोष**

(ख) प्रत्यक्ष दोष

(ग) व्याप्ति दोष

(घ) इनमें से कोई नहीं

4. सूत्र 2.1.39 के अनुसार, वास्तविक अनुमान और पूर्वपक्ष के उदाहरणों में क्या अंतर है?

(क) कोई अंतर नहीं है

(ख) काल का अंतर है

**(ग) लिंग (चिह्न) का सूक्ष्म अंतर है**

(घ) केवल नाम का अंतर है

5. वर्षा के कारण बढ़ी हुई नदी के जल की क्या पहचान (लिंग) बताई गई है?

(क) जल का स्थिर होना

(ख) जल का स्वच्छ होना

**(ग) फेन, मटमैलापन और पेड़ों की टहनियों का बहना**

(घ) मछलियों का दिखाई देना

## इकाई १.४: उपमान प्रमाण की परीक्षा एवं शब्द प्रमाण की सामान्य परीक्षा

### उद्देश्य-

- उपमान प्रमाण की तर्कसंगत सिद्धि: उपमान पर पूर्वपक्ष के आक्षेपों का खंडन करना और यह समझना कि यह केवल सादृश्य (समानता) का ज्ञान नहीं, बल्कि एक स्वतंत्र प्रमाण है।
- संज्ञा-संज्ञी संबंध का बोध: यह जानना कि उपमान का मुख्य फल किसी अज्ञात नाम वाली वस्तु का उसके नाम के साथ संबंध जोड़ना है।
- शब्द प्रमाण की स्वतंत्रता: पूर्वपक्ष के उन तर्कों का उत्तर देना जो शब्द को 'अनुमान' के भीतर समेटना चाहते हैं, और यह सिद्ध करना कि शब्द एक पृथक प्रमाण है।
- शब्द-अर्थ संबंध का विश्लेषण: शब्द और उसके अर्थ के बीच के 'सांकेतिक' (सामयिक) संबंध की प्रकृति को समझना।

**उपमान परीक्षा-** अनुमान प्रमाण के त्रैकालिक विषय होने के कारण अनुमान प्रमाण की परीक्षा के प्रसंग से वर्तमान काल का विवेचन हो जाने पर अनुमान की परीक्षा पूर्ण हो जाती है। क्रमप्राप्त उपमान प्रमाण की परीक्षा प्रारंभ करते हुए सूत्रकार ने पूर्वपक्ष रूप से कहा -

**अत्यन्तप्रायैकदेशसाधर्म्यादुपमानासिद्धिः । २/१/४५**

**अत्यन्तसाधर्म्यादुपमानं न सिध्यति । न चैवं भवति यथा गौरेवं गौरिति ।**  
उपमान प्रमाण की सिद्धि सादृश्य के आधार पर नहीं होती। यह इस तरह भी नहीं होता जैसे गाय के समान गाय कहना। उपमान प्रमाण सादृश्य के माध्यम से अर्थ का बोध कराता है। पदार्थों में सादृश्य तीन प्रकार का संभव है अत्यंत सादृश्य प्रायः सादृश्य और एकदेश सादृश्य। इनमें से कोई भी सादृश्य का प्रकार उपमान को सिद्ध नहीं कर पाता। अत्यंत सादृश्य सजातीय पदार्थों में संभव है लेकिन ऐसा प्रयोग कभी कोई नहीं करता जैसे घड़े के समान घड़ा या गाय के समान गाय। अत्यंत सादृश्य में उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती उसी प्रकार प्रायः सादृश्य में भी नहीं होती। प्रायः सादृश्य का तात्पर्य है कुछ लक्षणों का समान होना। कान सींग पूँछ आदि लक्षण अनेक पशुओं में समान होते हैं। ऐसा उपमान का प्रयोग कभी कोई नहीं करता जैसे बैल के समान भैंसा। इसी प्रकार एकदेश सादृश्य से भी उपमान कभी सिद्ध नहीं होता। ऐसा होने पर प्रत्येक वस्तु से प्रत्येक को उपमित किया जा सकता है जो सर्वथा असंभव है। एक आध धर्म प्रत्येक वस्तु का प्रत्येक अन्य वस्तु से मिल जाता है। परिणामस्वरूप उपमान प्रमाण का क्षेत्र न बन पाने से उसे असिद्ध समझना चाहिए। उपमानलक्षण में दोष नहीं ।  
सूत्रकार उपमानविषयक उक्त आशंका का समाधान करता है -

**प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धेर्यथोक्तदोषानुपपत्तिः । २/१/४६**

**न साधर्म्यस्य कृत्स्नप्रायाल्पभावमानित्योपमानं प्रवर्तते, किं तर्हि? प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यात्साध्यसाधनभावमाश्रित्य प्रवर्तते।**  
उपमान प्रमाण के लक्षण सूत्र, में **प्रसिद्धसाधर्म्यात् साध्यसाधनमुपमानम्** कहा है। प्रसिद्ध साधर्म्य से जहां साध्य का साधन हो वह उपमान है। जिन पदार्थों का परस्पर सादृश्य लोक प्रसिद्ध है अथवा जिनका साधर्म्य उत्कृष्ट और निर्धारित रूप से ज्ञात हो जाता है वहीं उपमान प्रमाण प्रवृत्त होता है। अत्यंत अर्थात् पूर्ण साधर्म्य प्रायः सादृश्य यानी कुछ धर्मों की समानता और अत्यल्प साधर्म्य के आधार पर उपमान की प्रवृत्ति नहीं होती। तात्पर्य है कि अत्यंत साधर्म्य आदि उपमान के प्रयोजक नहीं हैं। उसका प्रयोजक केवल प्रसिद्ध साधर्म्य है जो उपमान प्रमाण के रूप में साध्य को सिद्ध करने के लिए प्रवृत्त होता है। ऐसा साधर्म्य गो या गाय और गवय या नीलगाय का प्रसिद्ध है। यहां गवय पद का गवय नामक नीलगाय पशु में शक्तिग्रह साध्य है। नागरिक यह नहीं जानता कि गवय पद किस पशु का वाचक है। उसको बताया गया कि जैसी गाय है वैसा गवय होता है जो जंगलों में रहता है। नागरिक कभी जंगल में जाकर जब अपने सम्मुख गाय के सदृश पशु को देखता है तो उसे पहले बताया गया गो और गवय का सादृश्य स्मरण होता है। उस संस्मृत प्रसिद्ध साधर्म्य से वह इसका निश्चय कर लेता है कि गो के सदृश होने से यह पशु गवय पदवाच्य है। इस प्रकार उपमान प्रमाण का फल है- गवय पद का गवय पशु में शक्तिग्रह हो जाना। लोकव्यवहार में उपमान का बहुत प्रयोग चलता है। ऐसे प्रयोगों में जहां दो पदार्थों का प्रसिद्ध साधर्म्य है वहां उपमान की प्रवृत्ति का प्रतिषेध नहीं किया जा सकता। फलतः उपमान प्रमाण के विषय में गत सूत्र द्वारा निर्दिष्ट दोष असंगत है।

**उपमान अनुमान है-** शिष्य आशंका करता है उपमान प्रमाण भले रहे पर इसे अतिरिक्त प्रमाण नहीं माना जाना चाहिए। यह अनुमान में अंतर्भूत हो जाता है। सूत्रकार ने शिष्यों के आशय को सूत्रित किया -

**प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षसिद्धेः । २/१/४७**



यथा धूमेन प्रत्यक्षेणाप्रत्यक्षस्य वह्नेर्ग्रहणमनुमानम्, एवं गवा प्रत्यक्षेणाऽप्रत्यक्षस्य गवयस्य ग्रहणमिति नेदमनुमानाद्विशिष्यते ।

जैसे प्रत्यक्ष जाने हुए धुएं रूपी लिंग से अप्रत्यक्ष अग्नि का ज्ञान होना अनुमान है ऐसे ही प्रत्यक्ष जानी हुई गाय से अप्रत्यक्ष गवय का ग्रहण होता है। पूर्वोक्त अनुमान से इसमें कोई भेद प्रतीत नहीं होता, अतः यह अनुमान के अंतर्गत आ जाता है। उपमान प्रमाण को पृथक् मानना व्यर्थ है।

**अनुमान से उपमान का भेद-** आशंका के समाधान के लिए सूत्रकार अनुमान से उपमान प्रमाण का भेद बताता है -

**नाप्रत्यक्षे गवये प्रमाणार्थमुपमानस्य पश्यामः । २/१/४८**

**यदा ह्ययमुपयुक्तोपमानो गोदर्शी गवा समानमर्थं पश्यति तदाऽयं गवय इत्यस्य संज्ञाशब्दस्य व्यवस्थां प्रतिपद्यते न चेदमनुमानमिति । परार्थं चोपमानं यस्य ह्युपमेयमप्रसिद्धं तदर्थं प्रसिद्धोभयेन क्रियते इति ।**

अप्रत्यक्ष गवय में उपमान प्रमाण के प्रयोजन को जानकार लोग नहीं देखते। तात्पर्य है गवय के अप्रत्यक्ष रहने पर उपमान प्रमाण की प्रवृत्ति नहीं होती जबकि अनुमान की प्रवृत्ति अग्नि के अप्रत्यक्ष रहने पर होती है। अतः उपमान अनुमान से भिन्न है। जब यथा गौस्तथा गवय जैसी गाय है वैसा गवय होता है इस उपमान का उपयोग करने वाला गाय का जानकार नागरिक जंगल में जाकर गाय के समान पशु को देखता है उस समय दोनों के पूर्वज्ञात साधर्म्य का स्मरण कर यह समझ लेता है कि गवय इस संज्ञा-शब्द का संज्ञी वाच्य यह पुरोवर्ती पशु है। तात्पर्य है गवय पद और गवय पशु के संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध को व्यवस्थित रूप से जान लेता है। अनुमान प्रमाण की यह प्रक्रिया नहीं है। अनुमान में उपमेय अर्थ अप्रत्यक्ष रहता है पर उपमान में उपमेय गवय सामने प्रत्यक्ष रहता है। इसके अतिरिक्त अनुमान उपमान के भेद को यह स्थिति स्पष्ट करती है कि अनुमान प्रमाण अपने और दूसरे दोनों के लिए स्वार्थ और परार्थ होता है परंतु उपमान प्रमाण केवल परार्थ होता है। जिसके लिए उपमेय अज्ञात है उसी के लिए उपमान प्रमाण का उपयोग बताया जाता है। बताने वाला वह व्यक्ति होता है जो उपमेय को अच्छी तरह जानता है। उसके लिए उपमान का उपयोग कभी आवश्यक नहीं होता। अतः उपमान केवल परार्थ होता है।

**शंका-** उपमान केवल परार्थ होता है यह कहना ठीक नहीं क्योंकि स्वयं उपमान का उपयोग करने वाले नागरिक को भी यथा गौस्तथा गवय जैसी गाय है वैसा गवय होता है इसका निश्चित ज्ञान रहता है। इसलिए जांगलिक और नागरिक के ऐसे ज्ञान में कोई अंतर न होने से नागरिक को भी उपमेय गवय का ज्ञान रहता है तब उपमान को केवल परार्थ नहीं कहना चाहिए।

**समाधान-** नागरिक को जैसी गाय है वैसा गवय है ऐसा ज्ञान होने का कोई प्रतिषेध नहीं करता पर यह ध्यान देने की बात है कि नागरिक को ऐसा ज्ञान केवल शाब्दिक है पर बोध्य है दूसरे के द्वारा बतलाया गया है। जिसने बतलाया है उसका यह ज्ञान उपमान और उपमेय गो गवय दोनों के विषय में प्रत्यक्ष है शाब्दिक नहीं। इसलिए नागरिक और जांगलिक के यथा गौस्तथा गवय इस ज्ञान को समान नहीं कहा जा सकता। फलस्वरूप नागरिक का वह ज्ञान जब तक केवल शाब्दिक है उपमान प्रमाण के स्वरूप को प्राप्त नहीं करता। वह तभी प्रामाण्य का लाभ करता है जब जंगल में उसके सन्मुख गवय प्रत्यक्ष होता है। उस समय वह ज्ञान साधक प्रमाण होकर संज्ञा संज्ञी सम्बन्ध का बोध कराता है। इसलिए नागरिक को साधर्म्य का ज्ञान होने पर भी उपमान की केवल परार्थता नष्ट नहीं होती।

उपमान का अनुमान से भेद तथा अनुमान से उपमान के भेद का सूत्रकार ने एक अन्य कारण बताया

**तथेत्युपसंहारादुपमानसिद्धेर्नाविशेषः । २/१/४९**

**तथेति समानधर्मोपसंहारादुपमानं सिध्यति नानुमानम् । अयं चानयोविशेष इति ।**

**शब्द प्रमाण परीक्षा-** उपमान की परीक्षा पूर्ण हुई। अब क्रमप्राप्त शब्द प्रमाण की परीक्षा प्रारंभ की जाती है। शब्द को अतिरिक्त प्रमाण मानने में उठाई गई आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया-

**शब्दोऽनुमानमर्थस्यानुपलब्धेरनुमेयत्वात् । २/१/५०**

**शब्दोऽनुमानं, न प्रमाणान्तरं, कस्मात् ? शब्दार्थस्यानुमेयत्वात् । कथमनुमेयत्वम् ? प्रत्यक्षतोऽनुपलब्धेः । यथाऽनुपलब्धमानो लिङ्गी मितेन लिंगेन पञ्चान्मीयत इति अनुमानम् ।**

शब्द प्रमाण अनुमान है शब्द प्रमाण का अंतर्भाव अनुमान में मान लेना चाहिए उसको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है। क्योंकि शब्द से जो अर्थ जाना जाता है वह अनुपलब्ध अर्थात् अप्रत्यक्ष रहता है। शब्द रूपी हेतु से वह अनुमेय है यही समझना चाहिए। जैसे जाने हुए धुएं आदि लिंग से अप्रत्यक्ष अग्नि आदि लिंगी का अनुमान होता है ऐसे जाने हुए शब्द रूपी हेतु से अप्रत्यक्ष अर्थ



का अनुमान होता है। शब्द से अनुमान के समान अर्थ प्रतीति होने के कारण शब्द प्रमाण को अनुमान से अतिरिक्त नहीं मानना चाहिए। शब्द को अनुमान से अतिरिक्त न मानने में यह भी कारण है -

**उपलब्धेरद्विप्रवृत्तित्वात् । २/१/ ५१**

**प्रमाणान्तरभावे द्विप्रवृत्तिरुपलब्धिः अन्यथा ह्युपलब्धिरनुमाने अन्यथोपमाने तद्व्याख्यातम् । शब्दानुमानयोस्तूपलब्धिरद्विप्रवृत्तिः ।** यदि शब्द और अनुमान पृथक् प्रमाण हों तो इनकी प्रवृत्ति का प्रकार भिन्न होना चाहिए। पर देखा जाता है अर्थबोध के लिए दोनों का प्रकार समान है। जैसे अनुमान में धूम हेतु अग्नि अर्थ का बोध कराता है ऐसे शब्द प्रमाण में वाक्य हेतु घट आदि अर्थों का बोध कराता है।

चैत्र ने भृत्य को कहा- घटमानय। मैत्र ने भी पहले ऐसा कहा था। यहां भृत्य को अर्थबोध जिस प्रकार से होता है उसे निम्न प्रकार कह सकते हैं - **चैत्रः घटमानयनविषयकभिप्रायवान्**

उच्चारणसम्बन्धेन घटमानयेतिवाक्यविशिष्टत्वात् मैत्रवत् चैत्र घड़ा मंगाने के अभिप्राय वाला है अर्थात् घड़ा मंगाना चाहता है क्योंकि यह उच्चारण सम्बन्ध से घटमानय इस वाक्य से युक्त है अर्थात् इसने घटमानय इस वाक्य का उच्चारण किया है। इसी अभिप्राय से मैत्र ने इस वाक्य का उच्चारण किया था। यह समझकर भृत्य घड़ा ले आता है। तात्पर्य यही है कि वाक्य अर्थबोध में अनुमान के हेतु के समान है। फलतः दोनों जगह अर्थबोध का प्रकार एक होने से शब्द प्रमाण को अनुमान के अंतर्गत मान लेना चाहिए। शब्द के अनुमान रूप होने में अन्य कारण यह है -

**सम्बन्धाच्च । २/१/ ५२**

**शब्दोऽनुमानमिति वर्तते । सम्बद्धयोश्च शब्दार्थयोः सम्बन्धप्रसिद्धौ शब्दोपलब्धेरर्थग्रहणं यथा सम्बद्धयोर्लिङ्गलिङ्गिनोः सम्बन्धप्रतीतो लिङ्गोपलब्धौ लिङ्गग्रहणमिति ।**

इस गत सूत्र में शब्दोऽनुमानम् पदों की यहां अनुवृत्ति समझनी चाहिए। शब्द अनुमान है अतिरिक्त प्रमाण नहीं। कारण यह कि शब्द और अर्थ का परस्पर नियत सम्बन्ध देखा जाता है। जब किसी को यह सम्बन्ध निश्चित रूप से ज्ञात होता है तभी सम्बन्ध ज्ञाता को शब्द से अर्थ का बोध होता है। ठीक ऐसी स्थिति अनुमान में देखी जाती है। वह लिंग लिंगी का नियत सम्बन्ध जिसको ज्ञात होता है वह लिंगहेतु से लिंगी साध्य का अनुमान करता है। इस प्रकार लिंग लिंगी में और शब्द अर्थ में परस्पर सम्बन्ध माना जाना भी दोनों जगह समान है। इन आधारों पर शब्द प्रमाण को अनुमानान्तर्गत माना जा सकता है।

**शब्द प्रमाण अनुमान नहीं-** सूत्रकार उक्त आशंका का समाधान करता हुआ समझाता है कि यह आशंका निराधार है क्योंकि -

**आप्तोपदेशसामर्थ्याच्छब्दादर्थसंप्रत्ययः । २/१/ ५३**

**स्वर्गः, अप्सरसः, उत्तराः कुरवः, सप्त द्वीपाः समुद्रो लोकसन्निवेश इत्येवमादेरप्रत्यक्षस्यार्थस्य न शब्दमात्रात्प्रत्ययः, किं तर्हि ? आप्तैरयमुक्तः शब्द इत्यतः सम्प्रत्ययः विपर्यये सम्प्रत्ययाभावाद्, न त्वेवमनुमानमिति । यत्पुनरुपलब्धेर द्विप्रवृत्तित्वादिति । अयमेव शब्दानुमानयोरुपलब्धेः प्रवृत्तिभेदः तन्न विशेषे सत्यहेतुविशेषाभावादिति ।**

शब्द अथवा वाक्य से जो अर्थ का बोध होता है वह अनुमेय है अर्थात् अनुमान प्रमाण से होने वाले ज्ञान के समान है यह कथन युक्त नहीं है। अनुमान प्रमाण में हेतु और साध्य का परस्पर व्याप्य व्यापक भाव सम्बन्ध होता है हेतु व्याप्य और साध्य व्यापक होता है। शब्द और अर्थ में यह सम्बन्ध असंभव है। शब्द अर्थ का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध होता है। इस शब्द का अमुक अर्थ वाच्य है अथवा इस अर्थ का अमुक शब्द वाचक है इस सम्बन्ध के मूल में आप्तोपदेश रहता है। वेद के रूप में ईश्वर द्वारा एवं अन्य लौकिक शब्दों के विषय में आप्त पुरुषों के द्वारा की गई यह व्यवस्था रहती है कि कौन सा शब्द किस अर्थ को अभिव्यक्त करने की शक्ति रखता है। शब्द में विशिष्ट अर्थ का बोधन कराने की शक्ति का आधार आप्तोपदेश मूलक है। शब्द से अर्थ का बोध इसी सामर्थ्य से होता है। यह शब्द अमुक अर्थ को अभिव्यक्त करने के लिए बताया है इसी आधार पर शब्द से अर्थ का बोध होता है। ऐसे अर्थबोध में योग्यता आकांक्षा आसक्ति आदि सहकारी कारण रहते हैं। अर्थबोध का यह सब प्रकार अनुमान में नहीं होता। जैसे शब्द का अर्थ में शक्तिग्रह होता है वैसे धूम का वह्नि में शक्तिग्रह होना कदापि संभव नहीं। अतः शब्द प्रमाण अनुमान से विलक्षण है एवं प्रमाणान्तर है यह स्पष्ट होता है।

प्राप्ति सम्बन्ध शब्द-अर्थ का अनुमेय नहीं - अन्य कारणों से भी शब्द अर्थ का यह सम्बन्ध अग्राह्य है। सूत्रकार ने बताया -

**पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः । २/१/ ५४**

स्थानकरणाभावादिति चार्थः। न चायमनुमानतोऽप्युपलभ्यते शब्दान्तिकेऽर्थ इति । एतस्मिन्यक्षेऽप्यास्यस्थान करणोच्चारणीयः शब्दस्तदन्तिकेऽर्थ इति अन्नाग्न्यसिशब्दोच्चारणे पूरणप्रदाहपाटनानि गृह्येन् न च गृह्यन्ते, अग्रहणानानुमेयः प्राप्ति लक्षणः सम्बन्धः ।

गत सूत्र में बताये शब्द अर्थ का प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध प्रत्यक्ष से गृहीत नहीं होता। अनुमान से भी उसका ग्रहण नहीं होता यह प्रस्तुत सूत्र से स्पष्ट किया गया है। यदि शब्द के उच्चरित होते ही शब्द के समीप अर्थ उपस्थित हो जाता हो तो मुख में पूरण प्रदाह और पाटन उपलब्ध होना चाहिए। शब्द का उच्चारण मुख से होता है यथायथ शब्द के उच्चारण के लिए मुख में विशिष्ट स्थान करण प्रयत्न आदि का उपयोग होता है अतः शब्द का उच्चारण मुख में संभव है। अब यदि इस बात को माना जाए कि शब्द अर्थ का परस्पर प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध है तो मोदक लड्डू शब्द का उच्चारण होते ही मोदक वहां उपस्थित हो जाए और उससे मुंह भर जाना चाहिए। ऐसे ही अग्नि शब्द का उच्चारण होने पर मुंह जल जाए। असि तलवार शब्द का उच्चारण होते ही मुंह कट जाना चाहिए। पर यह सब कुछ नहीं होता। इससे स्पष्ट है शब्द के समीप अर्थ नहीं आता तब उनकी प्राप्ति एक-दूसरे से संयुक्त हो जाने का प्रश्न ही नहीं उठता।

सूत्र में पठित च पद से शब्द के उच्चारण में कारणभूत स्थान करण प्रयत्न आदि को उपलक्षित किया गया है। शब्दोच्चारण में कंठ तालु आदि स्थानों तथा करण आदि के कारण होने से जहां वे स्थान आदि हैं वहीं शब्द का उच्चारण संभव है। इसलिए यह कहना भी असंगत होगा कि अर्थ प्रदेश में शब्द का उससे अर्थ से संयोग होता है। घट आदि अर्थ के स्थिति प्रदेश में शब्द का उच्चरित होना असंभव है। तब उनकी प्राप्ति कैसी इस प्रकार न शब्द के समीप अर्थ का होना संभव है और न अर्थ के समीप शब्द का होना। इसके अनुसार दोनों का दोनों के समीप जाने का प्रश्न समाप्त हो जाता है। फलतः शब्द और अर्थ के प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध का किसी प्रमाण से ग्रहण न होने के कारण इनका परस्पर ऐसा सम्बन्ध अमान्य है।

शब्द अर्थ का सम्बन्ध व्यवस्थित शिष्य जिज्ञासा करता है शब्द अर्थ का परस्पर व्यवस्थित सम्बन्ध प्रतीत तो होता है तब उसका प्रतिषेध न होना चाहिए। सूत्रकार ने शिष्य की जिज्ञासा को सूत्रित किया-

**शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः । २/१/ ५५**

**शब्दार्थप्रत्ययस्य व्यवस्थादर्शनादनुमीयतेऽस्ति शब्दार्थसम्बन्धो व्यवस्थाकारणम् । असम्बन्धे हि शब्दमात्रार्थमात्रे प्रत्ययग्रसङ्गः तस्मादप्रतिषेधः सम्बन्धस्येति ।**

घट आदि विशेष शब्द से विशेष वस्तु घड़ा आदि का ही ग्रहण होता है कपड़ा, घोड़ा आदि का नहीं। इससे शब्द और अर्थ के परस्पर सम्बन्ध का बोध होता है। यदि शब्द अर्थ का कोई निश्चित व्यवस्थित सम्बन्ध न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध हो जाना चाहिए पर ऐसा नहीं है। किसी शब्द से किसी अर्थ का बोध कराने में एक व्यवस्था देखी जाती है। इस व्यवस्था का कारण उनका सम्बन्ध ही है। अतः शब्द अर्थ के सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं होना चाहिए।

शब्द अर्थ सम्बन्ध सांकेतिक सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया -

**न सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य । २/१/ ५६**

**न सम्बन्धकारितं शब्दार्थव्यवस्थानम् किं तर्हि ? समयकारितं यत्तदवोचाम् । अस्येदमिति षष्ठीविशिष्टस्य वाक्यस्यार्थविशेषोऽनुज्ञातः शब्दार्थयोः सम्बन्ध इति समयं तमवोचाम इति।**

किसी विशेष शब्द से जो विशिष्ट अर्थ का बोध होता है इसका कारण शब्द अर्थ का प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध नहीं है यह समयकारित होता है। इसका कारण समय है। इसलिए शब्द अर्थ के प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध का प्रतिषेध नहीं करना चाहिए ऐसा समझना ठीक नहीं। शब्द से अर्थ बोध में इनके प्राप्ति सम्बन्ध का कोई स्थान नहीं है। वह समय के कारण होता है।

अब यह समझ लेना चाहिए कि समय का तात्पर्य क्या है अमुक शब्द का यह अर्थ वाच्य या अभिधेय है इस प्रकार का निर्धारित संकेत समय है। आचार्यों ने वेद शब्द के अर्थों के लिए ईश्वरेच्छा को संकेत माना है। अन्य सभी लौकिक शब्दों के अर्थ यथाकाल विभिन्न आभिधानिक आचार्यों लोककर्ता पुरुषों तथा पृथक् भाषा भाषी जनता की इच्छा व व्यवहार के अनुसार निर्धारित होते रहते हैं। कौन सा शब्द किस अर्थ को अभिव्यक्त करता है ऐसे संकेत अपनी अपनी भाषाओं के निर्धारित रहते हैं। उसी के अनुसार शब्द के उच्चारण से अर्थबोध होता है। जो व्यक्ति उस संकेत व समय को समझता है शब्द सुनने पर उसी को अर्थबोध हो पाता है। जो किसी भाषा के निर्धारित संकेत को नहीं जानते उस भाषा के शब्दों को सुनने पर भी उन्हें अर्थबोध नहीं हो पाता। जो वादी शब्द अर्थ के प्राप्ति लक्षण संयोग सम्बन्ध को स्वीकार करता है वह भी शब्द अर्थ विषयक उक्त व्यवस्था की उपेक्षा नहीं कर सकता क्योंकि इसके बिना लोकव्यवहार चलना संभव नहीं है।

शब्द अर्थ का सम्बन्ध नियत नहीं शब्द से अर्थ का बोध निर्धारित संकेत के अनुसार होता है इस व्यवस्था को सूत्रकार ने अन्य प्रकार से पुष्ट किया-

**जातिविशेषे चानियमात् । २/१/५७**

**सामयिकः शब्दादर्थसम्प्रत्ययो न स्वाभाविकः । ऋष्यार्यम्लेच्छानां यथाकामं शब्दविनियोगोऽर्थप्रत्यायनाय प्रवर्तते ।**

अमुक शब्द से उसी अर्थ का बोध हो सकता है ऐसा नियम मानव समाज के किसी वर्ग में नहीं है। मानव समाज में ऋषि, आर्य, म्लेच्छ आदि सभी प्रकार के वर्ग होते हैं। फिर विभिन्न देशों में विभिन्न भाषा बोली जाती हैं। उनके अपने अपने संकेत हैं। एक अर्थ का बोध कराने के लिए ध्वनि संकेत विभिन्न रहते हैं। इसी आधार पर भाषाओं का भेद है। यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ऐसा स्वाभाविक होता कि अमुक शब्द अमुक नियत अर्थ का बोध कराये गा तो विभिन्न वर्गों में शब्द से अर्थबोध के लिए इच्छानुसार संकेत का होना संभव न होता। तब मनुष्य मात्र अपने भावों को प्रकट करने के लिए एक ही प्रकार की ध्वनियों का उपयोग करने वाला होता जैसा पशु पक्षियों में प्रायः देखा जाता है। जो जिसका स्वाभाविक कार्य होता है वह किसी जाति विशेष के लिए कभी बदलता नहीं है। सूर्य का कार्य सबको गर्मी व प्रकाश प्रदान करना है अथवा तेजस प्रकाश रूप के ज्ञान में कारण होता है यह स्वभाव से प्राप्त है और सबके लिए समान है। सूर्य किसी एक वर्ग को प्रकाश दे अन्य को न दे अथवा प्रकाश में कोई एक वर्ग रूप का प्रत्यक्ष करे अन्य न करे ऐसा संभव नहीं क्योंकि यह स्थिति इच्छानुसार नहीं है निसर्ग प्राप्त है। परन्तु शब्द से अर्थबोध होने में ऐसा नियम नहीं है। इसलिए शब्द से अर्थ का बोध सामयिक है निर्धारित संकेत के अनुसार होता है स्वाभाविक नहीं।

**स्मरणीय बिंदु-**

- उपमान का आधार (सूत्र 2.1.46): उपमान 'अत्यंत सादृश्य' (100% समानता) या 'एकदेश सादृश्य' (बहुत कम समानता) पर नहीं, बल्कि 'प्रसिद्ध सादृश्य' पर आधारित होता है। जैसे- 'जैसी गाय, वैसा गवय (नीलगाय)'।
- अनुमान से भिन्नता: अनुमान में साध्य (जो सिद्ध करना है) परोक्ष होता है, जबकि उपमान में उपमेय (गवय) आँखों के सामने प्रत्यक्ष होता है। उपमान 'तथा' (वैसा ही) रूपी उपसंहार से सिद्ध होता है।
- शब्द बनाम अनुमान (सूत्र 50-52): पूर्वपक्ष कहता है कि शब्द से हम परोक्ष अर्थ का अनुमान लगाते हैं। न्यायकार (सिद्धान्त पक्ष) उत्तर देते हैं कि शब्द की प्रामाणिकता आप्त (विश्वसनीय व्यक्ति) के वचन पर टिकी है, न कि व्याप्ति पर।
- प्राप्ति-लक्षण का खंडन (सूत्र 54): यदि शब्द और अर्थ में भौतिक जुड़ाव होता, तो 'अग्नि' शब्द बोलने से मुँह जल जाना चाहिए था और 'खाद्य' शब्द कहने से पेट भर जाना चाहिए था। अतः यह संबंध भौतिक नहीं, सामयिक है।
- सामयिक संबंध (सूत्र 56-57): शब्द और अर्थ का संबंध ईश्वर या समाज द्वारा निर्धारित 'संकेत' है। यही कारण है कि अलग-अलग भाषाओं (आर्य, म्लेच्छ आदि) में एक ही वस्तु के लिए अलग-अलग शब्दों का प्रयोग होता है।
- उपमान का प्रयोजन: इसका मुख्य कार्य संज्ञा-संज्ञी संबंध का ज्ञान कराना है (जैसे यह जानना कि इस विशेष पशु का नाम शगवयश है)।

**शब्दावली-**

- उपमान: सादृश्य (समानता) के ज्ञान से होने वाला संज्ञा-संज्ञी संबंध का ज्ञान।
- संज्ञा-संज्ञी संबंध : नाम (संज्ञा) और उस नाम वाली वस्तु (संज्ञी) के बीच का संबंध।
- प्रसिद्ध सादृश्य : वह समानता जो समाज में पहले से जानी जाती है।
- गवय : नीलगाय (उपमान के प्रसिद्ध उदाहरण में प्रयुक्त)।
- सामयिक संबंध : संकेत या परंपरा पर आधारित संबंध।
- प्राप्ति-लक्षण: भौतिक संपर्क या जुड़ाव।
- आप्तोपदेश: किसी विश्वसनीय और यथार्थ वक्ता का उपदेश।
- शक्ति-ग्रह: शब्द की अर्थ-बोध कराने वाली शक्ति को समझना (संकेत ग्रहण)।
- उपसंहार: तुलना के अंत में किया जाने वाला निष्कर्ष ('यह वैसा ही है')।

**5 अंक के प्रश्न-**

1. पूर्वपक्ष ने 'अत्यंत सादृश्य' के आधार पर उपमान का खंडन कैसे किया? (सूत्र 2.1.45)
2. 'प्रसिद्धसाधर्म्यादुपमानसिद्धिः' (सूत्र 2.1.46) का क्या अर्थ है?
3. उपमान प्रमाण का मुख्य फल या प्रयोजन क्या है?

4. अनुमान और उपमान में विषय के आधार पर क्या अंतर है? (सूत्र 2.1.48)
5. उपमान को परार्थ प्रमाण क्यों कहा गया है?
6. सूत्र 2.1.49 में उपसंहार का क्या महत्व है?
7. 'एकदेश सादृश्य' उपमान के लिए पर्याप्त क्यों नहीं है?
8. पूर्वपक्ष (शंकाकार) ने शब्द को 'अनुमान' सिद्ध करने के लिए क्या तर्क दिए हैं? (सूत्र 50-51 के आधार पर)
9. शब्द और अर्थ के बीच 'प्राप्ति-लक्षण' (भौतिक संपर्क) संबंध क्यों नहीं माना जा सकता? (सूत्र 53-54 के आधार पर)
10. शब्द और अर्थ का संबंध 'स्वाभाविक' है या 'सामयिक'? तर्क सहित स्पष्ट करें। (सूत्र 56-57 के आधार पर)

### 15 अंक के प्रश्न-

1. उपमान प्रमाण के स्वरूप और सादृश्य (समानता) के आधार पर पूर्वपक्ष द्वारा किए गए आक्षेपों का सविस्तार वर्णन कीजिए। (सूत्र 2.1.44-45 के आधार पर)
2. 'उपमान केवल 'प्रसिद्ध सादृश्य' पर आधारित है'- इस कथन के आलोक में सिद्धांत पक्ष (सूत्र 2.1.46) द्वारा दिए गए समाधान की समीक्षा कीजिए।
3. उपमान को अनुमान के अंतर्गत मानने वाली शंका का निवारण करते हुए दोनों के मध्य अंतर स्पष्ट कीजिए। (सूत्र 2.1.47 से 2.1.49 के आधार पर)
4. शब्द प्रमाण का 'अनुमान' में अंतर्भाव करने हेतु पूर्वपक्ष (शंकाकार) ने क्या तर्क दिए हैं? सूत्र 50, 51 और 52 के आधार पर सविस्तार व्याख्या कीजिए।
5. 'शब्द प्रमाण अनुमान से भिन्न एक स्वतंत्र प्रमाण है।' सूत्रकार ने सूत्र 53 और 54 के माध्यम से इस कथन की पुष्टि किस प्रकार की है? तर्कों सहित उत्तर दीजिए।
6. शब्द और अर्थ के मध्य 'स्वाभाविक' संबंध न होकर 'सामयिक' (सांकेतिक) संबंध होता है। सूत्र 55, 56 और 57 के आलोक में इस सिद्धांत की विवेचना कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पूर्वपक्ष के अनुसार, 'अत्यंत सादृश्य' (जैसे गौ के समान गौ) उपमान क्यों नहीं है?  
 (क) क्योंकि गौ प्रत्यक्ष नहीं है  
**(ख) क्योंकि इससे कोई नया ज्ञान (प्रमाण) सिद्ध नहीं होता**  
 (ग) क्योंकि गौ एक पशु है  
 (घ) क्योंकि यह वेदों में नहीं है
2. 'जैसी गौ होती है वैसा ही गवय (नीलगय) होता है'- यह उपमान का कौन सा आधार है?  
 (क) अत्यंत सादृश्य  
**(ख) प्रसिद्ध सादृश्य**  
 (ग) एकदेश सादृश्य  
 (घ) मिथ्या सादृश्य
3. उपमान प्रमाण का मुख्य फल (परिणाम) क्या है?  
 (क) मोक्ष की प्राप्ति  
 (ख) ईश्वर का ज्ञान  
**(ग) संज्ञा-संज्ञी संबंध (नाम और वस्तु के संबंध) का ज्ञान**  
 (घ) भविष्य की जानकारी
4. उपमान को अनुमान के अंतर्गत न मानने का मुख्य कारण क्या है?  
**(क) उपमान में उपमेय (गवय) प्रत्यक्ष होता है, जबकि अनुमान में साध्य परोक्ष होता है**  
 (ख) उपमान केवल वेदों के लिए है  
 (ग) अनुमान में सादृश्य की आवश्यकता नहीं होती  
 (घ) उपमान केवल नगरवासियों के लिए है
5. सूत्र 2.1.49 के अनुसार, उपमान की सिद्धि किस प्रक्रिया से होती है?

- (क) व्याप्ति ज्ञान से  
(घ) प्रत्यक्ष दर्शन से  
(ग) 'तथा' (वैसा ही) रूपी उपसंहार से  
(घ) शब्द प्रमाण से
6. पूर्वपक्ष के अनुसार शब्द प्रमाण को 'अनुमान' क्यों माना जाना चाहिए?  
(क) क्योंकि शब्द और अर्थ का प्रत्यक्ष संबंध होता है  
(ख) क्योंकि शब्द से ज्ञात होने वाला अर्थ अप्रत्यक्ष (अनुपलब्ध) होता है  
(ग) क्योंकि शब्द हमेशा सत्य होते हैं  
(घ) क्योंकि शब्द केवल ऋषियों द्वारा बोले जाते हैं
7. सूत्र 51 में 'उपलब्धि की अविद्विप्रवृत्ति' का तर्क किसके पक्ष में दिया गया है?  
(क) शब्द को प्रत्यक्ष मानने के लिए  
(ख) शब्द को स्वतंत्र प्रमाण मानने के लिए  
(ग) शब्द को अनुमान के अंतर्गत मानने के लिए  
(घ) शब्द को भ्रम मानने के लिए
8. 'चैत्र ने नौकर से कहा- घड़ा लाओ।' इस उदाहरण में पूर्वपक्ष क्या सिद्ध करना चाहता है?  
(क) कि नौकर को भाषा का ज्ञान है  
(ख) कि शब्द का अर्थ केवल वक्ता की इच्छा (अभिप्राय) का अनुमान है  
(ग) कि घड़ा मिट्टी का बना है  
(घ) कि शब्द और अर्थ में कोई संबंध नहीं है
9. सूत्र 53 के अनुसार, शब्द से अर्थ का बोध किस सामर्थ्य से होता है?  
(क) व्याप्ति ज्ञान के सामर्थ्य से  
(ख) शब्द की ध्वनि के सामर्थ्य से  
(ग) आप्तोपदेश (विश्वसनीय व्यक्ति के वचन) के सामर्थ्य से  
(घ) तर्क करने के सामर्थ्य से
10. न्याय सूत्र 54 के अनुसार, यदि शब्द और अर्थ में 'प्राप्ति-लक्षण' (भौतिक जुड़ाव) संबंध होता, तो 'अग्नि' शब्द बोलने पर क्या परिणाम होता?  
(क) प्रकाश होता  
(ख) मुख जल जाता  
(ग) प्यास बुझ जाती  
(ख) मधुर स्वाद आता
11. शब्द और अर्थ का संबंध 'स्वाभाविक' न होकर कैसा माना गया है?  
(क) अनिश्चित  
(ख) सामयिक (संकेत आधारित)  
(ग) काल्पनिक  
(घ) प्रत्यक्ष
12. 'ऋषि, आर्य और म्लेच्छ अपनी इच्छा अनुसार शब्दों का प्रयोग करते हैं।' यह तथ्य किस सूत्र की व्याख्या में आता है?  
(क) सूत्र 50  
(ख) सूत्र 52  
(ग) सूत्र 55  
(घ) सूत्र 57
13. 'सामयिक संबंध' का क्या अर्थ है?  
(क) समय के साथ बदलने वाला अर्थ  
(ख) विशेष शब्द के लिए विशेष अर्थ का निर्धारित संकेत

(ग) घड़ी के अनुसार अर्थ का बदलना

(घ) केवल वेदों में प्रयुक्त शब्द

14. सूत्र 55 में शिष्य की क्या शंका है?

(क) कि शब्द सुनाई क्यों देते हैं?

(ख) यदि संबंध नहीं है, तो 'घड़ा' कहने पर 'कपड़ा' क्यों नहीं आता? (अर्थ व्यवस्था)

(ग) क्या अनुमान श्रेष्ठ है?

(घ) वेदों की रचना किसने की?

15. शब्द को अनुमान से भिन्न मानने का सबसे प्रबल तर्क क्या है?

(क) शब्द सुनाई देता है, धुआं दिखाई देता है

(ख) शब्द में 'शक्ति-ग्रह' (संकेत) 'की आवश्यकता' होती है, जो अनुमान से भिन्न प्रक्रिया है

(ग) शब्द केवल मनुष्य बोलते हैं।

(घ) अनुमान कठिन है, शब्द सरल है।



## खण्ड-२: न्याय दर्शन- द्वितीय अध्याय

### इकाई-२.१: शब्द प्रमाण की विशेष परीक्षा

#### उद्देश्य-

- आक्षेपों का तार्किक समाधान: वेदों और शब्द प्रमाण पर लगाए गए तीन मुख्य दोषों- 'अनृत' (झूठ), 'व्याघात' (विरोधाभास) और पुनरुक्त (निरर्थक दोहराव) का खंडन करना।
- वैदिक वाक्यों का वर्गीकरण: ब्राह्मण ग्रंथों के वाक्यों को उनके कार्य के आधार पर 'विधि', 'अर्थवाद' और 'अनुवाद' में विभ. जित कर उनकी उपयोगिता समझना।
- प्रामाणिकता की सिद्धि: वेदों की सत्यता को 'आप्त' (यथार्थ वक्ता) की विश्वसनीयता और 'आयुर्वेद' जैसे प्रत्यक्ष फल देने वाले शास्त्रों के उदाहरण से प्रमाणित करना।
- त्रुटियों का विश्लेषण: यह समझना कि यदि किसी अनुष्ठान का फल प्राप्त नहीं होता, तो वह शास्त्र का दोष नहीं बल्कि कर्ता की योग्यता या विधि की कमी है।

वैदिक शब्द का अप्रामाण्य- गत लंबे प्रसंग से यह निर्धारित किया गया कि शब्द प्रमाण का अनुमान में अंतर्भाव नहीं होता। शब्द स्वयं में अतिरिक्त प्रमाण है। इस तथ्य को समझकर शिष्य के द्वारा वैदिक साहित्य में प्रतिपादित पुत्रकामेष्टि हवन तथा अभ्यास एक मंत्र को अनेक बार बोलने का विधान आदि के प्रसंगों को लक्ष्य कर शब्द के प्रामाण्य के विषय में की गई आशंका को सूत्रकार ने सूत्रित किया -

**तदप्रामाण्यमनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्यः । २/१/५८**

तस्येति शब्दविशेषमेवाधिकुरुते भगवान् ऋषिः । शब्दस्य प्रमाणत्वं न सम्भवाति । कस्मात् ? अनृतदोषात् पुत्रकामेष्टौ। “पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत इति नेष्टौ संस्थितायां पुत्रजन्म दृश्यते । दृष्टार्थस्य वाक्यस्यानृतत्वाद् अदृष्टार्थमपि वाक्यम् “अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकाम” इत्याद्यनृतमिति ज्ञायते । विहितव्याघातदोषाच्च हवने” उदिते होतव्यम् अनुदिते होतव्यम्, समयाध्युषिते होतव्यम्” इति विधाय विहितं व्याहन्ति “श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति, शवलोऽस्या हुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति, श्यावशयलावस्याहुतिमभ्यवहतो यः समयाध्युषिते जुहोति”। व्याघाताच्चान्यतरन्मिध्येति । पुनरुक्तदोषाच्च । अभ्यासे देश्यमाने “त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम” इति पुनरुक्तदोषो भवति । पुनरुक्तं च प्रमत्तवाक्यमिति । तस्मादप्रमाणं शब्दोऽनृतव्याघातपुनरुक्तदोषेभ्य इति ।

जिस शब्द को प्रमाण माना जाता है उसमें अनृत आदि दोष दिखाई देते हैं अतः उसके प्रामाण्य को स्वीकार नहीं किया जाना चाहिए। सूत्र में पठित तत् पद सामान्य शब्द मात्र का निर्देश न कर केवल किन्हीं विशिष्ट वाक्यों का निर्देश करता है।

वैदिक वाक्य मिथ्या उनमें वैदिक साहित्य का एक वाक्य है- **पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत**। पुत्र की कामना करने वाला व्यक्ति पुत्रेष्टि से यजन करे। पुत्रकामेष्टि का अनुष्ठान करने से पुत्र प्राप्त हो जाता है। परन्तु अनेक बार ऐसा देखा जाता है कि इष्टि का अनुष्ठान करने पर भी यजमान इष्टिकर्ता दंपती को पुत्रलाभ नहीं होता। फलतः उक्त वाक्य मिथ्या हो जाता है। जब इस दृष्टफल वाले वाक्य को मिथ्या होते देखते हैं तो इसके अनुसार वे अदृष्टफल वाले वैदिक वाक्य भी मिथ्या होने संभव हैं जिनमें स्वर्ग की कामना करने वाले व्यक्ति के लिए अग्निहोत्र होम करने का विधान किया गया है- **अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः** इत्यादि। यह स्थिति प्रमाण माने जाने वाले शास्त्र के विषय में विश्वास को उखाड़ देती है।

वैदिक वाक्यों में विरोध- इसी प्रकार शास्त्रीय वाक्यों में परस्पर विरोध पाया जाता है। दैनिक हवन का विधान करते हुए बताया है- **उदिते होतव्यम् अनुदिते होतव्यम् समयाध्युषिते होतव्यम्** इत्यादि। सूर्योदय हो जाने पर हवन करना चाहिए अनुदित सूर्यकाल में हवन करना चाहिए अध्युषित समय में हवन करना चाहिए। प्रातः दैनिक हवन के ये तीन काल बतलाये। पहले तो इन्हीं में परस्पर विरोध है। उदित काल में हवन करना बताकर उसका विरोध करते हुए अनुदित काल में बताया उन दोनों का विरोध कर तीसरा अध्युषित काल में हवन का विधान किया। ये सब काल एक दूसरे के विरुद्ध हैं। यदि इसे काल विषयक विकल्प बताकर विरोध से बचा भी जाए तो आगे विधि का विरोध किया गया स्पष्ट दीखता है। वहां लिखा है **श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति य उदिते जुहोति। शवलोऽस्याहुतिमभ्यवहरति योऽनुदिते जुहोति। श्यावशयलावस्याहुतिमभ्यवहरति यः समयाध्युषिते जुहोति।**

श्याव उसकी आहुति को खा जाता है जो उदित में हवन करता है। शवल उसकी आहुति को खा जाता है जो अनुदित में हवन करता है। श्याव शवल दोनों मिलकर उसकी आहुति को खा जाते हैं जो समयाध्युषित में हवन करता है।

पहले हवन का विधान किया। अनन्तर श्याव आदि के द्वारा हुत आहुति को खा जाने के रूप में विधि की व्यर्थता बतला दी गई। यह विधि और उसको व्यर्थ बताने के रूप में परस्पर विरोध स्पष्ट है।



वेद में पुनरुक्तदोष पुनरुक्तदोष भी शास्त्रीय निर्देशों में देखा जाता है। अनेक स्थलों पर मंत्रों के पुनः पुनः उच्चारण का विधान किया है- **त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्।** पहली ऋचा को तीन बार पढ़े और अंतिम ऋचा को तीन बार पढ़े। यह एक ही ऋचा को कई बार पढ़ने के रूप में पुनरुक्त दोष है। यह वक्ता के प्रमाद को स्पष्ट करता है। फलतः अनृत व्याघात और पुनरुक्त दोषों के कारण ऐसे शब्द को प्रमाण मानना युक्त नहीं।

वैदिकवाक्य में मिथ्या दोष नहीं - शिष्यों की उक्त आशंका का सूत्रकार यथाक्रम समाधान करता है -

**न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् । २/१/५९**

**नानृतदोषः पुत्रकामेष्टौ, कस्मात् ? कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात् ।**

गत सूत्र से यहाँ अनृतदोषः पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। शब्द प्रमाण में पहला दोष अनृत बताया गया जिसमें पुत्रेष्टि अनुष्ठान का फल न देखे जाने से उसे मिथ्या कहा है। आचार्य बताता है पुत्रकामेष्टि में अनृत दोष की आशंका करना व्यर्थ है। जहाँ पुत्रेष्टि का अनुष्ठान होने पर उसके फल पुत्र का लाभ नहीं होता वहाँ उस शास्त्रीय वाक्य का कोई दोष नहीं है। इष्टि के अनुष्ठान से सम्पन्न पति पत्नी ऋतुकाल में संयुक्त होकर पुत्र को उत्पन्न करते हैं। इस प्रसंग में पति पत्नी का संयोग कर्म है इष्टि और संयोग के करनेवाले पति पत्नी दोनों कर्ता हैं। इष्टि पुत्रजन्म का साधन है। ये तीनों कर्म कर्ता और साधन अपने गुणों से युक्त रहते हैं अर्थात् इनमें कहीं किसी तरह की कमी नहीं रहती तब पुत्रजन्म अवश्य होता है। यदि किसी में कहीं कुछ न्यूनता विगुणता हो जाय तो पुत्रजन्म न होगा ।

पुत्रजन्म का साधन इष्टि है। इसमें कर्म वैगुण्य है अनुष्ठान की प्रक्रिया का ठीक ठीक न होना। शास्त्र में इष्टि क्रिया की जो पद्धति बताई है उसका पूर्णरूप में पालन न किया जाना इष्टि विषयक कर्म वैगुण्य है। इसमें कर्तृ वैगुण्य है इष्टि के करानेवाले ऋत्विजों का अविद्वान् मन्त्रों का ठीक उच्चारण न करनेवाले तथा निन्दित आचरणवाले होना। इष्टिविषयक साधनवैगुण्य है हवि द्रव्य का असंस्कृत अशुद्ध अपवित्र होना मन्त्रों का न्यून व अधिक बोला जाना एवं स्वर तथा वर्ण आदि से हीन होना दी जाने वाली दक्षिण ॥ का कम होना निन्दित होना तथा पाप से कमाई गई होना आदि। ये सब इष्टिविषयक कमियाँ हैं इनमें कोई कमी हो जाय तो अनुष्ठान निष्फल हो जायगा ।

वैदिक वाक्य की सत्यता में लौकिक उदाहरण- लोक में इस प्रकार के कार्य देखे जाते हैं। शिल्पी कोई मकान अथवा नदी आदि पर कोई बाँध बनाते हैं। उसके लिए उपयुक्त साधन सामग्री एकत्र कर योग्य शिल्पियों द्वारा सुयोग्य अभियन्ताओं की देखरेख में यदि उसका विधिपूर्वक निर्माण हो जाता है तो वह कार्य सदियों सुरक्षित रहता हुआ सुफल प्रदान करता रहता है। यदि कार्य अनुष्ठान के अवसर पर अभियन्ता निरीक्षण में प्रमाद करता है अनुकूल निर्देश देने में अक्षमता रखता है शिल्पी ईंट प्रस्तर आदि का यथोचित सन्निवेश नहीं करता साधन सामग्री का यथाविधि उपयोग नहीं होताए सीमेन्ट की जगह रेत या काली मिट्टी डाल दी जाती है और अव्वल ईंट की जगह दोयम सोयम भर दी जाती हैं तो वह कार्य फलप्रद न होकर सद्यः नष्ट हो जाता है ।

ऐसे ही अन्य लौकिक अनुष्ठानविषयक एक वाक्य है '**अग्निकामो दारुणी मन्थीयात्**' आग की चाहना वाला दो विशिष्ट काष्ठों को आपस में मथे। यदि यहाँ कर्म कर्ता और साधन में वैगुण्य न होकर यथाविधि काष्ठों का मन्थन होता है तो उसके फल अग्नि का अवश्य लाभ होता है। यदि मन्थन ठीक न होने से उसमें कर्मवैगुण्य हो जाय कर्ता प्रमादी और बुद्धिहीन हो मन्थनविधि का जानकार न हो प्रयत्न में शिथिलता करे यह कर्तृवैगुण्य रहे और काष्ठ गीले हों अथवा कीड़े के खाये घुने हुए हों यह साधनवैगुण्य होगा। इन कमियों दोषों के रहने पर मन्थन होने से भी अग्नि की प्राप्ति न होगी। इसमें मन्थन से अग्नि प्राप्ति बताने वाले वाक्य का कोई दोष नहीं है। प्रत्युत इसका कारण है कर्ता साधन तथा प्रक्रिया सम्बन्धी कमियाँ। यही स्थिति पुत्रकामः पुत्रेष्ट्या यजेत इस वाक्य की है। शास्त्र और लौकिक वाक्य ऐसे प्रसंगों में परस्पर कोई भेद नहीं रखते ।

वैदिकवाक्य में विरोध नहीं- दूसरे दोष व्याघात का समाधान सूत्रकार बताता है-

**अभ्युपेत्य कालभेदे दोषवचनात् । २/१/ ६०**

**न व्याघातो हवन इत्यनुवर्तते।** गत सूत्रों से न व्याघात पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये। जो व्यक्ति प्रारम्भ में यह प्रण कर लेता है कि मैं उदित में हवन किया करूँगा अथवा अनुदित में किया करूँगा यदि वह अपने प्रतिज्ञात स्वीकृतकाल का उल्लंघन करता है उदितकाल में हवन की प्रतिज्ञा कर उसे छोड़ अनुदित अथवा अभ्युषित में हवन करता है उसके लिए यह कार्य दोषपूर्ण बताया गया है- **श्यावोऽस्याहुतिमभ्यवहरति इत्यादि।** इसलिए हवन का विधान करनेवाले इन वाक्यों में परस्पर कोई व्याघात विरोध नहीं है। पुनरुक्तिदोष नहीं वैदिक वाक्यों में पुनरुक्त विषयक तीसरी आशंका का समाधान करने की भावना से सूत्रकार ने बताया-

## अनुवादोपपत्तेश्च । २/१/ ६१

पुनरुक्तदोषोऽभ्यासे नेति प्रकृतम् । गत सूत्रों से न पुनरुक्तदोष इन पदों की अनुवृत्ति यहाँ समझनी चाहिये । पूर्वोक्त जिन वाक्यों में पुनरुक्तदोष की उद्भावना की गई है वस्तुतः वहाँ पुनरुक्तदोष नहीं है क्योंकि उन वाक्यों में अनुवाद का होना संभावित है अथवा सिद्ध है। जो वाक्य बिना प्रयोजन के बार बार निरर्थक कहे जाते हैं वहाँ पुनरुक्तदोष माना जाता है। परन्तु जहाँ शब्द अथवा शब्द समूह का पुनःपुनः अभ्यास किसी विशेष प्रयोजन से किया जाता है वह पुनरुक्त न होकर अनुवाद कहा जाता है। ब्राह्मण में कथन है, इदमहं भ्रातृव्यं पंचदशावरेण वाग्वज्रेण बाधे मैं इस विरोधी को पन्द्रह अरों वाले वाग्वज्र से बाधित करता हूँ। इसके अनुसार पन्द्रह अरोंवाला वह वाणीरूपी वज्र पन्द्रह ऋचा हैं जिनका उच्चारण कर पन्द्रह सामिधेनी आहुतियाँ दी जाती हैं। परन्तु जिन ऋचाओं से आहुति देने का विधान है वे केवल ग्यारह हैं। उन्हीं से पन्द्रह आहुतियाँ देने के लिए पहली और अन्तिम ऋचा की तीन आवृत्ति की जाती हैं। इसप्रकार दो ऋचाओं से छह आहुतियाँ तथा शेष नौ ऋचाओं से एक एक आहुति देकर पन्द्रह संख्या पूरी की जाती है। मन्त्रों का यह अभ्यास सप्रयोजन होने से अनुवाद माना है जो दोषावह नहीं ।

अनुवादवाक्य सार्थक अनुवादवाक्यों की सार्थकता को सूत्रकार ने बताया-

## वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात् । २/१/ ६२

प्रमाणं शब्दो यथा लोके । ब्राह्मणग्रन्थों के वाक्यों का कई प्रकार से विभाग आचार्यों ने किया है। वह किन्हीं विशेष प्रयोजनों के आधार पर है। उनमें एक विभाग अनुवाद है जिसको शिष्ट पुरुषों ने प्रमाणरूप में स्वीकार किया है। त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् श० ब्रा० १।३।५।६ इत्यादि वाक्य ऐसा ही है। अतः इसका प्रामाण्य निर्बाध है इसमें पुनरुक्त जैसे किसी दोष की सम्भावना नहीं । ब्राह्मणवाक्यविभाग ऐसे ब्राह्मणवाक्यों का विभाग तीन प्रकार का है सूत्रकार ने बताया-

## विध्यर्थवादानुवादवचनविनियोगात् । २/१/ ६३

त्रिधा खलु ब्राह्मणवाक्यानि विनियुक्तानि विधिवचनान्यर्थवादवचनान्यनुवादवचनानीति ।

ब्राह्मणवाक्यों का तीन प्रकार से विनियोग होता है अर्थात् ब्राह्मणवाक्यों का तीन भागों में समन्वय हो जाता है। वे भाग हैं विधिवचन अर्थवादवचन अनुवादवचन । कर्मकाण्डसम्बन्धी समस्त ब्राह्मण साहित्य इन्हीं भागों में समन्वित है ।

विधिवाक्य- उनमें विधिवचन कौन से हैं सूत्रकार ने बताया।

## विधिर्विधायकः २/१/ ६४

यद्वाक्यं विधायकं चोदकं स विधिः । विधिस्तु नियोगोऽनुज्ञा वा । यथा अग्निहोत्रं जुहुयात् स्वर्गकामः इत्यादि ।

जो शास्त्रीय वाक्य किसी कर्मानुष्ठान के लिए प्रेरणा देता है वह विधिवाक्य कहा जाता है। भाष्यकार ने विधि के दो अर्थ बताये नियोग और अनुज्ञा। नियोग का अर्थ है व्यक्ति को कार्य के लिए प्रवृत्त करना। जिस वाक्य से इदं कुर्यात् यह करे इस प्रकार प्रेरण ॥ मिलती हो वह नियोग विधिवाक्य है। जैसे-स्वर्गकामो यजेत स्वर्ग की कामना वाला याग करे। जो वाक्य जानते हुए व्यक्ति को कुछ विशेष जनाता है वह अनुज्ञा विधिवाक्य है। जैसे- अग्निहोत्रं जुहुयात् यहाँ पर वाक्य अग्निहोत्र के साधनों की प्राप्ति के लिए व्यक्ति को प्रेरित कर अग्निहोत्र के लिए प्रवृत्त करता है। साधनों के बिना अग्निहोत्र सम्भव नहीं अतः उसके लिए द्रव्योपार्जन आदि में प्रवृत्ति को जगाता है। यद्यपि ऐसा व्यक्ति अग्निहोत्र में प्रवृत्ति की भावना स्वतः रखता है। इसमें यह रहस्य समझना चाहिए जब ये विधिवाक्य अग्निहोत्र आदि में अप्रवृत्त पुरुष को प्रवृत्त करते हैं तब नियोगविधि हैं और जब प्रवृत्ति की भावना को रखते हुए पुरुष को साधनों के अर्जन की ओर सचेत करते हैं तब अनुज्ञाविधि कहे जाते हैं।

अर्थवादवाक्य क्रमप्राप्त अर्थवादवचनों के विषय में सूत्रकार बताता है

## स्तुतिनिन्दा परकृतिः पुराकल्प इत्यर्थवादः । २/१/ ६५

विधेः फलवादलक्षणा या प्रशंसा सा स्तुतिः सम्प्रत्ययार्था स्तूयमानं श्रद्धधीतेति । प्रवर्त्तिका च फलश्रवणात् प्रवर्तते ।

ऐसे सब वाक्य जो किसी कार्य की स्तुति या निन्दा करते हों दूसरे के किये कार्यों का विवरण प्रस्तुत करते हों एवं पुरानी घटनाओं का उल्लेख करते हों अर्थवाद नाम से कहे जाते हैं।

स्तुति अर्थवाद जब किसी विधि कर्मानुष्ठान से मिलने वाले फलों की प्रशंसा की जाती है वह उस विधि की प्रशंसा है स्तुति है। इससे उस विधि के अनुष्ठान के प्रति लोगों को विश्वास उत्पन्न होता है। फल के विषय में इस प्रकार सुनने से व्यक्ति उस ओर श्रद्धान्वित होकर कर्मानुष्ठान में प्रवृत्तिशील हो जाता है। ब्राह्मणग्रन्थों में वैदिक कर्मविषयक स्तुतिवाक्य इस प्रकार पाये जाते हैं सर्वजिता वै देवाः सर्वमजयन् सर्वस्याप्यै सर्वस्य जित्यै सर्वमेवैतेनाप्नोति सर्वं जयति य एतेन यजते इत्यादि। सबकी प्राप्ति और

सबके विजय के लिए देवों विद्वानों ने सर्वजित् नामक याग से यजन किया और उन्होंने सबको जीत लिया। वह व्यक्ति सब कुछ प्राप्त कर लेता है और सबको जीत लेता है जो इस सर्वजित् नामक याग से यजन करता है। ऐसे स्तुतिवाक्य व्यक्ति को कर्मानुष्ठान के प्रति श्रद्धान्वित कर प्रवृत्त करते हैं।

**निन्दा अर्थवाद** कर्म के अनिष्ट फलों का विवरण देनेवाले वाक्य निन्दा वचन कहे जाते हैं। ये निन्दावाक्य उन निन्दनीय कर्मों को छोड़ देने की प्रवृत्ति को जगाते हैं। इससे अन्य अनुष्ठेय कर्मों में प्रवृत्ति जागृत होती है। इस प्रकार का वाक्य है- **स एष वाव प्रथमो यज्ञो यज्ञानां यज्योतिष्ठोमः य एतेनानिष्ट्वाऽन्येन यजते गर्ते पतति अयमेवैतज्जीर्यते वा प्रमीयते वा** इत्यादि यज्ञों में यह प्रथम यज्ञ है जो ज्योतिष्ठोम है। इससे यजन न कर जो अन्य याग से यजन करता है वह पतित हो जाता है जीर्ण शीर्ण होकर नष्ट हो जाता है। सोमप्रधान यज्ञों में सबसे प्रथम ज्योतिष्ठोम याग का अनुष्ठान करना चाहिये । जो इसकी उपेक्षा कर सबसे प्रथम अन्य याग का अनुष्ठान करता है वह पतित हो जाता है। यह सोमप्रधानयागों में सर्वप्रथम ज्योतिष्ठोम को छोड़कर अन्य याग के अनुष्ठान की निन्दा की गई है जिससे कोई ऐसा न करे ।

**परकृति अर्थवाद** अन्य कर्त्ताओं के द्वारा अनुष्ठित परस्पर विरुद्ध विधि का कथन करना परकृति नामक अर्थवाद है। ऐसा वाक्य है- **हुत्वा वपामेवाग्नेऽभिधारयन्ति अथ पृषदाज्यं तदुह चरकाध्वर्यवः पृषदाज्यमेवाग्नेऽभिधारयन्ति अग्नेः प्राणाः पृषदाज्यस्तोममित्येवमभिदधति** इत्यादि कतिपय होता हवन प्रारम्भ करके वपा का ही प्रथम अग्नि में सेचन करते हैं। परन्तु चरकशाखा के अध्वर्यु लोग दधिमिश्रित घृत पृषदाज्यम् की ही प्रथम आहुति अग्नि में देते हैं। स्तुत्य दधि घृत अग्नि के प्राण हैं ऐसा प्रतिपादन करते हैं। इस सन्दर्भ में भिन्नकर्तृक परस्पर विरोधी दो विधियों का उल्लेख किया गया है यह परकृति नामक अर्थवाद कहा जाता है।

**पुराकल्प अर्थवाद** चौथा अर्थवाद पुराकल्प है जिसमें इतिहास के समान बीते हुए अर्थों का विवरण प्रस्तुत किया जाता है। इस विषय का सन्दर्भ है-

**तस्माद्वा एतेन ब्राह्मणा वहिष्पवमानं सामस्तोममस्तौषन् योने यज्ञं प्रतनवामहे** इत्यादि । इस कारण उक्त क्रम के अनुसार वेदज्ञ ऋत्विजों ने बहिष्पवमान नामक साम स्तोत्र के द्वारा स्तुति की। यह इतिहास के समान प्रतीत होनेवाला बीते हुए अर्थ का विवरण है। शंका अर्थवाद में स्तुति और निन्दा की गणना करना तो युक्त प्रतीत होता है क्योंकि विधि के ग्राह्य व त्याज्य होने में वह प्रयोजक है। परकृति और पुराकल्प की गणना अर्थवाद में करना व्यर्थ है। वैसा विवरण विधि के विषय में कोई अनुकूल प्रतिकूल प्रभाव नहीं डालता ।

समाधान परकृति पुराकल्प की अर्थवाद में गणना करना युक्त है क्योंकि किन्हीं स्तुतिवाक्यों अथवा निन्दावाक्यों के साथ इनका सम्बन्ध रहता है। विधिसम्बन्धी किसी न किसी अर्थ को ऐसे सन्दर्भ अवश्य प्रकाशित करते हैं। अतः ब्राह्मण ग्रन्थों के अर्थवाद-वाक्यों में इनकी गणना उपयुक्त है ।

अनुवाद का स्वरूप तीसरे प्रकार के ब्राह्मण सन्दर्भ अनुवाद कहे जाते हैं। सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया-

**विधिविहितस्यानुवचनमनुवादः । २/१/ ६६**

**विध्यनुवचनं चानुवादो विहितानुवचनं च ।**

विधिविहित पदार्थ का विधान के अनन्तर किसी प्रयोजन से कथन करना अनुवाद है। जैसे **दर्शपौर्णमासाभ्यां स्वर्गकामो यजेत** इस वाक्य से दर्शयाग और पौर्णमासयाग का विधान किया गया है। इसके अनन्तर कहा गया है **एते वै संवत्सरस्य चक्षुषी यर्द्धपूर्णमासी य एवं विद्वान् दर्शपूर्णमासी यजते ताभ्यामेव सुवर्ग लोकमनुपश्यति** स्वर्ग की चा. हनावाला व्यक्ति दर्शपूर्णमास याग करे। इस विधि के अनन्तर उसकी विशेषता अभिव्यक्त करने के प्रयोजन से **एते वै संवत्सरस्य** इत्यादि सन्दर्भ पूर्वोक्त का अनुवाद है।

यह अनुवाद दो प्रकार का है। एक विधिवाक्य को उन्हीं शब्दों द्वारा दुहरा देना। यह शब्दानुवाद कहा जाता है। दूसरा अर्थानुवाद है जिसमें शब्दों को न दुहराकर विहित अर्थ का कथन होता है। लोक में जैसे पुनरुक्त दो प्रकार का होता है ऐसे अनुवाद भी। अनित्यः अनित्यः यह शब्दपुनरुक्त है अनित्यः विनाशी यह अर्थपुनरुक्त। ऐसे वैदिक साहित्य में अनुवाद दोनों प्रकार का है। शब्दानुवाद पूर्वोक्त सन्दर्भों में द्रष्टव्य है। दर्शपूर्णमासी यजेत यह विधि है। इस विधि को प्रयोजनवश शब्दों द्वारा **एते वै संवत्सरस्य य एवं विद्वान्** इत्यादि सन्दर्भ से दुहराया है। विहित अर्थ के पुनः कथन का उदाहरण इस प्रकार समझना चाहिए अग्निहोत्रं जुहोति यह एक विधान किया। इस विहित अग्निहोत्र के दधि साधन को बताने के लिए जब इसका पुनः कथन किया जाता है **दध्ना जुहोति** यह अर्थानुवाद अथवा विहितानुवाद है।

अनुवाद पुनरुक्त एकसमान शिष्य पुनः आशंका करता है-

**नानुवादपुनरुक्तयोविशेषः शब्दाभ्यासोपपत्तेः । २/१/ ६७**

पुनरुक्तमसाधु साधुरनुवाद इत्ययं विशेषो नोपपद्यते । कस्मात् उभयत्र हि प्रतीतार्थः शब्दोऽभ्यस्यते चरितार्थस्य शब्दस्याभ्यासादुभयमसाध्विति ।

अनुवाद और पुनरुक्त दोनों में शब्द का अभ्यास समान रहता है। अभ्यस्त शब्द का अर्थ भी उभयत्र जाना जाता है। तब यह कहना अयुक्त है कि अनुवाद संगत और पुनरुक्त असंगत होता है। दोनों का प्रकार समान होने से दोनों को युक्त माना जाय अथवा दोनों को अयुक्त माना जाय ।

अनुवाद पुनरुक्त भिन्न हैं आचार्य सूत्रकार आशंका का समाधान करता है

**शीघ्रतरगमनोपदेशवदभ्यासान्नाविशेषः । २/१/ ६८**

**नानुवादपुनरुक्तयोरविशेषः । कस्मात् अर्थवतोऽभ्यासस्यानुवादमायात् ।**

अनुवाद पुनरुक्त दोनों में केवल शब्द दुहराने की समानता से इन्हें अभिन्न समझना ठीक नहीं है। अथवा सूत्र में अभ्यास पद पुनरुक्त के लिए प्रयुक्त हुआ है। तब सूत्रार्थ होगा पुनरुक्त से अनुवाद का अभेद नहीं है। परन्तु इस अर्थ में हेतु अर्निदिष्ट रहता है अतः सूत्रार्थ का पहला प्रकार उपयुक्त है। अभ्यास से अर्थात् शब्द के पुनः उच्चारणमात्र की समानता से अनुवाद और पुनरुक्त का अभेद मानना ठीक नहीं है। वस्तुतः सूत्र के हेतु पद अभ्यासात् का अर्थ सार्थक अभ्यास समझना चाहिए। ऐसा भाव सूत्रगत उदाहरण से अभिव्यक्त होता है। अनुवाद और पुनरुक्त में अभेद इसी कारण नहीं है क्योंकि अनुवाद में शब्द का अभ्यास सार्थक होता है पुनरुक्त में निरर्थक। जाने में शीघ्रता करने के लिए शीघ्रं शीघ्रं गम्यताम् जल्दी जल्दी चलो कहा जाता है। यहाँ चलना क्रिया में अतिशय लाने के प्रयोजन से शीघ्र पद का पुनः उच्चारण है अतः यह अनुवाद है पुनरुक्त नहीं। जहाँ शब्द का पुनः उच्चारण निरर्थक होगा वह पुनरुक्त होगा ।

लोक में अनेक प्रयोजनों से ऐसा व्यवहार बराबर होता रहता है। पचति पचति कहने से यह भाव प्रकट होता है कि वह निरन्तर पकाता रहता है क्रिया में कोई व्यवधान नहीं आ पाता। इसी प्रकार ग्रामो रमणीयः गाँव गाँव रमणीय है तात्पर्य है प्रत्येक ग्राम रमणीय है सर्वत्र ग्रामों में रमणीयता व्याप्त है। परि परि त्रिगर्तेभ्यो वृष्टो देवः- त्रिगर्त देशों से परे वर्षा हुई है। त्रिगर्त देशों को बिल्कुल बचा गई है। यहाँ परि पद का अभ्यास त्रिगर्त देशों के सर्वथा परिवर्जन को अभिव्यक्त करता है। त्रिगर्त में बूंद नहीं पड़ी दूर दूर बरस गया है। अध्यधि कुड्यं निषण्णम् दीवार के बिल्कुल पास रक्खा है। यहाँ अधि पद का अभ्यास सामीप्य अर्थ को अभिव्यक्त करता है। इसी प्रकार तिक्त तिक्तं यह प्रयोग वस्तु एवं व्यक्ति के प्रकार को अभिव्यक्त करता है। किसी पदार्थ के विषय में कहने पर तात्पर्य है यह तीखा ही तीखा है बहुत तीखा है। क्रोधी व असहनशील व्यक्ति के विषय में कहने पर उसके स्वभाव प्रकार को बतलाता है। लोक में ऐसे व्यक्ति को प्रायः कहा जाता है यह बड़ा कड़वा है। दो बार उच्चारण में तीखा ही तीखा है कड़वा ही कड़वा है ऐसे प्रयोग प्रायः होते रहते हैं। ऐसे प्रयोगों का विशेष अर्थ को अभिव्यक्त करना प्रयोजन होने से इन्हें निरर्थक नहीं माना जाता। अतः ये पुनरुक्त न होकर अनुवाद की कोटि में आते हैं। इसी प्रकार वैदिक सन्दर्भों में अनुवाद वाक्य हैं जो स्तुति निन्दा शेषविधियों में अधिकार व आनन्तर्य आदि प्रयोजनों को अभिव्यक्त करने के कारण सार्थक होने से प्रमाण हैं ।

वेद शब्दप्रामाण्य में अन्य साधन शिष्य जिज्ञासा करता है शब्द प्रमाण के प्रतिषेध के लिए उठाई गई आपत्तियों का पूर्ण समाधान कर दिया गया क्या इसी कारण शब्द का प्रामाण्य स्वीकार कर लेना चाहिये अथवा उसके लिए और भी कोई साधन हैं आचार्य सूत्रकार ने बताया और भी साधन हैं

**मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात् । २/१/६९**

**किं पुनरायुर्वेदस्य प्रामाण्यम् यत्तदायुर्वेदेनोपदिश्यते इदं कृत्वेष्टमधिगच्छतीदं वर्जयित्वाऽनिष्टं जहाति तस्यानुष्ठीयमानस्य तथाभावः सत्यार्थताऽविपर्ययः ।**

किसी विषय का साक्षात्कृतधर्मा व्यक्ति आप्त होता है। शब्द प्रमाण के लक्षण सूत्र १।१।७ की व्याख्या में कहा गया है कि आप्त का यह लक्षण ऋषि आर्य म्लेच्छ आदि मानवमात्र के लिए समान है। आप्तों का आप्त परमात्मा है जो अनन्त विश्व का सार्वेदिक साक्षात्कृतधर्मा है। ऐसे व्यक्ति का कहा हुआ शब्द प्रमाण होता है। इसी के अनुसार सूत्र में आप्तप्रामाण्यात् हेतु दिया है। आप्तोक्त वाक्यों के प्रमाण माने जाने के कारण समस्त ऐसा शब्द प्रमाण है जो आप्त द्वारा कथित है। सूत्र के तत्प्रामाण्यम् पद में तत् सर्वनाम से समस्त वेद का ग्रहण होता है। उक्त हेतु के आधार पर उसको सिद्ध करना अपेक्षित है। इसके लिए सूत्र में दो दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं- मन्त्रप्रामाण्यवत् तथा आयुर्वेदप्रामाण्यवत् ।

मन्त्रप्रामाण्य पद का विवरण पहले उदाहरण मन्त्रप्रामाण्यवत् के मन्त्र पद का अर्थ प्रायः जादू टोना आदि के रूप में उच्चरित शब्द किया जाता है। भाष्यकार वात्स्यायन ने इसका अर्थ करते हुए लिखा है मन्त्रपदानां च विपभूताशनिप्रतिषेधार्थानां प्रयोगेऽर्थस्य

**तथाभावः ।** विष या जहर रूप वज्र का प्रतिषेध रोकना जिनका प्रयोजन है ऐसे मन्त्र पदों का प्रयोग करने पर वैसा प्रयोजन सिद्ध हो जाता है। अर्थात् मन्त्रप्रयोग से विष का प्रभाव रुक जाता या दूर हो जाता है।

मन्त्र पद की यह व्याख्या पूर्ण संगत प्रतीत नहीं होती। जादू टोने के रूप में स्थानों के द्वारा जो पद या वाक्य उच्चरित होते हैं वे सर्वथा मनघडन्त व पूर्णरूप से असंस्कृत होते हैं। फिर ऐसे प्रसंगों में निश्चितरूप से यह कहना कठिन है कि तात्कालिक कष्ट के दूर होने में उन पदों का साक्षात् प्रभाव होता है। वहाँ यह अधिक मान्य व संगत हो सकता है कि प्रयोक्ता के मनोबल से प्रयोज्य पर मानसिक प्रभाव होकर तात्कालिक कष्ट दूर हो जाता हो। विष के प्रसंग में तो जादू टोने का प्रयोग असफल ही देखा गया है। ऐसे जादू टोने के मनघडन्त ऊटपटाग पदों के कल्पित तथाकथित प्रामाण्य के **आधार पर** वेदशब्द के प्रामाण्य को सिद्ध करना उपहास्य प्रतीत हो रहा है।

आप्त पद विवरण आप्त वे व्यक्ति होते हैं जिन्होंने उस विषय का साक्षात्कार किया होता है। यह छोड़ने योग्य है क्योंकि यह हानि का हेतु है यह प्राप्त करने योग्य है इसकी प्राप्ति के साधन ये हैं इस प्रकार सब प्राणियों पर जो दया भाव रखते हैं। स्वयं साधारण प्राणी इन सच्चाइयों को नहीं जान पाते उपदेश के अतिरिक्त और कोई साधन उनको तथ्य का ज्ञान कराने के लिए नहीं है जब तक व्यक्ति किसी सच्चाई को जानता नहीं तब तक उसमें प्रवृत्ति या निवृत्ति का होना सम्भव नहीं बिना प्रवृत्ति आदि के कल्याण की आशा रखना व्यर्थ होता है। अन्य कोई उपकारक इनका है नहीं तब हमारा यह कर्तव्य है हमने जैसा जाना है और जो सच्चाई है उसका उपदेश करें। साधारण जन उसको सुनकर सच्चाई को समझ सकेंगे छोड़ने योग्य को छोड़ेंगे तथा प्राप्त करने योग्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करेंगे। इन भावनाओं से आप्त व्यक्तियों द्वारा यथार्थ का उपदेश किया जाता है। ये तीन बातें हैं जो आप्तों के प्रामाण्य का आधार हैं। उसके अनुसार किया गया अनुष्ठान अभीष्ट अर्थ का साधक होता है इसी आधार पर आप्त एवं आप्तोपदेश को प्रमाण माना जाता है।

इस दृष्टफलवाले वेदैकदेश आयुर्वेद के प्रामाण्य से अदृष्ट फलवाले वेदभाग के प्रामाण्य का यथार्थ ज्ञान कर लिया जाता है क्योंकि आप्त प्रामाण्य हेतु उभयत्र समान है। वेद का अन्य एक भाग जो ग्रामकामो यजेत इत्यादि अनुष्ठानों का मूल है दृष्टफलवाला है उससे भी शेष समस्त वेद के प्रामाण्य का बोध हो जाता है। समस्त वेद का उपदेष्टा एकमात्र चेतन तत्त्व परमात्मा है। जब उसके किसी एक भाग का प्रामाण्य निश्चित है तब समस्त वेद के प्रामाण्य को स्वीकार करने में कोई बाधा नहीं रहती।

### **स्मरणीय बिंदु-**

- अनृतः यज्ञ का फल न मिलना 'अनृत' नहीं है, बल्कि यह अनुष्ठान करने वाले (कर्ता), सामग्री (साधन) या प्रक्रिया (कर्म) की अशुद्धि के कारण होता है।
- व्याघातः वचनों में विरोध केवल विकल्प प्रदान करने के लिए होता है, वे एक-दूसरे को काटते नहीं हैं।
- पुनरुक्तः निरर्थक दोहराव दोष है, किंतु किसी बात को समझाने या पुष्ट करने के लिए दोबारा कहना 'अनुवाद' कहलाता है, जो दोषरहित है।
- वाक्यों के तीन प्रकारः
- विधिः जो किसी शुभ कार्य को करने का निर्देश दे।
- अर्थवादः जो विधि की प्रशंसा (स्तुति) या निंदा के माध्यम से व्यक्ति को कर्म में प्रवृत्त करे।
- अनुवादः जो विधि द्वारा कही गई बात को विशेष अर्थ या स्पष्टता के लिए दोहराए।
- आयुर्वेद का दृष्टान्तः जिस प्रकार आयुर्वेद की औषधियाँ प्रत्यक्ष रूप से रोग दूर करती हैं और हम उनके ऋषियों पर विश्वास करते हैं, उसी प्रकार वेदों के वचनों को भी प्रमाण मानना चाहिए क्योंकि उनके वक्ता भी वही आप्त ऋषि हैं।

### **शब्दावली-**

- अनृतः वह जो सत्य न हो (झूठ)।
- व्याघातः परस्पर विरोधी बातें।
- पुनरुक्तः एक ही बात को बिना किसी प्रयोजन के बार-बार कहना।
- वैगुण्य : किसी कार्य या सामग्री में दोष या विकृति होना।
- अर्थवादः विधि वाक्य की सहायता करने वाला प्रशंसात्मक या निंदात्मक वाक्य।
- पुराकल्पः प्राचीन कथाओं या इतिहास का संदर्भ देना।
- परकृतिः किसी दूसरे के द्वारा किए गए अनुकरण या कार्य का उल्लेख।
- आप्तः वह विश्वसनीय व्यक्ति जिसे वस्तु का पूर्ण यथार्थ ज्ञान हो और जो स्वार्थरहित होकर सत्य बोले।
- अनुवादः ज्ञात विषय को किसी विशेष उद्देश्य से पुनः कहना।



## 5 अंक के प्रश्न-

1. विधि वाक्य और उसके भेदों को स्पष्ट कीजिए। (सूत्र संख्या: 64 और 65 का संदर्भ)
2. अर्थवाद क्या है और इसके प्रमुख भेद कौन-से हैं? (सूत्र संख्या: 65 के आधार पर)
3. अनुवाद किसे कहते हैं और यह पुनरुक्त से किस प्रकार भिन्न है? (सूत्र संख्या: 66 और 68 के आधार पर)
4. वैदिक अनुष्ठान के फल न मिलने के प्रमुख कारण क्या बताए गए हैं? (सूत्र संख्या: 59 के आधार पर)
5. शब्द प्रमाण की प्रामाणिकता का मूल आधार क्या है? (सूत्र संख्या: 69 के आधार पर)

## 15 अंक के प्रश्न-

1. शब्द प्रमाण पर अनृत, व्याघात और पुनरुक्त दोषों के आरोप और उनका तार्किक समाधान क्या है? (सूत्र 58, 59, 60 और 61 )
2. ब्राह्मण ग्रंथों के वाक्यों का वर्गीकरण कितने भागों में किया गया है? सविस्तार वर्णन करें। (सूत्र 62, 63, 64 और 65 )
3. 'पुनरुक्त' और 'अनुवाद' में क्या अंतर है? उदाहरणों सहित स्पष्ट करें। (सूत्र 66, 67 और 68 )
4. वेदों की प्रामाणिकता सिद्ध करने के लिए 'आप्त' और आयुर्वेद का दृष्टांत किस प्रकार दिया गया है? (सूत्र 69 और अध्याय 1 के संबंधित आप्त लक्षणों के आधार पर)
5. वैदिक कर्मकांड में 'साधन वैगुण्य' और 'कर्ता वैगुण्य' के प्रभाव को लौकिक उदाहरणों से स्पष्ट करें। (सूत्र 59 के विस्तार और लौकिक दृष्टांतों के आधार पर)

## बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पूर्वपक्ष के अनुसार शब्द प्रमाण में कौन-सा दोष 'असत्यता' को दर्शाता है?  
(क) व्याघात  
(ख) पुनरुक्त  
(ग) अनृत  
(घ) वैगुण्य
2. 'पुत्रकामेष्टि यज्ञ करने पर भी पुत्र प्राप्त न होना' - यह किस दोष का उदाहरण दिया गया है?  
(क) अनृत  
(ख) अनुवाद  
(ग) पुराकल्प  
(घ) साधन वैगुण्य
3. 'त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम्' (पहली और अंतिम ऋचा को तीन बार पढ़ें) में शंकाकार ने कौन-सा दोष माना है?  
(क) व्याघात  
(ख) पुनरुक्त  
(ग) अनृत  
(घ) स्तुति
4. सूत्र 'न कर्मकर्तृसाधनवैगुण्यात्' के अनुसार यज्ञ का फल न मिलने का कारण क्या है?  
(क) शास्त्र का झूठा होना  
(ख) ईश्वर की अनिच्छा  
(ग) विधि, कर्ता या सामग्री की कमी  
(घ) कलयुग का प्रभाव
5. ब्राह्मण ग्रंथों के वाक्यों को कितने भागों में विभाजित किया गया है?  
(क) दो  
(ख) तीन  
(ग) चार  
(घ) पाँच
6. जो वाक्य किसी कार्य को करने की प्रेरणा देते हैं, उन्हें क्या कहते हैं?

(क) अर्थवाद

(ख) अनुवाद

**(ग) विधि**

(घ) परकृति

7. 'स्तुति, निंदा, परकृति और पुराकल्प' किसके भेद हैं?

(क) विधि वाक्य

**(ख) अर्थवाद वाक्य**

(ग) अनुवाद वाक्य

(घ) इनमें से कोई नहीं

8. किसी यज्ञ की प्रशंसा करना ताकि व्यक्ति में श्रद्धा उत्पन्न हो, क्या कहलाता है?

(क) निंदा अर्थवाद

**(ख) स्तुति अर्थवाद**

(ग) परकृति

(घ) पुराकल्प

9. 'विधि द्वारा स्थापित बात को किसी विशेष प्रयोजन से दोबारा कहना' कहलाता है:

(क) पुनरुक्त

(ख) व्याघात

**(ग) अनुवाद**

(घ) नियोग

10. शीघ्र चलो, शीघ्र चलो(जल्दी-जल्दी चलो) किसका उदाहरण है?

(क) निरर्थक पुनरुक्ति

**(ख) सार्थक अनुवाद**

(ग) व्याघात दोष

(घ) परकृति

11. सूत्र 69 के अनुसार वेदों की प्रामाणिकता किसके समान मानी गई है?

(क) गणित के समान

(ख) इतिहास के समान

**(ग) आयुर्वेद के समान**

(घ) शिल्प शास्त्र के समान



## इकाई-२.२ : प्रमाण चतुष्टय पर चर्चा

### उद्देश्य-

- प्रमाणों की संख्या का निर्धारण: यह समझना कि न्याय दर्शन केवल चार प्रमाणों (प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, शब्द) को ही मौलिक क्यों मानता है।
- प्रमाणों का अंतर्भाव: अन्य दर्शनों द्वारा माने गए आठ प्रमाणों (ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव, अभाव) को न्याय के मूल चार प्रमाणों में समाहित करने की प्रक्रिया को जानना।
- अर्थापत्ति और अभाव का सूक्ष्म विश्लेषण: अर्थापत्ति की तार्किक क्षमता और 'अभाव' को एक वैध प्रमाण के रूप में सिद्ध करने के आधारों को समझना।
- तार्किक शंकाओं का समाधान: प्रमाणों की निश्चितता (अनैकांतिकता) पर उठने वाले आक्षेपों का खंडन करना।

प्रत्यक्ष आदि चार प्रमाणों की परीक्षा गत इकाई में की गई। उद्देश सूत्र १।१।३ में चार प्रमाणों का उल्लेख है। शिष्य आशंका करता है, प्रमाणों की चार संख्या माना जाना यथार्थ प्रतीत नहीं होता, क्योंकि ऐतिह्य आदि अन्य प्रमाण सुने जाते हैं। आचार्य सूत्रकार ने शिष्यों की आशंका को सूत्रित किया -

**न चतुष्ट्वमैतिह्यार्थापत्तिसम्भवाभावप्रामाण्यात् । २/२/१**

**न चत्वार्येव प्रमाणानि। किं तर्हि ? ऐतिह्यमर्थापत्तिः सम्भवोऽभाव इत्येतान्यपि प्रमाणानि, तानि कस्मान्नोक्तानि।**

प्रमाण आठ होने चाहिये। उद्देश सूत्र में चार प्रमाणों का निर्देश ठीक नहीं है क्योंकि उनसे अतिरिक्त ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव एवं अभाव, ये चार प्रमाण और हैं। तब प्रमाण आठ माने जाने चाहिये। इनका निर्देश न किया जाना उद्देश-सूत्र में न्यूनता है।

**ऐतिह्य-** ऐसे पुराने प्रवादों; कथानकों की परम्परा का नाम ऐतिह्य है, जिसके प्रथम प्रवक्ता का निर्देश किया जाना शक्य नहीं होता। लोग ऐसा कहते चले आये हैं इसी रूप में वे परम्परा प्रचलित रहती है।

**अर्थापत्ति-** वह प्रमाण है, जहाँ एक कथन से न कहा हुआ अर्थ प्राप्त हो जाता है, अर्थात् जान लिया जाता है। किसी ने कहा- **पीनो देवदनो दिवा न भुङ्क्ते** देवदत्त मोटा-ताजा तन्दुरुस्त है, पर दिन में खाना नहीं खाता। इस कथन से यह जान लिया जाता है कि जब देवदत्त दिन में खाना नहीं खाता, और ठीक तन्दुरुस्त है, तो अवश्य रात में खालेता है। रात्रिभोजन कहा नहीं गया पर पहले कथन से इसका बोध होजाता है। बोध-ज्ञान-प्रमा का साधन प्रमाण है। तब अर्थापत्ति को प्रमाण मानना आवश्यक है। अर्थापत्ति के अनेक उदाहरण लोकव्यवहार में प्रयुक्त होते रहते हैं।

**सम्भव-** वह प्रमाण है, जहाँ किसी ऐसे अर्थ का बोध हो, जिसके बिना अन्य अर्थ का सद्भाव सम्भव न हो। एक सेर भार के कहने पर उसमें पाव भर भार के अस्तित्व का बोध अवश्य हो जाता है क्योंकि पाव भर भार के सद्भाव के बिना सेर भार का सद्भाव सम्भव नहीं होता। धड़ी कहने से अथवा एक धड़ी भार के सद्भाव का ग्रहण होने से सेर भार की सत्ता का ग्रहण होजाता है। इस प्रकार सम्भव से अर्थज्ञान होने के कारण उसे प्रमाणों में गिनना आवश्यक है।

**अभाव-** से विरोधी अर्थ का ज्ञान होजाता है। बादल गहरे उठे हैं, पर वर्षा नहीं हो रही। वर्षा की अविद्यमानता वर्षा का न होना अपने विरोधी अर्थ का ज्ञान करा देता है। पुरोवात [मॉनसून वर्षा के बादलों को तैयार करता है, बादल गहरे हो आते हैं। पर विधरक-वात के प्रबल होने पर वर्षा नहीं हो पाती। बादलों के साथ इस वात का संयोग वर्षा का विरोधी होता है। इस प्रकार अभाव अपने विरोधी के ज्ञान का हेतु होने से प्रमाणों में गिना जाना चाहिए। फलतः प्रमाणों के उद्देश सूत्र में जो केवल चार प्रमाणों का निर्देश है, वह अधूरा रह जाने से यथार्थ नहीं है।

प्रमाण केवल चार - आचार्य सूत्रकार ने आशंका का समाधान करते हुए कहा-यह ठीक है, ऐतिह्य आदि से किसी अर्थ का ज्ञान होने के कारण ये प्रमाण तो कहे जा सकते हैं, परन्तु इनको अतिरिक्त प्रमाण मानना अनावश्यक है। क्योंकि-

**शब्द ऐतिह्यानर्थान्तरभावादनुमानेर्थापत्तिसम्भवाभावाऽनर्थान्तरभावाच्चाप्रतिषेधः । २/२/२**

**अनुपपन्नः प्रतिषेधः । कथम्? “आप्तोपदेशः शब्दः” इति न च शब्दलक्षणमैतिह्याद्वयावर्तते । सोऽयं भेदः सामान्यात्सङ्गृह्यत इति ।**

ऐतिह्य आदि का शब्द आदि प्रमाणों में अन्तर्भाव ऐतिह्य, शब्दप्रमाण से भिन्न नहीं है। शब्द का जो लक्षण किया गया है-आप्तोपदेशः शब्दः। ऐतिह्य आप्त का उपदेश है, यह असम्भावित नहीं है। इसमें केवल इतना अन्तर है-ऐतिह्य में प्रवक्ता का निर्देश नहीं रहता। परन्तु इतने से उसके आप्तोपदेश होने में कोई सन्देह की बात नहीं है। इसलिए ऐतिह्य को शब्दरूप होने से पृथक् नहीं पड़ा गया। अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव अनुमान के लक्षण से बाहर नहीं जाते। अनुमान में यही विशेषता है, कि प्रत्यक्ष अर्थ से सम्बद्ध अप्रत्यक्ष अर्थ का बोध होता है। अर्थापत्ति में इसी प्रकार एक वाक्यार्थ के ज्ञान से उस विरोधी अर्थ का ज्ञान हो जाता है, जो कहा

नहीं गया है। बात यह कही गई कि बादलों के न होने पर वर्षा नहीं होती। इससे अकथित विरोधी अर्थ का ज्ञान हुआ, बादलों के रहने पर ही वर्षा होती है। इसमें पहला कथन हेतु और दूसरा अकथित अर्थ साध्य है। यही अनुमान का स्वरूप है।

यही स्थिति सम्भव में है। दो सम्बद्ध पदार्थों में जो एक-दूसरे के बिना नहीं होसकता, वह अपनी स्थिति से दूसरे के अस्तित्व का बोध करा देता है। समुदाय द्रोण समुदायी प्रस्थ के बिना नहीं हो सकता। यदि समुदाय का ग्रहण हो रहा है, तो वह समुदायी के अस्तित्व का बोधक होता है क्योंकि समुदायी के बिना समुदाय हो नहीं सकता।

ऐसा ही अभाव में है। बादल गहरे हो रहे हैं, पर वर्षा नहीं हो रही। वर्षा का यह अभाव अपने विरोधी अर्थ के अस्तित्व का अनुमान कराता है। इसका प्रतिबन्धक विरोधी है-विधारक वायु का बादलों से संयोग। बादलों के रहने पर विधारक वायु बादलों से संयुक्त होकर वर्षा को नहीं होने देता। यहाँ वर्षा का अभाव अपने विरोधी प्रतिबन्धक के अस्तित्व का अनुमापक है। पुरोवात वर्षा लाता है, विधारक वर्षा रोकता है। अभाव से ज्ञान होने का यह प्रकार अनुमान से भिन्न नहीं है। इसलिए ऐतिह्य आदि को प्रमाण भले कहा जाय पर ये अतिरिक्त प्रमाण नहीं हैं। इन सबका शब्द एवं अनुमान में यथायथ अन्तर्भाव होजाता है। फलतः प्रमाणों के उद्देशसूत्र में प्रमाणविषयक निर्देश सर्वथा यथार्थ है।

शिष्यों को सिखाने के लिए आचार्य सूत्रकार ने उक्त आशंका का प्रतिबन्दी समाधान किया-

**प्रतिषेधाप्रामाण्यं चाननैकान्तिकत्वात् । २/२/५**

**अर्थापत्तिर्न प्रमाणमनैकान्तिकत्वादिति वाक्यं प्रतिषेधः ।**

अर्थापत्ति प्रमाण नहीं है, अनैकान्तिक होने से यह प्रतिषेधवाक्य है। इस वाक्य से अर्थापत्ति के प्रामाण्य का प्रतिषेध किया गया इससे अर्थापत्ति के सद्भाव का प्रतिषेध नहीं हुआ। तात्पर्य है, इस प्रतिषेध का विषय अर्थापत्ति का सद्भाव नहीं है। फलतः अर्थापत्ति का अस्तित्व अक्षुण्ण बना रहा। अर्थापत्ति जब है, तो उसके प्रामाण्य का प्रतिषेध नहीं होता। फिर उसके प्रामाण्य का उपपादन गत सूत्र से कर दिया गया है। फलतः प्रतिषेध अपने लक्ष्य को पूरा न करने से अनैकान्तिक है, और इसी कारण वह अप्रमाण है। अप्रमाण भूत वाक्य से किसीका प्रतिषेध नहीं किया जा सकता।

यदि आशंकावादी यह मानता है कि प्रत्येक वाक्य के अपने प्रतिपाद्य विषय नियत होते हैं उसी विषय में व्यभिचार आदि दोष दिखाना वाक्य को दूषित कर सकता है। भिन्न विषय में दोष दिखाने से मूलवाक्य का कुछ नहीं बिगड़ता। प्रतिषेध-वाक्य का विषय अथ. पत्ति का प्रामाण्य है, उसका सद्भाव नहीं। सद्भाव को लक्ष्यकर उक्त वाक्य में दोष देना असंगत है। इस उट्टंकना पर सूत्रकार ने उसी रूप में उत्तर दिया-

**तत्प्रामाण्ये वा नार्थापत्यप्रामाण्यम् । २/२/६**

**अर्थापत्तेरपि कार्योत्पादेन कारणसत्ताया अध्यभिचारो विषयः। न च कारणधर्मो निमित्ताप्रतिबन्धात् कार्यानुत्पादकत्वमिति ।**

यदि उक्त प्रतिषेध का अपने विषय में व्यभिचार न होने से प्रामाण्य स्वीकार किया जाता है, तो अर्थापत्ति का भी अपने विषय में व्यभिचार न होने से अप्रामाण्य सिद्ध नहीं किया जा सकता। अर्थापत्ति का विषय है-कार्योत्पत्ति द्वारा अपने कारणों की सत्ता को न छोड़ना। तात्पर्य है, कोई कार्य अपने कारणों के सद्भाव में उत्पन्न हो सकता है। जहाँ कारणों के सद्भाव में कार्योत्पत्ति का न होना बताकर अर्थापत्ति के प्रामाण्य में दोष दिया गया है, वह असंगत है। क्योंकि वहाँ कार्य की अनुत्पत्ति कारणों के सम्पूर्ण न होने से रहती है। मेघ आदि कारण तो उपस्थित हैं, परन्तु कार्य को न होने देने वाले प्रतिबन्धक की उपस्थिति में प्रतिबन्धकाभाव कारण का अभाव रहता है। प्रतिबन्धकाभाव कार्यमात्रा में कारण माना जाता है। उस दशा में कतिपय कारण बादलों के रहने पर भी कुछ कारणों के न होने से वर्षा-कार्य नहीं होपाता। यह कारणों की न्यूनता कारण का धर्म है अर्थापत्ति का विषय नहीं। यदि कारण के असद्भाव में कार्य उत्पन्न होजाय, तो अर्थापत्ति में अप्रामाण्य दोष का आपादन किया जा सकता है। यह सम्भव न होने से अर्थापत्ति का प्रामाण्य अक्षुण्ण समझना चाहिये।

अभाव का अप्रामाण्य- शिष्य आशंका करता है, अर्थापत्ति का प्रामाण्य समझ में आ गया परन्तु अभाव को प्रमाण कैसे स्वीकार किया गया ? यह समझ नहीं आया। जो स्वतः अभाव है, वह प्रमाण कैसे होगा? शिष्य की भावना को सूत्रकार ने सूत्रित किया-

**नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेः । २/२/७**

**अभावस्य भूयसि प्रमेये लोकसिद्धे वैयात्यादुच्यते नाभावप्रामाण्यं प्रमेयासिद्धेरिति ।**

अभाव का प्रामाण्य इसी कारण अस्वीकार्य है, क्योंकि उससे जाना जाने वाला कोई प्रमेय सिद्ध नहीं। जिसका ज्ञातव्य विषय नहीं, उसके ज्ञान-साधन का होना अनावश्यक व निराधार है। जहाँ भूतल आदि में घटादि का अभाव बताया जाता है, वहाँ केवल भूतल आदि का ग्रहण होता है, और वह प्रत्यक्षादि का विषय है। ऐसी स्थिति में अभाव नामक प्रमाण का मानना व्यर्थ है।

अभाव-प्रमाण का प्रमेय- अभाव का बहुतेरा प्रमेय लोकसिद्ध होने पर सूत्रकार ने उसका एक उदाहरण प्रस्तुत किया-

**लक्षितेष्वलक्षणलक्षितत्वादलक्षितानां तत्प्रमेयसिद्धिः । २/२/८**

तस्याभावस्य सिध्यति प्रमेयं कथम्? लक्षितेषु वासः सुअनुपादेयेषु उपादेयानामलक्षितानामलक्षितत्वाद् लक्षणाभावेन लक्षितस्यादिति । छीटवाले कपड़ों के बीच बिना छीट के कपड़ों को उन पर छीट के अभाव से पहचानेजाने के कारण अभाव के प्रमेय की सिद्धि होती है। एक व्यक्ति को आदेश दिया गया, बाजार जाकर बिना छीट का कपड़ा ले आओ। दुकान पर उसके सामने छीट और बिना छीट के सब तरह के कपड़े होते हैं। वह जिन कपड़ों में छीट का अभाव देखता है, उससे वह अपने उपादेय कपड़े को पहचान लेता है। लक्षण ; छीट के अभाव से अलक्षित वस्त्रों को पहचाना जाता है। लक्षणों का अभाव उस प्रमा ; ज्ञान-पहचाननाद्ध का हेतु है। प्रमा का हेतु प्रमाण माना जाता है। फलतः अभाव का प्रामाण्य स्पष्ट है। अभाव के अस्तित्व की आशंका उठाकर स्वयं सूत्रकार ने समाधान किया-

**असत्यर्थे नाभाव इति चेन्नान्यलक्षणोपपत्तेः । २/२/९**

यत्र भूत्वा किञ्चिन्न भवति तत्र तस्याभाव उपपद्यते ।  
जो वस्त्र लक्षण (छीट) रहित हैं, उनमें लक्षण का अस्तित्व कभी नहीं रहा। तात्पर्य है, वे लक्षण कभी अपने अस्तित्व में नहीं आये। तब उनके अभाव का कथन असंगत होगा क्योंकि अभाव अपने प्रतियोगी के बिना नहीं हो सकता जब वस्तु का अस्तित्व होगा, तभी कहीं पर उसका अभाव कहा जा सकता है। अप्रतियोगिक अभाव असम्भव है। इसलिए जिन वस्त्रों में लक्षण कभी नहीं हुए, उनमें लक्षणाभाव कैसे होगा ? जो वस्तु उत्पन्न होकर कहीं नहीं रहती, उसका अभाव कहना ठीक है। पर लक्षण रहित वस्त्रों में ऐसा नहीं है कि वहाँ लक्षण उत्पन्न होकर फिर न रहे हों। अतः उनमें लक्षण का अभाव कहना अनुपपन्न है।  
अभाव विद्यमान का नहीं- अभाव की इस स्थिति को न समझता हुआ शिष्य पुनः आशंका करता है जो लक्षण विद्यमान हैं, उनका अभाव कैसे माना जा सकता है ? सूत्रकार ने आशंका को सूचित किया-

**तत्सिद्धेरलक्षितेष्वहेतुः । २/२/१०**

तेषु बासस्स लक्षितेषु सिद्धिर्विद्यमानता येषां भवति न तेषामभावो लक्षणानाम् ।  
यानि च लक्षितेषु विद्यन्ते लक्षणानि तेषामलक्षितेष्वभाव इत्यहेतुः । यानि खलु भवन्ति तेषामभावो व्याहत इति ।  
लक्षित वस्त्रों में जो लक्षण विद्यमान हैं, उन लक्षणों का अलक्षित वस्त्रों में अभाव कहना असंगत है। क्योंकि विद्यमान का अभाव बताना परस्पर विरुद्ध कथन है। ऐसे कथन में कोई हेतु न होने से यह अप्रमाण है।  
विद्यमान का अन्यत्रा अभाव संगत- यह आशंका अन्योन्याभाव को न समझने के कारण उठाई गई। उसके अनुसार सूत्रकार ने समाधान किया-

**न लक्षणावस्थितापेक्षासिद्धेः । २/२/११**

**न ब्रूमो यानि लक्षणानि भवन्ति तेषामभाव इति ।**

लक्षित वस्त्रों में लक्षण अवस्थित हैं। यह कोई नहीं कहता कि उनका नाश ध्वंस हो जाने से अभाव हो गया। कहा यह जा रहा है कि किन्हीं वस्त्रों में लक्षण अवस्थित हैं, किन्हीं में अवस्थित नहीं हैं। जिनमें अवस्थित हैं, उनकी अपेक्षा से अन्य वस्त्रों में लक्षणों का अभाव है। तात्पर्य है, लक्षित वस्त्रों से अलक्षित वस्त्र भिन्न हैं। जो लक्षित वस्त्र हैं, वे अलक्षित नहीं, जो अलक्षित हैं, वे लक्षित नहीं। अलक्षित वस्त्रों की चाहना रखता हुआ व्यक्ति लक्षित वस्त्रों से भिन्न वस्त्रों का आदान कर लेता है क्योंकि उसने लक्षित वस्त्रों की अपेक्षा से अलक्षित वस्त्रों में लक्षणाभाव का ज्ञान कर लिया है उस अभाव-ज्ञान से वह उन अलक्षित वस्त्रों को पहचान गया है। इस पहचान का हेतु लक्षणाभाव होने से अभाव का प्रामाण्य सिद्ध होता है। यह समाधान लक्षित अलक्षित वस्त्रों के परस्पर अन्योन्याभाव का आश्रय लेकर किया गया है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- न्याय का मतः न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाणों की संख्या चार ही है। शेष चार अतिरिक्त प्रमाण (ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव) स्वतंत्र न होकर मूल चार में ही अंतर्भूत हो जाते हैं।
- अंतर्भाव की प्रक्रियाः
- ऐतिह्यः इसका अंतर्भाव शब्द प्रमाण में होता है।
- अर्थापत्तिः इसका अंतर्भाव अनुमान में होता है।
- सम्भवः जैसे 100 में 50 का होना, यह अनुमान के अंतर्गत आता है।
- अभाव (इमेदबम)ः इसे भी अनुमान की प्रक्रिया द्वारा ही सिद्ध किया जाता है।
- अर्थापत्ति का समाधानः पूर्वपक्ष इसे अनिश्चित (अनैकांतिक) मानता है (जैसे बादल होने पर भी वर्षा न होना), किंतु न्यायकार कहते हैं कि यह प्रमाण का दोष नहीं, बल्कि कारणों की कमी का परिणाम है।
- अभाव की प्रामाणिकताः अभाव केवल शून्य नहीं है। 'लक्षित' (चिह्नित) वस्तुओं के बीच 'अलक्षित' (बिना चिह्न वाली) वस्तु

की पहचान शभावश के ज्ञान से ही संभव है (जैसे बहुत से रंगे हुए वस्त्रों में कोरे वस्त्र को पहचानना)।

● प्रमेय का अस्तित्व: अभाव का प्रमेय (विषय) वह वस्तु है जिसका अभाव है। अतः विषय होने के कारण अभाव एक प्रमाणिक ज्ञान का साधन है।

#### शब्दावली-

- ऐतिह्य: ऐसी प्राचीन परंपरा या लोक-प्रसिद्धि जिसके मूल वक्ता का पता न हो।
- अर्थापत्ति: किसी देखी या सुनी बात की अनुपपत्ति को सुलझाने के लिए अन्य अर्थ की कल्पना करना (जैसे- दिन में न खाने वाले मोटे व्यक्ति का रात में खाना)।
- सम्भव: व्यापक में व्याप्य का होना (जैसे एक किलोग्राम में आधा किलोग्राम का समावेश)।
- अभाव: किसी वस्तु की अनुपस्थिति या सत्ता का न होना।
- अनैकांतिक: जो निश्चित न हो या जिसमें व्यभिचार (अपवाद) पाया जाए।
- लक्षित: वह वस्तु जिसमें कोई विशेष चिह्न या रंग लगा हो।
- अलक्षित: वह वस्तु जो सादी हो या जिसमें अपेक्षित चिह्न का अभाव हो।
- अंतर्भाव: किसी व्यापक श्रेणी के भीतर समाहित कर लेना।

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. ऐतिह्य और अर्थापत्ति को अलग प्रमाण न मानकर उनका अंतर्भाव किन प्रमाणों में किया गया है?(सूत्र 2.2.1 और 2.2.2 के आधार पर)
2. 'सम्भव' और अभाव प्रमाणों का स्वरूप क्या है और वे अनुमान में कैसे समाहित होते हैं? (सूत्र 2.2.1 और 2.2.2 के आधार पर)
3. अर्थापत्ति के अनैकांतिक (अनिश्चित) होने की शंका का समाधान क्या है? (सूत्र 2.2.3 और 2.2.5 के आधार पर)
4. अभाव को प्रमाण सिद्ध करने के लिए लक्षित और अलक्षित वस्त्रों का क्या उदाहरण दिया गया है? (सूत्र 2.2.8 और 2.2.11 के आधार पर)
5. क्या अभाव केवल विद्यमान वस्तु का ही होता है? स्पष्ट करें। (सूत्र 2.2.9 और 2.2.11 के आधार पर)।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. न्याय दर्शन के अनुसार प्रमाण चार ही क्यों हैं? ऐतिह्य, अर्थापत्ति, सम्भव और अभाव का अंतर्भाव किन प्रमाणों में होता है? (सूत्र संख्या: 2.2.1 और 2.2.2 के आधार पर)
2. अर्थापत्ति की प्रामाणिकता और उसके 'अनैकांतिक' होने के आक्षेप का सविस्तार वर्णन कीजिए। (सूत्र संख्या: 2.2.3, 2.2.4 और 2.2.5 के आधार पर)
3. अभाव को प्रमाण क्यों माना गया है? 'लक्षित' और 'अलक्षित' वस्त्रों के उदाहरण से इसे स्पष्ट करें। (सूत्र संख्या: 2.2.7, 2.2.8 और 2.2.11 के आधार पर)
4. 'अभाव' की सत्ता पर उठने वाली शंकाओं और उनके समाधान पर प्रकाश डालिए। (सूत्र संख्या: 2.2.9, 2.2.10 और 2.2.11 के आधार पर)
5. ऐतिह्य, सम्भव और अर्थापत्ति के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए उनके अंतर्भाव की प्रक्रिया समझाइए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. पूर्वपक्ष (शिष्य) के अनुसार प्रमाणों की कुल संख्या कितनी होनी चाहिए?

(क) चार

(ख) छह

(ग) आठ

(घ) दस

2. 'ऐसी पुरानी कथाएँ जिनके पहले वक्ता का पता न हो'- वह कौन-सा प्रमाण कहलाता है?

(क) सम्भव

(ख) ऐतिह्य

(ग) अर्थापत्ति

(घ) अभाव

3. 'पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते' (मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता)– यह किस प्रमाण का प्रसिद्ध उदाहरण है?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) उपमान

**(ग) अर्थापत्ति**

(घ) सम्भव

4. आचार्य के अनुसार ऐतिह्य का अंतर्भाव किस प्रमाण में होता है?

(क) अनुमान

**(ख) शब्द**

(ग) प्रत्यक्ष

(घ) उपमान

5. सेर के भीतर पाव का ज्ञान होना किस प्रमाण के अंतर्गत आता है?

(क) अभाव

**(ख) सम्भव**

(ग) उपमान

(घ) ऐतिह्य

6. शंकाकार ने अर्थापत्ति को 'अनैकांतिक' (अनिश्चित) क्यों माना है?

(क) क्योंकि यह प्रत्यक्ष नहीं है

**(ख) क्योंकि बादल होने पर भी कभी-कभी वर्षा नहीं होती**

(ग) क्योंकि यह शब्द प्रमाण के विरुद्ध है

(घ) क्योंकि यह केवल कल्पना है

7. 'कार्य की उत्पत्ति न होना कारणों की न्यूनता है, न कि प्रमाण का दोष' – यह तर्क किसके समाधान में दिया गया है?

(क) अभाव

(ख) व्याप्ति

**(ग) अर्थापत्ति**

(घ) सम्भव

8. अर्थापत्ति और सम्भव को अलग प्रमाण न मानकर न्याय दर्शन ने इन्हें किसमें शामिल किया है?

(क) शब्द में

**(ख) अनुमान में**

(ग) प्रत्यक्ष में

(घ) ऐतिह्य में

9. 'बिना छींट वाले कपड़े की पहचान' किस प्रमाण के माध्यम से सिद्ध की गई है?

(क) प्रत्यक्ष

**(ख) अभाव**

(ग) उपमान

(घ) शब्द

10. अभाव प्रमाण की सिद्धि के लिए आचार्य ने किस तकनीकी शब्द का प्रयोग किया है?

**(क) अन्योन्याभाव**

(ख) प्रागभाव

(ग) अत्यन्ताभाव

(घ) सामयिक अभाव

11. 'अभाव प्रमाण नहीं है क्योंकि इसका कोई प्रमेय (विषय) नहीं है' – यह किसकी शंका है?

(क) आचार्य की

(ख) शिष्य की

(ग) आप्त पुरुष की

(घ) इनमें से कोई नहीं

12. अभाव ज्ञान का हेतु (कारण) कब बनता है?

(क) जब वस्तु नष्ट हो जाए

(ख) जब विद्यमान वस्तुओं की अपेक्षा से अलक्षित की पहचान करनी हो

(ग) जब प्रत्यक्ष प्रमाण काम न करे

(घ) जब केवल कल्पना करनी हो



## इकाई-२.३ शब्द अनित्यत्व की परीक्षा

### उद्देश्य-

- शब्द को 'अनित्य' (उत्पत्ति और विनाश वाला) तार्किक रूप से सिद्ध करना।
- शब्द की 'अभिव्यक्ति' के सिद्धांत का खंडन कर उत्पत्ति सिद्धांत स्थापित करना।
- शब्द-संतान (ध्वनि तरंगों) की वैज्ञानिक प्रक्रिया को समझाना।
- नित्यता के पक्ष में दिए गए 'अस्पर्शत्व' जैसे तर्कों का उत्तर देना।
- शब्द के विनाश के कारणों की स्पष्ट व्याख्या करना।

शब्द-प्रमाण परीक्षा-यहाँ तक प्रमाणों की संख्या के विषय में परीक्षा कर दी गई, प्रमाण चार स्वीकार किये गये। अब शब्द-प्रमाण के प्रसंग से शब्द के नित्य-अनित्य होने का विचार प्रस्तुत किया जाता है। इस शास्त्रा का सिद्धान्त है-शब्द अनित्य है। सूत्रकार ने इस मान्यता के लिए हेतु प्रस्तुत किये -

**आदिमत्वादैन्यकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च । २/२/१३**

**आदिर्योनिः कारणम् आदीयते अस्मादिति । कारणवदनित्यं दृष्टम् । संयोगविभागजश्च शब्दः कारणवत्त्वादनित्य इति ।**

शब्द अनित्य है- उत्पत्तिवाला होने से, इन्द्रियसन्निकर्षग्राह्य होने से तथा अन्य अनित्य रूपादि के समान शब्द में अनित्य व्यवहार होने से शब्द को अनित्य मानना चाहिये। शब्द के अनित्य होने में सूत्रकार ने तीन हेतु प्रस्तुत किये हैं। उनमें पहला है-

**आदिमत्त्वात्-** 'आदि' पद का अर्थ है-योनि-कारण। 'आदि' आङ्-उपसर्गपूर्वक 'दा' धातु से निष्पन्न होता है- 'आदीयते यस्मि'। दिति आदि:-जिससे कार्य का आदान किया जाय, कार्य को जिससे लिया जाय, जहाँ से कार्य उत्पन्न हो। यह कारण-उपादान अथवा समवायी के अतिरिक्त असमवायी और निमित्त कारण भी होते हैं। ये कारण किसी कार्य को उत्पन्न करते हैं तभी इन्हें 'कारण' कहा जाता है। स्पष्ट है-उत्पन्न हुआ कार्य अनित्य होगा। इसका तात्पर्य होता है-शब्द अनित्य है, उत्पत्तिवाला अर्थात् उत्पत्तिधर्मक होने से, रूप आदि गुणों के समान।

यह हेतु संदिग्धरूप से उस समय शब्द की अनित्यता को स्पष्ट कर देता है, जब यह देखा जाता है कि विभिन्न व्यक्तियों व प्राणियों द्वारा उच्चरित शब्दों का स्वरूप विभिन्न होता है। शब्द में वर्ण व आनुपूर्वी समान रहती है, पर ध्वनि में स्पष्ट भेद होता है। एक ही वर्ण व पद का विभिन्न व्यक्ति तथा शुक, सारिका, तोता, मैना आदि के द्वारा उच्चारण करने पर सुननेवाले व्यक्ति को उच्चरित ध्वनि में स्पष्ट भेद गृहीत होता है। ध्वनि-भेद के आधार पर यह तथ्यरूप में कहा जा सकता है कि यह चौत्र मैत्र आदि कौन व्यक्ति बोल रहा है। अथवा तोता या मैना आदि में से कौन बोल रहा है। यदि शब्द उत्पत्तिधर्मक न होकर नित्य होता, तो उसका यह श्रूयमाण स्वरूपभेद न रहता। इससे शब्द का अनित्य होना स्पष्ट होता है।

इसे पूर्ण सन्दिग्ध नहीं कहा जा सकता यहाँ संशय का अवकाश है। शब्द के नित्य होने पर ध्वनिभेद शब्द के विभिन्न अभिव्यक्ति कारणों के आधार पर सम्भव है। जिनको शब्द की उत्पत्ति का कारण बताया जाता है, वस्तुतः वे शब्द की अभिव्यक्ति के कारण हैं। शब्दध्वनि में स्वरूपभेद अभि व्यञ्जक की विभिन्नता से होता है। मुख तथा मुख से बाहर शब्दाभिव्यक्ति-साधनों के विभिन्न होने से शब्द तीव्र है, मन्द है, अमुक द्वारा उच्चरित है, इत्यादि रूप में ध्वनिभेद प्रतीत होता है वस्तुतः शब्द नित्य व एकरूप है। इस संशय की निवृत्ति के लिए सूत्रकार ने हेतु दिया-

**ऐन्द्रियकत्वात्-** ऐन्द्रियक होने से अर्थात् शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर, ग्रहण होने से शब्द का अनित्यत्व स्पष्ट होजाता है। इसे समझने के लिए यह विचारना अपेक्षित है कुछ दूरी पर किन्हीं निमित्तों से शब्द हो रहा है। दूर बैठा व्यक्ति उसे सुन रहा है। इस परिस्थिति पर विचारणीय है-क्या यह शब्द व्यञ्जक-निमित्त के उसी देश में होरहा है, जहाँ व्यञ्जक स्थित है ? जैसे रूपादि की प्रतीति उसी प्रदेश में होती है, जहाँ रूप का व्यञ्जक प्रकाश व घटादि द्रव्य उपस्थित रहता है? अथवा संयोग आदि से उत्पन्न शब्द, आगे शब्दसन्तति द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय के साथ सन्निकर्ष हो जाने पर गृहीत होता है ?

इनमें पहला विकल्प ठीक नहीं है, दोषपूर्ण है। पहला दोष यह है-यदि शब्द व्यञ्जक - निमित्त के प्रदेश में अभिव्यक्त होकर वहीं रह जाता है, तो दूरस्थित इन्द्रिय से उसका सन्निकर्ष सम्भव न होने के कारण शब्द का ग्रहण न हो सकेगा। रूपादि के विषय में यह आपत्ति न होगी, क्योंकि रूप का ग्रहण करने वाला चक्षु इन्द्रिय अपनी रश्मियों के द्वारा व्यञ्जक प्रदेश स्थित रूपादि से सन्निकृष्ट होकर उनके ग्रहण साधन होने में सफल रहता है। श्रोत्रेन्द्रिय में यह क्षमता न होने से व्यञ्जक प्रदेश में उसका शब्द से सन्निकर्ष होना सम्भव नहीं। तथा शब्द व्यञ्जक प्रदेश में अभिव्यक्त होकर रहजाता है ऐसी स्थिति में शब्द का ग्रहण न हो सकेगा।

दूसरा दोष इसमें यह है-व्यंग्य पदार्थ उसी समय तक अभिव्यक्त रहता है, जब तक व्यञ्जक की विद्यमानता रहे। व्यञ्जक प्रकाश



एवं घट आदि की विद्यमानता में रूप व्यंग्य का ग्रहण होता है व्यञ्जक की अनुपस्थिति में यह बात नहीं देखी जाती। थोड़ी दूर पर कोई व्यक्ति कुल्हाड़े से लकड़ी काट रहा है। अथवा धोबी, कपड़े को पटड़े पर पटक-पछाड़कर धो रहा है। जब लकड़ी पर कुल्हाड़ा जोर से चोट देता है, अथवा पटड़े पर कपड़ा पटका जाता है, उस समय उनके संयोग से शब्द अभिव्यक्त होता है। उसका अभिव्यञ्जक है-लकड़ी-कुल्हाड़ा-संयोग, अथवा पटड़ा-कपड़ा संयोग। व्यंग्य-व्यञ्जकभाव की व्यवस्था के अनुसार व्यञ्जक काल में व्यंग्य का प्रतीत होना सम्भव है, परन्तु यहाँ शब्द के व्यञ्जक -संयोग के न रहने पर भी शब्द का ग्रहण होता है। दूरस्थित व्यक्ति उस शब्द को उस समय सुन पाता है, जब कुल्हाड़ा व कपड़े को दुबारा चोट करने व पटकने के लिए उठा लिया जाता है। ऐसी स्थिति में संयोग के न रहने पर शब्द का गृहीत होना यह प्रकट करता है कि संयोग शब्द का व्यञ्जक न माना जाकर उत्पादक माना जाना चाहिये।

संयोग को शब्द का उत्पादक मानने पर संयोगजन्य शब्द से अन्य शब्द उत्पन्न होता है, उससे अन्य इस प्रकार शब्द सन्तति द्वारा उसका श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष होने पर ग्रहण होता है। फलतः संयोग को शब्द का उत्पादक मानने पर शब्द के ग्रहण में कोई बाध नहीं रहती।

शब्द को इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा गृहीत होने के कारण अनित्य बताया गया परन्तु घटत्व, द्रव्यत्व आदि जाति का ग्रहण इन्द्रियसन्निकर्ष द्वारा होता है, और जाति को नित्य माना गया है। इसलिए यह हेतु अनैकान्तिक हो जाता है। तब सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया-**कृतकवदुपचारात्कृतक-** अनित्य पदार्थ के समान शब्द में व्यवहार होने से शब्द को अनित्य माना जाता है। अनित्य सुख-दुःख आदि में तीव्र-मन्द होने का व्यवहार होता है-तीव्र सुख है, तीव्र दुःख है, मन्द सुख है, मन्द दुःख है, इत्यादि। ठीक ऐसा व्यवहार शब्द के विषय में होता है-तीव्र शब्द है, मन्द शब्द है, इत्यादि। इससे सुखादि के समान शब्द की अनित्यता स्पष्ट होती है।

शब्द को नित्य मानने वाला आशंका करता है यह तीव्रता-मन्दता शब्द का धर्म नहीं है, शब्द तो नित्य एक समान है, उसमें कभी कोई भेद नहीं होता। शब्द के अभिव्यञ्जक संयोग के तीव्र-मन्द होने से शब्द ग्रहण में यह तीव्र-मन्दता प्रतीत होती है। जैसे रूप के व्यञ्जक प्रकाश की तीव्र-मन्दता से रूप के ग्रहण में तीव्र-मन्दता रहती है। प्रकाश अच्छा है, तो रूप अच्छा दिखता है प्रकाश धीमा है तो रूप धीमा दिखाई देता है। यह अच्छा या धीमा, दिखाई देने के साथ है, रूप के साथ नहीं, रूप तो वैसा ही रहता है। ऐसे ही शब्द में भेद न होकर व्यञ्जक के अनुसार शब्द के ज्ञान में भेद रहता है।

यह आशंका अनुभव विरुद्ध होने के कारण अयुक्त है। यह अनुभव सिद्ध है, जब एक काल में तन्त्री [वीणा] और भेरी [नगाड़ा] दोनों को बजाया जाता है, तब भेरी का शब्द तन्त्री के शब्द को दबा देता है, उसको अभिभूत कर देता है। यह अभिभव एक शब्द से दूसरे शब्द का होता है। तीव्र शब्द, मन्द शब्द को दबाता है। यह व्यवहार शब्द की तीव्र-मन्दता को स्पष्ट करता है, शब्दज्ञान की नहीं। भेरी शब्द तन्त्री शब्द का अभिभावक है भेरीशब्द-ज्ञान अभिभावक नहीं है। ऐसी दशा में यदि शब्दगत भेद नहीं माना जाता, तो अभिभव अनुपपन्न होगा। तीव्र भेरी-शब्द के साथ मन्द तन्त्री शब्द भी सुनाई देना चाहिये। पर सुनाई न देने के कारण शब्द का भिन्न होना सिद्ध होता है। उस दशा में अभिभव संगत हो जाता है। शब्द भेद तभी सिद्ध हो सकता है, जब शब्द को अनित्य-उत्पत्तिवाला माना जाता है।

यदि फिर भी शब्द को नित्य मानकर संयोग आदि निमित्तों से उसे अभिव्यक्त हुआ माना जाता है, तो भी अभिभव अनुपपन्न होगा। क्योंकि व्यंग्य पदार्थ व्यञ्जक के प्रदेश को छोड़कर नहीं रह सकता। इसलिए व्यंग्य शब्द, व्यञ्जक-संयोग के समानदेश में अभिव्यक्त होगा। इस दशा में तन्त्री शब्द भेरी शब्द देश में तथा भेरी शब्द तन्त्री शब्द देश में पहुँचना असम्भव है। यह स्थिति भेरीशब्द से तन्त्रीशब्द के अभिभव को अनुपपन्न बना देती है। उन शब्दों के परस्पर-प्राप्ति के बिना अभिभव हो नहीं सकता। शब्द को अभिव्यक्त हुआ मानकर प्राप्ति का होना सम्भव नहीं क्योंकि उस दशा में शब्द अपने व्यञ्जक के देश को छोड़ नहीं सकता। अतः शब्द को उत्पन्न होने वाला अनित्य मानना युक्तियुक्त एवं प्रामाणिक है।

यदि तन्त्रीशब्द को प्राप्त हुए बिना भेरीशब्द के द्वारा उसका अभिभव माना जाता है, तो एक जगह भेरी बजने पर संसार में सर्वत्रा तन्त्रीशब्द का अथवा उन सभी शब्दों का अभिभव हो जाना चाहिये, जो भेरी शब्द की अपेक्षा मन्द हैं, क्योंकि अप्राप्ति सर्वत्रा समान है। पर ऐसा होना कभी सम्भव नहीं। फलतः यह मानना सर्वथा निर्दोष है कि शब्द अपने निमित्त संयोग आदि से उत्पन्न होकर शब्दसन्तति द्वारा श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकृष्ट होने पर तीव्र शब्द मन्द-शब्द का अभिभव कर देता है।

समझना चाहिये, अभिभव का तात्पर्य क्या है? क्योंकि यदि भेरीशब्द का श्रोत्रेन्द्रिय से सन्निकर्ष हुआ है, तो उस समय भेरीशब्द सुनाई देगा। कोई इन्द्रिय एक काल में एक विषय का ग्रहण कर सकता है। भेरीशब्द श्रवणकाल में स्वभावतः अन्य किसी शब्द के सुने जाने का प्रश्न नहीं उठता। फिर यह अभिभव का हल्ला क्या है ? समझिये, भेरीशब्द और तन्त्रीशब्द दोनों समानरूप में श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होते हैं, अर्थात् श्रोत्रेन्द्रियग्राह्य होने से दोनों ग्राह्य समान जातीय हैं। जब एक काल में दोनों शब्द हो रहे हैं, तब श्रोत्रा

तक केवल भेरीशब्द पहुँच पाता है क्योंकि वह तीव्र होने से मन्द तन्त्रीशब्द को श्रोता तक नहीं पहुँचने देता। यही भेरीशब्द के द्वारा तन्त्रीशब्द का अभिभव है। जैसे-सूर्य का प्रकाश और उल्का रात्रि में कदाचित् तीव्र चमकती प्रकाश-रेखा तथा तारा-गण आदि का प्रकाश, दोनों चक्षु इन्द्रिय से ग्राह्य होते हैं। परन्तु अतितीव्र सूर्यप्रकाश के काल में उल्का व तारागण के प्रकाश का अभिभव होजाता है। सूर्यप्रकाशकाल में उल्का आदि का प्रकाश कभी दिखाई नहीं देता। यही सूर्य-प्रकाश से उनका अभिभव हो जाना है। इस प्रकार 'आदिमत्वात्' आदि हेतुओं से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

शब्दानित्यत्वहेतु अनैकान्तिक-स्थूणानिखनन-न्यायानुसार अर्थ को गम्भीरता के साथ समझने व पूर्ण पुष्टि की भावना से शिष्य ने उद्दंकेना की शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत 'आदिमत्वात् प्रभृति हेतु अनैकान्तिक हैं। सूत्रकार ने उसी भावना को समझकर सूत्रित किया-

**न घटाभावसामान्यनित्यत्वात् नित्येष्वप्यनित्यवदुपचाराच्च । २/२/१४**

**न खलु आदिमत्त्वादनित्यः शब्दः । कस्माद् ? व्यभिचारात्।**

शब्द के अनित्यत्व की सिद्धि के लिये अभी जो हेतु बताये गये हैं, वे सब अनैकान्तिक हैं, व्यभिचारी हेतु हैं, अतः वे साध्य को सिद्ध करने में समर्थ नहीं। पहला हेतु आदिमत्वात् है। कहागया-उत्पत्तिवाला होने से शब्द अनित्य है। परन्तु घटादि पदार्थों का प्रध्वंसाभाव उत्पत्तिवाला होने पर भी नित्य होता है। घटावयवों के छिन्न-भिन्न हो जाने पर अर्थात् किसी कारण से घट के टूट-फूट जाने पर उसका ध्वंसरूप-अभाव आदिवाला है, उत्पन्न तो होता है पर फिर वह घट-व्यक्ति कभी अपने भावरूप में नहीं आता, इसलिये वह ध्वंसाभाव नित्य है उस ध्वंसाभाव का अभाव फिर कभी न होने से वह नित्य रहता है। साध्याभाव के अधिकरण में रहने वाला हेतु अनैकान्तिक होता है। साध्य-अनित्यत्व के अभाव नित्यत्व के अधिकरण घटध्वंसाभाव में आदिमत्वात् हेतु विद्यमान है अतः यह अनैकान्तिक हेत्वाभास होने से प्रस्तुत साध्य की सिद्धि में समर्थ नहीं माना जा सकता।

दूसरा हेतु 'ऐन्द्रियकत्वात्' है। यह एक व्यवस्था है जो पदार्थ जिस इन्द्रिय से गृहीत होता है, उसमें रहनेवाली जाति ; सामान्यधर्म, जैसे द्रव्य में द्रव्यत्व घट में घटत्व आदि का ग्रहण भी उसी इन्द्रिय से होता है। जाति को नित्य माना जाता है। इस प्रकार यह ऐन्द्रियक हेतु भी अपने साध्याभाव-नित्यत्व के अधिकरण घटत्व आदि सामान्य में विद्यमान होने से अनैकान्तिक है।

तीसरा हेतु 'कृतकवदुपचारात्' प्रस्तुत किया गया। बताया गया-शब्द में अनित्य पदार्थों के समान व्यवहार होने से उसे अनित्य मानना चाहिये। परन्तु नित्य पदार्थों में भी अनित्य के समान व्यवहार देखा जाता है। आकाश, आत्मा आदि नित्य पदार्थ हैं। वृक्ष, कम्बल आदि अनित्य हैं। अनित्य पदार्थों में-'वृक्षस्य प्रदेशः, कम्बलस्य प्रदेशः' यह वृक्ष का एक भाग है यह कम्बल का एक भाग है-ऐसा व्यवहार यथार्थरूप में होता है। ठीक ऐसा व्यवहार नित्य पदार्थों में होता है-यह आकाश का प्रदेश है, आकाश के एक प्रदेश में पृथिवी अवस्थित है, अन्य प्रदेश में सूर्य है, इत्यादि। ऐसे ही हाथ, पैर, सिर आदि को लक्ष्य कर आत्मा के प्रदेश का निर्देश किया जाता है। इस प्रकार नित्य पदार्थों में अनित्य के समान व्यवहार होने से तीसरा हेतु भी अनैकान्तिक है। फलतः शब्द का अनित्यत्व असिद्ध रह जाता है।

अनैकान्तिक नहीं 'आदिमत्व' हेतु आचार्य सूत्रकार पूर्व-प्रदर्शित आशंका का समाधन हेतुक्रम निर्देश के अनुसार प्रस्तुत करता है-

**तत्त्वभाक्तयोर्नानात्वविभागादव्यभिचारः। २/२/१५**

**नित्यमित्यत्र किं तावत्तत्त्वम् ? अर्थान्तरस्यानुत्पत्तिधर्मकस्याऽऽत्महानानुपपत्तिर्नित्यत्वं, तज्चाभावे नोपपद्यते।**

उत्पन्न होनेवाले प्रध्वंसाभाव को नित्य बताकर शब्द की अनित्यता को सिद्ध करने के लिये प्रस्तुत प्रथम हेतु को अनैकान्तिक कहा गया। इस विषय में यह समझना चाहिये नित्य का तात्त्विक स्वरूप क्या है? और वह प्रध्वंसाभाव में उपयुक्त है, या नहीं? वास्तविकरूप से नित्य पदार्थ वह है, जो न कभी उत्पन्न होता और न उसके स्वरूप का कभी नाश होता। यह बात ध्वंसाभाव में पूर्णरूप से नहीं घटती। ध्वंसाभाव का नाश तो फिर कभी नहीं होता, पर वह उत्पन्न अवश्य होता है इसलिये उसे वास्तविक नित्य नहीं माना जा सकता। वह एक अंश में नित्य के समान है, अतः वहाँ भाक्त नित्यत्व है। जो उत्पन्न हुआ पदार्थ अपने स्वरूप को छोड़ देता है, उत्पन्न होकर फिर नहीं रहता, नष्ट होजाता है यह वस्तु का नाश होना अभाव की उत्पत्ति है। क्योंकि वह वस्तु फिर अपने अस्तित्व में कभी नहीं आती, इसलिये अभाव आगे सदा बना रहता है। इसे नित्य के समान कह सकते हैं, वास्तविक नित्य नहीं क्योंकि इसमें वास्तविक नित्य होने की एक शर्त उत्पन्न न होना, नहीं घटती। शब्द की जो स्थिति है, वैसा कोई कार्य नित्य नहीं देखा जाता। अनैकान्तिक-दोष हेतु में तभी संभव था, जब ठीक शब्द के समान किसी कार्य में हेतु को दिखाकर उसे नित्य माना जाता। ऐसा कहीं संभव न होने से उक्त हेतु में व्यभिचार-दोष नहीं है ।

'ऐन्द्रियकत्व' हेतु अनैकान्तिक नहीं- नित्य सामान्य; जाति-घटत्व आदि, के इन्द्रियग्राह्य होने से 'ऐन्द्रियक' हेतु को जो अनैकान्तिक कहा गया, सूत्रकार उसका समाधान करता है-

सन्तानानुमानविशेषणात् । २/२/१६

नित्येष्वव्यभिचार इति प्रकृतम्। नेन्द्रियग्रहणसामर्थ्याच्छब्दस्यानित्यत्वम्। किं तर्हि? इन्द्रियप्रत्यासत्तिग्राह्यत्वात् सन्तानानुमानं तेनानित्यत्वमिति। गत सूत्रों से 'नित्येषु' और 'अव्यभिचारः' इन दो पदों की अनुवृत्ति समझनी चाहिये। 'ऐन्द्रियक' पद का अर्थ केवल इन्द्रिय से ग्राह्य होना नहीं प्रत्युत 'इन्द्रिय से सन्निकृष्ट होकर गृहीत होना' है। निमित्त-संयोग के प्रदेश में शब्द होता है पर वह श्रोत्रेन्द्रियप्रदेश में गृहीत होता है। श्रोत्रेन्द्रिय के साथ-दूर देश में उत्पन्न हुए शब्द का सन्निकर्ष होना इस बात का अनुमान कराता है कि शब्द सन्तानोत्पत्तिक्रम से श्रोत्र तक पहुँचा है। शब्द का निमित्त संयोग जहाँ होता है, शब्द वहाँ हुआ उस शब्द से सब ओर सजातीय शब्द उत्पन्न हुआ, उससे फिर अन्य सजातीय शब्द हुआ। इसप्रकार शब्दसन्तानक्रम से शब्द श्रोत्र से सन्निकृष्ट होने पर सुना जाता है। यह श्रोत्रप्रत्यासत्ति से ग्राह्य होना शब्द के सन्ततिक्रम का अनुमान करा देता है। यह सन्ततिक्रम शब्द के अनित्य माने जाने पर संभव है। इसलिये सामान्य नित्य में ऐन्द्रियक हेतु अनैकान्तिक नहीं है। अनैकान्तिक तब होता, जब इन्द्रियग्राह्य होने से शब्द को अनित्य कहा जाता। यहाँ तो इन्द्रियग्राह्यता शब्दसन्तति का अनुमान कराती है। उससे शब्द का अनित्यत्व सिद्ध होता है।

अनैकान्तिक नहीं 'कृतकवदुपचार' हेतु - अन्तिम हेतु में दिये गये अनैकान्तिक दोष का सूत्रकार परिहार करता है-

कारणद्रव्यस्य प्रदेशशब्देनाभिधानान्नित्येष्वव्यभिचार इति । २/२/१७

एवमाकाशप्रदेश आत्मप्रदेश इति नात्राकाशात्मनोः कारणद्रव्यमभिधीयते यथा कृतकस्य । कथं ह्यविद्यमानमभिधीयते ।

अविद्यमानता च प्रमाणतोऽनुपलब्धेः । किं तर्हि तत्राभिधीयते ?

'कम्बल का प्रदेश, वृक्ष का प्रदेश इस लोकव्यवहार में 'प्रदेश' पद उस पदार्थ के कारण द्रव्य का कथन करता है। किसी कार्य द्रव्य के अवयव उसके कारण होते हैं, यह पद उस कार्यद्रव्य के किसी या किन्हीं अवयव-भाग-अंश का निर्देश करता है। परन्तु आकाश आदि द्रव्य कार्यद्रव्य नहीं हैं। उनके किसी कारण द्रव्य का होना संभव नहीं। आकाश के साथ प्रदेश पद का प्रयोग उस दशा में होता है, जब किसी परिच्छिन्न द्रव्य के साथ आकाश के संयोग का कथन किया जाय। किन्हीं दो द्रव्यों का संयोग सदा अव्याप्यवृत्ति होता है। जो दो द्रव्य परस्पर संयुक्त होते हैं, वे एक-दूसरे के साथ सर्वांश में संयुक्त नहीं हो पाते। उनका कुछ भाग परस्पर संयुक्त होता है। किसी एकदेशी द्रव्य के साथ आकाश का संयोग होने पर, जैसे अन्यत्र संयोग एकदेशी द्रव्य को व्याप्त नहीं करता, ऐसे ही यह आकाश का संयोग समस्त आकाश में व्याप्त नहीं रहता इसी भावना से आकाश के साथ प्रदेश पद का प्रयोग कर दिया जाता है। यह पद का मुख्य प्रयोग न होकर गौण प्रयोग है। कार्यद्रव्यों में प्रदेश पद का मुख्य अथवा प्रधान प्रयोग है। क्योंकि वहाँ वास्तविक रूप से कार्यद्रव्य के प्रदेश अर्थात् उसके कारणद्रव्य अवयव विद्यमान रहते हैं।

'शब्द'- आकाशगुण अव्याप्यवृत्ति- संयोग के समान आकाश का शब्दगुण भी अव्याप्यवृत्ति होता है। आकाश में एक जगह जो शब्द किन्हीं निमित्तों से उत्पन्न होता है, वह समस्त आकाश में व्याप्त नहीं रहता। जहाँ उत्पन्न होता है, वहाँ अपने निमित्तों की क्षमता के अनुसार जहाँ तक संभव होता है, सजातीय शब्दों की उत्पत्ति परम्परा चलती है, वहाँ तक वह शब्द सुनाई देता है। इससे स्पष्ट हो जाता है तीव्रता व मन्दता शब्द के धर्म हैं, जो शब्द की वैसी उत्पत्ति को प्रकट कर उसकी अनित्यता को सिद्ध करते हैं।

यद्यपि सूत्रकार ने ऐसा पूर्वपक्ष स्वयं स्थापित नहीं किया कि शब्द में तीव्रता-मन्दता औपचारिक धर्म हैं और न उसके परिहार के लिये स्वयं उत्तरपक्ष की व्यवस्था की है कि इन कारणों से तीव्रता मन्दता शब्द के अपने धर्म हैं। तथापि सूत्रकार द्वारा अकथित वास्तविक तथ्य का शास्त्रीय सिद्धान्त के अनुसार निश्चय कर लिया जाता है। ऐसा निश्चय करने के साधन प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण हैं। दूर स्थित निमित्त से उत्पन्न शब्द का श्रोत्र से गृहीत होना, शब्द-सन्तान का अनुमान कराता है, यह बात गत पंक्तियों में कही जा चुकी है। दूर रहने पर शब्द का सुना जाना, और न सुना जाना शब्द के तीव्र-मन्द होने को प्रमाणित करता है। सूत्र में 'इति' पद इस प्रसंग की समाप्ति का द्योतक है ।

शब्द के अनित्यत्व में अन्य हेतु- सूत्रकार अन्य प्रकार से शब्द का अनित्यत्व सिद्ध करता है। प्रश्न है-कोई वस्तु है, या नहीं है, इसको कैसे जानना चाहिये? उत्तर होगा-प्रमाण से जानना चाहिये । यदि ऐसा है, तो उच्चारण से पहले शब्द अविद्यमान रहता है यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है। इसी वास्तविकता को सूत्रकार ने बताया-

शब्दनित्यत्व में हेतु- जो वादी शब्द को नित्य मानता है, पूछना चाहिये, वह किस हेतु से ऐसा स्वीकार करता है? वादी के द्वारा प्रस्तुत हेतु को सूत्रकार ने सूत्रित किया-

अस्पर्शत्वात् । २/२/२२

अस्पर्शमाकाशं नित्यं दृष्टमिति, तथा च शब्द इति ।

शब्द नित्य है यहाँ शब्द पक्ष में नित्यत्व साध्य है। इसकी सिद्धि के लिए हेतु दिया-'अस्पर्शत्वात्'-स्पर्शरहित होने से। जो स्पर्शरहित होता है, वह नित्य होता है। इसमें दृष्टान्त आकाश है। आकाश स्पर्शरहित है, और नित्य है। इसीप्रकार शब्द स्पर्शरहित है। शब्द गुण है, स्पर्श भी गुण है गुण में गुण समवेत नहीं रहता, यह नियम है। इसलिए स्पर्शरहित होने से आकाश के समान शब्द नित्य है।

शब्दनित्यत्व हेतु का प्रत्याख्यान- सूत्रकार अन्वय और व्यतिरेक दोनों प्रकार से उक्त हेतु में व्यभिचार-दोष प्रस्तुत करता है। पहले साध्यसाधर्म्य अर्थात् अन्वय के अनुसार हेतु को अनैकान्तिक बताया-

### न कर्मानित्यत्वात् । २/२/२३

हेतु का साध्य के साथ साधर्म्य के अनुसार उदाहरण है-कर्म। जैसे गुण में गुण समवेत नहीं रहता, वैसे कर्म में गुण समवेत नहीं रहता। फलतः उत्प्रेक्षण आदि प्रत्येक क्रिया ;कर्म का गुण रहित होना निश्चित है। स्पर्श गुण है, वह कर्म में न रहने से कर्म अस्पर्श स्पर्श रहित है। यह अस्पर्शत्व हेतु साध्याधिकरण के अतिरिक्त साध्याभाव; अनित्यत्व के अधिकरण कर्म में विद्यमान रहने से अनैकान्तिक है। अतः साध्य; शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने में असमर्थ है।

साध्यवैधर्म्य ; व्यतिरेक से सूत्रकार हेतु की अनैकान्तिकता बताता है-

### नाणुनित्यत्वात् । २/२/२४

उभयस्मिन्नुदाहरणे

व्यभिचारान्न

हेतुः

।

क्योंकि अस्पर्शत्वरहित ; स्पर्शसमवेत भी परमाणु नित्य होता है। जो नित्य है वह अस्पर्श है, इस अन्वयव्याप्ति की व्यतिरेकव्याप्ति इस प्रकार होगी जो अस्पर्श नहीं है, वह नित्य नहीं है इस व्याप्ति का परमाणु में व्यभिचार है। परमाणु अस्पर्श नहीं है, पर नित्य है। फलतः शब्द में नित्यत्व सिद्ध करने के लिए अन्वय-व्यतिरेक उभयव्याप्ति के अनुसार अनैकान्तिक होने से अस्पर्शत्व हेतु साध्य को सिद्ध करने में सर्वथा असमर्थ है।

शब्दनित्यत्व में अन्य हेतु- वादी के द्वारा प्रस्तुत इस विषय के अन्य एक हेतु को सूत्रकार ने सूत्रित किया-

### सम्प्रदानात् । २/२/२५

सम्प्रदीयमानमवस्थितं दृष्टं, सम्प्रदीयते च शब्द आचार्येणान्तेवासिने, तस्मादवस्थित इति । वादी कहता है, यदि शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए अस्पर्शत्व हेतु अनैकान्तिक है, तो यह अन्य हेतु है- सम्प्रदानात् । जो पदार्थ एक व्यक्ति के द्वारा दूसरे को दिया जाता है, वह स्थिर होता है कतिपय क्षणों में उसका नाश नहीं होता। शब्द आचार्य के द्वारा छात्र को दिया जाता है। आचार्य शब्दों का उच्चारण करता है, छात्र उसको ग्रहण करता है। अतः शब्द को स्थिर मानना चाहिये शब्दः नित्यः, सम्प्रदानात्, गवादिवत् जैसे गौ, घट, वस्त्र आदि पदार्थ सम्प्रदान का कर्म-विषय हैं, और स्थिर रहते हैं दो या तीन, क्षण में नष्ट नहीं हो जाते इसी प्रकार शब्द सम्प्रदान का कर्म होने से स्थिर-नित्य मानना चाहिये।

शब्दनित्यत्व में सम्प्रदान हेतु दूषित - आचार्य सूत्रकार ने शब्द के नित्यत्व में उक्त हेतु का प्रतिषेध किया-

### तदन्तरालानुपलब्धेरहेतुः । २/२/२६

येन सम्प्रदीयते यस्मै च, तयोरन्तरालेऽवस्थानमस्य केन लिङ्गेनोपलभ्यते । सम्प्रदीयमानो ह्यवस्थितः सम्प्रदातुरपैति सम्प्रदानं च प्राप्नोति इत्यव जनीयमेतत् ।

जो पदार्थ किसी व्यक्ति के द्वारा दूसरे को सम्प्रदान किया जाता है, वह देने वाले और लेने वाले दोनों के बीच बराबर देखा जाता है, प्रत्येक आँखवाला वहाँ उपस्थित व्यक्ति उसे उपलब्ध करता है। परन्तु आचार्य और छात्र के अन्तराल में शब्द विद्यमान रहता है, इसमें क्या प्रमाण है ? वह कौन-सा हेतु है, जिसमें आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द का आचार्य और छात्र के अन्तराल में-स्थिर होना स्वीकार किया जाय ? स्थिर वस्तु के विषय में यह निश्चित बात है कि प्रदाता के द्वारा जो वस्तु दी जाती है, आदाता उसी वस्तु को ग्रहण करता है। यह स्थिति शब्द के विषय में मानने के लिए कोई हेतु नहीं है।

‘सम्प्रदान’ का पोषक अध्यापन- वादी के द्वारा इस विषय में प्रस्तुत हेतु को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया-

### अध्यापनादप्रतिषेधः । २/२/२७

अध्यापनं लिङ्गमसति सम्प्रदानेऽध्यापनं न स्यादिति ।

आचार्य द्वारा उच्चरित शब्दों को कुछ दूर बैठा छात्र सुनता है, और उससे अभिमत अर्थ का ग्रहण करता है। यही अध्यापन का स्वरूप है। यदि दोनों के अन्तराल में शब्द को विद्यमान न माना जाय, तो अध्यापन असम्भव होगा। इसको झुठलाया नहीं जा सकता। आचार्य के सन्मुख छात्रों की बड़ी संख्या आगे-पीछे दूर तक बैठी रहती है। आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द सबसे अन्तिम छात्र तक यथावत् सुनाई देता है। इससे आचार्य और छात्रों के मध्यगत अवकाश में शब्द की स्थिति निश्चित होती है। फलतः ‘अध्यापन’ हेतु शब्द की स्थिरता को स्पष्ट करता हुआ शब्द की नित्यता को सिद्ध करता है। आचार्य और



छात्र के अन्तराल में शब्द की अनुपलब्धि तो वहाँ कण्ठ-तालु आदि के साथ वायु के अभिघातरूप व्यञ्जक के न होने से है। यदि वहाँ शब्द का अभिव्यञ्जक रहेगा, तो शब्द अवश्य उपलब्ध होगा।

‘अध्यापन’ शब्द सम्प्रदान का साधन नहीं- आचार्य सूत्रकार ने कहा-

शब्द को नित्य अथवा अनित्य कैसा भी मानकर अध्यापन दोनों अवस्थाओं में समानरूप से हो सकता है। इसी भाव को सूत्रित किया-  
**उभयोःपक्षयोरन्यतरस्याध्यापनादप्रतिषेधः । २/२/२८**

**समानमध्यापनमुभयोः पक्षयोः, संशयानिवृत्तेः, किमाचार्यस्थः शब्दोऽन्तेवासिनमापद्यते तदध्यापनम्? आहोस्विनृत्योपदेशवद् गृहीतस्यानुकरणमध्यापनमिति । एवमध्यापनमलिङ्ग सम्प्रदानस्येति** शब्द को चाहे नित्य मानाजाय अथवा अनित्य, दोनों पक्षों में अध्यापन-कार्य सम्भव है। अनित्य पक्ष में आचार्य के मुख से उच्चरित शब्द सन्ततिक्रम द्वारा छात्र के श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है। आचार्य छात्रों के अन्तराल में आचार्य द्वारा उच्चरित शब्द स्थिर रहता हुआ, अर्थात् वही शब्द श्रोत्रेन्द्रिय तक पहुँचता है, ऐसी बात नहीं है, प्रत्युत उच्चरित शब्द का सन्ततिक्रम से उत्पन्न होता हुआ सजातीय शब्द श्रोत्र तक पहुँचता है। इससे अर्थग्रहण में कोई बाधा नहीं आती अध्यापन सम्पन्न हो जाता है। अतः अध्यापन इन दोनों शब्द का नित्यत्व-अनित्यत्व पक्षों में से किसी एक का निश्चयक न होने के कारण संशय नित्यानित्यविषयक को निवृत्त नहीं कर पाता।

‘अध्यापन’ का स्वरूप- इसके अतिरिक्त यह विचारणीय है कि वस्तुतः अध्यापन का स्वरूप क्या है ? क्या आचार्य के मुख से उच्चरित शब्द छात्र को साक्षात् प्राप्त होजाता है, यह अध्यापन है ? अथवा जैसे गुरु नृत्य का उपदेश करता है-विशिष्टाङ्ग संच. लन क्रिया का अभिनय करता है, और छात्र उसको समझकर उस क्रिया का अनुकरण करता है, यह अध्यापन है ? पहले पक्ष में आचार्यस्थित शब्द छात्र को प्राप्त होता है। दूसरे विकल्प में क्रिया के समान आचार्य उच्चरित शब्द का छात्र केवल-अनुकरण करता है। जैसे दोनों की नृत्यक्रिया भिन्न हैं, पर समानजातीय हैं। ऐसे गुरु से उच्चरित शब्दों का शिष्य द्वारा उच्चारण कियेजाने में साजात्य होने पर भी दोनों के शब्द भिन्न हैं। अङ्ग चालन क्रिया जैसे अनित्य है चालन के अनन्तर नष्ट होजाती है ऐसे उच्चारण के अनन्तर शब्द नष्ट होजाता है। शब्द का उच्चारण शब्द का उत्पन्न होना है। उत्पत्ति और विनाश होने से शब्द अनित्य है। फलतः अध्यापन नित्य और अनित्य दोनों पक्षों में समान होने से सम्प्रदान का साधक नहीं हो सकता। अतः सम्प्रदान हेतु शब्द की नित्यता को सिद्ध करने में असमर्थ है

‘अभ्यास’- हेतु शब्दनित्यत्व में शब्दनित्यत्ववादी ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया, सूत्रकार उसे सूत्रित करता है-

**अभ्यासात् २/२/२९**

**अभ्यस्यमानमवस्थितं दृष्टम् । पश्यचकृत्वः पश्यतीति रूपमवस्थितं पुनः पुन-दृश्यते ।**

किसी कार्य को दुहराया-तिहराया जाना, बार-बार करना ‘अभ्यास’ कहा जाता है। ऐसे अभ्यास का विषय स्थिर देखा गया है। यदि वह स्थिर न हो, तो बार-बार होने वाली क्रिया का वह विषय नहीं हो सकता। जैसे कोई कहता है-मैंने इस रूप अथवा घटादि पदार्थ को पाँच बार देखा है उसने दस बार देखा था। इस दर्शन क्रिया का विषय यदि स्थिर न हो, तो उसका अनेक बार देखा जाना सम्भव नहीं। यह देखने का अभ्यास दर्शन-विषय को स्थिर सिद्ध करता है। ऐसा अभ्यास शब्द के विषय में सर्वविदित है। छात्र आचार्य से कहता है-मैंने इस अनुवाक का दस बार अध्ययन या पाठ किया है और मेरे उस साथी ने बीस बार। आये दिन शिक्षा केन्द्रों में अध्यापक छात्रों से उन्हीं पाठों की अनेक बार आवृत्ति करवाते रहते हैं। ये अनुवाक और पाठ सब शब्दरूप हैं इनका अभ्यास बराबर किया जाता है। फलतः अभ्यास का विषय वही सम्भव है, जो स्थिर हो। शब्द अभ्यास का विषय होने से स्थिर क्षणिक-नित्य है माना जाना चाहिये।

‘अभ्यास’ शब्दनित्यत्व का साधक नहीं - गत हेतु के उत्तर के समान आचार्य सूत्रकार ने प्रस्तुत हेतु के विषय में बताया-

**नान्यत्वेऽप्यभ्यासस्योपचारात् २/२/३०**

**अनवस्थानेऽप्यभ्यासस्याभिधानं भवति द्विनृत्यतु भवान् त्रिनृत्यतु भवानिति, द्विनृत्यत् त्रिनृत्यद् द्विरनिहोत्रं जुहोति द्विभुङ्क्ते। एवं व्यभिचारात् ।**

वादी ने कहा-अभ्यास स्थिर में देखा जाता है। आचार्य सूत्रकार ने बताया-स्थिर से अन्य-अस्थिर में भी अभ्यास का व्यवहार देखा जाता है। तात्पर्य है, अभ्यास स्थिर में ही होता हो, ऐसा नहीं है वह अस्थिर में भी सम्भव है। जैसे किसी क्रिया के स्थिर विषय के लिए अभ्यास का प्रयोग होता है, वैसे साक्षात् क्रिया के लिए अभ्यास का प्रयोग होता है, क्रिया के अनित्य व अस्थिर होने के विषय में किसी का विरोध नहीं है। क्रिया सर्वसम्पत्ति से अस्थिर है पर उसके लिए अभ्यास का प्रयोग होता है। दो बार नाचता है, तीन बार नाचता है दो बार हवन करता है अथवा दो बार खाता है इन व्यवहारों में नाचना-हवन करना-खाना आदि सब क्रिया हैं इनके लिए दो बार, चार बार, दस बार, आदि अभ्यास का प्रयोग लोकसिद्ध तथ्य है। फलतः स्थिर और अस्थिर दोनों में अभ्यास-व्यवहार समान है। दोनों में से किसी एक का निश्चयक न होने से यह अभ्यास हेतु संशय को निवृत्त नहीं करता कि अभ्यास स्थिर में होता

है या अस्थिर में ? अतः यह शब्द के नित्यत्व को सिद्ध करने में असमर्थ है।

अनैकान्तिक दोष से उक्त हेतु के प्रतिषिद्ध हो जाने पर शब्दनित्यत्ववादी झल्लाकर अन्य शब्द पर टूट पड़ता है, और उसी का प्रतिषेध करने लगता है। सूत्रकार ने उसके भाव को सूत्रित किया -

**विनाशकारणानुपलब्धेः । २/२/३३**

यदनित्यं तस्य विनाशः कारणाद्भवति यथा लोष्टस्य कारणद्रव्यविभागात्, शब्दश्चेन्नित्यस्तस्य विनाशो यस्मात्कारणानुपलब्धवति तदुपलभ्येत, न चोपलभ्यते तस्मान्नित्य इति ।

किसी अनित्य पदार्थ का विनाश उसके कारणों से होता है। घट-पट आदि अनित्य द्रव्यों का विनाश उनके कारण द्रव्यों का विभाग हो जाने पर-होजाता है। यदि शब्द अनित्य है, तो उसका विनाश जिन कारणों से होता है, वे कारण उपलब्ध होने चाहिये परन्तु ऐसा कोई कारण उपलब्ध नहीं होता, अतः शब्द को नित्य मानना उपयुक्त है।

आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का उसी रीति पर उत्तर दिया-

**अश्रवणकारणानुपलब्धेः सततश्रवणप्रसङ्गः । २/२/३४**

य विनाशकारणानुपलब्धेरविनाशप्रसङ्ग एवमश्रवणकारणानुपलब्धेः सततं श्रवणप्रसङ्गः । व्यञ्जकाभावादश्रवणमिति चेत् ? प्रतिषिद्धं व्यञ्जकम् ।

यदि कहा जाता है-शब्द के विनाश-कारणों की उपलब्धि न होने से शब्द अविनाशी-नित्य है, तो शब्द के न सुने जाने के कारणों की उपलब्धि न होने से शब्द निरन्तर सुना जाना चाहिये।

यदि कहा जाय व्यञ्जक के न होने से शब्द सुनाई नहीं दे रहा। जैसे ही व्यञ्जक उपस्थित होता है, शब्द सुनाई देने लगता है। यह कहना ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम इस बात का सप्रमाण प्रतिषेध किया जा चुका है कि अभिघात आदि संयोग शब्द के अभिव्यञ्जक नहीं हैं। यदि विद्यमान शब्द का अश्रवण बिना निमित्त के माना जाता है, तो विद्यमान शब्द का विनाश भी बिना निमित्त क्यों न माना जाय ? बिना निमित्त के कोई कार्य होता हुआ देखा नहीं जाता।

यह कथन शब्द के विनाश और अश्रवण दोनों में समान है। इस निराधर कथन के लिए कोई एक पक्ष दूसरे पर आपत्ति नहीं कर सकता।

‘विनाशकारणानुपलब्धि’ हेतु शब्दनित्यत्व का असाधक- अपने प्रतिबन्दी उत्तर से असन्तुष्ट सूत्रकार विनाशकारणानुपलब्धेः हेतु का यथार्थ समाधान प्रस्तुत करता है-

**उपलभ्यमाने चानुपलब्धेरसत्त्वादनपदेशः। २/२/३५**

अनुमानाच्चोपलभ्यमाने शब्दस्य विनाशकारणे विनाशकारणानुपलब्धे रसत्त्वादित्यनपदेशः, यस्माद्विपाणी तस्मादश्च इति । किमनुमानमिति चेत् ?

शब्द की उत्पत्ति का कारण अभिघात आदि संयोग है। उत्पत्तिकारण संयोग का नाश हो जाना शब्द के विनाश का कारण है। यह प्रतिपादित किया जा चुका है कि संयोग शब्द का अभिव्यञ्जक नहीं है, प्रत्युत उत्पादक है। क्योंकि व्यञ्जक की अनुपस्थिति में व्यंग्य का ग्रहण नहीं होता परन्तु शब्द के उत्पादक संयोग के न रहने पर भी शब्द का ग्रहण हो जाता है। यह स्थिति इस तथ्य का अनुमान कराती है कि शब्द के कारण संयोग के न रहने पर शब्द के ग्रहण होने या सुने जाने का आधार शब्दसन्तान है। संयोग या विभाग किसी भी निमित्त से उत्पन्न होकर शब्द आगे अपने सजातीय अन्य शब्द को उत्पन्न करता है, वह आगे अन्य शब्द को। इसी प्रकार पहले शब्द से अगला सजातीय शब्द उत्पन्न होता चला जाता है।

यह शब्दसन्तान तब तक चालू रहता है, जब तक शब्दसन्तान का निरोध करने वाली कोई बाधा सामने न आ जाय। बाधा न आने पर भी शब्दोत्पत्ति के इस क्रम का अन्त, आद्य शब्द के उत्पादक संयोग आदि की क्षमता पर निर्भर रहता है। जितनी अधिक तीव्रता से अभिघातरूप संयोग होकर शब्द की उत्पत्ति होगी, उसके अनुसार शब्दसन्तति का क्रम समीप या दूर तक चलता जायेगा। क्षमता समाप्त होने पर अन्तिम शब्द आपस में टकराकर नष्ट हो जायेंगे।

**स्मरणीय बिंदु-**

- शब्द आदिमान (कारण से उत्पन्न) और ऐन्द्रियक (इंद्रिय ग्राह्य) होने से अनित्य है।
- संयोग (टक्कर) शब्द को प्रकट नहीं करता, बल्कि उसे पैदा करता है।
- शब्द शून्य (स्पर्शहीन) होने पर भी ‘कर्म’ की तरह अनित्य हो सकता है।
- शब्द-संतान के माध्यम से ध्वनि कान के परदे (श्रोत्र) तक पहुँचती है।
- मन्द और तीव्र शब्द का भेद ‘अभिभव’ (दब जाना) की प्रक्रिया से स्पष्ट होता है।

## शब्दावली-

- आदिमत्वात्: कारण या निमित्त से उत्पन्न होने वाला स्वभाव।
- अस्पर्शत्व: भौतिक स्पर्श का अभाव (अमूर्तता)।
- अभिभव: प्रबल ध्वनि द्वारा दुर्बल ध्वनि का दबाया जाना।
- शब्द-संतान: ध्वनि की लहरों का क्रमिक रूप से आगे बढ़ना।
- व्यंजक: वह जो केवल छिपी हुई वस्तु को प्रकट करे (जैसे प्रकाश)।

### 5 अंक के प्रश्न-

1. शब्द को 'आदिमत्वात् (उत्पत्ति वाला) क्यों माना गया है? (सूत्र 2.2.14 के एक अंश और उसकी व्याख्या के आधार पर)
2. शब्द की अनित्यता सिद्ध करने में 'ऐन्द्रियकत्वात् हेतु का क्या महत्व है? (सूत्र 2.2.14 और 2.2.16 के आधार पर)
3. 'अभिभव' (दब जाना) शब्द की अनित्यता को कैसे स्पष्ट करता है? (सूत्र 2.2.14 के 'कृतकवदुपचारात्' के प्रसंग में)
4. शब्द अस्पर्श (स्पर्शहीन) होने के बावजूद नित्य क्यों नहीं है? (सूत्र 2.2.22 और 2.2.23 के आधार पर)
5. शब्द-विनाश के कारण की अनुपलब्धि पर क्या समाधान दिया गया है? (सूत्र 2.2.33 और 2.2.34 के आधार पर)

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शब्द को अनित्य (नाशवान) सिद्ध करने के लिए आचार्य ने किन तीन मुख्य हेतुओं (तर्कों) का प्रतिपादन किया है? सविस्तार वर्णन कीजिए। (सूत्र संख्या: 2.2.14 के आधार पर)
2. शब्द की अभिव्यक्ति के सिद्धांत का खंडन करते हुए आचार्य ने कुल्हाड़ी और लकड़ी के उदाहरण से शब्द की उत्पत्ति को कैसे सिद्ध किया है? (सूत्र संख्या: 2.2.15, 2.2.16 और 2.2.17 के आधार पर)
3. 'अभिभव' (दब जाना) के माध्यम से शब्द की तीव्रता और मन्दता के सिद्धांत को स्पष्ट कीजिए।
4. शब्द की नित्यता के पक्ष में दिए गए 'अस्पर्शत्वात्' (स्पर्शहीनता) और सम्प्रदान हेतुआ. का आचार्य ने किस प्रकार खंडन किया है? (सूत्र संख्या: 2.2.22, 2.2.23, 2.2.25 और 2.2.26 के आधार पर)
5. 'विनाश के कारण का न दिखना' - इस शंका का समाधान करते हुए 'शब्द-संतान' प्रक्रिया को स्पष्ट कीजिए। (सूत्र संख्या: 2.2.33, 2.2.34 और 2.2.35 के आधार पर)

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. न्यायदर्शन के अनुसार शब्द का मुख्य स्वभाव क्या है?

(1) नित्य

(ठ) अनित्य

(ब) नित्य-अनित्य दोनों

(क) इनमें से कोई नहीं

2. सूत्र 'आदिमत्वादौन्द्रियकत्वात् कृतकवदुपचाराच्च' में 'आदि' शब्द का क्या अर्थ है?

(क) प्रारंभ

(ख) ईश्वर

(ग) कारण (उत्पत्ति का निमित्त)

(घ) प्राचीन

3. शब्द-संतान का सिद्धांत किस प्रक्रिया को समझाने के लिए दिया गया है?

(क) शब्द की नित्यता

(ख) शब्द का श्रोत्रेन्द्रिय (कान) तक पहुँचना

(ग) शब्द का अर्थ बोध

(घ) शब्द की व्यापकता

4. कुल्हाड़ी और लकड़ी के संयोग के समाप्त होने के बाद भी शब्द सुनाई देना क्या सिद्ध करता है?

(क) संयोग शब्द का व्यंजक है

(ख) संयोग शब्द का उत्पादक है



- (ग) शब्द नित्य है
- (घ) शब्द व्यापक है

5. नित्यवादी ने शब्द को नित्य सिद्ध करने के लिए किसके समान 'अस्पर्श' (स्पर्शहीन) बताया है?

- (क) अग्नि
- (ख) वायु
- (ग) आकाश**
- (घ) पृथ्वी

6. आचार्य ने 'अस्पर्श' हेतु का खंडन करने के लिए किसका उदाहरण दिया, जो स्पर्शहीन होकर भी अनित्य है?

- (क) आत्मा
- (ख) कर्म (क्रिया)**
- (ग) मन
- (घ) काल

7. 'गुरु शिष्य को शब्द देता है' - इस सम्प्रदान तर्क का खंडन किस उदाहरण से किया गया है?

- (क) धन का दान
- (ख) नृत्य की शिक्षा (अनुकरण)**

- (ग) जल का प्रवाह
- (घ) अग्नि का प्रकाश

8. शब्द के 'अभ्यास' (बार-बार दोहराने) से नित्यता सिद्ध क्यों नहीं होती?

- (क) क्योंकि अभ्यास केवल नित्य वस्तुओं का होता है
- (ख) क्योंकि अभ्यास अनित्य क्रियाओं (जैसे नृत्य) का भी होता है**

- (ग) क्योंकि अभ्यास संभव नहीं है
- (घ) इनमें से कोई नहीं

9. 'भेरी (नगाड़े) का शब्द तन्त्री (वीणा) के शब्द को दबा देता है' - इस प्रक्रिया को क्या कहते हैं?

- (क) विनाश
- (ख) अभिभव**

- (ग) प्रागभाव
- (घ) संयोग

10. शब्द के विनाश का वास्तविक कारण क्या माना गया है?

- (क) कान का बंद होना
- (ख) शब्द-संतान की शक्ति का समाप्त होना या अवरोध आना**

- (ग) बोलने वाले का चुप होना
- (घ) वायु का रुक जाना

11. 'अश्रवण-कारण-अनुपलब्धि' का तर्क आचार्य ने किसके विरुद्ध दिया?

- (क) शब्द की उत्पत्ति के विरुद्ध
- (ख) विनाश के कारण न दिखने के तर्क के विरुद्ध**

- (ग) इन्द्रिय प्रत्यक्ष के विरुद्ध
- (घ) अनुमान के विरुद्ध

## इकाई-२.४: शब्द परिणाम एवं शब्द शक्ति की समीक्षा

### उद्देश्य-

- वर्ण विकार का खंडन: यह समझना कि व्याकरणिक संधियों (जैसे दधि + अत्र = दध्यत्र) में वर्ण बदलते (विकार) नहीं हैं, बल्कि एक के स्थान पर दूसरा आता (आदेश) है।
- पद की परिभाषा: न्यायदर्शन के अनुसार 'पद' के निर्माण की प्रक्रिया और उसके भेदों को जानना।
- पदार्थ का स्वरूप: पद से किसका बोध होता है-व्यक्ति का, उसकी आकृति का या उसकी जाति का-इस विषय पर महर्षि गौतम के त्रिविध सिद्धांत को समझना।
- उपचार (लक्षणा) का बोध: मुख्य अर्थ के बाधित होने पर शब्दों के गौण या लाक्षणिक प्रयोग के नियमों को उदाहरण सहित स्पष्ट करना।
- व्याकरण और दर्शन का समन्वय: भाषा के नियमों को तार्किक और दार्शनिक आधार पर सिद्ध करना।

**वर्णात्मक शब्द-विचार-** शब्द की अनित्यता का निर्णय कर सूत्रकार वर्ण के स्वरूप के विषय में विवेचन करने की भावना से प्रकरण प्रारम्भ करता है। लोक में शब्द का स्वरूप दो प्रकार का अनुभव में आता है-एक ध्वनिरूप, दूसरा वर्णरूप। ध्वनिरूप अव्यक्त शब्द है। वर्णात्मक वह है, जिसे संस्कृत मानव-समाज पास्परिक व्यवहार के लिए प्रयुक्त करता है। वर्णात्मक शब्द को लक्ष्यकर जिज्ञासु द्वारा प्रस्तुत संशय को सूत्रकार ने सूत्रित किया-

**विकारादेशोपदेशात् संशयः। २/२/४०**

**दध्यत्रेति केचिद् इकार इत्वं हित्वा यत्वमापद्यत इति विकारं मन्यन्ते । केचिदिकारस्य प्रयोगे विषयकृते यदिकारः स्थानं जहाति तत्र यकारस्य प्रयोगं ब्रूवते ।**

वर्णों में विकार है या आदेश ? व्याकरणशास्त्र में व्यवहार्य पदों की सिद्धि की भावना से उनमें आये वर्णों की उलट-फेर के लिए अनेक नियमों की व्यवस्था की गई है। जैसे- दध्यत्रा पद है। यह दधि अत्र इन दो पदों की सन्धि करके सिद्ध होता है। सन्धि के नियम के अनुसार दधि पद के इकार की जगह यकार आ जाता है। यहाँ संशय होता है-एक वर्ण के स्थान पर अन्य वर्ण के प्रयोग को वर्ण का विकार माना जाय, अथवा आदेश ?

विकार वह है-जहाँ एक वस्तु विनष्ट होती हुई, अथवा विनष्ट न होनी हुई ही दूसरी वस्तु के रूप में परिणत हो जाती है। जैसे-दूध का विकार दही, बीज का विकार अंकुर, सुवर्ण का विकार कुण्डल रुचक आदि, मृत्तिका का विकार घट, दो धातुकपालों का विकार कलश। इन विकार के उदाहरणों में दूध व बीज का नाश होकर वह अन्य द्रव्य के रूप में परिणत हो जाता है। सुवर्ण व मृत्तिका का भी प्रथमपिण्डरूप कुट-पिट कर नष्ट हो जाता है, वह अन्य द्रव्य के रूप में अथवा अन्य आकार में चला जाता है। दो धातुकपाल स्वरूप से नष्ट न होते हुए भी जोड़े जाकर कलश के आकार को प्राप्त कर लेते हैं।

आदेश का स्वरूप यह है कि एक की जगह दूसरा आ जाता है पहला हट जाता है। जैसे पूर्वोक्त दध्यत्र उदाहरण में इ के स्थान पर य आ जाना है, इ हट जाता है, जब दोनों पदों का सन्धि करके प्रयोग करना अपेक्षित हो। यहाँ संशय यह है कि वर्णों के इस परिवर्तन को दूध-दही और बीज-अंकुर के समान विकार माना जाना चाहिये; अथवा आदेश ? आदेश ऐसा होता है, जैसे देवदत्त पहरेदार के स्थान पर समयानुसार यज्ञदत्त आजाता है; और यज्ञदत्त के स्थान पर विष्णुमित्र; अथवा पुनः देवदत्त आ जाता है। विकार और आदेश इन दोनों प्रकार के परिवर्तनों में से वर्णों के विषय में कौन-सा परिवर्तन यथार्थ है, इसका निश्चय किया जाना चाहिये। वर्णों में विकार न होने का अन्य हेतु - वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए सूत्रकार अन्य हेतु प्रस्तुत करता है-

**प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः। २/२/४१**

**प्रकृत्यनुविधानं विकारेषु दृष्टं, यकारे ह्रस्वदीर्घानुविधानं नास्ति येन विकारत्वमनुमीयत इति ।**

जहाँ पर अर्थों में प्रकृति विकार भाव होता है, वहाँ प्रकृति अर्थात् उपादान-तत्त्वों की वृद्धि के अनुसार विकार में बढ़ोतरी देखी जाती है। जितने तन्तु होंगे, उन्हीं के अनुसार वस्त्र का विस्तार होगा। सेर भर तन्तुओं से जितना कपड़ा बनेगा, सवासेर से उसकी अपेक्षा अधिक बनेगा, आधा सेर से कम। प्रकृति-विकारभाव स्थलों में प्रकृति के अनुसार विकार का होना देखा जाता है। परन्तु यह व्यवस्था वर्णों में नहीं है। ग्रामणी पद का कर्ता कारक बहुवचन में ग्रामण्यः रूप होता है। यहाँ ग्रामणी पद के अन्तिम ई वर्ण के स्थान में य का प्रयोग हुआ है। यदि इनमें प्रकृति विकार भाव माना जाय, तो प्रकृति ई दीर्घ वर्ण के स्थान में प्रयुक्त होने वाला य वर्ण दीर्घ होना चाहिये, परन्तु ऐसा नहीं है। इसके अतिरिक्त दध्यत्र प्रयोग में दधि के ह्रस्व इकारस्थानीय य में दीर्घ ईकारस्थानीय य से कोई भेद नहीं है। इसलिए यहाँ तथाकथित विकार में प्रकृति वृद्धि की अनुकूलता न होने से वर्णों में प्रकृति विकार भाव अमान्य है।

विकारों में न्यूनाधिकभाव-शिष्य आशंका करता है, विकार भी न्यूनाधिक होते देखे जाते हैं, यही स्थिति वर्णों में सम्भव रहे; सूत्रकार

ने आशंका को सूत्रित किया-

**न्यूनसमाधिकोपलब्धेर्विकाराणामहेतुः। २/२/४२**

**द्रव्यविकारा न्यूनाः समा अधिकाश्च गृह्यन्ते । तद्वदयं विकारो न्यूनः स्यादिति ।**

यह आवश्यक नहीं है कि सर्वत्र विकार प्रकृति के अनुकूल हों, द्रव्यों में न्यून, सम, अधिक तीनों प्रकार के विकार देखे जाते हैं। रुई से जब धागा बनाया जाता है, तो उसमें से कुछ अंश छीज जाने के कारण रुई के भार की अपेक्षा धागे कम (न्यून) बनते हैं। सुवर्ण से आभूषण बनाने पर दोनों का भार बराबर (सम) देखा जाता है। बीज से वृक्ष उत्पन्न होता है; यहाँ विकार प्रकृति से बहुत अधिक हो जाता है। इस प्रकार द्रव्य विकारों में प्रकृति से न्यून, सम, अधिक विकार देखा जाता है। वर्षों में भी ऐसा सम्भव है। अतः गतसूत्र में वर्ण विकार के अभाव को सिद्ध करने के लिए प्रस्तुत हेतु साध्य का असाधक है। एकमात्रिक इ या द्विमात्रिक ई का विकार अर्थमात्रिक य न्यून विकार हो सकता है।

यह आशंका युक्त नहीं है। केवल द्रव्यों के न्यून, सम, अधिक विकार का दृष्टान्त देकर विचार को प्रस्तुत किया है। हेतु की व्याप्ति के बिना केवल दृष्टान्त अर्थ का साधक नहीं होता। पर यहाँ न अन्वय व्याप्ति बनती है, न व्यतिरेक। न्यून, सम, अधिक के साथ विकार का साहचर्य नियम नहीं है। जो विकार है वह न्यून होता है, ऐसी अन्वयव्याप्ति नहीं बनती; इसका सम, अधिक विकार के साथ व्यभिचार होगा। ऐसे ही सम के साथ विकार की व्याप्ति कहने में न्यून-अधिक के साथ तथा अधिक के साथ कहने में न्यून-सम के साथ व्यभिचार होगा। इसप्रकार अन्वयव्याप्ति नहीं बन सकती। व्यतिरेकव्याप्ति भी नहीं बनती, क्योंकि जहाँ विकारत्व नहीं है, वहाँ न्यूनत्व आदि भी नहीं है ऐसा नियम नहीं है। हाथी और घोड़ा एक दूसरे का विकार नहीं है, पर न्यूनता-अधिकता यहाँ रहती है। इसको उलटकर भी व्यतिरेकव्याप्ति नहीं कही जा सकती जहाँ न्यूनता आदि नहीं है, वहाँ विकारता नहीं है। सम आदि द्रव्यों में इसका व्यभिचार होगा।

इसके अतिरिक्त जैसे वर्ण विकार की सिद्धि के लिए दृष्टान्त दिया, ऐसे वर्णविकार के अभाव की सिद्धि के लिए प्रतिदृष्टान्त दिया जा सकता है। यदि बैल के स्थान पर भार ढोने के लिए गाड़ी में घोड़े को जोत दिया जाय, तो घोड़े को बैल का विकार नहीं कहा जा सकता, वर्षों में ऐसा ही होता है-इ के स्थान पर 'यू' का प्रयोग कर दिया जाता है। तब दृष्टान्त को स्वीकार किया जाय, प्रतिदृष्टान्त (मुकाबले के दृष्टान्त) को न किया जाय, ऐसा कोई नियामक हेतु नहीं है। अतः वर्षों में विकार का माना जाना असंगत है। विकार वर्णों में नहीं - सूत्रकार ने उक्त आशंका का स्वयं समाधान प्रस्तुत किया-

**नातुल्यप्रकृतीनां विकारविकल्पात् । २/२/४३**

**अतुल्यानां द्रव्याणां प्रकृतिभावोऽवकल्पते विकाराश्च प्रकृतीरनुविधीयन्ते । न त्विवर्णमनुविधीयते यकारः तस्मादनुदाहरणं द्रव्यविकार इति ।**

किसी भी कार्य के उपादान कारणों में भेद होने पर उसके विकार में भेद अवश्य होता है। तात्पर्य है-विकार अपने उपादान कारण के अनुसार हुआ करता है। यदि किन्हीं विकारभूत कार्यों की प्रकृति [उपादानकारण] भिन्न हैं, तो उनके विकार भिन्न होंगे। परन्तु वर्षों में ऐसा नहीं देखा जाता। ह्रस्व इकार के स्थान में जो य का प्रयोग होता है, और दीर्घ ईकार के स्थान में जो य प्रयुक्त होता है, वे दोनों य अर्द्धमात्रिक एक-समान हैं। यदि वर्षों में विकार होता, तो ह्रस्व और दीर्घ 'इ' वर्ण के विकार 'यू' में अवश्य भेद होता। क्योंकि विकार अपनी प्रकृति की अनुकूलता को छोड़ नहीं सकता। इसलिए द्रव्यविकार का उदाहरण देकर वर्षों में विकार बताना असंगत है।

आशंकावादी पुनः कहता है-

**द्रव्यविकारे वैषम्यवद् वर्णविकारविकल्पः। २/२/४४**

**यथा द्रव्यभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकारवैषम्यम्, एवं वर्णभावेन तुल्यायाः प्रकृतेर्विकार विकल्प इति ।**

यह जो कहा गया-विकार अपनी प्रकृति के अनुरूप होता है, युक्त नहीं है। बीज प्रकृति है, और वृक्ष विकार; बीज अत्यन्त छोटा और वृक्ष महान् होता है। यहाँ प्रकृति की अनुरूपता विकार में नहीं देखी जाती। फलतः यह आवश्यक नहीं कि विकार सदा अपनी प्रकृति के अनुरूप हो। इस प्रकार ह्रस्व या दीर्घ वर्ण का विकार अर्द्धमात्रिक रूप में अपनी प्रकृति से विलक्षण होना सम्भव है। यदि इस बात का आग्रह हो कि विकार अपनी प्रकृति की अनुरूपता को नहीं छोड़ सकता, तो बीज और वृक्ष दोनों द्रव्यत्व सामान्य से तुल्य हैं। तात्पर्य है-जैसे द्रव्यत्व सामान्य से वृक्ष बीज के अनुरूप है, वैसे वर्णत्व सामान्य से य वर्ण इ, ई वर्षों के अनुरूप है। फलतः वर्षों में विकार का माना जाना कोई आपत्तिजनक नहीं है।

विकार-धर्म वर्णों में असिद्ध- आचार्य सूत्रकार ने आशंकावादी के उक्त कथन का समाधान किया-

**न विकारधर्मानुपपत्तेः। २/२/४५**

**अयं विकारधर्मो द्रव्यसामान्ये यदात्मकं द्रव्यं मृदा सुवर्णं वा तस्यात्मनोऽन्वये पूर्वी व्यूहो निवर्तते व्यूहान्तरं चोपजायते जायते**

तं विकारमाचक्षते न वर्णसामान्ये कश्चिच्छब्दात्मान्वयी य इत्वं

जहाति यत्वं चोपद्यते ।

विकार का यह निश्चित धर्म है कि वह अपनी प्रकृति [उपादान कारण] के अनुरूप हो। द्रव्यविकार के विषय में यह देखा जाता है कि उपादान द्रव्य सोना या मिट्टी जैसा हो, उसका विकार तद्रूप होता है। विकारमात्र में उपादान के अन्वयी धर्म का होना आवश्यक है। उपादान द्रव्य वही रहता है, विकार होने पर केवल आकृति अथवा अवयव-सन्निवेश परित्तित हो जाता है। यही विकार का स्वरूप है। मृत्तिका व सुवर्णभाव उनके विकारों में बराबर बना रहता है। परन्तु वर्णों के विषय में कोई ऐसा अन्वयी धर्म प्रतीत नहीं होता, जिसको लक्ष्यकर अथवा आधार मानकर यह कहा जा सके कि इसने इकार-पने को छोड़कर यकार-पना प्राप्त कर लिया है, जैसे द्रव्यविकार में कहा जाता है-मिट्टी या सोने ने अपना पिण्डभाव छोड़कर घटभाव अथवा कुण्डल-रुचक आदि भाव को ग्रहण कर लिया है।

विकार पुनः पूर्वरूप में नहीं आता - वर्णों में विकार नहीं होता; इसके लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया-

**विकारप्राप्तानामपुनरापत्तेः। २/२/४६**

**अनुपपन्ना पुनरापत्तिः । कथम्। पुनरापत्तेरनुमानादिति ।**

जो प्रकृति-द्रव्य विकार को प्राप्त हो जाता है, वह पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त नहीं करता, यह व्यवस्था प्रकृतिविकारभाव में देखी जाती है। दूध का दही विकार हो जाने पर वह पुनः दूध नहीं हो सकता। कपास का फोला धागा व कपड़ा बन जाने पर पुनः कपास का फोला नहीं बन पाता। परन्तु वर्णों में यह व्यवस्था नहीं है। इ अथवा ई को य हो जाने पर वह पुनः इ भाव को प्राप्त कर लेता है। दधि + अत्र के स्थान पर दव्यत्र प्रयोग होने पर पुनः दधि + अत्र के प्रयोग में कोई बाधा नहीं रहती। सन्धि के अवसर पर इ के स्थान पर य होजाता है; ऐसा य सम्प्रसारण के समय इ बोला जाता है। तात्पर्य है वर्णों में इ का य और य का इ परिवर्तन होता रहता है। यह एक के स्थान में दूसरे का आदेश है, विकार नहीं। क्योंकि विकार पुनः अपने प्रकृतिभाव में वापस नहीं आ सकता। परन्तु वर्णों में ऐसा हो जाना, वर्णों में विकार न होने का साधक है।

विकार का पुनः प्रकृतिभाव- इसके विपरीत आशंकावादी विकार के पुनः प्रकृतिभाव में आने का उदाहरण प्रस्तुत करता है-

**सुवर्णादीनां पुनरापत्तेरहेतुः । २/२/४७**

**सुवर्ण कुण्डलत्वं हित्वा रुचकत्वमापद्यते रुचकत्वं हित्वा पुनः कुण्डल त्वमापद्यते, एवमिकारोऽपि यकारत्वमापन्नः पुनरिकारो भवतीति ।**

विकार को प्राप्त होकर पदार्थ पुनः अपने प्रकृतिभाव को प्राप्त नहीं होता, यह जो हेतु [अपुनरापत्तेः] वर्णों में विकार न माने जाने के लिए गतसूत्र में प्रस्तुत किया गया, वह असंगत है; क्योंकि सुवर्ण पिण्ड के रुचक-कुण्डल आदि रूप में विकार को प्राप्त हो जाने पर वह पुनः रुचक आदि विकारभाव को छोड़-कर सुवर्ण पिण्ड के रूप में प्राप्त हो जाता है। फलतः जहाँ पदार्थों में प्रकृति-विकारभाव है, वहाँ विकार जैसे पुनः प्रकृतिभाव को प्राप्त कर लेता है; ऐसे ही वर्णों में माने जाने से वर्णों में विकार सम्भव है।

विकार का पुनः प्रकृतिभाव अयुक्त- सूत्रकार समाधान करता है-

**न तद्विकाराणां सुवर्णभावाव्यतिरेकात् । २/२/४८**

**अवस्थितं सुवर्ण हीयमानेन उपजायमानेन च धर्मेण धर्मी भवति, नैव कश्चिच्छब्दात्मा हीयमानेनेत्वेनोपजायमानेन यत्वेन धर्मी गृह्यते, तस्मात्सु वर्णोदाहरणं नोपपद्यत इति ।**

इस प्रसंग में सुवर्ण के उदाहरण की उपयोगिता सम्भव नहीं है। कारण यह है-कुण्डल, रुचक आदि विकार की अवस्था में रुचक आदि का सुवर्ण भाव बराबर उसी रूप में बना रहता है। तात्पर्य है-सुवर्ण अवस्थित है, रुचक आदि विकार दशा होने या न होने की दोनों अवस्थाओं में सुवर्णभाव समानरूप से विद्यमान रहता है। वह पिण्डभाव को छोड़कर रुचक अवस्था को प्राप्त कर लेता है; रुचक को गलाकर कुण्डल बना लिया जाता है, तथा कुण्डल फिर पिघलाकर पिण्ड बन जाता है। इन सभी अवस्थाओं में परिवर्तन रहते भी सुवर्णात्मा अन्वयी एकधर्मी बराबर बना रहता है। परन्तु वर्णों के प्रसंग में कोई शब्दात्मा अन्वयी धर्मी ऐसा नहीं रहता, जो इ-भाव को छोड़कर य-भाव को प्राप्त करता हो। इसलिए वर्णों के प्रसंग में सुवर्णादि द्रव्य का उदाहरण उपयुक्त नहीं है।

वर्णों में अविकार का अन्य हेतु-वर्णों में विकार न मानेजाने के लिए सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया-

**नित्यत्वेऽविकारादनित्यत्वे चानवस्थानात् । २/२/४९**

**नित्या वर्णा इत्येतस्मिन्यचे इकारयकारी वर्णो इत्युभयोर्नित्यत्वाद्विकारानुपपत्तिः । नित्यत्वेविनाशित्वात् कः कस्य विकार इति।** वर्णों को नित्य माना जाय, अथवा अनित्य, दोनों अवस्थाओं में वर्णों में विकार होना सम्भव नहीं। यदि वर्ण नित्य हैं, तो इ और य दोनों वर्ण होने से नित्य होंगे; नित्य में विकार होना असम्भव है। कारण यह है कि नित्य पदार्थ अविनाशी होता है; जो अविनाशी हैं, उनमें कौन किसका विकार होगा?

यदि वर्णों को अनित्य माना जाता है, तो वर्णों के अवस्थित न रहने के कारण उनमें परस्पर एक-दूसरे का विकार होने की सम्भावना नहीं रहती। वर्णों के अवस्थित न रहने का तात्पर्य है उत्पन्न होकर नष्ट होजाना। इकार उत्पन्न होकर जब नष्ट हो जाता है, तब यकार उत्पन्न होता है। ऐसे ही यकार के उत्पन्न होकर नष्ट हो जाने पर इकार उत्पन्न होता है। ऐसी दशा में इकार यकार का, अथवा यकार इकार का विकार हो, यह कैसे माना जा सकता है ? दोनों वर्णों की उत्पत्ति एक-दूसरे के अभाव में हो पाती है, तो कौन किसका विकार हो ? अविद्यमान वस्तु किसी को उत्पन्न नहीं कर सकती। वर्ण द्विक्षणावस्थायी माना जाता है। एक क्षण उत्पत्ति का, दूसरा स्थिति का; अगले तीसरे क्षण में वह नष्ट हो जाता है। अपने प्रथम उत्पत्ति-क्षण में अन्य किसी को उत्पन्न करने का प्रश्न नहीं उठता। दूसरे स्थिति-क्षण में यदि इ, य के रूप में विकृत हो जाय, तो इ का श्रवण ही न होना चाहिए। वह इन्द्रिय का विषय अपने द्वितीय क्षण में हो सकता है, उसी क्षण में विकृत हो जाने से वह रहा नहीं, तो सुनाई कहाँ से देगा? तीसरे क्षण में वह स्वयं नहीं रहता, तब उसके विकृत होने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिसका अस्तित्व नहीं, वह विकृत हो रहा है, यह कथन निराधार है। विकृत होने के लिए वस्तु का अस्तित्व होना चाहिए।

**विकारोपपत्ति नित्य वर्ण में-** वर्णविकारवादी वर्णों के नित्य-अनित्य दोनों पक्षों में वर्णविकार की उपपत्ति प्रस्तुत करता है। सूत्रकार ने वादी की भावना को दो सूत्रों में सूत्रित किया। नित्य पक्ष को लेकर पहला सूत्र है-

**नित्यानामतीन्द्रियत्वात्तद्धर्मविकल्पाच्च वर्णविकाराणामप्रतिषेधः। २/२/५०**

**नित्या वर्णा न विक्रियन्त इति विप्रतिषेधाः। यथा नित्यत्वे सति किञ्चिदतीन्द्रियं किञ्चिदिन्द्रियग्राह्यम् इन्द्रियग्राह्याश्च वर्णाः, एव नित्यत्वे सति किञ्चिन्न विक्रियते वर्णास्तु विक्रियन्त इति ।**

वर्णों के नित्य माने जाने पर वर्णों में विकार का प्रतिषेध अयुक्त है। क्योंकि नित्य पदार्थों में विविध प्रकार के धर्म देखे जाते हैं। आकाश आदि नित्य पदार्थ अतीन्द्रिय हैं; पर दूसरे गोत्व, अश्वत्व आदि सामान्य नामक पदार्थ नित्य होते हुए इन्द्रियग्राह्य हैं। इससे स्पष्ट हुआ नित्य पदार्थों में धर्म की विविधता है। एक अतीन्द्रिय है दूसरा इन्द्रियग्राह्य है। ऐसी दशा में यह सम्भव है किन्हीं नित्य पदार्थों में विकार न हो; पर नित्य वर्णों में विकार हो जाय। वर्ण इन्द्रिय-ग्राह्य है, यह आकाश आदि से वर्णों में वैषम्य है; तब विकारलक्षण वैषम्य वर्णों में सम्भव है। अतः वर्णों के नित्य मानेजाने पर भी वर्णों में विकार का प्रतिषेध अयुक्त है।

**विकारोपपत्ति अनित्य वर्ण में-** अनित्य पक्ष में वर्णविकारवादी की भावना को सूत्रकार ने द्वितीय सूत्र में सूत्रित किया-

**अनवस्थायित्वे च वर्णोपलब्धिवत् तद्विकारोपपत्तिः । २/२/५१**

**यथाऽनवस्थायिनां वर्णानां श्रवणं भवत्येवमेषां विकारो भवतीति ।**

वर्णों के द्विक्षणावस्थायी माने जाने पर जैसे वर्णों की उपलब्धि उनका ग्रहण श्रवण होता है, उसी प्रकार उनमें विकार होना सम्भव है। अनित्य मानने पर यदि सुनाई देने के लिए वर्णों को अवसर मिल जाता है, तो उनमें विकार के लिए अवसर मिलने में क्या बाधा है? उच्चरित इ वर्ण को प्रत्यक्ष से सुना जाता है। विद्यमान पदार्थ प्रत्यक्ष का विषय होता है। विद्यमान पदार्थ में ही विकार सम्भव है। तब विद्यमान इकार अपने सुने जाने के समान यकार को उत्पन्न कर विकार का लक्ष्य हो सकता है। इस प्रकार अनित्य पक्ष में भी वर्णों में विकार का होना उपपन्न होता है।

**वर्णों में विकारोपपत्ति निराधार-** गत दो सूत्रों से वर्णविकार के पक्ष में प्रस्तुत की गई उपपत्ति का सूत्रकार प्रत्याख्यान करता है-

**विकारधर्मित्वे नित्यत्वाभावात् कालान्तरे विकारोपपत्तेश्चाप्रतिषेधः। २/२/५२**

**तद्धर्मविकल्पादिति न युक्तः प्रतिषेधाः । न खलु विकारधर्मकं किञ्चिन्नित्यमुपलभ्यत इति वर्णोपलब्धिवदिति न युक्तः प्रतिषेधः ।**

शब्द को नित्य अथवा अनित्य मानते हुए, नित्य पक्ष में गतसूत्र [५०] से तद्धर्मविकल्प हेतु के द्वारा वर्णों में विकार को सिद्ध कर जो न्यायसिद्धान्त (वर्णों में विकार नहीं होता) का प्रतिषेध किया गया है, वह असंगत है। क्योंकि वर्ण (शब्द) को नित्य मानकर उसमें विकार बताना सर्वथा अप्रामाणिक है। जो विकारधर्मक है, वह नित्य नहीं हो सकता। जो नित्य है, उसमें विकार असम्भव है। शब्द के अनित्य-पक्ष में वर्ण की उपलब्धि के समान वर्ण में विकार होने का जो गतसूत्र [११] द्वारा कथन किया गया, वह भी ठीक नहीं है। कारण यह है-जब पदों को दधि + अत्र इस प्रकार अलग-अलग कहने की इच्छा रहती है, तब ऐसा प्रयोग कर देने के अनन्तर दध्यत्र का सन्धियुक्त प्रयोग किया जाता है। वर्ण के अनित्य होने से दधि का उच्चारण कर देने पर इ-वर्ण नष्ट हो गया। कालान्तर में जब सन्धियुक्त उच्चारण किया, उससे अव्यवहित पूर्व-काल में इ वर्ण के न रहने से दध्यत्र में उच्चरित य किसका विकार होगा ? विकारपक्ष में य का कारण इ तो तब रहा नहीं, फिर कारण के अभाव में कार्य का होना कैसे सम्भव है ? फलतः वर्णों में विकार का होना प्रमाण सिद्ध नहीं है।

**वर्णों में विकार असिद्ध-** वर्ण विकार की असिद्धि में सूत्रकार ने अन्य हेतु प्रस्तुत किया-

**प्रकृत्यनियमाद् वर्णविकाराणाम् २/२/५३**



**इकारस्थाने यकारः श्रूयते यकारस्थाने खल्विकारो विधीयते विध्यति इति।**

वर्णों में प्रकृति-विकारभाव का नियम नहीं जिन पदार्थों में परस्पर प्रकृति-विकारभाव होता है, वहाँ किसी विशिष्ट विकार के लिए प्रकृति का नियम होता है; अमुक विकार अमुक प्रकृति उपादान-तत्त्व से हो सकता है; जैसे दही दूध का विकार, मृद्धट मिट्टी का विकार। ऐसा नियम वर्णों में नहीं देखा जाता। कभी इकार के स्थान में यकार बोला जाता है; फिर कभी (सम्प्रसारण-स्थल में) यकार के स्थान पर इकार का उच्चारण किया जाता है। अतः वर्णों में प्रकृति-विकारभाव माना जाना युक्त नहीं है। क्योंकि दूध दही का प्रकृति है, विकार नहीं। तथा दही दूध का विकार है, प्रकृति नहीं। पर वर्णों में इ का य और य का इ होता हुआ देखा जाता है। यह स्थिति वर्णों में प्रकृति-विकारभाव की बाधक है।

अनियम, नियम है- वर्णविकारवादी छल का आश्रय लेकर यथार्थ की उपेक्षा करता हुआ उक्त हेतु का उत्तर देता है

**अनियमे नियमान्नानियमः। २/२/५४**

**योऽयं अकृतेरनियम उक्तः स नियतो यथाविषयं व्यवस्थितो नियतत्वान्नियम इति भवति, एवं सत्यनियमो नास्ति, तत्र यदुक्तं प्रकृत्यनियमादित्येतदयुक्तमिति ।**

यह जो गत सूत्र में वर्णविषयक प्रकृति का अनियम कहा गया है, वस्तुतः उसको अपने क्षेत्र में अपनी सीमा में नियत समझना चाहिए। तात्पर्य है-अनियम की जो स्थिति है, वह उसमें नियत है, व्यवस्थित है। अपनी सीमा, अपने क्षेत्र को छोड़कर वह इधर-उधर नहीं हटता; इस आधार पर उसे नियत होने से नियम कहना ठीक है। तब अनियम के लिए कोई ठिकाना, कोई अवकाश नहीं रहता। अतः प्रकृति के अनियम से (प्रकृत्यनियमात्) हेतु का निर्देश निरवकाश होने के कारण वर्णों में विकार को नहीं रोक सकता।

नियम-अनियम परस्पर-विरोधी आचार्य सूत्रकार ने उक्त कथन का प्रत्याख्यान करते हुए कहा-

**नियमानियमविरोधादनियमे नियमाच्चाप्रतिषेधः। २/२/५५**

**नियम इत्यत्रार्थाभ्यनुज्ञा, अनियम इति तस्य प्रतिषेधाः ।**

नियम और अनियम का परस्पर भिन्न अस्तित्व है। नियम है-किसी पदार्थ के व्यवस्थित अस्तित्व को स्वीकार करना। अनियम है-उसके अस्तित्व का प्रतिषेध करना। स्वीकार और प्रतिषेध परस्पर विरोधी हैं; इनकी एकात्मता होना सम्भव नहीं है। अतः जो अनियम है, वह नियम नहीं हो सकता। फिर इस कथन पर ध्यान देना चाहिये । वर्णविकारवादी पूर्वपक्षी अनियम को स्व-रूप में व्यवस्थित नियत होने से नियम बताता है, यह उसका वदतो व्याघात है अर्थात् बात को ठीक कहकर साथ ही उसे उलट रहा है। सोचिये अनियम जब तक स्व-रूप में अर्थात् अनियम में व्यवस्थित है, तभी तक वह अनियम रह सकता है, नियम कदापि नहीं हो सकता। उसके नियम होने की तभी संभावना की जा सकती है, जब वह स्व-रूप को छोड़ दे। जब अनियम न रहे, तभी वह नियम होगा। जब वादी कहता है-अनियम अपने रूप में अवस्थित है, तब उसका तात्पर्य है- अनियम अनियम ही है, नियम नहीं; फिर भी अनियम को नियम कहे, तो यह अपने ही कथन का विरोधी है। इसलिए वादी के द्वारा किया गया- वर्णों में प्रकृति के अनियम का प्रतिषेध अयुक्त है।

वर्णों में व्यवहार्य विकार का स्वरूप वर्णों में विकार न होने की उपपत्ति के इस लम्बे प्रसंग से केवल यह स्पष्ट किया गया है कि वर्णों में परिणामरूप अथवा कार्य-कारण भाव रूप विकार नहीं होता। न कोई वर्ण अन्य वर्ण का परिणाम, और न ऐसा कार्य है, जैसा मट्टी का घड़ा। वर्णों में एक के स्थान पर जो अन्य का प्रयोग किया जाता है, वर्णों में उसी को विकार पद से कह दिया जाता है। आचार्य सूत्रकार ने उसका स्वरूप बताया-

**गुणान्तरापत्त्युपमर्दहासवृद्धिलेश्लेषेभ्यस्तु विकारोपपत्तेर्वर्णविकाराः। २/२/५६**

**स्थान्यादेशभावादप्रयोगे प्रयोगो विकारशब्दार्थः ।**

वर्णों में परिणाममूलक विकार नहीं होता; फिर भी वर्णों में विकार होने का व्यवहार गुणान्तरापत्ति आदि विशेषताओं के आधार पर होता है। इनका विवरण इसप्रकार है-

**गुणान्तरापत्ति**-एक गुण के हट जाने पर उसकी जगह अन्य गुण का आ जाना। जैसे-उदात्त के स्थान पर अनुदात्त अथवा स्वरित हो जाना; अथवा अनुदात्त के स्थान पर उदात्त आदि का हो जाना।

**उपमर्द** - एक का नाश, दूसरे का उपजन (प्रादुर्भाव) जैसे दध्यत्र प्रयोग में मूल पद दधि अत्र है। यहाँ दोनों पदों की सन्धि विवक्षा में दधि पद के इ-वर्ण को हटा दिया जाता है, उसका उपमर्द हो जाता है; उसके स्थान पर य का उपजन प्रादुर्भाव हो जाता है।

**हास**-क्षीण हो जाने को कहते हैं; अपनी मात्रा से कम हो जाना, अर्थात् दीर्घ वर्ण के स्थान पर ह्रस्व का प्रयोग होना। जैसे चित्र और गो पद पृथक् हैं। जब इनका बहुव्रीहि समास कियजाता है- चित्रा गावो यस्य; तब 'गो' पद के दीर्घ वर्ण ओ के स्थान में ह्रस्व वर्ण 'उ' हो जाता है, गोस्त्रियोरूपसर्जनस्थ [१।२। ४८] पाणिनीय नियम के अनुसार। इसके फलस्वरूप चित्र + गो पदों के स्थान पर 'चित्रगुः' पद का प्रयोग होता है।

**वृद्धि-** का अर्थ बढ़ना है। जब ह्रस्व वर्ण को दीर्घ अथवा इन दोनों के स्थान पर यथायथ प्लुत होजाता है; यह वर्ण का वृद्धि नामक विकार कहा जाता है। जैसे-गर्ग पद से गोत्रापत्य अर्थ में **गर्गादिभ्यो यञ्** [४।१। १०५] सूत्रानुसार यञ् प्रत्यय होकर गर्ग पद के आदि ह्रस्व अकार के स्थान में **तद्धितेष्वचामादेः** [७। २। ११७] सूत्र से दीर्घ आ के रूप में वृद्धि हो जाती है। ऐसे ही ह्रस्व-दीर्घ के स्थान में प्लुत हो जाता है। जैसे- देवदत्त ३ यहाँ पर अन्तिम ह्रस्व अकार के स्थान में **दूराद्धूते च** [८। २। ८४] सूत्र से प्लुताकार का प्रयोग होता है। इसी प्रकार हे ३ देवदत्त इस प्रयोग में हे पद के दीर्घ ए को हैहेप्रयोगे **हैहयोः** [८। २। ८५] सूत्र से प्लुत ए३ हो जाता है।

**लेश-**लाघव को कहते हैं। पद का छोटा हो जाना। वर्ण के लोप होकर प्रयोग में न आने से पद लघु हो जाता है। जैसे- अस् धातु के वर्तमानकाल द्विवचन बहुवचन में स्तः, सन्ति आदि प्रयोग होते हैं। यहाँ धातु के प्रथम वर्ण अ का **इनसोरल्लोयः** [६।४। १११] सूत्र से लोप होजाता है; अस् केवल स् रह जाता है।

**श्लेष-** पद में किसी वर्ण के अधिक आ जाने से पद का बढ़ जाना श्लेष है। यह प्रकृति अथवा प्रत्यय के साथ आगम आ जाने से होता है। जैसे-स्कृन्दते प्रयोग में स्कृदि इदित् धातु प्रकृति है। यहाँ **इदितो नुम् धातोः** [७।१।५८] सूत्र से स्कृद प्रकृति को तुम् आगम होकर स्कृद का स्कृन्द हा जाने से पद में अन्य वर्ण का श्लेष आलिङ्गन जुड़ जाना होने से बढ़ोतरी हो गई। इसी प्रकार राम पद के षष्ठी बहुवचन में राम + आम् इस स्थिति पर प्रत्यय आम् को **ह्रस्वनद्यापो नुट्** [७।१। ५४] सूत्र से नुट् आगम हो गया। इससे राम-आम् के स्थान रामाणाम् प्रयोग होता है। यह नुट् के लेप का फल है।

वर्णों में जो विकार का व्यवहार होता है, वह इन्हीं गुणान्तरापत्ति आदि विशेषताओं पर आधारित है। न्यायवादी आचार्य वर्षों में इस प्रकार के विकार को स्वीकार करते हैं।

वर्णों की 'पद' संज्ञा- कोई अर्थ किसी पूरे पद का होता है, पद के अंश वर्ण का नहीं। अतः पदार्थ-विवेचन के प्रसंग में पद के स्वरूप को स्पष्ट करना आवश्यक है। इसी भावना से आचार्य सूत्रकार ने कहा-

**ते विभक्त्यन्ताः पदम् । २/२/५७**

**यथादर्शनं विकृता वर्णा विभक्त्यन्ताः पदसंज्ञा भवन्ति ।**

शब्दशास्त्र के विधानानुसार जब अभिमत आनुपूर्वीयुक्त वर्णसमुदाय के अन्त में विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय लग जाता है, तब वह वर्णसमुदाय 'पद' कहा जाता है।

व्याकरणशास्त्र में विभक्तिसंज्ञक प्रत्यय दो प्रकार के बताये गये हैं। एक-नामिक प्रत्यय; दूसरे-आख्यातिक प्रत्यय। जो नाम-पद के अन्त में लगते हैं वे नामिक प्रत्यय, तथा जो आख्यात-धातु के अन्त में लगते हैं वे आख्यातिक कहे जाते हैं। सु-औ-जस् आदि विभक्ति-प्रत्यय नामिक, तथा तिप्-तस्-झि आदि विभक्तिः प्रत्यय आख्यातिक हैं। इनके उदाहरण यथाक्रम 'वृक्षः, ब्राह्मणः' आदि; तथा 'पठति, पचति' आदि हैं।

पद के अर्थ का विवेचन- पद का निरूपण करने के अनन्तर पदबोध्य अर्थ का निरूपण करना प्रसंग प्राप्त है। तदनुसार नाम-पद को लक्ष्यकर परीक्षा करना अपेक्षित है, कि 'गो' नाम-पद से किस अर्थ का बोध होता है? परीक्षा के आधार को संशय के रूप में सूत्रकार ने प्रस्तुत किया-

**तदर्थं व्यक्त्याकृतिजातिसन्निधावुपचारात्संशयः। २/२/५८**

**अविनाभाववृत्तिः सन्निधिरिति। अविनाभावेन वर्तमानासु व्यक्त्याकृतिजातिषु गौरिति प्रयुज्यते, तत्र न ज्ञायते किमन्यतमः पदार्थ उक्त सर्व? इति ।**

'गो' पद का प्रयोग करने पर एक प्राणिविशेष का बोध होता है। परन्तु उस प्राणिविशेष में अनिवार्य रूप से तीन अर्थ उपस्थित रहते हैं-व्यक्ति, आकृति और जाति। संशय होता है-इन तीनों में से 'गो' पद का कौन-सा अर्थ समझना चाहिये? अथवा तीनों 'गो' पद का अर्थ हैं? प्रसंग में विवेचनपूर्वक इसका निर्णय करना परीक्षा का विषय है।

'व्यक्ति' पद का अर्थ-शब्द के प्रयोग-सामर्थ्य से पदार्थ का निश्चय किया जाना चाहिये। सामर्थ्य का तात्पर्य है सफलता। शब्द का प्रयोग जिस अर्थ में सफल होता दिखे, वही उसका अर्थ उपयुक्त है। इस भावना से सूत्रकार ने कहा-

**याशब्दसमूहत्यागपरिग्रहसंख्यावृद्धयपचयवर्णसमासाऽनुबन्धानां व्यक्तावुपचाराद् व्यक्तिः। २/२/५९**

गो-पद के साथ या शब्द आदि का प्रयोग इस तथ्य को स्पष्ट करता है कि गो पद का अर्थ व्यक्ति है, जाति आदि नहीं।

**याशब्द-**याशब्द का प्रयोग गो-पद के साथ है- 'या गौस्तिष्ठति, या गौर्गच्छति' इत्यादि। जो गाय बैठी है, उसे यह रोटी खिला देना। यह गो पद का प्रयोग व्यक्ति के लिए सम्भव है। द्रव्यरूप गाय बैठती या जाती है; जाति आदि में बैठना-चलना असम्भव है।

**समूह-**झुण्ड या गिरोह को कहते हैं। 'गवां समूहः' गायों का झुण्ड कहने से गाय व्यक्तियों का झुण्ड कहना अभिमत होता है। जाति



आदि में ऐसा व्यवहार सम्भव नहीं।

**त्याग-** का अर्थ है छोड़ना, देना। वैद्य के लिए अथवा ब्राह्मण के लिए गाय देता है-वैद्याय विप्राय वा गां ददाति। यहाँ देना-त्याग करना गाय व्यक्ति का होता है। अतः वही 'गो' पद का अर्थ है।

**परिग्रह-** ग्रहण करना, अथवा अपने अधिकृत पदार्थ का प्रकट करना। चैत्रस्य गौः, मैत्रस्य गौः यह गाय चैत्र की है, और यह मैत्र की। यहाँ द्रव्यरूप व्यक्ति पर अधिकार प्रकट किया जा रहा है; क्योंकि भेद द्रव्य का है; जाति उभयत्र एक है।

**संख्या-** गिनती करना। दस गाय, बीस गाय आदि कथन व्यक्ति में सम्भव है। जाति गोमात्र में एक ही रहती है।

**वृद्धि-** बढ़ना। 'गौर्वर्द्धते' गाय बढ़ रही है, अथवा 'अवर्द्धत गौः' गाय बड़ी हो चुकी है, अवयवों का उपचय होना वृद्धि है; वह द्रव्यात्मक व्यक्ति में सम्भव है। जाति आदि में नहीं।

**अपचय -** हास अथवा अवयवों के क्षय होने को कहते हैं। यह द्रव्य का धर्म है, द्रव्यरूप व्यक्ति में सम्भव है।

**वर्ण-** का अर्थ रूप है। 'शुक्ला गौः, कपिला गौः' धौली गाय, गोरी गाय, आदि वर्णमूलक प्रयोग व्यक्तिरूप द्रव्यात्मक देह में सम्भव है; अतः व्यक्ति गो पद का अर्थ उपयुक्त है।

**समास-** दो पदों का योग है। गोहितम्, गोसुखम् इस समासयुक्त पद से गाय देह के लिए हितकारी या सुखकारी साधन का कथन किया जाता है। अतः गो पद का वही व्यक्तिरूप अर्थ समझना चाहिये।

**अनुबन्ध-**साजात्य-प्रजनन को कहते हैं। समानजातीय सन्तान का उत्पन्न करना। गौर्गा जनयति गाय गाय को पैदा करती है। यहाँ एक द्रव्यात्मक गाय-देह से अन्य गाय उत्पन्न होती है। यह उत्पत्ति व्यक्ति की सम्भव है; जाति आदि की नहीं।

फलतः 'या शब्द' आदि का गो पद के साथ प्रयोग व व्यवहार से यह स्पष्ट हो जाता है कि गो पद का अभिधेय व्यक्ति है; अतः व्यक्ति को पद का अर्थ मानना चाहिये, जाति आदि को नहीं।

पद के अर्थ में जाति का होना आवश्यक- आचार्य सूत्रकार उक्त कथन में दोष बताकर उसका प्रतिषेध करता है-

**न तदनवस्थानात्। २/२/६०**

**न व्यक्तिः पदार्थः । कस्मात् ? अनवस्थानात् ।**

गतसूत्र में पद का अर्थ व्यक्ति बताया गया है, वह युक्त नहीं है; क्योंकि व्यक्ति का अवस्थान जाति को छोड़कर केवल व्यक्ति के रूप में उपलब्ध होना सम्भव नहीं। ऐसा कोई स्थल नहीं, जहाँ केवल व्यक्तिमात्र अवस्थित हो, और वहाँ जातिरूप धर्म का अस्तित्व न हो। तात्पर्य है-पद का अर्थ में शक्तिग्रह जाति के बिना केवल व्यक्ति में होना यदि स्वीकार किया जाय, तो गो पद का जिस व्यक्ति-विशेष के साथ प्रथम शक्तिग्रह हुआ है, उसी का बोध गो पद से हो सकेगा, अन्य व्यक्ति का नहीं। क्योंकि वाच्य-वाचकरूप से जिस अर्थ में जिस पद का शक्तिग्रह होता है, वह पद उसी अर्थ का शाब्दबोध करा सकता है, अन्य का नहीं। इसलिए केवल व्यक्ति को पद का वाच्य मानने की दशा में उस पद से यदि वाच्य व्यक्ति विशेष से अतिरिक्त का बोध होता है, तो यह अनैकान्तिक दोष है, क्योंकि जो पद का वाच्य नहीं है, उसका भी वह बोध करा रहा है।

व्यक्ति में 'या शब्द' आदि व्यवहार गौण- शङ्का होती है, यदि केवल व्यक्ति पद का वाच्य अर्थ नहीं है, तो गत सूत्र द्वारा याशब्द आदि से पद-सम्बन्धी समस्त व्यवहार जो व्यक्ति में सम्भव होना कहा है, उसका क्या समाधान होगा ? सूत्रकार ने बताया, वह औपचारिक अर्थात् गौण व्यवहार है। ऐसा व्यवहार निमित्त विशेष के कारण उन पदार्थों में हो जाता है, जो वस्तुतः वैसे नहीं हैं। आचार्य सूत्रकार ने इस प्रकार उपचार (गौणव्यवहार) के कतिपय उदाहरण स्थल प्रस्तुत किये-

**सहचरणस्थानतादर्थ्यवत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाऽऽधिपत्येभ्यो ब्राह्मणमञ्चकटराजसक्तुचन्दनगङ्गा शाटकान्पुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः २/२/६१**

जो अर्थ जिस पद या शब्द का वाच्य नहीं है, उस अर्थ के लिए भी उस पद का प्रयोग विशेष कारण से होजाता है। सूत्र के पहले आधे भाग में सहचरण आदि निमित्तों का निर्देश है; अगले सूत्रभाग में ब्राह्मण आदि अर्थ निदिष्ट हैं, जिनका कथन निमित्तविशेष से व्यवहार में ऐसे पदों के द्वारा होता है, जो उस अर्थ के वाचक नहीं हैं। उनको यथाक्रम प्रस्तुत किया जाता है।

**सहचरण-** सहचारी होना, आवश्यक रूप से साथ में रखना, या रहना। कोई ब्राह्मण नियमितरूप से यष्टिका (लाठी) अपने साथ रखता है, उन दोनों का सहचार इतना व्यवस्थित है कि उसमें कभी विपर्यय नहीं आता। ऐसी स्थिति में लोग उस व्यक्ति का वही नाम पुकारने लगते हैं। यह उदाहरण ऐसा ही है। किसी ने कहा-यष्टिकां भोजय लाठी को जिमा दो, यहाँ यष्टिका पद सहचरण-निमित्त से उस ब्राह्मण का बोधक है, जो यष्टिका साथ रखता है। यष्टिका का वाच्य अर्थ ब्राह्मण नहीं है फिर भी उसके लिए उक्त पद का प्रयोग हुआ है। ऐसा प्रयोग गौण माना जाता है। इसी प्रकार गो पद का मुख्य वाच्य-अर्थ केवल व्यक्ति न होने पर भी व्यक्ति अर्थ में उसका प्रयोग गौणरूप से होना सम्भव है। वह नितान्त असमञ्जस नहीं है।

**स्थान-** यह पद किसी जगह को कहता है। सूत्र में उसके लिए विशेष पद मञ्च दिया है, इसका अर्थ मचान या टांड है। यह खेतों

में फसल की रखवाली के लिए चार ऊँची मजबूत लकड़ियाँ गाड़कर उन पर बैठने आदि की जगह बना ली जाती है। रखवाले व्यक्ति उस पर बैठकर जोर से आवाज देते हुए पक्षियों आदि को हटाकर फसल की रखवाली करते हैं। उसी को लक्ष्यकर किसी ने कहा-मञ्चाः क्रोशन्ति- मचान चिल्ला रहे हैं। यहाँ मञ्च शब्द मञ्च पर बैठे पुरुषों के लिए प्रयुक्त किया गया है। मञ्च उन पुरुषों का स्थान है, इस निमित्त से मञ्च पद का प्रयोग वहाँ बैठे पुरुषों के लिए हुआ है। यद्यपि मञ्च -पद का वाच्य-अर्थ पुरुष नहीं है। **तादर्थ्य-** किसी निर्माण के लिए कारणभूत अवयवों की विद्यमानता। कट (चटाई) के निर्माण के लिए वीरण [पटेरे] एकत्रित हैं। उनको व्यवस्थित-रूप में फैलाकर चटाई का बुना जाना प्रारम्भ कर दिया है, परन्तु अभी कारण-सामग्री अपने-पटेरे के रूप में है; कट (चटाई) का अस्तित्व नहीं है। फिर भी कहा जाता है-**कटं करोति**, कट को बनाता है। वस्तुतः निर्माण के लिए जो क्रिया हो रही है, उसका विषय या कर्म वीरण हैं; पर वीरण क्योंकि कट के निर्माण के लिए हैं, इसलिए वीरण में कट पद का प्रयोग हो रहा है। **वृत्त-**व्यवहार व आचरण को कहते हैं। जो राजा व कोई व्यक्ति यम के समान अति कठोर क्रूर व्यवहार व आचरण करने वाला होता है; उसके लिए यम पद का प्रयोग कर दिया जाता है- **यमो राजा** यह राजा क्या है, पूरा यम है। यम मृत्यु का देवता माना जाता है, जो उदार दानी राजा है, उसे कुबेर कह दिया जाता है-कुबेर राजा। लोक में इस प्रकार के अनेक प्रयोग बराबर होते रहते हैं। **मान-**परिमाण, नाप-तौल का नाम है। एक सेर बाट से तुले धान को एक सेर धान कहा जाता है, जबकि धान स्वयं सेर-परिमाण नहीं है। **आदकं सक्तवः** ढाई सेर सत्तू। सत्तू स्वयं आदक नहीं है; ढाई सेर के बाट से परिमित है। परिमाण वाचक पद का प्रयोग द्रव्य के लिए हो जाता है। यह गौण प्रयोग है।

**धारण-**रखा जाना, तुला में जो चन्दन रखा है, उसे तुलाचन्दन कह देते हैं। यहाँ तुला पद का चन्दन में प्रयोग कर दिया गया है। **सामीप्य-**समीप में अवस्थित होना। प्रयोग होता है-**गङ्गायां गावश्चरन्ति**-गङ्गा में गायें चर रही हैं। गङ्गा पद बहती हुई विशिष्ट जलधारा अथवा जलप्रवाह का नाम है। पर यहाँ गङ्गा पद का प्रयोग जलप्रवाह के समीपवर्ती प्रदेश के लिए हुआ है; जबकि मुख्यतः गङ्गा-पद प्रदेश का वाचक नहीं है।

**योग-** सम्बद्ध होना। काले रंग से सम्बद्ध कपड़ा, काला कपड़ा कहा जाता है-**कृष्णेन रागेण युक्तः शाकटः कृष्ण इत्युच्यते-काली शाकटः**। यहाँ कृष्ण रूपवाचक पद का प्रयोग योग निमित्त से शाकट (शाकट) द्रव्य के लिए किया गया है।

**साधन** - सिद्ध किये रखना, बनाये रखना। अन्न प्राणों को जीवन को बनाये रखता है, जीवन का साधन है। प्राणों का साधन होने से अन्न को प्राण कह दिया जाता है- **अन्नं वै प्राणाः**।

**आधिपत्य** - मिल्कियत, हुकूमत, शासन-निमित्त से प्रशास्य-वाचक पद का प्रयोग प्रशासक, मालिक या हाकिम व्यक्ति के लिए हो जाता है। अपने कुल खानदान परिवार का मालिक प्रशासक संचालक देवदत्त व्यक्ति के लिए कुल पद का प्रयोग हो जाता है- **देवदत्तः कुलम्**। इसी प्रकार ग्राम, प्रदेश, राष्ट्र तथा विशिष्ट संस्थाओं के वाचक पदों का प्रयोग उनके प्रधान व्यक्तियों, नेताओं तथा संचालकों के लिए लोक में बराबर होता रहता है।

ये सब प्रयोग औपचारिक गौण होते हैं; मुख्य अभिधावृत्ति के अनुसार नहीं। याशब्द आदि के आधार पर उदाहरणरूप से गो पद का व्यक्ति अर्थ में जो प्रयोग व व्यवहार गतसूत्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह सब इसी प्रकार गौण समझना चाहिये। उन स्थलों में ऐसे प्रयोग का निमित्त सहचरण अथवा योग हो सकता है। व्यक्ति के साथ जाति का नियत साहचर्य है एवं जाति व्यक्ति में आश्रित-समवेत रहती है, अतः उनका आश्रयाश्रित सम्बन्ध योग है। अतः पद का अर्थ केवल व्यक्ति है, ऐसा समझना ठीक नहीं। 'आकृति' पद का अर्थ रहे- यदि पद का अर्थ व्यक्ति नहीं है, तो आकृति अर्थ मान लेना चाहिये; जिज्ञासु ने कहा। आचार्य सूत्रकार ने उसकी भावना को सूत्रित किया-

**आकृतिस्तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थान सिद्धेः। २/२/६२**

**आकृतिः पदार्थः। कस्मात्? तदपेक्षत्वात् सत्त्वव्यवस्थानसिद्धेः।**

प्राणी शरीर के अवयव तथा उनके अन्य अवान्तर अवयवों का विशेष सन्निवेश अथवा रचना विशेष का नाम आकृति है। आकृति को पदार्थ मानना अधिक उचित है; क्योंकि प्राणी की व्यवस्था अर्थात् विभिन्न प्राणि विषयक व्यवहार प्राणी की विशिष्ट आकृति पर निर्भर करता है। आकृति विशेष के आधार पर लोक में किसी प्राणी को गाय तथा अन्य को घोड़ा, कुत्ता, हाथी, ऊँट आदि कहा जाता है। आकृति के ग्रहण होने पर यह अमुक प्राणी है गाय या घोड़ा आदि ऐसा निश्चय किया जाता है। यदि आकृति स्पष्ट दिखाई नहीं देती, तो यह अमुक प्राणी है ऐसा निश्चित ज्ञान नहीं हो सकता। पद के उच्चारण करने पर प्राणी सम्बन्धी यह व्यवहार जिसके ग्रहण होने से सम्पन्न हो पाता है, उसी को पद का अर्थ मानना चाहिये। फलतः आकृति को पदार्थ मानना युक्त है।

'जाति' को क्यों न पदार्थ माना जाय- जिज्ञासु कहता है, तब जाति को पदार्थ मान लेना चाहिये। आचार्य सूत्रकार ने जिज्ञासु की भावना को सूत्रित किया-

**व्यक्त्याकृतियुक्तेऽप्यप्रसङ्गात् प्रोक्षणादीनां मृद्गवके जातिः । २/२/६३**

**जातिः पदार्थः । कस्मात् ? व्यक्त्याकृतियुक्तेऽपि मृद्गवके प्रोक्षणादीनामप्रसङ्गादिति । गां प्रोक्षय गामानय गां देहीति नैतानि गवके प्रयुज्यन्ते। कस्मात् ? जातेरभावात्।**

मिट्टी से बनी गाय की मूर्ति में आकृति और व्यक्ति दोनों गाय प्राणी के समान विद्यमान हैं; फिर भी उसमें गां प्रोक्षय, गामानय, गां दोग्धि आदि व्यवहार नहीं होता। गाय को स्नान कराओ, गाय को यहाँ ले आओ, एवं गाय को दुहता है; इत्यादि व्यवहार मिट्टी की गाय में सम्भव नहीं होता, यद्यपि वहाँ व्यक्ति और आकृति विद्यमान हैं। वहाँ जाति के न रहने से यह स्थिति है, अतः जाति को पदार्थ मानना अधिक युक्त है।

जाति की अभिव्यक्ति व्यक्ति आकृति के बिना नहीं, उक्त कथन में आपत्ति प्रस्तुत करने वाले जिज्ञासु के भाव को आचार्य सूत्रकार ने सूत्रित किया-

**नाकृतिव्यक्त्यपेक्षत्वाज्जात्यभिव्यक्तेः २/२/६४**

**जातेरभिव्यक्तिराकृतिव्यक्ती अपेक्षते, नागृह्यमाणायामाकृतौ व्यक्तौ जातिमात्रं शुद्धं गृह्यते, तस्मान्न जातिः पदार्थ इति ।**

जाति का ग्रहण आकृति और व्यक्ति की अपेक्षा से होता है। यदि व्यक्ति एवं आकृति का ग्रहण न हो, तो जाति की प्रतीति होना सम्भव नहीं। क्योंकि जाति की अभिव्यक्ति व्यक्ति और आकृति के ग्रहण पर निर्भर है, अतः केवल शुद्ध जाति को पद का अर्थ माना जाना प्रामाणिक नहीं।

व्यक्ति-आकृति-जाति तीनों पद के अर्थ - ऐसा तो सम्भव नहीं कि पद का कोई अर्थ न हो; तब पदार्थ क्या है? स्पष्ट होना चाहिये। सूत्रकार ने जिज्ञासा का समाधान किया-

**व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः। २/२/६५**

**तु शब्दो विशेषणार्थः । किं विशिष्यते ? प्रधानाङ्गभावस्यानियमेन पदार्थत्वमिति ।**

सूत्र में पठित तु पद एक विशेषता का बोध कराता है। वह विशेषता है-जाति, व्यक्ति, आकृति का परस्पर प्रधान गौणभाव। व्यवहार के अनुसार जहाँ जैसा सम्भव हो, इनमें से एक पदबोध्य अर्थ प्रधान होता है, शेष दोनों गौण रहते हैं। ऐसा नियम नहीं है कि सर्वत्र इनमें से कोई एक प्रधान रहे, और शेष दो गौण रहे। जैसे प्रथम जहाँ याशब्द आदि का प्रयोग बताया गया है, जिसमें भेद की विवक्षा व विशेष स्थिति का बोध कराना अपेक्षित रहता है। वहाँ पद का प्रधान अर्थ व्यक्ति है; जाति, आकृति गौण हैं। जब भेद की विवक्षा न हो, और सामान्य स्थिति का बोध कराना अपेक्षित हो, वहाँ पद का प्रधान अर्थ जाति रहता है; व्यक्ति, आकृति गौण। जैसे-गौ बड़ा सीधा जानवर है गाय का दूध सर्वोत्तम होता है; यहाँ गो पद का मुख्य अर्थ जाति, शेष गौण हैं। जब गाय के क्रय आदि का अवसर होता है, तब उसके देह और देहावयवों पर विशेष दृष्टि रहती है, जो आकृतिरूप है। यहाँ आकृति की प्रधानता है; जाति, व्यक्ति गौण। इस प्रकार पद के अर्थ तीनों हैं; यथावसर उनमें केवल प्रधान गौण भाव रहता है।

व्यक्ति का लक्षण-शिष्य जिज्ञासा करता है, जाति-व्यक्ति-आकृति को अनेक क्यों माना जाता है ? इनको एकरूप स्वीकार कर उसीको पदार्थ मान लिया जाय ? सूत्रकार ने समाधान किया, इन सबके लक्षण-स्वरूप भिन्न-भिन्न हैं, इसी कारण इन्हें अनेक माना जाता है। इसके अनुसार सूत्रकार व्यक्ति-आकृति-जाति के लक्षण यथाक्रम प्रस्तुत करता है-

**व्यक्तिर्गुणविशेषाश्रयो मूर्तिः २/२/६६**

**व्यज्यत इति व्यक्तिरिन्द्रियग्राह्येति न सर्वं द्रव्यं व्यक्तिः।**

व्यक्ति पद का अर्थ है, व्यक्त (प्रकट) हुआ द्रव्य; अर्थात् इन्द्रियग्राह्य द्रव्य। प्रत्येक द्रव्य को व्यक्ति नहीं कहा जाता। गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, गुरुत्व, घनत्व, द्रवत्व, वेग एवं स्थितिस्थापक संस्कार, अव्यापी परिमाण आदि गुणों का आश्रय यथा सम्भव ऐसा द्रव्य जो उपचित-संघटित अवयवों वाला हो व्यक्ति पद से व्यवहृत होता है। ऐसी स्थिति प्रायः मध्यम परिमाण द्रव्यों की सम्भव होती है। यह स्वरूप जाति-आकृति में घटित नहीं होता; अतः व्यक्ति को उनसे भिन्न माना जाता है।

**आकृति का लक्षण-** क्रम प्राप्त आकृति का लक्षण सूत्रकार ने बताया-

**आकृतिर्जातिलिङ्गाख्या । २/२/६७**

**यथा जातिर्जातिलिङ्गानि च प्रख्यायन्ते तामाकृतिं विद्यात् । सा च सत्त्वावयवानां तदवयवानां च नियताद् व्यूहादिति ।**

जिसके द्वारा जाति एवं जाति के चिह्नों को प्रकट किया जाता है, वह आकृति है। किसी कार्य द्रव्य के अवयवों की एवं अवान्तर अवयवों की एक नियत रचना विशेष के अतिरिक्त आकृति और कुछ नहीं है। प्राणीदेह के अवयवों की नियत रचना जाति का चिह्न होती है। सिर, पैर (खुर आदि), सींग, पूँछ आदि से गाय, भैंस, कुत्ता आदि का पता लग जाता है। प्राणीदेह के अवयवों एवं अवान्तर अवयवों की नियत रचना-विशेष होने पर उससे गोत्व, अश्वत्व आदि जाति का स्पष्ट बोध हो जाता है। द्रव्य की जिस अवस्था में विशेष आकृति अभिव्यक्त नहीं हो पाती, जैसे-मिट्टी, सोना, चाँदी आदि की साधारण द्रव्य स्थिति, उस अवस्था में मृत्, सुवण

१ एवं रजत पद के प्रयोग से द्रव्य में जाति व व्यक्ति का बोध होता है, आकृति का नहीं। ऐसी दशा में आकृति पदार्थ नहीं रहता।

**जाति का लक्षण-** अन्त में जाति का लक्षण सूत्रकार ने बताया-

**समानप्रसवात्मिका जातिः २/२/६८**

**या समानां बुद्धिं प्रसूते भिन्नेष्वधिकरणेषु यया बहूनीतरेतरतो न व्यावर्तन्ते योऽर्थोऽनेकत्र प्रत्ययानुवृत्तिनिमित्तं तत्सामान्यम्।**

अनेक अधिकरणों में समानबुद्धि को उत्पन्न करनेवाला धर्म जाति कहलाता है। इसका शास्त्रीय परिभाषा में सामान्य पद से कहा है। इस नामकरण का आधार-अनेक व्यक्तियों में समान ज्ञान का जनक होना है। इस सामान्य धर्म के द्वारा अनेक अर्थ एक-दूसरे से व्यावृत्त न होकर एक वर्ग-एक श्रेणी में आ जाते हैं। अनेक अधिकरणों में इससे एक-समान ज्ञान का अनुवर्तन होता रहता है। एक गाय को देख-समझकर संसार में जितनी गाय दृश्य-अदृश्य एवं अतीत-वर्तमान-अनागत में सम्भव हैं, सबका ज्ञान यह गौ है, यह गौ है, इसप्रकार अनुवृत्तिपूर्वक हो जाता है। ऐसे ज्ञान का कारण गोत्व सामान्य धर्म है। यह धर्म केवल गो प्राणी में रहता है; उससे अतिरिक्त कहीं नहीं। इस कारण गो मात्र से अतिरिक्त जो कुछ है, उस सबसे गो वर्ग को यह धर्म व्यावृत्त रखता है; अथवा गो वर्ग से अन्य समस्त विश्व को हटाकर रखता है। इस प्रकार यह धर्म प्रत्येक समान व्यक्तियों में रहता है। जैसे-गोमात्र में गोत्व धर्म है, ऐसे अश्वमात्र में अश्वत्व, घटमात्र में घटत्व द्रव्यमात्र में द्रव्यत्व, मनुष्यमात्र में मनुष्यत्व आदि धर्म समझने चाहिये।

**स्मरणीय बिंदु-**

- विकार बनाम आदेशः वर्णों में 'दूध से दही' जैसा विकार नहीं होता। व्याकरण में 'इ' के स्थान पर 'य' का आना केवल एक वर्ण को हटाकर दूसरे को बैठाना (आदेश) है।
- पद की पहचानः महर्षि गौतम के अनुसार 'ते विभक्त्यन्ताः पदम्' अर्थात् जिन शब्दों के अंत में सुप् या तिङ् विभक्तियाँ लगती हैं, उन्हें ही शपदश कहा जाता है।
- पदार्थ के तीन अंग (सूत्र 2.2.66): किसी भी शब्द (जैसे 'गौ') से तीन चीजों का बोध एक साथ होता है: व्यक्ति (मूर्त द्रव्य), आकृति (विशिष्ट आकार), और जाति (सामान्य धर्म)।
- उपचार के निमित्तः जब हम कहते हैं 'मंच चिल्ला रहे हैं', तो यहाँ 'मंच' का अर्थ लकड़ी का ढांचा नहीं बल्कि उस पर बैठे 'लोग' हैं। इसे 'सामीप्य' या श्स्थानश जैसे निमित्तों से समझा जाता है।
- जाति का महत्वः आकृति अंगों के विन्यास को कहते हैं, जबकि जाति वह 'सामान्य' धर्म है जो एक ही वर्ग की सभी वस्तुओं में एकता का बोध कराती है।

**शब्दावली-**

- विकारः एक वस्तु का स्वरूप बदलकर दूसरी वस्तु बन जाना (जैसे दूध का दही बनना)।
- आदेशः एक वर्ण को हटाकर उसके स्थान पर दूसरे वर्ण का प्रयोग करना।
- व्यक्तिः वह मूर्त पदार्थ जिसमें गुण और क्रिया रहती है।
- आकृतिः अंगों का विशिष्ट संस्थान या ढांचा जिससे जाति की पहचान होती है।
- जातिः अनेक व्यक्तियों में रहने वाला समान धर्म, जैसे सभी मनुष्यों में मनुष्यत्व।

**5 अंक के प्रश्न-**

1. 'विकार' और आदेश के मध्य संशय का क्या कारण है और दध्यत्र के उदाहरण से इसे कैसे समझा जा सकता है?(आधार सूत्रः 2.2.40 और 2.2.41)
2. वर्णों में 'प्रकृति-विकार' भाव (दूध-दही जैसा संबंध) क्यों नहीं माना जा सकता?(आधार सूत्रः 2.2.45 और 2.2.48)
3. 'पद' की परिभाषा क्या है और इसके मुख्य भेद कौन से हैं? (आधार सूत्रः 2.2.58)
4. व्यक्ति, आकृति और जाति में क्या अंतर है और ये पदार्थ कैसे कहलाते हैं? (आधार सूत्रः 2.2.62, 2.2.63 और 2.2.64)
5. 'उपचार' (गौण प्रयोग) क्या है? सामीप्य और तादर्थ्य के उदाहरण से स्पष्ट करें।(आधार सूत्रः 2.2.61)

**5 अंक के प्रश्न-**

1. वर्णों में 'विकार' और 'आदेश' के स्वरूप को स्पष्ट करते हुए सिद्ध कीजिए कि वर्णों में विकार क्यों संभव नहीं है? (सूत्र 2.2.40-45 के आधार पर)
2. 'व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः'- इस सूत्र की समीक्षा करते हुए 'पदार्थ' के स्वरूप का वर्णन कीजिए। (सूत्र 2.2.59-66 के आधार पर)
3. 'पद' किसे कहते हैं? न्यायदर्शन के अनुसार पद के भेदों और उनकी उपयोगिता पर प्रकाश डालिए। (सूत्र 2.2.58 के आधार पर)

4. शब्द की अनित्यता' के प्रकरण में 'उपचार' से क्या अभिप्राय है? इसके किन्हीं चार निमित्तों को उदाहरण सहित समझाइए।  
(सूत्र 2.2.62 के आधार पर)

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. न्यायसूत्र के अनुसार दध्यत्र (दधि+अत्र) में 'इ' के स्थान पर 'य' का आना क्या है?

(क) विकार

**(ख) आदेश**

(ग) नाश

(घ) लोप

2. वर्णों में 'विकार' (जैसे दूध से दही बनना) क्यों नहीं माना जा सकता?

(क) क्योंकि वर्ण नित्य हैं

(ख) क्योंकि प्रकृति की वृद्धि होने पर विकार की वृद्धि नहीं दिखती

**(ग) क्योंकि वर्णों में अन्वयी धर्म का अभाव है**

(घ) उपर्युक्त सभी

3. 'प्रकृतिविवृद्धौ विकारविवृद्धेः' सूत्र का अर्थ क्या है?

**(क) प्रकृति के बढ़ने पर विकार भी बढ़ता है**

(ख) प्रकृति के घटने पर विकार बढ़ता है

(ग) प्रकृति और विकार समान रहते हैं

(घ) प्रकृति का नाश ही विकार है

4. 'य' (यकार) को 'इ' (इकार) का विकार मानने पर क्या आपत्ति आती है?

**(1) दीर्घ 'ई' के स्थान पर य का भी कोई दीर्घ रूप होना चाहिए था**

(ठ) 'य' सुनाई नहीं देना चाहिए

(ब) व्याकरण के नियम गलत हो जाते

(क) संधि नहीं हो पाती

5. न्यायदर्शन के अनुसार 'पद' की परिभाषा क्या है?

(क) सार्थक वर्ण समूह

**(ख) ते विभक्त्यन्ताः पदम् (जिनके अंत में विभक्ति हो)**

(ग) शक्ति से युक्त शब्द

(घ) जो सुनाई दे

6. 'पदार्थ' (पद के अर्थ) के अंतर्गत महर्षि गौतम ने किसे स्वीकार किया है?

(क) केवल व्यक्ति को

(ख) केवल जाति को

**(ग) व्यक्ति, आकृति और जाति तीनों को**

(घ) केवल आकृति को

7. 'अंगों के विशिष्ट विन्यास को क्या कहा जाता है?

(क) व्यक्ति

**(ख) आकृति**

(ग) जाति

(घ) उपचार

8. समान प्रसव (एक जैसी वस्तुओं में एकता का बोध कराने वाला) धर्म क्या कहलाता है?

(क) आकृति

(ख) व्यक्ति

**(ग) जाति**

(घ) गुण

9. 'गङ्गायां गावः चरन्ति' (गंगा में गाएँ चर रही हैं) में 'गंगा' शब्द का प्रयोग किस निमित्त से हुआ है?

(क) सामीप्य (निकटता)

(ख) तादर्थ्य (प्रयोजन)

(ग) स्थान

(घ) योग

10. 'मञ्चाः क्रोशन्ति' (मचान चिल्ला रहे हैं) में श्मचानश् शब्द का प्रयोग मचान पर बैठे व्यक्तियों के लिए करना क्या कहलाता है?

(क) मुख्य प्रयोग

(ख) उपचार (गौण प्रयोग)

(ग) जाति प्रयोग

(घ) इनमें से कोई नहीं



## खण्ड ३: वैशेषिकदर्शन-तृतीय अध्याय

### इकाई-३.१: हेतु एवं हेत्वाभास का निरूपण, हेतु का लक्षण एवं भेद

#### उद्देश्य-

- हेतु के स्वरूप को समझना: वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'हेतु' (तर्क का आधार) और उसके पर्याय 'अपदेश' के वैज्ञानिक लक्षण को जानना।
- व्याप्ति का ज्ञान: साध्य और साधन के बीच अविनाभाव संबंध (नियत साहचर्य) के महत्व को समझना, जिसके बिना अनुमान संभव नहीं है।
- व्याप्ति के प्रकारों का विश्लेषण: महर्षि कणाद के सूत्र के आधार पर चार प्रकार के संबंधों (संयोगी, समवायी आदि) का अध्ययन करना।
- हेत्वाभास की पहचान: यह समझना कि सदोष हेतु (गलत तर्क) क्या होते हैं और वे किस प्रकार अनुमान को अशुद्ध कर देते हैं।
- अनुमान की प्रक्रिया: अनुमान के अवयवों और उनमें हेतु की केंद्रीय भूमिका का विश्लेषण करना।

इस अध्याय में शेष बचे अन्तिम दो द्रव्यों (आत्मा एवं मन) की लक्षण सहित परीक्षा की जायेगी। वैदिक दर्शन का मूलाधार 'आत्मा' नामक द्रव्य ही है। अतः 'आत्मा' नामक विषय अत्यन्त गम्भीर ही नहीं वरन् संवेदनशील भी है। कारण यह है कि आत्मा की सिद्धि में यदि किसी भी प्रकार से न्यूनता हो गई तो पूरा वैदिकदर्शन का अस्तित्व ही खतरे में पड़ जायेगा। इसलिए इस विषय की संवेदनशीलता एवं गम्भीरता को ध्यान में रखते हुये सबसे पहले वैशेषिककार यथार्थज्ञान का अन्यतम साधन हेतु एवं इसके विपरीत हेत्वाभासों का निरूपण करते हैं।

#### हेतु एवं हेत्वाभास का निरूपण-

किसी भी संशयित विषय में निर्णय तक पहुँचने अर्थात् उसके यथार्थ स्वरूप को जानने के लिए न्यायशास्त्रों में पाँच अवयवों का उल्लेख किया गया है। इसे पञ्चावयव कहा जाता है। जिस प्रकार वेदान्त के महावाक्य होते हैं, ऐसे ही पञ्चावयव को न्यायशास्त्र का महावाक्य ही समझना चाहिए, क्योंकि इसके बिना किसी भी अज्ञात तत्त्व का निश्चय करना मुश्किल ही नहीं बल्कि असम्भव ही है। ये पाँच अवयव हैं- (क) प्रतिज्ञा (ख) हेतु (ग) उदाहरण (घ) उपनय एवं (ङ) निगमन। इसमें से अपने-अपने पक्ष की ओर से साध्य का कथनमात्र करना 'प्रतिज्ञा' कहलाता है। केवल कथन से ही प्रतिज्ञा सिद्ध नहीं हो जाती बल्कि उसकी सिद्धि के लिए हेतु को बताना सबसे महत्वपूर्ण होता है। उदाहरण के साथ साधर्म्य रखता हुआ साध्य का जो साधन होता है, उसे 'हेतु' कहते हैं। इसके विपरीत हेत्वाभास होता है। उसके पश्चात् दृष्टान्त आता है। उदाहरण को 'दृष्टान्त' कहते हैं। ये तीन अवयव मुख्य होते हैं। उसके पश्चात् उपनय और निगमन में बल नहीं लगाना पड़ता वह स्वतः हो ही जाता है। उपरोक्त तीन में से भी 'हेतु' का सम्यक् बोध रखने वाला ही तत्त्व निर्णय में कुशल होता है। 'हेतु' के स्वरूप को और दृढ़ करने के लिए ही उसके विपरीत 'हेत्वाभास' के स्वरूप को भी जानना पड़ता है। ताकि हेत्वाभास को पहचान कर दूसरे के द्वारा दिये गये असदहेतु को खण्डन करने में हम समर्थ हो जाते हैं, और साथ ही अपने द्वारा प्रस्तुत 'हेतु' को भी असदहेतु से रहित सदहेतु के रूप में ठीक-ठीक व्यवस्थित कर पाएं। सदहेतु को 'हेतु' एवं असदहेतु (दुष्टहेतु) को हेत्वाभास कहते हैं।

#### हेतु का लक्षण एवं भेद-

सर्वप्रथम आचार्य हेतु का लक्षण करते हुये कहते हैं-

#### प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य। ( ३.१.१४ )

अपदेश (हेतु) का प्रसिद्धिपूर्वक होने से। 'अपदेश' पद हेतु का पर्याय है। जिसके द्वारा किसी के अस्तित्व को उभारा जाये, कहा जाये, उपपादन किया जाये उसे अपदेश अथवा हेतु कहा जाता है। इस अपदेश (हेतु) का लक्षण करते हुये सूत्र में 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वाद' पद पड़ा है। अर्थात् प्रसिद्धिपूर्वक अपदेश (हेतु) होता है। 'प्रसिद्धि' पद का तात्पर्य है- साध्य एवं साधन का नियतसाहचर्य-सम्बन्ध। इसे ही दर्शनशास्त्रों में 'व्याप्ति' के नाम से जाना जाता है। 'नियतसाहचर्यो-नियतसम्बन्धो व्याप्तिः' यह व्याप्ति की सर्वविदित परिभाषा है।

कहने का अभिप्राय यह है कि जो कथन साध्य एवं साधन के नियत सम्बन्धपूर्वक किया जाये उसे हेतु कहते हैं अनुमान प्रकरणों में इस बात का ज्ञान वक्ता को परमावश्यक होता है कि मेरे द्वारा कथित हेतु (साधन), साध्य को पूरा-पूरा व्याप्त कर रहा है। यदि हेतु साध्य के अतिरिक्त (अधिक) व्याप्त हो तो अतिव्याप्तिदोष एवं साध्य को अधूरा व्याप्त कर रहा हो तो अव्याप्तिदोष होता है। इसलिए हेतु की यथार्थता के लिए साध्य और हेतु (साधन) के व्याप्य-व्यापकभाव को जान लेना परम आवश्यक है। अन्यथा



‘आत्मा’ जैसे गम्भीर एवं संवेदनशील विषयों में भ्रम होने की पूरी सम्भावना बनी रहती है। अतएव इसप्रकार के नियत-सम्बन्धरूप व्याप्ति को महर्षि चार प्रकार से बताते हैं। यथा-

### संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च। ( ३.१.९ )

अर्थात् संयोगसम्बन्धवाला, समवायसम्बन्धवाला, एकार्थसमवायसम्बन्धवाला तथा विरोधीसम्बन्धवाला हेतु होता है।

#### स्मरणीय बिंदु-

- हेतु (अपदेश): जिसे ‘प्रसिद्धि’ या व्याप्ति के आधार पर साध्य का ज्ञान कराने वाला माना जाए, उसे हेतु या अपदेश कहते हैं।
- व्याप्ति: जहाँ-जहाँ हेतु (धुआँ) है, वहाँ-वहाँ साध्य (अग्नि) का होना व्याप्ति है। यह अनुमान का प्राण है।
- व्याप्ति के चार आधार (सूत्र 3.1.9):
- संयोगी: जैसे शरीर को देखकर त्वचा का ज्ञान।
- समवायी: जैसे कार्य को देखकर कारण का अनुमान।
- एकार्थसमवायी: एक ही वस्तु में रहने वाले दो गुणों का संबंध।
- विरोधी: जैसे नेवले को देखकर साँप की उपस्थिति के अभाव का ज्ञान।
- हेत्वाभास: जो हेतु वास्तव में न हो, पर हेतु जैसा दिखे। यह मुख्यतः ‘असिद्ध’, ‘विरुद्ध’ और संदिग्ध रूपों में देखा जाता है।
- दोषों का प्रभाव: अतिव्याप्ति (लक्षण का लक्ष्य के बाहर जाना) और अव्याप्ति (लक्षण का पूरे लक्ष्य पर न घटना) ज्ञान की शुद्धता को नष्ट कर देते हैं।

#### शब्दावली-

अपदेश: हेतु का दूसरा नाम, जो साध्य का निश्चय कराता है।

व्याप्ति: साध्य और हेतु के बीच का अविनाभाव या अनिवार्य संबंध।

संयोगी: दो द्रव्यों के बीच होने वाला अस्थायी संबंध।

विरोधी: वह संबंध जहाँ एक की उपस्थिति दूसरे के अभाव को सिद्ध करे।

हेत्वाभास: हेतु का आभास मात्र, जो तर्क की दृष्टि से अशुद्ध हो।

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. ‘अपदेश’ किसे कहते हैं?
2. व्याप्ति (प्रसिद्धि) का क्या अर्थ है?
3. वैशेषिक सूत्र 3.1.9 के अनुसार हेतु के चार संबंध कौन से हैं?
4. हेत्वाभास किसे कहते हैं?
5. अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष में क्या अंतर है?

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार ‘हेतु’ (अविनाभाव) का लक्षण स्पष्ट करते हुए ‘व्याप्ति’ के महत्व पर प्रकाश डालिए।
2. ‘संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च’ (3.1.9) सूत्र की व्याख्या करते हुए व्याप्ति के चार प्रकारों का वर्णन कीजिए।

#### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार ‘हेतु’ का दूसरा नाम क्या है?

(क) साध्य

(ख) अपदेश

(ग) निगमन

(घ) व्याप्ति

2. साध्य और साधन के ‘नियत साहचर्य संबंध’ को क्या कहा जाता है?

(क) हेतु

(ख) प्रतिज्ञा

(ग) व्याप्ति (प्रसिद्धि)

(घ) दृष्टान्त

3. महर्षि कणाद ने ‘संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च’ सूत्र (3.1.9) में व्याप्ति के कितने प्रकार बताए हैं?

(क) दो

(ख) तीन

(ग) चार

(घ) पाँच

4. 'पर्वत अग्निमान है' -यह पंचावयव वाक्य का कौन सा अंग है?

(क) हेतु

(ख) प्रतिज्ञा

(ग) उपनय

(घ) उदाहरण

5. जो हेतु न होते हुए भी हेतु जैसा प्रतीत हो, उसे क्या कहते हैं?

(क) सद्हेतु

(ख) पक्षधर्मता

(ग) हेत्वाभास

(घ) अन्वय

6. वैदिक दर्शन का 'मूलाधार' किसे माना गया है?

(क) मन

(ख) शरीर

(ग) बुद्धि

(घ) आत्मा

7. यदि हेतु साध्य के अतिरिक्त (अधिक) क्षेत्र में व्याप्त हो, तो कौन सा दोष होता है?

(क) अव्याप्ति

(ख) अतिव्याप्ति

(ग) असंभव

(घ) सत्प्रतिपक्ष

8. अनुमान के पाँच अवयवों में से निर्णय या निष्कर्ष को क्या कहा जाता है?

(क) उदाहरण

(ख) उपनय

(ग) निगमन

(घ) हेतु

9. 'नेवले को देखकर साँप के अभाव का अनुमान' व्याप्ति के किस प्रकार के अंतर्गत आता है?

(क) संयोगी

(ख) समवायी

(ग) विरोधी

(घ) एकार्थसमवायी

10. 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य' यह सूत्र किस विषय का लक्षण बताता है?

(क) आत्मा

(ख) हेतु (अपदेश)

(ग) मन

(घ) प्रत्यक्ष

## इकाई-३.२ संयोग सम्बन्ध, समवाय सम्बन्ध एकार्थसमवायसम्बन्ध तथा विरोधीसम्बन्ध

### उद्देश्य-

- व्याप्ति संबंधों का विस्तार: महर्षि कणाद के वैशेषिक सूत्रों के आधार पर हेतु (तर्क) और साध्य के बीच के सूक्ष्म संबंधों को गहराई से समझना।
- एकार्थसमवाय की व्याख्या: यह समझना कि जब दो अलग-अलग कार्य या गुण एक ही कारण में रहते हैं, तो वे एक-दूसरे के हेतु (प्रमाण) कैसे बनते हैं।
- विरोधी हेतु का विश्लेषण: अनुपलब्धि या विरोध के आधार पर होने वाले अनुमानों (जैसे बादलों को देखकर वर्षा के अभाव का अनुमान) की तार्किक प्रक्रिया को स्पष्ट करना।
- अनुमान की व्यापकता: यह जानना कि केवल प्रत्यक्ष उपस्थिति ही नहीं, बल्कि अभाव और भूत-भविष्य की स्थितियाँ भी अनुमान का आधार होती हैं।

संयोगसम्बन्ध, समवायसम्बन्ध, एकार्थसमवायसम्बन्ध तथा विरोधीसम्बन्ध चार के नियतसम्बन्धपूर्वक हेतु होता है। प्रत्येक का वर्णन इस प्रकार है-

### (क) संयोग सम्बन्ध वाला हेतु-

जैसे धूम से अग्नि का अनुमान होता है। यहाँ पर धूम का अग्नि के साथ नियत सम्बन्ध है। जहाँ-जहाँ धूम है, वहाँ वहाँ अग्नि है। जहाँ अग्नि नहीं वहाँ धूम भी नहीं। इस प्रकार धूम एवं अग्नि दोनों में कार्य-कारण भाव सम्बन्ध सिद्ध होता है। दोनों द्रव्य होने से उनके बीच 'संयोग' सम्बन्ध है। अतः उपरोक्त स्थल में धूम को देखकर अग्नि का अनुमान हो जाता है अग्नि साध्य है तथा धूम हेतु (साधन) है। यहाँ पर धूम रूप हेतु का अग्निरूप साध्य से नियतसंयोगसम्बन्ध है। अर्थात् ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ पर धूम तो हो परन्तु अग्नि न हो। जहाँ धूम होगा वहाँ व्यस्थितरूप से अग्नि होगी ही। इसलिए यह 'संयोग' सम्बन्धवाला हेतु का उदाहरण है।

### (ख) समवाय सम्बन्ध वाला हेतु-

जैसे गन्ध गुण है तथा पृथिवी उसका गुणी (द्रव्य) है। गुण एवं गुणी में समवायसम्बन्ध होता है। गन्ध को जानकर झटिति पृथिवी का अनुमान हो जाता है, क्योंकि जहाँ-जहाँ गन्ध, वहाँ-वहाँ पृथिवी। गन्ध निराश्रित नहीं हो सकता गुण होने से। गन्ध केवल एकमात्र पृथिवी नामक द्रव्य में ही पाया जाता है, जलादि में नहीं। जलादि में गन्ध औपाधिक होता है, अर्थात् पार्थिव परमाणुओं के सम्पर्क से जलादि में गन्ध होता है। गन्ध उसका अपना गुण नहीं है। इस प्रकार गन्ध नामक गुण से पृथिवी के अनुमान में पृथिवी साध्य तथा गन्ध हेतु है। यहाँ पर हेतु एवं साध्य का सम्बन्ध 'समवाय' सिद्ध होता है। क्योंकि गुण एवं गुणी का सम्बन्ध समवाय होता है। प्रस्तुत उदाहरण में गन्ध नियत रूप से पृथिवी में समवेत रहने से नियतसमवाय सम्बन्ध वाला हेतु सिद्ध होता है।

### (ग) एकार्थसमवायसम्बन्ध वाला हेतु-

पूर्वोक्त सूत्र में कथित चार नियतसम्बन्धों में से दो का वर्णन पूर्ण हुआ शेष दो का वर्णन स्वयं आचार्य सूत्रों द्वारा कर रहे हैं। उसमें से प्रथम एकार्थसमवायसम्बन्ध का वर्णन कर रहे हैं-

### कार्य कार्यान्तरस्य। (३.१.१०)

एक कार्य अपने से भिन्न कार्य का (अनुमापक होता है) एक ही अर्थ में दो कार्य समवायसम्बन्ध से उत्पन्न होने पर, उन दोनों में नियत सम्बन्ध होने से एक को देखकर दूसरे का अनुमान हो जाता है। जैसे पटद्रव्य में 'रूप' कार्य समवेत है। इन दोनों को कार्य इसलिए कहा गया है क्योंकि कार्य में गुण कारणगुणपूर्वक होते हैं। जहाँ रूप रहता है, वहाँ 'स्पर्श' का रहना आवश्यक है। स्पर्श को छोड़कर रूप नहीं रह सकता। ऐसा कोई स्थल नहीं है जहाँ रूप रहता है, पर स्पर्श न हो। अतएव एक ही अर्थ में समवाय सम्बन्ध से युक्त रूप एवं स्पर्श दोनों का नियत साहचर्य है। इसकारण से प्रस्तुत प्रसङ्ग में रूप को देखकर स्पर्श का अनुमान हो जाता है। यहाँ एक कार्यरूप से दूसरे कार्यस्पर्श का अनुमान एकार्थसमवायसम्बन्ध से हो रहा है।

### (घ) विरोधी सम्बन्ध वाला हेतु-

अब पूर्वोक्त चौथा सम्बन्ध 'विरोधी' का उल्लेख करते हुए आचार्य ने कहा है-

### विरोध्यभूतं भूतस्य। (३.१.११)

अभूत (न होने से) से होने का अनुमान विरोधी हेतु है।

तात्पर्य यह है कि दो विरोधी तत्वों का भी एक नियत सम्बन्ध होता है, जहाँ पर एक से दूसरे का अनुमान हो जाता है। उदाहरण के लिए वर्षा का विरोधी तत्व प्रबिन्धकवायु है, जो बादलों को छिन्न-भिन्न करके वर्षा नहीं होने देता। घनघोर बादल के उमड़ने के पश्चात् भी यदि वर्षा न हुई तो उसके विरोधी प्रतिबन्धकवायु का अनुमान हो जाता है, क्योंकि प्रतिबन्धक के अभाव में कार्य

अवश्य ही होता है।

विरोधी हेतु का दूसरा उदाहरण देते हुये आचार्य पुनः कहते हैं-

**भूतमभूतस्य। (३.१.१२)**

कार्य के होने से न होने का अनुमान हो जाता है।

अर्थात् पूर्वोक्त विरोधी उदाहरण के ठीक विपरीत यदि वर्षारूप कार्य हो जाता है, तो उसके विरोधी प्रतिबन्धक वायु के न होने का अनुमान होता है। कारण यह है कि यदि कार्य का कोई विरोधी तत्व होता तो कार्य नहीं होता। कार्य हो रहा है, इसका मतलब उसके विरोधी की अविद्यमानता है।

विरोधी हेतु का तीसरा उदाहरण प्रस्तुत करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

**भूतो भूतस्य। (३.१.१३)**

एक विरोधी के विद्यमान होने से दूसरे विरोधी का अनुमान हो जाता है। जिस प्रकार फुफकारते हुये सर्प को देखकर झाड़ी की आड़ में छिपे हुये नेवले का अनुमान हो जाता है। यहाँ पर विद्यमान साँप से विद्यमान विरोधी नेवले का अनुमान हो रहा है। इस प्रकार उपरोक्त तीन विरोधी हेतु का वर्णन किया गया।

अतएव संयोगी, समवायी, एकार्थसमवायी एवं विरोधी इन चार नियत-सम्बन्धवाला हेतु होता है। जिसका साध्य के साथ नियतसम्बन्ध होने से यथार्थज्ञान का कारण होता है, इसे ही सद्हेतु या हेतु नाम से कहा जाता है, उसी को वैशेषिककार ने 'अपदेश' पद से कहा है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- संबंधों का चतुष्टय (3.1.9): अनुमान चार संबंधों पर टिका है संयोगी (धुआँ-अग्नि), समवायी (तन्तु-पट), एकार्थसमवायी (रूप-स्पर्श), और विरोधी (नेवला-साँप)।
- एकार्थसमवाय (3.1.10): कार्यो कार्यान्तरस्य एक ही द्रव्य में दो कार्य रहते हैं, तो एक कार्य दूसरे का हेतु होता है। जैसे आम के रूप (रंग) को देखकर उसके रस या स्पर्श का अनुमान करना।
- विरोधी हेतु के भेद:
  1. अभूतं भूतस्य (3.1.11): जो अभी नहीं है (अभाव), वह विद्यमान का हेतु बनता है (जैसे वर्षा का अभाव, वायु-मेघ संयोग का हेतु है)।
  2. भूतं अभूतस्य (3.1.12): जो विद्यमान है, वह भविष्य के अभाव का हेतु बनता है।
  3. भूतं भूतस्य (3.1.13): एक विद्यमान वस्तु दूसरी विद्यमान विरोधी वस्तु का हेतु होती है (जैसे नेवले को देखकर पास में छिपे साँप का अनुमान)।
- गंध और पृथ्वी: गंध पृथ्वी का समवायी हेतु है; गंध की उपस्थिति अनिवार्य रूप से पृथ्वी द्रव्य को सिद्ध करती है।
- व्याप्ति (प्रसिद्धि): वैशेषिक दर्शन में व्याप्ति को श्रसिद्धि कहा गया है, जिसका अर्थ है साध्य और साधन का ऐसा अटूट संबंध जो पहले से ज्ञात हो।

शब्दावली

- एकार्थसमवाय: वह संबंध जहाँ दो कार्य या गुण एक ही आश्रय (अर्थ) में समवाय संबंध से रहते हों।
- समवाय : नित्य संबंध, जैसे गुण और गुणी के बीच या अवयव और अवयवी के बीच का संबंध।
- विरोधी : वह हेतु जो विपरीत अवस्था या प्रतिद्वंद्वी की उपस्थिति से निष्कर्ष निकालता है।
- अभूत: जो उत्पन्न न हुआ हो या जिसका वर्तमान में अभाव हो।
- भूत : जो विद्यमान है या जो घटित हो चुका है।

**5 अंक के प्रश्न-**

प्रश्न 1: सूत्र 3.1.9 'संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च' का मुख्य उद्देश्य क्या है?

प्रश्न 2: सूत्र 3.1.10 'कार्यो कार्यान्तरस्य' (एकार्थसमवाय) को एक उदाहरण से समझाइए।

प्रश्न 3: विरोधी हेतु से संबंधित सूत्रों (3.1.11 और 3.1.12) में क्या अंतर है?

प्रश्न 4: 'भूतं भूतस्य' (3.1.13) सूत्र का क्या अभिप्राय है?

**15 अंक के प्रश्न-**

प्रश्न 1: 'एकार्थसमवाय' संबंध को सूत्र 'कार्यो कार्यान्तरस्य' (3.1.10) के आलोक में स्पष्ट कीजिए।

प्रश्न 2: विरोधी हेतु के विभिन्न प्रकारों का सूत्रों (3.1.11 - 3.1.13) सहित विवेचन कीजिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. वैशेषिक सूत्र 'संयोगि समवाय्येकार्थसमवायि विरोधि च' (3.1.9) में कितने प्रकार के नियत संबंधों का उल्लेख है?

(क) 2

(ख) 3

**(ग) 4**

(घ) 5

2. 'ध्रुवं से अग्नि का अनुमान' व्याप्ति के किस संबंध का उदाहरण है?

(क) समवाय संबंध

**(ख) संयोग संबंध**

(ग) विरोधी संबंध

(घ) एकार्थसमवाय संबंध

3. 'रूप (रंग) को देखकर स्पर्श का अनुमान करना' किस प्रकार का हेतु है?

(क) संयोगी

(ख) विरोधी

**(ग) एकार्थसमवायी**

(घ) समवायी

4. सूत्र 'कार्यो कार्यान्तरस्य' (3.1.10) का क्या अर्थ है?

(क) कारण से कार्य का अनुमान

**(ख) एक कार्य से दूसरे कार्य का अनुमान**

(ग) कार्य के अभाव से कारण का अनुमान

(घ) विरोधी से विरोधी का अनुमान

5. 'गंध' किस द्रव्य का विशेष गुण (हेतु) है जिससे उस द्रव्य का अनुमान होता है?

(क) जल

(ख) वायु

(ग) आकाश

**(घ) पृथ्वी**

6. 'अभूतं भूतस्य' (3.1.11) सूत्र के अनुसार वर्षा न होने पर किसका अनुमान किया जाता है?

(क) बादलों का

(ख) बिजली का

**(ग) विरोधी वायु का**

(घ) इनमें से कोई नहीं

7. 'नेवले को देखकर सांप का अनुमान करना' किस सूत्र के अंतर्गत आता है? '

(क) भूतं अभूतस्य

**(ख) भूतो भूतस्य (3.1.13)**

(ग) कार्यो कार्यान्तरस्य

(घ) संयोगि

8. पंचावयव वाक्यों में सबसे महत्वपूर्ण अंग किसे माना गया है, जिसके बिना साध्य सिद्ध नहीं होता?

(क) प्रतिज्ञा

(ख) उदाहरण

**(ग) हेतु**

(घ) निगमन

9. 'प्रसिद्धिपूर्वकत्वादपदेशस्य' सूत्र में 'प्रसिद्धि' शब्द का दार्शनिक अर्थ क्या है?

(क) ख्याति प्राप्त करना

(ख) व्याप्ति (नियत साहचर्य संबंध)

(ग) अफवाह

(घ) प्रत्यक्ष प्रमाण

10. यदि हेतु साध्य को अधूरा व्याप्त करे (कम क्षेत्र में रहे), तो कौन सा दोष होता है?

(क) अतिव्याप्ति

(ख) अव्याप्ति

(ग) असंभव

(घ) सद्हेतु

## इकाई-३.३: हेत्वाभास का लक्षण एवं भेद, आत्मतत्त्व की सिद्धि में हेतु

### उद्देश्य-

- हेत्वाभास के भेदों को समझना: वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'अनुपदेश' (हेत्वाभास) के लक्षणों और विशेषकर 'असन्' और 'संदिग्ध' भेदों का तार्किक विश्लेषण करना।
- आत्म-तत्त्व की तार्किक सिद्धि: इन्द्रियों और विषयों के अनुभवों के आधार पर यह सिद्ध करना कि इनके पीछे एक चेतन सत्ता (आत्मा) अनिवार्य है।
- ज्ञान के आधार का विवेचन: यह प्रमाणित करना कि ज्ञान जड़ इन्द्रियों या नाशवान विषयों का धर्म नहीं हो सकता।
- अनुस्मृति और प्रत्यभिज्ञा का महत्व: याददाश्त और पहचान के माध्यम से सिद्ध करना कि अनुभवों को जोड़ने वाला अनुसन्ध ता इन्द्रियों से पृथक है।

### हेत्वाभास का लक्षण एवं भेद-

हेतु का वर्णन के पश्चात् अब दृष्टहेतुरूप हेत्वाभास का निरूपण किया रहा है। हेत्वाभास का लक्षण करते हुये महर्षि निम्न सूत्र देते हैं-

#### अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः। ( ३.१.१५ )

अप्रसिद्ध (प्रसिद्धि से रहित) अनपदेश-अहेतु (हेत्वाभास) होता है, वह हेत्वाभास असत् एवं सन्दिग्ध दो प्रकार का होता है। प्रस्तुत सूत्र में 'अनपदेश' पदहेत्वाभास अर्थ में है। अप्रसिद्ध का तात्पर्य है-अव्याप्ति। अर्थात् व्याप्ति से रहित हेत्वाभास होता है। जहाँ पर दिये गये हेतु का साध्य के साथ नियतसम्बन्ध नहीं होता है। ऐसे दृष्टहेतु को हेत्वाभास कहते हैं, जो अपने साध्य को सिद्ध कराने में असमर्थ होता है। यह दो प्रकार का होता है- (1) असन् (2) सन्दिग्ध।

अब सूत्रकार स्वयं इन दोनों असदहेतुओं को दृष्टान्तपूर्वक क्रमशः समझाया है। यथा-

#### यस्माद् विषाणी तस्मादश्वः। ( ३.१.१६ )

क्योंकि यह (पशु) सींग वाला है इसलिए अश्व (घोड़ा) है।

घोड़ा रूपी साध्य में विषाणी रूपी हेतु की प्रसिद्धि (व्याप्ति) नहीं है। घोड़ा में सींग न था, न है और न होगा। सींगरूपी हेतु का साध्यरूप घोड़े में तीनों कालों में सम्बन्ध न होने से, ऐसा हेतु 'असन्' नामक हेत्वाभास कहलाता है।

'पक्षेऽसन् अपक्षधर्म इत्यर्थः' साध्य-पक्ष में न होता हुआ जो असाध्य-अपक्ष का धर्म हो ऐसा 'असन्' का तात्पर्य है। उपरोक्त उदाहरण में अश्वरूप पक्ष में सींग न होता हुआ अनश्वरूप असाध्य-अपक्ष का धर्म होने से - 'असन्' नामक हेत्वाभास सिद्ध होता है। अब सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास को उदाहरण सहित समझा रहे हैं-

#### यस्माद् विषाणी तस्माद् गौरिति चानैकान्तिकस्योदाहरणम्। ( ३.१.१७ )

यह (पशु) सींग वाला है, इसकारण से 'गौ' है, इस प्रकार यह अनैकान्तिक (संदिग्ध) नामक हेत्वाभास का उदाहरण है।

जो हेतु साध्य के साथ-साथ असाध्य के साथ भी सम्बन्ध रखें ऐसा हेतु अनैकान्तिक होने से सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। प्रस्तुत उदाहरण में 'सींग' हेतु है तथा 'गौ' साध्य है। 'सींग' का सम्बन्ध साध्यभूत 'गौ' के साथ तो है ही इसके अतिरिक्त असाध्य महिषी आदि में भी है। इस कारण यह हेतु साध्य-असाध्य (पक्ष-अपक्ष) दोनों में व्याप्त होने से संदेह को निवृत्त न करने के कारण संदिग्ध नामक हेत्वाभास कहलाता है। ऐसे में सींग वाले अजा, महिषी आदि पशुओं को भी 'गौ' कहने का प्रसङ्ग आ जायेगा। इसलिए ऐसा हेतु अनैकान्तिक अर्थात् ऐकान्तिकरूप से अर्थात् केवल साध्य में व्यवस्थितरूप से न होने के कारण 'सन्दिग्ध' नामक 'हेत्वाभास' कहलाता है। इस प्रकार असन् एवं सन्दिग्ध दो हेत्वाभासों का उदाहरण सहित वर्णन पूर्ण हुआ।

कतिपय आचार्य "अप्रसिद्धोऽनपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानपदेशः" इस सूत्र से तीन प्रकार के हेत्वाभासों का वर्णन करते हैं। यथा-

#### विरुद्धासिद्धसन्दिग्धमलिङ्गं काश्यपोऽब्रवीत्। ( प्रश-भा. )

अर्थात् विरुद्ध, असिद्ध एवं सन्दिग्ध तीन हेत्वाभासों को काश्यपगोत्रोत्पन्न कणाद ने कहा है। भाष्यकार के इस कथन से सूत्र का इस प्रकार अर्थ करना पड़ेगा-

अप्रसिद्धः अनपदेशः असन् अनपदेशः सन्दिग्धश्चानपदेशः।

अर्थात् (क) अप्रसिद्ध नामक हेत्वाभास। इसी को भाष्यकार ने 'विरुद्ध' कहा है। (ख) असन् नामक हेत्वाभास। इसी को भाष्यकार ने 'असिद्ध' कहा है। तथा तीसरा (ग) सन्दिग्ध नामक हेत्वाभास।



उपरोक्त प्रकार से सूत्रार्थ तो हो ही जायेगा। परन्तु आगे उदाहरण के क्रम में महर्षि कणाद ने केवल दो ही उदाहरण दिये हैं, तीसरा नहीं। यदि आचार्य का तीसरा भेद भी अभीष्ट होता तो जिस प्रकार दो का उदाहरण दिये वैसे तीसरे का भी दे देते। परन्तु ऐसा नहीं है, उन्होंने केवल दो का ही उदाहरण दिया है। इससे पता चलता है कि सूत्रकार को केवल दो ही हेत्वाभास अभीष्ट हैं। न्यायोक्त पांच हेत्वाभासों को दो में ही अन्तर्भाव कर लिया जाता है। अतएव भाष्यकार का तीन प्रकार का कथन विचारणीय है।

### आत्मतत्त्व की सिद्धि में हेतु

आत्मतत्त्व की सिद्धि से पूर्व हेतु एवं हेत्वाभासों का वर्णन कर दिया गया है ताकि सद्हेतुपूर्वक आत्मतत्त्व के निश्चय में कोई भ्रम-प्रमादादि का अवकाश न हो। आत्मा की परीक्षा के लिए सूत्रकार अपेक्षित भूमिका का आरम्भ करते हुये कहते हैं-

### प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः। ( ३.१.१ )

इन्द्रियों के अर्थ प्रसिद्ध (व्यवस्थित) है। सूत्रकार का आशय यह है कि प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियों के विषय व्यवस्थित है। यथा- चक्षु का विषय रूप, घ्राण का विषय गन्ध, रसना (जिह्वा) का विषय रस, त्वचा का विषय स्पर्श एवं श्रोत्र का विषय शब्द। इस इन्द्रिय एवं विषय के व्यवस्था का कभी अतिक्रमण नहीं देखा जाता है। कभी ऐसा नहीं होता है कि चक्षु की अनुपस्थिति में घ्राणादि के द्वारा रूप का ग्रहण हो जाए। अथवा घ्राण की अनुपस्थिति में चक्षुरादि से गन्ध का ग्रहण हो जाये। प्रत्येक इन्द्रियाँ अपने नियत विषय का ही ग्रहण करती हैं। आँख केवल रूप का ही ग्रहण करेगा, रसादि का नहीं। इसी प्रकार से अन्य इन्द्रियों में भी समझ लेना चाहिए। अब प्रस्तुत इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि का आत्मा की सिद्धि में उपयोग दिखाते हुये आचार्य कहते हैं-

### इन्द्रियार्थप्रसिद्धिरिन्द्रियार्थेभ्योऽर्थान्तरस्य हेतुः। ( ३.१.२ )

इन्द्रियों के अर्थों की नियतव्यवस्था (प्रसिद्धि) इन्द्रिय एवं उसके अर्थों से भिन्न (आत्मा) अर्थ को सिद्ध करने में हेतु है। आशय यह है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने केवल नियत विषयों को ही ग्रहण करती हैं। परन्तु अनुभव में यह आता है कि 'कल मैंने जिसको देखा था, उसी को मैं आज छू रहा हूँ' इसप्रकार के अनुभव में द्रष्टा एवं स्पृष्टा कोई एक प्रतीत होता है, क्योंकि दोनों में 'मैं' समान रूप से अन्वित है। दर्शन क्रिया का करण (साधन) चक्षु है तथा स्पर्शन क्रिया का करण त्वचा है। दोनों करण भिन्न-भिन्न हैं- यह प्रत्यक्ष से ही स्पष्ट है। परन्तु उपरोक्त अनुभूति में 'मैं' नामक कोई तत्त्व पृथक् से भास रहा है। इससे सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ अपने-अपने नियत विषयों का ग्रहण करने से 'नियतविषयग्राही' है। जबकि एक तत्त्व ऐसा अनुभव में आता है जो 'अनियतविषयग्राही' है। अर्थात् वह सभी विषयों को समान रूप से ग्रहण करता है। मैं देख रहा हूँ, छू रहा हूँ, चख रहा हूँ, सुन रहा हूँ, सूँघ रहा हूँ इत्यादि अनुभवों में सर्वत्र 'मैं-मैं' अनुगत होने से वह एक तत्त्व 'सर्वविषयग्राही' के रूप में प्रत्यात्मवेदनीय (अपने आप अनुभव में आने वाला) है।

इससे पता चलता है कि की इन्द्रियों से भिन्न आत्मा का अस्तित्व है। उपरोक्त सूत्र में इन्द्रियार्थसन्निकर्ष से जन्य ज्ञान के आधार पर तथा स्मृति (प्रत्यभिज्ञा) इन दो के आधार पर आत्मा के अस्तित्व की सिद्धि की गई है।

### ( क ) इन्द्रियार्थसन्निकर्षजन्य ज्ञान के आधार पर

प्रत्येक इन्द्रियों का स्व-स्व विषयों के सन्निकर्ष से जन्य जो रूपादि का 'ज्ञान' होता है वह इन्द्रियों एवं अर्थों से भिन्न का ही गुण सिद्ध होता है। क्योंकि 'ज्ञान' गुण है, वह किसी न किसी द्रव्य के आश्रय से अवश्य होगा। अब विचार का विषय यह है कि ज्ञान आखिर में किसका गुण है। वह किसी न किसी द्रव्य के आश्रय से अवश्य होगा। अब विचार का विषय यह है कि ज्ञान आखिर में किसका गुण है? इन्द्रियों का? अर्थों का? या फिर किसी अन्य का? प्रथम दो पर विचार करते हैं तो घट-पटादि के नाश हो जाने पर भी उसका ज्ञान देखा जात है। गुण, द्रव्य के बिना रह नहीं सकता। यदि ज्ञानगुण का आश्रय द्रव्य घट-पटादि होते तो घट के नष्ट हो जाने पर ज्ञान का भी नाश हो जाना चाहिए। परन्तु ऐसा होता नहीं है। इसका तात्पर्य है कि ज्ञान घट-पटादि अर्थों का गुण नहीं है।

तब यह क्यों न मान लिया जाये कि ज्ञान इन्द्रियों का गुण है। क्योंकि इन्द्रियों के होने पर रूपादि का ज्ञान होता है, तथा उनके न होने पर रूपादि का ज्ञान भी नहीं होता है। अतः जिसके होने पर जो होता है और जिसके नहीं होने पर जो नहीं होता है वही उसका आश्रय होता है। ऐसे में रूपादि ज्ञानों का आश्रय चक्षुरादि इन्द्रियाँ ही हैं।

उपरोक्त कथन का खण्डन करते हुये वैशेषिकाचार्यों का कहना है कि इन्द्रियों का गुण भी ज्ञान नहीं है, क्योंकि दुर्भाग्य से चक्षुरादि इन्द्रियों के नष्ट हो जाने पर भी रूपादि का स्मरण होता है। कालान्तर में अन्धा हुआ व्यक्ति को भी रूप का स्मृत्यात्मक ज्ञान होता है। स्वप्न में आँख के बन्द हो जाने पर रूप का ज्ञान सबको होता ही है। अतः ज्ञान गुण इन्द्रियों का नहीं है। अपितु इनसे भिन्न किसी अन्य द्रव्य का है। वह आत्मा नामक द्रव्य ही हो सकता है।

### ( ख ) प्रत्यभिज्ञा के आधार पर-

प्रत्यभिज्ञा अर्थात् पूर्वानुभव की अनुस्मृति से भी इन्द्रियार्थों से भिन्न आत्मा की सिद्धि होती है।

अभिप्राय यह है कि आँखों से पीले आम को देखकर मधुर रस की स्मृति हो जाती है। प्रस्तुत प्रसङ्ग में रूप का ग्राहक इन्द्रिय चक्षु तथा रस का ग्राहक इन्द्रिय रसना है। दोनों भिन्न-भिन्न हैं। परस्पर इनका समन्वय-सामञ्जस्य भी नहीं देखा जाता। यदि ऐसा होता तो कदाचित् जिह्वा के न रहने पर आँखों से मधुरादि रसों का ग्रहण हो जाता परन्तु ऐसा नहीं होता है। इसका मतलब यह है कि ये दोनों इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं। परस्पर में इनका कोई सम्बन्ध नहीं है। फिर भी आँख से देखकर रस का ज्ञान कैसे सम्भव है? आँख से रूप का ज्ञान तो सम्भव है, क्योंकि रूप आँख का नियत विषय है। परन्तु रस का ज्ञान कैसे? इसी प्रकार नाक से सूँघकर खट्टे-मीठे रसों का भी ज्ञान हो जाता है। नाक गन्ध का ज्ञान तो कर सकती है, क्योंकि वह उसका नियत विषय है, परन्तु रस का ज्ञान नासिका से कैसे सम्भव है? परस्पर में इन्द्रियों का कोई सम्बन्ध भी दृष्टिगोचरित नहीं होता है। इससे सिद्ध होता है कि अवश्य इन इन्द्रियों से भिन्न कोई तत्त्व है जो भिन्न इन्द्रियों के विषयों का अनुसन्धानपूर्वक स्मरण कराता है। इन्द्रियों से भिन्न उस आत्मतत्त्व को माने बिना उपरोक्त प्रकार के स्मरण का कोई संतोषजनक उत्तर नहीं है। इसलिए इस प्रत्यभिज्ञा के बल पर भी इन्द्रियादि से भिन्न आत्मतत्त्व की सिद्धि होती है।

उपरोक्त दोनों प्रकारों में 'इन्द्रियार्थप्रसिद्धि' नामक हेतु ही आत्मा की सिद्धि में मूलाधार है। अतएव सूत्र की इस हेतु की निर्दोषता का कथन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यनिष्पद्यते तदन्यत्। (३.१.१८)**

आत्मा-इन्द्रिय-अर्थ के सन्निकर्ष से जो (ज्ञान) उत्पन्न होता है, वह (हेत्वाभासों से) अन्य है। अर्थात् इन्द्रियार्थसन्निकर्ष (इन्द्रियार्थ प्रसिद्धि) रूप हेतु आत्मा की सिद्धि में निर्दोष हेतु (सद्हेतु) हैं जो कि असन् एवं सन्दिग्ध नामक हेत्वाभासों से भिन्न हैं।

**स्मरणीय बिंदु -**

- अनुपदेश (हेत्वाभास): महर्षि कणाद ने 'अनुपदेश' शब्द का प्रयोग हेत्वाभास के लिए किया है। इसके मुख्य दो भेद यहाँ चर्चित हैं: असन् (असिद्ध) और सन्दिग्ध (अनैकान्तिक)।
- असन् (असिद्ध): जहाँ हेतु स्वयं अप्रसिद्ध या असत्य हो (जैसे: सींग होने से घोड़ा सिद्ध करना, जबकि घोड़े के सींग होते ही नहीं)।
- सन्दिग्ध (संदिग्ध): जहाँ हेतु साध्य और असाध्य दोनों में रहे (जैसे: सींग देखकर गाय कहना, जबकि सींग भैंस में भी होते हैं)।
- आत्मा की सिद्धि (3.1.1-2): इन्द्रियों के द्वारा विषयों का जो 'नियत' ज्ञान होता है, वह इन्द्रियों का अपना नहीं है। इन्द्रियाँ केवल करण (औजार) हैं, उन्हें चलाने वाला कर्ता आत्मा है।

**शब्दावली-**

- अनुपदेश: वह हेतु जो साध्य की सिद्धि न कर सके (हेत्वाभास)।
- असन् : वह हेतु जिसका अस्तित्व ही न हो।
- सन्दिग्ध : वह हेतु जो संदेह पैदा करे या अनिश्चित हो।
- प्रत्यभिज्ञा: 'यह वही है जिसे मैंने पहले देखा था' पूर्व अनुभव और वर्तमान अनुभव का मिलान।
- अनुसन्धाता: विभिन्न इन्द्रियों के अलग-अलग अनुभवों को एक सूत्र में पिरोने वाला।

**5 अंक के प्रश्न-**

1. सूत्र 3.1.15 और 3.1.16 के आधार पर 'असन्' (असिद्ध) हेत्वाभास को स्पष्ट कीजिए।
2. सूत्र 3.1.17 के अनुसार 'सन्दिग्ध' (अनैकान्तिक) हेत्वाभास क्या है?
3. सूत्र 3.1.1 और 3.1.2 के मेल से 'आत्मा' की सिद्धि कैसे होती है?
4. ज्ञान इन्द्रियों का गुण क्यों नहीं है?
5. सूत्र 3.1.18 'आत्मेन्द्रियार्थसन्निकर्षाद्यनिष्पद्यते तदन्यत्' का महत्व बताइए।

**15 अंक के प्रश्न-**

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'हेत्वाभास' (अनुपदेश) का लक्षण स्पष्ट करते हुए 'असन्' और 'सन्दिग्ध' भेदों की सोदाहरण व्याख्या कीजिए।
2. 'इन्द्रियार्थप्रसिद्धि' के आधार पर इन्द्रियों से पृथक् 'आत्मा' के अस्तित्व की सिद्धि कीजिए।
3. ज्ञान के आधार पर चर्चा करते हुए सिद्ध कीजिए कि ज्ञान न तो इन्द्रियों का गुण है और न ही विषयों का।
4. प्रत्यभिज्ञा और स्मृतियों के समन्वय के आधार पर आत्म-तत्त्व की सिद्धि के सद्हेतु का वर्णन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. सूत्र 'अप्रसिद्धोऽनुपदेशोऽसन् सन्दिग्धश्चानुपदेशः' (3.1.15) में 'अनुपदेश' शब्द का क्या अर्थ है? (क) सद्हेतु

(ख) प्रतिज्ञा

(ग) हेत्वाभास ( दोषपूर्ण हेतु )

(घ) निगमन

2. 'यस्माद् विषाणी तस्मादश्वः' ( क्योंकि इसके सींग हैं, इसलिए यह घोड़ा है ) - यह किस हेत्वाभास का उदाहरण है?

(1) सन्दिग्ध

(ठ) असन् ( असिद्ध )

(ब) सव्यभिचार

(क) बाधित

3. 'यह पशु गाय है क्योंकि इसके सींग हैं' - यह 'सन्दिग्ध' हेत्वाभास क्यों है?

(1) क्योंकि घोड़े के सींग नहीं होते

(ठ) क्योंकि सींग केवल गाय में होते हैं

(ब) क्योंकि सींग गाय के साथ-साथ भैंस आदि ( असाध्य ) में भी होते हैं

(क) क्योंकि यह प्रत्यक्ष से बाधित है

4. भाष्यकार के अनुसार 'विरुद्ध, असिद्ध और सन्दिग्ध' ये तीन हेत्वाभास किसने कहे हैं?

(क) गौतम मुनि

(ख) कणाद ( काश्यप )

(ग) जैमिनी

(घ) कपिल मुनि

5. 'प्रसिद्धा इन्द्रियार्थाः' (3.1.1) सूत्र का क्या तात्पर्य है?

(क) इन्द्रियाँ प्रसिद्ध हैं

(ख) इन्द्रियों के विषय ( रूप, रस आदि ) नियत और व्यवस्थित हैं

(ग) आत्मा प्रसिद्ध है

(घ) मन के विषय अनियत हैं

6. इन्द्रियों से भिन्न 'आत्मा' की सिद्धि में मुख्य हेतु किसे माना गया है?

(क) इन्द्रियों की शक्ति को

(ख) विषयों की सुन्दरता को

(ग) इन्द्रियार्थप्रसिद्धि ( इन्द्रियों के अनुभवों का मेल ) को

(घ) शरीर की लम्बाई को

7. जिसे मैंने आँखों से देखा, उसे ही आज मैं हाथों से छू रहा हूँ - यह अनुभव क्या सिद्ध करता है?

(क) शरीर नित्य है

(ख) इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं

(ग) इन्द्रियों से पृथक् एक 'अनुसन्धाता' ( आत्मा ) विद्यमान है

(घ) स्पर्श ज्ञान श्रेष्ठ है

8. ज्ञान को इन्द्रियों का गुण क्यों नहीं माना जा सकता?

(क) क्योंकि इन्द्रियाँ बहुत छोटी हैं

(ख) क्योंकि इन्द्रियाँ जड़ हैं

(ग) क्योंकि इन्द्रियों ( जैसे आँख ) के नष्ट होने पर भी स्मृति रूप में ज्ञान बना रहता है

(घ) क्योंकि ज्ञान केवल ईश्वर का गुण है

9. 'आँख से आम को देखकर जीभ में स्वाद का स्मरण होना' - यह तर्क क्या कहलाता है?

(क) व्याप्ति

(ख) प्रत्यभिज्ञा ( अनुस्मृति )

(ग) हेत्वाभास

(घ) प्रत्यक्ष

10. सूत्र 3.1.18 के अनुसार, आत्म-इन्द्रिय-अर्थ के संयोग से उत्पन्न ज्ञान कैसा हेतु है?

(क) असन् हेतु

(ख) सन्दिग्ध हेतु

(ग) सद्हेतु (निर्दोष हेतु)

(घ) विरुद्ध हेतु

## इकाई-३.४: देहादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में विभिन्न साधक लिंगों का वर्णन, आत्मा के गुणों का वर्णन, आत्मा के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं नानात्व की सिद्धि

### उद्देश्य-

- आत्म-लिंगों का ज्ञान: उन 12 चिह्नों (लिंगों) को समझना जो शरीर के भीतर रहते हुए भी शरीर से भिन्न एक चेतन सत्ता (आत्मा) की उपस्थिति प्रमाणित करते हैं।
- आत्मा के स्वरूप की सिद्धि: तर्कों के माध्यम से आत्मा को 'द्रव्य' और शनित्य सिद्ध करना।
- नानात्व का प्रतिपादन: यह स्पष्ट करना कि आत्मा एक नहीं बल्कि प्रत्येक शरीर में अलग-अलग (नाना) है।
- वैदिक प्रमाण: वेदों और शास्त्रों के वचनों के आधार पर आत्मा की अनेकता को पुष्ट करना।

### देहादि से भिन्न आत्मा की सिद्धि में विभिन्न साधक लिङ्गों का वर्णन

केवल इन्द्रियार्थप्रसिद्धि के आधार पर ही आत्मा के भिन्नत्व की सिद्धि नहीं है बल्कि इसके अतिरिक्त और भी विभिन्न आत्मा के साधक लिङ्ग है जिसके आधार पर आत्मा के भिन्नत्व की सिद्धि होती है। सूत्रकार ने उसका वर्णन इस प्रकार से किया है-

**प्राणापाननिमेषोन्मेषजीवनमनोगतीन्द्रियान्तरविकाराः सुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नाश्चात्मनो लिङ्गानि। ( ३.२.४ )**

प्राण तथा अपान वायु (श्वास-प्रश्वास) की क्रिया, नेत्रों को बन्दकरना-खोलना, बढ़ना-घटना रूप जीवन, मन की गति, एक इन्द्रिय के विषय ग्रहण से दूसरे इन्द्रिय में विकार का होना, सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, एवं प्रयत्न - ये बारह और भी आत्मा के साधक लिङ्ग है, जिससे आत्मा की देहादि से भिन्नत्व की सिद्धि होती है।

इनका क्रमशः व्याख्यान निम्न-प्रकार से किया जा रहा है-

**प्राण-अपान-** भौतिक वायु की स्वाभाविक गति तिर्यक्-तिरछा होती है। परन्तु शरीर में प्राण-अपान के द्वारा उसकी गति व्यवस्थित रूप से उर्ध्व एवं अधः देखी जाती है। वायु की इस प्रकार व्यवस्थितगति का नियंत्रक कोई चेतन आत्मा सिद्ध होता है। जैसे लुहार की धौकनी में नियमित रूप से वायु का आना-जाना चेतन लुहार के प्रेरणा से होती हो। वैसे ही शरीर में जड़ भौतिकवायु से भिन्न कोई चिंतन तत्त्व सिद्ध होता है। वह आत्मा ही है।

**निमेषोन्मेष** (निमेष-उन्मेष)- आँख के पलकों के गिरने को 'निमेष' तथा खुलने को 'उन्मेष' कहते हैं। शरीर सहित इसके सारे अङ्ग अचेतन (जड़) हैं। उस जड़ आँख की पलकों का नियमित बन्द होना एवं खुलना किसी चेतन प्रेरणा के सम्पर्क के बिना सम्भव नहीं है। जैसे अचेतन बच्चों के खिलौने (गुड़िया आदि) में उसके आँखों की पलकों का नियमित बन्द होना एवं खुलना बच्चे रूपी चेतन की प्रेरणा से होता है यदि बच्चा उसे प्रेरित न करें तो उसके पलकों की नियमित गति सम्भव नहीं है। इसी प्रकार शरीर में नियमित रूप से 'निमेषोन्मेष' की क्रिया से पता चलता है कि इसका प्रेरयिता कोई चेतन अवश्य होगा और वह आत्मा ही सिद्ध होता है।

**जीवन-** शरीर का क्रमशः वृद्धि को प्राप्त होना, शरीर में क्षत-संरोहण एवं भग्न-संरोहण होना, साजात्य प्रजनन होना इत्यादि जीवन का लक्षण है। वस्तुतः शरीर जड़ है यह मृतक शरीर को देखकर स्पष्टरूप से कोई भी जान सकता है। जड़-शरीर का बढ़ना यह बिना किसी चेतन की प्रेरणा से सम्भव नहीं है। जैसे किसी मकान को बढ़ते हुये देखकर हम यह नहीं कह सकते कि यह स्वतः अपने आप बढ़ रहा है अपितु चेतन के सम्पर्क से ही बढ़ रहा है। ऐसे की शरीर की वृद्धि आदि को देखकर चेतन आत्मा का अनुमान हो जाता है।

इसी प्रकार शरीर के खाल का छिल जाने से या कहीं थोड़ा बहुत क्षत-विक्षत हो जाने पर वहाँ पर कुछ दिन में पुनः नये खाल का जाना तथा क्षत-संरोहण होने से चेतन आत्मा का अनुमान होता है। जैसे किसी मकान को टूटे-फूटे देखने के पश्चात कुछ दिन बाद पुनः उसे ठीक अवस्था में देखने से उस घर के स्वामी का अनुमान हो जाता है कि बिना उसके स्वामी का घर अपने-आप स्वतः ठीक नहीं हो सकता। इसी प्रकार इस देह रूपी मकान का निवासी भी कोई चेतन आत्मा है जो इसकी मरम्मत करते रहता है।

**मनोगति** (मन की गति)- मन की गति से कभी चेतन आत्मा का अनुमान होता है। चञ्चल मन को प्रणिधानपूर्वक इन्द्रिय विशेष में लगाने रूपी क्रिया बिना आत्मा के प्रेरणा के सम्भव नहीं है।

यह सबके अनुभव में आता है कि 'मेरा मन चञ्चल है', परन्तु उस चञ्चल मन को खींच-खांचकर अपने अभीष्ट की सिद्धि देखी जाती है। कहने का तात्पर्य यह है कि मन को भी खींचकर अन्यत्र लगाने वाला कोई तत्त्व अनुभव में आता है, जो मन को भी खींचकर ध्यानादि क्रियाओं को सम्पादित करता है। वह आत्मा ही है।

**इन्द्रियान्तर विकार-** चक्षु से आम के पीले रूप को देखकर मुँह में (जिह्वा में) पानी का आना इन्द्रियान्तर विकार है। अर्थात् एक इन्द्रिय के विषयग्रहण से दूसरे इन्द्रियों का सक्रिय होना इन्द्रियान्तर विकार कहलाता है। चक्षु का जिह्वा के साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। ये दोनों इन्द्रियाँ भिन्न-भिन्न हैं। ऐसे में दोनों इन्द्रियों के बीच ताल-मेल बिठाने वाला कोई चेतन तत्त्व अवश्य ही है जो इन

सभी इन्द्रियों के विषयों का ज्ञान अपने पास रखता है। उसी पूर्वानुभूत ज्ञान के आधार पर स्मृति करता है तथा उसी से इन्द्रियान्तर विकार होता है। इस प्रकार इन्द्रियान्तर विकार से भी चेतनतत्त्व की सिद्धि होती है।

**सुख-दुःख-इच्छा-द्वेष-प्रयत्न-** सुखादि गुण हैं, और गुण द्रव्याश्रित होते हैं। बिना द्रव्य के गुण नहीं हो सकते हैं। पृथिव्यादि आठों द्रव्यों में से सुखादिगुण किसी भी द्रव्य में नहीं देखे जाते हैं। पूर्व में 'ज्ञान' को आत्मा का गुण सिद्ध कर दिया गया है। जहाँ-जहाँ सुखादि होते हैं, वहाँ-वहाँ ज्ञान भी देखा जाता है। इसलिए ये सभी एकार्थसमवेत होते हैं। अर्थात् जो सुखादि का अधिकरण होगा वही ज्ञान का भी अधिकरण होगा। ज्ञान का अधिकरण आत्मा गत प्रसंगों से सिद्ध हो चुका है। अतएव सुखादि का अधिकरण भी आत्मा ही सिद्ध होता है।

इस प्रकार सुख-दुःखादि के आधार पर भी आत्मा की सिद्धि होती है। एतावता उपरोक्त बारह साधक क्रियाओं से आत्मा का अस्तित्व देहादि से भिन्न वैशेषिक दर्शन के अनुसार सिद्ध होता है।

### आत्मा के गुणों का वर्णन-

आत्मा के समग्र गुणों का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-

**तस्य गुणाः बुद्धिसुखदुःखेच्छाद्वेषप्रयत्नधर्मधर्मसंस्कारसंख्यापरिमाणपृथक्त्वसंयोगविभागाः।** (प्रश.भा.)

अर्थात् बुद्धि (ज्ञान), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, संस्कार, संख्या, परिमाण, पृथक्त्व, संयोग एवं विभाग-ये चौदह गुण आत्मा के होते हैं। संस्कार का तात्पर्य स्मृति का हेतुभूल भावना नामक संस्कार से है। आत्मा में नानात्व संख्या तथा परममहत्परिमाण होता है।

### आत्मा के द्रव्यत्व, नित्यत्व एवं नानात्व की सिद्धि

वैशेषिककार आत्मा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि में अपने उन्हीं प्रसिद्ध हेतुओं का स्मरण कराते हुये कहते हैं-

**तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्याते।** (३.२.५)

उस आत्मा के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व को वायु के द्रव्यत्व एवं नित्यत्व के व्याख्यान से समझ लेना चाहिए।

जिस प्रकार से वायु के परमाणु का अन्य कोई द्रव्य समवायिकारण न होने से तथा क्रिया एवं गुण का आश्रय होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व सिद्ध होता है, ठीक उसी प्रकार आत्मा के कोई अन्य द्रव्य समवायिकारण वाला न होने से तथा ज्ञानादि गुणों का आश्रय होने से द्रव्यत्व एवं नित्यत्व की सिद्धि होती है।

**आत्मा के नानात्व** के प्रतिपादन में वैशेषिककार दो हेतु देते हैं। जिनमें से प्रथम इस प्रकार है-

**व्यावस्थातो नाना।** (३.२.२०)

अर्थात् जन्मादि की व्यवस्था से आत्मा के नानात्व की सिद्धि होती है।

एक ही समय में किसी का जन्म हो रहा है, उसी समय किसी की मृत्यु हो रही है। एक ही समय में कोई सुखी है तो कोई दुःखी। कोई धर्माचरण में रत है तो कोई अधर्माचरण में। आत्मा अखण्ड रूप से एक ही होती तो एक के जन्म लेने से सबका जन्म होता, एक की मृत्यु हो जाने से सबकी मृत्यु होती, एक के सुखी होने पर सब सुखी तथा एक के दुःखी होने पर सब दुःखी हो जाते। इसी प्रकार एक के अधर्म में लिप्त होने से सभी अधर्म में लिप्त हो जाते। परन्तु ऐसा नहीं होता। इससे पता चलता है कि प्रत्येक शरीर में उपरोक्त व्यवस्थाओं का नियामक भिन्न-भिन्न आत्मा है। अन्यथा कर्मसांकर्य, ज्ञानसांकर्य इत्यादि दोषों की आपत्ति का प्रसङ्ग आयेगा। आत्मा नानात्व में दूसरे हेतु का प्रतिपादन करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

**शास्त्रसामर्थ्याच्च।** (३.२.२१)

अर्थात् शास्त्र के सामर्थ्य से (प्रमाण से) भी आत्मा के नानात्व की सिद्धि होती है। प्रस्तुत सूत्र में शास्त्र का तात्पर्य 'वेद' से है। जैसा की वेदों में कहा है-

**इमे जीवा वि मृतैः।** (ऋ.१०.१८.३)

**वयं जीवा जीवपुत्राः।** (ऋ.१०.३६.९)

**शृण्वन्तु विश्वे अमृतस्य पुत्राः।** (यजु-११.५)

**ये समानाः समनसो जीवाः।** (यजु.१९.४६)

इत्यादि मन्त्रों में 'जीवाः' बहुवचनान्त पद जीवों के बहुत्व को सिद्ध करता है।

### स्मरणीय बिंदु-

- 12 आत्म-लिंगः प्राण, अपान, निमेष (पलकें झपकना), उन्मेष (पलकें खोलना), जीवन, मनोगति, इन्द्रियान्तर विकार (जैसे आम



देखकर मुँह में पानी आना), सुख, दुःख, इच्छा, द्वेष और प्रयत्न। ये सभी आत्मा के होने के प्रमाण हैं।

- वायु से तुलना (3.2.5): जैसे वायु को देख नहीं सकते पर स्पर्श से उसकी सत्ता सिद्ध होती है, वैसे ही आत्मा को प्रत्यक्ष देख नहीं सकते पर उसके गुणों (सुख-दुःख आदि) से उसे 'द्रव्य' और नित्य माना जाता है।
- नानात्व का तर्क (3.2.20): 'व्यवस्थातो नाना'-संसार में कोई सुखी है, कोई दुःखी, कोई राजा है तो कोई रंक। यह व्यवस्था सिद्ध करती है कि प्रत्येक शरीर का स्वामी (आत्मा) अलग है।
- शास्त्र सामर्थ्य (3.2.21): वेदों में 'अमृतस्य पुत्राः' या 'जीवाः' जैसे बहुवचन शब्दों का प्रयोग आत्मा की अनेकता को दर्शाने के लिए किया गया है।
- क्षत-संरोहणः: जैसे घर का स्वामी टूटे हुए घर की मरम्मत करवाता है, वैसे ही शरीर रूपी घर में घावों का भरना शरीर के अधिष्ठाता (आत्मा) के होने का संकेत है।

#### शब्दावली-

- आत्म-लिंगः वे लक्षण या चिह्न जिनसे आत्मा का अस्तित्व प्रमाणित होता है।
- इन्द्रियान्तर विकारः एक इन्द्रिय के अनुभव से दूसरी इन्द्रिय में परिवर्तन (जैसे देखने मात्र से जीभ में लार आना)।
- नानात्वः अनेकता या बहुत्व।
- द्रव्यत्वः द्रव्य होने का गुण (आत्मा एक द्रव्य है क्योंकि यह गुणों का आश्रय है)।
- क्षत-संरोहणः शरीर के घावों या चोटों का स्वतः भर जाना।

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. 'व्यवस्थातो नाना' (3.2.20) सूत्र के आधार पर आत्मा के नानात्व (अनेकता) को समझाइए।
2. 'जीवन' और 'मनोगति' के आधार पर आत्मा का अस्तित्व कैसे सिद्ध होता है?

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्राण-अपान से लेकर 'प्रयत्न' तक के 12 आत्म-लिंगों का सविस्तार वर्णन कीजिए तथा सिद्ध कीजिए कि आत्मा देह से पृथक् है।
  2. आत्मा के 'द्रव्यत्व' और 'नित्यत्व' की तुलना 'वायु' के परमाणु से करते हुए तार्किक व्याख्या कीजिए।
- प्रश्न 3: 'व्यवस्थातो नाना' तथा 'शास्त्रसामर्थ्याच्च' सूत्रों के आधार पर आत्मा के 'नानात्व' (अनेकता) के सिद्धांत को प्रमाणित कीजिए।
- प्रश्न 4: आत्मा के चौदह (14) गुणों का उल्लेख करते हुए स्पष्ट कीजिए कि 'संस्कार' और 'बुद्धि' आत्मा के अस्तित्व को प्रमाणित करने में कैसे सहायक हैं?

#### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. सूत्र 3.2.4 के अनुसार, इनमें से कौन सा आत्मा का लिंग (प्रमाण) है?  
(क) प्राणापान  
(ख) निमेष-उन्मेष  
(ग) सुख-दुःख और इच्छा-द्वेष  
(घ) उपरोक्त सभी
2. लोहार की धौंकनी का उदाहरण पाठ में किस क्रिया को समझाने के लिए दिया गया है?  
(क) मन की गति  
(ख) प्राण-अपान (श्वास-प्रश्वास)  
(ग) पलकों का झपकना  
(घ) शरीर की वृद्धि
3. 'आँख से पीले आम को देखकर जीभ में पानी आना' - यह कौन सा आत्म-लिंग है?  
(क) मनोगति  
(ख) जीवन  
(ग) इन्द्रियान्तर विकार  
(घ) प्रयत्न
4. वैशेषिक दर्शन के अनुसार आत्मा के कुल कितने गुण माने गए हैं?



(क) 5

(ख) 12

(ग) 14

(घ) 24

5. तस्य द्रव्यत्वनित्यत्वे वायुना व्याख्यातेऽ (3.2.5) सूत्र के अनुसार आत्मा की तुलना किससे की गई है?

(क) आकाश से

(ख) वायु से

(ग) अग्नि से

(घ) मन से

6. 'व्यवस्थातो नाना' (3.2.20) सूत्र क्या सिद्ध करता है?

(क) आत्मा एक है

(ख) आत्मा अनेक (नाना) है

(ग) आत्मा जड़ है

(घ) आत्मा शून्य है

7. 'एक व्यक्ति सुखी है और दूसरा दुःखी' - यह भिन्नता वैशेषिक दर्शन में क्या कहलाती है?

(क) मोह

(ख) जन्म-मरण की व्यवस्था

(ग) अज्ञान

(घ) व्याप्ति

8. वैशेषिक दर्शन में शास्त्रसामर्थ्याच्च (3.2.21) सूत्र में शास्त्र से क्या तात्पर्य है?

(क) रामायण

(ख) महाभारत

(ग) वेद

(ख) आयुर्वेद

9. 'जीवाः' और 'अमृतस्य पुत्राः' जैसे बहुवचन शब्दों का प्रयोग वेदों में क्या सिद्ध करने के लिए किया गया है?

(क) ईश्वर की अनेकता

(ख) आत्मा का नानात्व

(ग) शरीर की नश्वरता

(घ) वायु के प्रकार

10. शरीर के क्षत-संरोहण (घावों का भरना) को किसका कार्य माना गया है?

(क) औषधि का

(ख) भोजन का

(ग) चेतन आत्मा (अधिष्ठाता) का

(घ) केवल काल (समय) का

## खण्ड ४: वैशेषिकदर्शन- चतुर्थ अध्याय

### इकाई-४.१: परमाणुवाद, परमाणु के दृष्टिगोचरित न होने का कारण

#### उद्देश्य-

- सृष्टि के मूल को समझना: कार्य-जगत् के सूक्ष्मतम और अविभाज्य अंश परमाणु के स्वरूप का बोध कराना।
- नित्यता का तार्किक आधार: परमाणु को अकारण और 'नित्य' सिद्ध करने वाले वैशेषिक तर्कों का विश्लेषण करना।
- प्रत्यक्ष के सिद्धांतों का ज्ञान: किसी वस्तु के दिखाई देने के लिए आवश्यक भौतिक शर्तों (परिमाण, रूप आदि) को स्पष्ट करना।
- अदृश्यता के कारणों की व्याख्या: परमाणु और वायु के विद्यमान होने पर भी उनके दिखाई न देने के वैज्ञानिक कारणों को समझना।

पूर्व के अध्यायों में पृथिवी आदि नौ द्रव्यों का उद्देश, लक्षण, परीक्षा एवं तत्सम्बन्धी अन्य अपेक्षित विवेचन प्रस्तुत किया गया। इस अध्याय में पृथिवी, जल, तेज एवं वायु नामक चारों भूतों के मूलकारणपरमाणु एवं उनके कार्यों पर विचार किया गया है। सबसे पहले इसशास्त्र की दृष्टि से जो जगत् का आदि एवं मूलकारण परमाणु है, उसका विवेचन किया जा रहा है।

**परमाणुवाद-** वैशेषिकदर्शन के अनुसार कार्यजगत् का मूल कारण 'परमाणु' होता है। समस्त कार्य जगत् का क्रम से नाश होते-होते अतिसूक्ष्म अवस्था परमाणु में लय हो जाता है। किसी भी कार्यपदार्थ का नाश उसके अवयवों के विभागपूर्वक होता है। क्रम से कार्यपदार्थ के अवयवों का विभाग करते जाये तो कहीं न कहीं उसका पर्यवसान अवश्य होगा। तात्पर्य यह है कि कार्य घटादि पदार्थ को खण्ड-खण्ड करते जाये तो इस खण्डता का पर्यवसान कहीं मानना ही पड़ेगा। ऐसा नहीं कहा जा सकता कि खण्डन की परम्परा अनन्त तक जायेगी। ऐसे में सरसों के दाने एवं पर्वत दोनों के खण्डन की परम्परा अनन्त होने से परिमाण में भेद न होगा। परन्तु प्रत्यक्ष से इनमें परिमाण में भेद देखा जाता है। कार्यपदार्थ में अवयवों की निश्चित संख्या के आधार पर ही उसमें आकृति एवं गुरुत्व आदि की नियत व्यवस्था देखी जाती है। जिस कार्यपदार्थ में अवयव परमाणुओं की संख्या अन्तराण्विक सघनता समान होते हुये ज्यादा होगी तो उस कार्यद्रव्य की आकृति बड़ा एवं वजन भारी होगा इसी प्रकार जिस कार्य द्रव्य में उपरोक्त रीति से ही परमाणु की संख्या कम होगी तो उसकी आकृति छोटी एवं वजन भी कम होगा। इस प्रकार अवयव परमाणुओं के आधार पर भी कार्य जगत् में भेद देखा जाता है। इसलिए कार्यमात्र का अन्तिम पर्यवसान जिसमें है उस पदार्थ का नाम 'परमाणु' है।

परमाणु पदार्थ की सूक्ष्मता की पराकाष्ठा का नाम है। इससे सूक्ष्म और कुछ नहीं हो सकता है। क्योंकि परमाणु निरवयव होने से उसका खण्ड नहीं हो सकता है। खण्ड उसी का हो सकता है जो सावयव है अर्थात् उसके कोई अवयव जुड़े (चिपके) हो। परमाणु का कोई अवयव नहीं होता इसलिए उसका खण्डन सम्भव नहीं है। खण्डन न होने से वह नित्य होता है। परमाणु के नित्यत्व का प्रतिपादन करते हुये वैशेषिककार स्वयं कहते हैं-

#### सदकारणवन्तित्वम् । ( ४.१.१ )

भावरूप पदार्थ जिसका कोई कारण न हो उसे नित्य कहते हैं। यह नित्यत्व की सार्वभौम परिभाषा है। परमाणु सद्रूप भावात्मक पदार्थ है, तथा उसका अन्य कोई कारण न होने से वह भी नित्य है। अर्थात् उत्पत्ति-विनाशधर्म से रहित है। यदि परमाणु का भी कोई कारण स्वीकर किया जाये तो फिर उस कारण का भी कारण, पुनः उस कारण का भी कारण ऐसे में अवस्था दोष होगा। इसलिए कहीं न कहीं किसी कारण पर जाकर रूकना ही पड़ेगा तो इस परमाणु पर ही क्यों न रूक जाया जाये। अतएव परमाणु निरवयव अकारण होने से नित्य सिद्ध होता है।

इस पर कोई प्रश्न कोई प्रश्न यह करे कि इस प्रकार के सद्रूप भावात्मक नित्यपदार्थ को स्वीकार करने में प्रमाण ही क्या है? हो सकता है कि ऐसा पदार्थ केवल शास्त्रकारों की कपोलकल्पना हो? ऐसी आशंका होने पर महर्षि कहते हैं -

#### तस्य कार्य लिङ्गम् । ( ४.१.२ )

उस परमाणु के होने में कार्य जगत् ही प्रमाण है। अभिप्राय यह है कि भले ही नित्य निरवयव परमाणु आँखों से दृष्टिगोचरित न हो रहा है परन्तु कार्य से कारण का अनुमान हो जाता है।

किसी भी कार्य की उत्पत्ति उसके अपने कारण अवयवों से होती है। जैसे घट की उत्पत्ति उसके कारण मिट्टीरूपी अवयवों से होती है। इसी प्रकार पट की उत्पत्ति उसके कारण तन्तुरूपी अवयवों से होती है। घट को तोड़ा जाये तो कपाल के रूप में उसका खण्ड होगा, उसको भी तोड़ा जाये तो छोटे-छोटे टुकड़े होंगे तथा उसको भी अन्ततः चूर्ण कर दिया जाये तो पुनः मिट्टी के रूप में परिवर्तित हो जायेगी। उन बारीक मिट्टी के एक कण को भी किसी विधा से खण्डन करते जाये तो अन्ततः परमाणु में विलिन हो जायेगा। इस प्रकार कार्य से कारण का अनुमान हो जाता है।

इस पर कोई यह कहने लगे कि कारण के बिना ही अभाव से, असद् से अथवा शून्य से कार्य की उत्पत्ति क्यों न मान लिया जाये, जैसा कि कुछ नास्तिकों का मानना भी है। तब सूत्रकार समाधान देते हुये कहते हैं-

#### **कारणभावात् कार्यभावः । ( ४.१.३ )**

कारण के होने से कार्य होता है अभिप्राय यह है कि कारण के सत् होने से ही कार्य होता है। यह जो कहा जाता है कि असत् से अथवा शून्य से जगत् की उत्पत्ति हुई है। उनके कथन में भी असत् एवं शून्य कारण बन ही जाता है इसलिए उन्हें असद्कारणवादी या शून्यकारणवादी कहा ही जाता है। असद् अथवा शून्य भी कारण न हो तब कहा जाये कि जगद् बिना कारण उत्पन्न हो गया। इसलिए यह केवल शब्दाडम्बर एवं वाक्चातुर्य से अधिक कुछ नहीं है।

जिस प्रकार इस जगत् में बन्ध्या के पुत्र, आकाश का पुष्प एवं बालू के तेल का अभाव है तो क्या बन्ध्या के पुत्र का विवाह, आकाश के पुष्प से सुगन्ध, एवं बालू के तेल से पूड़ी पकाना इत्यादि हो सकता है? कदापि नहीं, क्योंकि जिसकी सत्ता ही नहीं, उससे किसी भी चीज का निर्माण हो ही नहीं सकता। इसलिए सद्रूप कारण से ही सद्रूप कार्य की उत्पत्ति होती है असद्रूप कारण से नहीं। अतएव भावरूप कार्य से भावरूप कारण परमाणु का अस्तित्व सिद्ध होता है। उपरोक्त हेतुओं से कारण परमाणु की सत्ता सिद्ध हो जाने पर पूर्वपक्ष के द्वारा यह आक्षेप लगाया जा सकता है कि भले ही कारण परमाणु सत्ता सिद्ध हो जावे परन्तु वह परमाणु नित्य नहीं हो सकता; क्योंकि जब कार्य अनित्य है तो उसका कारण भी अनित्य होना चाहिए। ऐसा आक्षेप होने पर वैशेषिककार कहते हैं-

#### **अनित्य इति विशेषतः प्रतिषेधभावः । ( ४.१.४ )**

अनित्य है ऐसा प्रतिषेध होना विशेषरूप से जो नित्यता का रूप से है।

जो नित्यता का निषेध है, वह विशेषरूप से है कि 'घट अनित्य है' 'पट अनित्य है' इत्यादि। किन्तु यह निषेध समानरूप से नहीं हो सकता कि 'सब अनित्य है'। क्योंकि 'अनित्य' पद 'नित्य' के 'नञ्' के साथ समास होने से बना है। अतः अनित्य का प्रतियोगी जब नित्य सिद्ध है तो उसका अपलाप नहीं किया जा सकता और यदि असिद्ध है तो किसी को अनित्य भी नहीं कहा जा सकता; क्योंकि जब नित्य नामक पदार्थ की सत्ता ही नहीं है तो उसका प्रतिषेध भी नहीं किया जा सकता है। प्राप्त का ही प्रतिषेध किया जाता है अप्राप्त का नहीं। अतएव नित्य को स्वीकार करना अनिवार्य है।

इस कारण वैशेषिककार परमाणु को अनित्य कहने वालों को भ्रान्त बताते हुए कहते हैं-

#### **अविद्या । ( ४.१.५ )**

अर्थात् परमाणु को अनित्य कहना अविद्या-अज्ञान अथवा भ्रम हैं।

जगत् के मूलउपादान कारण को अनित्य कहना भ्रम है; क्योंकि किसी भी कार्य के मूलकारण को पहले से ही विद्यमान होना अनिवार्य है। कार्य पदार्थ को खण्ड-खण्ड करते जाये तो उसकी सूक्ष्मता की पराकाष्ठा को एक जगह स्वीकार करना ही पड़ेगा। एक ऐसा पदार्थ मानना ही होगा जिसका खण्ड नहीं हो सकता। खण्ड उसी पदार्थ का नहीं हो सकता जिसका कोई अवयव नहीं है अर्थात् वह निवयव हो। परमाणु के भी अवयव होने से वह मूल नहीं हो सकता; जबकि शास्त्रकार के द्वारा परमाणु को मूल कारण कहा गया है। इसलिये उसे निवयव होना ही होगा। निवयव होने से वह नित्य होगा। 'परमाणु' शब्द ही दो पदों के मेल से बना है- परम + अणु । 'अणु' अर्थात् छोटा, परम अर्थात् सबसे अधिक। तात्पर्य यह है कि जो सबसे अधिक छोटा हो, अर्थात् जिससे छोटा कोई पदार्थ न हो उसे 'परमाणु' कहते हैं।

इस प्रकार महर्षि कणाद के द्वारा परमाणु का प्रतिपादन किया गया जो कि आज भी भौतिक विज्ञान का मार्गदर्शक बना हुआ है।

#### **परमाणु के दृष्टिगोचरित न होने का कारण**

परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने के कारण उसकी रूप की उपलब्धि नहीं होती है। परमाणु चार प्रकार के होते हैं- पृथिवी के परमाणु, जल के परमाणु, तेज के परमाणु एवं वायु के परमाणु। कार्यद्रव्यों में जो रूपादि गुण पाये जाते हैं के कारण परमाणुपूर्वक ही होते हैं। तात्पर्य यह है कि कार्य घट का रूप यदि लाल है, तो परमाणु का रूप भी लाल ही होगा। इसी प्रकार अन्य गुणों के विषय में भी जानना चाहिए। परन्तु परमाणु अत्यन्त सूक्ष्म होने से उसके रूप की उपलब्धि चक्षु से नहीं होती इसलिए परमाणु अदृश्य होता है।

वैशेषिक सूत्रकार रूप की उपलब्धि में सार्वभौम कारण का उल्लेख करते हुये कहते हैं-

#### **महत्तनेकद्रव्यवत्त्वाद् रूपाच्चोपलब्धिः । ( ४.१.६ )**

महत् परिणाम वाले, अनेक द्रव्य समवायिकारण वाले एवं उद्भूत रूपगुण वाले द्रव्य के ही रूप की उपलब्धि होती है।

आशय यह है कि जिस द्रव्य में महत् परिणाम हो, जो अनेक द्रव्यों के मिलकर बना हो तथा जिसमें उद्भूतरूपगुण है। वही पदार्थ दृष्टिगोचरित होता है। घट-पटादि दृष्ट पदार्थों में तीनों लक्षण घटित होने से दृष्टिगोचरित होते हैं। 'परमाणु' में यह तीनों लक्षण घटित

न होने से दृष्टि की सीमा से बाहर हो जाता है। तीन परमाणु से मिलकर बना त्र्यणुक से महत् परिमाण आरम्भ होता है। इसलिए परमाणु में महत् परिमाण का अभाव है अर्थात् वह अणु परिमाण वाला है। परमाणु निरवयव होने से अनेक द्रव्य समवायिकारणवाला भी नहीं है; तथा परमाणु में उद्भूत (प्रकट) रूप का भी अभाव है, क्योंकि जब वह स्वयं अप्रकट (सूक्ष्म) है तो उसका रूपगुण प्रकट कैसे होगा? इसलिए पूर्वसूत्रोक्त तीनों लक्षणों का परमाणु में अभाव होने से परमाणु दृष्टिगोचरित नहीं होता है।

पृथिवी, जल और तेज इन तीनों द्रव्यों के परमाणु में रूपगुण होता है परन्तु अनुद्भूत होने के कारण दृष्टिगोचरित नहीं होता है। वही परमाणु जब सजातीय अनेक परमाणुओं से संयुक्त होता है तो अनेक द्रव्य समवायिकारणवाला हो जाता है तथा साथ ही उसमें महत् परिमाण भी आ जाता है, जिसके कारण कारणगत अप्रकट रूप प्रकट अर्थात् उद्भूत हो जाता है, तब वह कार्यवस्तु के रूप में दृष्टि की सीमा में आ जाता है। परन्तु वायु कार्यरूप में भी दृष्टिगोचरित नहीं होता है। इसका कारण बताते हुये सूत्रकार कहते हैं—

**सत्यपि द्रव्यत्वे महत्त्वे रूपसंस्काराभावाद् वायोरनुपलब्धिः । ( ४.१.७ )**

अनेक द्रव्य वाला तथा महत्परिमाण वाला होते हुये भी रूपसंस्कार का अभाव होने से वायु की उपलब्धि चक्षु से नहीं होती।

कार्यवायु अनेक कारण परमाणुओं से मिलकर बना होता है तथा उसमें महत्परिमाण भी होता है, फिर भी उसके रूप की उपलब्धि नहीं होती। कारण यह है कि वायु में रूपगुण का सर्वथा अभाव होता है। तात्पर्य यह है कि वायु के परमाणु में ही रूपगुण का अभाव होता है। रूप केवल पृथिवी, जल एवं तेज इन्हीं तीन के परमाणुओं में होता है। वायु में रूपगुण का अभाव होने से कार्यवायु का अनेक द्रव्य समवायिकारण वाला तथा महत्परिमाण वाला होते हुये भी उसके रूप की उपलब्धि नहीं होती है।

अतएव रूप की उपलब्धि का पूर्वोक्त तीनों लक्षणों का होना अनिवार्य है। तीनों में से एक भी लक्षण की न्यूनता हो जाने से वह द्रव्य दृष्टिगोचरित नहीं होगा। परमाणु में तो तीनों लक्षणों का अभाव होता है। इसलिए उसकी अनुपलब्धि होती है। उपलब्धि के हेतु का पुनः उपन्यास करते हुये महर्षि दृढता के लिए कहा है—

**अनेकद्रव्यसमवायाद् रूपविशेषाच्च रूपोपलब्धिः । ( ४.१.८ )**

प्रस्तुत सूत्र में पूर्वोक्त महत् परिमाण का 'अनेकद्रव्यसमवाय' इसी में अन्तर्भाव कर दिया गया है अथवा सूत्रगत चकार से उसका भी ग्रहण हो जाता है ऐसा समझना चाहिए। अतएव महत् परिमाण, अनेक द्रव्यसमवायिकारण तथा उद्भूतरूप इन तीनों के होने पर द्रव्य दृष्टिगोचरित होता है। इन तीनों लक्षणों का अभाव परमाणु में होने से परमाणु अदृष्टिगोचरित होता है। सूत्र में 'रूपविशेषात्' में 'विशेष' पद उद्भूतरूप का द्योतक है।

**स्मरणीय बिंदु—**

- परमाणु की नित्यता: वैशेषिक सूत्र 'सदकारणवन्नित्यम्' के अनुसार, जो सत्तात्मक है और जिसका कोई कारण नहीं है, वह परमाणु नित्य है।
- प्रत्यक्ष की तीन शर्तें: किसी वस्तु के चाक्षुष प्रत्यक्ष (आँखों से देखने) के लिए उसका बड़ा आकार (महत् परिमाण), अनेक द्रव्यों से बना होना और 'स्पष्ट रूप' (उद्भूत रूप) होना अनिवार्य है।
- वायु की अदृश्यता: वायु अनेक द्रव्यों से बनी है और आकार में बड़ी भी है, किंतु उद्भूत रूप न होने के कारण वह आँखों से दिखाई नहीं देती।
- सृष्टि का क्रम: दो परमाणुओं से 'द्व्यणुक' और तीन द्व्यणुकों से 'त्रसरेणु' बनता है; त्रसरेणु ही वह न्यूनतम कण है जो झरोखे की धूप में पहली बार दिखाई देता है।

**शब्दावली—**

- परमाणु: द्रव्य का वह अंतिम और सूक्ष्मतम भाग जिसका पुनः विभाग या टुकड़ा नहीं किया जा सकता (निरवयव)।
- अकारण: वह जिसका कोई उत्पादक कारण न हो; जो स्वयं किसी से उत्पन्न न हुआ हो।
- महत् परिमाण: प्रत्यक्ष के योग्य बड़ा आकार या विस्तार।
- त्रसरेणु: छह परमाणुओं के मेल से बना वह सूक्ष्म कण जो प्रत्यक्ष दिखाई देने योग्य होता है।

**5 अंक के प्रश्न—**

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणु की परिभाषा क्या है और वह नित्य क्यों है?
  2. 'तस्य कार्य लिङ्गम्' और 'कारणभावात् कार्यभावः' सूत्रों का परमाणु के संदर्भ में अर्थ स्पष्ट कीजिए।
  3. किसी भी वस्तु (जैसे घड़ा) के प्रत्यक्ष दिखाई देने के लिए किन तीन शर्तों का होना अनिवार्य है?
- प्रश्न 4: वायु अनेक द्रव्यों से बनी है और उसका आकार भी बड़ा है, फिर भी वह आँखों से क्यों नहीं दिखाई देती?
- प्रश्न 5: 'परमाणु' को अनित्य कहने वालों के लिए महर्षि कणाद ने 'अविद्या' शब्द का प्रयोग क्यों किया है?

### 15 अंक के प्रश्न-

प्रश्न 1: वैशेषिक दर्शन के 'परमाणुवाद' सिद्धांत की विस्तृत विवेचना कीजिए। परमाणु को 'नित्य' और 'अकारण' सिद्ध करने के लिए किन तर्कों का प्रयोग किया गया है?

प्रश्न 2: 'परमाणु अदृश्य क्यों है?' वैशेषिक सूत्रों (4.1.6 से 4.1.8) के आधार पर प्रत्यक्ष उपलब्धि (देखने) के आवश्यक कारणों और वायु की अदृश्यता की व्याख्या करें।

प्रश्न 3: परमाणु के नित्यत्व के विरुद्ध किए जाने वाले आक्षेपों का समाधान वैशेषिक दर्शन किस प्रकार करता है?

प्रश्न 4: सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया में 'परमाणु' की भूमिका और उसके प्रकारों का वर्णन कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार कार्य-जगत का मूल कारण क्या है?

(क) आकाश

(ख) परमाणु

(ग) ईश्वर

(घ) वायु

2. सूत्र 4.1.1 'सदकारणवन्नित्यम्' के अनुसार 'नित्य' पदार्थ किसे कहा जाता है?

(क) जो विनाशकारी हो

(ख) जिसका कोई कारण न हो और वह सत्तात्मक हो

(ग) जो दिखाई न दे

(घ) जो शून्य से उत्पन्न हो

3. 'तस्य कार्यं लिङ्गम् (4.1.2) सूत्र का क्या अर्थ है?

(क) कार्य को देखकर कारण (परमाणु) का अनुमान होता है

(ख) कार्य ही ईश्वर है

(ग) परमाणु केवल शास्त्र की कल्पना है

(घ) कार्य का नाश संभव नहीं है

4. महर्षि कणाद के अनुसार परमाणु किस प्रकार का पदार्थ है?

(क) सवयव (हिस्सों वाला)

(ख) निरवयव (बिना हिस्सों वाला)

(ग) अनित्य

(घ) दृश्य

5. 'सरसों के दाने और पर्वत परिमाण (आकार) में भेद' किसके आधार पर होता है?"

(क) काल के आधार पर

(ख) ईश्वर की इच्छा से

(ग) अवयव परमाणुओं की निश्चित संख्या के आधार पर

(घ) स्थान के आधार पर

6. परमाणु को अनित्य कहना वैशेषिक दर्शन में क्या माना गया है?

(क) विद्या

(ख) सत्य

(ग) अविद्या (भ्रम)

(घ) अनुमान

7. किसी वस्तु के 'प्रत्यक्ष दर्शन' के लिए इनमें से क्या अनिवार्य नहीं है?

(क) महत् परिमाण

(ख) अनेकद्रव्यत्व

(ग) उद्भूत रूप

(घ) गंध

8. 'वायु' नेक द्रव्यों से बनी होने के बावजूद आँखों से क्यों नहीं दिखाई देती?

(1) क्योंकि वह बहुत तेज चलती है

**(ठ) क्योंकि उसमें 'रूप' का अभाव है**

(ब) क्योंकि वह शून्य है

(क) क्योंकि वह अपवित्र है

9. कितने परमाणुओं के मिलने से 'तरसरेणु' जो दिखाई देता है) का निर्माण होता है?

(क) दो परमाणुओं से

**(ख) तीन द्व्यणुकों (कुल 6 परमाणु) से**

(ग) एक परमाणु से

(घ) अनन्त परमाणुओं से

10. 'पमाणु' शब्द किन दो पदों के मेल से बना है?

(क) पर + मानु

**(ख) परम + अणु**

(ग) परा + अणु

(घ) पर + अणु

## इकाई-४.२ : पृथिव्यादि चारों भूतों के कार्य

### उद्देश्य-

- सृष्टि प्रक्रिया को समझना: प्रलय की स्थिति से लेकर त्रसरेणु और स्थूल जगत् के निर्माण तक के विकास क्रम का अध्ययन करना।
- कार्य द्रव्यों का वर्गीकरण: पृथ्वी, जल, तेज और वायु से बनने वाले कार्यों को शरीर, इन्द्रिय और विषय के त्रिविध ढांचे में समझना।
- इन्द्रियों के भौतिक आधार को जानना: यह स्पष्ट करना कि हमारी पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ किन विशेष भूतों (परमाणुओं) से निर्मित हैं।
- वायु और प्राण का संबंध: शरीर के भीतर वायु की क्रियाशीलता और उसके पाँचों भेदों (प्राण, अपान आदि) के कार्यों को समझना।

पृथिव्यादि चारों भूतों के परमाणुओं के वर्णन के पश्चात् अब उनके कार्यों का निरूपण प्रारम्भ होता है। सृष्टि के आदि में चारों भूतों के परमाणु इस अनन्त आकाश में बिखरे रहते हैं। तब किसी कार्यद्रव्य की उत्पत्ति नहीं थी। पृथिवी, चन्द्र, तारे इत्यादि कुछ भी नहीं था। इसी अवस्था को प्रलयावस्था कहते हैं। तब जीवों के अदृष्ट को जानकर उनके भोगापवर्गों की सिद्धि के निमित्त से परमात्मा के संकल्पपूर्वक सृष्टि का आरम्भ होता है। परमात्मा एवं परमाणुओं के संयोग से परमाणुओं में हलचल होता है, उस हलचल से एक परमाणु-दूसरे परमाणु के साथ परस्पर संयोग करने लगते हैं। दो परमाणुओं के मिलने से जिस प्रथम कार्यद्रव्य की उत्पत्ति होती है उसे 'द्व्यणुक' कहते हैं। इसी प्रकार तीन परमाणुओं के मिलने से 'त्र्यणुक' चार से 'चतुरणुक' इस तरह द्व्यणुकादि प्रक्रम से जगत् की उत्पत्ति वैशेषिकशास्त्र में स्वीकार की जाती है।

उन चारों भूतों के द्व्यणुकादि क्रम से मिलने से किन-किन कार्यद्रव्यों की उत्पत्ति होती है, उसका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्। ( ४.२.१ )**

पुनः वह पृथिवी, जल, तेज व वायु रूप कार्यद्रव्य शरीर, इन्द्रिय और विषय नामक तीन प्रकार के होते हैं। पृथिव्यादि चारों द्रव्यों के कार्य तीन प्रकार के होते हैं (क) शरीररूप (ख) इन्द्रियरूप (ग) विषयरूप।

तात्पर्य यह है कि पृथिवी परमाणु से उत्पन्न पार्थिव शरीर, पार्थिव इन्द्रिय एवं पार्थिव विषय। जल के परमाणु से उत्पन्न जलीय शरीर, जलीय इन्द्रिय तथा जलीय विषय। तेज के परमाणु से उत्पन्न तैजस शरीर, तैजस इन्द्रिय एवं तैजस विषय। ठीक इसीकारण वायु के परमाणु से उत्पन्न वायव्य शरीर, वायव्य इन्द्रिय एवं वायव्यविषय। आकाश के परमाणु नहीं होते इसलिए उससे कार्य की उत्पत्ति नहीं होती है। उपरोक्त तीनों प्रकार के कार्यों का भेद सहित वर्णन निम्न प्रकार है-

**( १ ) पृथिवी के कार्य-** पार्थिव कार्यों का भेद सहित वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं- **'त्रिविधं चास्याः कार्यम् शरीरेन्द्रियविषयसंज्ञकम्'** अर्थात् पृथिवी के तीन कार्य हैं (क) शरीर नामक (ख) इन्द्रियनामक एवं (ग) विषय नामक। अब तीनों का क्रमशः उल्लेख करते हुये लिखते हैं-

**( क ) शरीर-** शरीरद्विविधम्योनिजमयोनिजं च । तत्रायोनिजमनपेक्ष्य शुक्रशोणितं देवर्षीणां धर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायते। अर्थात् पार्थिव शरीर भी योनिज व अयोनिज के भेद से दो प्रकार का होता है। उनमें से अयोनिज पार्थिव शरीर माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष देवताओं एवं ऋषियों का होता है, जो धर्म विशेष से युक्त परमाणुओं से उत्पन्न होता है। इस प्रकार के शरीर की उत्पत्ति में माता-पिता की अपेक्षा नहीं होती है। सृष्टि के आदि में देवर्षियों का शरीर परमात्मा के संकल्प से धर्मविशेष से युक्त सीधे परमाणुओं से उनके विग्रह का निर्माण हो जाता है।

दूसरे प्रकार के अयोनिज पार्थिव शरीर का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं- **क्षुद्रजन्तूनां यातनाशरीराण्यधर्मविशेषसहितेभ्योऽणुभ्यो जायन्ते।** कीड़े-मकोड़े इत्यादि तुच्छ प्राणियों के दुःखमय शरीरों की उत्पत्ति भी बिना माता-पिता के अधर्मविशेष से युक्त परमाणुओं से हो जाती है।

पानी के सड़ने, फलों के सड़ने एवं अन्यत्र भी पदार्थों के सड़ने पर वहाँ कृमियों की उत्पत्ति देखी जाती है। ऐसा नहीं है कि वहाँ पर उन कृमियों के माता-पिता पहले से विद्यमान हो। अविद्यमान माता-पिता से भी ऐसे स्थलों में कीड़ों-मकोड़ों की उत्पत्ति देखी जाती है। एक बार कतिपय कृमियों के माता-पिता की निरपेक्ष उत्पत्ति हो जाने के पश्चात् भले ही उन कृमियों के साजात्यप्रजनन से उनके संतान की वृद्धि हो, फिर भी कुछ जोड़ों की उत्पत्ति तो स्वतः प्रकृति के द्वारा बिना माता-पिता के ही हो जाती है। इनकी उत्पत्ति में अधर्मकारण है। इसी कारण इनहे दुःख भोगना पड़ता है।

अयोनिज शरीर के वर्णन के पश्चात् योनिज शरीर का उल्लेख करते हैं - **शुक्रशोणित-सन्निपातजं योनिजम्।** अर्थात्



पिता-माता के वीर्य-रज के संयोग से उत्पन्न शरीर को योनिज कहते हैं। तद्विविधं जरायुजमण्डजं च । मानुषपशुमृगाणां जरायुजम् । पक्षिसरीसृपाणामण्डजम् । योनिज शरीर दो प्रकार का होता है- जरायुज व अण्डज । मनुष्य, पशु (ग्राम्यपशु), अरण्यपशुओं का शरीर जरायुज होता है। जेर (पतली पारदर्शी झिल्ली) से लिपटा हुआ जो गर्भस्थ शिशु बाहर निकलता है उसका शरीर जरायुज कहलाता है। पक्षी तथा रेंगने वाले सर्पादिकों का शरीर अण्डे से उत्पन्न होने के कारण 'अण्डज' कहे जाते हैं।

(ख) इन्द्रिय- अब पार्थिव इन्द्रिय का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं- इन्द्रियं गन्धव्यञ्जकं सर्वप्राणिनां जलाद्यनभिभूतैः पार्थिवावयवैरारब्धं घ्राणम्। सभी प्राणियों के 'गन्ध' को प्रकट करने वाला जलादि अन्य भूतों से अनभिभूत पार्थिवपरमाणुओं से उत्पन्न 'घ्राण' नामक इन्द्रिय है। समस्त प्राणियों के गन्ध को ग्रहण करने वाली 'घ्राण' इन्द्रिय पार्थिव है, अर्थात् पृथिवी का विकार है।

(ग) विषय- पृथिवी का तीसरा कार्य 'विषय' का वर्णन करते हुये भाष्यकार कहते हैं- विषयस्तु द्व्यणुकादिक्रमेणारब्धस्त्रिविधो-मृत्पाषाणस्थावरलक्षणः । तत्र भूप्रदेशाः- प्राकारेष्टकादयो मृत्प्रकाराः।

पाषाणा-उपलमणिवज्रादयः। स्थावरास्तृणौषधिवृक्षलतावतानवनस्पतय इति।

द्व्यणुकादि क्रम से उत्पन्न हुआ विषय के तीन भेद होते हैं। जो निम्न प्रकार हैं-

(क) मृत्तिका - भूप्रदेश, दीवार, ईंट इत्यादि

(ख) पाषाण - सामान्य पत्थर, मणि, हीरा इत्यादि।

(ग) स्थावर - तृण, औषधि, लता, अवतान (केवड़े, मटर इत्यादि), वनस्पति इत्यादि सभी पार्थिव हैं, अर्थात् पृथिवी के कार्य हैं।

(2) जल के कार्य- पृथिवी के त्रिविध कार्यों के वर्णन के अनन्तर जल के त्रिविध कार्यों का वर्णन भाष्यकार इस प्रकार कर रहे हैं- तासां तु कार्यं त्रिविधशरीरेन्द्रिविषयसंज्ञकम्। अर्थात् जल के परमाणुओं के भी तीन कार्य होते हैं- (क) शरीर नामक (ख) इन्द्रियनामक, (ग) विषयनामक ।

(क) शरीर- आगे शरीररूपी कार्य का वर्णन करते हुये कहते हैं- तत्र शरीरमयोनिजमेव वरूणलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम् । जलीय शरीर केवल अयोनिज ही होता है, वरूणलोक में पार्थिवादि से संसृष्ट किञ्चित् स्थूलता को लिए भोग करने में समर्थ यह शरीर होता है। जलीय शरीर में किञ्चित् पार्थिवांश होने से ही आकृति आती है। अन्यथा विशुद्ध जल से बना शरीर बह जाने से भोग में समर्थ नहीं होगा। इस प्रकार का शरीर वरूणलोक नामक लोकान्तर में होता है, जो कि अयोनिज ही होता है, योनिज नहीं।

(ख) इन्द्रिय- इन्द्रिय नामक जल के कार्य का वर्णन के क्रम में आचार्यप्रशस्तपाद लिखते हैं-

इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रसव्यञ्जकं विजात्यनभिभूतैर्जलावयवैरारब्धं रसनम्। अर्थात् विजातीय पार्थिवादि से अनभिभूत जलों के परमाणुओं से उत्पन्न सभी प्राणियों के रस को व्यक्त करने वाली रसना इन्द्रिय है। सभी प्राणियों की रसनेन्द्रिय जलीय हैं।

(ग) विषय- जलीय विषयों का निरूपण करते हुये आचार्य लिखते हैं- विषयस्तु सरित्समुद्रहिम-करकादिः। अर्थात् जलीय विषय के रूप में नदी, समुद्र, बर्फ, ओला इत्यादि है।

(3) तेज के कार्य- पृथिवी एवं जल की भाँति तेज के परमाणुओं से भी त्रिविध कार्य की उत्पत्ति होती है। जैसा कि भाष्यकार लिखते हैं- कार्यं च शरीरादित्रयम्। अर्थात् तेज के भी तीन कार्य शरीरादि भेद से होते हैं- (क) शरीर (ख) इन्द्रिय (ग) विषय । इनमें क्रमशः एक-एक का वर्णन निम्न प्रकार से है-

(क) शरीर- तैजस शरीर केवल अयोनिज ही होता है, जो कि पार्थिवांशों के सहयोग से भोग कराने में समर्थ होता है। यह आदित्य लोक में पाया जाता है। अन्यथा विशुद्ध तैजसशरीर तुरन्त ही विलीन हो जायेगा, जैसे अग्नि हो जाती है। इसलिए इस प्रकार के शरीर में किञ्चित् पार्थिव परमाणुओं का सहयोग अपेक्षित है। जैसा कि भाष्यकार कहते हैं-शरीरमयोनिजमेवादित्यलोके पार्थिवावयवोपष्टम्भाच्चोपभोगसमर्थम्। (प्रश. भा.)।

(ख) इन्द्रिय- तैजस इन्द्रिय का वर्णन करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-इन्द्रियं सर्वप्राणिनां रूपव्यञ्जकमन्यावयवानभिभूतैस्तेजोवयवैरारब्धं चक्षुः। अर्थात् पार्थिवादि अन्य अवयवों से अनभिभूत तेज के परमाणुओं से उत्पन्न सभी प्राणियों में रूप को प्रकट करने वाली 'चक्षु' इन्द्रिय है। सभी प्राणियों की चक्षु इन्द्रिय तैजस है।

(ग) विषय- तैजस विषयों के चार भेद का वर्णन करते हुये आचार्य लिखते हैं-

विषयसंज्ञकं चतुर्विधम् भौमं दिव्यमुदर्यमाकरजञ्च। तत्र भौमं काष्ठेन्धनप्रभवमूर्ध्वज्वलनस्वभावं पचनदहन स्वेदनादिसमर्थम्। दिव्यमबिन्धनं सौरविद्युदादि। भुक्तस्याहारस्य रसादिपरिणामार्थमुदर्यम्। आकरजं च सुवर्णादि।

अर्थात् तैजस विषय के चार भेद होते हैं- (क) भौम (ख) दिव्य (ग) उदर्य (घ) आकरज

(क) भौम- पृथिवी से उत्पन्न तेज को 'भौम' कहते हैं। लकड़ी आदि इन्धन से उत्पन्न हुआ, ऊर्ध्वज्वलन स्वभाव वाला, पकाना, जलाना, स्वेदन (भाप) इत्यादि कार्य करने में समर्थ भौम तेज होता है।

(ख) दिव्य- आकाश में उत्पन्न होने से इसे 'दिव्य' तेज कहते हैं। जल रूप ईन्धन से उत्पन्न होने वाला सूर्यकिरण, विद्युत (बिजली) इत्यादि 'दिव्य' तेज के उदाहरण हैं।

(ग) उदर्य- उदर-पेट में रहने वाली अग्नि को 'उदर्य' कहते हैं। खाएँ हुये अन्नादि आहार को रसादि में परिवर्तित करने वाली अग्नि का नाम 'उदर्य' है।

(घ) आकरज- 'आकर' खान को कहते हैं। खान से उत्पन्न तैजस पदार्थों को 'आकरज' नामक तेज कहते हैं। जैसे सुवर्णादि।

(4) वायु के कार्य- वायु के परमाणुओं से उत्पन्न कार्य के चार भेद होते हैं - (क) शरीर, (ख) इन्द्रिय, (ग) विषय, (घ) प्राण। जैसा कि भाष्यकार ने उल्लेख किया है- तत्र कार्यलक्षणश्चतुर्विधः - शरीरमिन्द्रियं विषयः प्राण इति। इन चारों में से क्रमशः एक-एक का उल्लेख निम्न प्रकार है-

(क) शरीर- वायव्य शरीर का उल्लेख करते हुये भाष्यकार लिखते हैं-तत्रायोजिजमेव शरीरं मरुतां लोके पार्थिववायव्योपष्टम्भोपभोगसमर्थम् । (प्रश-भा.) अर्थात् वायव्यशरीर, मरुलोक में होता है, यह केवल अयोजि ही होता है। पार्थिव अवयवों के सहयोग से इस प्रकार का शरीर उपभोग कराने में समर्थ होता है। वायु में भी अग्नि व जल की भाँति निश्चित आकृति नहीं होती है। अतः विशुद्ध वायु से बना शरीर का आकृति सुनिश्चित न होने से भोग सम्पादित नहीं होगा। इसलिए वायव्य शरीर में किञ्चित् पार्थिव अवयवों के सहयोग से स्थूलता आती है, जिससे इस शरीर से भोग सम्भव हो पाता है।

(ख) इन्द्रिय- वायव्य इन्द्रियों के वर्णन के क्रम में आचार्य कहते हैं- इन्द्रियं सर्वप्राणिनां स्पर्शोपलम्भकं पृथिव्याद्यनभिभूतैर्वायव्यवैरारब्धं सर्वशरीरव्यापि त्वगिन्द्रियम् । अर्थात् सभी प्राणियों का शीत आदि स्पर्श का ग्रहण करने वाला पृथिव्यादि अवयवों से अस्पृष्ट केवल वायु के परमाणुओं से उत्पन्न हुआ सम्पूर्ण शरीर में व्यापक 'त्वक्' नामक इन्द्रिय है। प्राणिमात्र के देह में व्याप्त त्वचा नामक इन्द्रिय वायव्य है। यहाँ त्वचा का तात्पर्य चमड़ी से नहीं है अपितु रोमकूपों में विद्यमान स्पर्श के व्यञ्जक सूक्ष्म ग्रन्थियों से है। जो पूरे शरीर में व्याप्त होकर स्पर्श का अनुभव कराती है। चमड़ी तो पार्थिव ही है।

(ग) विषय- विषयरूप वायु द्रव्य तो प्रत्यक्ष अनुभव होने वाले शीतादिस्पर्श का आधारभूत है, जिसका स्पर्श, शब्द, धारण तथा कम्पन अनुमापक लिङ्ग है। तिरछा बहना जिसका स्वभाव है, मेघ-रूई इत्यादि हल्के पदार्थों को धारण करने में जो समर्थ है। उसी को भाष्यकार ने इस प्रकार कहा है विषयस्तूपलभ्यमानस्पर्शाधिष्ठानभूतः स्पर्शशब्दधृतिकम्पलिङ्गस्तिर्यग्गमन स्वभावो मेघादिप्रेरण धारणादिसमर्थः। (प्रश.भा.)

(घ) प्राण- वायु का चौथा कार्य प्राण का वर्णन करते हुये आचार्य पुनः लिखते हैं प्राणोऽन्तःशरीरे रसमलधातूनां प्रेरणादिहेतुरेकः सन् क्रियाभेदादपानादिसंज्ञां लभते। (प्रश.भा.) अर्थात् शरीर के भीतर अन्न, रस, मल तथा धातुओं के प्रेरणादि, धारण विकार इत्यादि क्रिया का कारण प्राण एक होने पर भी निष्क्रमणादि कार्यभेद से अपान, व्यान, समान, उदान और प्राण इस पञ्चविध संज्ञा को प्राप्त होता है।

वस्तुतः एक ही वायु समष्टिगत होने से वायु एवं व्यष्टिगत (शरीरगत) होने से प्राण कहा जाता है। उसी प्राणवायु का क्रियाभेद से अपानादि पाँच संज्ञाएँ होती हैं।

इस प्रकार चारों भूतों के कार्यों का वर्णन पूरा होता है। पञ्चभूत आकाश परमाणुरहित होने से अविकृत होता है, उसमें परिणाम की सम्भावना न होने से उसके कार्यों का वर्णन नहीं किया गया है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- सृष्टि निर्माणः प्रलय के बाद परमात्मा के संकल्प और जीवों के 'अदृष्ट' (कर्म) के कारण परमाणुओं में क्रिया होती है, जिससे द्वयणुक और फिर त्रसरेणु के माध्यम से महाभूतों का निर्माण होता है।
- त्रिविध कार्य (सूत्र 4.2.1): प्रत्येक भूत (जैसे पृथ्वी) के कार्य तीन प्रकार के होते हैं:
  1. शरीर (जैसे पार्थिव शरीर),
  2. इन्द्रिय (जैसे नाक), और
  3. विषय (जैसे मिट्टी, पत्थर)।
- इन्द्रियों का निर्माणः 'घ्राण' (नाक) पृथ्वी से, 'रसना' (जीभ) जल से, 'चक्षु' (आँख) तेज से और 'त्वक्' (त्वचा) वायु से बनी है।
- तेज के चार प्रकारः तेज के 'विषय' चार रूपों में मिलते हैं- भौम (अग्नि), दिव्य (बिजली/सूर्य), उदर्य (जठराग्नि) और आकरज (सोना/धातु)।

**शब्दावली-**

- प्रलयावस्थाः वह अवस्था जब कार्य-जगत नष्ट होकर अपने मूल कारण

(परमाणुओं) में बिखरा रहता है।

● योनिज और अयोनिज: माता-पिता के संयोग से उत्पन्न शरीर योनिज और धर्म-अधर्म के विशेष प्रभाव से उत्पन्न (जैसे देव शरीर) 'अयोनिज' कहलाता है।

● उदर्य तेज: शरीर के भीतर स्थित वह अग्नि जो खाए हुए अन्न और जल को पचाने का कार्य करती है।

● प्राण: शरीर के भीतर संचरण करने वाली वह वायु जो जीवन का आधार है और स्थान भेद से पाँच प्रकार की होती है।

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार प्रलय क्या है और सृष्टि का प्रारंभ कैसे होता है?
2. 'तत्पुनः पृथिव्यादि कार्यद्रव्यं त्रिविधं...' सूत्र के आधार पर कार्य द्रव्यों का वर्गीकरण कीजिए।
3. 'पार्थिव शरीर' के अंतर्गत अयोनिज और योनिज में क्या अंतर है?
4. तेज के चार विषय कौन-कौन से हैं? संक्षेप में वर्णन करें।
5. वायु के संदर्भ में प्राण क्या है और इसके पाँच भेद कौन से हैं?

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार सृष्टि निर्माण की प्रक्रिया का सविस्तार वर्णन कीजिए। प्रलय अवस्था से 'त्रसरेणु' तक के विकास क्रम को समझाइए।
2. पृथ्वी आदि कार्य द्रव्य तीन प्रकार के होते हैं' सूत्र 4.2.1 के आलोक में पृथ्वी (पार्थिव) के कार्यों (शरीर, इन्द्रिय, विषय) की विस्तृत व्याख्या कीजिए।
3. जल और तेज (अग्नि) के कार्यों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए। इनके विषय कार्यों में क्या मुख्य अंतर है?
4. वायु के विशिष्ट कार्यों का वर्णन कीजिए। प्राण को वायु का कार्य क्यों माना गया है और इसके पाँच भेदों को स्पष्ट कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. सृष्टि के प्रारंभ से पूर्व परमाणुओं की बिखरी हुई अवस्था को क्या कहा जाता है?

(क) सृष्ट्यवस्था

#### (ख) प्रलयावस्था

(ग) शून्यावस्था

(घ) कार्यावस्था

2. वैशेषिक दर्शन के अनुसार परमाणुओं में प्रथम हलचल या क्रिया किसके संकल्प से होती है?

(क) जीवात्मा

(ख) 'प्रकृति'

#### (ग) परमात्मा

(घ) काल

3. दो परमाणुओं के मेल से उत्पन्न होने वाले प्रथम कार्य द्रव्य को क्या कहते हैं?

(क) त्रसरेणु

(ख) चतुरणुक

#### (ग) द्वयणुक

(घ) अणु

4. सूत्र 4.2.1 के अनुसार कार्य द्रव्य कितने प्रकार के होते हैं?

(क) दो (शरीर और विषय)

#### (ख) तीन (शरीर, इन्द्रिय और विषय)

(ग) चार (शरीर, इन्द्रिय, विषय और प्राण)

(घ) पाँच (पंचभूत)

5. इनमें से कौन सा शरीर 'अयोनिज' (बिना माता-पिता के) श्रेणी में आता है?

(क) मनुष्यों का 'शरीर'

(ख) पशुओं का शरीर

**( ग ) देवताओं और ऋषियों का शरीर**

(घ) पक्षियों का शरीर

6. 'प्राण' (नाक) इन्द्रिय किस भूत का कार्य है?

(क) जल

(ख) तेज

**( ग ) पृथ्वी**

(घ) वायु

7. 'आकरज' तेज (खानों से प्राप्त) का उदाहरण क्या है?

(क) बिजली

(ख) जठर'ग्नि

**( ग ) स्वर्ण ( सोना )**

(घ) सूर्य का प्रकाश

8. 'चक्षु' (आँख) इन्द्रिय का निर्माण किन परमाणुओं से होता है?

(क) पार्थिव

**( ख ) तैजस**

(ग) जलीय

(घ) वायवीय

9. वायु का वह कौन सा कार्य है जो शरीर के भीतर अन्न-रस आदि का संचालन करता है?

(क) विषय

(ख) इन्द्रिय

**( ग ) प्राण**

(घ) द्वयणुक

10. 'त्वक्' (त्वचा) इन्द्रिय के बारे में क्या सत्य है?

(क) यह केवल हाथ में होती है

**( ख ) यह पूरे शरीर में व्याप्त ( ओत-प्रोत ) है**

(ग) यह जलीय इन्द्रिय है

(घ) यह केवल रूप का ज्ञान कराती है

11. जठराग्नि (भोजन पचाने वाली अग्नि) को वैशेषिक दर्शन में क्या कहा गया है?

(क) भौम तेज

(ख) दिव्य तेज

**( ग ) उदर्य तेज**

(घ) आकरज तेज

## इकाई-४.३: शरीर के पाञ्चभौतिकत्व एवं त्रिभौतिकत्व का निषेध

### उद्देश्य-

- पाञ्चभौतिकत्व का खंडन: तार्किक रूप से यह सिद्ध करना कि शरीर पाँच तत्वों (पृथ्वी, जल, तेज, वायु, आकाश) के सममिश्रण से उत्पन्न एक स्वतंत्र द्रव्य नहीं है।
- त्रिभौतिकत्व का निषेध: यह समझना कि शरीर केवल तीन तत्वों (पृथ्वी, जल, तेज) का भी कार्य नहीं है, क्योंकि इसमें उन तत्वों के विशेष गुणों का अभाव होता है।
- एकभौतिकत्व की स्थापना: शरीर को मुख्य रूप से 'पार्थिव' (केवल पृथ्वी से निर्मित) प्रमाणित करना और अन्य भूतों की गौण भूमिका को समझना।
- दार्शनिक समन्वय: शरीर के निर्माण के विषय में महर्षि कणाद, न्याय दर्शन और सांख्य दर्शन के दृष्टिकोणों का तुलनात्मक अध्ययन करना।

अब स्थूलशरीर के मूलकारण का विचार प्रस्तुत किया जा रहा है। प्रत्येक कार्यद्रव्य अपने नियत उपादानकारण के संयोग से उत्पन्न होता है। शरीर भी एक कार्यद्रव्य है, तो इसका मूल उपादान कारण क्या है? ऐसा प्रश्न उठने पर कतिपय लोगों का कहना है कि शरीर पाञ्चभौतिक है। जैसा कि न्यायसूत्र में भी इस प्रसङ्ग को उठाया गया है-

**गन्धक्लेदपाकव्यूहावकाशदानेभ्यः पाञ्चभौतिकम्। (न्या. ३.१.३०)**

गन्ध, क्लेद (आर्द्रता), उष्णता, व्यूह (श्वास, रक्तादि की गति रूप व्यूह), रिक्त स्थान रूप अवकाश देने से शरीर में पाँचों भूतों का सहयोग होने से पाञ्चभौतिक सिद्ध होता है। लोक में भी यह कहा जाता है कि 'अमुक व्यक्ति का शरीर पञ्चभूतों में विलीन हो गया' इत्यादि। इस प्रकार शरीर का पाञ्चभौतिकत्व सिद्ध होता है। प्रस्तुत पूर्वपक्ष का निषेध करते हुये वैशेषिककार कहते हैं-

**प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते। (४.२.२)**

प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पदार्थ के संयोग का अप्रत्यक्ष होने से शरीर पञ्चात्मक नहीं है। प्रस्तुत सूत्र में 'शरीरम्' पद की पूर्ति कर लेनी चाहिए।

पाँचों भूतों में से तीन भूत (पृथिवी, जल, तेज) प्रत्यक्ष हैं तथा शेष दो भूत (वायु व आकाश) अप्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष पदार्थ का संयोग भी अप्रत्यक्ष ही होता है। जैसे प्रत्यक्ष पेड़ एवं अप्रत्यक्ष वायु का संयोग दृष्टिगोचरित नहीं होता है। किसी भी कार्यद्रव्य की उत्पत्ति उनके अवयवों के संयोग से ही होती है। कोई भी व्यक्ति उस कार्यद्रव्य के अवयवों के संयोग को देख सकता है। यदि शरीर को पाँचों भूतों के अवयवों के संयोग से उत्पन्न माने अर्थात् शरीर के मूल उपादानकारण यदि पञ्चभूतों को स्वीकार करें तो इनके अवयवों के परस्पर संयोग का प्रत्यक्ष न होने से उनसे उत्पन्न शरीर का भी प्रत्यक्ष नहीं होना है; क्योंकि पाँचों में से तीन प्रत्यक्ष एवं दो अप्रत्यक्ष हैं। प्रत्यक्ष एवं अप्रत्यक्ष का संयोग भी अप्रत्यक्ष होने से शरीर भी अप्रत्यक्ष होने लगेगा। परन्तु शरीर प्रत्यक्ष दिखता है। इसलिए इसे पञ्चभूतों से उत्पन्न हुआ नहीं माना जा सकता अर्थात् शरीर का मूलउपादान कारण पञ्चभूत को नहीं माना जा सकता है।

अब प्रश्न यह उठता है कि यदि पञ्चभूतों को कारण नहीं मान सकते तो तीन भूतों (पृथिवी, जल, तेज) को कारण मानना ही पड़ेगा; क्योंकि इन तीनों भूतों का प्रत्यक्ष होता है और ये प्रत्यक्ष होने से इनका संयोग भी प्रत्यक्ष होगा। इसलिए शरीर को त्रिभौतिक मानने पर उसके अप्रत्यक्ष होने का दोष भी प्राप्त नहीं होगा। इसलिए शरीर त्रिभौतिक सिद्ध होता है।

पूर्वपक्ष के इस प्रकार कहने पर आचार्य निषेध करते हुये कहते हैं-

**गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्। (४.२.३)**

अन्य गुणों का प्रादुर्भाव न होने से शरीर त्रिभौतिक भी सिद्ध नहीं होता।

यह बात पूर्व में ही कही जा चुकी है कि कार्यद्रव्य में गुणों की उत्पत्ति कारणगुणपूर्वक होती है। कारण का जो गुण होगा वही कार्य में देखा जाता है। यदि शरीर का कारण पृथिवी, जल एवं तेज इन तीनों को माना जाये तो सभी द्रव्यों का गुण कार्य में होना चाहिए; परन्तु पृथिवी को छोड़कर शेष द्रव्यों के गुणों का प्रादुर्भाव शरीर में नहीं देखा जाता है। शरीर में जो रूप, रस, गन्ध स्पर्श देखा जाता है, वह पृथिवी का ही देखा जाता है। यदि जल एवं तेज भी उपादान कारण होते तो जल का रूप अभास्वरशुक्ल तथा तेज का रूप भास्वर शुक्ल दोनों की प्रतीति शरीर में होनी चाहिए और साथ में पृथिवी के रूप भी प्रतीत होने ही चाहिए। ऐसे में तीनों द्रव्यों के गुणों की प्रतीति शरीर में होनी चाहिए; लेकिन पृथिवी को छोड़कर शेष दोनों के गुणों का प्रादुर्भाव न होने से शरीर त्रिभौतिक भी नहीं है। अर्थात् एक भौतिक पार्थिव है। वैशेषिकोक्त इसी हेतु का आश्रय लेते हुए न्यायकार ने भी कहा है-

**पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः। (न्या. ३.१.२६)**

अर्थात् शरीर में पृथिवी के विशेषगुण (गन्धादि) की उपलब्धि होने से पार्थिव है। सांख्यकार ने भी शरीर को केवल एकभूत से उत्पन्न होने से पार्थिव ही स्वीकार किया है। यथा-

**सर्वेषु पृथिव्युपादानमसाधारण्यात् तद्व्यपदेशः पूर्ववत् । (सां० ५.११२)**

सभी प्रकार के शरीरों का उपादान एकमात्र पृथिवीभूत ही है; क्योंकि शरीरोत्पत्ति में वही एकमात्र असाधारणकारण है। तब शरीर को पाञ्चभौतिक क्यों कहा जाता है? इसका समाधान करते हुये सांख्यकार कहते हैं कि पाञ्चभौतिकत्व का व्यवहार पूर्व के समान गौण समझना चाहिए। अर्थात् जैसे सांख्य की दृष्टिकोण से इन्द्रियाँ आहंकारिक होते हुये भी उनको भौतिक कह दिया जाता है, ऐसे ही अन्य चार भूत सहयोगी होने के कारण शरीर को गौणरूप से पाञ्चभौतिक कह दिया जाता है। समग्र तत्त्वों (मूल उपादान तत्त्व एवं सहयोगी तत्त्वों) की दृष्टिकोण से शरीर का 'पाञ्चभौतिक' कथन होता है तथा मूल उपादान की दृष्टिकोण से 'पार्थिव' कथन होता है।

शरीर के 'पार्थिव' कहने पर कोई यह न समझ ले कि इनमें अन्य भूत। का सहयोग भी वैशेषिककार स्वीकार नहीं करते। इसलिए आगे सूत्रकार ने स्वयं इसको स्पष्ट करते हुये कहा है-

**अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः । (४.२.४)**

विजातीय अणुओं के संयोग का तो प्रतिषेध नहीं है। अर्थात् परस्पर पृथिवी आदि आकाश पर्यन्त भूतों का उपष्टम्भक (विधारक) रूप से संयोग का निषेध वैशेषिककार नहीं करते हैं। किन्तु विजातीय दो परमाणुओं के संयोग का द्रव्यरूप कार्य की उत्पत्ति में असमवायिकारण का निषेध करते हैं। ऐसा होने से जलादि परमाणुओं के संयोग के सहायकमात्र होने से शरीर में क्लेद, पाकादि रूप गुणों का शरीर में ग्रहण हो जाता है। अतएव शरीर का एकभौतिकत्व (पार्थिव) सिद्ध होता है। इसी कारण से लोक में सुना जाता है कि अमुक मृतक के पार्थिव शरीर को लाया गया इत्यादि।

**स्मरणीय बिंदु-**

- प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष तर्क (4.2.2): शरीर पांचभौतिक नहीं हो सकता क्योंकि वायु और आकाश 'अप्रत्यक्ष' हैं। प्रत्यक्ष (पृथ्वी आदि) और अप्रत्यक्ष का संयोग हमेशा अप्रत्यक्ष ही होता है, जबकि शरीर प्रत्यक्ष दिखाई देता है।
- गुणों का अभाव (4.2.3): यदि शरीर पृथ्वी, जल और तेज तीनों से बना होता, तो इसमें गंध, रस और रूप के साथ-साथ जल की शीतलता और तेज की ऊष्मा जैसे गुण हमेशा विद्यमान रहते, जो कि नहीं होते।
- उपष्टम्भक भूमिका (4.2.4): 'अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः' - यद्यपि शरीर का मुख्य कारण पृथ्वी है, किंतु जल, तेज और वायु के परमाणु इसमें उपष्टम्भक (सहायक या विधारक) के रूप में जुड़े रहते हैं।
- गंध मुख्य प्रमाण: न्याय और वैशेषिक दोनों मानते हैं कि शरीर में गंध गुण की प्रधानता यह सिद्ध करती है कि इसका मुख्य उपादान कारण पृथ्वी ही है।

**शब्दावली-**

- पाँचभौतिक: पाँचों महाभूतों के मेल से बना हुआ (शरीर के संदर्भ में जिसका निषेध किया गया है)।
- उपष्टम्भक: वह तत्व जो मुख्य कारण न होकर केवल सहारा देने या शरीर को धारण करने में सहायक हो (जैसे शरीर में जल और तेज)।
- विजातीय परमाणु: अलग-अलग वर्ग के परमाणु (जैसे पृथ्वी के परमाणु के साथ जल का परमाणु मिलना)।
- गुणान्तराप्रादुर्भाव: दूसरे तत्वों (जैसे जल या तेज) के विशेष गुणों का प्रकट न होना।

**15 अंक के प्रश्न-**

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार शरीर के 'पांचभौतिकत्व' (पाँच तत्वों से निर्मित होना) का खंडन किस प्रकार किया गया है? तर्क सहित स्पष्ट कीजिए।
2. 'गुणांतराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्' (सूत्र 4.2.3) के आधार पर सिद्ध कीजिए कि शरीर 'त्रिभौतिक' (पृथ्वी, जल, तेज) भी नहीं है।
3. शरीर को पार्थिव (केवल पृथ्वी से निर्मित) सिद्ध करने के लिए कणाद और सांख्य दर्शन के मतों की विवेचना कीजिए। 'अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः' सूत्र का इसमें क्या महत्व है?

**5 अंक के प्रश्न-**

1. सूत्र 'प्रत्यक्षाप्रत्यक्षाणां संयोगस्याप्रत्यक्षत्वात् पञ्चात्मकं न विद्यते' (4.2.2) के अनुसार शरीर पांचभौतिक क्यों नहीं है?



2. 'गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्' (4.2.3) सूत्र के आधार पर शरीर के त्रिभौतिक होने का निषेध कैसे किया गया है?
- प्रश्न 3: सूत्र 'अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः' (4.2.4) का क्या अर्थ है और यह अन्य भूतों के महत्व को कैसे दर्शाता है?
- प्रश्न 4: 'पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः' (न्याय सूत्र) का वैशेषिक मत से क्या संबंध है?

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

- वैशेषिक दर्शन के अनुसार शरीर का मूल उपादान कारण क्या है?
  - (क) पांचों भूत (क्षिति, जल, पावक, गगन, समीर)
  - (ख) केवल जल और तेज
  - (ग) केवल पृथ्वी (पार्थिव)**
  - (घ) वायु और आकाश
- सूत्र 4.2.2 के अनुसार, शरीर 'पांचभौतिक' क्यों नहीं है?
  - (क) क्योंकि शरीर में गंध नहीं है
  - (ख) क्योंकि प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष का संयोग अप्रत्यक्ष होता है**
  - (ग) क्योंकि शरीर में केवल तीन भूत हैं।
  - (घ) क्योंकि शास्त्र इसकी अनुमति नहीं देते
- वैशेषिक मत में किन दो भूतों को 'अप्रत्यक्ष' माना गया है?
  - (क) पृथ्वी और जल
  - (ख) तेज और वायु
  - (ग) वायु और आकाश**
  - (घ) जल और आकाश
- 'गुणान्तराप्रादुर्भावाच्च न त्र्यात्मकम्' (4.2.3) सूत्र क्या सिद्ध करता है?
  - (क) शरीर तीन भूतों से बना है
  - (ख) शरीर में जल और तेज के विशेष गुणों का अभाव है**
  - (ग) शरीर में केवल वायु के गुण हैं
  - (घ) शरीर का कोई गुण नहीं होता
- शरीर में अन्य विजातीय परमाणुओं (जल, तेज आदि) की भूमिका को क्या कहा जाता है?
  - (क) उपादान कारण
  - (ख) समवायी कारण
  - (ग) उपष्टम्भक (सहायक/विधारक)**
  - (घ) मुख्य कारण
- न्याय सूत्र 'पार्थिवं गुणान्तरोपलब्धेः' के अनुसार शरीर के पार्थिव होने का मुख्य लक्षण क्या है?
  - (क) स्पर्श
  - (ख) शब्द
  - (ग) गंध**
  - (घ) रूप
- सांख्य दर्शन के अनुसार शरीर को 'पांचभौतिक' कहना किस प्रकार का व्यवहार है?
  - (क) मुख्य व्यवहार
  - (ख) गौण/औपचारिक व्यवहार**
  - (ग) भ्रामक व्यवहार
  - (घ) वैज्ञानिक व्यवहार
- सूत्र 'अणुसंयोगस्त्वप्रतिषिद्धः' (4.2.4) के माध्यम से कणाद क्या स्पष्ट करना चाहते हैं?
  - (क) परमाणुओं का मेल असंभव है
  - (ख) विजातीय परमाणुओं का सहायक रूप में जुड़ना वर्जित नहीं है**
  - (ग) शरीर केवल वायु से बना है



(घ) आकाश का संयोग नहीं होता

9. शरीर में पाचन (पाक) की क्रिया किस तत्व के सहयोग से संभव होती है?

(क) पृथ्वी

(ख) जल

**( ग ) तेज ( अग्नि )**

(घ) आकाश

10. लोक व्यवहार में मृतक के शरीर के लिए अक्सर किस शब्द का प्रयोग किया जाता है, जो उसके एक-भौतिक होने को दर्शाता है?

(क) वायु शरीर

(ख) जलीय शरीर

**( ग ) पार्थिव शरीर**

(घ) दिव्य शरीर

## इकाई-४.४ : शरीर के भेद, अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु

### उद्देश्य-

- शरीर के वर्गीकरण को समझना: वैशेषिक दर्शन के अनुसार शरीर के मुख्य भेदों (योनिज और अयोनिज) और उनके उपभेदों का विस्तृत अध्ययन करना।
- अयोनिज उत्पत्ति के सिद्धांतों का ज्ञान: यह समझना कि बिना माता-पिता के संयोग के, केवल धर्म-अधर्म और परमाणुओं के मेल से शरीर कैसे उत्पन्न होते हैं।
- उद्भिज्ज (वनस्पति) की स्थिति: पेड़-पौधों को स्वतंत्र शरीर न मानने के पीछे के वैशेषिक तर्कों और चेतना के स्तर का विश्लेषण करना।
- प्रमाणों द्वारा पुष्टि: अयोनिज शरीरों की सत्ता को सिद्ध करने के लिए सूत्रों, वेदों और ऐतिहासिक संज्ञाओं (नामों) के साक्ष्यों को जानना।

पृथिव्यादि चार द्रव्यों के कार्यों का निरूपण के प्रसङ्ग में शरीर के भेदों का वर्णन हो चुका है; फिर भी शरीर के भेदों का एकत्रित वर्णन की भावना से पुनः व्याख्यान किया जा रहा है। महर्षि कणाद शरीर के भेद का व्याख्यान करते हुये कहते हैं-

### तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च। (४.२.५)

पार्थिव, जलीय, तैजस एवं वायव्य इन चार प्रकार के शरीरों में पार्थिव शरीर दो प्रकार का होता है। (क) योनिज (ख) अयोनिज। वरूण, आदित्य एवं वायुलोक में जलीय, तैजस, वायवीय अयोनिज शरीर शास्त्रों में प्रसिद्ध ही है। माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष धर्मादि निमित्तों से युक्त परमाणुओं से उत्पन्न शरीर 'अयोनिज' कहलाता है।

(क) योनिज शरीर- माता-पिता के रज-वीर्य की अपेक्षा से गर्भपूर्वक उत्पन्न शरीर योनिज कहलाता है।

यह भी दो प्रकार का होता है-

### (१) जरायुज (२) अण्डज ।

(१) जरायुज- माँ के गर्भ से पतली पारदर्शी झिल्ली (जरायु) से लिपटा हुआ उत्पन्न होने वाले शरीर को जरायुज कहते हैं। मनुष्य, ग्राम्यपशु, अरण्यपशु आदिकों का शरीर जरायु (जेर) से उत्पन्न होने से जरायुज है; क्योंकि गर्भ का स्थान जरायु (मांस की पतली पोटली) होती है।

(२) अण्डज- अण्डे से उत्पन्न होने वाले शरीर को 'अण्डज' कहते हैं। पक्षी, सरीसृप (सरक कर चलने वाले) सर्प आदिकों का शरीर अण्डे से उत्पन्न होता है, चारों तरफ सरकने का स्वभाव होने से सर्प, कीट (कीड़े), मत्स्य (मछली) आदि सरीसृप ही कहलाते हैं।

'उद्भिज' (वृक्ष, वनस्पति आदि) नामक तीसरा शरीर का वर्णन भी शास्त्रों में प्राप्त होता है; परन्तु मनुष्यादि शरीरों की भांति उनमें सुखादि का अत्यन्त स्पष्ट न होने से प्रायः उनमें 'शरीर' शब्द का व्यवहार लोक में नहीं देखा जाता है। इस कारण से उद्भिज नामक तीसरा विभाग वैशेषिककार ने नहीं किया।

(ख) अयोनिज शरीर- माता-पिता के रज-वीर्य से निरपेक्ष धर्मादि निमित्तों से केवल परमाणुओं से उत्पन्न शरीर को अयोनिज शरीर कहते हैं। देवताओं का ऋषियों का शरीर अयोनिज शास्त्रों में सुना ही जाता है- ब्राह्मणों मानसा मन्वादयः अर्थात् मनु आदि ब्रह्मा के मानसपुत्र हैं।

अयोनिज शरीर पर किसी को विश्वास नहीं और पूछे कि बिना कारण के कार्य कैसे सम्भव है? अर्थात् शरीर मात्र में योनि कारण है- ऐसा नियम है। तब उसको कहना चाहिए कि शरीर मात्र में योनि ही कारण है ऐसा नियम नहीं है। ऊष्मा से उत्पन्न मशक (मच्छर), कृमि, डाँस इत्यादिकों का शरीर योनि के बिना भी देखे जाते हैं। इसलिए अयोनिज शरीर की उत्पत्ति निर्मूल नहीं है; अथवा यह कोई कोरी कल्पना नहीं है।

### अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में हेतु

माता-पिता के शुक्र-शोणित निरपेक्ष अयोनिज शरीर की उत्पत्ति में कारणों का उल्लेख करते हुये निम्न सूत्रों का प्रतिपादन करते हैं-

### अनियतदिग्देशपूर्वकत्वात्। (४.२.६)

अनियतदिग्देशपूर्वक अयोनिज शरीर की उत्पत्ति हो जाती है। "अनियतदिग्देशः परमाणवः" परमाणु नियतदिग्देश वाले नहीं होते हैं। अतः सूत्र में 'अनियतदिग्देश' पद 'परमाणु' अर्थ में आया है। सूत्रार्थ हुआ- अनियतदिग्देशपरमाणुपूर्वक अयोनिज शरीर की उत्पत्ति होती है।

पृथिवी आदि के परमाणुओं का कोई नियतदिग्देश नहीं होता है, अर्थात् वे सर्वत्र आकाश में बिखरे रहते हैं। अत्यन्त सूक्ष्म

होने के कारण वे दृष्टि में नहीं आते हैं। परमात्मा अथवा सिद्धयोगियों के संकल्प से उन परमाणुओं के संघात से शरीर का निर्माण हो जाता है। इसलिए अकारण शून्य से (छू-मन्त्र से) शरीर की उत्पत्ति की कल्पना शास्त्रों में नहीं है। वे भी सृष्टिनियमों (भौतिक विज्ञान आदि के नियमों) के अनुकूल ही होता है। परन्तु इस प्रकार के शरीर की उत्पत्ति में ऐश्वर्यवान् दिव्य पुरुष ही समर्थ होते हैं।

उपरोक्त प्रकार के परमाणुओं से उत्पन्न शरीर एक जैसा होना चाहिए, चाहे वह देवताओं का अयोनिज शरीर हो चाहे ऋषियों का हो अथवा तुच्छ कृमियों का ही क्यों न हो? क्योंकि सबकी उत्पत्ति तो परमाणुपूर्वक ही है। इस प्रकार की आशंका होने पर सूत्रकार कहते हैं-

**धर्मविशेषाच्च। (४.२.७)**

प्रस्तुत सूत्र में 'धर्म विशेष' पद 'अधर्म विशेष' का भी उपलक्षण है। अर्थात् धर्माधर्म विशेष से शरीर में अन्तर आता है। धर्मादि में तारतम्यता होने पर देव व ऋषियों के शरीर में भेद हो जाता है तथा अधर्मादि की तारतम्यता से कृमि आदि के शरीर में अन्तर हो जाता है। जिस प्रकार एक ही माता-पिता से समान आहार आदि के होने पर भी सन्तानों में भेद धर्मादि के निमित्त से हो जाता है। ऐसे ही अयोनिज शरीरों में भी समझना चाहिए। यहाँ शरीरभेदों का नियामक 'धर्माधर्म' रूप अदृष्ट ही है।

इस प्रकार के अयोनिज शरीर में एक और हेतु का प्रतिपादन कर रहे हैं-

**समाख्याभावाच्च। (४.२.८)**

'समाख्या' अर्थात् 'अन्वर्थासंज्ञा' की प्रसिद्धि शास्त्रों में होने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि हो जाती है। यथा-ब्रह्मा के मन से उत्पन्न होने से 'मनु' कहलाये, अहंकार से उत्पन्न होने से 'अंगिरा' नाम हुआ। इसी प्रकार उरूभाग से उत्पन्न होने से 'और्व' नामक ऋषि की उत्पत्ति हुई। नारायण के उरूभाग से ऊर्वशी इत्यादि अन्वर्था संज्ञा इतिहास-पुराणादि ग्रन्थों में प्रसिद्ध है।

इसी विषय में एक अन्य हेतु का उपन्यास करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**संज्ञाया आदित्वात्। (४.२.९)**

संज्ञा के आदि होने से भी अयोनिज शरीर की सिद्धि होती है। अर्थात् सृष्टि के आदि में प्रथम उत्पन्न हुई संज्ञा 'ब्रह्मा' है, उससे अयोनिज शरीर देवता तथा ऋषियों की उत्पत्ति है। क्योंकि ब्रह्मा के माता-पिता का श्रवण न होने से वे 'आदिपुरुष' सिद्ध होते हैं। उनसे पहले कोई उनके माता-पिता नहीं थे जिन्होंने 'ब्रह्मा' ऐसा अपने पुत्र का नाम दिया हो। इसलिए 'ब्रह्मा' इत्यादि संज्ञायें 'आदि' वाली होने से अयोनिज शरीर की सिद्धि होती हैं।

इस तथ्य की दृढ़ता की भावना से अंतिम हेतु का उपदेश करते हुये आचार्य कहते हैं-

**वेदलिङ्गाच्च। (४.२.११)**

वेद प्रमाण होने से भी अयोनिज शरीरों की सिद्धि होती है।

प्रस्तुत विषय में वेद प्रमाण है-

**ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत् बाहू राजन्यः कृतः ।**

**ऊरू तदस्य यद्वैश्यः पद्भ्यां शूद्रो अजायत॥ (यजु. ३१)**

प्रस्तुत वेद मन्त्र में मुख से ब्राह्मण, बाहु से क्षत्रिय, जंघा से वैश्य एवं पैर से शूद्र की उत्पत्ति का वर्णन है। अतएव सर्ग के आरम्भ में चारों वर्णों की उत्पत्ति अयोनिज ही हुई है।

अतएव उपरोक्त प्रमाणों के बल पर सिद्ध होता है कि "अयोनिज शरीर होते हैं" इसी का उपसंहार करते हुये सूत्रकार कहते हैं-

**सन्त्ययोनिजाः। (४.२.१०)**

अर्थात् उपरोक्त प्रमाणों से 'अयोनिज शरीर' होते हैं यह सिद्ध होता है।

**स्मरणीय बिंदु-**

- दो मुख्य भेद (4.2.5): शरीर दो प्रकार के होते हैं- योनिज (माता-पिता के संयोग से उत्पन्न) और अयोनिज (शुक्र-शोणित के बिना उत्पन्न)। योनिज के पुनः दो भेद हैं: जरायुज (स्तनधारी) और अण्डज (अंडे से उत्पन्न)।
- अयोनिज उत्पत्ति का हेतु: देवताओं और ऋषियों के शरीर 'धर्म विशेष' के कारण और कीट-पतंगों के शरीर 'अधर्म विशेष' के कारण परमाणुओं के स्वतंत्र संयोग से उत्पन्न होते हैं।
- ब्रह्मा और आदि पुरुष: सूत्र 'संज्ञाया आदित्वात्' (4.2.9) के अनुसार सृष्टि के प्रारंभ में ब्रह्मा जी का शरीर अयोनिज था, क्योंकि उस समय माता-पिता की परंपरा विद्यमान नहीं थी।

- उद्भिज्ज का निषेध: वैशेषिक दर्शन में वृक्षों को स्वतंत्र 'शरीर' नहीं माना गया है क्योंकि उनमें प्राणियों की तरह इंद्रियों के माध्यम से सुख-दुख की स्पष्ट और सक्रिय अनुभूति प्रकट नहीं होती।

#### शब्दावली-

- जरायुज: वे प्राणी जो माता के गर्भ से झिल्ली (जेर) में लिपटे हुए उत्पन्न होते हैं (जैसे मनुष्य, पशु)।
- अयोनिज: वे शरीर जिनकी उत्पत्ति स्त्री-पुरुष के समागम के बिना, सीधे परमाणुओं के संघात से होती है।
- समाख्या: अन्वर्थ संज्ञा या वे प्रसिद्ध नाम जो व्यक्ति की उत्पत्ति के विशेष ढंग को दर्शाते हैं (जैसे शङ्गिराज जो अग्नि या अंगारों से उत्पन्न हुए)।
- वेदलिङ्ग: वेदों में दिए गए वे संकेत या मंत्र जो अयोनिज उत्पत्ति की पुष्टि करते हैं (जैसे पुरुष सूक्त के मंत्र)।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार 'शरीर' के भेदों का सविस्तार वर्णन कीजिए। महर्षि कणाद ने 'उद्भिज्ज' को स्वतंत्र भेद क्यों नहीं माना?
2. अयोनिज शरीर की सिद्धि के लिए वैशेषिक दर्शन द्वारा दिए गए प्रमुख हेतुओं (तर्कों) की सूत्रानुसार व्याख्या कीजिए।
3. अयोनिज शरीर केवल कल्पना नहीं बल्कि प्रमाण-सिद्ध सत्य है'- वेदों और सूत्रों के संदर्भ में इस कथन की पुष्टि कीजिए।

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. सूत्र 'तत्र शरीरं द्विविधं योनिजमयोनिजञ्च' (4.2.5) के अनुसार शरीर के मुख्य भेद क्या हैं?
2. 'अनियतदिग्देशपूर्वत्वात्' (4.2.6) सूत्र अयोनिज शरीर की उत्पत्ति को कैसे सिद्ध करता है?
3. अयोनिज शरीरों में भिन्नता (जैसे देवता बनाम कीड़े) का क्या कारण है?
4. सूत्र संज्ञाया आदित्वात् (4.2.9) ब्रह्मा जी के संदर्भ में क्या स्पष्ट करता है?
5. 'वेदलिङ्गाच्च' (4.2.11) सूत्र अयोनिज शरीर के लिए क्या प्रमाण देता है?

#### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैशेषिक दर्शन के अनुसार मुख्य रूप से शरीर के कितने भेद हैं?

(क) एक

(ख) दो (योनिज और अयोनिज)

(ग) तीन (जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज)

(घ) चार

2. 'जरायुज' शरीर का अर्थ क्या है?

(क) अंडे से उत्पन्न होने वाला

(ख) पसीने से उत्पन्न होने वाला

(ग) झिल्ली (जेर) से लिपटा हुआ उत्पन्न होने वाला

(घ) पृथ्वी फाड़कर निकलने वाला

3. पक्षी, सर्प और मछली किस श्रेणी के शरीर में आते हैं?

(क) जरायुज

(ख) अण्डज

(ग) अयोनिज

(घ) उद्भिज्ज

4. देवताओं और ऋषियों के शरीर की उत्पत्ति का हेतु (कारण) क्या है?

(क) अधर्म विशेष

(ख) केवल परमाणु

(ग) धर्म विशेष

(घ) शुक्र-शोणित संयोग

5. मच्छर (मशक), कृमि और डाँस के अयोनिज शरीर का कारण क्या माना गया है?

(क) धर्म विशेष

(ख) अधर्म विशेष

(ग) माता-पिता का संकल्प

(घ) केवल आकाश

6. सूत्र 'अनियतदिग्देशपूर्वत्वात् (4.2.6) में 'अनियतदिग्देश' शब्द किसके लिए प्रयुक्त हुये है?

(क) आकाश के लिए

**(ख) परमाणुओं के लिए**

(ग) दिशाओं के लिए

(घ) आत्मा के लिए

7. शास्त्रों में 'मनु' और 'अंगिरा' जैसे नाम अयोनिज सिद्धि के लिए किस हेतु अन्तर्गत आते हैं?

(क) वेदलिङ्ग

**(ख) समाख्या (अन्वर्थ संज्ञा)**

(ग) अदृष्ट

(घ) योनि

8. 'संज्ञाया आदित्वात्' (4.2.9) सूत्र के अनुसार कौन 'आदि पुरुष' और अयोनिज सिद्ध होते हैं? (क) मनु

(ख) अंगिरा

**(ग) ब्रह्म**

(घ) नारद

9. 'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्...' यह वेद मंत्र किस सूत्र की पुष्टि हेतु प्रमाण माना गया है?

(क) धर्मविशेषाच्च

(ख) समाख्याभावाच्च

**(ग) वेदलिङ्गाच्च**

(घ) सन्त्ययोनिकाः

10. वैशेषिककार ने 'उद्भिज्ज' (पेड़-पौधों) को अलग विभाग में क्यों नहीं रखा?

(क) क्योंकि वे निर्जीव हैं

**(ख) क्योंकि उनमें सुख-दुख की स्पष्ट अनुभूति (चेतना) प्रकट नहीं होती**

(ग) क्योंकि वे अयोनिज नहीं हैं

(घ) क्योंकि वे केवल वायु से बनते हैं।

॥ ओ३म् ॥

# वेदान्त दर्शन-2

MDPHMJ-203



दिव्य प्रकाशन

## MDPHMJ-203

### वेदान्त-दर्शनम्

Credit- 05  
Marks-100 (30+70)

#### उद्देश्य-

- वेदान्तदर्शन के द्वितीय अध्याय के सूत्रार्थ व भाष्यार्थ से अवगत कराना।
- वेदान्त के मौलिक सिद्धान्तों से इतर सिद्धान्तों का तुलनात्मक परिचय करवाना।

#### खण्ड- 1 सिद्धान्तावबोध-१

Credit- 02

इकाई-1. जगत उत्पत्ति में भिन्न-भिन्न स्मृति शास्त्रों में प्रतिपादित निमित्त उपादान उभय कारणवाद विमर्श।

इकाई-2. शरीर में जीव और परमात्मा की उपस्थिति

इकाई-3. क्या परमात्मा को उपकरणों की आवश्यकता है?

इकाई-4. परमात्मा को सृष्टि कार्य में करणों की अनपेक्षा एवं प्रकृति में कार्य जगत का सत होना ।

#### खण्ड-2 सिद्धान्तावबोध-२

Credit- 01

इकाई-5. वेदान्त सिद्धान्त में प्रकृति का स्वतन्त्र उपादान कारण न होना - एक तार्किक समीक्षा।

इकाई-6 न्याय वैशिष्ट्यों के परमाणुकारणवाद का खण्डन, बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन।

इकाई-7. असत्-कारणवाद का निराकरण। विज्ञानवाद का खण्डन।

इकाई-8. अनेकांतवाद का खण्डन, ईश्वर साकारवाद का खण्डन।

#### खण्ड 3- सिद्धान्तावबोध-३

Credit- 01

इकाई-9. आकाश की उत्पत्ति का विचार।

इकाई-10. जीवात्मा स्वरूपविचार

इकाई-11. जीवात्मा का परिमाण निरूपण, जीवात्म का एकदेशत्व समर्थन

इकाई-12. जीवात्म कि कर्तृत्व विचार, जीवात्मा परमात्म का अंश है

#### खण्ड 4- सिद्धान्तावबोध-४

Credit- 01

इकाई-13. इन्द्रिय(प्राण स्वरूप )विचार

इकाई-14. मुख्यप्राणस्वरूप विचार

इकाई-15. प्राणों का जीवात्माधीन कर्तृत्व

इकाई-16. भूतों के परिणाम शरीर -भूताधिक्य से शरीर को भूत का नाम से व्यवहार।

#### परिणाम-

- वेदान्तदर्शन के द्वितीय अध्याय के सूत्रार्थ व भाष्यार्थ का ज्ञान।
- वेदान्त के सिद्धान्तों एवं अन्य सिद्धान्तों का तुलनात्मक ज्ञान।



## अनुक्रमणिका

|                                                                                                            |              |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|
| <b>खण्ड 1 - सिद्धान्तावबोध-1</b>                                                                           | <b>6-20</b>  |
| इकाई-1.1 जगत उत्पत्ति में भिन्न-भिन्न स्मृति शास्त्रों में प्रतिपादित<br>निमित्त उपादान उभय कारणवाद विमर्श | 6-11         |
| इकाई-1.2 शरीर में जीव और परमात्मा की उपस्थिति                                                              | 12-13        |
| इकाई-1.3 क्या परमात्मा को उपकरणों की आवश्यकता है?                                                          | 14-17        |
| इकाई-1.4 परमात्मा को सृष्टि कार्य में करणों की अनपेक्षा एवं प्रकृति में कार्य<br>जगत का सत होना।           | 18-20        |
| <b>खण्ड 2 - सिद्धान्तावबोध-2</b>                                                                           | <b>21-</b>   |
| इकाई-2.1 वेदान्त सिद्धान्त में प्रकृति का स्वतन्त्र उपादान कारण न होना<br>एक तार्किक समीक्षा               | 21-23        |
| इकाई-2.2 न्याय वैशिषकों के परमाणुकारणवाद का खण्डन                                                          | 24-28        |
| इकाई-2.3 असत्-कारणवाद का निराकरण, विज्ञानवाद का खण्डन                                                      | 29-31        |
| इकाई-2.4 अनेकांतवाद का खण्डन ईश्वर साकारवाद का खण्डन                                                       | 32-34        |
| <b>खण्ड 3 - सिद्धान्तावबोध-3</b>                                                                           | <b>35-50</b> |
| इकाई-3.1 आकाश की उत्पत्ति का विचार                                                                         | 35-38        |
| इकाई-3.2 जीवात्मा स्वरूप विचार                                                                             | 39-41        |
| इकाई-3.3 जीवात्मा का परिमाण निरूपण, जीवात्म का एकदेशत्व समर्थन्                                            | 42-45        |
| इकाई-3.4 जीवात्म का कर्तृत्व विचार, जीवात्मा परमात्म का अंश है                                             | 46-50        |
| <b>खण्ड 4 - सिद्धान्तावबोध-4</b>                                                                           | <b>51-</b>   |
| इकाई-4.1 इन्द्रिय (प्राण स्वरूप) विचार                                                                     | 51-54        |
| इकाई-4.2 मुख्यप्राणस्वरूप विचार                                                                            | 55-58        |
| इकाई-4.3 प्राणों का जीवात्माधीन कर्तृत्व                                                                   | 59-61        |
| इकाई-4.4 भूतों के परिणाम शरीर-भूताधिक्य से शरीर को भूत का नाम से व्यवहार                                   | 62-64        |

## प्रस्तावना

भारतीय चिन्तन धारा में जिन दर्शनों की परिगणना विद्यमान है, उनमें शीर्ष स्थानीय दर्शन कौन सा है ? ऐसी जिज्ञासा होने पर एक ही नाम उभरता है, वह है-वेदान्त। यह भारतीय दर्शन के मंदिर का जगमगाता स्वर्णकलश है दर्शनाकाश का देदीप्यमान सूर्य है। वेदान्त की विषय वस्तु, इसके उद्देश्य, साहित्य और आचार्य परम्परा आदि पर गहन चिन्तन करें, इससे पूर्व आइये, वेदान्त शब्द का अर्थ समझें।

वेदान्त का अर्थ- वेदान्त का अर्थ है वेद का अन्त या सिद्धान्त। तात्पर्य यह है- 'वह शास्त्र जिसके लिए उपनिषद् ही प्रमाण है। वेदान्त में जितनी बातों का उल्लेख है, उन सब का मूल उपनिषद् है। इसलिए वेदान्त शास्त्र के वे ही सिद्धान्त माननीय हैं, जिनके साधक उपनिषद् के वाक्य हैं। इन्हीं उपनिषदों को आधार बनाकर बादरायण मुनि ने ब्रह्मसूत्रों की रचना की।' इन सूत्रों का मूल उपनिषदों में है।

### वेदान्त का साहित्य

ब्रह्मसूत्र - उपरिवर्णित विवेचन से स्पष्ट है कि वेदान्त का मूल ग्रन्थ उपनिषद् ही है। अतः यदा-कदा वेदान्त शब्द उपनिषद् का वाचक बनता दृष्टिगोचर होता है। उपनिषदीय मूल वाक्यों के आधार पर ही बादरायण द्वारा अद्वैत वेदान्त के प्रतिपादन हेतु ब्रह्मसूत्र सृजित किया गया। महर्षि पाणिनि द्वारा अष्टाध्यायी में उल्लेखित 'भिक्षुसूत्र' ही वस्तुतः ब्रह्मसूत्र है। संन्यासी, भिक्षु कहलाते हैं एवं उन्हीं के अध्ययन योग्य उपनिषदों पर आधारित पाराशर्य (पराशर पुत्र व्यास) द्वारा विरचित ब्रह्म सूत्र है, जो कि बहुत प्राचीन है। यही वेदान्त दर्शन उत्तर मीमांसा के नाम से प्रख्यात है। महर्षि जैमिनि का मीमांसा दर्शन पूर्व मीमांसा कहलाता है, जो कि द्वादश अध्यायों में आबद्ध है। कहा जाता है कि जैमिनि द्वारा इन द्वादश अध्यायों के पश्चात् चार अध्यायों में संकर्षण काण्ड (देवता काण्ड) का सृजन किया गया था। जो अब अनुपलब्ध है, इस प्रकार पूर्व मीमांसा षोडश अध्यायों में सम्पन्न हुआ है। उसी सिलसिले में चार अध्यायों में उत्तर मीमांसा या ब्रह्म-सूत्र का सृजन हुआ। इन दोनों ग्रन्थों में अनेक आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है। इससे ऐसा अनुमान होता है कि इन बीस अध्यायों के रचनाकार कोई एक व्यक्ति थे, चाहे वे महर्षि जैमिनि हों अथवा बादरायण अथवा बादरि। पूर्व मीमांसा में कर्मकाण्ड एवं उत्तर मीमांसा में ज्ञानकाण्ड विवेचित है। उन दिनों विद्यमान समस्त आचार्य पूर्व एवं उत्तर मीमांसा के समान रूपेण विद्वान् थे। इसी कारण जिनके नामों का उल्लेख जैमिनीय सूत्र में है, उन्हीं का ब्रह्मसूत्र में भी है। वेदान्त सम्बन्धी साहित्य प्रचुर मात्र में विद्यमान है।

### वेदान्त दर्शन का स्वरूप और प्रतिपाद्य-विषय

'वेदों' के सर्वमान्य, सर्वश्रेष्ठ सिद्धान्त ही 'वेदान्त' का प्रतिपाद्य हैं। उपनिषदों में ही ये सिद्धान्त मुख्यतः प्रतिपादित हुए हैं, इसलिए वे ही 'वेदान्त' के पर्याय माने जाते हैं। परमात्मा का परम गुहा ज्ञान वेदान्त के रूप में सर्वप्रथम उपनिषदों में ही प्रकट हुआ है। 'वेदान्तविज्ञानसुनिश्चितार्थाः' (मुण्डक 3.2.6)। 'वेदान्ते परमं गुह्यम् पुराकल्पे प्रचोदितम्' (श्वेताश्वतर 6.22)। 'यो वेदादौ स्वरः प्रोक्तो वेदान्ते च प्रतिष्ठितः' (महानारायण 10.8) इत्यादि श्रुतिवचन उसी तथ्य का डिंडिम घोष करते हैं। इन श्रुति वचनों का सारांश इतना ही है कि संसार में जो कुछ भी दृश्यमान है और जहाँ तक हमारी बुद्धि अनुमान कर सकती है, उन सबका मूल स्रोत एकमात्र 'परब्रह्म' ही है।

इस प्रकार ब्रह्मसूत्र प्रमुखतया ब्रह्म के स्वरूप को विवेचित करता है एवं इसी के सम्बन्ध से उसमें जीव एवं प्रकृति के सम्बन्ध में भी विचार प्रकट किया गया है। यह दर्शन चार अध्यायों एवं सोलह पादों में विभक्त है। इनका प्रतिपाद्य क्रमशः निम्नवत् है-

1- प्रथम अध्याय में वेदान्त से सम्बन्धित समस्त वाक्यों का मुख्य आशय प्रकट करके उन समस्त विचारों को समन्वित किया गया है, जो बाहर से देखने पर परस्पर भिन्न एवं अनेक स्थलों पर तो विरोधी भी प्रतीत होते हैं। प्रथम पाद में वे वाक्य दिये गये हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्टतया कथन है, द्वितीय में वे वाक्य हैं, जिनमें ब्रह्म का स्पष्ट कथन नहीं है एवं अभिप्राय उसकी उपासना से है। तृतीय में वे वाक्य समाविष्ट हैं, जिनमें ज्ञान रूप में ब्रह्म का वर्णन है। चतुर्थ पाद में विविध प्रकार के विचारों एवं संदिग्ध भावों से पूर्ण वाक्यों पर विचार किया गया है।

2- द्वितीय अध्याय का विषय 'अविरोध' है। इसके अन्तर्गत श्रुतियों की जो परस्पर विरोध सम्मतिर्याँ हैं- उनका मूल आशय प्रकट करके उनके द्वारा सिद्धान्त की सिद्धि की गयी है। इसके साथ ही वैदिक मतों (सांख्य, वैशेषिक पाशुपत आदि) एवं अवैदिक सिद्धान्तों (जैन, बौद्ध आदि) के दोषों एवं उनकी अयथार्थता को दर्शाया गया है। आगे चलकर लिङ्गा शरीर प्राण एवं इन्द्रियों के स्वरूप दिग्दर्शन के साथ पंचभूत एवं जीव से सम्बद्ध शंकाओं का निराकरण भी किया गया है।

3- तृतीय अध्याय की विषय वस्तु साधन है। इसके अन्तर्गत प्रथमतः स्वर्गादि प्राप्ति के साधनों के दोष दिखाकर ज्ञान एवं विद्या के वास्तविक स्रोत परमात्मा की उपासना प्रतिपादित की गयी है, जिसके द्वारा जीव ब्रह्म की प्राप्ति कर सकता है। इस उद्देश्य की पूर्ति में कर्मकाण्ड सिद्धान्त के अनुसार मात्र अग्निहोत्र आदि पर्याप्त नहीं, वरन् ज्ञान एवं भक्ति द्वारा ही आत्मा और परमात्मा का सान्निध्य सम्भव है।

4- चतुर्थ अध्याय साधना का परिणाम होने से फलाध्याय है। इसके अन्तर्गत वायु, विद्युत् एवं वरुण लोक से उच्च लोक ब्रह्मलोक तक पहुँचने का वर्णन है, साथ ही जीव की मुक्ति, जीवन्मुक्त की मृत्यु एवं परलोक में उसकी गति आदि भी वर्णित है। अन्त में यह भी वर्णित है कि ब्रह्म को प्राप्ति होने से आत्मा की स्थिति किस प्रकार की होती है, जिससे वह पुनः संसार में आगमन नहीं करती। मुक्ति और निर्वाण की अवस्था यहीं है। इस प्रकार वेदान्त दर्शन में ईश्वर, प्रकृति, जीव, मरणोत्तर दशाएँ, पुनर्जन्म, ज्ञान, कर्म, उपासना, बन्धन एवं मोक्ष इन दस विषयों का प्रमुखरूपेण विवेचन किया गया है।

## खण्ड-१ सिद्धिन्तावबोध-१

### इकाई-१.१ जगत उत्पत्ति में भिन्न-भिन्न स्मृति शास्त्रों में प्रतिपादित निमित्त उपादान उभय कारणवाद विमर्श

#### उद्देश्य-

- श्रुति एवं स्मृति के समन्वय को समझना।
- ब्रह्म और प्रकृति के कारणवाद का अध्ययन करना।
- कार्य-कारण संबंध की वेदान्तीय व्याख्या को जानना।

#### परिणाम-

- विद्यार्थी श्रुति-स्मृति समन्वय की अवधारणा को स्पष्ट कर सकेंगे।
- ब्रह्म एवं प्रकृति के संयुक्त कारणवाद को समझ सकेंगे।
- कार्य-कारण अनन्यता का दार्शनिक विश्लेषण कर सकेंगे।

कुछ स्मृतियों में (जैसे सांख्य शास्त्र में) यह कहा गया है कि जगत् का कारण प्रकृति (अव्यक्त, प्रधान) है। वहीं अन्य स्मृतियों (जैसे मनुस्मृति या गीता आदि) के अनुसार जगत् का कारण ब्रह्म है। अगर हम ब्रह्म को ही केवल कारण मानें और प्रकृति को न मानें तो यह आपत्ति उठ सकती है कि फिर जिन स्मृतियों में प्रकृति को कारण कहा गया है, उन्हें स्थान नहीं मिलेगा - यह स्मृत्यनवकाशदोष कहलाएगा। परन्तु यह सोचना उचित नहीं है। अगर आप प्रकृति को न मानें और केवल ब्रह्म को स्वीकार करें, तब भी दूसरी स्मृतियाँ (जिनमें प्रकृति को कारण बताया गया है) को स्थान नहीं मिलेगा- वहाँ भी स्मृत्यनवकाशदोष आएगा। इसलिए हमें यह मानना होगा कि दोनों को- ब्रह्म को निमित्त कारण (कर्तापन) और प्रकृति को उपादान कारण (सामग्री रूप में)- स्वीकार करना चाहिए। इस प्रकार दोनों मतों को समन्वय के साथ लेना चाहिए- ब्रह्म जगत् का निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण। इसलिए सभी स्मृतियों का यथायोग्य अर्थ करके समन्वयपूर्वक ग्रहण करना चाहिए, न कि परस्पर विरोध मानकर किसी को अस्वीकार करना। पिछले सूत्र में यह बताया गया कि ब्रह्म निमित्त कारण है और प्रकृति उपादान कारण। अब यह आपत्ति उठाई जाती है की- “अगर ब्रह्म और प्रकृति को ही जगत् का कारण माना गया है, तो फिर जीवात्मा (जीव) क्यों नहीं? जीव भी तो सृष्टि से पहले ही विद्यमान रहता है। और सृष्टि के कार्यों (जैसे जन्म, कर्म, भोग आदि) में भी वह भाग लेता है। इसलिए क्या वह भी जगत् का कारण नहीं हो सकता?” उत्तर (सूत्र का समाधान): “इतरेषां चानुपलब्धेः”- अर्थात् ब्रह्म और प्रकृति के अतिरिक्त अन्य तत्त्वों- जैसे जीव, या प्रकृति के विकार-महत, अहंकार, तन्मात्राएँ आदि- का कहीं भी श्रुति (वेद) या स्मृति (गीता, मनु आदि) में जगत् के कारण के रूप में उल्लेख नहीं मिलता। अतः इन्हें जगत्कारणत्व नहीं दिया जा सकता। जीवात्मा सृष्टि का कर्ता नहीं, केवल भोक्ता (अनुभव करने वाला) है। वह केवल ब्रह्म और प्रकृति के संग मिलकर कर्म के फल भोगता है, न कि सृष्टि की उत्पत्ति करता है। और सूत्र 1.1.14 में यह स्पष्ट किया गया था कि ब्रह्म और प्रकृति को छोड़कर अन्य किसी तत्व - जैसे जीवात्मा या महतादि विकार- को जगत् का कारण नहीं माना जा सकता, क्योंकि इसका श्रुति-स्मृति में कोई प्रमाण नहीं है। अब यह प्रश्न उठता है क्या जगत् और उसका कारण (प्रकृति) एक दूसरे से भिन्न है- सूत्र में उत्तर दिया गया। जगत् और उसका कारण (प्रकृति) विलक्षण (अलग) नहीं हैं। क्योंकि दोनों ही जड़ (निर्जीव) हैं, इस कारण समानधर्मा हैं। जैसे मिट्टी से बने बर्तन मिट्टी से अलग नहीं होते, वैसे ही जगत् अपने कारण (प्रकृति) से भिन्न नहीं होता। यह बात कि कार्य (जगत्) अपने कारण (प्रकृति) के समान होता है, शास्त्रीय शब्द (वेदवाक्य) से प्रमाणित होती है। “कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः” (छन्दो 6.1.4) “कार्य (उत्पन्न वस्तु) में कारण के गुण देखे जाते हैं।” मिट्टी से बना घड़ा - उसमें मिट्टी की ही गंध, रंग, रूप होते हैं। सोने से बना आभूषण - उसमें भी सोने की चमक, भारीपन आदि होते हैं। इसी प्रकार प्रकृति जड़ है - जगत् भी (जड़ता, परिवर्तनशीलता, भौतिकता)। इसलिए कहा गया कि प्रकृति जगत् से भिन्न कारण नहीं है। वेदों में अनेक स्थानों पर ऐसा प्रतीत होता है कि जड़ तत्वों (जैसे-जल, अग्नि, वाक् आदि) को चेतन की भांति व्यवहार करते हुए प्रस्तुत किया गया है। उदाहरणार्थ-

“आपोऽब्रुवन्” (शतपथ ब्राह्मण ६।१।३।२)

“तत्तेज ऐक्षत” (छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।३)

“ता आप ऐक्षन्त” (छान्दोग्य उपनिषद् ६।२।४)

“तेऽग्निमब्रुवन् विजानीहि किमेतद्यक्षमिति” (केनोपनिषद् ३।३)

“ते ह वाचमूचुस्त्वं न उद्धृणाय” (बृहदारण्यक उपनिषद् १।३।२)

“ते हेमे प्राणा अहं श्रेयसे विवदमाना ब्रह्म जग्मुः” (बृहदारण्यक उपनिषद् ६।१।७)

इन मन्त्रों में जल, तेज, अग्नि, वाक्, प्राण आदि को बोलते, देखते या निर्णय करते हुए चित्रित किया गया है, जो सामान्यतः चेतन जीवों के लक्षण हैं। परंतु जब इनका विश्लेषण किया जाता है तो पाया जाता है कि वास्तव में यह चेतन व्यवहार नहीं, अपितु ‘अभिमानिव्यपदेश’ है। “अभिमानिव्यपदेशस्तु विशेषानुगतिभ्याम् ॥५॥” (ब्रह्मसूत्र २।१।५) जब जड़ वस्तुओं में चेतनता के समान व्यवहार का वर्णन होता है, तो वह ‘अभिमान’ (कल्पित चेतनता) के कारण होता है। “अभिमानी” वह है, जिसमें चेतनता की कल्पना की गई है, और “व्यपदेश” का अर्थ है – उसके बारे में किया गया उल्लेख या संबोधन। ‘अभिमानिव्यपदेश’ का तात्पर्य है कि वस्तुतः जड़ तत्वों में चेतना नहीं होती, किंतु विशेष प्रयोजनवश, जैसे उपमा, अलंकार या कथन की शैली के कारण, उन्हें चेतन की भाँति प्रस्तुत किया जाता है। मनुष्यवद् देवता-भिधानम् (निरुक्त -११। ३) अर्थात् देवताओं (या जड़ तत्वों) का वर्णन मनुष्यों की भाँति किया गया है। कारण विशेषानुगति यह शैली इसलिए अपनाई जाती है ताकि विशेषता का प्रतिपादन किया जा सके। यहां जिन जड़ तत्वों की चर्चा की जा रही है, उनमें कुछ विशेष गुण विद्यमान हैं। अनुगति का बोध हो – अर्थात् उपदेश या कथनक्रम में आगे की बातों को स्पष्टता से समझाया जा सके। इस प्रकार, यह कहा जा सकता है कि प्रकृति या जगत का जो व्यवहार वेदों में वर्णित है, वह वास्तविक चेतनता के कारण नहीं अपितु विशेष अभिप्रायों से किया गया अभिमानात्मक उल्लेख है। जड़ वस्तुओं में चेतन व्यवहार के जो उदाहरण वेदों और उपनिषदों में देखने को मिलते हैं, वैसे ही आभासिक या कल्पित चेतनता के उदाहरण सामान्य लोक व्यवहार में भी देखे जा सकते हैं।

उदाहरणार्थः

- “कूलं पिपतिषति” – किनारा तैरना चाहता है।
- “वृष्टिराजिगमिषति” – वर्षा जाने को है।

इन वाक्यों में ‘किनारा’ या ‘वर्षा’ जैसी जड़ वस्तुओं को चेतन के समान व्यवहार करते हुए दर्शाया गया है। इसी प्रकार, कथाओं में भी ऐसे अनेक उदाहरण मिलते हैं, जैसे-

- “नारद और पर्वत का संवाद”
- “नदी और पर्वत का संवाद”
- “समुद्र ने कहा” आदि।

इन सभी उदाहरणों में जड़ तत्वों को मानवीय (चेतन) गुणों से युक्त दिखाया गया है, परंतु यह वास्तविक चेतनता नहीं, अपितु आभासिक या काल्पनिक चेतनता (अभिमानिव्यपदेश) है।

### १.१ “क्या असत् से सत् उत्पन्न हो सकता है?” – उपनिषदों की दृष्टि में

यदि जगत जड़ प्रकृति का परिणाम है, और प्रकृति जड़ है, तो उसका परिणाम अर्थात् यह जगत भी जड़ और असत्य होना चाहिए। क्योंकि, सामान्यतः कार्य (परिणाम) में कारण के गुण विद्यमान होते हैं। “असद् वा इदमग्र आसीत्, ततः सदजायत” (तैत्तिरीय उपनिषद् २।७) जगत की उत्पत्ति से पूर्व केवल असत् (अभाव) था, और उसी से सत् (जगत) उत्पन्न हुआ। यदि उत्पत्ति से पहले असत् था, तो उसका परिणाम भी असत् ही होना चाहिए। इस आधार पर यह सिद्ध करने का प्रयास होता है कि प्रकृति कारण नहीं हो सकती। जब उपनिषद् कहता है कि “प्रारंभ में असत् था”, तो उसका तात्पर्य यह नहीं है कि कोई भी वस्तु या कारण नहीं था, अपितु यह कहा जा रहा है कि स्थूल जगत प्रकट रूप में विद्यमान नहीं था। यह प्रतिषेध सूक्ष्म, अप्रकट कारण रूप प्रकृति पर नहीं, अपितु स्थूल जगत पर किया गया है। यदि हम “असत्” को निरपेक्ष अभाव मानें, तो इससे परमात्मा का भी अभाव सिद्ध होने लगेगा, क्योंकि वह भी इन्द्रियगोचर नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकल जाएगा कि परमात्मा भी पहले नहीं था, जो स्पष्टतः वेदविरोधी और तर्कविरुद्ध है। इसलिए, “असत्” शब्द को यहाँ प्रतिषेधमात्र के अर्थ में लेना ही उचित है। असद्वादी यह आपत्ति करता है कि यदि प्रकृति को जगत का कारण स्वीकार किया जाए, तो लय (प्रलय) की अवस्था में प्रकृति में वही गुण (धर्म) विद्यमान माने जाएँगे जो कार्य में (जगत में) दृष्टिगोचर होते हैं। जैसे- स्थूलता, गंध, रस, रूप आदि। चूँकि यह सिद्धांत है कि कार्य में कारण के गुण होते हैं, तो यदि जगत (कार्य) में ये गुण हैं, तो वे प्रकृति (कारण) में भी पहले से ही विद्यमान मान लिए जाएँगे। उत्तर – “अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गात् असमञ्जसम्” नहीं, ऐसा मानना तर्कसम्मत नहीं है। यदि हम यह मानें कि लय की अवस्था में प्रकृति में कार्य के समस्त गुण (स्थूलता, रंग, रूप आदि) विद्यमान हैं, तो यह विचार असंगत हो जाएगा। क्यों? प्रकृति को सांख्य और योग दर्शन में सूक्ष्म और अव्यक्त माना गया है।

“सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्ग पर्यवसानम्” (योगसूत्र १। ४५) “सौक्ष्म्यात्तदनुपलब्धिः” (सांख्यकारिका १०६) अर्थात् प्रकृति इतनी

सूक्ष्म है कि वह इन्द्रियों से ग्रहण नहीं की जा सकती, अतः उसमें स्थूल जगत के गुण (स्थूलत्व आदि) होना तर्कसंगत नहीं है। कार्य में जो गुण दृष्टिगोचर होते हैं, वे कारण में संभाव्य रूप में (बीज रूप में) रहते हैं। इसलिए, यदि कार्य के स्थूल गुणों को कारण में भी वैसे ही स्पष्ट रूप से मान लिया जाए, तो इससे प्रकृति की सूक्ष्मता और अव्यक्तता का सिद्धांत खंडित हो जाएगा। पूर्व सूत्र में “अपीतौ तद्वत्प्रसङ्गादसमञ्जसम्” (सूत्र ८) के माध्यम से यह बताया गया था कि यदि प्रकृति को उपादान कारण माना जाए, तो लय की अवस्था में उसमें कार्य के गुण (जैसे गंध, रूप आदि) भी मानने पड़ेंगे, जो असंगत है। ऐसा मानना न केवल तार्किक है, अपितु लोक में भी उसके दृष्टांत मिलते हैं। अब प्रस्तुत सूत्र में यह बताया गया है कि यदि पूर्वपक्षी इस समाधान को स्वीकार नहीं करता और फिर भी अपनी आपत्ति पर अड़ा रहता है, तो उसकी स्वयं की स्थिति (स्वपक्ष) भी इस दोष से मुक्त नहीं है, क्योंकि उसके सिद्धांत में भी वही दोष उपस्थित हो जायेगा। पूर्वपक्षी यह मानता है कि ब्रह्म ही जगत का एकमात्र कारण है अर्थात् ब्रह्म उपादान कारण भी है। यदि वह यह स्वीकार करता है कि कार्य के गुण कारण में अवश्य ही होने चाहिए, तो—

1. ब्रह्म में भी स्थूलता, गंध, रस, रूप आदि गुणों की अपेक्षा करनी पड़ेगी।
2. परंतु यह तो स्पष्ट है कि ब्रह्म निराकार, निर्गुण, सूक्ष्म और स्थूल गुणों से रहित है।
3. फिर यह कहना कि ब्रह्म से यह स्थूल, गुणयुक्त जगत उत्पन्न हुआ — यह तर्कसंगत नहीं रहेगा।

यदि कोई कहे कि “स्वपक्ष” में जो दोष बताया गया है, वह केवल तर्क के आधार पर है और तर्क की कोई निश्चित प्रतिष्ठा नहीं होती। एक तर्क को दूसरा तर्क काट सकता है, इसलिए न तो तर्क प्रमाण है और न ही उससे निष्कर्ष निकालना युक्तिसंगत। इसलिए किसी भिन्न विधि से अनुमान करना चाहिए। उत्तर “एवमप्यविमोक्षप्रसङ्गः” — यदि हम केवल तर्क और अनुमान को त्याग दें, तो भी ज्ञान और मोक्ष की प्राप्ति का मार्ग ही बंद हो जाएगा। अनुमान (तर्कयुक्त ज्ञान) भी अंततः प्रत्यक्ष या शास्त्र जैसे प्रमाणों पर आधारित होता है। अनुमान तभी संभव है जब कोई दृष्ट लक्षण (लिङ्ग) उपलब्ध हो। यदि किसी विषय में ऐसा कोई लक्षण (संकेत) ही उपलब्ध न हो, तो वह अनुमान भी अनुमान नहीं रह जाता। इसीलिए, केवल यह कहना कि “तर्क की कोई स्थिरता नहीं” — समाधान नहीं है, क्योंकि अनुमान और तर्क दोनों ही अन्य प्रमाणों पर आधारित होते हैं। जो, मत असत् को कारण मानता है (जैसे शून्यवाद आदि), वे भी इस ब्रह्म-प्रकृति संयुक्त सिद्धांत द्वारा निराकृत हो जाते हैं, क्योंकि वेदों में स्पष्ट रूप से कहा गया है कि— असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्रकृति और ब्रह्म दोनों मिलकर सृष्टि के कारण हैं।

## १.२ प्रलयावस्था में जीव और प्रकृति का संबंध एवं भोक्तृत्व का निषेध

वेदान्त के अनुसार प्रकृति जगत् की उपादान कारण है और परमात्मा निमित्त कारण। जीवात्मा सृष्टि में भोक्ता (अनुभव करने वाला) होता है। मुक्त जीवात्माएँ परमात्मा में लीन होकर केवल सुख का अनुभव करती हैं, जबकि बद्ध जीवात्माएँ (जो जन्म-मरण के चक्र में हैं), वे प्रलय की अवस्था में प्रकृति में अविभक्त रूप से स्थित रहती हैं। यदि प्रलयकाल में जीवात्मा और प्रकृति अविभक्त रूप में रहते हैं, तो क्या प्रकृति में भी जीव का “भोक्तृत्व” (अनुभव करने वाला स्वभाव) प्रवेश नहीं कर जाएगा? इससे तो प्रकृति भी चेतन हो जाएगी, जो कि उसका स्वभाव नहीं है। “भोक्तापत्तेः अविभागश्चेत् स्यात्, लोकवत्” — यदि यह आपत्ति उठाई जाए कि जीवात्मा की उपस्थिति के कारण प्रकृति में भी भोक्तृत्व आ जाएगा, तो इसका उत्तर है — नहीं, क्योंकि यह स्थिति लोक व्यवहार के अनुरूप है। जैसे मनुष्य, पशु आदि के शरीर जड़ (निर्जीव) होते हैं और वे जीवात्मा के साथ अविभक्त रूप में रहते हैं। सुषुप्ति (गहरी नींद) की अवस्था में जब जीवात्मा भी चेतना विहीन प्रतीत होती है, तब शरीर भी भोक्तृत्व से रहित हो जाता है। लेकिन इस कारण शरीर में चेतनता नहीं आ जाती — वह तब भी जड़ ही रहता है। इसी प्रकार प्रलय की अवस्था में, सभी जीवात्माएँ प्रकृति में लीन रहती हैं, उन्हें कोई भोग (अनुभव) नहीं होता — यह एक प्रकार की महासुषुप्ति है। उस समय प्रकृति, जीवों के साथ अविभक्त रूप में रहते हुए भी भोक्तृत्व को प्राप्त नहीं करती, क्योंकि वह स्वभावतः जड़ है।

## १.३ कार्य और कारण की अनन्यता

जैसे यह सिद्ध किया गया कि प्रलयकाल में जीवात्मा प्रकृति में लीन रहता है, परंतु इससे प्रकृति में भोक्तृत्व नहीं आता, वैसे ही यदि यह कहा जाए कि कार्य (जगत) प्रकृति से उत्पन्न तो हुआ है, परंतु उससे भिन्न (अन्य) है, तो क्या यह तर्कसंगत होगा? उत्तर “तदनन्यत्वम्” — कार्य (जगत) प्रकृति से भिन्न नहीं, अपितु अनन्य (अविभाज्य) है। “आरम्भणशब्दादिभ्यः” — यह बात उपनिषदों में प्रयुक्त ‘आरम्भण’ (उत्पत्ति/प्रारंभ) संबंधी शब्दों से सिद्ध होती है।

“यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद्।

वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्॥” छान्दोग्य उपनिषद् (६।१।४)



अर्थात् जैसे एक मिट्टी के ढेले को जान लेने पर सारे मिट्टी से बने वस्तुओं का ज्ञान हो जाता है, वैसे ही सभी विकार (जैसे घड़ा, दिया, ईंट) मिट्टी में लीन हो जाते हैं – वे केवल नाम मात्र के विकार हैं। उनका सत्य रूप केवल मिट्टी ही है। पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पंचमहाभूतों से जो भिन्न-भिन्न वस्तुएँ उत्पन्न हुई हैं, वे सब प्रकृति से भिन्न नहीं, अपितु प्रकृति के ही विकार हैं। उन्हें पृथक् सत्ता मानना उचित नहीं है। “कारणगुणपूर्वकः कार्यगुणो दृष्टः” वैशेषिक सूत्र (२।१।२४) कार्य में वही गुण होते हैं जो कारण में होते हैं। जैसे-मिट्टी से बने बर्तन में मिट्टी के ही गुण (गंध, भार आदि) होते हैं। सोने से बने आभूषणों में सोने के ही गुण (चमक, कठोरता) होते हैं। इसी प्रकार जगत् यदि प्रकृति से उत्पन्न हुआ है, तो वह प्रकृति से भिन्न नहीं हो सकता। कार्य और कारण की अनन्यता को सिद्ध करने के लिए एक और तर्क प्रस्तुत किया गया है, जो अनुभवजन्य (प्रत्यक्ष) सिद्धांत पर आधारित है। जैसे कि मिट्टी के रहते हुए ही घड़ा बनता है, यदि मिट्टी न हो तो घड़ा नहीं बन सकता। तंतुओं (सूत्रों) के होने पर ही कपड़ा बुना जाता है; यदि तंतु न हों तो कपड़ा नहीं बन सकता। यदि यह संभव होता कि बिना कारण के भी कार्य उत्पन्न हो सकता है, तो बिना मिट्टी के भी घड़ा बन जाता, बिना तंतु के भी कपड़ा उत्पन्न हो जाता। परंतु ऐसा कभी नहीं होता। कार्य का उत्पन्न होना पूर्णतः उसके कारण पर ही निर्भर करता है। कार्य और कारण की एकता (अनन्यता) को सिद्ध करने के लिए एक अन्य तर्क प्रस्तुत किया गया है। कार्य का संपूर्ण अस्तित्व उसके कारण पर ही आश्रित होता है। कार्य (उत्पन्न वस्तु) अपने स्वतः अस्तित्व में नहीं आता, अपितु वह कारण के अस्तित्व पर आधारित होता है। विशेषकर, कार्य कारण की अपेक्षा “अवरा” (नीचे/बाद की अवस्था) होती है, क्योंकि कारण पहले होता है और कार्य उससे उत्पन्न होता है। जैसे सोने (सुवर्ण) से अलग-अलग आभूषण (अंगूठी, हार, कंगन आदि) बनते हैं, ये सभी रूपांतरित कार्य सोने को ही आधार बनाए रहते हैं। आभूषण रूप में कार्य विकार (रूप-परिवर्तन) है, परंतु उसका वास्तविक स्वरूप सुवर्ण ही कारण है। इसी प्रकार पृथ्वी, जल, अग्नि आदि पंचमहाभूत रूप कार्य, प्रकृति को ही आधार बनाकर प्रकट होते हैं। इन सबका वास्तविक कारण प्रकृति ही है। इसलिए कार्य अपने उपादान कारण (प्रकृति) से भिन्न नहीं होता। यदि यह कहा जाए कि कार्य और कारण का अनन्यत्व नहीं हो सकता, “असद्वा इदमग्र आसीत्” – छान्दोग्य उपनिषद् (६।२।१) “यह सृष्टि आरंभ में असत् थी”, तो यह असद्व्यपदेश (असत् का उल्लेख) यह दर्शाता है कि जगत् का कारण अभावस्वरूप था, न कि कोई सत्त्व (वास्तविक सत्ता)। इस आधार पर यह आपत्ति की जाती है कि यदि कारण ही असत् था, तो कार्य उससे कैसे उत्पन्न हो सकता है? इससे तो कार्य और कारण की एकता (अनन्यता) का सिद्धांत त्रुटिपूर्ण प्रतीत होता है। उत्तर – “न धर्मान्तरेण वाक्यशेषात्” – नहीं, यह आपत्ति उचित नहीं है। यहाँ “असत्” शब्द का अर्थ “अभाव” नहीं, अपितु ‘अव्यक्त स्वरूप’ (अन्य धर्म) है, और यह अर्थ वाक्य के शेष भाग से स्पष्ट होता है। उपनिषद् में पहले कहा गया–“असद्वा इदमग्र आसीत्” – “यह जगत् आरंभ में असत् था” परंतु उसी वाक्य के शेष भाग में तुरंत कहा गया– “तत् सत्त्वा असीत्” – “वह वास्तव में सत् ही था” इससे यह स्पष्ट होता है कि “असत्” शब्द का प्रयोग पूर्ण अभाव के लिए नहीं हुआ है, अपितु उस अवस्था को दर्शाने के लिए हुआ है जिसमें कार्य (जगत्) अव्यक्त, अप्रकट था। उदाहरण के लिए जैसे कोई बर्तन मिट्टी के रूप में पहले से होता है, परंतु बर्तन रूप में अव्यक्त होता है। बर्तन अभी नहीं बना है, परंतु उसका कारण (मिट्टी) विद्यमान है। उसी प्रकार सृष्टि से पूर्व जगत् प्रकृति रूप में अव्यक्त था। अतः “असत्” का अर्थ है – अव्यक्त, नामरूपरहित स्थिति, न कि पूर्ण रूप से नास्तित्व। तर्क के आधार पर (युक्तेः) उदाहरण के लिए—दूध से दही उत्पन्न होता है, लेकिन दूध से घड़ा कभी उत्पन्न नहीं हो सकता। मिट्टी से घड़ा बन सकता है, लेकिन मिट्टी से दही नहीं बन सकता। कार्य (जैसे घड़ा या दही) केवल उसी वस्तु (कारण) से उत्पन्न हो सकता है, जिससे उसमें गुणात्मक समानता हो। इस तर्क से सिद्ध होता है कि कार्य अपने कारण से अनन्य होता है। (शब्दान्तरात्) “नासदुत्पादो नष्टाङ्गवत्” सांख्य शास्त्र (१।१।१४) अर्थात् “असत्” (जो वस्तु अस्तित्व में नहीं है) से कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती। “कारणात्कायभावः” वैशेषिक सूत्र (४।१।३) – कार्य का अस्तित्व कारण पर ही आधारित है। इन प्रमाणों से भी यह स्पष्ट होता है कि— कार्य की उत्पत्ति और सत्ता अपने कारण पर ही निर्भर होती है, अतः कार्य और कारण अलग नहीं, अपितु अनन्य होते हैं।



### स्मरणीय बिंदु-

- ब्रह्म निमित्त कारण है।
- प्रकृति उपादान कारण है।
- कार्य कारण से अनन्य होता है।
- असत् से सत् की उत्पत्ति संभव नहीं।
- वेदान्त में समन्वय की परंपरा महत्वपूर्ण है।

### शब्दावली-

- शब्द अर्थ
- ब्रह्म परम सत्य
- प्रकृति उपादान कारण
- निमित्त कारण कर्ता रूप कारण
- उपादान कारणसामग्री रूप कारण
- अनन्यता अभिन्न संबंध

### 5 अंक के प्रश्न-

1. श्रुति और स्मृति के समन्वय को स्पष्ट कीजिए।
2. ब्रह्म को निमित्त कारण क्यों कहा गया है?
3. उपादान कारण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. कार्य और कारण की अनन्यता क्या है?
5. असत्कारणवाद का संक्षिप्त वर्णन कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. ब्रह्म और प्रकृति के संयुक्त कारणवाद का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।
2. कार्य-कारण संबंध की वेदान्तीय व्याख्या प्रस्तुत कीजिए।
3. श्रुति-स्मृति समन्वय पर विस्तृत टिप्पणी लिखिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. जगत का निमित्त कारण कौन है?  
(क) जीव  
(ख) प्रकृति  
(ग) ब्रह्म  
(घ) मन उत्तर
2. उपादान कारण किसे कहा गया है?

#### (क) प्रकृति

- (ख) जीव
- (ग) मन
- (घ) इन्द्रिय
3. कार्य-कारण अनन्यता का उदाहरण क्या है?  
(क) मिट्टी और घड़ा  
(ख) सूर्य और प्रकाश  
(ग) जल और तरंग

#### (घ) सभी

4. असत् से सत् उत्पन्न होने का सिद्धान्त किसने खंडित किया?

#### (क) वेदान्त

(ख) बौद्ध

(ग) जैन

(घ) चार्वाक

5. स्मृत्यनवकाश दोष किससे संबंधित है?

(क) प्रमाण

(ख) स्मृति विरोध

(ग) अनुमान

(घ) प्रत्यक्ष

## इकाई-१.२ शरीर में जीव और परमात्मा की उपस्थिति

### उद्देश्य-

- जीव और परमात्मा के भेद को समझना।
- शरीर में चेतना की भूमिका का अध्ययन करना।
- उपनिषदों में जीव-परमात्मा संबंध को जानना।

यदि कहा जाए कि परमात्मा ही जीव है, और वही शरीर में प्रवेश करके प्राण आदि के संचालन का कार्य करता है, तो इससे अनेक दोष उत्पन्न हो जाते हैं। “न प्राणेन नापानेन... इतरेण तु जीवन्ति” कठोपनिषद् (२।२।५) अथ। त् कोई भी प्राण और अपान से नहीं, अपितु किसी और के कारण जीवित रहता है – वह “इतरः” परमात्मा है। “अनेन जीवेन आत्मना अनुप्रविश्य...” छान्दोग्य उपनिषद् (६।३।२) परमात्मा, जीव के माध्यम से, शरीर में प्रवेश करता है – इससे दोनों में भेद स्पष्ट होता है। यदि परमात्मा ही जीवात्मा बनकर शरीर में प्रवेश करे, तो उसे भी संसार की जन्म-मरण की पीड़ा, दुःख, और कर्मफल भोगना पड़ेगा। न्यायशास्त्र में कहा गया है: “विविधबाधनायोगाद् दुःखमेव जन्मोत्पत्तिः” (न्यायसूत्र ४।१।५ अर्थात् जन्म का मूल स्वभाव ही दुःख है। उत्तर- “अधिकं तु” – परमात्मा, जीवात्मा से अधिक और भिन्न है। “भेदनिर्देशात्” – क्योंकि शास्त्रों में दोनों का पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। जब कोई वस्तु किसी दूसरी वस्तु से भिन्न कही जाती है, तो वह स्वतंत्र सत्ता मानी जाती है। जैसे उपनिषद् में परमात्मा को “इतरः” (भिन्न) कहा गया है, वैसे ही अन्यत्र भी उसका वर्णन नित्य, सर्वज्ञ, अकर्ता के रूप में हुआ है। न्याय सिद्धांत के अनुसार “न हि अन्योऽन्यकृतकर्मणः फलं भुङ्क्ते” – अर्थात् कोई व्यक्ति दूसरे के कर्म का फल नहीं भोगता। इसलिए-जीवात्मा स्वयं अपने कर्मों का फल भोगता है। परमात्मा, जो उससे भिन्न है, भोक्ता नहीं, अपितु केवल साक्षी और कर्ता का निमित्त कारण है। यदि कहा जाए कि परमात्मा ही जीव में प्रवेश करता है, तो यह कैसे संभव होगा कि एक ही स्थान (शरीर) में दो तत्व (जीव और परमात्मा) एकसाथ रहें? इससे तो यह सिद्ध होगा कि- दोनों एक ही हैं, अर्थात् परमात्मा ही कर्ता-भोक्ता है, और उसे भी जीव के कर्म और भोग प्राप्त होने लगेगा। यह परमात्मा की नित्यता, निर्लेपता और सर्वज्ञता के विरुद्ध होगा। इसलिए यह विचार अनुपयुक्त प्रतीत होता है। उत्तर - “अश्मादिवच्च तदनुपपत्तिः” – नहीं, यह आपत्ति उचित नहीं है। यह स्थिति उसी प्रकार समझी जा सकती है जैसे किसी पत्थर (अश्मा) में, या धातु (सोना, लोहा आदि में कोई अन्य धातु विद्यमान है, किंतु दोनों अलग रहते हुए भी एक ही स्थान पर विद्यमान होते हैं। इस विषय में ऋग्वेद प्रमाण (१।१६४।२०) मिलते हैं।

**“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**

**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति॥”**

अर्थ एक ही वृक्ष (शरीर) पर दो पक्षी (जीव और परमात्मा) साथ-साथ बैठे हैं। एक पक्षी (जीव) पिप्पल (फल) को खाता है (संसार का भोग करता है), दूसरा पक्षी (परमात्मा) केवल देखता है – वह साक्षी मात्र है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- जीव भोक्ता है।
- परमात्मा साक्षी है।
- शरीर जड़ है।
- जीव कर्मफल का भोक्ता है।
- परमात्मा सर्वज्ञ एवं निरपेक्ष है।

### शब्दावली-

- शब्द अर्थ
- जीव व्यक्तिगत आत्मा
- परमात्मा सर्वोच्च आत्मा
- भोक्ता अनुभव करने वाला
- साक्षी देखने वाला
- शरीर जड़ साधन

### 5 अंकों के प्रश्न-

1. जीव और परमात्मा में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. शरीर में परमात्मा की उपस्थिति पर टिप्पणी लिखिए।
3. जीव को भोक्ता क्यों कहा गया है?
4. 'द्वा सुपर्णा' मंत्र का अर्थ लिखिए।

5. आत्मा और शरीर का संबंध स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंकों के प्रश्न-

1. जीव एवं परमात्मा के भेद का उपनिषदों के आधार पर विवेचन कीजिए।
2. शरीर में चेतना की भूमिका का दार्शनिक अध्ययन कीजिए।
3. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया' मंत्र की व्याख्या कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. जीव क्या है?

(क) भोक्ता

(ख) साक्षी

(ग) जड़

(घ) शरीर

2. परमात्मा की भूमिका क्या है?

(क) भोक्ता

(ख) कर्ता

(ग) साक्षी

(घ) शरीर

3. शरीर का स्वरूप क्या है?

(क) चेतन

(ख) जड़

(ग) नित्य

(घ) सर्वज्ञ

4. 'द्वा सुपर्णा' मंत्र किस उपनिषद में मिलता है?

(क) कठोपनिषद

(ख) ऋग्वेद

(ग) ईशोपनिषद

(घ) मुण्डकोपनिषद

5. कर्मफल का भोक्ता कौन है?

(क) परमात्मा

(ख) जीव

(ग) शरीर

(घ) मन उत्तर

## इकाई-१.३ क्या परमात्मा को उपकरणों की आवश्यकता है?

### उद्देश्य-

1. सृष्टि में परमात्मा की भूमिका को समझना।
2. निमित्त एवं उपादान कारण का अध्ययन करना।
3. वेदान्तीय सृष्टि सिद्धान्त का विश्लेषण करना।

कुछ उपनिषदों में ऐसा वर्णन मिलता है कि सृष्टि की रचना में परमात्मा के साथ-साथ अन्य उपकरणों (साधनों) का भी उपयोग हुआ, जैसे—

- “सोऽकर्मयत बहु स्यां प्रजायेय”
- “स इक्षत लोकान्नु सृज”

इनसे यह प्रतीत होता है कि परमात्मा के अतिरिक्त अन्य उपकरणों की भी सृष्टि-रचना में भूमिका है। जैसे कुम्हार जब घड़ा बनाता है तो वह दंड, चक्र, जल आदि अन्य साधनों की भी सहायता लेता है। तो क्या उसी प्रकार परमात्मा भी सृष्टि में अन्य उपकरणों (उपकरण-समूह) का आश्रय लेता है? इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि-परमात्मा स्वतंत्र निमित्त कारण नहीं है, अपितु उसे भी अन्य साधनों की आवश्यकता होती है। उत्तर— “न, क्षीरवत् हि” — नहीं, यह आपत्ति उचित नहीं है, क्योंकि सृष्टि में परमात्मा की भूमिका दूध (क्षीर) के समान है। जैसे गाय के शरीर में दूध स्वयं उत्पन्न होता है, उसमें बाहर से कोई अतिरिक्त साधन नहीं लगाया जाता। केवल गोपालक (चरवाहा) उस दूध को दोहन (निकालता) करता है। उसी प्रकार परमात्मा, प्रकृति को ही आधार बनाकर बिना बाह्य उपकरणों के सृष्टि का संचालन करता है। और देवता, सिद्ध पुरुष अथवा योगीजन योगबल या मंत्रबल के द्वारा ऐसी सामर्थ्य रखते हैं कि वे दूरस्थ वस्तु को बिना छुए, स्पर्श कर सकते हैं, बिना प्रत्यक्ष उपकरण के कर्म संपन्न कर सकते हैं, वस्तुओं में परिवर्तन कर सकते हैं। योगियों द्वारा तांबे को सोना बनाना, अथवा देवताओं द्वारा आकाशवाणी करना, बिना छुए किसी स्थान पर कुछ घटित कर देना। यह सब विशेष शक्तियों के योग से संभव होता है। उसी प्रकार परमात्मा, जिसकी शक्ति अनंत है, वह भी बिना किसी बाह्य साधन के प्रकृति को प्रवृत्त करता है, और उसी से विविध रूपों में जगत् की रचना करता है। उसे किसी बाहरी उपकरण, सहायक या माध्यम की आवश्यकता नहीं होती। यदि यह कहा जाए कि परमात्मा बिना किसी बाह्य उपकरण के स्वयं ही सृष्टि की रचना करता है, तो इससे दो आपत्तियाँ उत्पन्न होती हैं।

1. कृत्स्नप्रसक्ति दोष (संपूर्णता की बाधिता): यदि परमात्मा प्रकृति की सहायता के बिना ही जगत् की रचना करता है, तो फिर प्रकृति की कोई आवश्यकता ही नहीं रहती। ऐसा मानने से यह प्रश्न उठता है कि फिर प्रकृति की सत्ता ही क्यों मानी जाए? सृष्टि में उसकी भूमिका अनावश्यक हो जाएगी। यह सांख्य और वेदान्त दोनों के मूलभूत सिद्धांतों के विरुद्ध होगा, जहाँ प्रकृति को जगत् की उपादान (सामग्री) कारण माना गया है।

2. निरवयवता एवं शब्दकोप दोष शास्त्रों में परमात्मा को “निरवयव” (अविभाज्य), “निष्कल”, “निष्क्रिय” आदि रूपों में बताया गया है जैसे “निष्कलम्, निष्क्रियं शान्तम्” — (श्वेताश्वतर उपनिषद् ६।१९) “अस्थूलमनणु...” (बृहदारण्यक उपनिषद् ३।८।८) यदि कोई कार्य (जगत्-रचना) परमात्मा स्वयं करता है, और उसमें कोई बाह्य साधन, सहयोग या उपादान नहीं लेता, तो उसका यह कार्य स्वतः ही उसके “निष्क्रिय” और “निरवयव” स्वरूप का खंडन कर देगा। अर्थात्—शास्त्रविरुद्ध अर्थ उत्पन्न होगा, जिसे “शब्दकोप” कहा जाता है शास्त्रीय शब्दों के अर्थ का अपमान या विरोध।

यह आपत्ति की गई थी कि यदि परमात्मा बिना प्रकृति के जगत् की सृष्टि करता है, तो इससे या तो प्रकृति की अनावश्यकता सिद्ध होगी (कृत्स्नप्रसक्ति दोष), या परमात्मा के “निष्क्रिय” और “निरवयव” स्वरूप का खंडन होगा (शब्दकोप दोष)। इस सूत्र में इन दोनों आपत्तियों का उत्तर। “श्रुतेः तु शब्दमूलत्वात्” — नहीं, यह दोष नहीं उत्पन्न होता, क्योंकि श्रुति (वेद) स्पष्ट रूप से बताती है कि परमात्मा ही प्रकृति को लेकर जगत् की रचना करता है। और चूँकि वेद शब्दरूप प्रमाण (शब्दमूल) है, अतः उसका वचन ही प्रमाण माना जाएगा। “एको बीजं बहुधा यः करोति” श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।१२) जो एक बीज (परमात्मा) अनेक रूपों में सृष्टि करता है। यह प्रमाण बताता है कि परमात्मा ही मूल कारण है, और वही प्रकृति को माध्यम बनाकर सृष्टि करता है। तम आसीत् तमसा गूढमग्रे... ऋग्वेद (१०।१२९।३) प्रारंभ में केवल तम (अंधकार) था सब कुछ जलरूप में अप्रकट था। वह परमात्मा के तप से उत्पन्न हुआ। इसके अनुसार प्रारंभ में जो कुछ भी था, वह परमात्मा की ही शक्ति से विकसित हुआ। प्रकृति और जगत्, परमात्मा की सन्निधि में ही थे। “यो अस्याध्यक्षः परमे व्योमन्” ऋग्वेद (१०।१२९।७) जो इस जगत् के ऊपर परम आकाश में स्थित परमात्मा है, वही इसका

अधिपति है। सृष्टि में अध्यक्ष रूप में परमात्मा की उपस्थिति अपरिहार्य है। और परमात्मा सर्वशक्तिमान है। उसमें इतनी शक्ति है कि वह प्रकृति को बिना किसी बाह्य उपकरण के प्रेरित कर सकता है। उसी के प्रभाव से प्रकृति द्रवित होती है, सक्रिय होती है, और विविध रूपों में परिणत होकर जगत की रचना करती है। इस प्रकार सभी सृष्टिकर्मों का नियंत्रण परमात्मा में ही स्थित है। पूर्वपक्षी का मत था कि प्रकृति ही सृष्टि का स्वतंत्र कारण है। लेकिन अगर वह यह मानता है कि प्रकृति के अतिरिक्त भी अन्य उपकरणों की जरूरत है, तो उसके मत में भी वही दोष उत्पन्न हो जाता है जो वह परमात्मा को स्वतंत्र कारण मानने पर आता है। अर्थात् यदि वह यह माने कि प्रकृति को भी अन्य साधनों की अपेक्षा है, तो फिर प्रकृति स्वतंत्र कारण नहीं रह जाती, और उसका अपना सिद्धांत ही खंडित हो जाता है। वेदान्त मत के अनुसार, प्रकृति ही जगत का उपादान कारण (सामग्री रूप में कारण) है, और परमात्मा उसका निमित्त कारण (कर्ता, नियामक) है। यह प्रकृति न केवल भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) रूप से, अपितु काल, दिशा, आकाश, मन, अहंकार, तन्मात्राएँ आदि से युक्त होकर सम्पूर्ण सृष्टि की रचना में प्रयोज्य होती है। अतः कहा जाता है कि प्रकृति सर्वोपेता है – सभी उपकरणों (सहायक तत्त्वों) को अपने भीतर समाहित किए हुए है। (तद्दर्शनात्) **“प्रकृतेः महदहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि।”** सांख्य १.६१ अर्थात् – प्रकृति से “महत्तत्त्व” उत्पन्न होता है, फिर अहंकार, फिर पाँच तन्मात्राएँ (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध), और तन्मात्राओं से पाँच स्थूल भूत (पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) उत्पन्न होते हैं। यह दर्शाता है कि प्रकृति ही समस्त जगत के सामग्री रूप तत्त्वों की मूल आधार है।

### ३.१ क्या बिना इंद्रियों के सृष्टि संभव है? “परमात्मा के कार्य-स्वरूप की शास्त्रीय व्याख्या”

मान लिया जाए कि प्रकृति तो सभी साधनों (काल, आकाश आदि) से युक्त है, परंतु जब कोई कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, तो वह हाथ, नेत्र, दंड, चक्र जैसे अनेक इंद्रियों का प्रयोग करता है। फिर प्रश्न उठता है—परमात्मा के पास तो कोई इंद्रियाँ (हस्त, नेत्र आदि) नहीं हैं, जैसा कि श्रुतियों में स्पष्ट कहा गया है—

- “स पर्यगात् शुक्रमकायम्” – वह परमात्मा शरीररहित है। (यजुर्वेद ४०।८)
- “अचक्षुष्कम् अश्रोत्रम् अवाक् अमनाः” – (बृहदारण्यक ३।८।८) वह नेत्र, कान, वाणी, मन आदि इंद्रियों से रहित है। तो फिर प्रश्न उठता है बिना इंद्रियों (करणों) के वह सृष्टि कैसे कर सकता है?

उत्तर **“विकरणत्वात् न इति चेत् – तदुक्तम्”** यदि कहा जाए कि परमात्मा के पास करण (हस्त, नेत्र आदि) नहीं हैं, इसलिए वह कार्य नहीं कर सकता, तो यह उचित नहीं है, क्योंकि इसका उत्तर पहले ही **“श्रुतेस्तु शब्दमूलत्वात्”** द्वारा दिया जा चुका है। परमात्मा इंद्रियों से रहित (अकरणी) होते हुए भी, वह सर्वशक्तिमान है – वह बिना हाथ-पाँव के भी कार्य करता है। इसका समर्थन वेदों में इस प्रकार मिलता है **“अपाणिपादो जवनो ग्रहीता”** श्वेताश्वतर उपनिषद् ३।१९) “उसके हाथ-पाँव नहीं हैं, फिर भी वह ग्रहण करता है, गति करता है।” **“विश्वतःश्चक्षुः, विश्वतोमुखः, विश्वतोबाहुः...”** (ऋग्वेद १०।८१।३; यजुर्वेद १७।१९) “वह हर दिशा में नेत्र, मुख, हाथ-पाँव से युक्त है।” इन वाक्यों का अर्थ है कि परमात्मा की शक्ति सीमित इंद्रियों पर निर्भर नहीं है, अपितु वह सर्वव्यापक और सर्वकर्ता है।

### ३.३ अकाम परमात्मा की सृष्टि लीला

परमात्मा को जगत की सृष्टि का कारण नहीं माना जा सकता। क्यों? क्योंकि—“जिस किसी कर्ता (कर्ता भाव) की कल्पना की जाती है, वह किसी न किसी प्रयोजन (उद्देश्य) से कार्य करता है।” यह एक सामान्य सिद्धांत है कि कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति बिना प्रयोजन के कोई कार्य नहीं करता। यहाँ तक कि सामान्य व्यक्ति भी बिना प्रयोजन के नहीं चलता, तो परमात्मा जैसा सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमानतत्त्व क्यों करेगा? लेकिन परमात्मा को तो “नित्य, आत्मतृप्त, अकाम” (कामनारहित) कहा गया है। जैसे—

- “अकामो घीरोऽसतः...” (अथर्ववेद १०।८।४४)
- “आनन्दरूपममृतं यद्विभाति” (छान्दोग्य उपनिषद् ७।२४।१)

इसलिए, जब परमात्मा अकाम है, तब उसके लिए कोई प्रयोजन ही नहीं बनता, तो फिर वह जगत क्यों रचेगा? इस आधार पर यह आपत्ति की जाती है कि – प्रयोजन के अभाव में सृष्टि-कार्य असंगत है, इसलिए परमात्मा को सृष्टिकर्ता नहीं माना जा सकता। परमात्मा स्वयं पूर्ण है, आत्मतृप्त है, उसे किसी वस्तु की इच्छा नहीं है। फिर भी वह जगत की रचना करता है, जैसे कोई राजा, संत या महापुरुष, जो स्वयं के लिए नहीं, अपितु अन्य के हित के लिए कार्य करते हैं। यह सृष्टि एक “लीला” है, ठीक उसी प्रकार जैसे—

- कोई कलाकार चित्र बनाता है,
- कोई कवि कविता करता है,

● कोई दाता लोककल्याण करता है – बिना किसी निजी लाभ के।  
उसी प्रकार, परमात्मा भी सृष्टि की रचना केवल अपनी “लीला” के रूप में करता है।  
योगभाष्य (१।२५) में कहा गया है—

“तस्य आत्मानुग्रहाभावेऽपि भूतानुग्रहः प्रयोजनम्”

अर्थात्— “यद्यपि परमात्मा को अपने लिए किसी प्रयोजन की आवश्यकता नहीं है, फिर भी वह भूतमात्र (सभी प्राणियों) के कल्याण हेतु सृष्टि करता है।”

● जैसे सामान्य मनुष्य भी कई बार बिना व्यक्तिगत लाभ के—

- सड़क बनवाता है,
- विद्यालय खोलता है,
- या पथ-प्रदर्शन करता है, वैसे ही परमात्मा लोकहितार्थ सृष्टि करता है। अतः परमात्मा की सृष्टि लीला मात्र है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- परमात्मा सर्वशक्तिमान है।
- सृष्टि हेतु बाह्य उपकरण आवश्यक नहीं।
- प्रकृति उपादान कारण है।
- वेद शाब्दिक प्रमाण हैं।
- परमात्मा सृष्टि का नियामक है।

### शब्दावली-

- शब्द अर्थ
- सृष्टि जगत की रचना
- निमित्त कारणकर्ता कारण
- उपादान कारण सामग्री कारण
- निरवयव अविभाज्य
- सर्वशक्तिमान सर्व समर्थ

### 5 अंक के प्रश्न-

1. परमात्मा को उपकरणों की आवश्यकता क्यों नहीं है?
2. निमित्त कारण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. प्रकृति की भूमिका का वर्णन कीजिए।
4. वेद को शब्द प्रमाण क्यों कहा गया है?
5. परमात्मा की सर्वशक्तिमत्ता स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. वेदान्तीय सृष्टि सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक विवेचन कीजिए।
2. परमात्मा और प्रकृति के संबंध की व्याख्या कीजिए।
3. सृष्टि में निमित्त एवं उपादान कारण की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

### बहु विकल्पीय-

1. सृष्टि का निमित्त कारण कौन है?  
(क) प्रकृति  
(ख) जीव  
(ग) परमात्मा  
(घ) मन
2. उपादान कारण क्या है?



(क) प्रकृति

(ख) आत्मा

(ग) शरीर

(घ) ज्ञान

3. वेद किस प्रकार का प्रमाण है?

(क) प्रत्यक्ष

(ख) अनुमान

(ग) शब्द

(घ) उपमान

4. परमात्मा का स्वरूप क्या है?

(क) सीमित

(ख) सर्वशक्तिमान

(ग) जड़

(घ) नश्वर

5. 'क्षीरवत्' उदाहरण किस संदर्भ में दिया गया है?

(क) जीव

(ख) शरीर

(ग) सृष्टि

(घ) कर्म

## इकाई-१.४ परमात्मा को सृष्टि कार्य में करणों की अनपेक्षा एवं प्रकृति में कार्य जगत का सत होना

### उद्देश्य-

- परमात्मा के अकाम कर्तृत्व को समझना।
- सृष्टि विधान का अध्ययन करना।
- वेदान्तीय ईश्वरवाद का विश्लेषण करना।

परमात्मा ही जगत का कर्ता है, तो सृष्टि में विषमता (असमानता) और निर्दयता जैसे दोष उस पर क्यों न लगाए जाएँ?

- कोई व्यक्ति अत्यंत सुखी, तो कोई दुःख में डूबा हुआ क्यों है?
- कोई संपूर्ण शरीर वाला, तो कोई विकलांग, अंधा, बहरा या अंगहीन क्यों है?

यदि परमात्मा ही कर्ता है, तो इन असमानताओं और अन्याय जैसे प्रतीत होने वाले परिणामों के लिए उसी को दोषी माना जाएगा।

उत्तर- “न सापेक्षत्वात्” – नहीं, परमात्मा पर कोई दोष नहीं लगाया जा सकता, क्योंकि यह सब सापेक्ष (न्यायसंगत) रूप से होता है। इस विषय में शास्त्रीय प्रमाण देते हैं तथा हि दर्शयति

1. प्रश्नोपनिषद् (२।७):

“पुण्येन पुण्यं लोकं नयति, पापेन पापम्”— पुण्यकर्मी पुण्यलोक को जाता है, पापकर्मी पापलोक को।

2. बृहदारण्यक उपनिषद् (३।२।१३):

“पुण्यो पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन”—पुण्य करने वाला पुण्यफल को प्राप्त होता है, पाप करने वाला पापफल को।

3. सांख्यकारिका (कारिका ६४):

“कर्मविपाकाद् दृष्टं सृष्टैर्वैचित्र्यम्”— सृष्टि में जो विविधता (वैचित्र्य) है, वह कर्मों के फलस्वरूप ही है।

यदि यह कहा जाए कि सृष्टि में जो विषमता (वैचित्र्य) दिखाई देती है जैसे कोई सुखी, कोई दुखी; कोई स्वस्थ, कोई विकलांग उसका कारण जीवों का कर्म है, तो यह स्वीकार नहीं किया जा सकता। क्यों? क्योंकि सृष्टि की आरंभिक अवस्था में जीवात्मा शरीररहित था, और जब तक शरीर न हो, कर्म भी संभव नहीं होता। यदि पूर्व सृष्टि से पहले कोई कर्म नहीं था, तो फिर सृष्टि में विषमता का कारण क्या था? ऐसी स्थिति में यह दोष परमात्मा पर ही लगेगा कि उसने पक्षपातपूर्वक सृष्टि रची। जीवात्मा और उसका कर्म दोनों अनादि हैं, अर्थात् न उनका कोई आदि है, न अंत। वे सृष्टि-प्रलय के चक्र में अनादिकाल से प्रवाहित होते आ रहे हैं। यह सृष्टि पहली बार उत्पन्न नहीं हुई है, अपितु यह एक चक्र है— जहाँ कर्म के अनुसार जीवों को फिर से शरीर मिलता है। अतः यह कहना कि सृष्टि के प्रारंभ में कर्म नहीं था और इसलिए विषमता का दोष परमात्मा पर आता है —पूर्णतः अनुचित और अप्रमाणिक है। इस विषय में वैदिक प्रमाण है— “सूर्याचन्द्रमसौ धाता यथा पूर्वमकल्पयत्”— ऋग्वेद(१०।१९०।३) सृष्टिकर्ता ने सूर्य और चंद्र को वैसे ही बनाया, जैसे पहले बनाए थे। यह सिद्ध करता है कि सृष्टि चिरंतन चक्र में निरंतर चल रही प्रक्रिया है।

“पुण्यो वै पुण्येन कर्मणा भवति, पापः पापेन” बृहदारण्यक उपनिषद् (३।२।१३)— जीव अपने पूर्वकर्मों के अनुसार ही सुख-दुःख को प्राप्त करता है। यह सूत्र पिछले सूत्र (३५) में दिए गए उत्तर की तर्क और अनुभव दोनों से पुष्टि करता है जीव और कर्म दोनों अनादि (बिना प्रारंभ के) हैं, और सृष्टि में जो भिन्नता (विषमता) है — वह कर्म के अनुसार ही है, ना कि परमात्मा की इच्छा या पक्षपात के कारण। हम देखते हैं कि कोई व्यक्ति संपूर्ण शरीर वाला, तो कोई विकलांग, कोई अत्यंत सुखी है, तो कोई जन्म से ही दुःखों में ग्रस्त। यह विषमता केवल वर्तमान जन्म से नहीं समझी जा सकती। इसका कारण केवल यही हो सकता है कि—यह सब पूर्वजन्म के कर्मों के फलस्वरूप है। जैसे किसी बीज से ही विशिष्ट वृक्ष उत्पन्न होता है, वैसे ही पूर्व संस्कार और कर्म से विशेष जन्म प्राप्त होता है। अतः यह विचार तर्क से भी उचित (उपपन्न) है कि कर्म अनादि हैं। इस अंतिम सूत्र के माध्यम से सूत्रकार व्यास महर्षि इस पाद (खंड) का संग्रहात्मक उपसंहार करते हैं। अब तक विभिन्न सूत्रों में यह सिद्ध किया गया कि:

- परमात्मा सृष्टि का निमित्त कारण है — अर्थात् कर्ता, नियामक, संचालक।
- प्रकृति (अव्यक्त) सृष्टि की उपादान कारण है — अर्थात् जिस वस्तु से सृष्टि बनी है।
- जीवात्मा के कर्म, उनके संस्कार, और वासनाएँ — ये सभी सृष्टि की विविधता का कारण हैं।

इस प्रकार संपूर्ण सृष्टि की रचना में सभी अपेक्षित तत्त्व युक्तिसंगत रूप से विद्यमान हैं — इसीलिए कहा गया है: “सर्वधर्मोपपत्तेः”

— सभी आवश्यक कारण (धर्म) जैसे

- निमित्त कारण (परमात्मा),
- उपादान कारण (प्रकृति),
- जीव के कर्म,
- फल का विधान,
- वासना व संस्कार –इनकी उपपत्ति (औचित्य और उपस्थिति) पूर्ण रूप से स्थापित है।
- केवल परमात्मा को सृष्टि का कारण मानना अपर्याप्त होता, यदि प्रकृति और जीवों के कर्म आदि को न जोड़ा जाता।
- इसी प्रकार, केवल प्रकृति को ही कारण मानना भी त्रुटिपूर्ण होता, क्योंकि उससे बुद्धिपूर्वक नियमन और कर्तृत्व का अभाव हो जाता। इसलिए –सृष्टि का कारण एकाधिक तत्वों का संगठित योगदान है–
- परमात्मा (निमित्त), प्रकृति (उपादान), कर्म/संस्कार (कार्य-प्रवृत्ति हेतु प्रेरणा)।

### स्मरणीय बिन्दु-

- परमात्मा निष्पक्ष है।
- सृष्टि कर्मानुसार संचालित होती है।
- परमात्मा अकाम है।
- न्याय और धर्म का पालन होता है।
- जीव कर्मफल का भोक्ता है।

### शब्दावली-

- शब्द अर्थ
- अकाम इच्छा रहित
- कर्तृत्व कार्य करने की क्षमता
- सृष्टि जगत निर्माण
- न्याय निष्पक्षता
- कर्मफल कर्म का परिणाम

### 5 अंक के प्रश्न-

1. परमात्मा को अकाम क्यों कहा गया है?
2. सृष्टि विधान का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. कर्मफल सिद्धान्त पर टिप्पणी लिखिए।
4. परमात्मा की निष्पक्षता का वर्णन कीजिए।
5. जीव और कर्म का संबंध स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. परमात्मा के अकाम कर्तृत्व का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. सृष्टि विधान एवं कर्मफल सिद्धान्त की व्याख्या कीजिए।
3. वेदान्तीय ईश्वरवाद का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

### बहु विकल्पीय-

1. परमात्मा का स्वरूप क्या है?

(क) कामयुक्त

(ख) अकाम

(ग) जड़

(घ) नश्वर

2. जीव किसका भोक्ता है?

(क) परमात्मा

**(ख) कर्मफल**

(ग) शरीर

(घ) प्रकृति उत्तर

3. सृष्टि का संचालन किस आधार पर होता है?

(क) संयोग

**(ख) कर्म**

(ग) कल्पना

(घ) संदेह

4. परमात्मा की विशेषता क्या है?

(क) पक्षपात

**(ख) निष्पक्षता**

(ग) मोह

(घ) दुःख

5. वेदान्त में जीव क्या है?

(क) सर्वज्ञ

**(ख) भोक्ता**

(ग) जड़

(घ) नित्य शरीर उत्तर

## खण्ड-२ सिद्धान्तावबोध-२

### इकाई-२.१ वेदान्त सिद्धान्त में प्रकृति का स्वतन्त्र उपादान कारण न होना एक तार्किक समीक्षा

उद्देश्य-

1. वेदान्त में प्रकृति की भूमिका को समझना।
2. उपादान कारण की अवधारणा का अध्ययन करना।
3. वेदान्त एवं सांख्य मत का तुलनात्मक अध्ययन करना।

वेदान्त दर्शन में यह महत्वपूर्ण प्रश्न उठाया जाता है कि क्या प्रकृति (अव्यक्त, प्रधान) जगत् की रचना का स्वतन्त्र कारण हो सकती है सांख्य दर्शन में प्रकृति को स्वतन्त्र उपादान कारण माना गया है, किंतु वेदान्त मत के अनुसार यह सिद्धांत ग्राह्य नहीं है। ब्रह्मसूत्र (२।२।१-६) में इस विषय पर गहन समीक्षा की गई है।

पूर्वपाद के अन्त में कहा है कि परमात्मा जगत् का निमित्त कारण है और उसी से अधिकृत उसके अधीन प्रकृति, जो उपादान कारण है। सांख्यदर्शन के अनुसार- वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरस्य यथा प्रवृत्तिरज्ञस्य । पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥ ५७ ॥ जैसे बछड़े की वृद्धि के लिए (ज्ञानरहित) अचेतन दुग्ध (स्वतः) की प्रवृत्ति होती है। वैसे ही पुरुष के मोक्ष के लिए (जड़) प्रकृति की (भी स्वतः) प्रवृत्ति होती है। अतः प्रकृति स्वतन्त्र कारण है। निराकरण- रचनानुपपत्तेश्च नानुमानम् - (सूत्र १) यह सूत्र कहता है कि अव्यक्त (प्रकृति) जड़ होने के कारण स्वतन्त्र रूप से जगत् की रचना नहीं कर सकती। चूँकि वह चेतन नहीं है, इसलिए उसमें ज्ञान, संकल्प, प्रेरणा जैसी प्रवृत्तियाँ नहीं हो सकती। सृष्टि का आरम्भ एक उद्देश्य, योजना एवं शक्ति से होता है, जो केवल चेतन तत्त्व में ही सम्भव है। जैसे कुम्हार के बिना मिट्टी स्वयं घड़ा नहीं बना सकती, वैसे ही चेतन परमात्मा के बिना प्रकृति सृजन की प्रेरणा नहीं ले सकती। अतः केवल अनुमान से प्रकृति को कारण मानना अनुचित है। प्रकृति में प्रवृत्तिशक्ति है, उस शक्ति से वह जगत् रूप को स्वयं धारण कर सकती है। इस विषय में कहते हैं- **प्रवृत्तेश्च** - (सूत्र २) प्रवृत्ति (सृजन की प्रवृत्ति) एक चेतन धर्म है। जड़ वस्तु जैसे पत्थर, जल, वायु आदि में स्वयं कोई प्रवृत्ति नहीं होती जब तक कोई चेतन तत्त्व उसे प्रेरित न करे। इसी प्रकार प्रकृति भी केवल परमात्मा की अधीनता में कार्य करती है। नहि पुरुषस्य भोगापवर्गार्थम् प्रवृत्तिः प्रधानस्य प्रकृति की प्रवृत्ति तो स्पष्ट दिख रही है। लोक में देखा जाता है कि जो व्यक्ति अन्य के लिए प्रवृत्त होता है, अपने को समर्पित करता है, वह चेतन धर्म से युक्त होता है, जैसा कि वर के लिए वधू या वधू के लिए वर, गुरु के लिए शिष्य, स्वामी के लिए भृत्य, महात्मा के लिए भक्त और उपास्य के लिए उपासक। अतः प्रकृति जड़ होने से स्वतन्त्रता पूर्वक अपने को प्रवृत्त करने में समर्थ नहीं ॥२॥ इसके ऊपर आक्षेप है क्यों की, जैसे बछड़े के लिए दूध स्वयं प्रवृत्त होता है, या जैसे नदीरूप में जल स्वयं पर्वतों से प्रवृत्त होता है, उसी भाँति प्रकृति भी जगत् होने के लिए स्वयं प्रवृत्त हो सके। इस विषय में कहते हैं- **पयोऽम्बुवच्च** - (सूत्र ३)- जैसे दूध अपने आप दुग्धरूप में परिणत होता है, वैसे ही प्रकृति स्वतन्त्र रूप से जगत् में परिणत हो सकती है। उत्तर - दूध भी वास्तव में गौ (धेनु) रूप चेतन तत्त्व की प्रेरणा से ही उत्पन्न होता है। इसी प्रकार जल का प्रवाह भी परमात्मा के आदेश से होता है- **“एतस्याः अक्षरस्य प्रशासने गार्गि नद्यः प्रवर्तन्ते”** (बृहदारण्यक ३।८।९)। यदि प्रकृति स्वतन्त्र होती, तो उसकी प्रवृत्ति और निवृत्ति (उत्पत्ति और प्रलय) में स्थायित्व नहीं होता। जड़ वस्तुओं में पुनः सृजन की प्रेरणा नहीं होती, जबकि प्रकृति बार-बार सृजन और प्रलय के चक्र में आती है। यह केवल परमात्मा के नियंत्रण से ही सम्भव है। यदि यह कहा जाए कि जैसे तृण आदि बिना चेतनता के दुग्धरूप में परिणत हो जाते हैं, वैसे ही प्रकृति स्वतन्त्र सृजन कर सकती है, तो यह भी त्रुटिपूर्ण है। अन्यत्राभावाच्च न तृणादिवत् ॥ ५ ॥ ठीक नहीं, क्योंकि (अन्यत्राभावात्) तृणादि निरपेक्ष-स्वतन्त्र दूध के रूप में परिणत नहीं होता, क्योंकि गौ, महिषी, बकरी आदि से अन्यत्र बैल, भैंस, बकरे आदियों के द्वारा खाया हुआ तृणादि दूधरूप में परिणत नहीं होता। यह मान भी लिया जाए कि प्रकृति स्वतन्त्र रूप से प्रवृत्त होती है, फिर भी उसमें कोई प्रयोजन नहीं हो सकता क्योंकि वह जड़ है। बिना प्रयोजन के सृजन की प्रक्रिया अव्यवस्थित और असंगत होगी। अतः सृष्टि का कोई उद्देश्य, क्रम, विधि और विधान तभी सम्भव है जब चेतन परमात्मा उसकी प्रवृत्ति को निर्देशित करे। यह आपत्ति की जाती है कि-“जैसे शरीर में स्थित पुरुष (आत्मा) शल्य (काँटा आदि) को निकालने हेतु शरीर को सक्रिय करता है, या जैसे लोहा, चुम्बक (अयस्कान्तमणि) की ओर स्वतः आकर्षित होता है, वैसे ही प्रकृति की प्रवृत्ति केवल पुरुष (जीवात्मा) के सान्निध्य से हो सकती है, उसमें परमात्मा की कोई आवश्यकता नहीं।”

उदाहरणत

- शरीर + आत्मा= शरीर की चेष्टाएँ होती हैं।

- अयस्कान्तमणि+ लोहा = स्वतः आकर्षण होता है।

तो फिर प्रकृति भी केवल जीव के कारण (साक्षी रूप में) जगत् की रचना कर सकती है।

उत्तर – सूत्र कहता है— “तथापि”, अर्थात् फिर भी पूर्व में बताया गया दोष बना रहता है। क्यों?

1. प्रकृति जड़ है— उसमें स्वतः प्रवृत्त होने की क्षमता नहीं होती।
2. जीव मात्र साक्षी है, कर्ता नहीं। उसे स्वयं भी कोई प्रवर्तन शक्ति नहीं होती।
3. अयस्कान्तमणि का कार्य प्राकृतिक (सांसादिक) है, वह विशेष परिस्थिति में ही क्रियाशील होती है, जबकि प्रकृति की प्रवृत्ति तो सतत नहीं होती— कभी रचना (सृष्टि), कभी प्रलय (विलय)।

अतः केवल जीव की उपस्थिति से प्रकृति की प्रवृत्ति संभव नहीं है। प्रलयकाल में जीवात्माएँ प्रकृति के साथ सन्निहित होती हैं, फिर भी सृष्टि प्रारंभ नहीं होती। केवल जब परमात्मा इच्छा करता है, तभी प्रकृति सृष्टि की ओर प्रवृत्त होती है। उपनिषद् में कहा गया है — “स एकाक्षते बहु स्याम” — जब परमात्मा सृष्टि का संकल्प करता है, तभी रचना शुरू होती है। परमात्मा ही नियामक चेतना है, जो जड़ प्रकृति को नियंत्रित करता है।

यह प्रश्न उठाया जाता है कि यदि जीवात्मा को अव्यक्त (प्रकृति) का भोक्ता माना जाए, तो क्या यह संभव नहीं कि वह शरीर के समान उसकी प्रवृत्ति का कारण बन जाए? जैसे देहधारी जीव का शरीर भोग के साधन रूप में प्रवृत्त होता है, वैसे ही प्रकृति भी प्रवृत्त हो सकती है।

उत्तर— “अडिगत्वानुपपत्तेः च” — यह संभव नहीं है, क्योंकि जीवात्मा प्रकृति का “अंग” (अवयव) नहीं है, अपितु “भोक्ता” (उपभोग करने वाला) है। कोई भी भोग केवल तब संभव होता है जब भोग्य वस्तु सजीव के अधीन हो और वह उसके अंगरूप में कार्य करे। लेकिन प्रकृति और जीवात्मा के संबंध में ऐसा नहीं है।

यह सिद्धांत सामान्य अनुभव से भी प्रमाणित होता है — कोई भी व्यक्ति किसी वस्तु का भोग करता है, परंतु वह वस्तु उसका अंग नहीं होती। जैसे हम भोजन करते हैं, लेकिन भोजन हमारे शरीर का अंग नहीं है, वह एक अलग वस्तु है। अतः केवल इस आधार पर कि, कोई भोक्ता है, यह नहीं सिद्ध होता कि वह भोग्य वस्तु को संचालित कर सकता है।

आगे कहा गया है कि प्रकृति— सत्त्व, रजस् और तमस् से युक्त त्रिगुणात्मक है। इन गुणों में चलन देखा जाता है, लेकिन यह चलन भी चेतन नहीं है। योगसूत्र में कहा गया है — “चलं गुणः” (योग 3.13, व्यास भाष्य), अर्थात् गुणों में गति होती है, परंतु यह गति स्वतः नहीं होती, अपितु किसी चेतन तत्व की प्रेरणा से होती है। इस संदर्भ में अगला सूत्र कहता है — “अन्यथानुमितौ च ज्ञशक्तिवियोगात्” — यदि यह कहा जाए कि गुणों की गति ही उसकी प्रवृत्ति का प्रमाण है, तो भी यह विचार तर्कसंगत नहीं होगा, क्योंकि प्रकृति में “ज्ञशक्ति” (ज्ञान की शक्ति) नहीं है। वह अचेतन है, उसमें ज्ञान करने, योजना बनाने या उद्देश्य से कार्य करने की शक्ति नहीं है। अतः उसमें स्वतः प्रवृत्ति एवं हो न ही किसी प्रयोजन की पूर्ति की चेतना सकती है।

इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि प्रकृति अपने बल पर स्वतन्त्र रूप से जगत् की रचना नहीं कर सकती। वह केवल परमात्मा के अधीन रहकर, उसके निर्देश से कार्य करती है। परमात्मा ही सृष्टि का निमित्त कारण है, और प्रकृति केवल उपादान कारण है — वह सामग्री प्रदान करती है, परंतु स्वयं प्रेरक नहीं है। यदि कहा जाए कि जगत् की सृष्टि केवल प्रकृति (अव्यक्त) के द्वारा स्वतन्त्र रूप से होती है, तो यह मत तार्किक दृष्टि से असमञ्जस (अव्यवस्थित और अप्रमाणिक) सिद्ध होता है। यह मत वेदों के प्रतिपादित सिद्धांतों तथा श्रुति-वचनों के साथ प्रत्यक्ष विरोध (विप्रतिषेध) में आ जाता है।

**स्मरणीय बिंदु—**

- प्रकृति स्वतन्त्र नहीं है।
- ब्रह्म ही परम कारण है।
- प्रकृति ब्रह्माधीन है।
- वेदान्त समन्वयवादी दर्शन है।
- उपादान कारण का महत्त्व।

**शब्दावली—**

| शब्द        | अर्थ         |
|-------------|--------------|
| उपादान कारण | सामग्री कारण |
| प्रकृति मूल | भौतिक तत्व   |

|           |                         |
|-----------|-------------------------|
| वेदान्त   | उपनिषद् आधारित दर्शन    |
| स्वतन्त्र | स्वतंत्र सत्ता          |
| कारणवाद   | कारण सम्बन्धी सिद्धान्त |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. उपादान कारण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. वेदान्त में प्रकृति की भूमिका बताइए।
3. सांख्य मत में प्रकृति का स्थान क्या है?
4. ब्रह्म को परम कारण क्यों कहा गया है?
5. वेदान्त और सांख्य में अंतर स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. वेदान्त में प्रकृति के स्वतन्त्र उपादान कारणत्व का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. ब्रह्म और प्रकृति के संबंध का दार्शनिक अध्ययन कीजिए।
3. वेदान्त एवं सांख्य दर्शन का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. वेदान्त के अनुसार परम कारण कौन है?

- (क) जीव
- (ख) प्रकृति

#### ( ग ) ब्रह्म

- (घ) मन

2. सांख्य दर्शन में उपादान कारण क्या है?

- (क) जीव

#### ( ख ) प्रकृति

- (ग) ब्रह्म
- (घ) आकाश

3. वेदान्त दर्शन किस पर आधारित है?

- (क) पुराण
- (ख) वेद

#### ( ग ) उपनिषद्

- (घ) स्मृति

4. प्रकृति किसके अधीन है?

- (क) जीव

#### ( ख ) ब्रह्म

- (ग) इन्द्रिय
- (घ) मन

5. उपादान कारण का अर्थ क्या है?

- (क) कर्ता

#### ( ख ) सामग्री

- (ग) ज्ञाता
- (घ) भोक्ता



## इकाई-२.२ न्याय वैशिष्ट्यों के परमाणुकारणवाद का खण्डन

### उद्देश्य-

1. परमाणुवाद का अध्ययन करना।
2. बौद्ध क्षणिकवाद को समझना।
3. वेदान्तीय खण्डन का अध्ययन करना।

न्याय-वैशिष्ट्य दर्शन में जगत् की उत्पत्ति का कारण परमाणु को माना गया है। इस मत के अनुसार सम्पूर्ण भौतिक जगत् सूक्ष्मतम भौतिक कणों, परमाणुओं, से बना है। ये परमाणु नित्य, अविभाज्य, अचेतन और भिन्न-भिन्न होते हैं। इस मत में सृष्टि की प्रक्रिया को इस प्रकार निरूपित किया गया है—

**“परमाणुद्वयेनैव द्व्यणुकं नाम जायते। द्व्यणुकत्रयेण त्र्यणुकं तैश्चतुर्भिस्तदात्मकम्।”**

अर्थात्:-

- दो परमाणुओं के संयोग से द्व्यणुक बनता है,
- तीन द्व्यणुकों के संयोग से त्र्यणुक,
- चार त्र्यणुकों से आगे का रूप विकसित होता है,
- और इसी प्रकार क्रमिक संयोग से स्थूल भूतों की उत्पत्ति मानी जाती है।

यह मत क्रमपरक यांत्रिक प्रक्रिया को स्वीकार करता है, जिसमें कोई चेतन कर्ता (नियंता) नहीं होता। इस सन्दर्भ में सूत्रकार कहते हैं: “महदीर्घवद् वा ह्रस्वपरिमाण्डलाभ्याम्” यहाँ “वा” शब्द विकल्प या समुच्चय सूचक है, अर्थात् यह विचार एक विकल्प के रूप में सामने रखा जा रहा है। यदि यह कहा जाए कि —परमाणु (ह्रस्वपरिमाणयुक्त) अपने आप में छोटे हैं, किंतु संयोग के द्वारा वे दीर्घ (बड़े) और महत् परिमाणयुक्त द्व्यणुक, त्र्यणुक आदि के रूप में परिणत होते हैं। जैसे — बड़ी वस्तुएँ (महत्तम परिमाणयुक्त पदार्थ) अनेक सूक्ष्म अंशों से बनती हैं। ठीक वैसे ही परमाणु आपस में मिलकर दीर्घ परिमाण वाली पृथ्वी, जल आदि वस्तुओं की रचना करते हैं।

तो भी यह मत अयुक्त है। क्यों? कारण

### 1. परमाणुओं का जड़त्व (अचेतनता):-

परमाणु जड़ और अचेतन हैं। वे स्वयं से कोई कार्य नहीं कर सकते। बिना चेतन नियामक के, उनका संयोग और परिणमन संभव नहीं। चेतना के बिना स्वतः संयोग या रचना की क्रिया चल पाना तर्कसंगत नहीं।

### 2. साहाय्यकारक तत्व का अभाव:-

जैसे कोई कुम्हार मिट्टी (जड़ पदार्थ) को लेकर घड़ा बनाता है — तो मिट्टी स्वयं घड़ा नहीं बनाती, उसके लिए कर्ता (चेतन) की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार यदि परमाणु जड़ हैं, तो वे स्वतः संयोग कर महत्तम पदार्थों की उत्पत्ति नहीं कर सकते। उनमें सहायक चेतन तत्व का होना आवश्यक है।

### 3. स्वतंत्र कारणत्व की असंगति:

यदि परमाणु ही स्वतंत्र कारण माने जाएँ, तो फिर उनमें सृष्टि की बुद्धिपूर्वक व्यवस्था, विविधता, नियमन आदि कैसे संभव होंगे? यह सब केवल चेतन सत्ता द्वारा ही संभव है।

परमाणुओं के संयोग को दो मुख्य प्रकारों में वर्गीकृत किया गया है अभिघातजन्य संयोग— जब कोई बाह्य प्रेरणा (जैसे टक्कर, धक्का आदि) के कारण दो परमाणु आपस में मिलते हैं। कर्मनिष्पत्ति रूप संयोग — जब स्वयं परमाणु में कोई गतिशीलता हो और वह क्रिया के माध्यम से किसी अन्य परमाणु से मिल जाए।

वेदान्त इन दोनों संभावनाओं को अस्वीकार करता है:

१. अभिघातजन्य संयोग की असंभवता:-कोई भी अभिघात (टक्कर) बिना निमित्त (कारण) के संभव नहीं होता। प्रारंभ में कोई अन्य तत्व विद्यमान नहीं था जो परमाणुओं को टक्कर दे सके। अतः निर्निमित्त अभिघात संभव नहीं—इस प्रकार संयोग नहीं हो सकता।
२. कर्मनिष्पत्ति रूप संयोग की असंभवता:-कोई भी कर्म (क्रिया) प्रयत्न से उत्पन्न होती है। प्रयत्न (मार्गगत) का आधार आत्मा है, और आत्मा के लिए शरीर आवश्यक है। सृष्टि के प्रारंभ में न आत्मा को शरीर प्राप्त था और न ही कोई सजीव इकाई विद्यमान

थी। प्रयत्न भी असंभव था अतः कर्म नहीं हुआ, और संयोग भी नहीं।

यदि यह माना जाए कि जीवात्माओं में स्थित अदृष्ट (कर्मफल) का समवाय (अविनाभाव संबंध) परमाणुओं के साथ है और यही अदृष्ट परमाणुओं के संयोग से द्रव्यणुक आदि के माध्यम से पृथ्वी आदि स्थूल जगत् की उत्पत्ति का कारण है, तो इससे एक गंभीर समस्या उत्पन्न होती है। अदृष्ट का समवाय परमाणुओं के साथ समान रूप से सदा विद्यमान रहता है, जिससे सृष्टि और प्रलय की कोई निश्चित स्थिति नहीं रह जाती। यदि अदृष्ट सदा परमाणुओं के साथ जुड़ा रहता है, तो सृष्टि भी निरंतर होती रहेगी और प्रलय की कोई संभावना नहीं होगी। इस प्रकार, सृष्टि और प्रलय की अनिश्चितता (अनवस्था) का दोष उत्पन्न होता है।

इस समस्या को स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण पर विचार करें:- यदि कोई बीज सदा ही अंकुरित होने की स्थिति में रहे और उसमें अंकुरण के लिए आवश्यक सभी कारण सदा उपस्थित हों, तो वह बीज कभी निष्क्रिय नहीं रहेगा और सदा अंकुरित होता रहेगा। इसी प्रकार, यदि परमाणुओं में अदृष्ट सदा विद्यमान रहे, तो सृष्टि की प्रक्रिया निरंतर चलती रहेगी और प्रलय की कोई स्थिति नहीं आएगी।

इसलिए, अदृष्ट का परमाणुओं के साथ समवाय मानने से सृष्टि और प्रलय की अनिश्चितता उत्पन्न होती है, जो कि तर्कसंगत नहीं है। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि परमाणुओं में अदृष्ट का समवाय नहीं होता, और सृष्टि की प्रक्रिया के लिए अन्य कारणों की आवश्यकता होती है। यदि परमाणु रूप, रंग, गंध आदि गुणों से युक्त हैं, तो वे नित्य नहीं हो सकते क्योंकि ये गुण परिवर्तनशील हैं। यदि परमाणु इन गुणों से रहित हैं, तो उनसे युक्त जगत् की उत्पत्ति संभव नहीं है, क्योंकि 'असत्' (अभाव) से 'सत्' (भाव) की उत्पत्ति नहीं हो सकती। यह तर्क **“कथमसतः सञ्जायेत”** छांदोग्य उपनिषद् (6.2.1-2) अर्थात् अभाव से भाव की उत्पत्ति कैसे संभव है। यदि यह माना जाए कि परमाणु मूलतः गुणरहित होते हैं और संयोग के माध्यम से गुणों की उत्पत्ति होती है, तो यह समझना कठिन हो जाता है कि जड़ (अचेतन) परमाणु कैसे परस्पर संयोग करके गुणों की सृष्टि कर सकते हैं। जड़ तत्वों में स्वयं कोई क्रियाशीलता नहीं होती, अतः उनके संयोग से गुणों की उत्पत्ति का तर्क, दोषपूर्ण प्रतीत होता है। यह तर्क दिया गया है कि जैसे सूत के तंतुओं को मिलाकर वस्त्र बनाया जाता है, वैसे ही परमाणुओं के संयोग से जगत् की सृष्टि होती है। परंतु यह उदाहरण भी पूर्णतः उपयुक्त नहीं है क्योंकि सूत के तंतु चेतन प्राणी द्वारा संयोजित किए जाते हैं, जबकि परमाणु जड़ हैं और उनमें स्वयं कोई चेतना या क्रियाशीलता नहीं होती। यदि यह माना जाए कि परमाणु कभी गुणयुक्त और कभी गुणरहित होते हैं, तो यह 'उभयधर्मित्व' कहलाता है। यह तर्क भी दोषपूर्ण है क्योंकि जड़ परमाणु स्वयं कोई निर्णय या परिवर्तन नहीं कर सकते। इसलिए, यह मानना कि वे कभी गुणयुक्त और कभी गुणरहित होते हैं, तर्कसंगत नहीं है। पूर्वोक्त कारणों से सिद्ध होता है कि न्याय वैशिष्ट्य परमाणुकारणवाद ठीक नहीं है।

### ६.१ बौद्धों के क्षणिकवाद का खण्डन

क्षणिकवादियों के मतानुसार, यह जगत् परमाणुओं का कार्य नहीं है, अपितु यह बाह्य और आध्यात्मिक तत्वों का समुदाय है। भूत और भौतिक तत्व: ये परमाणुओं के समुदाय हैं, जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु आदि के रूप में प्रकट होते हैं। चित्त और चैत्तिक तत्व ये पञ्च स्कन्धों—रूप, विज्ञान, वेदना, संज्ञा और संस्कार—का समुदाय हैं, जो मानसिक और आध्यात्मिक प्रक्रियाओं को दर्शाते हैं। इस प्रकार, क्षणिकवाद में जगत् को इन दोनों प्रकार के समुदायों का संयोग माना जाता है। सूत्र के अनुसार “समुदाय उभयहेतुकेऽपि तदप्राप्तिः”, अर्थात् दोनों प्रकार के कारणों (भौतिक और मानसिक) से उत्पन्न समुदाय भी असिद्ध है।

**कारणः**

- **कक्षणिकता:-** क्षणिकवाद के अनुसार, प्रत्येक तत्व क्षणिक होता है, अर्थात् वह एक क्षण में उत्पन्न होकर अगले क्षण में नष्ट हो जाता है।
- **समुदाय की अपेक्षा:-** समुदाय की अवधारणा में तत्वों का सह-अस्तित्व आवश्यक है, ताकि वे एक साथ मिलकर कोई संरचना बना सकें।
- **विरोधाभास:-** यदि सभी तत्व क्षणिक हैं और एक ही क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाते हैं, तो उनका सह-अस्तित्व संभव नहीं है।

इस प्रकार, क्षणिक तत्वों का समुदाय बनाना संभव नहीं है, क्योंकि उनके अस्तित्व का कोई स्थायी आधार नहीं है। आगे सांख्य, वैशेषिक और बौद्ध दर्शनों के उस मत का खंडन करता है जिसमें वे यह मानते हैं कि संसार में जो भी पदार्थ हैं, वे सूक्ष्म परमाणुओं के समूह (स्कन्ध) से बने हैं। उनके अनुसार, ये परमाणु स्वतःसिद्ध हैं और उनका समुदाय बनकर ही स्थूल जगत् की रचना होती है।

यहाँ आचार्य बादरायण प्रश्न उठाते हैं यदि यह कहा जाए कि परमाणु एक-दूसरे के कारण बनते हैं—जैसे एक परमाणु से दूसरा

परमाणु निकलता है, फिर तीसरा, फिर चौथा—और इस प्रकार एक स्कन्ध (समूह) का निर्माण होता है, तो यह सिद्धांत ठीक नहीं है। इतरेतरप्रत्ययत्वादिति चेन्नोत्पत्तिमात्रनिमित्तत्वात् ॥१९॥ क्योंकि जो परमाणु पहले उत्पन्न हुआ, वह केवल अगला परमाणु उत्पन्न करने का कारण है, पूरे समूह (स्कन्ध) का नहीं। वह केवल उत्पत्ति का निमित्त है, न कि संपूर्ण समुदाय (बवससमबजपवद) का निमित्त। मान लीजिए कोई दीपक है, जिससे एक लौ निकलती है, फिर दूसरी लौ, फिर तीसरी, लेकिन इनमें से कोई भी लौ पूरे प्रकाशपुंज का कारण नहीं है। इसी प्रकार, एक-एक परमाणु का उत्पन्न होना, संपूर्ण स्कन्ध या पदार्थ का कारण नहीं बन सकता। यदि हम यह मानें कि परमाणु एक-दूसरे के उत्पन्न होने में सहायक हैं और एक का समूह दूसरे का समुदाय है, तो यह सिद्धांत व्यवहार में भी नहीं टिकता। क्योंकि कोई भी परमाणु अन्य परमाणुओं के बिना स्वयं समुदाय नहीं बना सकता। समुदाय बनाने के लिए एक संगठित कारण (समवाय कारण) होना चाहिए, न कि केवल क्रमबद्ध उत्पत्ति। इसलिए यह निष्कर्ष निकलता है कि केवल परमाणुओं का क्रमशः उत्पन्न होना किसी स्थूल पदार्थ (जैसे — घड़ा, लकड़ी, शरीर आदि) के अस्तित्व की पर्याप्त व्याख्या नहीं करता। केवल उत्पत्तिमात्र से समुदाय की रचना नहीं होती, उसके लिए एक उच्चतर तत्त्व या सत्ता (जैसे ब्रह्म) का होना आवश्यक है, जो इस प्रक्रिया को संचालित करे। और उत्तरक्षणवर्ती परमाणु या स्कन्ध की उत्पत्ति में (पूर्वनिरोधात्) पूर्वक्षणवर्ती परमाणु या स्कन्ध का क्षणिक होने से निरोध (नाश) हो जाता है। अतः समुदायमात्र ही जगत् है अवयवी जगत् नहीं, यह क्षणिकवादियों का सिद्धान्त ठीक नहीं। क्षणिकवाद की आलोचना करते हुए यह बताया गया है कि क्षणिकवाद के अनुसार यदि कोई वस्तु (जैसे परमाणु या स्कन्ध) किसी अन्य वस्तु का कारण बनती है, तो उसका अस्तित्व अगले क्षण तक होना चाहिए। किंतु क्षणिकवाद के अनुसार प्रत्येक वस्तु केवल एक क्षण के लिए ही रहती है और तत्क्षण ही नष्ट हो जाती है।

यदि कारण वस्तु (पूर्व क्षण का परमाणु) अगले क्षण तक टिकती ही नहीं, तो वह कैसे परिणाम (उत्तर क्षण की वस्तु) का कारण बन सकती है? यदि यह माना जाए कि दोनों—पूर्व और उत्तर क्षण की वस्तुएँ—एक साथ उपस्थित रहती हैं, तो यह युगपद् दोष (एक ही समय में कारण और कार्य का अस्तित्व) उत्पन्न होगा, जो तर्कसंगत नहीं है। इस प्रकार, क्षणिकवाद में कार्य-कारण संबंध की उचित व्याख्या नहीं हो सकती, और न ही उससे सृष्टि का यथार्थ उत्पत्ति-क्रम सिद्ध होता है। अतः यह मत (क्षणिकवाद) तर्क एवं अनुभव दोनों की कसौटी पर अस्वीकार्य है। इसलिए वेदांत और अन्य दर्शनों में इसे खंडित किया गया है। यह बताया गया है कि क्षणिकवाद के अनुसार, वस्तुओं का निरोध (नाश) प्रतिसंख्यान (ज्ञान के माध्यम से) या अप्रतिसंख्यान (ज्ञान के बिना) के द्वारा होता है। हालांकि, यदि सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं और प्रत्येक क्षण में उत्पन्न होकर नष्ट हो जाती हैं, तो उनके निरोध की प्रक्रिया को समझना कठिन हो जाता है। क्योंकि निरोध की अवधारणा तभी संभव है जब कोई वस्तु कुछ समय तक अस्तित्व में रहे और फिर उसका नाश हो। यदि वस्तु का अस्तित्व ही क्षणिक है, तो उसके निरोध की प्रक्रिया का कोई अर्थ नहीं रह जाता।

इस प्रकार, क्षणिकवाद में निम्नलिखित समस्याएँ उत्पन्न होती हैं:

1. कारण-कार्य संबंध की असंगति:- यदि सभी वस्तुएँ क्षणिक हैं, तो किसी वस्तु का अगले क्षण की वस्तु के लिए कारण बनना संभव नहीं है, जिससे कारण-कार्य संबंध की निरंतरता बाधित होती है।
2. निरोध की प्रक्रिया की अस्पष्टता:- क्षणिकता के सिद्धांत में, निरोध की प्रक्रिया को स्पष्ट रूप से परिभाषित करना कठिन होता है, क्योंकि वस्तुएँ उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाती हैं।
3. स्मृति और पहचान की समस्या:- यदि प्रत्येक क्षण में वस्तुएँ नष्ट हो जाती हैं और नई उत्पन्न होती हैं, तो किसी वस्तु की पहचान और स्मृति कैसे संभव है?

इन तर्कों के आधार पर, यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि क्षणिकवाद में जगत् की उत्पत्ति और विनाश की प्रक्रिया को समझने में कुछ तात्त्विक कठिनाइयाँ हैं। इसलिए, जगत् की उत्पत्ति और विनाश के विषय में अधिक सुसंगत और स्थायी सिद्धांतों की आवश्यकता है, जो कारण-कार्य संबंध, निरोध की प्रक्रिया, और स्मृति जैसे तत्वों को समुचित रूप से समझा सकें।

क्षणिकवाद, यद्यपि परिवर्तनशीलता की अवधारणा को प्रस्तुत करता है, परंतु जगत् की उत्पत्ति और विनाश की संपूर्ण प्रक्रिया को तर्कसंगत रूप से समझने में पूर्णतः सक्षम नहीं है। पिछले सूत्र में यह चर्चा हुई थी कि बौद्ध मत में दो प्रकार के निरोध (विलय) माने जाते हैं: प्रतिसंख्या निरोध — साधना या ध्यान से प्राप्त शांत अवस्था एवं अप्रतिसंख्या निरोध — बिना किसी कारण अपने आप होने वाला विलय। बौद्ध मत मानता है कि संसार के समस्त धर्म (तत्त्व) क्षणिक (क्षणभर में ही नष्ट हो जाने वाले) हैं। इसलिए वह दुख के निरोध को भी इन्हीं दो प्रकारों में बाँटता है।

आचार्य यह बताना चाहते हैं कि दोनों ही निरोधों को मानने में गंभीर दोष उत्पन्न होते हैं। यदि प्रतिसंख्या निरोध को माना जाए— तो यह निहेतुक (बिना कारण के) हो जाएगा, क्योंकि क्षणिकवाद के अनुसार हर वस्तु बिना स्थायी कारण के उत्पन्न होती है। लेकिन बिना किसी उपादान कारण के कोई साधना या ध्यान कैसे फल दे सकता है? यदि कोई भी वस्तु क्षणमात्र ही टिकती है, तो साध

ना की निरंतरता भी नहीं हो सकती। ऐसे में ध्यान से कैसे दुख का अंत हो सकता है?

यदि अप्रतिसंख्या निरोध को माना जाए – तो यह स्वतः ही, बिना किसी प्रयत्न के होता है। इसका अर्थ यह होगा कि दुख का अंत अपने आप हो जाएगा। लेकिन फिर किसी शास्त्र, साधना, या मार्गदर्शन की आवश्यकता ही नहीं रहेगी। न कोई गुरु चाहिए, न शास्त्र, न अभ्यास। फिर बुद्ध का उपदेश भी व्यर्थ हो जाएगा, क्योंकि दुख का अंत तो बिना कुछ किए ही हो जाएगा।

बौद्ध क्षणिकवाद के अनुयायी कहते हैं कि आकाश, प्रतिसंख्या निरोध और अप्रतिसंख्या निरोध ये तीनों अभाव मात्र हैं, अर्थात् उनका कोई ठोस अस्तित्व नहीं है। ये सभी निरूपाख्य (न वर्णन किए जा सकने योग्य) और नित्य (परिवर्तन-रहित) माने जाते हैं। आचार्य का खंडन यदि आकाश को केवल “अभाव” या “अवर्णनीय” माना जाए, तो वह वस्तुतः अस्तित्वहीन हो जाएगा। परंतु वेद स्पष्ट रूप से बताते हैं कि आकाश उत्पन्न होता है – “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः। आकाशाद् वायुः...” (तैत्तिरीय उपनिषद्) अर्थात् आकाश का भी एक कारण है और वह उत्पन्न होता है, इसलिए वह “द्रव्य” (वास्तविक तत्व) है, न कि केवल एक “अभाव”। साथ ही, आकाश में शब्दगुण (ध्वनि का आधार) होता है। जैसे पृथ्वी में गंधगुण होता है, वैसे ही आकाश में ध्वनि होती है। इसलिए आकाश एक वास्तविक और गुणयुक्त द्रव्य है, मात्र निरूपाख्य शून्यता नहीं। और स्मृति और प्रत्यभिज्ञा (पहचान) तभी संभव है जब कोई वस्तु कुछ क्षण तक टिकी रहे। परंतु क्षणिकवाद कहता है कि सभी वस्तुएँ क्षणमात्र के लिए ही अस्तित्व में रहती हैं। हर क्षण एक नई वस्तु उत्पन्न होती है और पिछली समाप्त हो जाती है। आचार्य का खंडन यदि वस्तु एक ही क्षण में नष्ट हो जाती है, तो “मैंने जो पहले देखा था, वही अब फिर से देख रहा हूँ” ऐसा स्मरण और अनुभव असंभव हो जाएगा। स्मृति का आधार ही यह है कि हम किसी पूर्व अनुभूत वस्तु को फिर से अनुभव करते हैं। उदाहरण:- “मैंने कल जो फल खाया था, उसका स्वाद याद है।” यह तभी संभव है जब “फल” और “स्वाद” दोनों स्थायी रहें, न कि हर क्षण में बदल जाएँ। इसलिए, आचार्य निष्कर्ष निकालते हैं कि क्षणिकवाद तर्क और अनुभव दोनों के विपरीत है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- परमाणु नित्य नहीं हैं।
- क्षणिकवाद स्थायित्व का विरोध करता है।
- वेदान्त आत्मा को नित्य मानता है।
- जगत परिवर्तनशील है।
- ब्रह्म शाश्वत है।

### शब्दावली-

| शब्द      | अर्थ                  |
|-----------|-----------------------|
| परमाणुवाद | अणु सिद्धान्त         |
| क्षणिकवाद | क्षणभंगुरता सिद्धान्त |
| नित्य     | शाश्वत                |
| अनित्य    | नश्वर                 |
| वेदान्त   | ब्रह्मवादी दर्शन      |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. परमाणुवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. क्षणिकवाद क्या है?
3. वेदान्त में आत्मा का स्वरूप बताइए।
4. न्याय दर्शन में परमाणु की अवधारणा क्या है?
5. क्षणिकवाद का खण्डन कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. न्याय-वैशेषिक परमाणुवाद का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
2. बौद्ध क्षणिकवाद का वेदान्तीय खण्डन कीजिए।
3. नित्य एवं अनित्य तत्वों का तुलनात्मक विवेचन कीजिए।

**बहु विकल्पीय-**

1. परमाणुवाद किस दर्शन से संबंधित है?

(क) वेदान्त

**(ख) न्याय-वैशेषिक**

(ग) जैन

(घ) बौद्ध

2. क्षणिकवाद किसका सिद्धान्त है?

(क) जैन

(ख) वेदान्त

**(ग) बौद्ध**

(घ) सांख्य

3. वेदान्त आत्मा को क्या मानता है?

(क) अनित्य

(ख) नश्वर

**(ग) नित्य**

(घ) जड़

4. परमाणु किसे कहा जाता है?

(क) स्थूल तत्व

**(ख) सूक्ष्म अविभाज्य तत्व**

(ग) आत्मा

(घ) मन

5. क्षणिकवाद का अर्थ क्या है?

(क) नित्यत्व

(ख) शाश्वतता

**(ग) क्षणभंगुरता**

(घ) स्थिरता

## इकाई-२.३ असत्-कारणवाद का निराकरण, विज्ञानवाद का खण्डन

### उद्देश्य-

1. असत्कारणवाद का अध्ययन करना।
2. विज्ञानवाद की अवधारणा समझना।
3. वेदान्तीय आलोचना प्रस्तुत करना।

शंका यह है कि – क्या ऐसा हो सकता है कि एक वस्तु पहले नष्ट हो जाए और फिर उसी के बाद दूसरी वस्तु उत्पन्न हो जाए? जैसे बीज पहले दबा दिया जाए और बाद में उसी से अंकुर (अंकुरित पौधा) उत्पन्न हो, तो क्या इससे यह माना जा सकता है कि ‘असत्’ (अभाव) से ‘सत्’ (वस्तु) की उत्पत्ति होती है? उत्तर में कहा गया – नहीं, ऐसा मानना उचित नहीं है। किसी भी वस्तु का उत्पन्न होना पूरी तरह उसके कारणों पर निर्भर होता है। यदि कारण (जैसे बीज) पूर्ण रूप से नष्ट हो जाए, तो कार्य (जैसे अंकुर) उत्पन्न नहीं हो सकता। मान लीजिए बीज दबा दिया गया, लेकिन वह पूरी तरह नष्ट नहीं हुआ। उसमें अभी भी शक्ति उसका कारणत्व है शेष है, जो भूमि, जल, और अन्य सहायक कारणों के साथ मिलकर अंकुर को उत्पन्न करती है। यदि बीज का कारणत्व पूरी तरह नष्ट हो जाए, तो फिर उसी बीज से अंकुर नहीं, कोई अन्य वस्तु उत्पन्न होनी चाहिए – जैसे चने के बीज से गेहूं का पौधा निकलना चाहिए, पर ऐसा नहीं होता। इससे यह सिद्ध होता है कि बीज का कारणत्व नष्ट नहीं हुआ था।

### ‘तार्किक निष्कर्ष’

यदि वस्तु का कारण पूरी तरह समाप्त हो जाए, तो उससे कार्य नहीं उत्पन्न हो सकता। वस्तु हमेशा किसी ‘सत्’ कारण से ही उत्पन्न होती है, “असत्” से नहीं। जैसे – तंतु (धागे) से पट (कपड़ा) बनता है और मिट्टी से घट (घड़ा) बनता है। जब तक तंतु और मिट्टी जैसे कारण रहते हैं, तभी कपड़ा और घड़ा उत्पन्न होते हैं। यदि वे न हों, तो वस्तुएं नहीं बनतीं।

यदि हम मान लें कि बिना कारण (अभाव) से वस्तुएं उत्पन्न हो सकती हैं, तो फिर बिना किसी प्रयत्न के हर किसी को सब कुछ प्राप्त हो जाना चाहिए। जैसे –

‘जो लोग खेती नहीं करते, उन्हें भी अनाज प्राप्त हो जाना चाहिए।

- जो लोग कुम्हार नहीं हैं, उनके घर में भी बिना प्रयत्न के घड़ा बन जाना चाहिए।
- जो बुनकर नहीं हैं, उन्हें भी बिना धागे के वस्त्र मिल जाना चाहिए।

लेकिन हम अनुभव करते हैं कि ऐसा कभी नहीं होता। केवल उन्हीं को वस्तुएं प्राप्त होती हैं जो प्रयत्न करते हैं और कारण उपस्थित करते हैं।

### ७.१ विज्ञानवाद का खण्डन

यहाँ यह कहा गया है कि “‘सर्व वस्तुएं मात्र अभाव (असत्) हैं’” – यह कथन त्रुटिपूर्ण है। क्योंकि जो वस्तुएं अनुभव में आती हैं, वह अभाव कैसे हो सकती हैं? जब कोई वस्तु ज्ञान के माध्यम से ज्ञात होती है, तो वह “नहीं है” – यह कहना तर्क के विरुद्ध है। ज्ञान का आधार वही वस्तु है। यदि कोई वस्तु ही नहीं, तो ज्ञान किसका होगा? उदाहरण – यदि बाहर कुछ भी नहीं है, तो आँखें क्या देखती हैं? “देखना” तभी सम्भव है जब कोई वस्तु दृष्टिगोचर हो। अतः बाह्य वस्तुओं का अस्तित्व नकारा नहीं जा सकता। कुछ विज्ञानवादी यह तर्क देते हैं कि – “बाहरी वस्तुएँ भी स्वप्न की तरह हैं – केवल आभास मात्र। उत्तर: नहीं, ऐसा नहीं है। ‘स्वप्न और जाग्रत वस्तुओं में अंतर है। जब हम स्वप्न में होते हैं, उस समय जो वस्तुएँ दिखती हैं, वे जागरण में प्रमाण से नहीं जानी जातीं। परन्तु जाग्रत अवस्था की वस्तुएँ प्रमाणों से (प्रत्यक्ष, अनुमान आदि से) जानी जाती हैं।’ अतः वे कल्पना मात्र नहीं हैं। इससे सिद्ध होता है कि ‘बाह्य वस्तुएँ स्वप्नवत नहीं हैं’, उनमें एक वास्तविकता है। विज्ञानवादी यह भी कहते हैं कि “‘बाह्य वस्तुएँ नहीं हैं, केवल आंतरिक वासनाएँ हैं’”। उत्तर: यह असंभव है। वासना (आत्मा के संस्कार) ‘बाह्य वस्तुओं के अनुभव से उत्पन्न होती है। जैसे कोई मिठाई देखकर खाने की इच्छा होती है – वह वासना है। अगर मिठाई (बाह्य वस्तु) थी ही नहीं, तो वासना कैसे उत्पन्न हुई? इसलिए जब तक ‘बाह्य वस्तुएँ अनुभव में नहीं आतीं’, तब तक वासना भी नहीं हो सकती। विज्ञानवाद यह भी मानता है कि सब कुछ क्षणिक (क्षण भर में नष्ट) है, कोई स्थायित्व नहीं है। उत्तर: अगर सब कुछ क्षणिक है, तो वासना भी क्षणिक होगी। जब वासना स्थिर नहीं, तब वह भविष्य में किसी वस्तु की ओर प्रेरित नहीं कर सकती। परन्तु हम अनुभव करते हैं कि ‘हमारी इच्छाएँ स्थायी रूप से बनी रहती हैं’, वे किसी स्थायी अनुभव या वस्तु के कारण उत्पन्न होती हैं। इससे स्पष्ट होता है कि विज्ञानवाद का क्षणिकता का सिद्धांत भी असंगत है।



### स्मरणीय बिन्दु-

- असत् से सत् उत्पन्न नहीं हो सकता।
- ब्रह्म सत्य है।
- विज्ञानवाद चेतना प्रधान सि)ान्त है।
- वेदान्त जगत को ब्रह्माधीन मानता है।
- कारण बिना कार्य संभव नहीं।

### शब्दावली-

| शब्द        | अर्थ                       |
|-------------|----------------------------|
| असत्कारणवाद | असत् से उत्पत्ति सिद्धान्त |
| विज्ञानवाद  | चेतना प्रधान मत            |
| सत्         | सत्य अस्तित्व              |
| कार्य       | परिणाम                     |
| कारण        | मूल तत्व                   |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. असत्कारणवाद क्या है?
2. विज्ञानवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. सत् और असत् में अंतर बताइए।
4. वेदान्त असत्कारणवाद का खण्डन कैसे करता है?
5. कारण और कार्य का संबंध स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. असत्कारणवाद का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।
2. विज्ञानवाद का वेदान्तीय खण्डन प्रस्तुत कीजिए।
3. कारण-कार्य संबंध पर विस्तृत निबंध लिखिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. असत्कारणवाद किससे संबंधित है?

(क) सत् से उत्पत्ति

(ख) असत् से उत्पत्ति

(ग) आत्मा

(घ) मोक्ष

2. विज्ञानवाद किसे प्रधान मानता है?

(क) पदार्थ

(ख) आत्मा

(ग) चेतना

(घ) शरीर

3. वेदान्त के अनुसार सत्य क्या है?

(क) जगत

(ख) शरीर

(ग) ब्रह्म

(घ) इन्द्रिय

4. कार्य किस पर निर्भर है?

(क) कारण



(ख) शरीर

(ग) मन

(घ) इन्द्रिय

5. असत् का अर्थ क्या है?

(क) सत्य

**(ख) अस्तित्वहीन**

(ग) चेतन

(घ) नित्य

## इकाई-२.४ अनेकांतवाद का खण्डन ईश्वर साकारवाद का खण्डन

### उद्देश्य-

1. अनेकांतवाद की अवधारणा समझना।
2. ईश्वर साकारवाद का अध्ययन करना।
3. वेदान्तीय आलोचना का अध्ययन करना।

इन सूत्रों में आचार्य जी जैन दर्शन के “अनेकांतवाद” का खंडन करते हैं। जैन मत में यह माना जाता है कि एक ही वस्तु में परस्पर विरोधी गुण (जैसे – अस्तित्व और अनस्तित्व) एक साथ हो सकते हैं, और उसे “स्याद्वाद” या “अनेकांतवाद” कहा जाता है। वे यह भी मानते हैं कि जीव आत्मा का आकार शरीर के अनुसार बदलता है – हाथी में बड़ा और चींटी में छोटा। जैन मत के अनुसार कोई वस्तु “स्यादस्ति”, “स्यान्नास्ति”, “स्यादस्ति च नास्ति च” आदि हो सकती है। परंतु यह तर्क संगत नहीं है। नैकस्मिन्नसम्भवात् अर्थ:- एक ही वस्तु में विरोधी गुण नहीं हो सकते, क्योंकि यह तर्क और यथार्थ के विरुद्ध है। जो वस्तु “है” वही वस्तु उसी क्षण “नहीं है” – यह परस्पर विरोधी कथन है। जैसे कोई घट एक ही समय में “घट” और “अघट” नहीं हो सकता। यदि यह मान लिया जाए, तो ज्ञान का कोई भरोसा नहीं रह जाएगा। इसलिए अनेकांतवाद का यह मत अव्यवस्थित और अस्वीकार्य है।

जैन मत के अनुसार, आत्मा शरीर के अनुसार आकार बदलती है – हाथी में बड़ी, मनुष्य में मध्यम, और चींटी में सूक्ष्म। एवं चात्माऽकार्यः अर्थ:- अनेकांतवाद से आत्मा की एकरूपता और अखंडता नष्ट हो जाती है। यदि ऐसा हो, तो आत्मा की निरंतरता नहीं रह जाती, और वह अनेक रूपों में बदलती रहती है। इससे आत्मा की एकता समाप्त हो जाती है। यह सिद्धांत आत्मा की स्थिरता, अविकारी और सार्वभौमिकता के विरुद्ध है। यदि यह कहा जाए कि आत्मा दीपक के प्रकाश की तरह है जो स्थिति अनुसार फैलता या सिमटता है, तो भी यह त्रुटिपूर्ण है। न च पर्यायादप्यविरोधो विकारादिभ्यः अर्थ:- यह नहीं कहा जा सकता कि आत्मा पर्याय (स्थिति परिवर्तन) के कारण आकार बदलती है। क्योंकि इससे विकार (परिवर्तन) उत्पन्न होगा। क्योंकि दीपक या कपास जैसे पदार्थ जड़ और अवयवयुक्त होते हैं, जबकि आत्मा चेतन और निरवयवी है। चेतन, निरवयवी वस्तु में विकास या संकोच जैसे गुण नहीं हो सकते। यदि ऐसे गुण आत्मा में मान लिए जाएं, तो आत्मा भी जड़, नश्वर और परिवर्तनशील हो जाएगी – जो कि वेदांत के अनुसार आत्मा के गुण नहीं हैं। जैन दर्शन में मोक्ष की स्थिति में आत्मा को स्थिर और अविकारी माना गया है। यदि मोक्ष में आत्मा स्थिर और एकरस है, तो यह मानना उचित नहीं कि अन्त्यावस्थितेश्चोभयनित्यत्वादविशेषः संसार में वह बदलती रहती है। क्योंकि नित्य वस्तु एक अवस्था में स्थिर रहती है। अतः संसार और मोक्ष दोनों में आत्मा एकसमान होनी चाहिए। इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा का आकार शरीर के अनुसार बदलता नहीं है।

इन सूत्रों द्वारा यह प्रमाणित किया गया है कि आत्मा एकरूप, अविकारी, निरवयवी और नित्य है। जैन दर्शन का अनेकांतवाद तर्क, अनुभव और आत्मा की स्थिरता के विरुद्ध है। अतः यह वेदांत दृष्टिकोण से ग्राह्य नहीं है।

### ८.१ ईश्वर साकारवाद का खण्डन

ब्रह्मसूत्र में इस खंड में यह विचार किया गया है कि ईश्वर साकार है या निराकार। कुछ लोग ईश्वर को किसी राजा या प्रशासक के समान एक साकार रूप में मानते हैं, जो इस सम्पूर्ण विश्व का संचालन करता है। आचार्या इस धारणा का खण्डन करते हैं और बताते हैं कि ईश्वर का साकार स्वरूप तर्क और वेदों के अनुसार युक्तिसंगत नहीं है। वे सिद्ध करते हैं कि ईश्वर निराकार, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक और अविनाशी है।

इस सूत्र का भाव यह है कि कुछ लोग ईश्वर को एक साकार ‘पति’ (राजा या प्रशासक) के रूप में कल्पना करते हैं। इस विचार का खण्डन करते हुए कहते हैं कि पत्युरसामञ्जस्यात् (सूत्र ३७) यदि ईश्वर को साकार रूप में माना जाए, तो वह सीमित (परिच्छिन्न), एकदेशीय (एक स्थान पर रहने वाला) और अल्पशक्तिशाली होगा। परन्तु ईश्वर को तो प्रकृति और अनगिनत जीवात्माओं पर शासन करना है, जिसे एक सीमित शक्ति वाला साकार ईश्वर नहीं कर सकता। इसलिए साकार ईश्वर की कल्पना असंगत (असामञ्जस्य) है। और सम्बन्धानुपपत्तेश्च (सूत्र ३८) यहाँ बताया गया है कि यदि ईश्वर साकार है तो उसके प्रकृति और जीवात्माओं के साथ सम्बन्ध (संयोग, समवाय आदि) नहीं हो सकता। परन्तु यदि वह निराकार और सर्वव्यापक है, तब ही वह इनसे सम्बन्ध रख सकता है। अतः साकार ईश्वर के साथ यह सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता, इसलिए वह युक्त नहीं। अधिष्ठानानुपपत्तेश्च (सूत्र ३६) यह सूत्र यह दर्शाता है कि साकार ईश्वर प्रकृति का अधिष्ठान (आधार) नहीं हो सकता। क्योंकि साकार रूप का कोई भी

अस्तित्व शरीर या आकार के बिना नहीं होता, और सृष्टि के पहले कोई भी आकार नहीं था। इसलिए साकार ईश्वर का आधार होना सम्भव नहीं। अतः यह सिद्ध होता है कि निराकार ब्रह्म ही प्रकृति और सृष्टि का अधिष्ठान हो सकता है। **करणवच्चेन भोगादिभ्यः** (सूत्र ४०) यदि साकार ईश्वर को इन्द्रिययुक्त (इन्द्रियों वाला) मान लिया जाए, जैसे मनुष्य के पास इन्द्रियाँ होती हैं, तब उसमें भोग, वासना, वृद्धावस्था जैसे दोष आ जाएंगे, जो कि ईश्वर में नहीं हो सकते। इस कारण ईश्वर को करणयुक्त (इन्द्रिययुक्त) मानना युक्त नहीं। **अन्तवत्त्वमसर्वज्ञता वा** (सूत्र ४१) यह सूत्र यह कहता है कि यदि ईश्वर इन्द्रियवान होगा तो वह सीमित ज्ञान वाला और विनाशशील होगा। ऐसा ईश्वर तो न सर्वज्ञ हो सकता है, न ही वह कर्मफल का वितरण कर सकता है, क्योंकि उसे जीवों के कर्म ही नहीं पता होंगे। इससे सृष्टि व्यवस्था ही नहीं चल सकेगी। अतः यह मान्यता भी अमान्य है। **उत्पत्त्यसम्भवात्** (सूत्र ४२) यहाँ कहा गया है कि जो इन्द्रिययुक्त है, वह उत्पन्न होता है, अर्थात् उसकी उत्पत्ति होती है। परन्तु ईश्वर तो अजन्मा है, उसकी कोई उत्पत्ति नहीं होती। इसलिए इन्द्रिययुक्त ईश्वर की कल्पना त्रुटिपूर्ण है। यह भी तर्क निराकार ईश्वर की पुष्टि करता है। **न च कर्तुः करणम्** (सूत्र ४३) इस सूत्र का भाव है कि कर्ता (ईश्वर) का कोई करण (साधन) नहीं होता। साधन की आवश्यकता कार्य को होती है, कर्ता को नहीं। इसलिए जो सृष्टिकर्ता है, वह किसी साधन या इन्द्रिय का उपयोग करके कार्य नहीं करता। **“न तस्य कार्य करणं च विद्यते”** श्वेताश्वतर उपनिषद् (६।८) – ईश्वर का कोई कार्य या साधन नहीं है। **विज्ञानादिभावे वा तदप्रतिषेधः** (सूत्र ४४) यदि हम कहें कि ईश्वर का कारण ज्ञान आदि है, तो प्रश्न उठता है कि उस ज्ञान को किसने उत्पन्न किया? परन्तु ईश्वर तो स्वयंस्वरूप ज्ञानमात्र है। इसलिए उस पर कोई प्रतिबंध या निषेध नहीं लगाया जा सकता। उसका ज्ञान स्वाभाविक है। अतः वह किसी ज्ञान के कारण उत्पन्न नहीं हुआ। **विप्रतिषेधाच्च** (सूत्र ४५) वेदों में स्पष्ट रूप से साकार ईश्वर का खण्डन किया गया है:

- “अज एकपात्” – वह अजन्मा है,
- “अकायम्” – उसका कोई शरीर नहीं है,
- “अपाणिपादो” – उसके न हाथ हैं न पैर।

इस प्रकार के वचन साकार ईश्वर की धारणा को नकारते हैं। इससे सिद्ध होता है कि ईश्वर न तो शरीरवान है, न उत्पन्न होता है, न इन्द्रियवान है और न ही आकारवान।

#### स्मरणीय बिन्दु-

- ब्रह्म निराकार है।
- अनेकांतवाद सापेक्ष खण्डित है।
- वेदान्त अद्वैतवादी है।
- ईश्वर सर्वव्यापक है।
- निराकार ब्रह्म सर्वोच्च सत्य है।

#### शब्दावली-

| शब्द       | अर्थ                     |
|------------|--------------------------|
| अनेकांतवाद | बहुदृष्टिकोण सिद्धान्त   |
| साकारवाद   | रूपयुक्त ईश्वर सिद्धान्त |
| निराकार    | बिना रूप                 |
| अद्वैत     | अभेद सिद्धान्त           |
| ब्रह्म     | परम सत्य                 |

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. अनेकांतवाद क्या है?
2. साकारवाद का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. वेदान्त में ब्रह्म का स्वरूप क्या है?
4. निराकार ब्रह्म पर टिप्पणी लिखिए।
5. अद्वैत सिद्धान्त का अर्थ बताइए।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. अनेकांतवाद का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
2. ईश्वर साकारवाद का वेदान्तीय खण्डन कीजिए।

3. अद्वैत वेदान्त में ब्रह्म स्वरूप का विस्तृत विवेचन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. अनेकांतवाद किस दर्शन से संबंधित है?

(क) जैन

(ख) वेदान्त

(ग) न्याय

(घ) सांख्य

2. वेदान्त ब्रह्म को क्या मानता है?

(क) साकार

(ख) निराकार

(ग) नश्वर

(घ) जड़

3. अद्वैत का अर्थ क्या है?

(क) द्वैत

(ख) अनेकता

(ग) अभेद

(घ) भेद

4. साकारवाद किससे संबंधित है?

(क) रूपयुक्त ईश्वर

(ख) निराकार ब्रह्म

(ग) आत्मा

(घ) प्रकृति

5. अनेकांतवाद किस सिद्धान्त पर आधारित है?

(क) एक दृष्टि

(ख) बहुदृष्टि

(ग) अद्वैत

(घ) भक्ति

## खण्ड-३ सिद्धिन्तावबोध-३

### इकाई-३.१ आकाश की उत्पत्ति का विचार

उद्देश्य-

1. आकाश तत्व की उत्पत्ति को समझना।
2. पंचमहाभूत सिद्धान्त का अध्ययन करना।
3. वेदान्तीय सृष्टि क्रम को जानना।

छान्दोग्य उपनिषद् में सृष्टि की शुरुआत 'सत्' से मानी गई है। उसमें तेज (अग्नि), जल आदि की उत्पत्ति तो कही गई है, पर आकाश का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। यदि आकाश की उत्पत्ति होती, तो उपनिषद् में उसका भी नाम आता। अतः यह माना जाता है कि आकाश अज (अनुत्पन्न) है। "सत्यं ज्ञानं अनन्तं ब्रह्म" (तै. उ. 2.1 1) के पश्चात् यह बताया गया है कि ब्रह्म से ही आकाश उत्पन्न हुआ- "तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः।" इससे स्पष्ट है कि आकाश ब्रह्म से उत्पन्न हुआ। आकाश सर्वव्यापक है, अनन्त है। जो वस्तु सर्वत्र है, उसकी उत्पत्ति संभव नहीं है। अतः यहां "उत्पत्ति" का तात्पर्य अभिव्यक्ति से है। यहां सम्भूत शब्द गौण अर्थ में है। जब मुख्यार्थ का बाध होत है तब गौणार्थ स्वीकार करना चाहिये। उदाहरण में देवदत्त बोलत है आटो आजा आटो स्वयं नहि आसक्ति किन्तु चलक की अपेक्षा है। इसलिये मुख्यार्थ बाधक होने से आटो आजा वाक्य का अर्थ आटोवाले आजा गौणार्थ करना चाहिये। इस तरह यह भी आकाशः सम्भूतः आकाश का अभिव्यक्ति है इस वाक्य का अर्थ है। इस विषय में बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है, "वायुश्चान्तरिक्षञ्चौतदामृतम्" -वायु और आकाश अमृत हैं, अर्थात् नाशरहित हैं। यदि आकाश की उत्पत्ति होती, तो वह नश्वर होता। इसलिए यहां भी उत्पत्ति की बात प्रतीकात्मक मानी जाती है। आकाशः सम्भूतः आकाशात् वायुः सम्भूतः। दोनों जगह में प्रयुक्त सम्भूत अलग अलग अर्थ में है। एक जग में अभिव्यक्ति, दूसरे जग में उत्पत्ति अर्थ में है। तब एक आशङ्का उठते हैं। एक ही शब्द एक ही प्रकरण में मुख्य एवं गौण अर्थ में कैसे प्रयोग सम्भव है। जैसे "तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व तपो ब्रह्म" (तै. उ. 3.2) में "ब्रह्म" शब्द पहले ब्रह्मत्व (परमात्मा) के लिए और बाद में तप के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। वैसे ही "सम्भूत" शब्द तैत्तिरीय उपनिषद् में आकाश के लिए गौण अर्थ में तथा अन्य तत्त्वों के लिए मुख्य अर्थ में समझा जा सकता है।

अब सूत्रकार उपरोक्त सभी आपत्तियों का उत्तर दे रहे हैं। प्रतिज्ञाहानिरव्यतिरेकाच्छब्देभ्यः तैत्तिरीय उपनिषद् में प्रतिज्ञा है- "यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै. उ. 3.1)। इसमें 'भूत' अर्थात् पांच महाभूतों की उत्पत्ति की बात कही गई है। आकाश इनमें पहला तत्व है। इसलिए उसकी उत्पत्ति ब्रह्म से मानने में कोई विरोध नहीं है। जैसे मृत्तिका से घट बनता है, वैसे ही ब्रह्म से आकाश प्रकट होता है। समाधान इस विषय में अन्य हेतु देरह हैं यावद्विकारं तु विभागो लोकवत् लोके के उदाहरण अनुसार, जब कुम्हार मिट्टी से घड़ा बनाता है, तो वह एक नया रूप मिट्टी का विकार है,। उसी तरह आकाश भी जब ब्रह्म से प्रकट होता है, तो वह एक प्रकार का विकार माना जाता है। यह उसका अभिव्यक्त रूप है, जो कि सृष्टि प्रक्रिया में दिखाई देता है। अब और एक प्रश्न आता है आकाश का जनक परमात्मा है। वह किस से उत्पन्न है। असम्भवस्तु सतोऽनुपपत्तेः सृष्टि काल से प्राक् विद्यमान परमात्म की उत्पत्ति वेद में नहीं बताये गये। इस कारण से वह शाश्वत और अजा है। इसव्याख्यान से वायु जल एवं अग्नि व्याख्यातप्राय है। कुछ उपनिषदों में पृथ्वी की उत्पत्ति का स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता। जैसे छान्दोग्य उपनिषद् (6.2.4) में केवल "अन्नमसृजत" कहा गया है, न कि "पृथिवीमसृजत"। इस कारण यह संदेह उत्पन्न होता है कि अन्न (अन्न तत्त्व) और पृथ्वी एक ही हैं या पृथ्वी की उत्पत्ति हुई भी या नहीं। सूत्रकार व्यासा कहते हैं-"पृथिव्यधिकरणरूपशब्दान्तरेभ्यः", अर्थात् पृथ्वी की उत्पत्ति के संबंध में अन्य श्रुतियों, प्रसंगों, तथा शब्दों के आधार पर यह स्वीकार किया जा सकता है कि पृथ्वी की उत्पत्ति ब्रह्म से ही हुई है।

1. श्रुति प्रमाणः

तैत्तिरीय उपनिषद् (2.1.1)' में स्पष्ट कहा गया है:

"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः । आकाशाद्वायुः । वायोरग्निः । अग्नेरापः । अद्भ्यः पृथिवी॥"

इसमें पृथ्वी की उत्पत्ति 'अद्भ्यः' (जल से) कही गई है। इस प्रमाण से यह निश्चित होता है कि पृथ्वी की उत्पत्ति हुई है और वह सृष्टिक्रम में अंतिम है।

छान्दोग्य उपनिषद् (6.2.3-4)' में कहा गया है:

"तत्तेजोऽसृजत । तत्तेजोऽसृजत तदाप आ असृजत । ता आप प्रेक्षन्त बहवः स्याम, प्रजायेमहीति। ता अन्नमसृजन्त"

यहाँ “अन्नमसृजन्त” कहा गया है। अन्न से अभिप्राय पृथ्वी है क्योंकि वही जीवन का आधार है।

## 2. 'लक्षण व व्युत्पत्तिः'

- अन्न तत्त्व को पृथ्वी मानने का कारण यह है कि पृथ्वी ही अन्न का स्रोत है।
- “अन्नस्य कृष्णं रूपं” (छान्दोग्य 6.4.1) में अन्न का वर्णन काले रंग में किया गया है, जो पृथ्वी का विशेष गुण माना जाता है।
- “यददश्चन्द्रमसि कृष्णं, पृथिव्याः हृदयं श्रितम्”, मन्त्रब्राह्मण (1.5.33) जिससे पृथ्वी के काले रंग को अन्न के साथ जोड़ा गया है।

## 3. साहचर्य प्रमाणः

- जहाँ तेज और आप (जल) की उत्पत्ति का उल्लेख है, वहाँ अन्न का उल्लेख भी साथ में आया है। इस प्रकार अन्न (पृथ्वी) भी उत्पन्न तत्त्व है।
- तैत्तिरीय उपनिषद् में उत्पत्ति का क्रम स्पष्ट है, जिससे यह भी सिद्ध होता है कि पृथ्वी उत्पन्न हुई है।

अब यह प्रश्न उठता है कि सृष्टि की यह प्रक्रिया कैसे होती है?—उत्तर है तदभिध्यानात् एव तु सः तल्लिङ्गात्। 1. तदभिध्यानात् (उसके ध्यान से ही): का अर्थ है— उस परमात्मा का भूतों की ओर ध्यान देना या उन्हें अपने चित्त में संकल्प करना। परमात्मा जब सोचता है—“**बहु स्याम, प्रजायेय**” (मैं बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न हो जाऊँ), तब सृष्टि आरंभ होती है। लिङ्ग (संकेत) प्रमाण से सिद्धि: उपनिषदों में अनेक स्थानों पर यह इच्छा, संकल्प, ध्यान रूप से सृष्टि के प्रारंभ की चर्चा हुई है: “**स ईक्षत, बहु स्याम, प्रजायेय**” छान्दोग्य उपनिषद् (6.2.3)—(उसने सोचा, मैं बहुत हो जाऊँ, उत्पन्न हो जाऊँ) “**सोऽकर्मयत बहु स्याम प्रजायेयेति...** तैत्तिरीय उपनिषद् (2.6)”— (उसने इच्छा की, मैं बहुत हो जाऊँ...) “**सेयं देवता ऐक्षत**” छान्दोग्य (6.3.2)—(उस देवता ने देखा/संकल्प किया) इन सब प्रमाणों से सिद्ध होता है कि सृष्टि करने के लिए ब्रह्म को न तो कोई बाह्य साधन चाहिए और न ही कोई यंत्रणा। केवल संकल्प (सच्चिदानन्दस्वरूप ज्ञान का प्रयोग) ही सृष्टि का कारण है। अन्तर्यामी ब्रह्म ब्रह्म न केवल सृष्टिकर्ता है, अपितु सभी भूतों के अंदर ‘अन्तर्यामी’ रूप में स्थित भी रहता है।

➤ “योऽप्सु तिष्ठन् अप्सोऽन्तरो यमयति...”

➤ “योऽग्नौ तिष्ठन् अग्नेरन्तरः यमयति...” बृहदारण्यक उपनिषद् (2.7.4-5)

अर्थात्, जो जल, अग्नि आदि में स्थित होकर भी उनसे अलग है और उन्हें नियन्त्रित करता है, वह परमात्मा ही है।

इससे पूर्व के प्रकारण में जगत् की उत्पत्ति के क्रम का वर्णन हुआ था—जैसे कि सबसे पहले आकाश उत्पन्न हुआ, फिर वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि। यह ‘सृष्टि-क्रम’ कहलाता है। अब यह प्रश्न उठता है कि जब यह सृष्टि लय या नाश को प्राप्त होती है, तब वह किस क्रम से लय होती है? ब्रह्ममुनिः जी इस सूत्र की व्याख्या में कहते हैं कि जिस क्रम से उत्पत्ति होती है, उसके ठीक विपरीत क्रम से लय होती है, और यही तर्कसंगत भी है।

उदाहरण के लिए:

जब कोई सीढ़ी चढ़ता है, तो पहले जिस पायदान पर चढ़ा, उसी के विपरीत क्रम से उतरता है। सूत से कपड़ा बनता है, फिर जब कपड़ा नष्ट होता है, तो पहले सूत बिखरते हैं, फिर सूतों के तंतु समाप्त होते हैं। यह बताता है कि निर्माण की दिशा और नाश की दिशा में क्रम उल्टा होता है। जैसे निर्माण ऊपर की ओर होता है, तो लय नीचे की ओर।

सृष्टि के पंचभूतों की लय भी ठीक इसी सिद्धांत पर आधारित है:-

- पृथ्वी जल में लीन होती है।
- जल अग्नि में लीन होता है।
- अग्नि वायु में लीन होती है।
- वायु आकाश में लीन होती है।
- आकाश ब्रह्म में लीन होता है।

यह क्रम उत्पत्ति के विपरीत है। उत्पत्ति में सबसे पहले आकाश था, फिर वायु, फिर अग्नि, फिर जल और अंत में पृथ्वी। अब लय में ये सभी तत्व उसी क्रम के विपरीत क्रम से ब्रह्म में विलीन हो जाते हैं। श्रुति और स्मृति प्रमाण छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है— **तस्यैव मूलं स्यादन्यत्रान्नादेवमेव खलु सोम्यान्नेन शुङ्गेनापो मूलमन्विच्छादिभः सोम्य शुङ्गेन तेजो मूलमन्विच्छ तेजसा सोम्य शुङ्गेन सन्मूलमन्विच्छ सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठाः॥ ६.८.४॥** “सोम्य! पृथ्वी जल में विलीन होती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में और अंततः वह सब मूल ब्रह्म में लीन हो जाता है।”

इसी तरह महाभारत (12.331.29) में भी कहा गया:

जगत्प्रतिष्ठा देवर्षे पृथिव्यप्सु प्रलीयते।

ज्योतिष्यापः प्रलीयन्ते ज्योतिर्वायौ प्रलीयते॥

“पृथ्वी जल में लीन होती है, जल तेज में, तेज वायु में, वायु आकाश में।” इन प्रमाणों से यह स्पष्ट होता है कि लयक्रम विपरीत सृष्टि-क्रम में ही घटित होता है। पिछले सूत्रों में यह बताया गया था कि समस्त सृष्टि परमात्मा से उत्पन्न होती है, और पंचमहाभूतों (आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी) की उत्पत्ति एक विशेष क्रम से होती है। विज्ञान (बुद्धि) और मन की भी उत्पत्ति परमात्मा से क्रमपूर्वक होती है? कुछ उपनिषदों में कहा गया है- “एतस्माज्जायते प्राणो, मनः, सर्वेन्द्रियाणि, खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।” (मुण्डकोपनिषद् 2.1.3) इस श्रुति से ऐसा लगता है कि परमात्मा से सबसे पहले प्राण, फिर मन, फिर इन्द्रियाँ और फिर पंचमहाभूतों की उत्पत्ति होती है। तो क्या मन और बुद्धि की उत्पत्ति भी एक निश्चित क्रम में मानी जाए? उत्तर: नहीं (नाविशेषात्): सूत्रकार कहते हैं कि उपनिषद में यहाँ केवल सामान्य उत्पत्ति का वर्णन है, न कि क्रम का। वहाँ उत्पत्ति का क्रम स्पष्ट नहीं है, केवल यह बताया गया है कि सब कुछ परमात्मा से उत्पन्न हुआ है। इसलिए मन और बुद्धि की उत्पत्ति को पृथक् क्रम से नहीं गिना जाएगा। उपनिषदों में जो विज्ञान (बुद्धि) और मन का उल्लेख है, वह केवल यह बताने के लिए है कि ये भी परमात्मा से उत्पन्न हैं। यह क्रम बताने के लिए नहीं है। सृष्टि के घटक चाहे वे बाह्य हों (जैसे पंचमहाभूत) या अंतःकरण (जैसे मन, बुद्धि)-सभी का आधार भौतिक तत्त्व हैं और सभी को भूतों में ही सम्मिलित किया गया है। इसलिए उनकी उत्पत्ति और लय का क्रम पंचमहाभूतों के साथ ही देखा जाएगा, अलग से नहीं। जैसे जब हम किसी पेड़ की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं, तो उसमें शाखाएँ, पत्ते, फल आदि सब पेड़ से उत्पन्न हुए कहे जाते हैं। पर अलग-अलग अंगों का क्रम से उल्लेख नहीं होता। वैसे ही, परमात्मा से उत्पत्ति की बात करते समय सब अंगों का क्रम देना आवश्यक नहीं है।

### स्मरणीय बिंदु-

- आकाश प्रथम महाभूत है।
- आकाश से वायु उत्पन्न होती है।
- ब्रह्म सृष्टि का मूल कारण है।
- उपनिषदों में सृष्टि क्रम वर्णित है।
- पंचमहाभूत जगत के आधार हैं।

### शब्दावली-

| शब्द      | अर्थ            |
|-----------|-----------------|
| आकाश      | सूक्ष्म तत्व    |
| पंचमहाभूत | पाँच मूल तत्व   |
| सृष्टि    | जगत की उत्पत्ति |
| ब्रह्म    | परम सत्य        |
| वायु      | गतिशील तत्व     |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. आकाश की उत्पत्ति कैसे हुई?
2. पंचमहाभूत क्या हैं?
3. आकाश को प्रथम महाभूत क्यों कहा गया है?
4. वेदान्त में सृष्टि क्रम स्पष्ट कीजिए।
5. ब्रह्म और आकाश का संबंध बताइए।

### 5 अंक के प्रश्न-

1. उपनिषदों के आधार पर आकाश की उत्पत्ति का विवेचन कीजिए।
2. पंचमहाभूत सिद्धान्त का विस्तृत अध्ययन कीजिए।
3. वेदान्तीय सृष्टि क्रम का दार्शनिक विश्लेषण कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-



1. प्रथम महाभूत कौन है?  
(क) पृथ्वी  
(ख) अग्नि  
**( ग ) आकाश**  
(घ) जल
2. आकाश से किसकी उत्पत्ति मानी जाती है?  
(क) पृथ्वी  
(ख) जल  
**( ग ) वायु**  
(घ) अग्नि
3. पंचमहाभूतों की संख्या कितनी है?  
(क) तीन  
(ख) चार  
**( ग ) पाँच**  
(घ) छह
4. वेदान्त में सृष्टि का मूल कारण कौन है?  
(क) जीव  
**( ख ) ब्रह्म**  
(ग) मन  
(घ) प्रकृति
5. आकाश का गुण क्या है?  
(क) गंध  
(ख) स्पर्श  
**( ग ) शब्द**  
(घ) रूप

## इकाई-३.२ जीवात्मा स्वरूप विचार

### उद्देश्य-

1. जीवात्मा के स्वरूप को समझना।
2. आत्मा एवं शरीर का भेद जानना।
3. चेतना की अवधारणा का अध्ययन करना।

इससे पहले के सूत्रों में यह चर्चा हुई कि सभी वस्तुएँ परमात्मा से उत्पन्न होती हैं, जिनमें भूत, मन, इन्द्रियाँ आदि सम्मिलित हैं। अब यह प्रश्न उठता है कि जीव (आत्मा) की उत्पत्ति और लय (नाश) कैसे मानी जाए? कुछ व्यवहार में जीव के “जन्म” और “मरण” का वर्णन आता है। इससे भ्रम उत्पन्न होता है कि क्या जीव की भी सृष्टि और लय होता है? इस शंका का समाधान करते हुए कहते हैं:

- जीव आत्मा वास्तव में नित्य (शाश्वत) है, उसका न उत्पत्ति है, न नाश।
- जो “जन्म” और “मरण” जैसे शब्द प्रयोग किए जाते हैं, वे वास्तव में देह के संबंध में होते हैं।
- ये वर्णन केवल भाक्त (गौण) अर्थ में कहे जाते हैं, न कि यथार्थ रूप में।

इस विषय में शास्त्र प्रमाण है

- कठोपनिषद (1.2.18):
- “अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।” इससे स्पष्ट होता है कि आत्मा अजन्मा, नित्य और शाश्वत है, वह शरीर के मरने पर भी नष्ट नहीं होता।
- छान्दोग्य उपनिषद (6.11.3):
- “यदेकां शाखां जीवो जहाति, सर्वः शुष्यति।” इससे यह स्पष्ट होता है कि शरीर जीव से अलग है। जीव के बिना शरीर मरणशील है, परंतु जीव स्वयं अविनाशी है।
- बृहदारण्यक उपनिषद (4.3.8):
- “स वा अयं पुरुषो जायमानः शरीरमभिसम्पद्यमानः स उत्क्रामन् भ्रियमाणः।”

इससे यह सिद्ध होता है कि “जन्म” और “मरण” शरीर के होते हैं, आत्मा केवल शरीर को प्राप्त करता है या त्यागता है। “जीव जन्म लेता है”, “मरता है”, तो उसका अर्थ आत्मा नहीं, अपितु शरीर में स्थित जीव का व्यवहारिक अनुभव होता है। चूँकि आत्मा शरीर के साथ जुड़ी होती है, इसलिए उसे भी शरीर के गुणों से जोड़कर देखा जाता है। परंतु वह केवल औपचारिक है - यथार्थ नहीं।

सूत्रकार यह प्रतिपादित कर रहे हैं कि जीवात्मा का ज्ञानस्वरूप और उसकी चेतनता उसके नित्यत्व से अनिवार्य रूप से जुड़ी हुई है। चूँकि आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होती, कभी नष्ट नहीं होती, इसलिए उसमें चेतना भी स्वाभाविक रूप से सदा विद्यमान रहती है। यह चेतन आत्मा ही हमारे देखने, सुनने, समझने, विचार करने आदि सभी मानसिक और बौद्धिक क्रियाओं का मूल कारण है। श्रुतियों से प्रमाण:- सूत्रकार अपने मत की पुष्टि हेतु विभिन्न उपनिषदों से श्रुति प्रमाण प्रस्तुत करते हैं।

“अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा” - छान्दोग्य उपनिषद (८।१२।४)

अर्थात् “जो यह जानता है कि ‘मैं सूँघ रहा हूँ’, वही आत्मा है।”

यह वाक्य स्पष्ट करता है कि अनुभव करने वाला, जो ज्ञान रखता है, वही आत्मा है।

“एष हि द्रष्टा श्रोता... विज्ञानात्मा पुरुषः” - प्रश्न उपनिषद (४।९)

“यह (आत्मा) देखने वाला, सुनने वाला, जानने वाला, अनुभव करने वाला, विचार करने वाला, बोध करने वाला, कर्ता और विज्ञानात्मा पुरुष है।”

यह श्रुति आत्मा की पूर्ण चेतनता और उसके सर्वज्ञानात्मक स्वरूप को प्रकट करती है।

“योऽयं विज्ञानमयः प्राणेषु हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः स आत्मा” - बृहदारण्यक उपनिषद (४।३।७)

“जो विज्ञानमय है, जो प्राणों में विद्यमान है, जो हृदय में स्थित आंतरिक प्रकाशरूप पुरुष है, वही आत्मा है।”

इन सब वाक्यों का सार यही है कि आत्मा मात्र अस्तित्व नहीं है, अपितु चेतन और ज्ञानमय अस्तित्व है। योगदर्शन में आत्मा:- सूत्रकार न केवल वेदों से, अपितु अन्य दर्शनों से भी अपने विचार की पुष्टि करते हैं।

“द्रष्टा दृशिमात्रः शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्यः” – योगदर्शन (२।२०)

यहाँ आत्मा को द्रष्टा (देखने वाला), शुद्ध और दृश्यमात्र कहा गया है। अर्थात् आत्मा स्वयं क्रियाशील नहीं होकर भी सबका साक्षी है। वह सभी मानसिक वृत्तियों को जानने वाला चेतन है।  
' आत्मा चेतन है।

**स्मरणीय बिन्दु-**

- शरीर जड़ है।
- जीवात्मा नित्य है।
- आत्मा कर्मल की भोद्रा है।
- आत्मा शरीर से भिन्न है।

**शब्दावली-**

|          |                 |
|----------|-----------------|
| शब्द     | अर्थ            |
| जीवात्मा | व्यक्तिगत आत्मा |
| चेतना    | ज्ञान शक्ति     |
| शरीर     | जड़ पदार्थ      |
| भोक्ता   | अनुभव करने वाला |
| नित्य    | शाश्वत          |

**5 अंके के प्रश्न-**

1. जीवात्मा का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. आत्मा और शरीर में अंतर बताइए।
3. चेतना का अर्थ क्या है?
4. जीवात्मा को नित्य क्यों कहा गया है?
5. आत्मा को भोद्रा क्यों कहा गया है?

**15 अंके के प्रश्न-**

1. जीवात्मा स्वरूप का वेदान्तीय विवेचन कीजिए।
2. आत्मा और शरीर के संबंध का दार्शनिक अध्ययन कीजिए।
3. चेतना के स्वरूप पर विस्तृत निबंध लिखिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. आत्मा का स्वरूप क्या है?

(क) जड़

(ख) चेतन

(ग) नश्वर

(घ) स्थूल

2. शरीर का स्वरूप क्या है?

(क) चेतन

(ख) नित्य

(ग) जड़

(घ) सर्वज्ञ

3. जीवात्मा क्या है?

(क) परमात्मा

**(ख) व्यक्तिगत आत्मा**

(ग) शरीर

(घ) मन

4. आत्मा को क्या कहा गया है?

**(क) भोक्ता**

(ख) जड़

(ग) दृश्य

(घ) अनित्य

5. आत्मा का गुण क्या है?

(क) अज्ञान

**(ख) चेतना**

(ग) जड़ता

(घ) नश्वरता

## इकाई-३.३ जीवात्मा का परिमाण निरूपण, जीवात्म का एकदेशत्व समर्थन

### उद्देश्य-

1. जीवात्मा के परिमाण को समझना।
2. अणुत्व एवं विभुत्व (सि)न्त का अध्ययन करना।
3. वेदान्तीय मत का विश्लेषण करना।

जीवात्मा का परिमाण (आकार) क्या है? क्या वह विभु (सर्वव्यापक) है या अणु (सूक्ष्म)? सूत्र कहता है- “उत्क्रान्तिगत्यागतीनाम्” (ब्रह्मसूत्र 2.3.16) यह सूत्र संकेत करता है कि जीवात्मा में तीन क्रियाएँ पाई जाती हैं:

- उत्क्रान्ति - शरीर से बाहर निकलना
- गति - एक लोक से दूसरे लोक की ओर गमन
- आगति - पुनः जन्म लेकर लौट आना

इन तीनों क्रियाओं की जो विवेचना की गई है, उससे यह तात्पर्य निकलता है कि जीवात्मा अणुपरिमाण (सूक्ष्म आकार) वाला है। क्यों? क्योंकि यदि जीवात्मा विभु होता- अर्थात् सर्वत्रव्याप्त- तो उस में गमन, आगमन या निष्क्रमण जैसी क्रियाएँ हो ही नहीं सकतीं। सर्वव्यापक वस्तु कहीं से ‘बाहर निकलती’, ‘कहीं जाती’ या ‘कहीं से लौटती’ नहीं है, क्योंकि वह पहले से ही हर जगह है। इस कथन के समर्थन में उपनिषदों की कई श्रुतियाँ भी प्रस्तुत की गई हैं।

“स यदा अस्मात् शरीरात् उत्क्रामति सहैवैतैः सर्वैः उत्क्रामति” कौषीतकि उपनिषद् (3.3)

-अर्थात् जब जीवात्मा शरीर से निकलता है, तो वह अपने समस्त इन्द्रियों और सूक्ष्म तत्वों के साथ निकलता है।

“ये वै के च अस्माल्लोकात् प्रयन्ति चन्द्रमसमेव ते सर्वे गच्छन्ति” कौषीतकि उपनिषद् (1.2)

- जो इस लोक से प्रयाण करते हैं, वे चन्द्रलोक की ओर जाते हैं।

“सूर्यद्वारेण ते विरजा प्रयान्ति” मुण्डक उपनिषद् (1.2.11)

- तपस्वी, शांत, विद्वान् ब्रह्मज्ञानी जन सूर्य के द्वार से होकर यात्रा करते हैं।

इन श्रुतियों से स्पष्ट होता है कि जीवात्मा एक स्थान से दूसरे स्थान की ओर गतिशील होती है, जो केवल अणु रूप में संभव है। विभु आत्मा की स्थिति में इन गतियों की कोई संभावना नहीं रहती। इस प्रकार, उपनिषदों और ब्रह्मसूत्र की व्याख्या से निष्कर्ष निकलता है कि जीवात्मा सूक्ष्म, अणु आकार वाली है, जो शरीर से निकल सकती है, गमन कर सकता है और पुनः आगमन कर सकती है। गति और आगति जैसी क्रियाएँ आत्मा स्वयं करती है। यह तभी संभव है जब वह शरीर का एक भाग बनकर कार्य कर सके, अर्थात् उसका एकदेशत्व (सीमित स्थान में विद्यमान होना) और अणुत्व स्वीकार करना पड़ता है।

इस विषय में श्रुति साक्ष्य है-

“चक्षुष्टो वा मूर्ध्नो वा शरीरप्रदेशेभ्यः” (बृहदारण्यक 4.4.2) -आत्मा शरीर के किसी विशेष अंग से निकलती है।

“सप्त तेजोमात्राः... हृदयमेवान्ववक्रामति” (बृहदारण्यक 4.4.1) -आत्मा हृदय से ही गति करती है।

इनसे यह सिद्ध होता है कि आत्मा सीमित और अणु रूप में ही शरीर में स्थित होती है। यह आपत्ति उठाई जाए कि आत्मा अणु नहीं (नाणुरतच्छ्रुतेरिति) है क्योंकि कुछ श्रुतियाँ उसे “महान्” (बृहदाकार) कहती हैं, तो इसका उत्तर है कि (इतराधिकारात्) वे श्रुतियाँ परमात्मा की हैं, न कि जीवात्मा की। उदाहरणः

स वा एष महानज आत्मा...” (बृहदारण्यक 4.4.12) -यह परमात्मा की व्याख्या है।

“नित्यं सर्वगतं सुषुप्तं तदव्ययं...” (मुण्डक 1.1.6) “यह सर्वव्यापक ब्रह्म का निर्देश है।

जीव और परमात्मा के बीच का अंतर समझना जरूरी है। इस सूत्र में स्पष्ट किया गया है कि इन श्रुतियों का अधिकार परमात्मा पर है, न कि जीवात्मा पर। और जीवात्मा को अणु रूप में स्पष्ट रूप से वर्णित किया गया है।

“एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यः” (मुण्डक 3.1.9) - सीधे अणु शब्द का प्रयोग।

“बालाग्रशतभागस्य...” (श्वेताश्वतर 5.9) - आत्मा की तुलना बाल के सौंवे भाग से की गई है, जो अत्यंत सूक्ष्म है।

इस प्रकार, शब्द और अनुमान दोनों से अणुत्व सिद्ध होता है।

### ११.२ जीवात्म का एकदेशत्व समर्थन

यह आपत्ति की जाती है कि यदि आत्मा अणु है, तो वह पूरे शरीर में चेतना कैसे फैलाती है। उत्तर है - “अविरोधश्चन्दनवत्”

जैसे एक स्थान पर स्थित चन्दन का वृक्ष अपनी सुगंध से पूरे क्षेत्र को प्रभावित करता है, वैसे ही अणुरूप आत्मा अपने निकटवर्ती उपकरणों (इन्द्रियाँ, मन, शरीर) को चेतना प्रदान करता है। इस दृष्टान्त से स्पष्ट होता है कि अणु आत्मा भी पूरे शरीर में चेतना का संचार कर सकती है। अतः अणुत्व में कोई विरोध नहीं है। शङ्का चेतन आत्मा, चन्दनवत् (जड़ वस्तु) नहीं हो सकता, इसलिए उसका एकदेशत्व (एक स्थान पर स्थित होना) मान्य नहीं है। क्योंकि आत्मा चेतन है, वह शरीर के किसी एक भाग में सीमित नहीं रह सकता। चन्दन वृक्ष स्थिर और जड़ होता है, पर आत्मा तो चेतन और सक्रिय है, इसलिए चन्दन का दृष्टान्त आत्मा पर लागू नहीं होता। इस शङ्का का समाधान सूत्र देता है - “हृदि हि”, अर्थात् हृदय में ही आत्मा स्थित है, यह वेदवाक्यों द्वारा सिद्ध है।

- “हृदि ह्येष आत्मा” (प्रश्नोपनिषद् 3.6)
- “स वा एष आत्मा हृदि” (छान्दोग्य 8.3.3)
- “कतम आत्मेति... हृद्यन्तर्ज्योतिः पुरुषः” (बृहदारण्यक 4.3.7)

इस प्रकार शास्त्रों में स्पष्ट कहा गया है कि आत्मा हृदय प्रदेश में स्थित है। अतः चेतन होते हुए भी उसका एकदेशत्व मान्य है। आत्मा के ज्ञान, इच्छा, स्मृति जैसे गुण सारे शरीर में कार्य करते हैं। आत्मा तो हृदय में स्थित है, पर उसके गुण शरीर के विभिन्न अंगों को चेतना कैसे प्रदान करते हैं। जैसे दीपक या मणि एक स्थान पर रहकर भी अपने प्रकाश से सम्पूर्ण कक्ष को प्रकाशित करता है, वैसे ही आत्मा हृदय में स्थित रहकर अपने गुणों से पूरे शरीर में चेतना फैलाता है। इसे “लोकवत्” - अर्थात् लोक में सामान्यतः देखे जाने वाले अनुभव के आधार पर समझा जा सकता है। इस प्रकार आत्मा का अणुत्व उसके गुणों की व्यापकता में बाधा नहीं बनता। एक और आपत्ति का समाधान देता है। कुछ लोग कह सकते हैं कि यदि आत्मा अणु है, तो उसके गुण (जैसे चेतना) उससे भिन्न नहीं हो सकते। लेकिन अनुभव बताता है कि गुण अपने आश्रय से व्यतिरेक रखते हैं - वे उससे अलग होकर कार्य करते हैं। जैसे एक पुष्प (द्रव्य) का गंध (गुण) उसके स्थान विशेष में न रहकर दूर-दूर तक फैलता है, वैसे ही आत्मा का चेतनत्व हृदय में स्थित रहते हुए सम्पूर्ण शरीर में फैलता है। अतः आत्मा के गुण, विशेषकर चेतना, आत्मा से व्यतिरेक रखते हुए शरीर के सभी अंगों में कार्य करते हैं। इस विषय में वेद का प्रमाण है “आलोमभ्य आनखाग्रेभ्यः” (छान्दो० ८।८।१) हृदयस्थान से आत्मा लोमान्तनाग्रपयैन्त चौतन्येगुणे से प्रवर्तन करता है। और प्रज्ञया शरीरं समारुह्य इस वेद वाक्य में स्पष्ट प्रमाण मिलता है कि आत्म चौतन्य शक्ति से प्रवृत्ति करता है। जब शास्त्रों में आत्मा को ‘अणु’ अर्थात् बहुत सूक्ष्म बताया जाता है, तो उसका यह अर्थ नहीं है कि आत्मा वास्तव में अणु के समान सीमित आकार वाली है। आत्मा के इस प्रकार के वर्णन का कारण यह है कि उसमें चेतनता (प्रज्ञा या ज्ञान) का गुण प्रधान रूप से होता है। अतः ‘अणु’ शब्द आत्मा अपितु उसकी अनुभूति की स्थिति को दर्शाता है। यह बात वैसे ही है जैसे उपनिषदों में परमात्मा को भी कभी-कभी सीमित रूप में बताया गया है-जैसे “अंगुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति...” (कठोपनिषद् 2.1.12), जिसका अर्थ है कि परमात्मा हृदय में अंगुष्ठ के आकार जितना बताया गया है। लेकिन अन्य स्थानों पर वही परमात्मा कहा गया है कि वह पृथ्वी और आकाश से भी बड़ा है-“एष म आत्मा... ज्यायान् पृथिव्या ज्यायानन्तरिक्षात्...” (छान्दोग्योपनिषद् 3.14.3)। इसका उद्देश्य उपासना को सरल बनाना है, न कि परमात्मा या आत्मा के वास्तविक स्वरूप को सीमित बताना। अतः आत्मा का ‘अणु’ होना उसका वास्तविक स्वरूप नहीं है। यह केवल बुद्धि की उपाधि से ऐसा प्रतीत होता है। जब यह उपाधि (बुद्धि) हट जाती है, तब अणुत्व (सूक्ष्मता) भी समाप्त हो जाती है। इसलिए आत्मा का वास्तविक स्वरूप न अणु है, न विभु, अपितु चेतनस्वरूप है जो उपाधियों से रहित है। इस आक्षेप का उत्तर है- “यावदात्मभावि. त्वाच्च न दोषस्तद्दर्शनात्” बुद्धि आत्मा का गुण है, और यह यावदात्मभावी है, अर्थात् आत्मा से संबद्ध रूप में ही उसकी सत्ता है। जैसे अग्नि का दाह (जलाना) और प्रकाश गुण हैं, वैसे ही आत्मा का ज्ञान स्वरूप गुण उसके साथ सदा संबद्ध है, इसलिए मोक्ष में भी आत्मा के साथ बुद्धि या ज्ञान का संबंध रहता है। अतः यह दोष नहीं है कि गुण आत्मा से पृथक् हैं - वे आत्मा में ही स्थित हैं। इस विषय में वैदिक प्रमाण है-” शृण्वन् श्रोत्रं.....मन्वानो मनः भवति (शत० का० ४। २। १७), सुनने के हेतु श्रोत्र, मनन के हेतु मन हो जाता है इत्यादि। अतः मोक्ष में भी आत्मा के गुण बुद्धि की वर्तमानता से बुद्धि का विमोक्ष नहीं होता, उसके यावदात्मभावी होने से वस्तु का स्वरूप जब तक है तब तक होने से। अतः आत्मा के अणुत्व प्रतिषेध में बुद्धि का अणु धर्म है, यह हेतु प्रदर्शन हेत्वाभास ही है। बुद्धि या प्रज्ञा आत्मा में सदा विद्यमान रहती है - चाहे वह अभिव्यक्त हो या न हो। जैसे पुरुष में यौन-शक्ति (पुंस्त्व) किशोरावस्था तक अप्रकट रहती है लेकिन वह शक्ति पहले से विद्यमान होती है, वैसे ही आत्मा की प्रज्ञा सुषुप्ति (गहरी नींद), प्रलय आदि में भी सूक्ष्म रूप में रहती है। जब अवसर आता है (जैसे जाग्रत अवस्था), तब वह प्रकट होती है। इससे सिद्ध होता है कि बुद्धि आत्मा से अलग नहीं, अपितु उसका ही गुण है और सदा आत्मा में विद्यमान है। अगर आत्मा विभु (सर्वव्यापी) मानी जाए, तो यह शंका उत्पन्न होती है कि फिर वह हर समय, हर स्थान में सब कुछ क्यों नहीं जानती? उत्तर

में यह कहा गया कि ज्ञान की प्राप्ति केवल विभुता पर निर्भर नहीं होती, अपितु उपाधियों (बुद्धि, चित्त आदि) पर भी निर्भर है। आत्मा का संबंध चित्त से न होने पर, वह ज्ञान व्यक्त नहीं करता -जैसे एक बल्ब है, पर यदि स्विच बंद हो, तो प्रकाश नहीं होगा। यह अनुपलब्धि आत्मा की अनुपस्थिति नहीं, अपितु उपकरण की अनुपलब्धि के कारण है।

#### स्मरणीय बिन्दु-

- आत्मा सूक्ष्म है।
- जीवात्मा चेतन तत्त्व है।
- विभुत्व परमात्मा का गुण है।
- आत्मा शरीर से भिन्न है।
- आत्मा नित्य सत्ता है।

#### शब्दावली-

| शब्द    | अर्थ         |
|---------|--------------|
| परिमाण  | आकार         |
| अणुत्व  | सूक्ष्मता    |
| विभुत्व | सर्वव्यापकता |
| आत्मा   | चेतन सत्ता   |
| नित्य   | शाश्वत       |

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. जीवात्मा के परिमाण का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. अणुत्व क्या है?
3. विभुत्व किसका गुण है?
4. आत्मा को सूक्ष्म क्यों कहा गया है?
5. आत्मा और परमात्मा में अंतर बताइए।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. जीवात्मा के परिमाण पर विभिन्न दार्शनिक मतों का विवेचन कीजिए।
2. अणुत्व एवं विभुत्व सिद्धान्त का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. वेदान्तीय दृष्टि से आत्मा के स्वरूप का अध्ययन कीजिए।

#### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. विभुत्व किसका गुण है?

(क) जीवात्मा

(ख) शरीर

(ग) परमात्मा

(घ) मन

2. जीवात्मा का स्वरूप क्या है?

(क) स्थूल

(ख) सूक्ष्म

(ग) जड़

(घ) नश्वर

3. अणुत्व का अर्थ क्या है?

(क) विशालता

(ख) सूक्ष्मता



(ग) नश्वरता

(घ) चेतना

4. आत्मा किस प्रकार की सत्ता है?

(क) जड़

**(ख) चेतन**

(ग) नश्वर

(घ) स्थूल

5. आत्मा क्या है?

(क) शरीर

(ख) मन

**(ग) चेतन तत्व**

(घ) इन्द्रिय

## इकाई-३.४ जीवात्म का कर्तृत्व विचार, जीवात्मा परमात्म का अंश है

### उद्देश्य-

1. जीवात्मा के कर्तृत्व को समझना।
2. जीव और परमात्मा के संबंध का अध्ययन करना।
3. वेदान्तीय अंश-अंशी सिद्धान्त को जानना।

ब्रह्मसूत्र में यह सिद्ध किया गया है कि आत्मा ही कर्ता है, न कि शरीर या बुद्धि। विभिन्न शास्त्रीय प्रमाणों, उपनिषद् वाक्यों, और तर्कों के माध्यम से इस बात प्रमाणित की गई है। यदि आत्मा कर्ता न हो, तो वेदों में दी गई आज्ञाएं जैसे- “सत्यं वद”, “धर्मं चर”, “अहिंसा परमो धर्मः” इत्यादि व्यर्थ हो जाएंगी। ये सब आज्ञाएं केवल आत्मा को संबोधित हैं क्योंकि वही चेतन और उत्तरदायी तत्व है। अतः आत्मा कर्ता है। और बृहदारण्यक उपनिषद् कहता है कि आत्मा प्राणों को लेकर शरीर में जैसा चाहे वैसे विहरण करता है - “यथाकामं परिवर्तते”। यह स्वतंत्र विहरण केवल कर्ता को ही शोभा देता है, जिससे सिद्ध होता है कि आत्मा कर्ता है। शास्त्रों में आता है कि आत्मा विज्ञान और शुक्र (जीवबीज) को ‘लेता’ है। “विज्ञानमादाय”, “शुक्रमादाय” - यह ‘लेना’ क्रिया केवल कर्ता के लिए सम्भव है, जिससे स्पष्ट है कि आत्मा ही कर्ता है। “विज्ञानं यज्ञं तनुते”- यहाँ विज्ञानरूप आत्मा ही यज्ञ को विस्तार देता है। यदि आत्मा कर्ता न हो, तो ‘विज्ञान’ के स्थान पर ‘विज्ञानेन’ होना चाहिए था। यह व्याकरणिक संकेत भी आत्मा को कर्ता सिद्ध करता है। जैसे आत्मा कभी सुख का अनुभव करती है, कभी दुःख का - वैसे ही वह कभी पुण्यकर्म करती है, कभी पापकर्म। इससे यह सिद्ध होता है कि जैसे वह भोक्ता है, वैसे ही वह कर्ता भी है। अनियमितता उसके कर्तापन को नकारती नहीं। कुछ लोग बुद्धि को कर्ता मानते हैं तो अगर बुद्धि को कर्ता मानें और आत्मा को नहीं, तो यह शक्ति का उल्टा प्रयोग होगा। बुद्धि आत्मा की एक उपकरण (करण) है, यदि वही कर्ता मान ली जाए तो आत्मा की भूमिका नष्ट हो जाएगी, जो अनुचित है। और जब समाधि (चित्त का निरोध) होता है, तब बुद्धि निष्क्रिय हो जाती है। तब भी अनुभव रहता है। यदि बुद्धि कर्ता होती, तो समाधि संभव न होती। इसलिए आत्मा ही कर्ता है, क्योंकि वही समाधि में सक्रिय रहती है। जब समाधि में सभी वृत्तियों का निरोध हो जाता है, तब आत्मा न किसी कार्य में संलग्न होती है, न किसी प्रकार की क्रिया करती है। तो फिर यह कैसे कहा जा सकता है कि आत्मा कर्ता है? यदि आत्मा कुछ कर ही नहीं रहा, तो उसका कर्तापन कैसे सिद्ध होगा? उत्तर - यथा च तत्क्षोभयथा सूत्र में उदाहरण दिया गया है -जैसे एक तक्षा (बढ़ई) लकड़ी आदि के उपकरणों से कार्य करते समय ‘कर्ता’ के रूप में स्पष्ट रूप में दिखता है, परंतु जब वह कार्य नहीं कर रहा होता, तब भी वह कर्ता है क्योंकि उसमें वह शक्ति और सामर्थ्य बनी रहती है। ऐसे ही आत्मा भी समाधि की स्थिति में प्रत्यक्ष रूप से कोई कार्य नहीं करता, लेकिन उसमें कर्तृत्वशक्ति (कर्म करने की शक्ति) बनी रहती है। जीवात्मा का कर्तृत्व परमात्मा से प्राप्त होता है। अर्थात्, जीव जो भी कर्म करता है, उसमें प्रेरणा परमात्मा से होती है। इस विचार का प्रमाण वेद से दिया गया है “एष ह्येव साधु कर्म कारयति... एष ह्येवासाधु कर्म कारयति” (कौषीतकि उपनिषद् ३।८) परमात्मा ही जीव से शुभ और अशुभ कर्म करवाता है। इसका निष्कर्ष यह है कि जीवात्मा कर्मों में स्वतन्त्र कर्ता नहीं है, अपितु परमात्मा की प्रेरणा से ही वह कर्म करता है। यद्यपि परमात्मा प्रेरक है, फिर भी वह कृत्रिम रूप से (स्वेच्छया) नहीं प्रेरित करता, अपितु जीव के पूर्वकर्म के आधार पर प्रेरित करता है। यदि परमात्मा बिना किसी पूर्वकर्म के प्रेरणा देता, तो वेदों में बताए गए कर्म (विहित) और निषिद्ध कर्मों (प्रतिषिद्ध) का कोई अर्थ नहीं रह जाता। शास्त्रों की आज्ञाएँ जैसे “सत्यं वद”, “त्यक्तेन भुज्जीथाः”, “मा गृधः” -सब व्यर्थ हो जातीं। फिर जीवन में पुण्य-पाप, भोग-विपाक, शरीरों की विविधता आदि का कोई कारण न होता। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि परमात्मा प्रेरणा देता है, पर वह जीव के पूर्वकृत कर्मों के अनुसार प्रेरित करता है, न कि स्वेच्छया। इसलिए, जीवात्मा वस्तुतः कर्ता है, और परमात्मा केवल प्रेरक है -वह भी कृतप्रयत्नापेक्ष।

### १२.१ जीवात्मा परमात्म का अंश है

परमात्मा जीव को कर्मानुसार प्रेरण देता है। ऐसा निरूपण कर दिया अब आशङ्का आती है किस सम्बन्ध से प्रेरणा देता है -अंशो नानाव्यपदेशादन्यथा चापि दाशकितवादि-त्वमधीयत एके। जीव परमात्मा का अंश है, और यह संबंध अंग-अंगी के समान है। जैसे शरीर अपने अंगों को प्रेरित करता है, वैसे ही परमात्मा जीवात्मा को प्रेरित करता है। यह प्रेरणीयता तत्त्वतः संबंध के कारण संभव होती है। “य आत्मनि तिष्ठन्... यस्य आत्मा शरीरम्” -बृहदारण्यक उपनिषद् (३।७।२२) जिससे यह स्पष्ट होता है कि परमात्मा जीवात्मा के भीतर स्थित होकर उसे संचालित करता है। यह “अंश इव अंशः”, अर्थात् यह अंशता प्रतीकात्मक है। चूँकि परमात्मा निरवयव, अखण्ड और अमूर्त है, अतः उसमें कोई खण्ड या भाग नहीं हो सकता। इसलिए यह अंशत्व समीपता, उपस्थिति

या सत्ता के एकदेशवृत्तित्व के रूप में स्वीकार्य है, न कि शारीरिक खण्ड या विभाजन के रूप में। यदि कहा जाए कि दोनों – जीव और ब्रह्म – चेतनस्वरूप हैं, तो यह शंका उत्पन्न हो सकती है कि दोनों एक ही सत्ता क्यों न माने जाएँ? उत्तर यह है कि वेदों में दोनों के भेद का स्पष्ट वर्णन है। जैसे **“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया...”** (ऋग्वेद १।१६४।२०) यहाँ दो पक्षियों के रूप में जीव और ब्रह्म का पृथक-पृथक स्वरूप बताया गया है – एक फल (कर्मफल) खाता है (जीव), दूसरा केवल देखता है (ब्रह्म)। इसी भिन्नता को स्वीकार करते हुए उपनिषद् में कहा गया है **“सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः”** (छान्दोग्य ८।७।१), **“रसो वै सः..”** (तैत्तिरीय उपनिषद् २।७) ये श्रुतियाँ बताती हैं कि परमात्मा का स्वरूप, अनुभव और सत्ता, जीवात्मा से भिन्न है – अतः दोनों में पूर्ण एकत्व नहीं है। यदि जीवात्मा को ब्रह्म का ही पूर्ण रूप माना जाए, तो ब्रह्म में भी जीव के दोष – जैसे दासत्व, कितवत्व (धोखेबाजी), स्त्री-पुंसत्व आदि – आरोपित हो सकते हैं। **“ब्रह्म दाशा, ब्रह्म दासा, ब्रह्मेमे कितवा उत...”** पैप्पलाद संहिता (८।९।१०) यदि ब्रह्म और जीव पूर्णतः एक हों, तो ये सभी दोष ब्रह्म में लग सकते हैं। यह वेदान्त के निर्दोष, निरवयव, नित्य, शुद्ध ब्रह्म के सिद्धांत के प्रतिकूल है। इसलिए यह सिद्ध होता है कि जीव ब्रह्म अंश मात्र है। इस अंशत्व का आधार केवल तात्त्विक विवेचना नहीं है, अपितु वेदों में वर्णित मन्त्रवाक्य भी इसका स्पष्ट प्रमाण प्रदान करते हैं। **“पादोऽस्य विश्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि”** अर्थात् – परमात्मा (पुरुष) का एक पाद (चौथाई भाग) ही समस्त चराचर भूत हैं और शेष तीन पाद अमृत (अविनाशी) रूप में दिव्य लोक में स्थित हैं। इस मंत्र में “पाद” शब्द भाग या अंश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। यहाँ पर यह कहा गया है कि समस्त सृष्टि जिसमें सभी जीवात्माएँ सम्मिलित हैं, वह परमात्मा के केवल एक भाग में स्थित हैं। इससे यह स्पष्ट होता है कि जीवात्माएँ परमात्मा के अंश हैं। आदि शंकराचार्य ने भी इस वेदमंत्र का उपयोग जीवात्मा के अंशत्व की पुष्टि के लिए किया है। हालांकि उन्होंने यह भी स्पष्ट किया है कि यह अंशता मुख्य या वास्तविक खण्डरूप में नहीं है, क्योंकि परमात्मा निरवयव और अखण्ड है। अतः इस अंशता को समझना होगा –

- **“अंश इव अंशः”** – प्रतीकात्मक रूप में,

- **“एकदेशि-वृत्ति”** – अर्थात् परमात्मा के सर्वव्यापक स्वरूप में जीव की सत्ता एक विशेष उपस्थिति या कार्यवृत्ति मात्र है।

शंकराचार्य यह भी बताते हैं कि स्थावर जीव (जैसे वृक्ष, पर्वत आदि) भी परमात्मा के अंश रूप में वर्णित हैं, परंतु इसका यह अर्थ नहीं कि वे परमात्मा के खण्ड हैं, क्योंकि परमात्मा खण्डों में विभक्त नहीं हो सकता।

परमात्मा से अंशरूप संबंध को प्रमाणित करने हेतु उपनिषदों में वर्णित स्मृति का सहारा लिया गया है। शास्त्र प्रमाणों में श्रुति (वेदवाणी) सर्वोपरि मानी जाती है, परंतु जब कोई तत्त्व श्रुति, स्मृति दोनों से समर्थित हो, तो उसकी सिद्धता और दृढ़ हो जाती है।

**“तदेतदृचाभ्युक्तम्- तावानस्य महिमा ततो ज्यायांश्च पूरुषः ।**

**पादोऽस्य सर्वा भूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि”** (छान्दोग्योपनिषद् ३।१२।६)

**भावार्थः**– इस ऋचा के अनुसार यह सम्पूर्ण सृष्टि केवल परम पुरुष (ब्रह्म) की महिमा का एक अंश है।

वह परम पुरुष इससे कहीं अधिक महान है। उसके केवल एक पाद (चतुर्थांश) से यह सारा संसार उत्पन्न हुआ है, जबकि उसके तीन पाद अमृत रूप में दिव्य लोकों में स्थित हैं। इस मंत्र से यह प्रतिपादित होता है कि समस्त चराचर भूत, जिनमें जीवात्माएँ भी सम्मिलित हैं, परमात्मा के केवल एक अंश (पाद) से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार जीवात्मा पूर्ण ब्रह्म का एक आंशिक प्रतीक है। यह अंशता संख्यात्मक विभाजन नहीं है, अपितु तत्त्वतः एकदेशवृत्तित्व या प्रभाव का सीमित प्रकटन है। यदि यह कहा जाए कि जीवात्मा क्लेशयुक्त है और वह परमात्मा का अंश है, तो फिर यह तर्क उत्पन्न होता है कि **“अंगविकारेण अङ्गी अपि विकारवान् भवति”**, अर्थात् यदि कोई अंग (भाग) दूषित हो जाए, तो मुख्य शरीर (अङ्गी) भी दूषित होता है। इस सिद्धान्त से तो परमात्मा को भी दुःख, बन्धन, अज्ञान आदि से युक्त मानना पड़ेगा, जो कि शास्त्रविरुद्ध और तात्त्विक रूप से अनुचित है। सूत्र का उत्तर है **“प्रकाशादिवन्नैवं परः”**, अर्थात् – परमात्मा (परः) जीवात्मा की भाँति क्लेशयुक्त नहीं है। वह उसकी पीड़ा या दोषों से प्रभावित नहीं होता। प्रमाणस्वरूप दृष्टान्त दिया गया है, जैसे प्रकाश, या आकाश, या अग्नि, जल, पृथ्वी, इनका कोई एक अंश मलिन या दूषित हो जाए, तो भी संपूर्ण वस्तु दूषित नहीं होती। प्रकाश यदि किसी एक कोने में धूल के कारण अस्पष्ट हो जाए, तो संपूर्ण प्रकाश मलिन नहीं कहा जाता। आकाश एक स्थान पर धुआँग्रस्त हो सकता है, पर आकाश स्वयं मलिन नहीं होता। इसी प्रकार, परमात्मा अमूर्त (निराकार), अखण्ड और निर्विकार है। अतः उसका कोई अंश क्लेशयुक्त हो जाए (जैसे जीवात्मा), तो भी वह स्वयं क्लेशयुक्त नहीं होता। स्मृति और श्रुति के आधार पर यह प्रमाणित की जा रही है कि परमात्मा सुख-दुःखादि के सम्पर्क से सर्वथा रहित है।

१. स्मृति से प्रमाणः–सूत्रकार पहले व्यास स्मृति से एक श्लोक प्रस्तुत करते हैं:

“तत्र यः परमात्मा हि स नित्यो निर्गुणः स्मृतः।

न लिप्यते फलैश्चापि पद्मपत्रमिवाम्भसा॥

कर्मात्मा त्वपरो योऽसौ मोक्षवन्धैः स युज्यते।

स सप्तदशकेनापि राशिना युज्यते पुनः॥”

भावार्थः परमात्मा नित्य, निर्गुण, और फलरूप कर्मों से अतीत है। जैसे जल से कमलपत्र नहीं भीगता, वैसे ही परमात्मा किसी भी कर्मफल में लिप्त नहीं होता। इसके विपरीत, जो कर्मात्मा है (अर्थात् जीवात्मा), वह मोक्ष और बन्धन, सुख-दुःख, पुनर्जन्म आदि से युक्त होता है। यह स्मृति वचन यह स्पष्ट करता है कि परमात्मा और जीवात्मा के स्वरूप में मौलिक भेद है। जहाँ परमात्मा निर्विकार है, वहीं जीव कर्मवश बन्धन में फंसा रहता है।

2. योगशास्त्र से समर्थनः सूत्र में पतञ्जलि योगदर्शन (१।२४) का भी उद्धरण दिया गया है:

“क्लेश-कर्म-विपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः”

अर्थ- ईश्वर (परमात्मा) वह विशिष्ट पुरुष है, जो: क्लेश (दुःखों), कर्म (संचित और वर्तमान), विपाक (कर्मों के फल), तथा आशय (प्रवृत्तियों/वासनाओं) से सर्वथा अप्रभावित है। यहाँ “परामृष्ट” न होने का तात्पर्य है कि ये सभी गुण परमात्मा को स्पर्श तक नहीं कर सकते। इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा पूर्णतः असङ्ग, निर्विकार और शुद्ध है।

3. श्रुति से समर्थन सूत्र में की “द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया... तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्वनशनन्यो अभिचाकशीति” ऋग्वेद (१।१६४।२०) यह मंत्र दो पक्षियों का उपमान देता है- जो एक ही वृक्ष (शरीर) पर बैठे हैं। एक पक्षी (जीवात्मा) फल खाता है -अर्थात् कर्मफल भोगता है। दूसरा पक्षी (परमात्मा) साक्षी मात्र है, जो देखता है लेकिन भोगता नहीं है। इससे यह सिद्ध होता है कि परमात्मा साक्षीभाव से स्थित रहकर भी कर्म और उसके फल में लिप्त नहीं होता। यदि जीव परमात्मा का अंश है और परमात्मा नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, निराकार है, तो यह शंका उत्पन्न होती है कि फिर जीव पर शास्त्रों द्वारा निर्धारित आज्ञा (विधि) और वर्जना (निषेध) क्यों लागू होती हैं? जैसे- सत्य बोलना, हिंसा न करना, पवित्र आचरण करना आदि। उत्तर “अनुज्ञापरिहारौ देहसम्बन्धात्” में दिया गया है -जीव पर विधिनिषेध इसलिए लागू होते हैं क्योंकि वह देह से संबद्ध होता है। शास्त्रों में जो नियम और वर्जन दिए गए हैं, वे उसी आत्मा पर लागू होते हैं जो शरीर धारण करता है। परमात्मा स्वयं तो अजन्मा और शरीर रहित है, लेकिन उसका अंशरूप जीव जब शरीर धारण करता है, तो वह संसार में कर्म, पुण्य-पाप और भोग का विषय बनता है। इस कारण शास्त्रों के विधिनिषेधात्मक आदेश -जैसे सत्य बोलो, अहिंसा करो, लोभ मत करो, दान दो- केवल उसी जीव पर लागू होते हैं जो देहधारी होता है। शरीर के बिना न तो कर्म संभव है, न ही धर्म-अधर्म का भेद। “ज्योतिरादिवत्”, अर्थात् जैसे अग्नि, जल आदि तत्त्व स्थान विशेष के आधार पर ग्राह्य या परिहार्य होते हैं, वैसे ही देह के कारण जीव पर नियम लागू होते हैं। अग्नि यदि यज्ञ में हो तो पवित्र मानी जाती है, अतः ग्राह्य है। लेकिन वही अग्नि अगर श्मशान में हो, तो उसे त्याज्य कहा जाता है। जल प्रवाहित नदी से ग्रहणीय होता है, लेकिन गंदे तालाब या ठहरे हुए जल से त्याज्य होता है। इसी प्रकार, आत्मा का देह के साथ संबंध होने पर ही वह विधि निषेध का अधिकारी बनता है। यदि आत्मा देह से रहित हो, तो वह परमात्मा के समान निर्दोष और कर्मविमुक्त मानी जाएगी। शास्त्रों द्वारा बताए गए विधि-निषेधों का उद्देश्य देहधारी जीव को धर्ममय जीवन की ओर प्रेरित करना है ताकि वह मोक्ष की प्राप्ति कर सके। अतः यह व्यवस्था केवल व्यवहारिक और शास्त्रीय दृष्टि से है, आत्मा के शुद्ध मूल स्वरूप के कारण नहीं। यदि कर्म का आधार केवल देह संबंध है, और देह तो सबको समान रूप से प्राप्त है, तो क्या यह संभव नहीं कि एक जीव का कर्मफल किसी अन्य देहधारी जीव को प्राप्त हो जाए? उत्तर- “असन्ततेः च अव्यतिकरः” नहीं। क्योंकि सभी जीवात्माएँ परस्पर पृथक्-पृथक् हैं। वे न तो एक ही शरीर में रहते हैं और न ही एक ही चेतना में मिल जाते हैं।

इसलिए, “तस्मात् एकस्य देहिनः कर्मफलम् अन्यः न भोक्तुं अर्हति।” वेदान्त के अनुसार आत्मा सर्वव्यापक नहीं, अपितु अणुरूप और एक-शरीरवर्ती है। हर जीव का स्वतंत्र कर्मसंस्कार होता है। वे अपने-अपने धर्म, अधर्म, कर्म और भोग से जुड़े होते हैं। अतः, एक का किया हुआ कर्म केवल उसी के द्वारा भोगा जा सकता है, न कि किसी अन्य के द्वारा। यदि कर्म और फल का संकर (व्यतिकर) हो जाए, तो शास्त्रीय नैतिकता और कर्मफल-सिद्धान्त की नींव ही हिल जाएगी। इस सूत्र द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि जगत् व्यवस्था न्यायसंगत है, जहाँ हर आत्मा को अपने कर्म का फल स्वयं भोगना होता है। आत्म अणु होने के कारण से अन्य व्यक्ति का कर्म अन्य को नहीं मिलती है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- जीव कर्म करता है।
- परमात्मा सर्वाधार है।
- जीव परमात्मा का अंश है।
- कर्मफल का भोक्ता जीव है।
- परमात्मा सर्वव्यापक है।

### शब्दावली-

| शब्द       | अर्थ                   |
|------------|------------------------|
| कर्तृत्व   | कार्य करने की क्षमता छ |
| अंश        | भाग                    |
| अंशी       | मूल स्वरूप             |
| कर्मफल     | कर्म का परिणाम         |
| सर्वव्यापक | सब में स्थित           |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. जीवात्मा के कर्तृत्व का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. जीव को परमात्मा का अंश क्यों कहा गया है?
3. अंश-अंशी सिद्धान्त क्या है?
4. कर्मफल का भोक्ता कौन है?
5. परमात्मा की सर्वव्यापकता स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. जीवात्मा के कर्तृत्व का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. जीव एवं परमात्मा के संबंध का वेदान्तीय अध्ययन कीजिए।
3. अंश-अंशी सिद्धान्त का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. कर्मफल का भोक्ता कौन है?

(क) परमात्मा

(ख) जीव

(ग) शरीर

(घ) प्रकृति

2. जीव किसका अंश है?

(क) प्रकृति

(ख) शरीर

(ग) परमात्मा

(घ) मन

3. परमात्मा का स्वरूप क्या है?

(क) सीमित

(ख) सर्वव्यापक

(ग) जड़

(घ) नश्वर

4. कर्तृत्व का अर्थ क्या है?

(क) ज्ञान

(ख) कार्य करने की क्षमता

(ग) अनुभव

(घ) नश्वरता

5. जीव क्या है?

(क) जड़ पदार्थ

(ख) चेतन सत्ता

(ग) स्थूल शरीर

(घ) इन्द्रिय

## खण्ड-४ सिद्धिन्तावबोध-४

### इकाई-४.१ इन्द्रिय (प्राण स्वरूप) विचार

उद्देश्य-

1. इन्द्रियों के स्वरूप को समझना।
2. ज्ञान प्राप्ति में इन्द्रियों की भूमिका का अध्ययन करना।
3. बाह्य एवं आन्तरिक इन्द्रियों का विवेचन करना।

इस पाठ में हम प्राणों (इन्द्रियों) की उत्पत्ति, उनकी संख्या और उनके स्वरूप पर वेदों, उपनिषदों और ब्रह्ममुनि के भाष्य के आधार पर चर्चा करेंगे। ब्रह्मसूत्र 2.4.1 से प्रारंभ होनेवाले इस भाग का उद्देश्य यह सिद्ध करना है कि इन्द्रियों की भी उत्पत्ति है, जैसे आकाश, वायु, अग्नि आदि तत्त्वों की होती है। वेदान्तदर्शन में “प्राण” शब्द का प्रयोग केवल श्वास-वायु के लिए नहीं, अपितु समस्त इन्द्रियों के समुच्चय के रूप में भी किया जाता है। उपनिषदों में अनेक स्थानों पर इन्द्रियों को प्राण कहा गया है। ब्रह्मसूत्र के इस अंश में इसी विषय पर प्रकाश डाला गया है कि इन्द्रियों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई और उनका स्वरूप कैसा है। यहाँ ‘प्राण’ शब्द का प्रयोग इन्द्रियों के लिए हुआ है। छान्दोग्य उपनिषद् (५।१।६.७) में वर्णित एक प्रसिद्ध कथा के अनुसार, सभी प्राणों (इन्द्रियों) में श्रेष्ठता को लेकर विवाद होता है। सब यह कहने लगते हैं- “मैं श्रेष्ठ हूँ, मैं श्रेष्ठ हूँ”। इस विषय में समाधान हेतु वे प्रजापति के पास जाते हैं। इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि ‘प्राण’ से तात्पर्य यहाँ वाणी, चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कर्ण), मन आदि इन्द्रियों से है। उसी कथा में श्रेष्ठता की परीक्षा के लिए यह प्रयोग किया जाता है कि यदि कोई एक प्राण (इन्द्रिय) शरीर से निकल जाए तो क्या स्थिति होती है?

- “सा ह वागुच्चक्राम” - वाणी निकल गई।
- “चक्षुर्दोच्चक्राम” - नेत्र चला गया।
- “श्रोत्रं होच्चक्राम” - श्रोत्र (श्रवण शक्ति) निकल गई।

जब-जब कोई इन्द्रिय शरीर से निकलती है, तो संबंधित कार्य का अभाव हो जाता है, किंतु जीवितता बनी रहती है। यह परीक्षण यह दर्शाने के लिए किया गया कि शरीर में कौन-सी शक्ति अनिवार्य है और कौन श्रेष्ठ है। मैं कहा “य एष विज्ञानमयः पुरुषः.. बृहदारण्यक उपनिषद् (२।१।१७) तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादाय...” जो विज्ञानमय पुरुष (चेतन आत्मा) है, वह ही प्राणों के द्वारा ज्ञान की क्रिया करता है। ये प्राण (इन्द्रियाँ) सभी अनुभवों को, जैसे गंध, शब्द, रूप, स्पर्श आदि को विज्ञान रूप आत्मा तक पहुँचाते हैं। अतः प्राण स्वयं चेतन नहीं, अपितु चेतना के वाहक हैं।

सूत्र में ‘तथा’ शब्द का प्रयोग हुआ है, जिसका उद्देश्य उपमा देना है। यह उपमा उत्पत्ति क्रम के संदर्भ में दी गई है। जैसे आकाश, वायु, अग्नि आदि की उत्पत्ति का क्रम वेदों में वर्णित है, उसी प्रकार प्राणों (इन्द्रियों) की भी उत्पत्ति हुई है। पूर्ववर्ती पाद में जहाँ उत्पत्ति की चर्चा थी, उसी से सम्बन्ध जोड़ते हुए इस पाद की आरम्भिक व्याख्या की जाती है। यहाँ भी प्राणों की उत्पत्ति की प्रक्रिया को क्रमबद्ध रूप में समझाया गया है। इस प्रकार ‘तथा’ शब्द यह स्पष्ट करता है कि प्राण भी अन्य तत्त्वों (जैसे आकाश, वायु आदि) की भाँति उत्पत्तियुक्त हैं - वे स्वयंसिद्ध, अनादि, या स्वतःस्फूर्त नहीं हैं। वे ब्रह्म की सृष्टिशक्ति से ही उत्पन्न हुए हैं। इसमें प्रश्न उठता है कि प्राणों (इन्द्रियों) की उत्पत्ति हुई है या नहीं? कुछ विद्वानों का मत है कि वेदों में जहाँ उत्पत्ति का वर्णन हुआ है, वहाँ प्राणों का उल्लेख नहीं होने के कारण उनकी उत्पत्ति गौण (लाक्षणिक) है, मुख्य (मुख्यार्थ) नहीं। परन्तु इस सूत्र- “गौण्यसम्भवात्” - में यह स्पष्ट किया गया है कि प्राणों-इन्द्रियों की उत्पत्ति गौण नहीं, अपितु मुख्य रूप से सिद्ध है। ‘गौणी’ का अर्थ होता है ‘लाक्षणिक’ या ‘अप्रत्यक्ष’। आपत्ति यह उठाई जाती है कि तैत्तिरीय उपनिषद् (२।१) के अनुसार जहाँ आकाश, वायु, अग्नि, जल, पृथ्वी आदि की उत्पत्ति का क्रम बताया गया है, वहाँ प्राणों या इन्द्रियों की उत्पत्ति का कोई स्पष्ट उल्लेख नहीं है। अतः कुछ लोग मानते हैं कि यदि कहीं इनकी उत्पत्ति कही भी गई है, तो वह गौण रूप से कही गई है।

तैत्तिरीय श्रुति कहती है:

- “तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः...अन्नात् पुरुषः” - अर्थात् अन्न से पुरुष (शरीर) की उत्पत्ति हुई।

यहाँ पर आकाश से लेकर पुरुष तक का उत्पत्तिक्रम तो दिखाया गया है, लेकिन प्राणों (इन्द्रियों) का उल्लेख नहीं मिलने से यह कहा जाता है कि उनकी उत्पत्ति गौण है। ब्रह्मसूत्रकार इस विचार का खण्डन करते हुए कहते हैं- “गौण्यसम्भवात्” - अर्थात् गौण



गी उत्पत्ति मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि वह तर्कसंगत नहीं है।

यदि यह स्वीकार कर लिया जाए कि प्राणों की उत्पत्ति गौण है, तो उस पूरे उत्पत्ति-क्रम का ही अर्थ दुर्बल हो जाएगा। कारण यह है कि: उसी श्रुति में “पुरुष” की उत्पत्ति कही गई है। “पुरुष” का अर्थ केवल शरीर न होकर इन्द्रियों सहित जीवित देह है। “चेष्टेन्द्रियार्थाश्रयः शरीरम्” न्याय सूत्र (१।१।११) अर्थात् शरीर वह है जो इन्द्रियों और उनके कार्यों का आश्रय है। अतः जब “अन्नात् पुरुषः” कहा जाता है, तो उसका अर्थ इन्द्रियों सहित शरीर की उत्पत्ति होता है। और जब शरीर की उत्पत्ति कही गई है, तो उस शरीर के आवश्यक अंग- प्राण और इन्द्रियाँ - भी साथ ही उत्पन्न मानी जाएंगी। प्राणों (इन्द्रियों) के बिना शरीर निष्क्रिय है। जब “पुरुष” शब्द प्रयोग होता है, तो उसमें चेतनता और इन्द्रिय-क्रिया निहित होती है। इस दृष्टि से देखा जाए तो शरीर की उत्पत्ति में इन्द्रियाँ अन्तर्भूत हैं। प्राणों की उत्पत्ति स्वतंत्र रूप से बताने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि वे शरीर के साथ समवेत रूप में उत्पन्न होते हैं। इसलिए श्रुति में यदि प्राणों का स्वतंत्र रूप से उल्लेख नहीं भी है, तो उनकी उत्पत्ति गौण नहीं मानी जा सकती। प्राणों (इन्द्रियों) की उत्पत्ति की स्थिति को लेकर यह प्रश्न उठता है कि वे आकाश, वायु, अग्नि आदि महाभूतों के पहले उत्पन्न हुए या बाद में। इस सूत्र- “तत्प्राक् श्रुतेश्च” - में यह प्रतिपादित किया गया है कि प्राण और इन्द्रियाँ आकाश आदि से पहले उत्पन्न हुए हैं, और यह बात श्रुति तथा स्मृति दोनों में प्रमाणित है। यदि कुछ वेदवाक्य (श्रुतियाँ) ऐसी हैं जिनमें प्राणों और इन्द्रियों की उत्पत्ति को आकाश आदि महाभूतों से पहले बताया गया है, तो यह सिद्ध होता है कि प्राणों की उत्पत्ति गौण नहीं, अपितु प्रमुख है, और उनकी स्थिति सृष्टिक्रम में भी अग्रणी है। श्रुति प्रमाण- (क) “एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च। खं वायुज्योतिरापः पृथिवी विश्वस्य धारिणी।” मुण्डकोपनिषद् (२।१।३) इस श्रुति में स्पष्टतः बताया गया है कि सबसे पहले उत्पन्न होता है- प्राण (जीवनशक्ति), फिर -मन और सभी इन्द्रियाँ, उसके बाद- आकाश, वायु, अग्नि, जल और पृथ्वी। इस क्रम से यह प्रत्यक्ष प्रमाण मिलता है कि इन्द्रियाँ आकाश आदि से पूर्व उत्पन्न होती हैं।

(ख) “स प्राणमसृजत, प्राणाच्छ्रद्धां खं वायुर्योतिरापः पृथिवी।” प्रश्नोपनिषद् (६।४) यहाँ भी पहले प्राण की सृष्टि बताई गई है, फिर श्रद्धा, तत्पश्चात् आकाश आदि पंचमहाभूतों की। यह क्रम पुनः इस बात को प्रमाणित करता है कि प्राणों की उत्पत्ति महाभूतों से पहले होती है।

स्मृति प्रमाण - सांख्य दर्शन से सांख्य दर्शन (कारिका ६१) में भी यह स्पष्ट किया गया है:

“सत्त्व रजस् तमसां साम्यावस्था प्रकृतिः... अहंकारात् पञ्चतन्मात्राण्युभयमिन्द्रियम्...”

इस पंक्ति के अनुसार प्रकृति से महत्तत्त्व, फिर अहंकार उत्पन्न होता है। अहंकार से पहले इन्द्रियाँ (ज्ञानेन्द्रियाँ और कर्मेन्द्रियाँ) उत्पन्न होती हैं। इसके बाद पञ्चतन्मात्राएँ (सूक्ष्म तत्त्व) और फिर स्थूल भूत (आकाश, वायु आदि)। इस दृष्टि से भी स्पष्ट है कि इन्द्रियाँ स्थूल महाभूतों से पहले उत्पन्न होती हैं।

इन सभी प्रमाणों से यह सिद्ध होता है कि इन्द्रियाँ और प्राण केवल शरीर में क्रियाशील शक्ति मात्र नहीं हैं, अपितु वे सृष्टिक्रम में प्राथमिक स्तर पर स्थित हैं। आकाश, वायु आदि महाभूतों से पूर्व प्राणों और इन्द्रियों की सृष्टि का उल्लेख स्पष्ट रूप से श्रुति और स्मृति दोनों में किया गया है। अतः यह विचार कि इन्द्रियाँ गौण रूप से उत्पन्न होती हैं, सत्य नहीं है।

छान्दोग्य उपनिषद् के एक प्रसिद्ध मंत्र - “अन्नमयं हि सोम्य मनः, आपोमयः प्राणः, तेजोमयी वागिति” - से यह भ्रम उत्पन्न हो सकता है कि वाक् (वाणी) की उत्पत्ति तेज (अग्नि) से, प्राण की उत्पत्ति जल से, और मन की उत्पत्ति अन्न से होती है, और यह क्रम आकाशादि के बाद आता है। किंतु ब्रह्मसूत्र का यह चौथा सूत्र “तत्पूर्वकत्वाद्वाचः” इस भ्रांति को दूर करता है और बताता है कि यह उत्पत्ति क्रम शक्तियों के आविर्भाव का संकेत करता है। “आकाशात् वायुः, वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी...” तैत्तिरीय उपनिषद् (२.१) इस क्रम में तेज (अग्नि) की उत्पत्ति जल से पहले हुई है। अब यदि छान्दोग्य के उक्त मंत्र से यह मान लिया जाए कि तेज (अग्नि) से वाक्, फिर जल से प्राण, तो इससे यह भ्रम उत्पन्न होगा कि वाक् की उत्पत्ति प्राण से पहले हो गई - जो कि शारीरिक और दार्शनिक दोनों दृष्टियों से असंगत है। क्योंकि शरीर में जब तक प्राण की सत्ता नहीं होती, तब तक वाक् इन्द्रिय की क्रिया संभव नहीं। अतः इस श्रुति का अर्थ यही है कि वाक् इन्द्रिय के कार्य में तेज की प्रमुख भूमिका है, यहाँ “अन्नमयं”, “आपोमयः”, “तेजोमयी” इन पदों में प्रयुक्त ‘मयट्’ प्रत्यय से उत्पत्ति नहीं, अपितु कार्य-शक्ति के आधार का बोध होता है। “दध्नः... तन् सर्पिर्भवति” छान्दोग्य उपनिषद् (६.६.१-५) अर्थात् जैसे दही को मथने से जो सूक्ष्म तत्त्व ऊपर आता है, वह घृत (मक्खन) बनता है, वैसे ही। अन्न से मन, जल से प्राण, तेज से वाक् का शक्ति रूप आविर्भाव होता है। इससे यह सिद्ध होता है कि इन तत्त्वों से इन्द्रियों की उत्पत्ति भौतिक रूप से नहीं, अपितु ऊर्जा एवं कार्यशीलता के आधार पर बताई गई है। वास्तविक उत्पत्ति क्रम वही है जो श्रुति के मूल सृष्टिक्रम (आकाश - वायु - अग्नि - जल - पृथ्वी) में बताया गया है। छान्दोग्य श्रुति में दिया गया क्रम इन्द्रियों की कार्य-शक्ति की अभिव्यक्ति पर आधारित है, न कि तात्त्विक उत्पत्ति

पर। इसलिए यह कहना कि वाक् की उत्पत्ति प्राण से पहले हुई, शास्त्रविरुद्ध और अव्यवहारिक है। ब्रह्मसूत्र के इन दो सूत्रों में यह प्रश्न उठाया गया है कि प्राणों की संख्या क्या है – सात या ग्यारह? इस विषय में श्रुति, स्मृति और तात्त्विक तर्कों के आधार पर समाधान प्रस्तुत किया गया है। सप्त गतेर्विशेषितत्वात्। अर्थः प्राणों की संख्या सात मानी गई है। इसका कारण है

- गतिः सामान्य ज्ञान या चलन, (ये ये गत्यर्थकाः ते ते ज्ञानार्थकाः) इस नियम के अनुसार गति अर्थक धातु ज्ञानार्थ में प्रयुक्त होत है। इस नियम के अनुसार गति शब्द ज्ञानार्थ में हैं।
- विशेषितत्वः पृथक्-पृथक् नामों और अंगों से उनका उल्लेख।

“सप्त प्राणाः प्रभवन्ति तस्मात्” मुण्डकोपनिषद् (२.१.८)– अर्थात् ब्रह्म से सात प्राण उत्पन्न होते हैं।

“सप्त वै शीर्षण्याः प्राणाः – तैत्तिरीय संहिता (५.१.७.१) द्वौ कर्णौ, द्वे चक्षुषी, द्वे नासिके, मुखञ्च” दो कान, दो आँखें, दो नासिकाछिद्र, और एक मुख–

कुल मिलाकर सात इन्द्रियद्वारा। इन प्राणों का यह वर्णन सिर में स्थित इन्द्रियद्वारों की दृष्टि से है, जो शरीर के ऊपरी भाग से संबंधित हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि प्राण सात हैं, परन्तु यह संख्या एक विशेष संदर्भ में दी गई है। लेकिन हाथ आदि इन्द्रियाँ भी तो हैं, जो इन सात से अतिरिक्त हैं। इसलिए केवल सात प्राणों की बात पूर्ण नहीं मानी जा सकती। “हस्ती वै ग्रहः” बृहदारण्यक उपनिषद् (३.२.८)– हाथ ग्रहण करने का उपकरण (इन्द्रिय) है। “हस्तौ च आदातव्यं च” प्रश्नोपनिषद् (४.८) – हाथों का उपयोग करने की क्रिया बताई गई है। यह स्पष्ट करता है कि हाथ, पैर आदि भी कर्मेन्द्रियाँ हैं, जो प्राणशक्ति से ही कार्य करती हैं और वे सात की गिनती में सम्मिलित नहीं हैं। “दशमे पुरुषे प्राणाः आत्मैकादशः” बृहदारण्यक उपनिषद् (३.६.४) अर्थात्–

- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ (कान, त्वचा, आँख, नाक, जीभ)
- पाँच कर्मेन्द्रियाँ (हाथ, पैर, वाणी, मूत्रेन्द्रिय, गुदेन्द्रिय)
- एक अन्तःकरण (मन)

कुल मिलाकर ग्यारह प्राण-इन्द्रियाँ मानी जाती हैं। इस प्रकार उपनिषदों में कहीं सात प्राणों का उल्लेख है और कहीं ग्यारह का, तो इसका समाधान क्या है? उत्तर यह है कि

- “सप्त प्राण”– सिर में स्थित इन्द्रियद्वारों की गणना है (कान, आँख, नाक, मुख)।
- “ग्यारह प्राण”– समग्र शरीर की इन्द्रियशक्तियों की गिनती है।

इसलिए सप्त प्राणों की गिनती सीमित संदर्भ में है और ग्यारह की गिनती पूर्ण शारीरिक और मानसिक व्यवस्था को प्रकट करती है। प्राण का स्वरूप क्या है – यह स्थूल (भौतिक) है या सूक्ष्म (अदृश्य, तात्त्विक)? इस प्रश्न का समाधान ब्रह्मसूत्र के सप्तम सूत्र “अणवश्च” में किया गया है। चक्षु (नेत्र), कर्ण (कान) आदि शरीर के अंग हैं, जो दृश्य और स्थूल हैं। लेकिन इन अंगों के माध्यम से देखने-सुनने की जो शक्ति है, वह प्राणशक्ति है, जो सूक्ष्म और अदृश्य है। इस विषय में वैदिकप्रमाण **तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामन्ति, प्राणमनूत्क्रामन्तं च सर्वे प्राणा अनूत्क्रामन्ति।** बृहदारण्यक उपनिषद् (४.४.२) इसका अर्थ है जब जीवात्मा शरीर से निकलता है (उत्क्रमण करता है), तब मुख्य प्राण भी उसके साथ निकल जाता है। उसके पीछे अन्य प्राण (चक्षु, श्रोत्र आदि) भी निकल जाते हैं। यह बात स्पष्ट करती है कि इन्द्रियों की जो कार्यकारी शक्ति है (प्राणरूप), वह सूक्ष्म और आत्मा से सम्बद्ध है– क्योंकि वह शरीर के त्याग के समय आत्मा के साथ ही जाती है।

**स्मरणीय बिंदु–**

- इन्द्रियाँ ज्ञान का साधन हैं।
- पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ एवं पाँच कर्मेन्द्रियाँ होती हैं।
- मन आन्तरिक इन्द्रिय है।
- इन्द्रियाँ जड़ हैं।
- आत्मा चेतना प्रदान करती है।

**शब्दावली–**

| शब्द          | अर्थ                     |
|---------------|--------------------------|
| इन्द्रिय      | ज्ञान या कर्म का साधन    |
| ज्ञानेन्द्रिय | ज्ञान देने वाली इन्द्रिय |
| कर्मेन्द्रिय  | कर्म करने वाली इन्द्रिय  |
| मन            | आन्तरिक इन्द्रिय         |

**5 अंक के प्रश्न-**

1. इन्द्रिय का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. ज्ञानेन्द्रियाँ कितनी हैं?
3. मन को आन्तरिक इन्द्रिय क्यों कहा गया है?
4. इन्द्रियों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
5. आत्मा और इन्द्रियों का संबंध बताइए।

**15 अंक के प्रश्न-**

1. इन्द्रिय स्वरूप का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. ज्ञानेन्द्रियों एवं कर्मेन्द्रियों का तुलनात्मक अध्ययन कीजिए।
3. मन एवं इन्द्रियों के संबंध का विश्लेषण कीजिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. ज्ञानेन्द्रियों की संख्या कितनी है?

(क) तीन

(ख) चार

**( ग ) पाँच**

(घ) छह

2. मन किस प्रकार की इन्द्रिय है?

(क) बाह्य

**(ख) आन्तरिक**

(ग) स्थूल

(घ) कर्मेन्द्रिय

3. इन्द्रियाँ किसका साधन हैं?

(क) मोक्ष

**( ख ) ज्ञान एवं कर्म**

(ग) शरीर

(घ) मृत्यु

4. चेतना कौन प्रदान करता है?

(क) शरीर

(ख) इन्द्रिय

**( ग ) आत्मा**

(घ) मन

5. कर्मेन्द्रियों का कार्य क्या है?

(क) ज्ञान देना

**( ख ) कर्म करना**

(ग) सोचना

(घ) अनुभव करना

## इकाई-४.२ मुख्यप्राणस्वरूप विचार

### उद्देश्य-

1. मुख्यप्राण की अवधारणा को समझना।
2. प्राणों के प्रकारों का अध्ययन करना।
3. शरीर में प्राणों की भूमिका जानना।

ग्यारह प्राणों (पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, और एक मन) में से एक मुख्य प्राण होता है जिसे श्रेष्ठ और ज्येष्ठ कहा गया है। इस सूत्र “श्रेष्ठश्च” में इसी मुख्य प्राण की महत्ता स्पष्ट की गई है। मुख्य प्राण कौन है? मुख्य प्राण वह है जो शरीर में प्राणन क्रिया को संचालित करता है। जो शरीर के भीतर पाँच भागों में विभाजित होकर कार्य करता है - प्राण, अपान, व्यान, समान, उदान। प्रश्नोपनिषद् (२.३) में बताया गया है कि जब अन्य प्राणों (जैसे वाणी, दृष्टि आदि) में श्रेष्ठता को लेकर विवाद हुआ, तब मुख्य प्राण ने कहा “अहमेवैतत् पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य... विधायामि।” अर्थात्, मैं ही शरीर के विभिन्न अंगों में विभाजित होकर कार्य करता हूँ। श्रेष्ठता के विषय में प्रमाण है “प्राणो वाव ज्येष्ठश्च श्रेष्ठश्च” (छान्दोग्य ५.१.१) - प्राण ही सबसे प्राचीन और श्रेष्ठ है। “न वै श्यामस्त्वदृते जीवितुम्” (बृहदारण्यक ६.१.१३) - हम प्राण के बिना जीवित नहीं रह सकते। प्रश्नोपनिषद् (२.४-१२) में वर्णन है कि जब मुख्य प्राण शरीर से निकलता है, तो अन्य सभी प्राण भी उसके पीछे निकल जाते हैं। जब वह पुनः स्थापित होता है, तो सभी अन्य प्राण भी स्थिर हो जाते हैं। मुण्डकोपनिषद् (२.१.३) के अनुसार प्राण से ही मन और सभी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं। एक शंका यह हो सकती है कि प्राण का तात्पर्य वायु से है, जैसा कि उपनिषद् में कहा गया “यः स प्राणो वायुः सः” (जैमिनीय उपनिषद्) “वायुर्वाव संवर्गः, प्राणो वाव संवर्गः” (छान्दोग्य ४।३।२-३) या फिर, प्राण का अर्थ वायुकर्म - शरीर के विभिन्न अंगों की गति - माना जाए। लेकिन ब्रह्मसूत्र इसका खण्डन करता है। प्राण, वायु या वायुकर्म नहीं है, क्योंकि प्रश्नोपनिषद् (६।४) तथा मुण्डकोपनिषद् (२।१।३) में प्राण और वायु की उत्पत्ति पृथक् रूप से बताई गई है। “एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च, खं वायुः” अर्थात् प्राण और वायु दोनों ब्रह्म से अलग-अलग उत्पन्न हुए हैं। यदि प्राण वायु ही होता, तो पृथक् उत्पत्ति का कोई औचित्य नहीं होता। साथ ही, जहाँ वायु नहीं होता (जैसे निर्जीव वस्तुओं में), वहाँ भी यदि केवल गति हो रही है, तो वह प्राण नहीं मानी जा सकती। प्राण की उपस्थिति में चेतना, संचालन और जीवन का संचार होता है। अतः मुख्य प्राण न तो केवल वायु है और न ही वायुकर्म, अपितु वह एक सूक्ष्म, चेतन-संचारक शक्ति है, जो शरीर की समस्त क्रियाओं को नियंत्रित करती। और एक शङ्का आ सकती है। ये मुख्यप्राण स्वतन्त्र है क्या जीवाधीन इसका उत्तर है-चक्षुरादिवत् तत्सह शिष्ट्यादिभ्यः। मुख्य प्राण भी उसी प्रकार है जैसे चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कर्ण) आदि इन्द्रियाँ - अर्थात्, यह भी जीवात्मा का एक साधन (उपकरण) है। यह बात श्रुतियों में उसकी सह-स्थिति, श्रेष्ठता और शासन-योग्यता से सिद्ध होती है। “एतस्माज्जायते प्राणो, मनः, सर्वेन्द्रियाणि च” मुण्डकोपनिषद् (२।१।३) यहाँ प्राण की उत्पत्ति अन्य इन्द्रियों (नेत्र, कर्ण, मन) के साथ बताई गई है। इससे यह स्पष्ट होता है कि प्राण भी जीवात्मा का एक अंग है। और छान्दोग्य उपनिषद् (५।१।६-१३) में प्राणों में श्रेष्ठता को लेकर विवाद का उल्लेख है। वाणी, नेत्र, श्रोत्र आदि कहते हैं कि वे श्रेष्ठ हैं, लेकिन जब मुख्य प्राण शरीर छोड़ने को तैयार होता है, तब सब प्राण-इन्द्रियाँ घबरा जाती हैं और उसे रोकती हैं: “त्वं नः श्रेष्ठोऽसि, मा उक्लमीरिति” अर्थात्: “तुम हमारे श्रेष्ठ हो, कृपया शरीर न छोड़ो।” तब अन्य इन्द्रियाँ यह भी स्वीकार करती हैं कि जो प्रतिष्ठा उनके पास है, वह भी मुख्य प्राण से ही मिली है: “यदहं प्रतिष्ठा अस्मि, त्वं तत्प्रतिष्ठा असि” अतः वेदान्त के अनुसार मुख्य प्राण शक्तिरूप, सूक्ष्म और चेतन-संपन्न साधन है, जो जीवात्मा के अधीन रहकर कार्य करता है। यदि मुख्य प्राण भी चक्षु आदि इन्द्रियों की भाँति जीवात्मा का साधन (उपकरण) है, तो क्या वह भी किसी विशेष विषय (जैसे रूप, शब्द आदि) का ग्रहणकर्ता है? इस शंका का समाधान इस सूत्र - “अकरणत्वाच्च न दोषस्तथा हि दर्शयति” - द्वारा किया गया है। मुख्य प्राण भी यद्यपि जीवात्मा का एक उपयोगी साधन है, फिर भी वह इन्द्रिय (करण) नहीं है। अर्थात्, वह चक्षु, श्रोत्र आदि की तरह विषय ग्रहण नहीं करता। इसलिए यह आपत्ति कि यदि वह इन्द्रिय है तो उसे भी किसी न किसी विषय का अनुभव होना चाहिए - यह तर्क उचित नहीं है। इस विषय में श्रुति प्रमाण उपलब्ध है-“तेन यदश्नाति यत्पिबति तेनेतरान् प्राणानवति” (छान्दो १।२।६)- मुख्य प्राण ही अन्य प्राणों का पोषण करता है। “प्राणः रक्षन् अवरं कुलायम्” (बृह० ४।३।१२)- वह शरीर रूपी कुला (घोंसले) की रक्षा करता है। “यस्मात्कस्माज्चाङ्गात् प्राण उक्लामति तदेव तच्छुष्यति” (बृह० १।३।१६)- शरीर के जिस अंग से प्राण निकलता है, वह भाग शुष्क हो जाता है। इन सभी श्रुतियों से सिद्ध होता है कि मुख्य प्राण का कार्य अन्य इन्द्रियों और शरीर की रक्षा, पोषण एवं संचालन है।

### १४.१ मुख्यप्राण भेद विचार

वेदान्त और योगदर्शन में प्राण को केवल श्वास-प्रश्वास की शक्ति नहीं, अपितु एक सर्वव्यापी जीवनशक्ति माना गया है जो शरीर की समस्त क्रियाओं को नियंत्रित करती है। जैसा कि बृहदारण्यक उपनिषद् और प्रश्नोपनिषद् में बताया गया है, यह मुख्य प्राण भी विविध कार्यों के अनुसार पाँच वृत्तियों में विभाजित होता है। इन वृत्तियों के आधार पर प्राण के विभिन्न नाम होते हैं। यह विभाजन मनोवृत्तियों की भाँति होता है, जैसे मन की वृत्तियाँ होती हैं: प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति।

प्राण की पाँच वृत्तियाँ (वृत्तिभेद)

**“प्राणोऽपानो व्यान उदानः समानोऽन इत्येतत् सर्व प्राण पञ्चः”** बृहदारण्यक उपनिषद् (१।५।३)

प्राण की वृत्तियाँ हैं:

- प्राण — यह हृदय के निकट स्थित होकर श्वसन (सांस लेने) का कार्य करता है।
- अपान — यह नाभि के नीचे स्थित होकर त्याग (विसर्जन) का कार्य करता है।
- व्यान — यह सम्पूर्ण शरीर में स्थित होकर संचार और परिसंचरण का कार्य करता है।
- उदान— यह कण्ठप्रदेश में स्थित होकर उच्चारण, बल, और मृत्यु के समय आत्मा के उत्क्रमण का कारण होता है।
- समान— यह नाभिप्रदेश में स्थित होकर पाचन क्रिया को संतुलित करता है, और अन्न से रस बनाकर प्राणशक्ति को पोषण प्रदान करता है।

प्राण के कार्यों का विभाग **“पायूपस्थे अपानं, चक्षुः-श्रोत्रे नासिकायां प्राणः, मध्ये समानः, नाडीशाखासु व्यानः, उदानः शिरसि”** (प्रश्नोपनिषद् ३।४-६) इस वर्णन से ज्ञात होता है कि प्राण की प्रत्येक वृत्ति शरीर के विशेष अंगों में रहकर विशिष्ट कार्य करती है। इस प्रकार एक ही प्राण विभिन्न कार्यों और स्थानों के अनुसार भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। जैसे मन की वृत्तियाँ (प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा, स्मृति) योगदर्शन (योगसूत्र १।५) में बताई गई हैं, उसी प्रकार प्राण की भी पाँच वृत्तियाँ हैं। दोनों का विभाजन वृत्तिभेद के आधार पर है, न कि सङ्ख्यात्मक स्वतंत्र इकाई के रूप में। वेदान्त में अन्तःकरण चतुष्टय — मन, बुद्धि, चित्त, और अहंकार — भी अपने-अपने कार्यों के अनुसार विभक्त हैं, किन्तु ये सभी मिलकर एक ही अन्तःकरण के अंग होते हैं, और वृत्तिभेद के आधार पर नामित होते हैं। उसी प्रकार प्राण भी एक ही है, परंतु उसकी पाँच वृत्तियों के अनुसार उसे पाँच नामों से जाना जाता है। जैसे मन अणु है, ऐसे ही प्राण अणु एवं सूक्ष्म है भी। इन्द्रियों में मन की भी गणना है। जैसे मन इन्द्रिय होता हुआ अणु-सूक्ष्म इन्द्रिय है, ऐसे मुख्य प्राण अणु-सूक्ष्म है। यद्यपि श्वास-प्रश्वास से स्थूल-सा प्रतिभासित होता है, किन्तु सूक्ष्म है। अपनी पाँच वृत्तियों से समस्त शरीरव्यापार करने से शरीर से निकलते हुए आत्मा के साथ निकलने के कारण सूक्ष्म है। कहा भी है **“तमुत्क्रामन्तं प्राणोऽनूत्क्रामति”** (बृह०४।४।२) = शरीर से निकलते हुए आत्मा के साथ प्राण भी निकल जाता है ॥

### १४.२ इन्द्रियाश्रय विचार

यह प्रश्न उठता है कि शरीर में स्थित नेत्र, नासिका, वाणी आदि इन्द्रियाँ तथा उनसे संबंधित प्राणशक्तियाँ किस आधार पर कार्य करती हैं? वेदों के अनुसार ये इन्द्रियाँ स्वतः कार्य नहीं करतीं, अपितु किसी अधिष्ठान (आधार) पर स्थित होकर ही कार्यशील होती हैं। **“ज्योतिराद्यधिष्ठानं तु तदामननात्”** स्पष्ट करता है कि इन इन्द्रियों का अधिष्ठान पञ्चमहाभूत—अग्नि, वायु, आदित्य आदि हैं। नेत्र आदि प्राणों का अधिष्ठान ज्योति (अग्नि, सूर्य आदि) और अन्य महाभूत तत्त्व (वायु आदि) हैं, क्योंकि श्रुति में ऐसा निर्देश मिलता है। यहाँ श्रुति प्रमाण **“अग्निर्वाग्भूत्वा मुखं प्राविशत्। वायुः प्राणो भूत्वा नासिके प्राविशत्। आदित्यश्चक्षुर्भूत्वाऽक्षिणी प्राविशत्।”** ऐतरेय ब्राह्मण (२।४)

इसका अर्थ है अग्नि वाणी (वाक् इन्द्रिय) बनकर मुख में प्रविष्ट हुई। वायु प्राण बनकर नासिका में प्रविष्ट हुआ।

आदित्य (सूर्य) दृष्टिशक्ति बनकर नेत्रों में स्थित हुआ।

यह श्रुति यह दर्शाती है कि वाणी की शक्ति अग्नि से संबद्ध है। प्राणवायु का अधिष्ठान वायु तत्त्व है। दृष्टिशक्ति का आधार सूर्य या ज्योति तत्त्व है। शरीर एक पाञ्चभौतिक संरचना है, जो पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु और आकाश इन पाँच तत्वों से बना है। इन पंचभूतों से ही इन्द्रियों का निर्माण और कार्य संचालन संभव होता है। वाणी, दृष्टि, प्राण आदि अधिष्ठानरहित नहीं हो सकते, क्योंकि कार्य के लिए आधार आवश्यक है। जैसे दीपक की लौ केवल तेल और बाती के अधिष्ठान से ही जल सकती है, वैसे ही इन्द्रियों की शक्ति भी पंचभूत अधिष्ठानों पर आधारित होती है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- प्राण जीवन शक्ति है।
- पाँच प्रमुख प्राण होते हैं।
- प्राण शरीर संचालन करते हैं।
- मुख्यप्राण सर्वप्रधान है।
- प्राण चेतना से सम्बद्ध हैं।

### शब्दावली-

| शब्द  | अर्थ                            |
|-------|---------------------------------|
| प्राण | जीवन शक्ति                      |
| अपान  | नीचे की ओर गति करने वाला प्राण  |
| समान  | पाचन क्रिया से संबंधित प्राण    |
| उदान  | ऊपर की ओर गति करने वाला प्राण   |
| व्यान | सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त प्राण |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. मुख्यप्राण क्या है?
2. पंचप्राणों के नाम लिखिए।
3. प्राणों की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. उदान प्राण का कार्य बताइए।
5. समान प्राण का महत्व लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. मुख्यप्राण स्वरूप का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. पंचप्राणों का शरीर में कार्य स्पष्ट कीजिए।
3. प्राण और चेतना के संबंध का अध्ययन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. जीवन शक्ति किसे कहा जाता है?

(क) मन

(ख) शरीर

(ग) प्राण

(घ) इन्द्रिय

2. पंचप्राणों में कौन पाचन से संबंधित है?

(क) अपान

(ख) समान

(ख) उदान

(ग) व्यान

3. मुख्यप्राण क्या करता है?

(क) शरीर संचालन

(ख) निद्रा

(ग) स्मृति

(घ) अज्ञान

4. उदान प्राण की गति कैसी होती है?

(क) नीचे

(ख) ऊपर

(ग) चारों ओर

(घ) स्थिर

5. व्यान प्राण कहाँ व्याप्त रहता है?

(क) केवल हृदय में

(ख) सम्पूर्ण शरीर में

(ग) केवल मस्तिष्क में

(घ) केवल पेट में



## इकाई-४.३ प्राणों का जीवात्माधीन कर्तृत्व

### उद्देश्य-

1. प्राणों की कार्यप्रणाली को समझना।
2. जीवात्मा एवं प्राणों के संबंध का अध्ययन करना।
3. चेतना एवं जीवन क्रियाओं का विश्लेषण करना।

शरीर में स्थित इन्द्रियाँ—जैसे नेत्र, कर्ण, नासिका आदि—केवल स्वतन्त्र रूप से कार्य नहीं करतीं। वे किसी के अधीन रहकर ही भोग और अनुभव संबंधी क्रियाओं में प्रवृत्त होती हैं। यह सूत्र बताता है कि इन्द्रियाँ मुख्य रूप से प्राणवान् आत्मा (जीवात्मा) से सम्बद्ध होकर ही अपने-अपने कार्य करती हैं, और यह सिद्धांत वेदवाक्यों (श्रुति) पर आधारित है। इन्द्रियाँ (नेत्र, कर्ण आदि) प्राणस्वामी, प्राणवान् जीवात्मा के साथ सम्बद्ध होकर ही कार्य करती हैं, क्योंकि ऐसा वेद में कहा गया है। इन्द्रियाँ अकेले कोई कार्य नहीं करतीं। वे जीवात्मा के साथ सम्बद्ध होकर ही अपनी-अपनी क्रियाएँ (देखना, सुनना, सूंघना आदि) करती हैं। यह सम्बद्धता ही उन्हें सक्रिय करती है और भोगोपयोगी बनाती है, अर्थात् इन्द्रियाँ भोग के साधन के रूप में कार्य करती हैं। इस विषय में श्रुति प्रमाण

**“द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।**

**तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति।”** क) ऋग्वेद (१.१६४.२०) एवं मुण्डकोपनिषद् (३.१.१)

इस मंत्र में दो पक्षियों का वर्णन है एक जो वृक्ष (शरीर) पर बैठकर फल (कर्मफल) का स्वाद लेता है — यह जीवात्मा है, भोक्ता। दूसरा केवल देखता है, परन्तु फल नहीं खाता — यह परमात्मा है। यह मंत्र स्पष्ट करता है कि कर्मफल का भोगकर्ता जीवात्मा है, और इन्द्रियाँ उसी के लिए क्रियाशील होती हैं। (ख) **“अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः... स आत्मा गन्धाय घ्राणम्”** छान्दोग्य उपनिषद् (८.१२.४) जब नेत्र देखता है देखना चाहता है, तो वास्तव में देखने वाला आत्मा (जीव) होता है। जब गन्ध अनुभव करने की इच्छा होती है, तो उसका ग्रहण आत्मा करता है। इन वाक्यों से स्पष्ट होता है कि इन्द्रियाँ केवल उपकरण हैं। प्रवृत्ति का आधार आत्मा है, जो इच्छा, ज्ञान और अनुभव करता है। शरीर में उपस्थित नेत्र, कान, मन, आदि इन्द्रियाँ किसके लिए कार्य करती हैं? क्या वे मुख्य प्राण (जो जीवनशक्ति के रूप में कार्य करता है) के लिए कार्यशील हैं, या वे जीवात्मा, (प्राणस्वरूप) आत्मा के अधीन होकर कार्य करती हैं? ब्रह्मसूत्र का यह सूत्र (२.४.१६) इस विषय में एक प्रमुख कारण प्रस्तुत करता है — जीवात्मा के नित्य होने के कारण वही वास्तविक भोक्ता है, न कि प्राण। जीवात्मा नित्य (शाश्वत) है — वह जन्म और मृत्यु से रहित है। इसके विपरीत, मुख्य प्राण (श्वास, जीवनशक्ति) एक अनित्य तत्त्व है, जो शरीर में आने-जाने के साथ उत्पन्न और विनष्ट होता है। **“जो कर्ता है, वही भोक्ता है”, और “स्वतन्त्रः कर्ता”**—**“कर्तृत्व ज्ञानपूर्वक स्वतन्त्रता से होता है”** (अष्टाध्यायी १.४.५४:)। इसलिए, केवल वही सत्ता भोगकर्ता हो सकती है जो ज्ञानी हो, स्वतन्त्र हो, नित्य हो। इन सभी गुणों का धारक केवल जीवात्मा है। मुख्य प्राण शरीर में होने वाली क्रियाओं का संचालक तो हो सकता है, लेकिन वह भोक्ता नहीं हो सकता क्योंकि वह नित्य नहीं है। वह स्वतन्त्र नहीं है, क्योंकि उसका अस्तित्व शरीर और जीव के अधीन है। उसमें कर्तृत्व या ज्ञान की स्वतन्त्रता नहीं है। अतः इन्द्रियाँ जैसे नेत्र, कर्ण, आदि जो मुख्य प्राण के साथ जुड़ी होती हैं, वे उसके लिए नहीं, अपितु जीवात्मा के लिए भोग के साधन हैं। जब जीवात्मा किसी विषय को जानना या अनुभव करना चाहता है, तब वह नेत्र, कर्ण, आदि इन्द्रियों के माध्यम से उस विषय का भोग करता है। इन इन्द्रियों में जो चेतना या कार्य-क्षमता आती है, वह भी जीवात्मा की उपस्थिति से ही संभव होती है। इस प्रकार, इन्द्रियाँ केवल माध्यम हैं, न कि भोगकर्ता। नेत्रादि इन्द्रियाँ जीवात्मा के भोग साधन हैं इस में अन्य हेतु — **त इन्द्रियाणि तद्व्यपदेशादन्यत्र श्रेष्ठात् ॥१७॥** वे नेत्र आदि प्राण जीवात्मा के भोग साधन स्वसंज्ञा से इन्द्रियाँ भी कहे जाते और जाने जाते हैं कि वे नेत्र आदि प्राण इन्द्रियाँ नाम से समाख्या बल से जीवात्मा के भोगसाधन हैं, क्योंकि जीवात्मा इन्द्र है, इन्द्रियाँ इन्द्र की होती हैं यह प्रसिद्ध है ही। कहा भी है वेद में—**“इन्द्रियाणि शतक्रतो या ते जनेषु पञ्चसु । इन्द्र तानि त आवृणो”** (ऋ० ३।३७।९) अर्थात् हे इन्द्र जो तेरी इन्द्रियाँ पञ्च जनों में हैं उन्हें मैं स्वीकार करूँ—अनुकूल बनाऊँ या मैं सुरक्षित करूँ। तथा शब्दशास्त्र व्याकरण में कहा है— **“इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गम्.....”** (अष्टा० ५।२।१३) इन्द्र का लिङ्ग है इन्द्रिया। अच्छा, तो नेत्र आदि प्राण होते हुए भी इन्द्रियाँ क्यों कहे जाते हैं (तद्व्यपदेशात्—अन्यत्र श्रेष्ठात्) श्रेष्ठ अर्थात् मुख्य प्राण से अन्यत्र उन नेत्र आदि का व्यपदेश—नाम व्यवहार है। अतः मुख्य से भिन्न नाम वाले कहे जाते हैं— **“एतस्माज्जायते प्राणो मनः सर्वेन्द्रियाणि च”** (मुण्ड० २। १।३) — परमात्मा से प्राण, मन और सारी इन्द्रियाँ उत्पन्न होती हैं । नेत्र आदि इन्द्रियाँ मुख्य प्राण से भिन्न हैं, क्योंकि श्रुति में उनका स्पष्ट भेद बताया

गया है। श्रुति प्रमाण प्रश्नोपनिषद् (२.४) में बताया गया है कि वाक्, मन, चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ प्राण की स्तुति करती हैं: **“वाङ्मनश्चक्षुः श्रोत्रं च ते प्रीताः प्राणं स्तुवन्ति।”** बृहदारण्यक उपनिषद् (१.३.२-७) **“ते ह वाचमूचुः... प्राणमूचुः”** – वे सब वाणी को बोले, फिर नेत्र को बोले, अंत में प्राण से बोले। इस श्रुति से यह सिद्ध होता है कि वाणी, दृष्टि, श्रोत्र आदि मुख्य प्राण से भिन्न तत्त्व हैं। वे उसकी स्तुति करती हैं, अर्थात् वह उनके ऊपर हैं और वे उससे पृथक् हैं। चक्षु (नेत्र), श्रोत्र (कर्ण) आदि इन्द्रियाँ, जिन्हें कभी-कभी प्राण भी कहा जाता है, वे मुख्य प्राण से भिन्न हैं। इसके लिए एक विशेष कारण प्रस्तुत किया गया है – विलक्षणता (वेलक्षण्य)। अर्थात् ये इन्द्रियाँ अपनी स्वभावगत विशेषताओं के कारण मुख्य प्राण से स्पष्ट रूप से भिन्न हैं। मुख्य प्राण से चक्षु आदि इन्द्रियाँ इसलिए भी भिन्न हैं क्योंकि उनके गुण और कार्यप्रणाली मुख्य प्राण से भिन्न हैं।

(१) सुषुप्ति (गहरी नींद) में व्यवहार जब जीव गहरी नींद में होता है, तब चक्षु, श्रोत्र आदि इन्द्रियाँ अपनी प्रवृत्ति त्याग देती हैं, अर्थात् वे कार्य नहीं करतीं। लेकिन मुख्य प्राण जाग्रत रहता है, वह अपनी पाँचों वृत्तियों (अपान, व्यान, प्राण, समान, उदान) के साथ कार्य करता रहता है। में **“प्राणाग्नय एवैतस्मिन् पुरे जाग्रति।”** प्रश्नोपनिषद् (४.२-३) अर्थात् जब सब इन्द्रियाँ सो जाती हैं, तब भी प्राण और अग्नियाँ शरीर में सक्रिय रहती हैं।

(२) इच्छा और विषय ग्रहण की भिन्नता **“द्रक्ष्याम्यहमिति चक्षुः, श्रोष्याम्यहमिति श्रोत्रम्।”** बृहदारण्यक उपनिषद् (१.५.२१) अर्थात् नेत्र और कर्ण जैसे इन्द्रियाँ अलग-अलग इच्छा प्रकट करती हैं। यह दर्शाता है कि वे अपनी वृत्तियों से कार्य करती हैं, जिनमें चेतना का सह-संयोग आवश्यक होता है, लेकिन वे स्वयं विवेकशील या जाग्रत नहीं होतीं।

(३) मुख्य प्राण का शरीर-धारणकर्तृत्व **“तान् वरिष्ठः प्राण उवाच... अहमेवैतत् पञ्चधा आत्मानं प्रविभज्य...”** प्रश्नोपनिषद् (२.३) – मुख्य प्राण स्वयं कहता है कि वह पाँच प्रकार से विभाजित होकर शरीर को धारित करता है। इससे यह स्पष्ट होता है कि मुख्य प्राण स्वयं सक्रिय और नियंता है, जबकि अन्य इन्द्रियाँ केवल उसके द्वारा संचालित उपकरण हैं।

### १५.१ शरीर की स्थूल रचना परमात्मा द्वारा की जाती है

वेदान्तदर्शन यह स्पष्ट करता है कि शरीर की स्थूल रचना (संज्ञा और मूर्ति की स्थापना) केवल जीवात्मा द्वारा नहीं, अपितु परमात्मा द्वारा की जाती है। इससे पहले यह सिद्ध किया गया था कि शरीर के भीतर की सूक्ष्म रचनाएँ जैसे प्राण, मन, इन्द्रियाँ आदि परमात्मा की रचना हैं। अब यहाँ यह प्रतिपादित किया जाता है कि शरीर की स्थूल रचना – नाम (संज्ञा) और रूप (मूर्ति) – की उत्पत्ति भी परमात्मा की ही कृति है, । **“संज्ञामूर्तिक्लृप्तिस्तु त्रिवृत्कुर्वत उपदेशात्”** – नाम और रूप की रचना भी उस परमात्मा की ही है जो तीन तत्त्वों (तेज, आप, अन्न) से त्रिवृत् रचना करता है। यह बात श्रुति से प्रमाणित होती है। **“सेयं देवता ऐक्षत-हन्ताहमिमास्मिन् देवता... नामरूपे व्याकरवाणी।”** छान्दोग्य उपनिषद् (६.३.२-३) **“तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकां करवाणी।”** यहाँ **“सेयं देवता”** का तात्पर्य है – परमात्मा। वह तेज (अग्नि), आप (जल), और अन्न (पृथ्वी) इन तीनों से मिलाकर त्रिवृत् रचना करता है। वह परमात्मा ही नाम और रूप की भी योजना करता है – नामव्याकरण = संज्ञा की स्थापना, रूपव्याकरण = मूर्ति की रचना यह कार्य वह जीवात्मा में प्रवेश कर करता है, जैसा कहा गया: **“अनुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणी। अन्य वेद और स्मृति प्रमाण “आकाशो वै नामरूपयोर्निर्वहिता”** छान्दोग्य उपनिषद् (८.१४.१) – आकाश (जो परमात्मा का सूक्ष्म स्वरूप है) नाम और रूप को संचालित करता है।

**“सर्वेषां तु स नामानि...”** मनुस्मृति (१.२१) – परमात्मा ने ही सब प्राणियों के नाम, कर्म और स्वरूपों की रचना की।

**“यो देवानां नामधाः एकः”** ऋग्वेद (१०.८२.३) – जो देवताओं के भी नामों का दाता है, वह एक परमात्मा ही है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- प्राण जीवात्मा के अधीन हैं।
- आत्मा चेतना का स्रोत है।
- प्राण शरीर को सक्रिय रखते हैं।
- चेतना के बिना प्राण निष्क्रिय हैं।
- जीवात्मा कर्ता एवं भोक्ता है।

### शब्दावली-

|          |                     |
|----------|---------------------|
| शब्द     | अर्थ                |
| जीवात्मा | चेतन सत्ता          |
| कर्तृत्व | कार्य करने की शक्ति |
| चेतना    | ज्ञान शक्ति         |

प्राण                      जीवन शक्ति  
भोक्ता                    अनुभव करने वाला

**5 अंक के प्रश्न-**

1. प्राणों का जीवात्माधीन कर्तृत्व क्या है?
2. आत्मा और प्राण का संबंध स्पष्ट कीजिए।
3. चेतना का स्रोत कौन है?
4. प्राणों की भूमिका बताइए।
5. जीवात्मा को कर्ता क्यों कहा गया है?

**15 अंक के प्रश्न-**

1. प्राणों के जीवात्माधीन कर्तृत्व का दार्शनिक विवेचन कीजिए।
2. आत्मा एवं प्राणों के संबंध का अध्ययन कीजिए।
3. चेतना और जीवन क्रियाओं का समालोचनात्मक विश्लेषण कीजिए।

**बहु विकल्पीय प्रश्न-**

1. प्राण किसके अधीन हैं?

(क) शरीर

**(ख) जीवात्मा**

(ग) मन

(घ) इन्द्रिय

2. चेतना का स्रोत कौन है?

(क) शरीर

**(ख) आत्मा**

(ग) मन

(घ) इन्द्रिय

3. प्राण क्या करते हैं?

**(क) शरीर को सक्रिय रखते हैं**

(ख) ज्ञान उत्पन्न करते हैं

(ग) निद्रा देते हैं

(घ) स्मृति बनाते हैं

4. जीवात्मा क्या है?

(क) जड़ तत्व

**(ख) चेतन सत्ता**

(ग) शरीर

(घ) इन्द्रिय

5. भोक्ता कौन है?

(क) शरीर

**(ख) जीवात्मा**

(ग) प्राण

(घ) मन

## इकाई-४.४ भूतों के परिणाम शरीर-भूताधिक्य से शरीर को भूत का नाम से व्यवहार

### उद्देश्य-

1. शरीर की स्थूल रचना को समझना।
2. पंचमहाभूतों की भूमिका का अध्ययन करना।
3. भूताधिष्ठान सिद्धान्त का विवेचन करना।

छान्दोग्य उपनिषद् के अनुसार सृष्टि की प्रारंभिक अवस्था में तेज (अग्नि), आप (जल) और अन्न (पृथ्वी) — ये तीन देवता (तत्त्व) थे। परमात्मा ने इन तीनों को त्रिवृत्त (तीन-तत्त्वात्मक) रूप में मिलाकर शरीर का निर्माण किया। अब यह प्रश्न उठता है कि शरीर में यह त्रिवृत्त सृष्टि कैसे परिणत होती है? ब्रह्मसूत्र के इस सूत्र में इस प्रश्न का उत्तर दिया गया है कि शरीर के विभिन्न अवयवों में ये त्रिवृत्त देवताएँ किस रूप में स्थित होते हैं। “मांसादि भौमं यथाशब्दमितरयोश्च” मांसादि भौमम् = शरीर में जो मांस आदि अंग हैं, वे भौम (पृथ्वी तत्त्व) से बने हैं। यथाशब्दम् = जैसा वेद में कहा गया है, वैसा ही। इतरयोः च = और अन्य दो तत्त्वों (आप और तेज) का भी वैसा ही वितरण होता है। “इमास्मिन् देवताः पुरुषं प्राप्य त्रिवृत्त्रिवृदेकैकाभवति।” छान्दोग्य उपनिषद् (६.४.७) अर्थात् तेज, आप और अन्न — ये तीनों देवता जब पुरुष (शरीर) में प्रवेश करते हैं, तो प्रत्येक अंग में त्रिवृत्त (तीनों तत्त्वों से मिलकर बनी) रचना बनती है। शरीर में त्रिवृत्त देवताओं की अभिव्यक्ति

(क) पृथ्वी तत्त्व (भौम) — मांस आदि “अन्नमशितं त्रेधा विधीयते” (छान्दोग्य ६.५.१) जो अन्न खाया जाता है वह तीन भागों में विभाजित होता है:

स्थूल भाग → पुरीष (मल)

मध्यम भाग → मांस (मांसपेशियाँ)

सूक्ष्म भाग → मन

इससे स्पष्ट होता है कि मांस, जो शरीर की ठोस रचना है, वह भौम अर्थात् पृथ्वी तत्त्व से निर्मित होता है।

(ख) जल तत्त्व (आप) — मूत्र, रक्त, प्राण जल तत्त्व का कार्य शरीर में प्रवाह और स्नेह प्रदान करना है। इसके अंतर्गत मूत्र (अपशिष्ट), रक्त (संवहन) और प्राण (प्रवाह शक्ति) आते हैं। इन सबका निर्माण और संचालन आप तत्त्व (जल) से होता है।

(ग) तेज तत्त्व (अग्नि) — वाक्, अस्थि, मज्जा तेज का कार्य ऊष्मा, चालन और प्रकाश है।

वाक् (वाणी), अस्थि (हड्डियाँ) और मज्जा (अस्थिमज्जा) — ये सब तेज तत्त्व से उत्पन्न होते हैं।

सूत्र में “यथाशब्दम्” शब्द यह दर्शाता है कि यह विवरण कोरी कल्पना नहीं है, अपितु श्रुति प्रमाणित सिद्धांत है। छान्दोग्य उपनिषद् के आधार पर यह सिद्ध होता है कि शरीर के विभिन्न अंग और उनके कार्य विशेष प्रकार के तत्त्वों से बने होते हैं। तीनों तत्त्व— तेज, आप, अन्न — शरीर में समान रूप से व्याप्त हैं, परंतु प्रत्येक अवयव में एक प्रमुख तत्त्व अधिक क्रियाशील होता है। प्रत्येक अंग में तीनों तत्त्व होते हैं, पर उनमें से कोई एक प्रमुख होता है। जैसे:

- मांस = भौमप्रधान
- मूत्र = जलप्रधान
- वाक् = अग्निप्रधान

इसी त्रिवृत्त संरचना के कारण शरीर संतुलित रूप में कार्य कर पाता है।

ब्रह्मसूत्र के इस अंतिम सूत्र में एक महत्वपूर्ण तात्त्विक निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है शरीर की संरचना त्रिवृत्त (तीन तत्त्वों के सम्मिश्रण) से ही होती है, परंतु कुछ विशेष अवयवों में किसी एक तत्त्व की प्रधानता या अधिकता (वैशेष्य) पाई जाती है। यह सूत्र इस विविधता का आधार स्पष्ट करता है। इससे पूर्व सूत्र (२.४.२१) में बताया गया कि शरीर के विभिन्न अंग — जैसे मांस, रक्त, अस्थि आदि — तीन मूल तत्त्वों (तेज, आप, अन्न) के सम्मिश्रण (त्रिवृत्त सृष्टि) से बने होते हैं। अब इस सूत्र के अनुसार यद्यपि शरीर पूर्णतः त्रिवृत्त सृष्टि है, फिर भी विशेषताओं के आधार पर कुछ अंग विशेष रूप से किसी एक तत्त्व से अधिक प्रभावित होते हैं, इसी वैशेष्य या बहुलता के कारण उन अंगों को भौम (पृथ्वी), आप्य (जल), या तैजस (अग्नि) कहा जाता है। उदाहरण:-

- मांस = पृथ्वी तत्त्व से अधिक बना है → भौम
- रक्त और मूत्र = जल तत्त्व प्रधान → आप्य

- मज्जा और अस्थियाँ = अग्नि तत्त्व प्रधान → तैजस

शास्त्रीय प्रमाण (१) सांख्य सिद्धांत (सांख्य १.६१) “प्रकृतेः महान्, महतः अहंकारः, अहंकारात् पञ्च तन्मात्राणि, तन्मात्रेभ्यः स्थूलभूतानि” इसके अनुसार शरीर पाँच भूतों से बना है, परन्तु उनका अनुपात विभिन्न अंगों में भिन्न-भिन्न होता है। यह तत्त्वों की त्रिवृत्त रचना के साथ वैशेष्य को दर्शाता है। (२) पृथिव्या ओषधयः, ओषधीभ्योऽन्नम्, अन्नात् पुरुषः” तैत्तिरीय उपनिषद् (२.१) “इससे शरीर को अन्नरसमय या पार्थिव कहा गया है। इसका अर्थ यह है कि पृथ्वी तत्त्व की प्रधानता (वैशेष्य) शरीर में अधिक है।

### स्मरणीय बिन्दु-

- शरीर पंचमहाभूतों से बना है।
- पृथ्वी स्थूलता का आधार है।
- जल जीवन का आधार है।
- अग्नि ऊर्जा प्रदान करती है।
- आकाश एवं वायु गति एवं स्थान प्रदान करते हैं।

### शब्दावली-

| शब्द        | अर्थ             |
|-------------|------------------|
| स्थूल शरीर  | भौतिक शरीर       |
| पंचमहाभूत   | पाँच मूल तत्व    |
| भूताधिष्ठान | तत्त्वों का आधार |
| पृथ्वी      | स्थूल तत्व       |
| अग्नि       | ऊर्जा तत्व       |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. स्थूल शरीर का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
2. पंचमहाभूतों के नाम लिखिए।
3. पृथ्वी तत्व का महत्व बताइए।
4. भूताधिष्ठान सिद्धान्त क्या है?
5. शरीर में अग्नि तत्व की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शरीर की स्थूल रचना का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. पंचमहाभूत सिद्धान्त का दार्शनिक अध्ययन कीजिए।
3. भूताधिष्ठान विचार का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।

### बहु विकल्पीय प्रश्न-

1. स्थूल शरीर किससे बना है?

(क) केवल पृथ्वी

(ख) पंचमहाभूत

(ग) आत्मा

(घ) मन

2. जल तत्व का मुख्य कार्य क्या है?

(क) स्थिरता

(ख) ऊर्जा

(ग) जीवन संरक्षण

(घ) गति

3. अग्नि तत्व क्या प्रदान करता है?

(क) जल

(ख) ऊर्जा

(ग) स्थूलता

(घ) शून्यता

4. वायु तत्व का गुण क्या है?

(क) गंध

(ख) गति

(ग) रूप

(घ) रस

5. आकाश का मुख्य गुण क्या है?

(क) रूप

(ख) स्पर्श

(ग) शब्द

(घ) गंध।

.....

॥ ओ३म् ॥

# वैदिकेतर-2

MDPHMN-204



दिव्य प्रकाशन



## वैदिकेतर-2

### MDPHMN-204

Credits – 04

Marks –100 (30+70)

#### उद्देश्य-

- समकालीन प्रमुख भारतीय दार्शनिकों से विद्यार्थियों का परिचय करवाना।
- समकालीन दार्शनिक चिन्तन एवं प्रमुख अवधारणाओं से विद्यार्थियों को अवगत कराना।
- भारतीय दार्शनिक परम्परा के विकास में समकालीन दार्शनिकों के योगदान के बारे में विद्यार्थियों को अवगत कराना।

#### खण्ड- 1 स्वामी विवेकानन्द एवं रविन्द्रनाथ टैगोर

1 क्रेडिट

इकाई- 1 स्वामी विवेकानन्द- धर्म का आशय, धर्म का उद्भव

इकाई- 2 धर्म का स्वरूप, धर्म का महत्व एवं मूल्य

इकाई- 3 सार्वभौमिकता - धर्म का स्वरूप एवं आदर्श

इकाई- 4 रविन्द्रनाथ टैगोर- अशुभ की समस्या

#### खण्ड- 2 महर्षि अरविन्द, राधाकृष्णन

1 क्रेडिट

इकाई- 5 महर्षि अरविन्द- त्रिविध रूपान्तरण स्वचेतना

इकाई- 6 अतिमानव की अवधारणा, ज्ञान पुरुष, दिव्य जीवन

इकाई- 7 राधाकृष्णन-धार्मिक अनुभूति, अन्तर्दृष्टि

इकाई- 8 बुद्धि और अन्तर्दृष्टि, अन्तर्दृष्टि का स्वरूप

#### खण्ड- 3 शंकराचार्य, रामानुजाचार्य

1 क्रेडिट

इकाई- 9 शंकराचार्य- अद्वैत ब्रह्मसूत्र के परसद्विधा भाष्यकार, प्रमुख आचार्य

इकाई- 10 वेदान्त तत्त्वमीमांसा, आत्मा का स्वरूप, अनिर्वचनीयतावाद, माया, ईश्वर, जगत् विचार

इकाई- 11 रामानुजाचार्य- विशिष्टाद्वैत के आचार्य-ब्रह्मविचार, तत्त्वमीमांसा

इकाई- 12 ईश्वर, उपास्य ब्रह्म, जीव और ईश्वर, सत्य का लक्षण

#### खण्ड- 4 मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य

1 क्रेडिट

इकाई- 13 मध्वाचार्य -द्वैत वाद पदार्थ-मीमांसा, जीव, परमात्मा, भेद का स्वरूप

इकाई- 14 निम्बार्काचार्य - द्वैताद्वैत पदार्थ-मीमांसा, जीव, जड़ तत्व, अंश-अंशी विचार, ईश्वर

इकाई- 15 बल्लभाचार्य-शुद्धाद्वैतवाद-ब्रह्म, जगत्

इकाई- 16 पुष्टिमार्ग।

#### परिणाम-

- विद्यार्थी समकालीन भारतीय दार्शनिकों के बारे में जानकारी प्राप्त कर सकेंगे जिससे उनके दार्शनिक एवं वैचारिक विकास संभव हो सकेगा।
- विद्यार्थी यह समझने में समर्थ हो सकेंगे कि दार्शनिक विचारधारा किस प्रकार व्यक्तित्व निर्माण, राष्ट्रीय राजनीति एवं सामाजिक संरचना को सकारात्मक रूप से प्रभावित करती है।

## विषय-सूची

| विषय                                                                                          | क्र.सं.      |
|-----------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|
| <b>खण्ड- 1 स्वामी विवेकानन्द एवं रविन्द्रनाथ टैगोर</b>                                        | <b>04-18</b> |
| इकाई- 1.1 स्वामी विवेकानन्द- धर्म का आशय, धर्म का उद्भव                                       | 04-06        |
| इकाई- 1.2 धर्म का स्वरूप, धर्म का महत्व एवं मूल्य                                             | 07-10        |
| इकाई- 1.3 सार्वभौमिकता-धर्म का स्वरूप एवं आदर्श                                               | 11-14        |
| इकाई- 1.4 रविन्द्रनाथ टैगोर-अशुभ की समस्या                                                    | 15-18        |
| <b>खण्ड- 2 महर्षि अरविन्द, राधाकृष्णन</b>                                                     | <b>19-32</b> |
| इकाई- 2.1 महर्षि अरविन्द- त्रिविध रूपान्तरण स्वचेतना                                          | 19-21        |
| इकाई- 2.2 अतिमानव की अवधारणा, ज्ञान पुरुष, दिव्य जीवन                                         | 22-24        |
| इकाई- 2.3 राधाकृष्णन-धार्मिक अनुभूति, अन्तर्दृष्टि                                            | 25-29        |
| इकाई- 2.4 बुद्धि और अन्तर्दृष्टि, अन्तर्दृष्टि का स्वरूप                                      | 30-32        |
| <b>खण्ड- 3 शंकराचार्य, रामानुजाचार्य</b>                                                      | <b>33-43</b> |
| इकाई- 3.1 शंकराचार्य- अद्वैत ब्रह्मसूत्र के परसद्विधा भाष्यकार, प्रमुख आचार्य                 | 33-35        |
| इकाई- 3.2 वेदान्त तत्त्वमीमांसा, आत्मा का स्वरूप, अनिर्वचनीयतावाद, माया, ईश्वर, जगत् विचार    | 36-37        |
| इकाई- 3.3 रामानुजाचार्य- विशिष्टाद्वैत के आचार्य-ब्रह्मविचार, तत्त्वमीमांसा                   | 38-40        |
| इकाई- 3.4 ईश्वर, उपास्य ब्रह्म, जीव और ईश्वर, सत्य का लक्षण                                   | 41-43        |
| <b>खण्ड- 4 मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य</b>                                       | <b>44-55</b> |
| इकाई- 4.1 मध्वाचार्य-द्वैत वाद पदार्थ-मीमांसा, जीव, परमात्मा, भेद का स्वरूप                   | 44-46        |
| इकाई- 4.2 निम्बार्काचार्य- द्वैताद्वैत पदार्थ-मीमांसा, जीव, जड़ तत्त्व, अंश-अंशी विचार, ईश्वर | 47-50        |
| इकाई- 4.3 बल्लभाचार्य-शुद्धाद्वैतवाद-ब्रह्म, जगत्                                             | 51-53        |
| इकाई- 4.4 पुष्टिमार्ग।                                                                        | 54-55        |

## खण्ड-1 स्वामी विवेकानन्द एवं रविन्द्रनाथ टैगोर

### इकाई-1.1 स्वामी विवेकानन्द- धर्म का आशय, धर्म का उद्भव

#### उद्देश्य-

1. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म के आशय को समझ सकेंगे।
2. धर्म की अनिवार्यता एवं मानव जीवन में उसके महत्व का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. धर्म के उद्भव सम्बन्धी विवेकानन्द के विचारों का अध्ययन एवं व्याख्या कर सकेंगे।

#### धर्म का उद्भव-

**धर्म का आशय-** विवेकानन्द की मान्यता है कि मानव जाति के भाग्य की दिशा-निर्देश देने वाली शक्तियों में शायद सबसे सबल प्रभाव धर्म का ही रहता है। वे इस बात को बार-बार दुहराते हैं कि धर्म जीवन का एक अनिवार्य पक्ष है। सामान्यतः जीवन के लिये उन्हीं वस्तुओं को अनिवार्य समझा जाता है, जो हमारी दैनिक आवश्यकताओं को पूर्ण करती हैं। भोजन, वस्त्र, आवास आदि को इसी दृष्टि से जीवन के लिये अनिवार्य माना जाता है। इनसे हमारी शारीरिक एवं भौतिक मांगों को पूर्ति होती है। किन्तु, विवेकानन्द का कहना है कि हमारे जीवन की आवश्यकताएं इन्हीं भौतिक आवश्यकताओं तक सीमित नहीं हैं। इस बात का सबसे स्पष्ट प्रमाण यह है कि जिन्हें सुख, सुविधा के सारे ढंग उपलब्ध हैं, वे मात्र उससे सन्तुष्ट नहीं हो जाते, हर प्रकार की भौतिक सम्पन्नता के उपलब्ध रहने पर भी उनसे जब उत्पन्न होने लगता है, तथा वह व्यक्ति इससे कुछ उच्चतर आकांक्षाओं को पूर्ति का इच्छुक हो जाता है। इसी उच्चतर आकांक्षाओं की ओर सतत् प्रेरित होते रहना धार्मिक आवश्यकता है, तथा, जैसा कि विवेकानन्द कहते हैं, यह भी जीवन की एक अनिवार्य आवश्यकता है।

जीवन के लिये धर्म की अनिवार्यता का निर्देश विवेकानन्द अनेक प्रकार से करते हैं। कुछ ऐसे भी विद्वान् तथा चिन्तक हैं जो धर्म की अनिवार्यता को नहीं स्वीकारते, तथा दिखाते हैं कि बिना धर्म की ओर उन्मुख हुए भी जीवन सबल ढंग से चल सकता है। विवेकानन्द का कहना है कि यदि ऐसे विचारकों की बातों पर ध्यान दिया जाय तो स्पष्ट हो जायेगा कि धर्म के जिस प्रकार के उदाहरणों का वे उल्लेख करते हैं तथा यह दिखाते हैं कि उनके बिना जीवन सबल ढंग से चल सकता है, वे सभी उदाहरण वस्तुतः धर्म की वास्तविकता के उदाहरण नहीं, बल्कि धर्म के बाह्य अभिव्यक्तियों या धर्म के कुछ आकस्मिक साहचर्यों के उदाहरण हैं। धर्म की वास्तविकता उच्चतर आकांक्षाओं में है, ऐसी आकांक्षाओं में, जो भौतिक आवश्यकताओं से उच्चतर हैं। विवेकानन्द अब धर्म को जीवन के लिये अनिवार्य कहते हैं, तो उनका तात्पर्य इन उच्चतर आकांक्षाओं से है जो स्पष्टतः हर जो में अनिवार्यतः वर्तमान है।

विवेकानन्द धर्म की अनिवार्यता का निर्देश करते हैं कि इसमें एक ऐसी विवशता है कि धर्म का पूर्ण परित्याग असम्भव है। जहां-जहां धर्म के परित्याग पर सशक्त रूप से बल दिया गया है, वहाँ-वहाँ धर्म का परित्याग ही धर्म बन गया है। उसी प्रकार, विवेकानन्द धर्म की अनिवार्यता के पक्ष में प्रमाण प्रस्तुत करते हुए कहते हैं कि यह ऐतिहासिक तथ्य है कि धर्म हर काल तथा हर संस्कृति में जीवित रहा है, इसकी अनिवार्यता के समर्थन में प्रमाण हैं। धर्म को कभी नकारा नहीं जा सकता है। सामाजिक तथा राजनैतिक संस्थाएं कभी-कभी प्रबलरूप में शक्तिशाली बन जाती हैं, किन्तु उनके प्रभाव शिथिल हो जाता है, तथा इतिहास क्रम में इनमें से अनेक संस्थाएं लुप्त भी होती रही हैं। किन्तु, किसी काल या किसी देश में कभी भी धर्म का पूर्ण निबन्ध नहीं हो पाया। इसके उन्मूलन के सशक्त प्रयत्न भी होते रहे हैं, जिससे धर्म जीवित अवश्य रहा भले ही उसका स्वरूप परिवर्तित होता रहा है। इस ऐतिहासिक तथ्य से धर्म का स्वरूप एवं महत्ता स्पष्ट रूप में सिद्ध हो जाती है।

**धर्म का उद्भव-** विवेकानन्द के लिये यह समस्या बड़ी महत्वपूर्ण है कि धर्म का उद्भव कैसे हुआ है। प्रारम्भिक मानव के समक्ष कौन-सी ऐसी समस्याएं उत्पन्न हो गयीं- क्या उपादान प्रकट हो गया कि उनके निराकरण के लिये धर्म का उद्भव हुआ। यह समस्या महत्वपूर्ण है कि इस अर्थ में हो कि इससे यह जानकारी तो मिलती है कि किन परिस्थितियों में धर्मिकता उपजती है, साथ ही साथ इस जानकारी से धर्म के स्वरूप पर बड़ा ही महत्वपूर्ण प्रकाश भी पड़ता है। इस सम्बन्ध में दो सिद्धान्तों को विद्वानों के द्वारा मान्यता मिली है। एक तो जीवात्मवाद का सिद्धान्त है, तथा दूसरा सिद्धान्त यह मानता है कि धर्म की उत्पत्ति परात्मकता की ओर उन्मुख होने में होती है। जीवात्मवाद के समर्थकों ने यह विचार दिया है कि किसी न किसी प्रकार के जीवात्म-पूजा में धर्म का प्रारम्भ हुआ है, वह पूजा मृत आत्म का हो, पूर्वजों का हो, या किसी

अन्य प्रकार को जीव-शक्ति का। दूसरे सिद्धान्त में यह कहा गया है कि कुछ प्राकृतिक शक्तियों की प्रबलता से ऐसा भय उत्पन्न हुआ, ऐसी स्तब्धता कि लोगों ने प्रकृति के उन रूपों में कुछ पराशक्ति जैसी शक्ति को मान लिया, तथा उसकी पूजा करना प्रारम्भ कर दिया। इनके अनुसार धर्म का यही प्रारम्भिक रूप था। अतः पहले सिद्धान्त के अनुसार धर्म जीवात्म-पूजा में है, तथा दूसरे सिद्धान्त के अनुसार धर्म परात्म अथवा प्रकृति पूजा में है। विवेकानन्द कहते हैं कि यदि हम इन दोनों सिद्धान्तों का तुलना करते हैं तो देखेंगे कि उनमें कुछ समान विचार है। वे दोनों में निहित एक जैसा विचार इन दोनों सिद्धान्तों के मूल में ही हैं, तथा उसी मूल विचार की अभिव्यक्ति इन दोनों सिद्धान्तों में है। इस समान विचार का विवरण विवेकानन्द अपने ढंग से करते हैं, वे इसे इन्द्रियों की सीमाओं से परे उठने का संघर्ष कहते हैं। उनका कहना है कि यदि विचार कर देखें तो स्पष्ट हो जायेगा कि जीवात्म-पूजा तथा प्रकृति-पूजा दोनों के पीछे यही इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने की वृत्ति विद्यमान है।

प्राचीनतम मनुष्य के लिये मृत्यु एक विस्मयकारी घटना थी। एक सबल तथा सक्रिय व्यक्ति एकाएक निर्जीव हो जाता है। इन्द्रियों के परे यह समस्या उसकी वास्तविक समस्या थी, तो इन्द्रियों के परे के जगत से सम्पर्क स्थापित करने के प्रयास का एक भय जीवात्म-पूजा के रूप में उभरा। उसी प्रकार भीषण वर्षा, तूफान, बिजली को चमक, बादल की गरज, बाढ़, आग जैसी समस्याओं के लिये प्रारम्भिक मानव के पास कोई व्याख्या नहीं थी। उसकी इन्द्रियां इन प्राकृतिक घटनाओं को देखी तो थीं, किन्तु इन्हें पकड़ नहीं सके। अतः मनुष्य ने इनमें विशिष्ट प्रकार की शक्तियों को मान लिया जो इन्द्रियों को दिखाई नहीं देती, उन्हीं शक्तियों की पूजा प्रकृति-पूजा के रूप में उभरी। अतः इन दोनों उदाहरणों में इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने का स्पष्ट प्रयत्न है। विवेकानन्द के अनुसार इसी प्रयत्न में धर्म की उत्पत्ति है। वे स्वीकारते हैं कि शायद इसकी एक प्रारम्भिक झलक स्वप्न के माध्यम से उपलब्ध हुई हो।

**सम्भवतः** आदि मानव के मन में इस प्रकार का विचार आया हो। स्वप्नावस्था के विषय में वे सोचते हैं कि यह अवस्था भी शारीरिक दृष्टि से, थोड़े काल के लिये ही हो, किन्तु है तो मृत्यु जैसी अवस्था। किन्तु, इस अवस्था में मानव-मन सक्रिय रहता है। कुछ बातें देखता है, करता है तो इस सादृश्यता के आधार पर सम्भवतः सोचा जाता है कि मृत्यु के बाद भी मन या आत्मा उसी रूप में सक्रिय रह सकती है, जिस रूप में वह स्वप्न में रहती है। विवेकानन्द का विचार है कि सम्भवतः कुछ इसी प्रकार के विचार में “आत्म” एवं अमरता के विचार का उद्भव हुआ हो। किन्तु, वे यह भी कहते हैं कि यहाँ भी इन्द्रियों में परे जाने की प्रवृत्ति ही कार्य कर रही है।

अतः प्रायः निष्कर्ष रूप में विवेकानन्द कहते हैं कि चिन्तन के इतिहास में धर्म के उद्भव के जो भी सिद्धान्त दिये गये हैं, जैसे प्रकृति-पूजा (Naturism), जीवात्मवाद (Animism) जड़देववाद (Fetishism) आदि, उन सबों के पीछे एक सामान्य प्रवृत्ति स्पष्ट है। वे सब एक प्रकार से इस मान्यता पर टिके हुए प्रतीत होते हैं कि धर्म के उद्भव का मूलाधार इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने की प्रवृत्ति में है। आदिमानव के समक्ष तब ऐसी स्थितियां उपस्थित हो जाती होगी जिनसे जूझने में उसकी अपनी सामान्य शक्तियां असमर्थ प्रतीत होती होंगी, तो वह अधीर एवं चिन्तित हो जाता होगा। इसी व्याकुलता को अभिव्यक्ति उसके जिन कर्मों में होती रही है – उन्हीं कर्मों को बाद में हमने धार्मिक कर्म कहना प्रारम्भ किया। आदिमानव भी तो सामान्य जीवन में अन्य जीवों के समान हो रहता था, उसका भी जीवन इन्द्रियों को मांगों, उसको मूल सहज प्रवृत्तियों के हो संचालित था। किन्तु, ऐसी परिस्थितियां उत्पन्न होती रहीं जो उसके मूल सहज-प्रवृत्तियों के अनुकूल नहीं थी। अन्य जीवों के लिये उससे कोई अन्तर नहीं पड़ता, क्योंकि उनको संरचना में ऐसी नवीन परिस्थितियों से जूझने के कोई भिन्न उपकरण नहीं है। मानव में ऐसा है, इसी कारण वह इन परिस्थितियों के समक्ष अपनी ऐन्द्रिक एवं सहज क्रियाओं से ऊपर उठने को चेष्टा करता है, इसी चेष्टा में धर्म का उद्भव है। विवेकानन्द को धर्म के उद्भव की यह व्याख्या सबसे उपयुक्त व्याख्या प्रतीत होती है।

### स्मरणीय बिन्दु -

1. धर्म मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता है।
2. धर्म का उद्देश्य मनुष्य की अन्तर्निहित दिव्यता को प्रकट करना है।
3. विवेकानन्द ने धर्म के उद्भव को इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने की प्रवृत्ति से जोड़ा।
4. जीवात्मवाद और प्रकृति-पूजा धर्म के उद्भव के प्रमुख सिद्धान्त हैं।
5. धर्म नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का आधार है।

### शब्दावली -

| शब्द         | अर्थ                                     |
|--------------|------------------------------------------|
| धर्म         | मानव जीवन का आध्यात्मिक एवं नैतिक आधार   |
| जीवात्मवाद   | आत्माओं या पूर्वजों की पूजा का सिद्धान्त |
| प्रकृति-पूजा | प्राकृतिक शक्तियों की उपासना             |

**5 अंक के प्रश्न -**

1. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म का आशय स्पष्ट कीजिए।
2. धर्म की अनिवार्यता पर विवेकानन्द के विचार लिखिए।
3. जीवात्मवाद से आप क्या समझते हैं?
4. प्रकृति-पूजा सिद्धान्त का वर्णन कीजिए।
5. विवेकानन्द के अनुसार धर्म का वास्तविक उद्देश्य क्या है?

**15 अंक के प्रश्न -**

1. स्वामी विवेकानन्द के धर्म सम्बन्धी विचारों का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. धर्म के उद्भव सम्बन्धी विवेकानन्द के विचारों की विवेचना कीजिए।
3. धर्म की अनिवार्यता एवं महत्व पर विवेकानन्द के दृष्टिकोण का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
4. विवेकानन्द के अनुसार धर्म और आध्यात्मिकता के सम्बन्ध की व्याख्या कीजिए।
5. धर्म के उद्भव में जीवात्मवाद एवं प्रकृति-पूजा की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म क्या है?

(क) केवल पूजा-पद्धति

(ख) सामाजिक परम्परा

**(ग) मानव जीवन की अनिवार्य आवश्यकता**

(घ) राजनीतिक व्यवस्था

2. धर्म के उद्भव का एक प्रमुख सिद्धान्त कौन-सा है?

(क) भौतिकवाद

**(ख) जीवात्मवाद**

(ग) अस्तित्ववाद

(घ) यथार्थवाद

3. प्रकृति-पूजा का सम्बन्ध किससे है?

(क) पूर्वजों की पूजा

**(ख) प्राकृतिक शक्तियों की पूजा**

(ग) सामाजिक नियमों से

(घ) नैतिक शिक्षा से

4. विवेकानन्द के अनुसार धर्म का उद्देश्य क्या है?

(क) धन प्राप्ति

(ख) राजनीतिक शक्ति

**(ग) अन्तर्निहित दिव्यता को प्रकट करना**

(घ) सामाजिक विभाजन

5. विवेकानन्द के अनुसार धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है?

(क) सम्प्रदायवाद

(ख) कर्मकाण्ड

**(ग) सार्वभौमिकता**

(घ) रूढ़िवाद

## इकाई-1.2 धर्म का स्वरूप, धर्म का महत्व एवं मूल्य

### उद्देश्य-

1. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म के स्वरूप को समझ सकेंगे।
2. धर्म के महत्व एवं मूल्य का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध को स्पष्ट कर सकेंगे।

विवेकानन्द स्वीकारते हैं कि धर्म की परिभाषा नहीं दी जा सकती, धर्म के स्वरूप का पूर्णतया मिश्रित विवरण नहीं दिया जा सकता। धर्म की असंख्य परिभाषाएं दी गयी हैं, वे सभी गलत नहीं हैं, किन्तु उनमें से कोई धर्म के सभी पक्षों को पूर्णतया समाविष्ट नहीं कर पाती। अतः विवेकानन्द का कहना है कि धर्म के स्वरूप को समझने का सर्वश्रेष्ठ ढंग यही हो सकता है कि हम यह देखें कि किन बातों के नहीं रहने पर किसी क्रिया को धार्मिक क्रिया नहीं कहा जा सकता, कम से कम उन्हें धार्मिक क्रिया कहना सर्वथा उपयुक्त प्रतीत नहीं होता। इसके लिये प्रारम्भ में ही धर्म के दो पक्षों में भेद कर लेना उचित है। धर्म का एक आन्तरिक पक्ष होता है, तथा एक बाह्य पक्ष होता है। बाह्य पक्ष अनावश्यक या अप्रासंगिक नहीं है। इस पक्ष की सार्थकता एवं मूल्य एक विशेष रूप में ही स्पष्ट होता है, किन्तु इतना तो है ही कि इस बाह्य पक्ष को धार्मिकता भी निर्धारित होती है उसी अवस्था में जब वह धर्म के आन्तरिक पक्ष के अनुकूल-अनुरूप हो। अतः उनका कहना है कि धर्म की विशिष्टता को समझने के लिये इसके बाह्य पक्ष के स्थान पर इसके आन्तरिक पक्ष पर ही ध्यान केन्द्रित करना आवश्यक है। धर्म के स्वरूप को समझने के लिये धार्मिकता को समझना आवश्यक है। और, धार्मिकता धर्मबोध है, धार्मिक चेतना है। यह वह विशेष प्रकार की आन्तरिक अनुभूति है जिसकी हर प्रकार की अभिव्यक्ति धर्म का स्वरूप स्पष्ट करती है। अतः धर्म के स्वरूप को समझने का अर्थ इस अनुभूति का विश्लेषण है। विवेकानन्द के इस विश्लेषण में उनकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि की झलक मिलती है। इस अनुभूति का विवरण पूर्णतया मनोवैज्ञानिक प्रतीत होता है। उनकी मान्यता के सम्बन्ध में एक बात तो स्पष्ट हो चुकी है। धर्म की अनिवार्यता को स्वीकारने के अनुरूप वे यह रहते हैं कि धार्मिकता की अनुभूति, धार्मिक चेतना सार्वभौम है, हर व्यक्ति में है। उनका तो कहना है कि जो अपने को नास्तिक कहते हैं, उनमें भी धार्मिकता को अनुभूति विद्यमान है।

विवेकानन्द धार्मिकता का विश्लेषण करते हुए कहते हैं कि इसमें भी मानसिकता के तीनों अंग विद्यमान हैं। ये तीनों अंश हैं - ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक। स्वामी विवेकानन्द का मानना है कि ये तीनों हर धार्मिक मानसिकता में समान मात्रा में विद्यमान नहीं रहते। जिस धर्म में जिस अंश की प्रधानता होती है उस धर्म को उसी के अनुरूप संचलित किया जाता है। उदाहरणतः जिस धर्म में भावनात्मकता की मात्रा अधिक होती है उसे भावना-प्रधान धर्म या भक्तिमार्ग कहा जाता है, तथा जहां ज्ञान, चिन्तन, मनन पर अधिक बल दिया जाता है उस धर्म को भक्तिमूलक नहीं कह कर ज्ञानमार्गी धर्म कहा जाता है। इसी के कारण भावना-प्रधान धर्म भावनात्मक रूप में रहस्यवादी हो जाते हैं, जहां ज्ञान पर बल दिया जाता है वह बौद्धिक तथा अमूर्त हो जाता है तथा जिन धर्मों में कर्म एवं क्रियात्मकता पर बल दिया जाता है, उसमें धार्मिक कर्म तथा रीति-रिवाजों का बाहुल्य हो जाता है। किन्तु, विवेकानन्द कहते हैं कि धार्मिकता की विशिष्टता को समझने के लिये यह समझ लेना अनिवार्य है कि हर धर्म में ये तीनों अंश समन्वयित रूप में विद्यमान रहते ही हैं। ऐसा नहीं है कि ज्ञान-प्रधान धर्म में भावना तथा कर्म का स्थान नहीं है तथा कर्म-प्रधान धर्म में ज्ञान एवं भक्ति के लिये कोई स्थान नहीं है। इसके अतिरिक्त धार्मिकता की एक अनिवार्य विशिष्टता यह भी है कि उसमें अनिवार्यतः दैविक तथा अतिप्राकृतिक अंश रहते ही हैं। यह इसकी ऐसी विशिष्टता है कि इसके आधार पर इसे हर प्रकार की अन्य बौद्धिक चेतनाओं से अलग किया जा सकता है। प्रश्न है कि यह दैविक अंश क्या है, इस अतिप्राकृतिक अंश का स्वरूप क्या है ?

विवेकानन्द इस विषय पर संकुचित विचार नहीं रखते, उनका कहना है कि यह अंश किन्हीं रूपों में हो सकता है, वह एक व्यक्तिपूर्ण ईश्वर हो सकता है, निरपेक्ष सत् हो सकता है, कोई नियति या चरम भाग्य जैसा अतिप्राकृतिक नियम हो सकता है, या इसी प्रकार का अन्य कुछ। किन्तु, इतना वे अवश्य स्पष्टतः कहते हैं कि धर्म की विशिष्टता इस बात में है कि वह इसी प्रकार के किसी विषय की ओर चेतना को उन्मुख करता है। वैसे, धर्म के स्वरूप की विशद विवेचना में विवेकानन्द यह भी कहते हैं कि धर्म केवल इन्द्रियों की सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न नहीं करता, बल्कि वस्तुतः इसका लक्ष्य शुद्ध बौद्धिक विवेचनाओं से भी ऊपर उठने का है। उनका विश्वास है कि धार्मिक चेतना अन्ततः ऐसे तथ्यों को उजागर करती है जिसके विषय में इन्द्रिय-आश्रित संवेदनाओं, तथा शुद्ध बौद्धिकता का कोई आभास नहीं मिल पाता। इसी कारण कभी-कभी धर्म को इन्द्रियातीत, अनुभवातीत के साथ-साथ अतिबौद्धिक भी कहा जाता है। इस बात पर धर्म के विषयवस्तु के सम्बन्ध में एक बड़ा ही



महत्त्वपूर्ण तथा रोचक तथ्य प्रकाश में आता है। धार्मिक तथ्य उस प्रकार के तथ्य नहीं हैं जिनका अनावरण विज्ञान में, विज्ञान के द्वारा होता है। धार्मिक तथ्यों का स्वरूप वैज्ञानिक तथ्यों के सर्वथा समान नहीं है, क्योंकि एक प्रकार से धार्मिक तथ्य अमूर्त होते हैं, भावमूलक होते हैं।

विवेकानन्द का कहना है कि कोई अमूर्त सत्ता, कोई सर्वव्यापी सत्ता, कोई ईश्वर, कोई नैतिक नियम या कोई ऐसा भाव जो सभी अस्तित्ववान तथ्यों के पीछे हैं, किसी धार्मिक चेतना का विषय हो सकता है, और ये सब अमूर्तभाव ही हैं। ऐसे धर्मों में भी जहाँ अनुभावातीत क्षेत्रों में बिना प्रवेश किये धार्मिक निष्ठा एवं चेतना की बात होती है, वहाँ भी किसी नैतिक नियम या कोई आदर्श संगठन या मानवता का आदर्श जैसा ही कुछ धार्मिक चेतना का विषय रहता है। इस प्रकार के भाव भी अमूर्त ही हैं क्योंकि मानवता का आदर्श, आदर्श संगठन आदि के किसी मूर्तरूप का निर्देश नहीं हो सकता। फिर भी इन भावों में यदि निष्ठा न हो तो क्रियाशीलता का आधार ही समाप्त हो जाता है। अतः विवेकानन्द का निष्कर्ष है कि धार्मिक चेतना का विषय-वस्तु, जिस ओर हमारी धार्मिक चेतना उन्मुख होती है वह, कोई स्थूल तत्त्व नहीं होता, अमूर्तभाव ही होता है।

अनेक स्थलों पर धर्म का विवरण देते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि धर्म का अर्थ आध्यात्मिकता को जागृत करना है, या धर्म में अपने अन्तर में ईश्वरत्व को जगाना है। आध्यात्मिकता, ईश्वरत्व आदि उक्तियों का विवेकानन्द ने बड़े व्यापक अर्थों में व्यवहार किया है। आध्यात्मिकता के अन्तर्गत वैसी सभी चेष्टाओं को रखा जाता है जो ऐन्द्रिक तथा बौद्धिक चेष्टाओं से ऊपर उठने का प्रयत्न करती है। अतः धर्म को आध्यात्मिक कहने का सरलतम अर्थ तो यही है कि यहाँ इन्द्रियों तथा बुद्धि को सीमा से परे जाने की चेष्टा है। ऐसी स्थितियाँ उपस्थित होती रहती हैं, तथा प्राकृतिक शक्तियों की प्रबलता कभी-कभी इस रूप में प्रस्तुत होती हैं कि उनके समक्ष मानव को अपनी अपूर्णता तथा अपनी सार्वभौमिकता को स्पष्ट अनुभूति होती है। ऐसी अनुभूतियाँ जिसे व्याकुल बना देती हैं, तथा इसका निराकरण उसका लक्ष्य हो जाता है। इसी प्रयत्न में वह इन्द्रियों तथा बुद्धि की सीमा से ऊपर उठकर अप्राकृतिक तथा दैविक आधारों को ढूँढ लेता है। विवेकानन्द के अनुसार यही धर्म है यही उसकी धार्मिकता की अनुभूति है।

धर्म की एक अन्य विशेषता विवेकानन्द को महत्त्वपूर्ण प्रतीत होती है। यह ठीक है कि व्यक्ति के लिये धर्म का विशेष अर्थ तथा मूल्य तो होता ही है, किन्तु विवेकानन्द का कहना है कि इसके अतिरिक्त धर्म में सामाजिकता का अंश भी रहता है। सामान्यतः नैतिकता तथा धार्मिकता में भेद यह कह कर किया जाता है कि नैतिकता का संदर्भ समाज है-सामाजिक जीवन है, जब कि धार्मिकता सामाजिकता से भी ऊपर उठ जाती है। विवेकानन्द का कहना है कि इस प्रकार के भेद करने से इन दोनों के सम्बन्ध में कुछ भ्रान्तिपूर्ण धारणाओं के उत्पन्न होने की सम्भावना जागती है। उनके अनुसार तो धर्म नैतिकता के लिये भी एक सशक्त आधार प्रस्तुत कर सकता है। वस्तुतः नैतिकता में मापदण्ड की समस्या बड़ी कठिन समस्या बन जाती है। किसी निर्देश को शुभ कहने के आधार पर ही प्रश्नचिह्न उठते रहते हैं। फलतः नैतिक आदेश बहुधा अनिश्चित, अविवेकी तथा अन्धानिर्देश प्रतीत होने लगते हैं। इसी स्थल पर नैतिकता के लिये धर्म की उपयोगिता एवं मूल्य है, धर्म नैतिकता को एक स्पष्ट एवं सुनिश्चित आधार एवं मापदण्ड प्रस्तुत कर देता है। उदाहरणतः दूसरों का हित सामान्यतः एक स्पष्ट नैतिक निर्देश के रूप में प्रस्तुत होता है। किन्तु यह प्रश्न तो उठता ही रहता है कि हम क्यों दूसरे का हित करें। अब यदि हम इसका कोई लक्ष्य निर्धारित करते हैं तो वह लक्ष्य सीमित उद्देश्य की ही पूर्ति करता है। जैसे हम कहते हैं कि इससे समाज में संगठन-शान्ति आदि बढ़ेगी। किन्तु यह लक्ष्य इस समाज के सदस्यों तक सीमित हो जाता है, किसी अन्य समाज के सदस्यों के लिये यह आधार यथेष्ट नहीं है। इसका अर्थ होता है कि नैतिकता सार्थक तभी हो सकती है जब उसका लक्ष्य तथा उसका आधार सीमित न हो, सार्वभौम हो। विवेकानन्द का कहना है कि नैतिकता को ऐसा ही सार्वभौम आधार धर्म के द्वारा प्राप्त होता है। यदि जनहित का भी अथवा सभी नैतिक आदेशों के पोछे सत् को अनिवार्य एकरूपता में विश्वास उत्पन्न हो सके, तो नैतिकता का यह परम सार्वभौम आदर्श होगा तथा इसी आस्था को जगाने का आदर्श धर्म है। इस दृष्टि से धर्म ही नैतिकता को अन्तिम आधार प्रस्तुत कर सकता है।

**धर्म का महत्त्व एवं मूल्य** - विवेकानन्द समझते हैं कि धर्म का एक अन्य प्रकार से भी महत्त्व एवं मूल्य है। यह मन उच्चतम तथा सर्वथा स्वस्थ अनुशासन है। इन्द्रियों तथा बुद्धि की सीमा से ऊपर उठने का प्रयत्न, असीम एकत्व की अनुभूति का प्रयत्न-यह सब ऐसे अनुशासन हैं जिससे श्रेष्ठतर अनुशासन की कल्पना भी मानव मन के द्वारा सम्भव नहीं है। इस अनुशासन के विचार में हो अजीब प्रसन्नता एवं सन्तुष्टि है। इसके द्वारा मनुष्य सामान्य सांसारिक झंझटों, क्लेशों तथा अशुभ रूपों से ऊपर उठता जाता है, तथा आन्तरिक शान्ति एवं आनन्द की ओर उन्मुख होता है। यही कारण है कि इतिहास के हर काल में धर्म एक सशक्त प्रेरक के रूप में जीवित रहा है। विवेकानन्द का स्पष्ट विचार है कि जिस प्रकार का प्रभाव धार्मिक आदर्शों का मानव मन पर पड़ता है, वैसा प्रभाव किसी अन्य आदर्श का नहीं पड़ता।

किन्तु, विवेकानन्द हर स्थल पर एक सावधानी रखने की चेतावनी देते हैं। उनका कहना है कि हमारे लिये सदा वास्तविक धर्म तथा साम्प्रदायिक धर्म के अन्तर को स्पष्ट रूप में ध्यान में रखना अनिवार्य है। यदि ध्यान से देखा जाय तो स्पष्ट हो जायेगा



कि धर्म के विरुद्ध जो भी आपत्तियां उठायी गयीं हैं, वे वस्तुतः धार्मिक सम्प्रदायों से संचालित धर्म के विरुद्ध उठायी गयी हैं, वास्तविक धर्म के विरुद्ध नहीं। संस्था तथा सम्प्रदाय धर्म को अनावश्यक ढंग से सीमित कर देते हैं, तथा उसे शाखाओं में विभाजित कर उनकी पृथक्ता पर बल देते हैं। इसी प्रवृत्ति में धार्मिक द्वेष तथा आपसी संघर्ष का बीज विद्यमान है। विवेकानन्द का कहना है कि वास्तविक धर्म संस्था एवं सम्प्रदायों का धर्म नहीं है, वह तो वास्तविक अर्थ में सार्वभौम धर्म है। धर्म की सार्वभौमता धर्म का सार है। विवेकानन्द स्पष्ट रूप में कहते हैं, "When we come to the real spiritual universal concept then and then Alone religion will become real And living it will come into our very nature live in our every moment penetrate every pore of our society And be infinitely more A power of good than it has ever been before-"

जैसा कि इस पंक्ति से स्पष्ट है, वास्तविक धर्म संस्थानों में बंधा हुआ नहीं होता। धर्म तो वास्तविक तभी होता है जब वह वास्तविक अर्थ में सार्वभौम हो जाये। इस अर्थ में सार्वभौम होने का अर्थ है कि धर्म का हर अनिवार्य अंग, हर अनिवार्य विषय वस्तु सार्वभौम रहे। इसे स्पष्ट करने के लिये हम धर्म के अनिवार्य अंगों का विश्लेषण करते हुए यह देखें कि उन सबों के वास्तविक अर्थ में सार्वभौम होने का तात्पर्य क्या है। विवेकानन्द का कहना है हर धर्म के तीन अनिवार्य अंग होते हैं- उसका दर्शन पक्ष, उसका मिथिक पक्ष, तथा उसका धार्मिक रीति-रिवाज एवं कर्म का पक्ष (Philo- sophy - Mythology And Ritual) ये तीनों हर धर्म में विद्यमान रहते ही हैं। उसके दर्शन पक्ष के अन्तर्गत उस धर्म के सभी सिद्धान्त, उसके चरम लक्ष्य एवं आदर्श तथा आदर्श-प्राप्ति के मार्ग आदि का विवरण रहता है। दार्शनिक विचारों की जटिलतायें एवं सुक्ष्मतायें उनका अवबोध कठिन बना देती है, अतः धर्म उन्हें मूर्तरूप में प्रस्तुत करने का प्रयत्न करता है, तथा इसी प्रयत्न में वह अतिमानवीय शक्तियों को देव रूप दे कर उनके सम्बन्ध में कथाओं, मिथकों का अविष्कार करता है, तथा उन कहानियों के माध्यम से दार्शनिक विचारों को मूर्तरूप में प्रस्तुत करता है। यह धर्म का मिथिक पक्ष है। इनके अतिरिक्त धर्म का एक रीतिरिवाज सम्बन्धी धार्मिक पक्ष भी होता है जिसमें धार्मिक कर्मों की अनुशंसा होती है। इस कर्मपक्ष का महत्त्व तथा मूल्य इस बात में है कि एक ओर तो वह इन कर्मों के माध्यम से धार्मिक विश्वास में आस्था एवं अभिरुचि बनाये रखने का साधन प्रस्तुत करता है, तथा दूसरी ओर यह धार्मिक संगठन एवं व्यवस्था का आधार बन जाता है।

विवेकानन्द स्वीकारते हैं कि हर धर्म का अपना विशिष्ट दर्शन, अपने ढंग की मिथिक-गाथायें तथा अपने ढंग के धार्मिक रीतिरिवाज होते हैं। वे यह भी स्वीकारते हैं कि इसी भिन्नता के कारण विभिन्न धर्मों में आपसी वैमनस्य, प्रतिद्वन्द्विता तथा संघर्ष आदि उत्पन्न होते रहते हैं। किन्तु विवेकानन्द का कहना है कि धर्म यदि वास्तविक अर्थ में सार्वभौम है तो उसे इन संघर्षों से ऊपर उठना है, उसके दर्शन, उसकी मिथिक-गाथायें, उसके धार्मिक रीति-रिवाज आदि सभी को वास्तविक अर्थ में सार्वभौम होना है। किन्तु प्रश्न यह है, और यही कठिनाई भी है कि क्या सचमुच धर्म का कोई सार्वभौम दर्शन, या सार्वभौम मिथिक, या सार्वभौम धार्मिक कर्मपक्ष सम्भव है? क्या कोई ऐसा दर्शन, मिथिक या कर्म हो सकता है जो सभी को समानरूप में ग्राह्य एवं मान्य हो? विवेकानन्द को ऐसी सम्भावना में संशय अवश्य है, फिर भी वे वास्तविक अर्थ में सार्वभौम धर्म की सम्भावना को स्वीकार करते हैं। अतः उनके इस कठिन विचार का कुछ विशद विवरण अनिवार्य प्रतीत होता है।

#### स्मरणीय बिन्दु -

1. धर्म का वास्तविक स्वरूप आन्तरिक अनुभूति है।
2. धर्म के दो पक्ष हैं - आन्तरिक एवं बाह्य।
3. धार्मिक चेतना के तीन अंग हैं - ज्ञान, भावना और क्रिया।
4. धर्म नैतिकता एवं आध्यात्मिकता का आधार है।
5. विवेकानन्द ने धर्म को सार्वभौमिक शक्ति माना।

#### ( शब्दावली )

| शब्द          | अर्थ                            |
|---------------|---------------------------------|
| धार्मिक चेतना | आध्यात्मिक अनुभूति एवं आस्था    |
| आध्यात्मिकता  | आत्मिक उन्नति की अवस्था         |
| नैतिकता       | सदाचार एवं उचित आचरण            |
| सार्वभौमिकता  | सबके लिए समान रूप से मान्य होना |
| अनुष्ठान      | धार्मिक क्रियाएँ एवं रीति-रिवाज |

## 5 अंक के प्रश्न

1. स्वामी विवेकानन्द के अनुसार धर्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
2. धर्म के आन्तरिक एवं बाह्य पक्षों का वर्णन कीजिए।
3. धार्मिक चेतना के तीन अंग कौन-कौन से हैं?
4. धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
5. धर्म का महत्व संक्षेप में लिखिए।

## 15 अंक के प्रश्न

1. स्वामी विवेकानन्द के धर्म सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. धर्म के स्वरूप एवं महत्व का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. विवेकानन्द के अनुसार धर्म और आध्यात्मिकता के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
4. धर्म के मूल्य एवं सामाजिक उपयोगिता पर विवेकानन्द के विचारों का अध्ययन कीजिए।
5. धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध का समालोचनात्मक विवेचन कीजिए।

## बहु विकल्पीय प्रश्न -

1. विवेकानन्द के अनुसार धर्म का वास्तविक स्वरूप क्या है?

(क) कर्मकाण्ड

## (ख) आन्तरिक अनुभूति

(ग) सम्प्रदायवाद

(घ) राजनीतिक शक्ति

2. धर्म के कितने पक्ष बताए गए हैं?

(क) एक

## (ख) दो

(ग) तीन

(घ) चार

3. धार्मिक चेतना का कौन-सा अंग नहीं है?

(क) ज्ञानात्मक

(ख) भावनात्मक

(ग) क्रियात्मक

## (घ) आर्थिक

4. विवेकानन्द के अनुसार धर्म का उद्देश्य क्या है?

(क) विभाजन उत्पन्न करना

(ख) धन अर्जित करना

## (ग) अन्तर्निहित दिव्यता को प्रकट करना

(घ) राजनीतिक शक्ति प्राप्त करना

5. धर्म का कौन-सा मूल्य सामाजिक एकता को बढ़ाता है?

(क) घृणा

## (ख) भाईचारा

(ग) संघर्ष

(घ) स्वार्थ

## इकाई-1.3 सार्वभौमिकता-धर्म का स्वरूप एवं आदर्श

### उद्देश्य-

1. स्वामी विवेकानन्द के सार्वभौमिक धर्म सम्बन्धी विचारों को समझ सकेंगे।
2. धर्म की सार्वभौमिकता एवं उसके आदर्श स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।
3. विभिन्न धर्मों के मध्य सामंजस्य एवं एकता की भावना को स्पष्ट कर सकेंगे।

यह तो एक ऐतिहासिक तथ्य है कि विश्व में विभिन्न धर्मों का आविर्भाव हुआ है जिनमें अपनी विशिष्टता के अनुरूप भिन्न-भिन्न धार्मिक विश्वास के आयामों तथा भिन्न-भिन्न धार्मिक कर्म-सम्बन्धी आवरण एवं नियमों को स्थापना हुयी है। यह भी इतिहास-सिद्ध है कि शेष: सभी काल में इन धर्मों में आपसी संघर्ष होते रहे हैं। यह भी सही है कि हर धर्म किसी न किसी रूप में धार्मिक संस्थाओं एवं सम्प्रदायों में बंधाता गया है। फलतः हर धर्म अपने सिद्धान्तों तथा अपने सम्प्रदायों को श्रेष्ठतम समझता रहा है किन्तु इन विवादों तथा स्पष्ट संघर्षों के बीच यह विलक्षण तथ्य भी स्पष्ट है, तथा यह भी इतिहास-सिद्ध है कि हर प्रधान धार्मिक सम्प्रदाय इन संघर्षों के साथ भी जीवित रहा है। विभिन्न धर्मों के आपसी संघर्ष किसी धर्म को मिटा नहीं पाये। बल्कि इन बाह्य तथा आन्तरिक संघर्षों के फलस्वरूप उनकी शक्ति तथा जीवित रहने की उनकी क्षमता बढ़ती ही रही है। जितना हो इस प्रकार के संघर्ष हुए हैं, उतना ही इन धर्मों का विस्तार हुआ है, तथा उतना ही वे सबल होते गये हैं।

विवेकानन्द को यह तथ्य बड़ा महत्वपूर्ण प्रतीत होता है। उन्हें प्रतीत होता है कि वह तथ्य इस महत्वपूर्ण बात का एक प्रकार से संकेत देता है कि धर्मों का यह संघर्ष वस्तुतः ऊपरी संघर्ष है, वे धर्मों के अन्तर को, उसके मूल को प्रभावित नहीं करते। विवेकानन्द कहते हैं कि एक दृष्टि से संघर्ष, वैचारिक मतभेद एवं विवाद आदि तो प्रकृति के अनिवार्य सोपान हैं। यदि मतभेद ही नहीं, हर व्यक्ति एक हो विचार सोचे तो विचार बंधाकर रुक जायगा। उनके अपने शब्दों में इसका विवरण इस प्रकार है। "It is the clash of thought the differentiation of thought that awakes thought-Whirls and eddies occur only in a rushing living stream- There are no whirlpools in stagnant dead water-"

भंवर गतिशील नदी के धारा में ही होते हैं, बांधो, रुके हुए स्थिर जलाशय में नहीं। यदि हर कोई एक हो विचार सोचे, तो वस्तुतः सोचने को कुछ रह नहीं जाता। अतः विवेकानन्द का कहना है कि धर्मों की विभिन्नता तथा उनका आपसी मतभेद एवं विवाद धर्मों के जीवन के लिये अनिवार्य है। किन्तु इससे कठिनाई का हल नहीं होता। यदि मतभेद एवं विवाद का होना धर्मों के लिए भी अनिवार्य है तो धर्म सार्वभौम कैसे हो पायेगा। इन विवादों में दावा तो यही किया जाता है कि हमारा धार्मिक विचार ही सत्य है तो सभी धार्मिक विचार किस प्रकार एक साथ सत्य हो सकते हैं ?

हम देखेंगे कि विवेकानन्द के अनुसार इसी प्रश्न के समाधान में सार्वभौम धर्म का स्वरूप उभरता है। सार्वभौम धर्म की सार्वभौमता मूलतः दो अनिवार्य लक्षणों पर आधारित होती है। एक बात तो यह है कि धर्म सार्वभौम तभी हो सकता है जब इसका द्वार सबों के लिये खुला रहे। धर्म को यह बात देखनी है कि नवजात शिशु अबोध तथा निर्दोष है। वह किसी धर्म के साथ पैदा नहीं होता। यह तो बाद में उसको अभिरुचि एवं मनोवृत्ति पर निर्भर करता है कि वह किस धर्म को स्वीकार ले। यह ठीक है कि जीवन में सामान्यतः हिन्दू मां-बाप का बच्चा हिन्दू धर्म को ही स्वीकारता है, तथा मुस्लिम मां-बाप का बच्चा इस्लाम को ही स्वीकारता है। ऐसा इसलिये होता है कि बचपन से ही उसकी शिक्षा-दीक्षा, उसका सामाजिक जीवन, उसका परिवेश उसे एक विशेष धर्म की ओर उन्मुख कर देता है, किन्तु धर्म में यह नहीं कहा जाता कि बच्चा किसी धर्म को लेकर पैदा ही होता है। धर्म तो व्यक्ति के अपने उन्मुख निर्णय पर आधारित है। अतः धर्मों को सार्वभौमता की एक पहचान यह है कि उसके द्वार हर व्यक्ति के लिये खुले रहें। हर व्यक्ति के लिये खुल जाने ने यह सार्वभौम हो जाता है।

धर्मों के सार्वभौम होने की दूसरी शर्त यह है कि ऐसे सार्वभौम धर्म में यह शक्ति होनी चाहिये कि वह विभिन्न संस्थाओं को सन्तुष्ट एवं तृप्त कर सकें। हमने यह भी देखा है कि उनमें आपसी मतभेद तथा विवाद भी रहेगा ही। सार्वभौम धर्म को इन मतभेदों एवं विवादों से ऊपर उठना है, इसके लिये उसे सभी धार्मिक संस्थाओं को साथ लेकर चलना है, वह किसी को उपेक्षा नहीं कर सकता। अतः धर्म सार्वभौम तभी हो सकता है जब उसमें सभी विभिन्न धर्म संस्थाओं को भी सार या सार्थकता दिखाई है।

प्रश्न है कि क्या इन दो कठिन शर्तों का पालन सम्भव है? क्या ऐसा सार्वभौम धर्म सम्बल हो सकता है जो हर व्यक्ति के लिये अपना द्वार खुला रखे, तथा हर धार्मिक संस्था को बौद्धिक तथा भावनात्मक रूप में सन्तुष्ट करे?

इस प्रश्न का विवेकानन्द के द्वारा दिया गया उत्तर विलक्षण है। वे स्पष्ट कहते हैं कि ऐसे

सार्वभौम धर्म की सम्भावना पर संशय करना, या उसको सम्भावना पर प्रश्न उठाना अकारण है क्योंकि ऐसा सार्वभौम धर्म वस्तुतः है उनका कहना है कि हम धर्म की बाह्यता में इतने उलझे हुए हैं, धर्म-सम्बन्धी विवादों तथा अपने धर्म को श्रेष्ठता को सिद्ध करने के प्रयत्नों में इतने खोये हुए हैं कि सार्वभौम धर्म की उपस्थिति से भी अनभिज्ञ बने हुए हैं। उनका कहना है कि इस सार्वभौम धर्म को उपस्थिति को चेतना जगाने के लिये हमें अपनी मानसिकता बदलनी है। तथा उसके लिये पहला कदम तो यही है कि धर्म-सम्बन्धी जिन विवादों में हम उलझे हैं। उनसे ऊपर उठें। उनसे ऊपर उठने के लिये उनके विवाद बिन्दुओं के स्थान पर हम उन बिन्दुओं पर ध्यान दें जो हमें इस विवाद से ऊपर उठाते हैं।

विवेकानन्द का कहना है कि इसके लिये तो प्रथमतः हमें यह समझना चाहिये कि यदि हम थोड़ा विचारपूर्वक ध्यान दें तो देखेंगे कि विश्व के विभिन्न धर्मों में कोई मौलिक विरोध नहीं है। कोई किसी दूसरे का खण्डन नहीं करता, बल्कि हर धर्म में हर दूसरे धर्म के विचारों को पुष्टि ही होती है। धर्म का केन्द्र जो सत्य है वह इतना व्यापक है कि एक साथ उसके सभी पक्षों पर विचार भी नहीं किया जा सकता हर धर्म उसी सत्य के किसी पक्ष या पहलू पर ध्यान देता है तथा भावातिरेक में समझ बैठता है कि सत्य में बस वही एक पक्ष है। धार्मिक विवाद का मूल कारण यही है। वस्तुतः हर धर्म में उस सत्य के किसी पक्ष पर प्रकाश में उस विचार को विकसित करने का कार्य होता है। इस दृष्टि से हर धर्म एक दूसरे का पूरक है, सहयोगी है, विरोधी नहीं। विरोधा तो तब होता है जब हम अपनी आंशिक दृष्टि को पूर्ण दृष्टि समझ लेते हैं। विवादों में निहित दृष्टियों के इस आंशिक स्वरूप को समझने से ही विवादों से ऊपर उठने का प्रयास सम्भव हो सकता है। इस बात पर बल देते हुए विवेकानन्द कहते हैं कि सत्य को देखने के ढंगों में जो भेद या अन्तर होता है उसे हम सत्य में भेद करने का आधार नहीं बना सकते। एक ही तथ्य को दो ढंगों से देखने पर भिन्न-भिन्न चित्र उभरते हैं जो परस्पर विरोधी हो सकते हैं, किन्तु इससे सत्य का कोई भेद नहीं उभरता। एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न कोणों से लिए गये चित्र भिन्न हो नहीं परस्पर विरोधी भी प्रतीत हो सकते हैं, किन्तु वे सभी चीज उसी वस्तु के हैं, जिसमें उस प्रकार से चिह्नित विरोध नहीं है। इसी प्रकार हम एक ही सत्य को अपने ढंग से देखते हैं, उस पर अपना रंग चढ़ाते हैं। इसी दृष्टिभेद से उस सत्य के भिन्न-भिन्न चित्र उभरते हैं, किन्तु वस्तुतः हर धर्म में निरूपित सत्य एक ही है।

अतः विवेकानन्द का निष्कर्ष है कि सार्वभौम धर्म की सम्भावना पर सोचने की आवश्यकता ही नहीं, सार्वभौम धर्म तो है ही। वे कहते हैं कि जिस प्रकार विश्व-बन्धुत्व के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि विश्व-बन्धुत्व वास्तविकता है, उसी प्रकार सार्वभौम धर्म के सम्बन्ध में कहा जा सकता है कि वह भी वास्तविकता है। विश्व बन्धुत्व एक तात्त्विक तथ्य है, मानवमात्र में एक मौलिक एकत्व है, यह और बात है कि अधिकांश व्यक्तियों को उसको चेतना नहीं है। उसी प्रकार सार्वभौम धर्म भी एक वास्तविकता है, भले ही बहुत व्यक्तियों को उसकी अवगति नहीं है। अब प्रश्न उठता है कि इसका स्वरूप क्या है? क्या यह कोई ऐसा धर्म है जिसमें सभी धर्मों के सामान्य एवं अनिवार्य लक्षण विद्यमान हैं? क्या विवेकानन्द ने सभी धर्मों के सार एवं सामान्य गुणों को ढूँढ लिया है?

विवेकानन्द को यह चेतना है कि इस प्रकार सभी धर्मों की तुलना कर उन सबों में समानरूप से विद्यमान लक्षणों को ढूँढ लेना कठिन हो नहीं प्रायः असम्भव है। विभिन्न धर्मों में धर्मों के विभिन्न पक्षों तथा पहलुओं पर बल दिया जाता है। उदाहरणतः इस्लाम में विश्व-बन्धुत्व पर बल दिया गया है, हिन्दू धर्म में आध्यात्म पर सर्वाधिक बल दिया गया है, ईसाई धर्म में प्रेम तथा सेवा के द्वारा आत्मशुद्धि पर बल दिया गया है। इन सबों की तुलना कर सादृश्यता के बिन्दुओं को पा लेना सरल नहीं है। जतः जब विवेकानन्द सार्वभौम धर्म की वास्तविकता पर बल देते हैं, तो उनका तात्पर्य ऐसे किसी धर्म से नहीं है जिसमें सभी धर्मों के समान लक्षण समाविष्ट है। सार्वभौम धर्म से वे किसी ऐसे धर्म को सूचित नहीं कर रहे जिसका दर्शन, मिथक, तथा धार्मिक कर्म सभी सार्वभौम हैं। उन्हें अवगति है कि कोई सार्वभौम दर्शन, या सार्वभौम मिथक या सार्वभौम धार्मिक रीति सम्भव ही नहीं है। ये सब संस्थानुसार भिन्न-भिन्न हो जाते हैं, बल्कि दर्शन तथा कर्म तो व्यक्ति-व्यक्ति में पृथक-पृथक हो जाते हैं। फिर भी उनका कहना है कि सार्वभौम धर्म तो है ही यह कोई अलग कोटि का कोई सर्वचा अनूठा धर्म नहीं है। वस्तुतः हर धर्म सार्वभौम धर्म है। हम अपनी सुविधा तथा बाह्य उद्देश्यों की पूति के लिये उस धर्म को सार्वभौमता को उपेक्षा कर उसे साम्प्रदायिक बना देते हैं। विवेकानन्द स्पष्ट रूप में कहते हैं कि सार्वभौम धर्म को मानने का अर्थ अलग से किसी धर्म को मानने की आवश्यकता नहीं है, हम चाहे जिस धर्म को अंगीकार करें, उसो में डूबें, उसो को विशिष्टता के अनुरूप चले, हम सार्वभौम धर्म को मानने लेंगे। उसके लिये केवल कुछ बातों पर ध्यान देना आवश्यक है। प्रथमतः तो यह आवश्यक है कि जिस धर्म में भी हम हों, उसके अनावश्यक, बाह्य रूपों पर ध्यान केन्द्रित कर हम बैठे नहीं रहें, बल्कि उसको आन्तरिकता को समझें। बाह्यता पर आवश्यकता से अधिक बल देने के कारण ही धर्मों में साम्प्रदायिकता का प्रवेश होता है। दूसरी बात, जिसे विवेकानन्द परमावश्यक मानते हैं, यह है कि हम अपने धर्म का पालन खुले हृदय से करें, अर्थात् यह समझते हुए करें कि मेरे लिये तो यही मार्ग है, किन्तु अन्य मार्ग भी सम्भव हैं। हमें यह स्वीकृति होनी चाहिये कि “सत्य” को प्राप्त करने के अनेकों मार्ग सम्भव हैं। अतः सार्वभौम धर्म को प्रवृत्ति का मूल इस विचार में है कि हमारे मार्ग के अतिरिक्त अन्य मार्गों की

सम्भावना है। अपने मार्ग के महत्व का यह अर्थ नहीं कि अन्य सभी द्वार तथा मार्ग का निषेध हो गया।

हर धर्म सार्वभौम धर्म हो सकता है यदि वह अपने मार्ग को वास्तविकता के साथ अन्य मार्गों को भी वास्तविक समझें। विवेकानन्द का कहना है कि सार्वभौम धर्म का मूल मंत्र है- स्वीकृति। इस स्थल पर स्वीकृति तथा सहिष्णुता में भेद करना आवश्यक है। सहिष्णुता (Tolerance) एक अनावृत्त अवधारणा है, यह बर्दाश्त करने, सहन करने की बात करता है। विवेकानन्द कहते हैं कि यदि एक धर्म दूसरे को केवल सहन करता रहे तो उसमें सार्वभौमता की दृष्टि नहीं जाग सकती। उसके लिये अन्य धर्मों के प्रति ज्ञानात्मक दृष्टि अनिवार्य है। इसे तो विवेकानन्द स्वीकृति (Acceptance) कहते हैं। वे किसी भी रूप में, किसी संस्था में पूजा-आर्चना कर सकते हैं। वे किसी मन्दिर में, किसी गिरजाघर में या किसी मस्जिद में कहीं भी प्रार्थना कर सकते हैं। उन्हें किसी भी धर्म ग्रन्थ से शिक्षा लेने में कोई हिचक नहीं। अतः अपने धर्म में स्थित रहते हुए भी हम संकीर्णता से ऊपर उठ सकें, तो हमारा धर्म हो सार्वभौम धर्म बन जाता है। सार्वभौम धर्म कोई आकाश से टपका नवीन धर्म नहीं, हर धर्म सार्वभौम धर्म है, केवल उस धर्म में बैठ हम अपने को किसी घेरे में नहीं बांधा लें, हम संकीर्णता से ऊपर उठें, तथा अन्य धर्मों के प्रति स्वीकृति का भाव इस अर्थ में रखें कि उसे भी सत्य-प्राप्ति का वास्तविक मार्ग समझें, तथा उससे भी कोई उपयोगी सीख मिले, तो उसे महत्वपूर्ण मानने के लिये भी तत्पर रहें।

उनका कहना है कि जहां विभिन्नतायें रहती हैं वहाँ एकता भी रहती है। सभी स्त्री-पुरुष एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वे सभी मानव तो हैं ही, सभी पेड़-पौधों, प्राणी एक दूसरे से सर्वथा भिन्न हैं, किन्तु वे सभी जीव तो हैं ही। उसी प्रकार सभी धर्म एक दूसरे से भिन्न हैं, किन्तु वे धर्म तो हैं ही। इस समानता का आधार है कि सभी धर्मों का केन्द्र-बिन्दु है ईश्वर। इस स्थल पर विवेकानन्द ईश्वर, शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थ में कर रहे हैं। ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण सर्वशक्तिमान, परम शुभ ईश्वर हो सकता है। यह विश्व के अन्तिम एकरूपता को सूचित कर सकता है। यदि ईश्वर शब्द के इस व्यापक अर्थ को ध्यान में रखें, तो यह स्पष्ट हो जायगा कि सभी धर्मों का चरम मध्य ईश्वर-प्राप्ति है। अतः ईश्वर को सार्वभौम धर्म के आदर्श के रूप में स्वीकारा जा सकता है। विवेकानन्द कहते हैं कि सार्वभौम धर्म में यह भी विशिष्टता होनी चाहिये कि वह हर मन को सहजरूप में स्वीकार्य हो। मनुष्यों में अभिरुचि, मनोवृत्ति, शिक्षा आदि की विलक्षणता होती ही है। फलतः एक ही बात हर व्यक्ति को रोचक नहीं भी लग सकती। अतः सार्वभौमता का दावा है, वहाँ यह बात ती होनी ही है कि उसमें सभी प्रकार की प्रार्थना के लिये स्थान हो। इसी कारण विवेकानन्द कहते हैं कि सार्वभौम धर्म में दर्शन, भावना कर्म, रहस्यवादिता सभी के लिये स्थान होना चाहिये। इसी बात पर बल देते हुए भारतीय विचारकों ने एकत्व की बात की है। कर्ममार्गों के लिये यह मानवमात्र का एकत्व है, रहस्यात्मक वृत्ति वालों के लिये यह निम्नतर आत्म तथा उच्चतर आत्मा का एकत्व है, भक्ति मार्गों के लिये यह भक्त तथा भगवान का एकत्व है, तथा ज्ञान-दर्शन बालों के लिये यह एक सत् की अनुभूति है।

“विवेकानन्द के शब्दों में इसकी विवेचना कुछ निम्नलिखित ढंग से हुयी है-”

And this religion Universal Religion is attained by what we in India call Yoga and Union- To the worker it is the union between men and the whole of Humanity to the mystic it is the union between his lower and Higherself to the lover union between himself and the God of love And to the philosopher it is union of All existence-

**स्मरणीय बिन्दु -**

1. सभी धर्म सत्य की ओर जाने वाले मार्ग हैं।
2. धर्म का वास्तविक स्वरूप सार्वभौमिक है।
3. संकीर्णता और अज्ञान धर्मों के संघर्ष का कारण हैं।
4. सार्वभौमिक धर्म प्रेम, सेवा और सहिष्णुता पर आधारित है।
5. विवेकानन्द ने विश्वबंधुत्व की भावना पर बल दिया।

**शब्दावली -**

| शब्द         | अर्थ                                      |
|--------------|-------------------------------------------|
| सार्वभौमिकता | सबके लिए समान रूप से मान्य होना           |
| सहिष्णुता    | दूसरों के विचारों का सम्मान करना          |
| संप्रदायवाद  | धर्म की संकीर्ण व्याख्या                  |
| विश्वबंधुत्व | सम्पूर्ण मानवता को एक परिवार मानना        |
| समन्वय       | विभिन्न विचारों में सामंजस्य स्थापित करना |

**5. अंक के प्रश्न**

1. सार्वभौमिक धर्म से क्या अभिप्राय है?

2. विवेकानन्द के अनुसार धर्मों की विविधता का कारण क्या है?
3. धर्म और संप्रदाय में अन्तर स्पष्ट कीजिए।
4. सार्वभौमिक धर्म की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
5. विश्वबंधुत्व पर विवेकानन्द के विचार लिखिए।

#### 15. अंक के प्रश्न

1. स्वामी विवेकानन्द के सार्वभौमिक धर्म सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. धर्मों की विविधता एवं एकता पर विवेकानन्द के दृष्टिकोण का अध्ययन कीजिए।
3. धर्म और संप्रदाय के अन्तर को स्पष्ट करते हुए सार्वभौमिक धर्म के आदर्श का वर्णन कीजिए।
4. विवेकानन्द के अनुसार सार्वभौमिक धर्म विश्वशान्ति में किस प्रकार सहायक है?
5. प्रेम, सेवा एवं सहिष्णुता के आधार पर सार्वभौमिक धर्म की व्याख्या कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. विवेकानन्द के अनुसार सभी धर्म किस ओर ले जाते हैं?

(क) संघर्ष की ओर

(ख) असत्य की ओर

(ग) सत्य की ओर

(घ) भौतिकता की ओर

2. सार्वभौमिक धर्म का आधार क्या है?

(क) संकीर्णता

(ख) प्रेम और सहिष्णुता

(ग) हिंसा

(घ) भेदभाव

3. संप्रदायवाद का परिणाम क्या होता है?

(क) एकता

(ख) आध्यात्मिकता

(ग) विभाजन और संघर्ष

(घ) विश्वबंधुत्व

4. विवेकानन्द ने मानव सेवा को क्या कहा?

(क) राजनीति

(ख) व्यवसाय

(ग) ईश्वर सेवा

(घ) सामाजिक कार्य

5. विश्वबंधुत्व का अर्थ क्या है?

(क) केवल एक राष्ट्र का विकास

(ख) सम्पूर्ण मानवता को एक परिवार मानना

(ग) धार्मिक संघर्ष

(घ) आर्थिक समृद्धि



## इकाई 1.4 रविन्द्रनाथ टैगोर-अशुभ की समस्या

### उद्देश्य -

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी:

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर के दार्शनिक विचारों को समझ सकेंगे।
2. अशुभ (म्अपस) की समस्या के सम्बन्ध में टैगोर के दृष्टिकोण का अध्ययन कर सकेंगे।
3. मानव जीवन, स्वतंत्रता एवं नैतिकता के सम्बन्ध में टैगोर के विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।

**अशुभ की समस्या** - प्रत्येक ईश्वरवादी विचार में अशुभ का होना एक समस्या का रूप ले लेता है। टैगोर के लिये भी यह समस्या है। उनके लिये दायित्व और बढ़ जाता है, क्योंकि वे अस्तित्व का लक्ष्य एक ऐसी स्थिति को मानते हैं जो सर्वदा आनन्दमय है, तो उन्हें यह व्याख्या देनी है कि जिस अस्तित्व का लक्ष्य ऐसा होता है उसमें दुःख, कष्ट अशुभ क्यों हैं ?

अशुभ की समस्या पर विचार करने के लिये इस प्रकार के कुछ प्रश्नों पर विचार करता पड़ता है- क्या अशुभ मनुष्य को कष्ट तथा देने के लिये है? क्या जीवन के लक्ष्य को प्राप्ति का अर्थ अशुभ से मुक्ति है? क्या जगत के निर्माता ईश्वर के द्वारा रचित जगत में अशुभ का रहना असंगति का सूचक नहीं है? इन्हीं प्रश्नों की विवेचना के द्वारा अशुभ की समस्या पर विचार होता है। स्पष्ट हैं कि अशुभ (evil) हमारे जीवन के वास्तविक तथ्य है। हमारे जीवन के सामान्य अनुभव इस बात के साक्षी हैं कि हम जीवन में अशुभ का सामना करना पड़ता है, जो दुख, कष्ट, संकट, विपत्ति आदि के रूप में प्रकट होते रहते हैं। टैगोर का कहना है कि सृष्टि में अशुभ का होना तो एक प्रकार से स्वाभाविक ही है। अशुभ अपूर्णता है, तथा सृष्टि में अपूर्णता तो रहेगी ही। सृष्टि ईश्वर तो नहीं है। ईश्वर का सीमितता में व्यक्त रूप है। यही कारण है कि सृष्टि के सभी प्राणी सीमित एवं अपूर्ण है, सृष्टि का अर्थ भी यही है-जहां सीमितता है, अपूर्णता है, वहाँ अशुभ तो रहेगा ही। अतः जगत में अशुभ के होने को नकारा नहीं जा सकता। अशुभ का होना एक वैचारिक समस्या उत्पन्न करता है। समस्या यह है कि यदि ईश्वर सर्व शक्तिमान, सर्वज्ञानी, परमशुभ है तो उसकी बनायी हुयी सृष्टि में अशुभ कैसे उत्पन्न हो गया? क्या अशुभ का होना उसकी शक्ति एवं परमशुभ रूप से असंगत नहीं हो जाता?

किन्तु टैगोर के समक्ष अशुभ की समस्या उस रूप में उपस्थित नहीं होती, क्योंकि इस समस्या के पीछे जो पूर्वमान्यता है, टैगोर उसे ही स्वीकार नहीं करते। इस समस्या के पीछे पूर्वमान्यता यह है कि सर्वशक्तिमान, परमशुभ ईश्वर की सृष्टि में सीमितता तथा अशुभ का होना असंगत है। टैगोर के अनुसार यह मान्यता ही ठीक नहीं है, क्योंकि सृष्टि तो सृष्टि है। ईश्वर नहीं है, अतः उसमें अपूर्णता तो रहेगी ही। सृष्टि की अपूर्णतायें ईश्वर को अपूर्ण नहीं बना देती है। अतः टैगोर के लिये इस प्रकार की वैचारिक समस्या, जो सामान्य ईश्वरवादी विचारक को उलझन में डाल देती है, कोई समस्या ही नहीं। यदि सृष्टि में रहता ही है, यदि यह अस्तित्व का अनिवार्य पक्ष है। तब तो समस्या अस्तित्वमूलक है। तब तो एक प्रकार से अस्तित्व ही अशुभ है क्योंकि अस्तित्व का अर्थ अशुभ के साथ जीना है। यह बात अपने में हो निराशाजनक तथा चिन्ता उत्पन्न करने वाली है। टैगोर कहते हैं कि इस प्रकार से अशुभ की उपस्थिति को समस्या बनाना दूसरे छोर पर जाना है दूसरी सीमा तक पहुंचना है, और यह विचार का अतिक्रमण है। टैगोर का कहना है कि जगत सृष्टि में अपूर्णता है। यह अजीब विडम्बना होगी कि हम जीवन में रहें, अस्तित्व के हर रस का पान करते रहें और अस्तित्व को अशुभ भी कहते रहें। अस्तित्व तो अपनी ही इस बात को सिद्ध करता है कि वह अशुभ नहीं है। टैगोर कहते हैं- "If existence was an evil, it would wait for no philosopher to prove 11- It is like convincing a man of suicide while all the time it stands before you in flesh- existence itself is here to prove that it cannot be an evil-"

अतः अशुभ है, जीवन का तथ्य है, किन्तु इससे यह सिद्ध नहीं होता कि अस्तित्व ही अशुभ है। तो अशुभ की समस्या के जो दो प्रचलित रूप हैं, उन रूपों में अशुभ तो टैगोर के लिये समस्या उत्पन्न ही नहीं करता। टैगोर के अनुसार अशुभ की समस्या क्या है? अशुभ का होना अपने में कोई समस्या नहीं है, इसके विषय में हमारे सोचने का ढंग इसे समस्या बना देता है। यह समस्या तभी उत्पन्न करता है जब हम सोचने लग जाते हैं कि अशुभ नहीं है, जब हम अशुभ को जीवन का शाश्वत एवं अनिवार्य पक्ष मान लेते हैं और यह सोचकर आश्वस्त रहते हैं कि इस अनिवार्यता से मुक्ति नहीं मिल सकती। अतः हमारा इस प्रकार से सोचने का ढंग ही गलत है। हमें इस सम्भावना को ओर तो जागरुकता होनी चाहिये कि सृष्टि को अपूर्णताओं से, अशुभ से ऊपर उठा जा सकता है, उनके परे जाया जा सकता है। इससे अशुभ की यथार्थता का निषेध भी नहीं होता, ठीक उसी प्रकार एक मील वाले खम्भे के पार जाने का अर्थ उस खम्भे की समाप्ति नहीं है। अशुभ की समस्या तो हमारे सोचने के ढंग पर आधारित है।

इस संदर्भ में टैगोर ने एक महत्वपूर्ण अवधारणात्मक स्पष्टीकरण किया है। अशुभ को समस्या मूलतः अशुभ को प्रचलित अवधारणा के कारण उत्पन्न होती है। हम अशुभ को शुभ का सर्वथा विपरीतार्थक समझ लेते हैं। अशुभ शुभ का पूर्णतया विपरीत भाव



नहीं है, ठीक वैसे ही जिस प्रकार पूर्णता एवं अपूर्णता पूर्णतया विरोधी भाव नहीं है। इनमें कम तथा मात्रा का भेद है। कुछ तत्व अधिक अपूर्ण हो सकते हैं, कुछ कम, जो पूर्णता की ओर निकट प्रतीत होता है वह अपेक्षाकृत कम अपूर्ण है। उसी प्रकार अशुभ की अधिक अशुभ तथा कम अशुभ रूप में सोचा जा सकता है। इस दृष्टि से अशुभ तथा शुभ पूर्णतया विरोधी नहीं है। किन्तु, हम सामान्यतः इसे नहीं देख पाते, जो शुभ का पूर्ण निषेध है। अशुभ को इसी प्रकार सभी संदर्भों से पृथक कर एक पृथक तत्व के रूप में देखने पर अशुभ में अनिवार्यता एवं परम तथ्यता दिखाई देती है। किन्तु टैगोर का कहना है कि सत का अवबोध इस प्रकार के पृथक्त्व की वृष्टि से, आंशिक दृष्टि से सम्भव ही नहीं है। वास्तविकता की समझ तभी हो सकती है जब इन तत्वों को भी उनको सम्पूर्णता में समझाने का प्रयास करें। उस दृष्टि से अपूर्णतायें अथवा अशुभ, शुभ या पूर्णता के विरोधी नहीं प्रतीत होंगे। बल्कि उस दृष्टि से तो यह भी प्रतीत हो सकता है कि वे पूर्णता की ओर अग्रसर होने के सोपान हैं। वे स्पष्ट कहते हैं—  
**"In fact imperfection is not a negation of perfection finitudo is not contradictory to infinity they are but completeness manifested in parta] infinity revealed within bounds—"**

इस बात की व्याख्या विभिन्न उपमाओं के माध्यम से करने का प्रयास किया गया है। उनकी एक उपमा इस प्रकार है— एक बच्चा को जो चलने की चेष्टा कर रहा है इस चेष्टा में वह बार-बार गिर पड़ता है, और उसे चोट भी लगती है। अब यदि हम यह कहें कि उसके मां-बाप कठोर हृदय के हैं, क्योंकि उन्होंने बच्चे को चोट लगने दिया, तो हमारे सोचने का ढंग उचित नहीं। किन्तु यदि हम यह सोचते हुए बच्चे को देखें कि उसका गिरना तो उसके चलना सीखने की प्रक्रिया का अनिवार्य अंग है, तो यह पूरा दृश्य आनन्द का स्रोत है। मां-बाप के लिये तो वात्सल्ययुक्त असीम आनन्द का स्रोत है। उसी प्रकार हम मृत्यु की वास्तविकता पर विचार करें। मृत्यु को अशुभ समझा जाता है, क्योंकि यह एक विशेष व्यक्ति के जीवन का अन्त है। किन्तु यह विचार उसी कारण उत्पन्न होता है जब हम मृत्यु को एक विशेष व्यक्ति के संदर्भ में जोड़ते हैं तथा उसे विश्व को सम्पूर्णता से पृथक कर एकांकी दृष्टि के अनुरूप सोचते हैं। किन्तु यदि हम मृत्यु पर विश्व को सम्पूर्णता की दृष्टि से विचार करें तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि यह तो एक व्यवस्थित योजना का अंश है। हम यह कल्पना करें कि मृत्यु की व्यवस्था यदि जगत में नहीं रहती तो क्या होता। विचार करें, उस अवस्था में जितने जीव, मनुष्य, प्राणी कीड़े-मकोड़े जो कभी भी उत्पन्न हुए थे, सब सदा जीवित रहते। उस अवस्था में क्या अस्तित्व नर्क नहीं बन जाता। भोजन, आवास सब कुछ कम पड़ जाता और धारती पर किसी व्यक्ति के लिये हाथ फैलाने का स्थान भी नहीं रह जाता। इस दृष्टि से देखने पर मृत्यु अशुभ प्रतीत नहीं होती, बल्कि विश्व-योजना का एक उपयोगी अंग प्रतीत होता है। अतः अशुभ की समस्या हमारे गलत ढंग से विचार करने के कारण उत्पन्न होती है।

टैगोर कहते हैं कि जिसे हम अशुभ समझते हैं, वे हमारे सीमितता के जीवन के अस्थायी अंग हैं। उनका होना, शान्ति उत्पन्न होने के समान है। वे उत्पन्न होती है। किन्तु उनमें स्थायित्व नहीं होता टैगोर ने इस बात के समर्थन में एक बड़ा उदाहरण प्रस्तुत किया है। हम ज्ञान या वैज्ञानिक ज्ञान के विकास के क्रम को देखें। तो पाते हैं कि इसका विकास, इसकी प्रगति भूलों, भ्रान्तियों आदि के माध्यम से ही होती रही है। हर नवीन खोज के बाद उसमें कोई दोष कोई कमी कोई भूल हो जाती है, तथा पुनः उस भूल को दूर करने वाले ज्ञान का आविर्भाव हो जाता है। अतः ज्ञानात्मक भूलों की अपनी उपयोगिता तो है ही, उनमें स्थायित्व भी नहीं है। यही बात अशुभ के साथ है। जिन्हें हम अशुभ कहते हैं वे विश्व व्यवस्था के उपयोगी अंग हैं, तथा इनमें स्थायित्व भी नहीं है। इस सादृश्यता से एक और महत्वपूर्ण बिन्दु पर प्रकाश मिलता है। ज्ञान के विकास क्रम में भूल एवं भ्रान्ति सत्य-प्राप्ति से बहुत ही अधिक मात्रा में उत्पन्न होते रहते हैं। ज्ञान की खोज में भूलें तो असंख्य करती हैं, सत्य तो कभी-कभी स्थापित होता है। किन्तु इतिहास उन असंख्य भूलों को स्मरण नहीं रखता, मात्र सत्य को प्रतिष्ठित करता है। उसी प्रकार अशुभ असंख्य हो सकते हैं, किन्तु उनको यथार्थता-उपयोगिता अन्ततः पूरी प्रक्रिया को शुभ की ओर प्रेरित करने में है। जिसे स्मरण रखना है और यह अशुभ नहीं, शुभ है। अशुभ इस दृष्टि से जीवन के विकास का अवरोधक नहीं है। अशुभ स्थायी भी नहीं, यह तो आत्म-अनुशासन का अवसर प्रदान करता है। अतः जब टैगोर के लिये अशुभ से सम्बन्धित समस्यायें सिमट कर एक बिन्दु पर आ जाती हैं। अब समस्या मात्र यही है कि अपूर्णता एवं अशुभ से पूर्णता एवं शुभ की ओर अवसर होने के मार्ग में तेजी कैसे जायें? इस समस्या के समाधान का अर्थ है कि प्रथमतः तो इस मार्ग को स्पष्ट करना अनिवार्य है, यह जानना आवश्यक है कि अपूर्णता से पूर्णता की ओर अग्रसर कैसे हुआ जा सकता है?

इस विवेचन में ही इस मार्ग का सामान्य निर्देश मिल चुका है। हम किसी भी वस्तु को अशुभ केवल इस आधार पर समझते हैं कि उसके विषय में हमारा दृष्टिकोण सीमित है, आंशिक है स्व-आधारित है। आवश्यकता है उस दृष्टिकोण में परिवर्तन लाने की। एक व्यक्ति अपने स्वार्थसिद्धि के लिये बड़ा कठिन परिश्रम करता है, विभिन्न प्रकार के कष्ट उठाता है। सामान्यतः कष्ट, अनावश्यक परिश्रम कष्टदायी है, अशुभ है। किन्तु इस कार्य में कष्ट में भी उसे सुख मिलता है, क्योंकि उसकी दृष्टि बदल गयी है। जो उसके शरीर के लिये कष्टदायी है, उसी को जब वह अपनी स्वार्थसिद्धि की योजना में बिठाकर देखता है— योजना को सम्पूर्णता की दृष्टि से देखता है तो वही कष्ट सुखप्रद प्रतीत होता है। अतः

आवश्यकता है दृष्टिकोण में परिवर्तन का, तब यह परिवर्तन स्व पर आधारित दृष्टि के स्थान पर सम्पूर्णता की दृष्टि अपनाने का।  
 टैगोर कहते हैं कि इस परिवर्तन के मार्ग का सामान्य विवरण यही है कि यहाँ आवश्यकता है स्व-चेतना (Self-consciousness) के स्थान पर आत्म-चेतना (Soul-consciousness) को विकसित करने का।

#### स्मरणीय बिन्दु -

1. अशुभ मानव जीवन की अपूर्णता का परिणाम है।
2. टैगोर ने अशुभ को स्थायी सत्य नहीं माना।
3. स्वतंत्रता नैतिक विकास के लिए आवश्यक है।
4. प्रेम और सौन्दर्य अशुभ को दूर करने की शक्ति रखते हैं।
5. मानव चेतना के विकास से अशुभ कम होता है।

#### शब्दावली -

| शब्द         | अर्थ                                         |
|--------------|----------------------------------------------|
| अशुभ         | दुःख, बुराई एवं अनैतिकता                     |
| नैतिकता      | सदाचार एवं उचित आचरण                         |
| स्वतंत्रता   | अपनी इच्छा से कार्य करने की क्षमता           |
| आध्यात्मिकता | आत्मिक उन्नति की अवस्था                      |
| मानवतावाद    | मानव कल्याण को सर्वोच्च मानने वाला दृष्टिकोण |

#### 5 अंक के प्रश्न

1. अशुभ की समस्या से क्या अभिप्राय है?
2. टैगोर के अनुसार अशुभ का कारण क्या है?
3. स्वतंत्रता और अशुभ के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
4. प्रेम और सौन्दर्य के सम्बन्ध में टैगोर के विचार लिखिए।
5. अशुभ से मुक्ति के उपाय बताइए।

#### 15 अंक के प्रश्न

1. रवीन्द्रनाथ टैगोर के अशुभ सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. टैगोर के अनुसार अशुभ और मानव स्वतंत्रता के सम्बन्ध का अध्ययन कीजिए।
3. अशुभ की समस्या के समाधान में प्रेम एवं आध्यात्मिकता की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. टैगोर के मानवतावादी दृष्टिकोण का समालोचनात्मक अध्ययन कीजिए।
5. ईश्वर, मानव और अशुभ के सम्बन्ध में टैगोर के विचारों की व्याख्या कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. टैगोर के अनुसार अशुभ क्या है?  
 (क) परम सत्य  
 (ख) स्थायी अवस्था  
 (ग) अपूर्णता का परिणाम  
 (घ) ईश्वर का स्वरूप
2. नैतिक अशुभ का कारण क्या है?  
 (क) प्राकृतिक आपदाएँ  
 (ख) स्वतंत्रता का दुरुपयोग  
 (ग) ईश्वर  
 (घ) प्रकृति
3. टैगोर ने किसे जीवन का मूल आधार माना?  
 (क) हिंसा  
 (ख) राजनीति  
 (ग) प्रेम और सौन्दर्य

(घ) धन

4. अशुभ से मुक्ति का प्रमुख साधन क्या है?

(क) घृणा

(ख) स्वार्थ

(ग) प्रेम एवं आध्यात्मिकता

(घ) संघर्ष

5. टैगोर के अनुसार ईश्वर कैसा है?

(क) क्रूर

(ख) सीमित

(ग) प्रेममय एवं सर्वव्यापक

(घ) अशुभ का कारण

## खण्ड-2 महर्षि अरविन्द, राधाकृष्णन

### इकाई-2.1 महर्षि अरविन्द-त्रिविध रूपान्तरण स्वचेतना

#### उद्देश्य-

1. महर्षि अरविन्द के चेतना सम्बन्धी विचारों को समझ सकेंगे।
2. त्रिविध रूपान्तरण की अवधारणा का अध्ययन कर सकेंगे।
3. आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया का विश्लेषण कर सकेंगे।

श्री अरविन्द के विविध रूपान्तरण के विचार को स्पष्ट कर लेना आवश्यक है। इसके सम्बन्ध में श्री अरविन्द ने मानव-विचार तथा विकास-प्रक्रिया विचार के संदर्भ में बहुत कुछ कहा है। मानव तथा जगत का अन्तिम रूपान्तरण जो इन्हें सत् के क्षेत्र में रूपान्तरित कर देगा वह अतिमानसिक रूपान्तरण (Superarmental Transformation) है। किन्तु श्री अरविन्द का कहना है कि यह अतिमानसिक रूपान्तरण तब तक सम्भव नहीं हो सकता जब तक कुछ अन्य ढंग के रूपान्तरण न हुआ हो। अतः आवश्यक हो जाता है कि इन विभिन्न प्रकार के रूपान्तरणों की अलग से विवेचना की जाये। श्री अरविन्द कहते हैं कि उच्चतर क्षेत्र में प्रवेश पाने के लिये तीन प्रकार के रूपान्तरणों का होना आवश्यक है। इन रूपान्तरणों में प्रथमतः तो इहलौकिक जीवन के ढंगों में आमूल परिवर्तन आवश्यक है। हमारे भौतिक, जैविक तथा मानसिक जीवन के ढंग पूर्णतया परिवर्तित हो जायें, तत्पश्चात् आवश्यकता होगी कि अपने आध्यात्मिक प्रयत्नों के द्वारा तय उच्चतर क्षेत्र के प्रकाश के सहारे हम अन्तिम रूपान्तरण कर सकें। इस पूरी प्रक्रिया को श्री अरविन्द विविध रूपान्तरणों के अन्तर्गत बाँधते हैं।

#### उनके अनुसार ये तीन रूपान्तरण हैं-

क. चेत्य रूपान्तरण (Psychic Transformation)

ख. आध्यात्मिक रूपान्तरण (Spiritual Transformation) तथा

ग. अतिमानसिक रूपान्तरण (Supramental Transformation)

( क ) चैत्य-रूपान्तरण या आत्मिक रूपान्तरण ( Psychic & Transformation )-मानव-स्वरूप की विवेचना में यह कहा गया था कि विकास-प्रक्रिया में स्थित मानव का एक बाह्य पक्ष है तथा एक आन्तरिक पक्ष है। उस आन्तरिक पक्ष को चैत्य पुरुष कहा गया है (जीवात्मा नहीं)। तो उच्चतर रूपों की प्राप्ति के मार्ग में प्रथमतः विकासशील मानव के इस आन्तरिक पक्ष इस चैत्य पुरुष का रूपान्तरण आवश्यक है। इसका अर्थ है कि चैत्य-आत्म को सारी विधायें पूर्णरूप से बोध हो सकें। हमने देखा है कि यह चैत्य -आत्म बाह्य दृष्टि से परे है, किन्तु यह आत्म का वह पक्ष है जो नष्ट नहीं होता, जो अपरिवर्तनशील तथा अमर है। मानव के बाह्य जीवन में अनेक प्रकार की विषमतायें आती हैं, अपूर्णतायें, दोष, अशुद्धतायें आती रहती हैं। यह आन्तरिक चैत्य आत्म इनसे अछूता रहता है। बाह्य पक्ष इसी की अभिव्यक्ति है, किन्तु यह अपनी अभिव्यक्तियों से प्रभावित नहीं होता। कभी-कभी यह सूक्ष्म आत्म हमारे मानसिक जीवन को प्रभावित भी करता है, किन्तु हमारी मानसिकता को सामान्यतः इसकी अवगति नहीं रहती, और वह उन प्रभावों को भी अपनी ही एक विधा समझ लेती है। अतः श्री अरविन्द का कहना है कि वह आवरण जिसमें यह चैत्य आत्म छिपा रहता है। उस आवरण को हटाना अनिवार्य है। यदि यही आन्तरिक सत्य आत्म हमारी नित्य सत्ता है। तो उस आत्म को जागरूक तथा सक्रिय करने का प्रयत्न अनिवार्य है। सामान्यतः हमारी सामान्य मानसिक चेतना ऊपरी चेतना होने के कारण इस चैत्य आत्म तक नहीं पहुँच पाती।

अतः रूपान्तरण का अर्थ है कि हम इस चैत्य-आत्म के प्रति सजग हो सकें तथा अपनी इसी आन्तरिकता के अनुरूप चेतना को विकसित कर सकें। इसके लिये हमारे भौतिक जैविक तथा मानसिक जीवन के ढंगों में परिवर्तन आवश्यक है। इन प्रकार हमें सतत इस बात के लिये प्रयत्नशील होना है कि हम बाह्यता का जीवन नहीं जीयें बल्कि उस आन्तरिकता को पकड़ें, तथा उसी के आलोक में हमारी भौतिक, जैविक तथा मानसिक क्रियायें सम्पादित हों।

श्री अरविन्द स्वीकारते हैं कि इस प्रकार के परिवर्तन की गति सामान्यतः धीमी ही होगी। आन्तरिकता को यदि ऊपर से पकड़ने की चेष्टा भी होती है, तो यह अत्यधिक अस्पष्ट एवं धूमिल अवगति ही होती है। अतः उत्थान के लिये आवश्यक हो जाता है कि हम अपने को इस प्रकार अनुशासित करें कि हमें हमारे मन, हृदय तथा जीवन में इसके आदेशों को स्पष्ट अवगति प्राप्त हो सके। श्री अरविन्द अपने योग-दर्शन में इस प्रकार के अनुशासन का स्पष्ट विवरण देते हैं। इस स्थल पर उस अनुशासन का विवरण तो सम्भव नहीं, किन्तु उस अनुशासन से चैत्य आत्म को इस रूप में जाग्रत किया जा सकता है कि हमारा भौतिक, जैविक तथा मानसिक जीवन उससे संचालित हो। इसी रूपान्तरण को चैत्य रूपान्तरण कहा गया है।

**ख. आध्यात्मिक रूपान्तरण (Spiritual Transformation)-** चैत्य रूपान्तरण से आत्म के ढंगों तथा क्रियाओं में परिवर्तन आ

जाता है। किन्तु, उतना ही यथेष्ट नहीं है। रूपान्तरण से भौतिक, जैविक तथा मानसिक तत्त्वों में एक प्रकार की शुद्धता आ जाती है, किन्तु अब आवश्यकता इस बात की है कि ये सब अपने को उच्चतर-आध्यात्मिक रूपों की ओर उन्मुख कर सकें। अब इस चैत्य आत्म को उच्चतर सत् की ओर प्रेरित होना आवश्यक है। यही उच्चतर, आध्यात्मिक रूपों की ओर स्पष्टरूप में उन्मुख हो पाना आध्यात्मिक रूपान्तरण है। श्री अरविंद का कहना है कि अपनी क्रियाओं में शुद्धता पा लेने पर दूसरा कदम यही है कि उच्चतर उन्मुखता चेतन जीवन का अंग बन जाये। श्री अरविंद का कहना है कि इस प्रकार का वेतन परात्म की ओर उन्मुख होने का ढंग हर प्रकार के श्रेष्ठ, शुद्ध भावों के अनुशीलन में है। उदाहरणतः सत्य, शिव, सुन्दर का शुद्ध अनुशीलन इस प्रकार का आध्यात्मिक जीवन कहा जा सकता है।

श्री अरविंद का कहना है कि प्रारम्भ में इस प्रकार का हर अनुशीलन वैचारिक मानस के उपकरण के द्वारा ही सम्पन्न होता है। उदाहरणतः सत्य, शिव, सुन्दर आदि के अनुशीलन में इनके मानस द्वारा खींचे गये रूपों के आधार पर ही इनका अनुशीलन होता है। इस प्रकार आरम्भ में बुद्धि, अन्तसूझ, प्रज्ञा-सभी मानसिक भावों के आधार पर ही उच्चतर रूपों की ओर अग्रसर होते हैं। किन्तु उनका कहना है कि, जैसे-जैसे इस प्रकार का अनुशीलन अधिक गहन एवं उच्चतर होता जायेगा वैसे-वैसे, आध्यात्मिकता के उपकरण प्रवल होते जायेंगे, तथा मानसिक भावों एवं रूपों का बन्धन शिथिल होता जायेगा। उदाहरणतः मानसिक भावों के अनुरूप सत्य-विचार, असत्य की पृष्ठभूमि में उजागर होता है। शुभ-अशुभ की पृष्ठभूमि में तथा आनन्द कष्ट को पृष्ठभूमि में। किन्तु आध्यात्मिक पार की परिणति इस बात में है कि हमारी चेतना इस प्रकार के भेदों से ऊपर उठ जाये। तभी वह सभी प्रकार से ऊपर उठकर एकत्व की ओर एकाग्रता पा सकता है।

### स्मरणीय बिन्दु -

1. सम्पूर्ण सृष्टि चेतना की अभिव्यक्ति है।
2. चेतना के अनेक स्तर होते हैं।
3. त्रिविध रूपान्तरण आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया है।
4. अतिमानसिक चेतना सर्वोच्च अवस्था है।
5. मानव जीवन का उद्देश्य दिव्यता की प्राप्ति है।

### शब्दावली -

| शब्द                 | अर्थ                                |
|----------------------|-------------------------------------|
| चेतना                | जागरूकता एवं आत्मिक शक्ति           |
| रूपान्तरण            | परिवर्तन या विकास                   |
| मानस रूपान्तरण       | आन्तरिक आत्मिक परिवर्तन             |
| आध्यात्मिक रूपान्तरण | ईश्वर एवं सार्वभौमिक चेतना का अनुभव |
| अतिमानसिक            | चेतना सर्वोच्च दिव्य चेतना          |
| आत्मसाक्षात्कार      | आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान   |
| दिव्यता              | ईश्वरत्व या आध्यात्मिक श्रेष्ठता    |
| प्राणिक              | चेतना जीवन शक्ति से सम्बन्धित चेतना |

### 5 अंको के प्रश्न -

1. महर्षि अरविन्द के अनुसार चेतना क्या है?
2. त्रिविध रूपान्तरण से क्या अभिप्राय है?
3. मानस रूपान्तरण का वर्णन कीजिए।
4. अतिमानसिक चेतना क्या है?
5. मानव जीवन के उद्देश्य पर अरविन्द के विचार लिखिए।

### 15 अंको के प्रश्न -

1. महर्षि अरविन्द के चेतना सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. त्रिविध रूपान्तरण की अवधारणा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. आध्यात्मिक विकास की प्रक्रिया पर अरविन्द के विचारों का अध्ययन कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. महर्षि अरविन्द के अनुसार सम्पूर्ण सृष्टि किसकी अभिव्यक्ति है?

(क) पदार्थ

**(ख) चेतना**

(ग) शक्ति

(घ) प्रकृति

2. त्रिविध रूपान्तरण का प्रथम चरण कौन-सा है?

(क) अतिमानसिक रूपान्तरण

(ख) आध्यात्मिक रूपान्तरण

**(ग) मानस रूपान्तरण**

(घ) भौतिक रूपान्तरण

3. चेतना की सर्वोच्च अवस्था क्या कहलाती है?

(क) मानसिक चेतना

(ख) प्राणिक चेतना

**(ग) अतिमानसिक चेतना**

(घ) भौतिक चेतना

4. अरविन्द के अनुसार मानव जीवन का उद्देश्य क्या है?

(क) धन प्राप्ति

(ख) राजनीतिक शक्ति

**(ग) दिव्यता की प्राप्ति**

(घ) भौतिक सुख

5. आध्यात्मिक रूपान्तरण में व्यक्ति क्या अनुभव करता है?

(क) केवल भौतिक सुख

**(ख) ईश्वर एवं जगत के साथ एकत्व**

(ग) सामाजिक संघर्ष

(घ) मानसिक अशान्ति

## इकाई- 2.2 अतिमानव की अवधारणा, ज्ञान पुरुष, दिव्य जीवन

### उद्देश्य-

1. महर्षि अरविन्द के अतिमानव सम्बन्धी विचारों को समझ सकेंगे।
2. ज्ञान पुरुष एवं दिव्य जीवन की अवधारणा का अध्ययन कर सकेंगे।
3. मानव विकास के आध्यात्मिक स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।

### अतिमानसिक रूपान्तरण

आध्यात्मिक रूपान्तरण से आत्मा आध्यात्मिक-एकत्व-बोध की ओर उन्मुख हो जाता है। इसके परिणामों का उल्लेख करते हुए श्री अरविन्द कहते हैं, "A spiritualised consciousness is achieved and the life falls quiet; the body shares to need and the soul itself merges into spiritual silence."

इस रूपान्तरण से पूरी अवस्था में परिवर्तन हो जाता है। शारीरिक एवं मासिक आवश्यकताओं से भी आत्मा ऊपर उठ जाता है तथा एक आध्यात्मिक उन्मुखता ही उसको चेतना का अंग बन जाती है। किन्तु इस रूपान्तरण में पूर्ण अर्हत का बोध नहीं हो जाता, यह आध्यात्मिकता के चरम लक्ष्य की प्राप्ति नहीं, यह आवश्यकता ही आत्मा को एक उच्चतर सार पर बैठा देता है, किन्तु अभी तो पूर्ण अर्द्धात एकत्व की चेतना बाकी है। श्री अरविन्द के अनुसार वह मान अतिमानसिक रूपान्तरण से ही सम्भव हो सकता है।

श्री अरविन्द कहते हैं कि चैत्य रूपान्तरण, तथा आध्यात्मिक रूपान्तरण से आत्मा को एक उच्च अवस्था की प्राप्ति अवश्य हो जाती है, किन्तु यदि आत्मा इसी अवस्था में एक जप करे तो एकत्व की चेतना तो उसे हो जायेगी, किन्तु वह एकत्व को अनुभूत-आत्मसात नहीं कर पायेगा। और यदि वह उसी स्तर पर रुका रहे तो, जैसा कि हर चेतन दृष्टि के साथ होता है, वह चेतना भी शनैः शनैः धूमिल तथा मलिन होती जायेगी, और बाद में इस चेतना की एक धूमिल स्मृति मात्र बच जायेगी। अन्तर्दृष्टि/अंतर्ज्ञान (Intuition) से प्राप्त अनुभूतियों में ऐसा ही होता है। अतः श्री अरविन्द का कहना है कि इस चेतन-दृष्टि का रूपान्तरण एक ऐसी आत्मानुभूति में होना अनिवार्य है, जिसमें एकत्व आत्मा का पूर्णरूप बन जाये।

श्री अरविन्द के अनुसार इसके लिये अतिमानस का अवतरण (Descent) आवश्यक है। वे कहते हैं कि आत्मा में अतिमानसिक आधार तो उपस्थित रहता ही है, किन्तु यह मुक्त रूप में तभी उभर सकता है जब अतिमानस का आत्मा में अवतरण हो। एक प्रकार से अतिमानस का आत्म में अवतरण ही अतिमानसिक रूपान्तरण है। श्री अरविन्द स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि मात्र अपने प्रयत्नों से यह रूपान्तरण नहीं हो जाता, किन्तु अपने प्रयत्नों से पूर्ण तैयारी हो जाती है, तब उच्चतर रूप में अतिमानस का अवतरण होता है, और तभी अन्तिम रूपान्तरण हो जाता है।

इस रूपान्तरण के फलस्वरूप हमारा जैविक, सांसारिक जीवन पूर्णतया रूपान्तरित हो जायेगा, क्योंकि अब समस्त अस्तित्व का आधार पूर्ण एकत्व को अनुभूति बन जाती है। जब भौतिक, जैविक तथा मानसिक जगत के प्रति दृष्टि बदल जायेगी। अब आत्म अज्ञान के क्षेत्र में नहीं रह जाता, बल्कि उसकी दृष्टि ज्ञानपूर्ण हो जाती है, क्योंकि ज्ञान अन्ततः पूर्ण एकत्व का ही ज्ञान है। इस अतिमानसिक रूपान्तरण के फलस्वरूप असत्य ज्ञान सत्य (Gnostic Being) में परिणत हो जाता है, तथा उसका जीवन दिव्य जीवन (Divine Life) हो जाता है। अतः अतिमानसिक रूपान्तरण के फल के विवरण के लिये ज्ञान-पुरुष, के सम्बन्ध में की गई विवेचना का विवरण आवश्यक है।

ज्ञान-पुरुष, दिव्य जीवन एवं इसका स्वरूप- हम अतिमानसिक रूपान्तरण की बात कर रहे हैं, यदि हम इस रूपान्तरण से रूपान्तरित ज्ञान-पुरुष तथा दिव्य जीवन की बात कर रहे हैं, तो अवश्य ही इन विचारों के स्वरूप के सम्बन्ध में हम कुछ स्पष्ट विवरण देने का प्रयत्न करेंगे। कठिनाई यह है कि क्या इन विचारों के प्रति साफ-सुथरा विवरण दिया जा सकता है? श्री अरविन्द समझते हैं कि हमारे सोचने समझने का ढंग तो मानसिकता का ढंग है, और मानसिकता इन विचारों को पूर्ण बना सकने में तो स्पष्टतः असमर्थ ही रहेगी। अतिमानस मानस से परे की अवस्था है। अतः मानस के लिये अतिमानसिक अवस्था का स्पष्ट चित्र बना लेना सम्भव नहीं। किन्तु इस कठिनाई को स्वीकारते हुए श्री अरविन्द का कहना है कि इस अवस्था के सम्बन्ध में कुछ अनुमान अवश्य कर सकते हैं, और जैसे-जैसे मानस विकसित होता जायेगा, उच्चतर मानस, प्रदीप्त मानस, अन्तर्दृष्टि आदि की क्षमता पाता जायेगा, वैसे-वैसे यह अनुमान भी स्पष्ट होता जायेगा। उदाहरणतः श्री अरविन्द का कहना है कि इतना तो हम बड़ी सुगमता से कह ही सकते हैं कि विकास प्रक्रिया के ढंगों को देखते हुये यह अनुमान तो प्रायः निश्चित रूप में किया हो जा सकता है कि अतिमानसिकता की स्थिति में आध्यात्मिक अनुभूतियों की परिणति होगी, जिसमें पूर्ण एकत्व की स्पष्ट चेतना



रहेगी। उसके साथ ही यह अनुमान भी उत्थान-प्रक्रिया के स्वरूप पर ही आधृत है कि हमारे सामान्य लौकिक जीवन के ढंगों तथा दृष्टि में आमूल परिवर्तन अतिमानसिक परिवर्तन का है। उसी प्रकार यह अनुमान भी युक्तिसंगत तथा सर्वथा ठीक प्रतीत होता है कि इस आमूल परिवर्तन के फलस्वरूप आत्म मानसिक स्तर का मानव नहीं रह जायगा बल्कि अनामिक आत्म बन जायेगा। वह उस स्थिति में अज्ञान के क्षेत्र में नहीं जियेगा बल्कि ज्ञान-पुरुष बन जायेगा। इस प्रकार श्री अरविन्द कहते हैं कि इस स्थिति के सम्बन्ध में इस प्रकार के अनुमान-आधारित विवरण तो दिये ही जा सकते हैं।

### स्मरणीय बिन्दु -

1. वर्तमान मानव अंतिम अवस्था नहीं है।
2. अतिमानव दिव्य चेतना की अवस्था है।
3. ज्ञान पुरुष आत्मज्ञान प्राप्त व्यक्ति है।
4. दिव्य जीवन संसार में रहते हुए आध्यात्मिकता का अनुभव है।
5. मानव का लक्ष्य आत्मिक उत्कर्ष है।

### शब्दावली -

| शब्द             | अर्थ                              |
|------------------|-----------------------------------|
| अतिमानव          | दिव्य चेतना प्राप्त मानव          |
| ज्ञान पुरुष      | आत्मज्ञान प्राप्त व्यक्ति         |
| दिव्य जीवन       | आध्यात्मिक एवं ईश्वरमय जीवन       |
| सार्वभौमिक चेतना | सम्पूर्ण जगत में व्याप्त चेतना    |
| आत्मज्ञान        | आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान |
| समर्पण पूर्ण     | श्रद्धा एवं भक्ति                 |
| आध्यात्मिक       | उत्कर्ष आत्मिक उन्नति             |
| दिव्य चेतना      | सर्वोच्च आध्यात्मिक अवस्था        |

### 5 अंकों के प्रश्न -

1. अतिमानव की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
2. ज्ञान पुरुष से क्या अभिप्राय है?
3. दिव्य जीवन की विशेषताएँ लिखिए।
4. अरविन्द के अनुसार मानव विकास क्या है?
5. अतिमानव की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।

### 5 अंकों के प्रश्न -

1. महर्षि अरविन्द के अतिमानव सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. ज्ञान पुरुष एवं दिव्य जीवन की अवधारणा का अध्ययन कीजिए।
3. मानव के आध्यात्मिक विकास पर अरविन्द के विचारों की व्याख्या कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. अतिमानव की अवधारणा किसने दी?

(क) शंकराचार्य

(ख) महर्षि अरविन्द

(ग) राधाकृष्णन

(घ) रामानुजाचार्य

2. ज्ञान पुरुष कौन है?

(क) राजनीतिक नेता

(ख) विद्वान शिक्षक

(ग) आत्मज्ञान प्राप्त व्यक्ति

(घ) समाज सुधारक

3. दिव्य जीवन का अर्थ क्या है?
- (क) सांसारिक त्याग
  - (ख) केवल तपस्या
  - (ग) संसार में रहते हुए आध्यात्मिक जीवन**
  - (घ) भौतिक सुख
4. अतिमानव की प्रमुख विशेषता क्या है?
- (क) अहंकार
  - (ख) भौतिकता
  - (ग) दिव्य चेतना**
  - (घ) संघर्ष
5. अरविन्द के अनुसार मानव क्या है?
- (क) अंतिम अवस्था
  - (ख) केवल भौतिक सत्ता
  - (ग) विकासशील आध्यात्मिक सत्ता**
  - (घ) निर्जीव तत्व

## इकाई- 2.3 राधाकृष्णन-धार्मिक अनुभूति, अन्तर्दृष्टि

उद्देश्य -

1. डॉ. राधाकृष्णन के धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी विचारों को समझ सकेंगे।
2. अन्तर्दृष्टि की अवधारणा का अध्ययन कर सकेंगे।
3. ज्ञान एवं आध्यात्मिक अनुभव के सम्बन्ध को स्पष्ट कर सकेंगे।

**धार्मिक अनुभूति-** राधाकृष्णन का कहना है कि प्रारम्भ में ही एक विश्वास जगाना, एक आस्था उत्पन्न करना आवश्यक है। इसे वो धार्मिक अनुभूति में आस्था कहते हैं। उनका अपना विश्वास है कि धार्मिक अनुभूति ही मानव को पूर्ण आध्यात्मिक जीवन को अपने में आत्मसात करने में सहायक सिद्ध हो सकती है। इसी कारण वे धार्मिक अनुभूति के विशिष्ट लक्षणों की विशद व्याख्या करते हैं। उनका कहना है कि यह अनुभव तो है, किन्तु यह साधारण अनुभवों जैसा नहीं है। इसमें साधारण अनुभव के सारे लक्षण विद्यमान हैं, फिर भी इसमें कुछ ऐसी विशिष्टता है- जिसके फलस्वरूप यह उनसे भिन्न भी है। साधारण अनुभवों के समान इसमें भी किसी विषय को विषयनिष्ठ अनुभवों के समान यहाँ भी एक तृप्ति मिलती है, एक प्रकार की सन्तुष्टि प्राप्त होती है। किन्तु यह धार्मिक अनुभव है। अतः इसमें कुछ अपनी विशिष्टता भी है। इसकी विशिष्टता यही है कि यह उस विशेष स्थिति तक ही सीमित नहीं रहता, बल्कि उन विशेष स्थिति से ऊपर उठकर कुछ आध्यात्मिक एवं शाश्वत सत्यों की ओर उन्मुख हो जाता है। यह साधारण अनुभवों से भिन्न इसी कारण है कि यह तो मानव-अस्तित्व में निहित सम्भावनाओं को भी देखने की चेष्टा करता है। यह मानव-अस्तित्व की सीमितता से ऊपर उठ कर उसे देखता है। यही ऊपर उठना तो आध्यात्मिकता है।

राधाकृष्णन का कहना है कि इस प्रकार के अनुभव की सम्भावना में विश्वास इस मार्ग पर अग्रसर होने के लिये अनिवार्य है। इन दिनों कुछ ऐसा प्रचलन है कि इस प्रकार की बातों को लोग अनसुनी कर देते हैं तथा उस पर ध्यान नहीं देते। किन्तु राधाकृष्णन स्पष्ट कहते हैं कि हम इन अनुभवों में निहित सत्यों के विषय में चाहे जितने भी विवाद उत्पन्न कर लें, इनकी वास्तविकता पर संशय नहीं किया जा सकता। वे स्वीकारते हैं कि इस प्रकार के उच्चतम अनुभूति तो दुर्लभ हैं, किन्तु इसके उदाहरण साधारण जीवन में भी उपलब्ध हैं। उदाहरणतः सौन्दर्यानुभूति इसका एक उदाहरण है इस प्रकार के अनुभवों की वास्तविकता का प्रमाण केवल द्रष्टाओं का अनुभव ही नहीं है, बल्कि इसके कुछ रूपों के साक्षी तो साधारण मनुष्य भी हैं। कोई राधाकृष्णन कहते हैं- "However much we may quarrel about the implications of this kind of experience we cannot question the actuality of this experience itself."

नये ज्ञान को उपलब्धि, किसी विशिष्ट कविता का रसपान, अथवा किसी महातः कार्य के समक्ष आत्मोत्सर्ग- ये सभी उसी रहस्यात्मक अनुभूति के साक्ष्य हैं। इस बात को गहन प्रेम के विश्लेषण के आधार पर समझने का प्रयत्न किया जा सकता है। हम इस प्रकार के प्रेमानुभूति में अपने से या अपने वातावरण से ऊपर उठ जाते हैं, और उसमें एक प्रकार में खो जाते हैं। जब भी मनुष्य कोई श्रेष्ठ कार्य करता है, उसे कुछ इस प्रकार की अनुभूति होती है। राधाकृष्णन अपनी पुस्तक 'Religion And Society' में इसका स्पष्ट उदाहरण देते हैं। उनका कहना है कि किसी प्रकार की अभिव्यक्ति या किसी प्रकार को प्रतिबन्धित, या किसी प्रकार का सत्कर्म आदि का स्रोत इसी प्रकार के आन्तरिक धर्म में है। सत्य, शिव, सुन्दर को आकांक्षा इसी अनुभूति को अभिव्यक्ति है। ईश्वर के प्रति आस्था भी इसी का रूप है। माँ के वक्षस्थल से लगे शिशु, अनपढ़ देहाती का सितारों का देखना, अपने माइक्रोस्कोप पर स्थित वैज्ञानिक, एकान्त की शान्ति या विश्व के सौन्दर्य पर कवि को विह्वलता इन सबों में किसी न किसी अंश में मही शाश्वत रहस्यात्मक अनुभूति परिलक्षित है। यही कारण है कि इन अनुभवों में व्यक्ति जीवन के कष्ट तथा क्लेश से ऊपर उठ जाता है। अतः इस विवरण के आधार पर राधाकृष्णन के द्वारा चर्चित धार्मिक अनुभूति के लक्षणों का उल्लेख किया जा सकता है।

1. यह अनुभूति है, इसका अर्थ है कि यह कोई असाधारण या अतिप्राकृतिक बात नहीं है, बल्कि इससे यह बोध होता है, कि यह सर्वसाधारण के लिये सम्भव है। इसे अनुभूति कहने का यह भी तात्पर्य है कि इससे एक विषयनिष्ठ अवगति प्राप्त होती है।

2. इसे पूर्णतया एकरूप एवं अखण्डित चेतना कहा गया है। यही इस अनुभूति की विशिष्टता है जिसके कारण यह अन्य साधारण अनुभवों से भिन्न प्रतीत होता है। साधारण अनुभवों में विषयी एवं विषय काईत सदा वर्तमान रहता है। "The witness to this spiritual life is borne not only by the great religious teachers and leaders of mankind but by the ordinary man in the street in whose inmost being the well of the spirit is set asleept- In our normal experience events occur which imply the existence of a spiritual world" "When we experience the illumination of a new knowledge the ecstasy of poetry the subordination of self to some thing greater family or nation] the self abandonment of falling in love, we have glimpses of the mystic mood."

अति में इस प्रकार का तथा भेद समाप्त हो जाता है। राधाकृष्णन का कहना है कि इस अनुभूति में विषयों तथा विषय पूर्णतया एकरूप हो जाते हैं।

3. एक दृष्टि से इस अनुभूति को स्व-निर्धारित भी कहा जा सकता है क्योंकि यह मन की स्वतंत्र वृत्ति है। किसी बाह्य उपकरण के द्वारा यह निर्धारित नहीं होता। इसका अन्तर में उद्भव प्रायः स्वतः एवं अनायास होता है।

4. इसके आधार पर इसे आन्तरिक एवं वैयक्तिक भी कहा जा सकता है। व्हाइटहेड के समान राधाकृष्णन भी धार्मिक अनुभूति में आन्तरिकता पर महत्त्व देते हैं। धार्मिक जीवन मूलतः आन्तरिकता का जीवन ही है।

5. इस अनुभूति को विशिष्टता यह भी है कि इसमें एक प्रकार से सांसारिकता के प्रति एक प्रकार की विरक्ति का बोध होता है। जिस प्रकार का लगाव या मोह हमें साधारण जीवन में वस्तुओं के प्रति होता है उससे हम इस अनुभूति में उदासीन प्रतीत होते हैं। यह क्षणिकता तथा सीमितता से तटस्थ होने की प्रवृत्ति का सूचक है।

6. राधाकृष्णन कहते हैं कि धार्मिक अनुभूति आत्मा का सत् के प्रति पूर्ण उन्मुखता है। पूर्ण शब्द के व्यवहार का एक विशेष तात्पर्य है। यह किसी रूप में आंशिक नहीं, इसमें विषयी भी पूर्णरूपेण उन्मुख हो जाता है, और विषय भी कोई विशेष तत्त्व नहीं, बल्कि सत् ही है। इसे स्पष्ट करते हुए राधाकृष्णन ने कहा है कि यह सर्वपक्षी शब्द अर्थपूर्ण है। इसका अर्थ है कि यह मात्र संज्ञानात्मक अथवा मात्र भावनात्मक अनुभूति नहीं है। इसमें मानव का हर पल क्रियाशील हो जाता है- यह एक साथ ज्ञानात्मक, भावनात्मक तथा क्रियात्मक सभी है।

7. राधाकृष्णन का कहना है कि इस अनुभूति के फलस्वरूप अन्तर में एक प्रकार की शान्ति का अनुभव होता है। शान्ति की परिभाषा देते हुए राधाकृष्णन बड़े सुन्दर ढंग से कहते हैं-

"It is a condition of consciousness in which feelings are fused, ideas melt into one another, boundaries are broken and ordinary distinctions transcended- Past and present fade away in a sense of timeless being- Consciousness and being are not there different from each other- All being is consciousness and consciousness being- Thought and reality coalesce and a creative merging of subject and object results- Life grows conscious of its incredible depths- In this fullness of felt life and freedom the distinction of the knower and the known disappears, is the previous possession of the soul coming out in life on every side- "it is a positive feeling of calm and confidence, joy and strength in the midst of outward pain and defeat"-

उनका कहना है कि ऐसी अनुभूति को अवस्था जीवन को अशान्त बनाने वाले उपकरण निष्क्रिय हो जाते हैं, और व्यक्ति एक प्रकार को सन्तुष्टि, आनन्द तथा शान्ति का अनुभव करता है।

- बनाय के साथ-साथ इष्ट अनुभूति उन्मुक्तता का भी आभास होता है। असान्ति तथा स्वेष-भावना जीवन की परेशानी तथा चिन्ता के कारण उत्पन्न होती है, और इसका मुख्य कारण है कि हम एक ओर तो अहं भाव से ग्रसित रहते हैं, तथा दूसरी ओर सांसारिक उपलब्धियों के प्रति आसक्त हो जाते हैं। धार्मिक अनुभूति में हम इससे ऊपर उठ जाते हैं। और इस ऊपर उठने में हमें बोध-मुक्त और उस अर्थ में उन्मुक्त होने की चेतना हो जाती है।

- राधाकृष्णन का कहना है कि इस अनुभव में यह चेतना भी रहती है कि यह चेतना पूर्णतया वास्तविक है तथा सत् की चेतना भी है। इस प्रकार की अनुभूति को विशिष्टता यह भी है कि यदि यह कुछ क्षणों के लिये भी उपलब्ध हो, तब भी इसका प्रभाव व्यापक तथा जीवन पर्यन्त रहता है।

- इसी कारण राधाकृष्णन इस प्रकार के अनुभव के विवरण के प्रयत्न में स्व-स्थापित (Self-established) स्व-प्रमाणित (Self-evidenced) प्रकाशित (Self-luminous) आदि शब्दों का उपयोग करते हैं। इस प्रकार का अनुभव अपना प्रमाणिकता के लिये साक्ष्यों का मोहताज नहीं होता। इसे प्रमाणित करने के लिये तर्कों की आवश्यकता भी नहीं। यह इस रूप में प्राप्त होता है कि इसे नकारना सम्भव हो प्रतीत नहीं होता। राधाकृष्णन इसे पूर्ण अवबोधा, पूर्ण अर्थपूर्णता, पूर्णतया प्रमाणित कहते हैं- It is pure comprehension entire significance complete validity- It comes with a constraint that brooks no denial

- ऊपर दिये गये विवरणों के विरुद्ध यह आपत्ति उठायी जा सकती है कि ये सभी तो रिक्त शब्द मात्र हैं जिनसे कुछ सूचित नहीं हो पाता। राधाकृष्णन का कहना है कि हमारी भाषा की भी सीमा है, उन्हें प्रतीत होता है कि हमारे भाषीय ढंग इस अनुभूति के पूर्ण चित्रण में समर्थ प्रतीत नहीं होते। धर्म का सार तो अब यह स्पष्ट हो गया कि जो जीवन धार्मिक अनुभूति को चरमता तथा परम महत्त्व पर ले जाये वे वही धार्मिक जीवन है। अतः धार्मिक अनुभूति से ही धर्म का वास्तविक स्वरूप निर्धारित होता है।

## अन्तर्दृष्टि

धर्म का अर्थ है - परम आध्यात्मिक मूल्यों तथा उन्हें प्राप्त करने के ढंगों में आस्था। इस आस्था में परात्म के प्रति उन्मुखता निहित है, अतः यह विश्वास निहित है कि परात्मवत्ता को अनुभूति सम्भव है। यही कारण है कि श्रेष्ठ धर्मों के आधार वे हो सत्य बने हुए हैं जिन्हें पैगम्बरों, द्रष्टाओं ने देखा तथा समझा था। अतः कहा

जा सकता है कि धार्मिक अनुभूति की भाषात्मक वास्तविकता में आस्था ही धर्म का वास्तविक स्वरूप है—उसका सार—रूप है। वे कहते हैं—  
'Religion is the Affirmation of the ultimacy of religious experience—

धर्मों के इतिहास में हर प्रकार के उदाहरण उपलब्ध हैं, कहीं धर्म को भावना, संवेगात्मक भाव तथा भावनात्मक अभिवृत्ति के साथ जोड़ा जाता है, तो कहीं इसे मूत्र प्रवृत्ति, या धार्मिक प्रथाओं या पारम्परिक रीतिरिवाजों में उतारने की चेष्टा होती रही है। राधाकृष्णन का कहना है कि ऐसे सभी विचारों में कुछ सच्चाई तो है ही किन्तु जिस प्रकार वे अपनी बात पर बल देते हुए अन्य तथ्यों को नकार देते हैं, वह पदार्थ नहीं थे जिन तत्त्वों का उल्लेख करते हैं, वे सभी कुछ न कुछ अंश में धर्मों में विद्यमान हैं, किन्तु उनका यह कहना कि धर्म में मात्रा उतना ही है स्पष्टतः गलत है। धर्म इन सभी तत्त्वों का समन्वित रूप है। इसमें ज्ञानात्मक, भावनात्मक आदि सभी अंग हैं। इनमें धार्मिक प्रथा, रीतिरिवाज आदि के लिये भी स्थान है। राधाकृष्णन कहते हैं कि वस्तुतः सभी धार्मिक मतभेदों या विवादों के पीछे मूलतः यही बात रहती है कि हर पक्ष धर्म के किसी एक पहलू पर पूरा बल दे देता है तथा अन्य की उपेक्षा करता है जिन अन्य पहलुओं पर दूसरे बल देते हैं। यदि हम सभी सत्त्यों के मूल में जाकर देखें, तो स्पष्ट हो जायेगा कि सभी धर्मों में एक ऐसी सूत्र एकरूपता है की इनकी विभिन्नताओं से ऊपर उठी हुयी है। यदि विवाद या मतभेद होता है कोई धार्मिक पक्ष धर्म के किसी एक लक्षण पर बल देता हुआ उसे ही धर्म कर सार मान लेता है।

अतः राधाकृष्णन का कहना है कि इस प्रकार के धार्मिक विवाद धर्म के सार को न जानने से उत्पन्न होते हैं। हमारे सभी ढंग या प्रतीक इसी प्रकार की परम्परा से सृजित हैं। फलतः हम भूल जाते हैं कि जिसे हम सीखे हुए माध्यमों के द्वारा समझने की चेष्टा कर रहे हैं, वह वस्तुतः इन सबों से परे है। हमारे ढंग तो आकारिक प्रतीक हैं, जिनकी हमें जीवन में आवश्यकता है, किन्तु हमारे लिये प्रतीक तथा उससे जो सूचित हो रहा है इसके मंद का विस्मरण वांछनीय नहीं है। प्रतीक विभिन्न हो सकते हैं, किन्तु उन सबों से सूचित होने वाला सत्य एक है। प्रतीकों के भेद के कारण ही विभिन्न प्रकार के धर्मों का उद्भव हो जाता है, किन्तु यह स्मरण रखना है कि उनका सार—तत्त्व एक है, क्योंकि वे सभी एक सत् को व्यक्त करने के प्रयत्न हैं। वह मूल सार्वभौम भाव क्या है जो सभी धर्मों में निहित वस्तुतः धर्म कोई सिद्धान्त या निर्देश नहीं है, यह तो सत् की अन्तर्दृष्टि है। वे कहते हैं— "Religion is not a creed or a code but an insight into reality—"

इस अन्तर्दृष्टि को समझने से एक सार्वभौम तथ्य स्पष्ट होता है कि मानव के हो अन्तर में कुछ है, जो मानव के दृश्यरूप से उच्चतर है। वही कुछ सत्संग है जो मानव—आत्म में स्थित है, तथा वही मानव के सीमित तथा असीम रूपों के मध्य सेतु—रूप है। इसी बात को समझ धर्म के सार—रूप की समझ है। अतः राधाकृष्णन कहते हैं कि धर्म की वास्तविकता धर्म का सार—रूप जीवन के उस ढंग में व्यक्त होता है जिस ढंग में मानव अपने सामान्य स्वभाव को इस प्रकार परिणत कर ले कि उसके जीवन में ईश्वरत्व व्यक्त हो सके, आत्म में निहित उस सत्—रूप—कुछ की अभिव्यक्ति हो सके। "A way of life which enables man to make a change in his own nature to let the Divine in him manifest himself—"

अब इतना तो स्पष्ट हो गया है कि राधाकृष्णन के अनुसार धार्मिक अनुभूति के द्वारा हो मोक्षमार्ग पर अग्रसर होना सम्भव है। किन्तु ऐसी अनुभूति का प्राप्त होना सरल जितना भी पूर्ण होने का प्रयास करें, सत् के मौलिक एकरूपता को पकड़ने में समर्थ नहीं हो सकती ठीक उसी प्रकार जिस प्रकार गहराई से कटे हुए घाव के जुड़ने पर भी त्वचा की मौलिक चिकनाई कभी नहीं उभर सकती।

**क.** वृद्धि तो परोक्ष ज्ञान देती है, क्योंकि यह इन्द्रियों के माध्यम से प्राप्त सामग्री पर काम करती है। अतः इसके द्वारा प्राप्त ज्ञान अन्ततः वैसी सामग्री पर निर्भर है जिनकी प्राप्ति इन्द्रिय जैसे स्रोतों पर निर्भर है। इस प्रकार के माध्यम से सत्ज्ञान सम्भव नहीं।

**ख.** बौद्धिकता की यथेष्टता इस तथ्य से भी झलकती है कि हमारा मानस—जगत बौद्धिकता तक ही सीमित नहीं है। हमारी मानसिकता के अंग बौद्धिकता के अतिरिक्त भावनात्मकता, संकल्पनात्मकता आदि भी हैं। सत् का ज्ञान तो तभी सम्भव है जब सम्पूर्ण मानसिकता उस ओर पूरी शक्ति से उन्मुख हो—मानसिकता का एक आंशिक पक्ष उस ज्ञान के लिये ही है। अब यदि इन्द्रिय—अनुभव तथा बौद्धिकता अवगति सत्य ज्ञान के लिये है, तो आवश्यकता है उस ज्ञान के स्रोत के स्वरूप की समझ की जिसके द्वारा सत्य ज्ञान सम्भव हो सके। ज्ञान के इस मार्ग को राधाकृष्णन अन्तर्दृष्टि (Intuitive Apprehension) कहते हैं। राधाकृष्णन कहते हैं कि अन्तर्दृष्टि अपने विषय को साक्षात् ढंग से, बिना किसी माध्यम के जानती है। इन चिन्हों या प्रतीकों के द्वारा अपने विषय को पकड़ने की चेष्टा नहीं करती। इसी कारण इस के द्वारा प्राप्त ज्ञान तात्कालिक होता है। इस ज्ञान में जाता तथा ज्ञेय, अथवा विषयी एवं विषय का द्वैत पूर्णतया समाप्त हो जाता है।

इस प्रकार का जानना एक प्रकार से आत्मसात करना है विषयों तथा विषय का एकरूप हो जाना है (Knowing by becoming) इस प्रकार के ज्ञान को समझने के लिये भावनात्मक अनुभूति का विश्लेषण उपयोगी सिद्ध हो सकता है। उदाहरण क्रोधा की भावना कैसी होती है— यह जानने के लिये हम चाहे जितना भी सोचे, विचार करें, हम कुछ नहीं जान पायेंगे। किन्तु यदि हम क्रोधात हो

जाते हैं, तो तत्काल उसकी जानकारी हो जाती है क्योंकि हम तथा क्रोधा के बीच एक तादात्म्य स्थापित हो जाता है। इसी प्रकार की तादात्म्य स्थापित करने से जो ज्ञान मिलता है वही अन्तर्दृष्टि का ज्ञान है। यहाँ ज्ञाता तथा ज्ञेय का भेद समाप्त हो जाता है। यहाँ जिस विषय का ज्ञान होता है वह हमसे पृथक् कोई तत्व नहीं रह जाता, बल्कि जाता उस विषय का आत्मसात कर लेता है अब वह विषय विषयी का एक अंग बन जाता है। यदि हम अन्तर्दृष्टि तथा इन्द्रिय-अनुभव की तुलना करें, तो स्पष्ट हो जाएगा कि अन्तर्दृष्टि में कुछ ऐसी विशेषतायें हैं जो इन्द्रिय-अनुभव में नहीं हैं।

इन्द्रिय-अनुभवों से अयथार्थ ज्ञान भी मिल सकता है- उनसे कभी-कभी संशय, भ्रान्ति, ख्याति आदि भी उत्पन्न हो जाते हैं, किन्तु अन्तर्दृष्टि में भ्रान्ति का प्रश्न ही नहीं उठता। बल्कि, राधाकृष्णन का कहना है कि अन्तर्दृष्टि की तो यह विशेषता है कि उसे प्रमाण या साक्ष्य की आवश्यकता भी नहीं है, वह अपना साध्य अपने आप है। सांख्यों या प्रमाणीकरण की आवश्यकता तब उत्पन्न होती है, जब हम किसी भाव या विचार को वस्तु के साथ जोड़ते हैं, जैसा कि इन्द्रिय-अनुभव में होता है। यहाँ दो पृथक् तत्वों को जोड़ा जाता है, अतः प्रश्न उठता है कि उस जोड़ने का आधार क्या है ? यहाँ जानना तथा होना एक नहीं है, किन्तु अन्तर्दृष्टि जहाँ जानने तथा होने का अन्तर ही समाप्त हो जाता है। जहाँ ज्ञान वस्तु को आत्मसात करना है, वहाँ प्रमाण की आवश्यकता ही नहीं है। फिर भी राधाकृष्णन कहते हैं कि अन्तर्दृष्टि की एक विशेषता है जिसमें इसकी इन्द्रिय-अनुभव में सादृश्यता है। दोनों में यह विशेषता है कि वे दोनों अपने विषय को तत्काल तथा बिना किसी माध्यम के साक्षात् पकड़ लेती हैं। अन्तर्दृष्टि में भी कोई ज्ञान का माध्यम नहीं होता - यह साक्षात् ज्ञान है। यह साक्षात् (Direct) एक ऐसा गुण है जिसके आधार पर कहा जाता है कि इन दोनों में पूर्णतया मौलिक भेद नहीं है। दोनों दृष्टि है, किन्तु अन्तर्दृष्टि उन क्षेत्रों में प्रवेश कर लेती है जहाँ इन्द्रियाँ नहीं पहुँच पातीं।

#### स्मरणीय बिन्दु -

1. धार्मिक अनुभूति प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव है।
2. अन्तर्दृष्टि सत्य का आन्तरिक अनुभव कराती है।
3. तर्क सीमित है।
4. धर्म का आधार अनुभव है।
5. आत्मसाक्षात्कार मानव जीवन का लक्ष्य है।

#### शब्दावली -

| शब्द             | अर्थ                                 |
|------------------|--------------------------------------|
| धार्मिक अनुभूति  | ईश्वर या परम सत्य का प्रत्यक्ष अनुभव |
| अन्तर्दृष्टि     | आन्तरिक ज्ञान शक्ति                  |
| आत्मसाक्षात्कार  | आत्मा के सत्य स्वरूप की अनुभूति      |
| आध्यात्मिक अनुभव | आत्मिक चेतना का अनुभव                |
| सार्वभौमिकता     | सबके लिए समान सत्य                   |
| प्रत्यक्ष ज्ञान  | अनुभव द्वारा प्राप्त ज्ञान           |
| तर्क             | बुद्धि पर आधारित विचार प्रक्रिया     |
| परम सत्य         | सर्वोच्च सत्य                        |

#### 5 अंको के प्रश्न -

1. धार्मिक अनुभूति क्या है?
2. अन्तर्दृष्टि की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
3. राधाकृष्णन के अनुसार तर्क की सीमाएँ क्या हैं?
4. धर्म और अनुभव के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
5. आत्मसाक्षात्कार पर संक्षिप्त टिप्पणी लिखिए।

#### 15 अंको के प्रश्न -

1. राधाकृष्णन के धार्मिक अनुभूति सम्बन्धी विचारों की विवेचना कीजिए।
2. अन्तर्दृष्टि की अवधारणा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. धर्म एवं आध्यात्मिक अनुभव पर राधाकृष्णन के विचारों का अध्ययन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न -**

1. राधाकृष्णन के अनुसार धर्म का आधार क्या है?

(क) राजनीति

(ख) तर्क

**(ग) आध्यात्मिक अनुभूति**

(घ) विज्ञान

2. अन्तर्दृष्टि क्या है?

(क) बाह्य ज्ञान

(ख) तर्कशक्ति

**(ग) सत्य का आन्तरिक अनुभव**

(घ) सामाजिक नियम

3. धार्मिक अनुभूति किसका अनुभव है?

(क) भौतिक सुख

**(ख) परम सत्य**

(ग) राजनीतिक शक्ति

(घ) सामाजिक प्रतिष्ठा

4. राधाकृष्णन के अनुसार तर्क कैसा है?

(क) असीमित

(ख) पूर्ण

**(ग) सीमित**

(घ) निरर्थक

5. आत्मसाक्षात्कार का सम्बन्ध किससे है?

(क) राजनीति

**(ख) आत्मिक अनुभव**

(ग) आर्थिक विकास

(घ) भौतिकता



## इकाई- 2.4 बुद्धि और अन्तर्दृष्टि, अन्तर्दृष्टि का स्वरूप

उद्देश्य -

1. बुद्धि एवं अन्तर्दृष्टि के अन्तर को समझ सकेंगे।
2. अन्तर्दृष्टि के स्वरूप का अध्ययन कर सकेंगे।
3. ज्ञान प्राप्ति में अन्तर्दृष्टि की भूमिका का विश्लेषण कर सकेंगे।

बौद्धिक अवगति की अपनी उपयोगिता है, किन्तु ऐसा नहीं है कि इसमें भूल-गलती के लिये स्थान न हो। इस पर संशय भी किया जा सकता है। इनके द्वारा रचित ताकि युक्तियों को काटा भी जा सकता है, नकारा भी जा सकता है। एक हो स्थापना के पक्ष तथा विपक्ष दोनों में बुद्धि समान ढंग के तर्क प्रस्तुत कर सकती है, अतः बौद्धिक ढंगों में पूर्ण निश्चिता की बात नहीं की जा सकती।

बौद्धिक उपकरणों के द्वारा वस्तुओं के बाह्य तथा आन्तरिक दोनों पक्षों पर विचार किया जा सकता है, किन्तु ये दोनों विचार परोल एवं प्रतीकात्मक होते हैं। बुद्धि का मुख्य उपकरण विश्लेषण है, और इस उपकरण से यह अपने विषय वस्तु को उसको सम्पूर्णता में नहीं पकड़ पाती और यह इसकी कमी है। किन्तु, राधाकृष्णन का कहना है कि इन बातों का यह अर्थ नहीं कि अन्तर्दृष्टि तथा बुद्धि विपरीत कोटि के हैं। उनका कहना है कि दोनों में पारस्परिक सहयोग है। अन्तर्दृष्टि को कम से कम कुछ कार्यों के लिये तो बुद्धि का सहारा लेना ही पड़ता है। अपने अनुभूत सत्यों को व्यक्त करने के लिये, उन्हें दूसरों के लिये बोधगम्य बनाने के लिये, तथा आवश्यकता पड़ने पर उसका प्रमाण्य प्रस्तुत करने के लिये तो अन्तर्दृष्टि बुद्धि पर झुकती ही है। इसके द्वारा जो सत्य उपलब्ध होते हैं, वे बहुधा इस रूप में नहीं होते कि आप भी उसे समझ सकें। अतः आवश्यकता होती है कि उन सत्यों को इस रूप में प्रस्तुत किया जाय जो अन्य के लिये भी सरल हो, और यह कार्य तो बुद्धि ही कर सकती है। इसके विपरीत, बुद्धि तो एक रूप से अन्तर्दृष्टि की पूर्वमान्यता पर आधारित होती है। बौद्धिक वृत्ति एक प्रकार से अन्तर्दृष्टि के बिना अपना कार्य सम्पादित ही नहीं कर सकती। बौद्धिकता विश्लेषण को विधि है, विश्लेषण के लिये यह अब बोधा आवश्यक है जिसका विश्लेषण हो रहा है, वह अपने में एक सम्पूर्णता है-एक पूर्ण इकाई है। इसी आधार पर तो अन्तर्दृष्टि को प्राथमिक माना जाता है।

## अन्तर्दृष्टि का स्वरूप

अन्तर्दृष्टि में एक ओर सहज प्रवृत्ति (Instinct) को समान साक्षात्ता, सहजता एवं अपने विषय को सम्पूर्णता में पकड़ने की क्षमता निहित है, तो दूसरी ओर, इसमें बुद्धि के समान चेतना भी निहित है। राधाकृष्णन अन्तर्दृष्टि को कुछ उसी रूप में कल्पित करते हैं, जिस रूप में बर्गसां ने अन्तर्दृष्टि को देखा है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यह साक्षात् एवं तात्कालिक ज्ञान देता है, क्योंकि इसका सम्पर्क विषय से साक्षात्कार में होता है। चिन्हों तथा प्रतीकों के द्वारा नहीं। यह किसी माध्यम के द्वारा कार्य नहीं करती। अन्तर्दृष्टि का एक प्रमुख लक्षण यह है कि इससे प्राप्त ज्ञान स्वतः सिद्ध होता है। इसे स्वतः सिद्ध इस कारण कहा गया है क्योंकि इसे अपने प्रमाण्य के लिये किसी अन्य साधन के सहारे की आवश्यकता नहीं होती। यह अपना प्रमाण्य स्वतः प्रस्तुत करता है। अन्तर्दृष्टि की विशिष्टता है कि इससे प्राप्त अवगति में यह भी निहित है कि यह सत्य है। इसे तात्कालिक ज्ञान कहा गया है क्योंकि यह ज्ञान हर भेद, हर द्वैत को मिटा देता है। इस प्रकार का जानना विषय को आत्मसात करना है। ऐसा नहीं है कि यह मत सैद्धान्तिक एवं अव्यवहारिक है, वस्तुतः इस प्रकार की अवगति तो मनुष्य के लिये सर्वथा स्वाभाविक है। हर व्यक्ति में अन्तर्दृष्टि की क्षमता रहती ही है, इसे साधारण उदाहरणों के द्वारा सिद्ध कर दिखाया जा सकता है।

राधाकृष्णन कहते हैं कि इस प्रकार अन्तर्दृष्टि उन सभी कार्यों को सम्पादित कर लेती है, जो इन्द्रिय, सहज प्रवृत्ति एवं बुद्धि से सम्पादित होते हैं, तथा उनके अतिरिक्त कुछ ऐसे कार्य भी सम्पादित करती है जो उन तीनों से सम्भव नहीं हैं। इसकी यही विशिष्टता एवं व्यापकता इसे सब प्रकार के ज्ञान हेतु समर्थ बना देती है। इसको इस विशिष्टता का एक स्पष्ट साक्ष्य यह है कि जीवन के कुछ ऐसे पक्ष हैं जिनकी अवगति केवल अन्तर्दृष्टि से हो सम्भव होती है। उदाहरणतः भावनात्मक अनुभूति का ही उदाहरण लें। इसे जानने में बौद्धिकता का कोई अंश सक्षम नहीं है। इसे केवल वही समझ सकता है जो अपने अन्तर में ऐसी भावना को अनुभूत कर सकता है। प्रेम को हर परिभाषा प्रेम के स्वरूप को समझने में अक्षम है, प्रेम की आन्तरिक अनुभूति प्रेम के रहस्य को समझा देती है उसी प्रकार मूल्यात्मक निर्णय भी अन्तर्दृष्टि पर ही आधारित होते हैं। राधाकृष्णन का दावा है कि जीवन-सम्बन्धी तथा तर्क-सम्बन्धी सामान्य सिद्धान्त, और उसके साथ-साथ सभी सामान्य वैज्ञानिक मान्यतायें भी किसी न किसी रूप में रहते हैं। आत्मा का ज्ञान भी अन्तर्दृष्टि से ही सम्भव है। हर संज्ञानात्मक, भावनात्मक अथवा संकल्पनात्मक क्रिया में एक यह बोध भी निहित है कि मैं यह क्रिया कर रहा हूँ। हर अवगति में यह भी निहित है कि मुझे यह अवगति हो रही है। राधाकृष्णन की भाषा में अन्तर्दृष्टि का विवरण कुछ इस ढंग से दिया गया है- "Intuition is only the higher stage of intelligence intelligence rid of separative and discursive tendencies- While it liberates from the prejudices of the understanding] it carries our intellectual conclusions to a deeper synthesis- Instead of being an unnatural and mysterious process] it is a deeper experience which by supplementing our narrow intellectual visions amplifies it- Intuition is not an appeal to the subjective whims of the individual or a dogmatic faculty of conscience or the uncritical morbid view of the psychopath- It is most complete experience we can possibly have- It is the experience which devout souls have in moments of spiritual exaltation or religious devotion."

### स्मरणीय बिन्दु -

1. बुद्धि तर्क पर आधारित है।
2. अन्तर्दृष्टि प्रत्यक्ष आध्यात्मिक अनुभव है।
3. बुद्धि सीमित है।
4. अन्तर्दृष्टि सत्य का समग्र अनुभव कराती है।
5. परम सत्य की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि से सम्भव है।

### शब्दावली -

| शब्द              | अर्थ                         |
|-------------------|------------------------------|
| बुद्धि            | तर्क एवं विचार शक्ति         |
| अन्तर्दृष्टि      | आन्तरिक एवं आध्यात्मिक अनुभव |
| विश्लेषणात्मक     | तर्क के आधार पर अध्ययन       |
| समग्र अनुभव       | सम्पूर्ण सत्य का अनुभव       |
| आध्यात्मिक ज्ञान  | आत्मिक सत्य का ज्ञान         |
| प्रत्यक्ष अनुभूति | सीधा अनुभव                   |
| तर्कप्रधान        | बुद्धि पर आधारित             |
| आत्मिक एकता       | सभी में एकत्व का अनुभव       |

### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. बुद्धि किस पर आधारित होती है?

(क) अनुभव

(ख) तर्क

(ग) भक्ति

(घ) भावना

2. अन्तर्दृष्टि क्या प्रदान करती है?

(क) बाह्य ज्ञान

(ख) राजनीतिक शक्ति

(ग) आध्यात्मिक अनुभव

(घ) भौतिक सुख

3. राधाकृष्णन के अनुसार परम सत्य की प्राप्ति किससे सम्भव है?

(क) बुद्धि

(ख) तर्क

(ग) अन्तर्दृष्टि

(घ) विज्ञान

4. बुद्धि की प्रमुख विशेषता क्या है?

(क) आध्यात्मिकता

(ख) समग्र अनुभव

(ग) विश्लेषणात्मक स्वरूप

(घ) भक्ति

5. अन्तर्दृष्टि का सम्बन्ध किससे है?

(क) भौतिक ज्ञान

(ख) आत्मिक अनुभव

(ग) राजनीति

(घ) अर्थशास्त्र

व उत्तर: (ठ)

### 5 अंक के प्रश्न -

1. बुद्धि और अन्तर्दृष्टि में अन्तर स्पष्ट कीजिए।

2. अन्तर्दृष्टि का स्वरूप क्या है?

3. बुद्धि की सीमाएँ लिखिए।

4. राधाकृष्णन के अनुसार ज्ञान का वास्तविक साधन क्या है?

5. अन्तर्दृष्टि की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न -

1. बुद्धि एवं अन्तर्दृष्टि के सम्बन्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

2. अन्तर्दृष्टि के स्वरूप पर राधाकृष्णन के विचारों की विवेचना कीजिए।

3. ज्ञान प्राप्ति में बुद्धि एवं अन्तर्दृष्टि की भूमिका का अध्ययन कीजिए।

## खण्ड-3 शंकराचार्य, रामानुजाचार्य

### इकाई- 3.1 शंकराचार्य- अद्वैत ब्रह्मसूत्र के परसद्विधा भाष्यकार, प्रमुख आचार्य

उद्देश्य -

1. आदि शंकराचार्य के जीवन एवं दर्शन को समझ सकेंगे।
2. अद्वैत वेदान्त के मूल सिद्धान्तों का अध्ययन कर सकेंगे।
3. शंकराचार्य के भारतीय दर्शन में योगदान का मूल्यांकन कर सकेंगे।

| संख्या | नाम          | काल          | भाष्य-नाम        | सिद्धान्त            |
|--------|--------------|--------------|------------------|----------------------|
| 1.     | शंकर         | (788-820 ई.) | शारीरकभाष्य      | निविशेषाद्वैत        |
| 2.     | भास्कर       | (1000)       | भास्करभाष्य      | भेदाभेद              |
| 3.     | रामानुज      | (1140)       | श्रीभाष्य        | विशिष्टाद्वैत        |
| 4.     | मधवाचार्य    | (1238)       | पूर्णप्रज्ञभाष्य | द्वैत                |
| 5.     | निम्बार्क    | (1250)       | वेदान्तपारिजात   | द्वैताद्वैत          |
| 6.     | श्रीकण्ठ     | (1270)       | शैवभाष्य         | शैव-विशिष्टाद्वैत    |
| 7.     | श्रीपति      | (1400)       | श्रीकरभाष्य      | वीरशैव-विशिष्टाद्वैत |
| 8.     | वल्लभ        | (1476-1544)  | अणुभाष्य         | शुद्धाद्वैत          |
| 9.     | विज्ञानभिक्ष | (1600)       | विज्ञानामृत      | अविभागाद्वैत         |
| 10.    | बलदेव स्वामी | (1725)       | गोविन्दभाष्य     | अनित्यभेदाभेद        |

### अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी:

ब्रह्मसूत्र के अध्ययन से स्पष्ट है कि बादरायण से भी पूर्व काल में अनेक आचार्यों ने वेदान्त तत्व की मीमांसा की थी, परन्तु इन आचार्यों की ख्रतियाँ अब उपलब्ध नहीं हैं। इनके नाम अकारादिक्रम से नीचे दिये जाते हैं-

1. **आत्रेय** - इनका नाम केवल एक बार ही (ब्र. सू. 3/14/644 में) निर्दिष्ट है। यज्ञ में अङ्गाश्रित उपासना यजमान के द्वारा तथा ऋत्विज् के द्वारा दोनों प्रकार से हो सकती है। यहाँ फल के विषय में सन्देह बना हुआ है। आत्रेय के मतानुसार कर्म का फल यजमान (यज्ञ स्वामी) को ही प्राप्त होता है, ऋत्विज् को नहीं।

(2) **आशमरथ्य**- इनका निर्देश दो बार (ब्र.सू. 1/2/26य 1/4/20) मिलता है। उपानेषदों में कहीं-कहीं सर्वव्यापक ईश्वर को प्रादेश मात्र (एक प्रदेश में टिकने वाला) कहा गया है, जिसकी उपपत्ति ये इस प्रकार बतलाते हैं परमेश्वर वस्तुतः अनन्त है, तथापि भद्रों पर अनुग्रह करने के लिए प्रदेशमात्र में आविर्भूत होता है, क्योंकि कोई भी सम्पूर्णतः उसकी उपलब्धि नहीं कर सकता। हृदयादि उपलब्धि स्थानों अथवा प्रदेशों में उसकी उपलब्धि विशेष रूप से होती है। इस कारण भी वह प्रदेशमात्र कहा गया है। इसके मत में विज्ञानात्मा तथा परमात्मा में भेदाभेद सम्बन्ध है। ये भेदाभेदवादी थे।

3. **औदुलोमि** - तीन बार निर्दिष्ट है (ब्र.सू. 1/4/29य 3/4/49 तथा 4/4/6) इनके मत में अवस्था की भिन्नता के कारण भेदाभेद होता है, अर्थात् संसार दशा में जीव और ब्रह्म में भेद है, पर मुक्तावस्था में दोनों में अभेद है। वाचस्पति मिश्र ने भामती में इनके मत का उपपादन बड़े सुन्दर ढंग से किया है।

4. **कार्णाजिनि**- ब्र.सू. (3/1/6) में एक बार तथा मीमांसा-सूत्र में अनेक बार इनका उल्लेख मिलता है। ब्रह्मसूत्र में “रमणीयचरण ॥:” (छा. 5/10/17) के ऊपर इनका विशिष्ट मत निर्दिष्ट हुआ है।

5. **काशकृत्स्न**- इस संसार में जीव रूप से आचार्य शंकर के शब्दों में अविकृतः परमेश्वरो जीवो आचार्य को मान्य है। इनके मत में (ब्र.सू. 1/14/22) परमेश्वर ही अवस्थित है, जीव परमात्मा का विकार नहीं है। इनका सिद्धान्त यह है काशकृत्स्नस्य आचार्यस्थ नान्य इति मतम् यह मत श्रुत्यनुसारी होने से

6. **जैमिनी** - इनका नाम 10 सू. में सबसे अधिक पूरे 11 बार आता है। बादरायण के साक्षात् शिष्य माने जाते हैं। कर्ममीमांसा दर्शन की रचना इन्होंने ही की है। प्रत्येक विषय में इनका मीमांसक मत स्पष्टतया प्रतीत होता है।

7. **बादरि** - इनका उल्लेख चार बार आता है (ब्र.सू. 1/2 30य 11111य 48:4५५10) उधार मीमांसा सूत्र में भी इनका निर्देश उपलब्ध है। अनुमान किया जाता है कि इन्होंने इन दोनों मीमांसाओं पर सूत्रग्रन्थ लिखे थे।

8. **आचार्य-काश्यप** - इनका भी कोई सूत्रग्रन्थ था, परन्तु ब्र. सू. में उल्लेख नहीं है। शाण्डिल्य ने भक्तिसूत्र में (तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात् - सूत्र 26) किया है। इनका मत भेदवाद था।

#### गौडपाद

अद्वैत वेदान्त का विकास जानने के लिए शंकर से पूर्व के दार्शनिकों का अध्ययन उपादेय है। इनमें सबसे मुख्य है गौडपाद, जो शंकर के गुरु गोविन्द-पाद के गुरु माने जाते हैं। मायावाद का आरम्भ गौडपाद से माना जाता है। इनका कीर्तिस्तम्भ माण्डूक्यकारिका है, जो उपनिषदों के अनन्तर अद्वैत वेदान्त का अत्यन्त गौरवमय ग्रन्थ माना जाता है।

#### स्मरणीय बिन्दु -

1. शंकराचार्य अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य हैं।
2. ब्रह्म ही परम सत्य है।
3. जगत माया के कारण प्रतीत होता है।
4. जीव और ब्रह्म में वास्तविक भेद नहीं है।
5. आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।

#### शब्दावली -

##### शब्द

अद्वैत

ब्रह्म

जीव

मोक्ष

आत्मज्ञान

वेदान्त

निर्गुण

माया

##### अर्थ

द्वैत का अभाव, एकत्व

परम सत्य

व्यक्तिगत आत्मा

जन्म-मरण से मुक्ति

आत्मा के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान

उपनिषदों पर आधारित दर्शन

गुणों से रहित

भ्रम उत्पन्न करने वाली शक्ति

#### 5 अंक के प्रश्न -

1. अद्वैत वेदान्त से क्या अभिप्राय है?
2. शंकराचार्य के अनुसार ब्रह्म क्या है?
3. जगत के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विचार लिखिए।
4. मोक्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
5. शंकराचार्य के योगदान लिखिए।

#### 15 अंक के प्रश्न -

1. शंकराचार्य के अद्वैत वेदान्त की विवेचना कीजिए।
2. ब्रह्म, जीव एवं जगत के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विचार स्पष्ट कीजिए।
3. भारतीय दर्शन में शंकराचार्य के योगदान का मूल्यांकन कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. अद्वैत वेदान्त के प्रमुख आचार्य कौन हैं?

(क) रामानुजाचार्य

(ख) मध्वाचार्य

(ग) शंकराचार्य

(घ) वल्लभाचार्य

2. शंकराचार्य के अनुसार परम सत्य क्या है?

(क) जगत

(ख) जीव

( ग ) ब्रह्म

( घ ) माया

3. अद्वैत का अर्थ क्या है?

( क ) अनेकता

( ख ) भेद

( ग ) द्वैत का अभाव

( घ ) संघर्ष

4. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

( क ) कर्मकाण्ड

( ख ) धन

( ग ) आत्मज्ञान

( घ ) शक्ति

5. शंकराचार्य के अनुसार जगत क्या है?

( क ) परम सत्य

( ख ) मिथ्या

( ग ) पूर्ण असत्य

( घ ) ईश्वर से स्वतंत्र

## इकाई- 3.2 वेदान्त तत्त्वमीमांसा, आत्मा का स्वरूप, अनिर्वचनीयतावाद, माया, ईश्वर, जगत् विचार

### उद्देश्य -

1. अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा को समझ सकेंगे।
2. आत्मा, माया एवं ईश्वर की अवधारणा का अध्ययन कर सकेंगे।
3. जगत सम्बन्धी शंकराचार्य के विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।

अद्वैत वेदान्त का मूल मन्त्र है। अद्वैत वेदान्त का एक मौलिक सिद्धान्त है जिसे भली-भाँति समझ लेने पर ही अन्य तत्त्वों का अनुशीलन किया जा सकता है। वह तत्त्व है - आत्मज्ञान की स्वयंसि।

**आत्मा का स्वरूप-** अनुभूति के स्तर से आत्मा की सत्ता स्वतः सिद्ध रहती है। विषय के अनुभव के भीतर चेतन विषयी की सत्ता स्वयंसिद्ध है, क्योंकि आत्मा को ज्ञातारूपेण उपलब्धि के अभाव में विषय का ज्ञान संभव नहीं है। प्रत्येक अनुभव की प्रक्रिया में अनुभवकर्ता को अपनी सत्ता का अनुभव अवश्यमेव होता है। शंकराचार्य का कथन है कि प्रमाण आदि सकल व्यवहारों का आश्रय आत्मा ही है। अतः इन व्यवहारों से पहले ही उस आत्मा की सिद्धि है।

**आत्मा ज्ञानरूप-** आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। यह दो भिन्न-भिन्न वस्तु नहीं हैं। ज्ञेय पदार्थ के आविर्भाव होने पर ज्ञान ही ज्ञातारूप से प्रकट हो जाता है, परन्तु ज्ञेय के न रहने पर ज्ञाता की कल्पना ही नहीं उठती। जगत् की ज्ञेयरूपेण जब उपस्थिति रहती है, तभी आत्मा के ज्ञाता-रूप का उदय होता है, परन्तु उसके अभाव में आत्मा की सर्वदा ज्ञानरूपेण स्थिति रहती है।

**आत्मा की अद्वैत सिद्धि-**सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने पर आत्मा ही एकमात्र सत्ता सिद्ध होता है, जगत् की सत्ता केवल व्यावहारिकी है-व्यवहार की सिद्धि के लिए स्वीकृत की गई है। जगत् की व्यावहारिकता प्रदर्शन के अब सर पर आचार्य कहते हैं ज्ञप्ति आत्मा का स्वरूप है, तथा नित्य है। चक्षुरादि द्वारों से परिणत होने वाली बुद्धि की जो शब्द-स्पर्शादि प्रतीतियाँ हैं, वे आत्मविज्ञान के विषयभूत होकर ही उत्पन्न होती हैं। इस प्रकार वे आत्म-ज्ञान के द्वारा प्राप्त होती हैं।

देश काल की उपाधि द्वैत सत्ता को सिद्ध करती है। यहाँ- वहाँ का भेद देशजन्य है। भूत, वर्तमान की कल्पना काल के ऊपर आश्रित है। देश काल को कल्पना अद्वैत की कल्पना को उन्मूलित सी करती है, परन्तु आपाततः ही। इसीलिए आचार्य शंकर ने इस सृष्टि की देश और काल की विचित्रता से चित्रीकृत कहा है और देशकाल को माया की कल्पना माना है, अर्थात् देश और काल से होने वाले भेद केवल काल्पनिक होते हैं। वास्तव नहीं। जगत् में एक ही अखण्ड सत्ता विद्यमान है। जो उस सत्ता को जानता है वह सच्चा तत्त्वज्ञानी होता है। जगत् में नाना या अनेकता देखना मृत्युरूप है।

### स्मरणीय बिन्दु -

1. आत्मा शुद्ध चेतना है।
2. माया अज्ञान का कारण है।
3. ब्रह्म ही परम सत्य है।
4. जगत व्यावहारिक सत्य है।
5. आत्मज्ञान से मोक्ष प्राप्त होता है।

### शब्दावली -

#### शब्द

आत्मा

माया

ईश्वर

जगत

अनिर्वचनीय

व्यावहारिक सत्य

परम सत्य

अज्ञान

#### अर्थ

शुद्ध चेतना

अज्ञान उत्पन्न करने वाली शक्ति

जगत का नियन्ता

संसार

जिसे पूर्णतः व्यक्त न किया जा सके

व्यवहार में सत्य प्रतीत होने वाला

अंतिम एवं शाश्वत सत्य

वास्तविक ज्ञान का अभाव



### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. शंकराचार्य के अनुसार आत्मा क्या है?

(क) शरीर

(ख) मन

(ग) शुद्ध चेतना

(घ) पदार्थ

2. माया किसका कारण है?

(क) आत्मज्ञान

(ख) अज्ञान

(ग) मोक्ष

(घ) भक्ति

3. ईश्वर क्या है?

(क) माया से रहित ब्रह्म

(ख) माया से सम्बद्ध ब्रह्म

(ग) जीव

(घ) जगत

4. जगत को क्या कहा गया है?

(क) पूर्ण असत्य

(ख) परम सत्य

(ग) व्यावहारिक सत्य

(घ) निर्गुण

5. मोक्ष किससे सम्भव है?

(क) धन से

(ख) तपस्या से

(ग) आत्मज्ञान से

(घ) युद्ध से

5 अंको के प्रश्न -

1. माया की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

2. आत्मा का स्वरूप क्या है?

3. ईश्वर के सम्बन्ध में शंकराचार्य के विचार लिखिए।

4. जगत को व्यावहारिक सत्य क्यों कहा गया है?

5. मोक्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

15 अंको के प्रश्न -

1. अद्वैत वेदान्त की तत्त्वमीमांसा का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।

2. आत्मा, माया एवं जगत के सम्बन्ध का अध्ययन कीजिए।

3. शंकराचार्य के मोक्ष सिद्धान्त की विवेचना कीजिए।

### इकाई- 3.3 रामानुजाचार्य- विशिष्टाद्वैत के आचार्य-ब्रह्मवचिार, तत्त्वमीमांसा

#### उद्देश्य -

1. रामानुजाचार्य के दर्शन को समझ सकेंगे।
2. विशिष्टाद्वैत वेदान्त की अवधारणा का अध्ययन कर सकेंगे।
3. ब्रह्म, जीव एवं जगत सम्बन्धी विचारों का विश्लेषण कर सकेंगे।

आचार्य ने ब्रह्म के वास्तव स्वरूप का निर्णय करने के लिए दो प्रकार के लक्षणों को स्वीकार किया है- स्वरूप लक्षण और तटस्थ लक्षण। स्वरूप लक्षणपदार्थ के सत्य तात्त्विक रूप का परिचय देता है, परन्तु तटस्थ लक्षण कुछ देर तक होने वाले आगन्तुक गुणों का ही निर्देश करता है।

ब्रह्म जगत् की उत्पत्ति, स्थिति तथा लय का कारण है। आगन्तुक गुणों के समावेश करने के कारण यह उसका तटस्थ लक्षण है। सत्यं ज्ञानमानन्दं ब्रह्म विज्ञानमानन्दं ब्रह्म के स्वरूपप्रतिपादक लक्षण हैं। वह सत् (सत्ता), चित् (ज्ञान) और आनन्द रूप (सच्चिदानन्द) है। यही ब्रह्म का स्वरूप लक्षण है। परन्तु यही ब्रह्म मायावच्छिन्न होने पर सगुण ब्रह्म, अपर ब्रह्म या ईश्वर कहलाता है, जो इस जगत् की स्थिति, उत्पत्ति तथा लय का कारण होता है। ब्रह्म के दो रूप होते हैं सगुण ब्रह्म तथा निर्गुण ब्रह्म। दोनों एक ही हैं, परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता से दो रूपों में गृहीत किये जाते हैं। जिस प्रकार संसार के पदार्थ असत्य और काल्पनिक हैं, उसी प्रकार जीव भी अविद्या के ऊपर आश्रित रहता है। ब्रह्म ही एकमात्र सत्ता है, इस ज्ञान के अभाव में ही जीव की सत्ता है।

परमार्थिक दृष्टि से ब्रह्म निर्गुण है। उसके ऊपर जीव का या जगत का कोई भी गुण आरोपित नहीं किया जा सकता। शंकर के मत में यह ब्रह्म सजातीय, विजातीय तथा स्वगत इन तीनों भेदों से भेद रहता है। ब्रह्म में दो अंश होते हैं- चित् अंश तथा अचित् अंश और ये आपस में विरुद्ध होते हैं। शंकर के मत में ब्रह्म के दो रूप होते हैं- विश्व तथा विश्वातीत। विश्व रूप में वह गुण सम्पन्न माना जा सकता है, परन्तु विश्वातीत रूप में वह अनिर्वचनीय है।

उपनिषद् ब्रह्म को नेति नेति शब्दों के द्वारा अभिहित करते हैं। न यह गुण वहाँ है, और न वह गुण। इस प्रकार सब गुणों के निषेध करने से जो तत्त्व बच जाता है वही है ब्रह्म। इस प्रकार जिस ब्रह्म के विषय में श्रुति नेति नेति शब्दों का व्यवहार करती है वह ब्रह्म वस्तुतः निर्गुण ब्रह्म ही है। यही ब्रह्म का पारमार्थिक रूप है।

सगुण तथा निर्गुण ब्रह्म में किसी प्रकार का भेद नहीं है। वह एक ही सत्ता है परन्तु दृष्टिकोण की भिन्नता के कारण वह इन दोनों से पुकारा जाता है। नाट्यशाला में रंगमंच के ऊपर दुष्यन्त की भूमिका में उतरने वाला नट नाट्यशाला के बाहर जाते समय वह कोई दूसरा व्यक्ति नहीं बन जाताय रहता है वह वही मनुष्य ही, परन्तु नाट्य की दृष्टि से वह नट कहलाता है वस्तुतः पारमार्थिक दृष्टि से वह मनुष्य ही रहता है। ब्रह्म की भी ठीक यही दशा है। अतः सगुण ईश्वर तथा निर्गुण ब्रह्म में भेद मानना नितान्त भ्रामक है। निर्गुण ब्रह्म ही वास्तविक पारमार्थिक सत्ता है, परन्तु व्यवहार के लिए, उपासना के निमित्त वही सगुण ईश्वर माना जाता है। तत्त्व एक ही है, दृष्टि भिन्न-भिन्न है हैं और इसीलिए उसके दो रूप हैं। ईश्वर की उपासना से सगुण ब्रह्म के भजन-पूजन से चित्त की शुद्धि होती है और तभी साधाक विशुद्ध ज्ञान मार्ग का अवलम्बन कर निर्गुण ब्रह्म को पा सकता है अन्यथा नहीं। यही उपासना का उपयोग है।

#### विवर्तवाद

इसे प्रत्यक्ष को अस्वीकार तो नहीं किया जा सकता, परन्तु सूक्ष्म विचार करने से यही प्रतीत होगा कि आकार कोई नई चीज नहीं है, जो पदार्थ से अलग हो। है और द्रव्य से वह भिन्न नहीं है। आकार कोई नई चीज नहीं है, आकार वस्तुतः द्रव्य की एक अवस्थामात्र है। आकार की सत्ता तो द्रव्य को लेकर ही जिसके कारण मूल वस्तु में वास्तव परिवर्तन माना जाय। तथ्य यह है कि आकार की या किसी गुण की द्रव्य से पृथक् कल्पना मानना नितान्त असंगत है। वस्तुतः मृत्तिका ही एक वास्तव द्रव्य है और कुम्भकार के व्यापार से वह कभी घड़े, कभी कड़ाही और कभी कसोरे के रूप में जो दीख पड़ती है, वह वस्तुतः मिथ्या है। नाम तथा रूप दोनों की कल्पना मिथ्या है। वह मृत्तिका हैं यही बात एकदम सच्ची है।

#### मूल तत्त्व

इसी शुद्ध सत्ता को, जो संसार का मूल कारण है, जो नाना रूपों में प्रकट होने पर भी स्वयं निराकार तथा निरवयव है, ब्रह्म की संज्ञा दी गई है। यही ब्रह्म है। वह एक है। अनेक नहीं युद्धियों से पुष्ट अद्वैतवाद का यही आधार है।

#### माया

शंकराचार्य ने माया तथा अविद्या शब्दों का प्रयोग समानार्थक रूप में किया है। परन्तु परवर्ती दार्शनिकों ने इन दोनों शब्दों में सूक्ष्म अर्थ-भेद की कल्पना की है। परमेश्वर की वीजशक्ति का नाम माया है।

त्रिगुणात्मिका माया ज्ञान-विरोधी भावरूप पदार्थ है। भावरूप कहने का अभिप्राय यह है कि वह अभावरूपा नहीं है। माया न तो सत् है, न असत्य इन दोनों से विलक्षण होने के कारण उसे अनिर्वचनीय कहा गया है। असत् पदार्थ की कभी प्रतीति नहीं होती, परन्तु माया की प्रतीति तो हमें अवश्यमेव होती है। अतः उसे असत्य भी नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार माया में बाधा प्रतीति दोनों प्रकार के विरुद्ध धर्मों के कारण उसे अनिर्वचनीय कहना पड़ता है। माया सत् भी नहीं है, असत् भी नहीं है और उभय रूप भी नहीं है। वह न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न उभय रूप है। न अग्राहित है, न अग्रहित है और न उभयात्मिका ही है, अपितु वह अत्यन्त अद्भुत अनिर्वचनीया है वह ऐसी है जो कही न जा सके।

**माया की दो शक्तियाँ होती हैं** - आवरण तथा विक्षेप। इन्हीं की सहायता से वस्तुभूत ब्रह्म के वास्तव रूप को ढक कर उसमें अवस्तु रूप जगत् की प्रकृति का उदय होता है। लौकिक भ्रान्तियों में भी प्रत्येक माया की शक्तियाँ विचारशील पुरुष को इन दोनों शक्तियों का अनुभव हुए बिना रह नहीं सकता। यहाँ जादूगर अपने जादू के बल पर कंकड़ के असली रूप को ढक देता है, परन्तु इतने से भी उसके अभिप्राय की सिद्धि नहीं होती। वह उनको सिक्कों के रूप में जो दिखलाता है वही नवीन वस्तु की कल्पना है। अतः वस्तु के असली रूप को छिपा देना पहली सीढ़ी है (आवरण) और फिर उसी वस्तु में नवीन वस्तु को उत्पन्न कर देना अन्तिम सीढ़ी है (विक्षेप)। जब तक ये दोनों कार्य सिद्ध नहीं होते जादू का खेल बन नहीं सकता। ठीक इसी तरह माया भी ब्रह्म के असली रूप को ढक लेती है और फिर उसमें आकाश, पृथ्वी आदि नाना पदार्थों का आरोप कर लेती है। ब्रह्म तो ज्यों का त्यों बना रहता है।

आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को मानो ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में आकाशादि प्रपञ्च को उत्पन्न कर देती है। उसी प्रकार परिच्छिन्न अज्ञान अनुभवकर्ताओं की बुद्धि को ढक देने के कारण अपरिच्छिन्न असंसारी आत्मा को आच्छादित-सा कर देता है। इसी शक्ति की संज्ञा आवरण है, जो शरीर के भीतर द्रष्टा और दृश्य के तथा शरीर के बाहर ब्रह्म और सृष्टि के भेद को ढक देती है। जिसे प्रकार रज्जु का अज्ञान रज्जु में अपनी शक्ति से साँप पैदा करता है, ठीक उसी प्रकार माया भी अज्ञानाच्छादित आत्मा में इस शक्ति के बल पर आकाशादि जगत् प्रपञ्च को उत्पन्न करती है। इस शक्ति का अभिधान विक्षेप है।

#### स्मरणीय बिन्दु -

1. रामानुजाचार्य विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक हैं।
2. ब्रह्म सगुण एवं व्यक्तित्वयुक्त है।
3. जीव एवं जगत वास्तविक हैं।
4. भक्ति मोक्ष का मुख्य साधन है।
5. विष्णु परम ब्रह्म हैं।

#### शब्दावली -

| शब्द          | अर्थ                            |
|---------------|---------------------------------|
| विशिष्टाद्वैत | विशेषणयुक्त अद्वैत              |
| सगुण ब्रह्म   | गुणयुक्त ईश्वर                  |
| भक्ति         | ईश्वर के प्रति प्रेम एवं समर्पण |
| जीव           | चेतन सत्ता                      |
| जगत           | वास्तविक संसार                  |
| मोक्ष         | ईश्वर की प्राप्ति               |
| नारायण        | परम ब्रह्म                      |
| समर्पण पूर्ण  | श्रद्धा एवं भक्ति               |

#### 5 अंको के प्रश्न -

1. विशिष्टाद्वैत से क्या अभिप्राय है?
2. रामानुज के अनुसार ब्रह्म क्या है?
3. जीव एवं जगत के सम्बन्ध में रामानुज के विचार लिखिए।

4. भक्ति का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. मोक्ष के साधन पर टिप्पणी लिखिए।

**15 अंको के प्रश्न -**

1. रामानुजाचार्य के विशिष्टाद्वैत वेदान्त की विवेचना कीजिए।
2. ब्रह्म, जीव एवं जगत के सम्बन्ध में रामानुज के विचार स्पष्ट कीजिए।
3. भक्ति एवं मोक्ष पर रामानुजाचार्य के विचारों का अध्ययन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न -**

1. विशिष्टाद्वैत वेदान्त के प्रतिपादक कौन हैं?

(क) शंकराचार्य

(ख) मध्वाचार्य

**( ग ) रामानुजाचार्य**

(घ) निम्बार्काचार्य

2. रामानुज के अनुसार ब्रह्म कैसा है?

(क) निर्गुण

**( ख ) सगुण**

(ग) मिथ्या

(घ) अज्ञेय

3. मोक्ष का मुख्य साधन क्या है?

(क) युद्ध

**( ख ) भक्ति**

(ग) राजनीति

(घ) धन

4. रामानुजाचार्य के अनुसार जगत क्या है?

(क) मिथ्या

**( ख ) वास्तविक**

(ग) असत्य

(घ) भ्रम

5. विशिष्टाद्वैत का अर्थ क्या है?

(क) केवल अद्वैत

(ख) केवल द्वैत

**( ग ) विशेषणयुक्त अद्वैत**

(घ) अनेकवाद

## इकाई- 3.4 ईश्वर, उपास्य ब्रह्म, जीव और ईश्वर, सत्य का लक्षण

### उद्देश्य -

1. रामानुजाचार्य के ईश्वर सम्बन्धी विचारों को समझ सकेंगे।
2. जीव एवं ब्रह्म के सम्बन्ध का अध्ययन कर सकेंगे।
3. सत्य के स्वरूप का विश्लेषण कर सकेंगे।

वेदान्त के मत में ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि इच्छापूर्वक है। ईक्षणपूर्वक सृष्टि-व्यापार करने वाला ईश्वर निमित्त-कारण निःसन्देह है, पर उसका उपादान-कारण भी सिद्ध है। उपनिषद् में इस प्रश्न के उत्तर में कि जिस एक वस्तु के जानने पर सब वस्तुयें ज्ञात हो जाती हैं, ब्रह्म ही उपदिष्ट है। जिस प्रकार एक मिट्टी के पिण्ड जानने से मिट्टी के समग्र बने पदार्थों का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि मृत्तिका ही सत्य है, मृण्मय पदार्थ केवल नामरूप वाले हैं, उसी प्रकार एक ब्रह्म के जानने पर समस्त पदार्थ जाने जाते हैं।

इस प्रकार ब्रह्म जगत् की सृष्टि करता है (निमित्त-कारण) और साथ ही साथ जगत् का वह उपादान कारण है, मृत्तिका की तरह। जिस प्रकार कुम्भकार मिट्टी के जाना प्रकार के मिट्टी के बरतनों को तैयार करता है, उसी प्रकार ईश्वर भी अपने में से ही जगत् को स्वयं बनाता है।

जगत् ब्रह्म से नितान्त विलक्षण है।

1. जगत् है सुख-दुःखमय तथा अचेतन और चेतनय इस प्रकार आनन्दमय ब्रह्म से बिल्कुल भिन्न है।
2. जगत् भोग्य तथा आत्मा भोद्रा है परन्तु उपादान कारण होने से दोनों की एकता सिद्ध है, क्योंकि समुद्र तथा लहरियों में, मिट्टी, ब्रह्म और जगत् में वास्तव अभेद होने पर भी व्यावहारिक भेद अवश्यमेव विद्यमान है।

### उपास्य ब्रह्म

ब्रह्म तो वस्तुतः निर्गुण ही है, परन्तु माया के सम्बन्धः से वही सगुण प्रतीत होता है। उपासना की दृष्टि से वही सगुण रूप अर्थात् ईश्वर का रूप धारण करता है। इसी प्रकार जीव और ब्रह्म में किसी प्रकार का अंतर नहीं होता, परन्तु अन्तःकरण की उपाधि से युक्त होने पर वही जीव कहलाता है। ईश्वर मायावच्छिन्न चौतन्य है, तो जीव अन्तः करणावच्छिन्न चौतन्य है। दोनों चौतन्य रूप हैं, परन्तु माया-जन्य उपाधि के द्वारा सीमित होने के कारण ही ईश्वर तथा जीव की ब्रह्म से पृथक् सत्ता है। माया ही इन दोनों को ब्रह्म से पृथक् पदार्थ बनाती है।

### जीव और ईश्वर

दोनों में चौतन्य एक ही प्रकार का है। अन्तर इतना ही है कि जब वह बिम्बाकार धारण करता है, तब ईश्वर कहलाता है और जब प्रतिबिम्ब से आच्छादित रहता है, तो जीव नाम से अभिहित होता है। सच तो यह है कि चौतन्य एक ही अविच्छिन्न वस्तु है, उसमें विम्ब तथा प्रतिबिम्ब की कल्पना उपाधिजन्य है। एक जीव मानने वालों के मत में यह उपाधि अविद्या है। नाना-जीववाद में यह उपाधि अन्तःकरण है। इन्हीं उपाधियों के कारण ही तो जीव और ईश्वर में भेद है।

### जगत्

जिस प्रकार कोई जादूगर अपनी मायाशक्ति के द्वारा विचित्र सृष्टि करने में समर्थ होता है, वही दशा ईश्वर की भी है। जादू उन्हीं लोगों को मोह में डाल सकता है जो उस इन्द्रजाल के रहस्य को नहीं जानते हैं, परन्तु उसके रहस्य जानने वाले पुरुषों के लिए वह इन्द्रजाल मोह का विषय नहीं होता। ठीक उसी प्रकार अद्वैत-तत्त्व के ज्ञानियों के लिए इस जगत् की सत्ता निर्मूल है। अद्वैतमतानुसार यह जगत् नितान्त असत्य पदार्थ है। नित्य-परिवर्तनशील या परिणाम-स्वभाव ही जगत् है। परिणाम, प्रवृत्ति या परिवर्तन ही जगत् का स्वभाव है-एक क्षण के लिए भी जगत् प्रवृत्ति-शून्य नहीं रहता।

### सत्य का लक्षण

सत्य वही है जो उत्तरकालीन किसी ज्ञान के द्वारा बाधित (विरुद्ध) न हो, और असत्य वही है जो उत्तरकालीन ज्ञान के द्वारा बाधित हो सत्य के इस सामान्य परिचय को प्रामाणिक बनाने की दृष्टि से बेदातियों ने अबाध्य से प्रथम विकाल शब्द की योजना की है। अतः सत्य की शास्त्रीय परिभाषा त्रिकालाबाध्यं सत्यम् है। भूत, वर्तमान और भविष्य इन तीनों कालों में तथा जाग्रत् स्वप्न और सुषुप्ति इन तीनों दशाओं में जिसका स्वरूप बाधित न हो अर्थात् एकरूपेण अवस्थित रहे वही सत्य है। ब्रह्म ऐसा ही एक तत्त्व है जो तीनों काल में समभाव से उपस्थित है, सर्वदा सर्वत्र निर्वाधा है, वह एक है तथा अद्वितीय है। ब्रह्म से पृथक् समस्त

नानात्मक जगत् मिथ्या है।

**स्मरणीय बिन्दु -**

1. ईश्वर सगुण एवं सर्वशक्तिमान है।
2. विष्णु उपास्य ब्रह्म हैं।
3. जीव ईश्वर का अंश है।
4. जगत् वास्तविक है।
5. भक्ति एवं ईश्वर कृपा से मोक्ष प्राप्त होता है।

**शब्दावली -**

| शब्द          | अर्थ                       |
|---------------|----------------------------|
| उपास्य ब्रह्म | उपासना योग्य परम ब्रह्म    |
| जीव           | चेतन आत्मा                 |
| सत्य          | वास्तविक एवं शाश्वत तत्त्व |
| ईश्वर         | सर्वशक्तिमान सत्ता         |
| भक्ति         | प्रेमपूर्वक उपासना         |
| कृपा          | ईश्वर का अनुग्रह           |
| मोक्ष         | बन्धनों से मुक्ति          |
| सर्वज्ञ       | सब कुछ जानने वाला          |

**5 अंकों के प्रश्न -**

1. उपास्य ब्रह्म से क्या अभिप्राय है?
2. जीव का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
3. ईश्वर सम्बन्धी रामानुज के विचार लिखिए।
4. सत्य का स्वरूप क्या है?
5. मोक्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।

**15 अंकों के प्रश्न -**

1. ईश्वर एवं जीव के सम्बन्ध में रामानुजाचार्य के विचारों की विवेचना कीजिए।
2. उपास्य ब्रह्म एवं सत्य के स्वरूप का अध्ययन कीजिए।
3. भक्ति एवं मोक्ष सम्बन्धी रामानुजाचार्य के विचारों की व्याख्या कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न -**

1. रामानुजाचार्य के अनुसार उपास्य ब्रह्म कौन हैं?

(क) शिव

(ख) ब्रह्मा

(ग) विष्णु

(घ) इन्द्र

2. जीव क्या है?

(क) निर्जीव पदार्थ

(ख) चेतन सत्ता

(ग) भ्रम

(घ) माया

3. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

(क) ईश्वर कृपा एवं भक्ति से

(ख) युद्ध से

(ग) धन से

(घ) राजनीति से

4. ईश्वर कैसा है?
- (क) सीमित
  - (ख) सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान**
  - (ग) असत्य
  - (घ) निर्जीव
5. सत्य का आधार क्या है?
- (क) माया
  - (ख) ईश्वर**
  - (ग) शरीर
  - (घ) धन



## खण्ड-4 मध्वाचार्य, निम्बार्काचार्य, बल्लभाचार्य

### इकाई- 4.1 मध्वाचार्य-द्वैत वाद पदार्थ-मीमांसा, जीव, परमात्मा, भेद का स्वरूप

उद्देश्य -

इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त विद्यार्थी:

1. मध्वाचार्य के द्वैत दर्शन को समझ सकेंगे।
2. जीव, ईश्वर एवं जगत् सम्बन्धी मध्वाचार्य के विचारों का अध्ययन कर सकेंगे।
3. द्वैतवाद की विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

**क.** प्रातिभासिक सत्ता से अभिप्राय उस सत्ता से है जो प्रतीतिकाल में सत्य प्रतिभासित हो, परन्तु पीछे बाधित हो जाय, जैसे रज्जु सर्पयुक्ति-रजत आदि। अतः रज्जु सर्प का ज्ञान आकाशकुसुम के समान निराकार नहीं है।

**ख.** व्यावहारिक सत्ता जगत् के समस्त व्यवहार-गोचर पदार्थों में रहती है। जगत् के पदार्थों में पाँच धर्म दृष्टिगोचर होते हैं अस्ति, भाति, प्रिय, रूप तथा नाम। इनमें प्रथम तीन ब्रह्म के रूप हैं और अन्तिम दो जगत् के। सांसारिक पदार्थों का न कोई नाम है और न कोई रूप। व्यवहार काल में सत्य होने के कारण जगत् के विकारात्मक पदार्थों की सत्ता व्यावहारिक है।

**ग.** पारमार्थिक सत्ता वास्तव सत्ता है। जब ज्ञानी की दृष्टि से जगत् को देखते हैं, तभी वह असत्य प्रतीत होता है। इसलिए जगत् हमारी इन्द्रियों के लिए अवश्य सत्य है, परन्तु वास्तविक रूपेण वह सत्य नहीं है।

वेदान्त में मिथ्या का अर्थ असत्य नहीं प्रत्युत अनिर्वचनीय है। भ्रम के विषय में अद्वैतियों का यह सिद्धान्त अनिर्वचनीय ख्याति के नाम से प्रख्यात है। अतः कारण ही एकमात्र सत्य है तथा कार्य मिथ्या या अनिर्वचनीय है। जगत् माया का तो परिणाम है, पर ब्रह्म का विवर्त है। कार्य के अनिर्वचनीयवाद की पारिभाषिकी संज्ञा विवर्त है।

### आत्मा तथा ब्रह्म की एकता

इस महावाक्य का स्पष्ट अर्थ है कि त्वम् (= जीव) तत् (= महा) हो, अर्थात् ब्रह्म और जीव की एकता है। दोनों एक ही हैं, भिन्न नहीं। जीव तथा ब्रह्म में अनेक विरुद्ध धर्मों की स्थिति है। जीव अल्पज्ञ तथा अणु है, ब्रह्म सर्वज्ञ और विभु है। तत्त्वमसि का अर्थ समझा जा सकता है। तत् का अर्थ है- अल्पज्ञ चेतन जीव तथा त्वम् का अर्थ है- सर्वज्ञ चेतन ब्रह्म। यहाँ अल्पज्ञ तथा सर्वज्ञ दोनों आपस में विरुद्ध धर्म हैं। ऐसे धर्मों के रहने पर जीव तथा ब्रह्म में एकता तथा अभिन्नता कैसे मानी जा सकती है ? अतः इन विरुद्ध धर्मों को छोड़ देने पर केवल चैतन्य अंश को ही लेकर दोनों में भेद सिद्ध हो सकता है, अर्थात् चेतन आत्मा तथा चेतन ब्रह्म दोनों एक हैं।

### साधन का मार्ग

वेदान्त के साधक को श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन की नितान्त आवश्यकता होती है। उसे वेदान्त के प्रतिपादक ग्रन्थों को गुरुमुख से सुनना चाहिए (श्रवण)। अनन्तर अधीत विषय के ऊपर युक्ति तथा तर्क के द्वारा स्वयं मनन करना चाहिए (मनन) तथा मनन के बाद उस विषय के ऊपर निरन्तर चिन्तन करना चाहिए। तभी उसे आत्मा तथा ब्रह्म के एकत्व का पूर्ण ज्ञान तथा सच्चा बोध होता है। इस एकता का ज्ञान उसे परोक्ष रूप से न होकर अपरोक्ष रूप से करना चाहिए। साधक को गुरु उपदेश देता है-तत् त्वमसि अर्थात् तुम स्वयं चेतन ब्रह्म हो। परन्तु इस उपदेश पर निरन्तर अभ्यास और निदिध्यासन करना पड़ता है। तब वह परोक्ष ज्ञान अपरोक्ष ज्ञान के रूप में परिणत होता है। साधक अनुभव करता है अहं ब्रह्मास्मि मैं भी ब्रह्म हूँ। इस साधन के बल पर जीव और ब्रह्म का भेदभाव मिट जाता है, एकत्व का ज्ञान हो जाता है, भ्रम दूर भाग जाता है तथा साधक को मोक्ष की प्राप्ति हो जाती है।

### मुक्ति के भेद

ऐसे पुरुष को जीवन्मुक्त कहते हैं। जीवन्मुक्त का अर्थ है-इसी जीवन में, जीते जी दुःखों से मुक्ति पा लेनेवाला व्यक्ति। जब भोग होने से प्रारब्ध की शक्ति समाप्त हो जाती है, तब वह कर्म भी शान्त हो जाता है। कुम्भकार का चाक दण्ड हटा लेने पर

भी कुछ काल तक पूर्व अभ्यास के वश से चलता ही रहता है, पर वह भी धीरे-धीरे शान्त हो जाता है और गति बन्द होने से वह एकदम रुक जाते हैं। इस दशा में जीव के स्थूल तथा सूक्ष्म दोनों प्रकार के शरीर का अन्त हो जाता है। उस समय विदेह-मुक्ति जीव को प्राप्त हो जाती है।

## मुक्ति का रूप

मुक्ति का स्वरूप समझने के लिए वेदान्ती लोग एक सुन्दर उदाहरण देते हैं। किसी मनुष्य के गले में सोने का हार है। उसे वह मूल कर इधर-उधर अपने से बाहर ढूँढता फिरता है, परन्तु किसी जानकार के उपदेश से उसे पता चलता है कि हार उसी के गले में है और तब उसकी प्राप्ति से वह प्रसन्न होता है। मुक्ति की भी यही दशा है। जीव तो स्वभाव से ही मुक्त है। गुरु के उपदेश से अज्ञान और भ्रम दूर होता है, विवेक उत्पन्न होता है और वह व्यक्ति स्वाभाविकी मुक्ति को पाकर प्रसन्न होता है। मुक्त पुरुष अपनी एकता सच्चिदानन्द ब्रह्म से प्रतिष्ठित करता है। फलतः वेदान्तमत में मुक्ति की दशा नितान्त आनन्दमयी दशा है।

### स्मरणीय -

1. मध्वाचार्य द्वैत वेदान्त के प्रतिपादक हैं।
2. जीव और ईश्वर में वास्तविक भेद है।
3. विष्णु सर्वोच्च ईश्वर हैं।
4. जगत वास्तविक है।
5. पंचभेद सिद्धान्त द्वैतवाद का आधार है।

### शब्दावली -

| शब्द     | अर्थ                                        |
|----------|---------------------------------------------|
| द्वैतवाद | जीव एवं ईश्वर में वास्तविक भेद का सिद्धान्त |
| पंचभेद   | पाँच प्रकार के भेदों का सिद्धान्त           |
| जीव      | चेतन आत्मा                                  |
| ईश्वर    | सर्वोच्च एवं स्वतंत्र सत्ता                 |
| जगत      | वास्तविक संसार                              |
| भक्ति    | ईश्वर के प्रति प्रेम एवं समर्पण             |
| मोक्ष    | जन्म-मरण से मुक्ति                          |
| विष्णु   | सर्वोच्च ईश्वर                              |

### 5 अंकों के प्रश्न -

1. द्वैतवाद से क्या अभिप्राय है?
2. पंचभेद सिद्धान्त स्पष्ट कीजिए।
3. जीव सम्बन्धी मध्वाचार्य के विचार लिखिए।
4. मोक्ष की अवधारणा स्पष्ट कीजिए।
5. जगत के सम्बन्ध में मध्वाचार्य के विचार लिखिए।

### 15 अंकों के प्रश्न -

1. मध्वाचार्य के द्वैत दर्शन की विवेचना कीजिए।
2. पंचभेद सिद्धान्त का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. ईश्वर, जीव एवं जगत के सम्बन्ध में मध्वाचार्य के विचार स्पष्ट कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. द्वैत वेदान्त के प्रतिपादक कौन हैं?

(क) शंकराचार्य

(ख) रामानुजाचार्य

(ग) मध्वाचार्य

(घ) वल्लभाचार्य

2. मध्वाचार्य के अनुसार सर्वोच्च ईश्वर कौन हैं?

(क) शिव

**(ख) विष्णु**

(ग) ब्रह्मा

(घ) गणेश

3. पंचभेद सिद्धान्त किससे सम्बन्धित है?

(क) अद्वैतवाद

(ख) विशिष्टाद्वैत

**(ग) द्वैतवाद**

(घ) शुद्धाद्वैत

4. मध्वाचार्य के अनुसार जगत क्या है?

(क) मिथ्या

(ख) असत्य

**(ग) वास्तविक**

(घ) भ्रम

5. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

(क) धन से

**(ख) भक्ति एवं ईश्वर कृपा से**

(ग) युद्ध से

(घ) तपस्या से

## इकाई- 4.2 निम्बार्काचार्य- द्वैताद्वैत पदार्थ-मीमांसा, जीव, जड़ तत्व, अंश-अंशी विचार, ईश्वर

### उद्देश्य-

1. निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत दर्शन को समझ सकेंगे।
2. जीव, जगत एवं ईश्वर सम्बन्धी विचारों का अध्ययन कर सकेंगे।
3. द्वैत एवं अद्वैत के समन्वय का विश्लेषण कर सकेंगे।

भगवान् ही अद्वैतदर्शन तथा वैष्णव दर्शनों के उद्गम स्थान हैं। शुकदेव के द्वारा अद्वैत ज्ञान-धारा प्रवृत्त हुई। शुक, गौडपाद, गोविन्द भववत्पाद, शंकराचार्य-यह अद्वैत-मार्ग की मुख्य आचार्य परम्परा है। वैष्णवधर्म के चार प्रसिद्ध सम्प्रदाय हैं- श्रीवैष्णव सम्प्रदाय, ब्रह्म-सम्प्रदाय, रुद्र-सम्प्रदाय तथा सनक-सम्प्रदाय। इन सम्प्रदायों का उदय भगवान् से ही लक्ष्मी, ब्रह्मा, रुद्र तथा सनत्कुमार के द्वारा हुआ। श्रीवैष्णव सम्प्रदाय के प्रधान आचार्य रामानुज विशिष्टाद्वैत। ब्रह्म सम्प्रदाय के आचार्य आनन्दतीर्थ (मध्व) द्वैत के, रुद्रसम्प्रदाय के आचार्य विष्णुस्वामी तथा तदनुयायी आचार्य वल्लभ शुद्धाद्वैत के, सनक-सम्प्रदाय के आचार्य निम्बार्क द्वैताद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक हैं। चौतन्य-सम्प्रदाय माधवमत की ही एक शाखा है, यद्यपि दार्शनिक दृष्टि से उसने द्वैतवाद से पृथक् अनित्यभेदाभेद सिद्धान्त को अपनाया है। वैष्णव पुराणों में विष्णुपुराण को रामानुज ने तथा श्रीमद्भागवत को बल्लभ तथा चौतन्य ने अपनाया है।

### ( 1 ) रामानुज दर्शन

दक्षिण भारत के तमिल प्रान्त को अपने भक्तिमय पद्यों तथा गायनों से आनन्द-विभोर बनानेवाले वैष्णव सन्तों का नाम आलवार है। आलवार शब्द तमिल भाषा का शब्द है, जिसका अर्थ अध्यात्म- ज्ञानरूपी समुद्र में गहरा गोता लगानेवाला पुरुष होता है। ये सन्त भगवान् नारायण के सच्चे भद्र थे। इन्होंने अपनी मातृभाषा तमिल में भक्तिरस से आप्लावित सहस्रों पद्यों की रचना कर साधारण जनता में भगवद्भक्ति का प्रचुर प्रचार किया।

### विशिष्टाद्वैत मत के आचार्य

आद्य आचार्य (1) रंगनाथमुनि (828 से 624 ई.) नाथमुनि के नाम से वैष्णव जगत् में विख्यात हैं। ये शठकोपाचार्य की शिष्य-परम्परा में थे। इन्होंने लुप्तप्राय तमिलवेद का पुनरुद्धार किया। इनके योग रहस्य का उल्लेख वेदान्तदेशिक ने किया है। इनका न्याय-तत्त्व विशिष्टाद्वैत का प्रथम ग्रन्थ है, जिसमें न्याय के तत्त्वों का विवेचन है।

(2) यामुनाचार्य का विख्यात नाम आलवन्दार है। ये नाथमुनि के पौत्र थे। 673 ई. के लगभग वे आचार्य की गद्दी पर श्रीरंगम् में प्रतिष्ठित हुए। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं

- (क) गीतार्थ-संग्रह,
- (ख) श्रीचतु श्लोकी (लक्ष्मी की स्तुति)
- (ग) सिद्धित्रय (आत्मसिद्धि, ईश्वरसिद्धि, माया-खण्डन तथा आत्म-विषय-सम्बन्ध प्रतिपादक)
- (घ) महापुरुषनिर्णय (विष्णु की श्रेष्ठता का प्रतिपादन)
- (ङ) आगमप्रामाण्य (पाञ्चरात्र की प्रामाणिकता का विवेचन)
- (च) आलवन्दारस्तोत्र (स्तोत्ररत्न)।

(3) **रामानुजाचार्य-** ( 1037-1137 ई.) ये यामुनाचार्य के पौत्र श्रीशैलपूर्ण के भागिनेय थे। आचार्य यादवप्रकाश से पहले वेदान्त पढ़ते थे, परन्तु गुरु के अद्वैतमत में विपुल दोष देखकर इन्होंने पढ़ना छोड़कर अन्य आचार्यों से वैष्णवशास्त्र का अध्ययन किया ये यामुनाचार्य के अनन्तर प्रधान आचार्य बने। आपके सुप्रसिद्ध ग्रन्थ हैं

- (1) वेदार्थसंग्रह
- (2) वेदान्तसार - ब्रह्मसूत्र की लघ्वक्षर टीका,
- (3) वेदान्तदीप-यह भी ब्रह्मसूत्र की टीका है, पर सार से विस्तृत है।
- (4) गद्यत्रय (ईश्वर तथा प्रपत्ति विषयक सुन्दर ग्रन्थ)
- (5) गीताभाष्य (वेदान्तदेशिक कृत तात्पर्यचन्द्रिका टीका)
- (6) श्रीभाष्य - श्रीभाष्य रामानुज के पांडित्य का उत्कृष्ट उदाहरण है।

## रामानुज की तत्त्वमीमांसा

रामानुज के अनुसार तीन तत्त्व होते हैं- चित, अचित् तथा ईश्वर। इनमें चित का अर्थ है जीव, अचित् का प्रकृति या जड तत्त्व और सबके अन्तर्यामी तत्त्व को ईश्वर कहते हैं। यह ईश्वर चित् तथा अचित् दोनों तत्त्वों से युक्त होता है। वहीं एकमात्र सत्ता है, उसे छोड़कर कोई स्वतन्त्र सत्ता जगत् में नहीं है। ईश्वर सगुण तथा सविवेक है। रामानुज जगत् में निर्गुण वस्तु की कल्पना को असम्भव मानते हैं। ईश्वर कल्याण गुणों का आकार, अनन्त-ज्ञान, आनन्द रूप और ज्ञान-शक्ति आदि कल्याण गुणों से विभूषित तथा जगत् के सृष्टि-स्थिति-प्रलय कार्य का कर्ता है। ब्रह्म सगुण ही होता है, निर्गुण नहीं। उपनिषदों में ब्रह्म को जो निर्गुण कहा गया है उसका यही तात्पर्य है कि अल्पज्ञ जीव के राग-द्वेष आदि गुण उसमें विद्यमान नहीं रहते।

**वेदान्तियों की दृष्टि में भेद तीन प्रकार का होता है-**

- (1) **सजातीय भेद** -उसी जाति के पदार्थ का उसी जाति के अन्य पदार्थ से भेद, जैसे एक गाय का दूसरी गाय से भेद।
- (2) **विजातीय भेद** -गाय का बैस से भेद।
- (3) **स्वगत भेद** -अर्थात् एक वस्तु में एक अंग का दूसरे अंग से भेद, जैसे- गाय के सींग तथा पूंछ में।

रामानुज के मत में ईश्वर में प्रथम दोनों भेद तो अवश्य रहते हैं, परन्तु अन्तिम भेद नहीं रहता। ईश्वर का चित् अंश अचित् अंश से भिन्न होता है। ऐसी दशा में ईश्वर में स्वगत भेद विद्यमान रहता है। शङ्कर से यहाँ भी अन्तर पड़ता है। शंकर के अनुसार ब्रह्म इन तीनों भेदों से रहित होता है, परन्तु रामानुज के अनुसार ईश्वर में तीसरा भेद विद्यमान रहता है।

पुनः जब सृष्टि होती है, तब ब्रह्म शरीरधारी जीव तथा भौतिक पदार्थों के रूप में अभिव्यक्त होता है। तब समय वह कार्यब्रह्म कहलाता है। जीव और जगत् दोनों नित्य पदार्थ हैं। अतः सृष्टि और प्रलय से तात्पर्य इनके स्थूल रूप और सूक्ष्म रूप धारण करने से है। प्रलयकाल में विषयों के अभाव में जीव तथा जगत् दोनों सूक्ष्म रूप धारण कर लेते हैं और उस समय भी ब्रह्म इन सूक्ष्म जीव तथा जगत् में (चित् तथा अचित् से विशिष्ट बना ही रहता है। सृष्टि दशा में ये दोनों व्यक्त रूप अर्थात् स्थूल रूप धारण कर लेते हैं। फलतः इस अवस्था में ब्रह्म स्थूल चित् तथा अचित् से विशिष्ट रहता है। उसमें विशेष रहता ही है, वह कभी भी निविशेष नहीं होता। विशिष्टाद्वैत नाम में भी इसी सिद्धान्त की ओर संकेत है। यहाँ केवल ब्रह्म का अद्भुत नहीं होता (जैसा शंकराचार्य मानते हैं) प्रत्युत विशिष्ट द्वैत-अचित् से विशिष्ट ऋ ब्रह्म का ही अद्भुत होता है, अर्थात् चित-अचित् जिसमें अंश रूप में विद्यमान रहते हैं ऐसा विशिष्ट ब्रह्म का अंशी रूप अद्भुत रूप में विद्यमान रहता है। शंकर मत से इसीलिए रामानुज वेदान्त की भिन्नता दिखलाने के लिए यह मत विशिष्टाद्वैत के नाम से प्रख्यात है।

### अंश-अंशी विचार

जिस प्रकार आत्मा शरीर को भीतर से नियमित करता चलता है, उसी प्रकार ईश्वर चित् अचित् को भीतर से नियमित करता है और इसलिए वह अन्तर्यामी कहलाता है। इस प्रकार रामानुज की ईश्वरकल्पना शंकर मत की कल्पना से भिन्न है। शंकर मत में-

- (1) एक अद्वितीय ब्रह्म ही तत्त्व है, इसके अतिरिक्त दृश्यमान प्रपञ्च कुछ नहीं है,
- (2) ब्रह्म सजातीय, विजातीय अद्वैत मत से पार्थक्य तथा स्वगत भेद से शून्य है,
- (3) ब्रह्म निविशेष तथा निर्गुण है, परन्तु रामानुज मत में
- (4) चिदचित् रूप शरीरविशिष्ट ब्रह्म सत्य है, इसके तथा उसके शरीर (जीव और जगत्) से भिन्न अन्य कुछ भी नहीं है।
- (5) सजातीय-विजातीय भेद से शून्य होने पर भी वह स्वगत भेद से शून्य नहीं है।
- (6) ब्रह्म सविशेष ही है, स्वभाव से ही उसमें कल्याणकारी गुणों की सत्ता है, प्राकृत है गुणों से वह सर्वथा हीन है। शंकर मत में
- (7) ब्रह्म ही मायोपाधि से ईश्वर और अविद्योपाधि से जीव कहलाता है, परन्तु जड जगत् प्रातिभासिक (मिथ्या) ही है। अतः तत्त्व एक ही है। रामानुज के अनुसार ब्रह्म ही ईश्वर है, उसके शरीरभूत जीव और जगत् उससे भिन्न तथा नित्य हैं। अतः पदार्थ तीन हैं, एक नहीं।

### जीव

वह देह, इन्द्रिय, मन, प्राण और बुद्धि से विलक्षण, अनन्त, आनन्दरूप, नित्य, अणु, अव्यक्त, अचिन्त्य, निरवयव, निर्विकार तथा ज्ञानाश्रय है। ज्ञान के बिना स्वयमेव प्रकाशित होने से वह अजड है। जीव में एक विशेष गुण शेषत्व विद्यमान है, अर्थात् वह अपने कार्यकलापों के लिए ईश्वर पर सर्वतोभावेन अवलम्बित है। ईश्वरानुग्रह के बिना अपने कर्तव्यों का सुचारु सम्पादन नहीं कर सकता। अद्वैतमत में जीव स्वभावतः एक है, परन्तु देहादि उपाधियों के कारण वह नार नाना प्रतीत होता है, पर रामानुज मत में जीव अनन्त हैं और वे एक-दूसरे से नितान्त पृथक् हैं। देह तथा देही के समान जीव ब्रह्म से कथमपि अभिन्न नहीं है। जीव तथा ईश्वर का सम्बन्ध रामानुज मत में अभेदसूचक एकता नहीं है। जीव है अल्पज्ञ तथा अनन्त और ईश्वर है

सर्वज्ञ तथा एक। जिस प्रकार अंश का अस्तित्व अंशी पर निर्भर रहता है और गुण का द्रव्य पर, उसी प्रकार जीव का अस्तित्व ईश्वर के ऊपर निर्भर रहता है, क्योंकि जीव है अंश और ईश्वर है अंशीय जीव है नियम्य और ईश्वर है नियामक: जीव है आधोय और ईश्वर है आधार। इस तरह के सम्बन्ध होने से स्पष्ट है कि जीव ईश्वर के ऊपर आश्रित तथा निर्भर रहता है। ऐसी दशा में ईश्वर की शरण में गये बिना जीव का निस्तार तथा कल्याण नहीं हो सकता। ईश्वर को मायावी कहने का इतना ही तात्पर्य है कि उसकी सृष्टिलीला अद्भुत तथा विचित्र होती है। ईश्वर की यह सृष्टि उतनी ही वास्तविक तथा सत्य हैं जितना स्वयं ईश्वर। शंकर के समान रामानुज इस संसार को काल्पनिक तथा असत्य नहीं मानते। जहाँ शंकर विवर्तवाद के सिद्धान्त को सृष्टिव्यापार के लिए सत्य मानते हैं, वहाँ रामानुज परिणाम के सिद्धान्त को ही ठीक मानते हैं।

## जगत

ज्ञानशून्य विकारास्पद वस्तु को अचित कहते हैं। मिश्रसत्त्व तमोगुण तथा रजोगुण से मिश्रित होने के कारण प्राकृतिक सृष्टि का उपादान है। इसी का दूसरा नाम माया, अविद्या या प्रकृति है। सत्त्वशून्य तत्त्व काल कहलाता है। शुद्धसत्त्व को शुद्ध कहने का तात्पर्य यह है कि इसमें रजोगुण तथा तमोगुण का लेशमात्र भी संसर्ग नहीं रहता। यह नित्य, ज्ञानानन्द का जनक निरवधाक तेजोरूप द्रव्यविशेष है। इस कारण ईश्वर, नित्य पुरुषों तथा मुक्त पुरुषों के शरीर, भोगसाधन बन्दनकुसुमादि तथा भोगस्थान स्वर्गादिकों की उत्पत्ति भगवान् के संकल्पमात्र से होती हैं रामानुज का यह मुख्य सिद्धान्त है कि आत्मा बिना शरीर के किसी भी अवस्था में अवस्थित नहीं रह सकता। अतः मुक्तावस्था में भी आत्मा को शरीर प्राप्त होता है, परन्तु शुद्ध सत्त्व का बना हुआ वह शरीर अप्राकृत होता है और भगवान् की सेवा करने के निमित्त धारण किया जाता है। इसी नित्य विभूति का नाम त्रिपाद विभूति, परम पद, परम व्योम, अमृत, वैकुण्ठ, अयोधया आदि है।

## साधन-मार्ग

अतः जहाँ शंकर केवल ज्ञान के मार्ग को ही उपादेय बतलाते हैं, वहाँ रामानुज ज्ञानकर्म-समुच्चयवादी हैं, अर्थात् कर्म की सहायता से उपलब्ध ज्ञानरूप भक्ति को ही जीव के विस्तार के लिए श्रेष्ठ उपाय मानते हैं। भक्ति से प्रसन्न होकर जब भगवान् जीव के समस्त बन्धानों और क्लेशों का नाश कर देता है, तब उसे ब्रह्मज्ञान हो जाता है। भक्ति का भी सर्वश्रेष्ठ तात्पर्य प्रपत्ति से है। प्रपत्ति ही ईश्वरीय अनुकम्पा पाने का सर्वश्रेष्ठ साधन है।

शरणागति का लक्ष्य है शरण में आना अर्थात् भगवान् ही हमारी गति है, गन्तव्य स्थान है। वहीं लौट कर आना ही शरण गति का लक्ष्य है। शरणापन्न जीव ही भगवत्कृपा का प्रिय पात्र बनता है- भक्ति शास्त्र का यही निष्कर्ष है।

## स्मरणीय बिन्दु -

1. निम्बार्काचार्य द्वैताद्वैत दर्शन के प्रतिपादक हैं।
2. जीव एवं जगत ईश्वर से भिन्न भी हैं और अभिन्न भी।
3. कृष्ण सर्वोच्च ईश्वर हैं।
4. जगत वास्तविक है।
5. भक्ति मोक्ष का मुख्य साधन है।

## शब्दावली -

| शब्द        | अर्थ                     |
|-------------|--------------------------|
| द्वैताद्वैत | भेद एवं अभेद का समन्वय   |
| अभेद        | एकता या समानता           |
| भेद         | पृथक्ता                  |
| जीव         | चेतन सत्ता               |
| जगत         | वास्तविक संसार           |
| कृष्ण       | सर्वोच्च ईश्वर           |
| भक्ति       | प्रेमपूर्वक उपासना       |
| मोक्ष       | ईश्वर प्राप्ति की अवस्था |

## 5 अंक के प्रश्न -

1. द्वैताद्वैत से क्या अभिप्राय है?
2. जीव एवं ईश्वर के सम्बन्ध को स्पष्ट कीजिए।
3. निम्बार्काचार्य के अनुसार जगत का स्वरूप क्या है?
4. भक्ति का महत्व स्पष्ट कीजिए।

5. मोक्ष सम्बन्धी विचार लिखिए।

**15 अंक के प्रश्न -**

1. निम्बार्काचार्य के द्वैताद्वैत दर्शन की विवेचना कीजिए।
2. जीव, जगत एवं ईश्वर के सम्बन्ध में निम्बार्काचार्य के विचार स्पष्ट कीजिए।
3. भक्ति एवं मोक्ष सम्बन्धी निम्बार्काचार्य के विचारों का अध्ययन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न -**

1. द्वैताद्वैत दर्शन के प्रतिपादक कौन हैं?

(क) मध्वाचार्य

**(ख) निम्बार्काचार्य**

(ग) रामानुजाचार्य

(घ) वल्लभाचार्य

2. द्वैताद्वैत का अर्थ क्या है?

(क) केवल भेद

(ख) केवल अभेद

**(ग) भेद एवं अभेद का समन्वय**

(घ) अनेकवाद

3. निम्बार्काचार्य के अनुसार सर्वोच्च ईश्वर कौन हैं?

(क) शिव

(ख) विष्णु

**(ग) कृष्ण**

(घ) ब्रह्मा

4. निम्बार्काचार्य के अनुसार जगत क्या है?

(क) मिथ्या

**(ख) वास्तविक**

(ग) भ्रम

(घ) असत्य

5. मोक्ष का मुख्य साधन क्या है?

(क) राजनीति

(ख) युद्ध

**(ग) भक्ति**

(घ) धन



## इकाई- 4.3 बल्लभाचार्य-शुद्धाद्वैतवाद-ब्रह्म, जगत

उद्देश्य -

1. वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत दर्शन को समझ सकेंगे।
2. ब्रह्म एवं जगत सम्बन्धी विचारों का अध्ययन कर सकेंगे।
3. भक्ति एवं कृपा के महत्व का विश्लेषण कर सकेंगे।

पद्मपुराण के वर्णनानुसार रुद्र सम्प्रदाय के प्रवर्तक विष्णुस्वामी थे वल्लभ (जन्म 1476 ई.) की जीवन-घटनायें काशी, अरैल (प्रयाग) तथा वृन्दावन से सम्बद्ध हैं। निम्बार्क मत के आचार्य केशव काश्मीरी तथा चौतन्य महाप्रभु से वल्लभाचार्य की घनिष्ठता की बात कही जाती है। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थ हैं-

1. **ब्रह्मसूत्र (अणुभाष्य)**
2. **तत्त्वदीपनिबन्ध** (भागवत के सिद्धान्तों का प्रतिपादक विशिष्ट ग्रन्थ)
3. **सुबोधिनी** (श्रीमद्भागवत के 1, 2, 3, 10 स्कन्धों पर उपलब्ध विख्यात टीका)
4. **भागवत सूक्ष्म-टीका**
5. **पूर्वमीमांसा-भाष्य** (तृटित) तथा सिद्धान्तमुक्तावली आदि लघुकाय श्लोकात्मक ग्रन्थ हैं।

**विठ्ठलदास** (1516-1586) आचार्य के द्वितीय पुत्र थे। इन्होंने पिता के ग्रन्थों पर टीका-टिप्पणी लिखकर पुष्टि-मार्ग की पर्याप्त प्रतिष्ठा की। इनके प्रसिद्ध ग्रन्थों में निबन्धप्रकाश, विद्वन्मण्डन, शूंगारसमण्डन, सुबोधिनी-टिप्पणी हैं। गिरिधर महाराज गोस्वामी विठ्ठलनाथ के पुत्र थे। इनका शुद्धाद्वैत-मार्तण्ड वल्लभ मत का विवेचक प्रख्यात ग्रन्थ है।

**सिद्धान्त**-श्रीवल्लभाचार्य का दार्शनिक सिद्धान्त शुद्धाद्वैत के नाम से विख्यात है। इनके मत से ब्रह्म माया से अलिप्त अतः नितान्त शुद्ध है। यह माया सम्बन्ध-रहित ब्रह्म ही एक अद्वैत तत्त्व है। अतः इस मत का शुद्धाद्वैत नाम यथार्थ ही है।

**ब्रह्म**-आचार्य बल्लभ के मत में ब्रह्म तीन प्रकार का होता है-

1. **आवि-दैविक** = परब्रह्म
2. **आध्यात्मिक** अक्षरब्रह्म
3. **आधिभौतिक जगत्**

अतः जगत् ब्रह्मरूप ही है। कार्यकारण में भेद न होने से कार्यरूप जगत् कारणरूप ब्रह्म ही है। वल्लभाचार्य के मत में ब्रह्म ही स्वभाव से जगत् के कर्ता हैं। उनके कर्ता होने में माया का व्यापार तनिक भी नहीं होता। वे स्वयं लीलाधाम ठहरे और इसलिए जगत् की सृष्टि में ब्रह्म की लीला ही एकमात्र कारण होती है। जब उनकी इच्छा होती है वे जगत् का संहार या लय कर देते हैं। अन्ततः प्रलय भी भगवान् की लीला का ही एक रूप है।

भगवान् की महिमा अतर्क्य है। कोई भी उनकी महिमा के यथार्थ रूप को जान नहीं सकता। भगवान् अपनी अचिन्त्य माया से जगत् की सृष्टि कचर उससे क्रीडा करते हैं और अन्त में सब सृष्टि को अपने में तिरोहित कर देते हैं। इस प्रकार जगत का आविर्भाव तथा तिरोभाव भगवान् की लीला के कारण होता है अन्यथा उस पूर्णकाम के लिए ऐसी कोई कामना ही शेष नहीं है जिसके लिए वह जगत् की सृष्टि करता। यह जगत् ब्रह्मरूप है और ब्रह्म के समान ही नित्य है। अद्वैतियों के समान यह जगत् मायिक तथा असत्य नहीं है।

लीला बिलास की इच्छा का नाम है। कार्य के बिना हो यह केवल व्यापारमात्र होता है, अर्थात् इस ख्रति के द्वारा बाहर कोई भी कार्य उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न किये गये कार्य में किसी प्रकार का अभिप्राय नहीं रहताय कोई कार्य उत्पन्न हो गया, तो होता रहे, इसमें न तो कर्ता का कोई उद्देश्य रहता है, न कर्ता में किसी प्रकार का प्रयास ही उत्पन्न होता है। जब अन्तःकरण आनन्द से पूर्ण हो जाता है तब

उसके उल्लास से कार्य के उदय के समान ही कोई क्रिया उत्पन्न होती है। यही भगवान् की लीला है। मर्यादा-मार्ग में भगवान् साधन-परतन्त्र रहते हैं, क्योंकि इस मार्ग में भगवान् को अपनी बंधी हुई मर्यादाओं की रक्षा करना अभीष्ट होता है।

जीव के ऊपर अनुग्रह करने के लिए ही भगवान् का इस भूतल पर आविर्भाव होता है। जीव-मात्र को निरपेक्ष मुक्ति देने के लिए ही भगवान् का अवतार होता है। भगवान् सब ऐश्वर्यों से सम्पन्न,

अपराधीन तथा सर्व-निरपेक्ष हैं। भगवान् की भक्ति का उदय हो जाता है। फलस्वरूप भगवान् श्रीकृष्ण की विमल दया की धारा उस साधक के ऊपर झरने लगती है। यही पुष्टि का रहस्य है। शक्तितन्त्रों में जिस तत्त्व को शक्तिपात के नाम से पुकारते हैं वही तत्त्व इस पुष्टिमार्ग में पुष्टि के नाम से प्रख्यात है।

वल्लभाचार्य के सिद्धान्तों पर श्रीमद्भागवत तथा भगवद्गीता का विशेष प्रभाव पड़ा है। ब्रह्म में जब थोड़ी मात्रा में आनन्द अंश तिरोहित हो जाता है, तब उसे अक्षर-ब्रह्म कहते हैं और जब आनन्द का अंश पूर्ण मात्रा में विद्यमान रहता है, तब वह परब्रह्म या पुरुषोत्तम कहलाता है। यह ब्रह्म का आधिदैविक रूप होता है। भगवान् को जब रमण करने की इच्छा उत्पन्न होती है, तब वे अपने आनन्दादि गुण के अंशों को तिरोहित कर स्वयं जीवरूप ग्रहण कर लेते हैं।

जीव नित्य है। जिस प्रकार अग्नि से चिनगारियाँ (सुलिंग) छिटक कर निकलती हैं उसी प्रकार जीव ईश्वर से निकलता है। निकलने से (व्युच्चरण से) जीव की नित्यता में किसी प्रकार की कमी नहीं होती। वल्लभाचार्य परिणामवाद को मानते हैं। इनकी दृष्टि में जीव तथा जगत् दोनों परब्रह्म के परिणामरूप हैं, परन्तु परिणाम होने से ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। वह परिणामी नहीं होता, क्योंकि उसमें किसी प्रकार का विकार नहीं होता। भगवान् में तीन अंश हैं- सत्, चित् और आनन्द। इनमें कोई भी अंश विकार नहीं प्राप्त करता। ब्रह्म के अविकृत (विकार न पानेवाले) सत् अंश से भौतिक पदार्थों का उदय होता है और अविकृत चित् अंश से जीवों का आविर्भाव होता है। जब भौतिक पदार्थों का उदय होता है, तब ब्रह्म के दोनों अंश-चित् और आनन्द अंश छिपे रहते हैं। केवल सत् अंश ही प्रकट रहता है और इसलिए इस अंश से ही भौतिक पदार्थों का जन्म होता है।

जीव अनेक प्रकार का होता है- (1) शुद्ध, (2) मुक्त, (3) संसारी अविद्या से सम्बन्ध होने के कारण पूर्व जीव शुद्ध कहलाता है। अविद्या के साथ सम्बन्ध रखने वाला जीव संसारी कहलाता है। यह भी दो प्रकार के होते हैं- दैव और आसुर मुक्त जीवों में भी कतिपय जीवन्मुक्त होते हैं और कतिपय मुक्त। जीव सच्चिदानन्द भगवान् से नितान्त अभिन्न है। संसारी दशा में जब पुष्टिमार्ग के सेवन से भगवान् का नैसर्गिक अनुग्रह जीवों के ऊपर होता है। तब उसमें तिरोहित आनन्द के अंशों का पुनः प्रादुर्भाव हो जाता है। अतः मुक्त अवस्था में जीव आनन्द अंशों को प्रकटित कर स्वयं सच्चिदानन्द बन जाता है और भगवान् से अभेद प्राप्त कर लेता है।

**जगत्**- जगत् के विषय में आचार्य अविकृत परिणामवाद स्वीकार करते हैं। कनक, कामधेनु, कल्पवृक्ष, चिन्तामणि आदि के समान निर्माण सच्चिदानन्द आत्मक ब्रह्म ही अविकृत भात्र मे जगद्रूपेण होता है। जिस प्रकार कुण्डलादि-रूपों से परिणत होने पर भी सुवर्ण में किसी प्रकार का विकार नहीं उत्पन्न होता, उसी प्रकार जगद्रूप से परिणत होने पर भी ब्रह्म में किसी प्रकार का विकार नहीं होता। ब्रह्म से जगत् का परिणाम होता है, परन्तु ब्रह्म में किसी प्रकार का परिवर्तन या विकार नहीं उत्पन्न होता। कार्यकारण के विषय में उनकी यह नई धारणा श्रीमद्भागवत की मान्यता के अनुसार है। भागवत ने सुवर्ण का उदाहरण देकर इस तत्त्व को समझाया है। सोने से जितने भी गहने (अँगूठी, कुण्डल आदि आदि) तथा पदार्थ बनते हैं उनमें सोना सदा अपने अविकृत रूप में बना रहता है। समस्त सुनहले पदार्थों के आदि, अन्त तथा मध्य में सुवर्ण की प्राप्ति होती है और वह भी बिना किसी विकारी रूप में। इसी प्रकार ब्रह्म भी नाना नामों तथा रूपों के भीतर एक ही प्रकार से अविकृत रूप में विद्यमान रहता है। यह जगत् भगवान् का ही आकार है। भगवान् का आकार होने से यह जगत् भी सर्वथा नित्य सिद्ध होता है।

आचार्य जगत् की उत्पत्ति तथा विनाश को नहीं मानते। वे आविर्भाव तथा तिरोभाव के पक्षपाती हैं। अनुभवयोग्य होने पर जगत् का आविर्भाव होता है और अनुभव योग्य न होने पर जगत् का तिरोभाव होता है। वल्लभ मत में जगत् और संसार में एक विलक्षण पार्थक्य स्वीकृत किया जाता है। ईश्वरेच्छा के विलास से संदेश से प्रादुर्भूत पदार्थ को जगत् कहते हैं, परन्तु पञ्चपर्वा अविद्या के द्वारा जीव के द्वारा कल्पित ममत्तारूप पदार्थ की संज्ञा संसार है। अविद्या के पाँच पर्व होते हैं- स्वरूपाज्ञान, देहाध्यास, इन्द्रियाध्यास, प्राणाध्यास तथा अन्तःकरणाध्यास। इस अविद्या की सत्ता रहने पर संसार है। अतः ज्ञान के उदय होने पर संसार का तो नाश हो जाता है, परन्तु ब्रह्मरूप होने के कारण जगत् का विनाश कभी सम्भव नहीं है। वह तो ब्रह्म तथा जीव के समान ही नित्य पदार्थ है।

**स्मरणीय बिन्दु-**

1. वल्लभाचार्य शुद्धाद्वैत दर्शन के प्रतिपादक हैं।
2. जगत् वास्तविक है।
3. श्रीकृष्ण पूर्ण ब्रह्म हैं।
4. पुष्टिभक्ति का विशेष महत्व है।
5. ईश्वर कृपा से मोक्ष प्राप्त होता है।

**शब्दावली -**

**शब्द**

शुद्धाद्वैत

**अर्थ**

माया रहित अद्वैत सिद्धान्त

|             |                               |
|-------------|-------------------------------|
| ब्रह्म      | परम सत्य                      |
| पुष्टिभक्ति | ईश्वर कृपा पर आधारित भक्ति    |
| जगत         | ब्रह्म की वास्तविक अभिव्यक्ति |
| श्रीकृष्ण   | पूर्ण ब्रह्म                  |
| कृपा        | ईश्वर का अनुग्रह              |
| मोक्ष       | ईश्वर के आनन्द में सहभागिता   |
| आनन्दस्वरूप | आनन्दमय स्वरूप                |

#### 5 अंक के प्रश्न -

1. शुद्धाद्वैत से क्या अभिप्राय है?
2. जगत के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य के विचार लिखिए।
3. पुष्टिभक्ति क्या है?
4. ब्रह्म का स्वरूप स्पष्ट कीजिए।
5. मोक्ष सम्बन्धी विचार लिखिए।

#### 15 अंक के प्रश्न -

1. वल्लभाचार्य के शुद्धाद्वैत दर्शन की विवेचना कीजिए।
2. ब्रह्म एवं जगत के सम्बन्ध में वल्लभाचार्य के विचार स्पष्ट कीजिए।
3. भक्ति एवं कृपा के महत्व पर वल्लभाचार्य के विचारों का अध्ययन कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. शुद्धाद्वैत दर्शन के प्रतिपादक कौन हैं?

- (क) मध्वाचार्य
- (ख) निम्बार्काचार्य

#### ( ग ) वल्लभाचार्य

- (घ) रामानुजाचार्य

2. वल्लभाचार्य के अनुसार पूर्ण ब्रह्म कौन हैं?

- (क) विष्णु
- (ख) शिव

#### ( ग ) श्रीकृष्ण

- (घ) ब्रह्मा

3. शुद्धाद्वैत में जगत को क्या माना गया है?

- (क) मिथ्या
- (ख) असत्य

#### ( ग ) वास्तविक

- (घ) भ्रम

4. पुष्टिभक्ति किस पर आधारित है?

- (क) तर्क

#### ( ख ) ईश्वर कृपा

- (ग) राजनीति
- (घ) शक्ति

5. मोक्ष का अर्थ क्या है?

- (क) धन प्राप्ति
- (ख) युद्ध विजय

#### ( ग ) ईश्वर के आनन्द में सहभागिता

- (घ) संसार त्याग

## इकाई-4.4 पुष्टिमार्ग

### उद्देश्य -

1. पुष्टिमार्ग की अवधारणा को समझ सकेंगे।
2. वल्लभाचार्य के भक्ति मार्ग का अध्ययन कर सकेंगे।
3. पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों एवं विशेषताओं का विश्लेषण कर सकेंगे।

भगवान् की प्राप्ति का सुगम उपाय केवल भक्ति ही है। भगवान् के त्रिविधा रूप के अनुसार मार्ग भी तीन हैं। आधिभौतिक कर्ममार्ग है। ज्ञानमार्ग आध्यात्मिक है। ज्ञान के बल पर ज्ञानी अक्षरब्रह्म को ही प्राप्त कर सकते हैं। परन्तु परब्रह्म, सच्चिदानन्द की उपलब्धि भक्ति के ही द्वारा होती है। आचार्य का आचार-मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। भागवत में पुष्टि या पोषण का अर्थ भगवान् का अनुग्रह है अतः भगवदनुग्रह को मुक्ति का प्रधान कारण मानने के कारण यह मार्ग पुष्टिमार्ग कहलाता है। यह मार्ग मर्यादामार्ग से नितान्त विलक्षण है। मर्यादामार्ग वैदिक है, जो अक्षरब्रह्म की वाणी से उत्पन्न हुआ है, परन्तु पुष्टिमार्ग साक्षात् पुरुषोत्तम के शरीर से निकला है।

जीव के देह, इन्द्रिय तथा अन्तःकरण में अपने आनन्द का स्थापन कर उसे अपने स्वभाव में स्थित कर देते हैं। यही जीव की मुक्ति है, अर्थात् अन्यथाभाव को, दुःख तथा जडता को छोड़कर स्वरूप से, आनन्दरूप से स्थित होना ही मुक्ति है। भागवत का यही मन्तव्य है। वल्लभाचार्य ने भी अपने सिद्धान्त में मुक्ति का यही रूप माना है। इस प्रकार जीव को आनन्दमय बना देना ही प्रभु की प्रकृति है। प्रकृति का अर्थ है- स्वभाव। भगवान् का यह स्वभाव ही है कि वे जीव को अपने समान ही आनन्दमय बना देते हैं। प्रभु का यह भाव स्वरूपापत्ति कहलाता है, स्वरूप का अर्थ ही है आनन्दमय रूप। इसे ही पाना मुक्ति है। भक्ति भी दो प्रकार की होती है- मर्यादाभक्ति तथा पुष्टिभक्ति। इन दोनों का पार्थक्य भी वल्लभमत में सूक्ष्मरीति से किया गया है। मर्यादाभक्ति से सायुज्य की प्राप्ति होती है, परन्तु पुष्टिभक्ति से अभेदबोधान की प्रधानतया सिद्धि होती है। इस प्रकार इस क्लेशविपुल संसार से उद्धार पाने का एक ही सुगम उपाय है पुष्टिमार्ग का अवलम्बन, जो वर्ण, जाति तथा देश आदि के भेदभाव के विना सब प्राणियों के लिए उपादेय है। यह पृष्टि श्रीमद्भागवत का प्रधान रहस्य है। वल्लभाचार्य ने भागवत के आध्यात्मिक तत्त्वों के आधार पर ही इस पुष्टितत्त्व को पुष्ट किया है।

### स्मरणीय बिन्दु -

1. पुष्टिमार्ग की स्थापना वल्लभाचार्य ने की।
2. पुष्टि का अर्थ ईश्वर कृपा है।
3. प्रेम एवं समर्पण भक्ति का आधार हैं।
4. श्रीकृष्ण की उपासना पर बल दिया गया।
5. मोक्ष ईश्वर कृपा से प्राप्त होता है।

### शब्दावली -

| शब्द           | अर्थ                                      |
|----------------|-------------------------------------------|
| पुष्टिमार्ग    | वल्लभाचार्य द्वारा प्रतिपादित भक्ति मार्ग |
| पुष्टि         | ईश्वर कृपा द्वारा पोषण                    |
| समर्पण पूर्ण   | श्रद्धा एवं भक्ति                         |
| बालकृष्ण       | श्रीकृष्ण का बाल स्वरूप                   |
| प्रेममयी भक्ति | प्रेम आधारित उपासना                       |
| सेवा           | ईश्वर की भक्ति एवं आराधना                 |
| कृपा           | ईश्वर का अनुग्रह                          |
| मोक्ष          | ईश्वर प्राप्ति                            |

### 5 अंक के प्रश्न -

1. पुष्टिमार्ग से क्या अभिप्राय है?
2. पुष्टि का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
3. पुष्टिमार्ग की प्रमुख विशेषताएँ लिखिए।
4. श्रीकृष्ण की उपासना का महत्व स्पष्ट कीजिए।
5. मोक्ष सम्बन्धी विचार लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न -

1. पुष्टिमार्ग के सिद्धान्तों एवं विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
2. वल्लभाचार्य के भक्ति मार्ग का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
3. पुष्टिमार्ग में ईश्वर कृपा एवं भक्ति के महत्व का अध्ययन कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न -

1. पुष्टिमार्ग की स्थापना किसने की?

(क) मध्वाचार्य

(ख) निम्बार्काचार्य

(ग) वल्लभाचार्य

(घ) रामानुजाचार्य

2. 'पुष्टि' का अर्थ क्या है?

(क) तपस्या

(ख) ईश्वर कृपा द्वारा पोषण

(ग) ज्ञान

(घ) शक्ति

3. पुष्टिमार्ग में किसकी उपासना की जाती है?

(क) शिव

(ख) गणेश

(ग) बालकृष्ण

(घ) ब्रह्मा

4. पुष्टिमार्ग में भक्ति का आधार क्या है?

(क) भय

(ख) संघर्ष

(ग) प्रेम एवं समर्पण

(घ) राजनीति

5. मोक्ष किससे प्राप्त होता है?

(क) युद्ध से

(ख) ईश्वर कृपा एवं भक्ति से

(ग) धन से

(घ) तपस्या से।

॥ ओ३म् ॥

# संस्कृतसाहित्यम्-II

MDPHID-205



दिव्य प्रकाशन

**संस्कृतसाहित्यम्-II**

MDPHID-205

**पाठ्यक्रम के उद्देश्य :-**

1. संस्कृत साहित्य के सम्यक् ज्ञान हेतु संस्कृत वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न कारकों व विभक्तियों में ज्ञान कराना।
2. सुसंस्कृत पदों की रचना हेतु समास की विधा से परिचय कराना ।

**परिणाम-**

1. संस्कृत व्याकरण के आधारभूत ज्ञान से शब्दों की वैज्ञानिक पद्धति से परिचित होकर शब्दार्थ व वाक्यार्थ बोध करने व कराने में सक्षम हो जाता है।
2. संस्कृत वाक्यों में प्रयुक्त विभिन्न कारकों, विभक्तियों, समास के ज्ञान में पारंगत हो जाता है ।

**प्रथम इकाई - विभक्ति: कारकप्रकरणञ्च -**

संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न कारकों (कर्ता, कर्म, करण कारक) तथा विभक्तियों (प्रथमा, द्वितीया, तृतीया) का सूत्र एवं उदाहरणों सहित परिचय ।

**द्वितीय इकाई - विभक्ति: कारकप्रकरणञ्च -**

संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त विभिन्न कारकों (सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण) तथा विभक्तियों (चतुर्थी, पञ्चमी, षष्ठी, सप्तमी) का सूत्र एवं उदाहरणों सहित परिचय ।

**तृतीय इकाई- समासप्रकरणम् -**

संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त प्रमुख समासों (अव्ययीभाव, प्रथमा, द्वितीया, तृतीया, चतुर्थी, पञ्चमी, तत्पुरुष समास) तथा उनके विभिन्न प्रभेदों का सूत्रों एवं उदाहरणों सहित वर्णन ।

**चतुर्थ इकाई- समासप्रकरणम् -**

संस्कृत साहित्य में प्रयुक्त प्रमुख समासों (षष्ठी, सप्तमी तत्पुरुषसमास, बहुव्रीहि, द्वन्द्व समास) तथा उनके विभिन्न प्रभेदों का सूत्रों एवं उदाहरणों सहित वर्णन ।



## विषय-सूची

| क्रम संख्या | विषय                                           | पृष्ठ संख्या |
|-------------|------------------------------------------------|--------------|
| इकाई-1      | विभक्ति: कारकप्रकरणञ्च                         | 5-10         |
| 1           | कर्तृकर्मकरणकारकाणि                            |              |
| 2           | प्रथमाद्वितीयातृतीया विभक्तयः                  |              |
| इकाई-2      | विभक्ति: कारकप्रकरणञ्च                         | 11-16        |
| 1           | सम्प्रदानापादानाधिकरणकारकाणि                   |              |
| 2           | चतुर्थीपञ्चमीषष्ठीसप्तमीविभक्तयः               |              |
| इकाई-3      | समासप्रकरणम्                                   | 17-21        |
| 1           | अव्ययीभावः                                     |              |
| 2           | प्रथमाद्वितीयातृतीयाचतुर्थीपञ्चमीतत्पुरुषसमासः |              |
| इकाई-4      | समासप्रकरणम्                                   | 22-          |
| 4.1         | षष्ठीसप्तमीतत्पुरुषसमासः                       | 25-28        |
| 4.2         | बहुव्रीहिसमासः                                 | 29-31        |
| 4.3         | द्वन्द्वसमासः                                  | 32-34        |

## भूमिका

भारतीय समस्त प्रतन ऋषि, मुनि तथा आचार्य इस विषय में पूर्णतः सहमत हैं कि वेद अपौरुषेय तथा नित्य है। प्रतिकल्प के प्रारम्भ में परमात्मा, ऋषियों को आद्यन्त रहित नित्या वाग् = वेद ज्ञान देता है और वही वैदिक ज्ञान संपूर्ण लोक व्यवहार का कारण होता है।

**अनादिनिधना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।**

**आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वा प्रवृत्तयः ॥**

इसी दिव्या वाग् (देववाणी) का आचार्य इन्द्र द्वारा प्रकृतिप्रत्ययविभागरूपी संस्कार किया गया। अतः संस्कार द्वारा संस्कृत होने से देववाणी का अपर नाम संस्कृत हो गया।

इसी क्रम में आगे चलकर पाणिनि मुनि ने संस्कृत भाषा पर 'अष्टाध्यायी' नामक शब्दानुशासनशास्त्र का प्रवचन किया। कालक्रमानुसार अर्वाचीन काल में अष्टाध्यायी पर अनेक प्रक्रिया ग्रन्थों (सिद्धान्तकौमुद्यादि) की रचना हुई।

प्रस्तुत पुस्तक में इन्हीं प्रक्रिया ग्रन्थों के मध्य से 'वैयाकरण-सिद्धान्तकौमुदी' के कारकसमासाव्ययतद्धितार्थादि विषयों का व्याख्या सहित संकलन किया गया है। जिससे विद्यार्थी अल्प प्रयत्न से भाषा नियम एवं महत् शब्दसमूह का बोध कर सकें।

यतोहि लोक में ऐसा कोई भी ज्ञान नहीं है, जो शब्द के बिना हो सके। सम्पूर्ण ज्ञान शब्द से बिधा हुआ है।

**न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते ।**

**अनुविद्धमिवज्ञानं सर्वं शब्देन भासते । (वा० ब्रह्म० 124)**

## इकाई-१- विभक्ति: कारकप्रकरणञ्च

### अथ कारकप्रकरणम्

#### उद्देश्य-

1. कर्ता, कर्म और करण कारक का ज्ञान प्राप्त करना।
2. संस्कृत वाक्यों में कारकों के प्रयोग को समझना।
3. विभक्ति प्रयोग की व्यावहारिक समझ विकसित करना।
4. विभक्तियों के स्वरूप को समझना।
5. विभक्तियों के व्याकरणिक प्रयोग को जानना।
6. संस्कृत वाक्य निर्माण में दक्षता प्राप्त करना।

#### ५३२. प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ( २.३.४६ )

नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्याधिक्ये संख्यामात्रे च प्रथमा स्यात्। उच्चैः। नीचैः। कृष्णः। श्रीः। ज्ञानम्। अलिङ्गा नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम्। अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्राधिक्यस्य। तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्रे द्रोणो ब्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं तत्परिच्छिन्नो ब्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन ब्रीहौ विशेषणमिति विवेकः। वचनं संख्या । एकः । द्वौ। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्।

पद० - प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे 7.1, प्रथमा 1.1

अर्थ - नियत उपस्थिति वाले अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है। 'मात्र' शब्द का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध होता है। केवल प्रातिपदिकार्थ में, लिङ्गमात्राधिक्य में, परिमाण मात्र में तथा वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। जिनका कोई लिङ्ग नहीं होता है और जिनका लिङ्ग निश्चित होता है, वे शब्द ही प्रातिपदिकार्थमात्र के उदाहरण हैं। अनियत लिङ्ग शब्द लिङ्गमात्राधिक्य के उदाहरण हैं।

'द्रोण' शब्द का अर्थ है- द्रोणरूप परिमाण से नापा हुआ धान्यादि।

व्याख्या- 'प्रातिपदिकार्थ ..... मात्रे केवल प्रातिपदिकार्थ में, लिङ्गमात्राधिक्य में, परिमाणमात्र में तथा वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है ऐसा जानना चाहिए।

अलिङ्गा अनियत० - संस्कृत भाषा में लिङ्ग के आधार पर शब्दों को 3 तीन वर्गों में रखा जाता है-

अलिङ्ग-नीचैः, शनैः आदि ।

नियतलिङ्ग-वृक्षः, कन्या, फलम् इत्यादि ।

अनियतलिङ्ग-तटः तटी, तटम् ।

सभी अव्यय शब्द अलिङ्ग होते हैं। उनका कोई विशेष लिङ्ग नहीं होता।

#### ( ५३३ ) सम्बोधने च ( २.३.४७ )

इह प्रथमा स्यात् । हे राम ।

इति प्रथमा ।

पद० सम्बोधने 7.1, च-अव्य० ।

अनु०- 'प्रातिपदिकार्थलिङ्ग०' (पा० 2.3.46) से 'प्रथमा' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है। दूर से बुलाने को अथवा अपनी ओर अभिमुख करने को 'सम्बोधन' कहते हैं। सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती है।

उदा०- (1) हे राम ! - हे राम सु - प्रकृत सूत्र से प्रथमा हुई। उकार की इत्सञ्ज्ञा और लोप होकर। 'एकवचनं सम्बुद्धिः' से अपृक्त 'सु' की सम्बुद्धिसञ्ज्ञा हुई। 'एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः' से 'स्' का लोप हो गया ।

#### ५३५. कारके ( १.४.२३ )

इत्यधिकृत्य।

पद० - कारके 7.1

व्याख्या - यह अधिकारसूत्र है । 'कारके' सप्तम्यन्त पद है। 'अतः' यह विशेषण है। सञ्ज्ञा का निर्देश प्रथमा के द्वारा किया जाता है। आगे कहे जाने वाले अपादान आदि का यह विशेषण बनेगा। अभिप्राय यह है कि आगे जो-जो सूत्र कहे जायेंगे, उनमें 'कारके'

इस प्रकार सम्बन्ध जानना चाहिए।

### ५३५. कर्तुरीप्सिततमं कर्म ( १.४.४९९ )

कर्तुः क्रियया आप्तुमिष्टतमं कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्।

कर्तुः किम्? माषेष्वश्वं बध्नाति। कर्मण ईप्सिता माषाः, न तु कर्तुः। तमब्रह्मणं किम्? पयसा ओदनं भुङ्क्ते। 'कर्म' इत्यनुवृत्तौ पुनः कर्मग्रहणमाधारनिवृत्त्यर्थम्। अन्यथा गेहं प्रविशतीत्यत्रैव स्यात्।

पद० - कर्तुः 6.1, ईप्सिततमम् 1.1, कर्म 1.1

अनु० - 'कारके' का अधिकार जाता है।

अर्थ - कर्ता क्रिया से (जिसे) सर्वाधिक प्राप्त करना चाहता है, (अर्थात् कर्ता को जो इष्टतम है) उस कारक की कर्म सञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या - 'ईप्सित' का अर्थ है - इष्ट।

कर्ता क्रिया के द्वारा जिसे सर्वाधिक चाहता है, उसकी कर्म सञ्ज्ञा होती है।

कर्तुः किम्? - सूत्र में 'कर्तुः' पद का क्या प्रयोजन है। कर्ता का प्रयोजन है कि कर्ता को जो सर्वाधिक इष्ट होता है, उसकी कर्मसञ्ज्ञा होती है। यथा -

माषेष्वश्वं बध्नाति (३ उड्द के खेत में घोड़े को बाँधता है) - यहाँ 'माष' अश्व को इष्ट है जो कर्म है। कर्ता को सर्वाधिक इष्ट नहीं है। 'माष' अतः आधार की अधिकरण सञ्ज्ञा हुई। तब सप्तमी विभक्ति हुई। अतः इसकी कर्म सञ्ज्ञा नहीं होती है।

तमब्रह्मणं? - 'तमप्' प्रत्यय के ग्रहण का प्रयोजन है कि जो कर्ता को सर्वाधिक इष्ट होता है, उसकी कर्मसञ्ज्ञा होती है अन्य की नहीं। यथा-

पयसा ओदनं भुङ्क्ते (३ दूध से भात खाता है) - यहाँ कर्ता को 'पयस्' और 'ओदन' दोनों इष्ट हैं परन्तु इनमें सर्वाधिक ईप्सित 'ओदन' है। इसकी कर्म सञ्ज्ञा होती है। ईप्सितों में सर्वाधिक ईप्सित न होने से 'दूध' की कर्मसञ्ज्ञा नहीं हुई।

### ( ५३६ ) अनभिहिते ( २.३.१ ) इत्यधिकृत्य।

पद० - अनभिहिते 7.1

अनु० - यह अधिकार है। इसका अधिकार पाद की समाप्ति पर्यन्त जाता है, तथापि यह कारक विभक्तियों में ही सक्रिय होता है उपपद विभक्तियों में नहीं। इसका अर्थ है- अनुक्त कर्म आदि कारकों में वक्ष्यमाण विभक्तियाँ होती हैं।

### ( ५३७ ) कर्मणि द्वितीया ( २.३.२ )

अनुक्ते कर्मणि द्वितीया स्यात् । हरिं भजति। अभिहिते तु कर्मणि 'प्रातिपदिकार्थमात्रे' इति प्रथमैव। अभिधानं तु प्रायेण तिङ्कृतद्धितसमासैः । तिङ्-हरिः सेव्यते । कृत्-लक्ष्म्या सेवितः । तद्धितः-शतेन क्रीतः शत्यः । समासः प्राप्तः आनन्दो यं स प्राप्तानन्दः । क्वचिन्निपातेनाभिधानम्। यथा- 'विषवृक्षोऽपि संवर्ध्य स्वयं छेत्तुमसाम्प्रतम्' । साम्प्रतमित्यस्य हि युज्यत इत्यर्थः ।

पद०- कर्मणि 7.1, द्वितीया 1.1

अनु०- 'अनभिहिते' का अधिकार आता है।

अर्थ- तिङ्कृतद्धितसमास के द्वारा अनुक्त कर्म में द्वितीया होती है। कर्म के उक्त होने पर प्रातिपदिकार्थ मात्र में प्रथमा ही होती है।

### ५३८. तथायुक्तं चानीप्सितम् ( १.४.५० )

ईप्सिततमवत्क्रियया युक्तमनीप्सितमपि कारकं कर्मसञ्ज्ञं स्यात्।

ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति। ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते।

पद० - तथायुक्तम्- अव्य०, च-अव्य०, अनीप्सितम् 1.1

अनु० 'कारके' का अधिकार आता है। 'कर्तुरीप्सिततमं कर्म' (पा० 1.4.49) से 'कर्म' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- ईप्सिततम के समान क्रिया से युक्त अनीप्सिततम कारक की भी कर्मसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या- 'अनीप्सित' का अर्थ है-जो कर्ता को इष्ट न हो।

उदा०- ग्रामं गच्छंस्तृणं स्पृशति- यहाँ गमनक्रिया के सम्बन्ध से कर्ता का ईप्सिततम 'ग्राम' है। गमन करते हुए स्पर्श क्रिया भी सहसा हो जाती है। अतः अनीप्सित तृण की कर्म सञ्ज्ञा हो गई।

ओदनं भुञ्जानो विषं भुङ्क्ते - यहाँ 'विष' अनीप्सित है। तथापि कर्मसञ्ज्ञा हो जाती है।

( ५४२ ) अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म ( १.४.४६ )

अधिपूर्वाणामेषामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः

पद० - अधिशीङ्ख्यासाम् ६.३, कर्म १.१

अनु० - 'कारके' का अधिकार आता है। 'आधारोऽधिकरणम्' ( पा० १.४.४५ ) से 'आधारः' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- अधिपूर्वक शी, स्था तथा आस् के आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या-अधिपूर्वक शी, अधिपूर्वक स्था तथा अधिपूर्वक आस्-इनके आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

उदा०- अधिशेते वैकुण्ठं हरिः - अधिपूर्वक शी धातु है। इसका आधार 'वैकुण्ठ' है। अतः इसकी कर्मसञ्ज्ञा हुई। अकथित कर्म में द्वितीया विभक्ति होती है।

अधितिष्ठति वैकुण्ठं हरिः - पूर्ववत् कर्मसञ्ज्ञा ।

अध्यास्ते वैकुण्ठं हरिः - पूर्ववत् कर्मसञ्ज्ञा ।

( ५४४ ) उपान्वध्याङ्वसः ( १.४.४८ )

उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति, अनुवसति, अधिवसति, आवसति वा वैकुण्ठं हरिः । 'अभुक्त्यथ स्य न' । वने उपवसति ।

'उभसर्वतसोः कार्या धिगुपर्यादिषु त्रिषु । द्वितीयाऽऽप्रेडितान्तेषु ततोऽन्यत्रापि दृश्यते' ॥ ( वा० १४४४ ) उभयतः कृष्णं गोपाः । सर्वतः कृष्णम् । धिक् कृष्णाभक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः । अध्यधिलोकम् । अधोऽधोलोकम् । 'अभितः परितः समयानिकषाहाप्रतियोगोऽपि' ( वा० १४४२-१४४३ ) । अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । ग्रामं समया । निकषा लङ्काम् । हा कृष्णाभक्तम् । तस्य शोच्यते इत्यर्थः । 'बुभुक्षितं न प्रतिभाति किञ्चित्' ।

पद० - उपान्वध्याङ्वसः 6.1

अनु०- 'कारके' का अधिकार आता है। 'अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म' ( पा० १.४.४६ ) से 'कर्म' का तथा 'आधारोऽधिकरणम्' ( पा० १.४.४५ ) से 'आधारः' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- उप आदि के पूर्व में रहते वस् धातु के आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है। 'भूखा रहना' अर्थ में कर्मसञ्ज्ञा नहीं होती है। तत्प्रत्ययान्त 'उभ' और 'सर्व' शब्द, धिक् व आप्रेडितान्त उपरि आदि शब्दों के योग में द्वितीया होती है। इससे अन्यत्र भी कहीं-कहीं द्वितीया देखी जाती है।

अभितः, परितः, समया, निकषा, हा तथा प्रति-इनके योग में भी द्वितीया विभक्ति होती है।

व्याख्या- उप, अनु, अधि तथा आङ्-ये उपसर्ग हैं। प्रत्येक के साथ वस् का योग है। सूत्र का अर्थ इस प्रकार है- उपवस्, अनुवस्, अधिवस् और आवस्- इनके योग में आधार की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

उदा०- उपवसति वैकुण्ठं हरिः - उपपूर्वक वस् धातु के आधार 'वैकुण्ठ' की कर्मसञ्ज्ञा हो गई। अनुवसति वैकुण्ठं हरिः । अधिवसति वैकुण्ठं हरिः - पूर्ववत् । आवसति वैकुण्ठं हरिः । उपवसति वने-भोजननिवृत्ति अर्थ है। अतः इसकी कर्मसञ्ज्ञा नहीं हुई । उभयतः कृष्णं गोपाः - 'उभयतः' के योग में वार्तिक के द्वारा 'कृष्ण' से द्वितीया विभक्ति होती है। सर्वतः कृष्णं गोपाः - पूर्ववत् । धिक् कृष्णाभक्तम् - द्वितीया हो गई। उपर्युपरि लोकं हरिः - 'उपर्यध्यधसस्सामीप्ये' से द्विर्वचन होता है। 'लोक' शब्द से द्वितीया हुई। अध्यधिलोकम् । अधोऽधोलोकम्-पूर्ववत्।

५५९. स्वतन्त्रः कर्ता ( १.४.५४ )

क्रियायां स्वातन्त्र्येण विवक्षितोऽर्थः कर्ता स्यात् ।

पद० - स्वतन्त्रः १.१, कर्ता १.१

अनु० - 'कारके' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- क्रिया की सिद्धि में स्वतन्त्ररूप से विवक्षित कर्ता की कारकसञ्ज्ञा होती। देवः पठति। रामः स्वपिति। बालका रोदिति।

( ५६० ) साधकतमं करणम् ( १.४.४२ )

क्रियासिद्धौ प्रकृष्टोपकारकं करणसञ्ज्ञं स्यात् । 'तमब्रह्मणं' किम्? गङ्गायां घोषः

पद० - साधकतमम् १.१, करणम् १.१

अनु०- 'कारके' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'साधकतम' का अर्थ है कि जो क्रिया की सिद्धि में सबसे अधिक उपकारक होता है। उसे 'करण' कहते हैं।

उदा०- (1) असिना छिनत्ति (मूलेऽनुपलब्धः) - यहाँ छेदन क्रिया में 'असि' सर्वाधिक उपकारक है। इसकी करण सञ्ज्ञा हुई।

‘कर्तृकरणयोस्तृतीया’ से तृतीया विभक्ति हुई।)

( ५६१ ) कर्तृकरणयोस्तृतीया ( २.३.१८ )

अनभिहिते कर्त्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण बाणेण हतो वाली । ‘प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्’ ( वा० १४६६ )  
१ प्रकृत्या चारुः । प्रायेण याज्ञिकः। गोत्रेण गार्ग्यः । समेनैति। विषमेणैति । द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ।

पद० – कर्तृकरणयोः ७.२, तृतीया १.१

अनु० ‘अनभिहिते’ ( पा० २.३.१ ) का अधिकार आता है।

व्याख्या- ‘अनभिहिते’ पद को वचनविपरिणाम के द्वारा द्विवचनान्त ‘अनभिहितयोः’ बना लिया जाता है। अर्थ इस प्रकार है- अकथित कर्ता और करण में तृतीया विभक्ति होती है।

उदा०- रामेण बाणेन हतो वाली-हन् से कर्म अर्थ में ‘क्त’ प्रत्यय हुआ है। कर्मकारक उक्त है। शेष कारक अनुक्त हैं। अतः अनुक्त कर्ता ‘राम’ में तृतीया विभक्ति हो गई। हनन क्रिया में सर्वाधिक उपकारक ‘बाण’ है। इसलिए इसकी करण सञ्ज्ञा हुई और इससे तृतीया विभक्ति हो गई।

प्रकृत्या चारुः – प्रकृति शब्द से तृतीया हुई । प्रायेण याज्ञिकः वार्तिक से तृतीया हुई। गोत्रेण गार्ग्यः पूर्ववत् । समेनैति ‘सम’ शब्द से तृतीया विभक्ति हुई। विषमेणैति-पूर्ववत् तृतीया। द्विद्रोणेन धान्यं क्रीणाति तृतीया विभक्ति हुई। सुखेन याति वार्तिक से तृतीया विभक्ति हुई। दुःखेन याति-पूर्ववत् तृतीया विभक्ति ।

येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो लक्ष्यते ततः तृतीया स्यात् ।

अक्षणा काणः। अक्षिसम्बन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः। 'अङ्गविकारः' किम्? अक्षि काणमस्य।

पद० येन ३.१. अङ्गविकारः १.१

अनु० 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' ( पा० २.३.१८ ) से 'तृतीया' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- जिस विकृत अङ्ग के द्वारा अङ्गी का विकार लक्षित होता है, उसके वाचक शब्दों से तृतीया विभक्ति होती है।

उदा० - (1) अक्षणा काणः - यहाँ काणत्व विकार है। ये विकृत अङ्ग आँख के द्वारा लक्षित होता है। अतः तृतीया विभक्ति हो गई।  
पादेन खञ्जः। पाणिना कुण्ठः।

### स्मरणीय बिन्दु

- कर्ता क्रिया का करने वाला होता है।
- कर्म क्रिया का फल प्राप्त करता है।
- करण साधन को व्यक्त करता है।
- तृतीया विभक्ति करण कारक की सूचक है।
- प्रथमा विभक्ति कर्ता को दर्शाती है।
- द्वितीया विभक्ति कर्म को व्यक्त करती है।
- तृतीया विभक्ति करण कारक की सूचक है।

### ५ अंको का प्रश्न

1. कर्ता कारक की परिभाषा लिखिए।
2. कर्म कारक का उदाहरण सहित वर्णन कीजिए।
3. करण कारक क्या है?
4. प्रथम विभक्ति का प्रयोग समझाइए।
5. तृतीया विभक्ति का उपयोग बताइए।
6. प्रथमा विभक्ति का प्रयोग लिखिए।
7. द्वितीया विभक्ति का महत्व बताइए।
8. तृतीया विभक्ति के उदाहरण दीजिए।
9. विभक्ति किसे कहते हैं?
10. विभक्ति और कारक में अंतर बताइए।

### १५ अंको का प्रश्न

1. कर्ता, कर्म एवं करण कारक का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. संस्कृत भाषा में विभक्तियों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. कारक और विभक्ति में संबंध स्पष्ट कीजिए।
4. प्रथमा, द्वितीया एवं तृतीया विभक्ति का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
5. संस्कृत व्याकरण में विभक्तियों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
6. विभक्ति प्रयोगों का उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. कर्ता कारक में कौन-सी विभक्ति प्रयुक्त होती है?  
(1) प्रथम  
(2) द्वितीया  
(3) तृतीया  
(4) सप्तमी

उत्तर: (1)

2. करण कारक में कौन-सी विभक्ति आती है?



- (1) प्रथम
- (2) तृतीया
- (3) पंचमी
- (क) षष्ठी

उत्तर: (2)

3. 'रामः पठति' में कर्ता कौन है?

- (1) पठति
- (2) रामः
- (3) पुस्तक
- (4) विद्यालय

उत्तर: (2)

4. द्वितीया विभक्ति किस कारक को व्यक्त करती है?

- (1) कर्ता
- (2) कर्म
- (3) करण
- (4) अधिकरण

उत्तर: (2)

5. प्रथमा विभक्ति का संबंध किससे है?

- (1) कर्ता
- (2) कर्म
- (3) संप्रदान
- (4) अपादान

उत्तर: (1)

6. तृतीया विभक्ति किस कारक की सूचक है?

- (1) अधिकरण
- (2) करण
- (3) अपादान
- (4) संबंध

उत्तर: (2)

**शब्दावली-**

- कर्ता - Doer
- कर्म - Object
- करण - Instrument
- विभक्ति - Case Ending
- कारक - Relation with Verb
- प्रथमा - Nominative
- द्वितीया - Accusative
- तृतीया - Instrumental
- वाक्य - Sentence
- प्रयोग - Usage

## खण्ड- २ - विभक्तिः कारकप्रकरणञ्च :

उद्देश्य-

1. संप्रदान कारक का ज्ञान प्राप्त करना।
2. अपादान एवं अधिकरण कारक को समझना।
3. संस्कृत वाक्यों में कारकों के प्रयोग को पहचानना।
4. चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग समझना।
5. पंचमी एवं षष्ठी विभक्ति का ज्ञान प्राप्त करना।
6. सप्तमी विभक्ति के प्रयोगों को जानना।

५६९. कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम् ( १.४.३२ )

दानस्य कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानसञ्ज्ञः स्यात्।

पद० - कर्मणा 3.1, यम् 2.1, अभिप्रैति - ति० सः-1.1,

सम्प्रदानम् 1.1

अनु० - 'कारके' इस का अधिकार आता है।

व्याख्या- 'कर्मणा' यह तृतीयान्त पद है। यहाँ करण में तृतीया विभक्ति है। 'सम्प्रदान' शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार है- 'सम्यग् दीयते प्रकर्षेणाऽस्मा इति सम्प्रदानम्' अर्थात् जिसे कुछ दिया जाय और पुनः वापिस न लिया जाये, उसे सम्प्रदान कहते हैं।

अर्थ - दान कर्म के द्वारा कर्ता जिस के अभिप्राय को सिद्ध करता है, उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

'दान' का अर्थ है- किसी द्रव्य को अपने अधिकार से सदा के लिए त्याग करके दूसरे के अधिकार में देना उसे दान कहते हैं।

५७०. चतुर्थी सम्प्रदाने ( २.३.१३ )

विप्राय गां ददाति। अनभिहित इत्येव। दीयतेऽस्मै दानीयो विप्रः। 'क्रियया यमभिप्रैति सोऽपि सम्प्रदानम्' ( वा.१०८४ ) । पत्ये शेते। 'यजेः कर्मणः करणसञ्ज्ञा सम्प्रदानस्य च कर्मसञ्ज्ञा' ( वा.१०८६ ) । पशुना रुद्रं यजते। पशुं रुद्राय ददातीत्यर्थः ।

पद० - चतुर्थी १.१, सम्प्रदाने ७.१

अनु०- 'अनभिहिते' का अधिकार आता है।

अर्थ- यह चतुर्थीविभक्ति अनभिहित सम्प्रदान में ही होती है। (वा०) क्रिया के द्वारा कर्ता जिसे लक्षित करता है, उसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। (वा०) यज् धातु के कर्म की करणसञ्ज्ञा होती है तथा सम्प्रदान सञ्ज्ञा की कर्मसञ्ज्ञा होती है।

व्याख्या - अकथित सम्प्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है। यथा-विप्राय गां ददाति- यहाँ कर्ता दान कर्म के द्वारा विप्र के अभिप्राय को सिद्ध कर रहा है। अतः इसकी सम्प्रदान सञ्ज्ञा हुई ।

५७१. रुच्यर्थानां प्रीयमाणः ( १.४.३४ )

रुच्यर्थानां धातूनां प्रयोगे प्रीयमाणोऽर्थः सम्प्रदानं स्यात्। हरये रोचते भक्तिः । अन्यकर्तृकोऽभिलाषो रुचिः। हरिनिष्ठप्रीतेर्भक्तिः कर्त्री। प्रीयमाणः किम्? देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि।

पद० - रुच्यर्थानाम् ६.३, प्रीयमाणः १.१

अनु०- 'कारके' का अधिकार आता है। 'कर्मणा यमभिप्रैति स सम्प्रदानम्' ( पा० १.४.३२ ) से 'सम्प्रदानम्' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- रुच्यर्थक धातुओं के योग में प्रीयमाण की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है। अन्यकर्तृक अभिलाष को रुचि कहते हैं। हरि में रहने वाली प्रीति ही 'कर्ता' है। 'प्रीयमाण' क्यों कहा? ताकि 'देवदत्ताय रोचते मोदकः पथि' यहाँ 'पथि' की सम्प्रदानसञ्ज्ञा न हो।

५७३. धारेरुत्तमर्णः ( १.४.३४ )

धारयतेः प्रयोगे उत्तमर्ण उक्तसञ्ज्ञः स्यात्।

भक्ताय धारयति मोक्ष हरिः। उत्तमर्णः किम्? देवदत्ताय शतं धारयति ग्रामे।

पद० - धारेः ६.१, उत्तमर्णः १.१

अनु०- 'कारके' का अधिकार आता है। 'कर्मणा यमभिप्रैति०' से 'सम्प्रदानम्' की अनुवृत्ति है।

अर्थ - णिच् प्रत्ययान्त धृ धातु के योग में उत्तमर्ण (ऋण देने वाला) की सम्प्रदान सञ्ज्ञा होती है।

उदा०- भक्ताय धारयति मोक्ष हरिः- यहाँ 'भक्त' उत्तमर्ण तथा 'हरि' अधमर्ण है। 'भक्त' की सम्प्रदान सज्जा हुई। 'चतुर्थी सम्प्रदाने' से समप्रदान में चतुर्थी विभक्ति होती है।

#### ५८३. नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगाच्च ( २.३.१५ )

एभिर्योगे चतुर्थी स्यात्। हरये नमः। 'उपपदविभक्तेः कारकविभक्तिर्बलीयसी' ( प.१०३ )। नमस्करोति देवान्। प्रजाभ्यः स्वस्ति। अग्नये स्वाहा। पितृभ्यः स्वधा। 'अलमिति पर्याप्त्यर्थग्रहणम्' ( वा.१४६२ )। तेन दैत्येभ्यो हरिरलं, प्रभुः। समर्थः, शक्तः इत्यादि। प्रभवादियोगे षष्ठ्यपि साधुः। 'तस्मै प्रभवति' ( सु.१७६५ ) 'स एषां ग्रामणीः' ( सू.१८७८ ) इति निर्देशात्। तेन 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' इति सिद्धम्। चकारः पुनर्विधानार्थः, तेनाशीर्विवक्षायां परामपि 'चतुर्थी चाशिषि' ( सु. ६३१ ) इति षष्ठीं बाधित्वा चतुर्थ्यैव भवति। स्वस्ति गोभ्यो भूयात्।

पद० - नमः स्वस्तिस्वाहास्वधाऽलं वषड्योगात् 5.1. च-अव्यय ।

अनु० - 'चतुर्थी सम्प्रदाने' ( पा० २.३.१३ ) से 'चतुर्थी' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- 'नमः' आदि के योग में चतुर्थी विभक्ति होती है। (परि०) उपपद विभक्ति से कारक विभक्ति बलवान् होती है। (वा०) अलम् का 'पर्याप्त' अर्थ होता है। 'प्रभु' आदि शब्दों के योग में षष्ठी विभक्ति भी साधु है। पाणिनिमुनि ने दोनों का प्रयोग किया है। यथा- 'तस्मै प्रभवति' तथा 'स' एषां आमणीः। अतः 'प्रभुर्बुभूषुर्भुवनत्रयस्य' प्रयोग साधु है। चकार का ग्रहण विभक्ति के पुनर्विधान के लिए है। इसलिए आशीर्वाद की विवक्षा में परकार्य होने के कारण 'चतुर्थी चाऽऽशिषि०' से प्राप्त षष्ठी को बाधकर चतुर्थी ही होती है।

#### ५८६. ध्रुवमपायेऽपादानम् ( १.४.२४ )

अपायो विश्लेषः, तस्मिन् साध्ये ध्रुवमवधिभूतं कारकमपादानं स्यात्।

पद० - ध्रुवम् 1.1, अपाये 7.1, अपादानम् 1.1

अनु० - 'कारके' का अधिकार आता है।

व्याख्या- 'अपाय' का अर्थ है- पृथक् होना। 'ध्रुवम्' का अर्थ है-निश्चित अथवा स्थिर।

पार्थक्य साध्य होने पर अवधिभूत (कुटस्थ) की अपादान कारक सज्जा होती है।

उदा०- वृक्षात् पत्रं पतति - यहाँ 'वृक्ष' की अपादान सज्जा हुई। 'अपादाने पञ्चमी' से अपादान में पञ्चमी हुई। ग्रामाद् आगच्छति। पर्वतादवरोहति।

#### ( ५८७ ) अपादाने पञ्चमी ( २.३.२८ )

ग्रामादायाति । धावतोऽश्वात्पतति । 'कारकं' किम्? वृक्षस्य पर्णं पतति ।

'जुगुप्साविरामप्रमादार्थानामुपसङ्ख्यानम्' ( वा० १०७९ ) । पापाज्जुगुप्सते, विरमति । धर्मात्प्रमादति ।

पद ० - अपादाने ७.१, पञ्चमी १.१

अनु० - 'अनभिहिते' का अधिकार आता है।

अर्थ - 'कारक' कहने का क्या फल है? 'वृक्षस्य पर्णं पतति' में 'वृक्ष' की अपादानसज्जा नहीं होती। (वा०) निन्दा, विराम तथा प्रमाद वाची धातुओं के कारक की अपादानसज्जा होती है।

व्याख्या- अनभिहित अपादान कारक में पञ्चमी विभक्ति होती है।

उदा०- ग्रामाद् आयाति- यहाँ विश्लेष है। 'ग्राम' अवधिभूत है। इसलिए इसकी अपादानसज्जा हुई। इससे पञ्चमी विभक्ति हुई। धावतोऽश्वात् पतति पूर्ववत् अपादानसज्जा। पर्वतादवरोहति।

#### ५८८. भीत्रार्थानां भयहेतुः ( १.४.२४ )

भयार्थानां त्राणार्थानां च प्रयोगे भयहेतुरपादानं स्यात्। चोराद् बिभेति। चोरात् त्रायते। भयहेतुः किम्? अरण्ये बिभेति, त्रायते वा।

पद० - भीत्रार्थानाम् ६.३, भयहेतुः १.१

उदा०- 'कारके' का अधिकार आता है। 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' ( पा० १.४.२४ ) से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'अर्थ' शब्द का द्वन्द्वसमास के प्रत्येक पद के साथ सम्बद्ध होकर 'भीत्रार्थानाम्' का अर्थ है- भयवाची तथा रक्षावाची धातुओं के प्रयोग में भय का जो निमित्त, उस कारक की अपादानसज्जा होती है।

उदा०- चोराद् बिभेति - भयार्थक 'भी' धातु का प्रयोग है। भयका हेतु 'चौर' है। इसलिए इसकी

अपादानसञ्ज्ञा होने से पञ्चमी विभक्ति हो गयी।

चौरात् त्रायते - पूर्ववत् अपादानसञ्ज्ञा और पञ्चमी विभक्ति हो गयी।

भयहेतुः किम्? 'भयहेतुः' का प्रयोजन यह है कि भयार्थक और रक्षार्थक धातुओं के प्रयोग में जो भय का हेतु हो उसकी अपादान सञ्ज्ञा हो अन्यत्र न हो है। यथा-अरण्ये बिभेति- 'अरण्य' भयहेतु नहीं है। अतः इसकी अपादानसञ्ज्ञा नहीं हुई। आधार की अधि कारणसञ्ज्ञा हो गई।

#### ५९२. आख्यातोपयोगे ( १.४.२९ )

नियमपूर्वकविद्यास्वीकारे वक्ता प्राक्सञ्ज्ञः स्यात्।

उपाध्यायादधीते। उपयोगे किम्? नटस्य गाथां शृणोति ।

पद० - आख्याता १.१, उपयोगे ७.१

अनु० - 'कारके' का अधिकार आता है। 'ध्रुवमपायेऽपादानम्' (पा० 1.4.24) से 'अपादानम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- नियमपूर्वक विद्याग्रहण करने में अध्यापक की अपादानसञ्ज्ञा होती है।

उदा०- उपाध्यायाद् अधीते - उपाध्याय की अपादान-सञ्ज्ञा हुई। 'अपादाने पञ्चमी' से पञ्चमी विभक्ति हुई। सूत्र में 'उपयोगे' का प्रयोजन यह है कि नियमपूर्वक विद्या ग्रहण में ही आख्याता (अध्यापक) की अपादानसञ्ज्ञा होती है। नटस्य गाथां शृणोति - यहाँ नियमपूर्वक विद्याग्रहण नहीं है। अतः यहाँ नट की अपादानसञ्ज्ञा नहीं हुई। सम्बन्धलक्षणा नट से षष्ठी विभक्ति हो गई।

#### ६०६. षष्ठी शेषे ( २.३.५० )

कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्तः स्वस्वामिभावादिसम्बन्धः शेषः, तत्र षष्ठी स्यात्।

राज्ञः पुरुषः। कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षयां षष्ठ्येव । सतां गतम्। सर्पिषो जानीते।

मातुः स्मरति। एधोदकस्योपस्कुरुते। भजे शम्भोश्चरणयोः। फलानां तृप्तः।

पद० - षष्ठी १.१, शेषे ७.१

व्याख्या - उक्तादन्यो यः स 'शेषः' अर्थात् जो कहा जा चुका है, उससे अतिरिक्त को 'शेष' कहा जाता है। अतः 'शेष' शब्द के द्वारा कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान, अधिकरण इन सब कारकों को और प्रातिपदिकार्थ को छोड़कर जो शेष है, उसका प्रकृत सूत्र में ग्रहण होता है।

#### ६०७. षष्ठी हेतुप्रयोगे ( २.३.२६ )

हेतुशब्दप्रयोगे हेतौ द्योत्ये षष्ठी स्यात् अन्नस्य हेतोर्वसति।

पद० - षष्ठी १.१, हेतुप्रयोगे ७.१

अनु० - 'हेतौ' ( पा० २.३.२३ ) की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- यह योग 'हेतौ' से प्राप्त 'तृतीया' का अपवाद है। अर्थ - हेतु शब्द के प्रयोग में हेतु द्योत्य रहते हेतुवाची शब्द से तथा हेतु शब्दों से षष्ठी विभक्ति होती है। यथा-

अन्नस्य हेतोर् वसति । विद्यायाः हेतोर्वसति।

#### ६३२. आधारोऽधिकरणम् ( १.४.४५ )

कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसञ्ज्ञः स्यात्।

पद० - आधारः १.१, अधिकरणम् १.१

अनु० - 'कारके' का अधिकार आता है।

व्याख्या- कर्ता और कर्म के द्वारा तन्निष्ठ क्रिया के आधारभूत कारक की अधिकरण सञ्ज्ञा होती है। 'आध्रियते क्रियाऽस्मिन्नित्याध रः' अर्थात् जिसमें क्रिया आधृत रहती है, उसे आधार कहते हैं।

#### ( ६३३ ) सप्तम्यधिकरणे च ( २.३.३६ )

अधिकरणे सप्तमी स्यात्। चकाराद्दूरान्तिकार्थेभ्यः। औपश्लेषिको वैषयिकोऽभिव्या-पकश्चेत्याधारस्त्रिधा। कटे आस्ते। स्थाल्यां पचति। मोक्षे इच्छास्ति। सर्वस्मिन्नात्मास्ति। वनस्य दूरे अन्तिके वा। 'दूरान्तिकार्थेभ्यः-' ( सू० ६०५ ) इति विभक्तित्रयेण सह चतस्रोऽत्र विभक्तयः फलिताः । 'क्तस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसङ्ख्यानम्' ( वा० १४७५ ) । अधीती व्याकरणे । अधीतमनेनेति विग्रहे- 'इष्टादिभ्यश्च' ( सू० १८८८ ) इति कर्तरीनिः । 'साध्वसाधुप्रयोगे च' ( १४८६ ) । साधुः कृष्णो मातरि, असाधुर्मातुले । 'निमित्तात्कर्मयोगे' ( १४९० ) १ निमित्तमिह फलम् । योगः संयोगसमवायात्मकः ।

'चर्मणि द्वीपिनं हन्ति दन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।

केशेषु चमरीं हन्ति सीम्नि पुष्कलको हतः ॥' इति भाष्यम् ।

हेतुतृतीयाऽत्र प्राप्ता तन्निवारणार्थमिदम् । सीमा अण्ड-कोशः । पुष्कलको गन्धमृगः । योगविशेषे किम्? वेतनेन धान्यं लुनाति ।

पद० - सप्तमी 1.1, अधिकरणे 7.1, च- अव्य० ।

अनु० - 'अनभिहिते' का अधिकार है। 'दूरान्तिकार्थेभ्यो द्वितीया च' (पा० 2.3.35) से

'दूरान्तिकार्थेभ्यः' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- दूरवाची व समीपवाची शब्दों से तथा अकथित अधिकरण कारक में सप्तमी विभक्ति होती है। आधार तीन प्रकार का होता है-

औपश्लेषिक- उपश्लेष संयोग को कहते हैं। जहाँ आधेय और आधार का संयोग हो, वहाँ औपश्लेषिक आधार होता है। यह सर्वत्र न होकर एकदेशी हुआ करता है। जैसे।

कटे आस्ते (देवः) । स्थाल्यां यचति - आधार (कट) और आधेय (देव) का एकदेशी संयोग है। अधिकरण सञ्ज्ञा हुई, और अधिकरण में सप्तमी विभक्ति हो गयी।

वैषयिक - विषय से सम्बद्ध आधार वैषयिक कहलाता है । यथा-

मोक्षे इच्छा अस्ति-मोक्ष की अधिकरणसञ्ज्ञा हुई।

अभिव्यापक - जहाँ आधेय आधार के सब अवयवों में व्याप्त रहे, वहाँ अभिव्यापक आधार कहलाता है। यथा- सर्वस्मिन् नात्माऽस्ति। तिलेषु तैलम् अस्ति - अधिकरण सञ्ज्ञा। सप्तमी विभक्ति हुई। वनस्य दूरे-'दूर' शब्द में सप्तमी हुई। वनस्याऽन्तिके-'अन्तिक' शब्द में सप्तमी हुई।

### इति कारकप्रकरणम् ॥

#### स्मरणीय बिन्दु

- संप्रदान देने के उद्देश्य को व्यक्त करता है।
- अपादान अलगाव को सूचित करता है।
- अधिकरण आधार को व्यक्त करता है।
- चतुर्थी संप्रदान की सूचक है।
- पंचमी अपादान को व्यक्त करती है।
- षष्ठी संबंध सूचक है।
- सप्तमी अधिकरण को व्यक्त करती है।

#### ५ अंको का प्रश्न

1. संप्रदान कारक क्या है?
2. अपादान कारक का उदाहरण दीजिए।
3. अधिकरण कारक की परिभाषा लिखिए।
4. चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग बताइए।
5. सप्तमी विभक्ति का महत्व समझाइए।
6. चतुर्थी विभक्ति का प्रयोग बताइए।
7. पंचमी विभक्ति किसे व्यक्त करती है?
8. षष्ठी विभक्ति का महत्व लिखिए।
9. सप्तमी विभक्ति के उदाहरण दीजिए।
10. विभक्तियों का संस्कृत भाषा में महत्व बताइए।

#### १५ अंको का प्रश्न

1. संप्रदान, अपादान एवं अधिकरण कारक का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. संस्कृत भाषा में कारकों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. विभक्ति एवं कारक संबंध का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
4. चतुर्थी, पंचमी, षष्ठी एवं सप्तमी विभक्ति का विस्तृत वर्णन कीजिए।
5. संस्कृत वाक्यों में विभक्ति प्रयोगों की आवश्यकता स्पष्ट कीजिए।

6. विभक्तियों के उदाहरण सहित व्याख्या कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

1. संप्रदान कारक में कौन-सी विभक्ति प्रयुक्त होती है?

- (1) पंचमी
- (2) चतुर्थी
- (3) सप्तमी
- (4) षष्ठी

उत्तर: (2)

2. अपादान कारक में कौन-सी विभक्ति होती है?

- (1) पंचमी
- (2) तृतीया
- (3) द्वितीया
- (4) प्रथम

उत्तर: (1)

3. अधिकरण कारक किस विभक्ति से व्यक्त होता है?

- (1) सप्तमी
- (2) चतुर्थी
- (3) तृतीया
- (4) षष्ठी

उत्तर: (1)

1. षष्ठी विभक्ति किसका बोध कराती है?

- (1) संबंध
- (2) करण
- (3) कर्म
- (4) कर्ता

उत्तर: (1)

2. पंचमी विभक्ति का संबंध किससे है?

- (1) अधिकरण
- (2) अपादान
- (3) कर्म
- (4) कर्ता

उत्तर: (2)

3. सप्तमी विभक्ति किसे व्यक्त करती है?

- (1) स्थान
- (2) संबंध
- (3) कर्म
- (4) साधन

उत्तर: (1)

**शब्दावली-**

- संप्रदान - Recipient
- अपादान - Separation
- अधिकरण- Location Base

- चतुर्थी – Dative
- सप्तमी-Locative
- पंचमी – Ablative
- षष्ठी – Genitive
- संबंध – Relation



### ३- इकाई- समासप्रकरणम् :

उद्देश्य-

1. अव्ययीभाव समास की अवधारणा समझना।
2. समास निर्माण की प्रक्रिया को जानना।
3. संस्कृत समासों की पहचान करना।

( ६४७ ) समर्थः पदविधिः ( २.१.१ )

पदसम्बन्धी यो विधिः स समर्थाश्रितो बोध्यः ।

(पद० - समर्थः 1.1, पदविधिः 1.1)

**व्याख्या** - पदविधि समर्थ पदों के आश्रित होती है। 'पदविधि' का अर्थ है- पदों से सम्बद्ध कार्य। भाष्यकार के अनुसार निम्नलिखित तीन स्थानों पर ही पदविधि होती है।

यथा-

(क) **समास** - देवस्य गृहम्- यहाँ दोनों पद परस्पर सम्बद्ध हैं। अतः पदविधि (अर्थात् समास) होती है।

(ख) **विभक्तिविधान**- विभक्ति भी एक प्रकार की पदविधि है। 'अपादाने पञ्चमी' इत्यादि सूत्रों के द्वारा सामान्य विभक्तियों का नियमन होता है, अतः सम्बद्धार्थता होने से इनमें पदविधि होती है।

(ग) **पराङ्गवद्भाव**- तादात्म्य का अतिदेश ही पराङ्गवद्भाव कहलाता है। यथा- 'सुबामन्त्रिते पराङ्गवत् स्वरे'। इस सूत्र के द्वारा सुबन्त का आमन्त्रित में प्रवेश कर अतिदेश किया गया है अतः यह पदविधि है।

सामर्थ्य दो प्रकार का होता है - (क) **व्यपेक्षाभावसामर्थ्य** - यह सामर्थ्य वाक्य में होता है। क्योंकि वाक्य में सभी-पद परस्पर अपेक्षा रखते हैं। अतः वाक्य में व्यपेक्षाभावसामर्थ्य विद्यमान रहता है।

(ख) **एकार्थीभावसामर्थ्य**- दो या दो से अधिक पदबद्ध मिल कर एक समस्तपद बनाता है। यह समस्तपद एक नवीन अर्थ का बोध कराता है। यहाँ एकार्थीभावसामर्थ्य होता है। अभिप्राय यह है कि एकार्थी- भावसामर्थ्य में पद प्रधान अर्थ के लिए अपने अर्थ को गौण बना लेता है तथा दूसरे अर्थ की अभिव्यक्ति करता है।

( ६४८ ) प्राक्कडारात्समासः ( २.१.३ )

'कडाराः कर्मधारये' (सू० ७५१) इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ।

(पद०- प्राक्-अव्य०, कडारात् ५.१, समासः १.१)

**व्याख्या**- यह अधिकार लक्षण है। 'कडाराः कर्मधारये' (पा० २.२.३८) इस सूत्र तक इसका अधिकार जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि 'कडाराः कर्मधारये' सूत्र से पूर्व-पूर्व तक जो भी कहा जायेगा, उसकी समाससंज्ञा होती है।)

( ६४९ ) सह सुपा ( २.१.४ )

'सह' इति योगो विभज्यते । सुबन्तं समर्थेन सह समस्यते । योगविभागस्येष्टसिद्धयर्थत्वात्क- तिपयतिङन्तोत्तर-पदोऽयं समासः। स च छन्दस्येव । पर्यभूषयत् । अनुव्यचलत् । 'सुपा'। सुप्सुपा सह समस्यते। समासत्वात्प्रातिपदिकत्वम्।

( ६५० ) सुपो धातुप्रातिपदिकयोः ( २.४.७१ )

एतयोरवयवस्य सुपो लुक् स्यात् । इति निर्देशाद् भूतशब्दस्य पूर्वनिपातः । पूर्व भूतो भूतपूर्वः । 'इवेन समासो विभक्तिरलोपश्च' । जीमूतस्येव ।

पद० - सुपः ६.१, धातुप्रातिपदिकयोः ६.२

अनु०- 'ण्यक्षत्रियार्षजितो यूनि लुगणिजोः' (पा० २.४.५८)

से 'लुक्' की अनुवृत्ति है।

अर्थ- धातु और प्रातिपदिक के अवयव सुप् का लुक् होता है। इस निर्देश से 'भूत' शब्द का पूर्वनिपात होता है। (वा०) 'इव' के साथ समास होने पर विभक्ति का लोप नहीं होता है।

( **व्याख्या** ) सूत्रार्थ है- (धातु और प्रातिपदिकसंज्ञक शब्द के अवयवभूत सुप् का लुक् होता है। 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' (पा० १.२.४५)

उदा०- (1) भूतपूर्वः- पूर्व भूतः- पूर्व अम् भूत सु- 'सह सुपा' से समास हुआ। 'कृतद्धितसमासाश्च' (पा० १.२.४६ ), (650)

‘सुपो धातुप्रातिपदिकयोः’ ( पा० २.४.७१ ) – पूर्वभूत- ‘प्रथमानिर्दिष्टं समास०’ से ‘पूर्व’ और ‘भूत’ दोनों की उपसर्जन सञ्ज्ञा होती है। ‘उपसर्जनं पूर्वम्’ ( पा० २.२.३० ) से पर्याण दोनों शब्दों का पूर्वनिपात प्राप्त होता है। ये पक्ष में वाक्य रहेगा-पूर्व भूतः । किन्तु पाणिनिमुनि के निर्देशानुसार ( भूतपूर्वे चटट् ) भूत शब्द का पूर्व निपात हुआ।

(2) जीमूतस्येव – जीमूतस्य इव – जीमूत डस् इव। सुपो धातुप्राति० से विभक्तिलोप प्राप्त हुआ। वार्तिक से निषेध हुआ, सु। तदन्तविधि से समस्तपद की अव्ययसञ्ज्ञा। सु का लुक।

( ६५१ ) अव्ययीभावः ( २.१.५ )

अधिकारोऽयम् ।

पद० अव्ययीभावः 1.1

अनु०- ‘समासः’ का अधिकार आता है।

व्याख्या- यह अधिकार सूत्र है। ‘तत्पुरुषः’ ( पा० २.१.२१ ) तक इसका अधिकार जाता है। अभिप्राय यह है कि पा० २.१.२१ से पूर्व जो कहा जायेगा, उसकी अव्ययीभाव सञ्ज्ञा होती है। और साथ ही इसकी ‘समास’ सञ्ज्ञा भी होती है।

६५२. अव्ययं विभक्तिसमीपसमृद्धिवृद्धयर्थाभावा त्रयासम्प्रतिशब्दप्रादुर्भाव- पश्चाद्यथानुपूर्व्ययौग पद्यसादृश्यसम्पत्तिसा.

कल्यान्तवचनेषु ( २.१.६ )

‘अव्ययम्’ इति योगो विभज्यते । अव्ययं समर्थेन सह समस्यते । सोऽव्ययीभावः ।

पद०-अव्ययम् १.१. विभक्ति वचनेषु ७.३ ।

अनु०- ‘सह सुपा’, ‘समासः’ तथा ‘अव्ययीभावः’ इनका सबका का अधिकार आता है।

व्याख्या- ‘अव्ययम्’ यह प्रथमान्त पद है। ‘सह सुपा’ का अधिकार है। सूत्रार्थ इस प्रकार है-विभक्ति, समीप, समृद्धि, वृद्धि, अथर्थाभाव, अत्यय, असम्प्रति, शब्द प्रादुर्भाव, पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, यौगपद्य, सादृश्य, सम्पत्ति, साकल्य तथा अन्त इन सभी अर्थों में अव्यय शब्द का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है’ और उसकी अव्ययीभावसञ्ज्ञा होती है।

( ६५३ ) प्रथमानिर्दिष्टं समास उपसर्जनम् ( १.२.४३ )

समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनसङ्गं स्यात् ।

( पद० - प्रथमानिर्दिष्टम् 1.1, समासे 7.1, उपसर्जनम् 1.1

व्याख्या- ‘समासे’ समास-विधायक शास्त्र (= सूत्र) में जो प्रथमान्त पद, उसके द्वारा बोध्य शब्द की उपसर्जनसञ्ज्ञा होती है। यथा- प्रकृत सूत्र में ‘अव्ययम्’ यह प्रथमान्त पद है। ‘उपकुम्भम्’ में ‘उप’ शब्द अव्यय शब्द के द्वारा बोध्य है। इसलिए इसकी उपसर्जनसञ्ज्ञा होकर इसका पूर्वनिपात हो गया ।

( ६५४ ) उपसर्जनं पूर्वम् ( २.२.३० )

समासे उपसर्जनं प्राक्प्रयोजम्।

पद० - उपसर्जनम् 1.1, पूर्वम् 1.1

अनु०- ‘प्राक्कडारात् समासः’ से ‘समासः’ की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - समास में उपसर्जन-सञ्ज्ञक पद का पहले प्रयोग किया जाता है। इसको ही शब्द का पूर्वनिपात कहते हैं।

( ६५७ ) नाव्ययीभावादतोऽम्त्वपञ्चम्याः ( २.४.८३ )

अदन्तादव्ययीभावात्सुपो न लुक्, किन्तु तस्य पञ्चमीं विना अमादेशः । दिशयोर्मध्येऽपदिशम् । ‘क्लीबव्ययं त्वपदिशं दिशोर्मध्ये विदिक् स्त्रियाम्’ - इत्यमरः ।

पद०-न-अव्य०, अव्ययीभावात् 5.1, अतः 5.1. अम् 1.1, तु-अव्य०, अपञ्चम्याः 6.1

अनु० - ‘अव्ययादाप्युपः’ ( पा० 2.4.82 ) से ‘सुपः’ का तथा ‘ण्यक्षत्रियार्षजितो यूनि०’ ( पा० 2.4.58 ) से ‘लुक्’ की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- सूत्र में ‘अतः’ ये पद ‘अव्ययीभावात्’ का विशेषण है। इससे तदन्तविधि होकर ‘अदन्तात्’ पद बन जाता है। ‘अतः’ में तपरकरण तत्काल के ग्रहण के लिए किया है। ‘अत्’ का अर्थ होगा-ह्रस्व अकार। अनुवृत्त ‘सुपः’ षष्ठ्यन्त पद है। यहाँ स्थानेयोगा षष्ठी विभक्ति है। ‘सुपः’ पद का ‘अव्ययीभावात्’ के साथ अन्वय होता है। ‘अपञ्चम्याः’ यह प्रतिषेध है। ‘सुपः’ पद की आवृत्ति करके सूत्र का अर्थ इस प्रकार होता है ह्रस्व अकारान्त (अदन्त) अव्ययीभाव समास से उत्तर सुप् का लुक् नहीं होता अपितु। सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है, पञ्चमी विभक्ति को छोड़कर उसका तो श्रवण ही होता है।

उदा०- अपदिशम् - दिशयो मध्ये। दिशा ओस् अपसु। 'अव्ययं विभक्तिसमीपं' (पा० २.१.६) से समास । 'कृत्तद्धितसमासाश्च' (पा० १.२.४६)। 'सुपोधातु- प्राति०' (पा० २.४.७१)। 'एकविभक्ति चाऽपूर्वनिपाते' (पा० १.२.४४) से 'दिशा' की उपसर्जनसञ्ज्ञा। गोस्त्रियोरुपसर्जस्य अपदिश सु-अव्ययीभावश्च । 'सु' का 'अव्ययादाप् सुप्' से लुक् प्राप्त हुआ। परन्तु अदन्त अव्ययीभाव (अपदिश) से उत्तर सु के लुक् का प्रकृत सूत्र से निषेध हो गया । अम् आदेश। 'अमि पूर्वः' (पा० ६.१.१०७) से पूर्वरूप एकादेश होकर अपदिशम्।

(ख) 'अपञ्चम्याः' ग्रहण का प्रयोजन है कि अदन्त अव्ययीभाव समास के उत्तर सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है परन्तु पञ्चमी का न तो लुक् होता है और न ही सुप् के स्थान पर अम् आदेश होता है। उसका ताश्रवण ही होता है। यथा- उपकुम्भादानया उपकुम्भा। अदन्त अव्ययीभाव है। इससे पर 'डडसि' सुप् का लुक् प्राप्त हुआ किन्तु। 'अपञ्चम्याः' प्रतिषेध से न तो डसि का लुक् हुआ और नहीं इसके स्थान पर अम् आदेश होता है अपितु पञ्चमी का श्रवण होता है। टाडसिडसामिनात्स्याः ।)

( ६५८ ) तृतीयासप्तम्योर्बहुलम् ( २.४.८४ )

अदन्तादव्ययीभावात्तृतीयासप्तम्योर्बहुलमम्भावः स्यात्। अपदिशम्-अपदिशेन। अपदिशम् अपदिशे। बहुलग्रहणात् सुमद्रम्, उन्मत्तगङ्गम् इत्यादौ सप्तम्याः नित्यमम्भावः । 'विभक्ति' इत्यादेरयमर्थः । विभक्त्यर्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन सह समस्यते, सोऽव्ययीभावः । विभक्तौ तावत् हरौ इत्यधिहरि। सप्तम्यर्थस्यैवात्र द्योतकोऽधिः। हरि डि अधि इत्यलौकिकं विग्रहवाक्यम्। अत्र निपातेनाभिहितेऽप्यधिकरणे वचनसामर्थ्यात्सप्तमी।

पद० - तृतीयासप्तम्योः ६.२, बहुलम् १.१

अनु० - नाऽव्ययीभावादतोऽम्०' ( पा० २.४.८३ ) से 'अतः', 'अम्' तथा 'अव्ययीभावात्' पदों की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- अदन्त अव्ययीभाव से उत्तर तृतीया और सप्तमी के सुप् के स्थान पर बहुल करके अम् आदेश होता है।

उदा०- अपदिशम् - दिशोर मध्ये- इस अर्थ में समास होकर 'अपदिश' शब्द बनता है। अपदिश टा- यहाँ लुक् प्राप्त है। इस स्थिति में 'नाऽव्ययीभावाद०' ( पा० २.४.८३ ) से लुक् का निषेध होकर 'नाऽव्ययीभावाद०' से अम् आदेश हुआ। अपदिशेन- 'बहुलम्' ग्रहण से अम् की अप्रवृत्ति हुई। 'टाडसिडसामिनात्स्याः' ( पा० ७.१.१२ ) से इन आदेश हो गया। अपदिशम्- अपदिश डि-प्राप्त अम् आदेश का प्रकृत से बहुलतया प्राप्ति। अम्पक्ष। अपदिशे- अम् अमाव पक्ष में 'आद्गुण' । सुमद्रम्- सुमद्र डि-बहुलग्रहणात् से नित्य अम्। उन्मत्तगङ्गम्-डि - बहुलग्रहणात् नित्य अम्। यथा- उन्मत्ता गङ्गा यस्मिन्। अधिहरि-हरौ इति। यहाँ विभक्ति के अर्थ में समास हुआ है। 'अव्ययं विभक्तिसमीपं' ( पा० २.१.६ ) सूत्र में विभक्त्यर्थ से अभिप्राय कारक से है। परन्तु यहाँ सभी कारकों का ग्रहण नहीं होता है, अपितु केवल अधिकरण ही इष्ट है। हरि डि- अधिकरण अर्थ में 'अधि' हुआ। हरि अधि-समास। सुप्लुक् । अधि की उपसर्जनसञ्ज्ञा। उपसर्जन का पूर्वनिपात- अधि हरि - 'अव्ययीभावः' ( पा० २.१.५ ), सु, लुक् ।

( ६६२ ) यावदवधारणे ( २.१.८ )

यावन्तः श्लोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामाः यावच्छ्लोकम् ।

पद० - यावत्-अव्य०, अवधारणे ७.१

अनु०- सुप्, समासः, अव्ययम्, सह, सुपा, अव्ययी

भावः- इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या- इयत्तापरिच्छेद अर्थ में वर्तमान 'यावत्' अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव सञ्ज्ञक होता है।

उदा०-यावच्छ्लोकम् - यावन्तः श्लोकास्तावन्तो- ऽच्युतप्रणामाः 'यावत्' का पूर्वनिपात होकर यावत् छ्लोक-यावच्छ्लोक - 'शश्छोऽटि, 'स्तोः श्चुना श्चुः'। सु। अव्ययीभावश्च । अव्ययादाप्०, नाऽव्ययी० । अमि पूर्वः इत्यादयः।

( ६६३ ) सुप्प्रतिना मात्रार्थे ( २.१.९ )

शाकस्य लेशः शाकप्रति । मात्रार्थे किम्? वृक्षं प्रति विद्योतते विद्युत् ।

पद० - सुप् १.१, प्रतिना ३.१, मात्रार्थे ७.१

अनु० - समासः, सह, सुपा, अव्ययीभावः- इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'मात्रा' का अर्थ है- स्वल्प। स्वल्प अर्थ में वर्तमान प्रति शब्द का समर्थ सुबन्त के साथ समास होता है और वह अव्ययीभाव समास होता है।

उदा०- शाकप्रति- शाकस्य लेशः। स्वल्प अर्थ में वर्तमान प्रति का समास हुआ। समर्थ सुबन्त 'शाकस्य' का पूर्वनिपात होकर शाक डस् प्रति- प्रातिपदिक सञ्ज्ञा, सुक्लुक् अव्ययसञ्ज्ञा, नपुंसकलिङ्ग- शाकप्रति सु 'अव्ययादाप्सुपः' इति सुलुक्' ।

( ६६५ ) विभाषा ( २.१.११ )

अधिकारोऽयम् । एतत्सामर्थ्यादेव प्राचीनानां नित्य समासत्वम् । 'सुप्सुपा' इति तु न नित्यसमासः, 'अव्ययम्' इत्यादि दसमासविधानज्ञापकात् ।

पद० - विभाषा 1.1

व्याख्या-यह अधिकारसूत्र है। यहाँ से समासविधि का विकल्प प्रारम्भ होता है। यह 'चार्थे द्वन्द्वः' ( पा० २.२.२९ ) पर्यन्त अधिकार आता है। प्रकृत सूत्र से पूर्व समासविधि नित्य होती है। परन्तु सुप्सुपा समास नित्य नहीं है। इसमें 'अव्ययं विभक्ति०' ( पा० २.१.६ ) सूत्र प्रमाण है। यदि 'सह सुपा' के द्वितीय योग 'सुपा' से विधीयमान समास नित्य होता तो नित्यसमासार्थ 'अव्ययं विभक्ति०' सूत्र व्यर्थ होता है। यह व्यर्थ होकर ज्ञापित करता है कि 'सह सुपा' से विधीयमान समास नित्य नहीं है। प्रकृत सूत्र को महाविभाषा कहा जाता है। अतः पक्ष में वाक्य भी रहता है।

( ६६७ ) आङ् मर्यादाऽभिविध्योः ( २.१.१३ )

एतयोराङ् पञ्चम्यन्तेन वा समस्यते सोऽव्ययीभावः । आमुक्ति संसारः आ मुक्तेः । आबालं हरिभक्तिः-आ बालेभ्यः ।

पद० - आङ् १.१, मर्यादाऽभिविध्योः ७.२

अनु०- विभाषा, पञ्चम्या, सुप, सह, सुपा, समासः, अव्ययीभावः की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- मर्यादा और अभिविधि- इन दो अर्थों में वर्तमान 'आङ्' अव्यय का पञ्चम्यन्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभाव सञ्ज्ञक होता है।

उदा०- आमुक्ति-आ मुक्तेः । मर्यादा अर्थ है। समास हुआ। 'आङ्' का पूर्वनिपात। अव्ययसञ्ज्ञा, सु, 'अव्ययादाप्सुपः' ( पा० २.४.८२ ) सुलुक् ।

आबालम्-आ बालेभ्यः। अभिविधि अर्थ है। शेष पूर्ववत्। आ बाल सु 'अव्ययादाप्', 'नाऽव्ययी-भावादतोऽम्' ( पा० 2.4.83 )। 'अमि पूर्वः' ( पा० ६.१.१०५ )। पक्ष में वाक्य रहता है।

( ६७३ ) सङ्ख्या वंश्येन ( २.१.१९ )

वंशो द्विषा, विद्यया जन्मना च। तत्र भवो वंश्यः । तद्वाचिना सह सङ्ख्या वा समस्यते। द्वौ मुनी वंश्यौ द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां त्रिमुनि व्याकरणम् । एकविंशति भारद्वाजम् ।

पद० - सङ्ख्या 1.1, वंश्येन 3.1

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, अव्ययीभावः, विभाषा ।

व्याख्या- वंश द्विविधा होता है- एक विद्या से और दूसरा जन्म से। वंश में होने वाला 'वंश्य' कहलाता है। वंश्यवाची समर्थ सुबन्त के साथ संख्यावाची सुबन्त का विकल्प से समास होता है और वह अव्ययीभाव समास होता है।

उदा०- द्विमुनि (व्याकरणम्) द्वौमुनी व्याकरणस्य वंश्यौ। द्विमुनि- 'प्रथमानिर्दिष्ट' ( पा० १.२.४३ ) से 'द्वि' की उपसर्जनसञ्ज्ञा होकर उसका पूर्वनिपात हुआ। सु, अव्ययसञ्ज्ञा, 'अव्ययादाप्सुपः' ( पा० २.४.८२ ) इति सुलुक् । त्रिमुनि- त्रयो मुनयो व्याकरणस्य । पूर्ववत् समासादि कार्य। एकविंशति ( भारद्वाजम् ) - एकविंशतिर् भारद्वाजा वंश्याः - 'तृतीयासप्तम्योर् बहुलम्' ( पा० २.४.८४ ) के भाष्य में उपकादि में भरद्वाज शब्द पठित है। 'यञञोश्च' ( पा० २.४.६४ ) से लुक् का अभाव है। परन्तु विग्रह में लुक् हुआ है।

स्मरणीय बिन्दु

- समास शब्दों का संक्षिप्त रूप है।
- अव्ययीभाव समास में अव्यय प्रधान होता है।
- समास भाषा को सरल एवं प्रभावशाली बनाता है।

५ अंको का प्रश्न

1. अव्ययीभाव समास क्या है?
2. अव्ययीभाव समास के उदाहरण दीजिए।
3. समास की परिभाषा लिखिए।
4. समास का महत्व बताइए।
5. अव्ययीभाव समास की विशेषताएँ लिखिए।

### १५ अंको का प्रश्न

1. अव्ययीभाव समास का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. संस्कृत भाषा में समासों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. अव्ययीभाव समास के उदाहरण सहित विवेचन कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. अव्ययीभाव समास में कौन प्रधान होता है?

- (1) पूर्वपद
- (2) उत्तरपद
- (2) क्रिया
- (3) विशेषण

उत्तर: (1)

2. समास का उद्देश्य क्या है?

- (1) वाक्य विस्तार
- (2) संक्षेप
- (3) अलंकार
- (4) छंद

उत्तर: (2)

3. 'यथाशक्ति' कौन-सा समास है?

- (1) द्वंद्व
- (2) बहुव्रीहि
- (3) अव्ययीभाव
- (4) तत्पुरुष

उत्तर: (3)

### शब्दावली-

- समास - Compound
- अव्यय -Indeclinable
- प्रधान - Principal
- पूर्वपद - First Member
- उत्तरपद - Second Member

## इकाई-४ अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्

उद्देश्य-

1. तत्पुरुष समास का ज्ञान प्राप्त करना।
2. तत्पुरुष समास के भेदों को समझना।
3. समास विग्रह करना सीखना।

( ६८४ ) तत्पुरुषः ( २.१.२२ )

अधिकारोऽयम् । प्राग्बहुव्रीहेः ।

पद० - तत्पुरुषः १.१

व्याख्या- यहां 'समासः' का अधिकार आता है। यह अधिकार 'शेषो बहुव्रीहिः' ( पा० २.२.२३ ) सूत्र तक जाता है। भाव यह है कि 'शेषो बहुव्रीहिः' से पूर्व-पूर्व जो कहा जायेगा उसकी तत्पुरुष सञ्ज्ञा होती है। यह अधिकारसूत्र व सञ्ज्ञासूत्र दोनों हैं सात प्रकार का तत्पुरुष समास होता है।

( ६८६ ) द्वितीया श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः ( २.१.२४ )

द्वितीयान्तं श्रितादिप्रकृतिकैः सुबन्तैः सह वा समस्यते स तत्पुरुषः । कृष्णं श्रितः कृष्णश्रितः। दुःखमतीतो दुःखातीतः इत्यादि । 'गम्यादीनामुपसङ्ख्यानम्' ( वा० १२०७ ) । ग्रामं गमी ग्रामगमी। अन्नं बुभुक्षुः अन्नबुभुक्षुः । ३.३

पद० - द्वितीया १.१, श्रितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा-

इन सबका अधिकार आता है।

व्याख्या - द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त का श्रित, अतीत, पतित, गत, अत्यस्त, प्राप्त और आपन्न - प्रकृतियों वाले इन समर्थ सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है।

उदा०- कृष्णश्रितः - कृष्णं श्रितः- 'द्वितीया श्रितातीत०' ( पा० २.१.२४ ), 'कृत्तद्धितसमासाथ' ( पा० १.२.४६ ), 'सुपो धातुप्राति०' ( पा० २.४.७१ )-कृष्णश्रित- प्रकृत सूत्र में 'द्वितीया' पद प्रथमान्त है। इसके द्वारा 'कृष्णम्' यह बोध्य है। अतः 'प्रथमानिर्दिष्ट०' ( पा० १.२.४३ ) कृष्ण की से उपसर्जनसञ्ज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० ), तत्पुरुषः, सु विसर्जनीय ।

गम्यवादी० ( वा० ) 'गम्यादीनाम्' पद की विभक्ति-विपरिणाम के द्वारा तृतीयान्त ( गम्यादिभिः ) बना लिया जाता है। यहाँ 'द्वितीया' तथा 'तत्पुरुषः' की अनुवृत्ति है। अर्थ इस प्रकार है- द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त का गामिन् आदि प्रकृति वाले समर्थ सुबन्तों के साथ समास होता है और वह तत्पुरुष होता है। ग्रामगमी- ग्रामं गमी वार्तिक से समास होकर शेष पूर्ववत् होता है। अन्नबुभुक्षुः - अन्नं बुभुक्षुः गम्यादि गण में बहुत शब्द हैं - यथा ओदनबुभुक्षुः ग्रामगामी। मधुपिपासुः। गुरुशुश्रूषु इत्यादि।

( ६९० ) कालाः ( २.१.२८ )

'क्तेन' इत्येव । अनत्यन्तसंयोगार्थं वचनम्। मासप्रमितः प्रतिपच्चन्द्रः ।

मासं परिच्छेत्तुमारब्धवानित्यर्थः।

पद०- कालाः १.३

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, विभाषा, तत्पुरुषः- इन सबका अधिकार आता है। 'द्वितीया श्रितातीत०' ( पा० २.१.२३ ) से 'द्वितीया' की तथा 'स्वयं तेन' ( पा० २.१.२४ ) से 'क्तेन' की अनुवृत्ति आती है।

व्याख्या-कालवाची द्वितीयान्त सुबन्त का क्तप्रत्ययान्त समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०- मासप्रमितः ( प्रतिपच्चन्द्रः ) - मासे परिच्छेत्तुम् आरब्धवान् । मासं प्रमितम् - समास हुआ। प्रतिपद् के चन्द्रमा के द्वारा क्रमशः मास वृद्धि को प्राप्त होता है। प्रतिपद् का चन्द्रमा मास भर नहीं रहता। अतः अत्यन्त संयोग नहीं है इसलिये समास हो गया ।

( ६९१ ) अत्यन्तसंयोगे च ( २.१.२९ )

'काला' इत्येव । अक्तान्तार्थं वचनम्। मुहूर्तं सुखम् मुहूर्तसुखम् ।

पद० - अत्यन्तसंयोगे ७.१, च-अव्य० ।

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा-इन सबका अधिकार आता है। 'कालाः' ( पा० २.१.२७ ) से 'कालाः' का तथा 'द्वितीया श्रितातीतपतित०' ( पा० २.१.२३ ) से 'द्वितीया' की अनुवृत्ति है।



**व्याख्या** - अत्यन्त संयोग अर्थ गम्यमान हो तो कालवाची द्वितीयान्त समर्थ सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है। यहाँ 'क्तेन' की अनुवृत्ति नहीं आती है। अतः यह विधान अक्तान्त के लिए किया है।

**उदा०-** मुहूर्त्सुखम् - मुहूर्त् सुखम् - समास हुआ।

( ६९२ ) तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन ( २.१.३० )

'तत्कृत' इति लुप्ततृतीयाकम्। तृतीयान्तं तृतीयान्तार्थ-कृतगुणवचनेनार्थशब्देन च सह

प्राग्वत्। शङ्कुलया खण्डः शङ्कुलाखण्डः धान्येनार्थो धान्यार्थः तत्कृत' इति किम्? अक्षणा काणः।

**पद०-** तृतीया १.१, तत्कृत-लुप्ततृतीयान्तकरुपम्, अर्थेन ३.१, गुणवचनेन ३.१

**अनु०** - सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा की अनुवृत्ति है।

**अर्थ** - तृतीयान्त जो सुबन्त शब्द, उसके अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट द्रव्यवाची सुबन्त के साथ तथा सुबन्त 'अर्थ' शब्द के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है।

**उदा०-** शङ्कुलाखण्डः - 'शङ्कुलया खण्डः' - यहाँ

'कर्तृकरणयोस्तृतीया' ( पा० २.३.१८ ) से तृतीया विभक्ति हुई। शङ्कुला के द्वारा भेदनक्रिया रूप गुण है। तद्विशिष्ट खण्ड द्रव्य है।

पा० ५.२.९४ से मतुप् प्रत्यय हुआ। 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुक्' ( पा० ५.२.९४ वा० ) से मतुप् प्रत्यय का लुक्, समास, सुब्लुक् शङ्कुलाखण्ड- 'प्रथमानिर्दिष्टं' ( पा० १.२.४३ ), 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० ), सु विसर्जनीय।

**धान्यार्थः-** धान्येनाऽर्थः। 'हेतौ' से तृतीया विभक्ति, समास। पूर्ववत् बस कार्य।

( क ) 'तत्कृत' का प्रयोजन यह है कि तृतीयान्त के अर्थ के द्वारा सम्पादित जो गुण, तद्विशिष्ट पदार्थ के वाचक सुबन्त के साथ ही समास होता है अन्यत्र नहीं। यथा-अक्षणा काणः- अतः यहाँ समास नहीं हुआ।

( ६९७ ) भक्ष्येण मिश्रीकरणम् ( २.१.३५ )

गुडेन धानाः गुडधानाः। मिश्रणक्रियाद्वारा सामर्थ्यम्।

**पद०** - भक्ष्येण ३.१, मिश्रीकरणम् १.१

**अनु०** - सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, तृतीया, विभाषा की अनुवृत्ति आती है।

**व्याख्या-**मिश्रीकरणवाची तृतीयान्त सुबन्त का भक्ष्यवाची सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

**उदा०-** गुडधानाः- गुडैर् मिश्रा धानाः। मिश्रीकरण-वाची 'गुडैः' सुबन्त का भक्ष्यवाची 'धानाः' सुबन्त के साथ समास हो गया। 'प्रथमानिर्दिष्टं' ( पा० १.२.४३ ), 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० ) - गुडधाना जस्।

( ६९८ ) चतुर्थी तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ( २.१.३६ )

चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिनार्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्तं वा प्राग्वत्। तदर्थेन प्रकृतिविकृतिभाव एव गृह्यते, बलिरक्षित ग्रहण गज्जापकात्। यूपाय दारु यूपदारु। नेह-रन्धनाय स्थाली। अश्वघासादयस्तु षष्ठी-समासाः। 'अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति वक्तव्यम्' ( वा० १.२.७३-१.२.७४। द्विजायायं द्विजार्थः सूपः। द्विजार्था यवागूः। द्विजार्थ पयः। भूतबलिः। गोहितम्। गोसुखम्। गोरक्षितम्।

**पद०-** चतुर्थी १.१. तदर्थार्थबलिहितसुखरक्षितैः ३.३

**अनु०-** सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा।

**व्याख्या-**चतुर्थ्यन्त सुबन्त का तदर्थ, अर्थ, बलि, हित, सुख, एवं रक्षित प्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष होता है। पक्ष में वाक्य रहता है। 'तस्मै इदं तदर्थम्' अर्थात् उस (चतुर्थ्यन्त) के लिए।

**अर्थेन ( वा० )-** चतुर्थी, सह, सुपा-इनकी अनुवृत्ति है। चतुर्थ्यन्त सुबन्त का अर्थप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ नित्य समास होता है तथा विशेष्यलिङ्गता (अर्थात् विशेष्य के अनुसार लिङ्ग) होती है।

**उदा०-**यूपदारु- यूपाय दारु। यूप दारु सु-चतुर्थ्यन्त सुबन्त (यूपाय) का चतुर्थ्यन्त अर्थ दारु प्रकृति वाले (दारु) सुबन्त के साथ विकल्प से समास हुआ और ('परवल्लिङ्गं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः' (पा० २.४.४२) से नपुंसकलिङ्ग हो गया। द्विजार्थः (सूपः) द्विजार्था (यवागूः)

( ६९९ ) पञ्चमी भयेन ( २.१.३७ )

चोराद्भयं चोरभयम्। 'भयभीतभीतिभीभिरिति वाच्यम्' ( वा० १.२.७५ )। वृकभीतः। वृकभीतिः। वृकभीः।

**पद०-** पञ्चमी १.१, भयेन ३.१

**अनु०-** सुए, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा की अनुवृत्ति है।



**व्याख्या-** पञ्चम्यन्त सुबन्त का भयप्रकृतिक समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है। और वह तत्पुरुष समास होता है। 'भय' शब्द के द्वारा स्वरूप का ग्रहण होता है, अर्थ का नहीं। अतः 'सिंहात् त्रासः' में समास नहीं होता है।

**भयभीतभीति० ( वा० )** - पञ्चम्यन्त सुबन्त का भीत, भीति, भी-प्रकृतियों से युक्त सुबन्त के साथ समास होता है।

**उदा०-** चोरभयम्-चोराद् भयम् चोर डसि सु समास, प्रातिपदिक सञ्ज्ञा वृकभीतः - वृकाद् भीतः - वार्त्तिक से समास हुआ।

**स्मरणीय बिन्दु-**

- तत्पुरुष में उत्तरपद प्रधान होता है।
- समास विग्रह अर्थ स्पष्ट करता है।
- तत्पुरुष समास संस्कृत में अत्यंत महत्वपूर्ण है।

**५ अंको का प्रश्न**

1. तत्पुरुष समास की परिभाषा लिखिए।
2. तत्पुरुष समास के उदाहरण दीजिए।
3. समास विग्रह क्या है?
4. समास के प्रकार बताइए।
5. तत्पुरुष समास का महत्व लिखिए।

**१५ अंको का प्रश्न**

1. तत्पुरुष समास का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिए।
2. तत्पुरुष समास के विभिन्न भेदों को समझाइए।
3. उदाहरण सहित समास विग्रह कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

1. तत्पुरुष समास में कौन प्रधान होता है?
  - (1) पूर्वपद
  - (2) उत्तरपद
  - (3) दोनों
  - (4) कोई नहीं

उत्तर: (2)

2. 'राजपुत्र' कौन-सा समास है?
  - (1) बहुव्रीहि
  - (2) द्वंद्व
  - (3) तत्पुरुष
  - (4) अव्ययीभाव

उत्तर: (3)

3. समास विग्रह का अर्थ क्या है?
  - (1) शब्द जोड़ना
  - (2) शब्द अलग करना
  - (3) छंद बनाना
  - (4) वाक्य बदलना

उत्तर: (2)

**शब्दावली-**

- तत्पुरुष - Determinative Compound
- विग्रह - Separation
- प्रधान - Dominant
- संयुक्त - Combined
- अर्थ - Meaning

## 4.१- इकाई- समासप्रकरणम्

उद्देश्य-

1. षष्ठी तत्पुरुष समास को समझना।
2. समास विग्रह की प्रक्रिया सीखना।
3. संस्कृत वाक्यों में समास पहचानना।

( ७०२ ) षष्ठी ( २.२.८ )

राज्ञः पुरुषो राजपुरुषः ।

पद ० - षष्ठी १.१

अनु० - सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - षष्ठ्यन्त समर्थ सुबन्त का सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०- राजपुरुष राज्ञः पुरुषः। राजन् डस् पुरुष सु-प्रकृत सूत्र से समास हुआ। सूत्र में 'षष्ठी प्रथमान्त है। तद्बोध्य 'राज्ञः' की उपसर्जन सञ्ज्ञा, 'उपसर्जन पूर्वम्' ( पा० २.१.३० ) - राजन् पुरुष 'कृत्तद्धितसमासाश्च' ( पा १.२.४६ ), 'सुपो धातुप्राति०' ( पा० २.४.७१ ), अन्तर्वर्तिनी विभक्ति को मानकर प्रत्ययलक्षणेन पदसञ्ज्ञा, 'नलोपः प्राति०' ( पा० ८.२.७ )- राज पुरुष सु विसर्जनीय।

( ७०४ ) न निर्धारणे ( २.२.१० )

निर्धारणे या षष्ठी सा न समस्यते। नृणां द्विजः श्रेष्ठः । 'प्रतिपदविधाना षष्ठी न समस्यत इति वाच्यम्' ( वा० १३२० )

। सर्पिषो ज्ञानम् ।

पद०-न-अव्य०, निर्धारणे ७.१

अनु०-सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, षष्ठी इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या - निर्धारण अर्थ में वर्तमान को षष्ठी विभक्ति, तदन्त समर्थ सुबन्त का सुबन्त के साथ समास नहीं होता है।

( वा० ) प्रतिपद विधान वाली षष्ठी विभक्ति का समास नहीं होता है। 'षष्ठी शेषे' से विहित षष्ठी को छोड़कर सूत्रविशेष के द्वारा विधीयमाना षष्ठी प्रतिपदधियाना कहलाती है।

उदा०- नृणां द्विजः श्रेष्ठः- सञ्ज्ञा, जाति, गुण अथवा क्रिया के आधार पर अनेक में से एक को पृथक् करना निर्धारण कहलाता है। सर्पिषो ज्ञानम् 'ज्ञोऽविदर्थस्य०' ( पा० 2.3.51 ) से षष्ठी विभक्ति हुई है। यह प्रतिपदविधाना षष्ठी है। अतः समास नहीं हुआ।

( ७०८ ) कर्मणि च ( २.२.१४ )

'उभयप्राप्तौ कर्मणि' ( सू० ६२४ ) इति या षष्ठी सा न समस्यते । आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन।

पद०-कर्मणि ७.१, च-अव्य० ।

अनु०- सुप्, सह, सुपा, समासः, षष्ठी, इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या 'उभयप्राप्ती कर्मणि' ( पा० २.३.६६ ) सूत्र के द्वारा कर्म अर्थ में विहित जो षष्ठी, तदन्त सुबन्त का समर्थ सुबन्त के साथ समास नहीं होता है।

उदा०- आश्चर्यो गवां दोहोऽगोपेन- 'गवाम्' में कर्म में षष्ठी हुई है। अतः 'दोहः' इस सुबन्त के साथ षष्ठ्यन्त 'गवाम्' का समास नहीं हुआ।

( ७१७ ) सप्तमी शौण्डैः ( २.१.४० )

सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्राग्वद्वा । अक्षेषु शौण्डः अक्षशौण्डः । अधिशब्दोऽत्र पठ्यते । 'अध्युत्तरपदात्-' ( सू० २०७९ ) इति खः । ईश्वराधीनः ।

पद० - सप्तमी १.१, शौण्डैः ३.३

अनु०- सुप, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या - शौण्ड आदि प्रकृतियों से युक्त सुबन्त शब्दों के साथ सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है और वह सप्तमी तत्पुरुष होता है। शौण्डः यहाँ बहुवचन के निर्देश से इसका (शौण्डादि) तदादिगण होना सूचित होता है।

उदा०- अक्षशौण्डः- अक्षेषु शौण्डः । 'सप्तमी' प्रथमान्त पद है। तद्बोध्य पद 'अक्षेषु' को 'प्रथमा-निर्दिष्टं' ( पा० १.२.४३ )

से उपसर्जनसञ्ज्ञा। 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० )। 'कृत्तद्धितसमासाश्च' ( पा० १.२.४६ ), 'सुपो धातुप्राति०' ( पा० २.४.७१ ) विभक्ति लुक्।

( ७१९ ) ध्वाङ्क्षेण क्षेपे ( २.१.४२ )

ध्वाङ्क्षवाचिना सह सप्तम्यन्तं समस्यते निन्दायाम्। तीर्थे ध्वाङ्क्ष इव तीर्थध्वाङ्क्षः। तीर्थकाकः।

पद० - ध्वाङ्क्षेण ३.१ क्षेपे ७.१

अनु० सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा, सप्तमी इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या - निन्दा अर्थ में वर्तमान ध्वाङ्क्षवाची सुबन्त के साथ सप्तम्यन्त सुबन्त का विकल्प से समास होता है और व तत्पुरुष समास होता है। 'ध्वाङ्क्षेण' में अर्थ का ग्रहण होता है स्वरूप का नहीं।

उदा० - तीर्थध्वाङ्क्षः - तीर्थे ध्वाङ्क्षः - पूर्ववत् सभी कार्य होकर।

( ७२४ )

( २.१.४७ )

सप्तम्यन्तं क्तान्तेन प्राग्वन्निन्दायाम् । 'अवतप्तेनकुल स्थितं त एतत्' ।

पद० - क्षेपे ७.१

अनु०- सुप् सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा, क्तेन, सप्तमी इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या- निन्दा अर्थ में वर्तमान सप्तम्यन्त समर्थ सुबन्त का क्तप्रत्ययान्त सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०- अवतप्तेनकुलस्थितम्- 'अवतप्ते' सप्तम्यन्त सुबन्त का क्त प्रत्ययान्त सुबन्त (नकुलस्थितम्) के साथ समास हुआ। 'तत्पुरुषे कृति बहुलम्' ( पा० ६.३.१४ ) से सुप् का उत्तरपद के परे रहते अलुक् होगया ।

७३६ ) विशेषणं विशेष्येण बहुलम् ( २.१.५७ )

भेदकं समानाधिकरणेन भेदेन बहुलं प्राग्वत् । नीलमुत्पलं-नीलोत्पलम् । बहुलग्रहणात् क्वचिन्नित्यम्-कृष्णसर्पः । क्वचिन्न-र. णो जामदग्न्यः ।

पद० - विशेषणम् १.१, विशेष्येण ३.१, बहुलम् २.१

अनु०- सह, सुपा, सुप्, समासः, तत्पुरुषः, समानाधि करणेन इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या- भेदक विशेषण को कहते हैं और भेद्य विशेष्य को कहते हैं । विशेषण (भेदक) सुबन्त का समानाधिकरण विशेष्य (भेद्य) सुबन्त के साथ बहुलता से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है। 'बाहुलम्' कथन से कहीं नित्य, कहीं विकल्प और कही समास की प्रवृत्ति नहीं होती है।

उदा०- नीलोत्पलम्- नीलम् उत्पलम् । समास, सुप् लुक् गुणादेश सु को अमादेश होकर।

( ७४० ) सम्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः ( २.१.६१ )

सद्वैद्यः । वक्ष्यमाणेन महतः आकारः । महावैयाकरणः । पूज्यमानैः किम् ?

उत्कृष्टो गौः । पङ्कादुद्धत इत्यर्थः ।

पद० - सम्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः १.३, पूज्यमानैः ३.३

अनु०- सुप्, सह, सुपा, समासः, तत्पुरुषः, विभाषा, समानाधिकरणेन इनकी अनुवृत्ति है।

व्याख्या- सत्, महत्, परम, उत्तम और उत्कृष्ट-इन प्रकृतियों से युक्त सुबन्तों का समानाधिकरण पूजा के योग्य अर्थ में वर्तमान सुबन्तों के साथ विकल्प से समास होता है और वह तत्पुरुष समास होता है।

उदा०- सद्वैद्यः- सन् वैद्यः- 'कृत्तद्धितसमा साश्च' ( पा० १.२.४६ ), 'प्रथमानिर्दिष्टं' ( पा० १.२.४३ ), 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० ), 'सुपो धातुप्राति०' ( पा० २.४.७१ ), सु, 'झलां जशोऽन्ते' ( पा० ८.२.३९ )। इत्यादि कार्य हुये। महावैयाकरणः - महांश्चाऽसौ वैयाकरणः । महत् वैयाकरण- 'आन्महतः समानाधिकरणं' ( पा० ६.३.४६ ) से उत्तरपद परे रहते आकार आदेश- महावैयाकरणः । परमपुरुषः । उत्तमपुरुषः । उत्कृष्टपुरुषः

( ७५६ ) नञ् ( २.२.६ )

नञ्सुपा सह समस्यते ।

अनु० सुप् सह सुपा समासः सत्पुरुष विभाषा की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- नञ् का समर्थ सुबन्त के साथ विकल्प से समास होता है और यह तत्पुरुष होता है।

नञ् के कारकी हलन्त्यम्' से इत्सञ्ज्ञा हो जाती है।

( ७५७ ) नलोपो नञ् : ( ६.३.७३ )

नञो नस्य लोपः स्यादुत्तरपदे । न ब्राह्मणोऽब्राह्मणः ।

पद०- न-लुप्तषष्ठ्यन्तरूपम्, लोपः १.१. नमः ६.१

अनु०- 'अलुगुत्तरपदे' ( पा० ६.३.१ ) से 'उत्तरपदे' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- अर्थ- उत्तरपद परे रहते (पूर्वपद में स्थित) नञ् के नकार का लोप होता है। जकार की इत्सञ्ज्ञा होकर 'तस्य लोपः' ( पा० १.३.१ ) से इसका लोप होता है। नकार का प्रकृत सूत्र से लोप होता है। शेष 'अ' रहता है।

उदा०- अब्राह्मणः - न ब्राह्मणः- नञ् ब्राह्मण सु-समास, 'प्रथमानिर्दिष्टं०' ( पा० १.२.४३ ), 'उप-सर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० ), हलन्त्यम्, नलोपो नञः अब्राह्मण सु विसर्जनीय।

( ७५८ ) तस्मान्नुडचि ( ६.३.७४ )

लुप्तनकारान्नञ उत्तरपदस्याजादेर्नुमागमः स्यात्। अनश्वः । अर्थाभावेऽव्ययीभावेन सहायं विकल्प्यते। 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इति 'अद्रुतायामसंहितम्' ( वा० ११६७ ) इति च भाष्यवार्तिकप्रयोगात् । तेन अनुपलब्धिः, अविवादः, अविघ्नम् इत्यादि सिद्धम्। 'नञो नलोपस्तिङि क्षेपे' ( वा० ३९८४ ) । अ-पचसि त्वं जाल्म। नैकधा इत्यादौ तु न-शब्देन 'सहसुपा' ( सू० ६४९ ) इति समासः ।

पद०- तस्मात् ५.१, नुट् १.१, अचि ७.१

अनु० - 'उत्तरपदे' तथा 'नञः' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - जिसके नकार का लोप हो चुका है, ऐसे नञ् से उत्तर अजादि उत्तरपद को नुट् आगम होता है।

उदा०- अनश्वः - न अश्वः - नञ् अथ सु। 'नञ्' ( पा० २.२.६ ) से समास नलोपो नञः' ( पा० ६.३.७३ )- अ अश्व - 'तस्मान्नुडचि' ( पा० ६.३.७४ ) - न नुट् अश्व- अनुबन्धलोप, सु विसर्जनीय।

अर्थाभावे० - अर्थाभाव अर्थ में नञ् अव्यय का समर्थ सुबन्त के साथ अव्ययीभाव समास होता है और यह नपुंसकलिङ्ग में होता है। 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्' इस भाष्यवचन में 'असन्देहः' इस प्रकार पुँल्लिङ्ग निर्देश से सूचित होता है कि अर्थाभाव में अव्ययीभाव विकल्प से होता है। पक्ष में अर्थाभाव में तत्पुरुष भी होता है। 'अद्रुतायामसंहितम्' इस वार्तिक में नपुंसकलिङ्ग का निर्देश किया गया है।

**स्मरणीय बिन्दु**

- षष्ठी तत्पुरुष में संबंध का बोध होता है।
- समास से भाषा संक्षिप्त बनती है।
- विग्रह से अर्थ स्पष्ट होता है।

**५ अंको का प्रश्न**

1. षष्ठी तत्पुरुष समास क्या है? इसके उदाहरण दीजिए।
3. समास विग्रह समझाइए।
4. षष्ठी विभक्ति का महत्व बताइए।
5. तत्पुरुष समास की विशेषताएँ लिखिए।

**१५ अंको का प्रश्न**

1. षष्ठी तत्पुरुष समास का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. समास विग्रह सहित उदाहरण प्रस्तुत कीजिए।
3. संस्कृत व्याकरण में तत्पुरुष समास का महत्व स्पष्ट कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न**

1. षष्ठी तत्पुरुष समास में कौन-सी विभक्ति निहित रहती है?

- (1) प्रथम
- (2) षष्ठी
- (3) पंचमी
- (4) सप्तमी

उत्तर: (2)

2. 'राजपुत्रः' में कौन-सा समास है?

- (1) बहुव्रीहि
- (2) द्वंद्व
- (3) तत्पुरुष
- (4) अव्ययीभाव

उत्तर: (3)

3. समास भाषा को कैसा बनाता है?

- (1) कठिन
- (2) विस्तृत
- (3) संक्षिप्त
- (4) असंबद्ध

उत्तर: (3)

**शब्दावली-**

- षष्ठी - Genitive
- तत्पुरुष - Compound
- विग्रह - Explanation
- संबंध - Relation
- पद - Word

## इकाई-४.२- बहुव्रीहि समास

उद्देश्य-

1. बहुव्रीहि समास का ज्ञान प्राप्त करना।
2. बहुव्रीहि समास की विशेषताएँ समझना।
3. उदाहरणों द्वारा समास पहचानना।

( ८२९ ) शेषो बहुव्रीहिः ( २.२.२३ )

अधिकतोऽयम् । 'द्वितीया श्रित' ( सू० ६८६ ) इत्यादिना

यस्य त्रिकस्य विशिष्य समासो नोक्तः स शेषः प्रथमान्तमित्यर्थः ।

पद०- शेषः १.१. बहुव्रीहि १.१

व्याख्या- यह अधिकार सूत्र है जो 'चाऽर्थे द्वन्द्वः' ( पा० २.२.२९ ) तक जाता है। समासप्रकरण में 'द्वितीया श्रितातीत०' इत्यादि सूत्रों के द्वारा द्वितीया से लेकर सप्तमी विभक्ति पर्यन्त सभी विभक्तियों का उल्लेख करके समास का विधान है। पूर्वपद की प्रधानता में, उत्तरपद की प्रधानता में भी समास कहा जा चुका है। तब प्रथमा विभक्त्यन्त सुबन्त का तथा अन्य पद के अर्थ में किसी समास का विधान नहीं कहा है। सूत्रस्थ 'शेष' शब्द के द्वारा इसी का ग्रहण होता है।

( ८३० ) अनेकमन्यपदार्थ ( २.२.२४ )

अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थं वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः । अप्रथमाविभक्त्यर्थे बहुव्रीहिरिति समानाधिकरणानामिति च फलितम् । प्राप्तमुदकं यं सः प्राप्तोदको ग्रामः । ऊढरथोऽनड्वान् । उपहतपशू रुद्रः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः । वीरपुरुषको ग्रामः । प्रथमार्थे तु न । वृष्टे देवे गतः । व्यधिकरणानामपि न । पञ्चभिर्भुक्तमस्य । 'प्रादिभ्यो धातुजस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' ( वा० १३६० ) । प्रपतितपर्णः प्रपर्णः । 'नजोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' ( वा० १३६१ ) । अविद्यमानपुत्रः अपुत्रः । 'अव्ययानां च' । उच्चैर्मुखः । 'सप्तम्युपमानपूर्वं पदस्योत्तरपदलोपश्च' । सप्तम्यन्तम् उपमानं च पूर्वपदं यस्य तस्य पदान्तरेण समासः उत्तरपदलोपश्च भवतीत्यर्थः । कण्ठस्थः कालः यस्य सः कण्ठेकालः । उष्ट्रमुखमिव मुखं यस्य सः उष्ट्रमुखः ।

पद०- अनेकम् १.१, अन्यपदार्थे ७.१

अनु०- सुप्, समासः, विभाषा, शेषः, बहुव्रीहिः की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- अन्य पद के अर्थ में विद्यमान दो या अधिक प्रथमान्त सुबन्तों का विकल्प से बहुव्रीहि समास होता है। यह समास प्रथमा विभक्ति के अर्थ में नहीं होता है, अपितु समानाधिकरणों का होता है।

उदा०- प्राप्तोदकः (ग्रामः) - प्राप्तम् उदकं यं सः (ग्रामः) - प्राप्त सु उदक सु-दोनों प्रथमान्त पद अन्य पदार्थ (अर्थात् ग्राम) को कहते हैं अतः समास हो गया । ऊढरथो (अनड्वान्) - ऊढो रथो येन सः उपहतपशू रुद्रः। उपहतः पशुर् यस्यै सः उद्धृतौदना (स्थाली)- उद्धृत ओदनो यस्याः सा समास होकर 'उद्धृतौदन' शब्द बनता है। विशेष्यानुसार स्त्रीत्व, टाप्, इसी प्रकार- भीतशत्रु (एन्थ) । निर्घृणः। पीताम्बरः (हरिः) पीते अम्बरे यस्य सः पीत अम्बर सवर्ण दीर्घ।

प्रथमार्थे०- प्रथमा के अर्थ में समास नहीं होता है। यथा-वृष्टे देवे गतः। व्यधिकरण पदों का समास भी नहीं होता है। यथा-पञ्चभिर्भुक्तम् अस्या।

प्रादिभ्यो० ( वा० ) अर्थ-प्र आदि से अव्यवहित उत्तर धातु से निष्पन्न जो शब्द तदन्त प्रथमान्त समर्थ सुबन्त प्रथमान्त के साथ अन्य पद के अर्थ में समास होता है तथा उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है। यथा-

प्रपतितपर्णः - प्रपर्णः- पक्ष में उत्तरपद का लोप हो गया।

नजोऽस्त्य० ( वा० ) नज् से अव्यवहित परे जो अस्त्यर्थ-वाची शब्द, तदन्त प्रथमान्त का समर्थ प्रथमान्त सुबन्त के साथ अन्य पद के अर्थ में समास होता है और पूर्वपदस्थ उत्तरपद का विकल्प से लोप होता है। यथा-

अविद्यमानपुत्रः अविद्यमानः पुत्रो यस्य सः। उत्तरपद (विद्यमान) का पाक्षिक लोप हो गया है।

अपुत्रः- पक्ष में उत्तरपद का लोप हुआ है।

अव्ययानां च ( वा० ) - अव्यय शब्दों का भी बहुव्रीहि समास होता है। उच्चैर्मुखः इस शब्द में अधिकरण शक्ति प्रधान होने में प्रथमान्त न होने से समास की अप्राप्ति में विधान कर दिया है।

सप्तम्युपमा० ( वा० ) - सप्तम्यन्त अथवा उपमानवाची जो पूर्वपद, उसका समर्थ सुबन्त के साथ अन्य पद के अर्थ में समास होता

है और उत्तरपद का लोप भी होता है।

कण्ठेकालः - कण्ठेस्थः कालो यस्य सः। 'कण्ठे' सप्तम्यन्त है अतः इसका समास होगया। उष्ट्रमुखः- उष्ट्रस्य मुखमिव मुखं यस्य॥

( ८४३ ) सङ्ख्ययाऽव्ययाऽऽसन्नादूराधिकसङ्ख्याः

सङ्ख्येये ( २.२.२५ )

सङ्ख्येयार्थया सङ्ख्ययाव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः ।

दशानां समीपे ये सन्ति ते उपदशाः । नव एकादश वेत्यर्थः । 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये-' ( सू० ८५१ ) इति वक्ष्यमाणो डच् ।

पद० - सङ्ख्यया ३.१, अव्ययाऽऽसन्नादूराधिकसंख्या १.३, सङ्ख्येये ७.१

अनु० - विभाषा, सुप्, समासः - इनका अधिकार आता है। 'शेषो बहुव्रीहिः' ( पा० २.२.२३ ) से 'बहुव्रीहिः' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- संख्येय अर्थ में वर्तमान संख्यावाची सुबन्त के साथ अव्यय, आसन्न, अदूर, अधिक और संख्यावाची इन सुबन्त शब्दों का समास होता है तथा वह बहुव्रीहिसञ्ज्ञक होता है।

उदा०- उपदशाः - दशानां समीपे ये सन्ति ते- समास, सुब्लुक्-दशन् उप-अव्यय (उप) की उपसर्जनसञ्ज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० ) - उप दशन् डच्- 'बहुव्रीहौ सङ्ख्येये डजबहुगणात् ( पा० ५.४.७३ )। चुटू हलन्त्यम् - उपदश् अ - 'नस्तद्धिते' ( पा० ६.४.१४४ ), टिलोप जस्।

( ८४८ ) तेन सहेति तुल्ययोगे ( २.२.२८ )

तुल्ययोगे वर्तमानं सहेत्येतत्तृतीयान्तेन प्राग्वत् ।

पद०-तेन 3.1. सह-अव्य०, इति-अव्य०, तुल्ययोगे 3-1

अनु०- विभाषा, सुप्, समासः, बहुव्रीहिः की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- 'सह' अव्यय का तृतीयान्त सुबन्त के साथ बहुव्रीहि समास होता है, तुल्य योग में। 'तुल्ययोगे' यदि किसी एक कार्य में दोनों समानरूप से भाग ले रहे हो तो उसके विषय में समास होता है। तुल्य= समान । योग = सम्बन्ध ।

( ८४९ ) वोपसर्जनस्य ( ६.३.८२ )

बहुव्रीहेरवयवस्य सहस्य सः स्याद्वा। पुत्रेण सह सपुत्रः, सहपुत्रो वा आगतः ।

तुल्ययोगवचनं प्रायिकम् । सकर्मकः । सलोमकः ।

पद० - वा-अव्य०, उपसर्जनस्य ६.१

अनु० - 'सहस्य सः सञ्ज्ञायाम्' ( पा० ६.३.७७ ) से 'सहस्य सः' की अनुवृत्ति आती है।

व्याख्या- जिसके सब अवयव उपसर्जन है, उस बहुव्रीहि समास के अवयवभूत 'सह' शब्द के स्थान पर 'स' आदेश विकल्प से होता है उत्तरपद के परे रहते ।

उदा०- सपुत्रः- पुत्रेण सह (आगतः) । ( ८४८ ) 'तेन सहेति तुल्ययोगे' ( पा० २.२.२८ )। उपसर्जन होने से 'सह' का पूर्वनिपात हुआ । प्रकृत सुत्र से 'स' आदेश, सु।

सहपुत्रः- पक्ष में -'स' आदेश नहीं हुआ। सूत्र में 'उपसर्जनस्य' ग्रहण का प्रयोजन है कि 'सहयुध्वा' में 'स' आदेश नहीं होता है। उपसर्जन नहीं है।

तुल्ययोग०- 'तेन सहेति तुल्ययोगे' में 'तुल्ययोगे' यह कथन प्रायिक जानना चाहिए। तुल्ययोग न होने पर भी 'सह' शब्द के साथ समास प्राप्त होता है। इसके अनित्य होने में सूत्रस्थ 'इति' पद का ग्रहण प्रमाण है। अतः अतुल्ययोग में भी समास हो गया । सकर्मकः । ( सलोमकः । )

स्मरणीय बिन्दु

- बहुव्रीहि में अन्य पदार्थ प्रधान होता है।
- यह विशेषणात्मक समास है।
- संस्कृत साहित्य में इसका व्यापक प्रयोग है।

५ अंको का प्रश्न

1. बहुव्रीहि समास क्या है?
2. बहुव्रीहि समास के उदाहरण दीजिए।



3. अन्यपदार्थ प्रधानता क्या है?
4. समास के लाभ लिखिए।
5. बहुव्रीहि समास की विशेषताएँ बताइए।

#### १५ अंको का प्रश्न

1. बहुव्रीहि समास का विस्तृत विवेचन कीजिए।
2. बहुव्रीहि एवं तत्पुरुष समास में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. उदाहरण सहित बहुव्रीहि समास समझाइए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न

1. बहुव्रीहि समास में कौन प्रधान होता है?

- (1) पूर्वपद
- (2) उत्तरपद
- (3) अन्य पद
- (4) क्रिया

उत्तर: (ब)

2. 'पीताम्बरः' कौन-सा समास है?

- (1) द्वंद्व
- (2) बहुव्रीहि
- (3) अव्ययीभाव
- (4) तत्पुरुष

उत्तर: (2)

3. बहुव्रीहि समास का अर्थ किससे व्यक्त होता है?

- (1) दोनों पदों से
- (2) अन्य पदार्थ से
- (3) केवल पूर्वपद से
- (4) केवल उत्तरपद से

उत्तर: (2)

#### शब्दावली-

- बहुव्रीहि - **Enocentric Compound**
- प्रधान - **Dominant**
- विशेषण - **Adjective**
- पदार्थ - **Meaning**
- संयुक्त पद - **Compound Word**

## इकाई-४.३- द्वंद्व समास

उद्देश्य

1. द्वंद्व समास की अवधारणा समझना।
2. द्वंद्व समास के प्रकार जानना।
3. समास विग्रह में दक्षता प्राप्त करना।

( १०१ ) चार्थे द्वन्द्वः ( २.२.२९ )

अनेकं सुबन्तं चार्थे वर्तमानं वा समस्यते, स द्वन्द्वः । समुच्चयान्वाचयेतरेतरयोगसमाहाराश्चार्थाः । परस्परनिरपेक्ष स्थानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । अन्तरस्यानुषङ्गकत्वेऽन्वाचयः । मिलितानामन्वये इतरेतरयोगः । समूहः समाहारः । तत्रेश्वरं गुरुं च भजस्व इति समुच्चये, भिक्षामट गां चानय इत्यन्वाचये च न समासोऽसामर्थ्यात् । धवखदिरौ । सज्ज्ञापरिभाषम् । अनेकोक्तेर्होतृपोतृनेष्टोद्गातारः । द्वयोर्द्वयोर्द्वन्द्वं कृत्वा पुनर्द्वन्द्वे तु होतापोतानेष्टोद्गातारः ।

पद० - चाऽर्थे ७.१, द्वन्द्वः १.१

अनु० - 'अनेकमन्यपदार्थे' ( पा० २.२.२४ ) से 'अनेकम्' । 'सुवान्त्रिते पराङ्गवत्स्वरे' ( पा० २.१.२ ) से 'सुप्' की अनुवृत्ति है। व्याख्या - 'सुप्' से तदन्तविधि होकर 'सुबन्तम्' बन जाता है। 'विभाषा' का अधिकार होने से पक्ष में वाक्य भी रहता है। 'च' के अर्थ में वर्तमान अनेक सुबन्त विकल्प से समास को प्राप्त होते हैं और वह द्वन्द्वसमास होता है।

समुच्चय० 'च' के चार अर्थ हैं- समुच्चय, अन्वाचय, इतरेतरयोग और समाहार । जब परस्पर निरपेक्ष अनेक पद किसी एक पद में अन्वित होते हैं तो 'च' समुच्चय अर्थ में प्रयुक्त होता है। यथा-ईश्वरं गुरुं च भज। जहाँ एक अप्रधान रूप से क्रिया में अन्वित हो, वहाँ 'च' का अर्थ अन्वाचय होता है। यथा भिक्षामट गां चाऽऽनय । पूर्वोक्त दोनों अर्थों में सामर्थ्य न होने से समास नहीं होता है। जहाँ अनेक पदार्थ मिलकर एक क्रिया आदि में अन्वित होते हैं, वहाँ 'च' का अर्थ इतरेतर योग होता है। यथा- धवखदिरौ । (समाहार का अर्थ समूह है। जहाँ समूह एकीभूत होकर क्रियादि में अन्वित होता है, वहाँ 'च' का अर्थ समाहार है। यथा-सज्ज्ञापरिभाषम् ।

( १०२ ) राजदन्तादिषु परम् ( २.२.३१ )

एषु पूर्वप्रयोगार्हं परं स्यात् । दन्तानां राजा राजदन्तः । 'धर्मादिष्वनियमः' ( वा० १४१८ )। अर्थधर्मो धर्मार्थौ । दम्पती-जम्पती-जायापती । जायाशब्दस्य जम्भावो दम्भावश्च वा निपात्यते । आकृतिगणोऽयम् ।

पद०-राजदन्तादिषु ७.३, परम् २.१-

व्याख्या- राजदन्त आदि (समस्तपदों) में पूर्वप्रयोग के योग्य पद का परनिपात होता है। राजदन्तादि आकृति गण है।

उदा०- राजदन्तः ( नै० ७.४६ )- दन्तानां राजा 'षष्ठी' ( पा० २.२.८ ) से समास, 'दन्तानाम्' की उपसर्जन सज्ज्ञा, 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० २.२.३० ) से इसका पूर्वनिपात प्राप्त हुआ। प्रकृत से परनिपात-राजन् दन्त-सुब् लुक्-राजन् की पदसज्ज्ञा, 'नलोपः प्रातिपदि०' ( पा० ८.२.७ )- राजदन्त सु नलोप ।

धर्मादिष्वनियमः ( पा० ) - अर्थ-धर्म आदि शब्दों के विषय में पूर्वनिपात अथवा परनिपात का कोई नियम नहीं होता है।

धर्मार्थौ- धर्म शब्द का पूर्वनिपात । अर्थधर्मो - अर्थ शब्द का पूर्वनिपात। दम्पती- जाया च पतिश्च। विकल्प से 'दम्' आदेश। जम्पती- विकल्प से 'जम्' आदेश। जायापती- जम् अथवा दम् अभाव पक्ष ।

( १०३ ) द्वन्द्वे घि ( २.२.३२ )

द्वन्द्वे घिसज्ज्ञं पूर्वं स्यात्। हरिश्च हरिहरौ । 'अनेकप्रतावेकत्र नियमोनियमः शेषे'

( वा० १४१० ) १ हरिपुम्हराः करिहरगुरुवः ।

पद० - द्वन्द्वे 7.1, घि 1.1

अनु० - 'उपसर्जनं पूर्वम्' ( पा० 2.2.30 ) से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- द्वन्द्व समास में घिसज्ज्ञक शब्द का पूर्वनिपात होता है। 'शेषो घ्यसखि' के द्वारा घिसज्ज्ञा कही गई है।

उदा०-(1) हरिहरौ- हरिश्च- हरश्च चाऽर्थे द्वन्द्वः 'हरि' की घिसज्ज्ञा, पूर्वनिपात हो गया ।

( १०४ ) अजाद्यदन्तम् ( २.२.३३ )

इदं द्वन्द्वे पूर्वं स्यात् । ईशकृष्णौ । बहुष्वनियमः । अश्वरथेन्द्राः इन्द्राश्वरथाः ।

'घ्यन्तादजाद्यदन्तं विप्रतिषेधेन'

(वा० 1426)। इन्द्राग्नी ।

पद० - अजाद्यदन्तम् 1.1

अनु० 'द्वन्द्वे घि' (पा० 2.2.32) से 'द्वन्द्वे' की तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पा० 2.2.30) से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या - अदन्त-ह्रस्व अकारान्त शब्द द्वन्द्व समास में अजादिगणपठित शब्द जो अदन्त भी हो, उसका पूर्वनिपात होता है।

उदा०- (1) ईशकृष्णौ-ईशश्च कृष्णश्च - (901) 'चाऽर्थे द्वन्द्वः' (पा० 2.2.29) ईश शब्द का अजादिगण में पाठ है। यह अदन्त भी है अतः इसका पूर्वनिपात हो गया।

( १०५ ) अल्पाक्षरम् ( २.२.३४ )

शिवकेशवौ । 'ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण' ( वा० १४२१ )। हेमन्त-शिशिर-वसन्ताः। कृत्तिका रोहिण्यौ । समाक्षराणां किम्? ग्रीष्मवसन्तौ । लघ्वक्षरं पूर्वम् ( वा० १४१३। कुशकाशम् । 'अभ्यर्हितं च' ( वा० १४१२ )। तापसपर्वतौ । 'वर्णानामानुपूर्व्येण' ( वा० १४१५ ) । ब्राह्मणक्षत्रियविद्वद्ध्राः । 'भ्रातृज्यायसः' ( वा० १४१६ ) । युधिष्ठिरार्जुनौ ।

पद० - अल्पाक्षरम् 1.1

अनु० - 'द्वन्द्वे घि' (पा० 2.2.32) से 'द्वन्द्वे' की तथा 'उपसर्जनं पूर्वम्' (पा० 2.2.30) से 'पूर्वम्' की अनुवृत्ति है।

व्याख्या- द्वन्द्व समास में अल्प अच् वाले पद का पूर्वनिपात होता है।

उदा०- शिवकेशवौ-शिवश्च केशवश्च- 'शिव' द्वयच् है, 'केशव' त्रयच् है, औ।

इसी प्रकार धवखदिरौ । प्लक्षन्यग्रोधौ । इन्दु दिवाकरौ । उमामहेश्वरौ धूमज्योतिः सलिलमरुताम् । धवखदिरपलाशाः।

स्मरणीय बिन्दु

- द्वन्द्व में दोनों पद प्रधान होते हैं।
- समाहार एवं इतरेतर इसके प्रमुख भेद हैं।
- द्वन्द्व समास समान महत्व वाले पदों को जोड़ता है।

५ अंको का प्रश्न

1. द्वन्द्व समास क्या है?
2. द्वन्द्व समास के उदाहरण दीजिए।
3. समाहार द्वन्द्व क्या है?
4. इतरेतर द्वन्द्व समझाइए।
5. द्वन्द्व समास का महत्व लिखिए।

१५ अंको का प्रश्न

1. द्वन्द्व समास का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. द्वन्द्व समास के प्रकारों को उदाहरण सहित समझाइए।
3. द्वन्द्व एवं बहुव्रीहि समास में अंतर स्पष्ट कीजिए।

बहुविकल्पीय प्रश्न

1. द्वन्द्व समास में कौन प्रधान होता है?
  - (1) पूर्वपद
  - (2) उत्तरपद
  - (3) दोनों पद
  - (4) अन्य पद

उत्तर: (3)

2. 'रामलक्ष्मणौ' कौन-सा समास है?
  - (1) बहुव्रीहि
  - (2) द्वन्द्व

- (3) तत्पुरुष  
(4) अव्ययीभाव

उत्तर: (2)

3. समाहार द्वंद्व में वचन सामान्यतः क्या होता है?

- (1) एकवचन  
(2) द्विवचन  
(3) बहुवचन  
(4) कोई नहीं

उत्तर: (1)

**शब्दावली-**

- द्वंद्व – **Copulative Compound**
- समाहार – **Collective**
- इतरेतर – **Mutual**
- प्रधान – **Important**
- समास – **Compound**

॥ ओ३म् ॥

# शोध प्रविधि

## MDPHRE-206



दिव्य प्रकाशन

**पाठ्यक्रम के उद्देश्य:-**

विद्यार्थियों को शोध की विषयवस्तु, प्रक्रिया एवं पद्धति के बारे में अवगत कराना।

शोध के महत्व एवं लाभ के संबंध में जानकारी उपलब्ध कराना।

दार्शनिक, सामाजिक एवं नैतिक क्षेत्र में शोध के लिए प्रेरित करना।

**खण्ड-1 शोध का अर्थ, परिभाषा एवं परिचय**

इकाई-1.1 अनुसंधान का स्वरूप, शोध का तात्पर्य एवं परिभाषा, शोध के प्रकार-

शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध

इकाई-1.2 शोध के उद्देश्य, व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र

इकाई-1.3 वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक विधि, वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप या विशेषताएँ

इकाई-1.4 साधारण ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान में अंतर, ज्ञान-अर्जन की विधियाँ, तथ्य,

परिकल्पना, सिद्धांत और नियम

**खण्ड-2 शोध विधि और इसकी विशेषतायें**

इकाई-2.1 वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप

इकाई-2.2 वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्व

इकाई-2.3 एक अच्छी समस्या की विशेषताएँ या कसौटियाँ

इकाई-2.4 शोध समस्या के प्रकार

**खण्ड-3 शोध- प्रक्रिया, शोध प्रक्रिया में निहित अवस्थाएँ या चरण**

इकाई-3.1 शोध समस्या, परिचय, साहित्य समीक्षा, परिकल्पना

इकाई-3.2 अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह

इकाई-3.3 परिणाम एवं विवेचन

इकाई-3.4 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची, शोध की रिपोर्ट तैयार करना

**खण्ड 4 शोध-अभिकल्प, प्रदत्त-संग्रह प्रविधि: साक्षात्कार, शोध में नैतिक**

**समस्याएँ एवं सिद्धान्त**

इकाई-4.1 शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त, शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त

इकाई-4.2 शोध-अभिकल्प के प्रकार

इकाई-4.3 प्रदत्त-संग्रह प्रविधि: साक्षात्कार

इकाई-4.4 शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त

**परिणाम:-**

- शोध की प्रक्रिया, शोध की पद्धति एवं विषयवस्तु के बारे में आनुभविक ज्ञान प्राप्त होगा।
- शोध के विभिन्न प्रकार के लाभ एवं महत्व के बारे में जानकारी प्राप्त कर उसे व्यवहारिक रूप में अपनाने में सहायता प्राप्त होगी।
- विद्यार्थियों को महत्वपूर्ण विषयों पर शोध करने का अवसर प्राप्त होगा जिससे वे उपयोगी एवं प्रासंगिक विषयों पर लघु शोध लिख सकेंगे।

## विषय-सूची

| विषय                                                                                                             | पृष्ठ सं.    |
|------------------------------------------------------------------------------------------------------------------|--------------|
| <b>खण्ड-1 शोध का अर्थ, परिभाषा एवं परिचय</b>                                                                     | <b>5-22</b>  |
| इकाई-1.1 अनुसंधान का स्वरूप, शोध का तात्पर्य एवं परिभाषा, शोध के प्रकार-<br>शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध            | 5-10         |
| इकाई-1.2 शोध के उद्देश्य, व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र                                          | 11-15        |
| इकाई-1.3 वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक विधि, वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप या विशेषताएँ                               | 16-18        |
| इकाई-1.4 साधारण ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान में अंतर, ज्ञान-अर्जन की विधियाँ, तथ्य,<br>परिकल्पना, सिद्धांत और नियम | 19-22        |
| <b>खण्ड-2 शोध विधि और इसकी विशेषतायें</b>                                                                        | <b>23-36</b> |
| इकाई-2.1 वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप                                                                               | 23-26        |
| इकाई-2.2 वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्व                                                                           | 27-29        |
| इकाई-2.3 एक अच्छी समस्या की विशेषताएँ या कसौटियाँ                                                                | 30-33        |
| इकाई-2.4 शोध समस्या के प्रकार                                                                                    | 34-36        |
| <b>खण्ड-3 शोध- प्रक्रिया, शोध प्रक्रिया में निहित अवस्थायें या चरण</b>                                           | <b>37-48</b> |
| इकाई-3.1 शोध समस्या, परिचय, साहित्य समीक्षा, परिकल्पना                                                           | 37-41        |
| इकाई-3.2 अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह                                             | 42-44        |
| इकाई-3.3 परिणाम एवं विवेचन                                                                                       | 45-46        |
| इकाई-3.4 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची, शोध की रिपोर्ट तैयार करना                                                          | 47-48        |
| <b>खण्ड 4 शोध-अभिकल्प, प्रदत्त-संग्रह प्रविधि: साक्षात्कार, शोध में नैतिक<br/>समस्याएँ एवं सिद्धान्त</b>         | <b>49-64</b> |
| इकाई-4.1 शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त, शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त                                                      | 49-51        |
| इकाई-4.2 शोध-अभिकल्प के प्रकार                                                                                   | 52-54        |
| इकाई-4.3 प्रदत्त-संग्रह प्रविधि: साक्षात्कार                                                                     | 55-59        |
| इकाई-4.4 शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त                                                                    | 60-64        |



## प्रस्तावना

शोध एक ऐसा क्षेत्र है जो दिन प्रतिदिन नवीन दृष्टि एवं नवीन अविष्कारों के द्वारा जीवन में परिवर्तन लाता है। अतः इसे विकास का मूल आधार कहा जाता है। यह ऐतिहासिक परिणामों द्वारा भविष्य के मार्ग को प्रशस्त करता है तथा विभिन्न चुनौतियों एवं समस्याओं को गहराई से जांच पड़ताल कर सम्पूर्ण समाधान प्रस्तुत करता है। यह एक बौद्धिक, तत्काल एवं परीक्षण पर आधारित पद्धति है जो सैद्धान्तिक मानदण्डों को निर्धारित करती हुई व्यावहारिकता में परिवर्तन ला पाती है। प्रत्येक क्षेत्र में जो परिवर्तन नजर आ रहा है, वह केवल और केवल शोध का ही नतीजा है। यह अध्ययन परिवर्तन, परिमार्जन एवं नजर द्वारा उपलब्ध सामग्री एवं परिस्थितियों में सुधारात्मक सुझाव ढूँढने का प्रयास एवं संकल्पना प्रस्तुत करता है। शोध मानव बुद्धि का विलक्षण गुण है जो जिज्ञासा से उत्पन्न होता है, सत्य की खोज में प्रवृत्त होते हुए समाधान कर पक्ष दृढ़तापूर्वक रखता है तथा जीवन की जटिलताओं को सुगम एवं सरल बनाने में सहयोग देता है। इस पुस्तक से विद्यार्थियों को शोध संबंधित विषयों पर विचार करने तथा अनुसंधानपरक चिन्तन करने में अपेक्षित सहयोग प्राप्त होगा।

## खण्ड-1 शोध का अर्थ, परिभाषा एवं परिचय

### इकाई-1 अनुसंधान का स्वरूप, शोध का तात्पर्य एवं परिभाषा, शोध के प्रकार- शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध

#### उद्देश्य-

1. शोध की अवधारणा को समझना।
2. शुद्ध एवं व्यवहारिक शोध में अंतर जानना।
3. शोध की प्रमुख विशेषताओं का अध्ययन करना।

**शोध अथवा अनुसंधान-** अंग्रेजी भाषा के 'रिसर्च' (research) शब्द का हिन्दी रूपान्तरण (translation) शोध, अनुसंधान, गवेषण, अन्वेषण, खोज आदि शब्दों में किया जाता है। लेकिन, शोध शब्द का व्यवहार अधिक सही माना जाता है। 'रिसर्च' (research) शब्द वास्तव में फ्रांसीसी भाषा के 'रिचेर्चे' (recherche) शब्द से बना है, जिसका अर्थ है देखना (to look), खोज करना (to investigate) आदि। इस दृष्टिकोण से शोध का अर्थ हुआ नये ज्ञान की खोज करना। इस अर्थ में शोध शब्द का व्यवहार सबसे पहले ऐतिहासिक अनुसंधान (historical investigation) के प्रसंग में किया गया। अतीत (past) की ऐतिहासिक घटनाओं की खोज करने की जिज्ञासा (curiosity) ने शोध-कार्य (research work) को जन्म दिया और इसी आधार पर आगे चलकर वैज्ञानिक शोध (scientific research) का जन्म हुआ। ऐतिहासिक शोध केवल अतीत (past) तक सीमित रहा, किन्तु वैज्ञानिक शोध समय (काल) की सीमाओं से मुक्त हो चला।

**ड्रेवर (Drever, 1955)** के अनुसार किसी नये ज्ञान की खोज अथवा किसी पुराने ज्ञान के पुष्टिकरण (confirmation) के लिये किये गये व्यवस्थित प्रयास को शोध कहते हैं। उनके शब्दों में शोध का तात्पर्य किसी क्षेत्र में ज्ञान या पुष्टिकरण के लिए किये गये व्यवस्थित अनुसंधान से है।

**पी०वी० यंग (Pauline V. Young (Born-1896)- Arthur)** ने भी शोध शब्द को नये ज्ञान की खोज अथवा पुराने ज्ञान की पुष्टिकरण के अर्थ में परिभाषित किया है। उनके अनुसार 'शोध एक ऐसी व्यवस्थित विधि है, जिसके द्वारा नये तथ्यों की खोज तथा पुराने तथ्यों की पुष्टि की जाती है, और उनके अनुक्रमों, परस्पर संबंधों, कारणात्मक व्याख्याओं एवं प्राकृतिक नियमों, जो उन्हें संचालित करते हैं, का अध्ययन किया जाता है।'

**थियोडॉर्सन एवं थियोडॉर्सन (Theodorson and Theodorson, 1969)** के अनुसार "किसी समस्या के व्यवस्थित अध्ययन करने या किसी समस्या से सम्बन्धित ज्ञान को बढ़ाने के निष्पक्ष प्रयास को शोध कहा जा सकता है।"

**करलिंगर (Fred N. Kerlinger- Born, 4, July 1990, New York (US))** के द्वारा शोध की दी गयी परिभाषा अधिक समग्र, स्पष्ट तथा संतोषजनक है। उनके अनुसार "वैज्ञानिक शोध, प्राकृतिक घटनाओं के बीच अनुमानित सम्बन्धों की खोज हेतु निर्मित परिकल्पनाओं का व्यवस्थित, नियंत्रित आनुभविक तथा आलोचनात्मक अनुसन्धान है।"

#### विषय अनुसंधान का स्वरूप

1. **अन्वेषण प्रक्रिया (An investigation process)** - वैज्ञानिक शोध की एक मुख्य विशेषता यह है कि यह अनुसन्धान की एक पद्धति है। यह विशेषता मनोवैज्ञानिक शोध में भी उपलब्ध है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जिसके द्वारा अन्वेषण या अनुसन्धान किया जाता है। इस अन्वेषण या अनुसन्धान के दो उद्देश्य हैं। एक तो यह कि इसके द्वारा नये ज्ञान की खोज की जाती है और दूसरा उद्देश्य यह कि इसके द्वारा पुराने ज्ञान की सार्थकता (significance) की जाँच की जाती है। जब शोध का उद्देश्य नये ज्ञान की खोज करना होता है तो इसे अन्वेषणात्मक शोध (exploratory research) कहते हैं और जब शोध का उद्देश्य पुराने ज्ञान की जाँच करना होता है तो इसे सत्यापन शोध (Verification research) या पुष्टिकारक शोध (confirmatory research) कहते हैं।
2. **सुव्यवस्थित अध्ययन (Systematic study)**- शोध एक व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध अध्ययन है। यह एक ऐसी कार्यप्रणाली (procedure) है, जिसके द्वारा क्रमबद्ध तरीकों से अनुसन्धान किया जाता है, अर्थात् व्यवस्थित ढंग से नये ज्ञान की खोज तथा पुराने ज्ञान की जाँच का प्रयास किया जाता है। व्यवस्थिता या क्रमबद्ध अध्ययन का अर्थ यह है कि शोधकर्ता (researcher) पहले प्राकृतिक घटनाओं के बीच सम्बन्धों के बारे में परिकल्पना (hypothesis) या परिकल्पनाओं (hypotheses) का निर्माण करता है तथा आवश्यक उपकरणों तथा यंत्रों

की सहायता से उनकी जाँच करके सिद्धांत एवं नियम की स्थापना करता है। इसी प्रकार किसी भी वैज्ञानिक या मनोवैज्ञानिकों शोध में क्रमबद्ध होने की विशेषता पाई जाती है। इस विचार की पुष्टि अनेक मनोवैज्ञानिक ने की है। (James Drever, 1955; P.V. Young, Theodorson and Theodorson, 1969; Kerlinger, Reber and Arthur S. Reber,)-1940

3. **आनुभविक अध्ययन (Empirical study)**- शोध एक आनुभविक अध्ययन है। यह एक ऐसा अध्ययन है जो अनुभव पर आधारित होता है। यह अध्ययन शोधकर्ता (researcher) व्यवस्थित ढंग से निरीक्षणों (observations) या प्रयोगों (experiments) के आधार पर करता है। **करलिंगर (Kerlinger)** ने स्पष्ट शब्दों में शोध की इस विशेषता पर बल दिया है।
4. **नियंत्रित अध्ययन (Controlled study)**- करलिंगर (Kerlinger) ने कहा है कि शोध में नियंत्रण की विशेषता पाई जाती है। यहाँ जो अध्ययन किया जाता है, वह नियंत्रित होता है। इसका अर्थ यह है कि जिस चर (variable) के प्रभाव को देखने के लिए शोध किया जाता है, उसको छोड़कर शेष सभी चरों के प्रभावों (effects) को आश्रित चर (dependent variable) पर पड़ने से रोक दिया जाता है।
5. **आलोचनात्मक या तत्त्वपूर्ण अध्ययन (Critical study)**- वैज्ञानिक शोध में आलोचनात्मक दृष्टिकोण से कोई अध्ययन किया जाता है। यह विशेषता अन्वेषणात्मक अनुसंधान (exploratory research) तथा पुष्टिकारक अनुसंधान (confirmatory research) दोनों में पाई जाती है, किन्तु पुष्टिकारक अनुसंधान या शोध में इस विशेषता की प्रधानता होती है। एक शोधकर्ता (researcher) दूसरे शोधकर्ता द्वारा प्राप्त परिणाम या ज्ञान के आधार पर उस परिणाम या ज्ञान का समर्थन करता है या खंडन करता है और नया ज्ञान प्रस्तुत करता है। किसी भी विज्ञान के जीवित रहने के लिए उसके क्षेत्र के अन्तर्गत आलोचनात्मक अध्ययनों का होते रहना आवश्यक है।
6. **विशिष्ट उपकरण (Specific tools)**- अनुसंधान या शोध-प्रक्रिया को संचालित करने के लिए कुछ विशेष उपकरणों का प्रयोग करना आवश्यक होता है। मनोवैज्ञानिक शोध के लिए भी कई प्रकार के उपकरणों का व्यवहार किया जाता है। उपकरणों के अन्तर्गत कई प्रकार की प्रविधियों (techniques) तथा परीक्षणों (tests) की गणना की जाती है। शोध करते समय शोधकर्ता (researcher) अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रदत्त संग्रह (data collection) के लिए निरीक्षण (observation) साक्षात्कार (interview) प्रश्नावली (questionnaire) आदि प्रविधियों का उपयोग करता है।
7. **वैज्ञानिक अभिकल्प (Scientific design)**- वैज्ञानिक शोध में अनुकूल अभिकल्पों का व्यवहार किया जाता है। शोध के उद्देश्य के अनुकूल एक योजना (plan) या स्कीम (scheme) बनाता है कि अनुसंधान कैसे किया जायेगा, प्रदत्त संग्रह (data collection) के लिए किन-किन उपकरणों (tools) तथा परीक्षणों (tests) का उपयोग किया जायेगा, प्रदत्त का निरूपण (treatment) कैसे किया जाएगा, इत्यादि। **रेबर एवं रेबर (Reber and Reber 1940)** ने अभिकल्प (design) की व्याख्या अधिक व्यापक अर्थ में किया है।
8. **वस्तुनिष्ठता (Objectivity)**- वैज्ञानिक शोध में वस्तुनिष्ठता की विशेषता पायी जाती है। वस्तुनिष्ठ अध्ययन का अर्थ वह अध्ययन है, जिसमें शोधकर्ता (researcher) किसी समस्या, या विषय-वस्तु का अध्ययन पक्षपात (bias), पूर्वधारणा (prejudice), रूढ़िबद्ध धारणा (stereotypes) आदि व्यक्तिगत कारकों (subjective factors) से प्रभावित हुए बिना ही करता है।
9. **परिमाणन (Quantification)**- वैज्ञानिक अनुसंधान या शोध में परिमाणन की विशेषता भी पायी है। यह विशेषता यथ. संभव मनोवैज्ञानिक शोधों में भी पाई जाती है। इसका अर्थ है कि जहाँ तक संभव होता है।
10. **प्रतिकृति (Replication)**- साधारण अर्थ में पुनरावृत्ति (Repetition) को ही प्रतिकृति (Replication) कहते हैं। शोधकर्ता (researcher) अपने शोध या अध्ययन के आधार पर जो परिणाम या ज्ञान प्राप्त करता है, उसकी सत्यता की जाँच के लिए वह अपने शोध या अध्ययन को बार-बार दोहराता है। यदि वह हर बार एक ही तरह का परिणाम प्राप्त करता है तो समझा जाता है कि उसका शोध विश्वसनीय (reliable) है। भिन्न-भिन्न समयों में अध्ययन को दोहराने पर भिन्न-भिन्न परिणाम मिलते हैं तो समझा जाता है कि अध्ययन अविश्वसनीय (unreliable) है।
11. **सत्यापन (Verification)**- सत्यापन किसी भी अनुसंधान या शोध के लिए एक आवश्यक गुण है। मनोवैज्ञानिक अनुसंधान में यह गुण भी पाया जाता है। यह किसी चीज/पदार्थ की सत्यता, सटीकता या प्रामाणिकता की पुष्टि करने की प्रक्रिया को संदर्भित करता है। जेम्स ड्रेवर (James Drever, 1955) ने भी इसी अर्थ में सत्यापन शब्द की व्याख्या की है।
12. **व्यावहारिकता (Practicability)**- वैज्ञानिक शोध या मनोवैज्ञानिक अनुसंधान में व्यावहारिकता का गुण होना अपेक्षित है। व्यावहारिकता का अर्थ है कि वह शोध या अनुसंधान सैद्धांतिक (theoretical) तथा/अथवा व्यावहारिक (Practical) रूप

से उपयोगी तथा लाभप्रद हो। इस दृष्टिकोण से शोध या अनुसंधान के दो प्रकार हैं, जिन्हें शुद्ध शोध (Pure research) तथा व्यावहारिक शोध (applied research) कहते हैं।

13. **मितव्ययिता (Parsimony)**- वैज्ञानिक शोध मितव्ययी (economical) होता है। मितव्ययी होने का अर्थ यह है कि किसी प्राकृतिक घटना की व्याख्या यथासंभव सरल तरीका से की जाए। जिस शोध में अपेक्षाकृत कम समय लगता है तथा कम श्रम (effort) करना पड़ता है, उसे मितव्ययी शोध (parsimonious research) कहा जाता है।

## शोध के प्रकार (Types of Research)

- 1- **शुद्ध शोध (pure research)**- शुद्ध शोध को मौलिक शोध (basic research) तात्त्विक शोध (fundamental research) अथवा सैद्धांतिक शोध (theoretical research) भी कहते हैं। शोध का मौलिक उद्देश्य किसी प्राकृतिक घटना (natural phenomenon) के सम्बन्ध में कोई सिद्धांत (theory) या नियम (law) स्थापित करना होता है, चाहे वह व्यक्ति या समाज के लिए व्यावहारिक रूप से लाभप्रद हो या नहीं हो।

अण्डरवुड (Underwood, 1957) ने कहा है “शुद्ध शोधकर्ता विश्व (प्रकृति) की घटनाओं को केवल समझने का प्रयास करता है।

डा. एस.एम. मोहसिन (Dr. S.M. Mohsin) के अनुसार “ शुद्ध शोध का सम्बन्ध मुख्य रूप से प्रकृति के कार्य कलापों के ज्ञान से है। ”

रेबर तथा रेबर (Reber & Reber) ने कहा है कि शुद्ध शोध वह अनुसंधान है, जिसका मुख्य उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं की व्याख्या करना, समझना तथा अर्जन करना है।

- (i) शुद्ध शोध का मुख्य आधार जिज्ञासा (curiosity) है। शोधकर्ता अपनी जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए इस प्रकार का शोध करता है।
- (ii) शुद्ध अनुसंधान की एक विशेषता यह है कि यहाँ शोधकर्ता इस बात में रुचि नहीं रखता है कि इस शोध से व्यक्ति या समाज को कोई तात्कालिक लाभ (immediate advantage) होगा या नहीं।
- (iii) शुद्ध शोध (pure research) से प्रकृति (nature) की घटनाओं को समझने में सुविधा होती है। उन घटनाओं के सम्बन्ध में कोई निश्चित ज्ञान प्राप्त होता है। इसी ज्ञान के आलोक में उनकी व्याख्या करना संभव होता है।
- (iv) शुद्ध अनुसंधान (pure investigation) या शुद्ध शोध (pure research) में शोध का व्यावहारिक पक्ष (practical aspect) गौण तथा उपेक्षित होता है। शुद्ध शोधकर्ता समाज या राष्ट्र को लाभान्वित करने के विचार से अनुसंधान नहीं करता है, यह दूसरी बात है कि अनुसंधान से प्राप्त ज्ञान या सूचना से भविष्य में समाज या राष्ट्र, को कोई लाभ पहुँच जाए।

- (v) शुद्ध शोधकर्ता यह जानने का प्रयास करता है कि प्रकृति में कोई घटना (event) क्यों घटती है। वह अपनी इस जानकारी या ज्ञान के आलोक में प्राकृतिक घटनाओं के क्रम में परिवर्तन लाकर समाज को लाभ पहुँचाने का कोई भी उद्देश्य रखता है।

2. **व्यवहारपरक शोध (Applied research)**- व्यवहारपरक शोध समाज को कोई विशेष लाभ पहुँचाने के विचार से किया जाता है। यहाँ शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता (investigator) का उद्देश्य किसी व्यावहारिक समस्या (practical problem) का समाधान करना होता है।

**मोहसिन (Mohsin)** के अनुसार “व्यवहारपरक शोध वह है जिसमें विश्व (प्रकृति) में परिवर्तन लाने के निश्चित उद्देश्य के साथ प्राकृतिक घटनाओं को समझने का प्रयास किया जाता है। व्यावहारिक वैज्ञानिक की शोध-क्रियायें व्यावहारिक समस्याओं की और निर्देशित होती हैं।”

**टाउनसेंड (Townsend)** के अनुसार “व्यावहारिक शोध में विज्ञान की ऐसी प्रविधियों का अध्ययन किया जाता है, जिनका व्यवहार विशिष्ट दृष्टान्तों में सूचना प्राप्त करने तथा विशिष्ट समस्या के समाधान हेतु किया जाता है।

- (i) व्यावहारिक शोध का मुख्य आधार तात्कालिक व्यावहारिक समस्या है। शोधकर्ता किसी तात्कालिक व्यावहारिक समस्या के समाधान का प्रयास करता है। जैसे-बालकों की शिक्षा को सफल कैसे बनाया जाए, शिक्षण का कौन-सा नियम अधिक उपयोगी है।
- (ii) व्यावहारिक शोध में शोध का सैद्धांतिक पक्ष (theoretical aspect) गौण होता है। यहाँ ज्ञान-अर्जन (acquisition of knowledge) को ध्यान में रखकर शोध नहीं किया जाता है, बल्कि किसी तात्कालिक समस्या के समाधान को ध्यान में

रखकर शोध किया जाता है। मोरिस (Morris, 1979) ने कहा है कि यहाँ अनुसंधान का केन्द्र ज्ञान-अर्जन नहीं होता है, बल्कि कोई तात्कालिक व्यावहारिक समस्या होती है।

- (iii) व्यावहारिक शोध में प्राकृतिक घटनाओं (natural events) की गतिविधि में परिवर्तन लाने का प्रयास किया जाता है ताकि किसी समस्या का समाधान निकाला जा सके। शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता अपने ज्ञान के आलोक में प्राकृतिक घटना या घटनाओं में परिवर्तन लाकर तात्कालिक व्यावहारिक समस्या का समाधान करता है।
- (iv) व्यावहारिक शोध की एक विशेषता यह भी है कि यहाँ शोधकर्ता बहुधा किसी संगठन (organization) का सदस्य होता है। वह प्रायः अपने संगठन की सहायता से किसी विशेष क्षेत्र में समस्या का समाधान करता है।
- (v) व्यावहारिक शोध का सम्बन्ध बहुधा व्यावहारिक विज्ञानों (applied sciences) से होता है। उद्योग, शिक्षा, व्यवसाय (occupation), मनोचिकित्सा (psychiatry), आदि क्षेत्रों में इसका उपयोग अधिक देखा जाता है।

## शुद्ध शोध, व्यवहारपरक शोध में समानताएं एवं अन्तर

शुद्ध शोध (pure research) तथा व्यावहारिक शोध (applied research) में कई तरह की समानताएं हैं। (i) इन दोनों के बीच गुणात्मक (qualitative) समानता है। इन दोनों का उद्देश्य ज्ञान-अर्जन है, यद्यपि शुद्ध शोध में ज्ञान के अमूर्त पक्ष पर बल दिया जाता है और व्यावहारिक शोध में इसके मूर्त पक्ष पर। (ii) दोनों प्रकार के शोधों का दृष्टिकोण वास्तव में आविष्कारशील (inventive) है। (iii) इन दोनों में आवश्यक उपकरणों (tools) का व्यवहार किया जाता है। (iv) इन दोनों में शोधकर्ता अपेक्षित परीक्षणों (tests) एवं मापनियों (scales) का व्यवहार करते हैं। (v) इन दोनों प्रकार के शोधों का स्वरूप आनुभविक (empirical) होता है।

### शुद्ध शोध तथा व्यवहारपरक शोध में अन्तर

शुद्ध शोध (pure research) तथा व्यवहारपरक (applied research) में उपर्युक्त समानताओं के होते हुए भी निम्नलिखित अन्तर या भिन्नताएं हैं:

1. शुद्ध शोध (pure research) में शोधकर्ता का उद्देश्य (purpose) केवल अपनी जिज्ञासा (curiosity) की संतुष्टि करना होता है। उसके सामने अपने शोध द्वारा समाज को लाभान्वित करने का उद्देश्य नहीं होता है। न्यूटन (Newton) को यह जिज्ञासा हुई कि पेड़ से फल नीचे पृथ्वी पर ही क्यों गिरता है। अपनी इसी जिज्ञासा की संतुष्टि हेतु उसने अपना शोध कार्य आरंभ किया और यह ज्ञान प्राप्त किया कि पृथ्वी में आकर्षण शक्ति है। दूसरी ओर व्यावहारिक या व्यवहारपरक शोध (applied research) में शोधकर्ता का उद्देश्य समाज को कोई लाभ पहुँचाना होता है। न्यूटन द्वारा प्रस्तुत गुरुत्वाकर्षण के नियम (law of gravitation) से सम्बद्ध अनुसंधान करने के पश्चात् में व्यावहारिक शोधकर्ताओं ने समाज को कई तरह से लाभान्वित किया।
2. शुद्ध अनुसंधान में शोधकर्ता स्वयं व्यवस्थित रूप से अध्ययन करके परिकल्पना (hypothesis) को जाँच करता है, सिद्धांत (theory) स्थापित करता है, तथा किसी नियम (law) को निर्माण करता है। जैसे- एडवर्ड थॉर्नडाइक (Edward Thorndike Born- 31-08-1874 American Psychologist) ने अपने शोध के आधार पर प्रयत्न एवं मूल सिद्धान्त (trial and error theory) का प्रतिपादन किया और शिक्षण के तीन नियमों अर्थात् तत्परता-नियम (law of readiness), अभ्यास-नियम (law exercise) तथा प्रभाव-नियम (law of effect) का निर्माण किया। दूसरी ओर व्यावहारिक अनुसंधान में शोधकर्ता मूलतः सिद्धांत या नियम नहीं बनाता है, बल्कि शुद्ध शोधों से प्राप्त सिद्धांतों या नियमों की सहायता से व्यावहारिक समस्याओं (practical problems) का समाधान करता है। तथा बालकों को शिक्षा के प्रति कैसे प्रेरित किया जाए, किन परिस्थितियों में पुरस्कार (reward) तथा किन परिस्थितियों में दंड (punishment) दिया जाए, इत्यादि! शामिल है।
3. शुद्ध शोध में शोधकर्ता स्वतः समस्या ढूँढता है तथा अनुसंधान करता है इसके लिए वह किसी संस्था या संगठन पर निर्भर नहीं रहता है। दूसरी ओर व्यावहारिक शोध में प्रायः ऐसा नहीं होता है यहां शोधकर्ता अक्सर/ज्यादातर किसी संगठन या संस्था का सदस्य होता है और उसकी सहायता से वह किसी निश्चित क्षेत्र में निश्चित समस्या का समाधान करता है।
4. शुद्ध शोध में विश्व या प्रकृति (nature) की घटनाओं को समझने का प्रयास किया जाता है। शोधकर्ता यह जानना चाहता है कि कोई प्राकृतिक घटना इस ढंग से क्यों घटती है। वह उस घटना में परिवर्तन लाने तथा उससे लाभ उठाने का प्रयास



नहीं करता है। इसके विपरीत व्यावहारिक शोध में प्राकृतिक घटना में अपेक्षित परिवर्तन लाने तथा उससे अधिक लाभ उठाने का प्रयास किया जाता है।

5. शुद्ध शोध तथा व्यावहारिक शोध के बीच एक मौलिक अंतर दोनों के दृष्टिकोण में है। शुद्ध शोध में केवल सैद्धांतिक ज्ञान की खोज पर बल दिया जाता है। यहाँ ज्ञान मात्र ज्ञान के लिए (Knowledge for knowledge sake) हासिल किया जाता है। दूसरी ओर व्यावहारिक शोध में व्यावहारिक ज्ञान पर बल दिया जाता है। यहाँ व्यावहारिक लाभ के लिए ज्ञान प्राप्त किया जाता है। अतः शुद्ध शोध अर्थात् मौलिक शोध (basic research) में ज्ञान साध्य (end) है, जबकि व्यावहारिक शोध में ज्ञान साधन (means) है और उस ज्ञान के माध्यम से किसी व्यावहारिक समस्या का समाधान साध्य (end) है।
6. शुद्ध अनुसंधान में संरचनाओं (constructs) का निर्माण किया जाता है। दूसरी ओर व्यावहारिक शोध में उन संरचनाओं का उपयोग सामाजिक, शैक्षणिक, औद्योगिक आदि समस्याओं के समाधान में किया जाता है।
7. शुद्ध अनुसंधान कच्चा माल (raw materials) जमा करता है। वह प्राकृतिक घटनाओं के संबंध में तथ्यों (facts) का एकत्रीकरण (collection) करता है। दूसरी ओर व्यावहारिक अनुसंधानकर्ता उस कच्चे माल से उपयोगी वस्तुओं का निर्माण करता है। वह एकत्रित तथ्यों के आलोक में व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करता है।
8. शुद्ध शोध में शोध का सैद्धांतिक (theoretical aspect) पक्ष प्रधान होता है और व्यावहारिक पक्ष गौण होता है। इसके विपरीत व्यावहारिक शोध में शोध का व्यावहारिक पक्ष प्रधान होता है और सैद्धांतिक पक्ष गौण होता है।
9. शुद्ध अनुसंधान के लिए अमूर्त योग्यता (abstract ability) अधिक सहायक होती है जबकि व्यावहारिक शोध में मूर्त योग्यता (concrete ability) अधिक सहायक होती है।
10. कठिनाई स्तर (difficulty level) के आधार पर भी इन दोनों प्रकार के शोधों में अंतर किया जा सकता है। व्यावहारिक शोध (applied research) की तुलना में शुद्ध शोध (pure research) अधिक कठिन होता है। एक अर्थ में शुद्ध शोधकर्ता नये मार्ग का निर्माण करता है और व्यावहारिक शोधकर्ता उस निर्मित मार्ग पर चलकर उसकी उपयोगिता सिद्ध करता है। शुद्ध तथा व्यावहारिक शोध के अलावा और भी कई प्रकार के शोध हैं। इनमें ऐतिहासिक शोध (historical research) क्रियात्मक शोध (action research), सर्वेक्षण शोध (survey research), प्रतिगामी शोध (ex post facto research), सहसम्बन्ध शोध (correlational research), परस्पर सांस्कृतिक शोध (cross cultural research), प्रयोगात्मक शोध (experimental research) आदि मुख्य हैं।

#### स्मरणीय बिन्दु-

- शोध एक व्यवस्थित एवं वैज्ञानिक प्रक्रिया है।
- शोध का उद्देश्य नए ज्ञान की खोज करना है।
- शुद्ध शोध ज्ञान-वृद्धि हेतु तथा व्यावहारिक शोध समस्या समाधान हेतु किया जाता है।
- Kerlinger ने शोध को नियंत्रित एवं अनुभवजन्य अध्ययन कहा।
- शोध में वस्तुनिष्ठता एवं सत्यापन आवश्यक हैं।

#### शब्दावली-

| शब्द             | अर्थ           |
|------------------|----------------|
| Research         | शोध            |
| Hypothesis       | परिकल्पना      |
| Empirical        | अनुभवजन्य      |
| Verification     | सत्यापन        |
| Pure Research    | शुद्ध शोध      |
| Applied Research | व्यावहारिक शोध |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. शोध की परिभाषा दीजिए।
2. शुद्ध शोध क्या है?
3. व्यवहारिक शोध का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. शोध की दो विशेषताएँ लिखिए।
5. अनुसंधान प्रक्रिया क्या है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध की अवधारणा एवं परिभाषाओं का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. शुद्ध एवं व्यवहारिक शोध में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. शोध की विशेषताओं का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. वैज्ञानिक शोध की प्रकृति पर निबंध लिखिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध का मुख्य उद्देश्य क्या है?  
(a) मनोरंजन  
(b) ज्ञान की खोज  
(c) व्यापार  
(d) राजनीति
2. Applied Research का संबंध किससे है?  
(a) सैद्धांतिक ज्ञान  
(b) व्यावहारिक समस्या समाधान  
(c) साहित्य  
(d) कला
3. Kerlinger के अनुसार शोध है-  
(a) कल्पना  
(b) नियंत्रित अध्ययन  
(c) मनोरंजन  
(d) चर्चा
4. शोध की कौन-सी विशेषता निष्पक्षता दर्शाती है?  
(a) वस्तुनिष्ठता  
(b) कल्पना  
(c) भावना  
(d) अनुमान
5. Pure Research को अन्य किस नाम से जाना जाता है?  
(a) Applied Research  
(b) Fundamental Research  
(c) Survey  
(d) Experimental



## इकाई-1.2 शोध के उद्देश्य, व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र

### उद्देश्य-

1. शोध के उद्देश्यों को समझना।
2. मनोवैज्ञानिक शोध के क्षेत्रों की पहचान करना।
3. सामाजिक एवं व्यवहारिक शोध के महत्व को समझना।

इस संदर्भ में निम्नलिखित उद्देश्य अधिक महत्वपूर्ण हैं-

1. ज्ञान को विकसित करना (To increase knowledge)- शोध का एक मौलिक उद्देश्य ज्ञान को विकसित करना है।
2. नूतन ज्ञान की खोज करना (To explore new knowledge)- शोध या अनुसंधान का मुख्य उद्देश्य नये ज्ञान की खोज करना है। विशेष रूप से शुद्ध-शोध (pure research) के अन्तर्गत अनुसंधानकर्ता (researcher) किसी नये ज्ञान की छानबीन करता है। इस प्रकार के शोध या अनुसंधान को अन्वेषक शोध (exploratory research) भी कहते हैं।
3. विद्यमान ज्ञान की पुष्टि करना (To confirm existing knowledge)- शोध या अनुसंधान का एक उद्देश्य मौजूदा ज्ञान का सत्यापन (verification) करना है।
4. व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करना (To solve practical problems)- शोध या अनुसंधान का एक महत्वपूर्ण लक्ष्य या उद्देश्य व्यावहारिक समस्याओं का समाधान करना है। इस प्रकार के शोध को व्यावहारिक शोध (applied research) कहते हैं। व्यावहारिक अनुसंधानकर्ता इसी उद्देश्य से शुद्ध शोधों से प्राप्त सिद्धांतों (theories) तथा नियमों (laws) का उपयोग करता है।
5. घटनाओं तथा तथ्यों को एकत्र करना (To collect events and facts)- पी०वी० यंग (P.V.Young) ने कहा है कि शोध का एक उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं तथा तथ्यों का सुव्यवस्थित संग्रह (systematic collection) है। यह उद्देश्य स्पष्ट रूप से ऐतिहासिक शोध (historical research) में देखा जा सकता है।
6. अवलोकित तथ्यों का वर्गीकरण करना (To classify observed facts)- शोध का उद्देश्य न केवल तथ्यों का संग्रह करना है, बल्कि उनका वर्गीकरण करना भी है। शोधकर्ता अवलोकित तथ्यों को आवश्यकता के अनुसार कई भागों में विभाजित कर देता है और प्रत्येक का नाम रख देता है ताकि स्वयं याद रखने में सुविधा हो और दूसरों को बतलाने में भी आसानी हो।
7. अवलोकन का उपयोग करना (To use observation)- एडवार्ड्स के अनुसार शोध का उद्देश्य अपनी रुचि के प्रश्नों के उत्तर के आधार के रूप में अवलोकन का उपयोग करना है। प्राकृतिक घटना को समझने के लिए अवलोकन का उपयोग करना आवश्यक बन जाता है।
8. सामाजिक व्यवहार को नियंत्रित करना (To control social behaviour)- पी०वी० यंग (P.V.Young) के अनुसार शोध का प्राथमिक उद्देश्य सामाजिक जीवन को समझना है ताकि सामाजिक व्यवहार पर नियंत्रण प्राप्त किया जा सके। यह उद्देश्य सामाजिक शोध (social research) में अधिक प्रधान होता है।
9. मानवता का कल्याण करना (To make welfare of humanity)- शोध या अनुसंधान का चरम उद्देश्य मानवता का कल्याण करना है। शोध का लक्ष्य ज्ञान प्राप्त करना है और ज्ञान वास्तव में मूलतः सामाजिक पदार्थ (social commodity) है, जिसका उपयोग मानव कल्याण के लिए किया जाता है।
10. भविष्यवाणी करना (To make prediction)- शोध या अनुसंधान का एक प्रधान उद्देश्य भविष्यवाणी करना है। कारण, प्रकृति का यह नियम है कि समान परिस्थितियों में समान घटनाएँ अवश्य घटेंगी और प्रकृति का नियम समय तथा स्थान से परे (beyond) होता है। इससे मानव जीवन को अधिक से अधिक सुखद बनाने में सहायता मिलती है।

### व्यवहारपरक शोध या मनोवैज्ञानिक शोध का क्षेत्र-

व्यवहारपरक शोध के अन्तर्गत मनोवैज्ञानिक शोध, सामाजिक शोध, शैक्षणिक शोध (educational research), आदि की गणना की जाती है। व्यवहारपरक शोध को एक अर्थ में सामाजिक शोध (social research) भी कहा जाता है। मनोवैज्ञानिक शोध के क्षेत्र का प्रश्न है, इसका क्षेत्र भौतिक विज्ञान के क्षेत्र की तुलना में अधिक व्यापक तथा विस्तृत है।

1. मनोवैज्ञानिक शोध का एक महत्वपूर्ण क्षेत्र मानसिक योग्यताएँ या क्षमतायें हैं। बुद्धि (intelligence), अभिवृत्ति (attitude), अभिक्षमता (aptitude) आदि क्षेत्रों में अनेक शोधकार्य किये गये हैं और आज भी तेजी के साथ हो रहे हैं।
2. चिन्तन (thinking), कल्पना (imagination), प्रत्यक्षीकरण (perception), शिक्षण (learning), स्मरण (remembering) आदि क्षेत्रों में अनेक शोध किये गये हैं। आज भी अनेक मनोवैज्ञानिक इस प्रकार की संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं (cognitive processes) से संबंधित अनुसंधान में लगे हुए हैं।
3. भाव (feelings), संवेग (emotion) आदि भावात्मक प्रक्रियाओं (affective processes) से संबंधित क्षेत्रों में भी अनेक मनोवैज्ञानिक अनुसंधान होते रहे हैं और आज भी यह सिलसिला जारी है।
4. प्रेरणा (motivation) के क्षेत्र में भी मनोवैज्ञानिक शोध होते रहे हैं। व्यक्ति के व्यवहार पर प्रेरणा का प्रभाव किस रूप में पड़ता है, इससे संबंधित अनेक शोध पहले भी हो चुके हैं। पुरस्कार (reward), दंड (punishment), चिन्ता (anxiety), तनाव (tension) आदि प्रेरणा तथा प्रोत्साहन (incentive) के विभिन्न रूप हैं, जिनसे संबंधित अनेक अनुसंधान किये जा चुके हैं और वर्तमान समय में भी निरन्तर हो रहे हैं।
5. व्यक्तित्व से संबंधित समस्याओं के संबंध में भी मनोवैज्ञानिक शोध किये गये हैं। शोध का यह एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है। व्यक्तित्व-समायोजन (adjustment) से संबंधित अनुसंधान आज भी जारी है। इसी प्रकार असंगठित व्यक्तित्व (disorganized personality) भी मनोवैज्ञानिक शोध के लिए एक महत्वपूर्ण क्षेत्र है।
6. वर्तमान समय में विभिन्न संस्कृतियों के परस्पर प्रभावों को निर्धारित करने के लिए मनोवैज्ञानिक शोध व्यापक रूप में होने लगे हैं। व्यक्तित्व-शीलगुणों (personality traits), संज्ञानात्मक प्रतिरूप (cognitive patterns), अभियोजन प्रतिरूप (adjustment patterns) आदि पर सांस्कृतिक विविधता (cultural variation) के प्रभाव को निर्धारित करने हेतु शोध कार्य किये जा रहे हैं। भारत में आदिवासी संस्कृति (tribal culture) तथा गैर-आदिवासी संस्कृति (non-tribal culture) से संबंधित शोधकार्य किये जा रहे हैं। इस क्षेत्र में क्रॉस वर्गीय शोध (cross sectional research) भी उल्लेखनीय है।
7. सामाजिक आर्थिक वचन (socio-economic deprivation) से संबंधित क्षेत्रों में भी मनोवैज्ञानिक अनुसंधान बड़े पैमाने पर होने लगा है। भारत में लाभान्वित बच्चों (advantaged children) तथा अलाभान्वित बच्चों (disadvantaged children) अथवा सम्पन्न बच्चों (privileged children) तथा असंपन्न बच्चों (non-privileged children) के व्यक्तित्व के विभिन्न पक्षों के संबंध में तुलनात्मक अध्ययन किये जाते हैं।
8. उद्योग के क्षेत्र में नाना प्रकार के शोध-कार्य किये जाते हैं। कर्मचारी चयन (personnel selection), कार्य संतुष्टि (job satisfaction), मनोबल (morale), विज्ञापन (advertisement), प्रबंध (management) आदि क्षेत्र में अनेक शोध कार्य किये गये हैं।
9. शिक्षा के क्षेत्र में भी विभिन्न प्रकार के शोध कार्य होते रहे हैं। शिक्षा को सफल बनाने के उद्देश्य से संबंधित समस्याओं पर शोध का सिलसिला आज भी जारी है। बच्चे अपनी शिक्षा में क्यों पिछड़ जाते हैं, क्यों असफल हो जाते हैं, शैक्षिक उपलब्धि (academic achievement) पर किन-किन कारकों का प्रभाव पड़ता है, बच्चे पढ़ाई बीच में ही क्यों छोड़ देते हैं, शिक्षा में बच्चों की रुचि को कैसे बढ़ाया जा सकता है, आदि। इसी प्रकार बाल-मनोविज्ञान, पशु-मनोविज्ञान, मानसिक विकारों-मनोविज्ञान, अपराध-विज्ञान (criminology) तथा मानव अभियन्ता (human engineering) के क्षेत्रों में शोध कार्य व्यापक रूप में जारी है।

## शोध का महत्त्व, आवश्यकता या उपयोगिता

शोध का महत्त्व जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दृष्टिगोचर होता है। मानव जीवन में शोध के महत्त्व, आवश्यकता या उपयोगिता को निम्नलिखित स्तम्भों में विभाजित कर सकते हैं-

1. **जिज्ञासा-मूलप्रवृत्ति की संतुष्टि (Satisfaction of the instinct of curiosity)**- जिज्ञासा मानव को एक जन्मजात प्रवृत्ति है। इसका अर्थ यह है कि मनुष्य प्राकृतिक घटनाओं को समझने या जानने का इच्छुक होता है। वह जानना चाहता है कि पेड़ से फल पृथ्वी पर ही क्यों गिरते हैं, भूकम्प क्यों होता है, चन्द्रमा पर प्राणी है या नहीं, मंगल ग्रह पर मिट्टी है या नहीं, आदि। अनुसंधानों से न केवल अनुसंधानकर्ता की जिज्ञासा-मूलप्रवृत्ति संतुष्ट होती है, बल्कि दूसरे लोगों की जिज्ञासा भी

संतुष्ट होती है। एक जिज्ञासा की संतुष्टि हो जाने के बाद व्यक्ति दूसरी जिज्ञासा की संतुष्टि में लग जाता है।

2. **ज्ञान का विकास (Growth of Knowledge)**- अन्वेषक शोध (exploratory research) से नये ज्ञान की खोज संभव होती है। इस प्रकार के शोध या अनुसंधान से ज्ञान-भंडार विकसित हो जाता है। जीवन के भिन्न-भिन्न क्षेत्र में शोधकर्ता अपने अनुसंधान के आधार पर नये-नये ज्ञान प्राप्त करके समाज को लाभान्वित करते हैं। एक समय वह था जब हम समझा करते थे कि पृथ्वी स्थिर है और सूर्य गतिमान। लेकिन, बाद के शोध के आधार पर हमें ज्ञात हुआ कि पृथ्वी गतिमान है और सूर्य स्थिर। स्पष्ट है कि अन्वेषक शोध से नया ज्ञान प्राप्त होता है और पुष्टिकारक शोध से पुराने ज्ञान की सत्यता की जांच संभव होती है।
3. **व्यावहारिक समस्याओं का समाधान (Solution of practical problems)**- शुद्ध शोधकर्ता (pure researcher) के द्वारा प्राप्त सिद्धान्तों तथा नियमों के आधार पर व्यावहारिक शोधकर्ता (applied researcher) जीवन के विविध व्यावहारिक समस्याओं का निदान या समाधान करता है। उद्योग के क्षेत्र में कर्मचारी चयन (personnel selection), व्यवसाय संतुष्टि (job satisfaction), औद्योगिक मनोबल (industrial morale), औद्योगिक तनाव (industrial tension) आदि से संबंधित अनेक समस्याओं का समाधान अनुकूल शोधों के आधार पर किया जाता है। शिक्षा के क्षेत्र में भी अनेक व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में अनुसंधानों से मदद मिलती है। सामाजिक जीवन में पूर्वधारणा (prejudice), स्थिराकृति (stereotype), जातीयता (casteism), साम्प्रदायिकता (communalism), आक्रमण एवं हिंसा (aggression and violence) आदि से संबंधित व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में भी शोधों से सहायता मिलती है। अपराध-विज्ञान (criminology) के क्षेत्र के शोधकार्य से नाना प्रकार की व्यावहारिक समस्याओं के समाधान में सहायता मिलती है।
4. **अतीत की घटनाओं तथा तथ्यों का संग्रह (Collection of past events and facts)**- अनुसंधान में कार्यरत शोधकर्ता अतीत की संगत घटनाओं तथा तथ्यों को भिन्न-भिन्न स्रोतों (sources) के आधार पर एक साथ जमा करते हैं तथा स्रोतों की विश्वसनीयता (reliability) तथा वैधता (validity) की जांच करते हैं। विश्वसनीय तथा वैध स्रोतों पर आधारित घटनाओं तथा तथ्यों को रख लिया जाता है तथा शेष को छांट कर निकाल दिया जाता है। इस प्रकार की घटनाओं या तथ्यों से वर्तमान की समस्याओं को समझने या हल करने में मदद मिलती है। अनुकूल घटनाओं के पूर्वाभास का स्वागत किया जाता है और प्रतिकूल घटनाओं (adverse events) पूर्वाभास से बचने का प्रयास किया जाता है।
5. **भविष्यवाणी (Prediction)**- शोध के आधार पर भविष्यवाणी करना संभव होता है। प्रकृति का यह नियम है कि यदि कोई घटना एक बार घट गयी है तो समान परिस्थिति होने पर वह दूसरी बार भी घटेगी। इसी भविष्यवाणी के आधार पर भविष्य में होनेवाले प्राकृतिक संकटों (natural calamities) से हम अपना बचाव कर पाते हैं।
6. **मानवता का कल्याण (Welfare of humanity)**- शुद्ध अनुसंधान (pure research) अप्रत्यक्ष रूप से (indirectly) और व्यावहारिक शोध प्रत्यक्ष रूप से (directly) मानव कल्याण में सहायक होता है। न्यूटन (Newton) ने मात्र अपनी जिज्ञासा की संतुष्टि के लिए शोध किया और गुरुत्वाकर्षण का नियम (law of gravitation) निकाला और बाद में मानव समस्याओं के समाधान तथा मानव कल्याण में कितना योगदान दिया। मनोविज्ञान, शिक्षा तथा समाजशास्त्र के क्षेत्रों में किये गये व्यावहारिक अनुसंधानों से ऐसे-ऐसे परिणाम (results) प्राप्त हुए हैं, जिन से आज भी मानव जीवन लाभान्वित हो रहा है।
7. **सामाजिक प्रगति (social progress)**- सामाजिक प्रगति का अर्थ है भौतिक एवं मानव स्वभाव तथा मानव सम्बन्धों पर बौद्धिक नियंत्रण। किसी समाज में यदि भौतिक विकास अधिक हो, बौद्धिक स्तर ऊँचा हो तथा आध्यात्मिक मूल्यों (spiritual values) में वृद्धि हो तो कहा जायेगा कि वह समाज सामाजिक प्रगति के मार्ग पर अग्रसर है।
8. **प्रबन्ध एवं प्रशासन (Management and administration)**- शोधों से प्राप्त परिणामों के आलोक से प्रबंध तथा प्रशासन से संबंधित जटिलताओं (complexities) को सुलझाने में सुविधा होती है।
9. **शैक्षणिक कार्यक्रम (Educational programme)**- विभिन्न श्रेणियों (grades) के विद्यार्थियों की शिक्षा को सफल बनाने में शिक्षण (learning), अध्यापन (teaching) तथा प्रेरणा एवं प्रोत्साहन (motivation and incentive) के क्षेत्रों में किये गये शोधों से काफी सहायता मिली है। इसी तरह विशिष्ट बालकों अर्थात् मन्द बुद्धि के बालकों, प्रतिभाशाली बालकों, समस्यात्मक बालकों, पिछड़े बालकों, अपराधी बालकों तथा विकलांग बालकों की शिक्षा तथा उनके अभियोजन को सफल बनाने में सम्बन्धित शोधों ने बहुत बड़ी भूमिका निभाई है।
10. **विक्रयकला एवं विज्ञापन (Salesmanship and advertisement)**- मनोवैज्ञानिकों ने अनुसंधान करके कुछ ऐसे सिद्धान्तों (principles) का उल्लेख किया है, जिनका उपयोग करके विक्रयकला तथा विज्ञापन को सफल बनाने में काफी

सफलता मिली है।

11. **राष्ट्रीय एवं अन्तर्राष्ट्रीय समझ का विकास (Development of national and international understanding)**- शिक्षा का एक प्रधान उद्देश्य राष्ट्रीय तथा अन्तर्राष्ट्रीय समझ या भावना को विकसित करना है। समझ या भावना को कैसे विकसित किया जाये, किन उपायों (measures) का उपयोग किया जाये, इन सब की जानकारी संबंधित शोधों से ही संभव होती है। **मोरिकसन (Morrickson, 1969)** ने शोध के इस महत्वपूर्ण पक्ष पर विशेष रूप से बल दिया है।

#### **स्मरणीय बिन्दु-**

शोध ज्ञान-वृद्धि का माध्यम है।

शोध सामाजिक समस्याओं के समाधान में सहायक है।

मनोवैज्ञानिक शोध में बुद्धि, अभिवृत्ति एवं प्रेरणा का अध्ययन किया जाता है।

शिक्षा एवं उद्योग में शोध का महत्वपूर्ण योगदान है।

शोध मानव कल्याण हेतु आवश्यक है।

#### **शब्दावली-**

| शब्द         | अर्थ        |
|--------------|-------------|
| Intelligence | - बुद्धि    |
| Attitude     | - अभिवृत्ति |
| Motivation   | - प्रेरणा   |
| Learning     | - अधिगम     |
| Emotion      | - संवेग     |

#### **5 अंक के प्रश्न-**

1. शोध के उद्देश्य लिखिए।
2. मनोवैज्ञानिक शोध क्या है?
3. सामाजिक शोध का महत्व बताइए।
4. प्रेरणा पर शोध का महत्व लिखिए।
5. व्यवहारिक शोध का क्षेत्र बताइए।

#### **15 अंक के प्रश्न-**

1. शोध के प्रमुख उद्देश्यों का वर्णन कीजिए।
2. मनोवैज्ञानिक शोध के क्षेत्रों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. सामाजिक एवं शैक्षिक शोध के महत्व पर निबंध लिखिए।
4. मानव कल्याण में शोध की भूमिका स्पष्ट कीजिए।

#### **बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. शोध का प्रमुख उद्देश्य है-

(a) ज्ञान वृद्धि

(b) खेल

(c) व्यापार

(d) राजनीति

2. Motivation का अर्थ है-

(a) बुद्धि

(b) प्रेरणा

(c) भावना

(d) स्मृति

3. Psychological Research का संबंध है-

(a) व्यवहार

(b) खेती

(c) व्यापार

(d) संगीत

4. शोध का अंतिम उद्देश्य है-

(a) धन कमाना

**(b) मानव कल्याण**

(c) राजनीति

(d) मनोरंजन

5. Learning किस क्षेत्र से संबंधित है?

**(a) मनोविज्ञान**

(b) कृषि

(c) इंजीनियरिंग

(d) चिकित्सा

## इकाई-1.3 वैज्ञानिक ज्ञान और वैज्ञानिक विधि, वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप या विशेषतायें

### उद्देश्य-

1. वैज्ञानिक ज्ञान की प्रकृति समझना।
2. वैज्ञानिक विधि के तत्वों को जानना।
3. वैज्ञानिक अध्ययन की प्रक्रिया समझना।

**वैज्ञानिक ज्ञान का अर्थ (Meaning of Scientific knowledge)-** शोध का उद्देश्य प्राकृतिक घटनाओं एवं तथ्यों (facts) के संबंध में ज्ञान (knowledge) प्राप्त करना है।

वैज्ञानिक ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है जो किसी प्राकृतिक घटना के संबंध में पक्षपातरहित स्रोत (unbiased source) के आधार पर प्राप्त होता है। मोहसिन (Mohsin, 1984) के अनुसार तथ्यों (facts) के पक्षपातरहित, विश्वसनीय तथा वैध निरीक्षण से जो सूचना प्राप्त होती है, वही वैज्ञानिक ज्ञान है। रेबर तथा रेबर (Reber and Reber, 2001) ने भी वैज्ञानिक ज्ञान को इसी अर्थ में परिभाषित किया है।

रेबर तथा रेबर ने इसके कई प्रकारों का उल्लेख किया है- (क) परिचय द्वारा ज्ञान (knowledge of acquaintance), (ख) घोषणात्मक ज्ञान (declarative knowledge), (ग) तथ्यपरक ज्ञान (factual knowledge), (घ) कार्यात्मक ज्ञान (functional knowledge), (ङ) प्रक्रियात्मक ज्ञान (procedural knowledge) तथा (च) परिणाम के ज्ञान (knowledge of results)। परिचय-ज्ञान का अर्थ वह सूचना (information) है, जिसे व्यक्ति प्रत्यक्ष रूप (directly) से इंद्रिय प्रदत्त (sense data) के आधार पर प्राप्त करता है। घोषणात्मक ज्ञान का अर्थ वह सूचना या ज्ञान है, जिसके संबंध में व्यक्ति कोई घोषणा कर सकता है। जैसे-यह घोषणा करना कि गुलाब एक प्रकार का फूल होता है। तथ्यपरक ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है, जिसका संबंध किसी तथ्य (fact) से होता है। जैसे-यह ज्ञान की मनुष्य मरणशील (mortal) है। कार्यात्मक ज्ञान वह ज्ञान है जिसका संबंध किसी सैद्धांतिक सूचना से होता है। प्रक्रियात्मक ज्ञान (procedural knowledge) का अर्थ वह ज्ञान है जो परिचालक (operational) तथा व्यावहारिक (practical) होता है। परिणाम के ज्ञान (knowledge of results) का अर्थ अपने द्वारा किये कार्य या निष्पादन (performance) के अच्छे-बुरे परिणाम की जानकारी है।

### वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप एवं विशेषतायें

- 1- **वस्तुनिष्ठता (objectivity)-** वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित एक मुख्य विशेषता वस्तुनिष्ठता है। वैज्ञानिक ज्ञान सदा वस्तुनिष्ठता (objectivity) होता है। वस्तुनिष्ठ ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है जो पक्षपात (bias), पूर्वाग्रह (prejudice) तथा आत्मनिष्ठ व्याख्या (subjective interpretation) से मुक्त होता है।
- 2- **प्रमाणीकरण (Verification)-** प्रमाणीय (Verifiable) ज्ञान का अर्थ वह ज्ञान है जिसका सत्यापन संभव हो। उल्लेखनीय है कि वही ज्ञान प्रमाणनीय या सत्यापनीय होता है, जो वस्तुनिष्ठ (objective) होता है। आत्मनिष्ठ ज्ञान (subjective knowledge) में प्रमाणीकरण का यह गुण नहीं पाया जाता है।
- 3- **सुनिश्चितता (Explicitness)-** वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुतः सुनिश्चित (definite) तथा स्पष्ट होता है, वह उसी हद तक यथार्थ भी होता है।
- 4- **यथार्थता (Exactness)-** जो ज्ञान जिस हद तक सुनिश्चित तथा स्पष्ट होता है, वह उसी हद तक यथार्थ भी होता है।
- 5- **परिशुद्धता (Precision)-** वैज्ञानिक ज्ञान के लिए परिशुद्धता का गुण भी आवश्यक है। इस प्रकार के ज्ञान में लचीलापन (flexibility) बहुत कम होता है या नहीं होता है। जो ज्ञान आत्मनिष्ठ या अवैज्ञानिक होता है, उसमें परिशुद्धता कम और लचीलापन अधिक पाया जाता है।
- 6- **पूर्णता (Completion)-** वैज्ञानिक ज्ञान पूर्ण (complete) होता है। जब भी किसी प्राकृतिक घटना का ज्ञान प्राप्त होता है तो वह पूर्ण होता है।
- 7- **विश्वसनीयता एवं वैधता (Reliability and Validity)-** विश्वसनीयता का अर्थ यह है कि उस ज्ञान में स्थिरता (stability) तथा (consistency) संगति पर्याप्त मात्रा में पाई जाती है। इसी तरह वैधता का अर्थ यह है कि वह ज्ञान



वास्तविक तथा यथार्थ होता है।

- 8- **सार्वभौमिकता (Universality)**- वैज्ञानिक ज्ञान सार्विक, सार्वजनीन या सर्वभौमिक (universal) होता है। वह समय तथा स्थान से परे (beyond) होता है। ऐसा ज्ञान सभी स्थानों तथा समयों के लिए सत्य होता है।
- 9- **विश्वसनीय स्रोत (Reliable sources)**- वैज्ञानिक ज्ञान जिन स्रोतों के द्वारा प्राप्त होता है, वे विश्वसनीय होते हैं। वैज्ञानिक ज्ञान को प्राप्त करने के अनेक स्रोत हैं, जिनमें निरीक्षण (observation) तथा प्रयोग (experimentation) महत्वपूर्ण हैं।
- 10- **भविष्यवाणी (Prediction)**- वैज्ञानिक ज्ञान का एक गुण यह है कि इसके आधार पर भविष्यवाणी करना संभव होता है।

### स्मरणीय बिन्दु-

वैज्ञानिक ज्ञान प्रमाण एवं तर्क पर आधारित होता है।

वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण महत्वपूर्ण है।

तथ्य वर्गीकरण वैज्ञानिक विधि का आवश्यक तत्व है।

वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुनिष्ठ एवं सत्यापन योग्य होता है।

Karl Pearson ने वैज्ञानिक विधि के तत्व बताए।

### शब्दावली-

| शब्द              | अर्थ           |
|-------------------|----------------|
| Scientific Method | वैज्ञानिक विधि |
| Observation       | निरीक्षण       |
| Classification    | वर्गीकरण       |
| Fact              | तथ्य           |
| Validity          | वैधता          |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान क्या है?
2. निरीक्षण का महत्व बताइए।
3. वैज्ञानिक विधि के तत्व लिखिए।
4. तथ्य वर्गीकरण क्या है?
5. वैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्वों की विवेचना कीजिए।
3. वैज्ञानिक एवं सामान्य ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. वैज्ञानिक पद्धति की उपयोगिता पर निबंध लिखिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैज्ञानिक विधि का पहला चरण है-

(a) वर्गीकरण

(b) निरीक्षण



- (c) निष्कर्ष
  - (d) सिद्धांत
2. वैज्ञानिक ज्ञान आधारित होता है-
- (a) अंधविश्वास
  - (b) प्रमाण**
  - (c) कल्पना
  - (d) भावना
3. Validity का अर्थ है-
- (a) विश्वसनीयता
  - (b) वैधता**
  - (c) ज्ञान
  - (d) वर्गीकरण
4. Karl Pearson का संबंध है-
- (a) दर्शन
  - (b) वैज्ञानिक विधि**
  - (c) साहित्य
  - (d) राजनीति
5. वैज्ञानिक अध्ययन की विशेषता है-
- (a) पक्षपात
  - (b) वस्तुनिष्ठता**
  - (c) भ्रम
  - (d) कल्पना

## इकाई-1.4 साधारण ज्ञान तथा वैज्ञानिक ज्ञान में अन्तर, ज्ञान-अर्जन की विधियाँ, तथ्य, रिकल्पना, सिद्धांत और नियम

### उद्देश्य-

1. सामान्य एवं वैज्ञानिक ज्ञान का अंतर समझना।
2. परिकल्पना एवं सिद्धांत की अवधारणा जानना।
3. तथ्य एवं नियम की भूमिका समझना।
- 1- वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुनिष्ठ ( objective) होता है जबकि साधारण ज्ञान या सामान्य बोध आत्मनिष्ठ ( subjective) होता है।
- 2- वैज्ञानिक ज्ञान सार्वजनिक (universal) होता है जबकि साधारण ज्ञान असार्वजनिक ( non-universal) या व्यक्तिगत (personal) होता है।
- 3- वैज्ञानिक ज्ञान प्रमाणनीय (verifiable) होता है जबकि सामान्य बोध ( common sense) या साधारण ज्ञान (general knowledge ) प्रमाणनीय नहीं होता है।
- 4- वैज्ञानिक ज्ञान में यथार्थता (exactness) का गुण पाया जाता है जबकि साधारण ज्ञान में इस गुण का अभाव रहता है।
- 5- वैज्ञानिक ज्ञान अधिक स्पष्ट (explicit) तथा निश्चित (definite) होता है। लेकिन, साधारण ज्ञान या सामान्य ज्ञान में यह गुण नहीं होता है।
- 6- वैज्ञानिक ज्ञान में परिशुद्धता (precision) अधिक पायी जाती है और लचीलापन ( flexibility) बहुत कम। इसके विपरीत साधारण ज्ञान या सामान्य बोध में लचीलापन अधिक पाया जाता है और परिशुद्धता बहुत कम।
- 7- वैज्ञानिक ज्ञान में उच्च विश्वसनीयता (high reliability) पायी जाती है। यह ज्ञान अधिक स्थिर ( stable) तथा संगत (consistent) होता है। इसके विपरीत साधारण ज्ञान में निम्न विश्वसनीयता (low reliability) पायी जाती है।
- 8- वैज्ञानिक ज्ञान में उच्च वैधता (high validity) पाई जाती है। विशेष रूप से भविष्यवाणी वैधता ( predictive validity) काफी संतोषप्रद होती है। इसके विपरीत साधारण ज्ञान अथवा सामान्य बोध (common sense) में निम्न वैधता (low validity) पायी जाती है।
- 9- वैज्ञानिक ज्ञान का स्रोत काफी विश्वसनीय होता है। नियंत्रित अवलोकन (observation) तथा प्रयोग (experimentation) के आधार पर यह ज्ञान प्राप्त किया जाता है। इसके विपरीत साधारण ज्ञान या सामान्य बोध का स्रोत विश्वसनीय नहीं होता है।
- 10- वैज्ञानिक ज्ञान के आधार पर भविष्यवाणी (prediction) करना संभव होता है। वैज्ञानिक ज्ञान पर आधारित भविष्यवाणी में किसी तरह का खतरा ( danger) नहीं होता है। इसके विपरीत साधारण ज्ञान अथवा सामान्य बोध के आधार पर भविष्यवाणी करना संभव नहीं होता है और यदि भविष्यवाणी की जाती है तो उसमें खतरे की संभावना अधिक रहती है।
- 11- वैज्ञानिक ज्ञान में सैद्धांतिक ज्ञान की प्रधानता होती है, जबकि साधारण ज्ञान या सामान्य बोध में व्यावहारिक ज्ञान की प्रधानता होती है।  
वैज्ञानिक ज्ञान वास्तव में सामान्य ज्ञान के आधार पर विकसित होता है। वैज्ञानिक चिंतन की शुरुआत सामान्य बोध से होती है। प्राकृतिक घटनाओं के संबंध में साधारण व्यक्तियों का जो ज्ञान या बोध होता है, वैज्ञानिक (scientists) उसकी जांच करते हैं तथा उसकी सत्यता या वैज्ञानिकता को प्रमाणित करते हैं। साधारण लोग प्राकृतिक घटनाओं के संबंध में असंगठित ज्ञान या सूचनायें (informations) देते हैं और वैज्ञानिक उन्हें संगठित (organized) करते हैं। अतः विज्ञान सामान्य बोध का ही सुव्यवस्थित तथा नियंत्रित विस्तार (extension) है।

## ज्ञान-अर्जन की विधियाँ - निगमन विधि, आगमन विधि (Methods of acquiring knowledge)

ज्ञान-अर्जन की मुख्य दो विधियाँ हैं, जिन्हें निगमन-विधि (deductive method) तथा आगमन-विधि (inductive method) कहते हैं।

- (क) **निगमन विधि (Deductive method)**- इस विधि में सामान्य से विशिष्ट की ओर (from general to particular) तर्क करके कोई ज्ञान प्राप्त किया जाता है। पहले कोई सामान्य कथन प्रस्तुत किया जाता है और उसी के आधार पर किसी विशिष्ट कथन तक पहुँचने का प्रयास किया जाता है। जैसे-मनुष्य मरणशील होता है (man is mortal), अथवा सभी मनुष्य मरणशील होते हैं (all men are mortal)। यह एक सामान्य कथन है। इसके आधार पर निष्कर्ष (conclusion) निकाला जाता है कि मोहन मनुष्य है (Mohan is man) और इसलिए वह मरणशील है (Mohan is mortal)। सामान्य कथन या प्रथम वाक्य को प्रधान वाक्य (major premise), द्वितीय वाक्य को लघु वाक्य (minor premise) तथा तृतीय वाक्य को निष्कर्ष (conclusion) कहते हैं। यहां प्रधान वाक्य को सत्य मानकर प्रकृति की एकरूपता या समरूपता के नियम (law of uniformity) के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किया जाता है। प्रकृति का यह नियम है कि जो घटना एक परिस्थिति में घटती है, वह उस तरह को समान परिस्थिति में पुनः घटित होगी। इस विधि के द्वारा सही ज्ञान का अर्जन संदिग्ध ही रहता है। कारण है कि- (i) इसमें एक दोष यह है कि प्रधान वाक्य के गलत होने पर निष्कर्ष गलत हो जायेगा। यहां निष्कर्ष तभी सही होगा जब आधार वाक्य सही हो। (ii) दूसरा दोष यह है कि इसके द्वारा कोई नया ज्ञान प्राप्त नहीं होता है। (iii) तीसरा दोष यह है कि यहां ज्ञान-अर्जन के सभी चरण (steps) शामिल नहीं होते हैं।
- (ख) **आगमन विधि (Inductive method)**- इस विधि में निगमन-विधि के विपरीत क्रिया पायी जाती है। यहां विशिष्ट से सामान्य की ओर (from particular to general) तर्क करके कोई ज्ञान अर्जित किया जाता है। जैसे-मोहन मरता है, सोहन मरता है, राम मरता है, श्याम मरता है आदि। इन विशिष्ट घटनाओं के आधार पर निष्कर्ष प्राप्त किया जाता है कि सभी मनुष्य मरणशील हैं। यहाँ किसी विशिष्ट ज्ञान तक पहुँचने में पाँच चरण (steps) या अवस्थाएँ (stages) निहित हैं। (i) पहले चरण में समस्या (problem) का निर्माण किया जाता है। जैसे-एक समस्या यह हो सकती है कि क्या मनुष्य मरणशील है? (ii) दूसरे चरण में समस्या से संबंधित परिकल्पना (hypothesis) का निर्माण किया जाता है। जैसे-परिकल्पना बनायी जा सकती है कि 'मनुष्य मरणशील है'। (iii) तीसरे चरण में वास्तविक अध्ययन करके प्रदत्त संग्रह (data collection) तथा विश्लेषण (analysis) किया जाता है। (iv) चौथे चरण में प्रदत्त के विश्लेषण के आधार पर कोई निष्कर्ष (conclusion) प्राप्त किया जाता है। जैसे-निष्कर्ष प्राप्त हो सकता है कि 'मनुष्य मरणशील है'। यहां ज्ञान-अर्जन के सभी चरण (steps) शामिल नहीं होते हैं। (v) पाँचवें और अन्तिम चरण में उस निष्कर्ष या ज्ञान का सामान्यीकरण (generalization) किया जाता है। जैसे-सामान्यीकरण किया जा सकता है कि 'सभी मनुष्य मरणशील हैं'। स्पष्ट है कि आगमन विधि ज्ञान-अर्जन की वैज्ञानिक तथा विश्वसनीय (reliable) विधि है।
- (i) इस विधि के द्वारा जो ज्ञान प्राप्त होता है वह अधिक विश्वसनीय होता है।
- (ii) इसके द्वारा पुराने ज्ञान के पुष्टिकरण (confirmation) में सहायता मिलती है।
- (iii) इस विधि से नये ज्ञान का अर्जन संभव होता है। फिर भी, यह विधि निगमन-विधि की विरोधी नहीं है, बल्कि पूरक है।
- (क) **तथ्य (Fact)**- तथ्य का अर्थ वह अवलोकन (observation) है, जिसका सत्यापन (Verification) हो सके। जो जन्म लेता है, वह मरता है, इसका निरीक्षण अथवा अवलोकन हम सभी करते हैं। इसका सत्यापन कोई भी शोधकर्ता किसी भी समय किसी भी स्थान पर कर सकता है। अतः हम इस अवलोकन को तथ्य कहेंगे। गुडे तथा हैट (Goode and Hatt, 1952) ने इसी अर्थ में तथ्य को परिभाषित किया है। उनके अनुसार "तथ्य एक अनुभववादी सत्यापनीय अवलोकन हैं।"
- (ख) **परिकल्पना (Hypothesis)**- परिकल्पना का अर्थ अनुमानित कथन (conjectural statement) है। अध्ययन या प्रयोग शुरू करने के पहले अध्ययनकर्ता या प्रयोगकर्ता प्रयोगात्मक चर (experimental variable), के परिणाम के संबंध में एक अनुमान लगाता है, जिसको परिकल्पना कहते हैं। लेकिन सभी अनुमान को शोध परिकल्पना (research hypothesis) नहीं कह सकते। केवल ऐसे अनुमान को परिकल्पना कहते हैं, जो प्रमाणनीय या सत्यापनीय (verifiable) होता है। करलिंगर (Kerlinger, 2002) के अनुसार "परिकल्पना दो या अधिक चरों के बीच संबंध का अनुमानात्मक कथन है।"
- (ग) **सिद्धांत (Theory)**- (Arthur S. Rober & Rolf Rober) रेबर के अनुसार सिद्धांत शब्द का

व्यवहार तीन अर्थों में किया जाता है। (1) उनके अनुसार “सिद्धांत अभिव्यक्तियों का एक संयुक्त संग्रह है, जो सभी निरीक्षित तथ्य और आनुभविक प्रदत्त की व्याख्या से सम्बद्ध ठीक-ठीक उच्चरित अनुसंधान क्षेत्र का पूर्ण तथा संगत लक्षण वर्णन प्रस्तुत करता है।”

(2) इसी तरह रेबर तथा रेबर ने सिद्धांत शब्द की परिभाषा देते हुए कहा “सिद्धांत एक सामान्य नियम या सम्बद्ध सामान्य नियमों का एक संग्रह है, जिसका प्रतिपादन ज्ञान तथ्यों तथा आनुभविक परिणामों के एक संसक्त की व्याख्या हेतु किया जाता है।”

(3) रेबर तथा रेबर ने सिद्धांत शब्द को प्रचलित भाषा शैली में भी परिभाषित किया है। उन्होंने कहा “सिद्धांत ऐसे विचारों या नियमों के विवेकी संसक्त के लिए एक सूचक शब्द (catch word) है, जिन्हें निसकासनीय या सँदिग्ध समझा जाता है।”

(घ) **नियम या कानून (Law)**- वैधिक भाषा में नियम का तात्पर्य सरकार द्वारा आरोपित आचरण सम्बद्ध नियम से है। विज्ञान की भाषा में प्रकृति में पायी गयी एक समानता (uniformity) के विवरण को नियम, कानून या विधि कहते हैं। चैपलिन (Chaplin, 1975), ने इसी अर्थ में इसकी परिभाषा दी है। उनके अनुसार “वैज्ञानिक नियम व्यापक सामान्यीकरण हैं जो चरों के बीच कारण-कार्य संबंधों तथा उनकी पूर्ववर्ती अवस्थाओं का वर्णन करते हैं।”

प्रयोगकर्ता, अध्ययनकर्ता या शोधकर्ता (researcher) सबसे पहले किसी घटना या तथ्य के संबंध में कोई परिकल्पना बनाता है। फिर वास्तविक प्रयोग, अध्ययन या शोध करके उस परिकल्पना की जाँच करता है। जब परिकल्पना सही प्रमाणित हो जाती है तो उसे सिद्धांत के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है। अन्त में भिन्न-भिन्न शोधकर्ता, प्रयोगकर्ता या अध्ययनकर्ता स्वतंत्र रूप से उस सिद्धांत का सत्यापन (verification), करते हैं। और जब वह सत्यापित हो जाता है तो इसे एक नियम के रूप में स्वीकार कर लिया जाता है।

अंत में इस सिद्धान्त के पुनरावृत्ति (replication) तथा प्रमाणीकरण (verification) तथा पुष्टिकरण (confirmation) के बाद एक नियम का निर्माण किया जाता है। इस सिद्धांत के आधार पर तत्परता-नियम (law of readiness), अभ्यास-नियम (law of exercise) तथा प्रभाव-नियम (law of effect) की स्थापना की गई।

### स्मरणीय बिन्दु-

सामान्य ज्ञान अनुभव आधारित होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान प्रमाण आधारित होता है।

परिकल्पना शोध का आधार है।

सिद्धांत अनेक तथ्यों पर आधारित होता है।

नियम सार्वभौमिक सत्य को व्यक्त करते हैं।

### शब्दावली-

| शब्द       | अर्थ        |
|------------|-------------|
| Hypothesis | - परिकल्पना |
| Theory     | - सिद्धांत  |
| Law        | - नियम      |
| Fact       | - तथ्य      |
| Knowledge  | - ज्ञान     |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. सामान्य ज्ञान क्या है?
2. वैज्ञानिक ज्ञान की परिभाषा दीजिए।
3. परिकल्पना क्या है?
4. सिद्धांत एवं नियम में अंतर लिखिए।
5. तथ्य का महत्व बताइए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. सामान्य एवं वैज्ञानिक ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
2. परिकल्पना एवं सिद्धांत की विस्तृत विवेचना कीजिए।

3. शोध में तथ्य एवं नियम की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. ज्ञान-अर्जन की विधियों का वर्णन कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. शोध का आधार क्या है?
  - (a) कल्पना
  - (b) परिकल्पना**
  - (c) मनोरंजन
  - (d) अनुमान
2. वैज्ञानिक ज्ञान होता है-
  - (a) प्रमाण आधारित**
  - (b) अंधविश्वास आधारित
  - (c) भावना आधारित
  - (d) मिथक आधारित
3. Theory का अर्थ है-
  - (a) नियम
  - (b) सिद्धांत**
  - (c) तथ्य
  - (d) अनुमान
4. सामान्य ज्ञान प्राप्त होता है-
  - (a) प्रयोगशाला से
  - (b) दैनिक अनुभव से**
  - (c) केवल पुस्तक से
  - (d) सिद्धांत से
5. सार्वभौमिक सत्य को क्या कहते हैं?
  - (a) नियम**
  - (b) तथ्य
  - (c) सिद्धांत
  - (a) अनुमान

## खण्ड-2 शोध विधि और इसकी विशेषतायें

### इकाई-2.1 वैज्ञानिक ज्ञान का स्वरूप

उद्देश्य-

1. वैज्ञानिक ज्ञान की अवधारणा को समझना।
2. वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषताओं का अध्ययन करना।
3. सामान्य ज्ञान एवं वैज्ञानिक ज्ञान में भेद समझना।

**वैज्ञानिक-विधि का अर्थ (Meaning of Scientific Method)-** चैपलिन (Chaplin) ने वैज्ञानिक विधि को परिभाषित करते हुए कहा है कि “वैज्ञानिक विधि का तात्पर्य वे प्रविधियाँ हैं, जिनका उपयोग ज्ञान की खोज में वैज्ञानिकों द्वारा किया जाता है।” इसके लिए वैज्ञानिक कभी स्वाभाविक निरीक्षण (naturalistic observation) का व्यवहार करता है और कभी प्रयोग (experimentation) का। इस दृष्टिकोण से वैज्ञानिक विधि का व्यवहार निम्नलिखित दो परिस्थितियों में किया जाता है-

- 1- **स्वाभाविक निरीक्षण (Naturalistic observation)-** ज्ञान की खोज के लिए जब स्वाभाविक परिस्थिति में बाह्य रूप से निरीक्षण किया जाता है तो इसे स्वाभाविक निरीक्षण करते हैं। इसकी चर्चा करते हुए चैपलिन (1975) ने कहा “स्वाभाविक निरीक्षण का अर्थ तथ्यों का वस्तुनिष्ठ निरीक्षण, अभिलेखन तथा व्याख्या उसी रूप में करना है जिस रूप में वे प्रकृति में पाये जाते हैं।” वैज्ञानिक विधि का यह पक्ष सामाजिक विज्ञानों (social sciences) अथवा व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) जैसे, मनोविज्ञान, समाजविज्ञान (sociology), मानव-विज्ञान (anthropology), आदि में प्रधान होता है। भौतिक विज्ञानों (physical sciences) में यह पक्ष अपेक्षाकृत गौण होता है। स्वाभाविक निरीक्षण में अध्ययन-परिस्थिति के अनियंत्रित (uncontrolled) होने के कारण प्राप्त परिणाम विश्वसनीय (reliable) नहीं हो पाते हैं और उनके आधार पर भविष्यवाणी करना (prediction) कठिन बन जाता है।
- 2- **प्रयोग (Experimentation)-** वैज्ञानिक विधि का एक महत्वपूर्ण पक्ष प्रयोग है। वैज्ञानिक पहले किसी स्वतंत्र चर (independent variable) का परिचालन (manipulation) करता है और उसके प्रभाव अर्थात् आश्रित चर (dependent variable) को विशेष रूप से परिचालित करता है। चैपलिन (1975) के शब्दों में “प्रयोग में वैज्ञानिक वातावरण को विशेष रूप से परिचालित करता है ताकि उन पूर्ववर्ती परिस्थितियों को अच्छी तरह से समझा जा सके, जिनके कारण कोई घटना घटती है।” वैज्ञानिक विधि का यह पक्ष भौतिक विज्ञानों में अधिक प्रधान होता है।

### वैज्ञानिक विधि का स्वरूप या विशेषतायें

वैज्ञानिक विधि के स्वरूप से संबंधित निम्नलिखित विशेषतायें अधिक महत्वपूर्ण हैं-

- (क)- **वस्तुनिष्ठता (Objectivity)-** वस्तुनिष्ठता का अर्थ यह है कि निरीक्षक (observer), प्रयोगकर्ता (experimenter) या शोधकर्ता (researcher) किसी घटना (event), प्रपंच (phenomenon) या तथ्य (fact) का अध्ययन उसी रूप में करता है, जिस रूप में वह घटित होता है, वह अपने व्यक्तिगत कारकों यथा आवश्यकता (need), पूर्वाग्रह (prejudice), स्थिराकृति (stereotype) आदि से प्रभावित नहीं होता है। इसकी चर्चा करते हुए बन जाता है। फेयरचाइल्ड (Fairchild 1667-1729) ने कहा है “वस्तुनिष्ठता का अर्थ अध्ययन-परिस्थिति से अपने आपको बचाने की योग्यता तथा समय विशेष में किसी पक्षपात या पूर्वाग्रह तथा संवेग के आधार पर नहीं बल्कि प्रमाण तथा विवेक के आधार पर तथ्यों का अवलोकन है।” वस्तुनिष्ठता के दृष्टिकोण से ज्ञान को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है- (क) आत्मनिष्ठ ज्ञान (subjective knowledge) तथा (ख) वस्तुनिष्ठ ज्ञान (objective knowledge)। आत्मनिष्ठ ज्ञान को अवैज्ञानिक ज्ञान (unscientific knowledge) भी कहते हैं। इस प्रकार के ज्ञान का आधार निरीक्षक (observer) या अध्ययनकर्ता स्वयं होता है। यह ज्ञान निरीक्षित घटना (observed event) या तथ्य (fact) के अनुकूल नहीं, बल्कि निरीक्षक या अध्ययनकर्ता के अनुकूल होता है। वह अपनी आवश्यकता, पूर्वअनुभूति, पूर्वधारणा (prejudice), अथवा तन्मयता (preoccupation) से प्रभावित होकर इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करता है। इसीलिए, एक ही घटना या तथ्य के संबंध में विभिन्न निरीक्षकों द्वारा प्राप्त ज्ञानों में सहमति (agreement) नहीं, बल्कि असहमति (disagreement) अधिक होती है। दर्शन (philosophy), नीतिशास्त्र (ethics) आदि में इसी प्रकार के आत्मनिष्ठ ज्ञान की प्रधानता होती है। लेकिन व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) तथा प्राकृतिक विज्ञानों (natural sciences) में इस प्रकार के ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है।



(ख) दूसरी ओर वस्तुनिष्ठ ज्ञान को वैज्ञानिक ज्ञान (scientific knowledge) कहते अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह हैं। इस प्रकार का ज्ञान निरीक्षक या अध्ययनकर्ता के अनुकूल नहीं, बल्कि घटना या तथ्य के अनुकूल होता है। यह ज्ञान वास्तव में अध्ययनकर्ता या निरीक्षक के व्यक्तिगत कारकों यथा पक्षपात (bias), पूर्वाग्रह (prejudice), पूर्वकल्पना (preconception), आदि से मुक्त होता है। इस प्रकार के ज्ञान की प्रधानता प्राकृतिक विज्ञानों तथा व्यवहारपरक विज्ञानों में पायी जाती है। विशुद्ध रूप में यह ज्ञान भौतिक विज्ञान (Physics), रसायन विज्ञान (chemistry), आदि प्राकृतिक विज्ञानों में उपलब्ध होता है। मनोविज्ञान, समाज-विज्ञान, आदि व्यवहारपरक विज्ञानों में विशुद्ध वस्तुनिष्ठ ज्ञान कठिन होता है। इससे यह भी स्पष्ट होता है कि वैज्ञानिक विधि शुद्ध रूप में केवल प्राकृतिक विज्ञानों में ही संभव है। व्यवहारपरक विज्ञानों अथवा सामाजिक विज्ञानों (social sciences) में मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि समाज-विज्ञान या मानव विज्ञान की अपेक्षा अधिक वैज्ञानिक है। तन्मयता (preoccupation) से प्रभावित होकर इस प्रकार के ज्ञान को प्राप्त करता है। इसीलिए, एक ही घटना या तथ्य के संबंध में विभिन्न निरीक्षकों द्वारा प्राप्त ज्ञानों में सहमति (agreement) नहीं, बल्कि असहमति (disagreement) अधिक होती है। दर्शन (philosophy), नीतिशास्त्र (ethics) आदि में इसी प्रकार के आत्मनिष्ठ ज्ञान की प्रधानता होती है। लेकिन व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) तथा प्राकृतिक विज्ञानों (natural sciences) में इस प्रकार के ज्ञान का कोई मूल्य नहीं है। फिर भी, प्राकृतिक विज्ञानों की तुलना में मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि में वस्तुनिष्ठता कम पायी जाती है।

- 1- **नियंत्रण (Control)**- नियंत्रित वातावरण का अर्थ वह अध्ययन परिस्थिति है, जिसमें निरीक्षित तथ्य (observed facts) का एकमात्र कारण परिचालित चर (manipulated variable) होता है। **चैपलिन (Chaplin)** के अनुसार “नियंत्रण का अर्थ प्रयोगात्मक अवस्थाओं को इस ढंग से व्यवस्थित करना है जिससे यह निश्चित हो सके कि अनुसंधान के अन्तर्गत प्रयोगात्मक अथवा स्वतंत्र चर ही प्राप्त परिणामों के लिए उत्तरदायी है।” प्राकृतिक विज्ञानों (natural science) में व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural science) की अपेक्षा अधिक कठोर नियंत्रण पाया जाता है।
- 2- **पुनरावृत्ति (Replication)**- वैज्ञानिक विधि की एक विशेषता पुनरावृत्ति है। इसका अर्थ यह है कि शोधकर्ता, अध्ययनकर्ता या प्रयोगकर्ता अपने अध्ययन को बार-बार दोहराता है तथा प्राप्त परिणाम की सत्यता को प्रमाणित करता है। यदि सदा एक ही तरह का परिणाम प्राप्त होता है तो समझा जाता है कि अध्ययन विश्वसनीय है और उसे स्वीकार कर लिया जाता है। यदि परिणाम भिन्न-भिन्न समयों में भिन्न-भिन्न हो जाते हैं तो समझा जाता है कि अध्ययन अविश्वसनीय है और उसे पुनः दुहराया जाता है।
- 3- **सत्यापनशीलता (Verifiability)**- वैज्ञानिक विधि में सत्यापनशीलता का गुण पाया जाता है। यह विधि सत्यापनीय (verifiable) होती है। इसका अर्थ यह है कि किसी वैज्ञानिक विधि को न केवल वह वैज्ञानिक स्वयं दोहरा कर अपने द्वारा प्राप्त परिणाम की सत्यता की जाँच करते हैं, बल्कि दूसरे वैज्ञानिक भी उसे बार-बार दुहराकर उस परिणाम की सत्यता की जाँच करता है। जैसे-एक शोधकर्ता ने अपने प्रयोग के आधार पर यह परिणाम प्राप्त किया कि परिणाम के ज्ञान (knowledge of results) से व्यक्ति का निष्पादन (performance) अधिक अच्छा बन जाता है। इस निष्कर्ष या परिणाम की जाँच कोई भी दूसरा शोधकर्ता स्वयं प्रयोग करके कर सकता है। ऐसा करना इसलिए संभव होता है कि प्रयोगात्मक अवस्था नियंत्रित होती है।
- 4- **उच्च विश्वसनीयता (High reliability)**- वैज्ञानिक विधि में उच्च विश्वसनीयता का गुण पाया जाता है। विश्वसनीय विधि का अर्थ वह विधि है, जिसके आधार पर विभिन्न परिस्थितियों या समयों में प्राप्त परिणामों (results) में स्थिरता (stability) या संगति (consistency) अधिक पायी जाती है। कोई विधि उसी सीमा तक वैज्ञानिक होती है, जिस सीमा तक उसके परिणाम में स्थिरता होती है।
- 5- **भविष्यवाणी- कुशलता (Predictive efficiency)**- वैज्ञानिक विधि में उच्च भविष्यवाणी कुशलता पायी जाती है। ऐसी विधि से जो परिणाम प्राप्त होता है, उसके आधार पर सफल भविष्यवाणी करना संभव होता है। कोई विधि उसी हद तक वैज्ञानिक होने का दावा कर सकती है, जिस हद तक वह भविष्यवाणी करने में कुशल (efficient) होती है। **चैपलिन (Chaplin, 1975)** के अनुसार “भविष्यवाणी का तात्पर्य किसी घटना के भावी परिणाम से सम्बद्ध कथन से है।”
- 6- **परिशुद्धता (Precision)**- वैज्ञानिक विधि में परिशुद्धता का गुण पाया जाता है। परिशुद्धता का अर्थ अध्ययन का मापन की यथार्थता (accuracy) तथा स्थिरता (consistency) है। कोई विधि उसी सीमा तक परिशुद्ध (precise) होती है, जिस सीमा तक उसके आधार पर किया गया अध्ययन यथार्थ (accurate) होता है। भौतिक विज्ञानों (physical sciences)



) की विधि में यह गुण अधिक पाया जाता है और व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) अथवा सामाजिक विज्ञानों (social sciences) की विधि में यह गुण अपेक्षाकृत कम पाया जाता है।

7- **सार्वभौमिकता (Universality)**- वैज्ञानिक विधि के आधार पर जो परिणाम या निष्कर्ष (result or conclusion) प्राप्त होता है, वह सभी व्यक्तियों पर सर्वत्र लागू होता है। जैसे-न्यूटन ने जो गुरुत्व का नियम (law of gravity) वैज्ञानिक विधि के आधार पर निकाला वह सभी स्थानों के लोगों के लिए कल भी सही था, आज भी है और कल भी रहेगा। इसी प्रकार एविंगहॉस (Ebbinghaus, 1885) ने प्रयोग-विधि के आधार पर साहचर्य (association) के जिन नियमों (laws) का उल्लेख किया, उनमें बहुत अंशों में विश्वजनीनता का गुण पाया जाता है। **चैपलिन (Chaplin, 1975)** के अनुसार “विश्वजनीनता का अर्थ वैधता का मापदण्ड या परीक्षण है, जिसका परिणाम प्रत्येक को प्रत्येक जगह स्वीकृत होता है।”

8- **सिद्धांत तथा नियम (Theory and law)**- वैज्ञानिक विधि में जो अध्ययन होता है, वह विधिवत या सुव्यवस्थित (systematic) होता है। इसका अर्थ यह है कि वैज्ञानिक सबसे पहले कोई परिकल्पना (hypothesis) बनाता है और अपने अध्ययन के आधार पर उसकी सत्यता की जाँच करता है। जब परिकल्पना सही प्रमाणित हो जाती है तो उसे सिद्धांत का रूप दे दिया जाता है और जब उसके विपक्ष में कोई प्रमाण नहीं मिलता है या उसे कोई दूसरा वैज्ञानिक खंडित नहीं कर पाता है तो उसे नियम (law) का रूप दे दिया जाता है।

भौतिक विज्ञान (physics), रसायन-विज्ञान (chemistry), आदि भौतिक विज्ञानों (physical sciences) की अध्ययन-विधि में ये सभी विशेषतायें पर्याप्त मात्रा में पायी जाती हैं। जीव-विज्ञान (zoology), वनस्पति-विज्ञान (botany), आदि जैविक विज्ञानों (biological sciences) की विधि में ये विशेषतायें अपेक्षाकृत कम मात्रा में पायी जाती हैं। लेकिन, मनोविज्ञान, समाज विज्ञान (sociology), आदि सामाजिक विज्ञानों (social sciences) या व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) की विधि में ये विशेषतायें पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध नहीं हो पाती हैं।

किसी विज्ञान का वैज्ञानिक स्वरूप उसकी विषय-वस्तु (subject matter) पर निर्भर नहीं करता है, बल्कि उसकी वैज्ञानिक विधि पर निर्भर करता है।

मनोवैज्ञानिक शोध के लिए जिन विधियों का व्यवहार किया जाता है, उनमें पूर्ण वैज्ञानिकता नहीं पायी जाती है। इसके कई कारण हैं। (1) मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि में नियंत्रण (control) उस सीमा तक संभव नहीं है, जिस सीमा तक भौतिक विज्ञान या रसायन-विज्ञान की विधि में संभव है। कारण, मनोविज्ञान का अध्ययन-विषय प्राणी (living being) है, जिसे पूरी तरह नियंत्रित करना संभव नहीं है। (2) मनोविज्ञान की प्रयोग विधि में वस्तुनिष्ठता (objectivity) भी पूरी तरह संभव नहीं है। कारण, प्राणी और विशेष रूप से मनुष्य का अध्ययन करते समय शोधकर्ता पक्षपात (biases) से प्रभावित हुए बिना नहीं रह पाता है। (3) मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि में पुनरावृत्ति (replication) तथा सत्यापन (verification) का गुण भी उस मात्रा में संभव नहीं है, जिस मात्रा में भौतिक विज्ञान या प्राकृतिक विज्ञानों में संभव है। (4) विश्वसनीयता (reliability) के मापदण्ड (criterion) के आधार पर भी मनोवैज्ञानिक विधि पूरी तरह वैज्ञानिक नहीं है। कई कारणों से मनोविज्ञान की प्रयोग-विधि भौतिक विज्ञानों (physical sciences) की प्रयोग-विधि की अपेक्षा कम विश्वसनीय (less reliable) है। (5) मनोवैज्ञानिक प्रयोग-विधि में भौतिक वैज्ञानिक विधि पूरी तरह वैज्ञानिक नहीं है। इसी आधार पर मनोविज्ञान को भौतिक विज्ञान या रसायन-विज्ञान की तरह पूर्ण विज्ञान नहीं माना जाता है। अतएव, यह कहना युक्तिसंगत है कि मनोविज्ञान उसी हद तक विज्ञान होने का दावा कर सकता है, जिस हद तक इसकी विधियाँ वैज्ञानिक हैं।

### स्मरणीय बिन्दु-

वैज्ञानिक ज्ञान प्रमाण, तर्क एवं निरीक्षण पर आधारित होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान वस्तुनिष्ठ एवं सत्यापन योग्य होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान व्यवस्थित एवं क्रमबद्ध होता है।

वैज्ञानिक ज्ञान सार्वभौमिक एवं परीक्षणीय होता है।

वैज्ञानिक अध्ययन में निष्पक्षता आवश्यक है।

### शब्दावली-

| शब्द                 | अर्थ              |
|----------------------|-------------------|
| Scientific Knowledge | - वैज्ञानिक ज्ञान |
| Observation          | - निरीक्षण        |

|              |   |              |
|--------------|---|--------------|
| Objectivity  | - | वस्तुनिष्ठता |
| Verification | - | सत्यापन      |
| Validity     | - | वैधता        |
| Reliability  | - | विश्वसनीयता  |

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान क्या है?
2. वैज्ञानिक ज्ञान की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. वस्तुनिष्ठता का अर्थ स्पष्ट कीजिए।
4. सत्यापन क्यों आवश्यक है?
5. वैज्ञानिक ज्ञान एवं सामान्य ज्ञान में अंतर लिखिए।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान के स्वरूप का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. वैज्ञानिक ज्ञान की विशेषताओं की विवेचना कीजिए।
3. वैज्ञानिक एवं सामान्य ज्ञान में अंतर स्पष्ट कीजिए।
4. वैज्ञानिक अध्ययन में वस्तुनिष्ठता एवं सत्यापन का महत्व बताइए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. वैज्ञानिक ज्ञान आधारित होता है-  
 (a) अंधविश्वास  
**(b) प्रमाण**  
 (c) कल्पना  
 (d) भावना
2. वैज्ञानिक ज्ञान की प्रमुख विशेषता है-  
 (a) पक्षपात  
**(b) वस्तुनिष्ठता**  
 (c) भ्रम  
 (d) अनुमान
3. वैज्ञानिक ज्ञान का आधार है-  
**(a) निरीक्षण**  
 (b) अफवाह  
 (c) मिथक  
 (d) कल्पना
4. Reliability का अर्थ है-  
**(a) विश्वसनीयता**  
 (b) वैधता  
 (c) सत्य  
 (d) सिद्धांत
5. वैज्ञानिक ज्ञान की प्रकृति होती है-  
 (a) अव्यवस्थित  
**(b) व्यवस्थित**  
 (c) काल्पनिक  
 (d) भावनात्मक

## इकाई-2.2 वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्व (Essential elements of scientific method)

### उद्देश्य-

1. वैज्ञानिक विधि के तत्वों को समझना।
2. निरीक्षण एवं वर्गीकरण का महत्व जानना।
3. वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रक्रिया को समझना।

कार्ल पियर्सन (Karl Pearson) ने वैज्ञानिक विधि के निम्नलिखित तत्वों का उल्लेख किया है।-

- 1- **सुविचारित निरीक्षण (Careful observation)**- वैज्ञानिक विधि का एक आवश्यक तत्व सुविचारित निरीक्षण है। वैज्ञानिक विधि का आरंभ निरीक्षण से ही होता है। लेकिन, निरीक्षण का सुविचारित तथा सुव्यवस्थित होना आवश्यक है। करलिंगर (Kerlinger, 2002) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वैज्ञानिक विधि पक्षपातरहित (unbiased), विश्वसनीय (reliable) तथा वैध (valid) निरीक्षण पर आधारित होती है।
- 2- **तथ्यों का वर्गीकरण (Classification of facts)**- वैज्ञानिक विधि का एक मुख्य तत्व तथ्यों का वर्गीकरण है। वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण के आधार पर तथ्य (facts) तथा सूचनायें (information) एकत्र किए जाते हैं। इसके बाद उन तथ्यों या सूचनाओं को आवश्यकता के अनुसार कई वर्गों या श्रेणियों में विभाजित किया जाता है। प्रत्येक वर्ग या श्रेणी पर एक लेबल (label) लगा दिया जाता है, जिससे उन्हें संचित रखने, तथा समय पर आवश्यकता के अनुसार खोज निकालने में सुविधा होती है।
- 3- **सम्बन्ध एवं क्रम (Relationship and sequences)**- वैज्ञानिक विधि में निहित तीसरा तत्व यह है कि घटनाओं (events) तथा तथ्यों (facts) के पारस्परिक संबंधों तथा क्रमों को निर्धारित किया जाता है। एक ओर यह देखने का प्रयास किया जाता है कि विभिन्न तथ्यों या घटनाओं में कैसा सम्बन्ध है, और दूसरी ओर यह कि वे किस क्रम से संबंधित हैं।
- 4- **वैज्ञानिक नियमों की खोज (Discovery of scientific laws)**- वैज्ञानिक विधि में संग्रहित तथ्यों के आधार पर रचनात्मक कल्पनाओं द्वारा वैज्ञानिक नियमों की खोज की जाती है।
- 5- **आत्म आलोचना (Self criticism)**- इस अवस्था में वैज्ञानिक नियमों की आलोचना की जाती है तथा उसकी विश्वसनीयता (reliability) तथा वैधता (validity) को निर्धारित किया जाता है।
- 6- **सार्वजनिक स्वीकृति (Universal acceptance)**- वैज्ञानिक विधि का अन्तिम तत्व सार्वजनिक स्वीकृति है। इस प्रकार, नियमों का निर्माण किया जाता है, जिन्हें सभी स्थानों तथा समयों के लिए स्वीकृति मिल जाती है।

**शोध समस्या, शोध समस्या निर्धारण के स्रोत-** शोध समस्या का अर्थ वह प्रश्न है, जिसका कोई तात्कालिक उत्तर (immediate answer) उपलब्ध न हों। टाउनसेन्ड (Townsend, 1953) ने इसी अर्थ में समस्या की परिभाषा दी है। उनके अनुसार “सामान्यतः समस्या वह प्रश्न है, जिसका कोई उपलब्ध उत्तर नहीं होता है।”

**मैकू गूगन (Mc Guigan, 1988)** ने भी टाउनसेन्ड के विचार का समर्थन किया है और कहा है कि “समस्या का तात्पर्य हमारे ज्ञान की रिक्ति से है।”

**करलिंगर (Kerlinger)**- के अनुसार दो या अधिक चरों के बीच क्या संबंध है? इसी प्रश्न को समस्या कहते हैं। उनके अपने शब्दों में “समस्या वह प्रश्नवाचक वाक्य या कथन है जो यह पूछता है कि दो या दो से अधिक चरों के बीच किस तरह का संबंध है।”

इसी प्रकार रेबर तथा रेबर (Reber and Reber) ने परिभाषा देते हुये कहा है कि “समस्या मूलतः वह परिस्थिति है, जिसमें कुछ घटक ज्ञात होते हैं और अतिरिक्त घटकों का निर्धारण आवश्यक होता है।”

उपर्युक्त परिभाषाओं में कोई मौलिक भेद नहीं है। इन सभी परिभाषाओं के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि समस्या एक ऐसा प्रश्न है, जिसका कोई तात्कालिक उत्तर उपलब्ध नहीं होता है।

**समस्या का महत्व या सार्थकता (Importance or significance of problem)**- शोध (research) के लिए समस्या या प्रश्न का होना आवश्यक है। शोधकार्य का आरंभ तभी होता है जब शोधकर्ता के सामने कोई समस्या होती है। इसीलिये, समस्या के चयन को शोध-प्रक्रिया (research process) का पहला चरण माना जाता है। शोध की सफलता समस्या की अनुकूलता एवं उपयोगिता पर निर्भर करती है। अनुकूलता का अर्थ यह है कि समस्या ऐसी हो जिसका समाधान सहज रूप से किया जा सके। उपयोगिता का अर्थ यह है कि समस्या ऐसी हो, जिसके समाधान से व्यक्ति, समाज, राष्ट्र तथा सम्पूर्ण मानव जीवन लाभांवित हो सके। **मैकू गूगन (Mc Guigna, 1998)** ने कहा है कि अनुकूल तथा उपयोगी समस्या के

चयन हो जाने पर शोधकार्य बहुत आसान बन जाता है।

### शोध - समस्या को कैसे खोजें

**मैकू गूगन (Mc Guigan, 1988)** ने इस कार्य को आसान बना दिया है। उनके अनुसार निम्नलिखित तीन परिस्थितियों (situations) में समस्या को ढूँढना चाहिए-

1. **ज्ञान में रिक्ति (Gap in knowledge)-** जब परिस्थिति ऐसी होती है कि किसी प्रश्न के संबंध में पर्याप्त सूचना उपलब्ध नहीं होती है तो समस्या उठ खड़ी होती है। यह हमारे ज्ञान में रिक्ति (gap in our knowledge) है। अतः शोधकर्ता के लिए यह एक अनुकूल तथा उपयोगी समस्या है। इसी तरह जीवन के जिस क्षेत्र में ज्ञान में रिक्ति नजर आए वहाँ शोध-समस्या दृष्टिगोचर होगी। **मैकगूगन (Mc Guigan, 1998)** ने कहा है कि शोध के लिए समस्या ढूँढने का सबसे उत्तम उपाय वह है, जहाँ सूचना का सीधा अभाव हो।
2. **विरोधी परिणाम (Contradictory results)-** शोध के लिए समस्या ढूँढ की दूसरी परिस्थिति वह है, जहाँ किसी विषय, घटना या प्रपंच (phenomenon) के संबंध में विरोधी परिणाम उपलब्ध हों। अनुसंधानकर्ताओं (investigators) के बीच असहमति होती है तो ऐसी परिस्थिति में भी आगे शोध के लिए एक समस्या उठ खड़ी होती है। यहाँ विरोधी परिणामों के बीच असहमति का समाधान करके किसी निश्चित परिणाम को प्राप्त करने हेतु शोध करना आवश्यक बन जाता है। इसी प्रकार जहाँ कहीं भी विरोधी परिणाम मिलते हैं, वहाँ आगे शोध के लिए एक समस्या स्वतः निकल आती है। अतः एक जागरूक शोधकर्ता विरोधी परिणामों वाली परिस्थितियों का अवलोकन करके अपने लिए कोई अनुकूल समस्या का चयन कर सकता है।  
**मैकगूगन (1998)** ने भी कहा है कि जब विभिन्न अनुसंधानों के परिणामों में असहमति होती है तो समस्या स्वतः दृष्टिगोचर होती है।
3. **तथ्य की व्याख्या (Explaining a fact)-** जब कोई तथ्य व्याख्यारहित (unexplained) रह जाता है तो वहाँ एक समस्या उत्पन्न हो जाती है। उस व्याख्यारहित तथ्य की व्याख्या करना आवश्यक बन जाता है। **मैकगूगन (Mc Guigan, 1988)** ने भी कहा है कि जब कोई तथ्य व्याख्यारहित सूचना के अंश के रूप में रह जाता है तो वहाँ समस्या दृष्टिगोचर होती है।

### स्मरणीय बिन्दु-

वैज्ञानिक विधि का प्रारंभ निरीक्षण से होता है।

तथ्य संग्रह एवं वर्गीकरण वैज्ञानिक अध्ययन के आवश्यक भाग हैं।

वैज्ञानिक विधि निष्पक्ष एवं तार्किक होती है।

परिकल्पना वैज्ञानिक शोध का आधार है।

वैज्ञानिक विधि परीक्षण एवं सत्यापन पर आधारित होती है।

### शब्दावली-

| शब्द              | अर्थ             |
|-------------------|------------------|
| Scientific Method | - वैज्ञानिक विधि |
| Classification    | - वर्गीकरण       |
| Hypothesis        | - परिकल्पना      |
| Observation       | - निरीक्षण       |
| Experiment        | - प्रयोग         |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक विधि क्या है?
2. निरीक्षण का महत्व बताइए।
3. वर्गीकरण क्या है?
4. परिकल्पना का अर्थ लिखिए।
5. वैज्ञानिक विधि की दो विशेषताएँ बताइए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. वैज्ञानिक विधि के आवश्यक तत्वों का वर्णन कीजिए।

2. वैज्ञानिक विधि में निरीक्षण एवं वर्गीकरण की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
3. वैज्ञानिक अनुसंधान की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन कीजिए।
4. वैज्ञानिक पद्धति की उपयोगिता पर निबंध लिखिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. वैज्ञानिक विधि का पहला चरण है-
  - (a) निष्कर्ष
  - (b) निरीक्षण**
  - (c) सिद्धांत
  - (d) वर्गीकरण
2. Hypothesis का अर्थ है-
  - (a) प्रयोग
  - (b) परिकल्पना**
  - (c) तथ्य
  - (d) निष्कर्ष
3. वैज्ञानिक विधि की विशेषता है-
  - (a) निष्पक्षता**
  - (b) अंधविश्वास
  - (c) कल्पना
  - (d) भावना
4. तथ्य संग्रह के बाद कौन-सा चरण आता है?
  - (a) वर्गीकरण**
  - (a) कल्पना
  - (a) बहस
  - (a) निष्कर्ष
5. वैज्ञानिक विधि आधारित होती है-
  - (a) तर्क एवं परीक्षण**
  - (b) मिथक
  - (c) कल्पना
  - (d) परंपरा

## इकाई-2.3 एक अच्छी समस्या की विशेषताएँ या कसौटियाँ

### उद्देश्य-

1. शोध समस्या की अवधारणा को समझना।
2. एक अच्छी शोध समस्या की विशेषताओं को जानना।
3. शोध समस्या चयन की प्रक्रिया समझना।  
समस्याएँ दो तरह की होती हैं-वैज्ञानिक समस्याएँ (scientific problems) तथा अवैज्ञानिक समस्याएँ (unscientific problems)। वैज्ञानिक समस्या को अच्छी समस्या (good problem) कहते हैं। शोध-समस्याएँ (research problems) सदैव वैज्ञानिक होती हैं।
1. **प्रश्नवाचक कथन (Interrogative statement)-** एक अच्छी समस्या की पहचान यह है कि उसे प्रश्नवाचक वाक्य के रूप में होना चाहिये। इसी कारण समस्या को प्रश्न (question) भी कहा जाता है। अतः समस्या को निर्धारित करते समय शोधकर्ता को चाहिए कि वह इस बात को ध्यान में रखे कि समस्या वास्तव में प्रश्न के रूप में हो। **टाउनसेन्ड (Twonsend, 1953)** ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि शोध-समस्या सदा प्रश्न के रूप में होती है।
2. **चरों के बीच संबंध का विवरण (Stating relation between variables)-** अच्छी समस्या वह है जो दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध का विवरण प्रस्तुत करती हो। प्रत्येक प्रश्नवाचक कथन वास्तव में चरों के बीच संबंध का उल्लेख करता है। समस्या का उद्देश्य यह देखना होता है कि दो या दो से अधिक चरों के बीच कैसा संबंध है। अतः समस्या का निर्धारण करते समय इस बात पर सोच-विचार (consideration) करना आवश्यक है कि समस्या ऐसी हो कि उससे दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध का बोध हो।
3. **स्पष्टता एवं असंदिग्धता (Clarity and unambiguity)-** अच्छी समस्या या वैज्ञानिक समस्या के लिए यह भी आवश्यक है कि वह स्पष्ट तथा असंदिग्ध प्रश्न (unambiguous question) के रूप में हो। ऐसा प्रश्न हो जिसका अर्थ स्पष्ट हो और द्विअर्थी न हो। **टाउनसेन्ड (Townsend, 1953)** ने कहा है कि शोध-समस्या वह प्रश्नवाचक कथन है, जो दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध को स्पष्ट रूप से व्यक्त करने में समर्थ होता है।
4. **समाधान योग्य (Solvable)- मैकगूगन (Mc Guigan)** के अनुसार एक वैज्ञानिक समस्या अथवा एक अच्छी समस्या वह है जो समाधान योग्य होती है।
5. **आनुभविक परीक्षा (Empirical testability)-** एक अच्छी समस्या या वैज्ञानिक समस्या केवल समाधान योग्य नहीं होती है बल्कि परीक्षणीय (testable) भी होती है। मैकगूगन (McGuigan, 1998) ने स्पष्ट शब्दों में कहा है कि वैज्ञानिक समस्या, परीक्षणीय होती है। परीक्षणीय समस्या वह प्रश्न है, जिसका उत्तर 'हाँ' (yes) या 'नहीं' (no) के रूप में दिया जा सके। स्पष्टतः यह समस्या न केवल समाधान योग्य है, बल्कि परीक्षणीय भी है। अतः इसे एक वैज्ञानिक समस्या या एक अच्छी समस्या कहेंगे।
6. **अनुकूल अध्ययन विधि की सुलभता (Availability of suitable methodology)-** अच्छी समस्या की एक विशेषता यह भी है कि उसके समाधान तथा परीक्षण के लिए कोई अनुकूल विधि उपलब्ध हो। आनुभविक परीक्षण (empirical testing) के लिए अनुकूल अध्ययन विधि का उपलब्ध होना आवश्यक है।
7. **सीमांकित स्वरूप (Definite nature)-** एक अच्छी समस्या वह प्रश्न है, जिसका स्वरूप सीमांकित (definite) होता है। इसी तरह प्रत्येक अच्छी शोध-समस्या सीमांकित स्वरूप की होती है। उसका स्वरूप अतिव्यापी नहीं होता है।
8. **परिमाणात्मक स्वरूप (Quantitative nature)-** एक वैज्ञानिक समस्या या एक अच्छी समस्या मात्रात्मक या परिमाण आत्मक स्वरूप की होती है। इसका अर्थ यह है कि समस्या से संबंधित प्राप्तांकों (data) का मात्रात्मक मापन (quantitative measurement) संभव होता है।
9. **परिकल्पना के रूप में परिवर्तनीय (Convertible into hypothesis)-** वैज्ञानिक समस्या की एक विशेषता यह है कि वह परिकल्पना या परिकल्पनाओं के रूप में परिवर्तनीय हो। समस्या को पहले परिकल्पना या परिकल्पनाओं में बदल दिया जाता है और फिर आनुभविक अध्ययनों (empirical studies) के आधार पर उनका परीक्षण किया जाता है। इसी तरह प्रत्येक वैज्ञानिक समस्या ऐसी होती है कि उसे एक या एक से अधिक परिकल्पनाओं में बदलना संभव होता है।
10. **प्रायोगिक आशय (Practical implications)-** एक अच्छी शोध-समस्या या एक वैज्ञानिक शोध-समस्या में प्रायोगिक आशय का उपलब्ध होना भी अपेक्षित है। जिस शोध-समस्या में व्यक्ति, समाज या राष्ट्र के लिए प्रायोगिक, आशय जिस सीमा तक प्रधान होते हैं, उसी सीमा तक उसे वैज्ञानिक समस्या माना जाता है। **गर्सटीन (Gurstein)** ने इस विशेषता पर अधिक बल दिया है।



## शोध समस्या के निर्धारण के स्रोत

शोधकर्ता के लिए एक अच्छी समस्या को ढूँढ निकालना और भी अधिक कठिन है।

- 1- **शोधकर्ता का गहन अध्ययन एवं प्रवीणता (Deep study and specification of the researcher)-** शोध के लिए समुचित समस्या के स्थापन (location) का एक महत्वपूर्ण आधार शोधकर्ता का व्यक्तिगत अध्ययन तथा प्रवीणता है। जिस क्षेत्र (area) में उसका अध्ययन गहन होता है और जिसमें वह अपने आप को प्रवीण समझता है, उस क्षेत्र में समस्या को ढूँढने में उसे सुविधा होती है।
- 2- **शोधकर्ता की अभिरुचि एवं सामर्थ्य (Interest and competency of the researcher)-** समुचित समस्या को निर्धारित करने में व्यक्तिगत अभिरुचि तथा सामर्थ्य से भी सहायता मिलती है। शोधकर्ता किसी विद्याविशेष के ऐसे क्षेत्र में समस्या को ढूँढता है, जिसमें उसकी अभिरुचि अधिक होती है। इसी तरह वह समस्या को ढूँढते समय अपनी सामर्थ्य या बुद्धि को भी ध्यान में रखता है। वह ऐसी समस्या ढूँढ निकालता है जो न केवल उसकी रुचि के अनुकूल होती है, बल्कि जो उसकी सामर्थ्य यानी बौद्धिक योग्यता के भी अनुकूल होती है।
- 3- **पहले के शोध कार्य (Previous research work)-** शोध-समस्या को निर्धारित करने का एक महत्वपूर्ण स्रोत (source) वास्तव में पहले किये गये शोध-कार्य हैं। अपनी अभिरुचि के अनुकूल व्यक्ति किसी क्षेत्र का चयन करता है। वह निर्णय लेता है कि उसे उसी क्षेत्र में शोध करना है। फिर वह उस क्षेत्र में पहले किये गये अनुसंधानों का अध्ययन करता है और इसके आधार पर किसी समुचित समस्या की स्थापना करता है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से समस्या ढूँढने का यह स्रोत अधिक उपयोगी है।
- 4- **शोध-सार (Research abstracts)-** शोधकर्ता जिस क्षेत्र में शोध करना चाहता है, उस क्षेत्र से सम्बद्ध शोध-सारों का अध्ययन करता है। इस अध्ययन से उसे कोई नयी समस्या सूझ जाती है। कभी-कभी शोध-सार में ही कोई समस्या इंगित रहती है, जिससे नये शोधकर्ता को बनी-बनायी समस्या (ready made problem) हाथ लग जाती है।
- 5- **शोध-पत्रिकाएँ (Research journals)-** शोध-पत्रिकाओं के आधार पर भी शोध-समस्या को निर्धारित करने में सहायता मिलती है। नये शोधकर्ता ऐसी पत्रिकाओं का अध्ययन करता है, जिनमें भिन्न-भिन्न अनुसंधानकर्ताओं के शोधों के सारांश तथा निष्कर्ष (summary and conclusions) प्रकाशित होते हैं। इनके अध्ययन से भी नये शोधकर्ता को समुचित समस्या को खोज निकालने में सुविधा होती है।
- 6- **विश्वज्ञान-कोष (Encyclopedia)-** शोधकर्ता जिस विषय में शोध करना चाहता हो उस विषय के विश्वज्ञान-कोष की सहायता से वह किसी अनुकूल समस्या को निर्धारित कर सकता है। जैसे-यदि कोई शोधकर्ता शिक्षा के क्षेत्र में शोध करना चाहता हो तो वह शिक्षा के विश्वज्ञान कोष (encyclopedia of education) की सहायता से समुचित समस्या की स्थापना कर सकता है।
- 7- **संगत पुस्तकें (Relevant book)-** शोध-समस्या को ढूँढने का एक सरल स्रोत संगत पुस्तक है। शोधकर्ता जिस विषय तथा जिस क्षेत्र में शोध करना चाहता है उससे संगत पुस्तकों का अध्ययन करता है और आवश्यक सूचनायें (informations) प्राप्त करता है। उन सूचनाओं के आलोक में वह समुचित समस्या को स्थापित कर लेता है। जैसे- यदि कोई शोधकर्ता सर्जनात्मकता (creativity) के क्षेत्र शोध करना चाहता हो तो वह सर्जनात्मकता पर लिखी गयी पुस्तकों का अध्ययन करता है और प्राप्त सूचनाओं के आलोक में उसे कोई नयी समस्या सूझ जाती है।
- 8- **विशेषज्ञ-सुझाव (Expert's suggestions)-** नई दिशा में समुचित समस्याओं को ढूँढ निकालने में संबंधित क्षेत्र के विशेषज्ञों से बड़ी सहायता मिलती है। उनके सुझाव (suggestions) तथा सलाह (advice) के आलोक में नये शोधकर्ता को समुचित समस्या को खोज निकालने में काफी सुविधा होती है।
- 9- **उपेक्षित क्षेत्र (Neglected area)-** शोध-समस्या के चयन का एक सरल स्रोत वह है जो अब तक शोधकर्ताओं की दृष्टि से ओझल रहा है। जिन क्षेत्रों में पहले से अधिक शोध हो चुके होते हैं, उन क्षेत्रों में नयी समस्या को ढूँढ निकालना कठिन होता है। लेकिन, जिस क्षेत्र में अब तक कोई शोधकार्य नहीं हुआ हो अथवा कम हुआ हो, उस क्षेत्र में समस्या को ढूँढना बहुत आसान होता है। अतः शोधकर्ता को चाहिए कि वह अपनी रुचि तथा सामर्थ्य के अनुकूल ऐसे क्षेत्र में समस्या को खोजने का प्रयास करें, जो शोध के दृष्टिकोण से अब तक उपेक्षित रहा हो।
- 10- **नियोजित निर्देश-कार्यक्रम (Planned instructional programme )-** शोध-समस्या



को निर्धारित करने का एक उपयोगी स्रोत नियोजित-कार्यक्रम है। इस कार्यक्रम के अन्तर्गत अनुसंधान गोष्ठियों, वाद-विवादों तथा सेमिनारों की गणना की जाती है।

- 11- **वर्तमान की आवश्यकताएँ (Needs of the present)**- ऐसे शोधकर्ता समय की नब्ज (pulse of the time) को पहचानते हैं। वे वर्तमान की आवश्यकताओं तथा माँगों को समझते हैं और उनके अनुकूल समस्याओं को खोज निकालते हैं।
- 12- **पेशेवर लोग (Professional persons)**- वर्तमान समय में शोध-समस्या के स्थापन के लिए वह स्रोत सबसे अधिक प्रचलित तथा सुलभ है। ऐसे लोग शोध के क्षेत्र में अनुभवी होते हैं और उनकी मुट्ठी में अनेक समस्याएँ बन्द रहती हैं। ये शोध-व्यापारी (research trader) होते हैं। उनके यहाँ शोध का विक्रय होता है। अतः नये शोधकर्ता अपनी रुचि तथा आवश्यकता के अनुकूल शोध-समस्या मुद्रा के बल पर हासिल कर लेते हैं। लेकिन, यह स्रोत वांछनीय नहीं है।

### स्मरणीय बिन्दु-

शोध समस्या शोध का प्रथम चरण है।

अच्छी समस्या स्पष्ट एवं शोधयोग्य होती है।

समस्या का अनुभवजन्य आधार होना चाहिए।

शोध समस्या नवीन एवं उपयोगी होनी चाहिए।

शोधकर्ता की रुचि एवं संसाधनों के अनुरूप समस्या होनी चाहिए।

### शब्दावली-

| शब्द             | अर्थ             |
|------------------|------------------|
| Research Problem | - शोध समस्या     |
| Empirical Basis  | - अनुभवजन्य आधार |
| Feasibility      | - व्यवहार्यता    |
| Variables        | - चर             |
| Researchable     | - शोधयोग्य       |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. शोध समस्या क्या है?
2. एक अच्छी शोध समस्या की दो विशेषताएँ लिखिए।
3. शोध समस्या चयन का अर्थ बताइए।
4. अनुभवजन्य आधार क्या है?
5. शोध समस्या का महत्व लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. एक अच्छी शोध समस्या की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. शोध समस्या चयन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।
3. शोध समस्या के महत्व पर निबंध लिखिए।
4. शोध समस्या चयन में आने वाली कठिनाइयों का वर्णन कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध का प्रथम चरण है-
  - (a) निष्कर्ष
  - (b) शोध समस्या
  - (c) वर्गीकरण
  - (d) रिपोर्ट लेखन
2. शोध समस्या होनी चाहिए-
  - (a) अस्पष्ट
  - (b) शोधयोग्य
  - (c) असंभव

(d) काल्पनिक

3. Empirical Basis का अर्थ है-

(a) अनुभवजन्य आधार

(b) कल्पना

(c) अनुमान

(d) भावना

4. शोध समस्या चयन में महत्वपूर्ण है-

(a) रुचि

(b) अंधविश्वास

(c) मिथक

(d) भ्रम

5. अच्छी समस्या की विशेषता है-

(a) अस्पष्टता

(b) स्पष्टता

(c) भ्रम

(d) पक्षपात

## इकाई-2.4 शोध समस्या के प्रकार

### उद्देश्य-

1. शोध समस्याओं के प्रकारों को समझना।
  2. विभिन्न शोध क्षेत्रों की समस्याओं का अध्ययन करना।
  3. शोध समस्या वर्गीकरण की प्रक्रिया समझना।
- मनोवैज्ञानिकों तथा अनुसंधानकर्ताओं ने समस्या के निम्नलिखित प्रकारों का उल्लेख किया है-
- 1- **ऐतिहासिक समस्या (Historical problem)**- इस प्रकार की समस्याओं का तात्पर्य ऐसी समस्याओं से है, जिनका संबंध अतीत की घटनाओं से होता है। ऐसी समस्याओं पर आधारित शोध को ऐतिहासिक शोध (historical research) कहते हैं। ऐसे शोधों का उद्देश्य ऐतिहासिक घटनाओं की समुचित रूप में व्याख्या करना तथा प्राप्त सूचनाओं के आलोक में वर्तमान की व्यावहारिक समस्याओं का निदान करना है।
  - 2- **सैद्धान्तिक समस्या (Theoretical problem)**- इस प्रकार की समस्या का अर्थ वह समस्या है, जिसका संबंध मौलिक विज्ञान (basic science) या शुद्ध मनोविज्ञान (pure psychology) से होता है। भौतिकी (physics), रसायन विज्ञान (chemistry) आदि मौलिक विज्ञानों में इस तरह की समस्या का महत्व अधिक पाया जाता है। इसी प्रकार सामान्य मनोविज्ञान, बाल-मनोविज्ञान, पशु मनोविज्ञान आदि शुद्ध मनोविज्ञानों में सैद्धान्तिक समस्या का महत्व अधिक होता है। ऐसी समस्याओं में तथ्यों की खोज, सिद्धान्तों तथा नियमों के निर्माण पर अधिक बल दिया जाता है।
  - 3- **व्यावहारिक समस्या (Practical problem)**- इस प्रकार की समस्या का तात्पर्य उन समस्याओं से है, जिनका संबंध व्यावहारिक विज्ञान (applied sciences) या व्यावहारिक मनोविज्ञान (applied psychology) से होता है। शिक्षा-मनोविज्ञान, औद्योगिक मनोविज्ञान, नैदानिक मनोविज्ञान आदि व्यावहारिक विज्ञानों में ऐसी समस्याओं का महत्व देखा जाता है। व्यावहारिक समस्याओं में सामाजिक संघर्षों, अन्तः समूह संघर्षों, कर्मचारी हड़ताल, पढ़ाई छोड़ देना (drop-outs) आदि का अध्ययन किया जाता है और संगत सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं ताकि इनका समाधान करके व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र को लाभान्वित किया जा सके।
  - 4- **सर्वेक्षण- समस्या (Survey problem)**- इस प्रकार की समस्या का तात्पर्य वे समस्याएँ हैं, जिनका उपयोग समाज-विज्ञान (sociology), मानव विज्ञान (anthropology), अर्थशास्त्र (economics), राजनीति विज्ञान (political science) आदि सामाजिक विज्ञानों (social science) में अधिक किया जाता है। ऐसी समस्याओं का मुख्य उद्देश्य समुदाय कल्याण (community welfare) के लिए विभिन्न सामान्य घटनाओं का विश्लेषण तथा विवेचन इस प्रकार करना है कि संगत सूचनाओं को प्राप्त करने में सुविधा हो। समाज-मनोविज्ञान (social psychology) में इस प्रकार की समस्या का महत्व देखा जाता है।
  - 5- **प्रायोगिक समस्या (Experimental problem)**- प्रायोगिक समस्या का अर्थ वह समस्या है जिसमें दो या दो से अधिक चरों के बीच संबंध का उल्लेख किया जाता है। ऐसी समस्या का उद्देश्य किसी स्वतंत्र चर (independent variable) तथा आश्रित चर (dependent variable) के बीच संबंध को निर्धारित करना होता है। ऐसी समस्या का समाधान प्रयोगशाला (laboratory) के कठोर नियंत्रित वातावरण में किया जात है। सामान्य मनोविज्ञान, शिक्षा-मनोविज्ञान आदि में प्रायोगिक समस्याओं का अधिक महत्व होता है।
  - 6- **सामाजिक समस्या (Social problem)**- इस प्रकार की समस्याओं का अर्थ वे समस्याएँ हैं, जिनमें सामाजिक मूल्यों (social values) की खोज, सामाजिक नीति एवं योजना के निर्माण तथा सामाजिक कल्याण (social welfare) से संबंधित कथन होते हैं। स्पष्टतः ऐसी समस्याओं का निर्माण करना और सामाजिक कल्याण करना है।
  - 7- **दार्शनिक समस्या (Philosophical problem)**- इस प्रकार की समस्या में दार्शनिक विषयों के संबंध में उल्लेख किया जाता है। ऐसी समस्याएँ सैद्धान्तिक होती हैं। दर्शनशास्त्र (philosophy) नीति शास्त्र (ethics) आदि क्षेत्र में ऐसी समस्याओं की प्रधानता पायी जाती है।
  - 8- **सहसम्बन्धात्मक समस्या (Correlational problem)**- इस प्रकार की समस्या का अर्थ वह समस्या है, जिसमें दो चरों के बीच सहसंबंध का उल्लेख किया जात है। जैसे-बुद्धि चर तथा सर्जनात्मकता (creativity) के बीच कैसा संबंध है? स्पष्टतः इस समस्या का उद्देश्य बुद्धि चर तथा सर्जनात्मकता चर के बीच सहसम्बन्ध को निर्धारित करना है।

### स्मरणीय बिन्दु-

शोध समस्याएँ सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक दोनों प्रकार की हो सकती हैं।  
सामाजिक, मनोवैज्ञानिक एवं शैक्षिक क्षेत्रों में शोध समस्याएँ भिन्न होती हैं।  
शोध समस्या का चयन उद्देश्य पर आधारित होता है।  
शोध समस्या नवीन एवं उपयोगी होनी चाहिए।  
सही समस्या शोध की सफलता का आधार है।

### शब्दावली-

| शब्द                   | अर्थ                |
|------------------------|---------------------|
| Theoretical Problem    | - सैद्धांतिक समस्या |
| Practical Problem      | - व्यवहारिक समस्या  |
| Social Research        | - सामाजिक शोध       |
| Psychological Research | - मनोवैज्ञानिक शोध  |
| Educational Research   | - शैक्षिक शोध       |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. शोध समस्या के प्रकार लिखिए।
2. सैद्धांतिक समस्या क्या है?
3. व्यवहारिक समस्या का अर्थ बताइए।
4. सामाजिक शोध समस्या क्या है?
5. शैक्षिक शोध का महत्व लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध समस्याओं के प्रकारों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. सैद्धांतिक एवं व्यवहारिक समस्याओं में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. सामाजिक एवं मनोवैज्ञानिक शोध समस्याओं का विवेचन कीजिए।
4. शोध समस्या वर्गीकरण की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. व्यवहारिक समस्या संबंधित होती है-

#### (a) व्यावहारिक समाधान

- (b) कल्पना
- (c) मिथक
- (d) भावना

2. Theoretical Problem का अर्थ है-

#### (a) सामाजिक समस्या

#### (b) सैद्धांतिक समस्या

- (c) आर्थिक समस्या
- (d) राजनीतिक समस्या

3. शोध समस्या चयन आधारित होता है-

#### (a) उद्देश्य

- (b) भ्रम
- (c) मिथक
- (d) अंधविश्वास

4. Educational Research संबंधित है-

#### (a) शिक्षा

- (b) राजनीति

(c) व्यापार

(d) खेल

5. सही शोध समस्या से शोध होता है-

(a) असफल

**(b) सफल**

(c) भ्रमित

(d) अधूरा

## खण्ड-3 शोध- प्रक्रिया, शोध प्रक्रिया में निहित अवस्थाएँ या चरण

### इकाई-3.1 शोध समस्या, परिचय, साहित्य समीक्षा, परिकल्पना

#### उद्देश्य-

1. शोध समस्या की अवधारणा को समझना।
2. साहित्य समीक्षा एवं परिकल्पना का महत्व जानना।
3. शोध प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरणों का अध्ययन करना।

शोध का लक्ष्य नये ज्ञान की खोज करना तथा पुराने ज्ञान की जाँच करना है। इस लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए शोधकर्ता को अनेक चरणों (steps) या अवस्थाओं (stages) से गुजरना पड़ता है। जहाँ तक मनोवैज्ञानिक शोध का प्रश्न है, इसमें निम्नलिखित चरण या अवस्थाएँ (phases or stages) निहित (involved) रहती हैं। किसी अनुसंधान में निहित अवस्थाओं या चरणों (steps) के शोध-प्रक्रिया कहते हैं। भौतिक विज्ञानों (physical sciences) तथा व्यवहारपरक विज्ञानों (behavioural sciences) अर्थात् सामाजिक विज्ञानों (social sciences) में शोध-प्रक्रिया का स्वरूप समान नहीं होता है। व्यवहारपरक विज्ञान अथवा मनोविज्ञान में होनेवाले अनुसंधान या शोध में कुछ निश्चित अवस्थाएँ (stages) या चरण (steps) होते हैं यथा विषय का चयन, संबंधित साहित्य का सर्वेक्षण, अध्ययन-विधि, प्रतिदर्श (sample), परिकल्पनाएँ (hypotheses), प्रदत्त संग्रह (data collection), विवेचन एवं निष्कर्ष (discussion and conclusion) तथा सारांश (summary) होता है।

- 1- **शोध समस्या (Research problem)-** किसी भी शोध की पहली अवस्था (stage) या चरण (step) समस्या है। समस्या के बिना शोधकार्य आरंभ हो ही नहीं सकता है। यह बात मनोवैज्ञानिक शोध अथवा सामाजिक शोध पर भी लागू होती है।

(क) शोध-समस्या ऐसे प्रश्न के रूप में होती है, जिसका कोई तात्कालिक उत्तर उपलब्ध नहीं होता है।

(ख) शोध-समस्या की एक विशेषता यह भी है कि उसका समाधान आनुभाषिक आधार (empirical basis), पर सम्भव हो। इसका समाधान आनुभाषिक अध्ययनों के आधार पर सम्भव है। पुस्तक, पत्रिकाएँ, शोध-सार (research abstracts), विश्वज्ञान-कोश (encyclopedia) आदि की सहायता से शोध-समस्या को ढूँढ़ निकाला जाता है।

शोध-समस्या का चयन दो चरणों में किया जाता है। पहले चरण में शोधकर्ता यह तय करता है कि किस क्षेत्र में उसे शोध करना है। इसे शोध का सामान्य उद्देश्य माना जाता है। यदि उसे यह ज्ञात होता है कि इस पर बहुत कम अध्ययन हुए हैं अथवा भारतीय परिवेश में अध्ययन अब तक नहीं हुए हैं तो वह निर्णय करता है कि रुढ़िवाद से संबंधित अध्ययन ही करना है। दूसरे चरण में वह रुढ़िवाद के किसी विशेष पक्ष को चुनता है और एक विशिष्ट अध्ययन-विषय या समस्या का चयन करता है। इसे शोध का विशिष्ट उद्देश्य कहा जाता है।

जब शोध-समस्या का चयन कर लिया जाता है तो शोध की पहली अवस्था समाप्त हो जाती है और शोधकर्ता दूसरी अवस्था की ओर कदम बढ़ाता है।

- 2- **परिचय (Introduction)-** शोध या अनुसंधान (investigation) की यह दूसरी अवस्था या दूसरा चरण (step) है। इस अवस्था में शोधकर्ता अपनी शोध-समस्या का परिचय देता है। वह समस्या के विभिन्न घटकों (components) की व्याख्या करता है। यदि इस दिशा में पहले से कुछ अध्ययन उपलब्ध हों तो उनका भी उल्लेख किया जायेगा। इसी प्रकार प्रत्येक शोध में समस्या के भिन्न-भिन्न चरों (variables) या घटकों के सम्बन्ध में परिचय देना तथा संगत कारकों या निर्धारकों का उल्लेख करना आवश्यक होता है। इससे शोध समस्या का स्वरूप स्पष्ट हो जाता है तथा अध्ययन की एक निश्चित दिशा दृष्टिगोचर होने लगती है। इसके बाद शोध-कार्य अपने तीसरे चरण में पहुँच जाता है।

- 3- **साहित्य समीक्षा (Literature review)-** शोधकर्ता ऐसे अध्ययनों का पुनरावलोकन करता है, जो शोध-समस्या से प्रत्यक्ष रूप से (directly) अथवा अप्रत्यक्ष रूप से (indirectly) सम्बद्ध होते हैं। समस्या से संगत अध्ययनों (relevant studies) की समीक्षा से कई तरह के लाभ होते हैं- (क) प्रस्तुत शोध-समस्या के सम्बन्ध में शोधकर्ता को इस बात की जानकारी मिलती है कि यह शोध कहाँ तक सार्थक है। (ख) अध्ययन की दिशा निर्धारित करने में सुविधा होती है। (ग) परिकल्पनाओं (hypotheses) के निर्माण करने में मदद मिलती है। (घ) अध्ययन करने के बाद जो परिणाम (results)

प्राप्त होते हैं, उनकी विवेचना करने तथा परिकल्पनाओं की स्वीकृति (acceptance) या अस्वीकृति (rejection) के तर्कआधार (rationale) की व्याख्या करने में सुविधा होती है।

- 4- **परिकल्पनायें (Hypotheses)**- परिकल्पना का अर्थ वह अनुमानित कथन (conjectural statement) है, जिसका निर्माण शोधकर्ता वास्तविक शोध के पहले ही करता है। इस अनुमानित कथन में शोध के परिणामों के सम्बन्ध में भविष्यवाणी (prediction) की जाती है।

परिकल्पनाओं का निर्माण करते समय शोधकर्ता (researcher) या अनुसंधानकर्ता (investigator) को कई बातों पर ध्यान देना होता है। (क) परिकल्पना का शोध-समस्या से संगत होना आवश्यक है। (ख) परिकल्पना ऐसी हो जो कथन (statement) के रूप में हो। (ग) परिकल्पना का कथन ऐसा हो जिसमें समस्या के दो या अधिक चरों के बीच सम्बन्ध के बारे में पूर्वकथन किया गया हो। (घ) परिकल्पना ऐसी हो जिसको आनुभविक अध्ययनों (empirical studies) के आधार पर सही या गलत प्रमाणित किया जा सके।

परिकल्पनाओं का निर्माण कई स्रोतों (sources) के आधार पर किया जाता है। व्यक्तिगत अनुभव (personal experience), पुस्तक (books), पत्रिकाएँ (magazines), शोध-सार (research abstracts) आदि स्रोत महत्वपूर्ण हैं।

### परिकल्पना और सिद्धान्त

परिकल्पना वह अनुमानात्मक कथन (conjectural statement) है जो दो या दो से अधिक चरों के बीच सम्बन्ध को स्पष्ट करता है। दूसरी ओर सिद्धान्त वह सामान्य नियम है, जिसका प्रतिपादन सम्बन्धित घटनाओं के समूह की व्याख्या के लिए किया जाता है।

रेबर तथा रेबर (Reber and Reber) ने सिद्धान्त शब्द का व्यवहार तीन अर्थों में किया है। (क) एक अर्थ में सिद्धान्त का तात्पर्य सभी तथ्यों तथा आनुभविक प्राप्तांकों की व्याख्याओं की औपचारिक अभिव्यक्तियों के संगत सेट (coherent set) से है। (ख) दूसरे अर्थ में सिद्धान्त का तात्पर्य सामान्य नियम अथवा अन्तरसम्बन्धित सामान्य नियमों के संग्रह से है जो ज्ञात तथ्यों तथा आनुभविक परिणामों की व्याख्या के रूप में प्रस्तुत किया जाता है। (ग) तीसरे अर्थ में सिद्धान्त का तात्पर्य विचारों या नियमों के तर्कपूर्ण सेट (reasonable set) से है जो खारिज करने योग्य (dismissible) या संदिग्ध (suspect) हो सकता है।

- 1- परिकल्पना सिद्धान्त की पहली अवस्था है। पहले परिकल्पना बनायी जाती है और परीक्षण के आधार पर जेब वह सत्य प्रमाणित हो जाती है तो उसे सिद्धान्त कहते हैं।
- 2- परिकल्पना का क्षेत्र अपेक्षाकृत सीमित होता है और सिद्धान्त का क्षेत्र अपेक्षाकृत विस्तृत होता है। परिस्थिति के अनुकूल कई परिकल्पनाओं के मिलने से किसी एक सिद्धान्त का प्रतिपादन होता है।
- 3- परिकल्पना किसी समस्या (problem) का अस्थायी या अंतरिम उत्तर (tentative answer) होता है जबकि सिद्धान्त उस समस्या का अपेक्षाकृत स्थायी समाधान होता है।
- 4- परिकल्पना के सत्य प्रमाणित हो जाने पर सिद्धान्त का निर्माण होता है और सिद्धान्त के प्रमाणीकरण (verification) के बाद नियम (law) की स्थापना होती है।
- 5- परिकल्पना में वैज्ञानिकता संदिग्ध होती है, क्योंकि वह मात्र अनुमान पर आधारित होती है। दूसरी ओर सिद्धान्त में वैज्ञानिकता होती है, क्योंकि वह आनुभविक अध्ययन पर आधारित होता है।

### परिकल्पना की सार्थकता, महत्त्व, आवश्यकता या कार्य

कर्लिंगर (Kerlinger) ने परिकल्पना के महत्त्व की चर्चा करते हुये कहा है कि परिकल्पना के उपयोग से शोधकार्य सार्थक बन जाता है। जबतक शोध समस्या के रूप में होता है तब तक उसकी सार्थकता स्पष्ट नहीं होती है और जब समस्या को परिकल्पना के रूप में परिणत कर दिया जाता है तो उसकी सार्थकता स्पष्ट हो जाती है। अतः परिकल्पना का एक कार्य अनुसंधान या शोध के अर्थ या सार्थकता को स्पष्ट करना है। परिकल्पना शोध को सार्थक बनाती है।

- 1- **परिकल्पना शोध की दिशा निर्देशित करती है (Hypothesis provides a direction for the research)**- कर्लिंगर (Kerlinger) के अनुसार परिकल्पना से शोधकर्ता के शोध की एक निश्चित दिशा सूझ पड़ती है। परिकल्पना से शोधकर्ता को इस बात की जानकारी मिल जाती है कि उसे क्या करना है और क्या नहीं करना है, किस दिशा में प्रयास करना है और किस दिशा में प्रयास नहीं करना है। अतः परिकल्पना का एक कार्य शोध के लिए निश्चित दिशा को निर्देशित



करना है।

- 2- **परिकल्पना शोध के क्षेत्र को सीमित करती है (Hypothesis delimits the area of the research)-** पं. रकल्पना से शोध का क्षेत्र सीमित हो जाता है, जिससे शोधकार्य में सुविधा होती है।
- 3- **परिकल्पना अध्ययन को विशिष्ट बना देती है (Hypothesis makes the study specific)-** परिकल्पना से अध्ययन विशिष्ट बन जाता है। जबतक परिकल्पना का निर्माण नहीं होता है तब तक शोध का स्वरूप सामान्य (general) रहता है। लेकिन, जब परिकल्पना का निर्माण हो जाता है तब उसका स्वरूप विशिष्ट बन जाता है।
- 4- **परिकल्पना आरम्भ-बिन्दु प्रदान करती है (Hypothesis provides a starting point)-** परिकल्पना से शोधकर्ता को आरम्भ-बिन्दु (starting point) का संकेत मिलता है। उसे इस बात की जानकारी मिल जाती है कि अध्ययन कहाँ से शुरू किया जाए। अतः परिकल्पना का एक कार्य अनुसंधानकर्ता को अनुसंधान के लिए आरम्भ बिन्दु प्रदान करना है।
- 5- **परिकल्पना शोध को एकाग्र तथा केन्द्रित बना देती है (Hypothesis makes the research focused)-** पं. रकल्पना से शोध केन्द्रित बन जाता है। इसका फैलाव घट जाता है और यह संकुचित केन्द्रित बन जाता है।
- 6- **परिकल्पना सत्य की स्थापना में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in establishing truth)-** पं. रकल्पना की सहायता से सत्य को स्थापित करने में मदद मिलती है।
- 7- **परिकल्पना समस्या के वैज्ञानिक समाधान में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in the scientific solution of a problem)-** परिकल्पना के अभाव में किसी समस्या का समाधान वैज्ञानिक ढंग से संभव नहीं है। परिकल्पना का एक कार्य समस्या के वैज्ञानिक ढंग से समाधान में सहायता प्रदान करता है।
- 8- **परिकल्पना पद्धति-विकास में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in the development of methodology)-** परिकल्पना का कार्य कभी-कभी नई अध्ययन-विधि या परीक्षण के विकास में सहायता प्रदान करना है।
- 9- **परिकल्पना सिद्धान्त-रचना में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in theory construction)-** शोधकर्ता पहले परिकल्पना या परिकल्पनाओं का निर्माण करता है और फिर आनुभविक अध्ययनों (empirical studies) के आधार पर उसकी जाँच करता है। बार-बार परिकल्पनाओं की जाँच के बाद जो परिणाम (results) प्राप्त होते हैं, उनके आलोक में एक सिद्धान्त की स्थापना की जाती है।
- 10- **परिकल्पना विश्वसनीय ज्ञान को प्राप्त करने में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in the achievement of dependable knowledge)-** परिकल्पना से विश्वसनीय ज्ञान को हासिल करने में सहायता मिलती है। परिकल्पना विश्वसनीय ज्ञान को ढूँढ़ निकालने का एक शक्तिशाली हथियार है।
- 11- **परिकल्पना पूर्वकथन में सहायक होती है (Hypothesis is helpful in prediction)-** परिकल्पना से किसी एक घटना के सम्बन्ध में भविष्यवाणी करने में सुविधा होती है। यह शोधकर्ता को इस योग्य बना देती है कि वह सम्भावित घटना के सम्बन्ध में पूर्वकथन या भविष्यवाणी कर सके। भविष्यवाणी करना परिकल्पना की एक विशिष्ट शक्ति (special power) है।  
शोधकार्य को समुचित रूप से पूरा करने में परिकल्पना का महत्वपूर्ण योगदान है। परिकल्पना के अभाव में भी शोधकार्य संभव है; किन्तु इसकी सफलता संदिग्ध (doubtful) है। अतः परिकल्पना वह पतवार है जिसकी सहायता से शोधरूपी नाव को किनारा लग जाने की सम्भावना बढ़ जाती है। आधुनिक विज्ञान में परिकल्पना के बिना सफल शोधकार्य की कल्पना नहीं की जा सकती। बेजोर (Bejor) ने भी कहा है कि वैज्ञानिक शोध के समुचित संचालन के लिए परिकल्पना आवश्यक है।

### **परिकल्पना के निर्माण के समय सोच-विचार या सावधानियाँ**

- 1- **निश्चयात्मक कथन (Assertive statement)-** परिकल्पना बनाते समय शोधकर्ता को चाहिए कि वह इस बात का ध्यान रखे कि परिकल्पना प्रश्न के रूप में न हो बल्कि कथन (statement) के रूप में हो। इसे निश्चयात्मक कथन के रूप में होना चाहिए।
- 2- **स्वीकारात्मक कथन (Affirmative statement)-** शोधकर्ता को इस बात पर ध्यान रखना चाहिए कि परिकल्पना का कथन न केवल निश्चयात्मक हो बल्कि स्वीकारात्मक भी हो।
- 3- **स्पष्टता तथा असंदिग्धता (Clarity and unambiguity)-** शोधकर्ता को चाहिए कि वह कथन की स्पष्टता तथा असंदिग्धता को ध्यान में रखे। वह परिकल्पना ऐसे कथन में प्रस्तुत करे जो स्पष्ट हो।
- 4- **मध्यम लम्बाई (Moderate length)-** परिकल्पना बनाते समय यह भी ध्यान रखना चाहिए कि कथन न तो बहुत

लम्बा हो और न बहुत छोटा हो बल्कि मध्यम हो। बहुत लम्बा या बहुत छोटा वाक्य के अर्थ को ठीक-ठीक समझना कठिन बन जाता है।

- 5- **तथ्य कथन (Fact Statement)**- शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता को चाहिए कि वह परिकल्पना की रचना केवल तथ्य के रूप में करे, मूल्य कथन (value statement) के रूप में नहीं। उसे मूल्य कथन से बचना चाहिए
- 6- **तटस्थ शब्द (Neutral words)**- परिकल्पना में यथासम्भव तटस्थ शब्दों का उपयोग करना चाहिए और संवेगात्मक शब्दों (emotional words) तथा भावुक शब्दों (sentimental words) से बचना चाहिए।
- 7- **व्यावहारिकता एवं उपयोगिता (Practicability and utility)**- परिकल्पना का निर्माण करते समय अनुसंधानकर्ता (investigator) को चाहिए कि ऐसी परिकल्पना का निर्माण करे जो व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए उपयोगी तथा लाभप्रद हो।
- 8- **स्वीकृत या अस्वीकृत होने योग्य (Able to be accepted or rejected)**- शोधकर्ता को परिकल्पना बनाते समय इतनी सावधानी बरतनी चाहिए कि उसका स्वरूप ऐसा हो कि उसे सत्य या असत्य प्रमाणित किया जा सके।
- 9- **उपकरण तथा परीक्षण की उपलब्धि (Availability of tools and tests)**- परिकल्पना की रचना करते समय इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि परिकल्पना ऐसी हो कि उसको सही या गलत प्रमाणित करने के लिए अनुकूल उपकरण तथा परीक्षण उपलब्ध हो।
- 10- **संगत चरों की संक्रियात्मक परिभाषाएँ (Operational definitions of relevant variables)**- परिकल्पना की रचना करते समय शोधकर्ता को यह बात भी ध्यान में रखनी चाहिए कि परिकल्पना में संगत चरों की संक्रियात्मक परिभाषा उपलब्ध हो।
- 11- **नैतिक मूल्यों की रक्षा (Protection of ethical values)**- परिकल्पना बनाते समय विभिन्न सम्प्रदायों, वर्गों तथा जातियों नैतिक मूल्यों की रक्षा करना आवश्यक होता है। इसी तरह आवश्यकता तथा परिस्थिति के अनुकूल उपयुक्त परिकल्पना या परिकल्पनाओं का निर्माण करना चाहिए।

### स्मरणीय बिन्दु-

शोध समस्या शोध का प्रथम चरण है।

साहित्य समीक्षा पूर्व शोधों का अध्ययन है।

परिकल्पना शोध को दिशा प्रदान करती है।

शोध समस्या स्पष्ट एवं शोधयोग्य होनी चाहिए।

शोध का परिचय विषय की पृष्ठभूमि स्पष्ट करता है।

### शब्दावली-

| शब्द              | अर्थ              |
|-------------------|-------------------|
| Research Problem  | - शोध समस्या      |
| Literature Review | - साहित्य समीक्षा |
| Hypothesis        | - परिकल्पना       |
| Introduction      | - परिचय           |
| Variables         | - चर              |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. शोध समस्या क्या है?
2. साहित्य समीक्षा का अर्थ बताइए।
3. परिकल्पना क्या है?
4. शोध परिचय का महत्व लिखिए।
5. शोध समस्या चयन क्यों आवश्यक है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध समस्या की अवधारणा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. साहित्य समीक्षा की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

3. परिकल्पना का अर्थ, प्रकार एवं महत्व लिखिए।
4. शोध प्रक्रिया के प्रारम्भिक चरणों की विस्तृत विवेचना कीजिए।

**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. शोध प्रक्रिया का प्रथम चरण है-

- (a) रिपोर्ट लेखन
- (b) शोध समस्या**
- (c) निष्कर्ष
- (d) वर्गीकरण

2. Literature Review का अर्थ है-

- (a) प्रयोग
- (a) साहित्य समीक्षा**
- (a) रिपोर्ट
- (a) निष्कर्ष

3. Hypothesis का अर्थ है-

- (a) निष्कर्ष
- (b) परिकल्पना**
- (c) तथ्य
- (d) वर्गीकरण

4. शोध परिचय का उद्देश्य है-

- (a) मनोरंजन
- (b) पृष्ठभूमि स्पष्ट करना**
- (c) विज्ञापन
- (d) आलोचना

5. शोध समस्या होनी चाहिए-

- (a) अस्पष्ट
- (b) शोधयोग्य**
- (c) असंभव
- (d) काल्पनिक

## इकाई-3.2 अध्ययन-विधि, पायलट अध्ययन, परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह

### उद्देश्य-

1. अध्ययन विधियों को समझना।
2. पायलट अध्ययन का महत्व जानना।
3. डेटा संग्रह एवं परीक्षण संचालन की प्रक्रिया समझना।
- 5- **अध्ययन-विधि (Methodology)**- इस चरण या अवस्था में निम्नलिखित तीन बातों का उल्लेख किया जाता है:-
  - (क) **प्रतिदर्श (Sample)**- इस अवस्था में शोधकर्ता अपने अध्ययन के प्रतिदर्श के सम्बन्ध में निर्णय करता है। यहाँ इस बात का निर्णय किया जाता है कि प्रस्तुत अध्ययन में किस प्रकार का प्रतिदर्श होगा, प्रतिदर्श का आकार (size) क्या होगा, किस आयु-समूह (age group) के प्रयोज्य (subjects) होंगे, इत्यादि। आवश्यकता के अनुसार यादृच्छिक प्रतिदर्श (random sample), स्तरित प्रतिदर्श (stratified sample) आदि का चयन किया जा सकता है।
  - (ख) **अध्ययन-अभिकल्प (Design of the study)**- सामान्यतः अभिकल्प दो तरह के होते हैं जिन्हें प्रयोगात्मक अभिकल्प (experimental design) तथा अप्रयोगात्मक अभिकल्प (non-experimental design) कहते हैं। शोधकर्ता आवश्यकता के अनुसार किसी एक अभिकल्प का चयन करता है। जैसे-उपर्युक्त शोध-समस्या के संदर्भ में शोधकर्ता अप्रयोगात्मक शोध-अभिकल्प का व्यवहार करने का निर्णय ले सकता है। इस प्रकार के अभिकल्प में वातावरण को नियंत्रित करने की आवश्यकता नहीं होती है। शोधकर्ता क्षेत्र-अध्ययन (field study) अथवा सर्वेक्षण विधि (survey method) के द्वारा अपने अध्ययन-कार्य को पूरा कर लेता है। आवश्यकता के अनुसार यादृच्छिक प्रतिदर्श (random sample), स्तरित प्रतिदर्श (stratified sample) आदि का चयन किया जा सकता है।

प्रतिदर्श या प्रतिचयन (sampling) के मुख्य दो प्रकार हैं, जिन्हें सम्भाव्यता प्रतिचयन (probability sampling) तथा असम्भाव्यता प्रतिचयन (non-probability sampling) कहते हैं। सम्भाव्यता प्रतिचयन के अन्तर्गत यादृच्छिक प्रतिदर्श (random sample), स्तरित प्रतिदर्श (stratified sample), आदि की गणना की जाती है। असम्भाव्यता प्रतिचयन के अन्तर्गत उद्देश्यनुसार प्रतिदर्श (purposive sample), आकस्मिक प्रतिदर्श (incidental sample), कोटा प्रतिदर्श (quota sample), आदि की गणना की जाती है। शोधकर्ता अपनी आवश्यकता तथा सुविधा के अनुसार किसी एक प्रतिदर्श या प्रतिचयन का चयन कर लेता है।
  - (ग) **उपकरण तथा परीक्षण (Tools and Tests)**- इस अवस्था में उन उपकरणों (tools) तथा परीक्षणों (tests) के सम्बन्ध में निर्णय लिया जाता है, जिनका उपयोग शोधकार्य में करना होता है। प्रत्येक शोध में आँकड़ों (data) के संग्रह (collection) के लिए कुछ विशेष उपकरणों तथा परीक्षणों का व्यवहार किया जाता है। शोध-समस्या तथा शोध-परिकल्पनाओं के अनुकूल उपकरणों तथा परीक्षणों का चयन किया जाता है। जैसे-उपर्युक्त समस्या तथा उससे सम्बन्धित परिकल्पनाओं की जाँच के लिए तीन परीक्षणों अर्थात् रुढ़िवाद परीक्षण (conservatism test), बुद्धि-परीक्षण (intelligence test) तथा सामाजिक आर्थिक स्थिति परीक्षण (socioeconomic status scale) का व्यवहार किया जाता है।
  - (ग) **सांख्यिकीय विधि (Statistical devices)**- इस अवस्था में आँकड़ों (data) के विश्लेषण तथा निरूपण (analysis and treatment) के लिए व्यवहार किये जाने वाली सांख्यिकीय विधियों के सम्बन्ध में कोई निर्णय लिया जाता है। इनमें से केवल ऐसी विधियों या परीक्षणों का चयन किया जाता है, जो आँकड़ों के अनुकूल होते हैं।

अनुसंधान की इस पाँचवीं अवस्था में आवश्यकता के अनुसार ग्राफीय विधियों (graphic method) का भी व्यवहार किया जाता है। इनमें बारंबारता बहुभुज (frequency polygon), आयत-चित्र (histogram), दण्ड आरेख (bar diagram), संचयी बारंबारता वक्र (cumulative frequency curve), आदि मुख्य हैं।
- 6- **पायलट अध्ययन (Pilot study)**- वृहत रूप से अध्ययन करने के पहले शोधकर्ता छोटे पैमाने पर एक अध्ययन करता है जिसको प्रारंभिक अध्ययन (preliminary study) अथवा पायलट अध्ययन कहा जाता है। मुख्य-उद्देश्य यह देखना है कि जो अध्ययन शोधकर्ता करने जा रहा है, वह वस्तुतः व्यवहार्य (feasible) है या नहीं। यदि वह व्यवहार्य होता है तो उसे वृहतरूप से किया जाता है और यदि व्यवहार्य नहीं होता है तो उसे छोड़ दिया जाता है। यह बात स्मरण रखना चाहिए कि पायलट अध्ययन वास्तव में शोध-प्रक्रिया का आवश्यक अंग नहीं है।
- 7- **परीक्षण संचालन और प्रदत्त संग्रह (Test administration and data collection)**- इस अवस्था में वास्तविक

शोध (actual research) शुरू किया जाता है। निर्धारित समय तथा स्थान के अनुसार शोधकर्ता (researcher) प्रयोज्यों (subjects) के पास जाता है और उन पर अपेक्षित परीक्षणों का संचालन करता है। आवश्यकता के अनुसार कभी-कभी परीक्षणों का व्यवहार प्रयोज्यों पर एक ही बार कर दिया जाता है और कभी परीक्षणों को कई भागों में विभाजित करके विभिन्न अवस्थाओं (different phases) में उनका संचालन किया जाता है। परीक्षणों के संचालन के समय कई तरह की सावधानियां (precautions) को बरतना पड़ता है। (क) इस बात का भरसक प्रयास किया जाता है कि प्रयोज्य दिये गये निर्देश (instructions) को अच्छी तरह समझ ले। शोधकर्ता इस बात का पूरा प्रयास करता है कि प्रत्येक प्रयोज्य यह समझ ले कि उसे क्या करना है और कैसे करना है। (ख) जब सामूहिक रूप से परीक्षण का व्यवहार किया जाता है तो इस बात का भरपूर प्रयास किया जाता है कि प्रयोज्य एक दूसरे से पूछताछ न करें अथवा एक दूसरे के उत्तरों की नकल न करें। (ग) शोधकर्ता सदा सतर्क रहता है ताकि परीक्षणों का संचालन समुचित रूप से हो सके। परीक्षणों के सफल संचालन (administration) के बाद प्रयोज्यों द्वारा दी गयी प्रतिक्रियाओं (responses) का विश्लेषण करके आँकड़ें या प्रदत्त (data) का संग्रह (collection) किया जाता है। फिर अनुकूल सांख्यिकीय विधियों (statistical devices) द्वारा आँकड़ों का विश्लेषण तथा निरूपण (treatment) किया जाता है।

### स्मरणीय बिन्दु-

पायलट अध्ययन मुख्य शोध से पहले किया जाता है।

डेटा संग्रह शोध का महत्वपूर्ण भाग है।

प्रश्नावली एवं साक्षात्कार प्रमुख विधियाँ हैं।

परीक्षण संचालन व्यवस्थित ढंग से किया जाता है।

विश्वसनीय डेटा शोध की गुणवत्ता बढ़ाता है।

### शब्दावली-

| शब्द                | अर्थ             |
|---------------------|------------------|
| Pilot Study         | - पायलट अध्ययन   |
| Data Collection     | - डेटा संग्रह    |
| Questionnaire       | - प्रश्नावली     |
| Interview           | - साक्षात्कार    |
| Test Administration | - परीक्षण संचालन |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. पायलट अध्ययन क्या है?
2. डेटा संग्रह का अर्थ बताइए।
3. प्रश्नावली क्या है?
4. साक्षात्कार की परिभाषा दीजिए।
5. परीक्षण संचालन क्यों आवश्यक है?

### 15 अंक के प्रश्न-

1. अध्ययन विधियों का विस्तृत वर्णन कीजिए।
2. पायलट अध्ययन का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. डेटा संग्रह की विभिन्न विधियों की विवेचना कीजिए।
4. प्रश्नावली एवं साक्षात्कार में अंतर स्पष्ट कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Pilot Study किया जाता है-  
 (a) शोध के बाद  
 (b) मुख्य शोध से पहले  
 (c) निष्कर्ष के समय  
 (d) रिपोर्ट लेखन में
2. Data Collection का अर्थ है-

- (a) मनोरंजन
  - (b) डेटा संग्रह**
  - (c) आलोचना
  - (d) वर्गीकरण
3. शोध में जानकारी प्राप्त करने का प्रमुख साधन है-
- (a) प्रश्नावली**
  - (a) खेल
  - (a) चित्रकला
  - (a) कविता
4. Interview का अर्थ है-
- (a) निरीक्षण
  - (b) साक्षात्कार**
  - (c) वर्गीकरण
  - (d) परीक्षण
5. विश्वसनीय शोध के लिए आवश्यक है-
- (a) गलत डेटा
  - (b) सही डेटा**
  - (c) अनुमान
  - (d) भ्रम

## इकाई- 3.3 परिणाम एवं विवेचन

### उद्देश्य-

1. शोध परिणामों को समझना।
2. डेटा विश्लेषण एवं विवेचन की प्रक्रिया जानना।
3. निष्कर्ष निर्माण की विधि समझना।

**परिणाम एवं विवेचन (Results and discussion)**- शोध की इस अवस्था में परिणामों (results) की विवेचना की जाती है। प्रत्येक स्वतंत्र चर से संबंधित परिणाम को एक तालिका (table) में प्रस्तुत करके उसकी विवेचना की जाती है। स्वतंत्र चरों के मुख्य प्रभाव (main effect) के साथ-साथ उनके संयुक्त प्रभाव (joint effect) को भी निर्धारित किया जाता है तथा इसके औचित्य (justification) को संगत अध्ययनों (relevant studies) के आलोक में प्रस्तुत किया जात है। इसी प्रकार दूसरे सभी स्वतंत्र चरों के परिणामों के आलोक में संबंधित परिकल्पनाओं की विवेचना करनी होगी।

**वैज्ञानिक सामान्यीकरण (Scientific generalization)**- शोध या अनुसंधान को इस अवस्था में प्राप्त आँकड़ों के विश्लेषण (analysis) तथा निरूपण (treatment) से पाये गये परिणामों (results) का सामान्यीकरण (generalization) किया जाता है। **चैपलिन (Chaplin, 1975)** ने कहा है कि सामान्यीकरण का अर्थ वह प्रक्रिया है जिसके द्वारा किसी नणर्य को व्यक्तियों वस्तुओं या घटनाओं के संपूर्ण वर्ग पर लागू किया जाता है।

सामान्यीकरण के आधार पर सिद्धांतों (theories) तथा नियमों (laws) का निर्माण किया जाता है। इसके लिए सांख्यिकीय विधियों (statistical method) तार्किक विधियों (logical method) तथा आगमन एवं निगमन विधियों (inductive and deductive method) का व्यवहार करना होता है।

### स्मरणीय बिन्दु-

परिणाम शोध के निष्कर्ष को दर्शाते हैं।

विवेचन में परिणामों की व्याख्या की जाती है।

डेटा विश्लेषण सांख्यिकीय विधियों से किया जाता है।

निष्कर्ष शोध उद्देश्य से संबंधित होते हैं।

शोध परिणाम भविष्य के शोध में सहायक होते हैं।

### शब्दावली-

| शब्द           | अर्थ            |
|----------------|-----------------|
| Result         | - परिणाम        |
| Interpretation | - विवेचन        |
| Data Analysis  | - डेटा विश्लेषण |
| Conclusion     | - निष्कर्ष      |
| Statistics     | - सांख्यिकी     |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. परिणाम क्या है?
2. विवेचन का अर्थ बताइए।
3. डेटा विश्लेषण क्यों आवश्यक है?
4. निष्कर्ष क्या है?
5. सांख्यिकी का महत्व लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध परिणाम एवं विवेचन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
2. डेटा विश्लेषण की विधियों की विवेचना कीजिए।
3. शोध निष्कर्षों का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. सांख्यिकी की भूमिका पर निबंध लिखिए।



**बहुविकल्पीय प्रश्न-**

1. डेटा विश्लेषण संबंधित है-

**(a) सांख्यिकी**

(b) कविता

(c) चित्रकला

(d) संगीत

2. शोध का अंतिम निष्कर्ष आधारित होता है-

(a) अनुमान

**(b) परिणाम**

(c) मिथक

(d) कल्पना

3. विवेचन का अर्थ है-

**(a) व्याख्या**

(b) खेल

(c) आलोचना

(d) भ्रम

4. Statistics का अर्थ है-

(a) निष्कर्ष

**(b) सांख्यिकी**

(c) निरीक्षण

(d) समस्या

5. शोध परिणाम उपयोगी होते हैं-

**(a) भविष्य के शोध में**

(b) केवल मनोरंजन में

(c) व्यापार में

(d) राजनीति में

## इकाई- 4.4 शोध की रिपोर्ट तैयार करना

### उद्देश्य-

1. संदर्भ ग्रंथ सूची का महत्व समझना।
2. शोध रिपोर्ट लेखन की प्रक्रिया जानना।
3. शोध रिपोर्ट की संरचना को समझना।
- 8- **शोध की रिपोर्ट तैयार करना (Preparing the research report)**- इस अवस्था में शोधकर्ता अपने शोध कार्य के विभिन्न चरणों या अवस्थाओं तथा प्राप्त परिणामों के संबंध में एक प्रतिवेदन या रिपोर्ट (report) तैयार करता है। इसका मुख्य उद्देश्य सभी जागरूक एवं उत्सुक लोगों को अनुसंधान या शोध के परिणामों से अवगत करना है। गुडे एवं हैट (Goode and Hatt, 1952) ने कहा है कि शोध के परिणाम केवल शोधकर्ता तक ही सीमित न रहें, बल्कि दूसरे उत्सुक लोगों तक भी पहुंच सकें, इसके लिए शोध-रिपोर्ट तैयार करना आवश्यक है। रिपोर्ट तैयार करते समय शोधकर्ता को कई बातों पर ध्यान देना होता है। (क) रिपोर्ट की लंबाई को माध्यम (moderate) रखने का प्रयास किया जाता है। (ख) संप्रत्ययों (concepts) का व्यवहार सही रूप में करने का प्रयास किया जाता है। (ग) विचार तथा भाषा की स्पष्टता (clarity of thought and language) पर पूरा ध्यान दिया जाता है। (घ) सूचनाओं (information) के स्रोतों (sources) का स्पष्ट रूप से उल्लेख किया जाता है। (ङ) अधिक तकनीकी शब्दों (technical words) के उपयोग से बचने का प्रयास किया जाता है।

### स्मरणीय बिन्दु-

शोध रिपोर्ट शोध का अंतिम चरण है।  
संदर्भ सूची शोध की विश्वसनीयता बढ़ाती है।  
रिपोर्ट व्यवस्थित एवं स्पष्ट होनी चाहिए।  
शोध रिपोर्ट में निष्कर्ष एवं सुझाव शामिल होते हैं।  
उचित उद्धरण शैली आवश्यक होती है।

### शब्दावली-

| शब्द            | अर्थ        |
|-----------------|-------------|
| Bibliography    | ग्रंथ सूची  |
| Research Report | शोध रिपोर्ट |
| Citation        | उद्धरण      |
| Reference       | संदर्भ      |
| Documentation   | प्रलेखन     |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. ग्रंथ सूची क्या है?
2. शोध रिपोर्ट का महत्व लिखिए।
3. उद्धरण का अर्थ बताइए।
4. संदर्भ सूची क्यों आवश्यक है?
5. शोध रिपोर्ट की विशेषताएँ लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध रिपोर्ट लेखन की प्रक्रिया का वर्णन कीजिए।
2. संदर्भ ग्रंथ सूची का महत्व स्पष्ट कीजिए।
3. शोध रिपोर्ट की संरचना की विवेचना कीजिए।
4. शोध रिपोर्ट लेखन में सावधानियों का वर्णन कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. शोध रिपोर्ट शोध का-  
(a) प्रथम चरण

- (b) अंतिम चरण  
(c) मध्य चरण  
(d) प्रारंभिक चरण
2. Bibliography का अर्थ है-
- (a) निष्कर्ष  
(b) ग्रंथ सूची  
(c) समस्या  
(d) सिद्धांत
3. शोध रिपोर्ट की विशेषता है-
- (a) अस्पष्टता  
(b) स्पष्टता  
(c) भ्रम  
(d) पक्षपात
4. Citation का अर्थ है-
- (a) वर्गीकरण  
(b) उद्धरण  
(c) निरीक्षण  
(d) परिणाम
5. संदर्भ सूची बढ़ाती है-
- (a) भ्रम  
(b) विश्वसनीयता  
(c) कल्पना  
(d) विवाद

## खण्ड-4 शोध-अभिकल्प, प्रदत्त-संग्रह प्रविधि: साक्षात्कार, शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त

### इकाई-4.1 शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त, शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त

#### उद्देश्य-

1. शोध अभिकल्प की अवधारणा को समझना।
2. शोध अभिकल्प के सिद्धांतों का अध्ययन करना।
3. शोध योजना एवं संरचना की प्रक्रिया समझना।

शोध- अभिकल्प का अर्थ वह योजना (plan) या कार्यप्रणाली (procedure) है जिसके अनुकूल शोध किया जाता है। वास्तविक शोध करने के पहले ही शोधकर्ता एक योजना बनाता है कि शोध कैसे किया जायेगा, शोध-परिस्थितियों को कैसे नियोजित किया जायेगा, किस प्रकार के प्रतिदर्श (sample) का उपयोग किया जायेगा, प्रतिदर्श में कितने प्रयोज्य (subjects) होंगे, स्वतंत्र चरों (independent variables) को कैसे नियंत्रित किया जायेगा तथा प्राप्त आँकड़ों का निरूपण (treatment) कैसे किया जायेगा ताकि सही परिणाम प्राप्त हो सके। शोधकर्ता की इसी योजना को शोध-अभिकल्प कहते हैं। **करलिंगर (Kerlinger)**- के अनुसार “शोध-अभिकल्प शोध की वह योजना संरचना तथा प्रणाली है, जिसका उद्देश्य होता है शोध-प्रश्नों के उत्तरों को प्राप्त करना तथा विचलन को नियंत्रित करना।”

इसी प्रकार मोहसिन (Mohsin, 1984) के अनुसार “शोध-अभिकल्प एक योजना है जिससे शोधकर्ता अवलोकित तथ्यों तथा घटनाओं से वैध निष्कर्ष प्राप्त करते हैं। इसके अन्तर्गत अवस्थाओं तथा अवलोकनों की व्याख्या इस ढंग से की जाती है कि शोध-प्रश्न के विकल्पी उत्तरों की सम्भावना समाप्त हो जाती है।”

- (d) शोध-अभिकल्प का तात्पर्य उस योजना (plan), से है, जिसके अन्तर्गत शोधकर्ता यह निर्णय लेता है कि वह अपने शोध कर्ता को कैसे पूरा करेगा। परिकल्पना या परिकल्पनाओं का निर्माण कैसे किया जाये, आँकड़ें (data) कैसे प्राप्त किया जायें तथा उनका सांख्यिकीय विश्लेषण कैसे किया जाये, इन सारी बातों के सम्बन्ध में योजना के अन्तर्गत उल्लेख किया जाता है।
- (ख) शोध-अभिकल्प का दूसरा पक्ष संरचना (structure) है। **करलिंगर (Kerlinger)** के अनुसार (plan) की अपेक्षा संरचना में विशिष्ट (specific) होने की विशेषता पायी जाती है। इसके दो पक्ष होते हैं, जिन्हें शोध व्यवस्था (research scheme) तथा चरों का स्वरूप (nature of variables) कहते हैं।
- (ग) शोध-अभिकल्प के अन्तर्गत योजना (plan) तथा संरचना (structure) के साथ-साथ शोध-प्रणाली (research strategy) का भी उल्लेख किया जाता है। इसका स्वरूप भी योजना की अपेक्षा अधिक विशिष्ट होता है। इसके अन्तर्गत उन विधियों, प्रविधियों, उपकरणों तथा परीक्षणों का उल्लेख किया जाता है, जिनका उपयोग परिकल्पना-परीक्षण (hypothesis testing), प्रदत्त संग्रह (data collection) तथा प्रदत्त विश्लेषण (data analysis) के लिए करना अपेक्षित होता है।

### शोध-अभिकल्प के सिद्धान्त

#### (Principles of Research Design)

- 1- **योजना (Plan)**- शोध-अभिकल्प को किसी निश्चित योजना पर आधारित होना चाहिए। **करलिंगर (Kerlinger)** के अनुसार शोध-अभिकल्प में परिकल्पनाओं की रचना, आँकड़ों के संग्रह तथा उनके विश्लेषण से सम्बन्धित सारी बातों का उल्लेख होना चाहिए।
- 2- **संरचना (Structure)**- शोध-अभिकल्प को एक निश्चित संरचना पर आधारित होना चाहिए। अभिकल्प का यह एक विशिष्ट स्वरूप है, जिसके दो पक्ष हैं- (क) शोध स्कीम (research scheme) तथा (ख) चरों के प्रचलन का निर्देश (paradigm of the operation of variables) यहाँ शोध या प्रयोग का सम्पूर्ण रेखाचित्र तैयार किया जाता है तथा विभिन्न चरों के प्रचलन से सम्बन्धित अनुकूल निर्देशों का उल्लेख किया जाता है।
- 3- **शोध नीति (Research strategy)**- शोध-अभिकल्प शोध-नीति पर भी आधारित होता है। इसके अन्तर्गत उन विधियों,

प्रविधियों, उपकरणों तथा परीक्षणों का उल्लेख किया जाता है जो परिकल्पनाओं को प्रमाणित करने, आँकड़ों का संग्रह करने तथा उनके विश्लेषण तथा निरूपण (analysis and treatment) करने में सहायक होते हैं। ब्रूटा (Broota) ने कहा है कि अभिकल्प का मुख्य कार्य विचलन (variance) को नियंत्रित करना है।

#### स्मरणीय बिन्दु-

शोध अभिकल्प शोध की रूपरेखा है।

शोध अभिकल्प में योजना, संरचना एवं रणनीति शामिल होती है।

शोध अभिकल्प शोध को व्यवस्थित दिशा प्रदान करता है।

शोध अभिकल्प डेटा संग्रह एवं विश्लेषण में सहायक होता है।

Kerlinger ने शोध अभिकल्प को शोध योजना का आधार माना।

#### शब्दावली-

| शब्द            | अर्थ          |
|-----------------|---------------|
| Research Design | शोध अभिकल्प   |
| Plan            | योजना         |
| Structure       | संरचना        |
| Strategy        | रणनीति        |
| Data Analysis   | डेटा विश्लेषण |

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. शोध अभिकल्प क्या है?
2. शोध अभिकल्प का महत्व लिखिए।
3. शोध योजना का अर्थ बताइए।
4. शोध संरचना क्या है?
5. शोध रणनीति क्यों आवश्यक है?

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध अभिकल्प की अवधारणा एवं सिद्धांतों का वर्णन कीजिए।
2. शोध अभिकल्प के तत्वों की विस्तृत विवेचना कीजिए।
3. शोध योजना एवं संरचना का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. शोध अभिकल्प की उपयोगिता पर निबंध लिखिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Research Design का अर्थ है-
  - (a) शोध समस्या
  - (b) शोध अभिकल्प
  - (c) निष्कर्ष
  - (d) वर्गीकरण
2. शोध अभिकल्प का उद्देश्य है-
  - (a) शोध को दिशा देना
  - (b) मनोरंजन
  - (c) आलोचना
  - (d) भ्रम
3. शोध अभिकल्प में शामिल होता है-
  - (a) योजना
  - (b) खेल
  - (c) कविता
  - (d) संगीत

4. Kerlinger का संबंध है-
- (a) साहित्य
  - (b) शोध अभिकल्प**
  - (c) राजनीति
  - (d) इतिहास
5. शोध अभिकल्प सहायक है-
- (a) डेटा विश्लेषण में**
  - (b) भ्रम में
  - (c) विवाद में
  - (d) कल्पना में

## इकाई-4.2 शोध-अभिकल्प के प्रकार

### उद्देश्य-

1. शोध अभिकल्प के विभिन्न प्रकारों को समझना।
2. प्रयोगात्मक एवं अप्रयोगात्मक अभिकल्प का अध्ययन करना।
3. शोध उद्देश्यों के अनुसार अभिकल्प चयन समझना।

(क) **एकाकी-समूह अभिकल्प अथवा अन्तर-समूह अभिकल्प** - एकाकी-समूह अभिकल्प वह अभिकल्प है, जिसमें प्रयोज्यों (subjects) के एक ही समूह (single group) पर अध्ययन किया जाता है। इसी कारण इस अभिकल्प को एकाकी-समूह अभिकल्प (single group design) कहा जाता है। दूसरी बात यह है कि उस समूह में कई प्रयोज्य होते हैं। उन प्रयोज्यों द्वारा प्राप्त परिणामों (results) का तुलनात्मक मूल्यांकन करके कोई निश्चित निष्कर्ष प्राप्त किया जाता है। इसलिए, इस अभिकल्प को अन्तर-समूह अभिकल्प (within-group design) अथवा अन्तर-प्रयोज्य अभिकल्प (Within subjects design) कहा जाता है।

### सर्वेक्षण की विधियाँ या उपकरण (Methods or Tools of Survey)

सर्वेक्षण अथवा सामाजिक सर्वेक्षण के लिए कई तरह के उपकरणों का व्यवहार किया जाता है, जिनमें निम्नलिखित विशेष रूप से महत्वपूर्ण हैं-

- 1- **प्रश्नावली (Questionnaire)**- सर्वेक्षण का एक उपयोगी उपकरण प्रश्नावली विधि है। प्रश्नावली सभी प्रयोज्यों को एक ही साथ दे दी जाती है और उनसे अनुरोध किया जाता है कि वे प्रश्नावली को भर कर वापस कर दें। दिये गये उत्तरों के आधार पर आवश्यक सूचनायें प्राप्त की जाती हैं। प्रश्नावली के कई प्रकार हैं जिनमें खुली प्रश्नावली (open questionnaire), बंद प्रश्नावली (closed questionnaire), मिश्रित प्रश्नावली (mixed questionnaire), डाक प्रश्नावली (mailed questionnaire), आदि मुख्य हैं। खुली प्रश्नावली उसे कहते हैं, जिसमें प्रश्नों के उत्तर पूर्वनिर्धारित नहीं होते हैं। उत्तरदाता (respondents) को यह छूट होती है कि वह अपनी इच्छा से किसी प्रश्न का कुछ भी उत्तर दे सकता है। बन्द प्रश्नावली उसे कहते हैं, जिसमें प्रश्नों के उत्तर पूर्वनिर्धारित होते हैं। उत्तरदाता या सूचनादाता को दिये गये उत्तरों में से ही चुनकर उत्तर देना होता है। स्पष्टतः जहाँ बंद प्रश्नावली में परिशुद्धता (precision) अधिक होती है और लचीलापन (flexibility) कम होता है, वहाँ खुली प्रश्नावली में लचीलापन अधिक होता है और परिशुद्धता कम होती है। जब किसी प्रश्नावली में इन दोनों प्रकार के प्रश्नों का व्यवहार किया जाता है तो उसे मिश्रित प्रश्नावली (mixed questionnaire) कहते हैं। यह प्रश्नावली वास्तव में बन्द प्रश्नावली तथा खुली प्रश्नावली से अधिक उपयुक्त तथा उपयोगी है। जब डाक के द्वारा प्रश्नावली का व्यवहार किया जाता है तो इसे डाक प्रश्नावली कहते हैं। यह प्रश्नावली बंद, खुली या मिश्रित हो सकती है। इसका प्रसार (range) अधिक होता है। दूर-दूर तक सूचनादाताओं के पास डाक द्वारा प्रश्नावली भेज कर भरवाया जा सकता है और आवश्यक सूचनायें प्राप्त की जा सकती है।
- 2- **साक्षात्कार एवं अनुसूची (Interview and schedules)** - सर्वेक्षण की यह विधि काफी प्रचलित तथा बहुचर्चित है। इस विधि के द्वारा व्यक्तिगत रूप से तथा सामूहिक रूप से आवश्यकता के अनुसार सूचनायें प्राप्त की जाती हैं। इन्हें क्रमशः वैयक्तिक साक्षात्कार (individual interview) तथा सामूहिक साक्षात्कार (group interview) कहते हैं। साक्षात्कार के समय जब अनुसूची (schedule) का व्यवहार किया जाता है तो इसे संरचित साक्षात्कार (structured interview) कहते हैं। जब अनुसूची का व्यवहार नहीं किया जाता है तो इसे असंरचित साक्षात्कार (Unstructured interview) कहते हैं। संरचित साक्षात्कार में अपेक्षाकृत परिशुद्धता (precision) अधिक पायी जाती है जबकि असंरचित साक्षात्कार में अपेक्षाकृत लचीलापन (flexibility) अधिक पाया जाता है। सामूहिक साक्षात्कार में समय, श्रम तथा धन की बचत होती है, किन्तु व्यक्तिगत रूप से सूचनादाताओं पर ध्यान देना संभव नहीं होता है। इसलिए प्राप्त सूचनायें अधिक विश्वसनीय नहीं हो पाती हैं। अतः सर्वेक्षक (surveyor) को चाहिए कि आवश्यकता के अनुसार वैयक्तिक साक्षात्कार, संरचित साक्षात्कार तथा असंरचित साक्षात्कार का व्यवहार करें।
- 3- **घटक विश्लेषण (Content analysis)** - सर्वेक्षण के उपकरण के रूप में घटक विश्लेषण का व्यवहार भी किया जाता है। इस विधि या उपकरण में साहित्य जैसे, लेख, उपन्यास, नाटक आदि के घटकों (contents) का विश्लेषण (analysis) किया जाता है और आवश्यक सूचनायें हासिकल की जाती हैं। इसे आलेख विश्लेषण (document analysis)



भी कहा जाता है।

- 4- **पैनल सर्वेक्षण (Panel survey)**- सर्वेक्षण का यह भी एक उपकरण या तकनीक है। इसमें सूचनादाताओं (respondents) के एक प्रतिदर्श (sample) का चयन कर लिया जाता है। इस प्रतिदर्श का सर्वेक्षण कई बार किया जाता है। सूचनायें अधिक विश्वसनीय (reliable) होती हैं। इस विधि या तकनीक के द्वारा व्यवहारों, मनोवृत्तियों तथा आवश्यकताओं में होनेवाले परिवर्तनों का अध्ययन अधिक उपयुक्त तथा अनुकूल होता है।
- 5- **टेलिफोन सर्वेक्षण (Telephone survey)**- सर्वेक्षण के लिए कभी-कभी टेलिफोन का व्यवहार एक उपकरण या प्रविधि के रूप में किया जाता है। इस प्रविधि में सूचनादाताओं (respondents) से टेलिफोन पर संपर्क स्थापित किया जाता है और सर्वेक्षण की समस्या के अनुकूल व्यक्तिगत तथा समाज वैज्ञानिक तथ्यों (sociological facts) के संबंध में सूचना देने के लिए उनसे अनुरोध किया जाता है। लेकिन इस सर्वेक्षण-तकनीक की उपयोगिता बहुत सीमित है। (क) कुछ लोग टेलिफोन पर उत्तर देना पसंद नहीं करते हैं। (ख) सबके उत्तर प्रायः सतही (superficial) होते हैं, जिनसे सही सूचना प्राप्त नहीं हो पाती है। (ग) सूचनाओं की विश्वसनीयता (reliability) की जांच करना संभव नहीं होता है। (घ) सर्वेक्षक (surveyor) तथा सूचनादाता (respondent) के बीच रागात्मक संबंध स्थापित नहीं हो पाता है। इसलिए वास्तविक सूचना प्राप्त करना कठिन बन जाता है।
- 6- **अवलोकन सर्वेक्षण (Observation Survey)**- जब अनियंत्रित वातावरण में अध्ययन किया जाता है तो इसे अनियंत्रित अवलोकन (uncontrolled observation) कहते हैं। जब वातावरण को नियंत्रित करने के बाद अध्ययन किया जाता है तो इसे नियंत्रित अवलोकन (controlled observation) कहते हैं। इसी प्रकार अवलोकन को सहभागी निरीक्षण (participant observation) तथा असहभागी निरीक्षण (non-participant observation) दो प्रकारों में विभ. जित किया जाता है। सहभागी निरीक्षण के आधार पर प्राप्त सूचनायें अपेक्षाकृत अधिक सही या वास्तविक होती हैं। लेकिन, असहभागी निरीक्षण की अपेक्षा सहभागी निरीक्षण का क्षेत्र सीमित होता है। असहभागी निरीक्षण का व्यवहार वहां भी किया जा सकता है जहां सहभागी निरीक्षण का व्यवहार संभव नहीं होता है। अतः सर्वेक्षक को चाहिए कि आवश्यकता के अनुसार सहभागी निरीक्षण तथा असहभागी निरीक्षण का व्यवहार करें।  
करलिंगर (Kerlinger, 2002) ने प्रविधियों के उपयोग के आधार पर सर्वेक्षण को उक्त प्रकारों में विभाजित किया है। उन्होंने प्रत्येक विधि या प्रविधि को सर्वेक्षण का एक प्रकार माना है। इस दृष्टिकोण से साक्षात्कार सर्वेक्षण, प्रश्नावली सर्वेक्षण, टेलिफोन सर्वेक्षण, पैनल सर्वेक्षण आदि सर्वेक्षण के प्रकार हुए।  
शिक्षा के क्षेत्र में सर्वेक्षण-शोध का महत्वपूर्ण स्थान है। शिक्षा से संबंधित तथ्यों (facts) की खोज के लिए सर्वेक्षण-शोध एक महत्वपूर्ण उपकरण है। प्रशासक (administrators) तथा शिक्षक विद्यालय-प्रणाली या संप्रदाय (community) के संबंध में प्रत्येक बालक, प्रत्येक शिक्षक या प्रत्येक नागरिक से संपर्क स्थापित किये बिना भी आवश्यक सूचनायें हासिल कर सकते हैं। संक्षेप में सर्वेक्षण-शोध में विकसित प्रतिचयन विधियों (sampling methods) का उपयोग शैक्षिक समस्याओं के समाधान में बहुत लाभप्रद होता है।  
शिक्षा-व्यवस्था के संबंध में विभिन्न समुदायों के लोगों की मनोवृत्तियों को निर्धारित करने में सुविधा होती है।  
शिक्षा के क्षेत्र में सरकार की नयी नीतियों के प्रति लोगों की मनोवृत्ति को निर्धारित करने में सुविधा होती है।  
करलिंगर (Kerlinger, 2002) के अनुसार व्यक्तिगत तथा सामाजिक तथ्यों (facts), विश्वासों (beliefs), तथा मनोवृत्तियों (attitudes) के संबंध में सूचनायें प्राप्त करने के लिए सर्वेक्षण संभवतः श्रेष्ठतम है। शिक्षा के संबंध में लोगों के विचारों को निर्धारित करने में सर्वेक्षण से काफी सुविधा होती है।

#### **स्मरणीय बिन्दु-**

शोध अभिकल्प कई प्रकार के होते हैं।

प्रयोगात्मक अभिकल्प में नियंत्रण आवश्यक होता है।

वर्णनात्मक अभिकल्प तथ्यात्मक अध्ययन पर आधारित होता है।

सर्वेक्षण अभिकल्प सामाजिक शोध में उपयोगी है।

सही अभिकल्प शोध की सफलता सुनिश्चित करता है।

## शब्दावली-

| शब्द                | अर्थ                |
|---------------------|---------------------|
| Experimental Design | प्रयोगात्मक अभिकल्प |
| Descriptive Design  | वर्णनात्मक अभिकल्प  |
| Survey Design       | सर्वेक्षण अभिकल्प   |
| Variables           | चर                  |
| Control             | नियंत्रण            |

### 5 अंक के प्रश्न-

1. प्रयोगात्मक अभिकल्प क्या है?
2. वर्णनात्मक अभिकल्प का अर्थ बताइए।
3. सर्वेक्षण अभिकल्प क्या है?
4. शोध अभिकल्प चयन क्यों आवश्यक है?
5. नियंत्रण का महत्व लिखिए।

### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध अभिकल्प के प्रकारों का वर्णन कीजिए।
2. प्रयोगात्मक एवं वर्णनात्मक अभिकल्प में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. सर्वेक्षण अभिकल्प की विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
4. शोध अभिकल्प चयन की प्रक्रिया स्पष्ट कीजिए।

### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Experimental Design संबंधित है-

#### (a) नियंत्रण

- (b) कविता
- (c) संगीत
- (d) कल्पना

2. Survey Design उपयोगी है-

#### (a) सामाजिक शोध में

- (b) खेल में
- (c) चित्रकला में
- (d) राजनीति में

3. Descriptive Design का अर्थ है-

#### (a) वर्णनात्मक अभिकल्प

- (b) प्रयोगात्मक अभिकल्प
- (c) वैज्ञानिक विधि
- (d) निष्कर्ष

4. शोध अभिकल्प का सही चयन बनाता है-

#### (a) शोध सफल

- (b) शोध असफल
- (c) भ्रमित
- (d) अधूरा

5. Variables का अर्थ है-

#### (a) निष्कर्ष

#### (a) चर

- (a) तथ्य
- (a) सिद्धांत

## इकाई-4.3 प्रदत्त-संग्रह प्रविधि: साक्षात्कार (DATA COLLECTION TECHNIQUE : INTERVIEW)

### उद्देश्य-

1. साक्षात्कार की अवधारणा को समझना।
2. साक्षात्कार के प्रकारों का अध्ययन करना।
3. डेटा संग्रह में साक्षात्कार की भूमिका समझना।

साक्षात्कार एक शोध-प्रविधि (research technique) या अनुसंधान उपकरण (research tool) शोधकर्ता (researcher) सूचनादाताओं (respondents) से कुछ आवश्यक प्रश्न पूछता है और उनके द्वारा दिये गये उत्तरों के आधार पर संगत सूचनायें या आँकड़े प्राप्त करता है। प्रश्न पूछने वाले को साक्षात्कारकर्ता अर्थात् साक्षात्कार लेने वाला (interviewee) कहते हैं। अतः “साक्षात्कार वह प्रविधि है जिसके द्वारा आमने-सामने की परिस्थिति में साक्षात्कार लेने वाला साक्षात्कार देने वाले से तात्त्विक सूचनायें प्राप्त करने का प्रयास करता है।”

वाइटलेस (Vitelis) के अनुसार, “साक्षात्कार वह सम्मेलन है जो साक्षात्कार लेने वाले और साक्षात्कार देने वाले की बीच घटित होता है।”

लेकिन करलिंगर (Kerlinger) के द्वारा दी गयी परिभाषा अधिक समग्र तथा संतोषजनक है। उनके अनुसार, “साक्षात्कार आमने-सामने की वह अन्तर्व्यक्तिक भूमिका परिस्थिति है, जिसमें एक व्यक्ति, साक्षात्कार लेने वाला, साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति उत्तरदाता से शोध-समस्या से संगत उत्तर प्राप्त करने के उद्देश्य से नियोजित प्रश्न पूछता है।”

1. साक्षात्कार शोध की एक प्रविधि है। यह एक ऐसा उपकरण (tool) है, जिसका व्यवहार शोधकर्ता प्रदत्त संग्रह के लिए करता है।
2. साक्षात्कार का उद्देश्य तथ्यपूर्ण सूचना प्राप्त करना है। शोधकर्ता साक्षात्कार का व्यवहार करके अपने समस्या के अनुकूल संगत सूचनाएँ प्राप्त करता है।
3. साक्षात्कार एक ऐसा वार्तालाप (conversation) है जो साक्षात्कार लेने वाले तथा साक्षात्कार देने वाले के बीच होता है। साक्षात्कार लेने वाला साक्षात्कार देने वाले से आवश्यक प्रश्न पूछता है और साक्षात्कार देने वाला उत्तर देता है। दिये गये उत्तरों के आधार पर आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त की जाती हैं।
4. साक्षात्कार ऐसा वार्तालाप (conversation) है जो आमने-सामने होता है। कारण साक्षात्कार के समय साक्षात्कार देने वाले तथा साक्षात्कार लेने वाले आमने-सामने होते हैं।
5. साक्षात्कार की एक विशेषता यह है कि साक्षात्कार के समय साक्षात्कार लेने तथा साक्षात्कार देने वाले व्यक्ति की भूमिकाएँ (roles) तथा प्रत्याशाएँ (expectations) निश्चित होती हैं, जिनके अनुकूल वे व्यवहार करते हैं।

### साक्षात्कार के प्रकार (Type of Interview)

इस साक्षात्कार को औपचारिक साक्षात्कार (formal interview) बन्द साक्षात्कार (closed interview) तथा मानक साक्षात्कार (standard interview) भी कहते हैं।

#### (i) संरचित साक्षात्कार

##### (Structured Interview)

संरचित साक्षात्कार का अर्थ वह साक्षात्कार है जिसमें अनुसूची (schedule) का व्यवहार किया जाता है। साक्षात्कारकर्ता साक्षात्कार के समय सूची के प्रश्नों की संख्या अथवा प्रश्नों की संरचना (structure) क्रम (sequence) तथा भाषा में किसी तरह का परिवर्तन नहीं कर सकता है। रेबर एवं रेबर (Reber and Reber, 2001) ने इसकी चर्चा करते हुए कहा है कि “वह कोई भी साक्षात्कार जिसमें विषय, प्रश्न तथा उनके व्यवहार के क्रम पूर्वनिर्धारित होते हैं, संरचित साक्षात्कार कहलाता है।” यहाँ शोधकर्ता या साक्षात्कारकर्ता अध्ययन के समय अपनी इच्छा से प्रश्नों की संख्या, संरचना, भाषा, क्रम आदि में किसी तरह का परिवर्तन नहीं कर सकता है। इसीलिए, संरचित साक्षात्कार को बन्द साक्षात्कार (closed interview) कहा जाता है।

संरचित साक्षात्कार की एक विशेषता औपचारिकता (formality) है। यह औपचारिक प्रश्नों (formal questions) पर आधारित होता है। यहाँ विधिवत रूप से प्रश्नों का निर्माण किया जाता है। इसी कारण इस साक्षात्कार को औपचारिक साक्षात्कार (formal interview) भी कहा जाता है। शोधकर्ता या साक्षात्कारकर्ता अनुकूल सांख्यिकीय विधि के द्वारा प्रश्नों को मानकीकृत (standardized) कर लेते हैं। इसलिए इस साक्षात्कार को मानक साक्षात्कार (standard interview)

भी कहा जाता है।

### संरचित साक्षात्कार की विशेषताएँ

- 1- **परिशुद्धता (Precision)**- संरचित साक्षात्कार में परिशुद्धता का गुण पाया जाता है। साक्षात्कार लेने वाले प्रश्नों की संख्या, भाषा, क्रम तथा अंकन-विधि (scoring method) में अपनी ओर से कोई परिवर्तन नहीं कर सकता है।
- 2- **सरल संचालन (Easy administration)**- प्रश्नों के संचालन के दृष्टिकोण से यह साक्षात्कार बहुत सरल होता है। साक्षात्कार के समय पूछे जाने वाले प्रश्न, उनकी संख्या, उनका क्रम, अंकन-विधि, आदि पहले से ही निर्धारित होती हैं। एक अप्रशिक्षित तथा अनुभवहीन शोधकर्ता भी संरचित साक्षात्कार का उपयोग करने में सफल होता है।
- 3- **उच्च विश्वसनीयता (High reliability)**- विभिन्न समयों से इस साक्षात्कार के आधार पर प्राप्त परिणामों में संगति (consistency) तथा स्थिरता (stability) पायी जाती है। उच्च विश्वसनीयता का आधार उच्च परिशुद्धता है।
- 4- **उच्च वैधता (High validity)**- इस साक्षात्कार में घटक वैधता (content validity) के साथ-साथ भविष्यवाणी वैधता (predictive validity) भी संतोषजनक पायी जाती है।

**दोष या सीमाएँ (Demerits or Limitations)**- संरचित साक्षात्कार में कई गुणों के रहते हुए भी निम्नलिखित दोष हैं- विधि की विश्वसनीयता प्रयोगशाला-प्रयोग विधि की तुलना में काफी सीमित है।

- 1- **लचीले पन का अभाव (Lack of flexibility)**- संरचित साक्षात्कार का एक दोष यह है कि इसमें लचीले पन का अभाव होता है। शोधकर्ता साक्षात्कार के समय चाहकर भी प्रश्नों की संख्या उनके क्रम या वाक्यरचना (wording) में किसी तरह का परिवर्तन नहीं ला पाता है।
- 2- **प्रश्नों की रचना की कठिनाई (Difficulty of framing questions)**- संरचित साक्षात्कार में प्रश्नों की रचना करना एक कठिन कार्य है। इसके लिए प्रशिक्षित (trained) तथा अनुभवी शोधकर्ता की आवश्यकता होती है।
- 3- **अधिक समय तथा श्रम का खर्च (Time and labour consuming)**- संरचित साक्षात्कार में समय अधिक लगता है और अधिक श्रम करना होता है।
- 4- **जटिल समस्याओं के लिए अनुपयुक्त (Inappropriate for complex problems)**- संरचित साक्षात्कार का एक दोष यह है कि जटिल समस्याओं के समाधान के लिए यह उपयुक्त नहीं है।

### (ii) असंरचित साक्षात्कार

(Unstructure interview)

असंरचित साक्षात्कार को खुला साक्षात्कार (open interview) अमानक साक्षात्कार

(unstandard interview) अथवा अनौपचारिक साक्षात्कार (informal interview) कहा जाता है। असंरचित साक्षात्कार का अर्थ वह साक्षात्कार है जिसमें अनुसूची (schedule) का व्यवहार नहीं किया जाता है। यहाँ साक्षात्कार के लिए पहले साक्षात्कार लेने वाला आवश्यकता के अनुसार साक्षात्कार देने वाले से कुछ प्रश्न पूछता है और प्राप्त उत्तरों के आधार पर सूचनाएँ प्राप्त करता है। इस तरह के साक्षात्कार की चर्चा करते हुए **रेबर तथा रेबर (Reber and Reber, 2001)** ने कहा है कि “असंरचित साक्षात्कार वह साक्षात्कार है जिसमें विषय अनिश्चित होते हैं और प्रश्नों का स्वरूप साक्षात्कार में भाग लेने वाले के बीच पारस्परिक क्रिया पर आधारित होता है।”

असंरचित साक्षात्कार की एक विशेषता यह है कि यहाँ साक्षात्कार लेने वालों को छूट रहती है कि वह आवश्यकता के अनुसार प्रश्नों की संख्या, प्रश्नों के क्रम, भाषा आदि में परिवर्तन ला सकता है। इसलिए इस साक्षात्कार को खुला साक्षात्कार (open interview) कहते हैं।

इसके प्रश्न मानक (standard) नहीं होते हैं। यहाँ प्रश्नों को मानकीकृत (standardized) नहीं किया जाता है, बल्कि साक्षात्कार लेने वाला अपनी इच्छा से प्रश्न पूछकर आवश्यक सूचनाएँ प्राप्त करता है। इसलिए इस साक्षात्कार को अमानक साक्षात्कार (unstandard interview) कहा जाता है।

यहाँ प्रश्नों की रचना विधिवत् रूप से नहीं की जाती है। साक्षात्कार लेने वाला साक्षात्कार के समय ही अपनी इच्छा से परिस्थिति के अनुकूल प्रश्न पूछकर सूचनाएँ प्राप्त करता है। इसलिए इसे अनौपचारिक साक्षात्कार (informal interview) कहते हैं।

**गुण (Merits)**- असंरचित साक्षात्कार में कुछ ऐसे गुण पाये जाते हैं, जिनके कारण यह साक्षात्कार कुछ विशेष परिस्थितियों में संरचित साक्षात्कार से बेहतर प्रमाणित होता है।

1. **लचीलापन (flexibility)**- असंरचित साक्षात्कार में लचीलेपन का गुण पाया जाता है। साक्षात्कार लेने वाला अपनी आवश्यकता या परिस्थिति की माँगों के अनुकूल साक्षात्कार की कार्यप्रणाली (procedure) में परिवर्तन लाकर आवश्यक

सूचना प्राप्त कर सकता है।

2. **प्रश्नों की रचना की सरलता (simplicity of framing questions)**- असंरचित साक्षात्कार में प्रश्नों की रचना करना सरल होता है। यहाँ मानक प्रश्नों की आवश्यकता नहीं होती है।
3. **समय तथा श्रम की बचत (time and labour saving)**- असंरचित साक्षात्कार में प्रश्नों को मानक बनाने की आवश्यकता नहीं होती है। इसी तरह प्रश्नों को विधिवत रूप से बनाने की आवश्यकता नहीं होती है।
4. **धन की बचत (money saving)**- इस प्रकार के साक्षात्कार में समय तथा श्रम के साथ-साथ मुद्रा या धन की भी बचत होती है।
5. **जटिल समस्याओं के लिए उपयुक्त (appropriate for complex problems)**- असंरचित साक्षात्कार का सबसे बड़ा गुण यह है कि इसका व्यवहार जटिल समस्याओं के समाधान के लिए अधिक उपयुक्त होता है। सामाजिक तथा शैक्षिक समस्याएँ कुछ ऐसी जटिल होती हैं जिनके समाधान में जितना असंरचित साक्षात्कार सहायक होता है, उतना संरचित साक्षात्कार नहीं हो पाता है।

### उद्देश्य पर आधारित वर्गीकरण (Classification base on purpose)

**नैदानिक साक्षात्कार (Diagnostic interview)**- इस प्रकार के साक्षात्कार का उद्देश्य रोग के कारणों की जानकारी प्राप्त करना है। नैदानिक मनोविज्ञान (clinical psychology) तथा मनोविश्लेषण (psychoanalysis) में इस प्रकार के साक्षात्कार का व्यवहार किया जाता है।

**उपचार-साक्षात्कार (treatment interview)**- जब किसी मानसिक रोग का निरोपण (diagnosis) हो जाता है तो फिर उसके उपचार के लिए रोगी का साक्षात्कार किया जाता है। इसका उद्देश्य यह पता लगाना होता है कि रोगी के रोग का उपचार कैसे किया जा सकता है।

**शोध-साक्षात्कार (Research interview)**- इस प्रकार के साक्षात्कार का उद्देश्य शोध आँकड़े (research data) प्राप्त करना है। यहाँ किसी समस्या से संबंधित सूचनाएँ प्राप्त करना प्रधान होता है।

### भूमिका पर आधारित वर्गीकरण (Classification based on role)

- 1- **निदेशात्मक साक्षात्कार (Directive interview)**- इस प्रकार के साक्षात्कार को नियंत्रित साक्षात्कार (controlled interview) भी कहते हैं। यहाँ साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाताओं (respondents) पर पूरा नियंत्रण रखता है। वह पूर्वनिर्धारित प्रश्नों का व्यवहार करता है। उत्तरदाताओं को उसके आदेशों के अनुसार व्यवहार करना पड़ता है। अतः इसमें परिशुद्धता (precision) का गुण पाया जाता है। लेकिन लचीलापन (flexibility) का अभाव रहता है।  
**अनिदेशात्मक साक्षात्कार (Nondirective interview)**- इस प्रकार के साक्षात्कार को स्वतंत्र साक्षात्कार (free interview) अथवा अनियंत्रित साक्षात्कार (uncontrolled interview) भी कहते हैं। इसमें साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाताओं पर कोई नियंत्रण नहीं रखता है और न कोई निश्चित निर्देशन रखता है। पहले से प्रश्न तैयार नहीं रहते हैं। साक्षात्कारकर्ता उत्तरदाताओं को अपने विचारों, संवेगों तथा भावों को व्यक्त करने के लिए उत्साहित करता है। अतः इस प्रकार के साक्षात्कार में लचीलापन अधिक पाया जाता है।
- 2- **केन्द्रित साक्षात्कार (Focused interview)**- यह साक्षात्कार वास्तव में संरचित (structured) तथा असंरचित (unstructured) साक्षात्कार का मिला-जुला रूप है। इसमें पहले से निर्धारित प्रश्नों का व्यवहार किया जाता है। लेकिन साक्षात्कारकर्ता को छूट होती है कि वह आवश्यकता अनुसार प्रश्नों में परिवर्तन कर सकता है। यह साक्षात्कार रेडियो, टेली. विजन, सिनेमा आदि के सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक प्रभावों के अध्ययन के लिए बहुत उपयोगी है।
- 3- **पुनरावृत्त साक्षात्कार (Repeated interview)**- इस प्रकार के साक्षात्कार में सामाजिक परिस्थिति के विकास तथा उससे उत्पन्न प्रभाव का अध्ययन किया जाता है। व्यक्ति के व्यवहार पर मनोवृत्ति (attitude) पूर्वधारणा (prejudice) आदि सामाजिक कारकों के प्रभावों के अध्ययन के लिए यह विधि बहुत उपयोगी है।

## स्मरणीय बिन्दु-

साक्षात्कार डेटा संग्रह की महत्वपूर्ण विधि है।  
संरचित एवं असंरचित साक्षात्कार दो प्रमुख प्रकार हैं।  
साक्षात्कार में विश्वसनीय सूचना प्राप्त होती है।  
समूह एवं व्यक्तिगत साक्षात्कार दोनों उपयोगी हैं।  
संरचित साक्षात्कार में प्रश्न पूर्व निर्धारित होते हैं।

## शब्दावली-

| शब्द                   | अर्थ                  |
|------------------------|-----------------------|
| Interview              | - साक्षात्कार         |
| Structured Interview   | - संरचित साक्षात्कार  |
| Unstructured Interview | - असंरचित साक्षात्कार |
| Respondent             | - उत्तरदाता           |
| Questionnaire          | - प्रश्नावली          |

## 5 अंक के प्रश्न-

1. साक्षात्कार क्या है?
2. संरचित साक्षात्कार का अर्थ बताइए।
3. असंरचित साक्षात्कार क्या है?
4. व्यक्तिगत साक्षात्कार का महत्व लिखिए।
5. प्रश्नावली एवं साक्षात्कार में अंतर लिखिए।

## 15 अंक के प्रश्न-

1. साक्षात्कार की अवधारणा एवं विशेषताओं का वर्णन कीजिए।
2. संरचित एवं असंरचित साक्षात्कार में अंतर स्पष्ट कीजिए।
3. डेटा संग्रह में साक्षात्कार की भूमिका स्पष्ट कीजिए।
4. साक्षात्कार विधि के गुण एवं दोषों की विवेचना कीजिए।

## बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Interview का अर्थ है-
  - (a) निरीक्षण
  - (b) साक्षात्कार
  - (c) वर्गीकरण
  - (d) निष्कर्ष
2. Structured Interview में प्रश्न होते हैं-
  - (a) पूर्व निर्धारित
  - (b) अचानक
  - (c) अस्पष्ट
  - (d) काल्पनिक
3. Unstructured Interview में होता है-
  - (a) लचीलापन
  - (b) कठोरता
  - (c) भ्रम
  - (d) नियंत्रण
4. Respondent का अर्थ है-
  - (a) शोधकर्ता
  - (b) उत्तरदाता

- (c) परीक्षक
  - (d) पर्यवेक्षक
5. साक्षात्कार उपयोगी है-
- (a) डेटा संग्रह में**
  - (b) मनोरंजन में
  - (c) खेल में
  - (d) चित्रकला में



## इकाई-4.4 शोध में नैतिक समस्याएँ एवं सिद्धान्त (ETHICAL ISSUE AND PRINCIPLES IN RESEARCH)

### उद्देश्य-

1. शोध नैतिकता की अवधारणा को समझना।
2. शोध में नैतिक समस्याओं का अध्ययन करना।
3. प्रतिभागियों के अधिकार एवं सुरक्षा का महत्व समझना।

नीतिशास्त्र (ethics) दर्शन की एक शाखा (branch) है, जिसका सम्बन्ध उस विषय से है, जिसे मानव व्यवहार के लिए स्वीकार्य समझा जाता है और निर्धारित किया जाता है कि लक्ष्यों एवं उद्देश्यों की खोज में मानव आचरण में अच्छा क्या है या बुरा क्या है, सही क्या है या गलत क्या है।

### (क) मानव सहभागियों के साथ नैतिक समस्याएँ (Ethical issues with human participants) – टस्क.

सी सिफिलिस अध्ययन अमेरिका के इतिहास में चिकित्सा मामलों में नैतिकता के सबसे कुख्यात मामलों में से एक है। पहले अध्ययन को टस्केजी अध्ययन (Tuskegee study) के नाम से जाना जाता है, जो 1932 में किया गया था। इस अध्ययन का एक उद्देश्य अनुपचारित काले पुरुषों (untreated black males) पर सिफिलिस (syphilis) के प्रभावों का अध्ययन करना था तथा सहभागिता के लिए प्रोत्साहित करना था। रोगियों को विश्वास दिया गया था कि उनका उपचार किया जा रहा है, जबकि वस्तुतः उनका उपचार नहीं किया गया था। सिफिलिस के लक्षणों को समय-समय पर (periodically) दर्ज (record) किया जाता था और प्रत्येक मृत्यु के बाद शव-परीक्षण (autopsy) किया जाता था। चालीस वर्षों के बाद जनता को इस शोध की जानकारी मिली जो अभी भी जारी थी। वह शोध वास्तव में अनैतिक था क्योंकि पीड़ितों का उपचार पेनिसिलिन (penicillin) द्वारा किया जा सकता था जो नहीं किया गया तथा उत्तरजीवियों (survivors) को अंधकार में रखा गया था।

इस तरह का दूसरा अध्ययन 1960 से 1970 के बीच मिलग्राम (Stanley Milgram) नामक एक समाजिक मनोवैज्ञानिक के द्वारा किया गया, जिसमें एक अधिगम प्रयोग में भागीदारी (participation) हेतु विज्ञापन दिया गया था। जिन लोगों ने इस प्रयोग में भाग लेने की सहमति दी उनको बतलाया गया कि उनमें कुछ शिक्षक (teachers) होंगे जो दूसरों को शब्दों की सूचियों (lists of words) की शिक्षा सीखने वाले कोई भूल करें तो प्रत्येक भूल के लिए उन्हें बढ़ते हुए क्रम में गम्भीर रूप से आघात पहुँचायें। इस अध्ययन का उद्देश्य वास्तव में अधिगम का अध्ययन नहीं था, बल्कि अधिकार (authority) के प्रति आज्ञापलन (obedience) था। इसके अतिरिक्त सभी स्वयंसेवक (volunteers) वस्तुतः शिक्षक थे। दूसरे शब्दों में प्रत्येक सहभागी (participant) को कहा गया था कि वे सभी शिक्षक हैं और वास्तव में कोई सीखने वाला (learner) नहीं है। परिणामतः प्रत्येक व्यक्ति सही समझ रहा था कि वह सीखने वालों (learners) को ही आघात दे रहा है, जो वास्तव में था ही नहीं। इसके अतिरिक्त विद्युत आघात नाम की कोई चीज थी ही नहीं। शिक्षकों को केवल धोखा दिया जा रहा था कि सीखने वाले (learner) पीडा की शिकायत दर्ज कराते हैं। कुछ सहभागी बढ़ते हुए आघात पर आपत्ति जताते थे, जैसा कि उन्हें निर्देशित किया गया था। ऐसे आपत्ति करने वाले शिक्षकों से कहा जाता था कि प्रयोग की आवश्यकता है कि आगे उसी तरह बढ़ते रहें। जो अनेच्छा (reluctance) दिखलाते थे उन्हें आगे बढ़ने का आदेश दिया जाता था। ऐसी परिस्थिति में इतनी अधिक मात्रा में आघात का उपयोग वे करने लगते थे कि सीखने वाले (learners) प्रयोग से अलग हो जाने की इच्छा जाहिर करते थे। इस अमानवीय प्रयोग पर जनता के बीच आक्रोश देखा गया और शोध में अनैतिक कदमों (unethical steps) को रोकने पर बल दिया गया।

इन दोनों शोधों से उत्पन्न आक्रोश के परिणामस्वरूप मनोवैज्ञानिक तथा सामाजिक शोधों में अनैतिकता को रोकथाम के लिए मेडिकल, व्यवहारपरक तथा सामाजिक विज्ञान शोधों के संघीय विनियमन (Federal Regulations) की स्थापना की गयी। अमेरिकन शरीरशस्त्रीय समाज (American physiological society) आदि व्यावसायिक संगठनों की स्थापना भी की गयी। इसी तरह 1973 में मनोवैज्ञानिक शोधों के लिए अमेरिकन मनोवैज्ञानिक संघ (American psychological association, APA) ने नैतिक निर्देशन (ethical guide lines) प्रकाशित किया। अन्त में 1981 में निश्चित नैतिक सिद्धान्त (ethical principles) प्रकाशित किये गये, जिनके आलोक में मानव शोध (human research) संचालित करने पर बल दिया गया।

## नैतिक सिद्धान्त (Ethical Principles)

- 1- **नैतिक स्वीकृति (Ethical acceptability)**- शोधकर्ता व्यक्तिगत रूप से नैतिक स्वीकृति के लिए उत्तरदायी होता है। प्रस्तावित शोध में किसी भी विचलन (deviation) की स्थिति में शोधकर्ता का यह उत्तरदायित्व होता है कि वह नैतिक परामर्श ले तथा सहभागियों (participants) के अधिकारों की सुरक्षा के लिए आवश्यक कदम उठाये।
- 2- **नैतिक शोध अभ्यास हेतु उत्तरदायित्व (Responsibility for ethical research practice)**- नैतिक शोध-अभ्यास के लिए शोधकर्ता उत्तरदायी होता है। शोध में भाग लेने वाले व्यक्ति को अपने कार्यों के लिए उत्तरदायी होने के साथ-साथ अनुसंधानकर्ता भी उत्तरदायी होता है।
- 3- **शोध-सहभागियों के कल्याण एवं सम्मान (Welfare and dignity of the research participants)**- शोध या अनुसंधान का एक मुख्य सिद्धान्त (major principle) यह है कि शोधकर्ता या अनुसंधानकर्ता का यह दायित्व है कि वह सहभागियों (participants) को शोध के सभी ऐसे पक्षों (aspects) से अवगत करा दें जो सहभागिता के प्रति उनके निर्णय को प्रभावित करते हैं, क्योंकि शोध-सहभागिता के कल्याण तथा सम्मान की सुरक्षा की जिम्मेदारी शोधकर्ता पर होती है।
- 4- **उदारता एवं इमानदारी (Openness and honesty)**- शोध सहभागियों (research participants) के प्रति शोधकर्ता में खुलापन, उदारता तथा इमानदारी का होना भी आवश्यक है। यदि किसी शोध के लिए उपयुक्त अध्ययन-विधि (methodology) में गोपनीयता या आवश्यक हो तो अनुसंधानकर्ता (investigator) को चाहिए कि वह सुनिश्चित करे कि इस कार्य के कारण को प्रत्येक सहभागी समझता हो।
- 5- **सहभागी के अधिकारों के लिए आदर (Respect for the participants rights)**- इस नैतिक सिद्धान्त (ethical principle) के अनुसार शोध में भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के अधिकारों का सम्मान या आदर करना भी शोधकर्ता का कर्तव्य है। यदि किसी उचित कारण से कोई व्यक्ति शोध में हिस्सा लेना नहीं चाहता हो अथवा हिस्सा लेने के कुछ समय बाद उसे छोड़ना चाहता हो तो उसके इस अधिकार का सम्मान करना शोधकर्ता के लिए नैतिक बाध्यता (ethical obligation) है।
- 6- **स्पष्ट एवं निष्पक्ष अनुबन्ध (Clear and fair contract)**- इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार शोध या अनुसंधान का आरंभ स्पष्ट एवं निष्पक्ष अनुबन्ध के साथ किया जाना चाहिए। अनुसंधानकर्ता (investigator) का यह कर्तव्य है कि वह शोध में भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों के साथ किये गये सभी वायदों (promises) तथा वचनबद्धताओं (commitments) का आदर करे।
- 7- **हानि तथा खतरों से सहभागी की सुरक्षा (Protection of the participant from harm and danger)**- इस नैतिक सिद्धान्त के तहत अनुसंधानकर्ता (investigator) के लिए यह आवश्यक है कि वह शोध या अनुसंधान में भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों की रक्षा शारीरिक तथा मानसिक असुविधा, हानि तथा खतरों से करे। अनुसंधानकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह भाग लेने वाले व्यक्ति या व्यक्तियों को संभावित जोखिम (risks) की सूचना दे और आगे कदम उठाने से पहले उनसे सहमति ले और कष्ट (distress) को कम करने का हर संभव प्रयास करे। ऐसी कार्यविधियों (procedures) का इस्तेमाल न करे जिनसे गंभीर एवं स्थायी क्षति होने का खतरा हो।
- 8- **अध्ययन की स्पष्टता (Clarity of the study)**- शोध के इस नैतिक सिद्धान्त (ethical principle) के अनुसार प्रदत्त संग्रह (data collection) के बाद अनुसंधानकर्ता को चाहिए कि वह शोध में भाग लेने वाले व्यक्तियों को अध्ययन की स्पष्ट जानकारी दे तथा यदि किसी तरह की गलतफहमी (misconception) उत्पन्न हो गयी हो उसको दूर करें।
- 9- **अवांछित-परिणाम की खोज एवं शुद्धि (Detection and correction of undesirable consequence)**- जब कभी किसी शोध कार्यविधि (research procedure) से अवांछित परिणाम उत्पन्न होते हैं तो अनुसंधानकर्ता का यह नैतिक कर्तव्य (ethical obligation) होता है कि वह ऐसे अवांछित परिणाम की खोज करे तथा उसे शुद्ध करने का प्रयास करे।
- 10- **समाजिक संहिता तथा नैतिक अपेक्षाओं का सम्मान करना (Regard of social code and ethical expectations)**- इस नैतिक सिद्धान्त के तहत इस बात पर बल दिया गया है कि अनुसंधानकर्ता (investigator) को उस समुदाय (community) की सामाजिक संहिता तथा नैतिक प्रत्याशा का सम्मान करना चाहिए जिस समुदाय में वह शोध कर रहा हो। प्रत्येक समाज, समुदाय संस्कृति के नैतिक तथा बौद्धिक मानदण्ड

(moral and legal standard) अलग-अलग हो सकते हैं। अतः अनुसंधान के दौरान सहभागियों (participants) के सामाजिक, सामुदायिक या सांस्कृतिक नैतिक मानदण्डों का सम्मान करना अनुसंधानकर्ता का नैतिक दायित्व है।

11- **गोपनीयता की सुरक्षा (Protection of confidentiality)**- इस नैतिक सिद्धान्त के अनुसार अनुसंधानकर्ता के लिए यह आवश्यक है कि वह शोध सहभागियों (research participants) के सम्बन्ध में प्राप्त सूचना या सूचनाओं को गुप्त रखे तथा उसे सुरक्षित रखने का हर संभव प्रयास करे।

(ख) **पशु शोध के लिए नैतिक सिद्धान्त (Ethical principles for animal research)**- अमेरिकन मनोवैज्ञानिक संघ (American psychological Association APA, 1981) के अनुसार पशु शोध के संदर्भ में मनोवैज्ञानिकों के नैतिक सिद्धान्त (ethical principles of psychologists) निम्नलिखित हैं:

- 1- पहला सिद्धान्त यह है कि किसी अनुसंधान में पशुओं के उपयोग की योजना बनाते समय अनुसंधानकर्ता को विभिन्न नैतिक सिद्धान्तों (ethical principles) का समग्र रूप से अध्ययन करना चाहिए। विशेष रूप से ऐसे नैतिक सिद्धान्त जो प्रत्यक्ष रूप से पशुओं के उपयोग से सम्बद्ध रखते हों। पशुओं के उपयोग तथा उनकी सुरक्षा से सम्बन्धित सिद्धान्तों को ध्यान में रखना चाहिए तथा उनके अनुकूल व्यवहार करना चाहिए।
- 2- अनुसंधानकर्ता को चाहिए कि वह शोध में भाग लेने वाले पशुओं के कल्याण के लिए आवश्यक प्रबन्ध करे तथा उनके साथ मानवीय व्यवहार (human treatment) करे।
- 3- अनुसंधानकर्ता को पशुओं की सुरक्षा (care) तथा उपयोग (use) से संबंधित संघीय (federal), राष्ट्रीय (state), प्रांतीय (provincial) तथा स्थानीय (local) नियमों (laws) तथा अधिनियमों (regulations) की पूरी जानकारी हो ताकि वह पशुओं का उपयोग तथा उनकी सुरक्षा समुचित रूप से कर सके।
- 4- जहाँ कहीं पशुओं के भरण-पोषण तथा उपयोग की व्यवस्था हो, वहाँ शोध में लगे कर्मचारियों (personnels) को अमेरिकन मनोवैज्ञानिक संघ (APA- American Psychological Association) अथवा अन्य वैज्ञानिक संगठनों (scientific organizations) के निर्देशन (guidelines) उपलब्ध होना आवश्यक है।
- 5- पर्यवेक्षक या निरीक्षण (supervisor) को चाहिए कि वह पशुओं के अधिग्रहण (acquisition) उपयोग तथा विन्यास (disposition) का विवरण (record) रखे। एक अनुभवी (veterinarian) की उपलब्धि (availability) परामर्श (consultation) तथा पशु चिकित्सक की सुविधाओं की जांच साल में दो बार करने हेतु आवश्यक है।
- 6- अन्त में जब पशुओं के उपयोग की आवश्यकता समाप्त हो जाती है तो उनका निपटारा भी नैतिक सिद्धान्तों के आधार पर ही किया जाना चाहिए। प्रयास करना चाहिए कि उन पशुओं का वितरण अपने सहकर्मियों (colleagues) के बीच किया जाना चाहिए ताकि वे उनका सही उपयोग कर सकें। अन्त में आवश्यकता अनुसार पशुओं का सुखमृत्यु (euthanasia) की व्यवस्था करना अनुसंधानकर्ता या पर्यवेक्षक का नैतिक दायित्व (ethical obligation) है।

### **नैतिक सिद्धान्तों का मूल्यांकन ( Evaluation of ethical principles)**

- 1- शोधपरियोजना (research project) में भाग लेने वाले मनुष्य तथा पशु क्रांतिक सहयोगी (critical collaboratives) होते हैं। अतः इन सभी के साथ आदर तथा सम्मान का व्यवहार किया जाना चाहिए तथा उनके कल्याण एवं सुरक्षा की उचित व्यवस्था भी। मनोवैज्ञानिक शोध के संचालन के दौरान नैतिक उल्लंघन (ethical violations) शायद ही किये जाते हैं।
- 2- नैतिक सिद्धान्तों (ethical principles) की स्थापना का प्रतिकूल प्रभाव (adverse effect) शोध पर पड़ता है। 1973 में नैतिक सिद्धान्तों की स्थापना के कारण न्यूनतम जोखिम वालों शोध को संचालित करना भी कठिन बन गया।
- 3- नैतिक अधिनियमों (ethical regulations) के कारण वैज्ञानिक शोध के लिए सर्जनात्मकता (creativity) तथा स्वतन्त्रता (freedom) बाधित होती है, परिणामतः शोधकर्ता सुरक्षा के मद्देनजर केवल ऐसे शोधों में किसी न किसी जोखिम (risk) का होना अपेक्षित होता है। इसलिए शोधकर्ता ऐसे सर्जनात्मक एवं स्वतन्त्र शोधों से बचने का प्रयास करते हैं, जो विज्ञान तथा टेक्नोलॉजी के विकास में बाधक सिद्ध होता है।
- 4- नैतिक अधिनियमों को स्वीकार करने तथा संचालन करने से समय, शक्ति (energy) तथा मुद्रा (money) का अनावश्यक खर्च अधिक होता है। शोधकर्ता तथा संचालक (regulator) की शक्ति के अनावश्यक खर्च को बचा कर शोध को उन्नत बनाया जा सकता है।

- 5- पशु शोध (animal research) के संबंध में नैतिक सिद्धान्तों (ethical principles) की सार्थकता इस आधार पर हास्यप्रद प्रतीत होती है कि ऐसे छापमार (raiders) अवैज्ञानिकों (nonscientists) के हाथों पशुओं के साथ होने वाले उत्पीडन (torture) को वैज्ञानिक शोध के पशुओं पर आरोपित करने की भूल करते हैं। जैसे, देवी-देवता के नाम पर पशुओं का वध करना, शैतानी परम्पराओं में पशुओं पर उत्पीडन करना तथा अन्य उद्देश्यों के मद्देनजर पशुओं की हत्या करना, आदि अमानवीय व्यवहारों को क्षमा नहीं किया जा सकता था परन्तु वैज्ञानिक शोध में पशुओं के साथ इस तरह के अमानवीय व्यवहार कदापि नहीं किये जाते हैं।
- 6- शोध के ऐसे क्षेत्र हैं विषाक्तता-परीक्षण (toxicity testing), चिरकालिक पीड़ा शोध (chronic pain research), दीर्घकालिक प्रतिबंध प्रविधियों (long term restraint devices) का उपयोग तथा चेतन लकवाग्रस्त पशुओं (conscious paralysed animals) का इस्तेमाल। ऐसी समस्याओं से संबंधित शोधों को संचालित करना नैतिक सिद्धान्तों एवं अधिनियमों की उपेक्षा के बिना संभव नहीं है। जैसे-दर्द (pain) क्यों होता है तथा इसका उपचार या निवारण (prevention) कैसे किया जा सकता है, इसके लिए कठोर नैतिक अधिनियमों पर अमल करना संभव नहीं है।  
अतः नैतिक अधिनियमों को कठोरता के साथ लागू करने पर कई महत्वपूर्ण क्षेत्रों में ज्ञान (knowledge) को विकसित करना संभव नहीं होगा।
- 7- नैतिक मानदण्ड (ethical standards) तथा नैतिक मूल्य (ethical values) सभी संस्कृतियों, राष्ट्रों या परिस्थितियों के लिए समान नहीं होते हैं। एक संस्कृति में जिसे नैतिक मूल्य माना जाता है, दूसरी संस्कृति में उसे नैतिक उल्लंघन (Ethical Violation) समझा जा सकता है।

#### स्मरणीय बिन्दु-

शोध में नैतिकता अत्यंत आवश्यक है।  
प्रतिभागियों की सहमति आवश्यक होती है।  
शोध में गोपनीयता बनाए रखना आवश्यक है।  
प्रतिभागियों को हानि से बचाना शोधकर्ता का दायित्व है।  
पशुओं पर शोध में भी नैतिक नियम लागू होते हैं।

#### शब्दावली-

| शब्द            | अर्थ      |
|-----------------|-----------|
| Ethics          | नैतिकता   |
| Confidentiality | गोपनीयता  |
| Consent         | सहमति     |
| Participants    | प्रतिभागी |
| Harm            | हानि      |

#### 5 अंक के प्रश्न-

1. शोध नैतिकता क्या है?
2. गोपनीयता का महत्व लिखिए।
3. प्रतिभागियों की सहमति क्यों आवश्यक है?
4. शोध में नैतिक समस्याएँ क्या हैं?
5. पशु-अनुसंधान में नैतिकता का महत्व बताइए।

#### 15 अंक के प्रश्न-

1. शोध में नैतिक सिद्धान्तों का वर्णन कीजिए।
2. प्रतिभागियों के अधिकारों की विवेचना कीजिए।
3. शोध में गोपनीयता एवं सुरक्षा का महत्व स्पष्ट कीजिए।
4. पशु-अनुसंधान में नैतिक समस्याओं का वर्णन कीजिए।

#### बहुविकल्पीय प्रश्न-

1. Ethics का अर्थ है-

- (a) राजनीति
  - (a) नैतिकता**
  - (a) खेल
  - (a) अर्थशास्त्र
2. शोध में प्रतिभागियों की अनुमति कहलाती है-
- (a) निरीक्षण
  - (b) सहमति**
  - (c) वर्गीकरण
  - (d) निष्कर्ष
3. शोधकर्ता का दायित्व है-
- (a) प्रतिभागियों की सुरक्षा
  - (a) भ्रम फैलाना
  - (a) गोपनीयता तोड़ना
  - (a) पक्षपात करना
4. Confidentiality का अर्थ है-
- (a) सहमति
  - (b) गोपनीयता**
  - (c) निष्कर्ष
  - (d) निरीक्षण
5. पशु-अनुसंधान में आवश्यक है-
- (a) नैतिक नियम**
  - (b) पक्षपात
  - (c) हिंसा
  - (d) भ्रम